

ॐ श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॐ

सकलागमरहस्यवेदियरमज्योतिर्विष्णुमद्विजयदानसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः ।

भारतीय-प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन-समिति-पिन्डवाडा-संचालिताया

आचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वर-कर्मसाहित्य-जैन-ग्रन्थमालाया द्वितीयो (२) ग्रन्थः

बन्धविहारणं

तत्त्व

मूलपयडि-

तिष्ठ-बंधो

(मूलप्रकृति-स्थितिवन्धः)

'प्रेमप्रभा' टीका-समलङ्कृतः



प्रेरका मार्गदर्शिका: संशोधकाश्च :-

सिद्धान्तमहोदधि-कर्मशास्त्रनिष्णाता आचार्यदेवाः

श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वराः

प्रकाशिका—भारतीय-प्राच्यतत्त्व-प्रकाशन-समितिः, पिन्डवाडा ।

— — सम्पादकीय — —

अनन्तउपकारी भवोदधितारक दीर्घसंयमी सिद्धान्तमहोदधि परमपूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय-
प्रेमसुरिधरजी महाराजानी कृपामयी भाङ्गाथी मूलप्रकृतिस्यतिबन्धग्रन्थनी प्रेमप्रभाटीकानुं आलेखन देव-
गुरु कृपाए मारा हाथे थयाथी धन्यता अनुभवुं छुं, ते साथे पूज्यश्रान्त कृपाए आप्र यथेकी ते श्रुतसाहित्यना
सम्पादननी आ प्रथम तक पण मारा जीवनने कृतार्थ करी रही छे.

मारा पूज्य परमगुरुदेव तपोनिधि पंन्यासप्रवर श्री भानुविजयजी गणिवर्यना महत्त्वना सूचनी
तेमज बीजा अनेक मुनिभगवंतानी सहायथी सम्पादन संतोषप्रद थइ शक्युं छे. मारा परमउपकारी स्व०
गुरुदेव पू० पंन्यासप्रवरश्री पद्मविजयजी गणिवर्य आ टीकाग्रन्थना आलेखन अखते विद्यमान हता. अने
तेथीश्रीनी प्रेरणा अने प्रोत्साहननुं पण अपूर्व बल एसां हतुं.

ग्रन्थनुं आलेखनकार्ये चालुं हतुं त्यारेज परमपूज्यतारक सिद्धान्तमहोदधि गच्छाधिपति आचार्यदेव
वांची शके तेवा मोटा अक्षरोमां प्रेसकॉपी कराववामां आवी, तेनुं पूज्यपाद आचार्यभगवंते सूक्ष्मदृष्टिए अव-
लोकन करी योग्य सुधारा वधारा सूचनी महान उपकार कर्था.

पूज्य आगमप्रह आचार्यदेव श्रीमद् विजयजंबूसुरीधरजी महाराजे तथा कर्मसाहित्यना प्रवर-
शिवान पूज्य मुनिराजश्री जयघोषविजयजी महाराज, पूज्य मुनिराजश्री बर्मान्वविजयजी महाराज तथा
मुनिश्री बीरशेखरविजयजीए पण ग्रन्थनुं वांचन करी अशुद्धिओनुं संमार्जन करी आपी उपकृत कर्था छे.

महेसाणा जैनश्रेयस्करमंडळना प्राध्यापक पंडितवर्य सुश्रावक पुखराजजी, तथा बढवाणशहेरनी
पाठशाळाना प्राध्यापक सुश्रावक पंडित अमुलसभाइ अने अमदावाद श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य जैनपाठशाळाना
प्रधानाध्यापक सुश्रावक पंडित धोरभाईए पण फर्माओ वांची दृष्टिदोष बगेरे कारणे रही गयेली भूलो
खूल काळजीथी सुधारी छे. ए पण धन्यवादार्ह छे.

आ ग्रन्थसर्जनमां पूज्य संयमत्यागतपोभूर्ति आचार्यदेवेशनी पुण्यप्रेरणा, हार्दिकलागणी परमकृपा
अने उत्साहदाननी हूफ छे पदार्थसंग्रहकार मुनिभगवंतानी अवर्णनीय सहयोग छे. सर्जन सम्पादनमां
आशारे चारअर्पना समयनो भोग छे.

गाथा, गायाना प्रतिकी, अधिकारी अने द्वारोना शिर्षको अने शास्त्रपाठोनी अलगता माटे तेमज
वाचकोनी अनुकूलता माटे मोटा नाना टाइपोनी परांदगी करवामां आवी छे. विषयनो रहस्थार्थ, घटना के विस्तर-
र्थना संबोधक 'इदं तु बोध्यम्' 'इदमत्र हृदयम्' 'एतदुक्तं भवति' 'साधार्यः पुनरयम्' 'तथाहि' 'तद्यथा' 'अयमत्र

विशेषः' वगैरे शब्दो तथा शंका-समाधानना सूचक 'ननु' 'इति चेद्' वगैरे पदो वाचकोने शीघ्र मजरे चढे तेमाटे ते ब्लेकटाईपमां राख्य छे.

२७ थी ६७ भासपासना ४० फमां पिंडवाडा क्लानोदय प्रिंटिंग प्रेसमां अणेक मासना दु'कसमयमां छपाया इता. तेना छेला प्रूफनुं वांवन तथा मूळकोपी साथे मेळववाना कार्यमां पूज्य मुनिराजश्री अशोक-विजयजी महाराजे सारी सहाय करी हनी. ते सिवायना फर्माओनां प्रूफोमां पदार्थसंग्रहकार मुनिशर्योनी अने शुद्धिपत्रकादिना फर्माओमां मारा गुरुबंधु पूज्य मित्रानंदविजय महाराजनी पण सहाय घणी उपकारक निवडी छे.

प्रथना सम्पादनकार्यथी सतत स्वाध्याययोग, चित्तनी अेकाग्रता, दीर्घकाल सुधी अेकज आरने बेसी कार्य करवानी स्थिरता, धारधार प्रूफवांचनथी प्रथना समग्रविषयनुं वधुनेवधु विशद दर्शन आवा अनेक लाभो थया. उपरान्त आगमप्रभाकर उदारमनस्क मुनिराजश्री पुण्यविजयजी महाराज तरफथी जेसलमेरना भंडारनी कर्मप्रकृतिचूर्णी अने तेना टीपणनी फोटोप्राफी हस्तप्रतिभोक्तना यांचननी तक मली.

हवे जिज्ञासु सुमुश्रुजनों जैनशासनना निधानरूप आ अमूल्यशास्त्रनों स्वाध्यायादिधी अधिकधिक लाभ उठावे अने श्रेय साथे अेज अेक मंगलकामना.

अन्ते प्रूफ संशोधन अने शुद्धिपत्रक घणी चौकसाईथी करवा छतां दृष्टिदोष, प्रेसदोष, छद्मस्थ-दोषथी तथा पहेल पहेलो संपादननो प्रसंग होई ते कारणे रही जवा पामेल भूलो वाचकवर्ग सुधारीने धांचे अने मने जणावे एथी आशा राखुं छुं.

प्रान्ते पूज्यपाद करुणासिंधु आचार्यदेवो, मारा पूज्यगुरुदेवो, पदार्थसंग्रहकार पूज्य मुनिशरो, पूज्य अशोकविजय महाराज वडिलगुरुबंधु पूज्य मित्रानंदविजय महाराज, पंडितवर्यो तथा अन्यसहायक मुनिशरोना धर्मरक्षणना वदलामां आप्रथनी प्रशस्ततानो अश तेमने अपुं छुं.

ल्लि०

१३, श्रीपालनगर आश्रमरोड
त्रि० सं० २०२२ पोष वद १३
अहमदाबाद-१३.

सिद्धान्तमहोदधि आचार्यदेव श्रीमद् विजयप्रमसूरोद्वर-
अन्तेवासी पंन्यासप्रवर भानुविजयगणेश्वर्यनो प्रशिष्य,
स्वर्गतपंन्यासपद्मविजयगणिवरपादपद्मधर

—मुनि जगन्मन्त्रविजय.



ॐ अनुक्रम ॐ

१	संपादकीय	६-७
२	प्रकाशक की ओर से	८-१०
३	प्रस्तावना	१२-२४
४	विषय-परिचय	२५-४६
५	गुरुस्तुतिः	४७
६	अर्घ्याञ्जलि	४८
७	विषयानुक्रमः...	४९-५८
८	चित्र-चित्रावतुक्रमः	५९-६१
९	ग्रन्थपठनात्पूर्वमेव संशोधनीया अशुद्धयः				६१-६३
१०	ग्रन्थः सटीकः	१-६७२
११	परिशिष्टानि	१-५
१२	अशुद्धिप्रमार्जनम्	१-११



❖❖—❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖—❖❖

❖❖—❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖—❖❖

❖❖—❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖❖—❖❖

★

लघोगच्छगगनदिनमणि आबालवृद्ध तपस्वी विद्वान् शासनप्रभावक करीबन २५० मुनि-गणके माननीय नेता दीर्घसंयमी सिद्धान्तमहोदधि पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमत् विजयप्रेमसूरी-श्वरजी म० सा० ने वि० सं० २०१५ का चातुर्मास ५४ मुनिवारों के साथ सुरेन्द्रनगर में किया। वहाँ आपके शिष्यप्रशिष्यों के आगमादिशास्त्रों के पठनपाठन का अवलोकन कर कोई भी अत्यन्त प्रसन्न हुए बिना व बारबार जिनेश्वरदेव व जिनशासन के ज्ञान व चारित्र्यमार्ग का मन ही मन अनुमोदन किए बिना नहीं रह सकता था।

इसी अर्थ में 'जैन साहित्य विकास मण्डल' अंधेरी-बम्बई के मेनेजिंग ट्रस्टी माननीय महाशय अमृतलाल कालिदास दोशी B. A. जो कि पूज्यश्री के मुनिओं द्वारा कृत साहित्य का संशोधन करवाने के लिए भाये थे, प्रासंगिक बातचीत से कर्मसाहित्य के विस्तृत-मर्जनको जानकर आपकी निश्चा में लिखे गये व भविष्य में लिखे जाने वाले 'खगसेठी' आदि कर्मसाहित्य को प्रकाशित करने का सहर्ष स्वीकार किया। पूज्य आचार्यदेवश्री का वि० सं० २०१६ का चातुर्मास शिवश्रावण में और वि० सं० २०१७ का चातुर्मास पिण्डवाडा में हुआ। उन दिनों में भी श्रीयुत अमृतलाल कालिदास भाई पिण्डवाडा आए और कर्मसाहित्य के प्रकाशन की पूज्यश्री से अनुमति प्राप्तकर बम्बई गए व अपनी 'जैन साहित्य विकास मण्डल' संस्था की मीटिंग बुलाकर प्रस्तुत साहित्य अपनी संस्था की ओर से प्रकाशित करवाने का निर्णय किया।

बड़े सौभाग्य की बात है कि पूज्यश्री से कर्मसाहित्यविषयक परामर्श करते ही पिण्डवाडा के धर्मप्रेमी भाईयों को पूर्वकालीन परनारीसहोदर परमाहर्त श्रीकुभागपाल महाराजा, श्रीवस्तुपाल, तेजपाल और ३६००० सोनामहोरके न्योछावरसे श्रीभगवतीमूर्त का ध्यान करने वाले मांडवगढ के महामात्य श्रीषेठडशाह आदि श्रुतभक्त महाश्रावकों का स्मरण हो आया और श्रुतभक्ति से प्रेरित हो पूज्यश्री से प्रस्तुतकार्य जिसे कि श्रीयुत अमृतलाल कालिदास दोशी ने करवाने का स्वीकार किया था, पिण्डवाडा के भाईयों ने करवाने की नम्र प्रार्थना की। प्रथम तो पूज्यश्री ने पिण्डवाडा के भाईयों की मांग का स्वीकार न किया क्योंकि अमृतलालभाई से साहित्य के प्रकाशनादि संबंधी बातचीत पहले ही चूकी थी मगर जब पिण्डवाडा के साधनिक बंधुओं का अत्यन्त आग्रह व उत्साह देखा तो आपने श्रुतभक्ति का अपूर्व लाभ प्रदान कर उन बन्धुओं को अनुगृहीत किया। इस मंगल कार्य में पिण्डवाडा श्रीमंत्र का पूर्ण सहयोग रहा।

प्रस्तुत कर्मसाहित्य के प्रचार-प्रकाशनादि विराट् कार्य की जिम्मेवारी को समझकर पिण्डवाडा के उत्साही भाईयों ने-

- | | |
|------------------------------------|----------------------------------|
| (१) श्रेष्ठ रामणलाल दलसुखभाई खंभात | (५) शा भूरमलजी सरेमलजी पिण्डवाडा |
| (२) शा समरथमल रायचंदजी पिण्डवाडा | (६) ,, मन्नालाल रिखवाजी लुणावा |
| (३) शा लालचंद छगनलालजी ,, | (७) ,, हिम्मतमल रुघनाथमलजी बेडा |
| (४) शा खूबचंद अचलदासजी ,, | |

इन ७ सदस्यों की वि० सं० २०१८ में 'भारतीय-प्राच्य-तत्त्व-प्रकाशन-समिति' की स्थापना की। समिति के सदस्यों ने कर्मसाहित्य को जयपुर और व्यावर में छपवाना शुरू किया कर्गिब तीन साल काम चलता रहा, काम सुन्दर होने पर भी जिस गति से हो रहा था सम्भव है उस गति से आज तक एक ग्रन्थ भी पुरा नहीं छप पाता अतः छपाई शीघ्र व सुन्दर हो इस वास्ते समिति के सदस्यों ने समिति का निजी प्रेम पिण्डवाडा में लगवाया। साहित्य व छपाई आदि का कार्य समिति के सदस्यों के शुभ प्रयत्न से ठीक तरह से चलता था व सदस्यों की उदारता व प्रयत्न से आर्थिक समस्या भी हल हो रही थी। मगर कर्मसाहित्य का प्रकाशन व प्रचार आदि का प्रस्तुत कार्य अति विशाल होने से सदस्यों की संख्या बढ़ाना आवश्यक समझकर सं० २०२१ की साल में श्रेष्ठ जीवतलाल प्रतापशी आदि महानुभावों को समिति के सदस्य बनाए—
आज हमारी समिति का ट्रस्टीमण्डल इस प्रकार है—

१ श्रेष्ठ रामणलाल दलसुखभाई (प्रमुख)	खंभात
२ श्रेष्ठ माणिकलाल चुनीलाल	बम्बई
३ श्रेष्ठ जीवतलाल प्रतापशी	बम्बई
४ शा० खूबचंद अचलदासजी	पिण्डवाडा
५ शा० समरथमल रायचंदजी (मंत्री)	पिण्डवाडा
६ शा० शान्तिलाल सोमचन्द (भाणाभाई) (मंत्री)	खंभात
७ शा० लालचन्द छगनलालजी (मंत्री)	पिण्डवाडा
८ श्रेष्ठ रामणलाल वजेचन्द	अहमदाबाद
९ शा० हिम्मतमल रुघनाथमलजी	बेडा
१० श्रेष्ठ जेठाभाई चुनीलाल धीवाले	बम्बई
११ शा० इन्द्रमल हीराचंदजी	पिण्डवाडा
१२ शा० मन्नालालजी रिखवाजी	लुणावा

ज्ञानपिपासु जनता को जानकर इर्ष होगा कि स्वल्पकाल में 'खचगसेढी' व 'ठिहबंधो' ये दो ग्रन्थरत्न हम पाठकों के करकमल में अर्पित कर रहे हैं 'रसबंधो' तथा 'पएसबंधो' जो दो ग्रन्थ छप रहे हैं वे भी स्वल्पसमय में पाठकों के करकमलों में अर्पित किए जायेंगे।

आत्मकल्याण में हेतुभूतस्वाध्याय के लिये प्रस्तुत ग्रन्थराशि अत्यन्त उपयोगी है इसका विशेष खयाल ग्रन्थों की प्रस्तावना व विषयपरिचय पढ़ने पर पाठक वा सकेंगे ।

आत्मिक शान्ति देने वाले तात्त्विक आध्यात्मिक ग्रन्थों का आलेखन करके मुनिभगवतों ने अपना कर्तव्य बजाया है । आलेखित ग्रन्थों को ताडपत्र व नाम्नपत्र आदि पर प्रतिलेखित करवाकर ज्ञानभंडारों में सुरक्षित रखना व यन्त्रालय आदि द्वारा मुद्रित करवाकर मुमुक्षुजनसमाज में उसका प्रचार करना यह हमारा गृहस्थों का फर्ज है । शास्त्रों में सुनते हैं कि सम्यग् ज्ञानको पढ़ने पढ़ाने व लिखने लिखाने वालों की भाँति उसका रक्षण व प्रचार करने वाले भी केवलज्ञानादि आत्मरिद्धि के भोक्ता बनते हैं । इसी शास्त्रवचन को स्मरण में रखकर हमने इन शास्त्रग्रन्थों के प्रकाशन का प्रस्तुत कार्य हाथ में लिया है । ग्रन्थों का प्रकाशन व प्रचागदि सुचारु रूप से हो यह हमारी समिति का उद्देश है । हम गच्छाधिपति सिद्धान्तमहोदधि परमपूज्य आचार्य भगवत श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराज से अत्यन्त उपकृत हैं जिन्होंने जैनशासन के निधानरूप इस भव्यातिभव्य कर्मसाहित्य का सर्जन करवाया व जिनकी असीम कृपा से हमने श्रुतभक्ति का अपूर्व अलभ्य लाभ पाया, उन पुण्यपुरुष के पुनीत-चरणों में वन्दन कर हम अपनी आत्मा को धन्य मानते हैं ।

पदार्थसंग्रहकार विद्वान्मुनियरों, गाथाकार मुनिराज, टीका-धिवेचनकार मुनिराज इन सब महात्माओं को वन्दना करते हैं । जिन्होंने अथाग परिश्रम लेकर कर्मसिद्धांत को विशद रूप दिया है । तथा अपने अमूल्यसमय का व्यय करके इस 'स्थितिवन्ध' ग्रन्थ की सुन्दर-विशद प्रस्तावना लिखकर पू० मुनिराज श्री मित्रानन्दविजयजी महाराज ने बड़ा अनुग्रह किया है इन सब पूज्य पुरुषों के प्रति सवन्दन कृतज्ञता प्रदर्शित करते हैं इस 'स्थितिवन्ध' ग्रन्थ के प्रकाशन में रु० १००००) जैसे प्रचुर ज्ञानद्रव्य का विनियोग कर श्री पिण्डवाडा श्वे० मू० जैन संघ ने हमारी समिति को बड़ा सहयोग दिया है । हम इस पूजनीय श्रीसंघ के आभारी हैं । इस प्रकाशन कार्य में जिन्होंने अपने तन मन धन का स्वल्प भी व्यय किया है उन सबको भी वारवार धन्यवाद ।

इस अवसर पर ज्ञानोदय प्रेस के मैनेजर श्रीयुत फतेहचन्दजी जैन व प्रेसकॉपी करने वाले श्री पन्नालालजी सी० जैन बाकना व प्रेस के अन्य कर्मचारी भी स्मृति पथ में आ रहे हैं जिन्होंने इस कार्य में आत्मीयता प्रकट की है ।

हस्ताक्षर

पिण्डवाडा
मटे० मिरोहीरोड (राजस्थान)
पत्र—१३५/३७ जौहरीबजार
बम्बई २

- १ शा० लालचन्द छगनलालजी (मन्त्री)
- २ शा० शान्तिबाल सोमचन्द (भागाभाई) चौकसी (मन्त्री)
- ३ शा० समर्थसल रायचन्दजी (मन्त्री)

भारतीय-प्राच्य-तत्त्व प्रकाशन समिति.

प्रस्तावना

लेखकः—पूज्य विद्वान् मुनिराजश्री मिथानंद विजयजी महाराज

★

भारतीय प्राच्यतत्त्व प्रकाशन समिति, पिंडवाडा [राजस्थान] द्वारा संचालित आचार्यदेव श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वर कर्मसाहित्य जैनग्रंथमालाया द्वितीय पुष्प तरीके प्रगट थयेलो 'मूलपयडिडिइबंधो' [मूलप्रकृति-स्थितिबन्ध] ग्रंथ वाचकोना-दर्शकोना करकमलमां आवी रह्यो छे.

भा० प्रा० प्र० समिति, ग्रंथमाला तरफथी हाल मुख्य त्रण ग्रन्थो प्रकाशित करवानी तैयारी करी रही छे. १ खवगसेढी [क्षपकश्रेणि], २ उपशमनाकरण, ३ बंधविहाण [बन्ध-विधान], आ त्रणमां बंधविहाण अेक महाकाय ग्रंथ छे. अेना लगभग १४ भाग पडे छे अेटले १४ मोटा पुस्तक [वीन्युम] प्रमाण आ ग्रंथ थशे.

बंधविधानमहाशास्त्र :—

प्रथमखण्ड

प्रकृतिबन्ध

भा० १ मूलप्रकृतिबन्ध

भा० २ उत्तरप्रकृतिबन्ध

भा० ३ " " स्थानप्ररूपणा १

भा० ४ " " " २

भा० ५ " " भूयस्कारादिबन्ध

द्वितीयखण्ड

स्थितिबन्ध

भा० १ मूलप्रकृति स्थितिबन्ध

भा० २ उत्तरप्रकृति स्थितिबन्ध

भा० ३ " " भूयस्कारादिस्थितिबन्ध

तृतीयखण्ड

रसबन्ध

भा० १ मूलप्रकृति रसबन्ध

भा० २ उत्तरप्रकृति रसबन्ध

भा० ३ " " भूयस्कारादिरसबन्ध

चतुर्थखण्ड

प्रदेशबन्ध

भा० १ मूलप्रकृति प्रदेशबन्ध

भा० २ उत्तरप्रकृति प्रदेशबन्ध

भा० ३ " " भूयस्कारादिप्रदेशबन्ध

આમ આ ગ્રંથમાલાનો પ્રથમ સેટ આશરે ૧૬ ગ્રંથપુષ્પોનો થશે. પ્રસ્તુત મૂલ્યયચ્છિટિહંધો [મૂલ્યપ્રકૃતિસ્થિતિબંધ] ગ્રંથ વંધવિધાનમહાશાસ્ત્રના ઋજા સંઘના પ્રથમભાગરૂપ છે. એની વિદ્વાન મુનિરાજશ્રી ઘોરશેસ્વરવિજયજીએ રચેલી ૮૭૬ ગાથાઓ પ્રાકૃતભાષામાં છે અને તેના ઉપર પ્રેમપ્રભા નામનું મુનિરાજ શ્રી જગન્નદ્રવિજયજીએ કરેલું ૨૦ હજાર શ્લોકપ્રમાણ વિસ્તૃત વિવેચન-ટીકા સંસ્કૃતમાં છે. બંધવિધાનના પ્રથમખણ્ડનો પ્રથમભાગ 'મૂલ્યપ્રકૃતિવંધ' લખાઈને તૈયાર થઈ ગયો છે પણ તેના લેખક મુનિરાજ શ્રી ગુણરત્નવિજયજી 'સ્વવગસેદી' ના સમ્પાદનકાર્યમાં રોકાયેલા હોવાથી તે ગ્રંથ હવે પછી પ્રગટ થશે.

વિશ્વવ્યવસ્થાનો વિચાર જૈનદર્શને ખૂબજ યથાર્થદષ્ટિથી કર્યો છે તેથી જ જૈનદર્શનની તાત્ત્વિકતા ગ્રંથે વિશ્વના તત્ત્વચિંતકોનું મસ્તક નમી પડે છે.

જૈનદર્શને સમજાવ્યું છે કે જગત ૧. જીવ-આત્મા ૨. પુદ્ગલ ૩. ધર્માસ્તિકાય ૪. અધર્માસ્તિકાય ૫. આકાશાસ્તિકાય અને ૬. કાલ-આ છ દ્રવ્યમય છે.

જીવદ્રવ્ય-આત્મદ્રવ્ય ઋજાદ્રવ્યોથી, યાવત્ શરીરથી પણ સ્વતંત્ર અસ્તિત્વ ધરાવે છે અને એ પ્રમાણથી સાચીત છે. આ આત્માની યાવતમાં અનેક દષ્ટિચિંદુથી પ્રકાશ પાથરતો યથાર્થ આત્મવાદ-જૈનદર્શનમાં મલે છે.

આત્મદ્રવ્યના પણ કે એક છે. ૧. જુગાત્માઓ ૨. સંસારી આત્માઓ. મુક્ત આત્માઓ કર્મ-મલરહિત રાગ, દ્વેષ, મોહ, અજ્ઞાન, દેહ, મન, વચન તેમજ પુદ્ગલદ્રવ્યના મંગમાવથી રહિત, અનન્ત-જ્ઞાનાદિમય અને સ્ફટિકરત્નવત્ નિર્મલ આત્મસ્વરૂપને વરેલા છે અને તેઓ લોકના મસ્તકસ્થાને મિદ્ધશિલા ઉપર લોકાન્તને સ્પર્શીને રહેલા છે. સંસારીઆત્માઓનું મૂલભૂત-અસલસ્વરૂપ મુક્તાત્માઓ જેવું હોવા છતાં અનાદિકાલથી કર્મમલથી મલિન, રાગ, દ્વેષ, મોહ, અજ્ઞાન તેમજ સુખદુઃખાદિ લાગણી-ઓને પરાધીન, શરીરાદિ પુદ્ગલદ્રવ્યના સંગવાલું છે. એકેન્દ્રિયથી માંડી પંચેન્દ્રિયપણાસુધીની મિશ્ર મિશ્ર અવસ્થાઓમાં અને સંસારની ચારગતિઓમાં તેઓ પરિભ્રમણ કરી રહ્યા છે. સંસારી જીવોની આ વિકૃત અવસ્થા કર્મણુઓના સંબંધને આભારી છે. અનંતશક્તિને વરેલો, અનંતગુણથી ભરેલો આત્મા પણ કર્મની પરાધીનતાને કારણે અજ્ઞાન, રાગદ્વેષાદિ અનંતદોષમય એવી ભારે દયાપાત્ર દશા અનુભવી રહ્યો છે. આત્માના સહજસ્વરૂપને દવાથી દેનાર કર્મમત્તાની અનંત જટિલતાને વિવેચતાં કર્મવાદ-કર્મવિજ્ઞાનનો એક અનોખી દેણ જગતને એકમાત્ર જૈનદર્શને જ કરી છે.

જીવમાત્રના સુખદુઃખમાં અને સંસારપરિભ્રમણમાં મુખ્યભાગ ભજવનાર કર્મ અને તેના જ્ઞાનવિજ્ઞાન ની અર્થરૂપે પ્રથમપ્રરૂપણા અનંતઉપકારી શ્રી તીર્થંકુર-મગવંતોએ કરી અને શ્રોગણધર-મગવંતોએ એને સૂત્રરૂપે શુધી. ચૌદપૂર્વમાં અનેક સ્થલે કર્મવાદનું વિજ્ઞાન સંગૃહીત કર્યું. તેમાંના ઋજા આગ્રાયણીપૂર્વના ક્ષણલબ્ધિ (વચનલબ્ધિ) નામની પાંચમી વસ્તુના કર્મપ્રકૃતિ નામના ચોથા પ્રાભૃતમાં થયેલા કર્મવાદના ઉદ્ધાર અંગે જુઓ પ્રાચીનશાતકચૂર્ણિનો શાસ્ત્રપાઠ:-

'કિં, પરિકર્મ-સુત્ત-પદમાણુઓગ-પુલ્કગયચુલિયામહ્યાતો સવ્વાઓ દિદ્ધિ-
વાયાઓ કહેસિ ? ન હ્ત્યુચ્યતે-પુલ્કગયાઓ । કિં ઉપ્પાચપુલ્ક અગ્ગેણિય જાવ
લોગથિંદુસારાઓ ત્તિ યયાઓ ચોદસ વિદ્ધાઓ સવ્વાઓ પુલ્કગયાઓ કહેસિ ? ન
હ્ત્યુચ્યતે-અગ્ગેણિયાતો ઘોયાઓ પુલ્લાતો ।..... સ્વળલઙ્ઘીણમપંચમં વત્થુ
તાતો.....પંચમસ્સ વત્થુસ્સ વત્થુ પાહુલ્લં કમ્મપગલોનામધેલ્લં તત્તો કહેમ્મિ ।

કાલકલે પૂર્વશાસ્ત્રોનો વિલ્લેદ્દ થતો ગયો તેમ વહુશ્રુતપૂર્વાચાર્યભગવંતોએ અનેક વિષયોપર
'પૂર્વ'શાસ્ત્રના ફરણારુપ ગ્રંથો રચ્યા અને વિમ્મત વિવેચનો લખ્યા અને એ રીતે અગાધમાગરમમ
પૂર્વજ્ઞાનના અંશરુપ રહસ્યોને જીવંત રાખ્યા, પરંતુ કાલની વિકરાલ ફાલ જગતઉપર પડી રહી છે
તેમ તેતે કાલના સંધોએ ઘણું રક્ષણ કરવા છતાં આ જ્ઞાનનો સ્વજ્ઞાનો કાલનો ભોગ વનતો જ રહ્યો
અને ઘણા મૌલિક શાસ્ત્રગ્રંથોનો હાસ અને નાશ થતો રહ્યો. છતાં આપણા કદેક મદ્ભાગ્યે કર્મ-
પ્રકૃતિ, પંચસંગ્રહ, પ્રાચીનકર્મગ્રંથો, નવ્યકર્મગ્રંથો, શતક, શતકભાષ્ય, શતકચૂર્ણી,
કર્મપ્રકૃતિચૂર્ણાનુ' ટોપ્પણ, સિત્તરિચૂણ્ણો, સપ્તતિકાભાષ્ય, કષાયપ્રામૃત, કષાય-
પ્રામૃતચૂર્ણી, ષટ્ત્વંજાગમ વગેરે કર્મસાહિત્ય તેમજ અને અંગે સહાયક શ્રોત્રમગ-
વતીસૂત્ર, પ્રજ્ઞાપનાસૂત્ર, જોવાજોયાભિગમસૂત્ર, વગેરે આગમગ્રંથો તેમજ લોકવકાશ,
જીવસમાસ આદિ પ્રકરણગ્રંથો ઉપલબ્ધ થાય છે.

કર્મવિષયક આ વાહ્મ્ય આપણને કદાચ ઘણું લાગશે અને કર્મવિજ્ઞાનને સંગીતરીતે મમ-
જ્ઞવા પુરતું લાગશે પણ એમ નથી, કાલના પ્રભાવે મતિમાન્દ્ય પણ ગતિ કરી રહ્યું છે, વૃદ્ધિનિવાન
પૂર્વાચાર્યભગવંતોના પ્રૌઢ સંસ્કૃત-ગ્રાહ્યમાધ્યામાં રચાયેલા ગ્રંથો શબ્દસંક્ષિપ્ત અને અર્થગંભીર હોય છે.
એ મહાપુરુષોએ શાસ્ત્રગ્રંથોમાં જરૂરી લાગતું વિવેચન કર્યા પછી દરિયા જેવા કર્મવિજ્ઞાનની એક એક
શતને સૂક્ષ્મતાથી તેમજ ડાંડાળથી ત્રિચારત્રામાટે ગત્યાદિમાર્ગનાદારોનું સૂચન કર્યું છે.

૧વીજા આપ્રાયણી પૂર્વનો પાંચમી ક્ષણ(વચન-ચયન;લઙ્ઘિ નામની વસ્તુના કર્મપ્રકૃતિનામના ચોથા-
પ્રામૃતના ચોવીસ અનુયોગદ્વારોમાંના છઠ્ઠા વન્ધનદ્વારના ૪ વિભાગ પહે છે-૧ વન્ધ ૨ વન્ધક ૩ વન્ધનીય
૪ વન્ધવિધાન. તેમાંના ૪ થા વન્ધવિધાનમાં પ્રકૃતિવન્ધાદિ ચારે પ્રકારના વન્ધનું નિરૂપણ છે તે જેમાં
ઉદ્ધૂત થયું છે તે શતકચૂર્ણના પાઠનો ભાવાર્થ:—

'શુ' પરિકર્મ, સૂત્ર, પ્રથમાણુઓગ, પૂર્વગત [ચોદપૂર્વ] અને ચુલિકામય સમમ દષ્ટિવાદમાંથી ઉદ્ધૂત-
કરીને શતકપ્રકરણનું નિરૂપણ કરશો ? ના, માત્ર ચોથા પૂર્વગતમાંથી.શુ' ઉત્પાદ આપ્રાયણી યો માંદો વિન્દુસાર
સુધીના ચોદેપૂર્વમાંથી ઉદ્ધૂત.....કરશો ? ના, ચોદમાંના ૧૧જા આપ્રાયણીપૂર્વમાંથી. શુ' માઠ વસ્તુપ્રમાણ
સમમ આપ્રાયણી પૂર્વમાંથી કરશો ? ના, આપ્રાયણી પૂર્વનો પાંચમી ક્ષણલઙ્ઘિવસ્તુમાંથી કરીશું. શુ' પાંચમીવસ્તુના
ધીસેવીસપ્રામૃતમાંથી કરશો ? ના, ચોથા કર્મપ્રકૃતિ નામના પ્રામૃતમાંથી કરીશું. શુ' કર્મપ્રકૃતિપ્રામૃતનાં
ચોવીસ અનુયોગદ્વારો છે તે સર્વમાંથી ઉદ્ધૂત કરશો ? ના, ચોવીસમાંથી છઠ્ઠા વન્ધદ્વારના ચોથા વન્ધવિધાન
અનુયોગદ્વારમાંથી ઉદ્ધૂત કરીને નિરૂપણ કરીશું'.

આમ કર્મવિજ્ઞાન પૂર્વશાસ્ત્રોમાંથી ઉદ્ધૂત થયું છે. એ સ્પષ્ટરીતે સાચીત થાય છે.

જુઓ-કર્મપ્રકૃતિનો શાસ્ત્રવાઠ—

“કરણોદયસંતાણં સામિસોઘેહિં સેસગં ણેયં ।

ગદ્દઆદ્મગ્ગણાસું સંભવઓ સુદ્દુ આગમિય ॥૬૩॥”

અર્થ—આઠકરણ તેમજ ઉદય અને સત્તાનું સ્વામિત્વ ઓઘથી કહ્યું. ઢાકીનું વધું ગત્યાદિ-માર્ગણાઓમાં જ્યાં જે રીતે ઘટે તે રીતે પૂર્વાપર વિચાર કરી જાણી લેવું.

ગત્યાદિમાર્ગણાઓમાં વિચારવાખાટે આજનું ઉપલબ્ધ કર્મસાહિત્ય આપણને ખરપૂરસામગ્રી પૂરી પાડે છે. એ રીતે કર્મવિજ્ઞાન-વિષયનો વિચાર થાય તો સામાન્યરીતે મર્યાદિત લાગતો એ વિષય અતિશય વિસ્તૃત પ્રતીત થાય છે.

એ કર્મસાહિત્યોદ્ધારક મહાવિમ્ભૂતિ:—

પરમપૂજ્ય સંઘકૌશલ્યાધાર સિદ્ધાંતમહોદધિ સુવિશાલગચ્છાધિપતિ આચાર્યમગવંત શ્રીમદ્ વિજય પ્રેમસુરીશ્વરજો મહારાજા જેમ એક વિશુદ્ધસંયમના પાલક મહાસંયમી છે, વહુશ્રુત મહાન-જાની પુણ્યપુરુષ છે. અનેક આચાર્યવૃદ્ધ, શાસનપ્રભાક્ક, વિદ્વાન, સંયમી અને ઉગ્રતપસ્વી શિષ્ય-સ્ત્રનોને તૈયાર કાનાર તેમજ વર્તમાનકાલે શાસનની એક પ્રૌઢવિમ્ભૂતિ છે, તેમ સૂક્ષ્માતિસૂક્ષ્મ અને ગહન એવા કર્મસાહિત્યના મર્મજ્ઞ અદ્વિતીય મહાપુરુષ છે. તેઓએ વર્ષોસુધી મલતત્યાગ સાથે કર્મ-શાસ્ત્રોના વાચન-મનન-પરિશીલન પઢી એના અંતસ્થ મહારમને ચાલ્યો છે.

શ્રીઠાળાંગસૂત્રાદિ શાસ્ત્રગ્રંથોમાં ધર્મધ્યાનના ચારપાયા (પ્રકાર)માં વિપાકવિચયને એક પાયો (પ્રકાર) કહ્યો છે. દ્રવ્ય-ક્ષેત્ર-કાલ-ભાવ અને ભવનું નિમિત્તપામી કર્મો કેવી રીતે વંધાય છે. એ કર્મોના ગુણગુણ કેવા વિચિત્ર ફળો મળે છે તેનો ડુંડો વિચાર આ ધ્યાનમાં સમાય છે.

પૂજનીય આચાર્યમગવંતે વર્ષોસુધી દિવસ રાતો આવા ધ્યાન-ચિંતન પાછલ પસાર કરી છે અને એક નોંધવાત્ર આત્મરમણતા અને કપારોની મંદતા અનુભવી છે.

ગહનાતિગદ્ધન કર્મશાસ્ત્રોની મર્મજ્ઞતાનું જૈનશાસનની પરંપરામાં એક વિશિષ્ટ ગૌરવ મનાયું છે. મકરુસંવમાં માન્ય કર્મ સાહિત્યના મહાન નિષ્ણાત તરોકેનો સુપ્રસિદ્ધિ તેઓશ્રીને ઘરો છે. તેઓશ્રીએ કર્મશાસ્ત્રોના ચિંતન-મનનના પરિપાકરૂપે કર્મસિદ્ધિ, સંક્રમકરણ ભા. ૧-૨, માર્ગણાદ્વારવિવરણ વગરે મૌલિકગ્રંથોની અનેક શાસ્ત્રોના નવનીતરૂપે સુબોધશૈલીમાં રચના કરી. તેમ છતાં તેઓશ્રીને સંતોષ ન હતો. તેઓશ્રીનું અંતર ઇંચતું હતું કે ‘વર્તમાનમાં ઉપ-લબ્ધ કર્મસાહિત્ય, આગમગ્રંથો અને પ્રકરણગ્રંથોના આધારે સત્પદાવિદ્વારોમાં તેમજ ગત્યાદિમાર્ગણાદ્વારોમાં વિસ્તૃત સરક અને સુબોધ શૈલીમાં કર્મશાસ્ત્રોનું નવસર્જન થાય, કેટલાક વિષમ લગતા પદાર્થો ચિંતન મનનને અંતે સુગમ અને નિર્ણાન થાય તો જૈનશાસનના કર્મવિજ્ઞાનનો મૌલિકતા, વિસ્તાર જગતને જોવા, જાણવા મળે. સંકડો વર્ષોસુધો ગ્રંથારૂઢ નહિ થયેલો પરંપરાગત આ ધારસો

भव्यजीवने चिंतन-धननादि द्वारा कर्मनिर्जरामाटे लाभदायी निवृत्ते अने आत्मकल्याणानुं अेक अंग बने' आ शुभमनोरथने सक्रियरूप आपवा वि० सं० २००४ ना खंभातना चातुर्मासिमां तेओश्रीजे 'बंधनकरण' उपर लखवानुं शरू कर्पुं पण विशाल साधु-समुदाय, संघ अने शासननी अनंक शुभप्रवृत्तिओमां अे लेखनकार्यने वेग आपी शकयो नहि.

आ शुभकार्यमां शिष्योनी साथ :—

पोताना समग्र जीवनने सुविशुद्ध संयमना रंगे रंगी नाखनार आ चारित्रनिष्ठ महापुरुषने भोग-विलासना आ झेरीयुगमां पण भव्यात्माओने कठोर संयमना मार्गे, अध्यात्मज्ञानना राहे सफल प्रयाण कराववानी जाणे लब्धि न बरी होय ! तेओश्रीनी शान्त-प्रशान्त विरागमुद्राना दर्शन, चारित्रप्रभाव अने सत्प्रेरणायी सेंकडो भव्यात्माओ संयमना पंथे प्रयाण करी चूक्या हता. सं० २००५-२००६ मां मुंबई अने पालीताणाखाते तेमज सं० २००७-२००८-२००९-२०१०-२०११-२०१२ नी सालमां मुंबई वगेरे क्षेत्रांमां संख्याबंध युवको तेमज कुटुंबांना, कुटुंबां पूज्य आचार्यभगवंतनी ज्वलंत वैराग्यप्रेरणायी अने पूज्य प्रभावकप्रवचनकार गुरुदेव पं० श्री भानुविजयजी गणिवर्यनी वैराग्यरसतरबोळ धर्मदेशनाना श्रवणथी मुक्तिमार्गना पथिक वन्या. ते सर्वने दीक्षादान पळी ग्रहणशिक्षा अने आसेवनशिक्षा आपवानुं महत्त्वनुं कार्य पूज्य आचार्यभगवंते तथा तेओश्रीना शिष्यप्रशिष्यरत्नो पू० पं० श्री हेमंतविजयजी गणिवर्य, पू० पं० श्री भानुविजयजी गणिवर्य तथा पू० पं० श्रीपद्मविजयजी गणिवरे उपाडी लीधुं. आदर्शसाधुओ तैयार करवानी पूज्य आचार्यभगवंतनी इच्छाना तेओ रजे रज पारखनारा हता. पूज्यश्रीनी छत्रछायामां व्रणे पंन्यामप्रवरोअे साधुओने ग्रहण-आसेवनशिक्षा आपवानुं कार्य खूब स्वंतथी कर्पुं. तेओअे आपेली उपदेशमाळा-पुष्पमाळा, यतिदिनचर्या, यतिशिक्षा, धर्मरत्नप्रकरण, श्री महानिशीथसूत्र प्रथम बे अध्ययन, आचारांगसूत्र, नंदी-सूत्र, आवश्यकसूत्र, पाश्चिमसूत्रटीका वगेरेनी वाचनाओअे अपूर्व चेतना जगावी, तेनोज सुंदर प्रभाव छे के आजे आ मुनिवरो संयम, त्याग, तप, समितिगुप्तिना पालननी चीवट, आदर्श गुरुभक्ति, स्वाध्यायरतता आंतरमुखता, आज्ञापालकतादिगुणोथी शोभी रह्या छे.

संसारथी पराङ्मुख बनेला आ विरागी मुनिओ संयमसाधना अने श्रुतोपासनामां सुलीन बनी गया. थोडो अभ्यासक्रम आगळ वध्या पळी पू० आचार्यभगवंतनी इच्छा मुनिओने न्यायदर्शन नुं अध्ययन कराववानी थई न्यारे पू० गुरुदेव पंन्यासप्रवरश्री भानुविजयजी महाराजे पूज्य आचार्यभगवंतने विनंति करी के न्यायना अध्ययनपाटे तो हुं बेठो छुं. आप कृपालु कहेशो न्यारे करावीश, हमणां आप कर्मसाहित्यनो अभ्यास करावो तो मुनिओने आपनो आ स्वाम विषय संगीन रीते मळी जाय. पूज्यपाद आचार्यदेवने ते ठीक लाग्युं तेथी पूज्य गुरुदेव मुनिओने अेक अठवाडीयुं जैनशासनना आत्मा, कर्म, कर्मबंधना हेतुओ, गुणस्थानरू, बंध, उदयादि उपर प्रकाश

पाथरती समजुती आषी. आ सात दिवसनी वाचनाअे कर्मवादनी सारी परिचय मुनिओने आप्यो. आ रीते मागर समा कर्मसाहित्यमां प्रवेशमाटे उत्साहित कर्या त्वाखाद पूज्य आचार्यभगवंते कर्मसाहित्यनुं अध्ययन कराव्युं. वारमास जेटला समयमां तो छ कर्मग्रंथ, कम्मपयडी, पंचसंग्रहना निष्णात बनावी दीधा.

पूज्यश्री पासे ते विषयनुं तलस्पर्शी संगीन ज्ञान हतुं. मुनिओनी बुद्धि कुशाग्र हती. विनयनी पात्रता हती. अध्ययननी अपूर्व खंत हती. हुंक समयमां मुनिओ विषयना अगाध उंडाणमां उतरी गया विषयनी सूक्ष्मता अने गहनताने कारणे घणाओने निरस अने कंटाळा रूप लागता आ कर्मसाहित्यमां तेओए भारे रस चाव्यो. चिंतन-मनन-परस्पर पर्यालोचन जटिल-पूर्वपक्ष अने शास्त्रसिद्ध युक्तिओ भयो अकाल्य उत्तरपक्ष द्वारा मुनिओए पूज्य आचार्यभगवंतश्रीने आनंद विभोर, आश्चर्यमुग्ध अने परम संतुष्ट कर्या. पुनामां २०११ना चोमासामां पू० गुरुदेव पंन्शासत्री महाराजे १८-२० साधुओने न्यायदर्शनना प्राथमिक ग्रन्थोनी अभ्यास कराव्यो. पूज्यपाद आचार्यभगवंते अनेक मुनिवरीने आ रीते तैयार थयेल जोगा अने पोताना शुभमनोरथने सक्रिय रूप आपवानी सुशक्यता देखई. तेओश्रीए २०१४मां अमदावादमां पोतानो मनोगत मंगलमनोरथ शिष्यमंडळ आगळ जाहेर कर्या, आ मनोरथ जाहेर थतांज परमगुरुभक्त शिष्योए एने अंतरधी वधावी लीधो.

ॐ मंगल प्रयाण हजो :-

सुरेन्द्रनगरना श्रीसकलसंघनी अत्याग्रहभरी विनंतिथी पू० आचार्यदेवादि टाणा ५४ नुं वि० सं० २०१५ नुं चातुर्मास सुरेन्द्रनगरमां थयुं, वारमा तीर्थपति श्रीवासुपूज्यस्वामीनी शीतल-मंगल छायामां प्राचीनसाहित्यना आधारे श्रीकर्मसाहित्यना विस्तृतसर्जन नो मंगल प्रारंभ थयो । शरुआतमां मुनिराज श्री जयघोषविजयजी, मुनिराजश्री घर्मानंदविजयजी तथा मुनिराजश्री हेमचंद्रविजयजी आ ऋण मुनिशरोअे कार्यनो आरंभ कर्या, पाळळथी विद्वान मुनिराजश्री गुणरत्नविजयजी पण आ कार्यमां जोडाया तेमां सर्वप्रथम क्षपकश्रेणि अने उपशमनाकरणना पदार्थो-विषयो नुं व्यवस्थित संकलन कर्युं, अनेक शास्त्रग्रंथोना आधारे अने गुरुभगवंतोना महानवित्तयथी परिकर्मित बुद्धिना सहारे करेलुं आ विषयोनुं पर्यालोचन अेटलुं तो उंडु अने विस्तृत हतुं के अेना मोटा वे ग्रंथो तैयार थया ।

उपशमनाकरण अने क्षपकश्रेणिना विषयनी नोंध मारा लघु गुरुवांधव विद्वान मुनिराज श्री हेमचंद्रविजयजीअे करी हती जे गणितनी प्रक्रियाथी भरपूर हती पाळळथी मुनिराज श्री गुणरत्न विजयजी अे क्षपकश्रेणिना समग्रविषयने प्राकृतगाथाओ रची ग्रंथरूपे गुंथ्यो तेमज लगभग १८थी २० हजार श्लोकप्रमाण संस्कृतमां टीका रची. ते स्वचंगसेळी ग्रंथरत्न पण आ साधेज प्रकाशित परई रघो छे ।

બંધવિધાન મહાશાસ્ત્રનું સર્જન :

સ્વગસેદો અને ઉપશમનાકરણ આ બે ગ્રંથોના પદાર્થોનું સંકલન તૈયાર થયા બાદ 'બંધ-વિધાન' ગ્રંથનું કાર્ય મુનિઓએ પ્રારંભ્યું, પરમપૂજ્ય આચાર્યદેવના શુભાશીર્વાદ મેઝવી ગ્રંથનું મંગલ કર્મ, આ ગ્રંથમાં બંધનકરણ અને શતકાદિગ્રંથોના વિષયનો સંગ્રહ અને વિસ્તાર કરવાનો હતો. પ્રકૃતિ-બંધ, સ્થિતિબંધ, રસબંધ, પ્રદેશબંધ આ ચારે પ્રકારના બંધના મૂલ-ઉત્તર ભેદ, મૂ્યસ્કાર, તેના પદ-નિશ્ચેપ, વૃદ્ધિઆદિ તથા સ્થાનાદિ પ્રરૂપણાનો સત્પદાદિદ્વારોમાં તથા ગત્યાદિમાર્ગના-ઓમાં વિસ્તૃત વિચાર કરતા આ ગ્રંથનું સર્જન દોઢથી બે લાખ શ્લોકપ્રમાણ થાય એવું લાગ્યું. અને એના લગભગ ૧૪-૧૫ ચોપડા (વોલ્યુમ) તૈયાર થાય એટલું વિરાટ કાર્ય હતું, આ કાર્ય બે-ચાર વ્યક્તિઓથી થવું શક્ય ન હતું તેથી કર્મપ્રકૃત્યાદિનો અભ્યાસ કરી તૈયાર થયેલા વીજા ૮-૧૦ મુનિવરોને પૂ. આચાર્યભગવંતે આ કાર્યભારના સહયોગી બનાવ્યા.

પદાર્થ સંગ્રાહક મુનિવરો :

પૂજ્યપાદ કરુણામિધુ આચાર્યભગવંતની પરમકૃપાના પાત્ર મુનિરાજશ્રી જયઘોષવિજયજી તથા મુનિરાજશ્રી ધર્માનંદવિજયજી આ બે મુનિવરો કર્મસાહિત્યના નવનિર્માણના કાર્યમાં સ્થંભભૂત છે, તેમાંના પ્રથમ મુનિ, પૂજ્ય પંચાસપ્રવરશ્રી માનુવિજયજી ગણિધર્યના શિષ્યરત્ન મુનિરાજશ્રી ધર્મઘોષ વિજયજીના શિષ્યરત્ન છે. આગામી શાસ્ત્રો, પ્રકરણ-ગ્રંથો અને સ્વાસકરીને હેદગ્રંથોના તેઓ વિદ્વાન છે, ધીજા મુનિ, પૂજ્ય પંચાસપ્રવરશ્રી માનુ-વિજયજી ગણિધર્યના શિષ્યરત્ન છે, તેઓ પણ આગામી, પ્રકરણોના મારા અભ્યાસી છે, કર્મ-સાહિત્યમાં ગણિતાનુયોગનો વિષય સારા પ્રમાણમાં આવે છે તે ગહન હોય છે; તેને આ મુનિ સુંદર-રીતે સ્પષ્ટ કરે છે.

કર્મસાહિત્યના સૂક્ષ્માતિસૂક્ષ્મ વિષયની ગહનતાને ભેદવાનું સાંભાગ્ય આ બે મુનિઓએ પ્રાપ્ત કર્યું છે. તેમનું ગંભીર શાસ્ત્રવાંચન, અગાધ વિંતન અને રાતદિવસ એનું પરિશીલન છે. વિષય ના એકએક મુદ્દાને અનેક ગ્રંથો વાંચી એનો પરસ્પર સમન્વય કરેલું, જ્યાં શંકાસ્પદ લાગે ત્યાં વીજા આગમગ્રંથો, પ્રકરણગ્રંથોની સહાય લઈ પૂ. આચાર્યભગવંત સાથે એની વિચારણા થયા બાદ શાંત-સ્વસ્થચિત્તે અનુપ્રેક્ષા કરી સમાધાન ચોક્કસ કરે છે. અને યથાર્થ ઉકેલ લાવે છે. તે પછી મુનિઓને એનું વિવરણ સમજાવે છે ત્યારબાદ ગાથાના આધારે મુનિઓ ટીકાનું આલેખન કરે છે.

પદાર્થસંગ્રહકાર તથા ગાથાકાર મુનિરાજશ્રી વીરશેખરવિજયજી :

આ મુનિરાજશ્રી મુંબઈ દાદર શાંતે પૂજ્યગીતાર્થ ગચ્છ હિતચિંતક પંચાસ પ્રવર શ્રી હેમંત વિજયજી ગણિધર્યના સં. ૨૦૦૭-૨૦૦૮ ના ચાતુર્માસમાં ૧૩ વર્ષની વયે અદ્વાઈ તથા

ઉપવાચક કરો ત્યારથી વૈરાગ્યવાનિત થયા . ત્યારબાદ પૂજ્યવાદ આચાર્યભગવંતની પ્રેરણાથી સં. ૨૦૧૧ માં ૧૬વર્ષની વયે ચારિત્ર અંગીકારી પૂ. પંચાસજો મહારાજના શિષ્યરત્ન મુનિરાજશ્રીલલિતશેખરવિજયજીના શિષ્યરત્ન મુનિરાજશ્રીરાજશેખરવિજયજીના શિષ્યરત્ન થયા . આ મુનિવાનો શાસ્ત્રવ્યાસંગ આદર્શ છે નાનીવયમાં સંસ્કૃત પ્રાકૃતવ્યાકરણ પ્રહણપ્રંથો, ન્યાય વગેરેના અધ્યયનમાં સારો વિકાસ યાચ્યો છે . ઘન્યવિધાન ગ્રંથના પદાર્થ-સંકલનમાં તથા ગણિતવિશાગને સરલ બનાવવામાં તેમનો મહત્વનો ફાટો છે . ગાથારૂપે ગુંથવાના પદાર્થોની પિંતજૂર્વક નોંધકરી ઉપયુક્ત વસ્તુ પદાર્થસંગ્રહકાર મુનિવગે સાથે વિચારણા કરી તેમની પાસેથી વિશેષપદાર્થો મેઠવી પદાર્થ-વિવચનો નિર્ણય કરીને આર્ષાહંદ અને તેના પેટાભેદોમાં ગાથાઓ બનાવેછે . ઘન્યવિધાન ગ્રંથની આશરે ૧૫૦૦૦ પ્રાકૃત ગાથાઓરચવાનું મહાનકાર્ય પૂજ્ય આચાર્ય ભગવંતની આજ્ઞાથી તેઓએ કર્યું છે ગ્રંથનો આંતરવિસ્તાર ન થાય તેનો વીંધટ રાખી શક્ય તેટલા સંક્ષેપમાં વિષયને સમાવવાની સારી કુશલતા એમણે દાલવી છે .

વિવેચનગ્રંથનું શુભનામ 'પ્રેમપ્રભા' :—

'ઘન્યવિધાન' ગ્રંથ ઉપર જુદા જુદા મુનિવરોએ સંસ્કૃતમાં રચેલા વિવેચનનું સાન્વર્યનામ 'પ્રેમપ્રભા' ટીકા રાખવામાં આવ્યું છે. આ વિરાટ કર્મસાહિત્યના મર્જનમાં પ્રેરણાદાતા, પ્રકાશદાતા અને ચેતના જગાવનાર હોય તો તે પુણ્યનામવેય આચાર્ય ભગવંત શ્રીમદ્ વિજય પ્રેમસૂરીશ્વરજી મહારાજા છે.

આત્મના વાણીસ્વાતંત્ર્ય અને વિચારસ્વાતંત્ર્યના યુગમાં યૌવનના થનગનાટ વચ્ચે સહજમુઠમ લોકપ્રસિદ્ધિ, આદિ વાલ્યભાગમાં ન લેવાતાં વર્ષો સુધી શ્રમસાધ્યકાર્યમાં લીન થની વહુ ડુંક-સમયમાં મુનિવગે આ મહાનકાર્ય કરી શક્યા છે તે કોઈ માત્ર એમની પોતાની શક્તિથી નહિ પણ સદૈવ સ્મરણીય પૂ. આચાર્ય ભગવંતની પરમકૃપાથી અને દિવ્યઆશીર્વાદથી કરી શક્યા છે. તેથીજ તે પરમગુરુદેવતા અનંતઉપકારોની ચિરસ્મૃતિમાટે તેઓથીના પ્રેમની-સમ્યક્જ્ઞાનજ્ઞાનાદિજ્ઞાન્સભ્યની પ્રભારૂપ સાર્થક નામની પસંદગી કરવામાં આવી છે.

અનેક શાસ્ત્રગ્રંથોના દોહનરૂપે આગ્રંથ તૈયાર થયો છે. તે તે વિષયને સ્પર્શોની વાતો, વિવારો-હેતુઓ અનેક શાસ્ત્રગ્રંથોના આધારે ચર્ચવામાં આવ્યા છે. વિષમસ્થલો વિસ્તૃત અને સ્પષ્ટ વિવેચન પૂર્વક સરલ સુજ્ઞેય બનાવ્યા છે. અનેક ગ્રંથોના સંકલ્પો સાક્ષોપાઠોયો સમૃદ્ધ, યંત્રો અને ચિત્રોથી ભરપૂર આ ગ્રંથ જ કહો આપણે કે કેટલા શ્રદ્ધા અને સમરના ઘલિદાનપૂર્વક અને તૈયાર કરવામાં આવ્યો છે,

રચના સંસ્કૃત-પ્રાકૃતભાષામાંજ કેમ કરી ? .

અનેક મુનિવરોની વર્ણોની મહેનતને અંતે તૈયાર થયેલ આ જીવનોપયોગી મનનીય સાહિત્યના

સર્જનમાટે ગુજરાતી, હિન્દી, અંગ્રેજી ભાષા પસંદ ન કરતાં સંસ્કૃત પ્રાકૃત ભાષાની પસંદગી શામાટે કરી ? આ પ્રશ્નનું સમાધાન એ છે કે (૧) સંસ્કૃત પ્રાકૃતભાષા સર્વદેશીય અને સર્વકાલિક છે. અંમાં પરિવર્તનો ભાગ્યેજ આવે છે, આ ભાષાઓનાં હજારો વર્ષોથી પ્રાયઃ એક સરખી પદ્ધતિ ચાલી આવે છે. (૨) આ ભાષાઓની સુગ્રી એ છે કે વિષયના ગમે તેવા વિસ્તાર કે અતિવિસ્તારને જે રીતે વધુમાં વધુ સંક્ષેપમાં આ ભાષાઓમાં રજૂ કરી શકાય છે તે રીતે પ્રાયઃ બીજી ભાષાઓમાં રજૂ કરવો અશક્ય છે. પ્રસ્તુત વિષયના અગાધ વિસ્તારને સાંકેતિક શબ્દોને કે યંત્રોને ધારી રીતે બીજી ભાષાઓમાં કોઈ રીતે ન સમાવી કે સમજાવી શકાય. (૩) ગુજરાતી વગેરે ભાષાઓ પ્રત્યેક યુગમાં ફલટાતી રહે છે. દરેક પ્રાન્તોમાં પણ તે અંગે ઘણી ભિન્નતા પ્રવર્તે છે તેથી યુગપરિવર્તન માથે આ ગ્રંથો પણ અનુપાદેય બની જાય. આવા અનેક કારણોથી સંસ્કૃત-પ્રાકૃતભાષાનો આશ્રય લેવાયો છે છતાં ગ્રંથમાં વિષયપરિચય મારરૂપે ગુજરાતીભાષામાં આપ્યો છે.

‘સ્થિતિબંધ’ ના ટીકાકાર મુનિવર્ય શ્રી જગચ્ચંદ્રવિજયજો:-

આ પ્રસ્તુતમાં પ્રકાશિત થઈ રહેલો મૂલપગડો ટિહ્ચંધ્રો [મૂલપ્રકૃતિ સ્થિતિબંધ] ગ્રંથની ‘પ્રેમપ્રભા’ નામની ૨૦ હજાર શ્લોક પ્રમાણ ટીકા [વિવેચન] ના રચયિતા મારા લઘુ ગુરુવાંધવ મુનિરાજશ્રી જગચ્ચંદ્રવિજયજો છે. પૂજ્ય પરમગુરુદેવ પંચામપ્રવરશ્રી મ્હાનુ-વિજયજો ગણિવરના શિષ્યરત્ન મારા પૂજ્ય ગુરુદેવ પંચામપ્રવરશ્રી પદ્મવિજયજો ગણિવર્યના-તેઓ શિષ્યરત્ન છે. પ્રથમથી જ આ મુનિરાજની વૃદ્ધિ કુશાગ્ર અને તર્કપ્રધાન હતી. અદમ્યઉત્સાહથી ગુરુસેવા અને જ્ઞાનોપામના સાથે તેમણે આજે ૧૪ વર્ષને અંતે પણ લગભગ નિત્ય એકામણાનો તપ અજોડ ત્યાગ માથે ચાલુજ રાખ્યો છે. આ ટીકાગ્રંથની રચનામાં તેમણે અર્ધવૃદ્ધિકૌશલ વાપર્યું છે. ન્યાય, વ્યાકરણ, આગમ, પ્રકાણ અને કર્મમાહિત્યવિષયક એમની વિદ્વતા આ ટીકાગ્રંથમાં દેખાઈ આવે છે.

આ ‘પ્રેમપ્રભા’ ટીકાગ્રંથનો મૌલિકતા :-

(૧) મૂલગાથાના પ્રતીકો પદ્ધતિસર જરૂર પડે ત્યાં ટીકામાં ઉતાર્યા છે. (૨) તે પ્રતીકોનો સ્પષ્ટશબ્દાર્થ કરવામાં આવ્યો છે. (૩) જરૂર પડે ત્યાં એ પ્રતીકોનો તથા સમગ્રગાથાનો સ્પષ્ટ-સ્થાર્થ સ્ખોલવામાં આવ્યો છે. (૪) પદાર્થને સ્વોટ મિદ્ર કરતી પ્રબલ યુક્તિઓ આપી છે. (૫) પ્રસંગોપાત ૬૦ ઉપરાંત શાસ્ત્રગ્રંથોના ૩૦૦ લગભગ સાક્ષી પાઠો આપ્યા છે. (૬) શંકા અને તેના સમાધાનો દ્વારા વિષયને સમય અને સુબોધ બનાવ્યો છે. (૭) કોઈક સ્થલે મૂલગાથામાં ન કહેલા તે તે વિષયના મતાંતરો ટીકાકાર વિદ્વાનમુનિવરે અન્ય શાસ્ત્રગ્રંથોનું અલોકન કરી પદાર્થસંગ્રહ-કાર મુનિવરો સાથે વિચારણા કરી સંગૃહીત કર્યા છે. (૮) સૂક્ષ્મ વાચનોને સમજવાની સરલતા માટે ઘણે ઠેકાણે દૃષ્ટાન્તો આપી વિષયનું વિશદીકરણ કર્યું છે જુઓ—

પૃ૦ ૧૩, ૧૪, ૧૭, ૨૬, ૨૮, ૬૩૫. (૯) વૃક્ષ વિષયોને દૃષ્ટાન્તોથી સ્થાપના કરી યંત્ર રૂપે પળ મોઠવ્યા છે. જુઓ-પૃ૦ ૧૪, ૨૦, ૩૪૧, ૫૧૩, ૬૩૬, ૬૪૬, ૬૫૪, ૬૬૩. (૧૦) આ ગ્રંથના છે એ અધિકારોના પ્રત્યેક દ્વારોના મમગ્રવિચયને ૧ કે ૨ પ્રુષ્ટમાં સંક્ષેપમાં બતાવી દેતાં આરિસા જેવા યંત્રો(કોઠાઓ) આ ગ્રંથનું મહત્ત્વનું અંગ છે, આ મુનિવરે સર્વપ્રથમ આવા યંત્રોની કલાન્મકશૈલીનો ચીલો પાઠી પછીના વધાજ ગ્રંથો માટે અંક સુંદર માર્ગ ચીંધ્યો છે. પૃ૦ નં૦ ૧૯૪ ઉપર કાચસ્થિતિપ્રદર્શકયંત્રમાં તો જલ્દ સૂચી વાપરી છે, જ્ઞકજ પેજમાં ૧૭૦ માર્ગનાઓને જુદી જુદી મંજાઓ-સંકેતો આપી નીચે ફૂટનોટમાં તેની જઘન્યકાચસ્થિતિ, ઉત્કૃષ્ટ-કાચસ્થિતિ, મતાંતરે મનાતી કાચસ્થિતિ દર્શાવી છે અને તે તે કાચસ્થિતિનો ગાથાંક પણ આપ્યો છે.

યંત્રોમાં વ્યવસ્થિત કોઠાઓ પાઠી તે તે દ્વારોના મંપૂર્ણ વિષયને સંક્ષેપમાં એ રીતે રજુ કર્યો છે કે વિષયના જાણ કરને યંત્ર ઉપરથી જ અધ્યયન કરાવવું હોય તો કરાવી શકે. અધ્યયન-કરનાર એકવાર વિસ્તારથી વાંચી ગયા પછી આ યંત્રો ઉપરથી વિષયનું પુનરાવર્તન કરી શકે, ગાથાઓમાં માર્ગનાઓ કદાચ આગલ પાછલ મોઠવાયેલી હોય તો યંત્રની સહાયથી પદાર્થ શોધી શકે. યંત્રોમાં આપેલ ગાથાનંવરથી પદાર્થનો વિસ્તાર જોવાની સ્વ માર્ગી અનુકૂલતા થઈ છે, વિષયને દેવા જેવો સ્પષ્ટકરી આપનાર આવા ૭૮ યંત્રોથી મુનિશ્રીએ આ સ્થિતિચંધ ગ્રંથને અલંકૃત કર્યો છે. યંત્રોની કલા એટલે શાસ્ત્રમાગરને ગાગરમાં સમાવશની કલા. યંત્રોમાં વિષયોની મોઠવણ કેવી સૂચીભરી છે તે નીચે બતાવેલી યંત્રજોવાની ૨-૩ રીતો પરથી જાણમાં આવશે.

યંત્રમાં ગુંધેલા પદાર્થોને સમજવાનો કેટલોક રોનો :—

A કાર્મણકાચયોગમાર્ગનામાં આયુષ્ય મિત્રાચના સાતકર્મની જઘન્યસ્થિતિચંધનું પ્રમાણ કેટલું ? અને કેમ ? એ જાણવું છે તો ૧. યંત્રોની અનુક્રમણિકા જોઈ સાતકર્મના જઘન્યસ્થિતિચંધનું યંત્ર કાઢવું, ૨. એ યંત્રની ઉમી કોલમમાં યોગમાર્ગનાના નીચેના જ્ઞાનામાં કાર્મણકાચયોગમાર્ગના જોવી, ૩. તેની સામે આડી કોલમમાં પહેલા જ્ઞાનામાં જ કાર્મણકાચયોગમાર્ગનામાં થતાં સાત કર્મના જઘન્યસ્થિતિચંધનું લખેલું પ્રમાણ મલી આવશે. ૪. એટલું પ્રમાણ જાણાટે ? એ જાણવા યંત્રની આડો કોલમમાં છેલ્લા જ્ઞાનામાં ગાથા નંબર જોઈ તે ગાથાની ટીકામાં કરેલા પદાર્થ તા સ્પષ્ટીકરણમાં એનો હેતુ મલી શકશે.

B પર્યાપ્તવેન્દ્રિયમાર્ગનામાં આયુષ્યકર્મના અજઘન્યસ્થિતિચંધકોની સ્પર્શના કેટલી ? તે જાણવા માટે ૧. તે કર્મની તે સ્થિતિના ચંધકોની સ્પર્શનાનું યંત્ર અનુક્રમણિકાના આધારે કાઢવું, ૨. તેમાં પહેલી ઉમી કોલમમાં હિન્દ્રિયમાર્ગનામેદ જોવી, ૩. તેના ત્રીજા જ્ઞાનામાં પ્રસ્તુત માર્ગનામેદ દેખાશે. તે જ્ઞાનાની ઉપરના જ્ઞાનામાં સ્પર્શનાનું ૮ રાજ પ્રમાણ દેખાશે નીચે છેલ્લા જ્ઞાનામાં ગાથાનો અંક મલશે. તે ગાથાની ટીકાના આધારે એનો હેતુ પણ જાણી શકાય છે.

○ મોહનીયકર્મની અસંખ્ય-સંખ્યભાગ વગેરે સ્થિતિવન્ધ વૃદ્ધિગાનીઓ અને સ્થિતિવન્ધ અસ્થિત-
અવસ્થવના વંધકોથી ઉત્પન્ન થતાં ભાંગા કેટલા થાય તે જાણવું છે તો તે માટે ૧. યન્ત્રાનુક્રમમાંથી
સ્થાતકર્મના સ્થિતિવંધવૃદ્ધિઆદિના વંધકોના ભંગવિચયનું યંત્ર કાઢવું, ૨. પૂર્વની જેમ લોભક્રયાય-
માર્ગાનાં જ્ઞાનાનાં જોતાં ૨૧૮૭ ભાંગા જાણવા મલશે. એનો હેતુ જાણવા માટે ગાથાના આધારે
ટીકા જોવી.

આમ યંત્રોની જોવાની રીત જાણ્યા પછી સાગર જેવા વિશાળ ગ્રંથમાંથી જોએ તે પદાર્થનું
અન્વેષણ સહેલાઈથી કરી શકાય છે.

(૧૧) રાજા મૂયસ્કારાધિકારના અને પાંચમાં વૃદ્ધિવંધઅધિકારના ભંગવિચયદ્વારમાં
તેમજ છઠ્ઠા અધ્યવસાયસમુદાહારઅધિકારના સ્થિતિસમુદાહાર દ્વારમાં આવતી કિલ્લ
ગણિતપ્રકિયાને મુનિશ્રીએ સુયોગ્ય શબ્દદેહ આપી સુગમ બનાવી છે.

(૧૨) કોઈક સ્થળે અનેક મનો પ્રવર્તતા હોઈ તે સર્વમનોનો નિર્દેશરૂપે મૂળગાથામાં મંગલ
કાવામાં આવ્યો છે. ટીકાકારે તે સર્વમનો તે તે શાસ્ત્રપાઠો સાથે ટીકાવાં રજૂ કર્યાં છે. જુઓ-
પૃ૦ ૧૪, ગાથા ૭૨ ની ટીકા.

(૧૩) આ ગ્રંથમાં આવતા જરૂરી વિષયોને તર્ક-ન્યાયશૈલીની પ્રણયે ચઢાવવાનું પણ
મુનિશ્રી ચૂક્યા નથી, જે રીતે વિષયની વિષયજ્ઞાને અને વિષયની જ્ઞાને સંબંધિત દલીલોને મેટીને
સત્યાર્થ સાચીત કરાવો છે. દા. ત. જુઓ ૬ મો વૃદ્ધિઅધિકાર પૃ૦ ૫૫૫-૫૫૬ ગાથા
૭૪૭-૭૪૮ ની ટીકા. જુઓ. ૪ ધા પદનિક્ષેપાધિકાર પૃ૦ ૫૩૦-૫૩૧ ગાથા ૭૦૬
ની ટીકા. આ રીતે અનેકસ્થલો તર્કસિદ્ધ લેલીનીથી અલેખ્યા છે.

(૧૪) કેટલેક સ્થળે કોઈ એક ચોક્કસ અને દ્વિવિવક્ષા-અભિપ્રાયથી આજ્ઞા ય વિષયનું
નિરૂપણકરી તે પદાર્થનું બીજી વિવક્ષાથી પણ નિરૂપણ થઈ શકે અને કોઈ તેમ કરે તો
એ અવિરુદ્ધ છે એ જણાવવા પૂર્વક બીજી વિવક્ષાનું રહસ્ય પણ વિદ્વાન મુનિરાજે વ્યક્ત કર્યું છે.
જુઓ પૃ૦ ૪૫૩-૪૫૬ ગા. ૬૭૫.

(૧૫.) ટીકાકાર વિદ્વાન મુનિરાજે પદાર્થોનું-વિષયોનું ક્યારેક ક્ષીણવટમયું વિવેચન સ્વચ્છ
પ્રતિમાર્થી કર્યું છે એવા ચારેક મુદ્દાઓ નમુનારૂપે અહિં રજૂ કરું છું.

(i) મૂળ આઠપ્રકૃતિમાં ઉત્કૃષ્ટસ્થિતિવંધના છેલ્લા નિષેકસુધી કર્મદલિકોની નિષેક રચના વિશેષદીન
ક્રમે થાય છે. આ પદાર્થને યુક્તિપૂર્વક ઘટાવતાં લગભગ ૧૦૦ શ્લોકપ્રમાણ પૂર્વપશ્ચકર્યો છે, તેમાં
અનેક ચિત્કાંકર્યાં છે અને પછી તેના સ્વોદ સમાધાનો આપ્યા છે. જુઓ પૃ૦ ૩૩-૩૭.
પૃ. ૩૬ ઉપર પૂર્વપશ્ચને અનુસારે દક્ષિણવતનો ભ્રમ આપું સ્થાવના ચિત્ર પણ
આપ્યું છે.

(ii) એકેન્દ્રિયાદિમાર્ગણામાં સાતકર્મના અનુક્રમસ્થિતિબંધનો કાઠ અંતર્મૂર્તિ જ આવે એ પદાર્થના સમર્થનમાં તે એકેન્દ્રિયાદિમાર્ગણામાં ભવચરમાન્તર્મૂર્તિમાં (જીવનના છેલ્લા અન્તર્મૂર્તિમાં) ઉત્કૃષ્ટસ્થિતિને વાંધતો જીવ ત્યાંથી મૃત્યુ પામીને પાછો એકેન્દ્રિયમાં જ ઉત્પન્ન થાય, એ જ રીતે ત્રીજી માર્ગણાઓમાં પણ તેવી અવસ્થામાં મરતો જીવ ચોક્કસ સ્થાનોમાં જ ઉત્પન્ન થાય. આ હકીકતના સમર્થનમાં 'ભવચરમાન્તર્મૂર્તિમાં સર્વાધિક સંકલેશવાળા જીવોનું મરીને પોતાને યોગ્ય સર્વકનિષ્ઠસ્થાનમાં જ જવાનું થાય છે' इत्यादि नियम बतावीने એ નિયમની અનેકરીતે ઘટના કરી છે, અહીં વાચકોને પદાર્થવિવેચનની માર્મિક સૂક્ષ્મતા દેસાયા વિના નહિ રહે.

(iii) છટ્ટા અધિકારમાં સ્થિતિબંધના અધ્યવસાયોના દ્વિગુણવૃદ્ધિસ્થાનો અને તેવા બે દ્વિગુણવૃદ્ધિના સ્થાનો વચ્ચેના એક અંતરમાં રહેલા સ્થિતિબંધસ્થાનોના અલ્પવહુન્વમાં દ્વિગુણવૃદ્ધિનાં સ્થાનો અંગુલના વર્ગમૂલના છેદનકોના અસંખ્યાતમાં ભાગ જેટલા હોય છતાં એક આંતરાનો સ્થાનો કરતાં ઓછાં કહ્યાં એ વાતમાં પૂર્વપક્ષથી વિરોધ ઉઠાવી એનું સમાધાન કઈક અધિક અર્ધરાજલોક જેટલી લાંબી સૂચિશ્રેણિના છેદનકો પણ અહીં ઉદ્ધારમાર્ગોપમના સમયોથી થોડાંક જ અધિક થાય છે. એવાત દર્શાવે અને ત્રીજા હેતુઓથી સિદ્ધકર્ત્તાદ્વારા કયું છે અને તે પ્રસંગે જરૂરી પન્યોપમ માર્ગોપમભેદોના સ્વરૂપ અને પ્રયોજન વગેરે પણ વતાવ્યા છે. જુઓ પૃ. ૪૨૮-૪૩૪.

(iv) 'કર્મપ્રકૃતિસંગ્રહણી'ની અભાગવંધની ચૂર્ણિમાં અનુક્રમસ્થિતિનું વિધાન કરવા દ્વારા ઉપરની અધિક અધિક સ્થિતિના વંધ વચ્ચે પ્રાપ્ત થતાં રસવંધના અધ્યવસાયોને નીચેની ન્યૂન ન્યૂન સ્થિતિના વંધ વચ્ચે વતાવ્યા હોઈ કેટલાંક નીચેનાં સ્થિતિબંધસ્થાનોમાં ચાર ઠાળીયાની જેમ ત્રણ ઠાળીયા અને બે ઠાળીયા રસવંધના અધ્યવસાયો પણ પ્રાપ્ત થાય છે, જ્યારે અહીં સ્થિતિબંધગ્રન્થમાં તે તે સ્થિતિબંધસ્થાનો માત્ર ચાર ઠાળીયા કે ત્રણ ઠાળીયા વિગેરે એક એક પ્રકારના રસવંધના અધ્યવસાયવાળા જીવોને જ વતાવ્યા છે, એમ વંને ગ્રન્થની વાતોમાં પૂર્વપક્ષથી વિરોધ વતાવી સમાધાનમાં યુક્તિપૂર્વક વંને ગ્રન્થની વાતનો સમન્વય કરી વતાવ્યો છે. જુઓ- પૃ. ૬૪૪-૬૪૯.

મહત્વના પરિશિષ્ટો :—

(૧) પ્રથમ પરિશિષ્ટમાં 'સ્થિતિબંધ' ની ટીકામાં જે જે શાસ્ત્રગ્રન્થોની સાક્ષીઓ મૂકવામાં આવી છે તે ગ્રંથોનું તથા સાક્ષીવાઠોની સંખ્યાનું લીસ્ટ છે.

(૨) ત્રીજા પરિશિષ્ટમાં જે સલમેરના જ્ઞાનભંડારનો સમર્થશાસ્ત્રકાર આચાર્ય ભગવાન મુનિચંદ્રસૂરોશ્વરજી મહારાજ વિરચિત કર્મપ્રકૃતિચૂર્ણિના ટીપ્પણનો એક ઉપયોગી અંશ આપવામાં આવ્યો છે, તેમાં સાકાર અનાકાર ઉપયોગની વિચારણા એક જુદીજ શૈલીથી કરવામાં આવી છે તેથી અધ્યયનકર્તાઓને તે ઉપયોગી થશે. આ ટીપ્પણ ગ્રંથ હજી મુદ્રિત થયો નથી.

(૩) માર્ગનાઓમાં જીવદ્રવ્યોના પ્રમાણ (સંખ્યા)નું નિરૂપણ સ્પૂલથી તો આવે છે પણ ઘણા અધિકારોમાં પ્રત્યેક માર્ગનામાં ચોક્કસ જીવદ્રવ્યોની સંખ્યાનું પ્રમાણ જાણવું અગત્યનું છે તેથી મુનિરાજશ્રીએ ૧૧ ગાથાઓમાં દ્રવ્યપ્રમાણપ્રકરણનો રચના કરી જીવદ્રવ્યોનું પ્રમાણ સંકલિત કર્યું છે અને તેના ઉપર સામાન્યવિવેચનરૂપ સંસ્કૃતમાં પોતેજ અવચૂરિ રચી છે, આમ આ પરિશિષ્ટ નાનકડી પ્રંધરચનારૂપ અને અગત્યનું છે.

આ ગહન વિષયોના સ્પષ્ટીકરણનો પ્રયત્ન જોતાં લાગે છે કે ટીકાકાર જાણે પન્ધરને પલ્લવિત ન કરી રહ્યા હોય. પૂર્વકાઠના શ્રુતમક્ત શ્રમણોપમકોના પગલે વિંડવાડાની ભાર્તીય પ્રાચ્યતત્વપ્રકાશન સમિતિએ પરમતારક અને પ્રકાશક શ્રુતને માવિર્જીવો સુધી પહોંચાડવા અનુ રક્ષણ-પ્રકાશન અને પ્રચાર-દ્વારા શ્રુતની પરંપરા અવિચ્છિન્ન રાખવાનું મુકુત હાથ ધર્યું છે.

અંતે, સુખના અમથી પાપના અને દુઃખના રાહે ઢોહી રહેલા જગતને આ તાત્ત્વિક-આધ્યાત્મિક ગ્રન્થો ડીવાદાંડીરૂપ બનો. મોક્ષાભિલાષી મહ્યાત્માઓ આ પ્રંધરત્નના શંચનથી કર્મની કુટીલતાને સમજી અપ્રમત્ત-જાગૃતિમય જીવન જીવે, આત્મા અને કર્મના અનાદિ સંયોગને મેદનારી સમતા-સામાયિકભાવ પ્રાપ્ત કરે એજ એક મંગલકામના.

શુભસ્થલ :

શા. સકરચંદ છોટાસાલ
બં.નં.૧૩ આશ્રમરોડ, અમદાશદ ૧૩.
ષી૦ સં૦ ૨૪૧૨ મહા સુદ ૨ રવિવાર
સ્વર્ગીય પરમશુરુદેવ શાનસૂરીશ્વર
સ્વર્ગારોહણ શુભદિન

સિં૦

મવોદધિતારક સંયમત્યાગતપોમૂર્તિ પૂજનીય શાચાર્યદેવ શ્રીમદ્
વિજય પ્રેમસૂરીશ્વરજી મહારાજાના વિદ્વાન-વિનીત-શિષ્યરક્ત
પૂ૦ પં૦ માનુવિજયજી ગણિવર્યતાં શિષ્યરક્ત સ્વ૦ પૂ૦
પં૦ શ્રી પદ્મવિજયજી ગણિવર્ય શિષ્યાણુ મુનિ
મિશ્રાનન્દવિજય



विषय-परिचय



सचरात्तर विश्वमां विद्यमान वस्तुमात्रानुं पृथकरण त्रण विभागमां थई शके,—

(१) प्रथम विभागमां मात्र जड वस्तुओ, जेवी के-सूक्ष्म परमाणु, द्रव्यगुण वगेरे Δ औदारिकादि पुद्गलवर्गणाओ, अचेतन काष्ठ वगेरे तथा धर्मास्तिकायादि आवे,

(२) द्वितीय विभागमां केवल चैतन्यभय अनन्ता सिद्धपरमात्माओ आवे, अने

(३) तृतीय विभाग के जेमां जड (पुद्गलो) अने चेतन (आत्मा) ए बनेना दूध-पाणी जेवा या लोहअग्नि जेवा बन्धथो (संबंधथी) उत्पन्न थयेला मचेतन पृथ्वी, पाणी, अग्नि, पवन, वनस्पति यावत् स्वच्छया गमनागमनादि चेष्टा करता दृष्टिगोचर थता मनुष्य, पशु, पक्षी, कीडा आदि आवे.

अनादि काळथी जीवनुं भिन्न-भिन्न अनिष्ट स्थितिओमां (अवस्थाओमां) गमन अने मन-गमती अवस्थाओमां अस्थैर्य (नहि टक्कापणुं) ए रूप संभारपरिभ्रमण जड-चेतनना दूधपाणी जेवा बंधथी उत्पन्न थयेला त्रीजा विभागमां लागु पडे छे, अने तेथी ज संभार परिभ्रमण अटकावी शुद्धचैतन्यस्वरूप मोक्ष मेळववामां कारणभूत सर्वज्ञशास्त्रनां कहेल तत्त्वोनां श्रवण-चिन्तन-मनन अने विधि-निषेधनां अनुष्ठान वगेरे आ त्रीजा विभागने उद्देशीने छे.

बन्धना अनेक प्रकारः—

जडनो चेतन साथेनो ते बंध=संबंध जड-पुद्गलोनी तेही तेही विशेषताओने कारणे अनेक प्रकारनो मान्यो छे. जेमके—

(१) औदारिकबन्ध,

(४) तैजसबन्ध अने

(२) वैक्रियबन्ध,

(५) कार्मणबन्ध के कर्मबन्ध.

(३) आहारकबन्ध,

औदारिकबन्ध एटले जड एवा पुद्गलसमूहमां रहेला चोक्सप्रकारना त्रीजा जडपुद्गलस्कन्धो करतां विलक्षण औदारिकवर्गणा नामना पुद्गलो साथेनो आत्मानो संबंध. आ पुद्गलोमांथी

Δ विश्वमां रहेलां मचेतन द्रव्योमां रूप रस गंध धर्मे स्पर्शवालां इत्येक द्रव्योने पुद्गल द्रव्यो कहेवाय छे. आ पुद्गलद्रव्यो एक परमाणुं, बे परमाणुं, त्रण परमाणुं, चार परमाणुं, एम उत्तरोत्तर एकैक परमाणुं वधतां यावत् केदलांक असंख्यातपरमाणुं ओनां बनेलां अने केदलांक अनन्तपरमाणुं ओनां बनेलां होय छे. मामां परमाणुं ओ एटले जेना बे विभाग पण न थई शके तेवां अविभाज्य पुद्गलद्रव्यो छे, ज्यारे बे त्रण वगेरे परमाणुं ओथी बनेलां द्रव्यगुण त्रचरणुण वगेरे पुद्गलद्रव्यो विभाज्य पुद्गलद्रव्यो छे. आ परमाणुं सिवायनां द्रव्यगुण त्रचरणुण वगेरे अनन्तागुण सुधीनां दरेक द्रव्योने स्कन्ध कहेवाय छे. आ स्कन्धोमांथी अमुक चोक्स संख्यामां परमाणुं ओ वाला स्कन्धोने औदारिकवर्गणा वगेरे वर्गणाओ कहेवाय छे, आ वर्गणाओ शास्त्रोमां २६ प्रकारनी कही छे. ते उत्तरोत्तर अधिक अधिक परमाणुंओवाला

पृथ्वी पाणी वगैरेनां अने मनुष्य, पशु, पक्षी, कीडा वगैरेनां नजरे चढतां भौतिक शरीरो घने छे. औदारिकवर्गणानां पुद्दलो करतां विलक्षणकोटीनां पुद्दलस्कन्धोनी समूह के जेमांथी देव नारकोनां शरीरो वगैरे घने छे ते वैक्रियवर्गणा पुद्दलो कहेवाय छे. वैक्रियवर्गणानां पुद्दलोनी

स्कन्धोनी होय छे. तेमांथी अहीं उपयोगी औदारिकयी कामंणवर्गणा सुधीनी वर्गणाओ, घने तेमां, यावता स्कन्धो जघन्ययी घने उत्कृष्टयी केटला परमाणुओना वगेला होय छे ते नीचेना कौष्टकयी जाणी शकथे.—

क्रम	वर्गणानुं नाम	जघन्ययी केटला परमाणुं होय	उत्कृष्टयी केटला परमाणुं होय ?
१	औदारिक अग्रग्राह्य* वर्गणा	१ परमाणुं	अभक्ष्ययी अनंतगुण एवी सिद्धना अनन्तमा भाग वाली संख्या केटला.
२	औदारिक वर्गणा (ग्राह्य)	उपरनीवर्गणानाउत्कृष्ट + १परमाणुं	स्वजघन्य + स्वजघन्यनी अनन्तमां भाग.
३	वैक्रिय अग्रग्राह्य वर्गणा	" " + "	" " × अनन्त ^५ .
४	वैक्रिय वर्गणा (ग्राह्य)	" " + "	" " + स्वजघन्यनी अनन्तमां भाग
५	आहारक अग्रग्राह्य वर्गणा	" " + "	" " × अनन्त.
६	आहारक वर्गणा (ग्राह्य)	" " + "	" " - स्वजघन्यनी अनन्तमां भाग.
७	लेजस अग्रग्राह्य वर्गणा	" " + "	" " × अनन्त.
८	लेजस वर्गणा (ग्राह्य)	" " + "	" " + स्वजघन्यनी अनन्तमां भाग
९	भाषा अग्रग्राह्य वर्गणा	" " + "	" " × अनन्त.
१०	भाषा वर्गणा (ग्राह्य)	" " + "	" " + स्वजघन्यनी अनन्तमां भाग.
११	उच्छ्वास अग्रग्राह्य वर्गणा	" " + "	" " × अनन्त.
१२	उच्छ्वास वर्गणा (ग्राह्य)	" " + "	" " + स्वजघन्यनी अनन्तमां भाग.
१३	मन अग्रग्राह्य वर्गणा	" " + "	" " × अनन्त.
१४	मन वर्गणा (ग्राह्य)	" " + "	" " - स्वजघन्यनी अनन्तमां भाग
१५	कामंण अग्रग्राह्य वर्गणा	" " + "	" " × अनन्त.
१६	कामंण वर्गणा (ग्राह्य)	" " + "	" " + स्वजघन्यनी अनन्तमां भाग

१७ मी वगैरे वर्गणाना नाम आ प्रमाणे छे - (१७) ध्रुवाचित्तवर्गणा, (१८) अध्रुवाचित्तवर्गणा, (१९) प्रथमजघन्यवर्गणा, (२०) प्रत्येकशरीरवर्गणा, (२१) द्वितीय सून्य वर्गणा, (२२) बादरनिगोद वर्गणा, (२३) तृतीय सून्यवर्गणा, (२४) सूक्ष्म-निगोदवर्गणा, (२५) चतुर्थ सून्य वर्गणा, (२६) अचित्तमहास्कन्ध । या वर्गणाओनुं स्वरूप विशेषयी कर्मप्रकृति वगैरे घन्थोयी जाणी लेनुं. अहीं 'विषय-परिचय' मां औदारिक वगैरे वर्गणाने समजवा आटलुं पर्याप्त छे.

* मा १६ वर्गणाओमां बीजी, चौथी. छट्टी वगैरे वर्गणाओ के जे वर्गणाओना स्कन्धोमांथी मनुष्य वगैरेनां औदारिकशरीरो, देव वगैरेनां वैक्रियशरीरो, पूर्वधरभुनिओनां प्रसंगवशात् बनावातां आहारकशरीरो वगैरे वनसां होई ते वर्गणाओ औदारिकाधि वर्गणाओ (औदारिकादि ग्राह्य वर्गणाओ) कहेवाय छे. ज्यारे औदारिकादि ते ते वर्गणाओ पूर्व पूर्वनी पहेली, बीजी, पांचमी वगैरे वर्गणाओमां रहेला स्कन्धोमांथी औदारिकाधि शरीर नहि बनी सकलां होवायी ते पहेली बीजी वगैरे औदारिक अग्रग्राह्य, वैक्रिय अग्रग्राह्य वगैरे नामवाली वर्गणाओ कहेवाय छे.

^५ अहींयां गुणक अभक्ष्ययी अनन्तगुण एवो सिद्धना अनन्तमा भाग जेवडो छे. ए प्रमाणे नीचे पण अ्यां 'अनन्त' कहुं छे त्यां गुणक तेटलो अभक्ष्ययी अनन्तगुण अने सिद्धोना अनन्तमा भाग जेवडो समजवो ।

આત્મા સાથે સંબંધ તે વૈક્રિયબંધ કહેવાય છે. એજ રીતે આહારક્રમગેરે બંધો તેવાં તેવાં આહારક-
વર્ગનાદિ પુદ્ગલોની વિશેષતાઓને કારણે ભિન્ન ભિન્ન સ્વરૂપવાળા જાણવા, એમાં કાર્મણવર્ગનાના
પુદ્ગલોનો આત્મા સાથે સંબંધ એને કાર્મણવંધ કહેવાય છે તેમ કર્મવંધ પણ કહેવાય છે.

અનેકવિધ વંધમાં કર્મવંધ મુખ્ય :—

ઔદારિકાદિ અનેકવિધ વંધો કર્મવંધને આભારી છે. કેમકે આત્માના મિથ્યાત્વ, અભિરતિ,
કષાય, યોગ અને સમ્યક્ત્વાદિ રૂપ શુભાશુભ ભાવોથી ઉત્પન્નથયેલ કર્મવંધની વિલક્ષણતાઓ શેષ
ઔદારિકાદિ વંધોના નિર્માણમાં હેતુ છે. એટલું જ માત્ર નહિ, અનન્તજ્ઞાનદર્શનમય અનન્તસુખમય
એવા આપણા પ્યાગ આત્મામાં જડતા, અન્પજ્ઞતા, મોહમૂઢતા વગેરે કર્મવંધને કારણે છે. અને તેથી
જ જ્ઞાની મહાપુરુષોએ ઔદારિકાદિવંધોને સંસારનું કારણ ન કહેતાં કર્મવંધને સંસારનું કારણ
કહ્યું છે. આ કર્મવંધને શાસ્ત્રકારોએ 'વંધ' શબ્દથી પણ સંબોધ્યો છે.

કર્મવંધના જ્ઞાનનો આવશ્યકતા :—

યદ્યપિ કર્મવંધનાં કારણો મિથ્યાત્વ, અજ્ઞાન, અસંયમ, કષાય, દુર્ધ્યાન વગેરે છે, અને તેથી વિપ-
રીત એવાં સમ્યક્ત્વ, સમ્યક્જ્ઞાન, સંયમ, ગ્રમધ્યાન વગેરે કર્મવંધની અલ્પતા અને કર્મવંધના સર્વથા
ઉચ્છેદનાં કારણો છે તો પણ કર્મવંધની પ્રક્રિયાનું જ્ઞાન કર્મવંધરૂપ મહારોગની જડને અને ભયં-
કરતાને વનાવવા દ્વારા કર્મવંધના કારણોથી આત્માને દુઃખે દૂર રાખવા, તથા કર્મવંધનાં ઉચ્છેદક
સમ્યક્ત્વ સંયમાદિમાં આદર કરાવનારું છે. એટલું જ નહિ, કર્મવંધની પ્રક્રિયાને જાણવા માટેનો
પ્રયામ (પ્રવૃત્તિ) એ દ્રવ્યાનુયોગનું ચિન્તન છે. કે જે દ્રવ્યાનુયોગના ચિન્તનમાં તક્ષીન થયેલા અનેક
સંયમી આત્માઓ શુક્લધ્યાન અને ક્ષપકશ્રેણિ માંડી અનાદિપરંપગત્રાઠા કર્મોના ફુરત્તા ઉડાડી
અનન્ત અધ્યાત્મ આત્મિક સુખસંપત્તિને પ્રાપ્તકરનારા બન્યા છે. આ રીતે કર્મવંધના સ્વરૂપનું જ્ઞાન
આત્મહિતમાધનાનું એક મહાન અંગ હોઈ મુમુક્ષુજનોને અતિ આવશ્યક છે.

કર્મવંધના જ્ઞાનનો પ્રાપ્તિનું સાધન કર્મસાહિત્ય અને તેમાં વંધવિધાન :—

પૂર્વકાલના જ્ઞાની મહર્ષિઓએ ભારી પ્રજાના હિતને અનુલક્ષીને જ્ઞાનના અલ્પટ સ્વજાના દષ્ટિવાદ
મહાશાસ્ત્રમાંથી ઉદ્ધરી શતક, કર્મપ્રકૃતિ, કષાયપ્રાપ્ત વગેરે કર્મવિષયક અનેક પ્રકરણ-
શાસ્ત્રોનું નિર્માણ કર્યું હતું. જેમાંનાં શતક કર્મપ્રકૃતિ વગેરે અતિપ્રાચીન શાસ્ત્રો તથા ત્યાર-
બાદ રચાયેલા તે તે ગ્રંથોનાં મહત્ત્વપૂર્ણ વિવરણો અને તે ગ્રંથોને આધારે રચાયેલા કર્મવિપાકાદિ
કર્મગ્રંથો વગેરે કર્મવિષયક સાહિત્ય આપણા પુણ્ય યોગે આજે પણ મૌજૂદ છે. આ તથા શાસ્ત્રોમાં
કર્મવંધના પ્રતિપાદક વંધનકરણ વગેરે શબ્દસંશ્લિષ્ટ અને અર્થગંભીર ગ્રંથોથી આવેલા છે કે જે
ગ્રંથોશોને અવલમ્બીને 'વંધવિધાન' ગ્રંથ ઉદ્ભવ પામ્યો છે. આ વંધવિધાનગ્રંથમાં અનેક અધિ-

કારોમાં સત્પદાદિ ત્રિવિધ દ્વારોને આશ્રયી સામાન્યથી અને વિશેષથી એમ ત્રે રીતે પ્રકૃતિબંધ સ્થિતિ-
બંધ વગેરે મેદપૂર્વક કર્મબંધની વિચારણા વિસ્તારથી કરવામાં આવી છે.

‘બંધવિધાન’ એવું ગ્રન્થનામ સાર્થક છે :—

ઉક્ત કર્મબંધની પ્રક્રિયાને બંધપ્રક્રિયા, બંધવિધાન, બંધવિધિ, બંધનકરણ એમ સમાનઅર્થક મિત્ર મિત્ર શબ્દોથી પણ ઉલ્લેખી શકાય છે. અને એ રીતે આ મહાગ્રન્થનું ‘બંધવિધાન’ એવું નામ સાર્થક (અર્થાનુસારી) છે. અથવા બંધવિધાનનો અર્થ બંધના ભેદો એવો પણ થઈ શકે. અને આ ગ્રન્થમાં પ્રકૃતિબંધ, સ્થિતિબંધ, રસબંધ, પ્રદેશબંધ એમ બંધના અનેક ભેદોનું પ્રરૂપણ આવતું હોઈ આ બીજો અર્થ પણ ઘટી શકવાથી પ્રસ્તુત ગ્રન્થનું ‘બંધવિધાન’ એવું નામ સાર્થક કહેવામાં કોઈ જ ત્રાંધો નથી.

બંધના મુખ્ય ચાર ભેદો :—

ઉક્ત કર્મબંધ કહો, બંધાતાં કર્મ કહો કે બંધ કહો પણ તે વચ્ચે આત્મા સાથે જોડાઈ રહેલાં કાર્મણવર્ગણાનાં પુદ્ગલોમાં તે વચ્ચેની આત્માની કષાયાદિપરિણતિને અનુસારે અનેકવિધ વિશેષતાઓ ઉત્પન્ન થાય છે જેમાંની ચાર મુખ્યવિશેષતાઓને આશ્રયીને એકજ કાઠે થયેલો તે બંધ તે તે વિશેષતાને મુખ્ય કરીને ૪ પ્રકારનો કહેવાય છે. તે આ પ્રમાણે—

(૧) પ્રકૃતિબંધ, (૨) સ્થિતિબંધ, (૩) રસબંધ, (૪) પ્રદેશબંધ.

પ્રકૃતિબંધ અને તેના ભેદ-પ્રભેદ :—

પ્રકૃતિ એટલે સ્વભાવ, તે સ્વભાવનું ઉત્પન્ન થવું તે પ્રકૃતિબંધ; જેમ સૂંઠનો સ્વભાવ પિત્ત કરવાનો, શીઠનો સ્વભાવ કફકરવાનો, તેમ અમૃક ચોક્કમ સમયે યોગને અનુસારે આત્મા સાથે સંબંધમાં આવતાં કાર્મણવર્ગણાનાં દલિકોમાંથી (પુદ્ગલપ્રદેશોમાંથી) કેટલાંક દલિકોમાં આત્માના જ્ઞાનગુણને આવરવાનો સ્વભાવ ઉત્પન્ન થાય છે. તે વચ્ચે તે સિવાયનાં બીજાં કેટલાંક દલિકોમાં આત્માના દર્શનગુણને આવરવાનો સ્વભાવ ઉત્પન્ન થાય છે, તે સિવાયના બીજાં કેટલાંક દલિકોમાં સુખ દુઃખ આપવાનો સ્વભાવ ઉત્પન્ન થાય છે. એમ મિત્ર મિત્ર જે સ્વભાવો ઉત્પન્ન થાય છે તે અનુસારે પ્રકૃતિબંધના પણ અનેક મેદ પડે છે; જે મુખ્યપણે આઠ છે. તે આ પ્રમાણે—

- | | |
|--------------------------|----------------------|
| (૧) જ્ઞાનાવરણીય પ્રકૃતિ, | (૫) આયુ પ્રકૃતિ, |
| (૨) દર્શનાવરણીય પ્રકૃતિ, | (૬) નામ પ્રકૃતિ, |
| (૩) વેદનીય પ્રકૃતિ, | (૭) ગોત્ર પ્રકૃતિ, |
| (૪) મોહનીય પ્રકૃતિ, | (૮) અન્તરાય પ્રકૃતિ. |

આ ૮ પ્રકારની પ્રકૃતિ-સ્વભાવમાંથી જ્ઞાનાવરણાદિ તે તે સ્વભાવને પામેલાં એક એક જાતનાં

कर्मदलियांमां मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि भिन्न भिन्न ज्ञानने, तेम चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन वगेरे भिन्न भिन्न दर्शन वगेरेने आवरवा वगेरेनो स्वभाव उत्पन्न थयेलो होय छे. ते स्वभावभेद प्रमाणे ते ते दलिकोने पुनः जुदा जुदा विभागमां गणनामां आवे त्यारे ज्ञानावरणप्रकृतिना दलिकोना (१) मतिज्ञानावरण, (२) श्रुतज्ञानावरण, (३) अवधिज्ञानावरण, (४) मनःपर्यवज्ञानावरण अने (५) केवलज्ञानावरण एम पांच भेद पडे छे. एम एक ज्ञानावरणमूलप्रकृतीना पांच उत्तरप्रकृति-भेद थया. एज रीते दर्शनावरणादि दरेक मूलप्रकृतिना क्रमशः ९, २, २६, ४, ६७, २ अने ५ उत्तरप्रकृतिभेदो थाय छे, जो के अतिसूक्ष्मदृष्टिए एना विभाग करतां असंख्याता भेद थई शके, पण मुख्यरूपे कर्मप्रकृति, शतकचूर्ण वगेरे शास्त्रोमां बंधथी प्राप्त थता उत्तरप्रकृतिभेदो उपरोक्त ५, ९, २ वगेरे बतान्या छे. अने आ ग्रन्थमां पण तेठला भेदो उपर विचारणा करवामां आवी छे. आ उत्तरप्रकृतिभेदोनां नाम 'कर्मविपाक' ग्रन्थ(कर्मग्रन्थ १ ला) मांथी जाणी लेवां.

प्रश्नः—उपरोक्त ज्ञानावरणादि प्रकृतिओनो ते ते स्वभाव ते ते कर्मदलियां आन्मासाथे जोडाय ते ज बखते उत्पन्न थई जाय छे तेम कर्मुं, तो शुं ते ते ज्ञानावरणादि प्रकृति बन्ध-ममयथी पोतपोताना स्वभाव प्रमाणे ज्ञानादिगुणने आवरवा वगेरे रूप फळने आपनार बने छे ?

उत्तरः—ना, केमके जेम सूठनो स्वभाव पित्त करवानो होवा छतां अने ते खाधा छतां ज्यां सुधी परिणाम पामती नथी(पचती नथी)त्यां सुधी पित्तकरवारूप फळने उत्पन्न करती नथी, अथवा झेरनो स्वभाव प्राणनाशकतानो होवा छतां कोठामां गयेकुं एवुं पण ते ज्यां सुधी परिणाम पाम्युं नथी होतुं त्यां सुधी पोतानो स्वभाव छतां प्राणनाश रूप फळने आपतुं नथी, पण तेने परिणाम पामवाने जेठलो समय जरूरी होय तेठलो समय पमार थये ज्वारे परिपाक (परि-णाम) पामे छे त्यारे मृत्युरूप फळने निपजावनाक' बने छे, तेम ज्ञानावरणादिस्वभावने पामेलां ते ते कर्मदलियां जरूरी काळ (अवाधाकाल) पमार थया पछी के अन्यरीते परिपाक पामे छे (उदयमां आवे छे) त्यारे पोताना स्वभावअनुमारे फळ आपनारां बने छे.

स्थितियन्धः—

उपर कही गया ते प्रमाणे समये समये आन्मा साथे संबधमां आवतां कार्मणवर्गणानां दलिकोमां ते बखते जेम आन्माना ज्ञानादिगुणने आवरवानो तथा सुख दुःखादि आपवा वगेरेनो स्वभाव उत्पन्न थाय छे तेज रीते तेज बखते ते कर्मदलिकोमां आत्मा उपर (आन्मा साथे) ते स्वभावे केठलो काळ सुधी टकथे ते पण चोक्स थाय छे, अर्थात् अमुककाळसुधी आत्मा साथे जोडाई रहेवानी योग्यता पण तेज बखते ते कर्मपुद्गलोमां उत्पन्न थाय छे. अने ए योग्यताने अनुमारे (जो उदीरणाकरणादिनो व्याघात न आवे तो) तेठलो काळ ते स्वरूपे आत्मा साथे जोडाई रहे छे. अहीयां प्रकृतिबन्धबखते ज ते कर्मपुद्गलोमां आन्मा साथे अमुककाळ सुधी जोडाई रहेवा माटेबुं

જે નક્કી થયું તે જ સ્થિતિવંધ, અને તે કર્મદલિયાં આત્મા સાથે જોડાઈ રહેવા માટે જેટલો કાલ નક્કી થયો તે કાલનું પ્રમાણ તે સ્થિતિવંધનું પ્રમાણ કહેવાય છે.

દા० ત० અમુક સમયે આત્મા સાથે જોડાતાં કર્મદલિકોમાં જે કેટલાંક દલિકોમાં જ્ઞાનાવરણસ્વભાવ ઉત્પન્ન થયો તે દલિકોમાંથી અસંખ્યાતમા ભાગ જેટલાં અમુક દલિકોમાં એકહજાર વર્ષ સુધી આત્મા સાથે જોડાઈ રહેવાનું નક્કી થયું છે. તે તે દલિકોના હિસાબે એક હજારવર્ષનો સ્થિતિવંધ થયો ગણાય. તે સિવાયનાં બીજાં અસંખ્યાતમા ભાગ જેટલાં દલિકો કે જેમાં એક હજાર વર્ષને એક સમય સુધી આત્મા સાથે જોડાઈ રહેવાનું નક્કી થયું છે તે દલિકોના હિસાબે એકહજાર વર્ષ અને એક-સમયપ્રમાણ સ્થિતિવંધ ગણાય. એમ વઢી બીજાં કેટલાંક દલિકો કે જેમાં એક હજાર વર્ષ અને બે સમય સુધી આત્મા સાથે જોડાઈ રહેવાનું નક્કી થયું છે. તે દલિકોના હિસાબે એક હજાર વર્ષ અને બે સમયપ્રમાણ સ્થિતિવંધ ગણાય. એજ રીતે જ્ઞાનાવરણાદિ એક એક પ્રકૃતિ તરીકે વનતાં દલિકોમાં જે સમય સમય હીનાધિક કાલ સુધી આત્મા સાથે જોડાઈ રહેવાનું નક્કી થાય છે, તે કાલ પ્રમાણે તે તે દલિકોનું સ્થિતિવંધપ્રમાણ ગણાય છે.

અહીં આટલું ધ્યાનમાં રાખવું જરૂરી છે કે તે તે સમયે જ્ઞાનાવરણાદિ એક એક પ્રકૃતિ-રૂપે વની રહેલાં અનંતાનંત કર્મદલિકોમાંથી અસંખ્યાતમા જોડાતાં જોડાતાં ભિન્ન ભિન્ન દલિકોમાં પરસ્પર સમય વેસમયાદિ વહે હીનાધિક કાલ સુધી આત્મા સાથે તે રૂપે રહેવાનું નક્કી થયાના હિસાબે સ્થિતિવંધપ્રમાણના અસંખ્યાતા મેદ પડતા હોવા છતાં એક સમયે વંધાતા જ્ઞાનાવરણાદિ પ્રકૃતિના સ્થિતિવંધનું પ્રમાણ તો જે દલિકોમાં શેષ જ્ઞાનાવરણાદિ દલિકો કરતાં વધારે કાલ સુધી તે રૂપે રહેવાને નક્કી થયેલું હોય છે તે દલિકોના સ્થિતિકાલને અનુસારે જ ગણાય છે. નહિ કે શેષ સમય વેસમયાદિ હીનકાલ રહેવાને નક્કી થયેલાં દલિકોના હિસાબે. એજ રીતે દર્શનાવરણાદિ એક એક પ્રકૃતિ-ના સ્થિતિવંધપ્રમાણ માટે પણ સમજવું. આ સ્થિતિવંધપ્રમાણની હીનાધિકતા તે વચ્ચે પ્રવર્તમાન કષાયોદયના પરિણામની તીવ્રતામન્દતાને આધીન છે.

રસવંધ:-

જ્ઞાન વગેરેને આવરવું અને સુખ-દુઃખને આપવું વગેરે તે તે સ્વભાવને પામેલાં તે તે કર્મ-દલિકો જ્ઞાન વગેરે સ્વઆચાર્યગુણને એક સરખી રીતે આવરવાને શક્તિમાન નથી હોતાં, તેમ વેદની-યાદિ પ્રકૃતિનાં દલિકો પણ એક સરખી રીતે સુખ-દુઃખાદિને ઉત્પન્ન કરવાને શક્તિમાન નથી હોતાં કિન્તુ ભિન્ન ભિન્ન દલિકસમૂહોમાં ઓછીવત્તી શક્તિ હોય છે. અને તેથી તે તે રૂપે ઉદય પામે ત્યારે તેનાથી ઉત્પન્ન થયેલાં કાર્યમાં પણ ભેદ પડે છે. દા० ત० જ્ઞાનાવરણનો ઉદય દરેક જીવને હોવા છતાં એક જીવ અત્યન્ત જડ જેવો હોય છે, જ્યારે બીજો જીવ એનાથી ઓછો જડ હોય છે. ત્રીજાની જડતા વધી તે કરતાં પણ ઓછી હોઈ તેને શોષ શીઘ્ર અને ઝંડો થાય છે. આ ભેદ જ્ઞાનાવરણ-

કર્મની શક્તિભેદને કારણે છે. જ્ઞાનાદિના આવરણ રૂપે એક સ્વભાવને ધારણ કરતાં એવાં કર્મ-દલિકોમાં મિશ્ર મિશ્ર વિપાકને (ફળને) ઉત્પન્ન કરતી તે તે દલિકાસમૂહમાં રહેલી શક્તિ તેજ રસ અથવા અનુભાગ કહેવાય છે. અને પૂર્વે કહી ગયા તેમ પ્રકૃતિબંધ બલવતે જે તે તે દલિકોમાં આત્માના તે સ્વતંત્ર કથાપાદિપરિણામને અનુસારે તેવા રસનું નિર્માણ થવું તે રસબંધ કહેવાય છે. આ રસબંધના પણ સ્થિતિબંધપ્રમાણની જેમ અનેક ભેદ પડે છે. જેમાંના અતીન્દ્રિય એવા પણ એક-ટાળીયા ચેટાળીયા વગેરે સ્થૂલભેદોને ચાઢજીવોને સમજાવવા શાસ્ત્રોમાં લીંબડા વગેરેના તથા શરહી વગેરેના રસોનાં દૃષ્ટાન્તો દ્વારા સારો પ્રયત્ન પૂર્વના મહાપુરુષોએ કર્યો છે.

પ્રદેશબંધ:-

પૂર્વે કહી ગયા તેવા સ્વરૂપવાળી વિશ્વના રંચે રંચમાં પથરાઈને પડેલી, ગમે તેટલા સમૂહમાં પણ દૃષ્ટિનો વિષય નહિ થનતી એવી સૂક્ષ્મ કાર્મણવર્ગના નામની વર્ગનામાંથી જીવ પ્રન્યેક સમયે પોતાના મન-વચન-કાયાના યોગને અનુસારે અનન્તાનન્ત છતાં ઓછીવતી સંખ્યામાં પ્રદેશોને ગ્રહણ કરે છે (જીવ સાથે પ્રત્યેક સમયે મિશ્ર મિશ્ર સંખ્યામાં પુદ્ગલદ્રવ્યો જોડાય છે), તે મિશ્ર મિશ્ર સંખ્યામાં પ્રદેશોનું જીવ સાથે ક્ષીર-નીરની જેમ એકમેક થવું તે છે પ્રદેશબંધ.

ગ્રહણ થતાં પુદ્ગલોની સંખ્યાને અનુસારે પ્રદેશવંધના અનેક ભેદો પડે છે. અર્થાત્ મન-વચન-કાયાનો યોગ=પ્રવૃત્તિ મંદ હોય છે તો આત્મા સાથે જોડાતા તે કર્મપ્રદેશો ઓછી સંખ્યામાં હોય છે. અને યોગ વધારે પ્રમાણમાં હોય છે તો તે પ્રદેશોની સંખ્યા પણ વધારે હોય છે. તે પ્રન્યેક સમયે આત્મા સાથે જોડાતા અનન્તા દલિકો (પ્રદેશો) માંથી અમુક ચોક્કસ ભાગે પ્રાપ્ત થતાં દલિકોમાં જ જ્ઞાનાવરણસ્વભાવ ઉત્પન્ન થાય છે, તે જ રીતે દર્શનાવરણ વગેરે સ્વભાવ પણ તેટલાં તેટલાં ચોક્કસભાગે આવતાં દલિકોમાં જ ઉત્પન્ન થાય છે. હન્યાદિ ઘડી વિવારણાશ્રો પ્રદેશબંધના વિષયમાં પણ છે.

પ્રકૃતિબંધ, સ્થિતિબંધ, રસબંધ અને પ્રદેશબંધના સ્વરૂપના સામૂહિક દૃષ્ટાંત તરીકે શાસ્ત્રોમાં મોદકનું દૃષ્ટાન્ત ગ્રહણ કરવામાં આવે છે. જેમ કે મોદકમાં સુંઠ-ગોઢ વગેરે હોય તે પિત્ત-કફ વગેરે ચોક્કસ પ્રકારના ફળોને ઉત્પન્ન કરનાર હોઈ પ્રકૃતિબંધસ્થાનીય ગણાય. મોદકનું અમુકકાઢ સુધી તે સ્વરૂપે રહેવું તે સ્થિતિબંધસ્થાનીય ગણાય. તેમાં રહેલી તીચાણ મીઠાણ વગેરેની તત્ત-મતાને અનુસારે પિત્તાદિની મન્દતા તીવ્રતા આધાર રાખે છે તેથી તીચાણ મીઠાણ વગેરે રસ-બંધસ્થાનીય ગણાય. જ્યારે મોદક નાનો મોટો હોઈ તેમાં આવેલું ઓછું વતું દઢ તે પ્રદેશબંધ-સ્થાનીય ગણાય.

અનુયોગદ્વારો અને માર્ગનાઓ:-

અતીન્દ્રિય પદાર્થોનું પણ ચિંતન મનન તથા સૂક્ષ્મ અવબોધ કરવા માટે શાસ્ત્રોમાં અનેક-

વિષય દ્વારો (અનુયોગદ્વારો) અને અનેકવિધ માર્ગણાઓ બતાવવામાં આવી છે કે જે દ્વારો અને માર્ગણાઓનો આશ્રય કરી તે તે પદાર્થોનું ચિન્તન વગેરે કરતાં અતીન્દ્રિય પદાર્થો પણ ઇન્દ્રિયગોચર પદાર્થોની જેમ માનસપટ્ટ ઉપર માનમાન થાય છે. આ બન્ધવિધાનગ્રન્થના પ્રકૃતિવન્ધ સ્થિતિવન્ધ વગેરે દરેક વિભાગમાં આવતા પ્રકૃતિવન્ધ સ્થિતિવન્ધ વગેરે મિશ્ર મિશ્ર વન્ધોને પણ મત્પદ, સ્વામિત્વ, માદ્યાદિ, કાલ, અન્તર, સંનિકર્ષે, મજ્જવિચય, ભાગ, પરિમાણ, ક્ષેત્ર, સ્પર્શના વગેરે તે તે અનુયોગદ્વારોને અવલંબી 'ગૃહ્ ઇન્દ્રિયે ચ કાયે' ઇત્યાદિ મૂલમાર્ગણાસ્થાનોમાં તથા નરકગતિશ્રાદિ માર્ગણાઓના ભેદ-પ્રભેદરૂપ પ્રથમપૃથ્વીનરકભેદ વગેરે ઉત્તરમાર્ગણાઓમાં એમ ★ ૧૭૪ જેટલી માર્ગણાઓમાં તેમજ 'એન્દ્રિય-સુક્ષ્મિયરા' ઇત્યાદિ ૧૪ જીવભેદ વગેરે આશ્રયી યથાસંભવ વિચારણા કરવામાં આવી છે.

પ્રસ્તુતગ્રન્થ 'મૂલપ્રકૃતિસ્થિતિવન્ધ' અને એના ૬ અધિકારો

કર્મવન્ધના પ્રકૃતિવન્ધ, સ્થિતિવન્ધ, રમવન્ધ અને પ્રદેશવન્ધ એમ ચાર ભેદ આગળ કહી ગયા, અને ત્યાં જ સાથે સાથે પ્રકૃતિના ૮ મૂલભેદ અને ૧૨૦ ઉત્તરભેદ પણ બતાવી ગયા. હવે તે તે પ્રકૃતિને આશ્રયી સ્થિતિવન્ધ રમવન્ધ, અને પ્રદેશવન્ધની વિચારણા થતી હોવાથી સ્થિતિવન્ધાદિની વિચારણા પણ મૂલ ઉત્તર ભેદથી થાય છે. તેમાં પ્રસ્તુત ગ્રંથમાં મૂલસ્થિતિવન્ધનો (મૂલપ્રકૃતિસ્થિતિવન્ધની) વિચારણા ૬ અધિકારોને આશ્રયી કરવામાં આવી છે, કે જે અધિકારોમાં અનુક્રમે ૪, ૧૫, ૧૩, ૩, ૧૩ અને ૩ દ્વારો છે.

પ્રથમ અધિકાર અને એનાં ૪ દ્વારો :—

પૂર્વે સ્થિતિવન્ધનો અર્થ કહી ગયા અને સાથે સાથે એક એક સમયે થતા સ્થિતિવન્ધનું પ્રમાણ તે વસ્તુને જ્ઞાનાવગ્ન વગેરે તે તે પ્રકૃતિ તરીકે થતાં દલિકોમાં વધારેમાં વધારે સ્થિતિકાલવાળાં દલિકોને હિસાબે ગણાય છે તે પણ કહી ગયા. હવે તેમાં જે દલિકોને હિસાબે સ્થિતિવન્ધનું પ્રમાણ નક્કી થાય છે તે દલિકોનો સ્થિતિકાલ બે રીતે ગણી શકાય છે, એક તો—વન્ધસમયથી માંડીને અને બીજો—તે વસ્તુને જ્ઞાનાવગ્ન વગેરે તે તે પ્રકૃતિ તરીકે થયેલાં દલિકોમાંથી કોઈ પણ દલિકો ઉદારણાકરણાદિની સહાય વગર સ્વાભાવિક રીતે ઉદયમાં ન આવી શકે તેવો કાલ (અબાધાકાલ) વાદ કરીને. આ બેમાં પહેલી રીતે ગણાતા કાલને 'કર્મરૂપતાઅવસ્થાનલક્ષણ સ્થિતિકાલ' કહેવાય છે, જ્યારે બીજી રીતે ગણાતા કાલને 'અનુભવયોગ્ય સ્થિતિકાલ' કહેવાય છે. અને તે હિસાબે સ્થિતિવન્ધપ્રમાણ કે જે સૌથી વધારે સ્થિતિવાળાં દલિકોને, આધીન છે તે પણ બે પ્રકારનું કહેવાય છે.

દા० ત૦ અમુકસમયે આત્મા સાથે જોડાતાં અસત્કલ્પનાદિ ૧ કરોડ કર્મદલિકોમાંથી ૧ લાખ જેટલાં કર્મદલિકોમાં જ્ઞાનને આવરવાનો સ્વાભાવ ઉત્પન્ન થાય છે. તે વસ્તુને તે લાખ જેટલાં દલિકો-

मांथी १००० जेटलां दलिकोमां बीजां दलिको करता ओछो काळ- ४ समय सुधी ते रूपे रहेवानुं नकी थयुं छे ज्यारे बीजां केटलांक केटलांक दलिकोमां ५ समय, ६ समय, ७ समय, ८ समय, एम एक एक समय बधरतां केटलांक दलिकोमां सौथी बधारे ३०० समय सुधी रहेवानुं नकी थयुं छे, हवे जोईये तो ते बखते ज्ञानावरणतरीके बन्तां दलिकोमांथी जेमां सौथी बधारे काळ सुधी ते रूपे रहेवानुं नकी थयुं छे, अर्थात् जे दलिकोमां हिंसाबे ते बखते बंधाता ज्ञानावरणाय प्रकृति-नुं स्थितिवन्धप्रमाण गणाय छे ते दलिकोमां स्थितिकाळ बंधसमयथी ३०० समयनो छे. एटले ते समये बंधातां दलिको स्वभावथी (अपवर्तनादि करण न लागे तो) ३०० समय सुधी ज्ञाना-वरणरूपे मळी शकतां होवाथी ते ३०० समय स्थितिवन्धप्रमाण कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थिति-कारुने हिंसाबे थयुं. आ ३०० समय स्थितिवन्धप्रमाणने कर्मरूपतावस्थानलक्षण स्थितिवन्धनुं प्रमाण कहेवाय, हवे उपर कछुं ते ज समये बन्धायेलां ते ज दलिकोमां, ते दलिको स्वाभाविकरीते उदयमां आवीने अनुभवकरावी शकें तेवो काळ विचारीअे तां ते बंधसमयथी जे चौथो समय त्यारथी मांडीने बंधसमयथी जे ३०० मो समय त्यां सुधीनो मळे छे, केमके ओछामां ओछी स्थितिवाळां दलिको पण ४ समयनी स्थितिवाळां कछां छे. अने तेथी बन्धसमयथी • ३ समय पसार न थाय त्यां सुधी (ते समये बंधायेल ज्ञानावरणदलिकोमांनुं) कोईपण दलिक स्वभाविकरीते उदयमां आवी शकें नहि, अर्थात् बन्धसमयथी चौथो समय ते अनुभवनो प्रथम समय, अने बन्धसमयथी ३०० मो समय, ते अनुभवनो छेल्लो समय; एम अनुभवयोग्यस्थितिनी अपेक्षाए स्थितिवन्धनुं प्रमाण कर्मरूपता-स्थितिवन्धप्रमाण करतां (त्रण समय) ओछुं थाय. आ रीते अनुभवयोग्यस्थितिवन्धप्रमाण अने कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिवन्धप्रमाण वच्चे तफारत छे. प्रस्तुत ग्रन्थमां मुख्यरूपे कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिवन्धप्रमाणने आश्रयी सर्व प्ररूपणा करवामां आवी छे.

उपरोक्तास्थितिवन्धप्रमाण कोई बखते ओछामां ओछुं अन्तर्मुहूर्तादि होय छे. ज्यारे कोई बखते तेनाथी कईक बधारे, यावत् कोई बखते सौथी बधारे ३० कोटीकांटी सागरोपमादि होय छे पण तेथी बधारे नहि ज. ते मूळ प्रकृतिने आश्रयी आ प्रमाणे छे:—

प्रकृति →	ज्ञानावरण	दर्शनावरण	वेदनीय	सोहनीय	नाम	मात्र	अन्तराय	आयुष
जन्मथी	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	१२ मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	८ मुहूर्त	८ मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
वक्रकृष्टथी	३० कोटीकोटी सागरोपम.	३० कोटीकोटी	३० कोटीकोटी	३० कोटीकोटी	२० कोटीकोटी	२० कोटीकोटी	३० कोटीकोटी	३३ सागरो- पम ० Δ

• आ त्रण समय काळने अबाधाकाळ कहेवाय छे, केमके तेंदलो काळ न चोकस बखते बन्धायेला कोई दलिकनी स्थिति पूर्ण नहि थली होवाथी तेनो उदय पण न होई ते निमित्तक कोई बाधा पण जीवने नथी.

Δ महीयां कर्मरूपतावस्थानलक्षण स्थितिवन्धप्रमाण कहेवानुं छे. ते प्रमाण अबाधा सहित होवाथी कोटी-पूर्वना त्रीजा भागवडे अधिक ३३ सागरोपम जाणवुं.

આ રીતે અન્તમુહૂર્તાદિથી માંડીને યાવત્ વધારેમાં વધારે ૩૦ કોટીકોટી સાગરોપમ વગરે ભિન્ન ભિન્ન સ્થિતિઓ વન્ધાઈ શકતી હોઈ તે એક એક સ્થિતિદીઠ એક એક સ્થિતિવન્ધસ્થાન ગણાય. આથી સ્થિતિવન્ધસ્થાનો એકેન્દ્રિયાદિ જીવમેદે જઘન્યોત્કૃષ્ટસ્થિતિવન્ધપ્રમાણની તરતમતાને કારણે ઓછાવત્તાં હોય છે. તે એકેન્દ્રિયાદિ ૧૪ જીવમેદોમાં પ્રાપ્ત થતાં સ્થિતિવન્ધસ્થાનોના ઓછાવત્તાપણાનું, તથા તે તે એકેન્દ્રિયાદિ જીવોને વન્ધપ્રાયોગ્ય સ્થિતિવન્ધસ્થાનોના કારણભૂત અધ્યવસાયોનું તથા સ્થિતિવન્ધસ્થાનોનું અને અધ્યવસાયસ્થાનોનું પ્રમાણ જેને આધીન છે તેવા તેઓના જઘન્ય-ઉત્કૃષ્ટસ્થિતિવન્ધપ્રમાણનું જ્યાં અલ્પવહુત્વ વતાવવામાં આવ્યું છે. તે સ્થિતિવન્ધસ્થાન (પ્રરૂપણા) નામનું પહેલા અધિકારનું પહેલું કાર છે.

ઉપર કહ્યા પ્રમાણે વંધ સમયે જ્ઞાનાવરણાદિ એક એક પ્રકૃતિરૂપે વંધાતાં દલિકોમાંથી કેટલાંક દલિકો અન્તમુહૂર્તાદિ જઘન્યસ્થિતિકાઠવાઠાં હોય છે અને કેટલાંક દલિકો વધારેમાં વધારે ૩૦ કોટીકોટી સાગરોપમાદિ સ્થિતિકાઠવાઠાં હોય છે. જ્યારે યાકોનાં દલિકોમાંથી કેટલાંક કેટલાંક દલિકો રચલી પ્રત્યેકસ્થિતિવાઠાં હોય છે. અહીંયાં તે તે સ્થિતિકાઠવાઠાં દલિકો પરસ્પર સરસ્યાં નથી હોતાં પણ કઈક નિયમાનુસાર હીનાધિક (વત્તાં ઓછાં) હોય છે. આ નિયત હીનાધિકતાની પ્રરૂપણા જે રીતે કરવામાં આવે છે. એક તો પાસે પાસેનાં નિરન્તર જે સ્થાનની અપેક્ષા અને વીજી પલ્લયોપમના અસંગલ્યમાપને અંતરે અંતરે રહેલાં જે જે સ્થાનોની અપેક્ષા; તેમાં પહેલા પ્રકારને અનન્તરોપનિશ્ચા અને વીજા પ્રકારને પરંપરોપનિશ્ચા કહેવાય છે. અહીં તેટલાં તેટલાં ઓછાં વત્તાં દલિકોમાં તેટલા તેટલા સ્થિતિકાઠવાઠાં વ્યવસ્થા થવી તેને નિષેક કહેવાય છે. પહેલા અધિકારના વીજા નિષેકકારમાં ઉક્ત થને રીતે દલિકનિષેકનું પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે.

આગળ કહી ગયા તે પ્રમાણે વંધસમયે જ્ઞાનાવરણાદિ તે તે પ્રકૃતિરૂપે થતાં એક એક પ્રકારનાં દલિકોમાંથી કેટલાંક દલિકોનો જે ઓછામાં ઓછો સ્થિતિકાઠ હોય છે તે કાઠ પસાર ન થાય ત્યાં સુધી માત્ર તેટલા સ્થિતિકાઠવાઠાં કોઈ દલિકો ન હોવાથી કોઈ જ દલિક સ્વાભાવિક રીતે ઉદયમાં ન આવી શકે, અર્થાત્ તેટલો કાઠ તે દલિકોના જ્ઞાનાવરણાદિ સ્વભાવ નિમિત્તક જીવને કોઈ શાસ્ત્ર પણ ન થતી હોવાથી તેટલો કાઠ તે તે પ્રકૃતિના હિમાવે અવાધાકાઠ કહેવાય છે. આ કાઠ જઘન્યથી અન્તમુહૂર્ત અને ઉત્કૃષ્ટથી હજારો વર્ષ, એટલે કે જ્ઞાનાવરણાદિનો જેટલા કોટીકોટી સાગરોપમપ્રમાણ સ્થિતિવન્ધ થાય તેટલા સો વર્ષ પ્રમાણ હોય છે. ૬૦૦૦૦ જ્ઞાનાવરણનો ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિવન્ધ ૩૦ કોટીકોટીસાગરોપમપ્રમાણ થતો હોવાથી તેનો અવાધાકાઠ ૩૦૦૦૦ વર્ષ પ્રમાણ હોય છે, અર્થાત્ તે ઉત્કૃષ્ટસ્થિતિવન્ધ વચ્ચે ઓછામાં ઓછા સ્થિતિકાઠવાઠાં દલિકોના સ્થિતિકાઠનું પ્રમાણ ૩૦૦૦ વર્ષ+૧ સમય હોય છે. આ અવાધાકાઠ પણ સ્થિતિવન્ધપ્રમાણની હીના-

विकृताने अनुपारे ओछोवत्तो—कोई वखत समयन्यूनउत्कृष्ट, तो कोई वखत बेसमयन्यूनउत्कृष्ट, एम, यावत् कोई वखत समयाधिक जघन्य पण होय छे

अवाधाकाळ स्थितिवन्धप्रमाणना आधारे वधघट थतो होवा छतां ते अनियमित रीते वधघट नथी थतो पण कईक नियमसर वधघटने पामे छे. अर्थात् ज्यारे उत्कृष्टस्थिति बंधाती होय त्यारे जेटलो अवाधाकाळ होय तेटलोज अवाधाकाळ समयन्यून उत्कृष्टस्थिति बंधाती होय त्यारे पण होय छे. ते ज रीते बेसमयन्यूनउत्कृष्ट स्थितिवंध वखते पण तेटलोज अवाधाकाळ होय छे, एम स्थितिवंध ओछो ओछो थतो यावत् पल्योपमना असंख्यातमा भाग जेटलो घटे (पल्योपमना एक असंख्यातमा भाग वडे न्यून उत्कृष्टस्थितिवंध जेटलो थाय) त्यां सुधी अवाधाकाळ तेटलो ज (उत्कृष्ट ज) होय छे. एक समय पण न्यून नहि. पण ज्यारे स्थितिवन्ध तेथी पण वधारे घटे छे त्यारे अवाधाकाळ एक समय घटे छे. ते पण ज्यां सुधी बीजो पल्योपमनो असंख्यातमो भाग जेटलो स्थितिवन्ध घटे त्यां सुधी तेटलो ज (एकसमयन्यूनउत्कृष्ट ज) रहे छे. एम आगळ वधतां पल्योपमना बे असंख्यातमाग वडे न्यून उत्कृष्टस्थितिवंध थतो होय त्यारे अवाधाकाळ-मांथी बीजो एक समय घटे छे. अर्थात् अवाधाकाळ बेसमयन्यून उत्कृष्ट होय छे. एम उत्कृष्टस्थिति-वन्धप्रमाणमांथी पल्योपमना असंख्यातमा भाग जेटला जेटला निरन्तर स्थितिवन्धप्रमाणना घटाडे घटाडे एक एक समय अवाधाघटे छे. ते पण आयुष सिवायना सात कर्ममां ज. इत्यादि प्ररूपणा प्रीजा अवाधाकण्डक द्वारमां आवी छे.

पहेला अधिकारना पहेला व्रण द्वारोमां स्थितिवन्धस्थान, अवाधास्थान वगेरे एक एक विषयने लई तेलुं स्वरूप, १४ जीवभेदोमां तेलुं अल्पबहुत्व वगेरे प्रामांजिक उपयोगी विषय साथे विवेच्या पळी पहेला अधिकारना छेल्ला अल्पबहुत्वद्वारमां—एक एक जीवभेदमां स्थितिवन्धस्थान, अवाधास्थान अवाधाकण्डक, जघन्य उत्कृष्ट अवाधा, जघन्य उत्कृष्ट स्थितिवन्ध वगरे पहेला व्रण द्वारमां बतावेला पदार्थानां परस्पर=परस्थान अल्पबहुत्वो बताववामां आव्यां छे.

आ स्थळे टीकाग्रन्थमां विशेषमां एक एक जीवभेदमां आठे कर्मना स्थितिवन्धस्थान, अवाधा-स्थान वगेरे पदोनुं सामूहिक अल्पबहुत्व तथा चौदे जीवभेद अने आठे कर्मथी उत्पन्नशक्तां स्थितिवन्ध-स्थानादिनां ३०० करताये वधारे पदोनुं एक मोडुं अल्पबहुत्व बतावायुं छे. जो कं आ अल्प-बहुत्वो मात्र मिथ्यात्वगुणस्थानके रहेला जीवोने आश्रयी बतावायां छे छतां तेमां बतावायेल प्रासंगिक घटनाओथी अन्यगुणस्थानके रहेला जीवोनीअ पेक्षाए पण अल्पबहुत्वोने काढवानुं मार्ग-दर्शन तेमांथी मळी शके तेम छे.

बीजो अधिकार अने एनां १५ द्वारो

बीजा अधिकारमां उपरोक्तस्वरूपवाळा(कर्मरूपतावस्थानलक्षण) स्थितिवन्धनुं प्रमाण ओघथी= सामान्यथी (जीवसामान्यनी अपेक्षाए) अने आदेशथी=विशेषथी असुक चोक्कस जीवोनी (नरकजाति-

ઓઘ, પ્રથમનરક વગેરે, તેમ તિર્યંચઓઘ વગેરે તે તે માર્ગનાઓવર્તી જીવોની) અપેક્ષાએ જઘન્ય=ઓછામાં ઓછું અને ઉત્કૃષ્ટ=વધારેમાં વધારે કેટલું તે, તથા તે જઘન્ય કે ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિવન્ધના સ્વામી=વન્ધક, તે જઘન્ય અને ઉત્કૃષ્ટ તથા તેના પ્રતિપક્ષી અજઘન્ય અને અનુત્કૃષ્ટ એમ ચાર પ્રકારમાંથી એક એક પ્રકારનો સ્થિતિવન્ધ 'સાદિ છે, 'અનાદિ છે, 'સાન્ત છે કે 'અનન્ત છે તે રૂપ સાઘાદિની, તથા કાઠ, અન્તર અને સંનિકર્ષની એક જીવાશ્રયી સ્થિતિવન્ધપ્રમાણાદિ તે તે દ્વારોથી તથા ઉત્કૃષ્ટાદિ સ્થિતિવન્ધના નાનાજીવાશ્રય મંગલવિચય વગેરેની મંગલવિચયાદિ તે તે દ્વારોથી વિચારણા કરવામાં આવી છે. તે દ્વારોના નામ આ પ્રમાણે છે:—

(૧) સ્થિતિવન્ધપ્રમાણ, (૨) સ્વામિત્વ, (૩) સાઘાદિ, (૪) કાઠ, (૫) અન્તર, (૬) સંનિકર્ષ, (૭) મંગલવિચય, (૮) ભાગ, (૯) પરિમાણ, (૧૦) ધેત્ર, (૧૧) સ્પર્શના (૧૨) કાઠ, (૧૩) અન્તર, (૧૪) ભાવ અને (૧૫) અન્પદ્મહૃત્વ.

સ્થિતિવન્ધપ્રમાણ દ્વારમાં—ઉપર કહી ગયા તેમ કર્મરૂપતાવસ્થાનલક્ષણ સ્થિતિવન્ધને આશ્રયી ઓઘથી અને Δ ૧૭૦ માર્ગનાસ્થાનોમાં ગુણસ્થાનકો, લેશ્યાઓ, એકેન્દ્રિયાદિ જ્ઞાતિઓ, પર્યાપ્ત અપર્યાપ્તવાદિ અવસ્થાઓ, ઉપશમશ્રેણિ, ક્ષયકશ્રેણિ વગેરેમાં વર્તમાન જીવોના સમાવેશ અવમાવેશના આધારે પ્રાપ્તથતા ઉત્કૃષ્ટ તથા જઘન્ય સ્થિતિવન્ધનું પ્રમાણ વતાવી ટીકાગ્રન્થમાં શાસ્ત્રાન્તરની સાક્ષીઓ અને યુક્તિઓ પૂર્વક વિવેચન કરવામાં આવ્યું છે. અન્ દ્વારને અન્તે માર્ગનાસ્થાનોનું યન્ત્ર વતાવી ઉત્કૃષ્ટાદિ સ્થિતિવન્ધપ્રમાણનાં પણ યન્ત્રો વતાવવામાં આવ્યાં છે. આ રીતે આગર પણ તે તે દ્વારોને અન્તે દ્વારમાં આવેલા પદાર્થો યન્ત્રોમાં સંકલિત કરવામાં આવ્યા છે.

ષોજા સ્વામિત્વ દ્વારમાં—ઓઘથી અને આદેશથી પહેલા સ્થિતિવન્ધપ્રમાણદ્વારમાં કહેલા જઘન્ય ઉત્કૃષ્ટ સ્થિતિવન્ધને કરનારા જીવો કયા અને કેવા હોય એરૂપ સ્વામિઓનું (વન્ધકોનું) પ્રતિપાદન કરવામાં આવ્યું છે. ઘા૦ ત૦ ઓઘથી સાકારઉપયોગમાં રહેલા નિદ્રા વગરના જે કોઈ પર્યાપ્તસંજ્ઞિપન્થેન્દ્રિય જીવો કષાયોદયજન્ય ઉત્કૃષ્ટસંકલેશમાં કે તેથી કઈક મન્દસંકલેશમાં વર્તતા હોય તે આયુષ સિવાય સાત કર્મની ઉત્કૃષ્ટસ્થિતિના વન્ધક છે.

ત્રીજા સાઘાદિ દ્વારમાં—ઓઘથી અને આદેશથી ૧૭૦ માર્ગનાસ્થાનોમાં એક એક મૂલપ્રકૃતિના ઉત્કૃષ્ટ, * અનુત્કૃષ્ટ, જઘન્ય અને \square અજઘન્ય એમ ચાર પ્રકારના સ્થિતિવન્ધમાંથી એક એક પ્રકારનો સ્થિતિવન્ધ એકજીવને આશ્રયી સાદિ છે ? અનાદિ છે ? સાન્ત છે ? કે અનન્ત છે ? એ વિચારવામાં આવ્યું છે અને તે તે સ્થિતિવન્ધ સાદિ અનાદિ વગેરે ભાંગે છે તો કેવી રીતે છે ? નથી તો કેમ નથી ? વગેરે વતાવવા સાથે કુલ ભાંગા વતાવી અન્તે એનું યંત્ર આલેખ્યું છે.

Δ કુલ ૧૭૪ માર્ગનાઓ અધિકુલ હોવા છતાં અકષાય, કેવલજ્ઞાન, કેવલવર્ણન અને યથાભ્યાસસંયમ માર્ગનામાં સ્થિતિવન્ધ જ ન થતો હોવાથી તે ૪ માર્ગના સિવાયની ૧૭૦ માર્ગનાઓ સમજવી.

• અનુત્કૃષ્ટ એટલે ઉત્કૃષ્ટ સિવાયનો સ્થિતિવન્ધ. \square અજઘન્ય એટલે જઘન્ય સિવાયનો સ્થિતિવન્ધ.

બોધા એકજીવાશ્રય કાલદ્વારમાં—ઓષથી અને આદેશથી તે તે માર્ગાસ્થાનોમાં રહેલ કોઈ એક જીવ જ્ઞાનાવરણાદિ તે તે મૂલકર્મનો ઉત્કૃષ્ટ અનુત્કૃષ્ટ વગેરેમાંથી એક એક પ્રકારનો સ્થિતિ-વન્ધ નિરન્તરપણે ઓછામાં ઓછો કેટલો કાઢ સુધી કરે, અને વધારેમાં વધારે કેટલો કાઢ સુધી કરે તે રૂપ વન્ધકાલનું જઘન્ય ઉત્કૃષ્ટ પ્રમાણ બતાવીને તે કાઢ ક્યાંક જઘન્યથી સમયમાત્ર જ અથવા અન્તર્મૂર્ત્તમાત્ર જ હોય કે તેથી વધારે જ હોય, જેમકે-નરકગતિઓષમાર્ગામાં જ્ઞાનાવરણાદિ કર્મનો અજઘન્યસ્થિતિવન્ધનો જઘન્યકાલ બેસમયન્યૂન દશહજારવર્ષ હોય, તો તે તેટલો શા માટે ? તેથી ઓછો કેમ નહિ ? इत्यादि विवेचनद्वारा स्पष्टકરી बતાव्यું છે. એમ ઉત્કૃષ્ટકાલને પણ હેતુઓ દ્વારા સિદ્ધ કરવામાં આવ્યો છે.

આ દ્વારમાં ૧૪૭ મી ગાથામાં એકેન્દ્રિયઓષ વગરે કેટલીક માર્ગાઓમાં જ્ઞાનાવરણાદિ-ના અનુત્કૃષ્ટસ્થિતિવન્ધનો જઘન્યકાલ એકસમય નહિ બતાવતાં અન્તર્મૂર્ત્ત બતાવ્યો છે, જે સિદ્ધ કરતાં ટીકાગ્રન્થમાં ભવના છેલ્લા અન્તર્મૂર્ત્તમાં ઉત્કૃષ્ટસ્થિતિવન્ધને કરનારા જીવો. પોતાને પ્રાયોગ્ય હલકામાં હલકી ગતિ જાતિ વગેરેમાં જનારા હોય છે इत्यादि विस्तृत विवेचन દ્વારા સમજાવવામાં આવ્યું છે કે જે વિવેચનમાં વર્ણવાયેલા પદાર્થો આગઠના ગ્રન્થને સમજવામાં વધુ ઉપયોગી છે, તે ઉપરાંત ગ્રન્થ-લાઘવ માટે આગઠ અને પાછલ (ઉત્તરસ્થિતિવન્ધ રસવન્ધ પ્રદેશવન્ધ)ના ગ્રન્થમાં તે તે માર્ગાઓની એકજીવાશ્રય કાયસ્થિતિની ભલામણ કરી હોવાથી અહીં (૧૫૦થી ૧૮૪ સુધીની ગાથાઓ વડે) ૧૭૦ માર્ગાઓની એકજીવાશ્રયી ઉત્કૃષ્ટ અને જઘન્ય કાયસ્થિતિ કેટલાક મતાન્તર પૂર્વક બતાવી છે જે શ્રીપ્રજ્ઞાપનાઆગમ વગેરે ગ્રન્થાન્તરની સાક્ષીઓ વગેરે વડે વિવેચાઈ છે, એટલું જ માત્ર નહિ પણ કાલદ્વારનાં યન્ત્રો દર્શાવતાં પહેલાં લગભગ એકજ પત્ર ઉપર ક્રમશઃ ૧૭૦ માર્ગાની જઘન્ય અને ઉત્કૃષ્ટ કાયસ્થિતિનો ગાથાન્તર સાથેનો યંત્ર અને તે કાયસ્થિતિમાં કેટલીક માર્ગાઓમાં ભવસ્થિતિની ભલામણ કરી હોવાથી જઘન્ય અને ઉત્કૃષ્ટ ભવ-સ્થિતિનો યંત્ર પણ સાથે સાથે આવ્યો છે.

પાંચમા એકજીવાશ્રયી અન્તરદ્વારમાં—પૂર્વની જેમ ઓષથી અને આદેશથી ૧૭૦ માર્ગાસ્થાનોમાં કોઈ એક જીવ મૂઠપ્રકૃતિનો ઉત્કૃષ્ટાદિ વિવક્ષિત એકપ્રકારનો સ્થિતિવન્ધ ન કરે તો ઓછામાં ઓછો કેટલો કાઢ ન કરે, એ રૂપ જઘન્ય અન્તર, અને વધારેમાં વધારે કેટલો કાઢ ન કરે તે રૂપ ઉત્કૃષ્ટ અન્તરનું પ્રમાણ બતાવવામાં આવ્યું છે (આ કાઢની આદિમાં અને અન્તમાં તે વિવક્ષિત સ્થિતિવન્ધ હોય તો જ તે અન્તર તરીકે ગણ્યો છે,) અને ટીકામાં તે અન્તરને સિદ્ધ કરી ઘટનાઓ કરવામાં ધારી છે, એમાં કેટલીક માર્ગાઓમાં જ્યાં તે તે અન્તરનું પ્રમાણ દેશોન-કાયસ્થિતિ બતાવ્યું છે ત્યાં 'દેશોન' થી અન્તર્મૂર્ત્ત, વે અન્તર્મૂર્ત્ત વગરે કેટલો કાઢ કાયસ્થિતિ-માંથી વર્જનીય છે એની એકાદમાર્ગામાં ભાવના કરી ચાકીની માર્ગાઓ માટે દિગ્દર્શન કરાવ્યું છે.

તે તે જીવોને ચાલુભવનો ત્રીજો, નવમો, સત્તાવીસમો વગેરે ભાગ જેટલું આધુષ વાકી હોય

त्यारे त्यारे अमुक चोक्कस समयथी ज प्राप्त थना आयुषबन्धमाटे योग्य काळे श्रीप्रज्ञापना आगममां कहेला आयुषबन्धना आकर्षणी अपेक्षाए आयुषना उत्कृष्टादि स्थितिवन्धनुं अन्तर अधिकृत होवाथी मुख्यरूपे ते रीते घटना करी होवा छतां एकभवमां एक ज वखत आयुषबन्ध थवानां वचनोने हिसावे आयुषना ते ते स्थितिवन्धनुं अन्तर केटलुं अने केवी रीते प्राप्त थाय तेनुं पण मार्गदर्शन कराव्युं छे.

छद्दा एकजीवाश्रयो संनिकर्ष डारमां—पूर्ववत् ओघ अने आदेशथी कोई एक जीव ज्ञानावरणीयादि ते ते मूळकर्मनो उत्कृष्ट स्थितिवंध करतो होय त्यारे ते जीवने बाकीनी सात प्रकृतिओमांथी केटली प्रकृतिओ बंधाय ? अने ते प्रकृतिओनी उत्कृष्टस्थिति बंधाय के अनुत्कृष्ट स्थिति बंधाय ? जो अनुत्कृष्टस्थिति बन्धाय तो ते उत्कृष्टस्थिति करतां केटली ओली बंधाय, शुं असंख्यातभागहीन बंधाय, संख्यातभागहीन बंधाय के पछी ते करतां पण वधारे संख्यातगुणहीन के असंख्यातगुणहीन बन्धाय ? वगरे वर्णवचामां आव्युं छे. एवीज रीते एक प्रकृतिनी जघन्यस्थितिने बांधता जीवने ते सिवायनी प्रकृतिओ अने तेना स्थितिवंधनुं प्रमाण केटलुं केटलुं होय छे ते बताव्युं छे, अने ते सर्वे पदार्थोनुं विवेचन करी पूर्वनी जेम ते पदार्थो वन्धोमां गुंधी लेवाया छे.

सातमा नानाजीवाश्रय भङ्गविषयद्वारमां—ज्ञानावरणादि ते ते मूळकर्मनी उत्कृष्टादि ते ते स्थितिना बंधकोनी अने (उत्कृष्टादि विवक्षित स्थितिनी प्रतिपक्षभूत जे अनुत्कृष्टादि-स्थिति तेना बन्धकरूप) अबन्धकोनी ते ते काळे थती प्राप्ति अप्राप्तिने अनुवारं उपलब्ध थता भांगा बताववामां आव्या छे. जेमके—भङ्ग पहिलो—‘एक बंधक’. भंग बीजो—‘एक अबन्धक’. भंग त्रीजो—‘सर्वे बन्धको’. भंग चौथो—‘सर्वे अबन्धको’. भंग पांचमो—‘एक बन्धक, एक अबन्धक’. भंग छटो—‘एक बन्धक, अनेक अबन्धको’. भंग सातमो—‘अनेक बन्धको, एक अबन्धक’. भङ्ग आठमो—‘अनेक बन्धको, अनेक अबन्धको’. आ आठभांगमांथी कयां कोना केटला भंग प्राप्त थाय ते बताव्या छे अने टीकाग्रन्थमां ओघथी के विवक्षितमार्गणामां विवक्षित उत्कृष्टादि स्थितिना बन्धकत्रीवोनी संख्या अतिशय (असंख्यलोकप्रदेशप्रमाण के तेथी अधिक) होवाथी अने तेनी प्रतिपक्षभूतस्थितिना बन्धकोनी संख्या ते करतां पण वधारे होवाथी हमेशां (कोई पण समये) ते विवक्षितस्थितिनो उपरोक्त आठ भङ्गमांथी मात्र आठमो भंग ज मळे छे. पण बाकीना सात भंग मळता नथी. एज रीते कयांक विवक्षित स्थितिना बन्धकोनी संख्या ओली होवाथी मात्र त्रणभांगा, तो कयांक मार्गणानी ज अध्रुवता (मार्गणामां जीवो कयारेक वीलकुल न होवारूप मार्गणानी अनिधमितता) वगरे कारणे आठे आठ भांगा मळे छे इत्यादि नियमो बताववा साथे सिद्ध करी बताव्युं छे.

आठमा नानाजीवाश्रय भागद्वारमां—ओघथी अने ते ते मार्गणामां ते ते कर्मनी उत्कृष्टादि स्थितिना बन्धको त्यां रहेला सर्वे स्थितिवन्धकोना केटलामा भागे छे ? शुं संख्यातमे भागे छे के असंख्यातमे भागे छे के पछी अनंतमे भागे छे ते बताववामां आव्युं छे.

नवमा नानाजीवाश्रय परिमाणद्वारमां—पूर्ववत् वन्ने रीते ते ते कर्मनी ते ते स्थिति-
ना बन्धकोनुं परिमाण (संख्याता छे, अमंख्याता छे के पछी अनंता छे ते रूप) बताव्युं
छे. अर्थात् ते ते बन्धकोनी वधारेमां वधारे संख्या केदली होई शकं ते जणववामां आव्युं छे.
अहीं मूलग्रन्थमां के टीकाग्रन्थमां ते परिमाण संख्यात वगेरे अणभेदे ज बताव्युं होई तेने
विशेषरूपे जाणवा माटे, तथा कोई कोई स्थले ते परिमाण मार्गणागत सर्वजीवसंख्याने अधीन होवाथी,
तमज आगळ व्रीजा वगेरे अधिकारमां तो कोई कोई स्थले ते परिमाणने मार्गणागत जीवसंख्याने भूटा-
व्युं होवाथी के मार्गणागत जीवसंख्या द्वारा साववानुं कबुं होवाथी मार्गणागत जीवपरिमाण
आवडुं आवश्यक छे, अने तेथे परिशिष्ट व्रीजामां १७० मार्गणामां प्राप्त यता जीवोनुं परि-
माण प्रदर्शित करतुं ११ माथानुं द्रव्यप्रमाणप्रकरण मूकवामां आव्युं छे. के जे आगळ
पाछळना ग्रन्थमां विशेषरूपे बन्धक परिमाणादि जाणवामां आधारभूत छे.

दशमा नानाजीवाश्रय क्षेत्रद्वारमां—टीकाग्रन्थमां सर्वप्रथम समस्त बन्धविधान ग्रन्थमां
क्षेत्रद्वारमां कहेवातुं क्षेत्र अने स्पर्शनाद्वारमां कहेवाथी स्पर्शना ए वन्ने वच्चे शुं तफावत छे ते जीव-
ममामग्रन्थानुसारे वर्तमान अने अतीत एम बे प्रकारना काळभेदयो बताव्यो छे. अर्थात् क्षेत्र
एकसमयवती बन्धको संबंधी, अने स्पर्शना नाना-अनेक समयवती बन्धको संबंधी अहीं अधि-
कृत छे तेम स्पष्ट करावुं छे. अने न्यार बाद मूलग्रन्थमां कहेलुं ते ते स्थितिना बन्धकोनुं सर्वलोक,
लोकग्रंथमाग वगेरे क्षेत्र मार्गणागत सर्वजीवोनुं क्षेत्र बताववा पूर्वक सिद्ध करवामां आव्युं छे.

अगिधारमा नानाजीवाश्रय स्पर्शना द्वारमां—उपरोक्त स्वरूपवाळी स्पर्शनानुं
प्रमाण ओघ आदेश वन्ने रीते पूर्ववत् ते ते स्थितिने आश्रमी बताव्युं छे अने तेने टीकाग्रन्थमां
युक्ति वगेरेथी सिद्ध कयुं छे. अहींथां मूलग्रन्थमां कहेल ते ते बन्धकोनी १३ भाग १२ भाग
वगेरे स्पर्शनाना विषय तरीके घनीकृत लोकना १३ भागादि याने तेदला घन राजलोक न लेतां वस-
नाडी अन्तर्गत क्षेत्रना ज १३ भागादि लेवा एज युक्तियुक्त छे ते पण सिद्ध करवामां आव्युं छे.

धारमा नानाजीवाश्रय कालद्वारमां—पूर्ववत् ओघ आदेश वन्ने रीते ते ते स्थितिना
बन्धको निरन्तरपणे जवन्यथी अने उन्कृष्टथी केदलो काळ मळे ते रूप वं प्रकारनी काळ
बताववामां आव्यो छे.

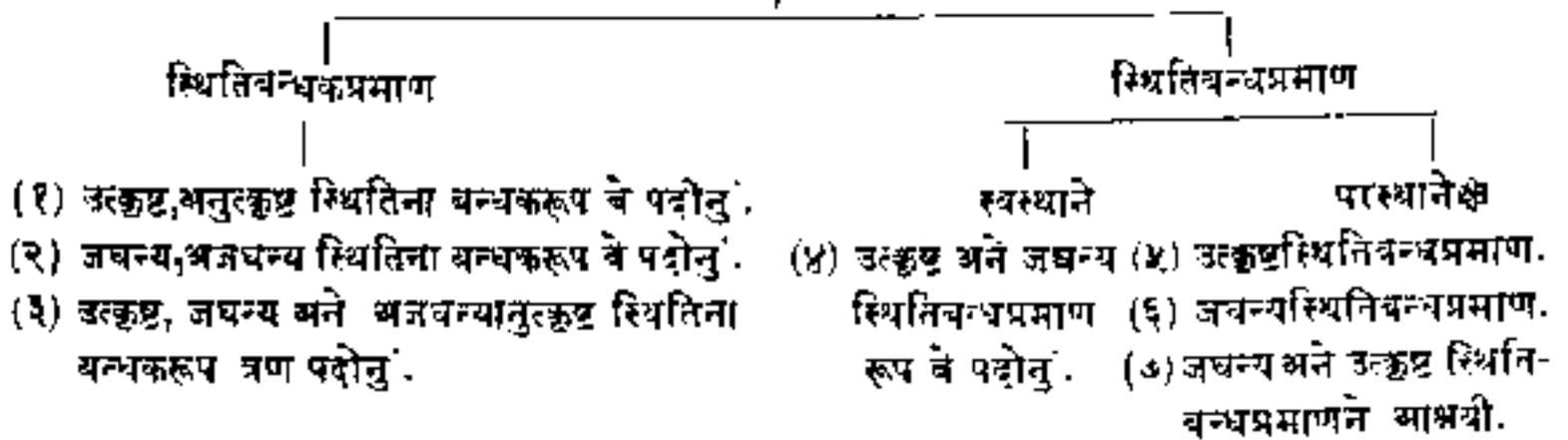
नानाजीवाश्रयकाळ एदले 'ओघगां के मार्गणाओमां जे काळना प्रत्येक समये नाना=अनेक
(एक कर्ता वधारे) जीवो विवक्षितस्थितिना बन्धक तरीके मळता होय ते काळ', एवो अर्थे न करवो
पण 'ओघथी के मार्गणागत नाना=समस्त जीवोमांथी निरन्तरपणे एक वा अनेक जीवो ते विवक्षित
स्थितिना बन्धक तरीके जे काळे मळता होय ते काळ नानाजीवाश्रयकाळ कहवाय,' एवो करवो
आवश्यक छे. अन्यथा दोष छे. एम टीकाग्रन्थमां आक्षेप-परिहार साथे सिद्ध करी मूलोक्त काळ ने
सिद्ध करवामां आव्यो छे.

તેરમા નાનાજીવાશ્રય અન્તરદ્વારમા—ઓષ આદેશ બંને પ્રકારે વિવક્ષિત મૂલકર્મની ઉત્કૃષ્ટાદિ વિવક્ષિતસ્થિતિના બન્ધક તરીકે નાના=સર્વે જીવો ન હોય, અર્થાત્ કોઈ પણ જીવો ન હોય, તેવો કાઠ જઘન્ય ઉત્કૃષ્ટ મેદથી બતાવ્યો છે.

ચૌદમા ભાવદ્વારમા—ઓષ-આદેશ બંને પ્રકારે ત્રણે કર્મના ઉત્કૃષ્ટાદિ ચારે પ્રકારના સ્થિતિબન્ધને ઔદયિકભાવે બતાવ્યો છે, ત્યાં તે પદાર્થને સિદ્ધ કરતાં ઔદયિકાદિ ભાવોનું સ્વરૂપ કે જે ગ્રન્થાન્તરોનાં પૂર્વના મહાપુરુષાં એ વિસ્તારથી બતાવેલું છે તે ન બતાવતાં માત્ર પ્રસ્તુત બન્ધ ઔદયિક ભાવે જ કેમ ? એ યથામતિ શંકા-સમાધાનપૂર્વક બતાવવા પ્રયત્ન કર્યો છે.

પીંજા અધિકારના છેલ્લા અલ્પવહુત્વ દ્વારમા—ઓષ આદેશ બંને રીતે તે તે મૂલકર્મ સંબંધી ઉત્કૃષ્ટાદિ તે તે સ્થિતિબન્ધ પ્રમાણ અને સ્થિતિબન્ધકપ્રમાણ એમ મૂલ બે પ્રકારને આશ્રયી સાત અલ્પવહુત્વ બતાવવામાં આવ્યાં છે. તે આ પ્રમાણે—

અલ્પવહુત્વ



ત્રીજો 'ભૂયસ્કાર' નામક અધિકાર અને એનાં દ્વારો

સ્થિતિબન્ધના જઘન્ય ઉત્કૃષ્ટ વગેરે મેદોની જેમ ભૂયસ્કાર, અન્પતર, અવસ્થિત અને અવક્તવ્ય એ રીતે પણ ચાર મેદ પડી શકે છે, તેનાં લક્ષણ પાંચમા કર્મગ્રન્થમાં 'એગાદિહિમે ભૂઓ' इत्यादि गाथा વડે બતાવેલ પ્રકૃતિબન્ધના ભૂયસ્કાર અન્પતરગાદિના લક્ષણ જેવાં છે. તે આ પ્રમાણે—

(૧) જ્ઞાનાવસ્થાદિ તે તે પ્રકૃતિના અન્તર્મુહૂર્તાદિ (સમયાદિવડે હીનાધિક નહિ તેવા) ચોક્કસ પ્રમાણવાલા સ્થિતિબન્ધને કરતા જીવને તે બન્ધના નિરન્તર ઉત્તરસમયે પ્રવર્તતો સમયાદિવડે અધિક સ્થિતિબન્ધ પ્રથમસમયે ભૂયસ્કાર સ્થિતિબન્ધ કહેવાય.

(૨) ભૂયસ્કારસ્થિતિબન્ધ કરતાં વિપરીત એટલે કે પૂર્વસમયે થતા કોઈ એક ચોક્કસપ્રમાણવાલા સ્થિતિબન્ધ કરતાં નિરન્તરઉત્તરસમયે થતા તે કરતાં ઓછા સ્થિતિપ્રમાણવાલા બન્ધના પહેલા સમયે અન્પતર સ્થિતિબન્ધ કહેવાય.

(૩) પૂર્વસમયે થયેલા કોઈ એક નિયત સ્થિતિપ્રમાણવાલા બન્ધના નિરન્તર ઉત્તરસમયમાં થતા તેટલા જ સ્થિતિપ્રમાણવાલા બન્ધને અધસ્થિત સ્થિતિબન્ધ કહેવાય, ડ્યારે—

ૐ પરસ્થાને એટલે આઠ મૂલ પ્રકૃતિનું મેદું.

(४) ज्ञानावरणादि ते ते प्रकृतिनो स्थितिवन्ध सर्वथा न थतो होय एवा जीवने ते स्थिति-
बन्ध शरू श्रतां पहेला समये ते ते प्रकृतिनी अवक्तव्य स्थितिवन्ध कहवाय.

आ चार प्रकारना स्थितिवन्धमां भूयस्कारबन्धना प्राथम्यना हिसाबे दूंकामां अधि-
कारनुं नाम 'भूयस्कार'एवुं छे. आ अधिकारमां 'सत्पद, 'स्वामित्व, 'काल, 'अन्तर, 'भङ्गविचय,
'भाग, 'परिमाण, 'क्षेत्र, 'स्पर्शना, 'काल, 'अन्तर, 'भाव अने 'अल्पबहुत्व एम पूर्व-
वत् तेर द्वारोथी भूयस्कारादि स्थितिवन्धोनी सत्पद, स्वामित्वआदि प्ररूपणा करवामां आवी छे.

पहेला सत्पद द्वारमां—पूर्ववत् ओघथी अने आदेशथी (१७०) मार्गणास्थानोमां कया
मूलकर्मनां भूयस्कारादि कयां स्थितिवन्धपदो सत् (सङ्कृत) छे. ते चतावी तेने टीकाग्रन्धमां सिद्ध
करवामां आध्यां छे. जेसके—ओघथी आयुष सिवाय सात मूलकर्मनां भूयस्कारादि चारे प्रकारनां
स्थितिवन्धपदो सत् छे, ज्यारे आयुष कर्मनां अवक्तव्य अने अल्पतर नामनां बे ज स्थितिवन्धपदो
सत् छे, बाकीनां बे पदो असत् छे, केसके कोई पण जीवने पोताना जीवित दरमियान आयुष कर्म
स्वारेक ज बन्धाय छे, तथा स्थितिवन्धनुं प्रमाण कर्मरूपताअवस्थानलक्षण स्थितिवन्धना हिसाबे
अधिकृत होवाथी आयुषकर्मनी बंधाती स्थितिना प्रमाणमां अबाधा अन्तर्गत गणेली छे अने तेम
होवाथी आयुषबन्धकालना बीजा बीजा वगेरे समयोमां अनुभवयोग्यस्थितिवन्धनुं प्रमाण पहेला समय
जेटलुं ज रहेवा छतां भोगवाता आयुषनी शेषस्थितिने अधीन एवी अबाधा समये समये घटे छे
तेथी आयुषबन्ध शरू थतां बीजा समयथी पूर्व पूर्व समय करतां उत्तर उत्तर समयोमां कर्मरूपता-
अवस्थानलक्षणस्थितिवन्धप्रमाण समय समय ओलुं प्राप्त थतुं होई पहेलो समय छोडी दरेक
समयोमां अल्पतर स्थितिवन्धो ज मळे छे, अने पहेला समये अवक्तव्य स्थितिवन्ध ज मळे छे,
पण आयुष्यनां भूयस्कार के अवस्थित स्थितिवन्ध ए बे पदो नहि मलनां होवाथी असत् छे.

मनुष्यगतिओघ वगेरे कंटलीक मार्गणाओ छोडीने नरकगतिओघ, तेना उत्तरभेद, तिर्यच-
गतिओघ, तेना उत्तरभेद, देवगतिओघ, तेना उत्तरभेद एकोन्द्रियादि अने पृथ्वीकायादि ओघ-
मार्गणाओ तथा तेना उत्तरभेदो वगेरे वगेरे घणी मार्गणाओमां सात कर्मनो अवक्तव्य स्थिति-
बन्ध पण असत् छे(मलतो नथी). जो के देवगतिओघ वगेरे कंटलीक मार्गणाओमां उपशान्तमोह
वगेरे गुणस्थानके मरण पामीने देवपणे उत्पन्न थता जीवने पूर्वसमये ज्ञानावरणादिनी स्थितिनी
अबन्ध अने ते पल्लीना देवभवना प्रथम समये ते ते स्थितिनी बन्ध मलतो होई अवक्तव्यबन्ध
सत् कही शक्याय, पण अहींयां ते ते मार्गणाने अनुरूप देवत्वादि (देवपणुं वगेरे) चौकस पर्यायमां
वर्तता जीवने पूर्वोत्तरसमये थता अधिक-हीनादि स्थितिवन्धने लईने भूयस्कारादि स्थितिवन्धनी
अने तेवाज चौकसपर्यायवर्ती जीवने प्राप्त थता ते ते कर्मनी स्थितिना अबन्ध-बन्धने लईने

अवक्तव्यबन्धनी विवक्षा करवामां आवी होई देवगतिओघादि मार्गणाओमां ज्ञानावरणादिकर्मनो अवक्तव्यस्थितिवन्ध सत् नथी गण्यो. आ वातने सत्पदादि पहेलां त्रण द्वारोनी टीकामां अवमरे अवमरे स्पष्ट करवामां आवी छे अने बीजा एकजीवाश्रय कालद्वारमां ५७५ मी गाथानी टीकामां तो ते गाथामां कहेला अर्थनी घटना जे वस्तु विवक्षा करतां मुदाअवकाशी विवक्षाणी करीने ते ते विवक्षायी थता लाभालाभने दर्शाव्यो छे.

सत्पदद्वार पछी स्वामित्वादि शेषद्वारोमां—बीजा अधिकारनी जेम पहेला द्वारमां बतवेला ज्ञानावरणादि ते ते कर्मना भूयस्कारादि ते ते स्थितिवन्धमत्पदोना स्वामीओ, ते पदोनी एकजीवाश्रय जघन्य उत्कृष्ट काष्ठ, अन्तर, नानाजीवाश्रय भांगा, बन्धकभाग, बन्धकपरिमाण वगैरे बतव्युं छे. जेनुं टीकाग्रन्थमां पूर्वनी जेम समर्थन करवामां आव्युं छे. अने ते ते द्वारोने अन्ते द्वारोमां आवेला पदार्थोने टुकमां संग्रहकरतां यन्त्रोनुं आलेखन करवामां आव्युं छे.

चौथो 'पदनिक्षेप' नामनो अधिकार अने एनां ३ द्वारो

भूयस्कार अधिकार पछी चौथा 'पदनिक्षेप' अधिकारमां सत्पद, स्वामित्व अने अल्पबहुत्व नामनां त्रण द्वारो छे, जेमां 'उत्कृष्टवृद्धि', 'उत्कृष्टहानि', 'उत्कृष्टअवस्थान', 'जघन्यवृद्धि', 'जघन्यहानि', 'जघन्यअवस्थान रूप ६ प्रकारना स्थितिवन्धनो विचार करवामां आव्यो छे, आ ६ प्रकारना स्थितिवन्धो भूयस्कारादिस्थितिवन्धोना विशेषरूप ज छे. ते आ प्रमाणे—

(१) उत्कृष्ट वृद्धि पदः—ज्ञानावरणादि ते ते कर्मनो चोक्कस प्रकारनो भूयस्कारस्थितिवन्ध के जे भूयस्कारस्थितिवन्ध शेष भूयस्कारस्थितिवन्ध करतां अधिकतम (बधारेमां बधारे) स्थितिवन्धना बधवार्थी थतो होय ते उत्कृष्टवृद्धिपद कहेवाय.

(२) उत्कृष्ट हानि पदः—ज्ञानावरणादि ते ते कर्मनो चोक्कस प्रकारनो अल्पतरस्थितिवन्ध के जे अल्पतरस्थितिवन्ध शेष अल्पतरस्थितिवन्ध करतां अधिकतम स्थितिवन्धना घटवार्थी थतो होय ते उत्कृष्टहानिपद कहेवाय.

(३) उत्कृष्ट अवस्थान पदः—अवस्थितस्थितिवन्धना पूर्वमां थयेला ते ते भूयस्कार के अल्पतर स्थितिवन्धोमां अधिकतमस्थितिवन्धतारतम्यथी थयेला भूयस्कार के अल्पतर स्थितिवन्धनी उत्तरमां थयेलो अवस्थितस्थितिवन्ध ते उत्कृष्ट अवस्थानपद कहेवाय, आ उत्कृष्टअवस्थान स्थितिवन्ध कोई मार्गणाओमां उत्कृष्टवृद्धिपदना अनन्तरसमयोमां होय छे. तो वळी कोई मार्गणाओमां उत्कृष्टहानिपदना अनन्तरसमयोमां होय छे, केमके तेवी मार्गणाओमां उत्कृष्टवृद्धि पछी अवस्थान ज नथी होतुं, अथवा उत्कृष्टवृद्धिपद करतां उत्कृष्टहानिपद बधारे स्थितिवन्धतारतम्यथी मळतुं होय छे. कोई कोई मार्गणाओमां तो उत्कृष्टवृद्धि के उत्कृष्टहानिना अनन्तर समयोमां उत्कृष्टअवस्थान न मळतां अन्य कोई भूयस्कार के अल्पतरना अनन्तरसमयोमां उत्कृष्टअवस्थान मळे छे.

(४) जघन्य वृद्धि पद, (५) जघन्य हानि पद अने (६) जघन्य अवस्थान पदः—उत्कृष्ट-

वृद्धि बगैरे उपर कहेलां ऋण पदो करतां विपरीत लक्षणवाळां एटले के सर्वस्तोक-समयमात्र स्थिति-बन्धना तारतम्यथी प्राप्तथतां स्थितिवन्धभूयस्कारादि ते जघन्यवृद्धि आदि ऋण पद तरीके छे.

सत्पद द्वारमां—ओषधी अने ते ते (१७०) मार्गणाओमां उपरोक्त स्वरूपवाळां ६ पदोमांथी केटलां अने कयां पदो मले छे ते बतावायुं छे, ज्यारे पूर्ववत् स्वामित्व द्वारमां—ते ते सत्पदोना स्वामी=बन्धको केवी अवस्थामां ते ते वृद्ध्यादिपदना बन्धक बने छे ते दर्शावायुं छे, श्रीजा अल्पबहुत्व द्वारमां—ऋण उत्कृष्टपदोनुं एक अल्पबहुत्व बताव्युं छे के जेमां उत्कृष्टपदो जे स्थितिवन्धतारतम्यथी उत्तराय थायछे ते स्थितिवन्धतारतम्योनी परस्परना हीनाधिकता दर्शावाई छे, अने तेज रीते जघन्यपदोनुं एक अल्पबहुत्व बताव्युं छे. टीकाग्रन्थमां उक्त ऋणे द्वारमां कहेला पदार्थोने स्पष्ट करी अविज्ञानना अन्ते ऋणे द्वारना पदार्थोनुं संग्राहक पन्त्र पण अलेख्युं छे.

पांचमो वृद्धि अधिकार अने एनां १३ द्वारो

पदनिक्षेप अधिकार पञ्जी पांचमो वृद्धिअधिकार आवे छे. वृद्धिअधिकारमां मूळआठकर्मना स्थितिवन्धनी वृद्धि, हानि, अवस्थान अने अवक्तव्य एम चार विषयो उपर सत्पद, स्वामित्व आदि एओमां एहोनी जेम जीवसामान्यने आश्रयीने अने (१७०) मार्गणास्थानवर्ति जीव विशेषने आश्रयीने विचारणा करवायां आरी छे. एम छतां भूयस्कारअधिकारनी जेम अधिकारनुं नाम वृद्धिअधिकार एयुं राख्युं छे.

जेम पदनिक्षेप अधिकारमां कही गया तेम जो के अहीयां पण वृद्धि भूयस्कारस्थितिवन्ध-विशेषरूप ज छे तेमज हानि अल्पतरस्थितिवन्धविशेषरूप ज छे, छतां पदनिक्षेप अधिकारमां वृद्धि अने हानि उत्कृष्टपदमां अने जघन्यपदमां रहेली ज, अर्थात् वधारेमां वधारे स्थितिवन्धतारतम्यथी प्राप्त थती अने ओछामां ओछा स्थितिवन्धतारतम्यथी प्राप्त थती लईने ने उपर विचारणा कराई छे ज्यारे अहीयां वृद्धिअधिकारमां वृद्धि चार प्रकारनी—(१) असंख्यभागस्थितिवन्धवृद्धि, (२) संख्यात-भागस्थितिवन्धवृद्धि, (३) संख्यातगुणस्थितिवन्धवृद्धि, अने (४) असंख्यातगुणस्थितिवन्धवृद्धि. तेवीज रीते हानि पण चार प्रकारनी—(५) असंख्यभागस्थितिवन्धहानि, (६) संख्यातभागस्थितिवन्ध-हानि, (७) संख्यातगुणस्थितिवन्धहानि अने (८) असंख्यातगुणस्थितिवन्धहानि एम आठ प्रकारना स्थितिवन्धविशेषो पर विचारणा कराई छे.

जेमके—ज्ञानावरणादि ते ते मूळकर्मनी असंख्यातभागस्थितिवन्धवृद्धि बगैरे ते ते वृद्धिमांथी अने असंख्यातभागस्थितिवन्धहानि बगैरे ते ते हानिमांथी जीवसामान्यमां अने नरकगतिओष बगैरे मार्गणा ओमां कई कई वृद्धिओ अने कई कई हानिओ सत् छे (मली शके छे). ते ते वृद्धिना अने हानीना स्वामी (बन्धक) कोण छ. ते ते वृद्धि के हानिनो एकजीवाश्रय काळ जघन्यथी अने उत्कृष्टथी केटलो छे. एज रीते एकजीवाश्रय अंतर जघन्यथी अने उत्कृष्टथी केटलुं छे. ओषधी अने ते ते

માર્ગનાસ્થાનોમાં કહેલાં સમસ્ત સત્પદોના એક-અનેક બંધકોથી તે તે કાઠવિશેષમાં પ્રાપ્ત થતા નાનાજીવાશ્રય માંગા કેટલા છે વગરની વિચારણા શ્રીજા અધિકારની જેમ સત્પદાદિ તે તે દ્વારોમાં કરાઈ છે.

અહીંયાં આઠે મૂલકર્મનો અવસ્થાનસ્થિતિબંધ અને અવત્કવ્યસ્થિતિબંધ પણ અધિકૃત છે પણ તે સર્વથા શ્રીજા ભૂયસ્કારઅધિકારમાં કહેવાઈ ગયેલા અવસ્થાનસ્થિતિબંધ અને અવત્કવ્ય સ્થિતિબંધ જેવો છે. અને તેથી તે સંબંધી પ્રરૂપણા અને આયુઃકર્મનો અન્વતરસ્થિતિબંધ કે જે ભૂયસ્કારઅધિકારમાં કહેવાઈ ગયો છે તે માત્ર અસંખ્યમાગહાનિલક્ષણ એકજ હાનિરૂપ હોવાથી તે વિષયક પ્રરૂપણા ભૂયસ્કારઅધિકારમાં કહેવાઈ ગયેલા અવસ્થાનસ્થિતિબંધ વગેરે તે તે સ્થિતિબંધને મઠાવી દેઈને ગ્રન્થલાઘવ કરવામાં આવ્યું છે. માત્ર છેલ્લા અન્વવહુત્વદ્વારમાં વિશેષતા હોવાથી એ ન મઠાવતાં ત્યાં અન્વવહુત્વોને કહેવામાં આવ્યાં છે. ટીકાગ્રન્થમાં તે તે પદાર્થોને વ્યાપ્તિઓ વગેરે દ્વારા વિદ્ધ કર્યાં છે અને અધિકારના અન્તે સમગ્રવૃદ્ધિઅધિકારમાં આવેલા પદાર્થોનો સંગ્રહ કરતાં યન્ત્રો દ્વારા આલેખ્યાં છે.

છટ્ટો 'અધ્યવસાયસમુદાહાર' અધિકાર અને એનાં ૩ દ્વારો

પાંચમા અધિકાર પછી છટ્ટા અધ્યવસાયસમુદાહાર નામના અધિકારમાં પૂર્વના પાંચ અધિકારમાં બતાવાયેલા કાર્યરૂપ સ્થિતિબંધના કારણભૂત એવા કપાયઉદયથી ઉત્પન્ન થતા આત્માના અધ્યવસાયોને આશ્રવીને 'સ્થિતિસમુદાહાર', 'પ્રકૃતિસમુદાહાર', અને 'જીવસમુદાહાર' નામનાં ત્રણ મૂલદ્વારો અને 'પ્રગણના' 'અનુકૃષ્ટિ' વગેરે અવાન્તરદ્વારોથી નિરૂપણ કરવામાં આવ્યું છે. તેમાં—

સ્થિતિસમુદાહાર નામના પહેલા દ્વારમાં-પ્રગણના, અનુકૃષ્ટિ, અને તીવ્રતામન્દતા નામના ત્રણ અવાન્તરદ્વારો છે. તેમાં પ્રગણનાદ્વારમાં-જ્ઞાનાવરણાદિમૂલકર્મનો એક એક સ્થિતિવિશેષ (સ્થિતિ-બંધસ્થાન)કેટલા ભિન્ન ભિન્ન ★અધ્યવસાયોથી બંધાઈ શકે તે, તથા સ્થિતિબંધના કારણભૂત તે અધ્યવસાયો દરેક સ્થિતિવિશેષે મરહા (સમાન સંખ્યામાં) નથી હોતા પણ અધિક અધિક સ્થિતિ-બંધમાં વધારે વધારે હોય છે તે બતાવ્યું છે. અને તે અધિક અધિક સ્થિતિબંધ માટે સમર્થ એવા અધ્યવસાયોની પૂર્વે કહી ગયા તેમ અનન્તરોપનિધા અને પરસ્પરોપનિધા એમ બે રીતે પ્રરૂપણા કરી છે. ત્યાર બાદ અધ્યવસાયોની દ્વિગુણવૃદ્ધિનાં સ્થાનો, અને નિરન્તર એવાં બે દ્વિગુણવૃદ્ધિ-સ્થાનો વચ્ચેના સ્થિતિબંધસ્થાનોનું અન્વવહુત્વ બતાવ્યું છે કે જેને ટીકાગ્રન્થમાં યુક્તિપ્રયુક્તિ અને અસત્કલ્પનાઓપૂર્વક અને પલ્લોપમ-સાગરોપમના ભેદો, એનું સ્વરૂપ, એનો ઉપયોગ વિગેરે પ્રાસંગિક વિષયો સહિત સવિસ્તર ઘટાવવામાં આવ્યું છે.

અનુકૃષ્ટિદ્વારમાં—જેમ કોઈ ચોક્કસ સ્થિતિબંધવચ્ચે સંભવતા રસબંધના અધ્યવસાયો-

मांना केटलाक अध्यवसायो अथवा ते बंधाज अध्यवसायो ते चोक्कस स्थितिवन्धकर्ता समयाधिक स्थितिवन्ध करती वखते अथवा समयहीन स्थितिवन्ध करती वखते पण होई शके छे, अर्थात् एकस्थितिवन्धवखते सम्भवता रसवन्धना अध्यवसायो बीजा स्थितिवन्धवखते पण होई शके तेरूप रसवन्धअध्यवसायानी अनुकृष्टि (एक स्थितिवन्धस्थानगत रसवन्धअध्यवसायोनुं बीजा स्थितिवन्धस्थानोमां अनुकर्षण=वर्षेचावुं एरूप) होय छे तेम स्थितिवन्धना अध्यवसायोनी अनुकृष्टि नथी होती, अर्थात् एक स्थितिवन्धने योग्य अध्यवसायोथी बीजा स्थिति बन्धाई शकती ज नथी, एम स्थितिवन्धना अध्यवसायोनी अनुकृष्टिनो निषेध करवामां आव्यो छे अने टीका ग्रन्थमां तेने बंधारे स्पष्ट करवा असत्कल्पनाओनो अने असत्कल्पनानुसारी यन्त्रोनो आश्रय लेवामां आव्यो छे.

त्यार बाद तीव्रतामन्दतानामक प्रीजा अवान्तरद्वारमां—एक एक स्थितिवन्धने अनुरूप भिन्न भिन्न अध्यवसायोमां परस्पर, अने ते अध्यवसायोनी ते मित्रायना बीजा स्थितिवन्धने माटे योग्य अध्यवसायोनी साथे उदितकायो यथा रसनी अपेक्षा तीव्रतामन्दता केवी अनन्तगुण होय छे ते व्यक्त करायुं छे.

बीजा मूळद्वार प्रकृतिसमुदाहारमां—इरेक मूळप्रकृतिने आश्रयी स्थितिवन्धना अध्यवसायो केटला होय छे ते तथा मूळप्रकृतिओने आश्रयी स्थितिवन्धना अध्यवसायस्थानोनुं अल्प-महृन्व प्रदर्शित करायुं छे.

प्रीजा मूळद्वार जीवसमुदाहारमां—जेनुं प्ररूपण मुख्यपणे रसवन्धग्रन्थमां करवामां आवे छे तेवा बे, त्रण अने चार ठाणीआ रसने बांधता भिन्न भिन्न अध्यवसायवाला जीवोनुं ते ते रसवन्धक तरीके विभाजन करीने ते ते विभागगत जीवोने वन्धप्रायोग्य स्थितिओ अने स्थितिवन्धस्थानोनुं प्रमाण बतावता पूर्वक ते ते स्थितिवन्धस्थानोने बांधनार जीवो अधिक अधिक स्थिति कया क्रमथी अने कयां सुधी वधती संख्यामां अने घटती संख्यामां होय छे अने ते जीवसमूहने ते ते स्थितिवन्धस्थान उपर स्थापतां केवी यवनी जेम चड-उतर आकारवाळी आकृतिओ बने छे, तथा ए यवाकृतिओना मध्यभागथी (सांथी बंधारे जीवो होय तेवा पहोळा भागथी) बे बाजुए उत्तरता जता भागो उपर आवेलां स्थितिवन्धस्थानोमांथी केटलां केटलां अने कयां कयां स्थितिवन्धस्थानो मात्र साकारउपयोगमां वर्तता जीवोने ज वन्धप्रायोग्य होय छे, ते ज रीते केटलां अने कयां स्थानो साकार अने अनाकारमांथी कोईपण उपयोगमां वर्तता जीवोने वन्धप्रायोग्य होय छे. ए बताववामां आव्युं छे. अने त्यारबाद शुभ अशुभ प्रकृतिओना बे त्रण अने चार ठाणीआ रसना वन्धकोने वन्धप्रायोग्यतरीके छे भागमां बहेचायेलां स्थितिवन्धस्थानो, वळी पाळां ते स्थितिवन्धस्थानो ते ते यवाकृतिना उपर—नीचेना ते ते भागमां रहेलां होवरूपे बे बे भागमां बहेचाईने

૧૨ માગમાં થયેલાં સ્થિતિવન્ધસ્થાનો, અને તે ૧૨ માગમાંથી કોઈ કોઈ માગમાં કેટલાંક માત્ર સાકારોપયોગમાં વન્ધપ્રાયોગ્ય, તે વહી કેટલાંક વન્નેમાંથી કોઈપણ ઉપયોગમાં વન્ધપ્રાયોગ્ય એમ પુનઃ કે કે વિભાગમાં વહેંચાયેલાં સ્થિતિવન્ધસ્થાનો, આ રીતે અનેક વિભાગમાં વહેંચાયેલાં સ્થિતિવન્ધસ્થાનો પરસ્પર કેટલા પ્રમાણમાં ઓછા વત્તાં છે અને એજ સ્થિતિવન્ધસ્થાનો શાતા અશાતા વેદનીયકર્મના જઘન્ય ઉન્કૃષ્ટ વગેરે સ્થિતિવન્ધપ્રમાણના સમયો કરતાં, તેમજ અન્તઃકોટી-કોટીસાગરોપમ તરીકે વન્ધાતા વધારેમાંવધારે(ઉન્કૃષ્ટ)સ્થિતિવન્ધના સમયો કરતાં કેટલાં વત્તાં ઓછાં છે વગરેનું પ્રતિપાદન કરતું એક મોટું અન્પવહૃત્વ ચતાવવા દ્વારા સ્થિતિવન્ધમાં કારણભૂત ક્રોધાદિક્ષાયથી આત્મામાં ઉત્પન્ન થતા અધ્યવસાયો કયા જીવોને કેવા અને કેટલા પ્રમાણમાં હોઈ શકે એ વધુ સ્પષ્ટ અર્થ છે. ત્યાર બાદ જીવમમ્દાહારનો ઉપસંહાર કરતાં અન્તે પૂર્વે કહી ગયા તેવા કે ઠાળીઆ વગેરે તે તે રમના વન્ધકજીવોનું પરસ્પર અન્પવહૃત્વ આપ્યું છે. આ પદાર્થોને ટીકાગ્રન્થમાં ગ્રન્થાન્તરની સાક્ષીઓ, અમત્કલ્પનાઓ, સ્થાપનાચિત્રો અને યન્ત્રોના આલેખન તથા ઇંકા સમાધાન અને સરલ વિવેચન વડે સુગમ અને સ્પષ્ટ કરવામાં આવ્યા છે અને એ રીતે મૂલ-પ્રકૃતિ સ્થિતિવન્ધગ્રન્થ સમાપ્ત કરવામાં આવ્યો છે, એ જિજ્ઞાસુ વાચકવર્ગ સ્વયં જોઈ શકશે.

સંસ્કૃત-પ્રાકૃત નિબદ્ધ ૨૦,૦૦૦ શ્લોકપ્રમાણ મહાકાવ્યગ્રન્થનો આ ટૂંકો વિષય-પરિચય કોઈ મહાસમુદ્રના રેલા-ચિત્ર સમો જ છે. સમુદ્રની ડુંઢાઈ પહોઠાઈ વગેરે રેલાચિત્રથી કેટલી સમ-જાવાય ? એના તલ માગોમાં રહેલાં રત્ન-મૌતિકવગેરેની રંગીલી પ્રભા એ ચિત્રમાં કેટલી પૂરાય ? છતાં ય સંસ્કૃત પ્રાકૃતના અનભિજ્ઞ જીવોને ગુજરાતીભાષા નિબદ્ધ આ 'વિષય-પરિચય' કર્મ-વન્ધવિષયક વત્તિકશ્ચિત્ત્ વોચ સાથે ગ્રન્થની મહાજાને હૃદયસ્થ કરાવવા દ્વારા જૈનશાસનના કર્મ-સાહિત્યઉપર અને જૈન શાસન ઉપર અધ્યાગ થઢા-વહુમાન કરાવનારો વનશે, તેમજ સ્થિતિવન્ધવિષયક સૂક્ષ્મ અવબોધના અભિલાષી કર્મગ્રન્થાદિના અભ્યાસીઓને પ્રસ્તુત મૂલપ્રકૃતિસ્થિતિવન્ધ ગ્રન્થના અધ્યયન માટે અવશ્ય પ્રેરશે.

૧૩, શ્રીપાલનગર, આશ્રમરોડ
વિ. સં. ૨૦૨૨ વૃષ વદ ૧૩
તા. ૧૧ - ૧ - ૧૯૬૬
બ્રહ્મચારી - ૧૩.

સિદ્ધાન્તમહોદધિ આચાર્યદેવ શ્રીમદ્ વિજયપ્રેમસૂરોશ્વર
મન્તેશાસી પંચાસપ્રવર ભાનુવિજયગણિવર્ય શિષ્ય
સ્વર્ગત પંચાસ પદ્મવિજયગણિવર શિષ્યાણુ
—સુનિ જગન્નન્દ્રવિજય



विषयानुक्रमः



विषयः	पृष्ठाङ्कः	विषयः	पृष्ठाङ्कः
टीकाकार-मङ्गलवचनानि १-२	मूलप्रकृतिस्थितिवन्धगताऽधिकाराणां नामनिर्देशः,	
द्रव्यानुयोगमाह्वयवर्णनं मूलग्रन्थप्रारम्भश्च	३	तत्तदधिकारेषु प्ररूपणीयविषयाः, तत्र भूयस्कारादीनां	
स्थितिवन्धपदार्थनिरूपणं ग्रन्थप्रतिज्ञाविषये		पदनिक्षेपस्य वृद्धशादीनां च कथञ्चिद् भूयस्कारादि-	
पुनरुक्तिमाशङ्क्य तत्परिहरणं ग्रन्थकृन्मङ्गलञ्च	४-५	रूपत्वेऽपि कथञ्चित्प्रार्थक्यप्रदर्शनं भूयस्कारा-	
ग्रन्थस्य तीर्थकृन्मूलकतादिलक्षणसम्बन्धस्य प्रयो-		दीनां स्वरूपलेशश्च ६-७
जनादेश्चाभिधानम् ५-६	तत्तदधिकारगतद्वाराणां नामनिर्देशः ८

❀ प्रथमोऽधिकारः ❀

(प्रष्ट १ तः ६४)

स्थितिवन्धस्थानादिद्वारनामनिर्देशः स्थितिवन्ध-
स्थान निषेका-ऽबाधाकण्डकस्वरूपञ्च

❀ स्थितिवन्धस्थानद्वारम् ❀

जीवभेदेषु स्थितिवन्धस्थानाल्पबहुत्वम् १०
तदुपपत्तिः ११
जीवभेदेषु स्थितिवन्धस्थानानि प्रमाणतः १२
स्थितिवन्धस्थानाल्पबहुत्वेऽसत्कल्पना १३
असत्कल्पनया स्थापना १४
जीवभेदेषु संकलेशविशुद्धिस्थानाल्पबहुत्वम् १५
संकलेशविशुद्धिनिर्वचनम् १५
संकलेशविशुद्धिस्थानाल्पबहुत्वोपपत्तिः १६
तत्र तन्त्रान्तराभिप्रायेणाऽसत्कल्पना १७
तथाऽसत्कल्पनया स्थापना २०
चतुर्दशजीवभेदेषु स्थितिवन्धस्थान-संकलेश- विशुद्धिस्थानानां प्रमाणा-ऽल्पबहुत्वयोर्यन्त्रम् १९
जीवभेदेषु जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धाल्पबहुत्वम् २१
अल्पबहुत्वोपपत्तिः २३
जीवभेदेषु धातुः कर्मणः स्थितिवन्धस्थान-संकलेश- विशुद्धिस्थान-जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धाल्पबहुत्व- यन्त्रम् २६
सन्निवेशाच्चतुर्दशजीवभेदेषु जघन्योत्कृष्टस्थिति- बन्धाल्पबहुत्वयन्त्रम् २७

❀ निषेकद्वारम् ❀

अनन्तरोपनिधया स्थितिस्थानेषु कर्मदलनिषेकः २८
परम्परोपनिधया ३२
उभयथा कर्मदलनिषेकानुपपत्तौ कर्मप्रकृतिप्रदेश- बन्धचूर्णिसन्धसबलञ्च पूर्वपक्षः ३३-३५
तत्र समाधानम् ३५
तत्र पूर्वपक्षे स्थापनाधिचित्रम् ३५
निषेकद्विगुणहानिस्थान-तदेकान्तरयोरल्पबहु- त्वम् ३७

❀ अबाधाकण्डकद्वारम् ❀

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां समय-समयाऽबाधाहानौ हीयमानस्थितिवन्धस्थानसमूहलक्षणस्याऽबाधा- कण्डकस्य निरूपणम् ३८
आयुःकर्मणस्तदप्ररूपणे शङ्का-परिहारी ३८

❀ अल्पबहुत्वद्वारम् ❀

पर्याप्त-ऽपर्याप्तसंज्ञिजीवभेदयोः प्रत्येकमायुर्वर्जसप्त- मूलकर्मणामेकैकस्य स्थितिवन्धस्थान-जघन्याऽबाधा- ऽबाधास्थान-सर्वाबाधाकण्डको-त्कृष्टाबाधा-निषेक- द्विगुणहानिस्थान-द्विगुणहानिस्थानैकान्तरे-काबाधा-	
--	--

विषयः	पृष्ठाङ्कः	विषयः	पृष्ठाङ्कः
कण्डकप्रमाण-जघन्यस्थितिवन्धो-उत्कृष्टस्थितिवन्ध- लक्षणानां दशपदानामल्पबहुत्वम् ३९	३९	एतदेवाऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदे ५२	५२
एतदेवाल्पबहुत्वं शेषद्वादशजीवभेदेषु ४२	४२	एतदेवापर्याप्ताऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदे ५३	५३
तदेवाऽऽयुःकर्माश्रित्य पर्याप्ताऽसंज्ञि-संज्ञिजीव- भेदद्वये ४६	४६	तदेवपर्याप्तचतुरिन्द्रियजीवभेदे ५४	५४
तदेवाऽऽयुःकर्माश्रित्य शेषद्वादशजीवभेदेषु ४८	४८	तदेवपर्याप्तित्रीन्द्रिय द्वीन्द्रियाऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिय- त्रीन्द्रिय-द्वीन्द्रियलक्षणजीवभेदपञ्चकेऽतिदेशेन ५४	५४
असंक्षेप्याऽऽर्थाविरामे कर्मप्रकृतिचूर्णिकारपज्ञापना- घृत्तिकारयोर्वचनभेदेऽपि न मतान्तरं, किन्तु विध- क्षाभेद एवेति प्रसङ्गात्प्रदर्शनम् ४८	४८	तदेव पर्याप्तचारैकेन्द्रियजीवभेदे ५५	५५
पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदेऽष्टकर्मणां परस्परं स्थितिवन्धस्थानादीनां प्रिशस्पदानामल्पबहुत्वम् ५०	५०	तदेवाऽपर्याप्तचारैकेन्द्रियजीवभेदे ५५	५५
		तदेव शेषैकेन्द्रियजीवभेदयोरतिदेशेन ५६	५६
		अपूर्वदशजीवभेदाऽष्टकर्मभेद-निष्पन्नविंशतः १४५- धिकत्रिंशत्(३२०)पदानामल्पबहुत्वम् ५६	५६

❀ द्वितीयोऽधिकारः ❀

(प्रश्न ६५ तः ४३२)

स्थितिवन्धप्रमाणादिपञ्चदशद्वाराणां नामनिर्देशो
लेशतस्तत्स्वरूपञ्च ६५

❀ स्थितिवन्धप्रमाणद्वारम् ❀

उत्कृष्टादिस्थितिवन्धस्वरूपनिर्धारणम् अमुभव- योग्य-कर्मरूपतावस्थानभेदास्थितिवन्धद्वैविध्यं तत्स्वरूपञ्च ६७	६७
अवाधा-कर्मदलनिषेकनिदमप्रदर्शनम् ६८	६८
भोघतो ज्ञानावरणाद्यष्टमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थिति- वन्धमानम् ७१	७१
मार्गणास्वायुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामुत्कृष्ट- स्थितिवन्धमानम् ७३	७३
मार्गणास्वायुप उत्कृष्टस्थितिवन्धमानम् ७९	७९
भोघतोऽष्टमूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिवन्धमानम् ८५	८५
मार्गणास्वायुर्वर्जानां " " ८५	८५
मार्गणास्वायुपो " " ८३	८३
अत्र ग्रन्थेऽधिकृतमार्गणास्थानयन्त्रम् ९७	९७
भोधाऽऽदेशतः स्थितिवन्धप्रमाणप्रदर्शकयन्त्राणि ९८	९८

❀ स्वामित्वद्वारम् ❀

भोघत आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिवन्ध- स्वामिनः १०५	१०५
भोघत आयुप उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनः १०८	१०८
मार्गणास्वायुर्वर्जसप्तानाम् " " ११०	११०
मार्गणास्वायुपः " " १२१	१२१
भोघतोऽष्टप्रकृतीनां जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनः १२५	१२५
मार्गणास्वायुर्वर्जानां " " १२७	१२७
मार्गणास्वायुपः " " १३४	१३४
स्वामित्वप्रदर्शकयन्त्रकाणि १३६	१३६

❀ साद्यादिद्वारम् ❀

(एकजीवमाश्रित्य)

भोघतोऽष्टमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टा-ऽमुत्कृष्ट-जघ- न्या-ऽजघन्यस्थितिवन्धानामेकजीवमाश्रित्य साद्य-नादि-ध्रुवाऽधुबत्वप्रदर्शनम् १४५	१४५
मार्गणास्वष्टानां मूलप्रकृतीनां तत् १४७	१४७
साद्यादिप्रदर्शकयन्त्रकम् १४८	१४८

विषयः

पृष्ठाङ्कः

कालद्वारम्

(एकजीवमाश्रित्य)

ओषधौ आयुर्वर्जसमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्ट- स्थितिवन्धयोर्जघन्योत्कृष्टकालः	१४९
ओषधौ मार्गणासु चायुष उत्कृष्टानुत्कृष्टस्थिति- बन्धयोः स०	१५१
मार्गणास्वायुर्वर्जानां सः	१५३
मार्गणानामेकजीवाश्रया उत्कृष्टकायस्थितिः	१६४
" " जघन्यकायस्थितिः	१७८
ओषधौऽष्टमूलप्रकृतीनां जघन्या-ऽजघन्य- स्थितिवन्धयोर्जघन्योत्कृष्टकालः	१८४
मार्गणास्वायुषस्तयोः " " " " " "	१८५
मार्गणास्वायुर्वर्जानां " " " " " "	१८६
मार्गणानामेकजीवाश्रयकायस्थितियन्त्रम्	१९४
मार्गणासु जघन्योत्कृष्टभवस्थितियन्त्रम्	१९५
कालप्रदर्शकयन्त्रकाणि	१९६

अन्तरद्वारम्

(एकजीवमाश्रित्य)

ओषधौऽष्टमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थिति- बन्धयोर्जघन्योत्कृष्टान्तरम्	२०१
मार्गणास्वायुर्वर्जानाम् " " " " " "	२०४
मार्गणास्वायुषः " " " " " "	२११
ओषधौऽष्टकर्मणां जघन्या-ऽजघन्यस्थिति- बन्धयोस्तन्	२२१
मार्गणास्वायुर्वर्जानां " " " " " "	२२३
मार्गणास्वायुषो " " " " " "	२३०
अन्तरप्रदर्शकयन्त्रकाणि	२३५

संनिकर्षद्वारम्

ओषधौऽष्टानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिवन्ध- संनिकर्षः	२४३
मार्गणास्वष्टानाम् " " " " " "	२४५
ओषधौऽष्टानां जघन्या-ऽजघन्यस्थिति- संनिकर्षः	२५०
मार्गणास्वष्टानां " " " " " "	२५१
संनिकर्षप्रदर्शकयन्त्रकाणि	२५२

विषयः

पृष्ठाङ्कः

भङ्गविचयद्वारम्

एका-ऽनेकाविषयबन्धका-ऽबन्धकनिष्पन्ना-ऽष्टविध- भङ्गस्वरूप तत्रोपयोग्यबन्धकस्वरूपरुच	२५६
ओषधौऽष्टानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्भङ्गविचयः	२६०
मार्गणास्वायुर्वर्जानाम् " " " " " "	२६१
तत्तद्भङ्गोत्पत्तिमार्गाः	२६२
मार्गणास्वायुष उत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्भङ्गविचयः	२६७
ओषधौऽष्टानां जघन्या-जघन्यस्थित्योर्भङ्गविचयः	२६८
मार्गणास्वायुर्वर्जानां " " " " " "	२६९
भङ्गविचययन्त्रकम्	२७०
मार्गणास्वायुषो जघन्या-जघन्यस्थित्योर्भङ्गविचयः	२७९

भागद्वारम्

ओषधौऽष्टमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्यो- र्बन्धकभागाः	२७३
मार्गणास्वायुर्वर्जानाम् " " " " " "	२७४
मार्गणास्वायुष " " " " " "	२७५
ओषधौऽष्टप्रकृतीनां जघन्या-ऽजघन्यस्थित्योस्ते	२७७
मार्गणास्वायुर्वर्जानां " " " " " "	२७८
मार्गणास्वायुषो " " " " " "	२८१
भागप्रदर्शकयन्त्रम्	२७९

परिमाणद्वारम्

ओषधौऽष्टमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टैतरस्थित्योर्बन्धक- परिमाणम्	२८२
मार्गणासु आयुर्वर्जानाम् " " " " " "	२८९
" आयुष " " " " " "	२८५
ओषधौऽष्टानां जघन्या-ऽजघन्यस्थित्योस्तन्	२८८
मार्गणासु आयुर्वर्जानां " " " " " "	२८८
" आयुषो " " " " " "	२९१
परिमाणप्रदर्शकयन्त्रम्	२९२

क्षेत्रद्वारम्

ओषधौऽष्टमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्यो- र्बन्धकक्षेत्रं क्षेत्र-स्पर्शनयोर्विशेषश्च	२९५
--	-----

विषयः	पृष्ठाङ्कः
मार्गणास्वायुर्वर्जानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकक्षेत्रम्	२९६
मार्गणासु आयुर्वर्जानामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकक्षेत्रम्	२९९
“ आयुष उत्कृष्टस्थितेः बन्धकक्षेत्रम्	३०१
“ “ अनुत्कृष्टस्थितेः “	३०२
भोघतोऽष्टानां जघन्या-ऽजघन्यस्थित्योः “	३०३
मार्गणास्वायुर्वर्जानां “ “ “ “	३०४
मार्गणास्वायुषो “ “ “ “	३०७
क्षेत्रप्रदर्शकयन्त्रं	३०८

* स्पर्शनाद्वारम् *

भोघत आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट- स्थित्योर्बन्धकानां स्पर्शना, स्पर्शनोपपत्तिमार्गाः स्पर्शनाया विषयनिर्धारणं च	३१०
भोघत आयुष उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थित्योः बन्धकस्पर्शना	३१५
मार्गणासु आयुर्वर्जानामुत्कृष्टस्थितेः “	३१६
“ “ अनुत्कृष्टस्थितेः “	३२२
“ आयुष उत्कृष्टस्थितेः “	३२४
“ “ अनुत्कृष्टस्थितेः “	३२६
भोघतोऽष्टानां जघन्या-ऽजघन्यस्थित्योः “	३२९
मार्गणासु आयुर्वर्जानां जघन्यस्थितेः “	३२९
“ “ अजघन्यस्थितेः “	३३२
“ आयुषो जघन्यस्थितेः “	३३३
स्पर्शनाप्रदर्शकयन्त्रकाणि	३३४
मार्गणास्वायुषो जघन्यस्थितेर्बन्धकस्पर्शना	३३९

* कालद्वारम् *

(नानाजीवानामित्य)

भोघत आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट- स्थितिबन्धयोर्जघन्योत्कृष्टकालः	३३९
अनाधिकृतविषयविशेषेणैकजीवाश्रयकालस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तत्वेऽपि नानाजीवाश्रयजघन्य- कालस्य समयमात्रतोपपादने तत्र स्थापना च	३४०
भोघत आयुष उत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थित्योः जघन्योत्कृष्टकालः	३४३
मार्गणासु आयुर्वर्जानामुत्कृष्टस्थितेः “ “	३४३

विषयः	पृष्ठाङ्कः
मार्गणास्वायुर्वर्जानामनुत्कृष्टस्थितेः “ “	३४६
“ आयुष उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थित्योः “	३५०
भोघतोऽष्टानां जघन्या-ऽजघन्यस्थित्योः “	३५३
मार्गणासु आयुर्वर्जानाम् जघन्यायाः स्थितेः “	३५४
“ “ अजघन्यस्थितेः “	३५८
“ आयुषो जघन्या-ऽजघन्यस्थित्योः “	३५९
नानाजीवाश्रयकालप्रदर्शकयन्त्रकाणि “	३६१

* अन्तरद्वारम् *

(नानाजीवानामित्य)

भोघतोऽष्टमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योः जघन्योत्कृष्टान्तरम्	३६६
मार्गणासु आयुर्वर्जसप्तानामुत्कृष्टस्थितेः “	३६६
“ “ अनुत्कृष्टस्थितेः “	३६८
“ आयुष उत्कृष्टस्थितेः “	३७०
“ “ अनुत्कृष्टस्थितेः “	३७१
भोघतोऽष्टानां जघन्या-ऽजघन्यस्थित्योः “	३७४
मार्गणासु आयुर्वर्जानां जघन्यस्थितेः “	३७५
“ “ अजघन्यस्थितेः “	३७८
“ आयुषो जघन्या-ऽजघन्यस्थित्योः “	३७८
नानाजीवाश्रयाऽन्तरप्रदर्शकयन्त्राणि	३८०

* भावद्वारम् *

भोघाऽऽदेशतोऽष्टानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टादि- चतुर्विधस्थितिबन्धे भावः	३८३
भावप्रदर्शकयन्त्रम्	३८४

* अल्पहृत्वद्वारम् *

भोघतोऽष्टमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थिति- बन्धपदद्वये बन्धकाल्पबहुत्वम्	३८५
मार्गणास्वायुर्वर्जानां “ “ “ “	३८५
मार्गणास्वायुषः “ “ “ “	३८७
भोघतोऽष्टानां जघन्या-ऽजघन्यस्थितिबन्ध- पदद्वये बन्धकाल्पबहुत्वम्	३८९
मार्गणासु आयुर्वर्जानां “ “ “ “	३८९
“ आयुषः “ “ “ “	३९०
भोघतोऽष्टानां जघन्योत्कृष्टाऽजघन्यानुत्कृष्ट-	

विषयः	पृष्ठाङ्कः
स्थितिवन्धलक्षणे पदत्रये बन्धकाल्पबहुत्वम्	३९१
मार्गणासु आयुर्वर्जानां " " " "	३९२
" आयुषः " " " "	३९६
भोघतोऽष्टानां मूलप्रकृतीनां स्वस्थाने जघन्योत्कृष्ट- स्थितिवन्धप्रमाणाल्पबहुत्वम्	३९९
" आयुषः " " " " "	४०२
भोघतोऽष्टानां मूलप्रकृतीनां परस्थाने उत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणाल्पबहुत्वम्	४०३

विषयः	पृष्ठाङ्कः
मार्गणास्वष्टानां परस्थाने " " "	४०४
भोघतोऽष्टानां परस्थाने " " "	४०७
जघन्यस्थितिवन्धप्रमाणाल्पबहुत्वम्	४०८
मार्गणास्वष्टानां परस्थाने " " "	४१२
भोघतोऽष्टानां परस्थाने जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणाल्पबहुत्वम्	४१३
मार्गणास्वष्टानां परस्थाने " " "	४१४
अल्पबहुत्वयन्त्रकाणि	४२४

❀ तृतीयो भूयस्काराधिकारः ❀

(पृष्ठ ४३३ तः ५१८)

सत्पदादित्रयोदशद्वाराणां नामनिर्देशः ४३३

❀ सत्पदद्वारम् ❀

भोघतोऽष्टमूलप्रकृतीनां स्थितिवन्धभूयस्कारादि- सत्पदानि स्थितिवन्धभूयस्कारादयः स्वरूपतश्च	४३४
मार्गणास्वायुर्वर्जानां स्थितिवन्ध- भूयस्कारादिसत्पदानि	४३६
मार्गणास्वायुषः " " "	४३७
स्थितिवन्धभूयस्कारादिसत्पदयन्त्रम्	४३९

❀ स्वामित्वद्वारम् ❀

भोघतोऽष्टमूलप्रकृतीनां स्थितिवन्धभूयस्कारादिस्वामिनः	४४१
मार्गणास्वष्टानां " " "	४४२
स्वामित्वयन्त्रम्	४४२

❀ कालद्वारम् ❀

(एकजीवाधितम्)

भोघतो मार्गणासु चाऽऽयुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्य- स्थितिवन्धयोर्जघन्योत्कृष्टकालः	४४३
भोघत आयुर्वर्जानां भूयस्कारादिचतुर्विधस्थिति- बन्धानां जघन्योत्कृष्टकालः	४४५
मार्गणास्वायुर्वर्जानां भूयस्कारादिचतुर्विधस्थिति- बन्धस्य जघन्यकालः	४४८
मार्गणासु आयुर्वर्जानां भूयस्कारस्थितिवन्धोत्कृष्ट- कालः	४४८

मार्गणासु अल्पतरस्थितिवन्धोत्कृष्टकालः	४५१
" " अवस्थितस्थितिवन्धोत्कृष्टकालः	४५३
अवक्तव्यस्थितिवन्धोत्कृष्टकालः	४५३
विषयान्तरेण भूयस्कारादिप्ररूपणे दिक्	४५३
आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां भूयस्कारादिचतुर्विधस्थिति- बन्धस्य कालप्रदर्शकं यन्त्रम्	४५५
आयुषोऽल्पतराऽवक्तव्यस्थितिवन्धयोः काल- प्रदर्शकं यन्त्रम्	४५९

❀ अन्तरद्वारम् ❀

(एकजीवमाधित्य)

भोघतोऽष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थिति- बन्धानां जघन्योत्कृष्टान्तरम्	४५७
तत्तदन्तरोपपत्तिमार्गाः	४५७
मार्गणास्वायुर्वर्जानां भूयस्कारा-ऽल्पतरस्थितिवन्ध- जघन्योत्कृष्टान्तरम्	४६०
मार्गणासु आयुर्वर्जानामवस्थितस्थितिवन्धस्य, "	४६१
" " अवक्तव्यस्थितिवन्धस्य "	४६३
" आयुषो द्विविधस्थितिवन्धस्य	४६५
अन्तरप्रदर्शकं यन्त्रम्	४६९

❀ भङ्गविचयद्वारम् ❀

भोघतोऽष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थिति- बन्धपदानां भङ्गविचयोपयोगिनो ध्रुवत्वादिकस्य प्रतिपादनम्	४७१
--	-----

विषयः	पृष्ठाङ्कः
मार्गणाम् आयुर्वर्जसप्तानां तत्प्रतिपादनम्,	४७१
„ आयुपस्तनप्रतिपादनम्	४७४
अधुःषपदैर्भङ्गोत्पादनाय करणम्	४७५
करणयोजनत्वा भङ्गोत्पत्तिः	४७६
एकसंयोगादिभङ्गानां पृथक्पृथगुत्पत्तौ करण- न्तरम्	४७८
तदनुसारेणौषधिकसन्धक्त्वमार्गणायां सप्तकर्मणां भूयस्कारादिबन्धकानां भङ्गोत्पादनम्	४७८
तदनुसारेण भजनीयपद्त्रये भङ्गोत्पत्तौ स्थापना	४८०
भङ्गविचयप्रदर्शकं यन्त्रम्	४८०

❀ भागद्वारम् ❀

ओघतोऽष्टानां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकभागः	४८१
मार्गणास्वायुर्वर्जानां ” ” ” ”	४८२
मार्गणास्वायुषो ” ” ” ”	४८३
भागप्रदर्शकं यन्त्रकम्	४८४

❀ परिमाणद्वारम् ❀

ओघतोऽष्टानां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकानां परिमाणम्	४८५
मार्गणास्वायुर्वर्जसप्तानां ” ” परिमाणम्	४८५
मार्गणास्वायुषः ” ” ” ”	४८६
परिमाणप्रदर्शकं यन्त्रम्	४८७

❀ क्षेत्रद्वारम् ❀

ओघतोऽष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थिति- बन्धकानां क्षेत्रम्	४८८
मार्गणास्वायुर्वर्जसप्तानां ” ”	४८९
मार्गणास्वायुषोऽल्पतरादिस्थितिबन्धकक्षेत्रम्	४९०
क्षेत्रप्रदर्शकं यन्त्रम्	४९१

❀ स्पर्शनाद्वारम् ❀

ओघतोऽष्टप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थिति- बन्धकस्पर्शना	४९२
मार्गणास्वायुर्वर्जसप्तानाम् ” ”	४९३

विषयः	पृष्ठाङ्कः
मार्गणास्वायुषोऽल्पतरादिस्थितिबन्धकस्पर्शना	४९६
स्पर्शनाप्रदर्शकं यन्त्रकम्	४९८

❀ कलिद्वारम् ❀

(नानाजीवानांस्थि)

ओघतोऽष्टानां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकालः	४९९
मार्गणास्वायुर्वर्जानामवक्तव्यस्थितिबन्धकालः	४९९
भूयस्कारादिस्थितिबन्धनानाजीवाश्रयकालोपपत्तिः	५००
मार्गणास्वायुर्वर्जानां शेषभूयस्कारादित्रिविध- स्थितिबन्धजघन्योत्कृष्टकालः	५०१
मार्गणास्वायुषोऽवक्तव्या-ऽल्पतरद्विविधस्थिति- बन्धजघन्योत्कृष्टकालः	५०३
कालप्रदर्शकं यन्त्रम्	५०५

❀ अन्तरद्वारम् ❀

(नानाजीवानांस्थि)

ओघतोऽष्टानां भूयस्कारादिस्थितिबन्धान्तरम्	५०६
मार्गणास्वायुर्वर्जानामवक्तव्यस्थितिबन्धान्तरम्	५०६
„ „ शेषत्रिविधस्थितिबन्धान्तरम्...	५०७
मार्गणास्वायुषो द्विविधस्थितिबन्धान्तरम्	५०७
अन्तरप्रदर्शकं यन्त्रम्	५१०

❀ भावद्वारम् ❀

ओघा-ऽऽदेशतोऽष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादि- स्थितिबन्धे भावः	५१०
तत्राऽऽक्षेप-परिहाराः	५११

❀ अल्पबहुत्वद्वारम् ❀

ओघतोऽष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थिति- बन्धकानामल्पबहुत्वम्	५१२
मार्गणास्वायुर्वर्जप्रकृतीनां ” ”	५१३
मार्गणास्वायुषः ” ”	५१७
अल्पबहुत्वयन्त्रकम्	५१८

❀ चतुर्थः पदनिक्षेपाधिकारः ❀

(पृष्ठ ५१९ तः ५४२)

विषयः	पृष्ठाङ्कः	विषयः	पृष्ठाङ्कः
मगदादिद्वारनामनिर्देशः ५१९	ओघाऽऽदेशतो जघन्यवृद्धयादित्रिविधस्थिति- बन्धस्वामिनः ५३२
❀ सत्पदद्वारम् ❀		❀ अल्पबहुत्वद्वारम् ❀	
ओघतो मार्गणासु चोत्कृष्टपदे स्थितिवन्धवृद्धि- हान्यऽवस्थानसत्पदप्रदर्शनम् ५१९	ओघत उत्कृष्टस्थितिवन्धवृद्धयादिपदेष्वल्प- बहुत्वम्	५३५
ओघतो मार्गणासु च जघन्यपदे स्थितिवन्धवृद्धि- हान्य-वस्थानसत्पदप्रदर्शनम् ५२१	मार्गणासु ५३५
❀ स्वामित्वद्वारम् ❀		ओघतो मार्गणास्थानेषु च जघन्यस्थितिवन्ध- वृद्धयादिपदेष्वल्पबहुत्वम् ५४०
ओघत उत्कृष्टस्थितिवन्धवृद्धिस्वामिनः ५२२	उत्कृष्टस्थितिवन्धवृद्धयादिपदेषु सत्पद-स्वामित्वा- ऽल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रकम् ५४१
चतु स्थानिकरसबन्धकस्थापनापेक्षया यवचित्रम्	५२३	जघन्यस्थितिवन्धवृद्धयादिपदेषु सत्पद-स्वामि- त्वाऽल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रकम् ५४२
ओघत उत्कृष्टस्थितिवन्धहानिस्वामिनः ५२४		
उत्कृष्टस्थितिवन्धाऽवस्थानस्वामिनः ५२५		
मार्गणासु उत्कृष्टस्थितिवन्धवृद्धयादित्रिविध- स्वामिनः ५२६		

❀ पञ्चमो वृद्धयधिकारः ❀

(पृष्ठ ५४३ तः ६२४)

सत्पदादित्रयोदशद्वारनामनिर्देशः ५४३	अपगतवेद-सूक्तसम्परायसंयममार्गणयोस्तत्	५५०
❀ सत्पदद्वारम् ❀		शेषमार्गणासु सत्पदप्रदर्शनम् ५५१
आयुषोऽसंख्यभागस्थितिवन्धहान्य-वक्तव्ययोः सत्पद-स्वामित्वादित्रयोदशद्वारविषयकवक्तव्य- ताया अतिदेशद्वारेण कथनम् ५४४	❀ स्वामित्वद्वारम् ❀	
आयुर्वृत्तमूलककृतीनां स्थितिवन्धाऽवक्तव्या- ऽवस्थाः सत्पद-स्वामित्वादिद्वादशद्वारविषय- यायाः सर्ववक्तव्यताया अतिदेशेनैव निष्ठावनम्	५४५	ओघतोऽसंख्यभागस्थितिवन्धवृद्धिहानिस्वामि- संख्येयगुणभागस्थितिवन्धवृद्धिहानिस्वामि०	५५२
ओघतः सप्तकर्मणां संख्येया-ऽसंख्येयभाग-गुणवृद्धि- हानिसत्पदप्रदर्शनं, तुल्यवक्तव्यत्वान्मनुष्यगत्यो- घादिकतिपयमार्गणास्थनिर्देशेन तत्कथनं च ५४६	ओघतोऽसंख्यगुण- ५५३
संख्येयभागप्रभृतिवृद्धयादिसत्पदोपपत्तिः	५४७	मार्गणासु संख्यगुणवृद्धयादिसत्पदस्वामि०	५५४
एकेन्द्रियादमार्गणाभेदेष्वेकविधवृद्धिहानि- सत्पद० विकलेन्द्रियमार्गणाभेदेषु द्विविधवृद्धि- हानिसत्पद० प्रदर्शनम् ५४९	❀ कालद्वारम् ❀	
		(एकजीवमाश्रित्य)	
		ओघतश्चतुर्विधवृद्धिहानीनां द्विविधकालः	५५८
		चतुर्विधवृद्धिहानिद्विविधकालोपपत्तयः ५५९
		मार्गणासु चतुर्विधवृद्धिहानिद्विविधकालः	५६०

विषयः	पृष्ठाङ्कः
* अन्तरद्वारम् *	
(एकजीवमाश्रित्य)	
भोघतस्तत्तद्बृद्धिहानीनां जघन्यान्तरम्	५६१
" " " उत्कृष्टान्तरम्	५६२
मार्गणासु " " जघन्यान्तरम्	५६४
" " असंख्यगुणबृद्धिहान्युत्कृष्टान्तरम्	५६५
" संख्येय-गुणभागबृद्धिहान्युत्कृष्टान्तरम्	५६८
" असंख्यभाग- " " "	५७०

* भङ्गविचयद्वारम् *	
भोघतस्तत्तद्बृद्धिहानीनां भङ्गविचयोपयोगिनो	
ध्रुवाऽध्रुवत्वस्य प्रदर्शनम्	५७२
तस्यैव मार्गणास्थानेषु प्रदर्शनम्	५७२
ध्रुवा-ऽध्रुवपदैर्भङ्गोत्पादने करणम्	५७३
करणयोजनया लब्धभङ्गविचयः	५७५

* सारद्वारम् *	
भोघतस्तत्तद्बृद्धिहानिबन्धकभागाः	५७८
मार्गणासु " " " "	५७९

* परिमाणद्वारम् *	
भोघतस्तत्तद्बृद्धिहानिबन्धकपरिमाणम्	५८१
मार्गणासु " " " "	५८१

* क्षेत्रद्वारम् *	
भोघतस्तत्तद्बृद्धिहानिबन्धकक्षेत्रम्	५८४
मार्गणासु " " " "	५८५

* स्पर्शनाद्वारम् *	
भोघतस्तत्तद्बृद्धिहानिबन्धकस्पर्शना	५८७
मार्गणासु " " " "	५८७

* कालद्वारम् *	
(नानाजीवानाश्रित्य)	
भोघतस्तत्तद्बृद्धिहानिजघन्योत्कृष्टकालः	५८९
तत्तद्बृद्धिहानिकालोपपत्तयः	५९०

विषयः	पृष्ठाङ्कः
मार्गणास्वसंख्यभाग-बृद्धिहानिद्विविधकालः	५९१
" संख्येयगुणभाग- " " "	५९२
" असंख्यगुण- " " "	५९३

* अन्तरद्वारम् *	
(नानाजीवानाश्रित्य)	
भोघतस्तत्तद्बृद्धिहानिजघन्योत्कृष्टान्तरम्	५९४
तत्र जघन्यान्तरोपपत्तिः	५९५
उत्कृष्टान्तरोपपत्तिः	५९६
मार्गणास्वसंख्यभागबृद्धिहानिजघन्यान्तरम्	५९७
" " " " बृद्धिहान्युत्कृष्टान्तरम्	५९८
मार्गणासु संख्येयगुणभागबृद्धिहानि- जघन्योत्कृष्टान्तरम्	५९९
" असंख्यगुणबृद्धिहानि- " "	६०१

* भावद्वारम् *	
भोवा-ऽऽदेशतस्तर्षविधस्थितिवन्धबृद्धिहानिषु	
भावः	६०३

* अल्पबहुत्वद्वारम् *	
भोघत आयुर्वर्जसप्तसूत्रप्रकृतीनामसंख्यभा- संख्येयभाग-संख्येयगुणाऽसंख्यगुणस्थितिश्च च बृद्धिहानिस्थितिवन्धायस्थानाऽवक्तव्यलक्षण-	
दशविधपदान्यधिकृत्य बन्धकाल्पबहुत्वम्	६०४
एतदेव मार्गणास्थानेषु	६०६
तत्र नरकगत्योवादिमार्गणास्थानेषु	६०६
तिर्यग्गत्योवादि " "	६१०
पञ्चेन्द्रियतिर्यगोवादि " "	६१०
मनुष्यगत्योवादिमार्गणास्थानेषु	६११
इन्द्रियकायसत्कमार्गणास्थानेषु	६११
वेद-संयममार्गणास्थानेषु	६१३
औपशानिकमन्यक्त्वे शेषमार्गणासु च	६१४
बृद्धिपरिधिकारयन्त्रकाणि	६१७ ६२४

❀ षष्ठोऽध्यायसप्तसमुदाहारः ❀

(पृष्ठ ६२५ तः ६६३)

विषयः	पृष्ठाङ्कः
स्थितिसमुदाहारादिद्वारनामनिर्देशस्तत्स्वरूपञ्च	६२५
❀ स्थितिसमुदाहारः ❀	
स्थितिवन्धस्थानेष्वध्यवसायप्रगणना	६२५
धनन्तरोपनिधापरम्परोपनिधाभ्यां तत्प्ररूपणा	६२६
समस्ताऽध्यवसायद्विगुणहानिस्थान-तदेकान्तर- प्रमाणे तयोरल्पबहुत्वं च	६२८
अल्पबहुत्वे भाक्षेय परिहारौ	६२९
तत्रोत्तरपक्षे सूचिभ्रंशः छेदनकोपपादनम्	६३०
प्रसङ्गत्विचित्रिधपल्योपमसागरोपमस्वरूप-प्रयो- जननिरूपणम्	६३१
अनुकृष्टिद्वारमाश्रित्य स्थितिवन्धाध्यवसाया- ऽनुकृष्टेः प्रतिषेधनम्	६३४
तत्राऽसत्कल्पना	६३५
असत्कल्पनया स्थितिवन्धस्थानेष्वध्यवसायानां स्थापना	६३६
स्थितिवन्धाऽध्यवसायाऽनुकृष्टिप्रतिषेधे कर्म- प्रकृतिचूर्णि-महाबन्धयोरेकधाक्यताप्रदर्शनम्	६३६
पटुशब्दकारवचनस्य अनुकृष्टिप्रतिषेधार्थकतया एव युज्यमानत्वेऽपि तत्र केषाञ्चिदन्यथान्याख्या- नेऽरुचिप्रदर्शनम्	६३८
स्थितिवन्धाध्यवसायानां तीव्रमन्दताप्रदर्शनम्	६३८
❀ प्रकृतिसमुदाहारः ❀	
ज्ञानावरणादिप्रकृतीरधिकृत्य स्थितिवन्धाध्यव- सायप्रमाणाऽल्पबहुत्वे	६३९
❀ जीवसमुदाहारः ❀	
साता-ऽसातवेदनीयद्वित्रिचतुःस्थानिकरसभेदात् स्थितिवन्धकजीवविभाजनम्	६४१

विषयः	पृष्ठाङ्कः
तेषां षोढा विभक्तजीवानां बन्धप्रायोग्यस्थिति- स्थानानां प्रदर्शनम्	६४२
कर्मप्रकृतिसंमहपयनुभागबन्धचूर्णिप्रत्येन विरो- धाऽऽशङ्का	६४४
चूर्णिमन्धानुसारेण साता-ऽसातवेदनीया-ऽऽक्रान्त- स्थितिषु द्विस्थानिकादिरसबन्धाध्यवसायानां- स्थापना	६४६
चूर्णिविरोधाऽऽशङ्कायाः परिहारः	६४७
साता-ऽसातवेदनीयद्वित्रि-चतुःस्थानिकरसाना- मेकैकविधरसबन्धप्रायोग्यस्थितिस्थानेषु बन्धक- परिमाणमनन्तरोपनिधया	६४८
एतदेव परम्परोपनिधया	६५०
तत्र बन्धकद्विगुणवृद्धिहानयः प्रमाणतः, द्विगुण- वृद्धिहानिस्थान-तदेकान्तरयोरल्पबहुत्वञ्च	६५२
साता-ऽसात-द्विस्थानिकादिरसबन्धप्रायोग्यभेदान् षोढा विभक्तस्थितिवन्धस्थानानां साकाराद्युपयोग- प्रायोग्यत्वभेदालुनर्धिभाजनम्	६५३
साकाराद्युपयोग-तत्तद्रसबन्धादिपदार्थान्तरयोगेन विभक्तानि षोडशविधस्थितिवन्धस्थानानि, साता- ऽसातवेदनीयत्रयन्योत्कृष्ट-तद्यत्स्थितिभेदादष्टविध- स्थितिवन्धाः, यत उत्कृष्टद्वयं लभ्यते सा स्थितिः, उत्कृष्टद्वयेनोत्कृष्टद्वयस्थितिः, उत्कृष्टपदगताऽन्तः कोटीकोटीस्थितिरित्येवं सप्तविंशतिपदानामल्प- बहुत्वम्	६५३
तस्यैव सप्तविंशतिपदाल्पबहुत्वस्य यन्त्रम्	६५९
" " चित्रम्	६६१
सप्तविंशतिपदाल्पबहुत्वं मतान्तरेण	६६२
उक्तसाता-ऽसातद्विस्थानिकादिरसबन्धभेदात् षोढाविभक्तानां जीवानामल्पबहुत्वम्	६६३

❀ टीकाकृतप्रशस्तिः ❀

(पृष्ठ ६६५ तः ६७२)

वरमतीर्थपतिश्रीवर्धमानस्वामि-गौतमादि- गणधर-सुभर्मस्वामि जन्मून्वाभ्यादिपट्टपरम्परया टीकाकारगुरुपर्यन्तानां प्रशस्तयः	६६५-६६८
टीकानिष्ठापनकाल-स्थलादि	६६८

टीकासशोधकप्रशस्तिः	६६८
भाग्यभूषणसहायकप्रशस्तिः	६६९
तत्र मरुधरवरामण्डनश्रीपिण्डवादाऽऽहृत- सङ्गशुभकार्यवर्णनम्	६६९-६७२

विषयः	पृष्ठाङ्कः	विषयः	पृष्ठाङ्कः
ग्रन्थगतजिनवचनानीनस्खलिताभ्यधिकृत्य मिथ्या- दुष्कृतप्रदानम्, आशिर्वचनम्, टीकाविरचनोपाचन-		कुंशकर्मणा भव्यजगतः स्थिति- बन्धोच्छेदसमिच्छनम्, ग्रन्थार्थं च	६७२

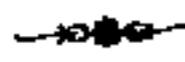
* परिशिष्टानि *

प्रथमे परिशिष्टे टीकागतानां ग्रन्थान्तरावतर- णानां स्थानानि १-२	गाथाऽवलम्ब्येकदेशः २
द्वितीये परिशिष्टे—'उद्योगोऽणागारे' इत्यादि- (५८५)गाथोक्तसाकारा-ऽनाकारोपयोगपदार्थ- विषयकशङ्कासमाधानप्रतिपादनस्यः श्रीमन्मुनि- चन्द्रसूरिपादप्रणीतकर्मप्रकृतितूर्णितोपनस्य- 'अणमारण्यान्तो' स्यादिकर्मप्रकृतिबन्धनकरण-	तृतीये परिशिष्टे—परिमाणादितत्तद्द्वारेषु तद्वृत्त्यादौ नरकगत्योधादिसप्तत्युत्तरशतमार्गणा- स्वविशेषेणाऽभिहितस्य संख्येयाऽसंख्येयावि- लक्षणस्य बन्धकपरिमाणस्य विशेषेणाऽपबोधार्थं सावच्चरिङ्गं ब्रह्मप्रमाणप्रकरणम् ३५



२६. आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामजघन्यस्थितेरेकजीवाश्रयजघन्योत्कृष्टद्विविधकालप्रदर्शकं यन्त्रम् .	१९९
२७. आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिवन्धयोरेकजीवाश्रयह्रस्व-दीर्घान्तरप्रदर्शकं यन्त्रकम्	२३५
२८. आयुःकर्मणो उत्कृष्टस्थितिवन्धस्यैकजीवाश्रयह्रस्व-दीर्घान्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् .	२३६
२९. आयुःकर्मणोऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य " " " " .	२३७
३०. आयुषो जघन्या-ऽजघन्यस्थितिवन्धयोरेकजीवाश्रयह्रस्व-दीर्घान्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् .	२३८
३१. आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां जघन्यस्थितेरेकजीवाश्रयह्रस्व-दीर्घान्तरप्रदर्शकं यन्त्रम्	२३९
३२. " " " अजघन्यस्थितेरेकजीवाश्रयह्रस्व-दीर्घान्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् .	२४०
३३. आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धे संनिकर्षप्रदर्शकं यन्त्रकम् " " " .	२४२
३४. आयुःकर्मणो " " " " " " .	२४३
३५. अष्टमूलप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धे " " " " .	२४४
३६. अष्टमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टादिस्थितिवन्धकानां भङ्गविचयप्रदर्शकं यन्त्रकम् .	२७०
३७. अष्टमूलप्रकृतीनाम् उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थितयोर्वन्धकानां भागप्रदर्शकं यन्त्रकम् .	२७२
३८. " " " जघन्याऽजघन्यस्थितयोः " " " " .	२८०
३९. अष्टमूलप्रकृत्युत्कृष्टाऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यस्थितिवन्धकानां परिमाणप्रदर्शकं यन्त्रम् .	२९२
४०. " " " " " " " क्षेत्रप्रदर्शकं यन्त्रम् .	३०८
४१. आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां रशनाप्रदर्शकं यन्त्रम् .	३३५
४२. " " " " जघन्या-ऽजघन्या-ऽनुत्कृष्टत्रिविधस्थितिवन्धकानां रशनायन्त्रम् .	३३६
४३. आयुष उत्कृष्ट-जघन्यस्थितयोः प्रत्येकं वन्धकानां रशनाप्रदर्शकं यन्त्रम् .	३३७
४४. आयुषोऽजघन्या-ऽनुत्कृष्टस्थितयोः प्रत्येकं वन्धकानां रशनाप्रदर्शकं यन्त्रम् .	३३८
४५. एकजीवाश्रयस्य कालस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तत्वेऽपि नानाजीवाश्रयस्य तस्य समयमात्रत्वसम्भवे स्थापना .	३४१
४६. आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य नानाजीवाश्रयह्रस्व-दीर्घकालप्रदर्शकं यन्त्रम् .	३५१
४७. " " " प्रत्येकमुत्कृष्टा-ऽजघन्यस्थितिवन्धयोः " " " " .	३६२
४८. " " " प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धस्य " " " " .	३६३
४९. आयुष उत्कृष्ट-जघन्यस्थितिवन्धयोर्नानाजीवाश्रयह्रस्व-दीर्घकालप्रदर्शकं यन्त्रम् .	३६४
५०. आयुषोऽनुत्कृष्टाऽजघन्यस्थितिवन्धयोर्नानाजीवाश्रयह्रस्व-दीर्घकालप्रदर्शकं यन्त्रम् .	३६५
५१. आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धयोर्नानाजीवाश्रयह्रस्व-दीर्घान्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् .	३८०
५२. आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धस्य नानाजीवाश्रयह्रस्व-दीर्घान्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् .	३८१
५३. आयुष उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यचतुर्विधस्थितिवन्धस्य " " " " .	३८२
५४. अष्टमूलप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टादिचतुर्विधस्थितिवन्धे भावप्रदर्शकं यन्त्रकम् .	३८४
५५. अष्टमूलप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थितयोर्वन्धकानामल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रम् .	४२४
५६. अष्टमूलप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्या-ऽजघन्यस्थितयोर्वन्धकानामल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रम् .	४२५
५७. " " " प्रत्येकमुत्कृष्ट-जघन्य-तदितरस्थितानां वन्धकाल्पबहुत्वयन्त्रम् .	४२६-४२७
५८. " " " परस्थाने जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धपदानामल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रकम् .	४२८-४२९
५९. " " " " जघन्यपदे उत्कृष्टपदे च स्थितिवन्धप्रमाणा-ऽल्पबहुत्वम् .	४३०-४३१
६०. " " " " प्रत्येकं जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणा-ऽल्पबहुत्वयन्त्रम् .	४३२

६१.	अष्टमूलप्रकृतीनां प्रत्येकं भूयस्कारादिचतुर्विधस्थितिवन्धनपदप्रदर्शकं यन्त्रम्	४३९
६२.	" " " " " स्वामित्वाप्रदर्शकं यन्त्रम्	४४२
६३.	आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकं भूयस्कारादिस्थितिवन्धानामेकजीवाश्रयह्रस्व-दीर्घकालप्रदर्शकं यन्त्रम्	४४५
६४.	आयुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धयोरेकजीवाश्रयह्रस्व-दीर्घकालप्रदर्शकं यन्त्रम्	४४६
६५.	आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकं भूयस्कारादिस्थितिवन्धानामेकजीवाश्रयह्रस्व-दीर्घा-ऽन्तरप्रदर्शकं यन्त्रम्	४६१
६६.	आयुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धयोरेकजीवाश्रयह्रस्व-दीर्घा-ऽन्तरकालप्रदर्शकं यन्त्रम्	४७०
६७.	भूयस्कारादित्रिविधबन्धकपदानामध्रुवत्वे मूलोक्तकरणानुसारिणी स्थापना	४८०
६८.	अष्टमूलप्रकृतीनां प्रत्येकं भूयस्कारादिस्थितिवन्धने नानाजीवाश्रयभङ्गविचयप्रदर्शकं यन्त्रकम्	४८०
६९.	" " भूयस्कारादिस्थितिवन्धकानां भागप्रदर्शकं यन्त्रकम्	४८४
७०.	" " " " परिमाण " "	४८७
७१.	" " " " क्षेत्र " "	४९१
७२.	" " " " स्पर्शाना " "	४९८
७३.	" " " " नानाजीवाश्रयकालप्रदर्शकं यन्त्रकम्	५०५
७४.	" " " " नानाजीवाश्रया-ऽन्तरप्रदर्शकं यन्त्रम्	५१०
७५.	" " " " अल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रम्	५१८
७६.	अशुभप्रकृतिचतुःस्थानिकरसबन्धकप्रायोग्यस्थितिवन्धस्थानेषु तद्वन्धकजीवानां स्थापनाऽपेक्षया निष्पन्नाया यथाकृतेचित्रम्	५२३
७७.	आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टपद्गतवृद्धपादीनां सत्यद-स्वामित्वा-ऽल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रम्	५४१
७८.	" " " " प्रत्येकं जघन्यपद्गतवृद्धपादीनां " " " "	५४२
७९.	वृद्धवधिकारे आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां सत्यदावीन्यल्पबहुत्वान्तानि यन्त्राणि	६१७-६२४
८०.	स्थितिवन्धस्थानेषु तत्कारणीभूतानामभ्यवसायानां मन्द-सन्दर्पादिक्रमेणाऽसत्कल्पनया स्थापना.	६३६
८१.	कर्मप्रकृत्यनुभागबन्धचूपयुक्तानुभागबन्धाभ्यवसायानुकृष्टयनुसारेण साता-ऽसातवेदनीयाऽऽकान्त-स्थितिषु द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकरसबन्धाभ्यवसायानां स्थापना.	६४६
८२.	साता-ऽसातवेदनीयाद्वि-त्रि-चतुःस्थानिकरसबन्धकयथादिनानाविषयभेदभिन्नस्थितिवन्धस्थान-साता-ऽसातवेदनीय-जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धादिपदार्थनिष्पन्नानां सप्तविंशतिपदानामल्पबहुत्वयन्त्रम्	६६०
८३.	एतस्यैवालपबहुत्वस्याऽसत्कल्पनया चित्रम्	६६१



★ ग्रन्थपठनात्पूर्वमेव संशोध्या अशुद्धयः ★

पृ०	पं०	अशुद्ध०	शुद्ध०	पृ०	पं०	अशुद्ध०	शुद्ध०
२	६	ससर्जु०	प्रणिन्यु०	४५	१३	पल्योपमसं०	पल्योपमाऽसं०
११	२६	पल्योपमसं०	पल्योपमा-ऽसं०	"	१४	पल्योपमाऽसं०	पल्योपमसं०
३६	९	विशेषाधिक०	संख्येयगुण०	४७	७	वर्गमललक्षण०	वर्गमूलाऽसंख्य-
३७	८	संख्येयगुण०	संख्येयभाग०				भागलक्षण०
४०	१४	स्तुत्यत्वे	स्तुत्यप्रायत्वे				
४१	१०	असंख्येयगुणानि	संख्येयगुणानि	४७	१६	अवाहा ।	जह्णिणया अवाहा ।

पृ०	पं०	अशुद्ध०	शुद्ध०	पृ०	पं०	अशुद्ध०	शुद्ध०
४८	३	पुञ्जुत्तं ।	पुञ्जुत्तं । तथो एग- गुणद्वाणिद्वाणंतरं असंखिञ्जगुणं, कारणं पुञ्जुत्तं	३९२	२३	सप्त-	षण्-
५२	१०	०लक्षणा	०सागरोपमलक्षणा०	३९३	॥	रूपजघन्य०	रूपोत्कृष्ट०
५४	२४	पर्याप्तसंज्ञि०	०पर्याप्तसंज्ञि०	४००	१५	आयुषो	मोहनीयस्य जघन्य- स्थितिवन्धः स्तोकः, स चान्तमुहूर्तमानः, ततस्तस्योत्कृष्टोऽ- संख्येयगुणः, सप्तति- कोटाकोटीसागरोपम- प्रमाणत्वात् । आयुषो
८३	२५	देवनरकप्रायोग्य०	देवनरप्रायोग्य०	४०१	१४	संख्येय०	असंख्येय०
८५	१८	हीनकर्म०	हीनजघन्यकर्म०	४०६	११	०मार्गणाद्वये	०मार्गणासु
८६	२४	यद्यसंज्ञिनां गति०	यद्यसंज्ञिनामागति०	४१२	४	०नेकोननवति-	०शेकनवति-
१०४	३	तावान् दशवर्षसह- स्राणि,	तावान्	४१८	२	वैक्रियकाय०	वैक्रियमिश्रकाय०
१०५	१५	अनुदितनिद्रोदय	अनुदितनिद्र	४५७	१७	०वस्थायां प्रत्या०	०वस्थायामप्रत्या०
१३४	१९	तथा संख्ये०	तथाऽसंख्ये०	४६२	२७	०योगादिचतुःपञ्चा	०योगाद्येकपञ्चा-
१६८	३	पणवय-	पणमण-वय-	४६२	२८	०दिपोडशोत्तर०	०शेकोनविंशत्युत्तर०
१६६	५	०यादधिका,	०यादधिका न लभ्यते तदीयोत्कृष्टकाय- स्थितिः,	४६३	४	०कोनत्रिंशत्०	०कोनचत्वारिंशत्०
१७२	२४	०चक्रवृण	चक्रवृण	॥	७	पोडशाभ्य०	एकोनविंशत्यभ्य०
२१६	१४	समथाना०	समथाधिका०	४६५	१२	०दर्शन-	०दर्शना-धधिदर्शन-
२३५	१	सागरोपम०	१८ सागरोपम०	४७३	१८	०ऽवस्थित०	०ऽवक्तव्य०
२४१	२३	यावत्सप्त-	यावदष्ट-	४७२	२	०मनुष्य-काययोगीध-	०मनुष्य-
२४२	२०	०नुत्कृष्ट०	०जघन्य०	४८५	१०	०सर्वा	०त्रिविधस्थिति-
२४९	२४	०यन्तीति संख्ये०	०यन्तीत्यसंख्येय०	४९६	२६	०द्वारिक०	०द्वारिकी-द्वारिक०
२८१	४	स्थानत्वासंख्येय-	स्थानसंख्येयभाग-	४९७	१४	०त्येवमेक०	०त्येवं द्वि०
		भागरूपदे-	रूपत्वादे-	५००	२८	०माणं संख्येयं	०माणसंख्येयं
२९०	१९	०पुररुत्कृष्ट०	०पुरनुत्कृष्ट०	५०३	२६	०वस्थिता०	०ल्पतरा०
२९१	१२/१३	(उद् पक्षिद्वयमत्र नैव वक्तव्यम्)	नैव वक्तव्यम्)	५०४	२१	प्रतिपिद्धः,	प्रतिपादितः,
३०३	२९	पद्म-अजघन्याः	अजघन्यायाः	५०५	४	०वस्थित०	०ल्पतर०
३१२	१६	सम्पद्यते	सम्पद्यत इति सम- स्ता नव रजजघः स्पर्शना ।	॥	११	०स्तथाऽपर्याप्त०	०स्तथा पर्याप्त०
३३२	८	गणानामुत्कृष्ट०	गणानामनुत्कृष्ट०	५०९	६	निरयगति-	निरयवेगगति-
३३६	७	०सत्कोत्कृष्ट०	०सत्कानुत्कृष्ट०	५१०	यन्त्रे	२ मुहूर्ता	१२ मुहूर्ताः
३७१	१२	-पर्याप्त०	सर्वैकेन्द्रियभेद- पर्याप्त०	५१०	यन्त्रे	सर्वाद्धा	नास्ति
॥	१३	०योघा-ऽपर्याप्त०	०योघ-पर्याप्त०	५१६	१८	अवक्तव्यवन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽल्पतरस्य	संख्येयगुणाः, तेभ्यो- ऽवस्थितस्य
३७९	९	कुतोऽजघन्य०	कुतो जघन्य०	५३१	२४	"पणिदिया"	"एगिदिया"
॥	३२	द्विपष्टघु-	त्रिपष्टघु-	५३६	२३	तिघार्हणं	तिघार्हणं
३९१	४	पञ्चमनो०	सर्वकायभेदाः, पञ्च- मनो०	५३७	१४	०सम्यक्त्वौघो०	०सम्यक्त्वौघ-वेदकौ०

पृ० पं०	अशुद्ध०	शुद्ध०	पृ० पं०	अशुद्ध०	शुद्ध०
५४१	८ तुल्य०	संख्यातगुण०	५७५	१५ ०भेदेषु, अपर्याप्त०	०भेदेषु, सवेदेयभेदेषु,
यन्त्रे	१ संख्यातगुण०	तुल्य०			सर्वपञ्चेन्द्रियतिर्य-
"	चतु- ०प्रथम०	०द्विचरम०	५७५	२८ द्वैयोः,	०भेदेषु, अपर्याप्त०
	धरमा ०द्वितीय०	०चरम०			द्वैयोर्मानुजगतिभेदयो-
५४२	पञ्च ०द्विचरः	०प्रथमः			द्वैयोः,
यन्त्रे	चरम, ०चरम०	०द्वितीय०	५८०	१७ अपर्याप्त०	मनुष्यौघः, अपर्याप्त०
५४९	४ ०लेइया-०भव्य०	०लेइया-भव्य०	५८०	२२ संख्येयभागा-०	संख्येयभाग-
५५०	१८ ०मात्राधिक०	०मात्रहीन०	५८३	२३ ०योगेषु,	०योगेषु, नपुंसकवेद-
५५७	२८ पटुसंयम०	पञ्चसंयम०			कपायचतुष्कयोः,
५६२	२१ जैघन्यः कालः	जैघन्यमन्तरं	५८४	२ त्रिंशदुत्तर०	विंशत्युत्तर०
"	निकालवत्	न्यन्तरवत्	५८५	१२ काययोग०	अत्येकयनस्पतिकायौष-
"	२६ वृद्धिहान्योराट्ट	गुणवृद्धिहानीनामाह-			तदपर्याप्तयोः, काययोग०
५६८	२४ तदेवं...यत्राह-	तदेवं भणितं सप्ता-	५८६	२ वादरा-	वादर-
		नामसंख्यगुणस्थिति-	५९६	७ मेकजीवा०	मनेकजीवा०
		बन्धवृद्धिहान्युत्कृष्टा-	६१२	२० गतपदे०	गतवेद०
		न्तरमादेशतः, अधुना	६१६	५ तेषु संख्येय०	तेषु संख्येय०
		संख्येयभाग-संख्येय-	६१९	त्रिचरमा ६०	९१
		गुणस्थितिवन्धवृद्धि-	६४१	१८ ०वृत्तः सन्न०	०वृत्तयोः सतोर०
		हान्योस्तददार्शयत्राह-	६४६	८ स्थिति०	मिश्रोपयोगे बन्धप्रायो-
५६९	९/१० संख्येयगुण०	संख्येयभागगुण०			ग्याणि स्थिति०
५७१	४ भागादि०	भाग०	६७२	११ यादृभू०	यावद्भू०
"	४ नीनामु०	निपदद्वयम्यो०			
"	५ द्विनवति०	एकनवति०			



वन्धविहाणे
मूलपयडि -

विडम्बन्धो

(मूलप्रकृति-स्थितिवन्धः)

'प्रेमप्रभा'टीकासमलङ्कृतः

॥ ॐ ह्रीं ॐ नमः ॥

॥ श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥

॥ सकलागमरहस्यवेदियरमज्योतिर्विच्छीमद्विजयदानसूरीश्वरसद्गुरुभ्यो नमः ॥

*

卐

*

प्रवचनकौशल्याधार-सुविहिताग्रणी-गच्छाधिपति-परमशासनप्रभावक-सिद्धान्तमहोदधि-
कर्मशास्त्रनिष्णाता-ऽऽचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरपादानां पुण्यतमनिश्चायां
तदन्तेशासिषुन्दविनिर्मितं मुनिश्रीजयघोषविजय-धर्मानन्दविजय-
चौरशेखरविजयसंगृहीतपदार्थकं मुनिश्रीचौरशेखरविजय-
विरचितमूलगाथाकं प्रेमप्रभाटीकाविभूषितम्

बंधविहाणं

तत्र

मुनिश्रीजगन्ध्वजविजयविरचित-
प्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृतः

(मूलपत्रद्वि-)

ठिडबंधो

(स्थितिबन्धः)

卐

('प्रेमप्रभाटीका')—

मथितमोहमहारिपुमीश्वरं , विशदवस्तुविभासविभावसुम् ।
नतसुनाकिनृनाथनिषेधितं , चरमतीर्थपतिं प्रणमाम्यहम् ॥१॥

ध्येया मोक्षार्थिभिर्ये सकलगुणधरा याज्ञतो भव्यवर्गो,
यैः सृष्टं तीर्थमुच्चैर्नम उदयकृते येभ्यआसाश्च नान्ये ।

येषां पादे प्रणेमुः सुरनरपतयो येषु भक्तिः सतां ते ,
पान्तूतीर्णा जिनेन्द्राः परमकरुणया पद्मपादाभितं माम् ॥२॥

श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरगुरुणां प्रभया सम्पन्ना इति सान्दर्भनामा । *द्रुतविलम्बितम् । *सगंधरा ।

१ भव्येभ्यः सुखदां जिनेन्द्रमुखजां वाचं निशम्प्योन्नतां,
प्रव्रज्यां प्रतिपद्य वीरविभवे यैरर्पितं जीवनम् ।
यन्नामाऽपि निहन्ति पापतिमिरं मार्तण्डम्योषवन् ,
वन्देऽहं शिवकाङ्क्षया गणमृतां कृन्दं हि तेषां मुदा ॥३॥

२ शतक-कषायप्राप्त-कर्मप्रकृतीः ससजुराप्ता ये । तावां चूर्णिं वृत्तिं प्रविनेनुश्चूर्णिटीप्पनकम् ॥४॥

३ कर्मग्रन्थांश्चान्यान् कर्मविपाकादिभेदतो भिन्नान् । कृतवन्तो ये Δ कर्मस्वरूपवेद्युडुविसरचन्द्राः ॥५॥

४ विजयन्तां भुवि ते शिवशर्माचार्या-ऽऽर्यमङ्गुगुर्वाद्याः ।

श्रीनागहस्तिपादा नन्दावभिनन्दिताश्च यतिवृषभाः ॥६॥

५ श्रीमन्मुनिचन्द्राश्च श्रीधेवेन्द्रविजयाश्च सूरिवराः । मलयगिरिजयमसमरसभाजो मलयगिरिसूरीन्द्राः ॥७॥

६ मलधारीया हेमाचार्या न्याये विशारदा बन्धे । बुधवर्ष्यशोधिजया यावच्छ्रीप्रेमसूरयो गुरवः ॥८॥
(पञ्चभिः कुलकम्)

*दोषद्रुमाघदाहाय, येन दावानलायितम् । गुणगुल्मप्ररोहाय, मेघधारायितं तथा ॥९॥

*ज्ञातागमरहस्याय, + ज्योतिर्विद्वच्छपायिने । सूरये दानपूर्वाय, तस्मायस्तु नमो नमः ॥१०॥
(युग्मम्)

७ यस्य प्रसादवशतो ग्रन्थमध्यगच्छम् , यस्यान्तिके च वमता स्थिरताऽप्यवाप्ता ।

यस्य ध्रुवं समयशिक्षणतो विबुद्धः, स प्रेमसूरिगुरुराड् जयतात्सदैव ॥११॥

८ कृत्वा तीव्रं तपोऽपि ब्रुवत उपसृतान् मुक्तिमार्गं जनान् ये,

शास्त्राण्यध्यापयन्ति प्रणतमुनिगणं सारयन्ति प्रयासैः ।

पूज्यास्ते मे गुरुणां गुरव उपगता देशनायां पटुत्वम् ,

पंन्यासा भानुयंजा ददतु वरमतिं तर्कशास्त्रे ॐ नदीष्णाः ॥१२॥

९ दुस्मद्यमामं \star सुसमाधिना ये, सोढवा विनाश्याऽशुभकर्मचक्रम् ।

स्वर्गं गतास्तान् हितदान् हितार्थं, पंन्यासपद्माख्यगुरुन् नमामि ॥१३॥

१० भवति खलु जडोऽपि प्राज्ञसेव्यः कवीन्द्रः, कलकवनविश्रायी मंततं यन्प्रसादात् ।

सरससरलटीकां कतुं कामस्य मे सा, श्रुति भवतु देवी भारती भव्यस्फूर्त्यै ॥१४॥

*ग्रन्थेऽस्मिन्नतिगूढार्थे, साहाय्यकं व्रतिव्रजम् । नत्वा स्वपरभद्राय, स्थितिबन्धः प्रतन्यते ॥१५॥

१ शार्ङ्गविक्रीडितम् । २ भार्या । ३ गीतिः । ४ मनुष्यम् । ५ वसंतलिलका । ६ अश्वरा । ७ इन्द्रवज्रा । ८ मातिनी ।
 Δ कर्मस्वरूपस्य वेदिन एव उहूनि=तारकाः, तेषां विसरः=समूहः, तत्र चन्द्रा इव चन्द्राः, शेषाऽतिशायिभास्यस्वादिति ।
+ ज्योतिर्विचारासो गच्छपायीति कर्मधारयस्तत्तन्भ्रुर्षी । ॐ प्रवीण इत्यर्थः, तदुक्तं शेषनाममालायां कलिकालसर्वज-
श्रीहेमचन्द्रसूरिपादः—'अथ प्रवीणो क्षेत्रज्ञो नदीष्णो निष्ठा इत्यपि' इति । \star अर्बुदाभिधम्, केसर इति लोके ।

इह खल्वनवरतं सम्परायादिसंतापसमूहसंतप्तासुमत्सम्पूरिते संसारकान्तारे कथमपि सुदुर्लभं मानुष्यं सुकृलोत्पत्त्यादिमोक्षमार्गं च समुपलभ्य स्वहितेषुभिर्भव्यैः केवलालोकलोकितलोकालोकेन सकलसंसृतिमम्भवरागद्वंषादियुगमवियुक्तेन प्रणताखिलाखण्डलोष्णीपरत्नरोचिर्विलिप्तपादपीठेन श्रीमता भगवता तीर्थकृता समुपदिष्टः श्रेयोमार्गः समाराधनीयः, स च सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यलक्षणः ।

उक्तं च वाचकमुख्यैः—

“सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः” इति ॥ (तत्त्वार्थसूत्रम् ॥१॥१॥)

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यत्रयं प्रति द्रव्यानुयोगः परमोपकारी भवति । तथाहि—द्रव्यानुयोगे उत्पत्त्याद्येकान्तवादिदुर्नयैः स्वीकृतं प्रथितं च सकलभावानामपारमार्थिकस्वरूपं निराकृत्य सुनयप्रमाणबलेन स्याद्वादार्थीनं जीवाजीवादिसर्वभावानामुत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकं तात्त्विकं सत्त्वं संस्थाप्यते, ईदृग्द्रव्यानुयोगेन तच्चविषयकविप्रतिपत्तेर्व्युदासात् तच्चश्रद्धानलक्षणस्य सम्यग्दर्शनस्य दाढ्यं भूषजायते । तथैव द्रव्यानुयोगे स्याद्वादसिद्धानां जीवाजीवादिभावानां तच्च-भेद-पर्यायैः सत्पद-स्वामित्व-द्रव्यप्रमाण-क्षेत्र-स्पर्शन-काश-ऽन्तर-भावादिभिरनुयोगद्वारैश्च चिन्तनस्यापि प्रस्तुतत्वात् सम्यक् तच्चावबोधो भवति । किञ्च तच्चभेदादिभिर्जीवाजीवादिभावान् विभावयतः शास्त्रविहित-प्रहरपञ्चकीयस्वाध्यायनिर्बहतः संयतवर्गस्य चेतोवृत्तां बाह्यनिमित्ततस्सम्भाव्यमानोत्पत्तिकानां वैशयिक-काषायिकवृत्तीनां निरवकाशीकरणद्वारेण चारित्रं ग्रन्थपि द्रव्यानुयोगस्थानुपमोपकारित्वं सुसिद्धमस्ति । इत्थं हि द्रव्यानुयोगस्य रत्नत्रय्युपकारकत्वात् पूर्वाचार्यैर्यथा चरणकरणाद्यन्यानुयोगविषयाणि प्रकरणानि विरचितानि तथा द्रव्यानुयोगमहोदधिदृष्टिवादैकदेशतः शतक-कर्मप्रकृत्यादयोऽनेके ग्रन्था विनिर्मिताः, ते चातिगभीरार्थाः संक्षिप्ताश्चेति कृत्वा पश्चादन्यैराचार्यैर्विवृताः । एतेषु शतक-कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थेषु तच्चूर्णि वृत्ति-दीप्यककादी च कर्मणो बन्धविषयाः साक्षादर्थतश्च पृथक् पृथगभिहिता ये पदार्थास्तान् प्रज्ञापनाद्यागमप्रसिद्धसत्पदाद्यनुयोगद्वार-गत्यादिमार्गणास्थानेषु सविस्तरं विचिन्त्य संकलय्य च निर्मिते बन्धविधानाख्ये प्रकृतग्रन्थे प्रवेष्टुकामानां स्वाध्यायपरायणचेतसां साध्यादीनां सुखप्रवेशार्थं तस्य प्रकृतिस्थित्यनुभाग-प्रदेशवन्धप्रयुक्ताश्चत्वारः खण्डग्रन्थाः प्रकल्पिताः तन्कृताः । तत्राद्ये नानाविधैर्भिन्नभिन्नाधिकारद्वारादिभिः प्रकृतिबन्धं निरूप्य क्रमशः स्थितिबन्धं निरूपयितुमना मङ्गलादिपूर्वकं प्रारभते—

अह जीराउलणाहं वंदिअ णिस्सीमसरिसंजुत्तं ।

सिरिपासपहुं भासिमु ठिइबंधं गुरुपसायाओ ॥ १ ॥

(प्रे०) “अह जीराउलणाहं” इत्यादि, अत्र अद्यशब्द आनन्तर्ये, ततश्च प्रकृतिबन्धनिरूपणा-ऽनन्तरम्, न तु सर्वप्रथममित्यर्थः, अस्य च “भासिमु ठिइबंधं” इत्यनेन योगः । तत्र स्थानं स्थितिः ‘स्त्रियां क्ति’ (५।३.३१) इत्यनेन भावे क्तिप्रत्ययः; स्थीयतेऽनया स्थितिः करणे क्तिप्रत्ययो वा । प्रथमतो बध्यमानत्वेनोपस्थितानां कर्मपुद्गलानामात्मप्रदेशेषु क्षीरनीरवदत्यन्तसंयोगेनाऽवस्थानमित्यर्थः । तस्याः स्थितेरियत्तानिर्माणं स्थितिबन्धः ।

इवमुक्तं भवति—यदा हि मिथ्यात्वादिपरिणत्या परिणत आत्माऽञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवचि-
रन्तरं पुद्गलार्जविते लोके कर्मयोग्यवर्गेणापुद्गलेभ्यः स्वाऽवगाढक्षेत्रगताननन्तान् पुद्गलस्कन्धान्
लोहाऽग्निसंयोगवदन्यन्तमन्वन्धकरणद्वारेण कर्मतया परिणमयति तदा तेषु पुद्गलस्कन्धेषु यथा
ज्ञानाद्यात्मगुणावरोधस्वभावः समुत्पद्यते, तथा तेष्वेव पुद्गलेषु तदानीमेव तात्कालिककापायिकपरि-
णत्यनुरूपो योऽन्तर्मुहूर्तादित्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिकालं यावत्तन्नैव रूपेणान्मप्रदेशेष्ववस्थान-
स्वभावोऽपि शक्तिविशेषरूपः संजायते, येन पश्चादुदीरणादिकरणजन्यबाधया अभावे तानि कर्मपुद्ग-
लानि तेन रूपेण तावन्तमन्तर्मुहूर्तादिकालं यावदात्मप्रदेशेषु तिष्ठन्ति, स स्थितिवन्ध उच्यते ।

उक्तं च शतकवृत्तौ—

“स्थितिः कर्मणोऽवस्थानशक्तिः, तस्या बन्धः स्थितिवन्धः” इति ।

अन्यत्राप्युक्तम्—“इति कर्मणः प्रकृतयो मूलाश्च तथोत्तराश्च निर्दिष्टाः ।

तासां यः स्थितिकालनिबन्धः स्थितिवन्ध उक्तः सः ॥” इति ।

एवंस्वरूपं स्थितिवन्धं “भासिसु” ति भाषामहे, “सन्तामीप्ये सद्द्व वा” (सिद्धहेम० ५।४।१) इत्य-
नेन वर्तमानकालस्य सामीप्ये भविष्यत्यर्थे वर्तमानप्रत्ययः, ततश्चाविलम्बेन भाषिष्यामहे, प्रकृतिबन्ध-
वन्नानाऽधिकारद्वाराद्युपन्यासेन वर्णयिष्याम इति भावः । अनेन वक्ष्यमाणग्रन्थविषयप्रतिज्ञां कृतवान् ।

ननु पूर्वमेव—“भाणिसु सपरस्सेयत्वं बंधविहाणं जहासुक्तं” इति वदता ग्रन्थकृता बन्धविधाने
भणनीयतया प्रतिज्ञाते तदेकदेशरूपः स्थितिवन्धोऽपि भणनीयतया प्रतिज्ञात एव, किं पुनरपि प्रति-
ज्ञाकरणेन ? इति चेद्, न, “चिरतः प्रकृतिबन्धं शृण्वन्तोऽवधारयन्तश्च विनेयाः ‘साम्प्रतमपि प्रकारा-
न्वरेण प्रस्तुतं प्रकृतिबन्धमेव प्रतिपादयन्ति गुरवः’ इत्येवं प्रकृतिबन्धश्रवणोद्देशेन तत्रैव दत्तचित्ताः
स्थितिवन्धं सम्यग् नैवावधारयेयुरन्यमनस्कृतया वा विपरीतं मा गृह्येयुः” इति परहितपरायणचेतसा
ग्रन्थकृता शिष्यमनसि वक्ष्यमाणस्थितिवन्धविषयकशुश्रूषाप्ररोहणाय प्रकरणप्रारम्भे यथोक्तप्रतिज्ञा कृता,
अथवा वक्ष्यमाणस्थितिवन्धग्रन्थो बन्धविधानैकदेशरूपः सन्नपि स्वस्थान एव नानाऽधिकारादीन्
संगृह्यतिमहत्कायतया ग्रन्थान्तररूप एव, अत एवात्र ‘जीराउलणाहं’ इत्यादिनाऽऽदिम-मध्यमा-
दीनि मङ्गलान्याचरिष्यति ग्रन्थकारः । इत्थं हि ग्रन्थान्तरवत्प्रकृतग्रन्थप्रारम्भेऽपि मङ्गलाद्यनुबन्ध-
चतुष्टयमभिधातव्यम्, तत्र स्थितिवन्धभणनप्रतिज्ञाकरणद्वारेणानुबन्धचतुष्टयान्तर्गतमभिधेयमेव ग्रन्थ-
कृता ग्रन्थप्रारम्भे कथितमिति न किञ्चित्पुनर्वचनमिति ।

अथ प्रारिप्सितग्रन्थस्य निविंश्नपरिसमाप्तये कृतमिष्टदेवतानमस्कृत्यान्मकं मङ्गलं शिष्टजना-
नुवृत्त्या शिष्यजनानुशास्त्यं च ग्रन्थे निबन्धनाह—“जीराउलणाहं” इत्यादि, जीराउलनाथं निस्सीम-
शक्तिसंयुक्तं श्रीपार्श्वप्रभुं वन्दित्वेति क्रियान्वयः, तत्र वन्दित्वेति निर्मलमानसप्रणिधानोपेतं चोद्यो-
गेन संस्तुत्य काययोगेन प्रणम्य चेत्यर्थः; “बहुहं स्तुत्यभिवादनयो” इति वचनात्; कं वन्दित्वेत्युक्तं
‘श्रीपार्श्वप्रभु’ पार्श्वभिधस्य वैपावृत्यकरयक्षविशेषस्य प्रभुः-अर्थ इति पार्श्वप्रभुः; अर्थः, प्रभुः,

स्वामी, पतिर्नाथ इत्यादीनामनर्थान्तरत्वात् । यदाहूर्हेमम्बन्धसूरिपादा अभिधानचिन्तामणौ—
 “पतीन्द्रस्वामिनाथार्याः प्रभुर्मतेश्वरो विभुः” इत्यादि । अथवा स्पृशति ज्ञानेन सर्वभावानिति पार्श्वः,
 यदा गर्भस्थे भगवति जनन्या निशि शयनीयस्थयाऽन्धकारे सर्पो दृष्ट इति गर्भानुभावोऽयमिति मन्वा पश्य-
 तीति निरुक्तम् पार्श्वः । ‘प्र’ इति प्रकर्षार्थोऽव्ययः, ततश्च प्रकर्षेण—प्राक् तृतीयभवनिकाचिततीर्थकरनाम-
 कर्मोद्देशाद्भव्यजनगणोद्धारणैककरणशासनस्थापनाय भवति इति प्रभुः “सं-सं-स्वचं-वि-प्राद्-भुवो ङुः” इति
 दुप्रत्ययः (५।२।८४। सिद्धहेम०) । पार्श्वश्चासौ प्रभुश्चेति पार्श्वप्रभुः । श्रिया-त्रैकालिकनिखिलभावावभा-
 सिन्या केवलज्ञानलक्ष्म्याऽष्टप्रातिहार्यलक्षणया शोभया वा समन्वितः पार्श्वप्रभुरिति श्रीपार्श्वप्रभुः तम् ।

किं विशिष्टं श्रीपार्श्वप्रभुमित्याह— ‘निस्सोमशक्तिसंयुक्तम्’ निस्सीमा—निर्गतमर्यादा या
 शक्तिः—वीरान्तरायकर्मणः सर्वथा क्षयात्प्रादुर्भूता आत्मगुणरूपा वीर्यापरपर्याया, तथा संयुक्तः—भेदा-
 भेदसम्बन्धेन सम्बद्धस्तम् निस्सीमशक्तिसंयुक्तम् ; अपरिमितबलवैभवसंपन्नमिति यावत् । उक्तं च—
 “जं केसवन्म उ बलं तं द्रुगुणं होइ चक्रवर्तिस्स । तत्तो बला बलवगा अपरिमियबला जिणवरिवा ॥” इति ।

पुनः किं विशिष्टमित्याह—“जीराउलणाहं” इति पूरा जीरापल्ल्याख्यया वर्तमाने तु जीराउला
 इति नामधेयेन विख्यातं यत्स्थावरं तीर्थं तस्य नाथम्, पार्श्वप्रभोस्तत्र प्रतिष्ठितत्वेन तत्तीर्थस्य सेवकानां
 योग-क्षेमभावात् । ननु अश्वसेननृपनन्दनस्य पार्श्वप्रभोर्जीरापल्ल्यां प्रतिष्ठानं न कुत्रचित् श्रूयते, तत्कथं
 पार्श्वप्रभोस्तत्रावस्थानमूलकं जीरापल्लीतीर्थविलम्बिनां योगक्षेमत्वप्रतिपादनं संजाघटीति ? इति
 चेत्, उच्यते, भावतीर्थकरस्य श्रीपार्श्वप्रभोस्तत्रावस्थानाभावेऽपि स्थापनाद्वारेण तु पार्श्वप्रभोरवस्थानं
 तत्र विद्यत एव । न च तेन प्रभोः किमायातं येन पार्श्वप्रभोस्तत्र प्रतिष्ठानं कथ्यत इति वाच्यम्,
 म्यादादिभिर्नाम-स्थापनादीनां कथाश्चिद्वेदस्येव कथाश्चिदभेदस्याप्यभिमतत्वेन तत्स्थापनावस्थानेऽपि
 तदवस्थानकथनस्याविरोधात् । अत्र पार्श्वप्रभोर्जीराउलानाथत्वं तु जीरापल्लीतीर्थोत्पत्तिव्यतिकरादेवा-
 ऽवसेयम् । स च व्यतिकरः पण्डितप्रवरश्रीमत्सोमधर्मगणिविरचितायामुपदेशसप्तिकायाम्—

“श्रीजीरिकापल्लिपुरीनितम्बिनी,—कण्ठस्थले हारतुलां दधाति यः ।

प्रणम्य तं पार्श्वजिनं प्रकाशयते, नत्तीर्थसम्बन्धकथा यथाश्रुतम् ॥ १ ॥

पूरा नन्दाश्रेण (११०९) संख्ये, वर्षे त्रयाणनामनि । महास्थाने भूरिजैन-शैवप्रासादसुन्दरे ॥१॥”

इत्यादिना ग्रन्थेन विस्तरतः प्रदर्शितः, स च जिज्ञासुना तत एव विज्ञेयः ।

तदेवं ‘जिराउलणाहं वेदिअ णिम्मीमसत्तिसंजुत्तं सिरिपायपहुं’ इत्यनेन मङ्गलं निबद्धम्,
 ‘भासिसु ठिइबंधं’ इत्यनेनाभिधेयं च कथितम् । साम्प्रतं सम्बन्धमभिधित्तयाऽऽह—“गुरुपसायाओ”
 चि गृणाति तत्त्वार्थात् गुरुः—सम्यक् तत्त्वोपदेष्टा, स चार्थमधिकृत्य श्रीमत्तीर्थकरभगवान्, सूत्रापेक्षया
 तु श्रीमद्भगतमगणधराद्याः सूरयः । यतः सूत्रलक्षणमिदम्—

“सुत्तं गणधररइयं, तह्वं पत्तेयसुद्धरइयं च । सुयकेवलिणा रइयं, भाभन्नदसपुट्ठिणा रइयं ॥” इति ।

यदा सूत्रार्थतो वाचनादिदातुणामपि तत्त्वोपदेशकत्वमविरुद्धम्, ततश्चास्मदादीनां गुरुर्यन्ता

आचार्यादयोऽपि गुरुपदाभिधेयाः, तेषां 'प्रसादात्'-अनुग्रहात् । विशेषतस्तु-यस्यान्तिके निवमन् सम्पत्त्वादिविशिष्टगुणगौरवागमवं तस्याविरागिकूपादुद्धृत्य मंगमसुवर्णागारावारोहकस्य प्रकृतग्रन्थ-सङ्कलने प्रकृष्टप्रेरणाप्रदातुर्गच्छाधिपतेराचार्यदेवश्रीमद्विजयमेमसूरीश्वरगुरोः प्रसादादिति । अनेन च स्वस्यौद्धन्यं परिहृतम्, तथा गुरुकुलवासे निवसता मयाऽयं ग्रन्थो गुम्फित इत्येवं दर्शयता शास्त्रमन्वन्व-श्चाभिहितः । तथाहि-यथा मयाऽयं ग्रन्थो गुरुनिश्रया तदाज्ञापुस्सरं त्रिनिर्मितस्तथा मद्गुरुणा स्वीयगुरोर्निश्रयाऽध्ययनादिकं कृतम्, एवं पूर्वं पूर्वं चरणेन यावत् श्रीमताऽऽर्यजम्बूस्वामिना स्वीय-गुरुसुधर्मागणधरेभ्य आगमाध्ययनं सम्पादितम्, तैश्च स्वीयगुरुश्रीमत्तीर्थकरभगवतः सकाशादर्थतः समुपलब्धमिति । इत्थं च प्रकृतग्रन्थस्य स्वेच्छापरिकल्पितत्वाऽऽशङ्काऽनवकाशीकृता, शिष्यैः सर्व-कार्याणि गुरुनिश्रयाऽऽचरितव्यानीत्युपदिष्टं चेति । अयं हि सम्बन्धः श्रद्धालुसारिणं प्रति बोद्धव्यः, तर्कानुसारिणं प्रति त्वसौ साध्य-साधनभावलक्षणः साक्षादनुक्तोऽपि विज्ञेयः ; तथैव प्रयोजनमपि । यतः प्रयोजनमनन्तरपरम्परभेदाद् द्विविधम्, तदपि शास्त्रकृच्छ्रोत्तमेदाद् द्विधा भवति । तत्र शास्त्रकर्तुरनन्तरं प्रयोजनं मन्वजनबोधानुग्रहः, श्रोतॄणां त्वनन्तरप्रयोजनं शास्त्रतत्त्वावबोधः, उभयोरपि परम्परप्रयोजनमपवर्गात्राप्तिलक्षणम्, तस्यैव पुरुषार्थप्राधान्यात् सम्यग्दृशामभिप्रेतत्वाच्च । न चैतद-नेन शास्त्रेण कथं सेत्स्यतीति वान्यम्, प्रकृतशास्त्रस्य सम्यग्ज्ञानहेतुत्वेन श्रेयोभूतत्वात् पारम्पर्येण श्रेयोजनकत्वाच्च तत्सिद्धेरित्यलं विस्तरेणेति ॥ १ ॥

तदेवं विघ्नविघाताय कृतमङ्गलाचरणादिरधिकृताऽभिधेयाभिधानविषयप्रतिज्ञां निर्वाहयितुमना मन्दबुद्धीनां निर्मोहनहेतवे मूलप्रकृत्युत्तरप्रकृतिभेदभिन्नायां स्थितिवन्धप्ररूपणायामादौ तावन्मूलप्रकृति-स्थितिवन्धाधिकारनामानि तद्वतद्वारसङ्ख्याया सह दर्शयन्नाह—

मूलपयडिठिइबंधे छहिगारा पढम-बीअ-भूगारा ।

पयणिकखेवो वड्ढी अज्झवसाणसमुदाहारो ॥२॥

तेसुं पढमाईसुं अहिगारेसु चउरां य पंचदस ।

तेरस तिण्णि य तेरस तिण्णि कमा हुन्ति दाराणि ॥३॥

(प्रे०) "मूलपयडिठिइबंधे" इत्यादि, मौलानां शतकचूर्ण्यादिपूक्तनिरुक्तादीनां ज्ञानावर-णादीनामष्टप्रकृतीनां "ठिइबंधे" ति भगितुमारब्धे स्थितिवन्धग्रन्थे "छहिगारा" ति 'पडधिकाराः'-स्थितिवन्धसामान्यमनुपेक्ष्य तत्तत्स्थितिवन्धस्थानाद्यधिकृतविशेषविषयप्रतिपादनपरः, मन्तीति शेषः । तानेव नामत आह—'पढम-बीअ-भूगारा' इत्यादि, तत्र "पढम" ति द्वितीयाद्यधिकारेष्ववक्ष्यमाणानां स्थितिवन्धस्थानाल्पबहुत्वादीनां नानाऽर्थानां प्रतिपादनपरः स्थितिवन्धस्थानाद्यधिकारः प्रथमाधिकार-तया बोद्धव्य इत्यर्थः । "बीअ" ति द्वितीयोऽधिकारः, अयमपि उत्कृष्टादिस्थितिवन्धप्रमाण-तत्त्वामित्व-वत्साद्यादि-तत्कालादिद्वाराण्यधिकृत्य भिन्नभिन्नविषयोऽपि स्थितिवन्धसामान्यप्रतिपादनादपरिच्युतः 'बुद्धि अहिगारे अह' इत्यादिना वक्ष्यमाणाधिकारो द्वितीयाधिकारतया विज्ञेयः । "भूगार" ति भूय-

स्कारः, "पञ्चसमयात् समये अणंतरे बंधए" इत्यादिना वक्ष्यमाणस्थितिवन्धविशेषप्रतिपादनपरस्त्तीयाधिकारो भवति, अत्र हाधिकारेऽल्पतरादयः स्थितिवन्धविशेषा अपि प्ररूपणीयास्तथाऽप्यधिकारनामप्रस्तावे लाघवार्थं भूयस्कारस्यैव ग्रहणं कृतम्, तेनैवोपलक्षणादन्येऽपि बोद्धव्या इति । "पथणिक्खेवो" चि "धरमा वड्ढी परमा हाणी परमं तद्वा अबट्ठाणं" (गा० ६९०) इत्यादिना वक्ष्यमाणः पदनिक्षेपाख्यश्चतुर्थाधिकारो भवति, तत्र पदनिक्षेपो भूयस्कारादिविशेषरूप एव, भूयस्कारादीनां स्थितिवन्धविशेषाणां जघन्योत्कृष्टपदद्वये निक्षेपणात्, जघन्योत्कृष्टवृद्ध्यादिरूपेण चिन्तनादिति मात्रः । "वड्ढी" चि "अत्थि अलत्तन्वत्तं बंधस्स असंख्यभागहाणी य" (गा० ७३२) इत्यादिना वक्ष्यमाणो वृद्धयधिकारः पञ्चमाधिकारतयाऽवज्ञातव्यो भवति; अयमपि भूयस्कारादिविशेषरूप एव, केवलं पदनिक्षेपाधिकारे भूयस्कारादितया जायमानस्थितिवन्धवृद्ध्यादयो जघन्योत्कृष्टपदद्वयगता एव चिन्तयिष्यन्ते, अत्र तु ते संख्येयभागाऽसंख्येयभागप्रभृतिवृद्ध्यादिरूपेण वर्णयिष्यन्ते ।

इदमुक्तं भवति—मुख्यवृद्ध्याधिकृतो कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिवन्धोऽपि यदा पूर्वसमयादुत्तरसमयेऽधिको भवति तदा भूयस्कार इत्युच्यते, यदा तु पूर्वसमयादुत्तरसमये हीनो भवति तदाऽल्पतरोऽभिधीयते, एवं तावन्मात्रस्थितिवन्धभावेऽवस्थितोऽवबन्धात्प्रथमत एव भावे त्ववक्तव्यश्च संगीर्यते, वक्ष्यते च—

"पूवसमयात् समये अणंतरे बंधए पड्ढत्तरं । बंधो स भूयगारोऽप्ययरं बंधइ स अल्पयरो ॥५५५॥

तावइयं चिअ बंधइ सो णायरो अबट्ठित्तो बंधो । दोटं अबंधगो उण बंधइ स हवइ अवत्तव्वो" इति ।

एते भूयस्कारादयः सत्पदादिद्वारैरोघत आदेशतश्च यत्र चिन्तयिष्यन्ते स भूयस्काराधिकारः । भूयस्काराधिकारविषयभूतोऽनियतेन समयादिना यथासम्भवं हीनाधिकोऽपि यो भूयस्कारादितत्स्थितिवन्धो तेन तेन नियतेन सर्वाधिकवृद्धिहानिरूपेण यत्र चिन्तयिष्यते स पदनिक्षेपाधिकारः । अयम्भावः—भूयस्कारचिन्तायां विवक्षितसमयादुत्तरसमये जायमानं समयद्विसमयादिना वृद्धं कमपि स्थितिवन्धमधिकृत्य मामान्येनैव यथा सत्पद-स्वामित्वादिकं प्ररूप्यते, एवं हान्यादिकं च समाश्रित्य सत्पदादयः प्ररूप्यन्ते, न तथा पदनिक्षेपाधिकारेऽपि; किन्तु विवक्षितसमयादुत्तरसमये जायमानमधिकतमवृद्धस्थितिवन्धलक्षणं भूयस्कारविशेषरूपमुत्कृष्टवृद्धेः पदम्, एवमधिकतमहीनस्थितिवन्धलक्षणमल्पतरविशेषरूपमुत्कृष्टहानेः पदम्, तथा उन्कृष्टवृद्धिहान्यन्तरस्थोत्तरसमये प्राप्यमाणमुत्कृष्टावस्थानपदमधिकृत्य, इत्थमेव वैपरीत्येन विवक्षितसमयादनन्तरोत्तरसमये जायमानं स्तोकमवृद्धस्थितिवन्धलक्षणं भूयस्कारविशेषात्मकं जघन्यवृद्धेः पदम्, तथैव वैपरीत्येन जघन्यहानेः पदम्, जघन्यावस्थानपदं चाधिकृत्य सत्पदादयश्चिन्तयिष्यन्ते; इत्येवं भूयस्काराधिकाराण्येऽस्य पार्थक्यम् । वृद्धयधिकार इत्यत्र वृद्धिपदमपि हान्यादेरुपलक्षकं, तत्र वृद्धिर्हानिश्च प्रत्येकं संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुण-संख्येयभागा-ऽसंख्येयभागभेदाच्चतुर्धेव, न पुनरनन्तभागा-ऽनन्तगुणभेदादन्यविधाऽपि, सर्वोत्कृष्टस्याऽपि स्थितिवन्धस्याऽसंख्येयसमयप्रमाणत्वेनाऽनन्तगुणवृद्धिहान्योरसम्भवात् । तत्र भूयस्कारोऽधिकवन्धरूपतया वृद्धिरूपः, अल्पतरवन्धस्तु हीनवन्धरूपतया हानिरूपः, अवस्थानावक्तव्यौ तु भूयस्काराधिकारे वक्ष्यमाणाऽवस्थिता-

ऽयत्तव्यवन्धापेक्षयाऽविशेषावेव । इत्थं हि भूयस्काराल्पतरविशेषरूपाणां संख्येयगुणादिस्थितिवन्धवृद्धि-
हानीनां पदानिक्षेपाधिकारविषयभूतजघन्योत्पदद्वयापेक्षया विलक्षणत्वाद् वृद्ध्यादेर्भूयस्कारादिरूपत्वे-
ऽपि प्ररूपणीयविषयभेदान्पार्थक्यं वेदितव्यमिति ।

“अञ्जवसाणसमुदाहारो” चि समुदाहरणं समुदाहारः, प्ररूपणेत्यर्थः । स्थितिवन्ध-
हेतुभूतान् कपायोदयजन्यान् जीवपरिणामविशेषानधिकृत्य यत्र प्ररूपणा क्रियतेऽसावध्यवसानसमुदा-
हारोऽध्यवसायसमुदाहारो वा “पडिडिबंधमसंख्वा लोगा भट्टण्ड अञ्जवसाणं” (भा० ८४५) इत्यादिना
वक्ष्यमाणः षष्ठाधिकारतयाऽवसातव्य इति ।

प्रत्येकमधिकागस्तु नानाऽनुयोगद्वारनिष्पन्नाः । तद्यथा—प्रथमाधिकारे चत्वार्यनुयोगद्वाराणि,
(१) स्थितिवन्धस्थानानि, (२) निषेकः, (३) अवाधाकण्डकम् (४) अल्पबहुत्वं च; एतेषु प्रत्येकं
चतुर्दशजीवभेदानधिकृत्य स्थितिवन्धस्थानादीनामल्पबहुत्वादिकं प्ररूपयिष्यते । द्वितीयाधिकारे तु
पञ्चदशानुयोगद्वाराणि; तत्र प्रथमं (१) स्थितिवन्धप्रमाणद्वारम्, ततः (२) स्वामित्वद्वारम्, ततः
(३) भावादिद्वारम्, तदनन्तरं (४) कालद्वारम्, ततो (५)ऽन्तरद्वारम्, ततः (६) संनिकर्ष-
द्वारम्, एतेषु षड्द्वारेष्वेकजीवं समाश्रित्य प्ररूपणं करिष्यते, ततः प्रभृति भङ्गविचयादिष्वल्पबहुत्वान्तेषु
नवद्वारेषु पुनर्नानाजीवान् प्रतीत्य बन्धकभङ्गादयो वक्ष्यन्ते; भङ्गविचयादीनि पुनरिमानि—(७) भङ्गविचय-
द्वारम्, (८) भागद्वारम्, (९) परिमाणद्वारम्, (१०) क्षेत्रद्वारम्, (११) स्पर्शनाद्वारम्, (१२) कालद्वारम्,
(१३) अन्तरद्वारम्, (१४) भावद्वारम्, (१५) अल्पबहुत्वद्वारं चेति । एतेषु प्रत्येकमोघतः स्थितिवन्धकभूत-
समस्तजीवराशिमपेक्ष्य, तथाऽऽदेशतो गत्यादिभेदप्रभेदनिश्चयाः सप्तत्युत्तरशतमार्गणा अधिकृत्य जघ-
न्योत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणं तस्वामि-जघन्योत्कृष्टतदितरस्थितिवन्धसाधादि-कालप्रभृतयश्च चिन्तवि-
ध्यन्ते, तत्राप्यल्पबहुत्वद्वारे तु जघन्यादिस्थितिवन्धप्रमाणमधिकृत्य स्वस्थानपरस्थानाल्पबहुत्वे तथा
जघन्यादिस्थितेर्बन्धकानामल्पबहुत्वमित्येवं नानाविधान्यल्पबहुत्वानि प्ररूपयिष्यन्ते । भूयस्काराख्ये
तृतीयाधिकारे तु त्रयोदश द्वाराणि, तत्रार्थं (१) सत्पदद्वारम्, ततः (२) स्वामित्वद्वारम्, तदुत्तरं
(३) कालद्वारम्, ततो (४)ऽन्तरद्वारम्, तदनन्तरं तु पूर्वोक्तक्रमेण नानाजीवानधिकृत्य भङ्गविचया-
दीन्यल्पबहुत्वान्तानि नवानुयोगद्वाराणि सन्ति । एतेष्वपि प्रत्येकं भूयस्कारादिचतुर्विधस्थितिवन्धम-
धिकृत्य सत्पदादीनि चिन्तयिष्यन्ते । चतुर्थे पदानिक्षेपाधिकारे तु सत्पद-स्वामित्वा-ऽल्पबहुत्वलक्षणानि
त्रीण्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति । अत्रापि जघन्योत्कृष्टपदद्वयगतानां भूयस्कारादिविशेषाणां सत्पदादीनि
प्ररूपयिष्यन्ते । पञ्चमे वृद्ध्याधिकारेऽप्युक्तलक्षणा भूयस्कारादिविशेषरूपाः संख्येयगुणप्रभृतिवृद्ध्यादयः
सत्पदाद्यल्पबहुत्वान्तत्रयोदशद्वारेषु भूयस्काराधिकारवदेव प्ररूपयिष्यन्ते । चरमेऽध्यवसानसमुदाहारे
तु त्रीण्यनुयोगद्वाराणि, तानि च स्थिति-प्रकृति-जीवानधिकृत्य स्थितिवन्धकारणीभूताध्यवसाय-
चिन्तनरूपाणीति । एतान्येव षडधिकारसत्कानुयोगद्वाराणि संख्यामात्रेण निर्दिशन्नाह—“तेसु” इत्यादि,
गतार्थम् । नामपूर्वकं विशेषव्याख्यानं तु ग्रन्थाधिकारप्रारम्भे दर्शयिष्याम इति ॥२-३॥

॥ प्रथमाधिकार ॥

साम्प्रतं “यथोद्देशं निर्वेश” इति न्यायेन प्रथमाधिकारं प्रतिपादयिषुः प्रथमाधिकार-
द्वाराणि नामग्राहं गृह्णाति—

तह आइमअहिगारे चउरो दाराणि हुन्ति जहकमसो ।

ठिइठाणाणि णिसेगो अवाहकंडं य अप्पवहू ॥४॥

(प्रे०) “तह आइमअहिगारे” इत्यादि, तत्र-अनन्तरोद्दिष्टपदधिकारेषु “आइमअहिगारे”
त्ति आदिमे-प्रथमेऽधिकारे चत्वारि दाराणि भवन्ति, तान्येव नामतः कमतश्च दर्शयन्नाह—“जहकमसो”
इत्यादि, तत्र “ठिइठाणाणि” त्ति बन्धस्य प्रकृतत्वात् स्थितिवन्धस्य स्थानानि स्थितिस्थानानि,
मध्यमपदस्य लुप्तत्वात् । बन्धप्रायोग्याः स्थितिविशेषा इत्यर्थः । अयमभावः—केनचिज्जीवेन या
जघन्या स्थितिर्बध्यते तद् एकं स्थितिवन्धस्थानम्, तेनैव जीवेनाऽन्येन वा जीवेन यो समयाधिक-
जघन्यस्थितिवन्धः क्रियते तमपेक्ष्य द्वितीयं स्थितिवन्धस्थानम्, इत्यमेव केनाऽपि द्विसमयाधिक-
जघन्यस्थितिवन्धः क्रियते तमपेक्ष्य तृतीयं स्थितिवन्धस्थानम्, एवं यावदुत्कृष्टस्थितिवन्धस्तावद्
वाच्यम्; ततश्च जघन्यस्थितिवन्धमादौ कृत्वोत्कृष्टस्थितिवन्धं यावद् यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणानि
स्थितिवन्धस्थानानि भवन्ति । उक्तं च कर्मप्रकृतिसूत्रेण—

“जह्णणमठिणि आदिं काउण जाव उकस्सिता ठिति एसि मउक्के जत्तिवा ठित्तिविगप्पा ने उक्कसियाए
ठितिप समं ठित्तिवन्धउठाणा वुच्चंति” इति ।

अत्र हि चतुर्दशजीवभेदानधिकृत्य स्थितिवन्धस्थानानां तत्कारणीभूताध्यवसायस्थानाना-
मेतयोः स्थितिवन्धस्थानाव्यवसायस्थानयोः प्रमाणनियामकस्य जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धस्य चाऽल्प-
बहुत्वत्रयं प्रतिपादयिष्यते ।

“णिसेगो” त्ति निषेचनं निषेकः “भावाऽकर्त्रोः” (सि. हे. ५-३-१८) इत्यनेन “घञ्”
प्रत्ययः; निषेचनम्—व्यवस्थापनम्, प्रकृतत्वाद् बध्यमानस्थितिषु कर्मदलस्य रचनेत्यर्थः । इदमुक्तं
भवति—वेदनार्थं बध्यमानकर्मदलानामबाधावर्जस्थितिस्थानेषु हीन-हीनतर-हीनतमादिक्रमेण रचनं-
व्यवस्थापनं निषेक उच्यते । उक्तं च शतकवृत्ती—

“निषेको नाम प्रथमसमये बहु द्वितीयसमये हीनं तृतीयसमये हीनतरं ततो हीनतमं कर्मदलिकं
रच्यते यत्र स एषंभूतः कर्मदलिकरचनाविशेषो निषेक उच्यते, अत्राधां विहाय तत उर्ध्वं वेदनार्थं कर्मनिषेको
भवतीति भावः ।” इति

“अवाहकंडं” त्ति अवाधाकण्डकदारम्, यत्रावाधाकण्डकानि प्ररूप्यन्ते । तत्रावाधा तु
बन्धकाले निषिञ्च्यमानदलिकानां निषेकायाऽयोभ्यः कालः, यस्मिन् काले यथानिषिक्तं कर्मदल-

मुदीरणादिकरणान्तरस्य साहाय्यमन्तरेण स्वभावत एवोदयं नैवाऽऽयाति, जीवस्य बाधां नोत्पादयति स इति भावः । उक्तं च शतकभाष्ये—

“होइ अत्राहाकालो जो किर कम्मस्स अणुउदयकालो” इति ।

कण्डकमिति समूहः, तच्च कण्डकं स्थितिवन्धस्थानानां बोद्धव्यम्, न त्वबाधास्थानानाम् । ततश्चैकसमयाबाधानाबुल्लुप्यतो यावती स्थितिर्हीयते तावत्याः स्थितेः समयप्रमाणानां स्थिति-
बन्धस्थानानां समूह एकमबाधाकण्डकमुच्यते, एवम्भूतान्यबाधाकण्डकान्यत्र द्वारे चिन्तयिष्यन्त इति ।
चकारस्तु समुच्चये ।

“अप्पबहू” ति भावप्रधानोऽयं निर्देशस्ततोऽल्पबहुत्वद्वारम्, यत्र गतद्वारत्रयेऽभिहितार्थानां स्थितिवन्धस्थानादीनां परस्परमन्वयानुत्वं हीनाधिकाररूपं प्रदर्शयिष्यत इति ।

तदेवमुद्दिष्टानि प्रथमाधिकारगतद्वाराणि । साम्प्रतं ‘यथोद्देशं निर्देश’ इति न्यायेन प्रथमद्वारे स्थितिवन्धस्थानान्यधिकृत्य प्ररूपणा कर्तव्या; तत्रादौ चतुर्देशजीवभेदेषु प्रत्येकं ज्ञानावरणादीनां सप्तानामपि मूलप्रकृतीनां स्थितिवन्धस्थानाल्पबहुत्वं तुल्यमिति कृत्वा तत्, तथा तद्देव स्थितिवन्ध-
स्थानरूपरणीभूतानां संक्लेशविशुद्धिस्थानानामल्पबहुत्वस्यापि तुल्यत्वात् तदपि सममेव प्रतिषिपाद-
यिषुर्गार्थादयमाह—

ठिइबंधठाणाइं सुहुमियराण असमत्तियराणं ।

असमत्तियराण कमा वित्तिचउइंदियअसरिणसरणीणं ॥५॥ (गीतिः)

संखेज्जगुणाणि परं अपज्जवेइंदियस्स ठाणाणि ।

हुन्ति असंखगुणाइं सब्बत्थ विशुद्धिइयराणं ॥६॥

(प्रे०) “ठिइबंधठाणाइ” मित्यादि, स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि भवन्तीत्युत्तर-
गाथायामन्वयः, यथोत्तरमिति शेषः । केषां स्थितिवन्धस्थानानि यथोत्तरं संख्येयगुणानि भवन्तीत्यत्राह-
‘सुहुमियराणे’त्यादि, तत्र ‘सुहुमियराण असमत्तियराणे’त्यत्र बहुवचनं प्राकृतत्वात्, यतः
प्राकृते द्विवचनस्थाने बहुवचनं भवति । यदाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः स्वप्राकृतलक्षणै—“द्विवचनस्य
बहुवचनम्” (सि० है० ८-३-१३०) इति । ततश्च सूत्रमस्य तदितरस्य वादरस्य चेत्यर्थः । एते
सूत्रमवादराः पर्याप्तापर्याप्तभेदाद् द्विधा भवन्ति, अतस्तत्रापि क्रमनियमार्थमुक्तम् “असमत्तियराणं”
ति असमाप्तस्य, -अपर्याप्तस्येत्यर्थः, अपर्याप्तानामेवाममाप्तपर्याप्तिकत्वेनाप्तमाप्तपदवाच्यत्वादिति भावः ।
ततश्च तदितरस्य पर्याप्तस्येत्यर्थः । अम् द्वे विशेषणे गाथान्यस्तक्रमात् प्रत्येकं योज्येते ।
आदावपर्याप्तविशेषणं प्रत्येकं योज्यं, ततः पर्याप्तविशेषणं प्रत्येकं योज्यमिति भावः । इत्थं चायं क्रमः
प्राप्तः—प्रथममपर्याप्तसूत्रमकेन्द्रियस्य, ततोऽपर्याप्तवादरैकेन्द्रियस्य, ततः पर्याप्तसूत्रमकेन्द्रियस्य,
ततः पर्याप्तवादरैकेन्द्रियस्येति । अग्रेऽपि क्रमव्यवस्थापनार्थमाह—“असमत्तियराणे”त्यादि, प्राग्बत्

“चित्चिद” इत्यादिपदानि पर्याप्त—तदितरापर्याप्तयोः प्रत्येकं क्रमेण योज्यन्ते, ततः पर्याप्तवादरै-
केन्द्रियानन्तरमपर्याप्तद्वीन्द्रियस्य, ततः पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य, ततोऽपर्याप्तत्रीन्द्रियस्य, ततः पर्याप्त-
त्रीन्द्रियस्य, ततोऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य, ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य, ततोऽपर्याप्तस्याऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रि-
यस्य, ततः पर्याप्तस्याऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य, ततोऽपर्याप्तस्याऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य, ततः पर्याप्तस्य संज्ञि-
पञ्चेन्द्रियस्येति । सूत्रलाघवार्थं ‘संख्येयगुणाणी’ति पदस्यानुवृत्ता प्रयुक्तायां सत्यां याऽतिप्रसक्ति-
र्जाता तां निराकुर्वन्नाह—“परं अपञ्जबेहं वियस्स ठाणाणि” इत्यादि, परम्-नवरम् अपर्याप्तद्वीन्द्रिय-
स्य स्थितिवन्धस्थानानि असंख्येयगुणानि भवन्तीति क्रमप्राप्तवादरैकेन्द्रियस्थितिवन्धस्थानेभ्यस्तान्य-
संख्येयगुणानि वक्तव्यानि, न पुनर्द्वितीयादिपदेष्विव संख्येयगुणानीति भावः । उक्तोऽक्षरार्थः ।

घटना पुनरित्थम्—स्थितिवन्धस्थानानि जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धयोरन्तरालाधीनानि,
तच्चान्तरालं सूक्ष्मापर्याप्तजीवानां शेषजीवभेदापेक्षयाऽल्पम्, अतोऽपर्याप्तसूक्ष्मजीवस्य स्थितिवन्धस्था-
नानि सर्वस्तोकानि, तानि च पन्योपमस्यासंख्येयतमभागगतसमयतुल्यानि भवन्ति । तेभ्योऽपर्याप्त-
वादरैकेन्द्रियस्य स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि, यतः सूक्ष्मापर्याप्तस्योत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षयाऽ-
स्योत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः, सूक्ष्मापर्याप्तस्य जघन्यस्थितिवन्धापेक्षया चास्य जघन्यस्थितिवन्धो
विशेषहीनः, तथा च सत्यस्यापर्याप्तवादरस्य जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धयोरन्तरालं पूर्वोक्तान्तरालापेक्षया
बृहत्, तच्च पूर्वापेक्षया संख्येयगुणमित्यतोऽपर्याप्तवादरस्य स्थितिस्थानान्यपि संख्येयगुणानि । ननु
वादरापर्याप्तस्य जघन्यस्थितिवन्धः सूक्ष्मापर्याप्तस्थितिवन्धापेक्षया विशेषहीनः, उत्कृष्टस्थितिवन्धश्च
विशेषाधिकश्चेत्तदा तयोरन्तरालं कथं संख्येयगुणमिति चेद् ? उच्यते, योऽत्र स्थितिवन्धो विशेषहीनो
विशेषाधिकश्चोक्तः स सूक्ष्मापर्याप्तस्य जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया, न तु सूक्ष्मापर्याप्तस्य
स्थितिवन्धस्थानान्यपेक्ष्य, सूक्ष्मापर्याप्तस्य जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धौ तु ज्ञानावरणादीनामग्रे वक्ष्यमाणौ
पन्योपमासंख्येयभागन्यूनसागरोपमत्रिसप्तभागादिप्रमाणौ, तदपेक्षया निरुक्तायां वृद्धौ हानौ च
प्राप्यमाणानि स्थितिवन्धस्थानानि प्रत्येकं पन्योपमस्यासंख्येयभागगतसमयप्रमाणानि जायन्ते, न
चात्र कश्चिद् विरोधः, सागरोपमादिस्थितिवन्धमपेक्ष्य विशेषाधिकांशे पन्योपमसंख्येयभागस्यापि
प्रवेशात्, एवं विशेषहान्यंशेऽपि बोद्धव्यम् । नवरमत्र हानिसत्को यः पन्योपमस्यासंख्यांशः स
सूक्ष्मापर्याप्तस्थितिवन्धस्थानापेक्षया संख्येयगुणोऽस्ति यश्चोत्कृष्टस्थितिवन्धाभिमुखं चरणेन पन्योपम-
स्यासंख्यांशो वर्धतेऽसौ पुनर्हानिसत्कांशापेक्षयाऽपि संख्येयगुणोऽस्ति, तथा च सति वादरापर्याप्त-
केन्द्रियाणां जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धयोरन्तरालमपि संख्येयगुणं भवतीति । अपर्याप्तवादरस्य स्थिति-
वन्धस्थानापेक्षया पर्याप्तसूक्ष्मकेन्द्रियस्य स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानीत्येतदपि वादरापर्याप्त-
स्थितिवन्धस्थानवज्जघन्योत्कृष्टस्थितयोरन्तरालस्य संख्येयगुणत्वापेक्षया भावनीयम्, नवरं सूक्ष्मा-
पर्याप्तस्थाने वादरापर्याप्तजीवं गृहीत्वा वादरापर्याप्तस्थाने सूक्ष्मपर्याप्तजीवं च गृहीत्वेति । इत्थ-
मेवानन्तरवर्तिषु वादरापर्याप्तादिजीवभेदेष्वपि भावना द्रष्टव्या, नवरं द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य स्थितिवन्ध-

स्थानानि धान्यसंख्येयगुणानि कथितानि तानि तस्य जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धयोस्तरस्य पन्योपम-
संख्येयभागतुल्यत्वात् । इदमुक्तं भवति—एकेन्द्रियाणां जघन्यस्थितिवन्धापेक्षयोत्कृष्टः स्थितिवन्धः
पन्योपमासंख्येयभागेनाभ्यधिको जायते, द्वीन्द्रियाद्यसंज्ञिपर्यन्तानां तु प्रत्येकं स्वस्वजघन्यस्थितिवन्धा-
पेक्षया पन्योपमसंख्येयभागेनाभ्यधिको जायते, तथा च सति पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य स्थितिवन्ध-
स्थानानि पन्योपमस्यासंख्येयभागगतसमयतुल्यानि, द्वीन्द्रियापर्याप्तस्य स्थितिवन्धस्थानानि तु
पन्योपमसंख्येयभागगतसमयतुल्यानि, अतो भवन्त्यमूनि पूर्वापेक्षयाऽसंख्येयगुणानि । अत्र
गुणकराशिरात्रलिकाया असंख्येयभागगतसमयतुल्योऽवगन्तव्यः कुतः ! समनियतपन्योपमासंख्य-
भागप्रमाणस्थितिस्थानैर्निष्पद्यमानानामत्राधाकण्डकानामेकेन्द्रियेऽत्रावलिकाया असंख्येयभागगतसमय-
तुल्यानां भावात्, द्वीन्द्रियेषु त्वावलिकायाः संख्येयभागप्रमाणानां लाभाच्च । उक्तं च कर्मप्रकृतिकूर्णा-

“वेद्विद्यायां पञ्जत्तपञ्जत्तगणं आउगवज्जाणं सत्तरणं कर्माणं अवाहाटाणाणि अवहाकण्डगाणि
च दोवि तुल्लाणि सव्वथोवाणि । ताणि य आवलियात् संखेज्जतिभागमेत्ताणि” इति । तथा—

“एगिंदियाणं सुहुमाणं वादराणं पञ्जत्तपञ्जत्तगणं आउगवज्जाणं सत्तरणं कर्माणं अवाहा-
टाणाणि अवाहाकण्डगाणि दोवि तुल्लाणि सव्वथोवाणि । ताणि आवलियात् असंखेज्जतिभागमेत्ताणि”
इति ।

प्रकृतान्पबहुत्वं कर्मप्रकृतिकूर्णावित्थमेव । तथा च तद्ग्रन्थः—

“सव्वथोवाणि सुहुमस्स अपज्जत्तगस्स ठितिवन्धट्टाणाणि । वायरअपज्जत्तगस्स ठितिवन्धट्टाणाणि
संखेज्जगुणाणि । सुहुमस्स पञ्जत्तगस्स ठितिवन्धट्टाणाणि संखेज्जगुणाणि । वायरस्स पञ्जत्तगस्स ठितिवन्ध-
ट्टाणाणि संखेज्जगुणाणि । एवं एतेमिं पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागमेत्ताणि ठितिवन्धट्टाणाणि । ततो
विद्विद्यस्स अपज्जत्तगस्स ठितिवन्धट्टाणाणि असंखेज्जगुणाइं । कइं ? वेद्विद्यादिणं ठितिवन्धट्टाणाणि
पलिओवमस्स संखेज्जइभागमेत्ताणि ति काउं । तस्सेव पञ्जत्तगस्स ठितिवन्धट्टाणाणि संखेज्जगुणाणि
तेहद्विद्यस्स अपज्जत्तगस्स ठितिवन्धट्टाणाइं संखेज्जगुणाइं । तस्सेव पञ्जत्तगस्स ठितिवन्धट्टाणाइं संखेज्जगुणाइं ।
चउद्विद्यस्स अपज्जत्तगस्स ठितिवन्धट्टाणाणि संखेज्जगुणाइं । तस्सेव पञ्जत्तगस्स ठितिवन्धट्टाणि संखेज्ज-
गुणाइं । असखिणपंचेद्विद्यस्स अपज्जत्तगस्स ठितिवन्धट्टाणि संखेज्जगुणाणि । तस्सेव पञ्जत्तगस्स ठितिवन्ध-
ट्टाणाणि संखेज्जगुणाणि । सखिणपंचेद्विद्यअपज्जत्तगस्स ठितिवन्धट्टाणाणि संखेज्जगुणाणि । तस्सेव पञ्जत्तगस्स
ठितिवन्धट्टाणाणि संखेज्जगुणाइं ।” इति ।

अत्र प्रमाणमधिकृत्य स्थितिवन्धस्थानान्येकेन्द्रियसत्केषु चतुर्षु जीवभेदेषु प्रत्येकं पन्योपमा-
संख्येयभागगतसमयतुल्यानि, अपर्याप्तद्वीन्द्रियादिष्वष्टजीवभेदेषु प्रत्येकं पन्योपमस्य संख्येयभागगत-
समयतुल्यानि, अपर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे तु तान्यन्तःकोटीकोटीसागरोपमाणां समयतुल्यानि, पर्याप्तसंज्ञि-
जीवभेदे तु पुनस्तानि देशीनत्रिंशत्कोटिकोटीसागरोपमादिसमयतुल्यानि, ज्ञानावग्यादीन् समाश्रित्या-
वसेयानीति । न चाशङ्क्यं यदपर्याप्तद्वीन्द्रियादिष्वष्टेषु जीवभेदेषु प्रत्येकं स्थितिवन्धस्थानानां
पन्योपमस्य संख्येयभागप्रमाणात्वेऽपि तेषु यथोत्तरं संख्येयगुणात्वं विरुध्येत ? यतो यथैकेन्द्रियसत्क-

॥ जेसलमेरशास्त्रागारस्थकर्मप्रकृतिकूर्णप्रतिसत्कोऽयं पाठः, सुद्विप्रती तु 'अ'कारो न दृश्यते ।

चतुर्भेदेषु प्रत्येकं स्थितिवन्धस्थानानां पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणत्वेऽन्यसंख्येयस्यासंख्येयभेदभिन्नतया न कश्चिद्विरोधस्तथात्रापि विरोधाभाव एवेति ।

अत्र मन्दबुद्धिव्युत्पादनार्थमसत्कल्पनया त्रिगुणप्रभृतेर्यावत्पञ्चदशगुणानि तावत्संख्येय-
गुणानीति कल्प्यन्ते, विंशतिगुणादीनि त्वसंख्येयगुणानीति कल्प्यन्ते, तथाऽसत्कल्पनयाऽपर्याप्तसूक्ष्मै-
केन्द्रियस्य जघन्यस्थितिवन्ध एकाधिकलक्षसमयप्रमाणो (१००००१) जायते, तस्यैवोत्कृष्टस्थिति-
वन्धः पल्योपमासंख्येयभागेनाभ्यधिक इति पञ्चाधिकलक्षसमयप्रमाणो (१००००५) जायते,
अतस्तस्य स्थितिवन्धस्थानानि पञ्च लभ्यन्ते । अतस्तत्सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिवन्धापेक्षया
पर्याप्तवादरैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिवन्धो विशेषहीनो भवति, स चात्र पडशीत्यभ्यधिकनवशतयुतनव-
नवतिसहस्रसमयप्रमाणः (६६६८६) कल्प्यते, तस्यैवोत्कृष्टस्थितिवन्धो योऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियो-
त्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया विशेषाधिको जायते सः पञ्चाशदधिकलक्षसमयप्रमाणः (१०००५०)
कल्प्यते, तथा च सन्यपर्याप्तवादरैकेन्द्रियस्य स्थितिवन्धस्थानानि पञ्चपष्टिः (६५) प्राप्यन्ते, तानि
चापर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य स्थितिवन्धस्थानापेक्षया त्रयोदशगुणानीति संख्येयगुणान्यभवन्, त्रिगुणा-
दारभ्य पञ्चदशगुणपर्यन्तानामनन्तरमेव संख्येयगुणतया परिकल्पितत्वात् । वादरापर्याप्तस्य जघन्य-
स्थितिवन्धापेक्षया पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिवन्धो विशेषहीन इत्येकनवत्यभ्यधिकसप्तशता-
न्वितनवनवतिसहस्रसमयप्रमाणो (६६७६१) जायते, तस्यैवोत्कृष्टस्थितिवन्धः पुनरपर्याप्तवादरापेक्षया
विशेषाधिक इति पञ्चत्रिंशदभ्यधिकषट्शतयुतलक्षसमयप्रमाणो (१००६३५) भवति, तथा च सति पर्याप्त-
सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य स्थितिवन्धस्थानानि (८४५) पञ्चचत्वारिंशदभ्यधिकाष्टशतान्यभवन्, तानि चापर्याप्त-
वादरस्य स्थितिवन्धस्थानापेक्षया त्रयोदशगुणानीति संख्येयगुणान्येव । पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियजघन्यस्थिति-
वन्धापेक्षया पर्याप्तवादरैकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिवन्धो विशेषहीन इति पट्पञ्चाशदभ्यधिकशतद्वय-
समन्वितसप्तनवतिसहस्रसमयप्रमाणो (६७२५६) जायते, तस्यैवोत्कृष्टस्थितिवन्धः पर्याप्तसूक्ष्मोत्कृष्ट-
स्थितिवन्धापेक्षया विशेषाधिक इति चत्वारिंशदभ्यधिकशतद्वययुताष्टसहस्रान्वितलक्षसमयप्रमाणो
(१०८२४०) भवति, तथा च सन्यस्य पर्याप्तवादरस्य स्थितिवन्धस्थानानि (१०६८५) पञ्चाशीत्य-
भ्यधिकनवशतयुतदशसहस्राण्यलभ्यन्त, तानि तूपर्युक्तेभ्यः पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियस्थितिवन्धस्थाने-
भ्यस्त्रयोदशगुणानीति संख्येयगुणान्यभवन् । द्वीन्द्रियस्य जघन्यस्थितिवन्ध उत्कृष्टस्थितिवन्धश्चोभावपि
पर्याप्तवादरैकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया संख्यातगुणो भवतः, तत्र यो द्वीन्द्रियस्य जघन्यस्थिति-
वन्धः सोऽत्रासत्कल्पनया षष्ठ्यभ्यधिकपञ्चशतान्वितद्विसप्ततिसहस्रयुतनवलक्षसमयप्रमाणो
(६७२५६०) गृह्यते, स चैकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षयाऽऽसत्पञ्चदशगुण इति संख्येयगुणोऽभवत् ,
द्वीन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिवन्धस्तु षष्ठ्यभ्यधिकशतद्वययुतद्विनवतिसहस्रान्वितैकादशलक्षसमयप्रमाणो
(११६२२६०) जायते, तथा च सति द्वीन्द्रियस्य स्थितिवन्धस्थानानि सप्तशताभ्यधिकैकोनविंशति-
सहस्रयुतलक्षद्वयं (२१६७००) प्राप्यन्ते, तानि च पर्याप्तवादरैकेन्द्रियस्य स्थितिवन्धस्थानापेक्षया
विंशतिगुणानीत्यसंख्येयगुणान्यभवन्, इत्यमेवोत्तरवर्तिस्थानेष्वपि यथासम्भवं द्रष्टव्यमिति ॥

अत्राऽसत्कल्पनया कल्पितानां स्थितिवन्धस्थानादीनां स्थापना—

जीवभेदाः	जघनस्थितिवन्धोऽसत्कल्पनया		उत्कृष्टस्थितिवन्धोऽसत्कल्पनया		स्थितिवन्धस्थानानि
	समयाः ।	अल्पबहु०	समयाः ।	अल्पबहु०	
सूक्ष्माऽपर्याप्त०	१००००१	सर्वाधिकः	१००००५	स्तोकः	५ स्तोकानि
बादराऽपर्याप्त०	६६६८६	विशेषहीनः	१०००५०	विशेषाधि०	६५ संख्येयगुण०
सूक्ष्मपर्याप्त०	६६७६१	"	१००६३५	"	८४५ "
बादरपर्याप्त०	६७२५६	"	१००२४०	"	१०६८५ "
द्वीन्द्रियाऽपर्याप्त०	६७२५६०	संख्येयगुणः	११६२२६०	संख्येयगुणः	२१६७०० असंख्येयगुण०

अन्यच्च यदुक्तं प्राग् “नवरमत्र हानिसत्को यः पन्थोपमस्यासंख्यांशः सः सूक्ष्मापर्याप्त-
स्थितिवन्धस्थानापेक्षया संख्येयगुणोऽस्ति, यश्चोत्कृष्टस्थितिवन्धाभिमुखं चरणेन पन्थोपमस्यासंख्यांशो
वर्धतेऽर्थात् पुनर्तामिसत्कल्पनापेक्षयाऽपि संख्येयगुणोऽस्ति” इत्येतदप्यत्र स्थापनायां दृश्यते तथापि
तदेव भाव्यते, अपर्याप्तसूक्ष्मस्य जघन्यस्थितिवन्धो य एकाधिकलक्षसमयप्रमाणः (१००००१)
कल्पितस्ततोऽधस्तनमपर्याप्तबादरस्य जघन्यस्थितिवन्धः षड्शीत्यभ्यधिकलक्षशतयुतनवनवतिसहस्र-
समयप्रमाण—(६६६८६) स्तावच्चरणे (१५) पञ्चदशस्थितिवन्धस्थानानि प्राप्यन्ते, तानि च सूक्ष्मा-
पर्याप्तस्य स्थितिवन्धस्थानापेक्षया त्रिगुणानीति संख्येयगुणान्यभवन्, त्रिगुणस्याप्यत्रासत्कल्पनायां
संख्येयगुणतया परिकल्पितत्वात् । अपर्याप्तसूक्ष्मस्य (१००००५) पञ्चाभ्यधिकलक्षसमयप्रमाणो-
त्कृष्टस्थितिवन्धादुपरितनमपर्याप्तबादरस्योत्कृष्टस्थितिवन्धं यावच्चरणेन पुनः पञ्चचत्वारिंश—(४५)
स्थितिवन्धस्थानानि प्राप्यन्ते, कुतः ? अपर्याप्तबादरस्योत्कृष्टस्थितिवन्धः पञ्चाशदभ्यधिकलक्ष-
समयप्रमाणः (१०००५०), ततश्चापर्याप्तसूक्ष्मस्योत्कृष्टस्थितिवन्धे पञ्चाभ्यधिकलक्षसमयप्रमाणे
(१००००५) विशोधिते सति (४५) पञ्चचत्वारिंशत्स्थितिवन्धस्थानानां प्राप्यमाणत्वात् । तानि च
अपर्याप्तबादरस्य पञ्चचत्वारिंशत्स्थितिवन्धस्थानानि सूक्ष्मापर्याप्तजघन्यस्थितिवन्धादधस्तनचरणेन
लब्धपञ्चदशसंख्याकेभ्यः स्वकीयस्थितिवन्धस्थानेभ्यस्त्रिगुणानीति संख्येयगुणान्यभवन्, इत्थं च
बादरापर्याप्तस्य सर्वस्थितिवन्धस्थानानि (६५) पञ्चषष्टिर्भवन् । कुतः ? बादरापर्याप्तस्याधस्तन-
स्थितिवन्धस्थानानां पञ्चदशसंख्याकानामुपरितनस्थानानां पञ्चचत्वारिंशत्संख्याकानां, मध्यमानां
च पञ्चसंख्याकानां स्थितिवन्धस्थानानामेकत्रसंकल्पने पञ्चषष्टिस्थितिवन्धस्थानलाभात् । अपर्याप्त-
बादरस्य जघन्यस्थितिवन्धादधस्तनसूक्ष्मपर्याप्तजघन्यस्थितिवन्धं यावच्चरणे सूक्ष्मपर्याप्तस्य पञ्चनव-
त्यभ्यधिकशतस्थितिवन्धस्थानानि (१६५) लभ्यन्ते, तानि चापर्याप्तबादरस्य सर्वस्थितिवन्धस्थानेभ्य-
स्त्रिगुणानीति संख्येयगुणान्यजायन्त, तेभ्यो बादरापर्याप्तोत्कृष्टस्थितिवन्धादुपरितनचरणेन लभ्य-
मानान्यस्यैव सूक्ष्मपर्याप्तस्य स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि सन्ति, कुतः ? उपरि चरणेन
(५८५) पञ्चाशित्यभ्यधिकपञ्चशतस्थितिवन्धस्थानानां लाभात्, तेषां च पूर्वोक्तपञ्चनवत्यधिकश-

तस्थितिबन्धस्थानेभ्यस्त्रिगुणत्वात् । इत्यमेवानन्तरवर्तिजीवस्थानेष्वप्यसत्कल्पनाया विभावनीयम् । न चात्र परम्परोपनिधया चिन्त्यमाने कल्पितानि सूक्ष्मापर्याप्तस्य पञ्च स्थितिबन्धस्थानान्यपेक्ष्य सूक्ष्मपर्याप्तस्याष्टशतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि स्थितिबन्धस्थानानि विंशतिगुणादप्यधिकानीति कृत्वाऽसंख्येयगुणानि भवन्ति, तच्चासङ्गतम्, सूक्ष्माऽपर्याप्तस्य सर्वस्थितिबन्धस्थानेभ्यः सूक्ष्मपर्याप्तस्य सर्वस्थितिबन्धस्थानानामपि संख्येयगुणत्वादिति वाच्यम् । प्रकृतासत्कल्पनायाः परम्परोपनिधा-
मनपेक्ष्यानन्तरोपनिधापेक्षया दर्शितत्वात्, तदपेक्षया सुसङ्गतेति । तदेवमभिहितं स्थितिबन्धस्थानान्पबहुत्वं ।

अथ संकलेशविशुद्धिस्थानान्पबहुत्वं दर्शयन्नाह—“सव्यत्य विशुद्धिद्वयराण” मिति “ठाणाणि हुन्ति असंख्यगुणाहं” इत्येतद् देहलीदीपकन्यायेनात्रापि सम्बध्यते, ततो विशुद्धेरितरस्य संकलेशस्य वा स्थानानि-भेदाः सर्वत्र-सर्वेषु जीवस्थानेष्वसंख्येयगुणानि भवन्ति, क्रमादिति शेषः । तद्यथा—सूक्ष्मस्यापर्याप्तस्य संकलेशस्थानानि सर्वस्तोकानि, तेभ्योऽपर्याप्तवादरस्याऽसंख्येयगुणानि, तेभ्योऽपि पर्याप्तसूक्ष्मस्याऽसंख्येयगुणानि, तेभ्योऽपि पर्याप्तवादरस्याऽसंख्येयगुणानि, तेभ्योऽपि द्वीन्द्रियस्याऽपर्याप्तस्याऽसंख्येयगुणानि, एवं पर्याप्तद्वीन्द्रियाऽपर्याप्तपर्याप्तत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाऽसंख्येय-
संख्येयगुणानि यथोत्तरमसंख्येयगुणानि वाच्यानि । एवमेव विशुद्धिस्थानान्यपि यथोत्तरजीवभेदेऽसंख्येयगुणानित्यपि द्रष्टव्यमिति । अत्र वर्धमानकषायोदयजन्या आत्मपरिणामाः संकलेशा उच्यन्ते, हीयमानकषायोदयजन्यास्तु त एव विशुद्धयः । तथाहि—कर्मणां स्थितिबन्धे कारणीभूता आत्मनः क्रोधादिकषायजन्या आत्मपरिणामाः मामान्यतोऽध्यवसाया अध्यवसानानि वोच्यन्ते, ते एव मन्द-
कषायोदयात्तीव्रतीव्रतरादिकषायोदयाभिमुखश्चरन्तः पूर्वपूर्वापेक्षया संकलेश्यमानाः सन्तः संकलेशा अभिधीयन्ते, यदा तु तीव्रकषायोदयान्मन्दमन्दतरकषायोदयाभिमुखं चरन्ति, तदा विशुध्यमानाः सन्तो विशुद्धय इति व्यपदिश्यन्ते इति ।

ननु चतुर्दशजीवभेदेष्वपि स्थितिबन्धकारणीभूतानि संकलेशस्थानानि यथोत्तरमसंख्येय-
गुणान्येव कस्माद्भवन्ति ? उच्यते,—यथोत्तरजीवभेदेषु स्थितिबन्धस्थानानासुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणस्य चाधिक्यात्, अधिकाधिकतरादिस्थितिबन्धेऽधिकाधिकतरादिसंकलेशस्थानानां हेतुत्वाच्च । तथाहि—
प्रत्येकं स्थितिबन्धस्थानं नानाजीवान् समाश्रित्यासंख्यातलोकाकाशप्रदेशप्रमितैः संकलेशस्थानैर्वर्धयते,
वच्यते च—

“पृष्टिद्वयमसंख्येयं लोका अद्भुतं अजम्बुसंख्येयम् ।” इति ।

तत्रापि सूक्ष्मापर्याप्तस्य यत्सर्वजघन्यस्थितिबन्धात्मकं स्थितिस्थानं तस्य बन्धे हेतुभूतानि संकलेशस्थानानि स्तोकानि, तेभ्यः समयाधिकस्थितिबन्धस्थाने संकलेशस्थानानि विशेषाधिकानि, द्विसमयाधिकजघन्यस्थितिबन्धस्थाने तु ततोऽपि विशेषाधिकानि संकलेशस्थानानि, तेभ्यस्त्रिसमयाधिक-
जघन्यस्थितिबन्धस्थाने संकलेशस्थानानि विशेषाधिकानि भवन्ति, एवं तावद्वाच्यं यावद्दृष्टस्थिति-

बन्धः । अत्र साऽर्थाप्तसूत्रमैकेन्द्रियस्य स्थितिवन्धस्थानेषु जघन्यस्थितिवन्धादारभ्य पल्योपमस्याऽ-
संख्येयभागप्रमाणानि स्थितिवन्धस्थानान्यतिक्रम्य यत्स्थितिवन्धस्थानं तत्कारणीभूतसंक्लेशस्थानानि
जघन्यस्थितिवन्धस्थानकारणीभूतसंक्लेशस्थानापेक्षया द्विगुणानि भवन्ति, इदं हि संक्लेशस्थानानां
द्विगुणवृद्धेराद्यं स्थानमुच्यते, पुनरपि ततः प्रभृति तावन्ति पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणानि स्थितिवन्ध-
स्थानान्यतिक्रम्य यत्स्थितिवन्धस्थानं तत्कारणीभूतसंक्लेशस्थानानि प्रथमद्विगुणवृद्धिस्थानापेक्षया
द्विगुणानि भवन्ति, जघन्यस्थितिवन्धस्थानापेक्षया तत्र चतुर्गुणानि संक्लेशस्थानानि सन्ति, इदं हि
स्थितिवन्धस्थानं संक्लेशस्थानान्यधिकृत्य द्वितीयं द्विगुणवृद्धिस्थानमुच्यते, इतो द्वितीयद्विगुणवृद्धि-
स्थानादारभ्य पूर्ववद् यदा पल्योपमस्याऽसंख्येयभागप्रमाणानि स्थितिवन्धस्थानान्यतिक्रम्यन्ते तदा
तृतीयं द्विगुणवृद्धिस्थानं प्राप्यते, अत्र तृतीये द्विगुणवृद्धिस्थाने संक्लेशस्थानानि द्वितीयद्विगुणवृद्धि-
स्थानापेक्षया द्विगुणानि सन्ति, जघन्यस्थितिवन्धाऽऽत्मकस्थितिवन्धस्थानापेक्षया त्वष्टगुणानि सन्ति,
एवं पुनरपि पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणस्थितिस्थानान्यतिक्रम्यातिक्रम्य यथोत्तरं द्विगुणवृद्धिस्थानानि
भवन्ति; वक्ष्यते च—

“सत्तएह जहृणायो कमा विसेसाद्वियाणि आ खरमा ।

पलियाऽसंखियभागां गंतुं गंतुं दुगुणवड्डी ॥” इति ॥

एवंभूतानि द्विगुणवृद्धिस्थानानि सूत्रमापर्याप्तस्य जघन्यस्थितिवन्धादारभ्य तस्यैवोक्तकृष्ट-
स्थितिवन्धं यावद्गमनेनाऽसंख्येयानि प्राप्यन्ते, कुतः ? द्विगुणवृद्धिनिष्पादकपल्योपमासंख्येयभागस्य
सूत्रमापर्याप्तसंक्रमणग्रस्थितिवन्धस्थानापेक्षयाऽप्यसंख्येयगुणहीनत्वात् । अत एव वादरापर्याप्तादि-
जीवस्थानेषु यथोत्तरं संक्लेशस्थानान्यसंख्येयगुणानि प्राप्यन्ते, तथाहि—सूत्रमापर्याप्तस्योक्तकृष्ट-
स्थितिवन्धापेक्षया वादरापर्याप्तस्योक्तकृष्टस्थितिवन्धो योऽधिको जायते स सूत्रमापर्याप्तस्य स्थितिवन्ध-
स्थानापेक्षया संख्येयगुणेन पल्योपमासंख्येयभागेनाधिको जायते इति प्रागेवोक्तमसत्कल्पनया भावितं
च, सूत्रमापर्याप्तस्य जघन्यस्थितिवन्धे यानि संक्लेशस्थानानि तेभ्यस्तस्यैवोक्तकृष्टस्थितिवन्धस्थाने
तान्यसंख्येयगुणानि सन्ति; कुतः ? सूत्रमापर्याप्तस्य जघन्यस्थितिवन्धादुक्तकृष्टस्थितिवन्धं यावद्
गमनेनासंख्येयानां संक्लेशसत्कृष्टद्विगुणवृद्धिस्थानानां लाभात् । यदि च सूत्रमापर्याप्तोक्तकृष्टस्थिति-
वन्धादूर्ध्वं चरणेन प्राप्तेभ्यो वादरापर्याप्तस्थितिवन्धस्थानेभ्यः संख्येयभागप्रमाणेषु स्थितिवन्धस्थाने-
ष्वतिक्रान्तेषु संक्लेशस्थानान्यसंख्येयगुणानि लभ्यन्ते, तदा तेभ्यः—सूत्रमापर्याप्तस्थितिवन्धस्थानेभ्यः
संख्येयगुणेषु वादरापर्याप्तस्योर्ध्वचारप्राप्तेषु स्थितिवन्धस्थानेष्वतिक्रान्तेषु तानि संक्लेशस्थानानि
नियमेनासंख्येयगुणानि लभ्येरन्, इत्थमेव शेषजीवभेदेष्वपि भावनीयम्, यथोत्तरजीवभेदे स्थितेर्दीर्घ-
त्वात् । उक्तं च कमंप्रकृतिचूर्णा —

“कहं असंखेजगुणाणि ? भरणह—सुहुमअपजत्तस्स जहृणारो ठितिवन्धे जाणि संक्लेशद्वियाणि
ततो वितियाव ठितिह विसेसाद्वियाणि, पथं जाव तस्सेवुक्कसियाए ठितीए ठितिवन्धवक्कसाएद्वियाणि असंखेज-

गुणाणि लब्धमिति निकाशः । ततो चादरस्य अपञ्चनगस्य त्रितिवन्धदृष्टागुणाणि संख्येजगुणाणि, त्रितिवन्धनाप-
सु संकिलेमदृष्टाणा अमख्येजगुणा लब्धमिति एवं शेषेऽपि ।" इति ।

अत्र तन्त्रान्तरे कैश्चित्कृता भावना इत्थं बोद्धव्या—पञ्चमन्यस्थितिवन्धादारभ्य यावदाद्यं
द्विगुणवृद्धिस्थानं तावत् प्रथममयं संक्लेशस्थानानि विशेषाधिकानि भवन्तीत्युक्तम्, तत्र संक्लेश-
स्थानानां विशेषवृद्धयः सवत्र समानो बोद्धव्यः, तत्र आद्यद्विगुणवृद्धिस्थानानन्तरस्थानात्
पुनर्द्वितीयद्विगुणवृद्धिस्थानं तावद् विशेषवृद्धयः सर्वत्र समान एव बोद्धव्यः, नवरं पूर्वापेक्षया द्विगुणः,
ततोऽपि द्वितीयद्विगुणवृद्धिस्थानानन्तरस्थानादारभ्य यावत्तृतीयं द्विगुणवृद्धिस्थानं तावत्प्रतिस्थिति-
वन्धस्थानं वृद्धयंशोऽनन्तरगतवृद्धयंशापेक्षया द्विगुणो भवति, प्रथमगृहीतविशेषवृद्धयंशापेक्षया तु
चतुर्गुणो भवति, एवं यावदन्त्यं द्विगुणवृद्धिस्थानं तावत्संक्लेशस्थानानां विशेषवृद्धयंशो द्विगुणवृद्धि-
स्थानाऽनन्तरस्थानान्प्रारभ्य द्विगुणो द्विगुणो बोद्धव्यः, अन्यथा द्विगुणवृद्धिस्थानान्तरालवर्तिपण्यो-
पमासंख्येयभागानपत्यमङ्गः स्यात् । न च भवतु नैपत्यमङ्गः, को दोष इति वाच्यम् । तथा च
मति कुतश्चिदपि स्थितिवन्धस्थानान्प्रतिनियतपण्योपमासंख्येयभागानिक्रमणेन संक्लेशस्थानानि
द्विगुणानि नैव लभ्येरन्निति । अत्रासत्कल्पनया जघन्यस्थितिवन्धरूपप्रथमस्थितिस्थानस्य बन्धे
कारणीभूताः संक्लेशान्मका अध्यवसाया ये समयाधिकस्थितिवन्धप्रायोग्याध्यवसायेभ्यः स्तोका
उक्तास्तेऽष्टादश गृह्यन्ते, समयाधिकजघन्यस्थितिवन्धरूपे द्वितीयस्थितिवन्धस्थाने पूर्वापेक्षया
तद्वन्धहेतुभूताध्यवसाया विशेषाधिकाः सन्ति, अत्रासत्कल्पनायामसावधिकांशो द्विरूपो गृह्यते, तथा
च सन्यस्मिन् द्वितीयस्थितिवन्धस्थाने तद्वन्धहेतुभूताध्यवसाया त्रिंशतिः संजाताः, द्विसमयाधि-
कजघन्यस्थितिवन्धरूपे तृतीयस्थितिवन्धस्थानेऽध्यवसाया विशेषाधिका इति द्विरूपेणाधिकाः सन्ती
द्वात्रिंशतिर्भवन्ति, एवं यथोत्तरं द्विरूपेण विशेषेणाधिका अधिका भवन्तोऽध्यवसायाः पण्योपमासंख्येय-
भागेऽतिक्रान्ते प्रथमस्थानापेक्षया द्विगुणा भवन्ति, अत्रासत्कल्पनायामसौ पण्योपमासंख्येयभागो
नवममयप्रमाणः परिकल्प्यते, तथा च मति जघन्यस्थितिवन्धरूपप्रथमस्थितिवन्धस्थानादारभ्य
तत्रस्थितिवन्धस्थानेषु गतेषु सन्तु दशमे स्थितिवन्धस्थाने तद्वन्धहेतुभूताध्यवसायाः प्रथमस्थिति-
वन्धस्थानापेक्षया द्विगुणा इति षट्त्रिंशत् सम्यद्येगन्, तथाहि—चतुर्थे स्थितिवन्धस्थाने तद्वन्धहेतु-
भूताध्यवसायास्तृतीयस्थितिवन्धस्थानापेक्षया विशेषाधिका इति पूर्वापेक्षया द्विरूपेणाधिकाश्चतुर्विंशतिः
सन्ति, तैर्नैव प्रकारेण पञ्चमे स्थितिवन्धस्थाने षट्त्रिंशतिरध्यवसाया लभ्यन्ते, षष्टे स्थितिवन्धस्थाने
तु तेऽष्टाविंशतिः, सप्तमे तु त्रिंशत्, अष्टमे पुनर्द्वात्रिंशदध्यवसायाः, नवमे चतुस्त्रिंशत्, दशमे
स्थितिवन्धस्थाने तु तद्वन्धहेतुभूताध्यवसायाः षट्त्रिंशदभवन्, अत्र हि नवममयात्मकः कल्पितपण्यो-
पमासंख्येयभागोऽतिक्रान्तः, अत्र चाध्यवसायाः प्रथमस्थानापेक्षया द्विगुणा अभवन् । इत
आरभ्यानन्तरपण्योपमासंख्येयभागतया परिकल्पितेषु नवस्थानेषु विशेषवृद्धौ गृह्यमाणंशः प्रथमनव-
स्थानानि यावद् गृहीतांशापेक्षया द्विगुणो प्राह्यः, स च चतुरूपो भवति, अतश्चतुरूपस्य विशेषस्य

वर्धने सत्येकादशे स्थितिवन्धस्थाने तद्वन्धहेतुभूताध्यवसायाश्चत्वारिंशद्भवन् , द्वादशे स्थितिवन्धस्थाने तु ते चतुश्चत्वारिंशद् भवन्ति, इत्थमेव नवसमयात्मके तृतीये पन्योपमामंग्येयभागेऽतिक्रान्ते एकोनविंशतितमे च स्थाने प्राप्ते तत्र तद्वन्धहेतुभूताध्यवसाया द्वाप्तनिलेभ्यन्ते, इदं हि द्विगुण-वृद्धेर्द्वितीयं स्थानम्, अत्र द्वौ पन्योपमाऽमंग्येयभागावतिक्रान्ता, अत्र पूर्ववर्तिद्विगुणवृद्धिस्थानापेक्षया द्विगुणा अध्यवसायाः, जघन्यस्थितिवन्धस्थानापेक्षया तु चतुर्गुणाः, यतः प्रथमे स्थितिवन्धस्था-नेऽष्टादशाध्यवसाया आसन् , अत्र तु त्रिसप्ततिः, ते च पूर्वोपेक्षया चतुर्गुणाः सन्ति, इतस्तु तृतीय-पन्योपमामंग्यांश आरब्धः, तस्माद् यथोक्तं नवस्थानेषु विशेषवृद्धिर्नन्तर्गतविशेषवृद्धयपेक्षया द्विगुणा भवति, तथा च मति विंशतितमे स्थितिवन्धस्थाने तद्वन्धहेतुभूताऽध्यवसाया अशीतिर्भवन्, एवमेव यथोक्तं द्रष्टव्यम् । अनेन प्रकारेण मंग्यावृद्धिं प्राप्नुवन्तोऽध्यवसायाः कुतश्चिदपि स्थानात् पन्योपमामंग्येयभागेऽतिक्रान्ते द्विगुणा लभ्यन्त इत्येतदप्यत्रामत्कल्पनायां दृश्यते, तद्यथा—समयाधिकजघन्यस्थितिवन्धात्मके तृतीयस्थितिवन्धस्थाने तद्वन्धहेतुभूताध्यवसाया विंशतिः सन्ति, ततो नवस्थितिवन्धस्थानेष्वतिक्रान्तेष्वेकादशे स्थितिवन्धस्थाने तद्वन्धहेतुभूताध्यवसायाश्चत्वारिं-शद्भवन्ति, तृतीयस्थितिवन्धस्थानात्प्रारभ्य नवस्थितिवन्धस्थानेष्वतिक्रान्तेष्वध्यवसायास्तृतीयस्थिति-वन्धस्थानापेक्षया द्विगुणा लभ्यन्ते, यतस्तृतीये स्थाने द्वाविंशतिरध्यवसायाः, द्वादशे तु चतुश्चत्वारिंशत् , द्वादशस्थानात् पुनरपि नवस्थानात्मके पन्योपमामंग्यांशेऽतिक्रान्ते एकविंशतितमे स्थाने त्र्यध्यवसाया द्विगुणा इति अष्टाशीतिर्लभ्यन्ते, ते तु तृतीयस्थानापेक्षया चतुर्गुणाः, अनेनेव प्रकारेणानुक्तस्थानेष्वपिद्रष्टव्यं यावदुत्कृष्टस्थितिवन्धः । अत्र चतुःपञ्चाशत्स्थितिवन्धस्थानान्याश्रित्य स्थापना—*

इदन्तु बोध्यम्—यदत्र प्रतिस्थितिवन्धस्थानं तद्वन्धहेतुभूताध्यवसाया असंग्यलोकप्रमाणा उक्तान्ते नैकं जीवमाश्रित्य न वा एकं समयमाश्रित्य किन्तु नानाजीवान् सर्वकालं चाश्रित्य बोद्धव्याः । तथाहि—एका स्थितिः कश्चिज्जीवैस्तत्रायोग्यविवक्षितेनैकेनाध्यवसायेन बध्यते, सैव स्थितिरन्यैः कश्चिज्जीवैस्तरेव पूर्वोक्तजीवैर्वा कालान्तरेऽध्यवसायान्तरेण निर्वर्त्यते, एवं सैव स्थितिरपरैर्जीवै-भिन्नाध्यवसायविशेषेण जन्यते, इत्येवं जीवानां कालस्य चानन्त्यात् प्रतिस्थितिवन्धस्थाने तद्वन्ध-हेतुभूताध्यवसाया असंग्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमिता अवाप्यन्ते । न च जीवानां कालस्य चानन्त्याद् भिन्नभिन्नाध्यवसायैरेकस्य विवक्षितस्थितिवन्धस्य सम्भवाच्चैकस्थितिवन्धे तद्वन्धहेतुभूताध्यवसाया अनन्ता अपि लभ्येरिति वाच्यम् । यत एका स्थितिः स्वभावतोऽसंग्यलोकाकाशप्रदेशप्रमितैर्नियता-ध्यवसायैरेव बध्यते, जीवानामानन्त्येऽपि समानाध्यवसायेन स्थितिं बध्न्तां जीवानामध्यवसायो जान्यपेक्षयैक एव गण्यते, इत्थमेव कालान्तरेण प्राप्तमष्टाध्यवसायविषयेऽपि बोद्धव्यम् । तत्र जीवानां कालस्य चानन्त्येऽपि नास्त्यनन्तानामध्यवसायानामेकस्थितिवन्धहेतुत्वावकाशः, किंच

*अत्रालेखेण स्थापना पर्याप्तावकाशाभावाद् विंशतितमे पृष्ठे आलेखिता, सा तत्र द्रष्टव्या ।

सर्वेऽपि स्थितिवन्धाध्यवसाया असंख्यलोकाकाशप्रदेशाशितुल्या एव, तत्कृत एकस्थितिवन्धे तद्वन्ध-
हेतुभूता अध्यवसाया अनन्ता लभ्येरन् ? न कृतश्चिदपीत्यलं विस्तरेणेति ॥५॥६॥

चतुर्दशजीवस्थानेषु स्थितिवन्धस्थानाऽध्यवसायस्थानाल्पबहुत्वादीनां यन्त्रम्

क्रमः	चतुर्दशजीवस्थानानि	स्थितिवन्धस्थानानाम्		अध्यवसायस्थानाना- मल्पबहुत्वम्
		अल्पबहुत्वम्	प्रमाणम्	
१	अपर्या० सू० एकैन्द्रिय०	स्तोक०	पल्योपसस्य असं० भाग०	असंख्येयगुण०
२	अप० चादरैकेन्द्रिय०	संख्येयगुण०	" "	"
३	पर्या० सू० सृष्टमैकेन्द्रिय०	"	" "	"
४	पर्या० चादरैकेन्द्रिय०	"	" "	"
५	अप० द्वीन्द्रिय०	असंख्येयगुण०	" संख्येयभाग०	"
६	पर्या० द्वीन्द्रिय०	संख्येयगुण०	" "	"
७	अप० त्रीन्द्रिय०	"	" "	"
८	पर्या० त्रीन्द्रिय०	"	" "	"
९	अप० चतुरिन्द्रिय०	"	" "	"
१०	पर्या० चतुरिन्द्रिय०	"	" "	"
११	अप० असंक्षिपञ्चे०	"	" "	"
१२	पर्या० असंक्षिपञ्चे०	"	" "	"
१३	अपर्या० असंक्षिपञ्चे०	"	अन्तःकोटाकोटी- सागरोपम०	"
१४	पर्या० असंक्षिपञ्चे०	"	देशेन ३० कोटाकोटि- सागरोपमादि०	"

(अष्टादशे घृष्टे प्रदर्शनीया पञ्चाशत्स्थितिवन्धस्थानान्याश्रित्याध्यवसायस्थानानामसत्कल्पनया स्थापना)

		जघन्यस्थितिवन्धादारम्य नवस्थानात्मका यथोत्तरपल्पन्योपमाऽसंख्येयभागाः					
		↓	↓	↓	↓	↓	↓
		प्राथम्यः	द्वितीयः	तृतीयः	चतुर्थः	पञ्चमः	षष्ठः
जघन्यस्थितिवन्धाऽऽत्मकं प्रथमं स्थानम् → समयोत्तरं द्वितीय स्थानम् → द्विसमयोत्तरं तृतीयं स्थानम् → एवम् उत्तरत्रापि.	१	१०	१०	१०	१०	१०	१०
	२	२०	३६	७०	१४४	२८८	५७६
	३	३०	४०	८०	१६०	३२०	६४०
	४	४२	४४	८८	१७६	३५२	७०४
	५	५४	४८	९६	१९२	३८४	७६८
अष्टादश-त्रिंशत्याद्याः प्रथमा- दिस्थितिवन्धस्थानहेतुभूताध्य- वसायसंख्याः ।	६	२६	५२	१०४	२०८	४१६	८३२
	७	२८	५६	११२	२२४	४४८	८९६
	८	३०	६०	१२०	२४०	४८०	९६०
	९	३२	६४	१२८	२५६	५१२	१०२४
	१०	३४	६८	१३६	२७२	५४४	१०८८
प्रतिपल्योपमासंख्येयभागां यावद् जायमानविशेषस्य वृद्धिः →		↑	↑	↑	↑	↑	↑
		द्वाभ्यां	चतुर्भिः	षष्ठभिः	षोडशभिः	द्वात्रिंशद्भिः	चतुःषष्टिभिः

तदेवं दर्शितं चतुर्दशजीवभेदेषु मंक्रेशविशुद्धिस्थानानामप्यल्पबहुत्वम् । सम्प्रति चतुर्दशजीव-
भेदेष्वेव सविशेषभेदग्रमेदानधिकृत्य जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धाल्पबहुत्वं शाखा पञ्चकेनाह—

मन्वऽप्यो ठिइबंधो जइणो डहरो तत्रो अमंसगुणो ।

वायरपज्जस्स तत्रो समत्तसुहुमस्स अब्भहियो ॥७॥

एत्राउ विसेमऽहियो कमा अपज्जत्तवायरियराणं ।

सुहभियरापज्जाणं परमां पज्जमुहभियराणं ॥८॥

पज्जत्तस्स कणिट्ठो तत्रो अपज्जस्सऽणू तत्रो परमां ।

तो पज्जत्तस्स परो कमसो वेइदियस्स भवे ॥९॥

तेहंदियचउहंदियअमणाण कमा तहेव णायव्वां ।

एवरि लहू मंखगुणो समत्तविंदिय-अमरणीणं ॥१०॥

संखगुणोऽतो जइणो परमो देसस्स हस्सियरो ।

पज्जाईणुत्तकमसो चउरो मम्मत्तिमिच्छाणं ॥११॥ उपगीतिः

(प्रे०) “सच्चोत्पपो” इत्यादि, सर्वोच्यः—अनन्तरवक्ष्यमाणशेषसर्वस्थानेभ्यः स्तोक इत्यर्थः ।
 क इत्याह—“ठिइबंधो जइणो उहरो” ति यतेः ‘उहरो’—जघन्यः स्थितिवन्धः । यतोऽयं सूक्ष्म-
 सम्परायत्तपकस्य जायते, तस्य सूक्ष्मसम्परायत्तपकस्य लोभसूक्ष्मकिङ्कीवेदकस्य कवायोदयवत्शेषसर्व-
 जीवापेक्षया विशुद्धेराधिक्याज्जघन्योऽन्तमुहूर्तादिमात्रः स्थितिवन्धो भवति । इत उपरिष्ठाद् यद्यपि
 मातवेदनीयस्य सामयिको बन्धो भवति, तथापि तस्य समयादधिकावस्थानाभावात्स्थितिवन्धे गणनैव
 न क्रियते । वस्तुतः कापायिकः स्थितिवन्ध एव प्रकृतोऽधिकृतः, स तूपशान्तमोहादिगुणस्थानेषु नैव
 भवति, उपशान्तमोहादिषु सूक्ष्मस्याऽपि वाक्योदयस्यासत्तात् । “जइणे” ति ततः—एतित्तो जघन्य-
 स्थितिवन्धात् ‘असंखगुणो वायरपज्जस्स’ ति वादरपर्याप्तिकेन्द्रियस्य जघन्यस्थितिवन्धोऽसंख्येय-
 गुण इत्यर्थः, उहरोशब्दस्यात्रापि योजनात् । कुतोऽसंख्येयगुणः ? उच्यते, वादरपर्याप्तजघन्यस्थिति-
 बन्धस्यापि देशोत्तमगरोपमत्रिसप्तभागादिप्रमाणत्वात्, एतच्चापि स्थितिवन्धप्रमाणद्वारे ग्रन्थकारः
 स्वयमेव दर्शयिष्यति । “तओ” ति ततो—वादरपर्याप्तजघन्यस्थितिवन्धापेक्षया “समत्तसुहुमस्स
 अबभहियो” ति सभासस्य—स्वप्रायोग्यपर्याप्तीरपेक्ष्य पर्याप्तस्य, अर्थात् करणपर्याप्तसूक्ष्मकेन्द्रियस्य
 विशेषाधिकः, जघन्यस्थितिवन्ध इति पूर्ववद्द्रष्टव्यम्, प्रथमोपात्तस्य ‘उहरो’ इति शब्दस्याधस्तनस्थानेऽपि
 योजनात् । “एअउ” ति एतस्मात्—पर्याप्तसूक्ष्मकेन्द्रियजघन्यस्थितिवन्धात् “विसेसइहियो कमा”
 इत्यादि, विशेषाधिकः क्रमात् ‘अपज्जत्तवायरियराणं’ ति अपर्याप्तवादरकेन्द्रियस्येतरपदेन चापर्याप्त-
 सूक्ष्मकेन्द्रियस्य, जघन्यस्थितिवन्ध इति तु पूर्ववदिति । ‘सुहमियरापज्जाणं परमो’ ति, सूक्ष्म-
 केन्द्रियापर्याप्तस्य परमः—उत्कृष्टस्थितिवन्धः, इतरपदेन वादरकेन्द्रियापर्याप्तस्योत्कृष्टस्थितिवन्धश्चेत्यर्थः ।
 “पज्जसुहमियराण” मिति, परमशब्दस्य देहलोदोपकन्यायेनाऽत्रापि योजनात्, पर्याप्तसूक्ष्मकेन्द्रियस्यो-
 त्कृष्टस्थितिवन्धः, इतरस्य पर्याप्तवादरकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिवन्धश्च । अन्यानपि कमगतान् द्वीन्द्रियादीनां
 जघन्यादिस्थितिवन्धानाह—‘पज्जत्तस्स कणिट्ठो’ इत्यादिना, अत्र “पज्जत्तस्से” न्यादिपृथन्तानां
 गाथायाः पर्यन्ते “वेहंदियस्स भवे” इत्यनेनान्वयः, तथा च मति ‘पज्जत्तस्स कणिट्ठो तओ’
 ति ततः पर्याप्तवादरकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिवन्धात् पर्याप्तस्य द्वीन्द्रियस्य कनिष्ठः—जघन्यस्थितिवन्धः ।
 “अपज्जत्तस्सण” ति ततोऽपर्याप्तस्य द्वीन्द्रियस्याणुः—जघन्यस्थितिवन्धः, “तओ परमो” ति
 ततस्तस्यैवापर्याप्तद्वीन्द्रियस्य परमः—उत्कृष्टः स्थितिवन्धः । “तो पज्जत्तस्स परो” ति ततः पर्याप्तस्य
 द्वीन्द्रियस्य परः—उत्कृष्टः स्थितिवन्धः “कमसो वेहंदियस्स भवे” इति योजितम् । “तेहंदिये” इत्यादि,

पर्याप्तदीन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिवन्धानन्तरं त्रीन्द्रियस्य चतुरिन्द्रियस्य तथा "अमण" चि अमनाऽसंज्ञी तस्य, अमंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्येत्यर्थः "कमा" चि अमीपां त्रयाणां कमात् 'तहेव णायव्वो" चि तथैव यथा द्वीन्द्रियस्य प्रथमतः पर्याप्तस्य जघन्यस्ततोऽपर्याप्तस्य जघन्यस्ततोऽपर्याप्तस्योत्कृष्टस्ततः पर्याप्तस्योत्कृष्टः स्थितिवन्ध इत्येतेन क्रमेणोक्तस्तेनैव क्रमेण ज्ञातव्यः, अयमभावः—पर्याप्तदीन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिवन्धात् त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्यस्थितिवन्धः, ततस्तस्यैव त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तस्य जघन्यः स्थितिवन्धः, ततस्तस्यैवापर्याप्तस्योत्कृष्टस्थितिवन्धः, ततस्तस्यैव त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तस्योत्कृष्टस्थितिवन्धः, ततः पुनश्चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्यः, ततस्तस्यैव चतुरिन्द्रियस्यापर्याप्तस्य जघन्यः, ततस्तस्यैवापर्याप्तस्योत्कृष्टः, ततस्तस्यैव चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तस्योत्कृष्टः स्थितिवन्धः, ततः पुनस्तेनैव क्रमेण संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्यः, ततोऽपर्याप्तस्य जघन्यः, ततोऽपर्याप्तस्योत्कृष्टः, ततः पर्याप्तस्योत्कृष्टश्च एते एकैन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां मुक्तक्रमेण दर्शिता जघन्यादि-स्थितिवन्धाः वक्ष्यमाणापवादं विवर्ज्य यथोत्तरं विशेषाधिका द्रष्टव्याः । कुत एवं गम्यते ? "एभ्राउ विसेसऽहियो" इति प्रागुक्तस्य "विशेषाधिक" इति पदस्यासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिवन्धं यावदनुकर्षणात् । एवं मामान्यतः सर्वत्र यथोत्तरं विशेषाधिकेऽभिहिते याऽनिप्रसक्तिस्तां निराकर्तु-मपवदति—“णवरि लहू” इत्यादि, नवरं लघुः—जघन्यः स्थितिवन्धः संख्यगुणः । कस्य कस्ये-त्याह—“समत्तविदिथअसण्णीणं” चि अत्र “समत्त” इति शब्दस्य प्रत्येकं योजनात् पर्याप्तस्य द्वीन्द्रियस्य, पर्याप्तस्यासंज्ञिनश्चेत्यर्थः । वक्तव्य इति शेषः । इदमुक्तं भवति—पर्याप्तवादर्केन्द्रिय-स्योत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिक इति कथनानन्तरं पर्याप्तदीन्द्रियस्य जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिको न वक्तव्यः, किन्तु संख्येयगुणो वक्तव्यः, तथैव चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तस्योत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिक इत्यभिधानानन्तरमसंज्ञिनः पर्याप्तस्य जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिको न वक्तव्यः, किन्तु संख्येयगुणो वक्तव्यः, तदन्येषु स्थानेषु पुनर्विशेषाधिक एव वक्तव्य इति । पर्याप्तसंज्ञिन उत्कृष्टस्थितिवन्धादूर्ध्व-मप्याह—“संखगुणोऽतो जइणो” इत्यादि, अत्र लुमाकारस्य योजनात् 'संखगुणो अतो' चि इत आरभ्यानन्तरवक्ष्यमाणस्थानेषु यथोत्तरं जघन्य उत्कृष्टो वा स्थितिवन्धः सर्वत्र संख्यगुणः, द्रष्टव्य इति शेषः, तमेवाह—“जइणो परमो” इत्यादिना, तत्र “जइणो परमो” चि यतेः—संयतस्य परमः—उत्कृष्टस्थितिवन्धः, जघन्यस्थितिवन्धस्तु तस्य प्रागेव सर्वान्पस्थितिवन्धतयोक्तः, अयं तूत्कृष्टः । “वेसस्स हस्सियरो” चि ततो देशविरतस्य ह्रस्वः स्थितिवन्धस्ततस्तु तस्यैवेतरः—उत्कृष्टः स्थितिवन्धः, “पज्जाईणुत्तकमसो” चि ततः पुनः पर्याप्तादीनामुक्तकमात्, यो द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तादिसत्कजघन्यादि-स्थितिवन्धेषु क्रम उक्तस्तेन क्रमेणेत्यर्थः । तेन क्रमेण किमित्याह—“चउरो” चि चन्दारः स्थितिवन्धाः, केषां पुनः पर्याप्तादिमत्काश्चत्वारः स्थितिवन्धा इत्याह—“सम्मत्तिमिच्छाणं” चि आदावविरत-सम्यग्दृशः पर्याप्तादिमत्काश्चत्वारः स्थितिवन्धास्ततो संज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृशः पर्याप्तादिमत्काश्चत्वारः स्थितिवन्धाः प्रागुक्तद्वीन्द्रियसत्कचतुर्विधस्थितिवन्धानां क्रमेण वक्तव्या इत्यर्थः । तद्वक्तव्यता त्वैव

भवति—देशविरतस्योत्कृष्टस्थितिवन्धात् पर्याप्तस्याविरतमम्यदृष्टेर्जघन्यस्थितिवन्धः, ततोऽपर्याप्तस्याविरतमम्यदृष्टेर्जघन्यस्थितिवन्धः, ततस्तस्यैवापर्याप्तस्याविरतमम्यदृष्टेरुत्कृष्टस्थितिवन्धः, ततस्तु पर्याप्तस्याविरतमम्यदृष्टेरुत्कृष्टस्थितिवन्धः, ततः पुनः पर्याप्तस्य मंजिपञ्चेन्द्रियमिध्यादृष्टेर्जघन्यस्थितिवन्धः, ततोऽपर्याप्तस्य मंजिपञ्चेन्द्रियमिध्यादृष्टेरुत्कृष्टस्थितिवन्धः, ततः पर्याप्तस्य मंजिपञ्चेन्द्रियमिध्यादृष्टेरुत्कृष्टस्थितिवन्धः, इत्यनेन क्रमेण यथोत्तरं संख्येयगुणा भवन्ति "संख्यगुणोऽतो" इति वचनात् । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णम्—

"सव्यस्थोचो मंजवस्म जहृणगो त्रिबन्धो । एगिन्दियवाद्रपञ्जत्तगस्म जहृणगत्र त्रिबन्धो असंखेज्जगुणो । सुहुमस्म पञ्जत्तगस्म जहृणगो त्रिबन्धो त्रिसेसाद्विभो । अपञ्जत्तगस्म वायरस्म जहृणगो त्रिसेसाद्विभो । सुहुमस्म अपञ्जत्तगस्म जहृणगो त्रिसेसाद्विभो । तस्सेवुक्कस्मगो त्रिबन्धो त्रिसेसाद्विभो । वादास्म अपञ्जत्तगस्म उक्कोसो त्रिसेसाद्विभो । सुहुमस्म पञ्जत्तगस्म उक्कोसो त्रिसेसाद्विभो । वादस्म पञ्जत्तगस्म उक्कोसो त्रिसेसाद्विभो । ततो वेइन्दियस्म पञ्जत्तगस्म जहृणगत्रो संख्यगुणो । तस्सेव अपञ्जत्तगस्म जहृणगत्रो त्रिसेसाद्विभो । तस्सेवुक्कस्मगो त्रिसेसाद्विभो । वेइन्दियस्म पञ्जत्तगस्म उक्कोसो त्रिसेसाद्विभो । तत्रो तेइन्दियस्म पञ्जत्तगस्म जहृणगो त्रिसेसाद्विभो । तस्सेव अपञ्जत्तगस्म जहृणगत्रो त्रिसेसाद्विभो । तस्सेवुक्कोसो त्रिसेसाद्विभो । तेइन्दियस्म पञ्जत्तगस्म उक्कोसो त्रिसेसाद्विभो । चरिन्दियपञ्जत्तस्म जहृणगत्रो त्रिसेसाद्विभो । तस्सेव अपञ्जत्तगस्म जहृणगत्रो त्रिसेसाद्विभो । तस्सेव उक्कोसो त्रिसेसाद्विभो । तस्सेव पञ्जत्तगस्म उक्कोसो त्रिसेसाद्विभो । असरिणपंचिन्दियस्म पञ्जत्तगस्म जहृणगत्रो संखेज्जगुणो । तस्सेव अपञ्जत्तगस्म जहृणगत्रो त्रिसेसाद्विभो । तस्सेवुक्कस्मगो त्रिसेसाद्विभो । असरिणपंचिन्दियस्म पञ्जत्तगस्म उक्कोसो त्रिबन्धो त्रिसेसाद्विभो । ततो मंजतस्म उक्कोसगो त्रिबन्धो संखेज्जगुणो । "विरते देसजहृदुगे सम्मचउक्के य संख्यगुणो" ति ततो देशविरतस्य जहृणगत्रो त्रिबन्धो संखेज्जगुणो । तस्सेव उक्कस्मगो त्रिबन्धो संखेज्जगुणो । सम्मचउक्के यति असंजयसम्मदिद्वितीयस्म पञ्जत्तगस्म जहृणगुक्कोसगति मरिणतं होति । देसविरतस्य उक्कोसा त्रिबन्धातो असंजयसम्मदिद्वितीयस्म पञ्जत्तगस्म जहृणगत्रो त्रिबन्धो संखेज्जगुणो । तस्सेव अपञ्जत्तगस्म जहृणगत्रो त्रिबन्धो संखेज्जगुणो । तस्सेवुक्कस्मगो त्रिबन्धो संखेज्जगुणो । असंजयसम्मदिद्वितीयस्म पञ्जत्तगस्म उक्कस्मगो त्रिबन्धो संखेज्जगुणो । असंजयसम्मदिद्वितीयस्म पञ्जत्तगस्म उक्कस्मगानो त्रिबन्धातो मरिणपंचिन्दियपञ्जत्तगस्म जहृणगत्रो त्रिबन्धो संखेज्जगुणो । तस्सेव अपञ्जत्तगस्म जहृणगत्रो त्रिबन्धो संखेज्जगुणो । तस्सेवुक्कस्मगो त्रिबन्धो संखेज्जगुणो" इत्यादि ।

अत्र मंयतस्य जघन्यस्थितिवन्धः रूपकश्रेणिसत्क इति कृत्वा सर्वाल्प इति तु प्रागेवाभिहितम्, तत्रापि पर्याप्तवादादेर्केन्द्रियस्य जघन्यस्थितिवन्धोऽसंख्येयगुण इत्यत्रापि पर्याप्तवादादेर्केन्द्रियस्य स्थितिवन्धो जघन्यतोऽपि देशानयागरीपमत्रिप्लभागादिमानो जायते इति हेतुर्दाशितः, तत्र आरभ्य क्रमेणोक्तेष्वेकेन्द्रियसत्केषु सप्तस्वपि स्थानेषु यथोत्तरं विशेषाधिकः स्थितिवन्ध उक्तः, यत एकेन्द्रियस्येतेषु जघन्यस्थितिवन्धापेक्षयोत्कृष्टोऽपि स्थितिवन्धः पल्योपमासंख्येयभागेनैवाधिको जायते । ननु भवतूक्तनीत्या विशेषाधिकस्तथापि यथोक्तक्रमे कः प्रयोजकः ? उच्यते, उत्कृष्टादिस्थितिवन्धहेतुभूतायां

कपायोदयस्य तीव्रतायां मन्दतायां च पर्याप्तत्वाद्यवस्थाविशेषाः महकारिणो भवन्ति, तथा च मनि
यादृश्या कपायोदयस्य तीव्रतामन्दते वादृश्य सम्भवतस्तादृश्या तीव्रतामन्दते सूक्ष्मस्य न सम्भ-
वतः । कुतः ? तथाविधतीव्रमन्दकपायादप्रमहकारिणो विहात्, एवं यादृश्या कपायोदयस्य तीव्रतामन्दते
पर्याप्तस्य सम्पद्येते तादृश्या तीव्रतामन्दतेऽपर्याप्तस्य न सम्पद्येते, एवमेव यादृश्या तीव्रतामन्दते
द्वीन्द्रियादीनां सम्भवतस्तादृश्या नैकेन्द्रियस्य, इन्धमेवामज्यादिव्यपि प्रतिपन्नभेदमादाय द्रष्टव्यम् ।
एतेन कारणेन पर्याप्तत्वाद्वादेकेन्द्रियाणां जघन्यादिस्थितिवन्ध उक्तक्रमेणाधिकाधिकतरो लभ्यते, स
चोत्तरतस्थानेषु पल्योपमसंख्येयभागेनाध्यधिकोऽभ्यधिक इति कृत्वा तथैवोक्त इति । एकेन्द्रियस्यो-
त्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया द्वीन्द्रियस्योत्कृष्टः स्थितिवन्धः पञ्चविंशतिगुणो जायते । वच्यते च—

‘मोहगुणद्विडमन्ता सत्तण्डं श्रोहजेदृष्टद्विबंधो ।

सो जेष्टो सध्वेसुं पणिदियपंचकायभेगसु ॥४२॥

स ह्यो पणवीमाण पणणासाण सयेण सहसेण ।

सत्तण्डं गुरू कमसो समन्वविगलेसु अमणास्मि ॥४३॥ ॥ इत्यादि ॥

स च द्वीन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिवन्धः पल्योपमस्य संख्येयभागेन न्यूनः सन् द्वीन्द्रियस्य
जघन्यस्थितिवन्धो भवति, तस्य च बन्धकाः प्रागुक्तनीत्या पर्याप्तद्वीन्द्रियाः, न पुनरपर्याप्तद्वीन्द्रियाः,
अपर्याप्तद्वीन्द्रियाणां तथाविधसामग्र्यभावेन पर्याप्तद्वीन्द्रियाणामिव स्तोत्रस्थितिवन्धहेतुभूतविशुद्धेर-
सम्भवात्, अत एव पर्याप्तत्वाद्देकेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य जघन्यस्थितिवन्धः
संख्येयगुण उक्तः ।

ननु मा भवन्वपर्याप्तद्वीन्द्रियाणां पर्याप्तद्वीन्द्रियापेक्षया स्तोत्रः स्थितिवन्धः, तथाविधसामग्र्य-
भावात्, किन्त्वपर्याप्तकेन्द्रियापेक्षया त्वमीषामपर्याप्तद्वीन्द्रियाणां विशिष्टा सामग्री विद्यते, ततश्च-
तेषामेकेन्द्रियापेक्षया मन्दकपायोदयोऽपि सम्भवति, इत्थं चापर्याप्तद्वीन्द्रियाणामपर्याप्तकेन्द्रियापेक्षया
स्थितिवन्धः स्तोत्रो भवेत्, ततोऽपि त्रीन्द्रियादीनां मन्द-मन्दतर्कपायोदयप्रयोजकसामग्रीसद्भावात्
स्तोत्रस्तोत्रस्थितिवन्धो लभ्येत, तत् कुत एकेन्द्रियापेक्षया द्वीन्द्रियाणां ततोऽपि त्रीन्द्रियाणामित्येवं
वैपरीत्येनान्पबहुत्वमुच्यते ? इति चेद्, न, एकेन्द्रियादिषु जातिभेदेन स्वस्थाने पर्याप्तत्वादिमामग्रीप्रयुक्तं
यथोक्तं जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धात्पबहुत्वं प्राप्यते, न पुनः परस्थानापेक्षयाऽपि, यत् एकेन्द्रियापेक्षया
द्वीन्द्रियाणां, तदपेक्षया त्रीन्द्रियाणामेवं यथोक्तं मुक्तसामग्रीप्रयुक्तस्य विशुद्ध्याधिक्यस्य सम्भवेऽपि
बालमध्यमादिपुरुषाहारवत् तथास्वभावाद् द्वीन्द्रियादीनां यथोक्तं जघन्यतोऽपि महान् महत्तरः स्थिति-
बन्धो जायते । उक्तं च शतकवृत्ती—

‘विकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियेषु तु शुद्धिरधिकाऽपि लभ्यते । केवलां नेऽपि स्वभावादेव प्रस्तुतकर्मणां
महतीस्थितिमुपरचयन्तीति ।’

ततः पुनर्द्वीन्द्रियसत्केषु शेषत्रिस्थानेषु यथोक्तं विशेषाधिक उक्तरतत्रापि तादृशक्रमे पूर्ववत्
पर्याप्तत्वस्य काषायिकतीव्रतामन्दताविषये उपष्टम्भकत्वेन पल्योपमसंख्येयभागेन स्थितिवन्धाधिक्यादिति

हेतुबोद्धव्यः । इत्थमेव त्रीन्द्रियाग्रसंज्ञिपर्यन्तानां पर्याप्तादिमत्कजघन्यादिस्थितिवन्धानां निरुक्तक्रमेण विशेषाधिकारे विभावनीयम् । तन्वेकेन्द्रियोत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया यथा द्वीन्द्रियपर्याप्तस्य जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुण उक्तस्तथा द्वीन्द्रियोत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया पर्याप्तत्रीन्द्रियस्य जघन्यः स्थितिवन्धः, एवं त्रीन्द्रियोत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया चतुरिन्द्रियापर्याप्तस्य जघन्यस्थितिवन्धश्च संख्येयगुणो कथं नोक्तः ? उच्यते, यथैकेन्द्रियाणां स्थितिवन्धापेक्षया द्वीन्द्रियाणां स्थितिवन्धः सामान्यतः पञ्चविंशतिगुणो भवति, तथा त्रीन्द्रियाणां पञ्चाशद्गुणो भवति, चतुरिन्द्रियाणां तु शतगुणः, तथा च सन्यसावेकेन्द्रियस्थितिवन्धापेक्षया पञ्चाशद्गुणोऽपि त्रीन्द्रियाणां स्थितिवन्धो द्वीन्द्रियस्थितिवन्धापेक्षया द्विगुण एव भवति, तत्रापि द्वीन्द्रियोत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया न्वसौ पर्याप्तत्रीन्द्रियाणां जघन्यस्थितिवन्धो द्विगुणोऽपि न भवति, तस्माद्विशेषाधिक उक्तः । इत्थमेवैकेन्द्रियस्थितिवन्धापेक्षया शतगुणोऽपि चतुरिन्द्रियाणां स्थितिवन्धस्त्रीन्द्रियस्थितिवन्धापेक्षया द्विगुण एव, तत्रापि त्रीन्द्रियोत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्य जघन्यस्थितिवन्धस्तु द्विगुणादपि हीनः, अतोऽसौ विशेषाधिक उक्तः । यः पुनरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां स्थितिवन्धः स त्वेकेन्द्रियस्थितिवन्धापेक्षया सहस्रगुणः, तथा च सन्यसौ चतुरिन्द्रियस्य स्थितिवन्धापेक्षया दशगुणः, अतोऽसौ जघन्यतः पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनोऽपि सन् चतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया संख्येयगुण एव जायते, अत एव पर्याप्तस्यासंज्ञिनो जघन्यः स्थितिवन्धश्चतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया विशेषाधिको न उक्तः, किंतु संख्येयगुण उक्तः । शेषेऽसंज्ञिसत्कत्रिस्थानेषु पूर्वोक्तहेतुना विशेषाधिक इति प्रागेवाभिहितम् । असंज्ञ्यपेक्षया संज्ञिनां श्रेणिगतवन्धवर्जशेषस्थितिवन्धः संख्येयगुण एव भवति, तत्रापि संयतस्योत्कृष्टस्थितिवन्धोऽसंज्ञिपर्याप्तस्योत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया संख्येयगुणोऽपि सन् शेषसंज्ञ्यपेक्षया संख्यातभागप्रमाण एव जायते, तस्मादसौ प्रागुपात्तः । ननु शेषसंज्ञ्यपेक्षया कस्मादसौ संयतस्यान्वो भवति ? उच्यते, संयतस्यानन्तानुबन्धिनामिवाप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरणकषायाणामप्यनुदयात् शेषदेशविरताद्यपेक्षया मन्दः संक्लेशः, तथा च सति स्थितिवन्धोऽप्यल्प इति । सर्वविरत्यभिमुखानामपि देशविरतानां प्रत्याख्यानावरणकषायाणामप्युदयात् मिथ्यात्वाभिमुखसर्वविरत्यपेक्षया विशुद्धिरल्पा, तथा च सति तेषां स्थितिवन्धः संयतोत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया संख्येयगुणो भवति, मिथ्यात्वाभिमुखानां देशविरतानां तु संक्लिष्टत्वात् स्वीयजघन्यस्थितिवन्धापेक्षयाऽपि संख्येयगुणः स्थितिवन्धो जायते, तस्मात् तेषु त्रिषु स्थानेष्वपि यथोक्तं संख्येयगुण उक्तः । ननु सर्वविरत्यभिमुखो विशुद्धयमानः, मिथ्यात्वाभिमुखस्तु संक्लिष्टयमानः, यद्यत्र तर्हि कथमनयोर्विशुद्धिसंक्लेशयोस्तारतम्यं हेतुतया चिन्त्यते, यतः स्वस्थानेष्वेव संक्लेशेन सह संक्लेशस्य, विशुद्ध्या समं विशुद्धेर्वा हीनाधिक्यचिन्तामम्भवः; न तु परस्परविरुद्धयोः संक्लेश-विशुद्धयोरिति । अत्र प्रतिविधीयते-अभिप्रायापरिज्ञानात्, यदस्माभिः प्रागुक्तमेव यानि संक्लेशस्थानानि तान्येव विशुद्धिस्थानानि इत्यादि; व्यपदेशभेदस्त्वनन्तरप्राप्यावस्थाविशेषमधिकृत्य, यतस्तान्यारोहत्परिणामस्य विशुद्धय इति व्यपदेशभाज्जि, पतत्परिणामस्य तु

संक्लेशा इति, सिद्धाचलाधारुह्यमानावरुह्यमानयोरैकस्मिन्नेव सोपानवर्तिनोर्व्यपदेशमेदवत् , उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णो—

“जाणि चैव संकिलेसमाणस्स संकिलेसट्ठाणाणि ताणि चैव विसुञ्जमाणस्स विसोहिट्ठाणाणि । सोवाणारोहरण-ओयरणविट्ठंतेण गायञ्वाणी” ति ।

अत्रिरतमम्यग्दशामग्रन्याख्यानवरणकषायाणामप्युद्यो विद्यते, तथा च सति स्थितिवन्धो देशविरतापेक्षयाऽप्यधिकः, शपं तु पूर्ववत् । इन्धमंध संज्ञिपञ्चेन्द्रियमिध्यादृष्टिविषयकस्थितिवन्धेऽपि विभावनीयम्, मिध्यादृशामनन्तालुबन्धिकषायाणामप्युद्यत्, तत्रापि पर्याप्तपर्याप्तस्थितिवन्धविषयकय-थोक्तक्रमे हेतुर्दीन्द्रियादिवद्द्रष्टव्य इति । अत्रेवं बोध्यम्—असंज्ञिपर्यन्तेषु पदेषु यत्र यावान् स्थितिवन्धो भवति तावान् दर्शितः, संयतोन्कृष्टस्थितिवन्धपदादारभ्यापर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमिध्यादृष्ट्युत्कृष्टस्थिति-वन्धपर्यन्तेषु दशपदेषु यथोत्तरं संख्येयगुणोऽपि स्थितिवन्धः सर्वत्रान्तःकोटीकोटीसागरोपममात्रः, अन्तिमपदे त्वसौ ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीः समाश्रित्य त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमादिवच्यमाण-प्रमाणो बोद्धव्य इति ।

इदन्त्वबधारणीयम्—प्रकृतद्वारे प्ररूपितानि त्रीण्यल्पबहुत्वानि मूलकारेणाऽनिर्दिष्टेऽ-प्यायुर्वर्जानां ममानां प्रकृतीनां स्थितिवन्धस्थानादिविषयाणि बोद्धव्यानि । आयुषः स्थितिवन्ध-स्थानादिविषयकान्यबहुत्वानि तु सुगमन्धात्स्वयमेवोद्भवानि । तद्यथा-मंडयसंज्ञिपर्याप्तजीवभेदद्वयवर्जानां शेषाणामेकेन्द्रियादीनां प्रत्येकमायुषः स्थितिवन्धस्थानानि स्तोक्रानि परस्परं च तुल्यानि; यतोऽमी-षामेकेन्द्रियादीनां प्रत्येकमुत्कृष्टतोऽपि पूर्वकोटीवधप्रमाणः पारभविकायुषः स्थितिवन्धो जायते । तेभ्यश्चा-संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्यायुषः स्थितिवन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि, कुतः ? अस्योन्कृष्टतः पल्यो-पमामंख्येयसागप्रमाणायुर्वन्धभावात् । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्याऽऽयुःसत्कस्थितिवन्धस्थानेभ्यः संज्ञि-पञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्यायुषः स्थितिवन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि, यतः संज्ञिपञ्चेन्द्रियैरुत्कृष्ट-मायुस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं वच्यते इति ।

आयुषः स्थितिवन्धेऽनुभूतानां संक्लेशविशुद्धिस्थानानामल्पबहुत्वमपीन्धमेव बोद्धव्यम् । यत आयुषः स्थितिबृद्धौ नियमेनासंख्येयगुणसंक्लेशविशुद्धिस्थानानां वृद्धिर्भवति । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णो—

“आउगस्स जहणिणमाण टितिण टितिवन्धज्जवसाणट्ठाणाणि थोवाणि । वितियाण असंखेज्ज-गुणाणि । नतियाण असंखेज्जगुणाणि । एधं जाव उक्कसिता टितिंति ॥ ८७ ॥ इति”

आयुषो जघन्योन्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणान्यबहुत्वं पुनरिन्धम्—चतुर्दशविधानामपि जीवानां जघन्यस्थितिवन्धः सर्वस्तोक्रः परस्परं च तुल्यः । कुतः ? प्रत्येकं जीवभेदेषु कुल्लकभवप्रमाणज-घन्यस्थितिवन्धभावात् । ततः सूक्ष्मवादर्केन्द्रिय-डीन्द्रिय-श्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाणां पर्याप्तानामपर्याप्तानां तथा संख्येयसंज्ञिपञ्चेन्द्रिययोरपर्याप्तयोरित्येतेपामन्यतमस्याप्यायुष उक्कृष्टस्थितिवन्धः संख्येयगुणः

सविशेषचतुर्दशजीवभेदेषु जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धान्पद्यद्वययन्त्रम्

क्रमः	जीवभेदाः	वन्धः	अल्पबहु०	क्रमः	जीवभेदाः	वन्धः	अल्पबहु०
१	संयमिनः	जघ०	स्तोकः	१६	अपर्याप्तस्य-चतुरिन्द्रियस्य	जघ०	विशेषाधिक.
२	पर्याप्त-बादरैकेन्द्रियस्य	"	असंख्येयगु०	२०	अपर्याप्तस्य-चतुरिन्द्रियस्य	उत्कृ०	"
३	पर्याप्त-सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य	"	विशेषाधिक.	२१	पर्याप्तस्य-चतुरिन्द्रियस्य	"	"
४	अपर्याप्त-बादरैकेन्द्रियस्य	"	"	२२	पर्याप्तस्य-असंख्येयगुणैन्द्रि०	जघ०	संख्येयगुणः
५	अपर्याप्त-सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य	"	"	२३	अपर्याप्तस्य	"	विशेषाधिक.
६	अपर्याप्त-सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य	उत्कृ०	"	२४	अपर्याप्तस्य	उत्कृ०	"
७	अपर्याप्त-बादरैकेन्द्रियस्य	"	"	२५	पर्याप्तस्य	"	"
८	पर्याप्त-सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य	"	"	२६	संयतस्य	"	संख्येयगुणः
९	पर्याप्त-बादरैकेन्द्रियस्य	"	"	२७	देशसंयतस्य	जघ०	"
१०	पर्याप्त-द्वीन्द्रियस्य	जघ०	संख्येयगुणः	२८	देशसंयतस्य	उत्कृ०	"
११	अपर्याप्त-द्वीन्द्रियस्य	"	विशेषाधिः	२९	पर्याप्तस्याविरत- सम्यग्दृष्टेः	जघ०	"
१२	अपर्याप्त-द्वीन्द्रियस्य	उत्कृ०	"	३०	अपर्याप्त	"	"
१३	पर्याप्त-द्वीन्द्रियस्य	"	"	३१	अपर्याप्त	उत्कृ०	"
१४	पर्याप्त-त्रीन्द्रियस्य	जघ०	"	३२	पर्याप्त	"	"
१५	अपर्याप्त-त्रीन्द्रियस्य	"	"	३३	पर्याप्त-संख्येयगुणादृशः	जघ०	"
१६	अपर्याप्त-त्रीन्द्रियस्य	उत्कृ०	"	३४	अपर्याप्त	"	"
१७	पर्याप्त-त्रीन्द्रियस्य	"	"	३५	अपर्याप्त	उत्कृ०	"
१८	पर्याप्त-चतुरिन्द्रियस्य	जघ०	"	३६	पर्याप्त	"	"

परस्परं स्वमीषामसौ तुल्य एव । यतोऽभिभिः प्रत्येकमायुष उत्कृष्टा स्थितिः पूर्वकोटीप्रमाणा निर्वर्त्यते, सा च पट्यञ्चाशदभ्यधिकद्विशतावलिकाप्रमाणञ्जुल्लकभवापेक्षया संख्येयगुणा भवति । ततः पुनरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्योत्कृष्टस्थितिवन्वोऽसंख्येयगुणः, पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणत्वात्तस्य । ततोऽपि संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्योत्कृष्टोऽसंख्येयगुणः, त्रयस्त्रिंशन्मासरोपमप्रमाणत्वादिति ॥७॥८॥ ६।१०।११॥ तदेवमभिहितं जीवभेदेषु मूलप्रकृतिमत्कजघनयोत्कृष्टस्थितिवन्धाल्पवहुत्वमपि; इत्थं च गतं "ठिड्ठाणाणि" इत्यनेनोद्दिष्टं प्रथमं द्वारम् ।

अथ क्रमप्राप्ते द्वितीयद्वारे निषेकस्य प्ररूपणा कर्तव्या, तत्र निषेकपदार्थस्तु कर्मदत्तरचना-विशेष इति प्रागभिहितम्, तस्य च प्ररूपणाऽनन्तरोपनिधा-परम्परोपनिधाभेदेन द्विधा क्रियते, तत्रादावनन्तरोपनिधयाऽऽह—

चउदसविहजीवेषु अट्टणह भवे दलं सगमवाहं ।

मोत्तूण पढमसमये बहुं कमित्तो विसेसूणं ॥१२॥

(श्रे०) "चउदसविहजीवेषु" मित्यादि, चतुर्दशविधेषु जीवेषु—जीवस्थानेषु ज्ञानावरणीयादी-नामष्टानां मूलकर्मणां प्रत्येकं स्वकामबाधां मुक्त्वा प्रथमसमये यदलं—कर्मप्रदेशात् तद् बहु भवेत्, इतो द्वितीयादिसमयेषु क्रमाद्विशेषीनं, दलं भवेदिति पूर्वतो योज्यमिति संक्षेपः । विस्तरस्तु—सूक्ष्मै-केन्द्रियबाधैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया इत्येते सप्ताऽपि प्रत्येकं पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदाद्द्विधेति कृत्वा चतुर्दशजीवस्थानानि, उक्तं च—

"पण्डित्यसुहृमियरा, सन्नियरपण्डित्या य सधित्तिचउ ।

अपजत्ता पिज्जत्ता, कमेण चउदस त्रियट्टाणा ॥" १ ॥ इति ॥

एतेषु प्रत्येकं ज्ञानावरणीयादेर्वन्धप्रायोग्यामुत्कृष्टां स्थितिमपेक्ष्य याऽऽवाधा दलिकनिषेका-योग्यकालरूपा प्राप्यते तां मुक्त्वा प्रथमसमये-अवाधाकालानन्तरवर्तिसमये यदलिकं निषिञ्च्यते तद् द्वितीयादिसमयेषु प्रत्येकं निषिञ्च्यमानदलिकापेक्षयाऽधिकं भवति, इतः प्रथमसमयादूर्ध्वं द्वितीयादिसमयेषु प्रत्येकं यथोत्तरं विशेषहीनं विशेषहीनं दलिकं भवति, प्रथमसमयापेक्षया द्वितीय-समये विशेषहीनम्, द्वितीयसमयापेक्षया तु तृतीयसमये विशेषहीनम्, ततोऽपि चतुर्थसमये विशेषहीनं दलिकम्, एवं यथोत्तरसमयेषु वाच्यमिति । उक्तं च श्रीमन्मलयगिरिपूज्यः कर्मप्रकृतिटीकायाम्—

"तत्र प्रथमायां स्थितौ समयलक्षणयां प्रभूततरं द्रव्य-कर्मदलिकं निषिञ्चति । गत्तो विसेसहीणं" इति—इतः प्रथमस्थितेरूर्ध्वं द्वितीयादिषु समयसमयप्रमाणासु विशेषहीनं विशेषहीनं कर्मदलं निषिञ्चति । तथाहि—प्रथमस्थितेः सकाशान् द्वितीयस्थितौ विशेषहीनम्, ततोऽपि तृतीयस्थितौ विशेषहीनं ततोऽपि चतुर्थस्थितौ विशेषहीनमित्यादि ।"

ननु चतुर्दशजीवभेदेषु प्रत्येकं ज्ञानावरणीयादीनां कियतोमबाधां विचर्य कर्मदलं निषिञ्चति ? उच्यते, अवाधानियमानुसारेण यावन्यबाधा लभ्यते तावतीमबाधां विचर्य । वच्यते चावाधानियमः—

“सागरकोडाकोडी बन्धो सन्नएह जन्तिआऽऽवाहा ।
 नावड्वा च्च सयसमा तदूणिओ कम्मण्णिसेगो ॥३५॥
 सन्नएह अवाहा खलु ठिड्बंधा अंतकोडिकोडीए ।
 सगलहुठिड्बंधं जा सज्जह ह्वण मुहुत्तानो ॥”३५॥ इति ।

तथा च सति पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिजीवभेदे सर्वकर्मणामोद्योत्कृष्टस्थितिवन्धस्य भाषाद-
 वाधाऽप्युत्कृष्टा लभ्यते । तथाहि—ज्ञानावरण—दर्शनावरण—वेदनीया-ऽन्तरायाणां चतुःकर्मणामुत्कृष्ट-
 स्थितिवन्धस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यो भवति, वक्ष्यते च—

“ठिड्बंधो उक्कोसो पदमदुइअतइअद्वसाण भवे ।
 सागरकोडाकोडी तीसा तुरिअस्य खलु सयरी ॥३७॥
 आउस्स गुरु शेयो ठिड्बंधो सागराणि तेत्तीसा ।
 बीसा कोडाकोडी जलहीणं गामगोआणं ॥”३७॥ इति ।

इत्थं च तथाविधनियमात् तेषां ज्ञानावरणीयादीनां चतुर्णां प्रत्येकं त्रीणि वर्षसहस्राण्यवाधा
 लभ्यते. अतस्त्रीणि वर्षसहस्राण्यवाधां द्विवर्ज्यं यत्प्रथमसमये कर्मदलं निषिक्तं तत्प्रभृततरम्, यद्
 द्वितीयसमये कर्मदलं निषिक्तं तत् पूर्वापेक्षया विशेषहीनम्, यत् तृतीयसमये कर्मदलं निषिक्तं तद्
 द्वितीयसमयनिषिक्तदलिकापेक्षया विशेषहीनम्, एवं विशेषहीनं विशेषहीनं तद्वद्व्ययं यावत् ज्ञाना-
 वरणीयादीनां चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमाणि । प्रस्तुते पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-
 जीवभेदे मोहनीयस्य सप्ततिकोटिकोटीसागरोपमाण्युत्कृष्टः स्थितिवन्धो भवति, अवाधानियमलब्धां
 तस्य सप्तसहस्रवर्षाण्यवाधां मुक्त्वा यत्प्रथमसमये कर्मदलं निषिक्तं तद् बहुकं भवति, यद् द्वितीय-
 समये कर्मदलं निषिक्तं तत्ततो विशेषहीनम्, यत् तृतीयसमये कर्मदलं निषिक्तं तत्ततोऽपि विशेषहीनम्,
 एवं विशेषहीनं विशेषहीनं यावन्मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धः सप्ततिकोटीकोटीसागरोपमाणि ।
 नामगोत्रयोस्तु प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धो विंशतिकोटीकोटीसागरोपमाणि जायते, उक्तनियमलब्धां
 तयोर्द्विवर्षसहस्रप्रमाणावाधां मुक्त्वा यत् प्रथमसमये कर्मदलं निषिक्तं तद् बहुकम्, यद् द्वितीयसमये
 निषिक्तं तद् विशेषहीनम्, तृतीयसमये निषिक्तं विशेषहीनम्, एवं विशेषहीनं विशेषहीनं यावत्
 नामगोत्रयोर्द्विउत्कृष्टस्थितिवन्धो विंशतिकोटीकोटीसागरोपमाणि, इन्धमेवायुष उन्कृष्टावाधा पूर्वकोटी-
 त्रिभागप्रमाणा, तां द्विवर्ज्यं यत्प्रथमसमये निषिक्तं दलं तद् बहुकम्, यद् द्वितीयसमये निषिक्तं दलं
 तद्विशेषहीनम्, यत्तृतीयसमये निषिक्तं दलं तद्विशेषहीनम्, एवं विशेषहीनं विशेषहीनं यावदायुष
 उन्कृष्टस्थितिवन्धस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति । उक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णो—

“पंचेन्द्रियाणं सरणीणं भिच्छदिट्टिणं पज्जत्तगाणं गाणावरणीय-दंसाणावरणीय-वेयणीय-
 अंतराइयाणं तिन्नि धामसहस्साणि अवाहं मोत्तूणं जं पदमसम्मं पदेसगं णिसिक्तं तं बहुगं, त्रितीयसमए
 विसेसहीणं, तृतीयसमये विसेसहीणं, एवं विसेसहीणं विसेसहीणं जात्र उक्कोसेणं तीसं सागरोपमकोडाकोडीव
 ति । पंचेन्द्रियाणं सरणीणं भिच्छदिट्टिणं पज्जत्तगाणं मोह्णिज्जरस सत्तवाससहस्साणि अवाहं मोत्तूणं जं

पदमसमए पदेसगं गिसिक्तं नं बहुगं, त्रितियसमये त्रिसेसहीणं, ततीयसमये त्रिसेसहीणं एवं त्रिसेसहीणं त्रिसेसहीणं जाव उक्कोसेण सत्तरिसागरोवमकोडाकोडीउत्ति । पंचिदियाणं सएणीणं भिच्छदिद्विणं पञ्जत्तगाणं आउगस्स पूर्वकोडितिभागं अवाहं मोत्तूणं जं पदमसमए पदेसगं गिसिक्तं नं बहुगं, त्रिणिणं त्रिसेसहीणं, ततिणं त्रिसेसहीणं, एवं त्रिसेसहीणं त्रिसेसहीणं जाव उक्कोसेणं तेत्तीससागरोवमाणीत्ति । पंचिदियाणं सएणीणं भिच्छदिद्विणं पञ्जत्तगाणं णामगोयाणं वे वाससहस्राणि अवाहं मोत्तूणं जं पदमसमए पदेसगं गिसिक्तं नं बहुगं, त्रितियसमए त्रिसेसहीणं, ततिणं त्रिसेसहीणं, एवं जाव उक्कोसेणं वीससागरोवमकोडाकोडीउत्ति ।”

इत्थमेव शेषत्रयोदशजीवस्थानेष्वपि वक्तव्यम्, नवरं तत्तज्जीवस्थानेषु ज्ञानावरणादीनां या उत्कृष्टावाधा भवेत्, तां मुक्त्वा प्रथमसमयाद्यथोत्तरं विशेषहीनं विशेषहीनं कर्मदलं यावत्तेषां ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टः स्थितिवन्धः । तथाहि—संज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्यायुर्वर्जसप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिवन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमाणि, तेषां सप्तानामप्यन्तर्मुहूर्तमवाधा । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणामुत्कृष्टस्थितिवन्धः सागरोपमसहस्रस्य त्रयः सप्तभागाः प्रतिपूर्णाः, मोहनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिवन्धः सागरोपमसहस्रस्य सप्त सप्तभागाः प्रतिपूर्णाः, नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिवन्धः सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तभागौ प्रतिपूर्णाः, एतेषां सप्तानामप्यन्तर्मुहूर्तमवाधा । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्यापि सप्तकर्मणामित्थमेव, नवरं ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिवन्धो यः सागरोपमसहस्रस्य त्रिसप्तभागादयः प्रतिपूर्णा इत्युक्तः सोऽत्र पन्वोपमस्य संख्येयभागेनोऽवगन्तव्यः । चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तस्य ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणामुत्कृष्टस्थितिवन्धः सागरोपमशतस्य त्रयः सप्तभागाः प्रतिपूर्णाः, मोहनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिवन्धः सागरोपमशतस्य सप्त सप्तभागाः प्रतिपूर्णाः, नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिवन्धः सागरोपशतस्य द्वौ सप्तभागौ प्रतिपूर्णाः, अवाधा तु सप्तानामप्यन्तर्मुहूर्तम् । इत्थमेव चतुरिन्द्रियस्याऽपर्याप्तस्य, नवरं ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिवन्धो यः सागरोपमशतस्य त्रिसप्तभागादयः प्रतिपूर्णा इत्युक्तः, सोऽत्र पन्वोपमसंख्येयभागेन न्यूनो वक्तव्यः । चतुरिन्द्रियपर्याप्तस्येव त्रीन्द्रियपर्याप्तस्यापि, नवरं त्र्यादिसप्तभागाः पञ्चाशत्सागरोपमसत्का वक्तव्याः । त्रीन्द्रियपर्याप्तवत् त्रीन्द्रियस्याऽपर्याप्तस्यापि, नवरं ते पञ्चाशत्सागरोपमसत्काख्यादिसप्तभागा अत्र पन्वोपमसंख्येयभागेनोऽज्ञानावरणादिसप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्ध इति विशेषः । त्रीन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तजावस्थानयोरपि चतुरिन्द्रियादिवत् ज्ञानावरणीयादिमप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिवन्धाऽशधे, नवरं ज्ञानावरणीयादीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणे ये त्र्यादिसप्तभागास्तथा पन्वोपमसंख्येयभागेनोऽभ्यादिसप्तभागा उक्तास्तेऽत्र पञ्चविंशतिसागरोपमसत्का अभिधत्तव्याः । बादरैकेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणामुत्कृष्टस्थितिवन्धः सागरोपमस्य त्रयः सप्तभागाः प्रतिपूर्णाः, मोहनीयस्य कर्मण उत्कृष्टस्थितिवन्धः सागरोपमस्य सप्त सप्तभागाः प्रतिपूर्णाः, सम्पूर्णमेकं सागरोपममिति भावः । नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिवन्धः सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ

प्रतिपूर्णा, ज्ञानावणादिमप्तानामप्यन्तर्मुहूर्तमत्राधा च । पर्याप्तवादरैकेन्द्रियवद् वादरैकेन्द्रियस्याऽ-
पर्याप्तस्य सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तयोश्च जीवमेदयोः प्रत्येकं वक्तव्यम्, नवरं सागरोपमस्य
व्यादिमप्तभागा न प्रतिपूर्णाः, किन्तु पन्थोपमस्याऽसंख्येयतमभागेन न्यूना दृश्यन्ति । आयुष
उत्कृष्टस्थितिवन्धाबाधे त्विदम्—संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्याऽपर्याप्तस्याऽऽयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धः पूर्वकोटी-
वर्षाणि, आयुष उत्कृष्टाबाधा त्वन्तर्मुहूर्तम् । इत्थमेवासंज्ञि पञ्चेन्द्रियापर्याप्तचतुरिन्द्रियापर्याप्त-
त्रीन्द्रियापर्याप्तद्वीन्द्रियापर्याप्तवादरैकेन्द्रियापर्याप्तानां सूक्ष्मैकेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तयोश्च वक्तव्यम् ।
असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्यायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धः पन्थोपमस्याऽसंख्येयतमभागप्रमाणः, पूर्वकोटी-
विभागस्त्रवाधा । चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तस्यायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धः पूर्वकोटीवर्षाणि, अबाधा तु द्वौ
सामौ । त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तस्यायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धः पूर्वकोटीवर्षाणि, माधिकषोडशाहोरात्रमत्राधा ।
द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्यायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धः पूर्वकोटीवर्षाणि, चत्वारि वर्षाण्यबाधा । वादरैकेन्द्रियस्य
पर्याप्तस्यायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धः पूर्वकोटीवर्षाणि, सप्तवर्षसहस्राणि सातिरेकाण्यबाधति । एतेषु
सर्वजीवस्थानेषूक्तावाधां मुक्त्वा यत्प्रथमममये निषिक्तं कर्मदलं तद्बहुकम्, द्वितीयममये निषिक्तं
कर्मदलं तु प्रथमममयनिषिक्तकर्मदलापेक्षया विशेषहीनम्, तृतीयममये निषिक्तं कर्मदलं पुनर्द्वितीय-
समयनिषिक्तदलापेक्षया विशेषहीनम्, एवं विशेषहीनं विशेषहीनं तावद्वाच्यं यावत् तत्तज्जीवस्थानेषु
निरुक्तस्तत्तत्कर्मणामुत्कृष्टस्थितिवन्धः । उक्तं च कर्मप्रकृति चूर्णा—

“पंचिन्द्रियाणं सप्तशीणं अपञ्जत्तयाणं आउअवज्जाणं सत्तएहं कम्माणं अंतोमुहुत्तं अवाहं मोत्तणं
जं पढमसमणं पदेसगं निषिक्तं तं बहुगं चितियसमये विसेसहीणं, तनिय विसेसहीणं, एवं विसेसहीणं
विसेसहीणं जाव उकोसेणं अंतोकोडाकोडित्ति । पंचिन्द्रियाणं सप्तशीणं” असप्तशीणं चतुरिन्द्रियतिइन्द्रिय-
त्रिइन्द्रियवादरैगिन्द्रियअपञ्जत्तयाणं मुहुमण्णिन्द्रियपञ्जत्तअपञ्जत्तयाणं च आउअस अंतोमुहुत्तं अवाहं
मोत्तणं जं पढमसमणं पदेसगं णिसित्तं तं बहुगं, चितियसमये विसेसहीणं, तनिय समये विसेसहीणं, एवं
विसेसहीणं विसेसहीणं जाव उकोसेणं पुव्वकोडित्ति ।

पंचिन्द्रियाणं असप्तशीणं पञ्जत्तयाणं आउअवज्जाणं सत्तएहं कम्माणं अंतोमुहुत्तं अवाहं मोत्तणं जं
पढमसमणं पदेसगं णिसित्तं तं बहुगं चितियसमये विसेसहीणं, तनियसमये विसेसहीणं, एवं विसेसहीणं
विसेसहीणं जाव सागरोपमसहस्रससस तिरिणं सत्तभागा, सत्त सत्तभागा, विसत्तभागा पडिपुण्णत्ति ।
पंचिन्द्रियाणं असप्तशीणं पञ्जत्तयाणं आउअसस पुव्वकोडित्तिभागं अवाहं मोत्तणं जं पढमसमणं पदेसगं
णिसित्तं तं बहुगं, चितियसमये विसेसहीणं, तनियसमणं विसेसहीणं, एवं विसेसहीणं विसेसहीणं जाव
उकोसेणं पलिओवमसस असखिज्जत्तिभागे ।

पंचिन्द्रियाणं असप्तशीणं चतुरिन्द्रियाणं त्रिइन्द्रियाणं द्विइन्द्रियाणं अपञ्जत्तयाणं आउअवज्जाणं
सत्तएहं कम्माणं अंतोमुहुत्तं अवाहं मोत्तणं जं पढमसमणं पदेसगं णिसित्तं तं बहुगं, चितियसमणं विसेसहीणं,
तनियसमणं विसेसहीणं, एवं विसेसहीणं विसेसहीणं, जाव उकोसेणं सागरोपमसहस्रससस सागरोपमसत्तसस,

*अथ पाठो जेसलमेरशास्त्रसंग्रहस्थताजपत्रीयकर्मप्रकृतिचूर्णिसत्कः, मुद्रितप्रती तु “सप्तशीणं”
इतिपदं न दृश्यते ।

सागरोपमपण्यासाण, सागरोपमपणुविसाण, तिरिण सत्तभागा, सत्त सत्तभागा, विसत्तभागा, पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेण उणयन्ति । चउरिदियाणं तंइंदियाणं वेइंदियाणं वादरणिंदियाणं पज्जत्तगाणं आउगवज्जाणं सत्तएहं कम्माणं अवाहं मोत्तूणं जं पढमसमणं पदेसगं णिसिन्नं तं बहुगं धितिणं विसेसहीणं, ततिणं विसेसहीणं, एवं विसेसहीणं विसेसहीणं जावुकोसेण सागरोपमसत्तस्म, सागरोपमपण्यासाण, सागरोपमपणुधीसाण, सागरोपमस्स य तिरिणं सत्तभागा सत्त सत्तभागा, विसत्तभागा पडिपुण्णन्ति ।

चउरिदियतेइंदियवेइंदियवायरणिंदियपज्जत्तगाणं आउगस्स वे मासा, सोलस राईदियाणि साइरेगाणि, चतारि वासाणि, सत्तवामसहस्साणि सातिरेगाणि अवाहं मोत्तूणं जं पढमसमणं णिसिन्नं तं बहुगं, धितियसमणं विसेसहीणं, ततियसमणं विसेसहीणं, एवं विसेसहीणं विसेसहीणं जाय उकोसेण पुव्वकोडित्ति ।

वादरणिंदियाणं अपज्जत्तगाणं सुहुमणिंदियपज्जत्तगापज्जत्तगाणं आउगवज्जाणं सत्तएहं कम्माणं अंतोमुहुत्तं अवाहं मोत्तूणं जं पढमसमणं णिसिन्नं तं बहुगं, धितिणं विसेसहीणं, ततीणं विसेसहीणं, एवं विसेसहीणं विसेसहीणं जाय उकोसेण सागरोपमस्स तिरिणं सत्तभागा सत्त सत्तभागा वे सत्तभागा लितोवमस्स असंखेज्जतिभागेण उणियन्ति ।" ॥ इति ॥१२॥

तदेवं गताऽनन्तरोपनिधया निषेकप्ररूपणा । सम्प्रतं परम्परोपनिधया चिकीर्षुराह—

पल्लाऽसंखियभागं गत्वा गत्वा भवे दुगुणहीणं ।

एवं उक्कोसटिडं जा अप्पण्णस्म णायव्वं ॥१३॥

(प्रे०) "पल्लासंखियभागमि" न्यादि, अनन्तरोक्तामवाधां मुक्त्वा यत्प्रथमसमये कर्मदलं निषिक्तं तस्मात् समयममयात्मिकायां स्थितां प्रोक्तानित्या यथोत्तरं विशेषहीनं विशेषहीनमारच्यमानं दलिकम् "पल्लाऽसंखियभागं" चि भीमो भीमसेन इति न्यायत एकदेशेन समुदायस्यापि गम्यमानत्वात् पल्योपमसंख्येयभागं गत्वा गत्वा द्विगुणहीनं द्विगुणहीनं भवेत् । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णं—

"परंपरोवणिदियाणं अवाहं मोत्तूणं जं पढमसमणं पदेसगं णिसिन्नं ततो पढमसमयाओ पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागेत्तीओ तिती गंतूणं जा डिती तीणं पदेसगं दुगुणहीणं भवति । ततो पुणो तत्तियं वेव गंतूणं दुगुणहीणं भवति" इत्यादि ।

एवं पल्योपमसंख्येयभागं गत्वा गत्वा द्विगुणहीनं द्विगुणहीनमपि तावज्ज्ञातव्यं यावद् आत्मन आत्मन उन्कृष्टस्थितिर्भवेत् । इदमुक्तं भवति-अनन्तरोपनिधायामनन्तरसमये विशेषहीनं दलिकं निषिक्तं भवतीत्येतद् दर्शितम्, अत्र परंपरोपनिधयां तु पारम्पर्येण पल्योपमसंख्येयभागेऽतिक्रान्तेऽन्तराऽन्तरा कियद्भीनं दलिकं निषिक्तं भवतीत्येतद् द्रष्टव्यम्, तत्र चतुर्दशजीवस्थानेष्वपि ज्ञानावरणीयादीनां या प्रागवाधा उक्ता, तां मुक्त्वा दलिकनिषेको भवति, तत्राप्यसमये बहुकं दलिकं तत आरभ्य पल्योपमसंख्येयभागातिक्रमणेन यन्निश्चयस्थानं तत्र यद्दलिकं तत् प्रथमसमयापेक्षया द्विगुणहीनं-अर्धं भवति, इदं ह्यार्धं द्विगुणज्ञानिस्थानम्, ततोऽपि पल्योपमसंख्येयभागं गत्वा

अथयम्, पाठो जेसलमेरशास्त्रसंमहस्थतालपत्रीयकर्मप्रकृतिचूर्णिसत्कः, मुद्रितप्रती त्वकारस्याधिकत्वाद्

'असंखेज्जतिभागेण' इति पाठः ।

यत्स्थितिस्थानं तत्र निषिक्तं दलिकं तु प्रथमद्विगुणहानिस्थानापेक्षया पुनरप्यधं भवति, इदं हि द्वितीयं द्विगुणहानिस्थानम्, अत आरभ्य पुनरपि पल्योपमासंख्येयभागोऽतिक्रम्यते, तदाऽनन्तरोत्तरोत्तरसमये तृतीयं द्विगुणहानिस्थानं भवति, अत्र निषिक्तं दलिकं पूर्ववर्तिद्विगुणहानिस्थाने निषिक्त-दलिकापेक्षयाऽधमस्ति, एवं तावद्वाच्यं यावत्तत्तज्जीवभेदेऽप्युक्तस्तत्तत्कर्मणामुत्कृष्टस्थितिवन्धः; केवलं पर्याप्तमंश्यमंज्ञि जीवभेदद्वयं विवर्ज्य शेषेषु जीवभेदेष्वायुषः स्थितिवन्धे न वक्तव्यम्, तेषुत्कृष्टतोऽपि पूर्वोटीस्थितिकायवन्धस्य भावात् । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णा—

“परंपरोवणिद्विताण पंचिदियाणं सण्णीणं असण्णीणं पञ्जत्तगाणं अट्टण्हं कम्मणं पंचिदियाणं सण्णीणं असण्णीणं अपञ्जत्तगाणं चउरिदियतेइदियवेइदियचायरेणिदियाणं सुहुमण्णिदियाणं पञ्जत्तगा-पञ्जत्तगाणं आउमवज्जाणं सत्तण्हं कम्मणं अवाहं मोत्तूणं पढमसमाप पणसग्गाओ ततो पलिओधमस्स असंखेज्जभागं गंतूण दुगुणहीणं पदेसग्गं । ततो पुणो तत्तियं चेष गंतूण दुगुणहीणं पदेसग्गं । ततो पुणो तत्तियं चेष गंतूण दुगुणहीणं पदेसग्गं । एवं दुगुणहीणं दुगुणहीणं जाव अप्पणोक्कस्सिगा टिती । इति”

अत्र हि उत्कृष्टस्थितेश्वरमनिषेकं यावदनन्तरोपनिधायां विशेषहीन-विशेषहीनक्रमेण दल-निषेको दर्शितस्तत्र यथोत्तरस्थितिषु प्रतिनिषेकं दलिकहानिः स्वपूर्वसमयनिषिक्तदलापेक्षयाऽसंख्येय-भागमात्राऽवगन्तव्या, न पुनः संख्येयभागमात्रा, संख्येयेषु स्थितिस्थानेष्वतिक्रान्तेषु निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानापत्तेः । न च सेव्यते, पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणेष्वसंख्येयेषु स्थितिस्थानेष्वतिक्रान्तेष्वेव द्विगुणहीनदलनिषेकस्याभिमतत्वात्, अत एवाऽनन्तरोत्तरस्थितिस्थाने जायमानाऽनन्तरोप-निधाविपयीभूता दलिकहानिर्नाऽनन्तभागमात्रेत्यपि विज्ञेयम् ।

ननु प्रतिसमयं ज्ञानावरणादितत्प्रकृतितया वध्यमानदलिकेभ्योऽनन्ततमैकभागः सर्वधाति-प्रकृतितया परिणमति, शेषानन्तबहुभागदलिकं च सर्वधातिवर्जवध्यमानप्रकृतितया परिणमति, उक्तं च प्रदेशबन्धं विवृण्वद्धिश्चिरन्तनाचार्यैः कर्मप्रकृतिचूर्णा—

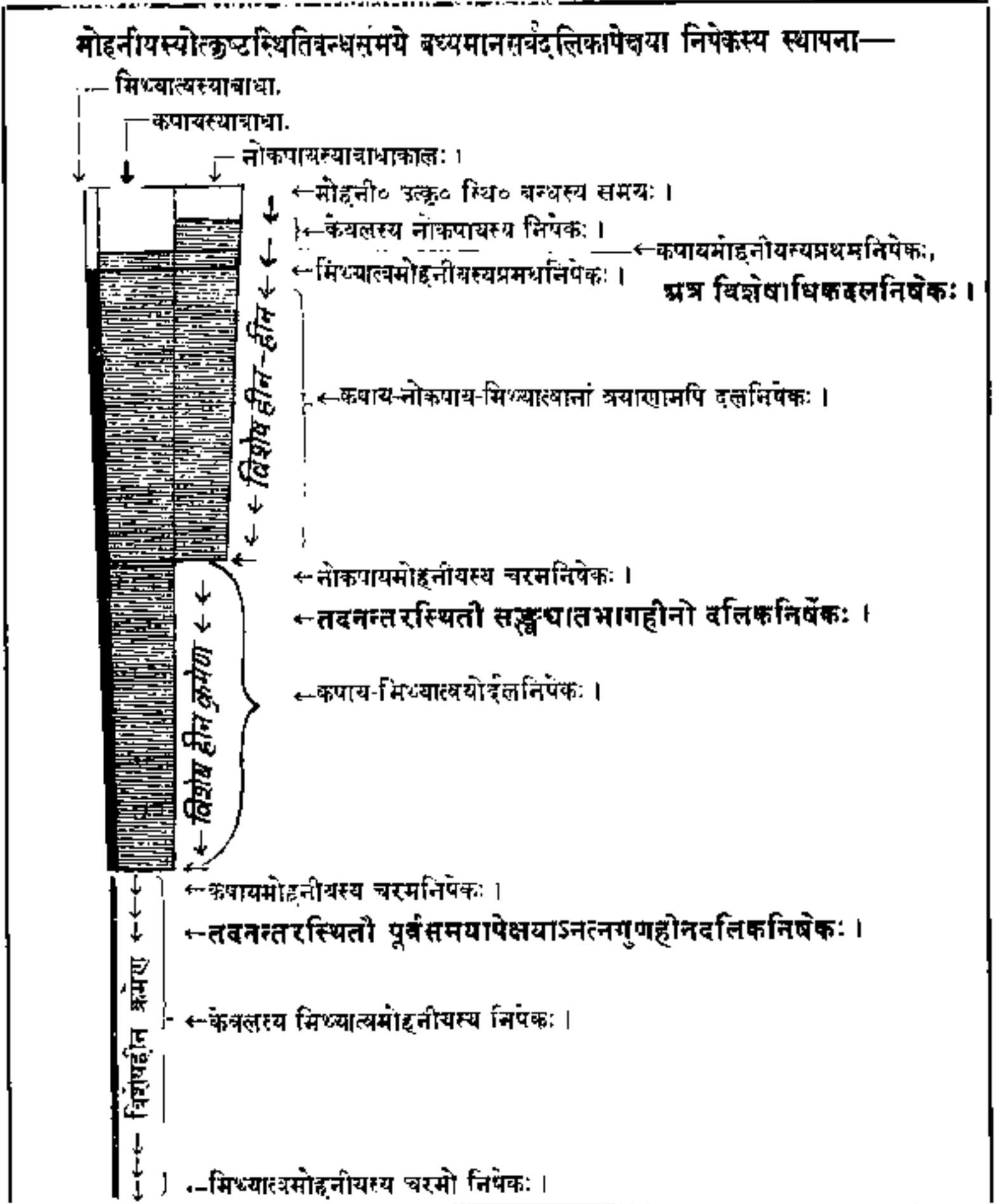
“जं सव्वधातिपत्तं” ति जं सव्वधातिजोग्गं ‘सगकम्मपणसाणंतिमो भागो’ चि अप्पण्णो कम्मपणसाणंतिमो भागो सव्वधाती मयति । कहं ? भण्णह—सव्वकम्मपणसाणं जे सिद्धयरा योग्गला ते थोवा सव्वकम्मदव्वाणं अणंतिमो भागो. ते च सव्वधातिजोग्गा । अणंतिमे भागे किट्टे सेसस्स कम्मदलियस्स सेसकम्मोहि भागो । ‘आवरणाण चउद्धा तिहा य’ ति णाणावरणादंसणावरणाणं जहकम्मोण चत्तारि तिज्जि य भागा । णाणावरणास्स जं दलितं ततो केवलणाणावरणीयस्स अणंतिमो भागो केड्ढिज्जति, सेसं चत्तारिभागा कीरति, आमिणिबोहियणाणावरणादीणं चउण्हं” इत्यादि ।

किञ्च ज्ञानावरणस्योत्कृष्टायां स्थितौ वध्यमानायां सर्वासां ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिरेव वध्यत इति न नियमः, किन्तु कासाञ्चित्समय-द्विममयप्रभृतेर्यावत्पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनोत्कृष्टस्थितिरपि वध्यते । इत्थं च यदा मूलप्रकृतेर्ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिवन्धस्तदा यदि केवलज्ञानावरणस्यैव त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटीलक्षोत्कृष्टस्थितिवन्धः, शेषाणां मतिज्ञानावरणादि-प्रकृतीनां तु समयोनोत्कृष्टस्थितिवन्धस्तदा पञ्चानामपि ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टावाधा

वर्षसहस्रत्रयम्, अतो वर्षसहस्रत्रयं मुक्त्वा यत्प्रथमसमयः, प्रथमो ज्ञानावरणसत्कदलनिषेक इत्यर्थः । तत्र निषिक्तं दलं बहुकम्, तदनन्तरवर्तिनि द्वितीयसमये निषिक्तं दलं तु ततोऽसंख्येयभागेन हीनम्, तृतीयसमये ततोऽप्यसंख्येयभागहीनम्, एवं तावद्भवति यावज्ज्ञानावरणस्य द्विचरमसमयः, मतिज्ञानावरणस्य तदानीं बध्यमानस्थितेश्चरमसमय इत्यर्थः । न पुनरेवं ज्ञानावरणस्य चरमसमयेऽपि तत्र देशघातिकानां मतिज्ञानावरणादीनां दलिकनिषेकाभावात्, निक्षिप्तस्य सर्वधातिनः केवलज्ञानावरणस्य दलिकानां तु पूर्वसमये निषिक्तदेशघातिदलापेक्षयाऽनन्ततमैकभागमात्रत्वेनाऽनन्तगुणहीनत्वात् । इत्थं हि स्थितेऽवाधां विहायोत्कृष्टस्थितेश्चरमदलनिषेकं यावद्योत्तरसमयेऽसंख्येयभागहीनसंख्येयभागहीनं दलिकम्, तथा पञ्चोपसंख्येयभागप्रमाणस्थितिरुल्लङ्घ्योत्तरेण निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानानि चेत्येवमुभयविधप्ररूपणा कथमुपपद्येत । न च यदा सर्वाभामपि ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्तदानीं यो दलिकनिषेकस्तस्य चरमसमयं यावत्पञ्चानामपि ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतीनां निषेकस्य प्राप्त्या चरमसमयं यावदुक्ताऽसंख्येयभागहीनक्रमेण दलिकनिषेकस्य लभ्यमानत्वात् तदपेक्षया मूलोक्तानन्तरोपनिधा-परम्परोपनिधालक्षणा द्विविधप्ररूपणोपपद्येत इति वाच्यम् । एवंरित्या ज्ञानावरणस्य दर्शनावरणादीनां वा तदुपपत्तेरपि मोहनीयाव्यमूलप्रकृतिमाश्रित्य तदनुपपत्तेर्दुर्वारत्वात्, कथम् ? इति चेत्, मोहनीयोत्तरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेरतुल्यत्वात् । तथाहि—यदा हि मोहनीयस्य सप्ततिसागरोपमकोटिकोटीलक्षणा उत्कृष्टा स्थितिर्निर्वर्त्यते तदा न मा सर्वाभां बध्यमानानां मोहनीयोत्तरप्रकृतीनां तावन्वेव, किन्तु बध्यमानानामनन्तानुबन्ध्यादिषोडशकषायाणां चत्वारिंशन्मागरोपमकोटीकोट्यः, शेषाणां तु शोका-ऽरति-भय-जुगुप्सा-नपुंसकवेदलक्षणानां पञ्चानां नोकषायप्रकृतीनां विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः, अत्र हि मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धकाले बध्यमानासु मिथ्यात्वमोहनीयादिषु द्वात्रिंशतिप्रकृतिषु मिथ्यात्वमोहनीयं संज्वलनवर्जा द्वादशकषायाश्चेत्येवं त्रयोदशप्रकृतयः सर्वधातिन्यः, किञ्च यथोक्तप्रदेशविभाजननियमाद् बध्यमानमोहनीयदलिकेषु मिथ्यात्वादित्रयोदशप्रकृतितयाऽनन्ततमभागमात्रं दलिकं परिणमति, शेषसंज्वलनचतुष्क-शोका-ऽरत्यादिनोकषायपञ्चकतया न्वनन्तबहुभागं दलिकं परिणमति; इत्थं च स्थिते “सागरकोडाकोडी बन्धो सत्तण्डु जत्तिन्नाऽवाहा । तावद्वा च्च सचसमा तदृग्निच्यो कम्मणगिण्सेगो ।” इत्यवाधानियमाद् बध्यमानानां पञ्चानां नोकषायाणां वर्षसहस्रद्वयमवाधां त्यक्त्वा प्रथमसमयं प्रभूतदलनिषेकः, ततस्तु समयोत्तरासु द्वितीयादिस्थितिष्वसंख्येयभागहीनक्रमेण दलिकनिषेको भवति, न च तावद्भवति यावत्संज्वलनचतुष्कस्योत्कृष्टावाधा चत्वारि वर्षसहस्राणि, तदनन्तरसमये तु षोडशकषायसत्कप्रथमदलनिषेकस्याऽपि प्राप्तेः समुदितो मोहनीयदलनिषेकः पूर्वसमयापेक्षया संख्येयगुणः प्राप्यते, न पुनर्विशेषहीनः । तदुत्तरसमयात् विंशतिसागरोपमकोटीकाटीलक्षणनोकषायोत्कृष्टस्थितिं यावत्पुनरप्यसंख्येयभागहीनक्रमेणैव, तावत्पर्यन्तेषु सर्वेषु स्थितिस्थानेष्वनन्तरपूर्वसमयवत् चतुष्कषाय-पञ्चनोकषायात्मकानां नवानामपि देशघातिप्रकृतीनां दलनिषेकस्य प्राप्यमाणात्वात्, एतावत्स्थितिस्थानेष्वेकस्या

अपि देशघातिमोहनीयप्रकृतेर्वन्धस्याऽवर्धनाद्विच्छेदाच्चेत्यर्थः । न च यथोक्तावाधानियमान्मिथ्यात्वस्य सप्तवर्षमहस्रप्रमाणोत्कृष्टाद्वाधोत्तरसमये मिथ्यात्वदलिकस्य वर्धनात्तस्मिन् समये तत्पूर्वसमयापेक्षया विशेषाधिको दलनिषेकः स्यादिति वाच्यम् । यतस्तत्र मिथ्यात्वमोहनीयदलनिषेकसम्बन्धिप्रथमस्थितौ मिथ्यात्वदलिकस्य वर्धनेऽपि तन्मिथ्यात्वदलिकं पूर्वसमयनिषिक्तदलिकापेक्षयाऽनन्ततमभागमात्रमस्ति, सर्वघातिप्रकृतेः सर्वदलिकस्य देशघात्यादिदलिकापेक्षयाऽनन्ततमभागमात्रत्वात्, इत्थं च पूर्वसमयापेक्षया मिथ्यात्वमोहनीयप्रथमनिषेके दलवृद्धिरनन्तभागमात्रा, हानिः पुनरसंख्येयभागमात्रा, पूर्वसमयनिषिक्तदेशघातिदलिकापेक्षयाऽत्रनिषिक्तदेशघातिदलिकस्याऽसंख्येयभागहीनत्वात्; एवं हि पूर्वसमयनिषिक्तदलापेक्षयाऽनन्तरांतरे मिथ्यात्वमोहनीयप्रथमनिषेकसमये मोहनीयदलनिषेकोऽसंख्येयभागहीन एव, न पुनर्विशेषाधिकः । इत्थं कषायमोहनीयद्वितीयस्थितिनिषेकप्रभृतेर्नोक्षायमोहनीयचरमनिषेकवात्रनिषेकाघातेन यथोत्तरसमयेऽसंख्येयभागहीनक्रमेणैव दलनिषेकः प्राप्यते । नोक्षायमोहनीयचरमनिषेके गते तदुत्तरसमये यन्निषेकस्तत्र तु यद् देशघातिदलिकं तत्कषायमोहनीयसत्कमेव, तच्च पूर्वसमयनिषिक्तकषाय-नोक्षायमोहनीयसत्कद्विविधदेशघातिदलिकराश्यपेक्षया संख्येयभागहीनं विद्यते, न पुनरसंख्येयभागहीनम् । कुतः ? नोक्षायमोहनीयसर्वदलिकापेक्षया संज्वलनचतुष्कसर्वदलिकस्यापि विशेषाधिकतया नोक्षायमोहनीय-कषायमोहनीयसमुदितदलिकापेक्षया कषायमोहनीयसर्वदलिकस्य किञ्चिदधिकार्धतया संख्येयभागहीनत्वात् । तदुत्तरसमयात् कषायमोहनीयस्य चत्वारिंशत्सागरोपमप्रमाणोत्कृष्टस्थितिं यावत् पुनरपि यथोत्तरसमये प्राग्बदसंख्येयभागहीनक्रमेणैव दलनिषेकः प्राप्यते । कषायमोहनीयचरमनिषेके गते तु तदुत्तरसमयात्केवलस्य मिथ्यात्वमोहनीयसत्कदलिकस्य निषेकोऽवशिष्यते, मिथ्यात्वस्य तु सर्वघातिप्रकृतितया तदीयभागाऽनाप्तदलिकं संज्वलनकषायप्रधानकषायमोहनीयदलिकराश्यपेक्षयाऽनन्ततमभागमात्रम्, अतः कषायमोहनीयचरमस्थितौ निषिक्तमोहनीयदलिकापेक्षयाऽनन्तरोत्तरसमये निषिक्तं दलिकमनन्तगुणहीनं प्राप्यते, न त्वसंख्येयभागहीनम्, इत्थं च मोहनीयकर्मणः सर्वास्मात्पुनरप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितौ बध्यमानाया-मपि तास्मात्कृष्टस्थितेरेवाऽतुन्यत्वादवाधां विहाय कुत्रचित्स्थितिविशेषे संख्येयगुणाधिकदलनिषेकः, यथा—वन्धसमयाच्चत्वारिवर्षमहस्रायतिकम्य कषायमोहनीयप्रथमस्थितौ । कुत्रचित्तु संख्यातभागहीनदलनिषेकः, यथा—नोक्षायमोहनीयचरमनिषेकादनन्तरोत्तरसमये । कुत्रचित्पुनरनन्तगुणहीनदलनिषेकः, यथा—कषायमोहनीयचरमस्थितिनिषेकादनन्तरोत्तरसमये । अत्र स्थापना— (३६ तमे पृष्ठे)

एवं हि मौलस्य मोहनीयकर्मणो दलनिषेकेऽनन्तरोपनिधायां समयसमयोत्तरासु सर्वासु स्थिति-स्वसंख्येयभागहीनक्रमेण दलिकस्यानुपपत्तिरेव, ततश्च परम्परोपनिधायामपि नियतपण्योपमाऽसंख्येय-भागातिक्रमणेन दलिकानां द्विगुणहानयोऽप्यनुपपन्ना एव ? इति चेत्, समाधीयते, यद्भवताऽभिहितं तदेतत्सर्वमेवाधिकृतविद्यया अपरिज्ञानात्, यतो नात्र बध्यमानसर्वोत्तरप्रकृतिसत्कदलिकसमुदाय-मादायानन्तरोपनिधया परम्परोपनिधया वा प्ररूपणा कृता, किन्तु यस्या ज्ञानावरणादिसत्कोत्तरप्रकृते-



रुत्कृष्टस्थितिवन्धः शेषोत्तरप्रकृत्यपेक्षयाऽधिको जायते तामुत्तरप्रकृतिं प्रधानीकृत्य तदपेक्षया मौलस्य ज्ञानावरणादेर्निषेकप्ररूपणा कृता विद्यते, अत एव "पंचिन्दियाणं सखीणं मिच्छदिदृष्टोणं पञ्जसगाणं मोहणीवज्रस सत्त्वाससहस्राणि अवाहं मोक्षूणं जं पढमसमाह परसगं शिसिचं तं बहुगं" इत्यादिना

कर्मप्रकृतिचूर्णौ मोहनीयस्य सप्तवर्षसहस्राण्यबाधा वर्जनीयतयाऽभिहिता, अन्यथा—भवदुक्तविवक्षया सा वर्षसहस्रद्वयमेव वक्तव्या इत्यतः, तद्युक्तसप्तवर्षभृतेरेव शोकपायतया परिणतस्य मोहनीयदलनिषेकस्य प्राप्तेः । इत्थं मोहनीयस्य मिथ्यात्वमोहनीयलक्षणोत्तरप्रकृतेः शेषकपायाद्युत्तरप्रकृत्यपेक्षयाऽधिकस्थितित्वेन तदीयदलनिषेकप्राधान्यात् मोहनीयकर्मण्यप्यनन्तरोपनिधया परम्परोपनिधया च कृता मूलोक्तप्ररूपणा सप्तवर्षसहस्राण्यबाधां विहाय प्रथमसमये बहुदलिकस्य ततश्च समयसमयोत्तरासु अप्ततिसागरोपमकोटीकोटीपर्यन्तासु सर्वस्थितिषु मिथ्यात्वमोहनीयदलिकानामसंख्येयगुणहीनक्रमेणैव प्राप्तेरित्यलं विस्तरं ॥१३॥ तदेवमुत्कृष्टस्थितिं यावत्पल्योपमासंख्येयभागं गत्वा गत्वा निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानानि प्राप्यन्ते इत्युक्ते किं खल्वेतानि द्विगुणहान्योरेकान्तरालवर्तीनि पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणानि निषेकस्थानान्युत्कृष्टस्थितौ निष्पद्यमानेभ्यो निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानेभ्यस्तोकान्युताधिकानीत्याशङ्कायां सपरिमाणमल्पबहुत्वमाह—

णाणंतरठाणाइ असंखिययमोऽस्थि पल्लमूलंसो ।

ततो असंखियगुणं इगंतरमसंखमूलं हि ॥१४॥

(प्रे०) “णाणंतरठाणाइमि”त्यादि, नानाप्रकाराणि यान्यन्तराणि अन्तरालजातानि स्थानानि नानाऽन्तरस्थानानि, निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानानीत्यर्थः । तानि “असंखिययमोऽस्थि पल्लमूलंसो”ति प्राग्वत् पल्यस्य-पल्योपमस्य मूलस्य-प्रथमवर्गमूलस्यांशः पल्यमूलांशोऽसंख्येयतमोऽस्ति, पल्योपमप्रथमवर्गमूलाऽसंख्येयभागगतसमयतुल्यानि भवन्तीत्यर्थः । उक्तं च कर्मप्रकृतिवृत्तौ—“नानाप्रकाराणि यान्यन्तराणि—अन्तरा जातानि द्विगुणहानिस्थानानि नान्युत्कृष्टस्थितिचन्धे पल्योपमस्य सस्वन्धिनः प्रथमवर्गमूलस्यासंख्येयतमे भागे यावन्तः समथास्तावत्प्रमाणानि भवन्ति ।” इति । “ततो”ति तेभ्यो द्विगुणहानिस्थानेभ्यः “असंखियगुणं इगंतरं”ति द्विगुणहान्योरेकमन्तरम्,—द्विगुणहान्योरेकस्मिन्नन्तरे यानि निषेकस्थानानि तान्यसंख्येयगुणानि भवन्तीत्यर्थः । उक्तं च—“एकस्मिन् द्विगुणहान्योरन्तरे निषेकस्थानान्यसंख्येयगुणानि ।” इति ।

ननु कस्मादेतद् द्विगुणहान्योरेकमन्तरमसंख्येयगुणमित्याह—“असंखमूलं हि”ति हि-यस्मात् कारणात् तद् द्विगुणहान्योरेकमन्तरम् असंख्येयमूलं-पल्योपमस्यासंख्येयवर्गमूलप्रमाणम्, असंख्येयपल्योपमानां प्रथमवर्गमूलप्रमाणमिति भावः । इति ॥१४॥

तदेवं कृतं परम्परोपनिधयाऽपि निषेकप्ररूपणम्, तथा च कृते गतम् “णिसंगो” इत्यनेनोद्दिष्टं द्वितीयं द्वारम् । साम्प्रतं क्रमप्राप्ताबाधकण्डकद्वारेऽबाधाकण्डकप्ररूपणां कुर्वन्माह—

पल्लासंखियभागं गंतूण खणे खणे अवाहखण ।

सत्तरह परात्र हवइ अवाहकंडं जहणणा जा ॥१५॥

(प्रे०) “पल्लासंख्यभागमि”त्यादि, अबाधायाः क्षणे क्षणे क्षणे—समये समये, समय-समयप्रमाणाबाधाक्षमे सतीत्यर्थः । आयुर्वर्जसप्तकर्मणासुत्कृष्टस्थितेः प्रारभ्य पल्लोपमासंख्येयभागम् “गंतूण” इति शब्दो द्विरावर्तते, ततो गत्वा गत्वाऽबाधाकरणकमेकमेकं भवति यावज्जघन्या स्थिति-रित्यर्थः । इदमुक्तं भवति—आयुर्विषयं कस्यचिदपि कर्मण उत्कृष्टस्थितौ बध्यमानायामबाधाऽ-प्युत्कृष्टा भवति, समयमात्राबाधानां पुनरुत्कृष्टा स्थितिनिश्चयेन पल्लोपमासंख्येयभागेनोना बध्यते, एवं द्विसमयाबाधानां तूत्कृष्टा स्थितिरपि द्वयेन पल्लोपमासंख्येयभागेनोना बध्यते, एवमबाधाहानौ प्रतिसमयं स्थितिवन्धोऽपि पल्लोपमासंख्येयभागेन न्यूनो न्यूनो जायते इति द्रष्टव्यं यावदेकत्र जघन्याबाधाऽन्यत्र च जघन्यस्थितिवन्धः । अयम्भावः—उत्कृष्टस्थितिवन्धे यथोत्कृष्टाऽबाधा भवति, तथा समयोनोत्कृष्टस्थितिवन्धेऽप्युत्कृष्टाऽबाधा भवति, एवं द्विसमयोनोत्कृष्टस्थितिवन्धेऽप्यबाधा उत्कृष्टैव भवति, त्रिसमयोनोत्कृष्टस्थितिवन्धेऽपि तावत्येवोत्कृष्टाबाधा भवति, न तु समयमात्रेणापि न्यूना, एवं यावत्समयोनपल्लोपमासंख्येयभागेन न्यूनोत्कृष्टस्थितिवन्धस्तावदबाधा तूत्कृष्टैव । इतस्तु समयद्विसमयादिना हीने स्थितिवन्धेऽबाधा न उत्कृष्टा, किन्तु समयोनोत्कृष्टा भवति, एवं तावद्द्रष्टव्यं यावत्समयोनद्वितीयपल्लोपमासंख्येयभागन्यूनोत्कृष्टस्थितिवन्धः, तावदबाधा तावत्येव समयोनोत्कृष्टा भवति । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णा—

“आउगाणि मोत्तूणं सेसाणं सव्वकम्माणं उक्कस्सिगाणं अबाहाणं यट्टमाणो उक्कस्सट्ठिठिं वा समयूणं वा विसमयूणं वा जाव पल्लिओवमस्स असंखेज्जभागूणं वा ठिडं बन्धइ । जइ अबाहा एगेण समयणं उणा तो गियमादेव पल्लिओवमस्स असंखेज्जत्तिभागमेणेणं कंठगेण उणियं उक्कोसियं ठिनि बन्धइ ।” इत्यादि ।

अत्रैकसमयाबाधाहानौ पल्लोपमासंख्येयभागप्रमाणास्थितीनां हानिर्भवति, तेन पल्लोपमा-संख्येयभागप्रमाणास्थितीनां समूह एकसमयाबाधोपलक्षितः सन्नेकमबाधाकरणकमुच्यते, एवम्भूतान्य-बाधाकरणकान्युत्कृष्टस्थिताबाधास्थानतुल्यानि भवन्ति, अत्र “जहणणा जा” इत्यत्र या जघन्य-स्थितिरुक्ता सा श्रेणिसमारूढजीववर्जेषु जीवापेक्षया बोद्धव्या । इदं हि सामान्यतोऽभिहितमपि पर्याप्ताऽपर्याप्तसूक्ष्म-बादरैकेन्द्रियादिचतुर्दशजीवभेदेषु प्रत्येकं विशेषत इत्थमेव बोद्धव्यम्, सर्वत्र तुल्यवक्तव्यत्वात् । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णा—“एवं एगिदियाण सव्वेसिं समाणं ।” इति ।

ननु कथमत्रायुषोऽबाधा करणकानि नोच्यन्ते ? भण्यते—आयुषोऽबाधा नाऽऽयुषः स्थितिवन्धप्रमाणास्याधीना, एवमायुरपि नाऽबाधाप्रमाणाधीनम्, ततश्च तत्राबाधाकरणकान्यपि न भवन्ति । इदमुक्तं भवति—ज्ञानावरणादीनामिवाऽऽयुषोऽबाधाविषये न कश्चित्थाविधो नियमः, यद् “इयदायुष्येतावत्याऽबाधया भवितव्यम्” इति, न चाबाधया समनियते आयुःकर्मण्यबाधा-करणकसम्भवः, यतः कदाचिदुत्कृष्टायामेवाबाधायां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कृष्टतश्च समयादिषुद्दृश्या यावत् त्रयस्त्रिंशत्सागरीपमाण्यायुर्वध्यते, कदाचित्तु तदेव जघन्यमुत्कृष्टं तदन्तस्थं वाऽऽयुः समयोनो-

त्कृष्टावाधायां वध्यते, कदाचिच्च द्विसमयो नोत्कृष्टावाधायां वध्यते, एवं यथासम्भवं समयादिहान्या यावदन्तर्मुहूर्तात्मिकायां जघन्याऽवाधायामपि वध्यते, इत्येवं तथाविधनियमाभावादायुष्यनेके मङ्गा भवन्ति । तद्यथा—जघन्यालुर्जघन्यावाधा, जघन्यायुरजघन्यावाधा, जघन्यायुरुत्कृष्टावाधा, जघन्यायु- रनुत्कृष्टावाधा, उत्कृष्टायुर्जघन्यावाधा, उत्कृष्टायुरजघन्यावाधा, उत्कृष्टायुरुत्कृष्टावाधेत्यादि । अत एवायुःकर्मण्यवाधाकण्डकानि नोक्तानीत्यर्थं विस्तरेण ॥१५॥

तदेवं गतं “अवाहाकंडं” इत्यनेनोद्दिष्टं तृतीयं द्वारम् । इत्थं च स्वस्थानाल्पबहुत्वादिभणन- द्वारेण कृता स्थितिवन्धस्थानादिद्वारत्रयविषया प्ररूपणा । साम्प्रतं क्रमप्राप्ताऽल्पबहुत्वद्वारे तेषामेव स्थितिवन्धाऽऽवाधास्थानादीनां परस्थानाल्पबहुत्वमभिधिन्सुरादौ तावन्मंज्ञिषञ्चेन्द्रियपर्याप्ताऽपर्याप्त- योर्द्वयोर्जीवस्थानयोरायुर्वर्जशेषमप्यधिकृत्य तदाह—

पञ्जेयरसणीसुं सत्तण्हऽप्या जहरणऽवाहा तो ।
 संखगुणाणि अवाहाअ ठाणकंडाणि तुल्लाणि ॥१६॥
 ततो विसेसअहिया जेट्टाऽवाहा हवेज्ज ताहिन्तो ।
 णाणागुणहाणीणं ठाणाणि असंखियगुणाणि ॥१७॥
 ताउ असंखगुणाइं हवन्ति एगंतरस्स ठाणाणि ।
 ताउ असंखेज्जगुणं अवाहकंडं भवे एगं ॥१८॥
 ताउ असंखगुणोऽणू ठिइबंधो ताउ संखियगुणाइं ।
 ठिइबंधट्ठाणाइं तोऽब्भहियौ परमठिइबंधो ॥१९॥

(प्रे०) ‘पञ्जेयरसणीसुं’ इत्यादि, ‘इन्द्रान्ते श्रयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते’ इति न्यायेन मंज्ञिशब्दस्य पर्याप्तेतरयोः प्रत्येकं योजनात् पर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे, इतरे-अपर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे चेत्यर्थः । ‘सणीसुं’ इत्यत्र बहुवचनं प्राकृतत्वात् । एतस्मिन् जीवभेदद्वये किमित्याह—‘सत्तण्ह’ इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं ‘प्या’ ति प्राकृतलक्षणैनाऽकारस्य लुप्तत्वात् ‘अप्या’ ति अल्पा-मवस्तोकेत्यर्थः, का इत्याह—‘जहरणऽवाहा’ जघन्याऽवाधा । अस्याः संख्येयावलिकारूपत्वेन लघ्वन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् ‘तो’ ति ततः,—जघन्यावाधापेक्षयेत्यर्थः ‘संखगुणाणि अवाहाअ ठाणकंडाणि’ ति संख्येयगुणान्यवाधायाः स्थानकण्डकानि, अवाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च, एते द्वे पदोऽपि प्रत्येकं संख्येयगुण इत्यर्थः । अवाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि परस्परं तु ‘तुल्लाणि’ ति तुल्यानि-समसङ्ख्याकानि, यतः प्रत्यवाधास्थानमवाधाकण्डकं निष्पद्यते, पूर्वापेक्षया संख्येयगुणत्वं तु जघन्यावाधान्यूनोत्कृष्टावाधाया ये समयास्तरेकरूपाधिकैस्तुल्यत्वादवाधा- स्थानानामवाधाकण्डकानां चेति । ‘ततो विसेसअहिया जेट्टाऽवाहा हवेज्ज’ ति तेभ्योऽवाधा-

स्थानाऽवाधाकण्डकैकलरेभ्यो विशेषाधिका ज्येष्ठा-उत्कृष्टावाधा भवेद्, अवाधास्थानसंख्येयभागमात्राया जघन्यावाधाया अत्र प्रवेशात् । "ताहिन्तो" चि तस्या ज्येष्ठावाधायाः "णाणागुणहाणीणं ठाणाणि असंख्यगुणाणि" चि नानाऽन्तरनिष्पन्नानि निषेकसत्कद्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानीत्यर्थः । कुतः ? पर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे प्रकृतसप्तानासुत्कृष्टावाधा संख्येयशतवर्षमात्रा, अपर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे च साऽन्तर्मुहूर्तमात्रा भवति, निषेकसत्कद्विगुणहानिस्थानानि पुनः पल्योपमप्रथमवर्गमूलस्यासंख्येयभाग-तुल्यानि सन्त्यपि असंख्येयवर्षमयतुल्यानि, ततश्चेमान्यसंख्येयगुणानि जायन्त इति । "ताउ असंख्यगुणाइं हवन्ति" चि तेभ्यो नानागुणहानिस्थानेभ्योऽसंख्यगुणानि भवन्ति, कार्त्तान्याह— एगंतरस्स ठाणाणि" चि निषेकसत्कद्विगुणहान्योरेकान्तरस्य स्थानानि, यत इमानि पल्योपमस्या-संख्येयप्रथमवर्गमूलतुल्यानि । उक्तं च प्राग्—“इगंतरमसंख्यमूलं हि” इति । "ताउ असंख्येज्जगुणं अवाहाकडं भवे एगं" चि तेभ्य एकमवाधाकण्डकमसंख्येयगुणं भवेत् । कुतः ? उच्यते, एकस्या-न्तरस्य स्थानान्यानयनायाऽवाधाहीनोत्कृष्टस्थितिः पल्योपमप्रथमवर्गमूलाऽसंख्यांशगतसमयविभज्यते, अवाधाकण्डकमानयनाय तु जघन्यस्थित्या न्यूनोत्कृष्टस्थितिदेशोनत्रिगहद्वादिवर्षमयतुल्यैरवाधास्थानै-र्विभज्यते, एवं च भाज्यसंख्यावास्तुल्यत्वे सति भागफलसंख्याया अन्तर्मुहूर्तन्यूनत्रिगहस्वर्षादिसमय-तुल्यतायाः पल्योपमप्रथमवर्गमूलाऽसंख्यांशगतसमयापेक्षयाऽसंख्येयगुणहीनत्वेन भागफलस्थासंख्येय-गुणाधिकताभात् । भागफलप्रमाणस्थानानां लोकं कण्डकमिति तु सुगममिति । "ताउ असंख्यगुणोऽणु ठिहबधो" चि तस्मादेककण्डकस्थानात्, एककण्डकगतस्थितिस्थानेभ्य इत्यर्थः । असंख्यगुणोऽणुः— जघन्यः स्थितिवन्धः, सप्तप्रकृतीनामिति सर्वत्राऽनुवर्तते । सुगमं चेतत्, यतः संज्ञिनां जघन्योऽपि स्थितिवन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणो जायते । ननु संयतस्य जघन्यस्थितिवन्धः प्रागन्त-र्मुहूर्ततया सर्वस्तोको दर्शितः, संयतानां संज्ञित्वेन स एव संज्ञिनां जघन्यस्थितिवन्धो भवति, तत्कथमत्र संज्ञिनां जघन्योऽपि स्थितिवन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणो जायते इत्युच्यते ? भण्यते—अत्र श्रेणिमनारूढानां संज्ञिनां यः सर्वस्तोकः स्थितिवन्धः स जघन्यस्थितिवन्धतया ग्राह्यः, न पुनः श्रेणि समासूढानाम्, कर्मप्रकृतिवृत्तौ भलयगिरिपादैः प्रकृतल्पवहुत्ववृत्तौ तथैव व्याख्यातत्वात्, सङ्गतेषु । यदुक्तं तैः—“..... । तस्माज्जघन्यः स्थितिवन्धोऽसंख्येयगुणः, अन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, संज्ञिपञ्चन्द्रिया हि श्रेणिमनारूढा जघन्यतोऽपि स्थितिवन्धमन्तः-सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणमेव कुर्वन्तीति ।” इति ।

“ताउ संख्यगुणाइं ठिहबंधाणाइं” चि तस्माज्जघन्यस्थितिवन्धात् स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । यतो जघन्यस्थितिवन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपममात्रो गृहीतः, स्थितिवन्धस्थानानि तु जघन्यस्थितिवन्धादारभ्योत्कृष्टस्थितिमभिव्याप्य यावन्तः समयास्तावन्ति भवन्तीति । "तोऽबहियो परमठिहबंधो" चि ततोऽभ्याधिकः—विशेषाधिक उत्कृष्टस्थितिवन्धः, सप्तानामित्यनुवर्तते एव । सुगमं वेदमपि, जघन्यस्थित्या अत्र प्रक्षेपादिति । कर्मप्रकृतिचूर्णो प्रकृतल्पवहुत्वमित्यमेव । तथा च

तदुग्रन्थः—पंचिन्द्रियाणं सत्रीणं पञ्जलापञ्जत्तगणं आउगवञ्जाणं सन्नसहं कम्माणं सध्वत्थोवा
जहन्निगा अवाहा सा य अंतोमुहुस्तमेत्ता । ततो अवाहाद्वाराणि अवाहाकंडगाणि य दोधि तुल्लाणि
असंख्येज्जगुणाणि । किं कारणं ? भल्लइ-तिएहं वाससहस्साणं जहन्नावाहूणाणं जत्तिया समया तत्तियाणि
अवाहाद्वाराणि कंडगाणि य त्ति काउं । ततो उकोसिया अवाहा विसेसाहिया । जहन्नावाहासह्निअत्तिकाउं ।

पर्याप्ताऽपर्याप्तसंज्ञिजोवभेदयोरायुर्वेदसप्तकर्मणां प्रत्येक स्थितिवन्धस्थानादिदशपदानामल्पबहुत्वयन्त्रम्			
क्रमः	पदानि	अल्पबहुत्वम्	परिमाणम्
१	जघन्याबाधा	सर्वस्तोका	अन्तर्मुहूर्तमात्रा
२	अवाधास्थानानि	असंख्येयगुणानि परस्परतुल्यानि	अन्तर्मुहूर्तन्यूनवर्षसहस्रत्रयादि- समयप्रमाणानि
३	अवाधाकण्डकानि		
४	उत्कृष्टावाधा	विशेषाधिका	जघन्याबाधयाधिका
५	निपेक्षस्य द्विगुणहानयः	असंख्येयगुणः	पल्योपमप्रथमवर्गमूलस्याऽसंख्येयभागमानाः
६	द्विगुणहान्योरन्तरम्	"	असंख्येयपल्योपमप्रथमवर्गमूलम्
७	अवाधाकण्डकम्	"	पल्योपमस्याऽसंख्येयभागप्रमाणम्
८	जघन्यस्थितिवन्धः	"	अन्तःकोटिकोटिसागरोपमम्
९	स्थितिवन्धस्थानानि	संख्येयगुणानि	पर्याप्तस्य—देशेन ३० कोटिकोटीसागरो- पमादीनाम्, अपर्याप्तस्या—ऽन्तःकोटिकोटी- सागरोपमादीनां च समयप्रमाणानि,
१०	उत्कृष्टस्थितिवन्धः	विशेषाधिकः	पर्याप्तस्य—३०कोटिकोटिसागरोपमादिः, अपर्याप्तस्या—ऽन्तःकोटिकोटिसागरोपमः

ततो नानापणसगुणद्वाराण्यंतराणि असंख्येज्जगुणाणि । पलिओवमवग्गमूलस्स असंख्येज्जतिभागोत्ति काउं ।
ततो पणपणसगुणद्वाराण्यंतरं असंख्येज्जगुणं, असंख्येज्जाणि पलिओवमवग्गमूलाणि त्ति काउं । ततो पणं
अवाहाकंडगं असंख्येज्जगुणं । किं कारणं ? तिएहं वाससहस्साणं जहन्नावाहूणाणं जत्तिया समया तत्तियो भागो
जहन्नाठित्तिअणाणं उवरिह्णीणं त्तिणं पणं अवाहाकंडगं त्ति काउं । जहन्नागो त्तिविंधो असंख्येज्जगुणो, अंतो

असंख्येयं पाठो जेसलमेरशास्त्रसंप्रदस्थतालपत्रीयकर्मप्रकृतिचूर्णिसत्कः, मुद्रितप्रती तु "असंख्येज्जगुणाणि"
इति पाठः ।

सागरोयमकोडाकोडीनि काउं । ततो ठितिवंधटाणाणि संखेज्जगुणाणि, जहन्नगठिनिज्जगुणा सखठितितिकाउं । ततो उक्कोसिया ठिती विसेसहिया, जहन्नगठिनिग अवाहाण य सहियन्ति काउं ॥” इति ॥१६॥१७॥१८॥१९॥

तदेवमुक्तं संक्षिपय्या-ऽपर्याप्तजीवभेदद्वये आयुर्वर्जसप्तकर्मणामृत्कृष्टस्थितिवन्धः, जघन्य-स्थितिवन्धः, उन्कृष्टावाधा, जघन्यावाधा, अवाधाकरण्डकानि, अवाधास्थानानि, स्थितिवन्धस्थानानि, निषेकसत्कद्विगुणहान्योरन्तरम्, निषेकसत्कद्विगुणहानिस्थानानि, अवाधाकरण्डकपरिमाणमित्येतेषां दशपदानामल्पबहुत्वम् । साम्प्रतमेतदेव शेषद्वादशजीवभेदेषु दिदर्शयिषुराह—

वारहसुं सेसेसुं जीवसमासेसु हुन्ति सत्तरहं ।
थोवाणि अवाहाए तुल्लाहं ठाणकंडाहं ॥२०॥
तो संखगुणाऽवाहा हस्सा ततो परा विसेसहिया ।
ताउ असंखगुणाहं ठाणाहं दुगुणहाणीणं ॥२१॥
ताउ असंखगुणाहं हवन्ति एगंतरस्स ठाणाहं ।
ताउ असंखेज्जगुणं अवाहकंडं भवे एगं ॥२२॥
ताउ असंखगुणाहं णायव्वाणि ठिइबंधठाणाणि ।
तो संखगुणो हस्सो ठिइबंधो तो परोऽब्भहियो ॥२३॥
एवरि असंखेज्जगुणा चउसुं एगिंदिसक्कभेएसुं ।
हस्साऽवाहाऽस्थि तहा लहुठिइबंधो जहाटाणं ॥२४॥

(प्रे०) “वारहसुं सेसेसुं” इत्यादि अनन्तरोक्तसंक्षिपञ्चेन्द्रियपर्याप्ताऽपर्याप्तजीवभेदद्वयवर्जा ये सूक्ष्मवादरैकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽसंक्षिपञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदनियन्त्राद्वादश शेषा जीवसमासाः—जीवभेदास्तेषु प्रत्येकम् “हुन्ति” ति भवन्ति, किमित्याह—“सत्तरहे”-त्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां “थोवाणि.अवाहाए तुल्लाहं ठाणकंडाहं” ति श्लोकानि, वक्ष्यमाणपदापेक्षयाऽल्पान्यवाधायाः “ठाणकंडाहं” ति स्थानानि करण्डकानि च स्थानकरण्डकानीति समासः, अवाधायाः स्थानान्यवाधायाः करण्डकानीत्येते द्वेऽपि पदे प्रत्येकमित्यर्थः । “तुल्लाणि” ति परस्परं तु तानि तुल्यानीत्यर्थः । सुगमम् । “तो” ति तेभ्योऽवाधास्थानाऽवाधाकरण्डकैकतरेभ्यः “संखगुणाऽवाहा हस्सा” ति ह्रस्वा-जघन्याऽवाधा संख्येयगुणा । ननु संक्षिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तजीवभेदयोरन्तरं जघन्यावाधापेक्षयाऽवाधास्थानान्यवाधाकरण्डकानि संख्येयगुणान्यभिहितानि, तत्प्रकृते पुनः कथं वैपरित्येनावाधास्थानाऽवाधाकरण्डकेभ्यो जघन्यावाधा संख्येयगुणाऽभिधीयते ? उच्यते, प्रकृते द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंक्षिपञ्चेन्द्रियपर्याप्ताऽपर्याप्तलक्षणेष्वष्टजीवभेदेषु प्रस्तुतानां ज्ञानावरणादीनां सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकमवाधास्थानान्यवाधाकरण्डकानि चात्रलिकायाः संख्येयभागगत-

समयतुल्यानि भवन्ति । कुतः ? प्रत्येकं स्थितिस्थानानां पल्योपमसंख्येयभागमात्रत्वेन तावन्मात्राणां स्तोकानामेवावाधास्थानानां निष्पत्तेः । इदमुक्तं भवति—अधिकृतजीवभेदेषु न संज्ञिष्येन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तजीवभेदयोरिव सप्तानां जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धयोरन्तरालं संख्येयसागरोपमादिप्रमाणम्, किन्तु पल्योपमसंख्येयभागमात्रमेव । वक्ष्यते चात्रैव ग्रन्थे स्थितिवन्धप्रमाणं निरूपयता ग्रन्थकृता—“सर्वत्रिगलेषु सगगुरुठिइवंधो पलियसंखभागूणो । सन्नएह लहू रोयो” इत्यनेन, इत्थं हि जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धान्तरालाधीनानि स्थितिवन्धस्थानान्यपि प्रकृते स्तोकानि पल्योपमसंख्येयभागमात्राणि प्राप्यन्ते, तानि चैकावाधास्थाननिष्पादकपल्योपमाऽसंख्येयभागप्रमाणैर्नियतसंख्याकैः स्थितिवन्धस्थानैर्यदा विभज्यन्ते तदाऽऽवलिकायाः संख्येयभागगतसमयप्रमाणं भागफलं लभ्यते, भागफलतुल्यान्येवावाधास्थानानीति तु सुगमः । यावन्त्यवाधास्थानानि तावन्त्यवाधाकण्डकानीति तु प्राग्दर्शितमेव, अन्तमुद्धृतमात्राऽपि जघन्यावाधा तु संख्येयावलिकाप्रमाणा, अत एव प्रकृतेऽवाधास्थानाऽवाधाकण्डकेभ्यो जघन्यावाधा संख्येयगुणाऽभिहितेति । इदं हि संख्येयगुणत्वं सूत्रमवाद्रपर्याप्ताऽपर्याप्तात्मकैकेन्द्रियसत्कजीवभेदचतुष्कसम्बन्धिव्यल्पबहुत्वेषु न सङ्गच्छते, यत एकेन्द्रियाणां जघन्यस्थितिवन्धापेक्षयोत्कृष्टोऽपि स्थितिवन्धः पल्योपमस्याऽसंख्येयभागेनैवाधिको जायते, तथा च सति तेषां स्थितिवन्धस्थानान्यप्यतीवस्तोकानि पल्योपमसंख्येयभागमात्राणि, तानि च पूर्ववदेकावाधास्थाननिष्पादकपल्योपमाऽसंख्येयभागप्रमाणैर्नियतसंख्याकैः स्थितिवन्धस्थानैर्यदा विभज्यन्ते तदाऽऽवलिकाया असंख्येयभागगतसमयप्रमाणं भागफलं प्राप्यते । जघन्यावाधाऽपि प्रकृतसूत्रमवाद्रपर्याप्ताऽपर्याप्तैकेन्द्रियजीवभेदेषु यद्यपि द्वीन्द्रियाद्यपेक्षया स्तोका, तथाऽपि संख्येयावलिकाप्रमाणैव, कुतः ? द्वीन्द्रियाणां जघन्यस्थितिवन्धापेक्षयैकेन्द्रियाणां जघन्यस्थितिवन्धस्य संख्येयभागगतत्वेनावाधाया अपि संख्येयभागगतत्वात् । इत्थं हेकेन्द्रियसत्कचतुर्जीवभेदसम्बन्धिव्यल्पबहुत्वेष्ववावलिकाया असंख्येयभागगतसमयप्रमाणेभ्योऽवाधास्थानेभ्यः संख्येयावलिकाप्रमाणा जघन्यावाधाऽसंख्येयगुणा भवति । न चैतावन्मात्रम्, किं तर्हि ? उत्तरत्र “तो संखगुणो ठिइवंधो” इत्यनेनाधिकृतशेषद्वादशजीवभेदेषु वक्ष्यमाणं स्थितिवन्धस्थानापेक्षया जघन्यस्थितिवन्धस्य संख्येयगुणत्वमपि चतुर्ध्वेकेन्द्रियसत्कजीवभेदेषु न सङ्गच्छते, कुतः ? उक्तहेतोरिव, एकेन्द्रियसत्कचतुर्जीवभेदेषु स्थितिवन्धस्थानानां पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्रत्वात्, तत एव पल्योपमसंख्येयभागेनोपसागरोपमत्रिसप्तभागादिप्रमाणस्य ज्ञानाचरणादिसत्कजघन्यस्थितिवन्धस्याऽसंख्येयगुणत्वादिति भावः । ननु यद्येवं तर्हि कथमेकेन्द्रियसत्काश्चत्वारो जीवभेदाः शेषद्वादशजीवभेदेषु संगृह्याल्पबहुत्वमभिहितम् ? लाघवार्थम्, पदद्वयं विवर्ज्य शेषपदेषु तुल्यवक्तव्यत्वाच्च, न चैवं सत्यतिप्रसक्तिः स्यादिति वाच्यम् । यत एकेन्द्रियसत्कचतुर्जीवभेदापेक्षयाऽघटमानपदद्वये—“एवमि असंखेजगुणा” इत्यादिना ग्रन्थकारः स्वयमेवापवदिष्यतीत्यलं प्रसङ्गेन । अथ प्रकृतम्—“ततो परा” चि उक्तसप्तकर्मसत्का परा—उत्कृष्टा, अवाधा इत्यनुवर्तते, कियतीत्याह—“विसेसाहिमा” चि विशेषाधिकाः, संख्येयभागमात्रेणाधिकेत्यर्थः ।

कृतः ? रूपोनावाधास्थानैरधिकत्वादिति । “ताउ असंखणागुहं” ति तस्या अनन्तरोक्तोत्कृष्टावाधाया असंख्येयगुणानि, कानीत्याह—“ठाणाहं दुगुणहाणीणं” ति असंज्ञिपञ्चेन्द्रियादिप्रायोग्योत्कृष्टस्थितौ निपेकस्य द्विगुणहानीनां स्थानानि, पन्योपमप्रथमवर्गमूलासंख्येयभागप्रमाणत्वात्तेषामिति । उक्तं चानन्तरमेव—“शाणंतरठाणाहं असंखिययमोऽसंख्य पल्लमूलसो” इति । “ताउ असंखगुणाहं हवति” ति तेभ्यो निपेकस्य द्विगुणहानिस्थानेभ्योऽसंख्यगुणानि भवन्ति, कानीत्याह—“एगंतरस्स ठाणाहं” ति निपेकस्य द्विगुणहान्योरेकान्तरस्य स्थानानि, एकान्तरगतनिपेकस्थानानीत्यर्थः । कथम् ? पूर्ववत् पन्योपमस्यासंख्येयानां प्रथमवर्गमूलानां समयप्रमाणत्वादिति । “ताउ असंखेज्जगुणं” ति तेभ्योऽसंख्येयगुणं भवेदिति परेणान्वयः, किं तदित्याह—“अबाहाकंडं भवे एणं” ति एहमवाधाकंडकमेकसमवाधाहानौ हीयमानस्थितिवन्धस्थानसमूहभूतं प्रागुक्तस्वरूपमित्यर्थः, संज्ञिजीवभेदसत्काल्यवहुत्वानुसारेण भावनीयमिदमसंख्येयगुणत्वमिति । “ताउ असंखगुणाहं णापञ्चाणि” ति तस्मादेकस्मादवाधाकण्डकाद् असंख्यगुणानि ज्ञातव्यानि, कानीत्याह—“ठिइबंधट्टाणाणि” ति निरुक्तलक्षणानि स्थितिवन्धस्थानानि । सुगमम् । “तो संखगुणो हस्सो ठिइबंधो” ति तेभ्योऽनन्तरोक्तासंख्यादीनां प्रत्येकं स्थितिवन्धस्थानेभ्यस्तेषामेव प्रत्येकं संख्येयगुणो हस्वः स्थितिवन्धः । असंज्ञि-विकलेन्द्रियाणां प्रत्येकं जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धान्तरस्य पन्योपमसंख्येयभागप्रमाणत्वेन तेषां जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणो जायते, न पुनरेकेन्द्रियाणाम्, तेषां जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धान्तरस्य पन्योपमसंख्येयभागप्रमाणत्वात्, अत इदं विकलेन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदप्राधान्येन सामान्यतोऽभिहितम्, एकेन्द्रियजीवभेदापेक्षया न्वनन्तरं विशेषतो वक्ष्यतीति । “तो परोऽबभहियो” ति ततः परः—उत्कृष्टः स्थितिवन्ध इत्यनुवर्तते, कियानित्याह—“बभहियो” ति अभ्यधिकः—विशेषाधिकः, असंज्ञि-विकलेन्द्रियसत्काष्टजीवभेदेषु पन्योपमसंख्येयभागेन, शेषेषु चतुर्वेकेन्द्रियसत्कजीवभेदेषु तु पन्योपमसंख्येयभागेनेत्यर्थः । सूक्ष्मवादपर्याप्ताऽपर्याप्तमेदमिन्नेवेकंन्द्रियसत्कचतुषु जीवभेदेषु सामान्येनाभिहितमतिप्रसक्तमर्थं निराचिकीषुराह—“णवरि” इत्यादि, नवरं-परमयं विशेषः, कोऽयमित्याह—“असंखेज्जगुणा” इत्यादि, व्याख्यातप्रायम्, नवरं तथाशब्दः सादृश्ये, यथाऽवाधा तथा लघुस्थितिवन्धोऽसंख्येयगुण इत्यर्थः, “जहाठाणं” ति यथोक्तस्थान इत्यर्थः । अयमभावः—अनन्तरमवाधास्थानेभ्यो हस्वाऽवाधा संख्येयगुणा उक्ता तथा स्थितिवन्धस्थानेभ्यो जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुण उक्तः, एतद्द्वयमप्येकेन्द्रियसत्केषु चतुष्वपि जीवस्थानेषु न सङ्गच्छते, अतस्तेषु चतुष्वपि जीवभेदेष्ववाधास्थानेभ्यो हस्वावाधाऽसंख्येयगुणा वक्तव्या, तथा स्थितिवन्धस्थानेभ्यो लघुस्थितिवन्धोऽसंख्येयगुणोऽभिधातव्य इति । इदमप्यल्पवहुत्वं कर्मप्रकृतिचूर्णादित्यमेवाभिहितम्, केवलमसंज्ञिपञ्चेन्द्रियविकलेन्द्रियसत्कजीवभेदेषु तथैकेन्द्रियसत्कचतुर्जीवभेदेषु तुल्यमिति कृत्वा निरपवादं पृथक्पृथगभिहितम् । तथा च तदग्रन्थः,—

आयुर्वर्जसप्तकर्मसत्कस्थितिवन्धस्थानादीनां वशानां पदानामल्पबहुत्वयन्त्रम्					
पर्याप्ता-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञियञ्चेन्द्रिय-लक्षणेष्वष्टषु जीवभेदेषु			सूक्ष्म-बादर-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तै-केन्द्रियलक्षणेषु चतुर्षु जीवभेदेषु		
१	अबाधास्थानानि	} स्तोकानि } तुल्यानि	आवलिक्कायाः संख्येय- भागप्रमाणानि	} स्तोकानि } तुल्यानि	आवलिक्कायाः असंख्यभागमात्राणि
२	अबाधाकरणकानि		संख्येयगुणा		असंख्येयगुणा
३	जघन्याबाधा	विशेषाधिका	"	विशेषाधिका	"
४	उत्कृष्टाबाधा	असंख्येयगुणा	एकपत्योपमप्रथमवर्ग मूलस्याऽसंख्यभागमात्राः	असंख्यगुणा	एकपत्योपमप्रथमवर्ग- मूलस्याऽसंख्येयभागः
५	निर्पेकद्विगुण- हानयः	"	असंख्येयपत्योपम- प्रथमवर्गमूलम्	"	असंख्येयपत्योपम- प्रथमवर्गमूलम्
६	द्विगुणहान्योरे- कमन्तरम्	"	पत्योपमसंख्येयभाग.	"	पत्योपमासंख्येयभाग.
७	अबाधाकरणकम्	"	पत्योपमासंख्येयभागस्य समयप्रमाणानि,	"	पत्योपमासंख्येयभागस्य समयप्रमाणानि
८	स्थितिवन्ध- स्थानानि	"	पत्योपमसंख्येयभागोनाः -२५-५०-१००-१०००- सागरोपमत्रिसप्तादिभागाः	असंख्यगुणः	पत्योपमासंख्येय- भागोनाः सागरोपम- त्रिसप्तादिभागाः
९	जघन्यस्थिति- वन्धः	विशेषाधिकः	पर्याप्तेषु-२५-५०-१००-१००० सागरोपमाणां सम्पूर्णास्त्रि- सप्तादिभागाः अपर्याप्तेषु ते देशोनाः	विशेषाधिकः	बादरपर्याप्ते-सम्पूर्णाः सागरोपमत्रिसप्तादि- भागाः । शेषत्रये—ते देशोनाः X,
१०	उत्कृष्टस्थितिवन्धः	विशेषाधिकः	पर्याप्तेषु-२५-५०-१००-१००० सागरोपमाणां सम्पूर्णास्त्रि- सप्तादिभागाः अपर्याप्तेषु ते देशोनाः	विशेषाधिकः	बादरपर्याप्ते-सम्पूर्णाः सागरोपमत्रिसप्तादि- भागाः । शेषत्रये—ते देशोनाः X,

"पंचिन्द्रियाणं असत्रीणं चतुरिन्द्रियाणं त्रैन्द्रियाणं द्वैन्द्रियाणं पञ्जत्तगअपञ्जत्तगाणं आउगवञ्जाणं सत्तएहं कम्मणं अवाहाद्वाराणि अवाहाकण्डगाणि य दो वि तुल्लाणि सच्चत्थोत्राणि ताणि य आउलियाण् +संखेज्जभागमेत्ताणि । ततो जहन्निया अवाहा संखेज्जगुणा । अंतोमुहुत्तमिति काउं । उक्कस्सिया अवाहा विसेसाहिया, ॐअवाहाद्वाराणसहियत्ति काउं । तओ नाणापपसगुणह्याणिद्वाराणंतराणि असंखेज्जगुणाणि । तओ एगं पपसगुणह्याणिद्वाराणंतरं असंखेज्जगुणं । एगं अवाहाकरणकं असंखेज्जगुणं । तओ ठितिवन्धद्वाराणि असंखेज्जगुणाणि, पलिओवमस्स संखेज्जभागमितिकाउं । जहन्नगो ठितिवन्धो संखेज्जगुणो । उक्कस्सियाठिति विसेसाहिया ॥"

+अयं पाठो जसत्तमेरअन्याभारस्थतालपत्रीयकर्मप्रकृतिचूर्णप्रतीसत्कः, मुद्रितप्रती तु "असंखेज्जह भागमेत्ताणि" इति पाठः । ॐपत्योपमसंख्येयभागेन न्यूनाः । Xपत्योपमासंख्येयभागेन न्यूनाः ।

“एगिदिवाणं सुदुमाणं वादराण पञ्जत्तअपञ्जत्तगाण आउवञ्जणं अवाहाटाणाणं अवाहाकंडगाणि य दो वि तुल्लाणि संखत्थोवाणि, नाणि य आत्रलियाए असंखेज्जत्तिभागमेत्ताणि । जहन्निया अवाहा असंखेज्जगुणा । अंतोमुहुत्तमिति काउं । उक्कोसिया अवाहा विसेसाहिया । अवाहाटाणसहियत्तिकउं । नाणंतराणि असंखेज्जगुणाणि । एगं अंतरं असंखेज्जगुणं । एगं अवाहाकंडं असंखेज्जगुणं । डितिवंधटाणाणि असंखेज्जगुणाणि । जहन्नगो डितिवंधो असंखेज्जगुणो । उक्कोसिगो डितिवन्धो विसेसाहियो ॥ २०/२१/२२/२३/२४ ॥

तदेवमभिहितं चतुर्दशष्वपि जीवभेदेष्वयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां स्थितिवन्धस्थाना-
बाधास्थानादीनां दशवस्तुनां परस्थानान्पवहुत्वम् । सास्त्रतमवशेषस्यायुःकर्मणः स्थितिबन्धाबाधा-
स्थानादीनां परस्थानान्पवहुत्वं प्रचिकटयिपुरादां तावत्पर्याप्तसंज्ञसंज्ञिरूपयोर्द्वयोर्जीवभेदयोस्तदाह—

पञ्जामणसणीणं आउस्सऽप्पा जहणगाऽवाहा ।

तत्तो संखेज्जगुणो जहणगो होइ ठिडबंधो ॥ २५ ॥

ताओ संखगुणाइं अवाहाटाणाणि हुन्ति ताहिन्तो ।

उक्कोसिया अवाहा होएइ विसेसओऽब्भहिया ॥ २६ ॥

ताउ असंखगुणाइं हवन्ति ठाणाणि दुगुणहाणीणं ।

ताउ असंखगुणाइं ठाणाइं अंतरं एगे ॥ २७ ॥

ताउ असंखगुणाइं णायव्वाणि ठिडबंधटाणाणि ।

ताहिन्तो अब्भहियो ठिडबंधो होइ उक्कोसो ॥ २८ ॥

(प्रे०) “पञ्जामणसणीणं आउस्सऽप्पा” इत्यादि, पर्याप्तशब्दस्य प्रत्येकं योजनात्, पर्याप्तमनस्कपर्याप्तसंज्ञिनोः, पर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे पर्याप्तसंज्ञिजीवभेदे च प्रत्येकमित्यर्थः । बहुवचनं तु प्राकृतवशात् । तयोः किमिन्याह—“आउस्से” इत्यादि, उक्तशेषस्यायुःकर्मणः “प्पा जहणगाऽवाहा” ति लुप्ताकारस्य दर्शनादप्पा-अनन्तरवक्ष्यमाणजघन्यस्थितिबन्धादिपदापेक्षया स्तोका जघन्यकाऽबाधा, “तत्तो संखेज्जगुणो जहणगो होइ ठिडबंधो” ति तत् आयुषो जघन्य एव जघन्यकः स्थितिवन्धः संख्येयगुणो भवति, कुतः ? इति चेत्, तुल्लकभवप्रमाणजघन्यस्थिति-
काऽऽयुष्मतामपि जीवानां वेद्यमानायुपस्त्रिभागत्रिभागत्रिभागाद्यवशेषप्रकारेण चरमान्तसु हूतोऽवशेषेऽपि पारभविकायुर्वन्धसम्भवादिति । “ताओ” ति तेभ्यो संख्यगुणान्यबाधास्थानानि भवन्ति, आयुष इत्यनुवर्तते, एवमुक्तस्यापि “आउस्स” इत्यस्य पदस्यनुवृत्तिर्वाद्भव्या, कुतोऽबाधास्थानानि संख्येय-
गुणानि ? इति चेत्, आयुषो जघन्यस्थितिवन्धः तुल्लकभवप्रमाणः, अबाधास्थानानि त्वन्तसुहूर्त-

अयं पाठोऽपि जेसलमेरअन्धागारस्थतालपत्रीयकर्मप्रकृतिचूर्णिप्रतीसत्कः, सुद्वितप्रती तु स्थानद्वयेऽपि क्रमेण “जहन्नियाअवाहासहियत्ति काउं ।” जहन्नियाअवाहासहियत्ति काउं ।” इति पाठः ।

जघन्याबाधया न्यूनपूर्वकोटीविभागप्रमाणानि, अर्थात्पट्पञ्चाशदभ्यधिकद्विशतावलिकाप्रमाणजघन्यायु-
र्वन्धापेक्षया संख्येयवर्षप्रमाणान्यबाधास्थानानि सुतरां संख्येयगुणानि भवन्तीति । “ताहिन्तो”
ति तेभ्योऽबाधास्थानेभ्यः “उक्कोसिया अबाहा होएइ विसेसओऽबहिया” ति उत्कृष्टाऽबाधा
विशेषतोऽभ्यधिका, विशेषाधिका भवतीत्यर्थः । कुतः ? पूर्वकोटीविभागप्रमाणत्वादिति । “ताउ
असंखगुणाइं हवन्ति” ति ततोऽसंख्यगुणानि भवन्ति, कानीत्याह—“ठाणाणि दुगुणहाणीण”
ति निषेकस्य द्विगुणहानीनां स्थानानीत्यर्थः, कुतः ? पत्न्योपमप्रथमवर्गमूललक्षणयथोक्तप्रमाणत्वात् ।
ततोऽसंख्यगुणानि “ठाणाइं अंतरे एगे” ति आयुषो निषेकस्य द्विगुणहान्योरेकस्मिन्नन्तरे यानि
निषेकस्थानानि तानीत्यर्थः, कुतः ? असंख्येयपत्न्योपमप्रथमवर्गमूललक्षणयथोक्तप्रमाणत्वात् । “ताउ-
असंखगुणाइं णायव्वाणि” ति तेभ्योऽसंख्यगुणानि ज्ञातव्यानि भवन्ति, कानीत्याह—“ठिइबंध-
ठाणाणि” ति आयुषः स्थितिवन्धस्थानानि, यत इमानि पर्याप्तसंज्ञिसंज्ञिजीवभेदयोः क्रमेण
समयोत्पत्पञ्चाशदधिकशतद्वयावलिकान्यूनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपम - पत्न्योपमासंख्येयभागसमयतुल्या -
नीति । “ताहिन्तो” ति तेभ्यः—आयुषः स्थितिवन्धस्थानेभ्यः “अबहियो ठिइबंधो होइ
उक्कोसो” ति आयुष उत्कृष्टः स्थितिवन्धोऽभ्यधिकः—विशेषाधिको भवति, समयोत्पत्तुल्लक-
भवप्रदणस्य तत्र प्रक्षेपादिति । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णो—

“पंचिंदियाणं सत्रीणं असत्रीणं पञ्जत्तगाणं आउगास्स सन्वत्थोवा अवाहा । सा य अस्विज्जद्धा ।
ततो जहन्नगो टितिवंधो संखेज्जगुणो । सो य सुद्धागभवो ति काउं । ततो अवाहाद्वाराणि संखेज्जगुणाणि ।

पर्याप्तसंज्ञि-पर्याप्तासंज्ञिजीवभेदयोरायुःकर्मणः स्थितिवन्धस्थानावी-
नामष्टपदानामल्पबहुत्वयन्त्रम्

१	जघन्याबाधा	सर्वस्तोका	असंक्षेप्यादा
२	जघन्यस्थितिवन्धः	संख्येयगुणाः	तुल्लकभवः
३	अबाधास्थानानि	संख्येयगुणानि	देशोनपूर्वकोटितृतीयभागसमयतुल्यानि
४	उत्कृष्टाबाधा	विशेषाधिका	पूर्वकोटितृतीयभाग०
५	निषेकद्विगुणहानयः	असंख्येयगुणाः	पत्न्योपमप्रथमवर्गमूलस्योऽसंख्येयभागप्रमाणाः
६	द्विगुणहान्योरन्तरम्	असंख्येयगुणम्	असंख्येयपत्न्योपमप्रथमवर्गमूलम्
७	स्थितिवन्धस्थानानि	असंख्येयगुणानि	तुल्लकभवन्त्युत्कृष्टस्थितिवन्धसमयतुल्यानि
८	उत्कृष्टस्थितिवन्धः	विशेषाधिकः	३३ सागरो पमाणि तथा पत्यासंख्यभागः क्रमेण

पूर्वकोटितिभागो जहन्नावाहूणो ति काउं । उक्कोसिसिआ अवाहा विसेसाहिया । जहन्नावाहासहिय ति काउं । ततो नाणापणसगुणहाणिदाणंतराणि असंखिज्जगुणाणि । कारणं पुब्बुत्तं । तथो ठितिवंधवाणाणि असंखे-
ज्जगुणाणि, जहन्नगठितिहीणा सव्वठितिति काउं । तत्रो उक्कोसगो ठितिवंधो विसेसाहियो जहन्नगठिति-
सहियोत्ति काउं ॥ इति ॥ २५/२६/२७/२८ ॥

अथोक्तशेषद्वादशजीवभेदेषु प्रकृतमायुषः स्थितिवन्धस्थानादीनामल्पवहुत्वं दर्शयन्नाह—

वारहसुं सेसेसुं जीवसमासेसु आउगस्सऽप्या ।

हस्साऽवाहा ततो संखगुणो हस्सठिइबंधो ॥२६॥

ताथो संखगुणाइं अवाहठाणाणि हुन्ति ताहितो ।

उक्कोसिया अवाहा होणइ विसेसओऽब्भहिया ॥३०॥

ततो संखगुणाइं णायव्वाणि ठिइबंधठाणाइं ।

ताहितो अब्भहियो ठिइबंधो होइ उक्कोसो ॥३१॥

(प्रे०) “वारहसुं सेसेसुं” मित्यादि, अनन्तरोक्तपर्याप्तसंज्ञ्यसंज्ञिषन्वेन्द्रियजीवभेदद्वयं विहाय सूक्ष्म-त्रादर-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तैकेन्द्रिय-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रिया-ऽपर्याप्तसंज्ञ्यसंज्ञि-
षन्वेन्द्रियलक्षणेषु द्वादशषु शेषेषु जीवसमासेषु-जीवभेदेषु प्रत्येकमित्यर्थः, एतेषु प्रत्येकं किमित्याह—
“आउगस्सऽप्या” इत्यादि, आयुष्यस्य ह्रस्वा-जघन्याऽवाधाऽप्या, वक्ष्यमाणपदेषुः स्तोकेत्यर्थः ।
इयं आयुषो बन्धकालेन न्यूनामंक्षेप्याद्वाप्रमाणा मती संख्येयावलिकत्तुल्या भवति ।

ननु कर्मप्रकृतिचूर्णौ तु साऽसंक्षेप्याद्वाप्रमाणा दर्शिता, अत्र तु ततोऽपि न्यूनाभिधाने कथं न विरोधः ? इति चेद्, न, विवक्षाभेदेनेत्थमभिधानेऽपि न कश्चिद्विरोधः, “जीवाऽजीवाऽऽश्रव-बन्ध-
संवरनिर्जरा-मोक्षा-स्तत्त्वम्” इत्यनेन सप्तविधतत्त्वप्रतिपादने “जीवाजीवा पुष्पां, पावा-सव-सवरो
य निज्जरणा । बंधो मुखो य तथा, नव तत्ता हुंति नायव्वा” इत्यनेन नवविधतत्त्वाभिधानेऽप्य-
विरोध इव । इदमुक्तं भवति,—कुत्रचिद्ग्रन्थे जघन्याबाधाऽसंक्षेप्याद्वाप्रमाणाऽभिहिता । यथा
कर्मप्रकृतिचूर्णौ—“आउगस्स सव्वत्थोवा जहणिया अवाहा, सा य असंखिप्पद्धा” इत्यनेन ।
ततश्च कर्मप्रकृत्यभिप्रायेण यस्या अर्वाक् पूर्वमवद्वपारभविकायुष्कजीवेन नियमेनायुर्वन्धो समाप्यते
सा वेद्यमानायुर्वशेषरूपाऽसंक्षेप्याद्वा इति ज्ञायते, तस्या एवायुषो जघन्याबाधात्वेन संघटनात् ।
प्रज्ञापनावृत्त्यादौ तु “त्रिभागाविना प्रकारेण या संक्षेप्तुं न शक्यते सा असंक्षेप्या सा चासौ
अद्धा च असंक्षेप्याद्धा” इत्येवंव्याख्यानाद् यस्या अर्वाक् पूर्वमवद्वपारभविकायुष्कजीवो नियमेना-
युर्वन्धं प्रारभते सा असंक्षेप्याद्वा, इत्येवमसंक्षेप्याद्वाऽऽयुर्वन्धकालेनाधिकजघन्याबाधाप्रमाणा लक्ष्यते,
आयुषोऽवाधा तु यावति वेद्यमानायुष्यवशेषे परमवायुर्वन्धः समाप्यते तावन्माना सर्वेषामभिप्रेता,
प्रकृते च जघन्याबाधा प्रज्ञापनावृत्त्याद्यभिप्रेताऽसंक्षेप्याद्वाव्याख्यानानुसारेण भाविता, कर्मप्रकृत्यभि-

प्रायेण त्वन्यथाऽपि भावनीया । इत्थं ह्युभयापेक्षयाऽपि जघन्यावाधायाः नमानत्वात् न कश्चिद्विरोधः, पदार्थान्तरं वेति ।

अथ प्रकृतम्—“ततो संखगुणो हस्सठिद्वबंधो” ति ततः संख्येयगुणो हस्त्रः—जघन्यः स्थितिवन्धः, आश्रुप इत्यनुवृत्त्या बोद्धव्यम् । एवमुत्तरत्रापि “आउगस्स” इत्यस्यानुवृत्तिर्द्रष्टव्या । “ताश्रो संखगुणाइं अवाहठाणाणि हुन्ति” ति तस्मादायुषो जघन्यस्थितिवन्धादायुषोऽवाधा- स्थानानि संख्येयगुणानि भवन्ति । जघन्यावाधेनस्वोत्कृष्टायुस्त्रिभागसमयप्रमाणत्वादिति । “ताहितो” ति तेभ्योऽवाधारकमेव्यः “उक्कोसिया अवाहा होइ विसेसश्रोऽवभहिया” ति सुगमम्, जघन्यावाधाया अत्र प्रक्षेपादिति । “तो संखगुणाइं पायव्वाणि ठिद्वबंधठाणाइं” ति सुगमम्, स्थितिवन्धस्थानानामन्तर्मुहूर्तानपूर्वकोटीसमयप्रमाणत्वात् । “ताहितो अवभहियो ठिद्वबंधो होइ उक्कोसो” ति सुगमम्, समयोनलुल्लकभवलक्षणस्यान्तर्मुहूर्तकालस्यात्र प्रक्षेपादिति । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णो—

“पंचिदियाणं सत्रीणं असत्रीणं अपज्जत्तगाणं चउरिदियाणं तेइदियाणं वेइदियाणं वायरागिदियाणं सुहुमएगिदियाणं पज्जत्तगाअपज्जत्तगाणं आउगस्स सख्खत्थोया जहणिया अवाहा, सा य असंखेप्पद्धा । जहणगो ठित्तिबंधो संखेज्जगुणो, सुहुगभवग्गहणत्ति काउं । अवाहाट्ठाणाणि संखेज्जगुणाणि । उक्कोसिया अवाहा विसेसाहिया । ठित्तिबंधट्ठाणाणि संखेज्जगुणाणि, पुव्वकोडीजहन्नगट्ठित्ति (उ) णत्ति काउं । उक्कोसगो ठित्तिबंधो विसेसाहियो” । इति ।

पर्याप्तसंख्यसंज्ञिवर्जडादशजीवभेदेष्वायुषः स्थितिवन्धस्थानादीनामल्पबहुत्वयन्त्रम्			
क्रमः	पदानि	अल्पबहुत्वम्	प्रमाणम्
१	जघन्यावाधा	सर्वस्तोका	असंक्षेप्याद्वाप्रमाणा
२	जघन्यस्थितिवन्धः	संख्येयगुणः	लुल्लकभवप्रमाणः
३	अवाधास्थानानि	संख्येयगुणानि	देशोनस्वोत्कृष्टायुस्त्रिभागसमयतुल्यानि
४	उत्कृष्टावाधा	विशेषाधिका	स्वोत्कृष्टायुस्त्रिभागप्रमाणा
५	स्थितिवन्धस्थानानि	संख्येयगुणानि	देशोनपूर्वकोटिसमयप्रमाणानि
६	उत्कृष्टस्थितिवन्धः	विशेषाधिकः	एका पूर्वकोटिः

तदेवं व्याख्यातानि चतुर्थद्वारे प्रत्येकं मूलकर्मणां पृथक् पृथक् स्थितिवन्धस्थानादेः परस्थानान्यबहुत्वानि । अर्थतान्येव मूलोक्तान्यबहुत्वानि वीजपदीकृत्याप्तकर्मणां परस्थानतस्तानि सामस्त्ये- नोपपादयितुं युज्यन्ते, एवं गुणस्थानेषु जीवस्थानान्यधिकृत्य पृथक् पृथक् सामस्त्येन च चिन्ता-

विपर्यक्तव्यानि भवन्ति विदुषां विविदिषाविच्छेदायेति मन्यामहे, तथाऽपि न तानि सर्वाणि ग्रन्थ-
विस्तरभयाद्वितन्मः, किन्तु प्रथमगुणस्थाने भव्याभव्यमाधारणवन्धप्रायोग्यस्थितिवन्धस्थानादीन्यधि-
कृत्याऽष्टानामपि मूलकर्मणां परस्थानत एकैकजीवभेदेषु पार्थक्येन, चतुर्दशजीवभेदेषु सामस्त्येन
चोच्यन्ते । तत्र पृथग्वक्तव्ये श्राद्धौ तावत्पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदे—(१) आयुषो जघन्यावाधा
सर्वेस्तीका, क्षुल्लकभवत्रिभागादपि सुबहुन्यूनत्वात्तस्याः । (२) तत आयुषो जघन्यस्थितिवन्धः
संख्येयगुणः, क्षुल्लकभवप्रमाणत्वात् । (३) ततो नामगोत्रयोरजघन्यावाधा संख्येयगुणा, अन्तर्मुहूर्त-
मात्रत्वेऽपि क्षुल्लकभवापेक्षया संख्येयगुणवृद्धदन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात् । (४) ततो ज्ञानावरणदर्शनावरण-
वेदनीया-ऽन्तरायलक्षणस्य ज्ञानावरणादिचतुष्कस्य जघन्यावाधाऽन्तर्मुहूर्तमात्रा सत्यपि विशेषाधिका,
कुतः ? नामगोत्रयोरजघन्यस्थितिवन्धापेक्षयाऽस्य चतुष्कस्य जघन्यस्थितिवन्धस्य विशेषाधिकत्वात्,
जघन्यावाधाया जघन्यस्थितिवन्धाधीनत्वाच्च । ननु नामगोत्रयोरजघन्यस्थितिवन्धापेक्षयाऽस्य ज्ञाना-
वरणादेर्जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिक इति कथं ज्ञायते ? भण्यते—आयुर्वर्जमप्तमूलकर्मणामेकेन्द्रिया-
दिस्वामिकानां जघन्यस्थितिवन्धानामुत्कृष्टस्थितिवन्धानां च प्रमाणस्यौघोत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणानु-
सारेण भावात् । इदमुक्तं भवति—ओघतो नाम-गोत्रयोः प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य त्रिंशतिसागरोपम-
कोटीकोटीलक्षणस्यापेक्षया ज्ञानावरणादेः प्रत्येकमुत्कृष्टोऽपि स्थितिवन्धो विशेषाधिकः, त्रिंशत्काटाकोटी-
सागरोपमप्रमाणत्वात्, एवमेवोघतो ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धः
संख्येयगुणः, यतो मोहनीयस्योत्कृष्टा स्थितिरोघतः सप्ततिनागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा बध्यन्ते, यस्य
च नामादेः कर्मण ओघोत्कृष्टस्थितिवन्धो ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया स्तोकस्तस्य जघन्य-
स्थितिवन्धोऽप्येकेन्द्रियादिजीवैरुत्कृष्टस्थितिवन्धवत् स्तोकः क्रियते, यस्य च ज्ञानावरणादेरुत्कृष्ट-
स्थितिवन्ध ओघतो नामादेः कर्मण उत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया विशेषाधिको मोहनीयस्य संख्येयगुणो
वा तस्योत्कृष्टो वा जघन्यो वा स्थितिवन्धोऽप्येकेन्द्रियादिजीवैस्तथाविध ओघोत्कृष्टस्थितिवन्धानुसारी
विशेषाधिकः संख्येयगुणो वा क्रियते । यतो यस्या यस्या मतिज्ञानावरणाद्युत्तरप्रकृतेरोघोत्कृष्टस्थिति-
वन्धो ज्ञानावरणादिमूलप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिवन्धतुल्यो जायते, ताः प्रकृतयः प्रथमगुणस्थानके ओघतो
बध्यन्ते, तीर्थकरनामा-ऽऽहारकद्विकवर्जनां सप्तदशाभ्यधिकशतसंख्याकानामुत्तरप्रकृतीनां बन्धस्य
मिथ्यात्वगुणस्थानेऽभिधानात् । न चैवं सासादनादिगुणस्थानेष्वपि, मोहनीयाख्यमूलप्रकृतेरुत्कृष्ट-
स्थितिवन्धतुल्योत्कृष्टस्थितिवन्धाया अद्वितीयया मिथ्यात्वमोहनीयप्रकृतेः सासादनगुणे केषामपि
जीवानामवन्धान्, एवमेवोत्तरत्रापि तथाविधप्रकृतीनां विच्छेदात्, इत्थं हि मिथ्यात्वमोहनीयादि-
प्रकृतीनां बन्धकः पार्श्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवो वाऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवो वैकेन्द्रियादीनामन्यतमो
वा जीवो नामगोत्रयोर्यत्रतीमुत्कृष्टां स्थितिं बध्नाति तदपेक्षया ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां तां विशेषाधिकां
बध्नाति, ज्ञानावरणाद्यपेक्षया मोहनीयस्य तु तां संख्येयगुणां बध्नाति, यथा उत्कृष्टां तथा जघन्यामपि
नामगोत्रयोरपेक्षया ज्ञानावरणादेर्विशेषाधिकां, तदपेक्षया मोहनीयस्य संख्येयगुणां च बध्नाति, अत

एव नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिवन्धापेक्षया ज्ञानावरणादिचतुर्णां जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिक उच्यते । इत्थमेव ज्ञानावरणादीनां स्थितिवन्धस्थानाऽबाधास्थान-जघन्योत्कृष्टाबाधादीनां निषेकद्विगुणहान्य-वाधाकरणद्वयजघन्यानां पदानां जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्ध-तदन्तर्गलाधीनतया तेषां वक्ष्यमाणसंख्येयगुण-त्वादिकस्य जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धानुसारेण भावना कर्तव्येति । अथ प्रस्तुतम्—(५) ज्ञानावरणादि-चतुष्कस्य जघन्याबाधापेक्षया मोहनीयस्य जघन्याबाधान्तर्मुहूर्तमात्रा सत्यपि संख्येयगुणा, अस्य जघन्यस्थितिवन्धस्य संख्येयगुणत्वात् (६) ततो नामगोत्रयोर्बाधास्थानानि संख्येयगुणानि, कुतः ? अन्तर्मुहूर्तेनवर्षमहस्रद्वयप्रमाणत्वात् । (७) ततोऽनयोरेवोत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका, समयोनजघन्या-बाधायास्तत्र प्रवेशात् । (८) ततो ज्ञानावरणादिचतुष्कस्याबाधास्थानानि विशेषाधिकानि, नाम-गोत्रयोरेपेक्षया ज्ञानावरणादेर्जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धान्तर्गलस्य विशेषाधिकत्वात्, अबाधास्थानानां तदधीनत्वाच्च । (९) ततोऽस्यैव चतुष्कस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका, समयोनजघन्याबाधायाः प्रक्षेपात् । (१०) ततो मोहनीयस्याबाधास्थानानि संख्येयगुणानि, अस्योत्कृष्टस्थितिवन्धस्य संख्येयगुणत्वेन जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धान्तरस्यापि संख्येयगुणत्वात्, । (११) ततोऽस्यैव मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा-विशेषाधिका, समयोनजघन्याबाधापुतन्वेन सप्तवर्षमहस्रमितत्वात् । (१२) तत आयुषोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि, अन्तर्मुहूर्तेनपूर्वकोटीत्रिभागतुल्यत्वात् । (१३) तत आयुष उत्कृष्टाबाधाविशेषाधिका, समयोनजघन्याबाधायास्तत्र प्रवेशेन पूर्वकोटीत्रिभागतुल्यत्वात् । (१४) ततोऽस्यैवायुष उत्कृष्टस्थिति-वन्धे निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि, पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणत्वात् । (१५) ततो नामगोत्रयोस्तानि संख्येयगुणानि, अनयोत्कृष्टस्थितिवन्धस्य संख्येयगुणत्वात् । (१६) ततो ज्ञाना-वरणादिचतुष्कस्य तानि विशेषाधिकानि, अस्योत्कृष्टस्थितिवन्धस्य विशेषाधिकत्वात् । (१७) ततो मोहनीयस्य तानि निषेकद्विगुणहानिस्थानानि संख्येयगुणानि, अस्योत्कृष्टस्थितिवन्धस्य संख्येय-गुणत्वात् निषेकद्विगुणहानिस्थानानां तदधीनत्वाच्च । (१८) ततोऽष्टानामपि ज्ञानावरणादीनां निषेक-द्विगुणहानिस्थानयोरेकमन्तरमसंख्येयगुणम्, द्विगुणहानिस्थानान्तरस्याऽसंख्येयपल्योपमप्रथमवर्गमूल-तुल्यनियतपरिमाणतया सर्वत्र द्विगुणहानिस्थानापेक्षयाऽसंख्येयगुणत्वादत्रापि तथैव द्रष्टव्यम् । एवमेवोत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । विशेषभावना तु मूलोक्तान्यबहुत्वबृत्त्यनुसारेण स्वमेव कर्तव्या । (१९) अनन्तरोक्तनिषेकद्विगुणहानिस्थानयोरेकान्तरापेक्षयाऽऽयुर्वर्जसप्तकर्मणामेकमबाधाकरणद्वयसंख्येयगुणम्, अस्यापि पल्योपमासंख्येयभागतुल्यत्वेऽपि सर्वत्र निषेकद्विगुणहानिस्थानान्तरापेक्षयाऽसंख्येय-गुणत्वेन नियतत्वादेवासंख्येयगुणत्वमवभातव्यम् । इत्थमेवोत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । अत्रापि विशेष-भावना प्रागिव कर्तव्या । (२०) अनन्तरोक्तैकाबाधाकरणद्वयपेक्षयाऽऽयुषः स्थितिवन्धस्थानान्यसंख्येय-गुणानि, देशोनत्रयस्त्रिंशन्मागरोपमप्रमाणत्वात् । (२१) तत आयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः, चुञ्चलकभवप्रहणलक्षणोऽन्तर्मुहूर्तेनाधिकत्वात् । (२२) ततो नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिवन्धः संख्येय-गुणः, अन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमितत्वात् । (२३) ततो ज्ञानावरणादिचतुर्णां जघन्यस्थितिवन्धो

विशेषाधिकः, तेषामोघोत्कृष्टस्थितिवन्धस्य नामगोत्रयोरोघोत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया विशेषाधिकत्वात्, भव्याभव्यमाधारणजघन्यस्थितिवन्धस्य तदधीनत्वाच्च । (२४) ततो मोहनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणः सन्नपि संख्येयगुणः, ओघोत्कृष्टस्थितिवन्धस्य संख्येयगुणत्वात् । (२५) ततो नामगोत्रयोः स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि, अन्तःकोटीकोटीसागरोपमन्यूनत्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीनां समयतुल्यत्वात् । (२६) ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः, सम्पूर्णत्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् । (२७) ततो ज्ञानावरणादिचतुर्णां स्थितिवन्धस्थानानि विशेषाधिकानि, देशोनत्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणात्तथा द्विगुणादपि हीनत्वात् । (२८) ततस्तेषामेव चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः, समयोनजघन्यस्थिन्या अन्तःकोटीकोटीलक्षणायास्तत्र प्रवेशेन परिपूर्णत्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् । (२९) ततो मोहनीयस्य स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि, अन्तःकोटीकोटीसागरोपमन्यूनसप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् । (३०) ततस्तस्यैव मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः, अन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणजघन्यायाः स्थितेस्तत्र प्रवेशादिति ।

अथाऽपर्याप्तसंज्ञिपर्यञ्चेन्द्रियजीवभेद आयुष उत्कृष्टम्यापि स्थितिवन्धस्य पूर्वकोटीवर्षप्रमाणत्वेन निषेकद्विगुणहानिस्थान-तदन्तरयोरसम्भवात् पदद्वयवर्जानां शेषाणां ज्ञानावरणादेः स्थितिवन्धस्थानादीनामल्पवहुत्वम् । तत्र—(१) आयुषो जघन्यावाधा सर्वस्तोका, (२) तत आयुषो जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः, (३) तत आयुषोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि, (४) तत आयुष उत्कृष्टावाधा विशेषाधिका, (५) ततो नामगोत्रयोर्जघन्यावाधा संख्येयगुणा, (६) ततो ज्ञानावरणादिचतुष्कस्य जघन्यावाधा विशेषाधिका, (७) ततो मोहनीयस्य जघन्यावाधा संख्येयगुणा, (८) ततो नामगोत्रयोर्बाधास्थानानि संख्येयगुणानि, (९) ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टावाधा विशेषाधिका, (१०) ततो ज्ञानावरणादेर्बाधास्थानानि विशेषाधिकानि, (११) ततो ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टावाधा विशेषाधिका, (१२) ततो मोहनीयस्याबाधास्थानानि संख्येयगुणानि, (१३) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टावाधा विशेषाधिका, (१४) तत आयुषः स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि, (१५) तत आयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः, पूर्वकोटीवर्षप्रमाणत्वात् । (१६) ततो नामगोत्रयोर्निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि, (१७) ततो ज्ञानावरणादेर्द्विगुणहानिस्थानानि विशेषाधिकानि, (१८) ततो मोहनीयस्य द्विगुणहानिस्थानानि संख्येयगुणानि, (१९) तत आयुर्वर्जसप्तकर्मणां निषेकस्य द्विगुणहानिस्थानयोरन्तरसमसंख्येयगुणम्, अत्र हेतुः पूर्वोक्तसंज्ञिपर्याप्तजीवभेदवज्ज्ञेयः । (२०) ततस्तेषामेवैकमवाध्याकरडकमसंख्येयगुणम्, अत्रापि हेतुः पूर्वोक्तसंज्ञिपर्याप्तजीवभेदवज्ज्ञेयः । (२१) ततो नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिवन्धोऽसंख्येयगुणः । (२२) ततो ज्ञानावरणादिचतुष्कस्य जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२३) ततो मोहनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः । (२४) ततो नामगोत्रयोः स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । (२५) ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः ।

(२६) ततो ज्ञानावरणादिचतुष्कस्य स्थितिवन्धस्थानानि विशेषाधिकानि । (२७) ततो ज्ञानावरणादि-
चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२८) ततो मोहनीयस्य स्थितिवन्धस्थानानि मन्व्येय-
गुणानि । (२९) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । इति ।

अथ पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदे प्रकृतान्पवद्बुत्वम्—तत्र (१) नामगोत्रयोर्वाधा-
स्थानानि अवाधाकण्डकानि स्तोकानि परस्परं तुन्यानि च, स्थितेरल्पत्वेनावलिकाया लघुसंख्यभाग-
गतसमयतुल्यत्वात् (२) ततो ज्ञानावरणादिचतुष्कस्यावाधास्थानानि विशेषाधिकानि, । (३) ततो
मोहनीयस्यावाधास्थानानि मन्व्येयगुणानि । (४) तत आयुषो जघन्यावाधा संख्येयगुणा ।
(५) तत आयुषो जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणाः । (६) ततो नामगोत्रयोर्जघन्यावाधा संख्येयगुणा ।
(७) ततो नामगोत्रयोर्लुक्कृष्टावाधा विशेषाधिका । (८) ततो ज्ञानावरणादेर्जघन्यावाधा विशेषाधिका ।
(९) ततो ज्ञानावरणादेर्लुक्कृष्टावाधा विशेषाधिका । (१०) ततो मोहनीयस्य जघन्यावाधा संख्येयगुणा ।
(११) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टावाधा विशेषाधिका । (१२) तत आयुषोऽवाधास्थानानि संख्येय-
गुणानि । (१३) तत आयुष उन्कृष्टावाधा विशेषाधिका । (१४) तत आयुषो द्विगुणहानिस्थानान्य-
संख्येयगुणानि । (१५) ततो नामगोत्रयोर्द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि । (१६) ततो ज्ञाना-
वरणादेर्द्विगुणहानिस्थानानि विशेषाधिकानि । (१७) ततो मोहनीयस्य द्विगुणहानिस्थानानि संख्येय-
गुणानि । (१८) ततोऽष्टकर्मणां द्विगुणहान्योर्न्तरमसंख्येयगुणम् । (१९) तत आयुर्वर्जमप्तकर्मणा-
मेकमवाधाकण्डकमसंख्येयगुणम् । (२०) तत आयुषः स्थितिवन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि । (२१) तत
आयुष उन्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२२) ततो नामगोत्रयोः स्थितिवन्धस्थानान्यसंख्येय-
गुणानि । (२३) ततो ज्ञानावरणादिचतुष्कस्य स्थितिवन्धस्थानानि विशेषाधिकानि । (२४) ततो
मोहनीयस्य स्थितिवन्धस्थानानि मन्व्येयगुणानि । (२५) ततो नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिवन्धः
संख्येयगुणाः । (२६) ततो नामगोत्रयोर्लुक्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२७) ततो ज्ञानावरणादे-
र्जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२८) ततो ज्ञानावरणादेर्लुक्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः ।
(२९) ततो मोहनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणाः । (३०) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धो
विशेषाधिकः । इति ।

अथाऽपर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवभेदे—(१) नामगोत्रयोर्वाधास्थानानि स्तोकानि, (२) ततो
ज्ञानावरणादेर्वाधास्थानानि विशेषाधिकानि, । (३) ततो मोहनीयस्यावाधास्थानानि मन्व्येयगुणानि ।
(४) तत आयुषो जघन्यावाधा संख्येयगुणा, मन्व्येयावलिकाप्रमाणत्वात् । (५) तत आयुषो जघन्य-
स्थितिवन्धः संख्येयगुणाः । (६) तत आयुषोऽवाधास्थानानि संख्येयगुणानि । (७) तत आयुष
उन्कृष्टावाधा विशेषाधिका । (८) ततो नामगोत्रयोर्जघन्यावाधा संख्येयगुणा । (९) ततो नामगोत्रयो-
र्लुक्कृष्टावाधा विशेषाधिका । (१०) ततो ज्ञानावरणादेर्जघन्यावाधा विशेषाधिका । (११) ततो ज्ञाना-
वरणादेर्लुक्कृष्टावाधा विशेषाधिका । (१२) ततो मोहनीयस्य जघन्यावाधा संख्येयगुणा । (१३) ततो

मोहनीयस्योत्कृष्टावाधा विशेषाधिका । (१४) तत आयुषः स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । (१५) तत आयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (१६) ततो नामगोत्रयोर्द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि । (१७) ततो ज्ञानावरणादेर्द्विगुणहानिस्थानानि विशेषाधिकानि । (१८) ततो मोहनीयस्य द्विगुणहानिस्थानानि संख्येयगुणानि । (१९) तत आयुर्वर्जसप्तकर्मणां द्विगुणहानिस्थानयोरन्तरसंसख्येयगुणम्, उक्तनियमात् । (२०) ततस्तेषामेवैकमवाधाकण्डकमसंख्येयगुणम्, अत्रापि पूर्ववत् । (२१) ततो नामगोत्रयोः स्थितिवन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि, पल्योपमसंख्येयभागतुल्यत्वात् । (२२) ततो ज्ञानावरणादिचतुष्कस्य स्थितिवन्धस्थानानि विशेषाधिकानि । (२३) ततो मोहनीयस्य स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । (२४) ततो नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः, संख्येयमागरोपमतुल्यत्वात् । (२५) ततो नामगोत्रयोर्द्विगुणहानिस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२६) ततो ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२७) ततो ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२८) ततो मोहनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः । (२९) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । इति ।

अथ पर्याप्तचतुरिन्द्रियजीवभेदे प्रकृतान्पबहुत्वम्, तत्र—(१) नामगोत्रयोश्चाधास्थानानि स्तोकानि, पूर्ववदावलिकामसंख्येयभागतुल्यत्वात् । (२) ततो ज्ञानावरणादेरवाधास्थानानि विशेषाधिकानि । (३) ततो मोहनीयस्यावाधास्थानानि संख्येयगुणानि । (४) तत आयुषो जघन्यावाधा संख्येयगुणा । (५) तत आयुषो जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः । (६) ततो नामगोत्रयोर्जघन्यावाधा संख्येयगुणा । (७) ततो नामगोत्रयोर्द्विगुणहानि विशेषाधिका । (८) ततो ज्ञानावरणादेर्जघन्यावाधा विशेषाधिका । (९) ततो ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टावाधा विशेषाधिका । (१०) ततो मोहनीयस्य जघन्यावाधा संख्येयगुणा । (११) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टावाधा विशेषाधिका । (१२) तत आयुषोऽवाधास्थानानि संख्येयगुणानि । (१३) तत आयुष उत्कृष्टावाधा विशेषाधिका । (१४) तत आयुषः स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि, देशोनपूर्वकोटीवर्षममयमित्वात् । (१५) तत आयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (१६) ततो नामगोत्रयोर्द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि ।

इतस्तु मसदशप्रभृतीन्त्येकोनत्रिंशत्तमपर्यन्तानि शेषपदान्यपर्याप्तसंज्ञियञ्चेन्द्रियजीवभेदवदेव द्रष्टव्यानि, तुल्यवक्तव्यत्वादिति । पर्याप्तत्रोन्द्रियजीवभेदे पर्याप्तद्वीन्द्रियजीवभेदे च प्रकृतान्पबहुत्वमविशेषेण चतुरिन्द्रियजीवभेदवदेव द्रष्टव्यम्, स्थितिवन्धस्थानादीनां प्रमाणस्य नानात्वेऽपि तदीयान्पबहुत्ववक्तव्यतायास्तुल्यत्वात् । इत्थमेवाऽपर्याप्तद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियलक्षणेषु त्रिषु जीवभेदेषु प्रकृतान्पबहुत्वान्यपर्याप्तासंज्ञियञ्चेन्द्रियजीवभेदवदभिधातव्यानि, प्रत्येकं पूर्ववत्प्रमाणानान्त्वेऽप्यन्पबहुत्ववक्तव्यतायाः सदृशत्वात् । तदेवं गतानि पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-संज्ञियञ्चेन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-त्रीन्द्रियलक्षणेषु दशजीवभेदेषु प्रत्येकमष्टकर्मणां परस्परं स्थितिवन्ध स्थानादीनामन्पबहुत्वम् ।

साम्प्रतं पर्याप्तबाधरैकेन्द्रियजीवभेदे प्रकृतान्पचहुत्वं प्रदर्शयते—(१) नामगोत्रयोर-
 बाधास्थानानि सर्वस्तोकानि, स्थितिस्थानानामल्पत्वेनावलिकाया असंख्यभागतुल्यत्वात् । (२) ततो
 ज्ञानावरणादेर्बाधास्थानानि विशेषाधिकानि । (३) ततो मोहनीयस्याबाधास्थानानि संख्येयगुणानि ।
 (४) तत आयुषो जघन्याबाधाऽसंख्येयगुणा । (५) तत आयुषो जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः ।
 (६) ततो नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा संख्येयगुणा । (७) ततो नामगोत्रयोर्लुकृष्टाबाधा विशेषाधिका ।
 (८) ततो ज्ञानावरणादेर्जघन्याबाधा विशेषाधिका । (९) ततो ज्ञानावरणादेर्लुकृष्टाबाधा विशेषाधिका ।
 (१०) ततो मोहनीयस्य जघन्याबाधा संख्येयगुणा । (११) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका ।
 (१२) तत आयुषोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि, यथाधिकसप्तवर्षसहस्रतुल्यत्वात् । (१३) तत आयुष
 उत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१४) तत आयुषः स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि, देशोनपूर्व-
 कोटीवर्षसमयतुल्यत्वात् । (१५) तत आयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (१६) ततो नाम-
 गोत्रयोर्द्विगुणहानिस्थानान्यसंख्येयगुणानि । (१७) ततो ज्ञानावरणादेर्द्विगुणहानिस्थानानि विशेषा-
 धिकानि । (१८) ततो मोहनीयस्य द्विगुणहानिस्थानानि संख्येयगुणानि । (१९) तत आयुर्वर्ज-
 सप्तकर्मणां द्विगुणहान्योरन्तरमसंख्येयगुणम् । (२०) तत आयुर्वर्जसप्तकर्मणामेकमवाधाकण्डकम-
 संख्येयगुणम् । (२१) ततो नामगोत्रयोः स्थितिवन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि । (२२) ततो ज्ञाना-
 वरणादेः स्थितिवन्धस्थानानि विशेषाधिकानि । (२३) ततो मोहनीयस्य स्थितिवन्धस्थानानि संख्येय-
 गुणानि । (२४) ततो नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिवन्धोऽसंख्येयगुणः । (२५) ततो नामगोत्रयो-
 र्लुकृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२६) ततो ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२७)
 ततो ज्ञानावरणादेर्लुकृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२८) ततो मोहनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धः
 संख्येयगुणः । (२९) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । इति ।

अथाऽपर्याप्तबाधरैकेन्द्रियजीवभेदे प्रस्तुतान्पचहुत्वं—तत्र (१) नामगोत्रयोरबाधास्थानानि
 स्तोकानि । (२) ततो ज्ञानावरणादेर्बाधास्थानानि विशेषाधिकानि । (३) ततो मोहनीयस्याबाधा-
 स्थानानि संख्येयगुणानि । (४) तत आयुषो जघन्याबाधाऽसंख्येयगुणा । (५) तत आयुषो जघन्य-
 स्थितिवन्धः संख्येयगुणः । (६) तत आयुषोऽबाधास्थानानि संख्येयगुणानि । (७) तत आयुष
 उत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (८) ततो नामगोत्रयोर्जघन्याबाधा संख्येयगुणा । (९) ततो नामगोत्रयो-
 र्लुकृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१०) ततो ज्ञानावरणादेर्जघन्यबाधा विशेषाधिका । (११) ततो ज्ञाना-
 वरणादेर्लुकृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१२) ततो मोहनीयस्य जघन्याबाधा संख्येयगुणा । (१३) ततो
 मोहनीयस्योत्कृष्टाबाधा विशेषाधिका । (१४) तत आयुषः स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि ।
 (१५) तत आयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (१६) ततो नामगोत्रयोर्द्विगुणहानिस्थानान्य-
 संख्येयगुणानि । (१७) ततो ज्ञानावरणादेर्द्विगुणहानिस्थानानि विशेषाधिकानि । (१८) ततो
 मोहनीयस्य द्विगुणहानिस्थानानि संख्येयगुणानि । (१९) तत आयुर्वर्जसप्तकर्मणां द्विगुणहान्यो-

रन्तरमसंख्येयगुणम् । (२०) तत आयुर्वर्जसप्तकर्मणामेकमवाधाकण्डकमसंख्येयगुणम् । (२१) ततो नामगोत्रयोः स्थितिवन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि । (२२) ततो ज्ञानावरणादेः स्थितिवन्धस्थानानि विशेषाधिकानि । (२३) ततो मोहनीयस्य स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । (२४) ततो नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिवन्धोऽसंख्येयगुणः । (२५) ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२६) ततो ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२७) ततो ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२८) ततो मोहनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः । (२९) ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । इति ।

अथ पर्याप्ताऽपर्याप्तसूक्ष्मकेन्द्रियलक्षणयोर्द्वयोः शेषजीवभेदयोस्तु प्रस्तुताल्पबहुत्वमपर्याप्तबादरेकेन्द्रियजीवभेदवदेव द्रष्टव्यम्, तुल्यवक्तव्यत्वात् । इति । गता चतुर्दशजीवभेदेषु पृथक् पृथक् प्रकृताल्पबहुत्ववक्तव्यता ।

साम्प्रतं चतुर्दशजीवभेदानां समुचितं स्थितिवन्धस्थानाद्यल्पबहुत्वं ददर्शते—(१) सूक्ष्मकेन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरवाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च स्तोत्राणि परस्परं तुल्यानि च । (२) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादीनां चतुर्धामवाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च विशेषाधिकानि, परस्परं तु तानि तुल्यानि । (३) ततस्तस्यैव मोहनीयस्यावाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि, परस्परं तु प्राग्बहुत्यान्येव । (४) ततो बादरेकेन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरवाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि, परस्परं तु प्राग्बहुत्यान्येव । (५) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरवाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च विशेषाधिकानि, परस्परं तु प्राग्बहुत्यान्येव । एवमेवोत्तरत्रापि तुल्यानीति स्वयमेव द्रष्टव्यम् । (६) ततस्तस्यैव मोहनीयस्यावाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (७) ततः सूक्ष्मकेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य नामगोत्रयोरवाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (८) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरवाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च विशेषाधिकानि । (९) ततस्तस्यैव मोहनीयस्यावाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (१०) ततो बादरेकेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरवाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (११) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरवाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च विशेषाधिकानि । (१२) ततस्तस्यैव मोहनीयस्यावाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (१३) ततो द्वोन्द्रियापर्याप्तस्य नामगोत्रयोरवाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (१४) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरवाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च विशेषाधिकानि । (१५) ततस्तस्यैव मोहनीयस्यावाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (१६) ततो द्वोन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरवाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (१७) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरवाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च विशेषाधिकानि । (१८) ततस्तस्यैव मोहनीयस्यावाधास्थानान्यवाधाकण्डकानि च संख्येयगुणानि । (१९) ततस्त्रीन्द्रियापर्याप्तस्य

ऽपर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२९३) ततस्तस्यैव नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२९४) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२९५) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२९६) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२९७) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणाद्युत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२९८) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (२९९) ततस्तस्यैव मोहनीयजघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः । (३००) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियापर्याप्तस्य मोहनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (३०१) ततस्तस्यैव मोहनीयोत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (३०२) ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (३०३) ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः । (३०४) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (३०५) ततस्तस्यैव मोहनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः । (३०६) ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तस्य नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः । (३०७) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेर्जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (३०८) ततस्तस्यैव मोहनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः । (३०९) ततस्तस्यैव नामगोत्रयोः स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । (३१०) ततस्तस्यैव नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (३११) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेः स्थितिवन्धस्थानानि विशेषाधिकानि । (३१२) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (३१३) ततस्तस्यैव मोहनीयस्य स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । (३१४) ततस्तस्यैव मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (३१५) ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य नामगोत्रयोः स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । (३१६) ततस्तस्यैव नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (३१७) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेः स्थितिवन्धस्थानानि विशेषाधिकानि । (३१८) ततस्तस्यैव ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । (३१९) ततस्तस्यैव मोहनीयस्य स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । (३२०) ततस्तस्यैव मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिक इति ॥२९-३०-३१॥

तदेवमभिहितं प्रमङ्गान्प्रथमगुणस्थाने प्रतिजीवभेदं मसुदितजीवभेदेषु च मूलप्रकृतिमन्क-स्थितिवन्धस्थानादिपदानामल्पबहुत्वम् । तस्मिंश्चाभिहिते समाप्तं प्रथमाविकारचरमद्वारम् । तन्समाप्तां च समाप्तः प्रथमोऽविकारः ॥

इत्थमधिकारमात्रं चित्तस्य मयकाप्नसुकृतगुरुदण्डैः ।

निहताः कृकर्मचौरा न विशन्तु कदाऽपि भल्यजोवगृहे ॥ (गीतिः)

॥ इति श्रीवन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे प्रथमेऽधिकारे चतुर्थमल्पबहुत्वद्वारं समाप्तम् ॥

॥ इति श्रीवन्धविधाने-मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे प्रथमोऽधिकारः ॥

॥ द्वितीयाधिकारः ॥

अथ द्वितीयोऽधिकारः, तत्र पञ्चदशानुयोगद्वाराणीति प्राक् संख्यामात्रेणाभिहितम् । माम्प्रतम-
धिकारप्रारम्भे तानि नामत आविचिकीपुंरोह—

दुइए अहिगारे अह पंचदसदुआरगाणि ठिइमाणं ।

सामित्त—साइआई कालंतरसणिणयासा य ॥३२॥

भंगविचयो उ भागो परिमाणं खेतफोसणा कालो ।

अंतरभावऽप्यवहृ इइ ऐयाइं जहाकमसो ॥ ३॥

(प्रे०) “दुइए अहिगारे अह” इत्यादि, अत्र अथशब्दो व्युत्क्रमेणादी योज्यः, ततः
प्रथमाधिकारनिरूपणानन्तरं द्वितीयाधिकारे “पंचदस दुआरगाणि” ति प्राक् संख्यातः कथितानि
पञ्चदशानुयोगद्वाराणि, नामत इमानीति वाक्यशेषः । तान्येवाह—“ठिइमाणं”मित्यादिना, तत्र
“ठिइमाणं” ति बन्धविधानस्य प्रकृतत्वाद् बन्धमधिकृत्य स्थितेः—उक्तस्वरूपाया मानम्—प्रमाणं
जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नम्—“ठिइबंधो उकोसो पदम—दुइअ—तइअ—अट्ठमाणं भवे । सागरकोडाकोवी तीसा
नुत्तिअस्स खलु मयरी ॥” इत्यादिना यत्र प्ररूपयिष्यते तत् स्थितिमानम्, स्थितिवन्धप्रमाणद्वारमित्यर्थः ।

“सामित्त” ति स्वामित्वम्—बन्धकत्वेनाधिपत्यम् । स्थितिवन्धप्रमाणद्वारोक्तजघन्योत्कृष्ट-
स्थितिवन्धयोः स्वामिनां—बन्धकानाम्—“सागारो डागारोसु आंवउत्तो परिणदियो सएणी । पज्जत्तो
मव्वाहिं पज्जत्तीहिं चउगहट्ठो ॥” इत्यादिना स्वरूपं यत्र दर्शयिष्यते तत्स्वामित्वद्वारम् ।

“साइआई” ति साधादि, जघन्योत्कृष्टतत्प्रतिपन्नस्थितिवन्धानाम्—“सत्तएहं कम्ममाणं भंग
साई अणाइधुवअधुवा । चउरो अजइएणाए ठिईअ अंधे मुण्यवधा ॥” इत्यादिना तदीर्यकस्वाम्यपेक्षया
साधादिभावस्य यत्र चिन्तनं करिष्यते तन्साधादिद्वारम् । अत्रादिपदादनादि—धुवा-ऽधुवभावानां परिग्रहो
योद्धव्यः । “कालंतरसणिणयासा” ति कालद्वारम्, अन्तरद्वारम्, संनिर्कर्षद्वारमित्यर्थः ।

तत्र कालद्वारे—“सत्तएहं गुरुअ लहं कालो समयो गुरु मुहुत्ततो । अगुरुअ सुहुत्ततो लहं
असंखपरिअट्टियरो ॥” इत्यादिना उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यादिचतुर्विकल्पानां स्थितिवन्धानामेक-
जीवाश्रयो निरन्तरप्रवृत्त्यवधिकः कालो जघन्योत्कृष्टभेदतश्चिन्तयिष्यते ।

अन्तरद्वारे तु—“सत्तएहुक्कोसाए ठिईअ लहुमंतरं मुहुत्ततो । परममसंखपरट्टा अगुरुअ लहुं
मवे समयो ॥” इत्यादिना तेषामेवैकजीवाश्रयोत्कृष्टादिस्थितिवन्धानां स्वनिमित्तापगमेन विरतानां
आविनि नियमेन प्रवर्तनशीलानां यो विरहकाल उत्कृष्टादिसदृशबन्धद्वयान्तराललक्षणः स एवान्तरम्,
तज्जघन्योत्कृष्टभेदतो दर्शयिष्यते ।

संनिकर्षद्वारे पुनः—“पदमसुक्कोसाश्चिडं बंधतो बंधगो चिच्च हवेवजा । खण्डं उक्कोसाश्च
षाऽगुक्कोसाश्च चिडिण ॥” इत्यादिगाथाकदम्बकेन समकालप्रवर्तनेन संनिकृष्टानां—परस्परं सम्बन्ध-
मुपगतानां ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकृतिसन्कैकजीवाश्रयस्थितिवन्धानामुत्कृष्टादिस्वरूपं प्रतिपादनीयं भवेत् ।
किमुक्तं भवति—कस्यचिदेकजीवस्य ज्ञानावरणकर्मणा उत्कृष्टस्थितिवन्धे प्रवर्तमाने तदन्येषां कर्मणां
स्थितिवन्धः प्रवर्तते न वा ? । प्रवर्तते चेद्, उत्कृष्टः प्रवर्तते, अनुत्कृष्टो वा ? । अनुत्कृष्टः
प्रवर्तते चेत्, संख्येयभागेन हीनः प्रवर्तते, अमंख्येयभागेन हीनो वा प्रवर्तते ? इत्यादि, इत्थमेव
दर्शनावरणादिप्रकृतीरधिकृत्य जघन्यस्थितिवन्धमधिकृत्य चाऽग्रशन्पूर्वकमेव प्रदर्शयिष्यते ।

“भंगविचयो” इत्यादिगाथा । तत्र तुकारो पूर्वपेक्षया विशेषद्योतनाथेः, तेन चानन्तराभि-
हितमनिकर्षद्वारपर्यन्तानि द्वागण्येकजीवमाश्रिन्याभिधाभ्यन्ते, भङ्गविचयादीनि तु-पुनर्नानाजीवा-
नाश्रिन्येत्यर्थः । “भंगविचयो” ति भङ्गविचयद्वारम् । भङ्गाः-विकल्पाः, ते च मूलप्रकृति-
सन्कोत्कृष्टादिस्थितेरेकानेकबन्धकाऽबन्धकानिप्यत्राः कालभेदतो नानारूपेण मम्यद्यमानाः, तेषां भङ्गानां
विचयः-समुद्भवित्तनं वा भङ्गविचयः, स एव—“अदृष्टमदृष्टकोसाश्च सिद्धा तुरिय-छदृष्ट-अदृष्टगा भंगा ।
अदृष्टम-मत्तम-तद्व्याऽगुक्कोसाश्च चिडिण च ॥” इत्यादिना यत्र प्रदर्शयिष्यते तद्भङ्गविचयद्वारम् ।

“भागो” ति भागद्वारम् । यत्र—“उक्कोसाश्च चिडिण अर्णतभागोऽन्धि बंधगाऽदृष्टण्डं । होअन्ति
बंधगा खलु अर्णतभागा अजेदृष्टाण ॥” इत्यादिना ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टादिस्थितेर्वन्धकाः शेषबन्धकाना-
मित्यतिथे भागे वर्तन्ते.—संख्येयतमेऽमंख्येयतमेऽनन्ततमे संख्येयतमादियद्दुभागेषु वा वर्तन्ते, इत्यादि
प्रदर्शनीयं भवति ।

“परिमाणं” ति परिमाणद्वारम् । यत्र—“उक्कोसाश्च चिडिण अदृष्टण्डं बंधगा असंख्येवजा । हुन्ति
अगुक्कोसाश्च चिडिण उण बंधगाऽणता ॥” इत्यादिना ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टादिस्थितेर्वन्धकानां संख्येया-
ऽसंख्येयादिरूपेण परिमाणम्—संख्यामानं प्ररूपयिष्यते ।

“क्षेत्र” ति क्षेत्रद्वारम् । यत्र—“लोगस्त अमंख्यसं भागे होअन्ति बंधगाऽदृष्टण्डं । उक्कोसाश्च
चिडिणऽगुक्कोसाश्च पुण सव्यजगे ॥” इत्यादिना ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टादितत्स्थितेर्वन्धकानां नाना-
जीवाश्रयं क्षेत्रम्—कस्मिन्नप्येकसमये वर्तमानानामुत्कृष्टपरिमाणवतामाधारभूतं यन्लोकसंख्येया-
ऽसंख्येयभागादिरूपं तन्प्रतिपादयिष्यते ।

“कोत्तणा” ति रपर्शनाद्वारम् । यत्र—“कुसिद्धा तरह भागा सत्तण्डं बंधगोहि जेदृष्टाण ।
परिकासिअं चिडिणऽगुक्कोसाश्च जगं सव्वं ॥” इत्यादिना प्रत्येकं मूलप्रकृतेरुत्कृष्टादितत्स्थितेर्वन्धकैर-
नन्तेऽतीतकाले स्वस्थानमारणममुद्घातादित इयद् रज्जु-डिण्डु-विज्जवादिप्रमाणं क्षेत्रं स्पृष्टमित्येत-
त्प्रकटयिष्यते ।

“कालो” ति कालद्वारम् । यत्र—“सत्तण्डं बंधगाणं समयो हस्सो चिडिण जेदृष्टाण । पल्लाऽ-
संखियभागो परमो अगुरूअ सव्वद्धा ॥” इत्यादिना पूर्ववत् सर्वासां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टा-

दित्तन्निश्चयमधिकृत्य जघन्येतरभेदेन कालः प्ररूपयिष्यते । केवलं पूर्वं कालद्वारे एकजीवाश्रयो-
ऽसावभिधास्यते, अत्र तु नानाजीवाश्रय इति विशेषः ।

“अंतर” ति अन्तरद्वारम् । यत्र—“अन्तरमदृष्टं लहुं जेष्टाश्च ठिईश्च बंधगाण स्वगो । अंगुल-
असंखभागां परमं अंगुलश्च गेच भवे ॥” इत्यादिगाथाकदम्बकेन ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टादि-
चतुर्विकल्पानामपि स्थितिवन्धानां प्रत्येकमधिकृत्य नानाजीवाश्रयं स्थितिवन्धद्रयान्तराललक्षणं बन्धक-
विरहकालप्रमाणमन्तरं जघन्येतरभेदतः कथयिष्यते ।

“भाव” ति भावद्वारम् । यत्र—“अदृष्टं कश्माणं चउच्चिहाण वि ठिईण भावेण । ओदइ
णं बंधो ॥” इत्यादिनाधिकृतोत्कृष्ट-जघन्यादिस्थितिवन्ध औपशमिकादिभावानां मध्ये केन भावेन
निर्वच्येत इत्येतत्प्ररूपयिष्यते ।

“व्यवहृ” ति प्राकृतवशेनाऽकारस्य लुप्तत्वात् निर्देशस्य भावप्रधानत्वाच्चाल्पवहुत्वद्वारम् ।
यत्र—“उक्कोसाय ठिईण अदृष्टं बंधगा गुरोयव्वा । सव्वत्थोवा तत्तोऽगुक्कोसाय अणंतगुणा ॥”
इत्यादिगाथासमुहेन स्थितेर्वन्धकपरिमाणस्य बन्धप्रमाणस्य चेत्येवं मुख्यतया द्विविधमल्पवहुत्वं प्रति-
पादयिष्यते, अवान्तरभेदस्तु तत्र नानाविधान्यल्पवहुत्वानि दर्शयिष्यन्ते, तद्यथा—(१) उत्कृष्टा-
ऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धरूपपदद्वयापेक्षया, (२) जघन्या-ऽजघन्यस्थितिवन्धरूपपदद्वयापेक्षया, तथा (३) उत्कृष्ट-
जघन्या-ऽजघन्यानुत्कृष्टस्थितिवन्धरूपपदत्रयापेक्षयाऽष्टानामपि कर्मणां प्रत्येकमित्येवं त्रिविधानि बन्ध-
काल्यवहुत्वानि । स्थितिवन्धप्रमाणस्य तु मूलाष्टकर्मणां स्वस्थान-परस्थानभेदाद्द्विधाऽल्पवहुत्वचिन्ता,
तत्र स्वस्थाने (४) उत्कृष्ट-जघन्यपदद्वयमपेक्ष्यकमल्पवहुत्वम्, परस्थाने तु त्रीणि, तद्यथा—(५) आद्यं
केवलमुत्कृष्टपदमधिकृत्य, (६) द्वितीयं केवलजघन्यपदमपेक्ष्य, (७) तृतीयं पुनर्जघन्योत्कृष्टपदद्वयं
प्रतीत्येति । “इदं” ति इति, अ-च द्वितीयाधिकारगतानुयोगद्वारनामप्रदर्शनसमाप्तौ । नन्वेतानि
द्वाराणि केन क्रमेण प्ररूपणाविषयीकरिष्यन्त इत्याशङ्क्याह—“णेवाइं जहाकमतो” ति यथाक्रमशः-
यथोक्तक्रमेण, आद्यां स्थितिवन्धप्रमाणम्, ततः स्वामित्वमित्येवं मूलोक्तक्रमेण ज्ञातव्यानीत्यर्थः,
मूलोक्तक्रमेणैतेषु द्वारेषु स्थितिवन्धप्रमाणादीनां प्ररूपणं करिष्यत इति भावः । इदन्तु बोध्यम्-
प्रत्येकं द्वारे औघत आदेशतश्च द्विधा प्ररूपणं करिष्यते, तत्रापि स्थितिवन्धप्रमाण-स्वामित्वादि-
कतिपयद्वारेषुत्कृष्ट-जघन्यस्थितिवन्धरूपपदद्वयमपेक्ष्य, साद्यादि-काला-ऽन्तरादिकतिपयद्वारेषु उत्कृष्ट-
जघन्य-तद्विन्धस्थितिवन्धात्मकपदचतुष्टयमधिकृत्येति ॥३२॥३३॥

॥ अथ स्थितिवन्धप्रमाणद्वारम् ॥

अथ प्रथमतः स्थितिवन्धप्रमाणद्वारे स्थितिवन्धप्रमाणमभिधातव्यम् । तन्व्योत्कृष्टजघन्य-
भेदाद्द्विविधम् । तत्र कालत्रयेऽपि केनापि जीवेन यतोऽधिका स्थितिर्न वध्यते तस्याः स्थितेर्वन्ध
उत्कृष्टस्थितिवन्ध उच्यते । एवं कालत्रयेऽपि केनापि जीवेन यतः स्तोका स्थितिर्न वध्यते तस्याः
स्थितेर्वन्धो जघन्यस्थितिवन्ध उच्यते, केवलमुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य जघन्यस्थितिवन्धस्य वा प्रमाणं तु
तस्या उत्कृष्टाया जघन्याया वा स्थितेर्वन्धकाले येषां वध्यमानकर्मदालिकानां सर्वचरमस्थितौ निषेको

भवति तेषामवस्थानकालेयत्तामपेक्ष्य प्रदश्यते, न तु तदन्येषां द्विचरम-त्रिचरमादिस्थितिषु निषिक्त-
दलिकानामियत्तामपेक्ष्य । इवमुक्तं भवति—ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिवन्धकाले त्रिषहस्रवर्ष-
प्रमाणमवाधां विवर्ज्यानन्तरसमयप्रभृतिषु निरन्तरास्वमन्वेयवर्षप्रमाणस्थितिषु प्रत्येकं यथोत्तरं कर्म-
दलिकानां विशेषहीन-विशेषहीनक्रमेण निषेको भवति । उक्तं च प्राग् निषेकद्वारे—“चउदमविहजीवेसु
अदृग्दृ भवे दलं मगमवाह । सोत्तूणु पढमसमये बहुं कमित्तो विसेसूणं ॥ १२ ॥” इति ॥

तत्र यथावा निषेकस्तस्य गणनीयं स्थितिः ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाण-
मुच्यते । एवं ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिवन्धकालेऽप्यन्तर्मुहृतात्मिकां जघन्यामवाधां विवर्ज्यं
तदनन्तरसमयान्प्रारभ्यान्तर्मुहृतेप्रमाणस्थितिषु प्रत्येकं यथोत्तरं विशेषहीनक्रमेण कर्मदलिकानां
निषेको भवति, तत्र यश्चरमनिषेकस्तदीयस्थित्यपेक्षया जघन्यस्थितिवन्धप्रमाणमुच्यते । एवमेव ज्ञाना-
वरणस्य मध्यमस्थितिवन्धप्रमाणविषये, दर्शनावरणादीनामुत्कृष्टादिस्थितिवन्धप्रमाणविषये चाव-
सातव्यम् । इदमपि चरमनिषेकाधीनायाः स्थितेः प्रमाणं बन्धसमयप्रभृतिकं सत् कर्मरूपतावस्थान-
लक्षणस्थितिवन्धप्रमाणमुच्यते, यदा तु तदवाधाऽनन्तरप्रथमनिषेकप्रभृतिकं गणयते तदाऽनुभवयोग्य-
स्थितिवन्धप्रमाणमुच्यते । कुतः ? अवाधाकाले बन्धतः प्राप्तस्थितिकानां दलिकानां करणान्तरस्य
साहाय्यमन्तरेणाननुभवात् । कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिवन्धस्य प्रमाणं बन्धसमयप्रभृतिकचरम-
निषेकपर्यन्तमितिकृत्वा बन्धप्रमाणं ज्ञानावरणादीनां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिलक्षणं भवति ।
अनुभवयोग्यस्थितिवन्धस्य तु तदवाधाकालेन हीनं भवति । उक्तं च पञ्चसग्रहवृत्तौ श्रीमन्मल-
यगिरिसूरिपादेः—“अनुभवयोग्या पुनरवाधाकालहीना” इति । प्रकृते कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थिति-
वन्धोऽधिकृतः, स चोक्तनीत्याऽवाधानिषेकोभयरूपः, बन्धसमयप्रभृतिचरमनिषेकपर्यन्तत्वात्तस्य, अत
उत्कृष्टजघन्यभेदभिन्नं प्रमाणमपि तदुभयापेक्षया दिदर्शयिपुरादौ तावदवाधा-कर्मदलनिषेकप्रमाणविषयं
नियममभिदधाति—

सागरकोडाकोडी बंधो मत्तगह जत्तिआऽवाहा ।

तावइआ च्च सयममा तदूणियो कम्मणणिसेगो ॥ ३४ ॥

(प्रे०) “सागरकोडाकोडी” इत्यादि “सत्तण्ह” ति आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां
“बन्धो” ति प्रकृतत्वात् स्थितिवन्धः “जत्तिआ” ति यावन्त्यः । का इत्याह—“सागरकोडा-
कोडी” ति “भीमो भीमसेन” इति न्यायात् “सागरकोटीकोट्यः”—सागरोपमाणां कोटीकोट्य
इत्यर्थः । वचन इति शेषः । “बाहा तावइआच्च सयसमा” ति लुप्ताकारस्य दर्शनादवाधा
तावन्त्यः शतममा एव, । उक्तं च पञ्चसग्रहमलयगिरीवृत्तौ—“येषां च कर्मणां यावन्त्यः सागरो-
पमकोटीकोट्यस्तेषां तावन्ति वर्षशतान्यवाधाकालः” इति । “तदूणियो कम्मणणिसेगो” ति तयाऽवाधया
ऊनः शेषस्थितिवन्धप्रमाणः कर्मनिषेको भवति । कुतः ? अवाधायां कर्मनिषेकाभावदिति । उक्तं
च शतकभाष्ये—“होइ अवाहाकालां जो किर कम्मस्स अणुदयकालो । कम्मटिइ अवाहूणा कम्मणिसेगो

नि कम्माणं" ॥३२॥ इति । अयमत्राभिप्रायः—ज्ञानावरणादीनां वक्ष्यमाणस्थितिवन्धप्रमाणे प्रत्येक-
मियत्यबाधाऽबाधोनस्थितिषु कर्मदलनिषेकश्चेत्येतदग्रं पार्थक्येन न वक्ष्यते, अतस्तत्र प्रकृतनियमानु-
सारेणेत्यबाधा, अबाधावर्जस्थितिषु कर्मदलनिषेक इत्येतत् स्वयमेव योजनीयमिति ॥ ३४ ॥

तदेवमुक्तः सागरोपमकोटीकोटीतदधिकस्थितिवन्धेऽबाधाकर्मदलनिषेकविषयो नियमः ।
साम्प्रतं ततो न्यूनस्थितिवन्धविषयं तं दर्शयन्नाह—

सत्तण्ह अबाहा खलु ठिइबंधा अंतकोडिकोडीए ।

सगलहुठिइबंधं जा सव्यह हवए मुहुत्तंतो ॥ ३५ ॥

(प्रे०) "सत्तण्ह अबाहा" इत्यादि, अत्र खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वाद् व्युत्क्रमेण "मुहु-
त्तंतो" इत्यस्योत्तरं योजनाच्चामुवेर्जाणां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकमुक्तस्वरूपाऽबाधा मुहूर्तान्तः-
अन्तमुहूर्तमेव भवतीति परेणान्वयः । सप्तानां कियति स्थितिवन्धे सत्यबाधाऽन्तमुहूर्तमेव भवती-
त्याह—“ठिइबंधा अंतकोडिकोडीए” इत्यादि, सागरोपमकोटीकोटीप्रकारात्स्थितिवन्धा-
दारभ्य यावज्ज्ञानावरणादीनां सप्तानां स्वकीयस्वकीयजघन्यस्थितिवन्धस्तावन्मवत्रेत्यर्थः । अन्तः-
कोटीकोटीसागरोपमगतसर्वस्थितिवन्धविकल्पेऽन्तमुहूर्तप्रमाणस्थितिषु कर्मदलनिषेको न भवत्यतो-
ऽन्तमुहूर्तं विना शेषकर्मस्थितिप्रमाणः कर्मदलनिषेको वाच्य इति भावः ॥ ३५ ॥

अथाऽऽयुष उन्कृष्टोऽपि स्थितिवन्धस्त्रयस्त्रिंशत्सागरांपमप्रमाण एव, तर्हि तत्राबाधायाः को
नियमः ? इति जिज्ञासायामाह—

आउस्स जाणियव्वो ठिइबंधो चैव कम्मणिसंगो ।

जेट्टाऽबाहा पुव्वा कोडितिभागो लहू मुहुत्तंतो ॥ ३६ ॥

(प्रे०) "आउस्स जाणियव्वो" इत्यादि, आयुःकर्मणो यावान्स्थितिवन्धो वक्ष्यते तावा-
नन्तमुहूर्तादिप्रमाणः कर्मदलनिषेको ज्ञातव्य इत्यर्थः । कुतः ? यत आयुषोऽबाधाऽऽयुर्दलनिषेक-
स्याऽनधीना, ततः सा पृथग्भिधस्यते । अनधीनाऽपि सा उन्कृष्टतो जघन्यतश्च कियती भवतीत्याह—
“जेट्टाऽबाहा पुव्वा कोडितिभागो” इत्यादि, उन्कृष्टाबाधा एकस्याः कोटेस्त्रिभागः-तृतीयभागः
पूर्वाणि, पूर्वकोटीतृतीयभागप्रमाणा भवतीत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—पृथक् पृथग्भवद्वयोर्यदा वेद्य-
मानाऽवेद्यमानयोरायुषोः परस्परं संक्रमाभावात् सर्वदा तयोः पार्थक्यमेव, किञ्चाबाधा वेद्यमानायुषव-
शेषरूपा, वेद्यमानायुस्तूत्तरभवसत्कम्, एवं मत्यायुषो निषेकाऽबाधे शेषकर्मनिषेकाबाधापक्षया क्लिप्तणे-
ऽनियते च, अर्नयत्यं तु तत्र उन्कृष्टायामनुकृष्टायां वाऽबाधायामुन्कृष्टस्याऽनुकृष्टस्य वाऽऽयुर्वन्ध-
स्यापि भावात् । तद्यथा—परमविकायुर्वन्धो वेद्यमानायुश्चरमे तृतीयभागे नवमभागे सप्तविंशति-
तमभागे एवं त्रिभागत्रिभागकरणप्रकारेण चरमेकाशीतितमादिभागे वेदयितुमारब्धे सति कियते ।
किमुक्तं भवति—वेद्यमानायुपश्चरमे तृतीयभागे वेदयितुमनारब्धे न केनाऽपि जीवेन परभवायुर्वन्धः

प्रारभ्यते, न च भवचरमतृतीयभागे वेदयितुं प्रारब्धे सर्वरपि जीवैरायुर्वन्धः प्रारभ्यत एव, किन्तु कैश्चिज्जीवैरेव प्रारभ्यते, यस्तु तदाऽऽयुर्वन्धो न प्रारभ्यते तैर्भवनवमभागे वेद्यमाने आयुर्वन्धः प्रारभ्यते, तदापि पारभविकायुर्वन्धो नारब्धश्चेद् भवसप्तविंशतितमे भागे वेदयितुमारब्धे सति पारभविकायुर्वन्धः प्रारभ्यते, एवमवशिष्टायुस्तृतीयतृतीयभागप्रकारेण तावद्वक्तव्यं यावद्भवचरमान्तमुहूर्ते आयुर्वन्धे कृते जघन्याऽवाधाऽवशिष्टा भवति । अनया नीन्योत्कृष्टाऽप्यवाधा भवतृतीयभागप्रमाणा प्राप्यते, सा पूर्वकोटीवर्षायुष्कानां मनुष्याणां तिरश्चां वा वेद्यमानायुस्तृतीयभागमपेक्ष्य प्रकृते पूर्वकोटीतृतीयभाग-प्रमाणा दर्शितेति । न चानुत्तरविमानवामिनां सप्तमपूर्थर्वानैरयिकानां वा भवस्थितेः सर्वदीर्घत्वात् तदपेक्षयोत्कृष्टाऽवाधा द्रष्टव्या भवतीति वाच्यम् । असंख्येयवर्षायुषां तिर्यग्मनुष्याणामिव सर्वेषां देवनारकाणामपि निरुपक्रमायुष्कत्वेन परमासेऽनवशेषे स्वीयवेद्यमानायुषि पारभविकायुर्वन्धो न जायते, इत्थं चोत्कृष्टस्थितिकदेवनारकापेक्षया उत्कृष्टस्थितिकतिर्यग्मनुष्यापेक्षया चोत्कृष्टाऽवाधा परमा-सात्मिका एव प्राप्यते न पुनरधिका । उक्तं च पञ्चसंग्रहवृत्तौ—“निरुपक्रमायुषाम्—अनपवर्तनीया-युषां देवनारकाणामसंख्येयवर्षायुषां च तिर्यग्मनुष्याणां परमवायुषो बन्धकानां परमवायुषोऽवाधा परमासा-परमासप्रमाणा ॥” इति । ननु मा भवन्वसंख्येयवर्षायुष्कतिर्यग्मनुष्यापेक्षया देवनारकापेक्षया वा उक्ताधिकाऽवता, पूर्वकोटिवर्षाधिकमवशिष्टवर्षाधिकं संख्येयवर्षायुष्कान् तिर्यग्मनुष्यान् समाश्रित्य तु सा पूर्वकोटिर्त्रिभागादधिका भवेत् ? इति चेद्, न, तेषामप्यसंख्येयवर्षायुष्केषु प्रविष्टत्वात् । कथम् ? तथैवागमेषु परिभाषणात् । उक्तं च श्रीमदभयदेवसूरिपादः पञ्चमाङ्गवृत्तौ—“इहासंख्यातवर्षा-युर्जघन्यस्थितिकः प्रकान्तः, स च सान्तिरेकपूर्वकोट्यायुर्भवति, तथैवागमे व्ययहृतत्वात्” इति । इत्थं च पूर्वकोट्याधिकसंख्येयवर्षायुषामपि पल्योपमासंख्येयभागाद्यसंख्येयवर्षायुषां जीवानामिव परमासेऽनवशेषे स्वायुषि पारभविकायुर्वन्धस्याऽप्यसंभवः, ततश्च तानपेक्षयोक्ताधिकावाधाया अप्यसंभव एव । यत्पुनः पञ्चसंग्रहे—“पलियासंखेज्जंसं जुगलधम्मीण ववंतन्ने ॥ ४१ ॥” इत्यनेन मतान्तरेण युग्मिनां पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणेऽवशेषे स्वायुषि पारभविकायुर्वन्धोऽभिहितः, सत्त्वत्र नाधिकृत इति । “लहू मुहुत्ततो” चि लघुः-जघन्याऽवाधा तु मुहुर्तान्तः—अन्तमुहूर्तम्, कुतः ? पूर्वमवद्यायुर्कैर्जीवैर-संचेप्याद्वाप्रवेशप्रथमसमयादेवायुर्वन्धस्य नियमेन करणात्, अमंचेप्याद्वाया भवचरमान्तमुहूर्तान्मक-त्वाच्च । न चैवं सत्यन्तमुहूर्तं यावत्प्रवर्तमान आयुषः स्थितिवन्धोऽन्तमुहूर्तान्मिकया असंचेप्याद्वाया ममं निष्ठां गच्छेत्, इत्थं चोभयोर्भवचरमसमये समाप्तिभावे वेद्यमानायुषोऽवशेषरूपाऽवाधा सर्वथैव न लभ्येतेति वाच्यम् । अन्तमुहूर्तस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वेनाऽसंचेप्याद्वायाप्रमाणान्तमुहूर्ते आयुर्वन्धा-द्वायास्तदनन्तरभाविजघन्यावाधायाश्चेत्येवमन्तमुहूर्तद्वयस्यापि सुखेन समावेशादन्तमुहूर्तशेषे वेद्य-मानायुषि पारभविकायुर्वन्धसमाप्त्या वेद्यमानायुर्वशेषरूपाऽवाधाऽपि सुखेन लभ्येतेति न कश्चिदोप-इति । इत्येवं प्राशुक्तनीन्या भिन्न-भिन्नभवसम्बन्धिन्यावायुषो निषेकावाधे पृथक्पृथग्भवतः । भवय-माने स्थितिवन्धप्रमाणे मार्गणास्थानेशायुष अवधा तु भिन्नभिन्नप्रमाणा भवति, सा च कर्मरूपता-

वस्थानलक्षणस्थितिवन्धस्य प्रमाणाभिधानेन न गम्येतेतिकृत्वाऽऽधाद्यजेस्थिनेरेव प्रमाणं वक्ष्यते, अथाथा च पृथग् वक्ष्यते, तथापि कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्य स्थितिवन्धस्य वक्तुं प्रकान्तत्वात् तदपेक्षयैव स्वामित्वादिद्वारेषु स्वाम्यादीनां प्ररूपणीयत्वाच्चाद्युप उत्कृष्टं स्थितिवन्धप्रमाणमुत्कृष्टावाधां प्रक्षेप्य स्वयमेवानेतव्यम् । एवमेवाऽऽद्युपो जघन्यस्थितिवन्धप्रमाणमपि जघन्यावाधां प्रक्षेप्यानेतव्यम् । यावच्च लभ्येत तावत्प्रमाणमपेक्ष्य स्वामित्वादिप्ररूपणमुपपादनीयं चेति ॥३६॥

तदेवमुक्तो ग्रन्थलाघवार्थं पृथगेवाष्टकर्मणामाधानिपेकप्रमाणनियमः । साम्प्रतमुत्कृष्ट-जघन्यभेदान्निं प्रमाणं द्रष्टव्यम्, तदप्युच्यते—सामान्येन सर्वं स्थितिवन्धकजीवराशिमाश्रिन्य, तथाऽऽदेशतः-प्रकृतिवन्धवन्निगमन्याद्यनाहारिपर्यन्तासु मूलोत्तरभेदभिन्नासु मार्गणासु मार्गणागत-स्थितिवन्धकजीवराशिमपेक्ष्य प्रदर्शयेत, तत्रादावुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणमभिधिसुरोधत आह—

ठिड्वंधो उक्कोसो पढम—दुइअ—तइअ—अट्टमाण भवे ।

मागरकोडाकोडी तीसा तुरिअस्स खलु सयरी ॥ ३७ ॥

आउस्म गुरू ऐयो ठिड्वंधो सागराणि तेत्तीसा ।

वीमा कांडाकोडी जलहीणं नामगोआणं ॥ ३८ ॥

(प्र०) "ठिड्वंधो उक्कोसो" इत्यादि, उक्तस्वरूपः स्थितिवन्धो भवेदिति परेण योगः । कीदृशः ? "उक्कोसो" ति उत्कृष्टः-उत्कृष्टपदपतितः, न पुनर्जघन्यः, तस्याग्रं वक्ष्यमाणत्वादिति । उत्कृष्टस्थितिवन्धः केषां कर्मणां कियांश्च भवेदित्याह—'पढमदुइअ' इत्यादि, अत्र प्रथमद्वितीये-न्यादिना ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोक्षनीया-ऽऽद्यु-नाम-गोवा-ऽन्तरायलक्षणानि प्रकृति-वन्धग्रन्थे उक्तनिरुक्तान्यष्टौ मूलकर्माणि क्रमेण गृह्यन्ते । कस्मादेतेन क्रमेण प्रथमादिना ज्ञाना-वरणादीन्येव गृह्यन्ते ? एतेन क्रमेण तेषां महेतुकप्रसिद्धेः । उक्तं च चान्यत्रैतेषां दर्शितक्रमोपपत्तिः—

"इह ज्ञानं दर्शनं च जीवस्य स्वतत्त्वभूतम्, तदभावे जीवत्वस्थैवायोगात्; चेतनालक्षणो हि जीवः, नतः स कथं ज्ञानदर्शनाभावे भवेत् ? ; ज्ञानदर्शनयोरपि च मध्ये प्रधानं ज्ञानम्, तद्वशादेव सकलशास्त्रादि-धिचारसन्तनिप्रद्युतेः । अपि च—सर्वा अपि लब्धयो जीवस्य साकाशोपयोगोपयुक्तस्थोपजायन्ते, न दर्शनोप-योगोपयुक्तस्य, "सन्वाओ लद्धीओ सागारोवओगोवउत्तम्स, लो अरणागारोवओगोवउत्तम्स" इति वचन-प्रामाण्यात् । अन्यत्र यस्मिन् समये सकलकर्मविनिर्मुक्तो जीवः सञ्जायते तस्मिन् समये ज्ञानोपयोगोपयुक्त-स्य, न दर्शनोपयोगोपयुक्तः, दर्शनोपयोगस्य द्वितीयसमये भावान्, ततो ज्ञानम् प्रधानम्, तदायत्कं च ज्ञाना-वरणं कर्म, ततस्तत्र प्रथममुक्तम् तदनन्तरं च दर्शनावरणम्, ज्ञानोपयोगाच्चयुतस्य दर्शनोपयोगेऽवस्थानान् । एते च ज्ञानदर्शनावरणे स्वविपाकमुपदर्शयन्ती यथायोगमवश्यं सुखदुःखरूपवेदनीयकर्मविपाकोदयनिमित्ते भवतः । तथाहि—ज्ञानावरणमुपचयोत्कर्षप्रान्तं विपाकतोऽनुभवन् सूक्ष्मसूक्ष्मतरवस्तुधिवारासमर्थमात्मानं जानातः स्थिते भूरिलोकः, ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमपाटवोपेतदच सूक्ष्मसूक्ष्मतराणि वस्तूनि निजप्रज्ञया-ऽभिजानातो बहुजनाभिशायितमात्मानं पश्यन् सुखं वेदयते, तथाऽतिनिविडदर्शनावरणविपाकोदये जात्यन्धा-दिरनुभवति दुःखसन्दोहं वचनगोचरातिक्रान्तम्, दर्शनावरणक्षयोपशमपटिष्ठतापरिकरितश्च स्पष्टश्चक्षुराद्युपेतो

यथावद् यस्तुनिकुरम्बं सम्यगवलोकमानो वेदयतेऽमन्दमानन्दसन्दोहम्, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं दर्शनावरण-
नन्तरं वेदनीयग्रहणम् । वेदनीयं च सुखदुःखे जनयति, अभीष्टानभीष्टविषयमन्वन्वे चावश्यं संसारिणां
रागद्वेषौ, तौ च मोहनीयहेतुकौ, तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं वेदनीयानन्तरं मोहनीयग्रहणम् । मोहनीयमूढाश्च
जन्तवो बह्वारम्भ-परिग्रहप्रभृतिकर्मादानामक्ता नरकाद्यायुष्कमारचयन्ति, ततो मोहनीयानन्तरमायुर्ग्रहणम् ।
नरकाद्यायुष्कोदये चावश्यं नरकगत्यादीनि नामान्युदयमायान्ति, तत आयुरनन्तरं नामग्रहणम् । नामकर्मोदये
च नियमादुच्यते चान्यतरगोत्रकर्मविपाकोदयेन भक्षितव्यम्, अन्ये नामग्रहणानन्तरं गोत्रग्रहणम् । गोत्रोदये
चोच्चैःकुलोत्पन्नस्य प्रायो दानलाभान्तरायावित्तयो भवति, राजप्रभृतीनां प्राचुर्येण दानलाभादिदर्शनानः
नीचैः कुलोत्पन्नस्य तु दानलाभान्तरायाद्यदयः, नीचजातीनां तथादर्शनातः तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं गोत्रानन्तर-
मन्तरायग्रहणम् ॥” इति ।

इत्थं च व्यवस्थिते क्रमे “पदमदुइअतइअअट्टमाण” ति प्रथमस्य ज्ञानावरणस्य,
द्वितीयस्य दर्शनावरणस्य, तृतीयस्य वेदनीयकर्मणोऽष्टमस्याऽन्तम्यकर्मणश्चेत्येतेषां चतुर्णां प्रत्येक-
मुत्कृष्टः स्थितिवन्धः “सागरकोडाकोडी तीसा” ति प्रागवत् सागरपदात् सागरोपमेति गम्यमाने
त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य इत्यर्थः । “तुरिअस्स खलु सयरी” ति तुर्यस्य मोहनीयकर्मण उन्कृष्ट-
स्थितिवन्धः सप्ततिः, सागरोपमकोटीकोट्य इत्यनुवर्तते । खलुशब्दस्तु वाक्यालङ्कारे । अथ पञ्च-
मस्याह—“आडस्स” इत्यादिना, आयुःकर्मणो गुरुः-उन्कृष्टः स्थितिवन्धः “सागराणि तेत्तीसा”
ति पूर्ववत्पदकदेशे पदमपुदायोपचारात् सागरोपमाणि त्रयस्त्रिंशत्, ज्ञेय इति पूर्वेण योगः; अथ
ह्यायुषः स्थितिवन्धोऽनुभवयोग्यतामपेक्ष्य बोद्धव्यः, कर्मरूपतावस्थानलक्षणाधिकृतस्थितिवन्धप्रमाणा-
मानयनाय तु तत्रोत्कृष्टाऽवाधाऽधिकतया प्रक्षेप्येति । अथ शेषयोर्द्वयोर्मूलकर्मणोराह—“तीसा
कोडाकोडी” ति नामगोत्रकर्मणोः प्रत्येकमुत्कृष्टः स्थितिवन्धो त्रिंशत्त्रिंशत्तीसा-सागरोपमाणां
कोटीकोट्य इति । अत्र ह्यनन्तरोक्तनियमानुसारेणाऽवाधानिपेका स्वयमेव योज्या । तद्यथा—ज्ञाना-
वरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य उक्तो-
ऽतस्तत्र त्रीणि वर्षसहस्राण्यवाधा, अवाधोना कर्मस्थितिः कर्मनिपेकः । मोहनीयकर्मणस्तूत्कृष्टस्थिति-
वन्धः सप्ततिः सागरोपमकोटीकोट्यस्ततस्तत्र सप्तवर्षसहस्राण्यवाधा, अवाधोना कर्मस्थितिः
कर्मदलिकनिपेकः । आयुष उन्कृष्टस्थितिवन्धस्त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि तथाऽपि “आडस्स
जाणियव्वो टिडवंधो चेत्र कम्मणगिमेगो” इति वचनात् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि य उन्कृष्टस्थितिवन्ध-
स्तत्प्रमाणः कर्मनिपेकः । अथावा नहिं कियती ? उन्कृष्टा, उन्कृष्टस्थितिवन्धे उन्कृष्टाऽवाधाया
ग्राह्यत्वात्, सा तु “जेट्टावाहा पुब्बा कोडितिभानो” इति वचनात् पूर्वकोटीत्रिंशत्प्रमाणा बोद्धव्येति ।
अयमेवायुष उन्कृष्टः स्थितिवन्धः कर्मरूपतावस्थानापेक्षया पूर्वकोटीतृतीयभागाभ्यधिकानि त्रय-
स्त्रिंशत्सागरोपमाणि, तत्र पूर्वकोटीतृतीयभागोऽवाधा, अवाधोना कर्मस्थितिः कर्मनिपेक इति
प्रकारान्तरेणाऽपि वक्तुं युज्यते, नवरमत्रोक्तविचक्षयाऽसौ तथा नाभिहित इति । *नामगोत्रयोर्त्कृष्ट-
स्थितिवन्धो त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यो दर्शितस्ततस्तत्र द्वे वर्षसहस्रे ऽवाधा, अवाधोना कर्मस्थितिः
कर्मनिपेको भवति । उक्तं च शतकचूर्णौ—

“एणावरणीयदंसणावरणीयवेद्यणीयञ्चन्तराह्णानं एणसि चउण्हं कम्मणं उक्कोसतो ठिइबंधो तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ, तिन्नि वामसइस्साणि अवाहा, अवाहूणिआ कम्मठिई कम्मणिसेगो । मोइणिज्जस्स कम्मसुक्कोसो ठितिबंधो सत्तरिसागरोवमकोडाकोडीओ, सत्तवाससइस्साणि अवाधा, अवाहूणिआ कम्मठिती कम्मणिसेगो । एणमोत्ताणं उक्कोसओ ठिइबंधो तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ, वेवाससइस्साणि अवाहा, अवाहूणिआ कम्मठिती कम्मणिसेगो । आउमस्स उक्कोसओ ठितीबंधो तेत्तीसं सागरोवमाणि पुव्वकोडीति-भागन्मइयाणि, पुव्वकोडितिभागो अवाहा, अवाहूणं विणा कम्मठिई कम्मणिसेगो ॥२२॥४३॥” इति ।

इत्थमेवानन्तरवक्ष्यमाणमार्गणास्थानेषुत्कृष्टजघन्यस्थितिबन्धविषये सप्तानामवाधावर्जशेष-स्थितिषु तथाऽऽयुषः सर्वस्थितिषु कर्मदलनिषेकः स्वयमेव द्रष्टव्य इति ॥३७॥३८॥

तदंशमुक्तं मीलानामिष्टानामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धप्रमाणमोघतः । माश्रतमादेशतो व्याजिहीषुर्गदौ तावदायुर्वर्जानां सप्तानामाह—

असमत्तपणिंदितिरियमणुसपणिंदितस—आणताईसुं ।

आहारदुग्ग्मि विउवमीस—उरलमीस—कम्मेषुं ॥ ३६ ॥

चउणाण—संयमेषुं समइअ—छेअ—परिहार—देसेसुं ।

ओहि—सुइल—सम्मेषुं खाइअ—वेअग—उवसमेषुं ॥ ४० ॥

सासायण—मीसेसुं तहऽणाहारम्मि होइ सत्तरहं ।

अंतोकोडाकोडी अयरा उक्कोसठिइबंधो ॥ ४१ ॥

(प्रे०) “असमत्तपणिदि” इत्यादि, तत्राऽपर्याप्ताऽपरपर्यायस्यासमाप्तशब्दस्य त्रसान्तेषु प्रत्येकं योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदे, अपर्याप्तमनुष्यभेदे, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदे, अपर्याप्त-त्रयकायभेदे चेत्यर्थः, तथा “आणताईसुं” ति आनतकल्पादिषु सर्वार्थसिद्धविमानपर्यन्तेषु ढादशषु देवगतिसन्कमार्गणाभेदेषु, तथा “आहारदुग्ग्मि” ति आहारकाऽऽहारकमिश्रकाययोगयोर्यद् द्विकं तस्मिन्नाहारकद्विके, आहारककाययोगमार्गणायामाहारकमिश्रकाययोगमार्गणायां चेत्यर्थः । तथा “विउवमीसउरलमीसकम्मेषुं” ति वैक्रियमिश्रकाययोगां-दारिकमिश्रकाययोग-कर्मणकाययोगरूपासु तिसृषु मार्गणासु, तथा “चउणाणसंयमेषुं” ति केवलज्ञानवर्जेषु चतुषु मत्यादिज्ञानमार्गणाभेदेषु संयमौघमार्गणायां चेत्यर्थः । “समइअछेअपरिहारदेसेसुं” ति सामायिकसंयम-छेदोपस्थापन-संयम-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयममार्गणासु, तथा “ओहिसुइलसम्मेषुं” ति अवधिज्ञानस्य-प्राग् मत्यादिज्ञानचतुष्के गृहितत्वाद् “ओहि” इत्यनेनावधिदर्शनमार्गणा गृह्यते, ततोऽवधिदर्शन-शुक्लेश्या-सम्यक्त्वौघमार्गणासु, तथा “खाइअवेअगउवसमेषुं” ति ज्ञायिकसम्यक्त्व-वेदक-सम्यक्त्वौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु “सासायणमीसेसुं” ति सामादन-सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणयोः, गाथायां बहुवचननिर्देशस्तु प्राकृतत्वाद्बोद्धव्यः, यतः प्राकृतलक्षणे द्विवचनेऽपि बहुवचनमेव प्रयुज्यते, यथा “इत्था पाया” इति । “तहऽणाहारम्मि” ति तथाशब्दः समुच्चये, “णाहारम्मि” इत्यत्राऽकारस्य

दर्शनादनाहारे, अनाहारकमार्गणायामित्यर्थः । एतासु समुदितास्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिपञ्च-
चत्वारिंशन्मार्गणायामित्यर्थः—“हांइ सत्तण्ह भित्थादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणामुत्कृष्ट-
स्थितिवन्धोऽन्तःकोटीकोट्यः “अयरा” ति अतिमहत्त्वादुद्विवत्तरितुमचिरात्पारं नेतुं न शक्यन्त
इत्यनराः, सागरोपमाणीत्यर्थः । ननु कस्मादेतासु मार्गणायामित्यर्थः सप्तानामुत्कृष्टोऽपि स्थिति-
वन्धोऽन्तःकोटिकोटीसागरोपमाणेव भवति, न पुनरोद्योत्कृष्टः ? इति चेद्, उच्यते,—संज्ञिपर्याप्त-
जीवान् विवर्ज्य न केषाञ्चिदपि जीवानामौघिकोत्कृष्टस्थितिवन्धो जायते, संज्ञिपर्याप्तानामपि मिथ्या-
त्वोदयादिसामग्रीसद्भावेऽसौ जायते, नान्यथा । वच्यते चात्रैव ग्रन्थे स्मामित्वद्वारे ओद्योत्कृष्टस्थिति-
वन्धस्वामिनः प्रदर्शयता ग्रन्थकृता यत्—

“सागरो जागरो सुओवउत्तो पणिदियो सखणी । पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं चउगइट्ठो ॥ ७७ ॥

मिच्छादिट्ठी उ परमत्तकेसेणीसिमज्जिमेणं वा । परिणामेणं शंभइ सत्तण्ह ठिइ उ उक्कोसं ॥ ७८ ॥” इति ।

किञ्च सासादनाद्यपूर्वकरणान्तगुणस्थानगतानां पर्याप्तानामपर्याप्तानां वा जीवानां मूलमस-
प्रकृतिसत्क उत्कृष्टो जघन्यो वा स्थितिवन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमेभ्योऽधिको हीनो वा नैव
जायते । उक्तं च नव्यशतके देवेन्द्रसूरिपार्दः—“साणाइअपुव्वंते अयरंनोकोडिकोडीउ नऽहिगो । वन्धो
न हु हीणो” इति । ननु सासादनमार्गणायामेकेन्द्रियादीनामपि प्रवेशात् कथं जघन्योऽपि स्थिति-
वन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमाणेव ? इति चेत्, सत्यमेतत्, नवरं स्वल्पकालिनोऽसौ इति कयाचि-
द्विवक्ष्योपेक्षितः सम्भाव्यते । उक्तं च तट्टीकायामपि—“केवलं कादावित्कोऽसौ न सार्वदिक इति न
तस्य विवक्षा कृततिसंभावयामि” इति । न चैतावन्मार्गं, किं तर्हि ? शुक्लेश्याकानामपि जीवानां
तथाविधसंक्लेशाभावेन समानामुत्कृष्टोऽपि स्थितिवन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमेभ्योऽधिको नैव जायते ।
इत्थं हि प्रकृते कासुचिदपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणायामिथ्यादृष्टिसंज्ञिजीवानां
प्रवेशेऽपि तेषामपर्याप्तत्वात्सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमाणि लभ्यते, आनत-
कल्पादिदेवगतिभेदेषु शुक्लेश्यामार्गणायां च पर्याप्तमिथ्यादृष्टिसंज्ञिजीवानां प्रवेशेऽपि तेषां शुक्ल-
लेश्यत्वेनोत्कृष्टस्थितिवन्धोऽपि यथोक्त एव लभ्यते, आहारककाथयोगादिशेषमार्गणाभेदेषु तु मिथ्या-
दृष्टिवर्जानां सासादनाद्यप्रमत्तान्तान्यतमगुणस्थानकवर्तिनां जीवानां प्रवेशाद् यथोक्तोऽन्तःकोटीकोटी-
सागरोपमप्रमाण एव स्थितिवन्ध उत्कृष्टोऽपि प्राप्यत इति ॥ ३६।४०।४१॥

अथैकेन्द्रियादिमार्गणायामसप्तकर्मसन्कोत्कृष्टस्थितिवन्धमानं दर्शयन्नाह—

मोहगुरुद्विभक्तो सत्तरहं ओहजेट्ठिइबंधो ।

सो जेट्ठो सव्वेसुं एगिंदिय-पंचकायभेएसुं ॥ ४२ ॥ (गीतिः)

स हयो पणवीसाए पणणासाए सयेण सहसेणं ।

सत्तरह गुरु कमसो समत्थविगलेसु अमणम्मि ॥ ४३ ॥

(प्रे०) "मोहगुरुद्विभक्तो" इत्यादि, मोहनीयकर्मणो 'गुर्व्या'-उत्कृष्टया स्थित्या भक्तः, सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणेनौघिकोत्कृष्टस्थितिवन्धेन विभक्त इत्यर्थः । उक्तमोहनीयोत्कृष्टस्थित्या विभक्तः कः ? इत्याह— "सत्तण्हं ओहजेठ्ठिइबंधो" चि आयुर्वर्जानां सप्तानां यस्त्रिशत्कोटीकोटी-सागरोपमाद्यौघिकोत्कृष्टस्थितिवन्धः सः इत्यर्थः । सः विभक्तः सन् कः भवेदित्याह— "सो केठ्ठो" इत्यादि, सः विभक्तः सन्नेकेन्द्रियजातिसत्का ये एकेन्द्रियौघ-बादरेकेन्द्रियौघ-बादरपर्याप्तैकेन्द्रिय-बादरपर्याप्तैकेन्द्रिय-सूक्ष्मकेन्द्रियौघ सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रिय-सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियलक्षणाः सप्तमार्गणाभेदाः, एवं पृथिव्यादिवायुकायान्तानां प्रत्येकं सप्त सप्त, तथा पञ्चमस्य वनस्पतिकायस्यौघ-प्रत्येकौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-साधारणौघ-बादरसाधारणौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-सूक्ष्मसाधारणौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-लक्षणा ये एकादश भेदा एतेषु सर्वेषु ज्ञानावरणादीनां सप्तानां 'ज्येष्ठः'-उत्कृष्टः स्थितिवन्धो भवेत् । "स ह्यो" चि स एव मोहनीयोत्कृष्टस्थित्या विभक्तो ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धो 'हत्तः'-ताडितः सन्, "सत्तण्ह गुरु" चि ज्ञानावरणादीनां प्रकृतानां सप्तानां 'गुरुः'-उत्कृष्टः, स्थितिवन्ध इति परेणान्वयः, भवेदिति पूर्वतो योज्यम् । केन हत्तः सन् कासु मार्गणसु ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्ट-स्थितिवन्धो भवेदित्याह— "पणवीसाए" इत्यादि, "कमसो समत्थाविगलेसु" इत्यादि च, उक्त-प्रक्रिययाऽऽनीत एकेन्द्रियपृथिव्यादिमार्गणागतजीवानां यो ज्ञानावरणादिसत्कोत्कृष्टस्थितिवन्धः स पञ्चविंशत्या हत्तः सन् "कमसो" इति वचनाद् द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-जातिरूपभेदप्रयात्मक-स्य विकलेन्द्रियस्य यः प्रथमभेदो द्वीन्द्रियजातिस्वरूपस्तस्य 'समस्तेषु'-ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-लक्षणेसु सर्वेषु भेदेषुत्कृष्टस्थितिवन्धो भवेत् । पञ्चाशता हत्तः-ताडितस्तु सः क्रमप्राप्तद्वितीयभेदस्य त्रीन्द्रियजातिलक्षणस्य समस्तेषु भेदेषुत्कृष्टस्थितिवन्धो भवेत् । इत्थमेव शतेन ताडितः स चतुरिन्द्रिय-जातिसत्कसमस्तभेदेषु सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धो भवेत् । सहस्रेण ताडितस्त्वसंज्ञिमार्गणाभेदे प्रकृतोत्कृष्टस्थितिवन्धो भवेदित्यर्थः । इयमत्र भावना-ओघतो ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्त-रायकर्मणां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धस्त्रिशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाण उक्तः, तस्य सप्ततिसागरोपम-कोटीकोटीप्रमाणेन मोहनीयोत्कृष्टस्थितिवन्धेन भागे हियमाणे "शून्यं शून्येन पातयेत्" इति नियमाल्लन्धास्त्रयः सागरोपमस्य सप्तभागाः (३ सागरोपम०), एतावानेकेन्द्रियजाति-पृथिव्यादि-पञ्चकायसत्कभेदेषु ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टः स्थितिवन्धो भवति । मोहनीयस्योत्कृष्टस्थिति-वन्ध ओघतः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणोऽभिहितः, तस्य तावन्मात्रया मोहनीयोत्कृष्टस्थित्या भागे हियमाणे उक्तनियमात् शून्येषु पातितेषु लब्ध एकः सागरोपमः (१ सागरोप०), एतावानै-केन्द्रियादिप्रकृतमार्गणासु मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धो जायते । इत्थमेवौघतो नामगोत्रयोः प्रत्येकं यो विंशतिकोटीकोटिसागरोपमप्रमाण उक्तस्थितिवन्ध उदितस्तस्मान् मोहनीयोत्कृष्टस्थित्या भागे हते, लब्धौ सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागा (३ सागरोप०), एतावान् प्रकृतमार्गणासु नामगोत्रयोः प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धोऽस्तीति ।

इदमेव ज्ञानावरणादीनामेकेन्द्रियादिमार्गणासत्कोत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणं पञ्चविंशत्या ताडितं सत् द्वीन्द्रियजातिमार्गणाभेदेषु ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणं भवति । तद्यथा—एकेन्द्रियौघादिमार्गणासु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धो यः सागरोपमस्य त्रयः सप्तभागाः प्राप्तास्तस्मिन् पञ्चविंशत्या ताडिते जाताः ($\frac{3}{5} \times 25 = 15$) सागरोपमस्य पञ्चसप्ततिः ; सप्तभागाः ; एतावान् द्वीन्द्रियजातिमार्गणाभेदेषु ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिवन्धो जायते । इत्थमेवैकेन्द्रियसत्कमोहनीयस्थितिवन्धे पञ्चविंशत्या ताडिते ($1 \times 25 = 25$) पञ्चविंशतिः सागरोपमाणि प्राप्तानि, एतावान् द्वीन्द्रियजातिमार्गणाभेदेषु मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धो भवति । एकेन्द्रियसत्कनामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिवन्धे पञ्चविंशत्या गुणिते प्राप्ताः ($\frac{2}{3} \times 25 = 16\frac{2}{3}$) सागरोपमस्य पञ्चाशत् सप्तमभागाः, एतावद् द्वीन्द्रियजातिमार्गणाभेदेषु नामगोत्रयोः प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धमानम् ।

इत्थमेवैकेन्द्रियमार्गणासत्के ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धे पञ्चाशता हते त्रीन्द्रियजातिसत्कमार्गणाभेदेषु ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणं प्राप्यते । तद्यथा—त्रीन्द्रियजातिसत्कमार्गणाभेदेषु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धमानं पञ्चाशत् शतं च सागरोपमसप्तभागाः ($1\frac{1}{3} \times$ सागरोप०) । मोहनीयस्य पञ्चाशत् सागरोपमाणि ($5 \times$ सागरोप०) । नामगोत्रयोः प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणं तु सागरोपमस्य शतसप्तमभागा ($1\frac{2}{3} \times$ सागरोप०) इति । चतुरिन्द्रियजातिमार्गणाभेदेषु ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणमानयनायैकेन्द्रियसत्को ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धः शतेन गुणितव्यस्ततो ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणं सागरोपमस्य त्रिशतानि सप्तमभागा लभ्यते ($3\frac{2}{3} \times$ सागरोप०) । मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धः शतसागरोपमप्रमाणः प्राप्यते, ($100 \times$ सागरोप०) । नामगोत्रयोः प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणं तु द्विशतसागरोपमसप्तमभागा अवाप्यते ($200 \times$ सागरोप०) । असंज्ञिमार्गणायां त्वैकेन्द्रियस्योत्कृष्टस्थितिवन्धे सहस्रेण ताडिते ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धो लभ्यते, स च ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां प्रत्येकं त्रिसहस्राणि सागरोपमसप्तमभागाः ($3000 \times$ सागरोप०) । मोहनीयस्य सम्पूर्णानि सहस्रसागरोपमाणि ($10000 \times$ सागरोपमाणि) । नामगोत्रयोस्तु प्रत्येकं सहस्रद्वयं सागरोपमसप्तमभागा ($20000 \times$ सागरोप०) इति ॥४२॥४३॥

इत्थं हि लाघवार्थमेकेन्द्रियोघादिमसुदितमार्गणाभेदेषु युगपदुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणेऽभिहिते कतिपयमार्गणासु याऽतिप्रसक्तिस्तामुद्दिशीषुरपवदन्नाह—

एवरं ऐयो वायरअसमत्तेगिदि-सव्वसुहमेसुं ।

वायरअपज्जपुहवाहचउग-पत्तेअवण-णिगोएसुं ॥४४॥ (गीतिः)

पलिओवमस्स हीणो भागेण असंखियेण उक्कोसो ।

संखंसेणं हीणो पलियस्स अपज्जविगलेसुं ॥४५॥

(प्रे०) “णवरं णेयो” इत्यादिगाथाद्वयम्, नवरं-परमैकेन्द्रियाद्युक्तमार्गणाभेदेष्वपि “बायर-असमत्तेगिदि” ति वादरापर्याप्तैकेन्द्रियमार्गणाभेदे, तथा “सव्वसुहुमेसुं” ति ओषपर्याप्ताऽपर्याप्त-भेदभिन्नेषु सर्वेष्वेकेन्द्रियपृथिव्यादिसत्केषु सूचमैकेन्द्रियोषाद्यष्टादशमार्गणाभेदेषु, तथा “बायरअपज्ज-पुहवाइच्चउग” ति वादरापर्याप्तपृथिवीकाय-वादरापर्याप्ताप्काय-वादरापर्याप्ततेजस्काय-वादरापर्याप्तवायु-कायमार्गणालक्षणा ये वादरापर्याप्तपृथिव्यादिचतुर्भेदास्तेष्वित्यर्थः । तथा “पत्तेप्रचणणिगोएसुं” ति “बायरअपज्ज” इत्यस्यात्रापि योजनाद् वादरापर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणाभेदे वादरापर्याप्त-निगोदभेदे चेत्यर्थः । अत्र प्रत्येकवनस्पतिकायपक्षे वादरेति विशेषणं स्वरूपदर्शकमेवावसातव्यम्, निगोदेत्यनेन साधारणवनस्पतिकायभेदश्च ग्राह्यः । एवमुत्तरत्रापि प्रकरणवशादविरोधेन समन्वयो द्रष्टव्य इति । एतेषु वादरापर्याप्तैकेन्द्रियादिपञ्चविंशतिमार्गणाभेदेषु “पलिओवमस्स हीणो भागेण असंखियेण उक्कोसो” ति मोहनीयोत्कृष्टस्थितिभागहरणप्रक्रिययाऽऽनीतो ज्ञानावरणादीनां सागरो-पमस्य त्रिसप्तभागादिप्रमाणः स्थितिवन्धोऽपि पल्योपमस्याऽसंख्येयेन भागेन हीनः सन्नुत्कृष्टस्थिति-वन्धो ज्ञेय इति पूर्वेण योगः । इयमत्र भावना—एकेन्द्रियादिभिन्नभिन्नजातीयजीवानां प्रायोग्यो य उत्कृष्टस्थितिवन्धः स पर्याप्तवादरजीवैरेव क्रियते, न स्वपर्याप्तैः सूचमैर्वा । इत्थं च वादरापर्याप्तै-केन्द्रियादिप्रकृतपञ्चविंशतिमार्गणासु प्रत्येकं वादरपर्याप्तजीवानामसमावेशेन तास्वसावयोद्य पल्योपमा-ऽसंख्येयभागेन न्यूनोऽभिहितः, तथा च सति प्रकृतपञ्चविंशतिमार्गणासु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकं पल्योपमासंख्येयभागेनोनाः सागरोपमस्य त्रिसप्तभागा उत्कृष्टस्थिति-वन्धो ज्ञातव्यः । मोहनीयस्य पल्योपमासंख्येयभागेनोनां सागरोपममुत्कृष्टस्थितिवन्धो बोद्धव्यः । नामगोत्रयोरप्येवमेव सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागेनोनां उत्कृष्टतोऽपि द्रष्टव्य इति । एकेन्द्रिय-पृथिव्यादिसत्केष्वोष-वादरौघ-वादरपर्याप्तभेदेषु तूक्तकरणेन यथा प्राप्तस्तथैव सागरोपमस्य श्यादिसप्तभागाः सम्पूर्णा एव बोद्धव्य इति । अन्यत्र द्वीन्द्रियादिमार्गणाभेदेषु यत्र पर्याप्तजीवानाम-प्रवेशस्तत्राऽप्यपवदति—“संखंसेणं हीणो” इत्यादि, “अपज्जविगलेसुं” ति अपर्याप्तद्वीन्द्रिया-ऽपर्याप्त-त्रीन्द्रिया-ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रियलक्षणेसु त्रिषु मार्गणाभेदेषु पञ्चविंशत्यादिगुणनप्रकारेणाऽऽनितः स्थिति-वन्धः पल्योपमासंख्येयभागेन हीनः सन्नुत्कृष्टो ज्ञेय इति पूर्वतोऽनुवर्तत इति । सुगमम् ॥४४॥४५॥

अथ कयाऽपि मार्गणयाऽसाम्यभित्कृत्वाऽपगतवेद-सूचमसम्परायसंयममार्गणयोः पृथक् पृथग्-व्याजिहीर्षुरादावपगतवेदमार्गणायामाह—

गयवेए घाईणं संखसहस्सवरिसाऽत्थि संखसमा ।

मोहस्स अघाईणं असंखियमो पलियभागो ॥४६॥

(प्रे०) “गयत्रेण घाईण” मित्यादि, अपगतवेदमार्गणायाम् “घाईणं” ति मोहनीयस्य वक्ष्यमाणत्वात्तद्वर्जानां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां घातिकर्मणां प्रत्येकं “संखसहस्रवरिसाऽस्थि” ति संख्येयानि वर्षसहस्राण्युत्कृष्टस्थितिवन्धोऽस्ति । “संखसमा” ति संख्येयाः समाः—वर्षाणि “मोहसस” ति मोहनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिवन्धो भवतीत्यर्थः । एवमु-
त्तरत्रापि । ततः ‘अघाईणं’ ति सप्तानामेवोत्कृष्टस्थितिवन्धस्य वक्तुं प्रकान्तत्वाद् वेदनीय-नाम-गोत्र-
लक्षणानां त्रयाणामघातिकर्मणाम् “असंखययमो पालयभागो” ति असंख्येयतमः पन्योपमभागः,
पन्योपमाऽसंख्येयभागप्रमाण उत्कृष्टस्थितिवन्ध इत्यर्थः । इति ॥४६॥ अथ सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां
प्रकृतोत्कृष्टस्थितिवन्धं प्रदर्शयन् लाघवाय शेषमार्गणास्वतिदिशंश्चाह—

सुहुमे कमा पुहुत्तं मुहुत्त-मासाण घाइ-इयराणं ।

अहव दिण-समाण कमा पुहुत्तमोघव्व सेसासु ॥४७॥

(प्रे०) “सुहुमे कमा पुहुत्त”मित्यादि, सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां क्रमात् “पुहुत्तं
मुहुत्तमासाण” ति मुहुर्तानां पृथक्त्वं मासानां पृथक्त्वं चेत्यर्थः, उत्कृष्टस्थितिवन्ध इति गम्यते ।
केषां कर्मणां क्रमात् मुहुर्तपृथक्त्वं मासपृथक्त्वं चोत्कृष्टस्थितिवन्धः ? इत्याह—“घाइइयराण” मिति
सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां बन्धप्रायोग्यानां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां घाति-
कर्मणां तदितरेषां वेदनीय-नाम-गोत्र-लक्षणानां त्रयाणामघातिनां च, त्रयाणां घातिनामुत्कृष्ट-
स्थितिवन्धो मुहुर्तपृथक्त्वम्, त्रयाणामघातिनामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्तु मासपृथक्त्वमित्यर्थः । अत्रैव
विकल्पान्तरं दर्शयितुमाह—‘अहव दिणसमाण कमा पुहुत्तं’ ति अथर्वेतेषां त्रयाणां घातिनां त्रया-
णामघातिनां च क्रमाद्दिनानां समानां च पृथक्त्वम्, त्रयाणां घातिनां दिवसपृथक्त्वमुत्कृष्टस्थितिवन्ध-
स्त्रयाणामघातिनां तु वर्षपृथक्त्वमुत्कृष्टस्थितिवन्ध इत्यर्थः । “मोघव्व सेसासु” ति अपर्याप्तपञ्चे-
न्द्रियतिर्यगादिवर्जाभूक्तशेषासु नरकगत्यादिसप्तपण्डिमार्गणासु प्रत्येकमौघिकोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनां
पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिजीवानां प्रवेशात् प्रकृतानामापूर्वजानां सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिवन्ध
ओघवद् भवतीत्यर्थः । उक्तशेषमार्गणा नामत इमाः—नरकगत्योघभेदः, घर्मादिपृथिवीभेदेन
सप्तोत्तरभेदाः, इत्थं नरकगतिसत्का अष्टौ भेदाः, तिर्यग्गत्योघभेदसहिताः पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्या-
प्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीरूपाश्चत्वारो भेदाः, मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीरूपाश्चतयो भेदाः, देव-
गत्योघभेदः, भवनपत्यादिसहस्रारकल्पान्ता अन्ये एकादशेति देवगतिसत्का द्वादशभेदाः, पञ्चेन्द्रियौघ-
पर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदौ, त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायभेदौ, मनोयोगसामान्यभेदः, सत्यमनोयोगा-ऽसत्य-
मनोयोग-सत्यासत्यमनोयोगा-ऽसत्यामृपामनोयोगरूपाश्चत्वार उत्तरभेदाश्च, एवं वचनयोगसामान्य-
सत्यवचनयोगा-ऽसत्यवचनयोग-सत्यासत्यवचनयोग-व्यवहारवचनयोगभेदात् पञ्च वचनयोगभेदाः,
काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-वैक्रियकाययोगरूपाश्चतयः काययोगभेदाः, स्त्री-पुरुष-नपुंसकाख्या-

स्त्रयो वेदमार्गणाभेदाः, तथैव क्रोधादिकषायभेदाश्चत्वारः कषायमार्गणाभेदाः, मत्स्यज्ञान-श्रुतज्ञान-विभङ्गज्ञानरूपास्त्रयोऽज्ञानभेदाः, असंयममार्गणाभेदः, चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शनभेदौ, शुक्लेश्यावर्जाः कृष्णादिपञ्चलेश्यामार्गणाभेदाः, भव्या-ऽभव्यमार्गणे, मिथ्यान्वमार्गणा, संज्ञिमार्गणा-ऽऽहारिमार्गणा चेति ।

ननु प्रस्तुतवन्धविधानग्रन्थप्रारम्भे ग्रन्थकृताऽऽदेशतो नरकगत्यादिचतुःसप्तत्युत्तरशत-मार्गणासु प्रकृत्यादिवन्धचतुष्टयं प्ररूपणीयत्वेन प्रतिज्ञातं, तथैव प्रकृतिवन्धे प्ररूपितं च, अत्रापि तथैव नीत्या चतुःसप्तत्युत्तरशतमार्गणासु प्ररूपितव्यं, तथा च सत्यनन्तरं पृथक् पृथग्भिहिता अपर्याप्ततिर्यगादिभ्युत्तरशतमार्गणाः संत्यज्य शेषा एकसप्ततिमार्गणाः शेषमार्गणात्वेन द्रष्टव्या भवन्ति, तत्कथमकषाय-केवलज्ञानादिमार्गणा अपि शेषमार्गणासु न सङ्गृहीताः ? इति चेद्, उच्यते— सर्वा प्ररूपणा सत्पदप्ररूपणापूर्विका कर्तव्या भवति, अन्यथा वस्तुनः सत्त्वा-ऽसत्त्वनिर्णयाभावे किमधघटादिवत् सतः स्थितिवन्धस्य प्रमाण-स्वामित्वादिकं प्ररूप्यते, उताकाशकेशवदसतः कल्पना-शील्पिविनिर्मितस्येति संदोहदोलादोलायितविद्वज्जनमनसस्तर्पणं न स्यात्, ततः स्थितिवन्धेऽपि प्रकृतिवन्धवदादौ सामान्येन मार्गणास्थानेषु च सा सत्पदप्ररूपणाऽवश्यं कर्तव्या, किन्तु सुगमत्वात् सा ग्रन्थकृता पृथग् न दर्शिता, तथाऽपि यदा प्रकृतिवन्धवत् स्थितिवन्धोऽपि सत्पदप्ररूपणाविषयी-क्रियते तदा यथा प्रकृतिवन्धे आयुर्वन्धो वैक्रियमिश्रकाययोगाद्येकादशमार्गणावर्जासु शेषमार्गणास्वेव सन् प्राप्तः, न पुनर्वैक्रियमिश्रकाययोगादिमार्गणस्वपि, ततश्च यथा तत्र स्वामित्वादिद्वारेषु वैक्रिय-मिश्रकाययोगादिमार्गणा अधिकृत्यायुषः स्वाम्यादिचिन्ता न कृता, अर्थात् ता वैक्रियमिश्रकाय-योगाद्येकादशमार्गणा आयुर्वन्धविषयचिन्तायां न परिगणितास्तथा कषायोदयप्रत्ययो मूलाष्टकर्मसत्क-स्थितिवन्धोऽपि कषायोदयविरहितास्वकषाय-केवलज्ञान-यथाख्यातसंभय-केवलदर्शनरूपासु चतसृषु-मार्गणासु न संलभ्यते, इत्थं हि तत्र मार्गणाचतुष्टके स्थितिवन्धस्यासत्त्वात् स्थितिवन्धप्रमाण-स्वाम्या-दीनामप्यसम्भव एव, तत एव ताश्चतस्रो मार्गणा मूलत एव न परिगणिताः, उक्तनीत्यैवायुषः स्थितिवन्धे वैक्रियमिश्रकाययोगाद्येकादशमार्गणा न गणयिष्यन्ते च, प्रकृतिवन्धाविना-भावित्वात्स्थितिवन्धस्य । वैक्रियमिश्रकाययोगाद्येकादशमार्गणास्वायुर्वन्धाऽसत्त्वं तु प्राक् प्रकृतिवन्धे आवेदितमेवेत्यलं विस्तरेण ॥४७॥

तदेवं दर्शितं सप्तानां मूलकर्मणासुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणमादेशतोऽपि । साम्प्रतमुक्तशेषस्या-ऽऽयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणं मार्गणास्थानेषु प्ररूपयितुकाम आह—

आउस्स खलु अवाहा सव्वेसु णिरय-सुरेमु विउवे य ।

उक्कोसा धम्मासा उरालमीसे मुहुत्ततो ॥४८॥

जेट्टुभवटिइतिभागो एगिदिय-विंगल-पंचकायेसु ।

सव्वेसुं सेसेसुं असमत्तेसुं मुणेयव्वा ॥४९॥

(प्रे०) "आउस्स खलु" इत्यादि, आयुषो वेद्यमानायुर्वशेषरूपाऽबाधा खलु ज्ञातव्या इति द्वितीयगाथाप्रान्तेऽन्वयः । केषु मार्गणाभेदेषु कियतीत्याह—“सव्वेसु णिरयसुरेसु” इत्यादि, सर्वेषु निरयगतिमार्गणाभेदेषु, सर्वेषु देवगतिमार्गणाभेदेषु, “जिज्जे य” चि वैक्रियकाययोगमार्गणाभेदे चेत्येतेष्वेकोनचत्वारिंशन्मार्गणाभेदेषु प्रत्येकम् “उक्कोसा छम्मासा” चि उत्कृष्टा परमासाः । कुतः? देवनैरयिकैर्वेद्यमानायुषि षण्मासेऽनवशेषे पारभविकायुर्वन्धस्याऽकरणात् । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णा—

“देवनेरइयअसंखेज्जवासाउयतिरियमणुयणं आउगस्स अवाहा छम्मासा उक्कोसा भवति ॥” इति॥

“उरालमीसे महुत्ततो” चि औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणाभेदे ‘मुहूर्तान्तः’—अन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टाबाधा इत्यनुवर्तते । कुतोऽन्तर्मुहूर्तम् ? उच्यते, औदारिकमिश्रकाययोग्यवस्थायां ह्यायुषो बन्धका लब्ध्यपर्याप्ता जीवा एव, ते चान्तर्मुहूर्तस्थितिकाः, तथा च सति प्रागुक्तनीत्या भवतृतीय-भागवशेषे आयुर्वन्धकरणेऽपि तेषामुत्कृष्टाऽबाधाऽन्तर्मुहूर्तमेवावाप्यते, न पुनस्तदधिका । लब्ध्य-पर्याप्तवर्जानां त्रौदारिकमिश्रकाययोग्यवस्थायामायुर्वन्ध एव न भवति, इत्थं हि प्रकृतमार्गणायामायुष उत्कृष्टाऽप्यबाधाऽन्तर्मुहूर्तमेवोक्तेति । “जेट्टुभवठिइतिभागो” चि मार्गणागतजीवेषु यस्य कस्यापि या ज्येष्ठा-उत्कृष्टा ‘भवस्थितिः’-वेद्यमानायुर्मानम्, तस्या ज्येष्ठभवस्थितेस्त्रिभागः-तृतीयभागः, उत्कृष्टा-बाधा इति प्राग्बद् योज्यम् । केषु मार्गणाभेदेष्वित्याह—“एगिवियविगलपंचकायेसुं सव्वेसुं” इत्यादि, एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायभेदेषु सर्वेषु, एतेषामेकेन्द्रिया-दीनामोष-सूक्ष्म-वादर-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तादिभेदनिष्पन्ना ये पञ्चपञ्चाशद् भेदास्तेषु मूलोत्तरभेदरूपेषु सर्वेष्वित्यर्थः । उक्तं च पञ्चसंप्रहे उत्कृष्टमबाधामानं दर्शयता ग्रन्थकृता—“इगविगलणं भयद्विइनंसो” इति । अन्यमार्गणा भेदान् संग्रहीतुमाह—“सेसेसुं असमत्तेसुं” चि अनन्तरगृहीतैकेन्द्रियादिभेदेष्व-प्रविष्टा ये शेषा अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-पर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसकायलक्षणाश्चत्वारो-ऽपर्याप्तभेदास्तेष्वित्यर्थः । इदमुक्तं भवति—देवनिरयवर्जानां संख्येयवर्षायुषां तिर्यङ्मनुष्याणां वेद्यमानायुषश्चरमे तृतीये भागे वेदयितुमनारब्धे पारभविकायुर्वन्धो नैव भवतीत्यादि प्रागस्मिन्नेव प्रकरणे प्रसङ्गाद् व्याख्यातम्, ततश्चेयमेकेन्द्रियादीनां ज्येष्ठभवस्थितितृतीयभागप्रमाणोत्कृष्टाऽबाधा मुखेन गम्यते, तथाहि—एतास्वेकेन्द्रियोघाद्येकोनषष्टिमार्गणासु प्रत्येकमस्ति संख्येयवर्षायुषां तिरश्चां मनुष्याणां वा समावेशः, तत्रापि पृथिवीकायौषभेद-वादरपृथिवीकायौष-पर्याप्तवादरपृथिवीकायभेदेषु द्वाविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणोत्कृष्टस्थितिकानां पर्याप्तखरवादरपृथिवीकायजीवानां समावेशादुत्कृष्टाऽबाधा द्वाविंशतिवर्षसहस्रतृतीयभागप्रमाणा लभ्यते । अपर्याप्तवादरपृथिवीकायभेदे तु सा तावती न लभ्यते, कुतः ? तस्मिन् तेषामुत्कृष्टस्थितिकानां पर्याप्तखरवादरपृथिवीकायजीवानामप्रवेशात् । तर्हि तस्मिन् कियती लभ्यते ? अन्तर्मुहूर्तमात्रा । कस्माद् ? उच्यते,—अपर्याप्ततयाऽत्र लब्ध्यपर्याप्ता इष्यन्ते, ते चोत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तस्थितिका एव भवन्ति, ततोऽबाधाऽपि तदीयभवतृतीयभागप्रमाणाऽन्तर्मुहूर्त-मात्रा भवति । इत्थमेव पृथिव्यादिसत्केषु सर्वाऽपर्याप्तभेदेषु, सर्वसूक्ष्मजीवभेदेषु, सर्वेषु साधारण-

वनस्पतिकायभेदेषु च प्रत्येकमायुष उत्कृष्टाऽप्यवाधाऽन्तर्मुहूर्तमात्रा भावनीया, अन्तर्मुहूर्तस्थितिकत्वात्
तेषां सर्वेषाम् । तदन्यभेदेषु तूत्कृष्टस्थितिकाकायादिजीवानां प्रवेशात् तदीयोत्कृष्टभवस्थित्यनुसारेण
सा बोद्धव्या । पृथिवीकायाकायादीनामुत्कृष्टभवस्थितिप्रदर्शिका गाथा त्वियम् —

वावीससगतिदसवाससहसगणितिदिण वेइदियाइसु ।

वारसशासुणपणदिणह्मसासतिपलिय ठिइ जिद्वा ॥२५६॥ इति ।

विशेषतस्तु प्रतिमार्गणमुत्कृष्टभवस्थितिः प्राक्प्रकृतिवन्धप्रथमाधिकारान्तद्वारेऽभिहिता इति तत्
एव द्रष्टव्या इति ॥४८॥४६॥

तदेवं निरयगत्यादिनवनवतिमार्गणास्वायुष उत्कृष्टमवाधामभिधाय तास्वेवाऽऽयुषोऽनुभव-
योग्यतालक्षणस्थितिवन्धप्रमाणमाह—

एआसु पुव्वकोडी ठिइबंधो आउगम्म उक्कोसो ।

(ग्रे०) “एआसु पुव्वकोडी” इत्यादि, एतास्वनन्तरोक्तासु निरयगत्योधादिनवनवतिमार्गणासु
प्रत्येकमायुरेवायुष्कस्तस्याऽऽयुष्कस्योत्कृष्टः स्थितिवन्धः “पुव्वकोडी” ति पूर्वकोटीवर्षप्रमाणः,
भवतीति शेषः । तत्र पूर्वप्रमाणं त्वन्यत्रेत्थमभिहितम्—“पुव्वस्स उ परिमाणं सयरिं नत्तु वासकोडी
लक्खाओ । ह्मपन्नं च सहस्सा बोद्धव्या वासकोडीगुं ॥२६२॥” इति ॥

अथोक्तशेषासु चतुःषष्टिमार्गणासु प्रस्तुतमायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणं दिदर्शयिपुरादौ
ताम्बवाधामानं दर्शयति—

सेसासु पुव्वाणं कोडितिभागो गुरुअवाहा ॥५०॥

(ग्रे०) “सेसासु पुव्वाणं” मित्यादि, अभिहितशेषासु वक्ष्यमाणस्थितिवन्धप्रमाणासु तिर्यग्ग-
त्योधादिमार्गणासु प्रत्येकं “पुव्वाणं कोडितिभागो गुरुअवाहा” ति वक्ष्यमानपारभविकायुषो
वेद्यमानायुरवशेषरूपा दलनिषेकाऽयोग्यकाललक्षणा गुरुअवाहा पूर्वकोटीत्रिभागप्रमाणा भवतीत्यर्थः ।
अयम्भावः—एतासु शेषमार्गणासु प्रत्येकं प्रविष्टैः पूर्वकोटीवर्षायुष्मद्भिरित्यग्भिर्मनुष्यैर्वा यदा
वेद्यमानायुषोर्द्वयोस्त्रिभागयोर्निष्क्रान्तयोस्तृतीयभागप्रारम्भे पारभविकायुर्वन्धः क्रियते तदा प्रकृतोत्कृष्टा-
ऽवाधा लभ्यते इति ॥५०॥

एतासु शेषमार्गणासु कर्मदलनिषेकरूपोऽनुभवयोग्यतालक्षणस्थितिवन्धस्तद्दुत्कृष्टतः कियान्
भवतीत्यत्राह—

परिहारे कालगओ उप्पज्जइ जेट्ठओ सहसारे ।

इइ भगवईअ भणियं विति परे जलहितेत्तीसा ॥५१॥

ठिइबंधो उक्कोसो अयरा आउंसम एीलकाऊसुं ।

दस तिरिण कमा अरणे भणन्ति सत्तरह सत्त पुणो ॥५२॥

तेज-पउमासु अयरा दो अट्टारह कमा मुणेयव्वा ।

होइ दुवीसा जलही तिरिक्खजोणिमइ-देसेसुं ॥५३॥

जलहीण एगतीसा सासाणे जेट्ठगो असणिणम्मि ।

पल्लिगासंत्तियभागे मेसासुं जलहितेत्तीसा ॥५४॥

(प्रे०) "परिहारे" इत्यादिगाथाचतुष्कम्, "परिहारे" चि परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायाम् "कालगघो" चि कालगतः—मृत्युमितः परिहारविशुद्धिकसंयतः 'उप्पज्जइ जेट्ठो सहस्सारे' चि ज्येष्ठतः—उत्कृष्टतः सहस्राराख्येऽष्टमकल्पे उत्पद्यते, न पुनस्ततः परतः, यतो देवलोकं उत्पद्यमानस्य परिहारविशुद्धिकस्योत्कृष्टतः स्थितिभंगवत्यामष्टादश मार्गोपमाण्यभिहिता । तथा च तद्ग्रन्थः— "परिहारविशुद्धियस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं दो पत्तिओवमाइ, उक्कोसेणं अट्टारस सागरोवमाइ" इति ।

ततः किम् ? ततो भगवत्यभिप्रायेण परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायाम्युप उत्कृष्टस्थिति-
बन्धोऽष्टादशमार्गोपमाणि सम्भवति, न पुनस्तदधिक इति । अत्र महाबन्धकाराभिप्रायमाह—
"बिंति परे" इत्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां परे—महाबन्धकारा जलधयः—सागरोपमाणि
त्रयस्त्रिंशदुत्कृष्टस्थितिवन्धो भवतीति ब्रुवन्ति इति । "अयरा आउस्स" चि 'ठिइबंधो उक्कोसो'
इत्येतत्पदद्वयमत्रापि सम्बध्यते, ततः प्रकृतस्याऽऽयुषोऽव्याधायाः पृथग्भिहितत्वात्तया हीनोऽनुभवयो-
ग्यतालक्षणः स्थितिवन्ध उन्कृष्टोऽनराः—सागरोपमाणि, भवन्तीति शेषः । कस्यां कस्यां मार्गणायां
क्रियन्ति क्रियन्ति सागरोपमाणीत्याह—“णीलकाउसु” मित्यादि, नील-कापोतलेश्यामार्गणयोः 'दस
तिण्ण कमा' चि क्रमाद् दश सागरोपमाणि त्रीणि सागरोपमाणि चेत्यर्थः । एतानि च मूलेऽनु-
क्तान्यपि साधिकानि बोद्धव्यानि । कस्मात् ? नीललेश्यामार्गणायाम्युप उत्कृष्टस्थितिवन्धः
साधिकानि दशसागरोपमाणि जायत इतिकृत्वा । अत्र योऽधिकांशः स पन्थोपमासंख्येयभागमात्रो
ग्रन्थकृता लाघवार्थं नाभिहितस्तथाऽप्यसौ व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति न्यायेन व्याख्यानाद्
बोद्धव्यो भवति । तदुपपत्तिस्त्वेषम्—नीललेश्यायामुत्कृष्टस्थितिकाम्युषो बन्धका मनुष्यास्तिर्यञ्चो वा
भवन्ति, एतच्चान्ने स्वामिन्वदारे वच्यते ग्रन्थकृतेनैव । ते च नीललेश्याका मनुष्यतिर्यञ्च उत्कृष्टस्थिति-
काम्युनिरयसत्कं वधन्ति, तत्प्रायोप्यम्युषं धनन् एते तिर्यङ्मनुष्याः पन्थोपमासंख्येयभागेनाधिक-
दशसागरोपमेभ्योऽधिकां स्थितिं न वधन्ति । कुतः ? तदधिकस्थितिकनरकाम्युर्वन्धस्य कृष्णलेश्यायां
भावात् । एतदपि कुतः ? तदधिकाम्युषां नागकाणां कृष्णलेश्यत्वात् । उक्तं च द्रव्यलोकप्रकाशे पञ्चम-
पृथिवीवर्णनायाम्—“केयांचिदाद्यप्रतरे नारकाणां भवेदिह । नीललेश्या यदुत्कृष्टादप्यस्याः स्थितिराहिता ॥२२॥
पन्थोपमासंख्येयभागाधिका दशपयोधयः । ततोऽधिकस्थितोनां तु तेषां कृष्णैव केवलम् ॥२३॥” युग्ममिति ।
इत्यमेव कापोतलेश्यामार्गणायामपि मूलोक्तस्थितिवन्धः साधिको द्रष्टव्यः, कुतः ? कापोतलेश्याक-
नैरयिकाणामुत्कृष्टस्थितेः साधिकत्रिभारोपमप्रमाणत्वात् । उक्तं चोत्तराध्ययनसूत्रे—“दस वाससह-
स्साइ कारुण् ठिई अइत्तिया होइ । तिण्णुदही पत्तियोवमासंख्येयभागे च उक्कोसा ॥४१॥” इति लेश्याध्ययने ।

अत्रैव मार्गणाद्वये मतान्तरेण प्रस्तुतस्थितिवन्धप्रमाणमाह—“अण्णे भणन्ति” इत्यादि, अन्ये कंचनाऽऽचार्याः पुनरधिकृतमार्गणाद्वये क्रमात् सप्तदश सप्त च सागरोपमाण्यायुष उत्कृष्टः स्थितिवन्ध इति भणन्तीत्यर्थः । अयम्भावः—पूर्वमतेनाधःपञ्चमपृथिव्याः प्रथमे प्रतरे केषाञ्चिन्नारकाणां नीललेश्याऽभिमता, न पुनस्ततोऽधस्तनप्रस्तटेऽपि, मतान्तरेण तु पञ्चमपृथिव्याश्चरमे प्रतरेऽपि केषाञ्चिन्नारकाणां नीललेश्याऽङ्गीकृता, तत्र च चरमे प्रतरे नारकाणामुत्कृष्टा स्थितिः सप्तदश सागरोपमाणीतिकृत्वा नीललेश्यामार्गणायामुत्कृष्टस्थितिकनिरयायुषो बन्धकाः सप्तदशसागरोपमप्रमाणां स्थितिं निर्वर्तयन्ति । यथा नीललेश्यायां तथा कापोतलेश्यायामप्यायुष उत्कृष्टः स्थितिवन्धः सप्तसागरोपमाणि तृतीयपृथिव्याश्चरमप्रस्तटेऽपि कापोतलेश्याकर्नरविकाणां सद्भावमङ्गीकर्तुं मतेन बौद्धव्यः । तच्च त्वतीन्द्रियार्थवेदिगम्यमिति । “तेऽपउमासु”ति तेजोलेश्यामार्गणायां पद्मलेश्यामार्गणायां च “अयरा दो अट्ठारह कमा” ति प्राग्वद् द्वे सागरोपमे, अष्टादश सागरोपमाणि चाऽऽयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धो ज्ञातव्यः । अत्रापि—“दस वाससहत्साइं तेऽए ठिई जहन्निया होइ । दुएणुदुही पलियोवमसंखभागं च उक्कोस्सा ॥३३॥” इत्यादिवचनात् तेजोलेश्यामार्गणायां मूलोक्तमायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणं पल्योपमासंख्यभागेनाधिकं द्रष्टव्यम् । पद्मलेश्यामार्गणायां तु पद्मलेश्याकदेवानामुत्कृष्टायुरष्टादशसागरोपमप्रमाणपेक्षया प्राग्बद्धावनीयम् ।

ननु “जोइसकण्णदुगे तेऽ कण्णतिय पम्हलेसा लंताइसु सुक्कलेस हुंति सुरा” इत्यादिवचनात् पञ्चमब्रह्मदेवलोककल्पादूर्ध्वं न सन्ति पद्मलेश्याकदेवाः, ब्रह्मदेवलोके च देवानामुत्कृष्टमप्यायुर्दशसागरोपमप्रमाणमस्ति, तत्कथं पद्मलेश्याकदेवानामुत्कृष्टायुरष्टादश सागरोपमाणीति सङ्गच्छेत् ? इति चेष्ट, उच्यते, सत्यम्, यदुक्तं भवता “जोइसकण्णदुगे तेऽ कण्णतिय पम्हलेसे”त्यादि, नवरं तस्येवायमपि मतान्तरो दृश्यते यदष्टमकल्पान्तानां पद्मलेश्याऽस्तीति, कथमन्यथा बन्धस्वामित्वोक्तम्—“उज्जो-अचउनिरयवार विणु सुक्का विणुनिरयवार पम्हे”त्यादि सङ्गच्छेद्, यतस्तत्र शुक्ललेश्यामार्गणाया-मुद्योतादिप्रकृतयो बन्धविषयत्वेन प्रतिसिद्धाः, तामां तिर्यङ्नरकप्रायोग्यत्वात्, पद्मलेश्यामार्गणायां तु निरयद्वादशकं बन्धविषयतया निषिद्धम्, न तूद्योतचतुष्कम्, तस्य तिर्यकप्रायोग्यत्वात् । उक्तं च तट्टीकायाम्—“विंशत्युत्तरशतमध्यादुद्योतादिचतुष्कं नरकादिद्वादशकं च मुक्त्वा शेषं चतुरन्तरशतमोषतः शुक्ललेश्यायां बध्यते, उद्योतादिप्रकृतीनां तिर्यङ्नरकप्रायोग्यत्वेन देवनरकप्रायोग्यबन्धकैः शुक्ललेश्यावद्विर-बध्यमानत्वान्” तथा “विंशत्युत्तरशतमध्यान्नरकत्रिकादिप्रकृतिद्वादशकं विना शेषमष्टोत्तरशतं पद्मलेश्यावामोषतो बध्यते, तल्लेश्यावतां सनत्कुमारादिदेवानां तिर्यकप्रायोग्यबन्धनतामुद्योतादिप्रकृतिचतुष्कस्य बन्धसम्भवात्तत्र तद्बन्धाभावः” इत्यादि । तथा च सत्यर्थाभिपिद्धं शुक्ललेश्याकानां तिर्यग्गतिगमनं नरकगतिगमनं च, पद्मलेश्यावतां तु नरकगतिगमनमेव निषिद्धम्, न तु तिर्यग्गतिगमनमपि । इत्थं हि व्यवस्थितः पद्मलेश्यावतां तिर्यग्गतिप्रायोग्यस्य तिर्यगायुषोऽपि बन्धः, शुक्ललेश्यावतां तु नेति । एवं च स्थिते ब्रह्मदेवलोकपर्यन्तानां देवानामेव पद्मलेश्या, न तु तदुपरितनकल्पवासिनामित्येक एव मतस्तदाऽऽनत-

प्रभृतिविमानवासिनां मनुष्येष्वेवोत्पादः, सनत्कुमारकल्पादिसहस्रारकल्पान्तानां सुराणां तु तिर्यग्गता-
 वर्षाति सिद्धान्तः कथं सङ्गच्छेद् ; अभिमतं चैतदपि, यत् उक्तमन्यत्र—“जंति सुरा संखाज्य-
 गन्मथपञ्जसमगुयतिरिणसु । पञ्जत्तेसु य दायर-भू-दग-पत्तेयगवरोसु ॥ तत्थवि सखंकुमारपभिद् एगिंविणसु
 नो जंति । आणयपमुद्दा चविडं मणुणसु चैव गच्छंति ॥” इति ॥ न च कुत्रचिच्छुक्ललेश्यावतां
 तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धनिषेधानुसारेण ब्रह्मकल्पादुपरितनवर्तिविमानवासिनां तिर्यग्गतिगमनप्रतिषेधः
 कृतो दृश्यते, अत एव ज्ञायते यद्भ्रान्तक-शुक-सहस्रारकल्पवासिनां पञ्चलेश्या मतान्तरेणामिमता विद्यते,
 इत्थं च मतविशेषेणार्थं ग्रन्थः, नातः पञ्चलेश्यायामायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धोऽष्टादशसागरोपमप्रमाण
 इत्यत्र कश्चिद्विरोधः, उत्तरत्रापि “पञ्चमाश्र तद्देव एवरि तद्दृश्याद्गच्छदुसंतसुरो” इत्यनेन वक्ष्यमाणाः
 पञ्चलेश्यामार्गणायां सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनः सहस्रारान्ता मिथ्यादृष्टयो देवा इत्यादिषु
 चेति भावितं यथामति, तच्च पुनः बहुश्रुतगम्यमिति न केनापि भतिमताऽऽग्रहो विधेय इति । अथ
 प्रकृतमेवोच्यते—“होइ दुधीसा जलही तिरिक्खजोणिमह-देसेसुं” ति आयुष उत्कृष्टस्थितिवन्ध-
 स्तिर्यग्योनिमतीमार्गणायां देशसंयममार्गणायां च प्रत्येकं द्वाविंशतिर्जलधयः—सागरोपमाणि भवति ।
 सुगमं चैतत्, यतो “जा अञ्चुओ सद्धा” इत्यादिवचनाद् देशसंयतानामुत्कृष्टतोऽप्यच्युत्कल्पे
 उत्पादोऽभिहितः, तत्र चोत्कृष्टा स्थितिर्द्वाविंशतिः सागरोपमाणि, उत्कृष्टतश्च तामेव देशविरति-
 र्वध्नातीति । तिरश्चा इन्द्रधनुःपुष्टुपुष्टिणां तसकदयोत्पादः, न पुनस्ततः परतः सप्तम्यामपि,
 स्त्रीणामुत्कृष्टतोऽपि षष्ठपृथिवीं यावदुत्पादस्य विहितत्वात्, उक्तं च दुःपमानुभावजनितमोहतिमिर-
 तरिणीमदभयदेवसूरिपादैः पञ्चमाङ्गवृत्तौ—“षष्ठवन्तास्वेव पृथिवीषु स्त्रीणामुत्पत्तेः” इति ।
 तिरश्ची तु स्त्रीरेव, इत्थं हि सा उत्कर्षतोऽपि षष्ठपृथिवीसत्कं द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकमेवायुर्वध्ना-
 तीति । “जलहीण एगतीसा सासाणे जेट्टगो” ति प्रकृतस्याऽऽयुषो ज्येष्ठ एव ज्येष्ठकः, उत्कृष्ट-
 स्थितिवन्ध इत्यर्थः । स च ‘जलधीनामेकत्रिंशत्’—एकत्रिंशत्सागरोपमाणि सासादनमार्गणायां
 भवतोत्यर्थः । “असण्णिम्मि” ति असंज्ञिमार्गणायां “पलियासंखियभागो” ति पन्योपमस्या-
 संख्येयभागः, आयुष उत्कृष्टस्थितिवन्ध इत्यनुवर्तते । सुगमम् ।

अथोक्तशेषमार्गणासु प्रकृतमाह—‘सेसासुं जलहितेत्तीसा’ ति उक्तशेषासु पञ्चपञ्चाश-
 न्मार्गणासु प्रकृत आयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धो जलधीनां त्रयस्त्रिंशत्, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि
 भवतीत्यर्थः । शेषमार्गणास्तु नामत इमाः—तिर्यगन्त्योष-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोष-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्य-
 मनुष्योष-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियाष-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायोष-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्च-
 मनोयोगपञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-स्त्री-पुं-
 नपुंसकवेदत्रय-क्रोधादिकपापचतुष्क-मत्यादिज्ञानचतुष्क-मन्यज्ञानाद्यज्ञानत्रिक-संयमौष-सामायिकसंयम-
 च्छेदोपस्थापनसंयमा-ऽसंयम-चक्षुरादिदर्शनत्रिक-कृष्णालेश्या-शुक्लालेश्या-भव्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वौष-
 द्वायिक-वेदकसम्यक्त्व-मिथ्यात्व-संहया-ऽऽहारिमार्गणा इति । एतासु शेषमार्गणासु प्रत्येकं पर्याप्तसंज्ञि-

पञ्चेन्द्रियमिन्द्रियादृष्टि-सर्वसंयतैकतरजीवानां प्रवेशात् तेषां चाऽऽयुष ओधोऽकृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वा-
दुत्कृष्टस्थितिवन्धमानमोघवत् त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाण्यभिहितमिति ॥५१॥५२॥५३॥५४॥

तदेवमभिहितमष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणमोघत आदेशतश्च । अथ
तासामेव जघन्यस्थितिवन्धप्रमाणं प्रतिपिपादयिष्यामीति तावदोषत आह—

घाईण मुहुत्ततो हस्सो तइअस्स वारहमुहुत्ता ।

आउस्स खुडुगभवो सेसाण भवे मुहुत्ताऽट्ठ ॥५५॥

(प्रे०) 'घाईण मुहुत्ततो' इत्यादि, आत्मनो मूलगुणानां ज्ञानादीनां घातनशीलानां
ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽन्तरायलक्षणानां चतुर्णां घातिकर्मणां प्रत्येकं 'मुहुत्तान्तिः'-अन्तर्मुहूर्तम् ।
किं तदित्याह—'हस्सो'ति ह्रस्वः—जघन्यः, स्थितिवन्ध इति प्रक्रमाद्गम्यते । 'तइअस्स
वारहमुहुत्ता'ति तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो द्वादशमुहूर्ताः, ह्रस्वः स्थितिवन्ध इत्यनुवर्तते । इत्थमेवो-
त्तरत्राऽप्यनुवृत्तिर्बोद्धव्या । 'आउस्स खुडुगभवो'ति आयुषो ह्रस्वस्थितिवन्धः क्षुब्धकभवः, क्षुब्धकः-
सर्वजघन्यो यः पट्पञ्चाशदभ्यधिकशतद्वयावलिकाप्रमाणोऽपर्याप्तजीवानां जीवनकालस्तत्प्रमाण
इत्यर्थः । उक्तं चान्यत्र—'आवत्तियाणं दोसयद्धप्पन्ना गगखुडुगभवे' इति । 'सेसाण'ति प्राकृतत्वाद्
द्विवचनान्ते बहुवचनान्तनिर्देशस्ततः शेषयोर्नामगोत्रकर्मणोः प्रत्येकम् 'भवे मुहुत्ताऽट्ठ' ति ह्रस्वः
स्थितिवन्धोऽष्टौ मुहूर्ता भवेदिति । उक्तं च शतकचूर्णावष्टानामपि मूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिवन्ध-
प्रमाणं दर्शयता चूर्णकृता—'वारस अंतमुहुत्ता वेधणिण् अट्ठ नामगोघाणं । सेसाणंतमुहुत्तं खुडुगभवं
आउण जाण ॥' इति । अत्र प्रत्येकं जघन्यावाधाऽन्तर्मुहूर्तमाना, तथा हीनकर्मस्थितिप्रमाणः कर्मदल-
निषेकश्च प्रागुक्तनीत्या स्वयमेव द्रष्टव्यः, तत्राऽप्यायुःकर्मणो निषेकेऽवाधा न्यूना न द्रष्टव्या, तस्या
वेद्यमानायुरवशेषरूपत्वात् । तद्यथा—ज्ञानावरण-मोहनीया-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तमवाधा,
अवाधाहीनजघन्यकर्मस्थितिः कर्मदलनिषेकः । वेदनीयकर्मणोऽन्तर्मुहूर्तमवाधा, अवाधाहीनजघन्य-
कर्मस्थितिप्रमाणः कर्मदलनिषेकः । आयुषोऽन्तर्मुहूर्तमवाधा, क्षुब्धकभवप्रमाणः कर्मदलनिषेकः ।
नामगोत्रयोरन्तर्मुहूर्तमवाधा, अवाधान्यूनजघन्यकर्मस्थितिप्रमाणः कर्मदलनिषेक इति । इत्थमेव
वक्ष्यमाणमार्गणास्थानेष्वपि स्वयमेव योज्यमिति ॥५५॥

अभिहितमोघतोऽष्टानां मूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिवन्धमानम् । अथ तदेवाऽऽदेशतो
दिदर्शयिषुरादावायुर्वर्जानां सप्तानामाह—

णिरय—पढमणिरयेसुं देव—भरण—वंतरेसु सव्वेसुं ।

पंचिंदियतिरियेसुं असमत्तामणुसपणिंदियेसुं य ॥५६॥ (गीतिः)

मोहगुरुठिहविभत्तो सहस्सगुणिओ य ओघगुरुबंधो ।

स पलियसंखंसूणो सत्तरह लहू मुणेयव्वो ॥५७॥

(प्रे०) “निरयपहमणिरघेषु” मित्यादि, निरयगत्योष-प्रथमपृथिवीनिरयभेदयोस्तथा “देव-
 भवणवन्तरेसु”ति देवगन्योषभेदे भवनपतिदेव-व्यन्तरदेवभेदयोः, ‘सर्वेषु पञ्चिदियतिरिघेषु” ति
 सर्वेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यगोष-तत्पर्याप्ताऽपर्याप्त-तिरश्चयात्मकेषु चतुर्षु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेषु, “असमत्त-
 मणुसर्पाणिदियेषु य”ति असमाप्तशब्दस्य प्रत्येकं योजनात्, अपर्याप्तमनुष्यभेदेऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-
 जातिभेदे चेत्यर्थः । बहुवचनान्तनिर्देशस्तु प्राकृतलक्षणाद्बोद्धव्यः । एवमेव पूर्वोत्तरत्र च ज्ञातव्यम् ।
 एतासु निरयगत्योषाद्यपर्याप्तपञ्चेन्द्रियपर्यन्तासु परिगणितमार्गणासु प्रत्येकं किमित्याह—“मोहगुरु-
 ठिह्विभक्तो” इत्यादि, मोहनीयस्य या औषिकी सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा गुरुः—उत्कृष्टा
 स्थितिस्तया मोहगुरुस्थित्या विभक्तः, ततः सहस्रेण गुणितः—ताडितश्च यः “ओषगुरुबंधो” ति
 ज्ञानावरणादीनामायुर्वर्जानामौषिको ‘गुरुः’—उत्कृष्टो ‘बन्धः’—स्थितिवन्धः, स च प्राक् संज्ञिमार्गणाया-
 मुत्कृष्टपदे यात्रान् दर्शितस्तावान् भवति, तद्यथा—ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणां प्रत्येकं
 सागरोपमस्य त्रिसहस्राणि सप्तभागाः (३००० सागरोप०) । मोहनीयस्य सागरोपमसहस्रम् (१०००
 सागरोप०) । नामगोत्रयोः प्रत्येकं सागरोपमस्य द्वे सहस्रे सप्तभागाः (३३३३ सागरोप०) । “स”ति
 मोहनीयगुरुस्थितिबिभक्तः सहस्रगुणितश्च ज्ञानावरणादीनां य ओषगुरुबन्धः सः “पलियसंखं-
 सूणो सत्तण्ह लह् सुणेपव्वो”ति पल्योपमस्य संख्येयेन-संख्येयतमैकभागेनोनः—हीनः सन् सप्तानां
 ज्ञानावरणादीनां लघुः—जघन्यस्थितिवन्धो ज्ञातव्यः, न त्वसंज्ञिनामुत्कृष्टस्थितिवन्धतुल्य एवेति ।
 इदमत्र हृदयम्—एकेन्द्रियजीवाः सप्तानां जघन्यां स्थितीमुत्कृष्टापेक्षया पल्योपमस्याऽसंख्येयभागेन
 न्यूनां बध्नन्ति, विकलेन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्तु स्वस्थोत्कृष्टापेक्षया पल्योपमस्य संख्येयभागेन
 न्यूनां बध्नन्ति, उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णो—“बेह्विवादीणं अप्यप्यणो उक्कसट्ठिती पलिउवमस्स संखे-
 ज्जतिभागेण ऊणः इयरोत्ति-जहणणगट्ठिती भवति ॥” इति । किञ्चासंज्ञिनश्च्युत्वा संज्ञितयोत्पद्यमाना
 विश्रहगतौ वर्तमाना जीवाः संज्ञिप्रायोग्यमन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणं स्थितिवन्धं न कुर्वन्ति,
 किन्त्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यमेव स्थितिवन्धं निर्वर्तयन्ति, ततश्चोत्पत्तिस्थाने प्रथममाहारं गृह्णन्त
 एते संज्ञिप्रायोग्यस्थितिवन्धं कुर्वन्ति । इत्थं हि यासु मार्गणासु संज्ञिन एव जीवाः प्रविष्टाः सन्ति, न
 पुनरसंज्ञिनोऽपि, तासु मार्गणासु यद्यसंज्ञिनां गतिविद्यते, तदा तैर्विश्रहगतिस्थैरसंज्ञित आगतैर्जीवैः
 क्रियमाणं स्थितिवन्धमपेक्ष्य जघन्यस्थितिवन्धप्रमाणमसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवानामिव यथोक्तं सागरोपम-
 स्य पल्योपमसंख्येयभागन्यूनत्रिसहस्रसप्तमभागादिकं लभ्यते । प्रकृतेऽपि नरकौघ-प्रथमनरक-
 देवौघ-भवनपतिदेव-व्यन्तरदेवरूपासु पञ्चमार्गणासु तथा शतकचूर्यादिमतेनाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां
 चेत्येतासु षण्मार्गणास्वसंज्ञिजीवानामप्रवेशेऽपि तदीयोत्पादस्य सत्त्वाज्जघन्यः स्थितिवन्धोऽसंज्ञिपञ्चे-
 न्द्रियाणां प्रायोग्यो दर्शितः, शेषमार्गणाद्वये तु जघन्यस्थितेर्बन्धका असंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवा विद्यन्ते एव,
 इति तथैवोक्त इति ॥५६॥५७॥ अथ शेषनिरय-देवभेदेषु सप्तानां जघन्यस्थितिवन्धप्रमाणं
 दिदर्शयिषुस्तत्साम्पाद् वैक्रियकाययोगादिमार्गणास्त्रापि सममेव दर्शयिष्याह—

सेसणिरयदेव-विउवआहारयुगल-विभंग-देसेसु ।

परिहारे तेउ-पउम-वेअग-सासाण-मीसेसु ॥५८॥

अंतोकोडाकोडी णेयो सत्तएह हस्सठिइवंधो ।

(प्रे०) 'सेसणिरयदेवविउवे'त्यादि, अनन्तरोक्तनरकौघ-प्रथमनरकमेदद्वयवर्जा ये शेषा द्वितीयादिपृथिवीभेदभिन्नाः षड् निरयगतिभेदाः, तथैवानन्तरोक्तदेवगतिसत्कमेदत्रयवर्जा ज्योतिष्कादिसर्वार्थसिद्धविमानान्ताः सप्तविंशतिदेवगतिभेदास्तेषु 'विउवआहारयुगल'ति युगलशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद्वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणयोर्यद् युगलम्-द्विकं तद्वैक्रिययुगलं तस्मिन्, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोर्यदाहारकयुगलं तस्मिन्, तथा विभङ्गज्ञानमार्गणायां देशसंयममार्गणायां चेत्यर्थः । मार्गणान्तरसंग्रहार्थमाह-'परिहारे तेउपउमे'त्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां तेजोल्लेश्या-पद्मल्लेश्या-वेदकसम्यक्त्व-सासादन-सम्यग्मिथ्यात्वमार्गणास्वित्यर्थः । एतासु द्वितीयपृथिवी-प्रभृतिनिरयभेदादिपञ्चचत्वारिंशन्मार्गणासु किमित्याह-'अंतोकोडाकोडी णेयो' इत्याद्युत्तर-गाथापूर्वार्धम् । आयुर्वर्जानां सप्तकर्मणां ह्रस्वस्थितिवन्धः 'अंतोकोडाकोडी' ति अन्तःकोटीकोटी-सागरोपमप्रमाणो ज्ञातव्य इत्यर्थः । सुगमं चैतत्, यतोऽपूर्वकरणगुणस्थानकान्तानां मिथ्यादृष्ट्यादि-संज्ञिनां जघन्यतोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणस्थितिवन्ध एव भवति । यद्यपि सासादनमार्ग-णायां षडशीतिग्रन्थानुसारेण ज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिवन्ध एकेन्द्रियस्वामिको लभ्यते, कृतः ? षडशीतावेकेन्द्रियाणामपि सासादनसम्यक्त्वस्वीकारात् । उक्तं च तत्र जीवस्थानेषु गुणस्थानप्रति-पादनावसरे-'वायरअसंनिविगल्ले अपज्जि पढमबिय' इति । तथा च तट्टीका-

'ततो वादराश्च-वावरैकेन्द्रियाः पृथिव्यम्बुवनस्पतिलक्षणाः, असंज्ञी च विशिष्टस्मरणादिरूपमनो-विज्ञानत्रिकलः, विकलाश्च विकलेन्द्रिया द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियाः (द्वन्द्वे) वादरासंज्ञिविकलं तस्मिन् वादरासंज्ञिविकले । किं विशिष्टे ? 'अपज्जि'ति अपर्याप्ते, कोऽर्थः ? अपर्याप्तवावरैकेन्द्रियेषु पृथिव्य-म्बुवनस्पतिषु तथाऽपर्याप्तेऽसंज्ञिनि तथा विकलेषु द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियेष्वपर्याप्तेषु । किमित्याह-पढमबिय' ति इह 'सव्वगुणा' इति पदाद्गुणशब्दस्याकर्षणं, ततः प्रथमं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं द्वितीयं सासादनगुणस्थानं भवति ।' इत्यादि । (गा० ३)

इत्थं हि षडशीत्यभिप्रायेण सासादनमार्गणायामेकेन्द्रियाणामपि प्रवेशेन सासादनमार्गणायां जघन्यस्थितिवन्ध एकेन्द्रियस्वामिकः प्राप्यते । यद्वा सिद्धान्ते द्वीन्द्रियान्तानामेव सासादनसम्यक्त्व-मभ्युपगतम्, एकेन्द्रियाणां तु नाभ्युपगतम्; एकेन्द्रियाणां ज्ञानित्वपृच्छायां निषिद्धत्वात् । उक्तं च--'एगिंदिसा एं भंते किं नाणी अज्ञाणी ? गोयमा ! नो नाणी निचमा अज्ञाणी' इति । न चैवं सति षडशीतिकारवचनं ध्वजेण विरुच्येत इति वाच्यम् । यतः षडशीतिकाराः कर्मप्रत्याप्रायेणैकेन्द्रियाणां सासादनगुणस्थानकं यदन्ति, उक्तं च तैः--'नेगिंदिसु सासाणो नेहाडिगयं सुयमचंपि' इति । तथा च तट्टीका-

“तथा तैकेन्द्रियेषु “सासाणो” नि भावप्रधानोऽयं निर्देशः, सासादनभाव, सूत्रे मतः, अन्यथा द्वीन्द्रियादीनामिर्धकेन्द्रियाणामपि ज्ञानित्वमुच्येत, न चोच्यते, किन्तु विशेषतः प्रतिषिध्यते । तथाहि—“एगि-दियाणं भते । किं नाणी अजाणी ? गोयमा ! नो नाणी नियमा अजाणी” इति । स चैत्वं सासादनभाव-प्रतिषेधः सूत्रे मतोऽपि केनचित्कारणेन कर्मपन्थिकैर्नाभ्युपगम्यत इतीहापि प्रकरणे नाधिक्रियते, तदभिप्राय-स्यैवेह प्रायोऽनुसरणाद् ।” इति ।

इत्थं हि षडशीत्यभिप्रायेण सासादनमार्गणायां ज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिवन्ध एकेन्द्रिय-स्वामिकः, सिद्धान्ताभिप्रायेण पुनरैकेन्द्रियेषु सासादनभावस्थानभ्युपगमात् सासादनमार्गणायां ज्ञानावरणादीनां जघन्योऽपि बन्धो द्वीन्द्रियस्वामिकः तथाऽपि प्रकृते नव्यशतकत्रदभिप्रायविशेषेण संज्ञिसत्कसासादनभावापेक्षयाऽसादन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणो दर्शितः । उक्तं च नव्यशतके—

“साणाइअपुव्वंते अयरंतो कोडीकोडीउ नऽहिगो बंधो ।

न हु हीणो न य मिक्खे भट्टियरमंत्तिमि ॥४८॥” इति ।

को भावः ? इति चेत्, एकेन्द्रियादीनां सासादनभावस्य कादाचित्कत्वेनासावत्र न विवक्षितः, ततश्च सासादने जघन्योऽपि स्थितिवन्धः संज्ञिस्वामिकः प्राप्तः, स चान्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाण एव । षडशीत्याद्यभिप्रायेण तु मूलोक्तादन्यथाऽप्येकेन्द्रियादिस्वामिको यथासम्भवं बोद्धव्य इति ॥५८॥

साम्प्रतं यासु मार्गणांश्वेकेन्द्रियाणां प्रवेशः, न पुनः श्रेण्यारूढानां महात्मनां तासु लाघवाद्युपदाह—

तिरियम्मि य सव्वेसुं एगिदिय-पंचकायभेएसुं ॥५९॥

ओरालमीस-कम्मण-दुअणाणा-ऽयत-तिअसुहलेसासुं ।

अभविय-मिच्छत्तेसुं अमणा-ऽणाहारगेसुं य ॥६०॥

मोहगुरुठिइविभत्तो सत्तरहं ओघजेट्ठिइबंधो ।

पलियासंखंपूणो सो सत्तरहं लहू ऐथो ॥६१॥

(प्रे०) “तिरियम्मि य सव्वेसुं”मित्यादि, तिर्यग्गत्योघमार्गणाभेदे, चः समुच्चये । तथा सर्वेषु षट्चत्वारिंशत्संख्याकेष्वेकेन्द्रियसत्कपृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायसत्कमार्गणाभेदेषु । तत्रैकेन्द्रियपृथिव्यम्बुतेजोवायुकायानां प्रत्येकं सप्त सप्त मार्गणाभेदास्तथा वनस्पतिकायसत्कास्त्वेकादश भेदाः प्राग्वत्बोद्धव्याः । अन्या मार्गणाः संग्रहीतुमेकां शाश्वतामाह—“ओरालमीसे”त्यादि, औदारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोग-मत्पज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयम-कृत्वादिज्यशुभलेश्यामार्गणासु, अमध्य-मिथ्यात्वमार्गणयोरसंज्ञ-ऽनाहारिमार्गणयोश्चेत्यर्थः । एतासु तिर्यग्गत्योघाद्येकोनषष्टिमार्गणासु किमित्याह—“मोहगुरुठिइ” इत्यादि, सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणया मोहनीयस्य गुरुस्थित्या विभक्तो यः सप्तानामायुर्वर्जानां मूलप्रकृतीनाम् “ओघजेट्ठिइबंधो” ति त्रिंशत्सागरोपमकोटी-

कोट्यादिप्रमाण औधिको ज्येष्ठः—उत्कृष्टः स्थितिवन्धः, स च प्रागुक्तैकेन्द्रियाणामुत्कृष्टस्थितिवन्ध-
प्रमाणो भवति, स पुनः किंविशिष्ट इत्याह—“पलियासंखंसूणो सो” ति पल्योपमस्याऽसंख्येयभागेना-
ऽसंख्यातमेनैकभागेनोनः—न्यूनः सः “सत्तण्हं लहू णेयो” ति यथासंख्यं ज्ञानावरणादीनामायुर्वर्जानां
सप्तानां लघुः—जघन्यो ज्ञेयः, स्थितिवन्ध इति गम्यते । इदमुक्तं भवति—मोहनीयोत्कृष्टस्थित्या
विभक्तो ज्ञानावरणस्यौधिकोत्कृष्टस्थितिवन्धः पल्योपमासंख्येयभागेन न्यूनः सन् ज्ञानावरणस्य
जघन्यस्थितिवन्धतया ज्ञेयः, एवं दर्शनावरणादीनामपि ज्ञातव्यः । तद्यथा—ज्ञानावरण—दर्शनावरण-
वेदनीया-ऽन्तरायाणां प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धः सागरोपमस्य त्रयः सप्तभागाः पल्योपमस्या-ऽसंख्येय-
भागेन न्यूनाः । मोहनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धः पल्योपमाऽसंख्येयभागेन न्यून एकः सागरोपमः ।
नाम-गोत्रयोस्तु प्रत्येकं सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ पल्योपमाऽसंख्येयभागेन न्यूनौ जघन्यस्थितिवन्धो
भवतीति । सुगमं चैतत्, यतः प्रकृततिर्यग्गत्यादिमार्गणासु प्रत्येकं विद्यते एकेन्द्रियजीवानां प्रवेशः,
न पुनः श्रेणिगतानाम्, एकेन्द्रियास्तु जघन्यतोऽपि निरुक्तस्थितिवन्धाद्धीनं स्थितिवन्धं न कुर्वन्ति,
तदन्ये श्रेणिमनारूढा जीवास्त्वधिकमेव स्थितिवन्धं कुर्वन्ति; इत्थं द्वेकेन्द्रियाणां यो जघन्यस्थितिवन्धः
स एव प्रकृतसर्वमार्गणासु जघन्यस्थितिवन्धतया प्राप्यते । इदन्त्ववधेयम्—यदत्र प्रत्येकं मार्गणासु
ज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिवन्धः पल्योपमाऽसंख्येयभागेन न्यूनाः सागरोपमस्य द्वयादिसप्तभागा
इत्युक्तः, स तद्वाचकशब्दसाम्यादेव, न पुनस्तिर्यग्गतयोधादिप्रकृतसर्वमार्गणास्त्रसौ तुल्य एव भवति,
किं तर्हि ? स्वामिभेदेन हीनाधिको भवति । इदमुक्तं भवति—यथा प्राग् जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धात्प-
बहुत्वे पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियजघन्यस्थितिवन्धापेक्षयाऽपर्याप्तवादरैकेन्द्रियाणां जघन्यस्थितिवन्धो विशेषा-
धिकः, ततोऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाणां जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिक इत्येवं तारतम्येन दर्शितस्तथा
प्रकृतेऽप्येकेन्द्रियाणामौघमार्गणा-सूक्ष्मैकेन्द्रियाणामौघमार्गणा-तदपर्याप्तमार्गणादिभेदेषु स्वामिभेदेन मिश्रो मिश्रो
बोद्धव्यः । अत्र प्रस्तुतसर्वमार्गणासु युगपदभिधानं तु बन्धस्य हीनाधिक्येऽपि पल्योपमासंख्येयभागेन
न्यूनाः सागरोपमस्य द्वयादिसप्तभागा इत्येवंरूपेण समानाभिलापेनाभिधेयत्वात् । इत्थमेवान्यत्राऽपि
यथासम्भवं विज्ञेयमिति ॥५६॥६०॥६१॥ अथ विकलेन्द्रियभेदेऽप्यपर्याप्तसकायमार्गणायां चाह—

सर्वविगलेषु सगगुरुठिडबंधो पलियसंखभागूणो ।

सत्तरह लहू णेयो विंदियभंगो अपज्जतसे ॥६२॥

(प्रे०) “सर्वविगलेषु” इत्यादि, औघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-
लक्षणेषु ‘सर्वविकलेषु’, विकलेन्द्रियसत्केषु सर्वमार्गणामेदेष्वित्यर्थः । एतेषु किमित्याह—‘सगगुरुठिड-
बंधो’ इत्यादि, स्वकः—स्वकीयः, द्वीन्द्रियाणामौघ-पर्याप्तद्वीन्द्रियादितत्तन्मार्गणासम्बन्धीत्यर्थः, एवम्भूतो
यः प्रागभिहितः प्रस्तुतानां ज्ञानावरणादीनां गुरुः—उत्कृष्टः स्थितिवन्धः सः स्वकगुरुस्थितिवन्धः, किं
विशिष्टः ? “पलियसंखभागूणो” ति पल्योपमस्य संख्येयभागेन न्यूनो ज्ञानावरणादीनां सप्तानां

‘लघुः’-जघन्यो ज्ञातव्यः, स्थितिवन्ध इति गम्यते । तद्यथा-द्वीन्द्रियभेदत्रये ज्ञानावरणादिचतुर्णां पल्योपमसंख्येयभागेन हीनाः सागरोपमस्य पञ्चसप्ततिः सप्तभागाः । मोहनीयस्य तु पल्योपमसंख्येयभागेन हीनानि पञ्चविंशतिः सागरोपमाणि । नाम-गोत्रयोः पुनः पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनाः पञ्चाशत् सागरोपमसप्तभागाः । त्रीन्द्रियमार्गणाभेदत्रये प्रत्येकं ज्ञानावरणादिचतुर्णां पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनाः पञ्चाशदभ्यधिकशतं सागरोपमसप्तभागाः । वेदनीयस्य पुनः पञ्चाशत् सागरोपमाणि पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनानि । नामगोत्रयोस्तु पल्योपमसंख्येयभागेन हीनाः शतं सागरोपमसप्तभागाः । चतुरिन्द्रियमार्गणाभेदत्रये प्रत्येकं ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां पल्योपमसंख्येयभागेन हीनानि शतं सागरोपमाणि । नामगोत्रयोस्तु प्रत्येकं पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूना द्विशतसागरोपमसप्तभागा इति । “बिदियभंगो अपञ्जतसे”ति अपर्याप्तत्रसकायमार्गणायां ‘द्वीन्द्रियभङ्गः’-अपर्याप्तद्वीन्द्रियभङ्गः, अपर्याप्तद्वीन्द्रियमार्गणावज्ज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिवन्धः पल्योपमसंख्येयभागेन न्यूनाः पञ्चसप्तत्यादिसागरोपमसप्तभागा इत्यर्थः ॥६२॥ साम्प्रतं यासु मार्गणासु श्रेणिगतजीवापेक्षया सप्तानां जघन्यस्थितिवन्धः प्राप्यते, तासु मार्गणासु क्रमशो जघन्यस्थितिवन्धं प्रकटयन्नाह—

धी-णपुमेसु संखियसहस्रवरिसाणि संखसयवासा ।

पलियाऽसंखियभागो तिघाइ-मोह-इयराण कमा ॥६३॥

(प्रे०) “धीणपुमेसु”इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायां नपुंसकवेदमार्गणायां च प्रत्येकमित्यर्थः । किमित्याह—“संखियसहस्ते”त्यादि, संख्येयसहस्रवर्षाणि, ‘संखसयवासा’ति पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् तत्रः संख्येयशतवर्षाणि, “पलियासंखियभागो”ति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् पल्यः-पल्योपमस्तस्याऽसंख्येयभागः-असंख्येयतमैकभागः, जघन्यस्थितिवन्धो भवतीति प्रकमाद्गम्यते । केषां कर्मणामित्याह—“तिघाइ” इत्यादि, त्रयाणां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां घातिनां “मोह” ति मोहनीयस्य “इयराण” ति आयुर्वर्जसप्तानां जघन्यस्थितिवन्धस्य वक्तुं प्रक्रान्तत्वादनन्तरमेव घातिकर्मणां गृहीतत्वाच्च घातिभ्य इतराणि यानि आयुर्वर्जानि वेदनीय-नाम-गोत्रलक्षणानि त्रीणि कर्माणि तेषां “कमा”ति क्रमाद्-यथासंख्यम् । अयम्भावः—उपशमकानामिव क्षपकश्रेणिमारोहतामवेद्यवस्थायाः प्राग् यावान् जघन्यस्थितिवन्धः पुरुषवेदिनां जायते, तदपेक्षया स्त्री-वेदिनां नपुंसकवेदिनां चाधिकतरोऽमो भवति । कस्माद् ? उच्यते—यत्र स्थाने पुंवेदिनां पुंवेदोदयस्य विच्छेदो जायते, ततः स्थानात् संख्येयस्थितिवन्धेष्वकृतेषु प्रागेव स्त्री-नपुंसकवेदिनां स्वस्ववेदोदयो विच्छिद्यते, किञ्चोत्तरोत्तरस्थितिवन्धाः श्रेणिमारोहतां हीनहीनतराः प्रवर्तन्ते, तेषु ये स्तोकरतोक्तर-स्थितीनां वन्धाः पुंवेदिनां सवेद्यवस्थायां प्राप्यन्ते, न ते सर्वे तदन्यवेदिनामपि सवेद्यवस्थायां प्राप्यन्ते, किन्त्वधिकस्थितिवन्धा एव जघन्यतोऽपि प्राप्यन्ते, ते च तेषां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायाणां प्रत्येकं संख्येयानि वर्षसहस्राणि, मोहनीयस्य संख्येयानि वर्षशतानि, वेदनीय-नाम-गोत्राणां त्रयाणामघातिकर्मणां तु पल्योपमस्यासंख्येयतमैकभाग इति ॥६३॥

अथ पुरुषवेदमार्गणायां जघन्यस्थितिवन्धमानमाह—

पुरिसम्मि तिघाईणं संखसयसमा हवेज्ज मोहस्स ।

सोलस वासा संखियसहस्सवासा अघाईणं ॥६४॥

(प्रे०) “पुरिसम्मि तिघाईणं” इत्यादि, पुरुषवेदमार्गणायां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-
ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां घातिकर्मणाम् “संखसयसमा हवेज्ज” ति जघन्यस्थितिवन्धः संख्येय-
शतसमाः-संख्येयशतवर्षाणि भवेदित्यर्थः । “मोहस्स” ति मोहनीयकर्मणः “सोलसवासा” ति पुंस्त्वं
प्राकृतत्वात्ततः प्रकृतो जघन्यस्थितिवन्धः षोडश वर्षाणि भवेदित्यर्थः । “संखियसहस्सवासा
अघाईणं” ति प्राग्वत् संख्येयसहस्रवर्षाणि त्रयाणामायुर्वर्जानामघातिकर्मणां जघन्यस्थितिवन्धो
भवेदित्यर्थः । इति ॥६४॥ अथ क्रोधमार्गणायामाह—

कोहम्मि तिघाईणं संखसयसमा हवेज्ज मोहस्स ।

दो मासा संखेज्जा सहस्सवासा अघाईणं ॥६५॥

(प्रे०) “कोहम्मि तिघाईणं” मित्यादि, क्रोधकषायमार्गणाभेदे त्रयाणां ज्ञानावरण-
दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां घातिकर्मणां प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयाः शतसमाः-शतवर्षाणि
भवेत् । मोहनीयस्य त्वसौ “दो मासा” ति द्वौ मासौ भवेत् । वेदनीय-नाम-गोत्रलक्षणानां त्रयाणाम-
घातिकर्मणां प्रत्येकम् “सहस्सवासा” ति सहस्रवर्षाणि जघन्यः स्थितिवन्धो भवेदित्यर्थः । इति ॥६५॥
अथ मानकषायमार्गणायामाह—

माणे वासपुहुत्तं तिण्हं घाईण एगमासोऽत्थि ।

मोहस्स होइ संखियवासा तिण्हं अघाईणं ॥६६॥

(प्रे०) “माणे वासपुहुत्तं” मित्यादि, मानकषायमार्गणायां जघन्यस्थितिवन्धो वर्षपृथक्त्व-
मस्तीति परेणान्वयः । केषामित्याह—“तिण्हं घाईणं” ति ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां
त्रयाणां घातिकर्मणाम् । “एगमासो” ति एकमासः-त्रिंशद्द्वयोरात्रप्रमाणो जघन्यस्थितिवन्धः
“मोहस्स” ति मोहनीयलक्षणचतुर्थघातिकर्मणो भवति । तथा संख्येयानि वर्षाणि जघन्यस्थितिवन्धो
वेदनीय-नाम-गोत्रलक्षणानां त्रयाणामघातिकर्मणां भवतीत्यर्थः ॥६६॥ अथ मायायां प्रकृतजघन्य-
स्थितिवन्धं दर्शयन् पुंवेदादिचतुर्मागणासु मतान्तरेणाऽन्यथाऽपि जघन्यस्थितिवन्धं प्रतिपादयंश्चाह—

मायाए णायव्वो मासपुहुत्तं उ तिण्ह घाईणं ।

णयो परणरस अहोरत्ताहं मोहणीयस्स ॥ ६७ ॥

हस्सो वासपुहुत्तं तिण्ह अघाईणं अहव णायव्वो ।

पुरिसाईसुं चउसुं अण्ह य संखियसहस्ससमा ॥ ६८ ॥

(प्रे०) “मायाए णायब्बो” इत्यादि, मायाकपायमार्गणायां श्रयाणां घातिनां जघन्यस्थिति-
बन्धो मासपृथक्त्वं ज्ञातव्य इत्यर्थः । तुकारस्तु पादपूर्त्यै । अथ चतुर्थस्य घातिन आह—“जेयो
पण्णरस” इत्यादि, मोहनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धः पञ्चदशाहोरात्राणि ज्ञेयः । “हस्सो” ति
प्रस्तुतो हस्त्रः स्थितिवन्धस्त्रयाणामायुर्वर्जानामघातिनां वर्षपृथक्त्वं ज्ञेय इत्यर्थः । अनन्तरोक्तपुरुष-
वेदादिचतसृषु मार्गणासु प्रकृतजघन्यस्थितिवन्धोऽन्यथाऽपि दृश्यते, इति तमपि संग्रहीतुमाह—
“अहवे” त्यादि, अथवाऽनन्तराभिहितेषु “पुरिसाईसु” ति पुरुषादिषु चतुर्षु मार्गणाभेदेषु प्रत्येकम्
“छण्ह य” ति सूचनात् सूत्रामितिकृत्वाऽऽयुर्मोहनीयवर्जानां पराणां मूलप्रकृतिनाम् “संखिय-
सहस्ससमा” ति संख्येयसहस्रसमाः, जघन्यस्थितिवन्ध इति गम्यते । इति ॥६७॥६८॥

अथ सामायिकसंयमादिशेषमार्गणासु प्रस्तुतसप्तप्रकृतिसत्कजघन्यस्थितिवन्धमाह—

समइअच्छेएसु लहू मुहुत्तगाण व दिणाण व पुहुत्तं ।

तिण्हं घाईण भवे मोहस्स भवे मुहुत्ततो ॥६६॥

मासपुहुत्तं णेयो तिण्ह अघाईण उवसमे दुगुणो ।

सत्तण्हं ओघत्तो णेयो ओघव्व सेसासुं ॥७०॥

(प्रे०) “समइअच्छेएसु लहू” इत्यादि, सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयममार्गणयोर्लघुः—
जघन्यः स्थितिवन्धः “मुहुत्तगाण व दिणाण व पुहुत्तं” ति मुहूर्ता एव मुहूर्तकास्तेषां वा दिनानाम्-
दिवसानां वा पृथक्त्वम्, मुहूर्तपृथक्त्वं दिनपृथक्त्वं वेत्यर्थः । केषामिन्याह—“तिण्हं घाईण भवे” ति
मोहनीयवर्जानां त्रयाणां घातिनां प्रत्येकं भवेत् । मोहनीयस्य तर्हि कियान् भवेदित्याह—“मोहस्स भवे
मुहुत्ततो” ति मोहनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धो मुहूर्तान्तः—अन्तर्मुहूर्तं भवेत् । “मास पुहुत्तं णेयो
तिण्ह अघाईण” ति आयुर्वर्जानां त्रयाणामघातिकर्मणां प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धो मासपृथक्त्वं ज्ञातव्य
इति । अथौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामाह—“उवसमे दुगुणो” इत्यादि, औपशमिकसम्यक्त्व-
मार्गणायां प्रकृतो जघन्यस्थितिवन्धः “ओघत्तो” ति ओघतः,—ओघापेक्षयेत्यर्थः । यावत् स्थितिवन्ध-
प्रमाणमोघप्ररूपणायां जघन्यतोऽभिहितं तत्प्रमाणापेक्षयेति यावत् । ओघापेक्षया किमित्याह—
“दुगुणो” ति द्विगुणो ज्ञातव्य इति परेणान्वयः । केषां कर्मणामित्याह—“सत्तण्हं” ति प्रस्तुताना-
मायुर्वर्जानां सप्तकर्मणाम् । अयम्भावः—ओघे ज्ञानावरणादीनां सप्तानां यो जघन्यस्थितिवन्ध उक्तः
स क्षपकश्रेणिमारूढानां सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिवन्धमपेक्ष्य, उपशमश्रेणिमारूढास्तु क्षपकाणामिव
न विशुद्धास्ततः सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिवन्धे वर्तमाना अपि क्षपकाणामिव जघन्यस्थितिवन्धं नैव
कुर्वन्ति, किन्तु ततो द्विगुणमेव कुर्वन्ति । यदुक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णो—“जमि समते खयगस्स दिट्ठतिबंधो
आदि मग्गे अवसाणे वा दिट्ठो तंमि चैव ठाणे उयसामगाणं दुगुणो दिट्ठतिबंधो धादि मग्गे अवसाणे
वा दिट्ठो” इति ।

इत्थं हि क्षपकापेक्षयोपशामकानां जघन्यस्थितिवन्धो द्विगुणः सन् ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽन्तरायकर्मणामन्तर्मुहूर्तम् ; यद्यपि क्षपकाणामप्यमीषां चतुर्णां जघन्यस्थितिवन्धोऽन्त-र्मुहूर्तमात्रो भवति, तथाऽपि तदपेक्षयाऽत्रोपशामकानां द्विगुणमन्तर्मुहूर्तं बोद्धव्यम् । वेदनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धस्तु चतुर्विंशतिर्मुहूर्ता भवति । नामगोत्रयोः प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धः पुनः षोडश मुहूर्ता जायते । यदुक्तं कषायप्राभृतचूर्णौ —

“चरिमसमयसुहुमसांपराहयस्स णाणावरण-बंसणावरण-अंतराइयाणमंतोसुहुत्तिओ टिट्ठिवंधो । णामागोदाणं टिट्ठिवंधो सोलस सुहुत्ता । वेदणीयस्स टिट्ठिवंधो चळयीस सुहुत्ता । से काले सव्वं मोहणीय-सुवसंतं ।” इति ।

अथ शेषमार्गणासु सप्तानां जघन्यस्थितिवन्धप्रमाणं दिदर्शयिषुरतिदेशद्वारेणाह—“ओघव्व सेसासुं” ति अनन्तरोक्ता निरयगत्योघाद्यौषशमिकसम्यक्त्वपर्यन्ताश्चतुस्त्रिंशदभ्यधिकशतमार्गणा विवर्ज्य शेषासु मनुष्यगत्यादिपट्त्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं सप्तकर्मसत्को जघन्यः स्थितिवन्ध ओघवज्ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीया-ऽन्तरायकर्मणामन्तर्मुहूर्तम्, वेदनीयस्य द्वादशमुहूर्ताः, नाम-गोत्रयो-स्तु प्रत्येकमष्टौ मुहूर्ताः, ज्ञेय इत्यत्रापि पुज्यत इति । अत्र शेषमार्गणास्तु नामत इमाः—अपर्याप्त-भेदवर्जास्त्रयो मनुष्यगतिमार्गणाभेदाः, तथैव द्वौ पञ्चेन्द्रियजातिमार्गणाभेदौ, द्वौ च त्रसकाय-मार्गणाभेदौ, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगभेदौ, अपगतवेद-लोभकपाय-मत्यादिचतुर्ज्ञान-संयमौघ-सूक्ष्मसम्परायसंयम-चक्षुरादित्रिदर्शन-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञया-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति । एतासु प्रत्येकमनिवृत्तिबादर-क्षपकाणां सूक्ष्मसम्परायक्षपकाणां च प्रवेशात् तेषामेवाधिकजघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वाच्चा-ऽऽयुर्वर्ज-वन्धप्रायोग्यज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिवन्धप्रमाणमोघवदतिदिष्टमिति ॥६६॥७०॥

तदेवमभिहितं सप्तानां जघन्यस्थितिवन्धप्रमाणमादेशतो मार्गणास्थानेष्वपि । साम्प्रतमुक्त-शेषस्याधुःकर्मणस्तदादेशतः प्रकटयन्नाह—

सव्वणिरयभेएसुं देवे वेउव्व-सासणेसुं य ।

आउस्स मुहुत्तं तो जहरणगो होइ टिह्वंधो ॥ ७१ ॥

(प्रे०) “सव्वणिरये”त्यादि, निरयौघ-प्रथमपृथिव्यादिभेदलक्षणेपु सर्वेषु निरयगतिमार्गणा-भेदेषु तथा ‘देवे’ति देवौघमार्गणायां तथा वैक्रियकाययोगमार्गणायां सासादनमार्गणायां च प्रत्येक-मायुषो जघन्यस्थितिवन्धो ‘मुहूर्तान्तः’—अन्तर्मुहूर्तप्रमाणो भवतीत्यर्थः । अत्र मुहूर्तान्त इत्यनेन क्षुल्लकभवप्रमाणो जघन्यस्थितिवन्धो नैव ग्राह्यः । कस्माद् ? उच्यते, क्षुल्लकभवप्रमाणजघन्य-स्थितिका ह्यपर्याप्तमनुष्यादय एव सन्ति, न पुनः पर्याप्तमनुष्यादयोऽपि; किञ्च प्रकृतमार्गणागतानां नारकादिजीवानामपर्याप्ततयोत्पादः प्रतिपिद्ध इत्येतेऽपर्याप्तप्रायोग्यमायुरपि न वध्नन्ति, इत्थं हि तेषां क्षुल्लकभवप्रमाणजघन्यस्थितिकायुर्वन्धस्यानवकाशादयं क्षुल्लकभवप्रमाणो न गृह्यते । यदुक्तं

विशेषावश्यकभाष्यसु—“यदाऽप्युत्कृष्टमंफ्लेशौ नारक-देवावुत्कृष्टस्थितिकं मोहनीयं बद्ध्वा तिर्य-
च्छस्यते, तदाप्यायुषो जघन्यस्थितिर्न सम्भवति, दुल्लकभवग्रहणलक्षणजघन्यस्थितिषु जीवेषु नारकदेवा-
नामनुत्पादात् ।” इति ॥७१॥

अथ मार्गेणान्तरेषु प्रकृतायुःसत्कजघन्यस्थितिवन्धमानमाह—

भवणसाइसुरेमुं जहारिहं आगमाणुसाराश्रं ।

भिन्नमुहुत्तपर्भाई जा ण्यो हायणपुहुत्तं ॥७२॥

(प्रे०) “भवणसाइसुरेसु”मित्यादि, भवनेशादयः-भवनपत्यादयो ये सुरास्तेषु, भवन-
पत्याद्यनुत्तरान्तदेवगतिमार्गणाभेदेध्वित्यर्थः । तेषु किमित्याह—“जहारिह”मित्यादि, यथार्हम्-
यथासम्भवमागमानुसारात्-व्याख्याप्रज्ञप्ति-पञ्चसंग्रहादिश्रुतानुसाराञ्छेय इत्युत्तरार्धेऽन्वयः । आयुषो
जघन्यस्थितिवन्ध इत्यनुवर्तते । कियान् ह्येयः ? इत्याह—“भिन्नमुहुत्त”त्यादि, अयम्भावः—
व्याख्याप्रज्ञप्त्यां चतुर्विंशतितमे शते संवेधं दर्शयता सुधर्मागणधरेण भगवताऽसुरकुमारादीनां सहस्रार-
कल्पपर्यन्तानां देवानां मनुष्यतया जघन्यतो मामपृथक्त्वायुष्युत्पादोऽभिहितः, तिर्यक्त्वेन त्वन्तमुहूर्ता-
युष्यसावभिहितः । उक्तं च तत्र—

“असुरकुमारे णं भंते । जे भविण पच्चिदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० ?,
गोयमा । जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीणसु ।” इति ।

शेषाणां तु सहस्रारकल्पपर्यन्तानां तथैवातिदिष्टः । यदुक्तम्—“एवं जाव ईसाणदेवस्स”
इति । तथा “एवं एएणं कमेणं अवसेसावि जाव सहस्सारदेवेसु उववाणयव्वा” इति ।

आनतप्रभृतयो देवास्तु मनुष्यतयैवोत्पद्यन्ते, अतस्ते जघन्यतोऽपि वर्षपृथक्त्वायुषि संजायन्ते,
उक्तं च—“आणयदेवे णं भंते ? जे भविण मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० ? गोयमा !
जहन्नेणं वासपुहुत्तट्ठितीणसु उववज्जित्तए” इति ।

शेषाणां त्वतिदेशादिनाऽभिहितः । यदुक्तम्—“एवं जाव अरुचुयदेवो” तथा “गेवेज्जदेवे
णं भंते ! जे भविण मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० ?, गोयमा ! जह० वासपुहुत्तट्ठितीणसु”
तथैव “विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवे णं भंते ! जे भविण मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते !
केवति० ?, एवं जहेव गेवेज्जदेवाण” इति । “सव्वहसिद्धगदेवे णं भंते । जे भविण मणुस्सेसु उववज्जित्तए
सा चेष विजयादिदेवणसव्वया भाणियव्वा ।” इति च ।

इत्थं च श्रीभगवत्प्रमिप्रायेण भवनपत्यादिसहस्रारपर्यन्तेषु देवगतिमार्गणाभेदेषु तिर्यगायुषो
जघन्यस्थितिवन्धोऽन्तमुहूर्तप्रमाणो जायते, तत उपरितनदेवभेदेषु बन्धप्रायोगस्य मनुष्यायुषो
जघन्योऽपि स्थितिवन्धो वर्षपृथक्त्वं भवति । स एव प्रकृते मूलप्रकृत्यपेक्षया प्राप्यत इति मूले
भिन्नमुहूर्तप्रभृत्या यावद् वर्षपृथक्त्वमभिहितः । यत् पुनर्यावत्पदग्रहणं तत्तु पञ्चसंग्रहादौ स्वदेवालय-
च्छ्रुत्वा पुनरपि तत्रैवोत्पद्यमानस्य देवस्य जघन्यान्तरस्य पृथक्पृथग्भिहितत्वात् ।

तथा चोक्तं पञ्चसंग्रहे—

“आइसाणं अमरस्स अंतरं हीणयं मुहुत्ततो ।

आसहसारे अञ्चुयरात्तरे दिणमास वास नय ॥” इति ।

जीवसमासेऽप्येवमेवोक्तम् । तथा च तद्ग्रन्थः—

“जाकीसाणं अंतोमुहुत्तमपरं सणंकुसहसारे ।

नत्र हीण मासा यासा अणुत्तरोकीम उयहिदुगं ॥२५॥” इति ।

अत्र भावना तु स्वयमेव कर्तव्येति । महाबन्धकारास्तु—भवनपत्यादीशानकल्पान्तदेवमेदेषु प्रकृतमायुषो जघन्यस्थितिवन्धमानमन्तमुहूर्तम्, सनन्कुमार-माहेन्द्रयोस्तु तद् मुहूर्तपृथक्त्वम्, बह्म-लान्तकयोर्दिनपृथक्त्वम्, शुक्र-सहस्रारकल्पयोः पक्षपृथक्त्वम्, आनतकल्पादिचतुष्के मासपृथक्त्वम्, त्रैवेयका-ऽनुत्तरविमानमेदेषु तु वर्षपृथक्त्वमिति यदन्तीति ॥७२॥

अथाऽऽहारक-तन्मिश्रमार्गणयोः प्रकृतं दिदर्शयिपुराह—

आहारदुगे मरिउं जहरणगो लंतकम्मि उप्पाओ ।

संघयणीए उत्तो पल्लपुहुत्तं परे विति ॥७३॥

(टी०) “आहारदुगे” इत्यादि, आहारककाययोगमार्गणा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोर्वन्दिकं तदेवाहारकद्विकं तस्मिन्, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोः प्रत्येकमित्यर्थः । तयोः प्रत्येकं किमित्याह—“मरिउ”मित्यादि, प्रकृतमार्गणाद्वये जघन्यत उत्पादः—गत्यान्तरे उत्पत्तिरूपः “लंतकम्मि”ति लान्तकारूपे पष्टकल्पे उक्त इत्युत्तरार्धेऽन्वयः, कुत्रोक्त इत्याह—“संघयणीए”ति श्रीमज्जिमभद्रगणिकमाश्रमणपूज्यप्रणीते बृहत्संग्रहण्याख्ये ग्रन्थे इत्यर्थः । तथा चोक्तं तत्र—“लंतमि चउदपुन्विस्स” इति । चतुर्दशसंघराणामेवाहारकशरीरित्वेनाऽऽहारक-तन्मिश्रकाययोगिनां जघन्यतो लान्तककल्प उत्पादो बृहत्संग्रहणयामर्थादिभिहितो बोद्धव्य इति भावः । इवमुक्तं भवति—बृहत्संग्रहणयामाऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगिनां जघन्योत्पादस्यार्थतो लान्तककल्पेऽभिहितत्वात्, लान्तककल्पदेवानां जघन्यतो दशसागरोपमस्थितिकन्धश्च तत्रोन्पित्सून् प्रकृतमार्गणागतजीवान् प्रतीत्य दशसागरोपमेभ्यो हीनः स्थितिवन्धो न सम्भवति । ‘पल्लपुहुत्तं परे विति’ ति ‘परे’—महाबन्धकाराः प्रकृतमार्गणाद्वये फल्योपमपृथक्त्वं ब्रुवन्ति, आयुषो जघन्यस्थितिवन्धमिति प्रक्रमाद्गम्यत इति ॥७३॥ अथ मतिज्ञानादिमार्गणासु प्रकृतमायुषो जघन्यस्थितिवन्धप्रमाणमाह—

मइ-सुअ-ऽवहिणाणेषुं ओहिदरिसणम्मि सम्म-खइपसुं ।

वेअगसम्मत्तम्मि य विणणोयो हायणपुहुत्तं ॥७४॥

(प्रे०) “मइसुअ-ऽवहिणाणेषुं”मित्यादि, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानमार्गणासु तथाऽवधि-दर्शनमार्गणायां, सम्यक्त्वौघ-ज्ञायिकसम्यक्त्वमार्गणयोर्वेदकसम्यक्त्वमार्गणायां धेत्येतासु सप्त-

मार्गणासु प्रत्येकम् “बिण्णेयो हायणपुहुत्तं”ति प्रकृत आयुषो जघन्यस्थितिवन्धो ‘हायनपृथक्त्वम्’—
वर्षपृथक्त्वं विज्ञेय इत्यर्थः । सुगमम्, प्रत्येकं सम्यग्दृष्टिदेव-नारकजीवानां प्रवेशात्, तेषां जघन्यतो
यथोक्तस्थितिकमनुष्यायुष एव बन्धभावाच्च ॥७४॥ अथ यासु केवलानां सर्वसंयतानां देशसंयतानां
वैव प्रवेशस्तासु मार्गणासु युगपत्प्रकृतमायुषो जघन्यस्थितिवन्धमानमेकयाऽऽर्ययाऽऽह—

मणपज्जवणाणे तह संयम-सामइअ-छेअ-देसेसुं ।

परिहारविसुद्धीए णेयो पलिओवमपुहुत्तं ॥७५॥

(प्रे०) “मणपज्जवणाणे” इत्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयम-छेदोपस्थापन-
संयम-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयममार्गणास्त्विन्वेतासु परमार्गणासु प्रत्येकम् “पलिओवम-
पुहुत्तं”ति पल्योपमानां पृथक्त्वं-पल्योपमपृथक्त्वं ज्ञेयः, आयुषो जघन्यः स्थितिवन्ध इति गम्यते ।
कुतः ? सामायिकादिसंयमोपेतानां जघन्यतोऽपि सौधर्मकल्पे उत्पादस्योक्तत्वात् । उक्तं च पञ्च-
संयतप्रकरणे—“पंचएहं वि देवगई तिण्ह पढमयाण थोव सोहम्मै” इति । अत्राक्षरगमनिका—
“पंचएहं”ति सामायिक-छेदोपस्थान-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्पराय-यथाख्यातसंयमोपेतानां पञ्च-
विधानामपि संयतानां “देवगई” ति गमनम्-गतिः एकभवाच्छ्युत्वाऽन्यत्र भवे उत्पत्तिलक्षणा, सा
देवेष्वेव भवतीत्यर्थः । तत्रापि “तिण्ह पढमयाण”ति सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकाख्य-
संयमोपेतानां प्रथमत्रयाणां संयतानां “थोव”ति जघन्या, गतिरिति गम्यते, कुत्र ? इत्याह—“सोहम्मै”
ति सौधर्मकल्प्याख्ये प्रथमे कल्प इत्यर्थः । सौधर्मे कल्पे उत्पद्यमाना अर्प्येते जघन्यायुष्कदेवतया
नोत्पद्यन्ते किन्तु जघन्यतोऽपि पल्योपमद्वयाऽऽयुष्कदेवतयोत्पद्यन्ते । उक्तं च पञ्चसंयतप्रकरणे
तदपि—“पलिया दुणिए जहरणा देवठिई तिण्ह पढमयाणं तु” । “पल्ये हे जघन्या देवस्थिति-
स्त्रयाणां प्रथमकानां तु” इति । इत्थं हि प्रकृतमार्गणागतजीवानामायुषो जघन्यस्थितिवन्धः पल्योपम-
पथक्त्वमभिहित इति ॥७५॥ अथैकयाऽऽर्यया शेषमार्गणासु प्रकृतायुर्जघन्यस्थितिवन्धमानमाह—

सुहलेसासुं णेयो सुराणुसारेण जं हवेज्ज सुरो ।

से लहुठिईअ सामी सेसासुं होइ खुहुभवो ॥७६॥

(प्रे०) “सुहलेसासु”मित्यादि, ‘शुभलेश्यासु’ तेजःपद्म-शुक्लारूपासु तिसृषु प्रशस्त-
लेश्यामार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । तासु किमित्याह—“णेयो”इत्यादि, आयुषो जघन्यस्थितिवन्धः
“सुराणुसारेण”ति सुरगतिमार्गणानुसारेण ज्ञेयः । कस्मान्सुरानुसारेण ज्ञातव्य इत्यत्राह—“जं हवेज्ज”
इत्यादि, ‘यद्’—यस्मात् प्रकृततिसृषु मार्गणासु ‘सुरः’—देवः “से”ति तस्याऽऽयुषो जघन्यस्थिति-
बन्धस्य स्वामी भवति । इदमुक्तं भवति—शुभलेश्यापरिणता मनुष्यास्तिर्यञ्चो वा, देवायुरेव बध्नन्ति,
देवायुर्बध्नतां तेषामायुषो मार्गणाप्रायोग्यजघन्यस्थितिवन्धो न प्राप्यते, अतोऽन्तर्मुहूर्तादिस्थितिकं
तिर्यगाद्यायुर्बध्नन्तो देवाः शुभलेश्याप्रये आयुषो मार्गणाप्रायोग्यजघन्यस्थितिवन्धस्वामिनो भवन्ति;

अत्र ब्रह्मेऽधिकृतमार्गस्थानयन्त्रम्

^१गङ् ^२इन्दिये य ^३काये ^४जोए ^५वेए ^६कसाय ^७नाणे य ।

^८संजम ^९दंसण ^{१०}लेसा ^{११}भव ^{१२}सम्मे ^{१३}संघि ^{१४}घ्राहारे ॥१॥

संख्यया मार्गस्थास्थानानि	संख्यया मार्गस्थास्थानानि	संख्यया मार्गस्थास्थानानि	संख्यया मार्गस्थास्थानानि
↓ गतिः (४७)	↓ कायः (४२)	↓ कषायः (४)	↓ भ्रज्यः (२)
१ नरकगत्योघः, ७ रत्नप्र-विपृथिवीभेदान्, १ तिर्यग्भ्रज्योघः, १ पञ्चेन्द्रियनिर्वगोघः, १ पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्, १ अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्, १ तिरश्ची,	१७७ पृथिवीकाये, १७७ अकाये, १७७ तेजस्काये, १७७ वायुकाये, १ ब्रह्मस्पर्शिकायोघः, + ३ प्रत्येकवनस्पतिकाये, १७७ साधारणब्रह्मस्पर्शिकाये, + ३ ब्रह्मकाये,	५ क्रोध-मान-माया-लोभाः, • प्रकषायः, ज्ञानम् (७) ५ मति-श्रुता-अधि- मनः पर्यवामि, ३ मत्यज्ञानं, श्रुताज्ञानं, १ विभङ्गज्ञानम्, • केवलज्ञानम्,	२ भ्रज्यः, भ्रमज्यः, सम्यक्त्वम् (७) १ सम्यक्त्वोघः, १ क्षायिकम्, १ क्षायोपसर्गिकं, ×१ शोषवामिकं, १ सासादनम्, ×१ विभ्रम्, १ विध्वान्त्वम्,
१ मनुष्यगत्योघः, १ पर्याप्तमनुष्यः, १ अपर्याप्तमनुष्यः, १ मामुषी, १ देवगत्योघः, ३ भ्रमन-अपन्तर-ज्योतिष्काः, १२ सोधर्मादिकलसोपसर्गभेदान्, ६ नवधैर्ष्यकभेदान्, ५ पञ्चानुत्तरभेदान्,	योगः (१२) + ५ मनोयोगे, + ५ धर्मयोगे, १ काययोगोघः, १ श्रोत्रारिकः, १ श्रोत्रारिकमिश्रः, १ वैक्रियः, ×१ वैक्रियमिश्रः, १ ग्राहारकः, १ पाहारकमिश्रः, ×१ कार्मणः,	संयमः (७) १ संयमोघः, १ सामायिकः, १ श्लेषोपस्थापनः, १ परिहारविद्युद्धिकः, ×१ सूक्ष्मसम्परायः, • यथास्थातः, २ देहसंयमः, असंयमः, दर्शनम् (३) ३ चक्षुः, श्रवणः, प्रवधिः, • केवलदर्शनम्,	संज्ञी (२) २ संज्ञी, असंज्ञी, आहारी (२) १ ग्राहारकः, ×१ अनाहारकः,
इन्द्रियम् (१६)	वेदः (४)	लेश्या (६)	
१७७ एकेन्द्रिये, + ३ द्वीन्द्रिये, + ३ त्रीन्द्रिये, + ३ चतुरिन्द्रिये, + ३ पञ्चेन्द्रिये,	३ स्त्री, पुं, नपुंसकाः, ×१ अणुवेदः,	३ कृष्ण-नील-कापोतः ३ तेजः-पद्म-शुक्लः	

१७७ १भ्रज्य-२सूक्ष्मोघ-३सूक्ष्मपर्याप्त-४सूक्ष्मपर्याप्त-५बादरीव-६बादरपर्याप्त-७बादरापर्याप्तभेदान् सप्त ।

+ १भ्रज्य-२पर्याप्ता-३अपर्याप्तभेदान् त्रिणि ।

• १भ्रज्य-२सत्या-३सत्य-४मिश्र-५व्यवहारभेदान् पञ्च ।

• एतेषु चतुर्षु मार्गस्थास्थानेषु कस्याऽपि कर्मणः स्थितिवन्धो न भवत्यतस्तानि मूलत एवात्र स्थितिवन्धवन्धे न गण्यन्ते, ततश्च (१७०) सप्तत्युत्तरगतमार्गस्थास्थानानि ।

× एतेषु सप्तमार्गस्थास्थानेष्वामुर्ध्वो न भवत्यतस्तानि सप्ताऽऽसृषः स्थितिवन्धे वर्ज्यन्ते, तत्र अत्युच्चः स्थितिवन्धे (१६३) विवक्ष्य नरगतमार्गस्थास्थानान्येवाऽधिक्रियन्ते ।

सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धमानम्	गतिः	इन्द्रियम्	कायः
<p>ओघवत्</p> <p>ज्ञाना० दर्शना० } ३० कोटीकोटीसागरो- वेदनी० अन्तरा० } पमाणि, मोहनीयस्य— ७० कोटीकोटिसागरो० नामगोत्रयोः— २० " "</p>	<p>८ सर्वे, नरकभेदाः १२ सहस्रान्तदेवभेदाः अपर्याप्तयर्जाः ४ तिर्यग्भेदाः ३ मनुष्यभेदाः २७</p>	<p>पञ्चेन्द्रियौघ- पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय- भेदौ, २</p>	<p>असकायौघ-तत्पर्याप्तभेदौ, २</p>
<p>आयुर्वर्जानां सप्तानामपि प्रत्येकम् अन्तःकोटिकोटिसागरोपमम्</p>	<p>अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय- तिर्यग्मनुष्या, मान- सादि १८ देवभेदाश्च २०</p>	<p>अपर्याप्त- पञ्चेन्द्रियभेदः १</p>	<p>अपर्याप्तसप्त० १</p>
<p>ज्ञानावरण-दर्शनाद० } ३ सागरोपमम् वेदनी० अन्तराय० } मोहनीयस्य— १ सागरोपमम् नाम-गोत्रयोः— ३ सागरोपमम्</p>		<p>एकेन्द्रियौघ- बादरीघ० बादरपर्याप्त० ३</p>	<p>सोम-जाद-तत्पर्याप्तभेद- भिन्नाः पृथ्वी-जला-ज्वा- वायु-साधारणवनसरकाः १५। वनौघ० ओघ-पर्याप्त- प्रत्येकवनस्पतिभेदौ च, १८</p>
<p>ज्ञाना० दर्शना० } पत्योपमाऽसंख्यभागोन् वेदनी० अन्तरा० } ३ सागरोपम० मोहनीयस्य— १ " " नामगोत्रयोः ३ " "</p>		<p>बादरापर्याप्त-सर्व- सूक्ष्मे केन्द्रियभेदाः ४</p>	<p>सर्वसूक्ष्म-बादराऽपर्याप्त- भेदभिन्नाः पृथ्वी-जला- ज्वा-वायु-साधारणवन- सत्काः २०। अपर्याप्त- प्रत्येकवनस्पतिभेदश्च, २१ →</p>
<p>ज्ञाना० दर्शना० } ७५ सागरोपमम् वेदनी० अन्तरा० } मोहनीयस्य— २५ " " नाम-गोत्रयोः— ५० " "</p>		<p>द्वीन्द्रियसत्कौ ओघ-पर्याप्तौ, तदपर्याप्तश्च* →</p>	
<p>ज्ञाना० दर्शना० } १५ वेदनी० अन्तरा० } मोहनीयस्य— ५० नामगोत्रयोः— १०</p>		<p>त्रीन्द्रियसत्कौ ओघ-पर्याप्तभेदौ, तदपर्याप्तश्च* ३</p>	
<p>ज्ञाना० दर्शना० } ३० वेदनी० अन्तरा० } मोहनीयस्य— १० नामगोत्रयोः— ३०</p>		<p>चतुरिन्द्रियसत्कौ ओघ-पर्याप्तभेदौ, तदपर्याप्तश्च* ३</p>	

ॐ एतेष्वपर्याप्तभेदेषु पत्योपमसंख्येयभागेन न्यून उत्कृष्टतोऽपि विज्ञेयः (गाथा—४५) ।

सप्तकर्मणां लघ्वन्यस्थितिवन्धमानम्	गतिः	इन्द्रियम्	कायः																					
<p>श्रोत्रवत्</p> <p>धातिचतुष्कस्य अन्तर्मुहूर्तम्, वेदनीयकर्मणः १२ मुहूर्ताः, नाम-गोत्रकर्मणोः ८ ..</p>	<p>मनुष्योपसत्स्वर्गाप्तभेदौ मानुषी च, ३</p>	<p>पञ्चेन्द्रियेषु- तत्स्वर्गाप्तभेदौ, ४</p>	<p>अतोवत्तत्पर्यसि- भेदौ, ९</p>																					
<table border="0"> <tr> <td>ज्ञाना० दर्शनाव०</td> <td rowspan="4">} सागरोपम०</td> <td rowspan="4">} पत्यसंख्येयभागेन न्यून०</td> </tr> <tr> <td>वेदनी० अन्तराय०</td> </tr> <tr> <td>मोहनीयस्य</td> </tr> <tr> <td>नाम-गोत्रयोः</td> </tr> </table>	ज्ञाना० दर्शनाव०	} सागरोपम०	} पत्यसंख्येयभागेन न्यून०	वेदनी० अन्तराय०	मोहनीयस्य	नाम-गोत्रयोः	<p>नरकोषः, प्रथमा च, देवीषः, भवन-व्यन्तरी, अपर्याप्तननुष्यः, सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाश्च. १०</p>	<p>अपर्याप्तपञ्चे- न्द्रियभेदः, १</p>	<p>अतोवत्तत्पर्यसि- भेदौ, ९</p>															
ज्ञाना० दर्शनाव०	} सागरोपम०			} पत्यसंख्येयभागेन न्यून०																				
वेदनी० अन्तराय०																								
मोहनीयस्य																								
नाम-गोत्रयोः																								
<table border="0"> <tr> <td>ज्ञाना० दर्शनाव०</td> <td rowspan="4">} सागरोपम०</td> <td rowspan="4">} पत्यसंख्येयभागेन न्यून०</td> </tr> <tr> <td>वेदनी० अन्तराय०</td> </tr> <tr> <td>मोहनीयस्य</td> </tr> <tr> <td>नाम-गोत्रयोः</td> </tr> </table>	ज्ञाना० दर्शनाव०	} सागरोपम०	} पत्यसंख्येयभागेन न्यून०	वेदनी० अन्तराय०	मोहनीयस्य	नाम-गोत्रयोः	<p>तिस्र्येगोत्रभेदः, १</p>	<p>सर्वे एकेन्द्रिय- भेदाः, ७</p>	<p>पृथिव्याद्विपञ्च- कायसंज्ञाः सर्वे भेदाः, ३६</p>															
ज्ञाना० दर्शनाव०	} सागरोपम०			} पत्यसंख्येयभागेन न्यून०																				
वेदनी० अन्तराय०																								
मोहनीयस्य																								
नाम-गोत्रयोः																								
<p>सप्तानां प्रत्येकम् अन्तःकोटीकोटीसागरोपसासि,</p>	<p>शेषनिरयदेवभेद० ३३</p>																							
<p>सप्तानां प्रत्येकं पत्यसंख्यांशेन न्यूनः स्वस्वोत्कृष्टः—</p>																								
<table border="0"> <tr> <td>ज्ञाना० दर्शनाव०</td> <td rowspan="4">} सागरोपम०</td> <td rowspan="4">} पत्यसंख्येयभागेन न्यून०</td> </tr> <tr> <td>वेदनी० अन्तराय०</td> </tr> <tr> <td>मोहनीयस्य</td> </tr> <tr> <td>नाम-गोत्रयोः</td> </tr> </table>	ज्ञाना० दर्शनाव०	} सागरोपम०	} पत्यसंख्येयभागेन न्यून०	वेदनी० अन्तराय०	मोहनीयस्य	नाम-गोत्रयोः																		
ज्ञाना० दर्शनाव०	} सागरोपम०			} पत्यसंख्येयभागेन न्यून०																				
वेदनी० अन्तराय०																								
मोहनीयस्य																								
नाम-गोत्रयोः																								
<table border="0"> <tr> <td>धातित्रयस्य</td> <td>मोहनीयस्य</td> <td>अधातित्रयस्य</td> </tr> <tr> <td>* संख्येयवर्षसहस्र०</td> <td>संख्येयवर्षशत०</td> <td>पत्याऽसंख्यभाग०</td> </tr> <tr> <td>{ संख्येयवर्षशत०</td> <td>१६ वर्षाणि</td> <td>संख्येयवर्षसहस्र०</td> </tr> <tr> <td>{ " "</td> <td>द्वी मासौ</td> <td>" "</td> </tr> <tr> <td>{ वर्षपृषक्तवम्</td> <td>एको मासः</td> <td>संख्येयवर्षशत०</td> </tr> <tr> <td>{ मासानां पृषक्तवम्</td> <td>१५ दिनानि</td> <td>वर्षपृषक्तवम्</td> </tr> <tr> <td>दिनानां मुहूर्तानां वा ,,</td> <td>अन्तर्मुहूर्तम्</td> <td>मासपृषक्तवम्</td> </tr> </table>	धातित्रयस्य	मोहनीयस्य	अधातित्रयस्य	* संख्येयवर्षसहस्र०	संख्येयवर्षशत०	पत्याऽसंख्यभाग०	{ संख्येयवर्षशत०	१६ वर्षाणि	संख्येयवर्षसहस्र०	{ " "	द्वी मासौ	" "	{ वर्षपृषक्तवम्	एको मासः	संख्येयवर्षशत०	{ मासानां पृषक्तवम्	१५ दिनानि	वर्षपृषक्तवम्	दिनानां मुहूर्तानां वा ,,	अन्तर्मुहूर्तम्	मासपृषक्तवम्			
धातित्रयस्य	मोहनीयस्य	अधातित्रयस्य																						
* संख्येयवर्षसहस्र०	संख्येयवर्षशत०	पत्याऽसंख्यभाग०																						
{ संख्येयवर्षशत०	१६ वर्षाणि	संख्येयवर्षसहस्र०																						
{ " "	द्वी मासौ	" "																						
{ वर्षपृषक्तवम्	एको मासः	संख्येयवर्षशत०																						
{ मासानां पृषक्तवम्	१५ दिनानि	वर्षपृषक्तवम्																						
दिनानां मुहूर्तानां वा ,,	अन्तर्मुहूर्तम्	मासपृषक्तवम्																						
<p>सप्तानामपि श्लोकापेक्षया शिशुराणो बन्धः</p>																								
	४७	१६	४२																					

* मोहनीयवर्जानां वरुणां संख्येयवर्षसहस्राणि वा (गाथा — ६८) ।

योगः	वेदः	कपा०	ज्ञानं	संयमः	वर्षसं	लेख्याः	भव्यः	सम्यक्त्वम्	संज्ञी	विशुद्धिः	सर्वा- मार्गणा	गाथा- ज्ञाः
मनसः सर्वे, वचसः सर्वे, काययोग- सामान्यः, श्रौत्या० १२	सर्वे	लोमः	मत्या- दि (४) ज्ञानं ४	संयमीघ० सूक्ष्मसंय० २	सर्व० ३	शुक्ल० १	सव्यः १	सम्यक्स्वीघ०, क्षाधिकं च, २	संज्ञी १	१	३६	७०
प्रीदारिकमिश्रः, कार्मणमोगदव । २			मत्य० श्रुताः ज्ञाने, १	प्रसंयमः १		कृष्ण० नील० कपो० २	सुप्रसव्यः १	मिथ्यात्वम् १	प्रसंज्ञी १	१	५६	५६ ६१
वैदिक० तन्मिश्र० साहा० तन्मिश्र० ४			विमज्ज २	परिहार० दश० २		तेजः० पद्म० २		वेदक. मिथ्य. सासादन० २			४५	५०
											६	६२
	स्त्री० नपु०										१	६२
	पुरुष०										२	६३
.....	क्रोधः	१	६४
.....	मानः	१	६६
.....	माया	१	६७
				सामा० छेद०							२	६६
								प्रीयसमिकं			१	७०
१८	४	४	७	७	३	६	२	७	२	२	१००	

	स्थितिवन्धः	अवाधा	गतिः	इन्द्रिय०	कायः	योगः
उत्कृष्टपदे ↑	ओघवत्		३ तिर्यग्गतिभेद० ३ मनुष्यगतिभेद०	पञ्चेन्द्रियोघ० तत्पर्याप्तभेद०	त्रयीघ० तत्पर्याप्तश्च०	सर्वे मनोबन्धोयोगभेदाः कायोघ० शीशो० माहा० आहारकमिश्रयोगश्च । १४
	३३ सागरो- पमाणि	पूर्वकोटी- त्रिभाग०	६०	२	२	
	पूर्वकोटी०	६ मासा०	सर्वतिर्यग्भेदाः			वैक्रियकाययोग०
	"	अन्तमुहूर्तं,				श्रीदारिकमिश्र०
	"	स्वीयोत्कृष्ट- भवस्थिते- स्तृतीयमाग- माना,	पर्याप्तमनुष्य, " पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्, २	७ सर्वेन्द्रिय० ६ सर्वविकलेन्द्रि० १ अय-पञ्चेन्द्रि० १७	वनस्पत्यान्तानां सर्वे भेदाः, अय- शक्तिव्यवस्था० ४०	
	२२ सागरो०	पूर्वकोटीत्रिभागः	तिरश्ची
	१० " साधिक०	"
	३ " "	"
	२ " "	"
	१५ " "	"
३१ " "	"	
पल्मासंख्यभाग०	"	
सहस्रारसत्कः—	"	
अधोपदे ↓	स्थितिवन्धः अन्तमुहूर्तं,	सर्वे नरकभेदाः, देवीघः, ईशान्ता देवभेवाश्च, १४				वैक्रियकाययोगः १
	मुहूर्तपृथक्त्वं	सनत्कुमार-माहेन्द्रौ, ब्रह्म-वान्तकौ शुक्र-सहस्रारौ मानतादयश्चक्षुर्भेदाः ६ त्रिवेयकः; ५ अनुत्तरः;....
	शान्ति					
	वर्षपृथक्त्वं ।					
	शान्तकालसत्कः—					• आहारक-तन्मिश्री,
पत्यपृथक्त्वम्						
ओघवत्	सर्वे तिर्यग्भेदाः, ५	सर्वे भेदाः	सर्वे भेदाः	सर्वे भेदाः	५ मनसः, ५ वचसः, कायोघः, शीशो, तन्मिश्र;	
शुक्लकमव०	सर्वे मनुष्यभेदाः, ४	१६	४२			

* तिर्यग्गीघः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गीघः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्, तथा मनुष्योघः, तत्पर्याप्तः, मानुषी चेति षड्भेदाः । • सतान्तरे-पल्मोपमपृथक्त्वम् ।

—जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणप्रदर्शकं यन्त्रम्

[१०३]

वेदः	कषाय	ज्ञानम्	संयमः	दर्शनं	लेश्याः	भव्यः	सम्यक्त्वं	संज्ञी	आहा०	सायुष्याः	सर्वाः	सायुष्याः	
सर्वे	सर्वे	३ ज्ञान० ४ ज्ञान०	संयमौष० सामा० छेद० प्रसंयमश्च	बधु- राशि०	कृष्णा० शुक्ला०	मद्य. प्रमन्य.	सम्यक्त्वौष० क्षायि० वेदक० मिथ्यात्व०	संज्ञी	प्राहा- रक०				
३	४	७	४	३	२	२	४	१	१	५५		५४	
										३६		५५ ४६ ५०	
										१			
										५६			
			देशसंयमः							२			५३
					नीला+					१		५२	
					कापोलीः					१		५१	
					तेजसी					१		५३	
					पद्मा					१		५४	
							सासादनम्			१		५४	
								प्रसंज्ञी		१		५५	
			परिहारविशुद्धिकः X							१		५१	
					तेजसी,		सासादनम्,					७१	
					१		१			१७		७२	
										२२		७२	
					पद्मा					२२		७२	
					शुक्ला					५		७५	
			मति, श्रुत, अवधि,	अवधि			सम्यक्त्वौष, क्षायिक, वेदक. १			२१		७५	
										२		७३	
			मनःपर्यष. संयमौष; सामायिक; छेद; परिहार; देश;							६		७४	
वेद- त्रयी,	सर्वे ४	प्रज्ञान- त्रयं, ३	प्रसंयमः, १	बधुः प्रबधुः	सिन्धो- ऽशुभाः	सर्वे ०२	मिथ्यात्वम् १	सर्वे २	माहा० १	१०५		७६	

मतान्तरे— +सप्तदशसागरोप०, ऋसप्तसागरोप०, Xअथस्त्रिंशत्सागरोपमारि ।

अतस्तेजोलेश्यामार्गणाप्रविष्टेषु भवनपत्यादिदेवेषु यावानन्तमुहूर्तप्रमाण आयुषो जघन्यस्थितिवन्धो भवति, तावान् दशवर्षसहस्राणि तेजोलेश्यामार्गणायामायुषो जघन्यस्थितिवन्धो ज्ञातव्यः, इत्थमेव पञ्चलेश्याकादीनां सनत्कुमारादिवेवानामायुषो जघन्यस्थितिवन्धप्रमाणानुसारेण पञ्चलेश्यादिमार्गणाद्वये आयुषो जघन्यस्थितिवन्धो यथासम्भवं बोद्धव्य इति ।

अथोक्तशेषमार्गणास्वाह—“सेसासु खुडुभवो”ति अनन्तराभिहिता नरकगत्यादिस्तुभलेश्या-
त्रयान्ता अष्टपञ्चाशन्मार्गणा विहाय शेषासु तिर्यग्गत्यादिपञ्चोत्तरशतमार्गणामु प्रत्येकम् “खुडुभवो”
ति ओषवत्क्षुल्लकभवः—षट्पञ्चाशदभ्यधिकशतद्वयावलिका इत्यर्थः । आयुषो लघुः स्थितिवन्धो ज्ञेय
इत्यनुवर्तते । शेषमार्गणा नामत इमाः—पञ्च तिर्यग्गतिमार्गणामेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिमार्गणा-
मेदाः, एकाभविंशतिरेकेन्द्रियादिजातिमार्गणामेदाः, द्विचत्वारिंशत्पृथिव्यादिकायमार्गणामेदाः,
पञ्च मनोयोगमेदाः, पञ्च वचोयोगमेदाः, काययोगसामान्यौ-दारिकौ-दारिकमिश्रकाययोगमेदाः,
त्रयः स्त्र्यादिवेदमेदाः, चत्वारः क्रोधादिकायमेदाः, मत्स्यहानादिरूपास्त्रयोऽज्ञानमेदाः, असंयम-क्षु-
दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-भ्रम्या-ऽभ्रम्य-मिथ्यात्व-संशय-ऽसंज्ञया-ऽऽहारिमार्गणामेदा-
श्चेति । एतासु प्रत्येकं संख्येयवर्षायुषां मिथ्यादृष्टितिर्यग्मनुष्यान्यतराणां प्रवेशात् तैः क्षुल्लकभवप्रमाण-
जघन्यस्थितिकायुर्बन्धस्य निर्वर्तनाच्चायुषो जघन्यस्थितिवन्धप्रमाणं तथैव दर्शितमिति ॥७६॥

तदेवं प्रतिपादितं शेषस्यायुःकर्मणो जघन्यस्थितिवन्धमानमादेशतोऽपि, तस्मिन् प्रतिपादिते
गतं स्थितिवन्धप्रमाणाख्यं प्रथमं द्वारम् ॥

॥ इति बन्धविधाने मूलपञ्चमिष्टिबन्धे द्वितीयाधिकारे प्रथमं स्थितिवन्धप्रमाणद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

साम्प्रतं द्वितीयस्वामित्वद्वारस्यावसरः, तत्र सप्तानां मूलप्रकृतीनामनन्तरोक्तप्रमाणायाः कर्मरूपतावस्थानलक्षणायाः स्थितेर्वन्धस्वामिनः प्ररूपणीयाः, ते चोत्कृष्ट-जघन्यभेदभिन्नायाः स्थितेः स्वामिनः स्थितिवन्धप्रमाणवदोषत आदेशतश्च द्विधा प्ररूप्यन्ते, तत्रादायुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनः शोधतः प्ररूपयितुकाम आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीरधिकृत्याह—

सागारो जागारो सुश्रोवत्तो पण्डितो सखणी ।

पञ्जतो सव्वाहिं पञ्जतीहिं चउगइद्वो ॥७७॥

मिच्छादिद्वी उ परमसंकेसेणीसिमञ्जिभमेणं वा ।

परिणामेणं बंधइ मत्तइह ठिइ उ उक्कोसं ॥७८॥

(प्रे०) “सागारो” इत्यादि, “सागारो” इत्यादिनाऽभिहितविशेषणविशिष्टो जीवः परम-संक्लेशेनेपन्मध्यमेन वा परिणामेन, सप्तानामुत्कृष्टां स्थितिं वन्धातीति द्वितीयगाथायां सम्बन्धः । तत्र “सागार” इति विशेषावबोधलक्षणेन साकारेणोपयोगेनोपयुक्तः, न एव ज्ञानज्ञानिनोरभेदनयेन साकार इत्युक्तः । अत्र साकारोपयोगयुक्त इति विशेषणात् सामान्यावबोधलक्षणेन दर्शनोपयोगेनोपयुक्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वं प्रतिषिद्धमिति बोद्धव्यम् । पुनः किं विशिष्ट इत्याह—“जागारो” इति ‘जाग्रत्’-अनुदितनिद्रोदय इत्यर्थः, एतेन हि येषां साकारोपयोगमन्वेऽपि निद्रानुभवो विद्यते तेषामुत्कृष्टस्थितिवन्धो न भवतीति ज्ञापितम् । पुनः किं विशिष्ट इत्याह—“सुश्रोवत्तो” इति श्रुतोपयुक्तः, ननु साकारोपयुक्त इति ग्रहणादेव श्रुतोपयुक्तो गृहीतो भवति, सामान्ये तद्विशेषाणां समावेशाद् ? इति चेद्, न, साकारोपयुक्ता हि मत्याद्युपयुक्ता अपि भवन्ति, न च तेषामुत्कृष्टस्थितिवन्धः सम्भवति, अतस्तेषामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वप्रतिषेधार्थं श्रुतोपयुक्त इत्यस्य ग्रहणं कृतम् ।

नन्वेवमपि प्रकृतविशेषणम् “मिच्छादिद्वी” इत्यनेन वक्ष्यमाणविशेषणेन कथं न विरुध्येत, मिथ्यादृशामज्ञानस्यैशगमेऽङ्गीकारेणाऽऽवश्यक्याऽऽचाराङ्गादिलक्षणाश्रुतोपयोगस्यासम्भवात् । न चात्र वक्ष्यमाणस्य विकल्पार्थकस्य वाशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् साकारो वा जाग्रद्वा श्रुतोपयुक्तो वा पञ्चेन्द्रियो वा, एवं यावन्मिथ्यादृष्टिर्वेत्युत्कृष्टस्थितिवन्धकानां विकल्पाः प्रदर्श्यन्ते, ततश्च श्रुतोपयुक्त-मिथ्यादृष्ट्योर्विशेषणविशेष्यभावानङ्गीकारेण न स्यात्कश्चिद्विरोध इत्यपि वक्तुं युज्यते; तथा सति “चउगइद्वो” इत्येतावन्मात्रमपि पर्याप्तं स्यात्, तत्र एव निःशेषस्य प्राणिसमुदायस्य ग्रहणेन साकारोपयुक्तादीनामपि ग्रहणात् । न च तथैवास्त्वित्यपि वाच्यम् । एकैन्द्रियादिविपुलसत्त्वसमाजेषु-त्कृष्टतोऽपि सप्तमूलकर्मणामौघिकोत्कृष्टस्थितिवन्धस्य त्रिंशत्कोटीकोटीसागारोपमादिलक्षणस्यान-

भिधानादित्यसङ्गतमिव लक्ष्यत एतद् ? इति चेद्, न, वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । यतः “श्रुतोपयुक्त” इत्यस्य मिथ्यादृष्टिविशेषणतयाऽहोकारात् श्रुतपदेन श्रुताज्ञानं गृह्यते, न पुनः श्रुतज्ञानम्, येनोक्त-विरोधः स्यात् । इदमुक्तं भवति—अविशेषितं श्रुतं श्रुतज्ञानं श्रुताज्ञानं च भवति, विशेषितं पुनस्तत् सम्यग्दृष्टेः श्रुतज्ञानं भवति, मिथ्यादृष्टेस्तु श्रुताज्ञानं भवति, उक्तं च श्रोनन्द्यध्ययनागमे—“अवि-सेसियं सुयं सुयनाणं सुयश्चक्राणं य, विसेसियं सुयं सम्मदिद्विस्स सुयं सुयनाणं, मिच्छदिद्विस्स सुयं सुय-श्चक्राणं” इति । प्रकृते च “साकार” इत्यादिविशेषणानि मिथ्यादृष्टिजीवस्य विशेषणतयोपात्तानि, ततश्च श्रुतोपयुक्त इतिविशेषणमपि मिथ्यादृष्टिजीवस्य, तेन श्रुतपदेन श्रुताज्ञानं गृह्यते, तथा च सति-श्रुताज्ञानोपयुक्तो मिथ्यादृष्टिरिति न कश्चिद्विरोध इति । यदा यथाश्रुतं श्रुतोपयुक्त इत्यनेन साभिलाप-ज्ञानोपयुक्तता तत्स्वामिनो गृह्यते, सा च मिथ्यादृष्टेरप्युत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनो न कुत्रचिद्विरुध्यते, श्रुतज्ञान-श्रुताज्ञानयोर्द्वयोरपि साभिलापज्ञानरूपत्वाऽविशेषात्, अत एव शास्त्रार्थविवरणचञ्चुभिः श्रीमन्मलयगिरिपादैः श्रीप्रज्ञापनासूत्रवृत्तौ नरकगतिभेदे उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनां श्रुतोपयुक्ततेति साभिलापज्ञानोपयुक्तता प्रज्ञापयान्चके । तथा च तद्ग्रन्थः—

“सुतोवउत्ते” त्ति साभिलापज्ञानोपयुक्त इति भावः” इति ।

उक्तविशेषणविशिष्ट एकैन्द्रिय-विकलेन्द्रियाणामन्यतमोऽपि स्यादिति तेषां व्यवच्छेदायाह—“पर्णदियो” त्ति पञ्चेन्द्रियः, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयवानित्यर्थः । एकम्भूता असंज्ञिनोऽपि भवेयुः, न च तेषामधिकोत्कृष्टस्थितिवन्धो जायत इति तेषामपि व्यवच्छेदार्थमाह—“सण्णी” त्ति विशिष्टस्मरणशक्तिरूपा या दीर्घकालिकीर्णंजा तयोपेत इत्यर्थः, न पुनराहारादिसंज्ञया संज्ञी, तद-पेक्षया संज्ञीनिव्यवहारस्यागमेष्वपरिभाषणात् । निरुक्तसर्वविशेषणविशिष्टः संज्ञी जीवोऽप्यपर्याप्तावस्थायां तथाविधमानसमामध्यापितत्वाद्दीर्घिकोत्कृष्टस्थितिवन्धं निर्वर्तेयितुं नालं भवति, अतस्तादृशस्या-ऽपर्याप्तावस्थस्य संज्ञिनोऽपि व्यवच्छेदार्थमाह—“पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहि” त्ति संज्ञिनः प्रायो-ग्याभिः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्त इत्यर्थः । उक्तं च शतकचूर्णो—

“सव्वाहिं पगईणं उक्कोसठिई मिच्छदिद्वि सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तो सव्वसंकिलिट्ठो बंधइ” इति ।

अत्र संज्ञिनः प्रायोग्याः पर्याप्तवस्त्राहारप्रभृतयः पड् । उक्तं चान्यत्र—“आहार-सरीरि-दिय पज्जत्ती आणपाण-भास-मणे । चउ-पंच-गंच-छपिय इग-विगला-ऽसन्नि-सन्नीणं” इति ।

ननु निरुक्तविशेषणविशिष्टो नैरयिकजीव एव भवति उतान्योऽपीत्याह—“चउगहट्ठो” इत्यादि, ‘चतुर्गतिस्थः’—नरक-तिर्यग्-मनुष्य-देवलक्षणचतुर्गतीनामन्यतमगतिस्थः, अन्यतमगतौ वर्तमानो नारकादिमिथ्यादृष्टिजीवो भवति, न केवलो मिथ्यादृष्टिनैरयिकजीव एवेत्यर्थः । तुशब्दोऽवधारणे । मिथ्यादृष्टेरुपादानं पुनः सम्यग्दृशां व्यवच्छेदार्थम्, सम्यग्दृशां सप्तकर्मणामन्तःकोटीकोटीसागरोपमे-भ्योऽधिकस्थितिवन्धप्रयोग्यः संक्लेश एव न भवतीति भावः । इत्थं सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धेऽप्रधानहेतून् बन्धकविशेषणतयाऽभिधाय मुख्यहेतुरयमिति दिदर्शयिषुत्कृष्टस्थितिवन्धमुख्यहेतुं स्नातन्त्येषामि-

दधाति—“परमसंकेसेणीसिमज्जमेणं वा परिणामेण”मिति, स्थितिवन्धस्य प्रकृतत्वात् “परमसंकेसेण”ति ‘परमेण’—उत्कृष्टेन स्थितिवन्धसंक्लेशेन, समस्तेऽपि भवचक्रे कस्याऽपि जीवस्य यस्मादधिकः संक्लेशो न प्राप्यते सः ‘परमः’—सर्वोत्कृष्टः कषायोदयजन्यः परिणामविशेषः संक्लेश-स्तेनेत्यर्थः । उत्कृष्टस्थितिवन्धो यथा सर्वसंक्लेशेन जायते, तथा तदन्यसंक्लेशैरपि जायते । कुतः ? प्रतिस्थितिवन्धमसंख्यलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितानां स्थितिवन्धसंक्लेशानां हेतुतया भणितत्वात् । वक्ष्यते चात्रैव ग्रन्थेऽपि षष्ठाधिकारे—“पइडिइवंधमसंख्वा लोगा अट्टण्ह अज्जवसणाण”मित्यनेन प्रति-स्थितिवन्धस्थानं नानाजीवानांश्चिन्थ तत्कारणीभूता असंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितुल्या अध्यवसायाः सन्तीति । अत्रोत्कृष्टसंक्लेशेन तेष्वसंख्यलोकाकाशप्रदेशप्रमितेषुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्याध्यवसायेष्वेकः सर्वतीव्रसौदयजन्यः काषायिकः संक्लेशो गृहीतः, न पुनः शेषाः, अतस्तेषामपि संग्रहायोक्तम्— “ईसिमज्जमेणं वा परिणामेणं” ति उत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्येषु संक्लेशेषु योऽनन्तरमुत्कृष्ट-संक्लेशो गृहीतस्तस्मादुत्कृष्टसंक्लेशाद्दीनहीनतरा ये शेषाः स्थितिवन्धसंक्लेशान्ते प्रत्येकभीषन्मध्यम-संक्रिष्टपरिणामतया गृह्यन्ते तेष्वेकैकेष्वेवन्मध्यमपरिणामेनेत्यर्थः । अथवा सर्वसंक्लेशापेक्षया ये मध्यमादयः संक्लेशास्त एवेष्वन्मध्यमपरिणामेन गृह्यन्ते, अथवा ईयदिति सर्वेषुः सर्वेष्वन्यसंक्लेशः, मध्यमेति जघन्यसंक्लेशोत्कृष्टसंक्लेशयोर्मध्ये वर्तमाना मध्यमपरिणामाः । एते सर्वेऽप्युत्कृष्टस्थिति-वन्धप्रायोग्याध्यवसायानपेक्ष्य बोद्धव्याः, तेषुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्यसंक्लेशेषु च उत्कृष्टः संक्लेशः सोऽनन्तरम् “परमसंकेसेण”इत्यनेन गृहीतः, ईषन्पदेन जघन्यो गृह्यते, मध्यमपदेन तु शेषा उत्कृष्ट-जघन्ययोर्मध्यवर्तिनः परिणामाः—संक्लेशा गृह्यन्ते, इत्थं हि निरुक्तविशेषणविशिष्टो मिथ्यादृष्टिर्जीव उत्कृष्टसंक्लेशेनोत्कृष्टस्थितिं बध्नाति, उत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्येन जघन्यसंक्लेशेन मध्यमपरिणामेन वा सप्तकर्मणासुत्कृष्टां स्थितिं बध्नातीत्यर्थः । उक्तं च शतकचूर्णा—

“उक्कोससंकिलेसेणं जाणि संकिलेसटाणाणि उक्कोसटिइं गिण्वत्तेन्ति, तेषु सत्त्वतिमो उक्कोस-संकिलेसो वुच्चइ, तेण उक्कोसियं टिइं गिण्वत्तेन्ति, “ईसिमज्जमेणं वा परिणामेणं” ति तथो उक्कोससंकिलेसाओ उणउणतराणि थ टिइवंधमसंख्वासाणटाणाणि, तेहिं पि तमेव उक्कोसियं टिइं गिण्वत्तेन्ति, ते ईसिमज्जमेणं वुच्चंति, अइथा सव्यसंकिलेसे पडुच्च मज्जिमाइया ते चैथ ईसिमज्जमेणं वुच्चंति, अइथा उक्कोसियं टिइं गिण्वत्तेन्ति, जाणि अज्जवसाणटाणाणि तेषु सव्यसुइइगं ईपत्त, तेणधि तमेव उक्कोसियं टिइं गिण्वत्तेन्ति, जइन्नुक्कोसाण मज्जे जाणि अज्जवसाणटाणाणि ताणि मज्जिमाणि तेहिंतो वि तमेव उक्कोसियं टिइं गिण्वत्तेन्ति” इति ।

हेतुतयोपात्ताऽपि प्रकृतपदद्वयुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिविशेषणतया योजनीया । कुतः ? स्वामित्वप्ररूपणायाः प्रस्तुतत्वात् । तथा च योजने साकारो जायत् साभिलापज्ञानोपयुक्तः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तोऽन्यतमगतिस्थः पञ्चेन्द्रियः संज्ञी सर्वसंक्लेशे वर्तमानः मन्त्रीषन्मध्यमसंक्लेशे वा वर्तमानः सन् मिथ्यादृष्टिर्जीवः “सत्तण्ह” ति आयुर्वर्जानां मत्तानां मूलकर्मणां “ठिइं उ उक्कोस”मिति उत्कृष्टां प्राग्दर्शितां त्रिशत्कोटीकोटीमागरोपमादिलक्षणां स्थितिं बध्नातीत्युत्तरेण योगः, स च प्राग्दर्शित एवेति । इवन्तु बोध्यम्—अत्र सर्वसंक्लेशे वर्तमान ईषन्मध्यमसंक्लेशे वर्तमानो वा

सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामी भवतीत्येतावदपि पर्याप्तं स्यात् । कुतः ? साकाराद्युक्तविशेषणधिरहितानां
सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्यस्योत्कृष्टसंकलेशस्येयन्मध्यमसंकलेशस्य चानवाप्तेः । तथाऽप्येतादृश
उत्कृष्टसंकलेश ईपन्मध्यमो वा संकलेशः केषां जीवानां किद्गवस्थायां प्राप्यत इत्यनवगते उत्कृष्ट-
स्थितिवन्धस्वामिविषयकः स्पष्टावबोधो न जायेतेति मविशेषमभिहितम् । “सागारो” इत्यादिपदेष्वे-
कवचनान्तो निर्देशस्तु जातिमाधिकृत्य, ततस्तादृशा ये केषुनाऽपि सिध्यादृष्टिजीवास्ते सर्वेऽपि
सप्तानामौघिकोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिन इत्यपि बोद्धव्यमिति ॥७७॥७८॥

तदेवं दर्शिता मूलसप्तकर्मणामौघिकोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनः । साम्प्रतमायुपस्तान् दर्शयन्नाह-

सागाराइविसिद्धो बद्धेमाणो उ गुरुअवाहाए ।

सएणी खलु सव्वाहिं पज्जत्तीहिं य पज्जत्तो ॥७९॥

तयणुखसंकिलिद्धो मिच्छादिद्धो पणिंदितिरियणरो ।

तदरिहसुद्धपमतो वाऽऽउस्स उ बंधइ गुरुठिइं ॥८०॥

(प्रे०) “सागाराइविसिद्धो” इत्यादिगाथाद्वयम्, तत्र “सागाराइ” इत्यादि प्राग्बद्ध
व्याख्येयम्, तुकारस्त्वधारणार्थः “गुरुअवाहाए” इत्यस्योत्तरं योज्यः, ततः “गुरुअवाहाए उ
बद्धेमाणो” इति पूर्वकोटीतृतीयभागप्रमाणायां वेद्यमानायुवशेषलक्षणायां “गुर्व्याम्” उत्कृष्टायाभ-
वावायामेव वर्तमान इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिवन्धस्याऽधिकृतत्वाद्
वन्धवमयप्रभृतिकचरमनिषेकपर्यन्तप्रमाणायाः स्थितिवन्धका द्रष्टव्याः; सा च स्थितिरोधतः पूर्वकोटी-
त्रिभागेनाभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा उत्कृष्टतो भवति, तत्र पूर्वकोटीत्रिभागस्त्वबाधा । त्रयस्त्रि-
शत्सागरोपमस्थितिकं नरकायुर्वध्नतां देवायुर्वा वध्नतां सर्वेषां न सा उत्कृष्टावाधा सम्पद्यते, किन्तु
बहूनां समयदिना हीनाहीनतराद्येव, केषाञ्चिदेवोत्कृष्टा पूर्वकोटीत्रिभागलक्षणा । तत्र येषां त्रयस्त्रिंश-
त्सागरोपमस्थितिकं नरकायुर्वध्नतां देवायुर्वध्नतामुत्कृष्टा पूर्वकोटीत्रिभागलक्षणाऽवाधा न सम्पद्यते, किन्तु
समयादिना हीना सम्पद्यते, तेषां प्रस्तुतकर्मरूपतावस्थानलक्षणोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वं न भवति ।
अत उत्कृष्टावाधावामेव वर्तमान इत्यनेन तेषां व्याकर्तनं कृतमिति । उत्कृष्टावाधा पूर्वकोटीस्थितिका-
ऽसंज्ञेनामपि लभ्यते, न चैते उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनो भवन्ति, सप्तमपृथिवीनारक्तयाऽनुत्तरवासिदेव-
तया वा तेषामनुत्तरेः । इत्थं तेषां व्यावृत्तये उक्तम्—“सएणी खलु” इति । “तयणुखसंकिलिद्धो” इति
तस्योत्कृष्टस्थितिकायुषोऽनुरूपः—अनुरूपः, अस्य चान्वयः संक्रिष्टपदार्थैकदेशे संकलेशे, तत उत्कृष्टायु-
रनुकू ता यः संकलेशस्तेन युक्तस्तदनुरूपसंक्रिष्टः । ननु ‘ज्ञानावरणादीनां सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धका
अपि तस्या ज्ञानावरणादिमत्कोत्कृष्टस्थितेरनुरूपसंकलेशेनोपेता एव सन्ति, अन्यथा तेषां ज्ञानावरणा-
देरुत्कृष्टस्थितिवन्धस्येवाऽसम्भवात्, तत्कथं तत्र “परमसंकेसेणीसिमज्जिमेणं वा” इत्याद्यभिहितम्,
अत्र पुनः “तयणुखसंकिलिद्धो” इत्युच्यते ? इति चेत्, सत्यमेतत्, सर्वेषां स्थितिवन्धानां स्वानुरूप-

संकलेशैरेव निर्वर्त्यमानत्वात्, तथाप्यायुर्वर्जानां सप्तानां भूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्येषु संकलेशेषु सर्वोत्कृष्टसंकलेशोऽपि प्रविष्टः, आयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धानुरूपसंकलेशेषु त्वर्यां सर्वोत्कृष्टसंकलेशो न प्रविष्टः, अत्यन्तसंक्रिष्टैरायुर्वन्धस्यैवापरणात् । उक्तं च पञ्चसंग्रहवृत्तौ — “अत्यन्तसंक्रिष्टानामायुर्वन्धासम्भवात्” इति । इत्थं ह्युत्कृष्टसंक्रिष्टानामायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वव्यवच्छेदार्थमत्र “तयणुस्त्रसंक्रिलिङ्गो” इत्युपात्तम्, पूर्वं तुत्कृष्टसंकलेशेनापि सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य भावात् “परमसंक्रिष्टेणीमिमज्जिमेणं वा” इति व्यस्तमभिहितमिति । ‘मिच्छाविट्टो पणिदित्तिरियणरो’ चि मिथ्यादृष्टिरिति प्राग्बन्धस्यगृह्यं व्यवच्छेदार्थम्, आयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्यस्य संकलेशस्य सम्यग्दृष्टिष्वधटनात् । कुतः ? सम्यग्दृष्टिर्निराकाराधुवोऽवन्धाद्, देवायुषानु विशुद्धिप्रत्ययत्वाच्च । उक्तं च शतकग्रन्थे—

“सत्त्वदिर्हणं उक्तोसत्रो उक्तोससंक्रिलेसेणं । विवरीणं य जहन्नो, आवातिगवज्जमेमाणं” ॥२२॥

इति । संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरयो नरस्य च ग्रहणं तु देवनारकाणामायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वव्यवच्छेदार्थम् । इत्थं हि साकारोपयोगादिविशिष्ट आयुष उत्कृष्टावाधायां वतमानः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्त आयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धानुरूपसंकलेशोपेतो यो मिथ्यादृष्टिः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग् मनुष्या वा सः, आयुषो गुरुस्थितिं बध्नातीति प्रान्तेऽन्वयः । इदं हि संकलेशप्रत्ययं सप्तमनरकमत्कोत्कृष्टस्थितिकायुरधिकृत्याभिहितम् । उत्कृष्टस्थितिकायुस्त्वनुत्तरदेवमत्कमपि बध्यते, विशुद्ध्या बध्यमानस्य तस्य बन्धकानामप्युत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वं भवतीति तानपि सङ्गल्लेनाह—“तवरिहसुद्धपमत्तो वा” इति, अत्र साकारोपयोगादिविशेषणानां यथायोगमनन्तरगाथातोऽनुवृत्तिर्दृष्टव्या, भावना तु प्राग्बन्धे, “तवरिह” चि—तस्योत्कृष्टस्थितिकायुषोऽर्हा-प्रायोग्या, अस्याश्चान्वयः प्राग्बन्धे शुद्धैकदेशे शुद्धौ द्रष्टव्यः, ततस्तस्योत्कृष्टायुषो बन्धेऽर्हा या शुद्धिस्तयाऽन्वितो यस्तदहंशुद्धः प्रमत्त इत्यर्थः । तत्र तत्प्रायोग्यविशुद्धस्य ग्रहणमत्यन्तसंकलेश इत्यात्यन्तविशुद्धावप्यायुर्वन्धस्याऽभावात् । उक्तं च पञ्चसंग्रहवृत्तौ — “अत्यन्तविशुद्धानामायुर्वन्धाभावाद्” इति । प्रमत्तग्रहणं त्वप्रमत्तानामायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वप्रतिषेधार्थम् । ननु कस्मादप्रमत्तानामायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वं प्रतिषिध्यते, तैरपि देवायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धस्त्रयस्त्रिशत्सागरोपमलक्षणः क्रियत एव ? इति चेत्, सत्यम्, तथापि न ते आयुर्वन्धस्य प्रारम्भकाः, किन्तु केवलं प्रमत्तावस्थायां प्रारब्धस्यैव निर्वाहकाः । उक्तं च—“अपमत्तो बन्धिउं नादवेइ, पमत्तेनादत्तमप्यमत्तो वधेइ” इति । ततः किं ? ततो वेद्यमानपूर्वकोटी-लक्षणायुषो भागद्वयेऽतिक्रान्ते तृतीयभागस्याद्यसमये प्रमत्तावस्थायामारब्धस्योत्कृष्टस्थितिकायुषो-ऽवाधायाः प्रतिसमयं परिगलनादप्रमत्तावस्थायां बध्यमानमपि तत् मध्यमावाधोपेतं सन्मध्यमस्थितिकमेव भवति, न तुत्कृष्टस्थितिकम् । उक्तं च नव्यशतकवृत्तौ वेवेन्द्रसूरिपादैः—“पूर्वकोटीत्रिभागस्य द्वितीयाविसमयेषु बध्नातो नोत्कृष्टं लभ्यते, अवाधाया परिगलितत्वेन मध्यमत्वप्राप्ते” इति । इत्थं हि साकारोपयोगादिविशेषणविशिष्टास्तदनुरूपसंक्रिष्टमिथ्यादृष्टितिर्यग्-मनुष्या इव साकारोपयोगादि-

विशेषणविशिष्टास्तदनुरूपविशुद्धाः प्रमतसंयता अप्याधिकोत्कृष्टस्थितिकायुषो बन्धस्वामिनो भवन्तीति ॥७६॥८०॥

तदेवमभिहिता अष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिन ओषतः । साम्प्रतमादेशतो व्याजिहीर्षुर्लाघवार्थं यामु मार्गणास्वोधवत्तास्वनिदिशति—

सत्तण्ह खलु पणिदिय-तस-वयदुग-कायचउकसायेसुं ।

अयत-णयणेयरेसुं भविथा-ऽऽहारेसु ओषव्व ॥८१॥

(प्रे०) “सत्तण्ह” इत्यादि, आयुर्वर्जानां ममानामोधवदिति गाथाप्रान्तेऽन्वयः, उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिन इति प्रक्रमाद्गम्यते । केषु मार्गणाभेदेभित्याह—“खलु पणिविये”त्यादि, खलुशब्दो पादपूर्व्य । द्विकशब्दस्य पञ्चेन्द्रिय-वस-वचसु प्रत्येकं योजनात् पञ्चेन्द्रियद्विके, वसकायद्विके, वचोयोगद्विके चेत्यर्थः, तत्रापि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति न्यायादपर्याप्तवर्जितौ पञ्चेन्द्रियौषतत्पर्याप्तभेदौ, वसकार्योध-तत्पर्याप्तभेदौ, वचोयोगसामान्या-ऽसन्त्यामृपावचोयोगौ चैकैकद्विकत् क्रमेण ज्ञातव्याविति । तथा काययोगसामान्य-क्रोधादिचतुःकपायमार्गणाभेदेषु, “अयत-णयणेयरेसुं” इति ‘अयते’—असंयमे ‘नयने’—चक्षुर्दर्शनमार्गणाभेदे तथेतरपदादचक्षुर्दर्शनमार्गणाभेदे चेत्यर्थः, तथा भव्यमार्गणाऽऽहारिमार्गणाभेदयोरित्येतासु षोडशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु प्रत्येकं भावनाऽप्योधवदेव द्रष्टव्या इति ॥८१॥

अथ भणितशेषमार्गणासु प्रतिपिपादयिषुर्लाघवार्थं बहुमार्गणाविषयकसमानव्यक्तव्यता-भादावेवाभिदधाति—

सेसासु मग्गणासुं उक्कोसठिईअ बंधगो णेयो ।

सागाराईविमिद्धो सतरहं आउवज्जाणं ॥८२॥

पज्जत्तापज्जत्ता दुहा वि जीवाऽत्थि जत्थ तत्थ भवे ।

पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं ति वत्तव्वं ॥८३॥

उक्कोससंकिटिद्धो बुच्चइ सतरह बंधगो जत्थ ।

तत्थ खलु ईसिमज्झिमसंकिटो अवि मुणेयव्वो ॥८४॥

(प्रे०) “सेसासु” इत्यादि, अनन्तरमेव ‘सत्तण्ह खलु पणिविये’त्यादिना कथिताः षोडशमार्गणाः परिहृत्य शेषसु निरयगन्थोच्यदिमार्गणासु प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धको ज्ञेयः, क इत्याह—“सागाराई”त्याद्युत्तरार्धम्, सुगमं गतार्थं च । एषो हि सामान्यतो बन्धकोऽवसेयः । कृत एव ज्ञायते ? इति चेद्, विशेषतोऽग्रे वक्ष्यमाणत्वादिति । अन्यामपि सामान्यवक्तव्यतामाह—“पज्जत्ता-पज्जत्ता” इत्यादि, ‘पर्याप्ताः’ स्वस्वप्रायोग्याभिः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्ताः करणपर्याप्ता इत्यर्थः । अपर्याप्ताः—

पर्याप्तेतराः, यैः स्वप्रायोग्याः पर्याप्तयो न समाप्तास्ते लब्ध्यपर्याप्ताः करणापर्याप्ताश्चेत्यर्थः । यदुक्तं लोकप्रकाशतृतीयसर्गे—

“असमाप्य स्वपर्याप्ती, -स्त्रियन्ते येऽल्पजीविताः । लब्ध्या ते स्वुरपर्याप्ता, यथा निःस्वमनोरथाः ॥

निर्वर्तितानि नाद्यापि, प्राणिभिः करणाभि यैः । देहाद्यादीनि करणा, -ऽपर्याप्तास्ते प्रकीर्तितानि ॥ इति ॥

एवम्भूताः पर्याप्तापर्याप्तभेदाद् द्विविधा अपि जीवाः “तत्र जत्य”ति अकारस्य दर्शनात् ‘सन्ति’ विद्यन्ते ‘यत्र’ यस्यां यस्यां मार्गणायां—“तत्र भवे” ति ‘तत्र’ तस्यां तस्यां मार्गणायां भवेत्, किं भवेदित्याह—“पञ्जत्तो” इत्यादि, सर्वाभिः स्वप्रायोग्याभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त इति वक्तव्यं भवेदित्यर्थः । सप्तकर्मणामुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकविशेषणतयेत्यनुवर्तते । अपम्भावः—सजा-
तीयेषु पर्याप्ताऽपर्याप्तजीवेषु पर्याप्तजीवानामेव करणादिविशिष्टसामग्रीसद्भावादुत्कृष्टसंक्लेशादेः सम्भवः, न पुनर्लब्ध्यपर्याप्तानां करणापर्याप्तानां वा । तथा च सति तेषामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वप्रतिषेधाय निरवगत्योधादिमार्गणासु यासु करणपर्याप्ताः करणापर्याप्ताश्च जीवा प्रविष्टाः; यासु च तिर्यग्गत्यो-
धादिमार्गणासु करणपर्याप्ता लब्ध्यपर्याप्ताः करणापर्याप्ताश्च जीवाः प्रविष्टास्तासु “सर्वाभिः स्व-
प्रायोग्याभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त” इति सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिविशेषणतया वक्तव्यम्, न पुनर्यास्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रितिर्यगादिमार्गणासु केवला अपर्याप्तजीवा एव प्रविष्टास्तासु, केवला वा पर्याप्त-
जीवाः प्रविष्टास्तासु मनोयोगादिमार्गणास्त्विति । अधान्यदथापत्तिगम्यं मन्दबुद्ध्यपकृतये स्फुटमाह—
“उक्कोससंकिलिट्टो” इत्यादि, “जत्य”ति ‘यत्र’ यासु मार्गणासु “सत्तण्ह बन्धगो” ति आयुर्वर्जनां सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकः “उक्कोस संकिलिट्टो” ति उत्कृष्टः संक्लिष्टः, अर्यतः सर्वसंक्लिष्टः
“बुच्चइ” ति “सत्सामिष्ये सहदा” इत्यनेन सूत्रेण वर्तमानस्य सामिष्ये भविष्यति वर्तमानप्रत्ययस्य प्रयुक्तत्वाद् वक्ष्यत इत्यर्थः । तत्र किमित्याह—“तत्र खलु” इत्यादि, खलुशब्दोऽवधारणे, स च प्रान्ते योज्यः, ततस्तत्र—तासु मार्गणासु सः—सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धक औषधदीपन्मध्यमसंक्लिष्टोऽपि ज्ञातव्य एवेत्यर्थः । सुगमं चैतम्, प्रत्येकं स्थितीनामसंख्यलोकाकाशप्रदेशाशितुन्याध्यस्मायैर्वन्ध-
प्रायोग्यतयोत्कृष्टसंक्लेशप्रायोग्यस्थितेरीपन्मध्यमसंक्लेशैरपि बध्यमानत्वादिति ॥२१॥२३॥२४॥

तदेवं लाघवार्थं सामान्यवक्तव्यत्वादिकमार्यात्रयेण समाप्य साम्प्रतमतिदिष्टमार्गणा वर्जयित्वा शेषमार्गणास्वपि प्रथमं सप्तप्रकृतीनामेवोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनो विशेषतः प्रकटयन्नाह—

सव्वणिरय-एरतिग-सुर-महसारंत-पणमण-तिवयणेसु ।

सरिणम्मि बंधगो खलु उक्कोसठिईअ सत्तण्हं ॥२५॥

उक्कोससंकिलिट्टो मिच्छो तिरिये पणिट्ठिरियतिगे ।

उक्कोससंकिलिट्टो मिच्छादिट्ठी भवे सरणी ॥२६॥

(प्रे०) “सध्वणिरय” इत्यादि, निरयौष-प्रथमादिनिरयभेदलक्षणेषु सर्वेषु निरयगतिभेदेषु “णरतिग” ति सूत्रस्य सूचकत्वादपर्याप्तवर्जानां त्रयाणां नरगतिमार्गशाभेदानां त्रिके, मनुष्यौष-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीरूपमार्गशात्रय इत्यर्थः । तथा “सुर” ति देवगत्योषे, “सहसारंत” ति भवनपत्यादिसहस्राकल्पान्ता ये देवगतिमार्गशाभेदास्तेष्वेकादशभेदेषु, पञ्चमनोयोगभेदेषु, अनन्त-रोक्तभेदद्वयवर्जेषु सन्धवचना-ऽसन्धवचन-मिश्रवचनलक्षणेषु त्रिषु वचनयोगभेदेषु, तथा संहि-मार्गशायामित्येतासु द्वात्रिंशन्मार्गशासु प्रत्येकं “सत्तण्ह” ति आयुर्वर्जानां सप्तकर्मणासुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकः खलु “उक्कोससंकिलिटो मिच्छो” ति “सागाराह”त्याद्यनन्तरोक्तवचनात्साकारादि-विशेषणविशिष्ट उक्तृष्टसंक्रिष्टः “ईसिमडिमसंकिलिटो अवि सुरोयव्वो” इति वचनादीपन्मध्यमसंक्रिष्टश्च “मिच्छो” ति मिथ्यादृष्टिः, भवेदिति परेण योगः । अत्र पञ्चमनोयोगभेद-त्रिवचनयोगभेदवर्जासु शेषमार्गशासु “पञ्जत्तापञ्जत्ता” इत्याद्यनन्तरोक्तमामान्यवचनात्सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त इत्यपि स्वामिविशेषणतया द्रष्टव्यम्, एवमेवोत्तरत्रापि सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्त इति यथासम्भवं द्रष्टव्यम्, साकारादीनि विशेषणानि च स्वयमेव योज्यानि । एतासु सर्वमार्गशासु भावना त्वोधानुसारेण द्रष्टव्यान्ति । तदेवं दर्शिता निरयगतिभेदेषु श्रुतस्वामिनः, तत्साभ्याद् देवगत्योषादिभेदेषु च । साम्प्रतं क्रमप्राप्तेषु तिर्यग्गतिभेदेषु दर्शयन्नाह—“तिरिये” इत्यादि, तिर्यग्गत्योषे, अपर्याप्तभेदवर्जे पञ्चेन्द्रिय-तिर्यक्त्रिके, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोष-तत्पर्याप्त-निरश्चीमार्गशाभेदत्रय इत्यर्थः, एतासु चतसृषु मार्गशासु प्रत्येकं सप्तानामुक्तृष्टस्थितेर्वन्धकः “सागाराह”त्यादि, तथा “पञ्जत्ता” (गाथा०८२-८३) इत्यादिवचनात् साकारादिविशेषणविशिष्टः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तः “उक्कोससंकिलिटो” ति उक्तृष्टसंक्रिष्टः “ईसिमडिम-संकिलिटो वि” (गाथा० ८४) इत्यादिवचनादीपन्मध्यमसंक्रिष्टश्च “मिच्छादिटो भवे सण्णो” ति निरुक्तविशेषणविशिष्टः संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्जीवो भवेदिति । एकवचनान्तनिर्देशस्तु प्राग्बज्जातिमधिकृत्य, एवं पूर्वोत्तरत्र च बोद्धव्यमिति ॥८५॥८६॥ अथ क्रमप्राप्तायामपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियमार्गशायां प्रस्तुतस्वामिनो दिदर्शयिषुस्तत्साभ्यादन्यत्रापि सममेवाह—

होइ अपञ्जत्तेसुं पणिंदियतिरिय-पणिंदिय-तसेसुं ।

तप्पाउग्गकिलिटो णायव्वो बंधगो सरणी ॥८७॥

(प्रे०) “होइ अपञ्जत्तेसु” मित्यादि, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तस-लक्षणेषु त्रिध्वपर्याप्तभेदेषु “बंधगो” ति प्रस्तुतत्वान्प्रस्तानामुक्तृष्टस्थितेर्वन्धकः—स्वामी “तप्पाउग्गकि-लिटो” ति पूर्वोक्तन्यायेन साकारादिविशेषणविशिष्टस्तस्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गशासु बन्ध-प्रायोग्यस्यान्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणाद्युक्तृष्टस्थितिबन्धस्य ‘प्रायोग्यः’-अनुरूपः ‘क्रिष्टः’-संक्रिष्ट-स्तप्रायोग्यक्रिष्टः, तत्प्रायोग्योक्तृष्टसंक्रिष्ट इति भावः, एवम्भूतः संज्ञी ज्ञातव्यो भवतीति पूर्वण योगः । अत्राऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तसमार्गशायोस्तिर्यग्मनुष्यो वेत्यादि स्वयमेव द्रष्टव्यम्, सुगम-त्वादिति ॥८७॥ अथ क्रमप्राप्ताऽपर्याप्तमनुष्यमार्गशाया तुन्यवक्तव्यत्वादित्यत्रापि सममेवाह—

होइ अपज्जत्तणरे अणुत्तरेसुं य पंचसु सुरेसुं ।
 एगिंदिय-विगलिंदिय-कायपणगसव्वभेएसुं ॥८८॥
 तप्पाउग्गकिलिट्ठो एवरि भवे वायरो ति वत्तव्वं ।
 एगिंदिये णिगोए पुहवाइग्गपंचकायेसुं ॥८९॥

(प्रे०) “होइ अपज्जत्तणरे” इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यभेदे “अणुत्तरेसुं य पंचसु सुरेसुं”
 ति विजय-वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजित-सर्वार्थभिद्वनामधेयेषु पञ्चस्वनुत्तरेषु सुरेषु, अनुत्तरसुरदेवगति-
 भेदेष्वित्यर्थः । चः समुच्चये । तथा “एगिंदिये” इत्यादि, अत्र सर्वभेदेष्वित्यस्यैकेन्द्रियादिषु प्रत्येकं
 योजनादेकेन्द्रियसत्कसर्वभेदेषु, द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियलक्षणविकलेन्द्रियसत्केष्वोष-पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-
 भेदभिन्नेषु सर्वभेदेषु, पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तकायपञ्चकसत्कसर्वभेदेष्वित्येतास्वेकपष्टिमार्गणासु
 प्रत्येकम् “तप्पाउग्गकिलिट्ठो” ति पूर्ववत्साकारादिविशेषणविशिष्टस्तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्रियः, भवतीति
 पूर्वेण योगः, सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामीति प्रक्रमाद्भवति, अनुवृत्त्या वा द्रष्टव्यम् । अत्रैकेन्द्रि-
 यौघादिकतिपयमार्गणासु सूत्रमा वादराश्च द्विविधा जीवाः, अतस्तासु के उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनो
 भवन्ति, के पुनर्न्येतन्स्फुटीकृतुमाह—“णवरि भवे” इत्यादि, नवरं-परं वादर इत्यपि विशेषणं
 वक्तव्यं भवेत् । कासु मार्गणासु वादर इति वक्तव्यं भवेदित्याह—“एगिंदिये” इत्यादि, एकेन्द्रियौघ-
 मार्गणायां ‘णिगोए’ ति निगोदवनस्पतौ, साधारणवनस्पतिकायौघमार्गणाभेद इत्यर्थः । “पुहवाइग्ग-
 पंचकायेसुं” ति पृथिव्यादिकेषु पञ्चसु कायमार्गणासत्कौघमार्गणाभेदेषु, पृथिवीकायौघे, अप्कायौघे,
 तेजस्कायौघे, वायुकायौघे वनस्पतिकायौघे चेत्यर्थः । एतासु सप्तमार्गणास्वेव वक्तव्यम्, न शेषासु ।
 ननु एकेन्द्रियौघादिमार्गणावद्वादरैकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वपि वादरजीवा एवोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनो
 भवन्ति, तथा त्रैकेन्द्रियौघादिमार्गणावद्वादरैकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वपि उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामितया
 ‘वादर’ इति विशेषणकथने न किञ्चिदोषः संलक्ष्यते, तत्कथमेकेन्द्रियौघादिमार्गणास्वेव प्रस्तुत-
 स्वामिविशेषणतया ‘वादर’ इति विशेषणं वक्तव्यम्, न पुनः शेषमार्गणाष्वपीति कथ्यते ? इति चेत्,
 सत्यम्, यदि यथासम्भवं स्वरूपदर्शनविशेषणतयाऽपि तन्निवेशाभिप्रायः स्यात्, न चार्थवत्,
 व्यवच्छेदकविशेषणाभिप्रायेण मूलकृता तन्निवेशात्, तथा च व्याख्यातमपि तथैव । इदमुक्तं
 भवति—विशेषणं हि कुत्रचिद्वैतपदर्शनाभिप्रायेण निवेश्यते, तत्र च तद्वैतद्वारेण व्याख्यायते, यथा—
 “अस्त्वस्वस पोम्गलकया जं इद्विन्दियमणा” इत्यत्र द्रव्येन्द्रियमनस्साम् “पुद्गलकृतानी” ति विशेषणम् ।
 उक्तं च तद्दृष्टौ—“पुद्गलकृतानी—पुद्गलकृत्स्वनिचचनिष्पन्नानि, हेतुद्वारेण चेदं विशेषणं द्रष्टव्यम्,
 पुद्गलकृतत्वाद्” इत्यर्थः” इति (विशेषावश्यकभाष्यदृष्टौ) । कुत्रचित्तु तदतिप्रसङ्गचारणार्थमितरार्थव्यवच्छेद-
 कपरतया वर्यते, यथा—“इदिय-मणोनिमित्तं जं विण्णारणं सुयाणुसारेणं” (वि. आ. भा. गाथा—१००)
 इत्यत्र “श्रुतानुसारेणं” ति विज्ञानविशेषणम् । उक्तं च तद्व्याख्यायाम्—“इन्द्रियमनोनिमित्तं च मति-

ज्ञानमपि भवति, अतस्तद्व्यवच्छेदार्थमाह—'श्रुतानुसारेणेति' । कुत्रचिच्चतिप्रसङ्गाद्यभावे स्वरूपप्रदर्शन-
परतया तदुपन्यस्यते, यथा—'नियत्युत्तिसमर्थं तं भावसूत्रं मई सेलं' (वि०आ०भा० गाथा—१००)
इत्यत्र 'निजकार्योक्तिसमर्थमिति' भावश्रुतविशेषणम् । उक्तं च तट्टीकायाम्—'स्वरूपविशेषणं चैतन,
शब्दानुसारेणोत्पन्नज्ञानस्य निजकार्योक्तिसामर्थ्याऽव्यभिचाराद्' इति । प्रस्तुते च 'चायरो ति वक्तव्य'-
मित्यभिदधता ग्रन्थकृता 'वाद्' इति विशेषणमेकैन्द्रियौघादिमार्गणासु यथोक्तोत्कृष्टस्थितिवन्ध-
प्रायोग्यसंबलेशो मार्गणाप्रविष्टसूक्ष्मजीवानां न प्राप्यते, ततश्च ते प्रस्तुतमार्गणायां बन्धप्रायोग्योत्कृष्ट-
स्थितिवन्धस्वामिनोऽपि नैव भवन्ति, अतस्तेषां व्यवच्छेदार्थमुपन्यस्तम्, तथैव च व्याख्यातम् । यदि
चैकैन्द्रियौघादिमार्गणावद् वाद्'केन्द्रियौघादिमार्गणासु तद्वक्तव्यतया मूलकृताऽभिहितं स्यात्, तदा
तत्र वाद्'केन्द्रियौघादिमार्गणास्थानेषु सूक्ष्मजीवानामप्रवेशेनाऽतिप्रसङ्गाभावात् स्वरूपविशेषणतयैव
व्याख्येयं स्यात् । इत्थमेव प्रागुक्ते 'पज्जत्ताऽपज्जत्ता दुहा वि जीवाऽन्धि' इत्यादावपि 'सर्वपर्याप्तिभिः
पर्याप्त, इत्यादिविशेषणोपादानाभिसन्धिरवगन्तव्यः । एवं यत्र कुत्रचिदतिप्रसङ्गाभावेऽपि विशेषणं
दृश्येत तत्र तु तत्स्वरूपविशेषणतयैव द्रष्टव्यमित्यलं विस्तरेण ॥८८॥८९॥ शेषदेवगतिभेदेषु प्राह—

तेरहसु आणताइग-गेविऽजऽवलाएदेवभेएसु ।

तप्पाउग्गकिलिट्ठो णायव्वो मिच्छदिट्ठियो ॥९०॥

(प्रे०) 'तेरहसु आणताइग' इत्यादि, त्रयोदशस्थानतकल्पादिकेषु सर्वोपरितनत्रैवेयकावसानेषु
देवगतिसत्कमार्गणाभेदेषु प्रत्येकं सप्तप्रकृतिसत्कोत्कृष्टस्थितिवन्धकः "तप्पाउग्गकिलिट्ठो" ति
साकारादिविशेषणविशिष्टः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तस्तत्प्रायोग्यसंक्रिष्टो मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्यः । आनतादि-
देवानां शुक्लेश्वरत्वेन सर्वदेव सर्वोत्कृष्टसंबलेशाभाव इत्यर्थः ॥ इति ॥९०॥ गता गतीन्द्रियकाय-
भेदाः । साम्प्रतमवशेषेषु योगमार्गणाभेदेषुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनः प्रतिपादयन्नाह—

उरले मिच्छो सरणी दुगइट्ठो होइ सव्वसंकिट्ठो ।

एमेव उरलमीसे एवरं तयणुरुवसंकिट्ठो ॥९१॥

(प्रे०) "उरले मिच्छो" इत्यादि, "उरले" ति औदारिककाययोगमार्गणायां साकारादि-
विशेषणविशिष्टः सर्वसंक्रिष्टः "दुगइट्ठो" ति द्विगतिस्थः, मनुष्यस्तिर्यग्वेत्यर्थः । एवम्भूतः संज्ञी
मिथ्यादृष्टिः "होइ" ति भवति, सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितेः स्वामीति गम्यते । अत्रेपन्मध्यमसंक्रिष्ट
इत्यपि वक्तव्यम् "ईसिमविकमसंकिट्ठो अवि मुणेवव्वो" इति वचनात् । "दुगइट्ठो" इत्येतच्च स्वरूपदर्शन-
मात्रपरं बोद्धव्यम्, मनुष्यतिर्यग्धर्जानां प्रस्तुतमार्गणाया एव बहिस्त्वेनाऽतिप्रसङ्गाभावाद् व्यवच्छेदक-
परत्वानुपपत्तेरिति । स्वल्पविशेषादौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां सापवादमतिदिशन्नाह—'एमेव
उरलमीसे' इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायापि "एमेव" ति 'एवमेव,'—औदारिककाय-
योगमार्गणावदित्यर्थः । "एवरं" ति नवरमयं विशेषः, तमेवाह—'तयणुरुवसंकिट्ठो' ति तदनु-

रूपोत्कृष्टसंक्रिष्ट इत्यर्थः । सुगमं चैतत्, अपर्याप्तावस्थाभाविन्यौदारिकमिश्रकाययोगे सर्वसंक्लेशानुत्पत्तेरिति ॥६१॥

उक्कोससंकिलिष्टो मिच्छो णिरयोऽष्टमंतदेवो वा ।

वेउव्वदुगे एवरं मीसे तज्जोगसंकिट्ठो ॥६२॥

(प्र०) "उक्कोससंकिलिष्टो मिच्छो" इत्यादि, "वेउव्वदुगे" ति 'वैक्रियद्विके' वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणाद्वयरूपे साकाराद्युक्तविशेषणविशिष्ट उत्कृष्टसंक्रिष्टो मिथ्यादृष्टिर्निरयोऽष्टममहसारकल्पान्तभवो देवो वेत्यर्थः । सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामीति गम्यते । अत्राष्टम-कल्पान्तदेवप्रदणमानतादिकल्पनिवामिशुक्लेरयाकदेवानां व्यवच्छेदार्थमिति । अपर्याप्तावस्थायां कम्पाप्येवोत्कृष्टस्थितिवन्धो न भवतीतिकृत्वा वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामनुपपद्यमानं स्वामि-विशेषणमपोदितुमाह—“एवरं मीसे” इत्यादि, एवरं "मीसे" ति वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणाभेदे "तज्जोगसंकिट्ठो" ति तत्प्रायोग्यसंक्रिष्टोऽन्यतमो मिथ्यादृष्टिर्निरयो देवो वा उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामी भवति, न पुनरुत्कृष्टसंक्रिष्टः, अपर्याप्तानामुत्कृष्टसंक्लेशस्यासम्भवादिति भावः ॥६२॥

तप्पाउग्गक्किलिट्ठो आहारकुवे भवे पमत्तज्जे ।

से काले पज्जत्ति निट्ठवउ स व मुण मीसजोगेसु ॥६३॥ (गीतिः)

(प्र०) 'तप्पाउग्गे' इत्यादि, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगद्वयरूपे आहारकद्विके निरुक्त-साकारादिविशेषणविशिष्टस्तत्रायोग्यक्रिष्टः 'प्रमत्तयतिः'—प्रमत्तसंयतो भवेत्, सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थिति-वन्धस्वामीति गम्यत इति । ननु मिथ्यात्वाभिमुखः प्रमत्तयतिरिति कथं नोच्यते, प्रमत्तसंयतेषु तत्स्यैवाधिकामसंक्रिष्टत्वेनाधिकतमस्थितेर्वन्धकत्वात् ? इति चेद्, न, चतुर्दशपूर्वधराणां श्रुतकेवलिनामेव प्रकृताऽऽहारकादियोगद्वयसम्भवात् । उक्तं च द्रव्यलोके—

"आकाशस्फटिकस्वच्छं, श्रुतकेवलिना कृतम् । अनुत्तरामरेभ्योऽपि, कान्तमाहारकं भवेत्" ॥ इति ।

तदानीं च तावत्श्रुतसत्त्वे तेषां मिथ्यात्वाभिमुखत्वासम्भव एव इति । औदारिकमिश्रकाययोगादि-मिश्रयोगत्रये मतान्तरेणान्यथैव प्रकृतस्वामित्वमाह—“से काले” इत्यादि, “मीसजोगेसु” ति अनन्तरोक्ता-दारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगलक्षणेषु त्रिषु मिश्रयोगमार्गणाभेदेषु "सेकाले पज्जत्ति निट्ठवउ स व मुण" ति तत्र सेशब्दो देश्यः, स चानन्तर्ये, ततोऽनन्तरकाले-यस्य समयस्यानन्तरोत्तरसमये 'पर्याप्ति'—शरीरपर्याप्ति 'निष्ठापयेत्'—समापयेत्, स मिश्रयोगचरम-समये वर्तमानो वा 'जानिहि,'—सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामीति मतान्तरेण त्वमवगच्छेत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—औदारिकमिश्रयोगमार्गणायां करणापर्याप्ताः संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवा एवोत्कृष्टस्थिते-र्वन्धका भवन्ति, न तु लब्धपर्याप्ताः, औदारिकमिश्रकाययोगगतानामपि तेषां तथाविधसंक्ले-शानुत्पत्तेः । करणापर्याप्तास्तु शरीरपर्याप्तेः समाप्ताः सत्यां प्रकृतमार्गणाया बहिर्भवन्ति । कुतः ?

शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां तेषां शुद्धौदारिकयोगप्रवर्तनात् । यत आ शरीरनिष्पत्तेर्मिश्रकाययोगो भवति, न परतः । तथा चोक्तम्—

“तेषां कम्मप्राप्त, आहारेर्ह्य अणुतरं जीवो । किं परं किंतेहं, ज्ञानं सरीरस्स निष्कत्ती” ॥ इति । यथौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां तथा वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणादावपि ज्ञेयम् । इत्थं चानन्त-रोक्ताभिप्रायेण मिश्रयोगगताः केचन जीवा अपर्याप्तावस्थाया मध्ये वर्तमानाः सन्तस्तत्प्रायोग्योत्कृष्ट-संक्लेशमवाप्य तदानीमपि सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धं कुर्वन्ति । “से काले” इत्यादिना भण्यमानाभि-प्रायेण तु शरीरपर्याप्त्या निष्पत्तेरर्वाग् मिश्रयोगस्य चरमसमय एवोत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्यसंक्लेश-सम्भवः, न पुनस्ततः पूर्वमपि । अत उत्कृष्टस्थितिवन्धोऽपि मिश्रयोगाद्विचरमादिसमयेषु न भवति, किन्तु चरमसमय एव भवतीति ॥६३॥ अथ शेषे कर्मणकाययोगभेदे दिदर्शयिपुस्तत्साम्यादनाहार-कमार्गणायामपि सममाह—

कम्मा-ऽणाहारेसुं सरणी खलु बंधगो चउगइट्ठो ।

तप्पाउग्गकिलिट्ठो णायव्वो मिच्छदिट्ठीयो ॥६४॥

(प्रे०) “कम्माणाहारेसु”मित्यादि, कर्मणकाययोगमार्गणाऽनाहारकमार्गणयोः प्रत्येकम् “खलु बंधगो” त्ति सप्तप्रकृतिसत्कोत्कृष्टस्थितेर्वन्धकः खलु ज्ञातव्य इति परेणान्वयः । क इत्याह— “सण्णी” इत्यादि, साकारायुक्तविशेषणविशिष्टस्तन्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लिष्टो नरकगत्याद्यन्यतमगतिस्थः संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्जीवः । स च संज्ञिभ्यश्च्युत्वा संज्ञितयोत्पद्यमानो ज्ञेयः, असंज्ञिभ्य आगतस्य प्रकृत-मार्गणादये वर्तमानजीवस्य तत्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्लेशसम्भवादिति ॥६४॥ गता योगमार्गणाभेदाः । साम्प्रतं वेदमार्गणाभेदेषु प्रकृतस्वामिनो दिदर्शयिपुस्तत्साम्यात्कृष्णलेशयायामपि सममेव दर्शयन्नाह—

इत्थी-पुरिसेसु तथा णपुंस-किण्हासु बंधगो सरणी ।

उक्कोससंक्किलिट्ठो मिच्छादिट्ठी सुणेयव्वो ॥६५॥

(प्रे०) “इत्थोपुरिसेसु” इत्यादि, स्त्रीवेद-पुंसवेदमार्गणयोस्तथा नपुंसकवेद-कृष्णलेशया-मार्गणयोरिति प्रत्येकं द्विके ‘बंधगो’ त्ति सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकः—स्वामी भवति । क इत्याह— “सण्णी” इत्यादि, निरुक्तसाकारादिविशेषणायुक्त उत्कृष्टसंक्लिष्टः, तथा “ईसिमविकमसंक्किट्ठो अवि सुणेयव्वो” (गाथा—८४) इति प्रागुक्तवचनादीपन्मध्यमसंक्लिष्टश्च संज्ञी मिथ्यादृष्टिर्जीवो ज्ञातव्य इति । सुगमम् ॥६५॥ अथापगतवेदमार्गणायां प्रकृतस्वामिन आह—

गयवेण स भवे यो अपुरिसवेणुवट्ठिओ य तओ ।

परिणिवडंतोऽणंतरसमयम्मि हवंहिह सवेओ ॥६६॥

(प्रे०) "गयवेए स भवे" इत्यादि, गतवेदमार्गणायामाद्युर्वर्जानां सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थिति-
बन्धस्वामी स भवेत् । कोऽमात्रिन्याह—'यः अपुरिसधेएषुयद्विधो' इत्यादि, कर्षुदासाश्रयणात्
पुरुषवेदभिन्नवेदेन स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वा य 'उपस्थितः'—समारूढः, उपशमश्रेणिमिति गम्यते ।
कुतः ? वक्ष्यमाणस्य प्रतिनिपतन्निति विशेषणस्योपशमश्रेणिं समारूढस्यैवोपपत्तेः । ततः किमित्याह—
'य तन्नो' इत्यादि, चशब्दो व्युत्क्रमेण 'तन्नो' इत्यस्योत्तरं योज्यस्तत्रोपशान्ताद्वाक्ष्यात्प्रतिनि-
पतन् "गंतरसमथम्मि हवेहिइ सवेन्नो" ति यस्मात्स्थितिवन्धादनन्तरसमये 'सवेदः'—वेदोदयवान्
भविष्यतीत्यर्थः । नपुंसकवेदोदयेन स्त्रीवेदोदयेन त्र्योपशमश्रेणिमारूढोपशान्ताद्वाक्ष्यात् क्रमेण पतन्
वेदोदयात्प्रागनन्तरभाविनि स्थितिवन्धे वर्तमानो महान्माऽपगतवेदमार्गणायां सप्तानां मूलप्रकृतीना-
मुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामी भवतीति भावः । ननु 'कस्मात् पुंवेदेन श्रेणिं समारूढ्य प्रतिपतन्तो वर्ज्यन्ते,
तदन्यवेदेन समारूढ्य प्रतिपतन्तस्तु गृह्यन्ते ?' इति चेद्, उच्यते—उपशमश्रेणिमारोहतां यत्र यत्र
स्थाने यस्य यस्य वेद-क्रोधादेर्येन क्रमेणोदयविच्छेदो जायते, उपशान्ताद्वाक्ष्येण प्रतिपततामपि
तेषामानुलोम्येन तत्तन्स्थानप्राप्तौ तस्य तस्य वेदकृपायादेरुदयः प्रवर्तते । उक्तं च सप्ततिकाचूर्णौ—

"अद्वाखन्नो उवसंतद्वाए पुष्णाए परिवडति सो जहा आरूढो तहा परिवडति, जहि उदधोदीरण-
बंधादन्नो टिया तहि तहि परिवडंतस्स ते आदधियजंति, एवं जाव पमत्तसंजन्नो ताव परिवडति" इति ।

किञ्च श्रेणिमारोहतां विशुद्ध्यमानतया यथोत्तरस्थितिवन्धा हीनहीनतराः प्रवर्तन्ते, प्रतिपततां
तु तेषां संक्लिश्यमानतया यथोत्तरस्थितिवन्धा अधिकाधिकतराः प्रवर्तन्त इति तु सुगमम् । प्रकृते
च ये उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनो द्रष्टव्याः, ते च श्रेणिमारूढोपशान्ताद्वाक्ष्यानन्तरं बहून् स्थिति-
बन्धानतिक्रम्यावेद्यवस्थायां चरमस्थितिवन्धं ये कुर्वन्ति, ते प्राप्यन्ते । एवम्भूता हि स्त्रीवेदेन नपुंसक-
वेदेन वा श्रेणिं समारूढ्य प्रतिपतन्त उपशमका भवन्ति, न पुनः पुंवेदेन समारूढ्य प्रतिपतन्तोऽपि ।
कुतः ? स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वा श्रेणिं समारूढा यस्मिन् स्थानेऽवेदिनो भवन्ति तत्स्थानात्
संख्येयसहस्रेषु स्थितिवन्धेष्वतिक्रान्तेषु पश्चात्पुंवेदेन श्रेणिं समारूढा अवेदिनो जायन्ते, न त्वर्वाक् ।
तथा च सति प्रतिपतकालेऽप्यानुलोम्येन पुंवेदेनोपस्थितानां यत्र पुंवेद उदेति तन्स्थानात्संख्येय-
सहस्रेषु स्थितिवन्धेष्वतिक्रान्तेषु सत्सु पश्चात् पुंवेदान्यवेदेनारूढ्य प्रतिपततां स्वस्ववेदोदयो जायते,
प्रतिपततां संक्लिश्यमानतयोत्तरोत्तरस्थितिवन्धा अधिकाधिकतरास्तु सर्वेषामेव प्रवर्तन्ते । ततः पुंवेदेन
श्रेणिं समारूढ्य पततां पुंवेदोदयादर्वागवेद्यवस्थायां यावान् स्थितिवन्धो जायते, तदपेक्षया संख्येय-
स्थितिवन्धानन्तरं स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन त्र्योपस्थाय प्रतिपततां स्वस्ववेदोदयादर्वागवेद्यवस्थायाश्चरम-
स्थितिवन्धोऽत्यधिको जायते । इत्थं हि न पुंवेदेनोपस्थाय प्रतिपततामवेद्यवस्थायां प्रकृतोत्कृष्ट-
स्थितिवन्धस्वामित्वम्, किन्तु तदन्यवेदेनोपस्थाय प्रतिपततामतिकृत्वाऽपगतवेदमार्गणायां पुंवेदेनोप-
स्थाय प्रतिपतन्तो वर्जिताः, तदन्यवेदेन श्रेणिं समारूढ्य प्रतिपतन्तस्तूत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामितया गृहीता
इत्यस्य विस्तरेण । विशेषार्थिना तु कर्मप्रकृतिकृपायप्राभृतादिग्रन्था अवलोकनीया इति ॥६६॥

गतं वेदमार्गणाभेदेषु प्रस्तुतस्वामित्वम् । कपायमार्गणाभेदेषु तु प्रागोषवदतिदिष्टमतः
साम्प्रतं ज्ञानमार्गणाभेदेषु दिदर्शयिषुः समानवक्तव्योपेता अन्या अपि मार्गणाः सममेव संगृह्याह—

अण्णाणतिगे अभविय-मिच्छत्तेसु य बंधगो सरणी ।

उक्कोससंकिलिट्ठो मिच्छो एयो चउगइट्ठो ॥६७॥

(प्रे०) 'अण्णाणतिगे' इत्यादि, मत्तज्ज्ञान-श्रुताज्ञान-विमङ्गलज्ञानमार्गणात्रयरूपेऽज्ञानत्रिकेऽ-
भव्य-मिथ्यात्वमार्गणयोश्चेत्येतासु पञ्चसु प्रत्येकं "बंधगो" ति सप्तप्रकृतिसत्कोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामी
साकारादिविशेषणविशिष्टः 'उक्कोससंकिलिट्ठो' ति सर्वोत्कृष्टसंक्लिष्टः, प्रागुक्तन्यायादीपन्मध्यम-
संक्लिष्टो वा 'चउगइट्ठो' ति निरयादिचतुर्गन्त्यन्यतमगतिस्थः, नारक-तियग्-मनुष्य-देवान्यतमः संज्ञी
मिथ्यादृष्टिर्जीव इति । अत्राज्ञानमार्गणात्रये मिथ्यादृष्टिरिति विशेषणं तत्रगतानामुत्कृष्टस्थितेरवन्ध-
कानां सास्वादिनां व्यवच्छेदार्थं योज्यम्, शेषमार्गणाद्वये तु स्वरूपदर्शनमात्रपरं बोद्धव्यमिति ।
इत्यमेवोत्तोरत्रापि यथासम्भवं योजना कर्तव्येति ॥६७॥

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मु-वसम-वेअगेषु चउगइअं ।

तप्पाउग्गकिलिट्ठो सम्मो मिच्छहिमुहो अंते ॥६८॥

(प्रे०) "णाणतिगे" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायामनन्तरं वक्ष्यमाणतया तद्वर्जशेष-
मत्यादिज्ञानत्रिकेऽवधिदर्शने सम्यक्त्वाद्य-वेदकौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणाभेदेष्वित्येतासु सप्तमार्गणासु
प्रत्येकं साकारादिविशेषणयुक्तः "चउगइअं" ति पूर्ववच्चतुर्गतिकः,—नैरयिकाद्यन्यतमजीव इत्यर्थः ।
एवम्भूतो हि तत्प्रायोग्यः क्लिष्टः-संक्लिष्टो मिथ्यात्वाभिमुखः "सम्मो" ति अविरतसम्यग्दृष्टिः,
"अंते" ति चरमे चरमस्थितिवन्धे, यस्य स्थितिवन्धस्यानन्तरसमये मिथ्यादृष्टिर्भविष्यति तस्मिन्
सम्यक्त्वावस्थायाश्चरमस्थितिवन्धे, वर्तमान इति शेषः । सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वापीति प्रक्रमा-
द्गम्यत इति ॥६८॥ अत्रशिष्टे ज्ञानभेदे क्रमप्राप्तसंयममार्गणाभेदेषु चाह—

मण्णाणम्मि पमत्तो अयताभिमुहो य तयणुरुवकिट्ठो ।

अंतिमबंधे संयम-समइअ-व्येएसु मिच्छहुत्तो सो ॥६९॥ (गीतिः)

(प्रे०) "मण्णाणम्मि" इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिवन्ध-
स्वामी "पमत्तो" ति प्रमत्तमुनिरित्यर्थः । कथम्भूतः स इत्याह—'अयताभिमुहो ये' न्यादि,
यमनम्-यतम्, न यतम् अयतम्, असंयम इत्यर्थः तस्याभिमुखः । चशब्दोऽवधारणे, ततोऽयताभिमुख
एव, न पुनर्मिथ्यात्वाभिमुख इत्यर्थः । इवमुक्तं भवति—मनःपर्यवज्ञानिनः संयता संयमात्सम्यक्त्वाच्च
सुगणद्भ्रष्ट्वा मिथ्यात्वं नैव व्रजन्ति, किन्तु प्रथमतः संयमं परिहृत्यान्तर्मुहूर्तं विश्रम्य ततो मिथ्या-
त्वमधिगच्छन्ति । इत्थं हि तेषां मिथ्यात्वाभिमुखत्वं न घटत इतिकृत्वा मिथ्यात्वाभिमुख इति विशेषणं
विहायाऽयताभिमुख इति विशेषणमुपात्तमिति । पुनः किंविशिष्ट इत्याह—'तयणुरुवकिट्ठो अंतिम-

बंधे"ति प्राग्बतदनुरूपविलिष्टः संयमावस्थाया अन्तिमस्थितिवन्धे वर्तमान इत्यर्थः । अथ संयम-
मार्गणाभेदेऽप्याह— "संयमे"त्यादिना, संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनसंयमरूपमार्गणात्रये तु प्रकृत-
स्थितिवन्धस्वामी "मिच्छत्तदुत्तो सो" ति सोऽनन्तरोक्तः संयतावस्थायाश्चरमस्थितिवन्धे वर्तमान-
स्तदनुरूपसंक्रिष्टः प्रमत्तयतिरेव, नवरं मिथ्यात्वाभिमुखः, न पुनः प्राग्बदयतामिमुख इत्यर्थः । अत्र
प्रत्येकं मार्गणासु साकारेत्यादिविशेषणानि प्राग्बत्स्वयमेव द्रष्टव्यानि । एवमुत्तरत्रापीति ॥६६॥

परिहारम्मि पमत्तो छेद्वाहिमुहो तदरिहसंक्रिष्टो ।

देसे मिच्छाहिमुहो दुगइट्ठो तयणुरुवकिट्ठो ॥१००॥

(प्रे०) "परिहारम्मि पमत्तो"इत्यादि, परिहारसंयममार्गणायां छेदोपस्थापनसंयमा-
ऽभिमुखस्तदरिहसंक्रिष्टः, तत्प्रायोग्यसंक्रिष्ट इत्यर्थः । एवम्भूतः "पमत्तो"ति प्रमत्तो मुनिः, सप्ताना-
मुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामीति गम्यत इति । अथ देशसंयममार्गणायामाह- 'देसे मिच्छाहिमुहो'इत्यादि,
देशसंयममार्गणायां साकाराद्युक्तविशेषणविशिष्टो मिथ्यात्वाभिमुखस्तदनुरूपक्रिष्टो मनुष्यस्तिर्यग्वा सप्त-
कर्मणामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य स्वामी भवतीत्यर्थः । अत्र देशसंयमावस्थायाश्चरमस्थितिवन्धे वर्तमान इति
विशेषणमनुक्तमप्युपलक्षणाद् बोद्धव्यम्, देशसंयतेषु तस्यैव संक्रिष्टतमन्वात् । इत्येवं परिहारविशुद्धि-
कर्मार्गणायामपि विज्ञेयमिति ॥१००॥

अथ सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां प्रस्तुतस्वामिनो दर्शयितुमाह—

सुहुमेऽणंतरबंधे अणियट्ठि यो हि पाविहिइ सोऽत्थि ।

(प्रे०) "सुहुमे" इत्यादि, सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायाप् "णंतरबंधे" ति लुप्ताकारस्य
दर्शनादनन्तरबन्धे-अनन्तरस्थितिवन्धे, यस्य स्थितिवन्धस्यानन्तरोत्तरस्थितिवन्ध इति भावः ।
"अणियट्ठि" ति 'अनिवृत्तिम्'-वादनानिवृत्त्याख्यं गुणस्थानकम् "यो हि पाविहिइ सो"ति यः प्राप्स्यति
हि स अनिवृत्तिवाद्गुणस्थानकप्राप्तेरर्वाक्स्थितिवन्धे वर्तमानः प्रपतन् सूक्ष्मसम्परायोपशमकः "ऽत्थि"
ति तत्र बध्यमानानां मोहनीयायुर्वर्जानां पराणां कर्मणामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य स्वाम्यस्तीत्यर्थः ॥

गतं संयममार्गणाभेदेषु प्रस्तुतस्वामिन्वम् । चक्षुरचक्षुर्दर्शनमार्गणाभेदद्वये प्रागोघवत्तथा-
ऽवधिदर्शनमार्गणायां मतिज्ञानादिना भवं दर्शितमतः क्रमप्राप्तेषु लेश्यामार्गणाभेदेषु दिदर्शयिषुः
कृष्णलेश्यामार्गणायां वेदमार्गणायां सभं दर्शितत्वाच्छेषलेश्यामार्गणाभेदेषु क्रमेण दर्शयति—

मिच्छो अइसंक्रिष्टो थिरलेसो णील-काउसुं ॥१०१॥

तेऊअ सुरो मिच्छो ईसाणंतोऽत्थि सब्वसंक्रिष्टो ।

पउमाअ तहेव एवरि तइआइगधट्ठमंतसुरो ॥१०२॥

सुइलाअ आणतसुरो मिच्छो वा तयणुरुवसंक्रिष्टो ।

(प्रे०) "मिच्छो" इत्यादि, नील-कापोतलेश्ययोः प्रत्येकं सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य स्वामी "मिच्छो"ति मिथ्यादृष्टिः "अइसंक्रिटो"ति 'अतिसंक्रिटः'—उत्कृष्टसंक्रिट इत्यर्थः । "उकोस-संकिलिटो बुच्छइ सत्तएह बंधगो जत्थ । तत्थ खलु ईसिमिअमसंक्रिटो अवि सुरोयन्वो" ॥८५॥ इति वचनादीपन्मध्यमसंक्रिटश्चाऽपि विज्ञेयः । एवम्भूतः क इत्याह—"थिरलेसो"ति स्थिरा-बहुकाला-वस्थायिनी, न पुनरन्तर्मुहूर्तमात्रावास्थायिनीत्यर्थः । एवम्भूता लेश्या प्रस्तुतत्वान्नीला कापोती वा विद्यते यस्य स स्थिरलेश्यः । स च "लेसाण ठिई उ देवाणं ॥४७॥ दस वामसहस्साइं कियहाण ठिई जहणियाआ होइ, पलिअमसंखिज्जइमो उकोसा होइ कियहाण ॥४८॥ जा कियहाइ ठिई खलु, उकोसा सा उ समयमअहिआ । जहन्नेणंणीलाण, पलिअमसंखेज्ज उकोसा ॥४९॥ इत्याद्यागमानारकाणामिव भवन-पत्यादिदेवानामप्यशुभलेश्याया दीर्घस्थितिकन्वेन स्थिरलेश्यत्वात् नीललेश्यामार्गणायां तृतीयचतुर्थ-पञ्चमपृथिवीनैरयिक-भवनपति-व्यन्तरदेवानामन्यतमो भवति, कापोतलेश्यामार्गणायां तु प्रथम-द्वितीय-तृतीयपृथिवीनैरयिक-भवनपति-व्यन्तरदेवानामन्यतमो लभ्यते, न तूक्तान्यो देवो नारकस्तिर्यग्मनुष्यो वा प्रस्तुतमार्गणाद्वये उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामी, उक्तान्यदेवनारकाणां नील-कापोतवर्जान्यतमलेश्या-कन्वेन प्रस्तुतमार्गणाद्वय एवाऽग्रवेशान्, तिर्यग्मनुष्याणां प्रस्तुतमार्गणाग्रविष्टन्वेऽपि तदीयलेश्याना-मन्तर्मुहूर्तस्थितिकन्वेनाऽनवस्थितत्वात् । उक्तं च—"अन्तमुहुत्तठिईओ तिरियनराण हुन्ति लेसाओ" इति । ननु यद्येवमेव तदा "देवो वा नारको वा" इत्येतदपि पर्याप्तं स्यात्, तत्कस्मात् "थिरलेसो" इत्य-भिहितम् ? इति चेद्, उच्यते, महाबन्धकारमतसंग्रहार्थम् । इदमुक्तं भवति—प्रस्तुतमार्गणाद्वये बन्ध-प्रायोग्यः त्रिंशन्मागरोपमकोटिकोट्याद्युक्तप्रमाण ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धो येषां जायते तेषां पर्याप्तावस्थायामेवाप्यो भवति, किञ्च महाबन्धकारा नारकवर्जमर्द्धवस्थजीवानां कृष्णाद्यन्यतमाशुभलेश्या-मान्तर्मुहूर्तिकां मन्यन्ते, तत्र देवानां तु साऽपर्याप्तावस्थायामेव भवति, न तु पर्याप्तावस्थायाम्, पर्याप्ता-वस्थायां तेषां शुभलेश्याया एव प्रवर्तनात्, इत्थं हि तेषां मतेन भवनपत्यादिदेवानां जायमानोऽपि यथोक्तप्रमाण उत्कृष्टस्थितिवन्धः शुभलेश्यायामेव लभ्यते, न पुनः प्रस्तुतमार्गणाद्वये कृष्णलेश्या-मार्गणायां वा । ततश्च नैते भवनपत्यादिदेवाः प्रस्तुतमार्गणाद्वये उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनः, किन्तु यथोक्त-नारका एव । "थिरलेसो" इत्यनेन तेषां मते प्रस्तुतमार्गणाद्वये देवा ग्रहीतुं न युज्यन्ते, तेषां कृष्णाद्य-शुभलेश्याया अन्तर्मुहूर्तस्थितिकन्वेनाऽस्थिरत्वात् । इत्येवं महाबन्धकारमतेन प्रस्तुतमार्गणाद्वये देवाना-मुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वाभावात् तन्मतसंग्रहार्थम् 'देवो वा नारको वा' इत्यनभिधाय "थिरलेसो" इत्य-भिहितमित्यलं पञ्चवितेन । "तेऊअ"ति तेजोलेश्यामार्गणायां सप्तकर्मात्कृष्टस्थितिवन्धस्वामी सर्व-संक्रिटः, उक्तवचनादीपन्मध्यमसंक्रिटो वा भवनपत्यादीशानकल्पान्तोद्भवो मिथ्यादृष्टिः सुरो भवति । "पउमाअ तहेव" ति पद्मलेश्यामार्गणायां 'तथैव'-तेजोलेश्यावदेव, 'नवरं'-परम् "तइआइगअहुमंत-सुरो" ति सर्वसंक्रिट ईपन्मध्यमसंक्रिटो वा तृतीयमनत्कुमारकल्पाद्यष्टमसहस्रारकल्पान्तोद्भवो मिथ्या-दृष्टिः 'सुरः'-देवः सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामी भवति, न पुनस्तेजोलेश्यामार्गणावदीशानकल्पान्तोद्भवः

सुर इत्यर्थः । “सुहृत्वा” चि शुक्लेश्यामार्गणायां सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामी नवमाऽऽनत-
कल्पोद्भवः सुरः । कथंभूत इत्याह—“मिच्छो वा” इत्यादि, सुगमम्, नवरं वाकारोऽनुक्तसमुच्चये,
तदनु रूपसंक्रिष्टस्य ग्रहणं त्वानतादिकल्पोद्भवदेशानां शुक्लेश्यत्वेनोत्कृष्टसंवलेशानुत्पत्तेः । साकारादि-
विशेषणविशिष्टः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्त इत्यादि तु प्राग्वत्स्वयमेव द्रष्टव्यमिति । ननु वाकारेण किमनुक्तं
समुच्चयीयते ? आनतकल्पवासिनामिव तदुपरितनन्निमानवासिनामपि मतान्तरेणोत्कृष्टस्थितिवन्ध-
स्वामित्वसद्भावात्तेऽपि प्रकृतोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामितया समुच्चयीयन्त इति ॥१०१॥१०२॥

भणिता लेश्यामार्गणाभेदेषु प्रकृतस्वामिनः । भव्यमार्गणायामोघवदतिदिष्टाः, अभव्यमार्गणायां
त्वज्ञानमार्गणया सममभिहिताः । साम्प्रतं सम्यक्त्वमार्गणाभेदेष्वभिधातव्याः । तत्रापि सम्यक्तौष-
हायोपशमिकौ-पशमिकसम्यक्त्वभेदेषु मतिज्ञानादिमार्गणात्, मिथ्यात्वमार्गणायां त्वज्ञानमार्गणावच्च
दर्शिता एवेति शेषभेदेषु तानाह—

तप्पाउगगकिलिट्ठो खइए णेयो चउगइट्ठो ॥१०३॥

मीसे मिच्छाभिमुहो सासाणे वा तयणुरुवकिलिट्ठो ।

(प्रे०) “तप्पाउगगे” त्यादि, “खइए” चि ज्ञायिकसम्यक्त्वमार्गणायां साकाराद्युक्तविशेषण-
विशिष्टः ‘चउगइट्ठो’ चि प्राग्वत् नरक-तिर्यग्-मनुष्य-देवान्यतमगतिस्थः, नारकास्तिर्यग्मनुष्यो देवो
वेत्यर्थः । कथंभूत इत्याह—“तप्पाउगगे” त्यादि, सुगममिति । मिश्र-सासादनमार्गणयोराह—
“मीसे” इत्यादि, मिश्रमार्गणायां मिथ्यात्वाभिमुखः । सासादनमार्गणायां “व” चि मिथ्यात्वाभिमुखो
वा, एकमतेन मिथ्यात्वाभिमुखः सासादनी, अन्यमतेन तु स्वस्थानसासादनी प्रकृतसप्तकर्मसत्कोत्कृष्ट-
स्थितिवन्ध स्वामी भवतीत्यर्थः । स च मार्गणाद्वयेऽपि मतद्वयेऽपि च “तयणुरुवसंकिट्ठो” चि
तदनु रूपसंक्रिष्टो बोद्धव्य इति ॥१०३॥ संज्ञिमार्गणायां प्राग् नरकगतिवर्दिताः सप्तानामुत्कृष्ट-
स्थितिवन्धस्वामिनः, अतोऽवशिष्टायामसंज्ञिमार्गणायासाह—

अमणे पण्णियो खलु णेयो तज्जोगगसंकिट्ठो ॥१०४॥

(प्रे०) “अमणे” इत्यादि, अमनसोऽसंज्ञिनः तत्सम्बन्धिमार्गणायाम्, असंज्ञिमार्गणाया-
मित्यर्थः । तत्र तत्प्रायोग्यसंक्रिष्टः पञ्चेन्द्रियः प्रकृतसप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामी ज्ञेयः,
साकारो जाग्रदित्यादीनि विशेषणानि तु स्वयमेव भणितव्यानीति । आहारिमार्गणायां प्रागोघवदति-
दिष्टाः, अनाहारिमार्गणायां तु कार्मणकाययोगमार्गणया समं कथिताः सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिवन्ध-
स्वामिनः । इत्थं हि समाप्तं मार्गणास्थानेष्वप्याऽऽयुर्वर्जानां सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्व-
प्ररूपणम् ॥१०४॥

अथ शेषस्याऽऽयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनो मार्गणास्थानेषु दिदर्शयिषुः पूर्ववत्सर्वमार्गणा-
विषयां सामान्यवक्तव्यतां लाघवार्थमादावेवाह—

सागाराइविसिद्धो वट्टेमाणो य गुरुअवाहाए ।
 सव्वासु बंधगो खलु आउस्स ठिईअ जेट्ठाए ॥१०५॥
 पज्जत्ताऽपज्जत्ता दुहा वि जीवाऽत्थि जत्थ तत्थ भवे ।
 पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं ति वत्तव्वं ॥१०६॥

(प्रे०) “सागाराइविसिद्धो” इत्यादिगाथाद्वयं गतार्थमिति ॥१०५॥१०६॥

तदेवं सर्वमार्गणाविषयकसामान्यवक्तव्यतां लाघवार्थं पृथगभिधाय साम्प्रतं निरयगत्यादि-
 मार्गणास्थानेषु क्रमशः आयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनो विशेषेण प्रदर्शयन्नाह—

णिरय-पढमाइछणिरये-सुर-गेविज्जंतदेव-विउवेसु ।
 आउस्स गुरुठिईए सम्मो मिच्छो व तयणुरुवसुद्धो ॥१०७॥ (गीतिः)

(प्रे०) “णिरयपढमाइछणिरये” इत्यादि, निरयगत्योव-धर्मादिपृथिवीभेदभिन्नप्रथमादिषड्-
 निरयभेद-सुरौघ-भवनपत्यादिनवमग्रैवेयकान्तचतुर्विंशतिदेवभेद-वैक्रियकाययोगमार्गणास्थित्येतासु त्रय-
 स्त्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुषो ‘गुरुस्थितेः’-उत्कृष्टस्थितिवन्धस्य “सम्मो मिच्छो व” इति उक्तसाकारा-
 दिविशेषणविशिष्टः पणमामात्मिकायामुत्कृष्टावाध्यायां वर्तमानः सम्यग्दृष्टिर्वा मिथ्यादृष्टिर्वेत्यर्थः ।
 सोऽपि “तयणुरुवसुद्धो” इति तेषां प्रायोग्यपूर्वकोटीस्थितिकोत्कृष्टायुर्वन्धस्यानुरूपा या विशुद्धि-
 स्तद्युक्त इत्यर्थः । अत्र विशुद्धग्रहणेन संक्लिष्टानां व्यवच्छेदः कृतः, यत एतासु मार्गणासु प्रत्येकं
 देवा नारका वैव समाविष्टास्ते च स्वभावेन एव मनुष्येषु तिर्यङ्मुखोत्पद्यन्ते, न पुनर्नारकतया । उक्तं
 च श्रीप्रज्ञापनायां षष्ठपदे—

“नेरइया एं भंते । अणंतरं उव्वट्ठित्ता कहिं उव्वज्जंति, किं नेरइएसु उव्वज्जंति, तिरिक्खजोणिएसु
 उव्वज्जंति, किं मणुसेसु उव्वज्जंति, देवेसु उव्वज्जंति ? गोयमा । नो नेरइएसु उव्वज्जंति, तिरिक्खजोणिएसु
 उव्वज्जंति” इत्यादि । (सूत्रम् १३२)

इत्थमेव देवानामपि नारकतयोत्पादप्रतिषेधः कृतः । ततः किम् ? तत एते देवनारका नारका-
 युर्न बध्नन्ति, उत्कृष्टस्थितिकमनुष्यतियेगायुषी बध्नतां तु तेषां विशुद्धिरेव भवति, नरकायुर्वर्जानां
 त्रयाणामायुषामुत्कृष्टस्थितेः विशुद्धिप्रत्ययन्वात् । उक्तं च शतकचूर्णो—

“निरहं पि आउमाणं उक्कोसं जह्मगं विवरीयं । कइं ? तव्वन्धकेसु जो जो सव्वविशुद्धो सो सो
 सव्वुक्कसिथं ठिइं बंधइ, तेसु चेव जो जो सव्वसंक्लिद्धो सो सो सव्वजह्मियं सव्वसिं ठिइं बंधइ” इति ।
 इत्थमेवोत्तरत्रापि विशुद्धग्रहणे नरकान्यायुर्वन्धकत्वादिति द्रष्टव्यमिति ॥१०७॥ अथान्यत्राह—

चरमणिरयुरलमीसे तदरिहसुद्धोऽत्थि बंधगो मिच्छो ।
 तिरिय-तिपणिंदित्तिरिये मिच्छो तज्जोगसंकिट्ठो ॥१०८॥

(प्रे०) “चरमणिरयूरलसीसे” इत्यादि, ‘चरमे’ सप्तमपृथिवीभेदरूपे निरयभेदे औदारिक-मिश्रकाययोगे च प्रत्येकं नरकायुपोऽबन्धात्तदन्यायुषामुत्कृष्टस्थितेर्विशुद्धिप्रत्ययत्वाच्च “तदरिहसुद्धो” ति साकाराद्युक्तविशेषणविशिष्ट उत्कृष्टावाधायां वर्तमानस्तदर्थः-तत्प्रायोग्यः शुद्धः “मिच्छो” ति मिथ्यादृष्टिर्बन्धकः-स्वाम्यस्ति । अत्र मिथ्यादृष्टिरिति स्वामिविशेषणं स्वरूपदर्शकमेव बोद्धव्यम्, यतः सप्तमनिरये मिथ्यात्वगुणस्थानकगतानामेवायुर्बन्धो जायते, नान्येषाम् । यदुक्तं सप्तमनरकमार्गणा-भेदे गुणस्थानेषु बन्धस्वामित्वं प्रातपद्यद्विदंबेन्द्रसूरिपादः—“सत्तमिणः नरदुग्धुच्च विणु मिच्छे, इगन्धई सासाणे तिरिश्चात्र नपुंसचउवञ्ज” मित्यादि । औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां पुनर्मिश्रयोगा-वस्थायां लब्धपर्याप्तजीवैरेवायुर्बन्धस्य करणात्, तेषां नियमतो मिथ्यादृष्टित्वाच्चेति । “तिरियति-पणिंदितिरिये” ति तिर्यग्गत्योघे त्रिष्वपर्याप्तभेदवर्जेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेषु च प्रत्येकम् “मिच्छो तज्जोगसंकिट्टो” ति साकारादिविशेषणयुक्त उत्कृष्टावाधायां वर्तमानस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टो मिथ्या-दृष्टिरायुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धक इत्यर्थः । अत्र संक्लिष्टमिथ्यादृष्टेर्ग्रहणं प्रकृतमार्गणागतजीवैरुत्कृष्ट-स्थितिकमायुर्नरकसत्कं बध्यत इतिकृत्वा । नरकायुर्मिथ्यात्वे सत्येव बध्यते इति तु सुगमः । तस्य चोत्कृष्टस्थितिरशुभा इतिकृत्वा संक्लेशेन बध्यत इति तु दर्शितमेवेति ।

ननु तिरश्चीमार्गणायां न त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणोत्कृष्टस्थितिकनिरयायुषो बन्धः, किन्तु द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकायुष एव । उक्तं च स्थितिबन्धप्रमाणद्वारे—‘इोइ दुयीसा जलही तिरिक्ख-जोगिमई’त्यनेन, इत्थं भवतु तिर्यग्गत्योघादिमार्गणात्रये उत्कृष्टस्थितिकनिरयायुषो बन्धभावेन तत्स्वामिनां संक्लिष्टत्वम्, कथं पुनस्तिरश्चीमार्गणायामपि ? इति चेद्, न, श्रोत्रवन्मार्गणास्थाने-ष्वपि, यावत्तज्जीवानामपि स्वबन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिकमप्यायुर्यदि निरयसत्कं तदा संक्लेशेनैव बध्यते, तिर्यग्-मनुष्य-देवायुषामन्यतमत्तु स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिकं सदपि विशुद्धैव निर्बल्यते, न पुनरोघोत्कृष्टस्थितिकायुरेव । अत एवानन्तरं निरयगत्योघादिमार्गणास्थानेषूत्कृष्टतः पूर्वकोटिस्थिति-कमनुष्य-तिर्यगायुर्बन्धतामपि तद्बन्धो विशुद्ध्या दर्शितः, नीललेश्यादिमार्गणायासुत्कृष्टतो दश-सागरोपमादिस्थितिकं निरयायुर्बन्धतां तद्बन्धः ‘तिश्चसुइलंसा-अभयिय-मिच्छेसं । तप्पाउग्गकिलिट्ठो’ इत्यादिना संक्लेशप्रत्ययोऽभिधास्यते चेति ॥१०८॥

तप्पाउग्ग विसुद्धो सरणी वा बंधगो असरणी वा ।

असमत्तपणिंदितिरिय-पणिंदिय-तसेमु णायव्वो ॥१०९॥

(प्रे०) ‘तप्पाउग्गो’त्यादि, साकाराद्युक्तविशेषणविशिष्ट उत्कृष्टावाधायां वर्तमानस्तत्प्रायो-ग्यविशुद्धः संज्ञी वाऽसंज्ञी वा “बंधगो”ति आयुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकः, ज्ञातव्य इति परेणान्वयः । कासु मार्गणास्वित्याह—“असमत्तपणिंदि” इत्यादि, तत्रापार्याप्तापरपर्यायस्यासमाप्तशब्दस्य त्रसान्तेषु प्रत्येकं योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदे, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदे, अपर्याप्तप्रसकायभेदे चेत्येवं

मार्गणात्रये इत्यर्थः । सुगमं चेदम्, अपर्याप्तमार्गणाप्रविष्टानां लब्धपर्याप्ततया मनुष्यसत्कस्य तिर्यग्सत्कस्यैव वाऽऽयुषो बन्धभावात्, तयोर्लुकृष्टस्थितेर्विशुद्धिप्रत्ययत्वाच्चेति ॥१०६॥

अथ मनुष्यगतिमार्गणामेदेऽप्राह—

तप्पाउग्गविसुद्धो मणुसदुगे बंधगो पमत्तजई ।

तह खलु मिच्छादिट्ठी ऐयो तज्जोग्गसंकिट्ठो ॥११०॥

(प्रे०) “तप्पाउग्ग” इत्यादि, सुगमा, नवरं “मणुसदुगे”ति मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मार्गणयोर्द्विके इत्यर्थः । भावना त्वायुष औधिकोन्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनो भावनानुसारेण द्रष्टव्येति ॥११०॥ अथ क्रमप्राप्तशेषमनुष्यगति-देवगतिमेदेषु दिदर्शयिषुस्तत्साम्यादन्यासु मार्गणास्वपि सममेव दर्शयन्नाह—

तप्पाउग्गविसुद्धो असमत्तणर-पणऽणुत्तरसुरेसुं ।

आहारदुगे य सयलएगिंदिय-विगल-पंचकायेसुं ॥१११॥ (गीतिः)

(प्रे०) “तप्पाउग्गविसुद्धो” इत्यादि, अन्नरार्थस्तु सुगमः, नवरमाहारकद्विकेनाऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगौ गृह्येते, “सयलएगिंदियविगलपंचकायेसुं” इत्यत्र सकलशब्दः प्रत्येकं संबध्यते, ततश्च सकलकेन्द्रियभेदानां, सकलत्रिकलेन्द्रियभेदानां, सकलानां पृथिव्यादिपञ्चकायसत्क-भेदानां च ग्रहणात्समस्तास्त्रिषष्टिमार्गणा गृहीता भवन्ति । भावना पुनरेतासु प्रत्येकमपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तिर्यगाद्यपर्याप्तमार्गणाप्रयत्नकर्तव्या । कुतः ? प्रस्तुतत्रिषष्टिमार्गणागतानामपि जीवानां तदन्नरकायु-र्वन्धस्य प्रतिषेधात् । कुत एतासु प्रत्येकं नरकायुर्वन्धप्रतिषेधो ज्ञायते ? अनन्तरभवे नारकतयोत्पाद-प्रतिषेधात् । उक्तं च श्रीप्रज्ञापनावृत्तौ मलयगिरिपूज्यैः—

“देवनारकपृथिव्यादिपञ्चकत्रिकलेन्द्रियत्रिकाणां तथाऽसंख्येयवर्षायुश्चतुष्पदस्वचराणां शेषाणामपि चापर्याप्तकानां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां तथा मनुष्याणां संसुच्छिमानां गर्भव्युत्क्रान्तिकानामप्यकर्मभूमिजानाम् अन्तरद्वीपजानां कर्मभूमिजानामप्यसंख्येयवर्षायुषां संख्येयवर्षायुषामपि अपर्याप्तकानां प्रतिषेधः” इति ।

अत्र पाठे आहारकऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणागतानां प्रतिषेधोऽनुक्तस्तत् तत्र तस्या-ऽप्रस्तुतत्वात्, तथाप्यसौ सुगम एव, आहारकाऽऽहारकमिश्रकाययोगिनां संयततया देवायुष एव बन्धादिति ॥१११॥ अथान्यत्राह—

अण्णाणतिगे अयते तिअसुहलेसा-अभविय-मिच्छेसुं ।

तप्पाउग्गकिलिट्ठो एरो व तिरियो व मिच्छती ॥११२॥

(प्रे०) ‘अण्णाणतिगे’ इत्यादि, मत्तज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञानमार्गणात्रयरूपेऽज्ञानत्रिके ऽसंयममार्गणायां तथा त्रिस्रोऽशुभाः-अप्रशस्ताः कृष्णादिलेश्यामार्गणा अभव्यमिच्छात्वमार्गणे तासु च प्रत्येकं निरुक्तसाकारादिविशेषणविशिष्ट उत्कृष्टावाधायां वर्तमानस्तत्प्रायोग्यद्विष्टो मिथ्यात्वी

‘नरः’—मनुष्यो वा “तिरियो वा”ति पञ्चेन्द्रियतिर्यग्वेत्यर्थः । अत्र मिथ्यास्त्रीति विशेषणमभ्य-
मिथ्यात्वमार्गणयोः स्वरूपदर्शकतयैव बोद्धव्यम् । शेषमार्गणसु तु सामादनसम्यक्त्वभाजामायुष
उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वप्रतिषेधार्थं द्रष्टव्यम् । कुतः सामादनिनामुत्कृष्टस्थितिकायुषो बन्धस्वामितया
प्रतिषेधः क्रियते ? तेषां सामादनिनां नारकतयोत्कृष्टस्थितिकदेवतया वाऽनुत्पादादिति ॥११२॥
अथ गाथाद्वयेन शेषमार्गणास्वायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वप्ररूपणं समापयन्नाह—

मणुसि-त्थी-णाणचउग-विरइ-समइअ-परिहा-ब्बेएसुं ।

ओहि-तिसुहलेसामुं सम्म-खइअ-वेअगेषु भवे ॥११३॥

तदरिहसुद्धपमत्तो सासण-देसे तदरिहसुद्धणरो ।

तप्पाउग्गकिलिट्ठो अमणे ओघव्व सेसासुं ॥११४॥

(प्रे०) “मणुसित्थीणाणचउग” इत्यादि, मानुषीमार्गणायाम्, स्त्रीवेदमार्गणायाम्, मति-
ज्ञानादिज्ञानमार्गणाचतुष्के “विरइ”ति संयममार्गणायाम्, तथा सामायिक-परिहारविशुद्धिक-
छेदोपस्थापनसंयममार्गणसु “ओहि”ति अवधिदर्शनमार्गणायाम् “तिसुहलेसामुं” ति तिसृषु तेजः-
पद्म-शुक्लाख्यासु शुभस्तेरयासु तथा सम्यक्त्वौघ-त्वायिक-वेदकसम्यक्त्वमार्गणसु “भवे”ति एतासु
सप्तदशमार्गणसु प्रत्येकं प्रकृतस्याऽऽयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धस्य स्वामी भवेदित्यर्थः । क इत्याह—
“तदरिहसुद्धपमत्तो”ति तदर्हशुद्धः प्रमत्तः संयतः । साकारेत्यादि स्वयमेव योज्यम् । तदर्हशुद्ध-
ग्रहणमेतासु प्रत्येकमुत्कृष्टायुर्देवगतिसत्कमेव बध्यत इतिकृत्वेति । अथ सामादन-देशसंयममार्गणयो-
राह—“सासणदेसे तदरिहसुद्धणरो” इति सुगमम् । असंज्ञिमार्गणायामाह—“तप्पाउग्गकिलिट्ठो
अमणे” इति, एतदपि सुगमम्, नवरमसंज्ञिनो यावत्स्थितिकं देशायुर्वधन्ति तदपेक्षया नरकायुरधिक-
स्थितिकं बध्नन्तीतिकृत्वा तत्प्रायोग्यक्लिष्ट इत्यभिहितम्, न पुनस्तत्प्रायोग्यविशुद्ध इत्यपीति । अथ
शेषमार्गणास्वतिदिशति—“ओघव्व सेसासु”मिति, अनन्तरोक्तनिरयगत्याद्यसंज्ञिपर्यन्ताः पट्त्रिंशदभ्य-
धिकशतमार्गणास्त्यक्त्वा शेषसु पञ्चेन्द्रियौघादिषप्तविंशतिमार्गणसु प्रत्येकमायुष उत्कृष्टस्थिति-
वन्धस्य स्वामिन ओघवत्साकारादिविशेषणविशिष्टा उत्कृष्टावाध्यायां वर्तमानास्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टमिथ्या-
दृष्टिनिर्यग्मनुष्यास्तत्प्रायोग्यविशुद्धाः प्रमत्तसंयाताश्च भवन्तीत्यर्थः । सुगमम् । शेषमार्गणास्तुनरभत
इमाः—पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चवचोयोगभेद-
काययोगसामान्यौ-दार्किककाययोग-पुंवेद-नपुंसकवेद-क्रोधादिकषायचतुष्क-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भन्व-
संशया-ऽऽहारिमार्गणा भेदा इति ॥११३॥११४॥

तदेवं दर्शिता अष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिन ओघत आदेशतश्चोभय-
थाऽपि । साम्प्रतं तासामेव जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनो दिदर्शयिषुरादौ तावदोधत आह—

सर्वविशुद्धो खवगो हस्तात्र ठिईअ वंधगो सुहुमे ।

छरह चरमठिइबंधे अणियट्टीए उ मोहस्स ॥११५॥

(प्रे०) “सर्वविशुद्धो” इत्यादि, सकपायबन्धकेषु ‘सर्वविशुद्धः’-सर्वाधिकविशुद्धः क्षपकः “सुहुमे”ति सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके ‘हस्तायाः’-जघन्याः स्थितेर्वन्धकः-स्वामी भवतीत्यर्थः । कतिपय-प्रकृतीनामित्याह—“छरह”ति मोहनीयाऽऽयुर्वर्जनां पराणां मूलप्रकृतीनाम्, न पुनर्मोहनीयायुगपि । तत्र सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिवन्धे तयोर्द्वयोः प्रकृत्योरेवाबन्धात् प्रकृतिवन्धाविनाभावी स्थितिवन्धोऽपि तदानीं न जायते इति भावः । तर्हि तयोर्जघन्यस्थितिवन्धस्वामी को भवतीत्याह—“चरमठिइबंधे अणियट्टीए उ मोहस्स”ति तत्र मोहनीयस्य क्षपक एवानिवृत्तिवादराज्ये नवमगुणस्थानके चरमे स्थितिवन्धे, वर्तमान इति शेषः । हस्तायाः स्थितेर्वन्धको भवतीति गम्यते । तुकारस्तु पूर्वापेक्षया विशेषश्लोकः, तेन चायं तत्रायोग्यविशुद्ध इत्यवसेयमिति ॥११५॥

आयुषो जघन्यस्थितिवन्धस्वामी यो भवति तमाह—

आउस्स भवं मिच्छो एरो व तिरियो व लहुअवाहगओ ।

मागाराइविमिद्धो विणोयो तदरिहकिलिद्धो ॥११६॥

(प्रे०) ‘आउस्से’त्यादि, ‘हस्तात्र ठिईअ वंधगो’ इति पूर्वगाथातोऽनुवर्तते, तत आयुषो ‘हस्तायाः’-जघन्यायाः स्थितेर्वन्धको भवेत्, क इत्याह—‘मिच्छो’ इत्यादि, मिथ्यादृष्टिस्तिर्यग्-मनुष्यो वा । कथम्भूत इत्याह—“लहुअवाहगओ” इत्यादि, ‘लघ्वीम्’-जघन्यामसंक्षेप्याद्बालत्वात्समावाहां-गतः प्राप्त इत्यर्थः । शेषाक्षरार्थं स्तुप्राग्वत् । अत्र साकारादिविशेषणानि प्राक्कदावनीयानि, यत्पुनरायुषो जघन्यस्थितिवन्धस्वामितया नरतिरश्चामेव ग्रहणं, तद्देवनारकाणामायुषो जघन्यस्थितिवन्धस्वामितया प्रतिषेधार्थम् ; यत श्लोकतो जघन्यायुर्लब्धपर्याप्तभवसत्कं वध्यते । यदुक्तं श्रीप्रज्ञापनात्रयोविंशति-तमपदे—

“आउस्स एं भंते ! कम्मस्स जहणणठितिवंधते के ? गोयमा । जे एं जीवे असंबंधेपद्धापधिट्ठे सव्वनिरुद्धे से आउते, सेसे सव्वमहंतीएद्वं आउयबंधध्याए, तीसे एं आउयबंधध्याए चरिमकालसमसंसि सव्वजहणियं ठिई अपज्जत्तापज्जत्तियं निवत्तेत्ति, एस एं गोयमा । आउयकम्मस्स जहणणठितिवंधते” इति ।

देवा नारकाश्चानन्तरभवे लब्धपर्याप्ततया नोत्पद्यन्ते, अतो लब्धपर्याप्तभवसत्कायुरवधन्त एते आयुषो जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनोऽपि न भवन्ति । जघन्यावाधायां वर्तमानस्योपादानं पुनरायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धे उत्कृष्टावाधायां वर्तमानस्य ग्रहणं च द्रष्टव्यम् । अन्तर्मुहूर्तप्रमाणजघन्यस्थितिकमायु-र्मनुष्यसत्कं तिर्यकसत्कं च वध्यते, देवायुर्वदेतयोः शुभतया उत्कृष्टस्थितिर्विशुद्ध्या निर्वर्त्यते, जघन्या तु संक्लेशेन । तत्राऽपि सर्वसंक्लेशेनाऽऽयुर्वन्ध एव न भवतीतिकृत्वेषन्मन्दसंक्रिष्टा आयुषो जघन्यस्थिति-बन्धस्वामिनो भवन्तीत्येतत्प्रदर्शयितुम् “तदरिहकिलिद्धो” इति विशेषणमुपात्तम् । अत एव “मिच्छो” इत्यस्यापि ग्रहणं ज्ञातव्यमिति ॥११६॥

तदेवमुक्ता ओघतो जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनः । अथादेशतो मार्गणास्थानेषु प्रतिपिपादयि-
पुरादौ यासु मार्गणासु सप्तमूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिवन्धस्वामिन ओघवत्तास्यतिदिशति—

आउगवज्जाण भवे ओघव्व मणुसतिगे परिणदिदुगे ।

तसदुग-पंचमणवयण-काथो-राल-गयवेणसुं ॥११७॥

लोहे चउणाणेषुं संयम-सुहमेसु दंसणतिगे य ।

सुइल-भविय-सम्मेषुं खइए सण्णिणम्मि आहारे ॥११८॥

(प्रे०) 'आउगवज्जाण भवे' इत्यादि, आयुष्कवर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामोघवत्त्वेत्, जघन्यस्थितिवन्धस्वामीति गम्यते । केषु मार्गणाभेदेष्वित्याह — "मणुसतिगे" इत्यादि, अत्र "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति"रिति न्यायात् मनुष्यत्रिकेनाऽपर्याप्तभेदवर्जाः शेषा मनुष्यौष-
पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणास्त्रयो भेदा ग्राह्याः, इत्यमेव पञ्चेन्द्रियद्विकेन त्रयद्विकेनाऽप्यपर्याप्तभेदवर्जौ द्वौ द्वौ भेदौ ग्राह्यौ । शेषं तु सुगमम् । भावना तु प्रत्येकमोघवत्कर्तव्येति ॥११७॥११८॥

तदेवं मनुष्यगत्यादिषट्त्रिंशन्मार्गणासु सप्तानां जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनोऽतिदिश्य शेष-
मार्गणाविषयकसमानवक्तव्यतामादावभिदधाति—

सेसासु मग्गणासु सत्तएहं बंधगो लहुठिईए ।

सागाराइविसिद्धो विणणेयो तदरिहविसुद्धो ॥११९॥

पज्जत्ता-ऽपज्जत्ता दुहावि जीवाऽत्थि जत्थ तत्थ भवे ।

पज्जत्तो सव्वाहिं पज्जत्तीहिं ति वत्तव्वं ॥१२०॥

(प्रे०) "सेसासु" इत्यादिगाथाद्वयी गतार्था, केवलं यथाऽऽयुस्त्रिकवर्जानां सर्वोत्तरप्रकृतीना-
मुत्कृष्टा स्थितिः संक्लेशाधिक्ये सति निर्वर्त्यते, तथा तासां जघन्या स्थितिर्विशुद्ध्याधिक्ये सति
निर्वर्त्यते । उक्तं च पञ्चसंग्रहे—

"सञ्चाल टिई असुभा, उक्कोसुक्कोमसंकिलेसेण । इयरा उ विसोहीए सुरनरतिरिच्याउए मोनुं" ॥ इति ॥

तत्रापि यासु मार्गणास्वाधिकजघन्यस्थितिर्न बध्यते, तस्य सा न सर्वविशुद्धिप्रत्यया, किन्तु
तत्प्रायोग्योत्कृष्टविशुद्धिहेतुका । यासु मार्गणासु सर्वविशुद्धिप्रत्यया जघन्या स्थितिर्वध्यते, तास्वनन्तरमेव
तत्स्वामिन ओघवत्सर्वविशुद्धा अतिदेशेनाभिहिताः, शेषमार्गणासु त्वोघवज्जघन्यस्थितिवन्धाभावात्-
इन्धका न सर्वविशुद्धाः, किन्तु तत्प्रायोग्यविशुद्धा इत्येतदर्थं शेषमार्गणासु सप्तकर्मणां जघन्य-
स्थितिवन्धस्वामिनिशेषणतया "तदरिहविसुद्धो" इत्यभिहितम् । वस्तुतस्तु सप्तानां सर्वजघन्यस्थितेर-
प्यसंख्येयैरध्यवसायैर्वध्यमानत्वात् तेषां चाध्यवसायानां विशुद्धेः परस्परं तारतम्येन वर्तनात् सर्वविशुद्धा
इव तत्प्रायोग्यविशुद्धा अप्यौघजघन्यस्थितेर्बन्धका भवन्ति, तथाऽपि सर्वजघन्यस्थितिवन्धप्रायोग्य-

सर्वाध्यवसायानां सर्वजघन्यस्थितिवन्धहेतुकत्वादेव सर्वविशुद्धत्वं विवक्षित्वा पूर्वमोधतो यासु चौधिक-
जघन्यस्थितिवन्धस्तासु मार्गणासु तद्वन्धकानां सर्वविशुद्धत्वं दर्शितम् । अत्र शेषमार्गणासु त्रौधिक-
जघन्यस्थितिवन्धाभावाज्जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनस्तत्प्रायोग्यविशुद्धा इत्युक्तमिति ॥११६॥१२०॥

तदेवं दर्शिता शेषमार्गणाविषया सामान्यवक्तव्यता । साम्प्रतं यो विशेषस्तं प्रचिकटयिपुराह—

अथ विसेसो वुच्चइ सत्तरहं बंधगो लहुठिईए ।

पढमदुइअसमये खलु असणिएओ आगओ णेयो ॥१२१॥

णिरय-पढमणिरयेसुं अपज्जणर-देव-भवनजुगलेसुं ।

(प्रे०) “अथ विसेसो वुच्चइ” इत्यादि “अथ”ति यास्वनन्तरं सप्तानां कर्मणां जघन्य-
स्थितिवन्धस्वामी सामान्यतस्तद्योग्यसर्वशुद्ध इति वक्तव्यतया दर्शितस्तासु शेषमार्गणास्वित्यर्थः । तासु
शेषमार्गणासु किमित्याह—“विसेसो वुच्चइ”ति तासु साम्प्रतं विशेष उच्यत इति प्रतिज्ञा । तामेव
निर्वाहयन् तत्तन्मार्गणासु विशेषमाह—“सत्तरहं”मित्यादिना, आयुर्वर्जसप्तानां कर्मणां ‘लघुस्थितेः’-
जघन्यस्थितेर्वन्धकः, ज्ञेय इति गाथाप्रान्तेऽन्वयः । को ज्ञेय इत्याह—“पढमे”त्यादि, मार्गणायाः
प्रथमसमये द्वितीयसमये च वर्तमानोऽसंज्ञित आगतः, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यश्च्युत्वाविग्रहगतौ नारका-
दितया भवप्रथमद्वितीयसमययोर्वर्तमानो जीव इत्यर्थः । केषु मार्गणाभेदेष्वित्याह—“णिरय” इत्यादि,
निरयगन्धोद्य-प्रथमपृथिवीनिरयभेदयोः, अपर्याप्तनर-देवौद्य-भवनपति-व्यन्तरदेवेष्वित्येतेषु परमार्गणा-
भेदेष्वित्यर्थः । इदमुक्तं भवति—एकेन्द्रियाद्यसंज्ञिभ्यश्च्युत्वासंज्ञिन्वेनोत्पद्यमाना जीवा विग्रहगतौ
वर्तमानाः सन्तोऽसंज्ञिप्रायोग्यं स्थितिवन्धं कुर्वन्ति, यदा तूत्पत्तिस्थानं प्राप्नुवन्ति तदाऽऽहारं कुर्वन्तः
संज्ञिप्रायोभ्यमन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणं स्थितिवन्धं निर्वर्तयन्ति, इत्थं हि येषु देवेषु नारकेषु चैते
उत्पद्यन्ते तेषु सर्वजघन्यस्थितिवन्धस्तेषां विग्रहगतौ वर्तमानानामसंज्ञिभ्य आगतानां जीवानां भवति,
असंज्ञिभ्यश्च्युत्वा तु ते प्रथमनरके भवनपतिदेवेषु व्यन्तरेषु चोत्पद्यन्ते, न पुनः शेषनरकेषु देवेषु वा ।
अतः शेषदेवनरकभेदान् विहाय यासु मार्गणासु प्रथमपृथिवीनरकजीवा भवनपतिव्यन्तरदेवा वा
समाविष्टास्ता एव संगृहीताः । अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामिव पर्याप्तमनुष्यमार्गणायामप्यसंज्ञिन
उत्पद्यन्ते, तथापि पर्याप्तमनुष्येषु सर्वजघन्यस्थितिवन्धं कुर्वन्तः लपका एव प्राप्यन्त इति पर्याप्त-
मनुष्यमार्गणां न्यक्त्वाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणा संगृहीता । ननु भवतूक्तदेवनरकगतिभेदपञ्चकस्य संग्रहः,
न पुनरपर्याप्तमनुष्यमार्गणाभेदस्यापि संग्रहो युज्यते, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामसंज्ञिजीवानामेव
समावेशेन भवप्रथमसमयद्वयादन्यत्रवर्तमानानामपि जघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वसम्भवाद् ? इति चेद्,
सत्यम्, तथाऽपि शतक-प्रन्थादिकदत्राप्यभिप्रायविशेषेण मनुष्यापर्याप्तमार्गणायां सैज्यपर्याप्तजीवा एव
गृहीता बोद्धव्याः । उक्तं च शतके—“सेसासु जाण दो दो” इति । अत्र “दो दो”, इत्यनेन संज्ञि-
पर्याप्ता-ऽपर्याप्तौ द्वौ द्वौ जीवभेदावभिमतौ विज्ञेयौ । उक्तं च तच्चूर्णो—“सेसासु जाण दोदो ड” ति

शिरयगहमणुयग्द्वेवगइसु दो दो जीवद्वाराणि, सन्निपज्जत्तगा अपज्जत्तगा य" इत्यादि । इत्थं ह्यपर्याप्त-
मनुष्यमार्गणायां केवलान् संज्ञिजीवानधिकृत्य जघन्यस्थितिवन्धे चिन्त्यमाने भवप्रथमद्वितीयसमययो-
र्गतमाना एव जघन्यस्थितिवन्धस्वामितया प्राप्येरन्निति न कञ्चिदोषमुत्पश्याम इति ॥१२१॥

अथ शेषनिरयदेवभेदेषु प्रस्तुतसप्तकर्मसन्कजघन्यस्थितिवन्धस्वामिविषयकविशेषं दिदर्शयिषुः
प्रमङ्गादन्यत्राऽपि सममेव दर्शयति—

सैमणिरयदेवेसु' विउवदुगे होइ सम्पत्ती ॥१२२॥

(प्रे०) "सैमणिरय" इत्यादि, उक्तशंभेसु द्वितीयादिसप्तमपृथ्वीभेदभिन्नेषु पटुषु निरयभेदेषु
ज्योतिष्कादिसर्वार्थसिद्धविमानान्तेषु सप्तविंशतिदेवगतिभेदेषु 'विउवदुगे' ति वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाय-
योगमार्गणाद्वयरूपे वैक्रियद्विके इत्येतासु पञ्चविंशन्मार्गणासु प्रत्येकं "होइसम्पत्ती" ति सप्तकर्मजघन्य-
स्थितिवन्धस्वामी 'सम्यक्त्वी'—अविरतसम्यग्दृष्टिर्भवतीत्यर्थः । कृतः ? एतास्वसंज्ञिनामनुत्पादाद्
देशविरत्यादीनामेकेन्द्रियविकलेन्द्रियादीनामप्रवेशान्च । प्रविष्टमिथ्यादृष्ट्याद्यपेक्षयाऽविरतसम्यग्दृष्टीनां
स्थितिवन्धो जघन्यतः स्तोको भवतीति तु सुगमः । इति ॥१२२॥ अथान्यत्राह—

तिरिये कम्मणजोगे दुअणाणाऽयत-तिअसुहलेसामुं ।

अभविय-मिच्छत्तेसुं अमणा-ऽणाहारगेसुं य ॥१२३॥

होएज्ज बंधगो खलु बाधरएगिंदियो, असण्णी उ ।

पंचिदियतिरियच्चउग-असमत्तपणिंदियेसु भवे ॥१२४॥

(प्रे०) 'तिरिये' इत्यादि, तिर्यग्गत्योद्यभेदे, कार्मणकाययोगे, मत्तज्ञान-श्रुताज्ञानरूपयो-
र्द्वयोरज्ञानमार्गणयोः, असंयमे, तिसृषु कृष्णाद्यशुभलेश्यामार्गणासु, अभव्य-मिथ्यान्वमार्गणयोः,
'अमणाणाहारगेसुं य' ति असंश्रयनाहारकमार्गणयोश्च । एतासु तिर्यग्गत्याद्यनाहारिमार्गणापर्यन्तासु
द्वादशमार्गणासु सप्तानां जघन्यस्थितिवन्धस्वामिविषयः को विशेष इत्याह—'होएज्ज बंधगो
खलु बाधरएगिंदियो' इति, बाधरैकेन्द्रियो 'बन्धकः'—सप्तानां जघन्यस्थितिवन्धस्वामी भवेदित्यर्थः ।
सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्त इति तु प्रागुक्तसामान्योक्त्यैव यथासम्भवं योज्यम् । खलुशब्दः पादपूर्वै ।
सुगमं चेदम्, एतासु प्रत्येकं क्षपकाणामुपशमकानां वाऽप्रवेशाद्, शेषबन्धकेषु बाधरैकेन्द्रियैरेव स्तोका-
स्थितिवन्धस्य करणाच्चेति । 'असण्णी उ' ति असंज्ञी तु, भवेदिति गाथाप्रान्तेऽन्वयः । सप्तानां
जघन्यस्थितिवन्धस्य स्वामीति गम्यते । कुत्रेत्याह—'पंचिदिये' इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोद्य-पर्याप्ता-
ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरश्चीलनणे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणामेदचतुष्केऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणामेदे
चेत्यर्थः । एतासु प्रत्येकं पञ्चेन्द्रियजीवा एव समाविष्टाः, पञ्चेन्द्रियेषु तु सर्वह्रस्वस्थितिवन्धः
संयतानां भवति, ततश्चाधिकोऽसंज्ञिनाम्, तेभ्यः पुनरधिकः शेषपञ्चेन्द्रियाणामिति प्रागुक्तान्यबहुत्वा-

द्रम्यत एव । अधिकृतमार्गणाम् संयतानामप्रवेशादुक्तनीत्याऽसंज्ञिनो जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनो भवन्तीति तथैवाभिहिता इति । तिरश्चीमार्गणायामसंज्ञिजीवसत्त्वं तु “थीतरपण्दि चरमा चउ” इत्यादिनाऽन्यत्र षडशीत्यादौ स्त्रीपुंवेदमार्गणादावभिहितनीत्याऽत्रापि बोद्धव्यमिति ॥१२३॥१२४॥

एगिंदिये णिगोए पणपुह्वाईसु बायरो णेयो ।

वेइंदियो भवे बंधगो अपज्जत्तसकाये ॥१२५॥

(प्रे०) “एगिंदिये” इत्यादि, एकेन्द्रियौघे, “णिगोए” ति साधारणवनस्पतिकायौघभेदे, “पणपुह्वाईसु” ति पृथिवीकायादिवनस्पतिकायान्तेषु पञ्चसु पृथिव्याद्यौघपर्याप्तभेदेऽपिऽनेषु सप्तमार्गणसु प्रत्येकम् “बायरो णेयो” ति बादरैकेन्द्रियपृथिवीकायादिजीवः सप्तानां जघन्यस्थितिवन्धस्वामी ज्ञेयः । अत्रापि पर्याप्त इति तु प्रागुक्तसामान्योक्त्यावगन्तव्यम् । एवमेवोत्तरत्रापि विज्ञेयम् । कुतो बादर एव स्वामी ? उच्यते, सजातीयपर्याप्ता-ऽपर्याप्तजीवराशिषु पर्याप्तानामिव सूक्ष्म-बादरजीवराशिषु बादरजीवानामेवाधिकविशुद्धिसम्भवेन जघन्यस्थितिवन्धसंभवात् । उक्तं च शकचूर्णो— “एगिंदियेसु सव्वविमुद्धो बायरेण्दिपज्जत्तगोत्ति तंमि सव्वजहन्ना ठिई भवइ” इति । “वेइंदियो भवे” ति द्वीन्द्रियजीवः सप्तकर्मसत्कजघन्यस्थितेर्बन्धकः—स्वामी भवेदित्यर्थः । कस्यां मार्गणायामित्याह—“अपज्जत्तसकाये” ति अपर्याप्तत्रसकायमार्गणाभेद इत्यर्थः । सुगमम्, अत्र संयतानामेकेन्द्रियाणां वाऽप्रवेशादिति ॥१२५॥

तदेवम् “गइ-इंदिय-काये” इत्यत्र गतिमार्गणासत्कसप्तचत्वारिंशद्भेदेषु “ओघध्व मणुसतिगे” इत्यादिना पृथक् पृथक् सप्तकर्मणां जघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वं दर्शितम् । इन्द्रियमार्गणासत्कोत्तविंशति-भेदेभ्यः कायमार्गणासत्कद्विचत्वारिंशद्भेदेभ्यश्च पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदयोस्त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकायभेदद्वये च प्रागोघवत् (गाथा ११७) प्रस्तुतस्वामिनो दर्शिताः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-मार्गणायामनन्तर—(गाथा १२४) गाथायां तथैकेन्द्रियौघाद्यष्टमार्गणसु प्रकृत—(गाथा १२५) गाथायां विशेषोऽभिहितः । इत्थं चावशिष्टा इन्द्रियकायमार्गणाभेदेभ्योऽष्टचत्वारिंशद्भेदाः । तेष्वष्टचत्वारिं-शद्भेदेष्वपि “सेसासु मग्गणासु” इत्यादि० गाथा—(११६-;२०) द्वयोक्तसामान्यवक्तव्यत्वेनैव प्रस्तुत-स्वामिन्वप्ररूपणस्य पर्याप्तत्वेन विशेषवक्तव्यताया अभावात्ता अष्टचत्वारिंशन्मार्गणा विहाय साम्प्रतं क्रमप्राप्तयोगमार्गणामत्कशेषभेदेषु जघन्यस्थितिवन्धस्वामिविषयकविशेषं दिदर्शयिपुराह—

तिरियव्व उरलमीसेऽणंतरकाले सरीरपज्जत्ति ।

यो णिट्टवेउ सो वा णेयो तिसु मीसजोगेसु ॥१२६॥

(प्रे०) “तिरियव्व” इत्यादि, तिर्यग्गत्यौघमार्गणाभेदवत् सप्तप्रकृतीनां जघन्यस्थितिवन्ध-स्वामी बादरैकेन्द्रियजीवो भवतीत्यर्थः । कस्यां मार्गणायामित्याह—“उरलमीसे” ति औदारिक-

मिश्रकाययोगमार्गणायाम् । सुगमम् । केवलमसौ करणपर्याप्तो बोद्धव्यः । कुतः ? लब्धपर्याप्त-
वादर्केन्द्रियापेक्षया करणाऽपर्याप्तस्य वादर्केन्द्रियस्याधिकविशुद्धेः सम्भवादिति । अथ योगमार्गणा-
सत्काऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रकाययोगभेदद्वये न कश्चिद्विशेषोऽभिहितः, अतस्तत्र वक्तव्योऽसौ, नवरमा-
हारककाययोगे "सेसासु" (गाथा-११६) इत्यादिनाऽभिहितसामान्यवक्तव्यतयैव पर्याप्तत्वेन नास्ति
कश्चिद्विशेषोऽभिधानीयः, अर्थात्तत्र सामान्यवक्तव्यतयाऽभिहिताः साकारादिविशेषणविशिष्टास्तत्रायोग्य-
विशुद्धा जीवाः सप्तमूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनः । इत्थमेवकेन मतेनाऽऽहारकमिश्रकाय-
योगमार्गणाभेदेऽपि, नवरं मिश्रयोगमार्गणात्रये "सेकाले पञ्जतिं निदृशुः स व सुण मीसजोगेसु ॥६३॥"
इतिवचनाद् यथा मतान्तरेण शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनादवगन्तरसमये एवोत्कृष्टस्थितिवन्धभावात्तत्र
मिश्रयोगचरमसमये वर्तमाना जीवा एवोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनो भवन्ति, तथा तेन मतेन मिश्रयोग्य-
वस्थायामुत्कृष्टसंक्लेशस्येवोत्कृष्टविशुद्धेरपि तदानीं मिश्रयोगचरमसमये एव सम्भवाज्जघन्यस्थिति-
बन्धोऽपि तदानीं भवति, अतो मतान्तरेण मिश्रयोगचरमसमये वर्तमाना एव जघन्यस्थितिवन्ध-
स्वामिनो भवन्तीत्येतावद्विशेषस्य सद्भावात् दर्शयति— "एतरेकाले शरीरपञ्जतिं मित्यादि,
गतार्थम् । केवलमाद्यमते उक्तविशेषणानामप्यत्रानुवर्तनादौदारिकमिश्रकाययोगे शरीरपर्याप्तिनिष्पत्तेरर्वा-
क्समये वर्तमाना वादर्केन्द्रियास्तथा वैदिकमिश्रकाययोगे शरीरपर्याप्तिनिष्पत्तेरर्वाक्समये वर्तमानाः
सुम्यग्दृष्टिदेवनरकाः सप्तानां जघन्यस्थितिवन्धस्वामिन इति बोद्धव्यमिति ॥१२६॥ गता योग-
मार्गणाभेदश्चपि प्रस्तुतस्वामित्ववक्तव्यता । अथ वेदकषायादिमार्गणासत्कशेषभेदेषु दर्शयन्नाह—

वेश्म-कषायतिगेषुं समद्वय-क्षेपसु बंधगो खवगो ।

होइ चरमठिइबंधे विभंग-देसेसु संयमाभिमुहो ॥१२७॥ (गीतिः)

(प्र०) 'वेश्मकषायतिगेषुं' मित्यादि, त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं योजनाद् वेदत्रिक-कषायत्रिकयोः ।
अत्र कषायत्रिकेन लोभमार्गणावर्जाः शेषाः क्रोधादिमार्गणा गृह्यन्ते, लोभमार्गणायां प्रागेवैवदति-
दिष्टत्वादिति । तथा "समद्वय" इत्यादि, सामायिकसंयम-क्षेदोपस्थापनसंयममार्गणयोः प्रत्येकम्
'बंधगो खवगो'ति सप्तप्रकृतिसत्कजघन्यस्थितिवन्धकः—स्वामी 'क्षपकः'—चारित्रमोहनीयक्षपकः,
भवतीत्युत्तर्गर्भेऽन्वयः । ननु कथं चारित्रमोहनीयक्षपक इति गम्यते ? उच्यते, "चरमठिइबंधे"
इत्यनन्तरवक्ष्यमाणवचनेन, यतः प्रकृतमार्गणास्वपि निरुक्तक्षपको जघन्यस्थितिवन्धस्वामी तदा भवति
यदाऽसौ चरमस्थितिवन्धे वर्तन्ते । अत्र चरमस्थितिवन्धः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकमत्को ग्रहीतुं न
युज्यते, अतोऽसौ प्रस्तुतस्त्रीवेदादितत्तन्मार्गणाऽपेक्षया ग्राह्यः । स्त्रीवेदादिना क्षपकश्रेणिमास्त्व स्त्री-
वेदादेरुदयविच्छेदादवगन्भाविनं तत्तन्मार्गणासत्कं चरमस्थितिवन्धं कुर्वन् जीवः प्रकृतस्थितिवन्धस्वामी
भवतीति भावः । "विभंगदेसेसु"ति विभङ्गज्ञान-देशप्रयममार्गणयोः प्रत्येकं "संयमाभिमुहो"ति
"चरमठिइबंधे" इत्येतद्देहलीढीपकन्यायेनावपि संबध्यते, ततः प्रस्तुतमार्गणयोश्चरमस्थितिवन्ध-

निर्वर्तकः यः संयमाभिमुखः स इत्यर्थः, यस्मिन् स्थितिवन्धे समाप्ते सति संयतो भविष्यति तस्मिन् स्थितिवन्धे वर्तमान इतिपात्तः । इति ॥१२७॥

अथ मिश्रयोगमार्गणात्रयवद् यासु मार्गणासु विकल्पद्वयं ताः संगृह्य तत्राह—

अप्रमत्तो अहवा से बंधम्मि कयकरणो हवेहिइ जो ।

सो णेयो परिहारे तेउपउमवेअगेसुं य ॥१२८॥

(प्रे०) “अप्रमत्तो” इत्यादि, वक्ष्यमाणमार्गणासु सप्तकर्मसत्कजघन्यस्थितिवन्धकोऽप्रमत्त-संयतः, ज्ञेय इति परेणान्वयः । तास्वेष मार्गणासु मतान्तरेण पुनरन्यं विशेषमाह—“अहवा” इत्यादिना, अथवा-मतान्तरे “से बंधम्मि कयकरणो हवेहिइ जो सो णेयो”ति शेषशब्दस्यानन्तर्यार्थकत्वेनाऽनन्तरे ‘वन्धे’-स्थितिवन्धे कृतकरणो भविष्यति यः स ज्ञेयः, एवम्भूतोऽप्रमत्तसंयत ज्ञातव्य इत्यर्थः । स्वस्थानाप्रमत्तसंयतापेक्षया क्षायिकसम्यक्त्वाभिमुखस्यास्य विशुद्धेराधिक्यादित्यभिप्रायः । कामु मार्गणास्त्रित्याह—‘परिहारे तेउपउमवेअगेसुं य’ति परिहारसंयमे तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-वेदक-सम्यक्त्वमार्गणाभेदेषु च, एतासु चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । इयमत्र भावना—क्षपकश्रेणिं प्रतिपत्ता यदाऽनन्तानुबन्धिचतुष्कं मिथ्यान्वमोहनीयं मिश्रमोहनीयं च यथाविधि सर्वथा क्षपयित्वा क्रमशः सम्यक्त्वमोहनीयस्यापि चरमज्जगदं क्षपयति तदा कृतकरण उच्यते । उक्तं च कषायप्राभूत-चूर्णो—“चरिमं टिठविस्वडण्णिट्ठिदे कदकरणिज्जो ति मण्णदे !” इति । एवम्भूतो हि कृतकरणोऽ-विरतसम्यग्दृष्ट्यादीनामन्यतमो भवति, तत्राप्रमत्तसंयतस्य शेषाविरतसम्यग्दृष्ट्याक्षपेक्षया विशुद्धत्वा-दसावेव प्रकृते गृह्यते, अयं ह्यप्रमत्तकृतकरणः कृतकरणाद्धायाः प्राक् सम्यक्त्वमोहनीयस्य चरमस्थिति-स्वरुडमुत्कीरयन् सम्यक्त्वपुद्गलांश्च वेदयन् यं चरमस्थितिवन्धं करोति सः स्थितिवन्धः प्रस्तुत-मार्गणाभाविसर्वस्थितिवन्धापेक्षया स्तोकः भवति, तदानीं क्षायिकसम्यक्त्वाभिमुखस्य तस्य शेषाप्रमत्त-संयतापेक्षया विशुद्धत्वादिति द्वितीयमताभिप्रायः । प्रथममताभिप्रायेण तु क्षायिकसम्यक्त्वाभिमुखानां कृतकरणाद्धायाः प्रागनन्तरस्थितिवन्धं कुर्वतां यथा जघन्यस्थितिवन्धप्रायोग्यविशुद्धिरवाप्यते, तथा स्वस्थानगतानामपि निमित्तान्तरेण तादृशी विशुद्धिरवाप्यते । इत्थं न केवलं कृतकरणाद्धायाः प्रागनन्तरस्थितिवन्धं कुर्वतामेव जघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वम्, किन्तु तदन्याऽप्रमत्तसंयतानामपि । ततः प्रथममतेऽप्रमत्त इत्येतावन्मात्रमभिहितम्, तेनैवोक्तोभयविधवन्धकानां ग्रहणात् । द्वितीयमते तु केवलानां कृतकरणाद्धायाः प्रागनन्तरस्थितिवन्धं कुर्वतां जघन्यस्थितिवन्धस्वामितया—“से कालम्मि” इत्यादिविशेषाभिधानपूर्वकं स्वस्थानसंयतानां जघन्यस्थितिवन्धस्वामितया प्रतिषेधः कृत इति । ननु एतन्मतद्वयमपि परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां वेदकसम्यक्त्वमार्गणायां च कृतकरणाद्धायाः प्रागनन्तरस्थितिवन्धं कुर्वतां जीवानां प्रवेशात् तयोर्द्वयोर्मार्गणयोः सङ्गच्छते, न पुनः शेषयोस्तेजः-

पद्मलेश्यामार्गणयोरपि, अन्यत्र कृतकरणाद्धायाः प्रागनन्तरस्थितिबन्धं कुर्वन्तां शुक्ललेश्याया एव सद्भावप्रतिपादनात् । उक्तं च—

“सम्यक्त्वस्य च चरमस्थितिखण्डे उक्तीर्णं सति असौ क्षपकः कृतकरण उच्यते । अस्यां च कृतकरणाद्धायां वर्तमानः कश्चित् कालमपि कृत्वा चतस्राणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते । लेश्यायामपि च पूर्वं शुक्ललेश्यायामासीत्, सम्प्रत्यन्यतमस्यां गच्छति” इति ।

इत्थं कृतकरणाद्धायाः प्राक्शुक्ललेश्यायाः प्रतिपादनात् कृतकरणाद्धायाः प्रागनन्तर भावि-
जघन्यस्थितिबन्धस्तेजोलेश्यामार्गणायां पद्मलेश्यामार्गणायां वा नावाप्यते, तथा च सन्धुभयमतेऽपि
तयोर्द्वयोर्मार्गणयोरजघन्यस्थितेर्बन्धकाः स्वस्थानाऽप्रमत्तसंयता एव । इत्थं न सद्गच्छते लेश्यामार्गणा-
द्वये “से कालम्भि” इत्यादिना द्वितीयमताभिधानम् ? इति चेद्, न, कषायप्राभृतचूर्णौ दर्शनमोह-
क्षपणायाः प्रारम्भतः प्रवृत्ताया अन्यतमशुभलेश्याया यथोत्तरं परिणामविशुद्ध्या विशुद्धयमानायाः
कृतकरणाद्धायामप्यन्तमुहूर्ते प्रवृत्त्य तत्पश्चात्कापोताद्यन्यतमलेश्यारूपेण परिणतिरभिहिता । उक्तं च
कषायप्राभृतचूर्णा—

“जइ तेउ-पन्ह-सुकके धि अंतमुहुत्तकदकरणिज्जो” इति ।

अर्थाद्—यः तेजः-पद्म-शुक्लान्यतमस्यां पस्यां लेश्यायां दर्शनमोहनीयक्षपणां प्रारभते, स
तस्यां लेश्यायामेवान्तमुहूर्ते कृतकरणो भवति, स एव कृतकरणाद्धाया अर्वाग्भाविनं चरमं जघन्यस्थिति-
बन्धं कुर्वन् शुक्ललेश्यायामिव तेजः-पद्मलेश्ययोरपि जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवतीत्येतस्यापि मतान्तर-
स्य सत्त्वात् तेजः-पद्मलेश्यामार्गणयोरपि विकल्पाभिधानं नासङ्गतमित्यलं विस्तरेण ॥१२८॥

अथान्यत्राह—

उवसामगो उवसमे वट्टंतो होइ चरमठिइबंधे ।

सासाणे चउगइयो निवडंतो संयमा व भवे ॥१२९॥

(प्र०) “उवसामगो” इत्यादि, “उवसमे” ति औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायासुपश्रंणि-
मारोहन् चरमे स्थितिबन्धे वर्तमान उयशामकः समकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धस्वामी भवति । अनिष्टति-
करणगुणस्थानचरमस्थितिबन्धे मोहनीयस्य, सूक्ष्मसम्प्रायगुणस्थानकचरमस्थितिबन्धे मोहनीयापु-
र्वर्जानां परणामिति विवेकः । इति । “सासाणे” ति सासादनसम्यक्त्वमार्गणायां “चउगइयो” ति
चतुर्गतिकः, नारकाद्यन्यतम इत्यर्थः । अत्रैव विकल्पान्तरमाह—“निवडंतो संयमा व भवे” ति
“व” ति वा-अथवा, स च प्रकृतमार्गणायां प्रकृतजघन्यस्थितिबन्धस्वामिर्विषयकविकल्पप्रदर्शनपरः ।
ततोऽन्यविकल्पेन संयमात् निपतन् यः सासादन्यभूत्, स तत्र प्रथमं स्थितिबन्धं कुर्वन् जघन्यस्थिति-
बन्धस्वामी भवेदित्यर्थः ॥१२९॥

मीसे यो पडिवज्जइ अणंतरम्मि समयम्मि सम्पत्तं ।

सो बंधगो हवेज्जा सत्तएह ठिईअ हस्साए ॥१३०॥

(प्रे०) “मीसे यो” इत्यादि, मिश्रदृष्टिमार्गणायां योऽनन्तरे समये सम्यक्त्वं प्रतिपत्स्यते, स बन्धको भवति । कस्या इत्याह—“सत्तण्हे” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तकर्मणां ह्रस्वायाः—जघन्यायाः स्थितेः । अत्र सम्यक्त्वाभिमुखस्य ग्रहणं मिश्रदृष्टीनां सम्यग्मिध्यात्त्रगुणस्थानादनन्तरमेव देशसंयमादिगुणस्थानेषु गमनाभावेन देशसंयमाद्यभिमुखत्वस्याऽसम्भवात्, न पुनर्देशसंयमाद्यभिमुखानां व्यावृत्त्यर्थम् । उक्तं च कर्मप्रकृत्युवोरणाकरणवृत्तौ—

“सम्यग्मिध्यादृष्टियुगपत् सम्यक्त्वं संयमं च न प्रतिपद्यते, तथाविशुद्धेरभावात्, किन्तु केवलं सम्यक्त्वमेव” इति । शेषमिश्रदृष्टिजीवापेक्षया सम्यक्त्वाभिमुखानां विशुद्धतरत्वेन जघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वमिति तु सुगम इति ॥१३०॥

तदेवं प्रदर्शिता सप्तकर्मणां जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनः । साम्प्रतमुक्तशेषस्यायुःकर्मणो जघन्यस्थितिवन्धस्य स्वामिनः प्रदिदर्शयिषुः प्रागुक्तनीत्या सर्वमार्गणाविषयकसामान्यवक्तव्यतामादावेव दर्शयति—

तप्पाउग्मकिंलिट्टो सब्वत्थाऽऽउस्स लहुठिईअ भवे ।

मागाराऽविसिट्टो वट्टतो लहुअबाहाए ॥१३१॥

(प्रे०) “तप्पाउग्मे” इत्यादि, सुगमम्, नवरं तत्प्रायोग्यसंक्रिष्टस्य ग्रहणमौघिकजघन्यस्थितिकायुर्वन्धवत् प्रत्येकं मार्गणास्थानेषु तिर्यग्-मनुष्य-देवायुषामन्यतमस्य जघन्यस्थितिकायुषो बन्धभावात्, तस्य च जघन्यस्थितेः संक्लेशप्रत्ययत्वात् । इवमुक्तं भवति—यदि कस्यामपि मार्गणायां जघन्यस्थितिकमायुर्निरयगतिसत्कं बध्नीयात्तदा तस्य निरयायुषोऽशुभत्वेन तस्य जघन्यस्थितेर्बन्धकरतत्प्रायोग्य-विशुद्धः स्यात् । न चैतद्भवति, सप्तमपृथिवीनैरथिक-तेजो-त्रायुकायिकानां तिर्यगायुषस्तथा मंस्येयवर्षायुषां पृथ्वीनां सम्यग्दृष्टिमनुजतिरथा च देवायुष एव जघन्यस्थितेर्बन्धात्, एवमेवाऽऽनतकल्पादिदेवानां मनुष्यमत्कस्यैवाऽऽयुषो बन्धात्, शेषाणां च नैरथिकादीनां मनुष्यमत्कस्य तिर्यकमत्कस्य वा जघन्यस्थितिकायुषो बन्धभावात् । इत्थं हि सर्वमार्गणास्त्रायुषो जघन्यस्थितेर्बन्धकाः संक्रिष्टाः प्राप्यन्ते । संक्लेशे तत्प्रायोग्यत्वविशेषणं तु प्राग्बदेव बोद्धव्यमिति ॥१३१॥

तदेवं सर्वमार्गणाविषयकसामान्यवक्तव्यतां प्रदर्शयितुमाह—

इह यो होइ विसेसो सो वुच्चइ बंधगो लहुठिईए ।

आउस्स जाणियव्वो सब्वेसुं णिरयभेएसुं ॥१३२॥

तिरिय-पणिंदितिरिय-णरतिग-सुर-गेविज्जअंतदेवेसुं ।

उरले उरालमीसे विउवम्मि य मिच्चदिट्ठीयो ॥१३३॥

(प्र०) “इह यो होह” इत्यादि, ‘इह’-मार्गणास्थानेषु भयमाने आयुषो जघन्यस्थिति-
बन्धस्वामिन्यविषये यो भवति विशेषः स उच्यते इति प्रतिज्ञा, तामेव निर्वाहयन्नाह-“बंधगो” इत्यादि,
आयुषो ‘लघोः’-जघन्याः स्थिते-‘बन्धकः’-स्वामी ज्ञातव्यः, अस्य चान्वयो द्वितीयगाथाप्रान्ते
“मिच्छादिद्वयो” इत्यनेन, तेज मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्य इत्यर्थः । एतेन सम्यग्दृशामायुषो जघन्यस्थिति-
बन्धस्वामितया व्यञ्छेदः कृतः । कासु मार्गणास्वायुषो जघन्यस्थितेः स्वामी मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्यः ?
इत्याह-“सञ्चेषु णिरयभेसु”मित्यादि, अपृष्वपि निरयगतिमार्गणाभेदेषु, “तिरिय”ति
तिरियगत्योषे, “पणिदितिरियनरातिग”इत्यत्र त्रिकशब्दस्योभयत्र योजनात् पञ्चेन्द्रियतिरियत्रिकं
नरात्रिकं च, अत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः प्रत्येकत्रिकेनापर्याप्तभेदवर्जाः शेषास्त्रयस्त्रयो भेदा
ग्राह्यास्तेषु षट्भेदेष्वित्यर्थः । “सुर”ति देवगत्योषभेदे “गेविज्जमंतदेवेषु”ति भवनयत्यादिषु
नवमश्रैवेयकान्तेष्वन्येषु चतुर्विंशतिदेवगतिमार्गणाभेदेषु चेत्यर्थः । “उरले”ति आदारिककाययोगे
“उराल मोसे”ति आदारिकमिश्रकाययोगभेदे, तथैव “विउवम्मि य”ति वैक्रियकाययोगभेदे, चः
समुच्चये, एतासु समुच्चितासु त्रिचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । इति ॥१३२॥१३३॥

अथान्यत्राह—

तिरियो णरो व मिच्छो होह पणिदियदुगे तमदुगे य ।

पणमणवयेसु काये वेअतिगे चउकसायेसु ॥१३४॥

अणणाणतिगे अयते चक्खु-अचक्खूसु असुहलेसामुं ।

भविया-ऽभवियेसु तहा मिच्छे सरिणम्मि अहारे ॥१३५॥

(प्र०) “तिरियो णरो व” इत्यादि, पञ्चेन्द्रियद्विकाद्याहारिष्यन्तेषु षट्त्रिंशन्मार्गणा-
भेदेषु प्रत्येकं “मिच्छो”ति मिथ्यादृष्टिस्तिर्यग् मनुष्यो वाऽऽयुषो जघन्यस्थितिवन्धस्वामी भवति,
न पुनर्देवो नारको वा; देवनारकाणामनन्तरभवे लब्ध्यपर्याप्ततद्योत्पादाभावेन प्रकृतमार्गणासु बन्ध-
प्रायोग्यस्य जघन्यस्थितिकस्य लब्ध्यपर्याप्तत्कायुषो बन्धस्याकरणात्, न वा सम्यग्दृष्टितिर्यग्-मनुष्याः,
तेषां देवायुष एव बन्धभावादिति भावः । अक्षरार्थस्तु सुगमः, केवलम् “पणिदियदुगे” इत्यनेनापर्याप्त-
पञ्चेन्द्रियभेदवर्जां पञ्चेन्द्रियोष-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदां ग्राह्यौ, तथैव “तसदुगे” इत्यनेनाऽप्यपर्याप्त-
श्रसकायभेदवर्जां शेषौ त्रसकायभेदां ग्राह्याविति ॥१३४॥१३५॥

अथ मार्गणान्तरेष्वह—

मिच्छादिद्वी देवो सुहलेसामुं सुरो व णिरयो वा ।

णाणतिगे ओहिम्म य सम्म-खद्दअ-वेअगेसु भवे ॥१३६॥

(प्र०) “मिच्छादिद्वी देवो” इत्यादि, शुभासु-प्रशस्तासु तेजः-पन्न-शुक्लेश्यासु प्रत्येकं
मिथ्यादृष्टिदेवः, आयुषो जघन्यस्थितिवन्धस्वामीति गम्यते । सुगमम् । मनुष्यतिरश्चां वर्जनं तेषामन्य-

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामुक्तुष्टस्थितिवन्धस्वामिप्रदर्शकं यन्त्रकम्

श्रोतः—साकार-जाग्रत्-श्रुतोपपुक्त-संक्षिप्त-सर्वपर्याप्तपर्याप्ता-ऽन्यतमगतिक-मिथ्यादृक्-सर्वसंक्षिप्ता जीवाः, तादृगीयन्मध्यम-संक्षिप्ता जीवा वा (गाथा-५७।७८) । आदेशतः—सर्वमागेषासु सामान्यतः साकारादिविशेषणविशिष्टा जीवाः, ते च मार्गणाप्रविष्टपर्याप्ता-ऽपर्याप्तजीवानां मध्ये पर्याप्ता एव, विशेषतस्तु निम्नलिखितपन्नोक्तस्वरूपा इयाः (गाथा-८२।८३।८४) ।

स्वामिनः	गतिः	इन्द्रियः	कायः	योगः	विच्छिन्नः	गाथाः
श्रोतवन्—	सर्वनिरयभेद०, अपर्याप्तवर्जितिर्यग्यनुष्य- भेद०, देवोष०, मन्त्रपर्याप्तिसमष्टाश्रा- न्त्याष १ २७	पञ्चेन्द्रियोष- तत्पर्याप्तौ, २	तप्तोष- तत्पर्याप्तौ, २	सर्वमनोवचो० कायपंगोष० ११	४२	८१-८५- ८६
तत्प्रायोग्यसंक्षिप्तः संज्ञिनः—	अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेद० १	अपर्याप्त- पञ्चेन्द्रिय० १	अपर्याप्त- वस० १		३	८७
"	अपर्याप्तमनुष्य० पञ्चावुत्तरदेवभेद० ६	शेषसर्वभेद० १६५	शेषसर्व० ३६५		६१	८८-८९
"	आत्मतादिनवमपैवेयकान्तत्रयोदशदेव- भेद० १३			श्रौदारिकमिश्र० कार्मण० २	१५	९०-९७- ९४
सर्वसंज्ञि० सहस्रान्तरदेवनारकाः	वैक्रिय० १	१	९२
तत्रा० संज्ञि० मिय्याः इवेवतारकाः	वैक्रियमिश्र० १००	१	९२
" प्रमत्तसंयताः—	आहारकद्विकं, ५००	२	९३
सर्वसंज्ञि० ५. मिथ्यादृक्तिर्यग्यनुष्याः	श्रौदारिक० १	१	९४

† आदर-सूक्ष्मयोर्मध्ये आदरा एव । ६६ मिश्रयोगत्रये मतान्तरे शरीरपर्याप्तित्तिष्ठापनप्राक्समयवतिनो जीवा एव ।

स्वामिनः	वेदः	कथायः	ज्ञानम्	संयमः	दर्शनं	लेख्या	भक्त्यः	सन्धयस्त्वं	संज्ञी	आहारी	↑	↑
सर्वसंक्रि. X संक्रिमिथ्याहृष्टयः	त्रिक० ३		प्रज्ञान० ३			कृष्ण० १	प्रथ० १	मिथ्या० १		प्रना० १	१०	६५-६७
" X मिथ्याहृष्टयनारकाः	*नी. का.	२	१०१
" X ईशानान्तदेवाः	तेजो०	१	१०२
" X सतत्सुभारादिसहस्रासन्ताः	एव० १	१	१०२
राज्या० हृष्टिष्ट-मिथ्यात्वाभिमुखाः				देवा० १				मिथ्या० १			२	१००-१०४
" " " इतरे वा								सात्वा० २			१	१०४
" " प्रविरतसम्पृक्तः			मति० अत० प्रवधि० ३		प्रवधि० १			सम्पत्त्वोप० वेद०घोष०			७	६८
" असंयमाभिमुख प्रमत्ताः			मनःपर्यव०								१	६६
" मिथ्यात्वाऽभिमुख "				संयमोप० सामाधिक. धेद० ३							३	६६
" वेदाभिमुखाः				परिहार०								
" सान्तादिमिथ्याहृष्टेयाः—	शुक्ल० १	१	१००
" चतुर्गतिकान्तमाः—	सायिक०			१	१०२
" पञ्चेन्द्रियाः—	परसंज्ञी	१	१०३
तन्नुपशमकोऽनिवृत्तिशास्त्रस्थितिकन्धे,				मृष्टम०			१	१०४
" अवेद्यवस्थानवरमन्धे, अवेद०			१	१०१
ओद्यग्रन्		संज्ञ० ५	उत्स० १	चतु. अच० २		मस्य० १	संज्ञी० १ आहारी० १	१०	८१-८५

† नवरमनाशरके तत्प्रायोग्यसंलिष्टा एव । X सर्वसंलिष्टवद्रीशः मन्थमसंक्रिष्टा अपि ।

* नील-कारोत्तलेश्यामार्गणाद्वये मत्तान्तरेण केवला नारकजीवा एव, न पुनर्देवाः ।

ओघतः—मोहनीयाऽऽघुर्वर्जानां षण्णां प्रकृतीनां सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे वर्तमानाः
क्षपकाः । मोहनीयस्याऽनिवृत्तिदादरचरमस्थितिबन्धे वर्तमानाः क्षपकाः ।

(गीथा—११५)

स्थाभिनः	गतिः	इन्द्रियः	कायः
ओघवत्—	अपर्याप्तवर्जास्त्रयो मनुष्यगतिभेदाः, ३	षड्चेन्द्रियोष- तत्पर्याप्तभेदो, २	त्रयोष-तत्पर्याप्तो, २
नत्प्रायोग्यविशुद्धाः त्रिप्रहृगतिस्था असंज्ञिम्य प्रागताः संज्ञिनः—	निरयोष०, प्रथमनिरय०, अपर्याप्तमनु०, द्वयोष०, मवन० व्यन्तर० ६		
„ सम्यग्दृष्टयः—	द्वितीयाद्याः ६ निरय- भेदाः, ज्योतिष्काद्याः २७ देवभेदाश्च,		
„ बादरेकेन्द्रियाः—	तिर्यग्गरोषः १		
„ असंज्ञिनः—	सर्वे षड्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, ५	अपर्याप्तषड्चे- न्द्रियः १	
„ बादरजीवाः—		एकेन्द्रियोष) १	५ पृथिव्याद्योषभेदाः साधारणवर्णोषश्च ६
„ द्वीन्द्रियाः—			अपर्याप्तत्रयः,
„ बादरेकेन्द्रियाः—
मार्गस्याविच्छेदादर्वाक् चरमस्थितिबन्धे क्षपकाः—			
नत्प्रायोग्यविशुद्धसंयमाभिमुख्याः—
स्वस्थानाऽऽप्रमत्तसंयताः, अथवाऽऽनन्तरस्थितिबन्धे ये कृतकरणा भविष्यन्ति तादृशोऽऽप्रमत्तसंयताः—			
सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिबन्धे वर्तमाना उपशमकाः— मन्यतमगतिस्थाः, अथवा संयमादागत मनुष्याः— तत्प्रा० विशु० सम्यक्स्थाभिमुखाश्चरमे स्थितिबन्धे—
सामान्यवस्तव्यतयोक्ताः साकारादिविशेषण विशिष्टा- स्तत्प्रायोग्यविशुद्धा एकेन्द्रियाविजीवाः—		षोषाः १५ ❧	षोषाः ३३ X

❧ ओघवर्जा बादर-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-सूक्ष्म-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नाः षड् एकेन्द्रियभेदाः, ओघ
पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदात् नव विकलेन्द्रियभेदाश्च ।

X ओघवर्जा बादर-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-सूक्ष्म-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नाः पृथिव्यप्तेजोवायुसाधारण-
वनस्पतिकायसत्काः प्रत्येकं षड् षड्, त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदाश्च ।

—जघन्यस्थितिवन्धस्वामिप्रदर्शकं यन्त्रम्

[१३६]

प्रादेशतः—सर्वमार्गणासु साकारोपयोगादिविशेषणविशिष्टा जीवाः, तेऽपि मार्गणायां पर्याप्ता-ऽपर्याप्तजीवसत्त्वे पर्याप्ता एव, तेऽपि विशेषतो निम्नाऽऽलिखितयन्त्रोक्तस्वरूपाः ।

(गाथा—११६।१२०)

योगः	वेदः	कथा०	ज्ञानम्	संयमः	दर्शनं	लेश्या	भज्यः	सम्य०	संज्ञी	आहारी	समस्त मार्गणाः	गाथा- ङ्काः
सर्वे मनोबन्धो- भेदाः, प्रौदारि० कामयोगीष० १२	अथगतवेदः, १	लोभः १	मत्स्या- वीनि ४	संयमौघ० सूयमसं० २	बभ्रु- रादि० ३	शुकला १	भव्यः १	सम्य- कत्वौघ० सायि० १	संज्ञी १	आहारी १	३६	११७ ११८
											६	१२१ १२२
वैक्रिय-तन्मि- अयोगी* २											३५	१२२
कार्मणः, १			मत्स्य श्रुता, २	असंय० १		पशुभा ३	अम० १	मिथ्या० १	असं० १	अना० १	१२	१२३
											५	१२४
											७	१२५
द्वौ-मिश्रः* १	१	१२५ १२६
....	स्त्री-पुं-नपुं, ३	शेषाः ३	विभङ्ग०	गामा. छेद. २	देश०					८	१२७ १२७
				परिहार० १		तेजः- पत्र० २		क्षायोप० १			४	१२८
								मोप० सासाद० मिश्र०			१ १ १	१२६ १२६ १३०
आहारकः, तन्मिश्रश्च २*											५०	११६ १२०

* मिश्रयोगमार्गणास्थानत्रये मतान्तरेण शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनादत्रागु मिश्रयोगचरमसमये वर्तमाना जीवा एव प्रस्तुतस्वामिनो भवन्ति, न पुनर्मार्गणाद्विचरमसमयादिषु वर्तमाना इति (गाथा १२६) ।

आयुष उल्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिप्रदर्शकं यन्त्रम्

ओघतः—उल्कृष्टावाधायां वृत्तमानाः साकारादिविशेषणविशिष्ट-सर्वपर्यान्तिपर्याप्त-तन्त्रायोग्यसंक्लिष्ट-संक्षि-मिथ्यादृष्टयः
पञ्चेन्द्रियतिर्यग्-मनुष्याः, साकारादिविशेषणविशिष्ट-तन्त्रायोग्यविशुद्धप्रमत्तसंयताश्च (गाथा—७६।८०) ।

आवेगतः—सामान्येन साकारादिविशेषणविशिष्टा एव, विशेषतस्तु निम्नाऽऽलिखितयन्त्रोक्तस्वरूपाः ।

स्वामिनः	गति०	इन्द्रिय०	काय०	योग०	श्लो०	गाथाङ्काः
तन्त्रायोग्य- विशुद्ध० सस्यग्दृष्टि० मिथ्यादृष्टिश्च	निरयोध० प्रथमादियत्सृष्टि- व्यान्ताश्च, द्वयोध० त्रैश्रेय- कान्ताश्च । ३२			वैक्य० १	३३	१०७
" "	मिथ्यादृष्टि०	सप्तमधुषिनीनिरयोध० १		श्रीदारुकिमिश्र० १	२	१०८
" संक्लिष्ट०संज्ञिविध्यादृष्टि	अपर्याप्तानवर्तितिर्यग्गतिभेद० ४				४	१०९
" विशुद्ध० संज्ञी, असंज्ञी,	अपर्याप्तपञ्चन्द्रियतिर्यग्० १	अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय० १	अपर्याप्तः ३० १		३	१०६
" " प्रमत्तसंयत० संक्लिष्ट०मिथ्यादृष्टिश्च ।	मनुष्योध-तत्पर्यान्तभेदो ३				२	११०
" विशुद्ध०	मत्पर्यान्तमनु० पञ्चानुत्तरदेव० सर्वे एकेन्द्रिय० ६ " विकले० १६	सर्वे एकेन्द्रिय० " विकले० १६	पृथिव्यादिवनस्प- त्यान्तसर्व० ३६	शाह्वारक० तन्त्रिकप्रयोगश्च । २	३६	१११

शोधतः—जघन्याबाधायां वर्तमानाः साकारादिविशेषणविशिष्ट-तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टास्तिर्यग्-
मनुष्याः (गाथा—११६)

स्वामिनः	गति०	इन्द्रिय०	काय०	योग०	वेद०	कथा०
तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टमिथ्या- दृष्टितिर्यग्मनुष्य०		पञ्चेन्द्रियीष- तत्पर्याप्तभेदो २	त्रसोष- तत्पर्याप्ती, २	सर्वमनोवचो० कायीष० ११	वेद- त्रय० ३	सर्व० ४
„ मिथ्याहृदेव०						
„ नारक-देव०						
„ प्रमत्तसंयत०						
तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टदृष्ट०	प्रपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्० प्रपर्याप्त- मनुष्य० पञ्चानुसरदेव० ७	सर्वेकेन्द्रिय० सर्वविकल० प्रपर्याप्त- पञ्चेन्द्रिय० १७	पृथिव्यादिवन- स्पथान्ताः मनभेदाः ३६५ प्रपर्याप्तत्रस० ४०	ग्राहारक० तन्मिश्र० २		
तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टमिथ्या- दृष्टि०	सर्वे निरयभेद०, तिर्यगात्योष० पञ्चेन्द्रियतिर्यगोष० तत्पर्याप्त० तिरश्ची, मनुष्योष० तत्पर्याप्त० मानुषी, देवीष० नवमशैवेयकान्ताश्च ४०			घोशरिक० तन्मिश्र० वैकृत्य० ३		
	४७	१६	४२	१६	३	४

—बन्धस्वामिप्रदर्शकं यन्त्रम्

[१४३]

आवेशतः—सामान्येन जघन्याबाधायां वर्तमानाः साकारादिविशेषणविशिष्टा एव, विशेष-
तस्तु निम्नाऽऽलिखितयन्त्रोक्तस्वरूपाः (गाथा—१३१) ।

ज्ञान०	संयम०	दर्शन०	लेश्या०	भक्त्य०	सम्यक्त्व०	संज्ञी०	आहारीः	सर्वा मार्गणाः	गाथाश्लोकाः
प्रज्ञान०	प्रसंयम०	बभ्रु० प्रबभ्रु०	प्रसुभ०	सर्व०	मिथ्यात्व०	संज्ञी०	आहारा०		१३४ १३५
			शुभ०३					३	१३६
मति० श्रुत० प्रवधि० ३		प्रवधि०			सम्यक्त्वोप० आयिक० वेदक०			७	१३६
मनः- पर्यव०	संयमीव० सामा० द्वेद० परिहार०							५	१३७
	देशसंयम०				सास्वादन०	असंज्ञी,			
	१				१	१		६६	शेष०
									१३२ १३३
७	९	३	६	२	५	२	१	१३४	

तमशुभलेश्यायां सत्यां देशपुष एव बन्धसम्भवादिति । “सुरो व गिरयो वा”ति ‘सुरः’-देवो वा नैरायिको वा, देवनारकान्यतर इत्यर्थः, आयुषो जघन्यस्थितिवन्धस्वामी भवेदिति गाथाप्रान्तेऽन्वयः । केषु मार्गणाभेदेष्वित्याह—“णाणतिगे” इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानवर्जे ज्ञानत्रिके, मतिज्ञानादिमार्गणाभेदत्रय इत्यर्थः । अत्राधिदर्शनमार्गणायां, चः समुच्चये, स च व्युत्क्रमेणोत्तरत्र योज्यः । “सम्भक्तव्ये अत्रे अगेत्”ति सम्यक्त्वौघ-ज्ञायिकपम्यक्त्व-वेदकसम्यक्त्वमार्गणासु चेत्यर्थः । एतासु सप्तमार्गणासु प्रत्येकं सम्यग्दृष्टयो जीवा एव समाविष्टाः, तेभ्योऽनन्तरभवे मनुष्यतयोत्पत्त्यमानानां देवनारकाणामेव जघन्यस्थितिवन्धः सम्भवति, न पुनर्देवतयोत्पत्त्यमानानां मनुष्यतिरश्चामितिकृत्वा देवनारका एव जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनोऽभिहिता इति ॥१३६॥ अथ यासु मार्गणासु प्रमत्तादिसंयतानां मद्भावेऽपि केवलानां प्रमत्तानामेव जघन्यस्थितिवन्धस्तासु मार्गणासु तथैव दर्शयन्नाह—

आउस्स लहुठिईए णायन्वो बंधगो पमत्तजई ।

मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारसुं ॥१३७॥

(प्रे०) “प्राउस्से”त्यादि, प्रकृतस्याऽऽयुषो लघुस्थितिवन्धकः ‘प्रमत्तयतिः’-प्रमत्तसंयतो ज्ञातव्यः, अप्रमत्ताद्यपेक्षया तस्यैव संक्लेशाधिक्येन लघुस्थितिवन्धभावात् । केषु मार्गणाभेदेष्वित्याह—“मणणाणे”त्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणाभेदयोः, सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयम-परिहारविशुद्धिकर्मसंयममार्गणाभेदेषु चेत्यर्थः । सुगमम् । इदन्तु बोद्धव्यम्—यास्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तिर्यगाद्येहो नमत्तमार्गणासु कश्चिदपि विशेषो नाभिहितस्तासु सामान्यवक्तव्यतायां दर्शितविशेषणा-न्येवापर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादितत्तन्मार्गणागतजीवापेक्षया विशेषतया बोद्धव्यानि, ततश्च तासु मार्गणासु साकारादिविशेषणविशिष्टा जघन्यायामवाधायां वर्तमानास्तन्प्रायोग्यसंक्रिष्टा जीवा आयुषो जघन्यस्थिति-वन्धस्वामिनः । ताश्च मार्गणा इमाः—अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, अपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियजातिभेदः, अपर्याप्तवसकायभेदः, पञ्चानुत्तरविमानसत्का देवगतिभेदाः, सप्तकेन्द्रियमार्गणा-भेदाः, नव द्वीन्द्रियादिक्रान्तेन्द्रियमार्गणाभेदाः, पृथिव्यादिपञ्चकायमार्गणासत्का एकोनचत्वारिंशद्-भेदाः, आहार-ऋ-ऽऽहारकमिश्रकाययोगभेदाः, देशसंयत-सामादना-ऽसंज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति । नचा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियत्रसमार्गणयोर्नारकदेवानां व्यावृत्तये प्रस्तुतस्वामिविशेषणतया तिर्यग्मनुष्या इति विशेषणं कथं नाग्न्यातेति वाच्यम् । नारकदेवानां प्रकृतिवन्धस्वामित्वाभावेन तत एव व्यावृत्त-त्वादिनि ॥१३७॥

तदेवमभिहिता मार्गणास्थानेष्वपि शेषस्यायुःक्रमेणो जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनः, इत्थं च गतं द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

॥ इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे द्वितीयाधिकारे द्वितीयं स्वामित्वद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ तृतीयं साधादिद्वारम् ॥

माम्प्रतं “साइआई”न्यनेनोद्दिष्टं तृतीयं साधादिद्वारम् । तत्र चोत्कृष्ट-जघन्य-तदितरमेदा-
च्चतुर्धा विभक्तानां स्थितीनां प्राग्दोषत आदेशतश्च साधादिवन्धप्रकाराश्चिन्तनीयाः । तत्रादौ
तत्रदोषतश्चिन्तयिषुर्गार्थाद्वयमाह—

सत्तण्हं कम्माणं भंगा साई अणाइधुवअधुवा ।
चउरो अजहणणाए ठिईअ बंधे सुणेववा ॥१३८॥
सत्तण्हुक्कोसे-यर-जहणणाएऽत्थि साइअधुवा दो ।
आउस्स चउविहाणं ठिईए बंधे वि ते णेया ॥१३९॥

(प्र०) “सत्तण्ह”मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां भूलकर्मणाम् “साई अणाइधुवअधुवा”
त्ति साधिरनादिध्रुवाऽध्रुवाश्च चत्वारो भङ्गाः-प्रकाराः, ज्ञातव्या इति गाथाप्रान्तेऽन्वयः । अत्रैकजीवमधि-
कृत्य य उत्कृष्टादिस्थितिवन्धः पूर्वव्यवच्छिन्नोऽभूत्पूर्वो वा प्रारब्धः, स सादिरुच्यते, सह आदिना
यत्ने इतिकृत्वा । यस्त्वनादिकालात्सन्ततिभावेन प्रवृत्तोऽन्तराले कदाचिदपि न व्यवच्छिन्नः
सोऽनादिर्विज्ञेयः । यस्त्वनागतकालेऽपि न कदाचिद् व्यवच्छेदं प्राप्स्यति, स ध्रुवः । यः पुनरायत्यां
नियमेन व्यवच्छेदं यास्यति, सोऽध्रुवश्चावसातव्यः । किं सप्तानामुत्कृष्टादिचतुर्विधस्थितिवन्धे एते
चत्वारो भङ्गा ज्ञातव्या उत कस्मिंश्चिदेवेत्याह—“अजहणणाए”इत्यादि, सर्वजघन्यस्थितिवन्धस्थान-
लक्षणमेकं स्थानं त्यक्त्वा शेषसर्वस्थितिवन्धस्थानसमुदायलक्षणाया अजघन्यायाः स्थितेर्वन्धे इत्यर्थः,
न पुनः समयाधिकजघन्यायाः, त्रिसमयाविकजघन्यायाः, इत्येवं प्रत्येकस्थानरूपाया अजघन्यायाः
प्रत्येकस्थानरूपाऽजघन्यस्थितेर्वन्धस्य सादिसान्तभङ्गपतितत्वादिति । सप्तानामुत्कृष्टादिस्थितेर्वन्धे तर्हि
किमित्याह—“सत्तण्हुक्कोसेयरजहणणाणे”त्यादि, प्रस्तुतानामायुर्वर्जानां सप्तानामुत्कृष्टायाः,
इतरपदानुत्कृष्टायाः, जघन्यायाश्चेत्येवं शेषत्रिविधायाः स्थितेर्वन्धे “अत्थि साइअधुवा दो”त्ति
उक्तस्वरूपौ साध्रुवौ द्वौ भङ्गौ स्त इत्यर्थः । अत्रापि सर्वोत्कृष्टस्थितिवन्धलक्षणमेकं स्थितिवन्धस्थानं
विवर्ज्य शेषसर्वस्थितिवन्धस्थानानां समुदायोऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धतया बोद्धव्यः, न पुनः शेषसर्वस्थिति-
वन्धस्थानानि प्रत्येकरूपेण । इत्थं हि जघन्याऽजघन्यस्थितिवन्धात्मकेन स्थितिवन्धद्वयेन सर्वाण्यपि
स्थितिवन्धस्थानानि संगृहीतानि भवन्ति, उत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धात्मकेन च स्थितिवन्धद्वयेनापि
सर्वाण्यपि स्थितिवन्धस्थानानि संगृहीतानि भवन्तीति । अथ शेषस्यायुःकर्मणश्चतुर्विधस्थितिवन्धे

साद्यादिभङ्गकान् दर्शयन्नाह—“आउस्स चउविहाण”मित्यादि, आयुःकर्मणो जघन्याऽजघन्यो-
त्कृष्टाऽनुत्कृष्टलक्षणानां चतुर्विधानां स्थितीनां बन्धेऽपि “ते”ति तौ अनन्तरमभिहितौ साद्यध्रुवौ द्वौ
भङ्गौ ज्ञेयौ ।

इयमत्र भावना—मोहनीयायुर्वर्जानां पराणां मूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिवन्धः क्षपकस्य
सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिवन्धे जायते, मोहनीयस्य त्वसौ क्षपकानिवृत्तिवादरचरमस्थितिवन्धे भवति ।
अयं हि सप्तानामपि मूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिवन्धोऽजातपूर्वो यस्य कस्याऽपि जीवस्याऽजघन्यस्थिति-
बन्धादुत्तीर्य तत्प्रथमतया तस्मिन्नेव समये जायत इति सादिः, ततः परं क्षीणमोहाद्यवस्थायां सर्वथा
न भवतीत्यध्रुवः सप्तानां जघन्यस्थितिवन्ध इति द्वावेव भङ्गौ सम्भवतः, न शेषौ । एतस्मादायुर्वर्जशेष-
सप्तप्रकृतिसत्कजघन्यस्थितिवन्धादन्य उपशमश्रेण्यादौ जायमानोऽपि सर्वोऽजघन्यस्थितिवन्धः ।
उपशमकस्याऽपि क्षपकाद् द्विगुणबन्धकत्वादितिभावः । ततश्चोपशान्तमोहावस्थायां सप्तानामजघन्य-
स्थितिवन्धस्याऽवन्यको भूत्वा यदा तत्स्वामी प्रतिपत्य पुनरपि तासामजघन्यस्थितिवन्धं प्रारभते,
तदाऽजघन्यस्थितिवन्धः सादिर्भवति; बन्धव्यवच्छेदानन्तरं तत्प्रथमतयाऽजघन्यस्थितेर्व्यमानत्वात् ।
उपशान्तमोहगुणस्थानकं चाप्राप्तपूर्वाणामजघन्यस्थितिवन्धस्य व्यवच्छेदाभावेनाऽनादिकालान्तरं
जायमानत्वाद्जघन्यस्थितिवन्धोऽनादिः । अभव्यानां ध्रुवः, ध्रुवमिथ्यात्वोदयानां तेषामजघन्यस्थिति-
बन्धस्य कदाप्यनिवर्तनात् । भव्यानामध्रुवः, क्षपकश्रेण्यवस्थां नियमेन विरमणादित्येवं सप्तानामजघन्य-
स्थितिवन्धश्चतुर्विधः । एतासामेव सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिमानः,
स च सर्वमङ्गिष्ठमिथ्यादृष्टिपर्याप्तमङ्गिष्ठेन्द्रियजीवेनानुत्कृष्टस्थितिवन्धादवतीर्य कदाचिदेव क्रियते,
नानादित इति सादिः, जघन्येन समयादुत्कृष्टतस्त्वन्तमुहूर्ताञ्च परतोऽध्यवसायपरवृत्त्याऽनुत्कृष्टे
स्थितिवन्धे क्रियमाणे उत्कृष्टः स्थितिवन्धो नियमेन निवर्तत इत्यध्रुवः । उत्कृष्टाऽप्रतिपत्यानुत्कृष्टं
वघ्नातीत्यनुत्कृष्टस्थितिवन्धोऽपि सादिः, ततो जघन्यतोऽन्तमुहूर्तेनोत्कृष्टतथानन्तोऽप्येवसर्पिणी-
प्वतिक्रान्तासु पुनरनुत्कृष्टं स्थितिवन्धं कुर्वतोऽनुत्कृष्टो निवर्तत इत्यध्रुवः । इत्येवमुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टेषु
स्थितिवन्धेषु जीवाः परिभ्रमन्तीति द्वयोरप्यनादिध्रुवत्वासम्भवः, अतः सप्तानां प्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्ट-
स्थितिवन्धौ द्विविधौ कथिताविति । आयुष उत्कृष्टादिस्थितिवन्धस्तु वेद्यमानायुषस्त्रिभागाद्यवशेषे
प्रतिनियतकाल एव जायत इति सादिः, समयादन्तमुहूर्ताञ्च परतोऽवश्यं निवर्तत इत्यध्रुवः । इत्येव-
मायुष उत्कृष्टादिचतुर्विधोऽपि स्थितिवन्धः सादिरध्रुवश्च दर्शित इति । एते ह्यष्टानामपि जघन्यादि-
चतुर्विधस्थितिवन्धसत्का भङ्गाः समस्ताः सन्तोऽष्टसप्तति—(७८)र्भवन्ति । तद्यथा—आयुर्वर्जानां सप्तानां
प्रकृतीनामजघन्यबन्धः साद्यादिचतुर्विधे कृत्वा सप्तानां चतुर्विगुणेऽष्टाविंशतिर्भङ्गा लभ्यन्ते, तासामेव
सप्तानां जघन्यादित्रयो बन्धाः प्रत्येकं साद्यध्रुवमेदाद् द्विधा प्राप्यन्त इति सप्तसु द्वाभ्यां हतेषु सन्सु
जाताश्चतुर्दश, ते च जघन्यादित्रयेण पुनरपि गुणयन्ते, ततो द्विचत्वारिंशद् भङ्गाः सम्पद्यन्ते । आयुषो
जघन्यादिचतुर्विधोऽपि बन्धः प्रत्येकं साद्यध्रुवद्विप्रकार इति चत्वारो द्वाभ्यां ताडिताः सन्तोऽष्टौ

भङ्गका भवन्ति । ततश्चाष्टाविंशतिर्द्विचत्वारिंशदष्टौ चेत्येतेषां त्रयाणां राशीनां सङ्कलने सर्वे भङ्गा यथोक्ता अष्टसप्ततिः संजाता इति ॥१३२=१३६॥

तदेवं दर्शिता ओषतः साद्यादयो बन्धप्रकाराः । साम्प्रतमादेशतो दिदर्शयिषुरेकामार्यामाह—

एवं अचक्खु भवियेसु एवरि भविये ध्रुवो ण सेसासु ।

अट्टण्ह चउविहाणं ठिईण साइअधुवा दोणिण ॥१४०॥

(प्रे०) “एवं अचक्खु भवियेसु” इत्यादि, एवंशब्दः सादृश्ये, ततो यथाऽनन्तरमोषतोऽभिहितास्तथैव “अचक्खु भवियेसु” इति अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्यमार्गणायां च प्रत्येकमित्यर्थः । उक्तातिदेशेनातिदिष्टार्थेऽवद्यमानमर्थमपवादति—“एवरि” इत्यादिना, नवरं “भविये” इति भव्यमार्गणायां “ध्रुवो ण” इति य ओषत आयुर्वर्जसप्तानामजघन्यस्थितिवन्धे “ध्रुवः”-ध्रुवभङ्ग उक्तः, सोऽत्र न भवतीत्यर्थः । कुतः ? भव्यमार्गणागतानां भव्यानां सिद्धिगमनयोग्यत्वस्वलक्षणात् । ततः किम् ? ततः क्षपकश्रेणिमारुह्य चरमे जघन्यस्थितिवन्धे प्रारब्धेऽनादिमतोऽप्यजघन्यस्थितिवन्धस्य व्यवच्छेदाद् ध्रुवत्वाभावः । यदोपशमश्रेणिमारुह्य सप्तानामबन्धप्राप्तावजघन्यस्थितिवन्धस्य विच्छेदाद् ध्रुवत्वाभाव इति । ननु यद्येवं तर्ह्यचक्षुर्दर्शनमार्गणापामपि ध्रुवभङ्गोऽपोद्यताम्, अचक्षुर्दर्शनिनामपि क्षपकश्रेणिमारुह्यानां जघन्यस्थितिवन्धस्य नियमेन भावात्, एवमुपशमश्रेणिमारुह्यानां सप्तानामबन्धप्राप्तेरपि सम्भवाद् ? इति चेद् न, तत्राऽचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्याऽभव्यद्विविधजीवानां प्रवेशेन भव्यानामुक्तजघन्यस्थितिवन्धस्याऽवन्धस्य च सम्भवेऽप्यभव्यानां तस्याऽऽकालमसम्भवात्, तदपेक्षया सप्तानां ध्रुवभङ्गस्यापि प्राप्तेर्नापोद्यते ध्रुवभङ्ग इति । शेषभङ्गभावना तूभयत्र सुगमा, भव्याऽभव्यजीवस्वामिकोऽनुकृष्टाऽनुकृष्टस्थितिवन्धयोर्भव्यजीवस्वामिकजघन्यस्थितिवन्धस्य च स्वान्यस्थितिवन्धतयाऽवन्धतया वा नियमेन परावर्तनादिति ।

उक्तशेषमार्गणास्वाह—‘सेसासु’ इत्यादिना, अनन्तरोक्तेऽचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणे त्रिवर्ज्यशेषासु सर्वासु मार्गणासु “अट्टण्ह” इति तत्तन्मार्गणायां ज्ञानावरणाद्यष्टानामन्यतमबन्धप्रायोग्यप्रकृतीनामुकृष्टाऽनुकृष्टजघन्याऽजघन्यलक्षणाणां चतुर्विधानामपि स्थितीनां, बन्ध इति पूर्वगाथातोऽनुवर्तते, “साइअधुवा दोणिण” इति साद्यध्रुवौ द्वावेव भङ्गाविति । तत्राऽष्टानामपि प्रकृतीनामजघन्यवर्जानां त्रिविधस्थितीनां त्वोद्यतोऽपि साद्यध्रुवौ द्वौ द्वावेव भङ्गौ, ततो मार्गणास्थानेष्वपि तदन्यभङ्गयोरसम्भवात् तावेवोक्ता । अथवा मन्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽभव्य-मिथ्यात्वमार्गणावर्जासु शेषमार्गणासु प्रत्येकजीवानामवस्थानस्यैव साद्यध्रुवभङ्गद्वयगतत्वात् मार्गणाप्रविष्टकालमपेक्ष्य चिन्त्यमानाया एकजीवाश्रयायाः स्थितेरपि साद्यध्रुवौ द्वावेव भङ्गौ प्राप्येते । इदमुक्तं भवति—नानाजीवानाश्रित्य बहूनां मार्गणानामनाग्रनन्तत्वेऽप्येकैकं जीवमपेक्षयाचक्षुर्दर्शनभव्यमार्गणे तथा मत्यज्ञानादिपन्धनमार्गणाविहाय सर्वा मार्गणाः साद्यध्रुवा एव, न पुनरनादिध्रुवाः; तासां चैकजीवमाश्रित्यानादिध्रुवत्वाभावे

कुतस्तत्र जायमानानामेकजीवाश्रयाणामुत्कृष्टादिस्थितिवन्धानामनादिभ्रुवत्वसम्भवः, न कुतश्चिदित्यर्थः । इत्थं चाऽचक्षुर्दर्शनादिसप्तमार्गणावर्जासु शेषमार्गणास्वेकजीवाश्रयमार्गणावस्थानस्यैव साद्यभ्रुवत्वात्तत्प्रयुक्तावष्टकर्मसत्कचतुर्विधस्थितीनां प्रत्येकं द्वौ द्वावेव भङ्गावभिहितौ । अचक्षुर्दर्शन-भ्रुव्यमार्गणयोस्त्वनन्तरं भाविताः साद्यादिभङ्गाः । मत्पज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽभव्य-मिथ्यात्वमार्गणानामभव्यजीवमपेक्षयावदनादिभ्रुवत्त्वेऽपि तासु सप्तानां जघन्यस्थितिवन्धो न ओधवद्भव्यस्वामिक एव, किन्त्वभव्यस्वामिकोऽपि । कुतः ? मत्पज्ञानादिमार्गणासत्कजघन्यस्थितिवन्धस्यैकेन्द्रियस्वामिकत्वात् । इत्थं च प्रस्तुतपञ्चमार्गणागतसर्वजीवानां सप्तकर्मसत्कजघन्यस्थितिवन्धस्य सम्भवात्, तस्योत्कृष्टान्तरस्याप्यसंख्येयकालचक्रप्रमाणत्वाच्चाऽभव्यजीवा अपि नियमेन प्रस्तुतपञ्चमार्गणाप्रायोग्ययोः सप्तकर्मणां जघन्या-ऽजघन्यस्थितिवन्धयोः परिभ्रमन्ति, ततश्च सप्तानां जघन्याऽजघन्यस्थितिवन्धयोः साद्यभ्रुवौ द्वावेव भङ्गौ लभ्येते । सप्तानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिवन्धयोरायुषश्चतुर्विधस्थितिवन्धयोश्च प्रकृतभङ्गौ नौघवदेव विज्ञेयाविति ॥१४०॥

तदेवं समाप्ताऽष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्ट-जघन्य-तदितरस्थितिवन्धानामेकजीवाश्रिता साद्यादिप्ररूपणा, तत्समाप्तौ च गतं "साद्यभ्रुवौ" न्यनेनोद्दिष्टं तृतीयं साद्यादिद्वारम् ॥

ओधत आदेशतश्चाऽष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टादिस्थितीनाम् साद्यादिबन्धभङ्गप्रदर्शकयन्त्रम्				
मार्गणा- स्थानानि	आयुर्वर्जसप्तानां प्रत्येकम्	आयुषः		
	कस्याः स्थितेः	भङ्गाः	कस्याः स्थितेः	भङ्गाः
ओधवत् अचक्षुर्दर्शने ?	अजघन्यायाः स्थितेः—सादि, अनादि, भ्रुव, अभ्रुव. उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्य- त्रिविधस्थितीनां प्रत्येकम् } सादि, अभ्रुव.	४ २	उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट- जघन्या-ऽजघन्य- चतुर्विधस्थितीनां प्रत्येकम्	सादि, २ अभ्रुव.
भव्य	"	२	"	" २
?	अजघन्यायाः स्थितेः—सादि, अनादि, अभ्रुव.	३		
शेषसर्वेषु	चतुर्विधानामपि प्रत्येकम्—सादि, अभ्रुव.	२	"	" २

॥ इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे द्वितीयाधिकारे तृतीयं साद्यादिद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ चतुर्थं कालद्वारम् ॥

सम्प्रति क्रमप्राप्तं चतुर्थमेकजीवाश्रयं कालद्वारम् । तत्र चैकजीवाश्रयं कालं त्रिकटयिपुरादौ तावदीधतोऽष्टानां मूलप्रकृतीनां यथोक्तोत्कृष्टेतरस्थितिवन्धयोः कालं जघन्योत्कृष्टभेदतो दर्शयन्नाह—

सत्तण्ह गुरूअ लहू कालो समयो गुरू मुहुत्ततो ।

अगुरूअ मुहुत्ततो, लहू असंखपरिअट्टियरो ॥१४१॥

(प्रे०) “सत्तण्ह गुरूअ” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनाम् “गुरूअ”ति ‘गुरोः’-उत्कृष्टायाः स्थितेः “लहू कालो”ति एकजीवाश्रयो ‘लघुः’-जघन्यः ‘कालः’-बन्धकालः “समयो”ति एकः समयो भवतीत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—कालद्वारे जघन्याजघन्योत्कृष्टानुत्कृष्टभेदाच्चतुर्धा विभिन्नानां स्थितीनां प्रत्येकं जघन्यत उत्कृष्टतश्च द्विधा बन्धकालस्य प्रमाणं चिन्त्यते, तत्र ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतिसन्काया उत्कृष्टादिस्थितेरन्धो यावन्कालमविच्छिन्नतया प्रवर्तते, तावान् काल-स्तस्या उत्कृष्टादेः स्थितेरन्धकाल उच्यते, सोऽपि विवक्षाभेदेन द्विधा-एकजीवमाश्रित्य नानाजीवान् समाश्रित्य च । तत्र एकेनैव विवहितजीवेनारब्ध उत्कृष्टाद्यन्यतमस्थितेरन्धोऽविच्छिन्नतयोत्कर्षतो यावन्तं कालं प्रवर्तते, परतश्च नियमेन व्युपरमते, तावान् सर्वकाल एकजीवमाश्रित्य तस्याः पूर्वारब्धाया उत्कृष्टाद्यन्यतमस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालो गीयते । तस्या उत्कृष्टाद्यन्यतमस्थितेरिविहितैकजीवारब्धो बन्धो यावन्तं समय-त्रिसमय-त्रिसमयः-ऽन्तमुहूर्तकालमनतिक्रम्य नैव विरमति, तावान् समयादिकाल-स्तु तस्या उत्कृष्टादिस्थितेरैकजीवाश्रयो जघन्यो बन्धकालो भवति । इत्थमेव नानाजीवानाश्रित्याप्यु-त्कृष्टादिस्थितिवन्धकालनिर्वचनं बोद्धव्यम् । अनुत्कृष्टस्थितिवन्धेनोत्कृष्टस्थितिवन्धवर्जसर्वस्थितिवन्ध-स्थानसमुदायस्तथैवाजघन्यस्थितिवन्धेन जघन्यस्थितिवन्धवर्जसर्वस्थितिवन्धविकल्पसमुदायश्च प्राग्वद्-प्राद्यः । “सत्तण्ह गुरूअ लहू कालो” इत्यादिग्रन्थेन भव्यमानः कालस्त्वेकजीवाश्रय एव, संनिकर्ष-प्ररूपणापर्यन्तानां द्वाराणामेकजीवमपेक्ष्य प्ररूपणीयत्वात् । इत्थं हि सप्तकर्मणामुत्कृष्टायाः स्थितेरैक-जीवाश्रयो जघन्यो बन्धकाल एकसमयोऽर्थात् केनचिदेकेन जीवेनारब्धो ज्ञानावरणादीनामायुर्वर्जसप्तमूल-प्रकृतीनामन्यतमप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिवन्धस्तदारम्भद्वितीयसमयेऽपि व्युपरमति । तथाहि—प्रत्येकं प्रकृती-नामुत्कृष्टा जघन्या वा स्थितिः साकारोपयोगोपयुक्तेन जन्तुना निर्वन्ध्यते, न पुनरनाकारोपयोगोपयुक्तेन; एतच्च स्वामित्यद्वारेऽर्थतोऽभिहितमेव । अत्र साकारोपयोगे सत्युत्कृष्टा स्थितिरेव वध्यत इति न नियमः, किन्तु साकारोपयोगे सत्येवोत्कृष्टा स्थितिर्वध्यते, नान्यथेति । तथा च सति साकारोपयोगे सति केषाञ्चिदुत्कृष्टा स्थितिर्वध्यते, केषाञ्चिच्चनुत्कृष्टाऽपि, अनाकारोपयोगे सति तु नियमतोऽनु-त्कृष्टैव वध्यते । साकारानाकारोपयोगौ तु प्रत्यन्तमुहूर्तं नियमेन परावर्तते, ततश्च केनापि पूर्वप्रवृत्त-

साकारोपयोगोपयुक्तेन पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियमिथ्यादृष्टिजीवेन साकारोपयोगाद्वायाश्चरमसमये सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धः प्रारब्धः, स च द्वितीयसमये साकारोपयोगे व्युपरते साकारोपयोगेन सममेव व्युपरतः, इत्थं हि साकारोपयोगचप्रयुक्तः सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्यैकजीवाश्रयो जघन्यकाल एकसमयः प्राप्यते । अत्रान्यथाऽपि भावना क्रियते । तद्यथा—एकेन्द्रियादितयोत्पिभुर्भवचरमसमये वर्तमानः कैश्चिद्भवपत्यादिदेवस्तदानीमुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्यसंक्लेशावाप्त्या उत्कृष्टं स्थितिवन्धं प्रारभते, ततश्च द्वितीयसमये कालं कृत्वैकेन्द्रियादीनां बन्धप्रायोग्यं स्थितिवन्धं कुर्वन्ननुत्कृष्टस्थितिवन्धमेव करोति, इत्येवं तादृशजीवविशेषमाश्रित्योत्कृष्टस्थितिवन्धस्य जघन्यकालः समयमात्रो लभ्यते । इत्थमेव नारक्तपोत्पित्सून् मनुष्यादीनपेक्ष्य तथा केषाञ्चिज्जीवानां तु तद्भवे स्वभावे एव द्वितीयसमयेऽध्यवसायपरावृत्त्योत्कृष्टस्थितिवन्धव्युपरमात्प्रकृतजघन्यबन्धकालो द्रष्टव्य इति ।

अथ सप्तानामुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टं बन्धकालमाह— 'गुरु मृदुत्ततो'ति प्रकृतत्वात्सप्तप्रकृतीनां गुरुस्थितेर्गुरुः—उत्कृष्टो बन्धकालो 'मृदुत्तान्तः'—अन्तमु हृतमित्यर्थः । कुतोऽन्तमु हृतम् ? उत्कृष्टस्थितिवन्धस्यैकस्थितिवन्धस्थानात्मकत्वात् । इदमुक्तं भवति—जघन्यस्थितिवन्ध उत्कृष्टस्थितिवन्धश्च प्रत्येकमेकैकस्थितिवन्धस्थानात्मकः, समयादिहीनाधिकस्थितिवन्धस्थानानां तत्राऽप्रवेशात् । अजघन्यानुत्कृष्टस्थितिवन्धां तु प्रत्येकं नानास्थितिवन्धस्थानात्मकौ, जघन्योत्कृष्टकैकस्थितिवन्धस्थानं विवर्ज्य शेषसर्वस्थितिवन्धस्थानानां तत्र प्रवेशात् । किंचकैकस्थितिवन्धस्थानात्मकानि प्रत्येकस्थितिवन्धस्थानान्युत्कर्षतोऽन्तमु हृतं वध्यन्ते, न परतः, अन्तमु हृतादूर्ध्वं नियमेन समयादिना हीनाधिकस्थितिवन्धभावात् । ननु 'कस्मादन्तमु हृतं परतो नियमेन समयादिहीनः समयाद्यधिको वा स्थितिवन्धः प्रवर्तते ?' एकस्थितिवन्धप्रायोग्यानामध्यवसायानामन्तमु हृतादूर्ध्वं नियमेन परावर्तनात् । उक्तं च शतकचूर्णौ— 'ठिनि निवर्तन्ति जाणि अज्जकवसाण्ठाणाणि ताणि ठितिवन्धज्जप्रमाणणि कसायोदयावि वुच्चन्ति, ताणि अंतोमुहत्तमेत्तकालपरिणामाणि' इति । प्रकृतोत्कृष्टस्थितिवन्ध एकस्थितिवन्धस्थानात्मकस्ततोऽन्तमु हृतादूर्ध्वं नियमेन परिवर्तते इति तस्योत्कृष्टोऽपि कालोऽन्तमु हृतमेव लभ्यते इति ।

अर्थाद्यत एवायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितिवन्धकालं दिदृशीपिपुसादौ जघन्यत आह— 'अगुरुमृदुत्ततो लहु'ति सप्तानामगुरोः—अनुत्कृष्टायाः स्थितेः 'लहु'ति, लघुः—जघन्यो बन्धकालो मृदुत्तान्तः—अन्तमु हृतम् । 'असंखपरियद्वियरो'ति उक्तजघन्यादितरः—उत्कृष्टो बन्धकालोऽसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः । अयम्भावः—उत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्याध्यवसाय उत्कर्षतोऽन्तमु हृतादूर्ध्वं नियमेन प्रतिपतति, स च जघन्यतो यथाऽन्तमु हृतंऽतिकान्तेऽपि कैश्चिज्जीवैरवाप्यते, तथा कैश्चिज्जीवैरतिबहुकालातिक्रमणेनाप्यवाप्यते, स च काल उत्कृष्टोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणो भवति, अत एवोक्तं शतकचूर्णौ— 'समयाओ आदत्तो अंतोमुहत्ताओ गियमा फिट्टइ ति । तथो पट्टिवडंतस्स अणुकोसस्स साइओ, पुणो जइन्नेणं अंतोमुहत्तेणं उकोसेणं अणंताहि ओसपिणिउस्सपिणिहि उकोसं ठिइ बंधमाणस्स अणुकोसस्स अदधुवो,' इति । कुतः ? इति चेत्, तावत्कालमपि केषाञ्चिज्जीवानां पूर्वानुभूतोत्कृष्टस्थिति-

बन्धप्रायोग्याध्यवसायानवाप्तेः । कस्मादेतावत्कालं पुनरपि तादृशाध्यवसायो नाऽवाप्यते ? असंख्य-
वस्थायां तथाविधसामग्रीविरहेण तादृशाध्यवसायस्यानुत्पत्तेः । असंख्यवस्था तत्कृष्टतोऽसंख्येयपृद्गलपरा-
वर्तान् यावदवतिष्ठते, तदीयोत्कृष्टकायस्थितेरसंख्येयपृद्गलपरावर्तप्रमाणत्वात् । वक्ष्यते च—“येषां
असंख्या खलु, परिब्रष्टा पोगलाण तिरियस्स । एगिंदिय-हरिआणं, काय-एणुंसग-असएणीणं” ॥१५४॥ इति॥

इत्थं च असंख्येयपृद्गलपरावर्तान् यावदुत्कृष्टस्थितिवन्धाभावे केषांचिदसंख्यवस्थायां तावत्कालम-
नुत्कृष्टस्थितिवन्ध एव प्रवर्तते, ततश्चानुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालोऽसंख्येयपृद्गलपरावर्तप्रमाणो-
ऽभिहित इति ॥१४१॥

उक्त औघतः सप्तानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्जघन्योत्कृष्टद्विविधोऽपि बन्धकालः ।
साम्प्रतं शेषस्याऽऽयुपस्तं द्विविधं कालमोघतः प्रतिपादयन्नल्पवक्तव्यत्वादादावायुष एव तमादेशतः
प्रदर्शयँश्चाह—

आउस्सुक्कोसाए ठिईअ समयो हवेज्ज हस्सियरो ।

अगुरुअ मुहुत्तंतो, आउस्सेमं व सव्वासुं ॥१४२॥

(प्र) “आउस्सुक्कोसाए” इत्यादि, आयुष उत्कृष्टायाः स्थितेः समयो भवेत् । क इत्याह—
“हस्सियरो” ति ‘हस्यः’—जघन्यकालः, ‘इतरः’—उत्कृष्टकालश्च, औघत एकजीवाश्रयो जघन्यो
बन्धकालः, उत्कृष्टबन्धकालश्च प्रत्येकमेकसमय एव भवति, नाधिक इत्यर्थः । कुतः ? आयुष
उत्कृष्टस्थितिवन्धस्योत्कृष्टावाधामापेक्षत्वाद्, वेद्यमानायुषोऽवशेषरूपायास्तस्या अवाधायाः प्रतिसमयं
परिगलनाच्चेति । इवमुक्तं भवति—त्रयस्त्रिंशत्भागरोपमस्थितिकस्य वध्यमानायुष उत्कृष्टावाधायां
सत्यामुत्कृष्टस्थितिवन्धो गणयते, कर्मरूपतावस्थानलक्षणास्य स्थितिवन्धस्याधिकृतत्वात् । उत्कृष्टावाधा
तु वेद्यमानपूर्वकोटीस्थितिकायुषो भागद्वयेऽतिगते सति तृतीयभागस्याग्रसमये आयुर्वध्नतः प्राप्यते, न
पुनर्द्वितीयादिसमयेषु, वेद्यमानायुषः प्रतिसमयं परिगलनेन शेषवेद्यमानायुरूपाया अवाधाया द्वितीया-
दिसमयेषु समय-द्विसमयादिभिर्हीन-हीनतर-हीनतमभावात् । इत्थमुत्कृष्टावाधाया एकं समयं प्राप्तेस्तद-
धीन आयुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकालोऽपि जघन्यत उत्कृष्टतो वा समयमात्रः प्राप्यते, नाधिक इति ।

अथायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकालमाह—“अगुरुअ मुहुत्तंतो” ति ‘अगुरोः’—अनुत्कृष्टस्थिते-
र्मुहूर्तान्तः—अन्तर्मुहूर्तेम् । कः ? एकजीवाश्रयो हस्यकालः, तदितर उत्कृष्टकालश्च, गाथापूर्वार्धस्य
प्रान्तेऽभिहितस्य “हस्सियरो” इत्यस्य घण्टालालान्यायेनात्रापि योजनात् । कस्माद्भयथाप्यन्त-
र्मुहूर्तमेव प्राप्यते ? आयुष एकजीवाश्रित प्रकृतिबन्धकालस्य जघन्योत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तत्वात्, आयुषः
प्रकृतिबन्धे सति कुत्रचित्समयमेकं विहायानुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य नियमेन भावाच्चेति ।

उक्त औघत आयुषोऽप्युत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योः प्रत्येकं द्विविधो बन्धकालः । साम्प्रतमन्य-
वक्तव्यत्वात् लाघवाच्च सप्तकर्माणि विहायादावायुष एवैकजीवाश्रितं बन्धकालमादेशतो

मार्गणास्थानेषु दिदर्शयिपुरतिदिशन्नाह— 'आउस्सेमेव सव्वासु' ति आयुःकर्मण 'एवमेव' यथौघतोऽभिहितस्तथैव 'सर्वासु'—निरयगत्यौघादिसर्वमार्गणासु, उत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्जघन्योत्कृष्ट-द्विविधोऽपि बन्धकाल इति गम्यते । इति ॥१४२॥

अनन्तरगाथायामायुष उल्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्जघन्योत्कृष्टद्विविधबन्धकालस्यौघेन सह तुल्य-प्रायत्वात् सर्वमार्गणासु लाघवार्थं सामस्त्येन कृतेऽतिदेशे या काचिदतिप्रसक्तिस्तामुद्धतुं काम आह—

एवमि अणुक्कोमाए, लहू खणो होइ पणमणवयेसुं ।

काये उरले विउवे, आहारदुगे कसायेसुं ॥१४३॥

(प्रे) 'णवरि' इत्यादि, 'नवरम्'—परम् 'अणुक्कोमाए' ति आयुषोऽनुत्कृष्टायाः स्थितेर्लघुः—जघन्यो बन्धकालः क्षणः—समयो भवति, न पुनर्यथातिदेशमन्तमुद्धतम् । कासु मार्गणा-स्त्रित्याह—'पणमणवयेसुं' इत्यादि, पञ्चशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् पञ्चमनोयोगभेदेषु पञ्च-वनोयोगभेदेषु तथा 'काये' ति काययोगसामान्यभेदे, 'उरले' ति औदारिककाययोगे, 'विउवे' ति वैक्रियकाययोगे, 'आहारदुगे' ति आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगयोः, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्वय इत्यर्थः । 'कसायेसुं' ति चतुर्षु क्रोधादिकषायमार्गणा-भेदेष्विन्येतास्वेकोनविंशतिमार्गणासु प्रत्येकमिन्यर्थः । कुत एतास्वायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्य-बन्धकालोऽप्येव समयमात्रोऽभिधीयते ? उच्यते, आयुर्वन्धप्रारम्भद्वितीयतृतीयसमयेष्वपि प्रवर्तमानस्य मनोयोगादियोगविशेषस्य योगान्तरतया तथा क्रोधादिकषायस्य कषायान्तरतया परावृत्तौ सत्यां मार्गणाविच्छेदप्रयुक्तस्य समयमात्रकालस्याऽपि लाभात् । अयम्भावः—प्रवृत्तमनोयोगेन केनाऽपि संज्ञिपञ्चेन्द्रियजन्तुना यथाकालमनुत्कृष्टस्थितिकायुषो बन्धः प्रारब्धः, बन्धप्रारम्भद्वितीयसमये तस्य मनोयोगो वा रोगतया काययोगतया वा परावृत्तः, अर्थात्मनोयोगमार्गणा व्यवच्छिन्ना । इत्थं हि तस्य मनोयोगमार्गणायामेकं समयमनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य प्रवृत्तिलब्धा, समयोनान्तमुद्धतं तु मनो-योगोत्तरप्रवृत्तवनोयोगादिमार्गणान्तरे प्राप्ता, ततश्च मनोयोगमार्गणायामायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाल एकसमय एव प्राप्तः । अयमेवैकसमयप्रमाणो बन्धकालोऽन्यथाऽपि भाव्यते । तद्यथा—निरुक्तस्वरूपस्य कस्यचिज्जन्तोर्दोऽऽयुर्वन्धस्य चरमे समये पूर्वप्रवृत्तमनोयोगादिभ्योऽन्यः कश्चिद्योगः प्रवर्तते तदा तस्मिन्नुत्तरस्मिन् प्रवृत्तयोगे आयुषः प्रकृतबन्धकालः समयमात्रो लभ्यते । यद्वा काययोगं त्रिवर्ज्यं शेषप्रकृतयोगानां जघन्यावस्थानं समयमात्रं भवति । कुतः ? मनोयोगादीनां जघन्यकायस्थितेः समयमात्रत्वात् । वक्ष्यते च—

"पणमणवयजोगाणं ओरालाहारविउवकम्मार्णं समयोऽस्ति जइणणवयठिई ।" इति ।

जघन्यकायस्थितिप्रतिपादनावसरे । ततश्च कस्यचिज्जन्तोरायुर्वन्धे प्रवर्तमाने मध्य एव समयमेकं मनोयोगादिः प्रवर्तते, तदा त्रिवर्जितमनोयोगादिमार्गणायां प्रस्तुतबन्धकाल एकसमयः प्राप्यते,

काययोगमार्गणायां पूर्वोक्तरीत्यैव एकसमयो भावनीयः, न पुनरनन्तरोक्तरीत्या, तस्याः कायस्थि-
तेर्जघन्यतोऽप्यन्तमुर्हतेत्वात् । वक्ष्यते च—“भिन्नमुहुत्तं उ सयलपञ्जत्तगजोणिणीण कायस्स ।” इति ।
कायमार्गणाभेदेषु तु मनोयोगादिमार्गणावत् प्रस्तुतबन्धकालो भावनीयः । एतासु मार्गणासु
शेषबन्धकालस्य तथा नरकगन्धोधादिमार्गणासु चतुर्विधस्यापि बन्धकालस्य च भावना तु सर्वथैवोच-
वद् द्रष्टव्येति ॥१४३॥

तदेवं दर्शित आशुप उत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्जघन्योत्कृष्टद्विविधबन्धकाल आदेशतोऽपि ।
साम्प्रतं शेषकर्मणां तमादेशतो दिदर्शयिपुरादावुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यं बन्धकालं सार्धार्थेया दर्शयति—

चउणाण-संयमेसुं, समइअ-छेअ-परिहार-देसेसुं ।

ओहिम्मि सम्म-वेअग, उवसम-मीसेसु णायव्वो ॥१४४॥

सत्तण्ह गुरूअ लहू, भिन्नमुहुत्तं खणो उ सेसासुं ।

(प्रे०) “चउणाणे” त्यादि, मन्नादियतुज्जान-संयमेवमार्गणासु, समार्थि-छेओपत्थापन-
परिहारविशुद्धिक-देशसंयममार्गणासु, अवधिदर्शन-सम्यक्त्वाद्य-वेदकसम्यक्त्वा-पशमिकसम्यक्त्व-
सम्यग्मि-प्राप्त्यमार्गणास्विन्वेतासु चतुर्दशमार्गणासु प्रत्येकं ज्ञातव्य इत्यर्थः । को ज्ञातव्यः, कियंश्च
ज्ञातव्य इत्याह—“सत्तण्ह गुरूअ” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां ‘गुरोः’-उत्कृष्टायाः
स्थितेर्लघुः-जघन्यो बन्धकालः । स च “भिन्नमुहुत्तं” ति भिन्नमुहूर्तम्, -अन्तमुर्हतेमात्र इत्यर्थः ।
“खणो उ सेसासुं” ति ‘क्षणः’-समयः शेषासु मतिज्ञानाद्यनन्तरोक्तचतुर्दशमार्गणावर्जासु निर-
यगत्योधादिपट्यश्चाशुदभ्यधिकशतमार्गणास्वित्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—मिथ्यात्वाद्यभिमु-
खावस्थां गता जीवा मिथ्यात्वादिकमप्राप्य सद्य एव कालं न कुर्वन्ति, किन्तु मिथ्यात्वादिकं
यमभिमुखीभूतास्तं प्राप्यैव कालं कुर्वन्ति । किञ्चामिमुखावस्थायामुपशमश्रेण्यादिवदुत्तरोत्तरसमयेष्व-
नन्तगुणानन्तगुणविशुद्धेरनन्तगुणानन्तगुणसंकलेशस्य वा वर्धनाद् यथोत्तरस्थितिवन्धा अप्युपशम-
श्रेण्यादिवद्यथास्थानमन्तमुर्हतेमन्तमुर्हते प्रवर्तन्ते । अत्र यथोत्तरमनन्तगुणविशुद्धिः संयम-देशसंय-
माद्यभिमुखानां मिथ्यादृष्ट्यादीनां बोद्धव्या, यथोत्तरमनन्तगुणसंकलेशस्तु वैपरित्येन देशसंयमा-
ऽसंयमाद्यभिमुखानां संयतादीनां ज्ञातव्यः । किञ्च तदानीमभिमुखावस्थायां साकारोपयोगक्षयासम्भवात्
कश्चिन्स्थितिवन्धः समयं प्रवृत्त्य विच्छेदमपि न याति । ननु कुतस्तदानीं साकारोपयोगक्षया-
ऽसम्भवः ? उच्यते,—संक्लिश्यमानजीवानां साकारक्षये सति विशुद्धयवाप्तेः प्रसङ्गात्, एवं
विशुध्यमानानां साकारक्षये सति संक्लेशवाप्तेः प्रसङ्गाच्च । न च प्राप्नुवन्तु मिथ्यात्वाद्यभिमुखाः
संक्लिश्यमाना विशुद्धिम्, एवं सम्यक्त्वाद्यभिमुखा विशुध्यमानाः संक्लेशमिति वाच्यम् । प्रकृ-
ताभिमुखावस्थायाः स्वरूपहानिप्रसङ्गात् । यतोऽभिमुखावस्थायां नास्ति पक्षद्वलनम्, अन्यथा
तदानीमपि स्थितिवन्धानां वृद्धिहानिप्रवर्तनाद् अभिमुखावस्थाया अनिबन्धः स्यात्, न च भवत्वनियमः

को दोषः ? इत्यपि वाच्यम्, अभव्यानामपि सम्यक्त्वाभिमुखताप्रसङ्गादित्यलं विस्तरेण । एतेनेदं ज्ञापितं भवति, यत्—

“णाणतिगे षोड्दिसि य सम्मुवसमवेअगोसु चउगइयो ।
तप्पाउमाकिलिहो सम्मो मिच्छाहिमुहो अंते ॥१८॥
मणणाणस्मि पमत्तो अयताभिमुहो य तयणुरुयकिहो ।
अंतिमबंधे संयमसमइअछेणसु मिच्छहुत्तो स ॥१९॥
परिहारस्मि पमत्तो छेआहिमुहो तदरिहसंकिहो ।
देसे मिच्छाहिमुहो दुगहो तयणुरुयकिहो ॥१००॥”
“मीसे मिच्छाहिमुहो सासाणे व तयणुरुयसंकिहो ।...॥१०४॥”

इत्यादिवचनेन ज्ञानत्रिका-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वाध-वेदका-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु मिथ्यात्वाभि-
मुखानां तथैव संयमौघ-गामायिक-च्छंदोपस्थापनसंयम-देशसंयममार्गणासु मिश्रमार्गणायां च मिथ्या-
त्वाभिमुखानामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकत्वात्, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायासंयमाभिमुखानां परिहागविशु-
द्धिकसंयममार्गणायां छेदोपस्थापनसंयमाभिमुखानामेवोत्कृष्टस्थितिवन्धभावाच्च मतिज्ञानादिप्रस्तु-
तचतुर्दशमार्गणाभावी विवर्धितकजीवकृतममप्रकृतिसत्कोत्कृष्टस्थितिवन्धो मरणव्याघातमाकारक्षया-
दिना समयमात्रं प्रवृत्त्य नैव विच्छेदं याति, किन्तु निराधाघतया जघन्यतोऽप्यन्तमुहूर्तं प्रवृत्त्यैव
विरमति, ततश्चाधिकृतमार्गणासु मत्कर्मणासुत्कृष्टायाः स्थितेर्जघन्योऽपि बन्धकालोऽन्तमुहूर्तं
प्राप्यते । शेषनरकगत्यादिमार्गणासु तुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रारम्भद्वितीयसमये मरणव्याघाताद्यन्यतम-
निमित्तमामुहूर्तवे स्वभावतो वाऽसौ समयमात्रं प्रवृत्त्याऽपि विरमति, ततश्च नरकगत्यादिशेषमार्गणासु
समानामुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यो बन्धकालः समयमात्रः प्राप्यत इति । अत्र मूले सासादनमार्गणाया निरय-
गत्योघादिशेषमार्गणाऽन्तर्गतत्वात् तत्र प्रकृतजघन्यवन्धकालो यः समयमात्रोऽभिहितः, स तु स्वस्था-
नगतानां सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वापेक्षया बोद्धव्यः । मिथ्यात्वाभिमुखानां तत्स्वा-
मित्वापेक्षया त्वमावुक्तनीन्या जघन्यतोऽप्यन्तमुहूर्तमेव लभ्यत इति तथैव ज्ञातव्य इति ॥१४४॥

अथ समानामुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टं बन्धकालमपि मार्गाऽऽर्यया व्याकरोति—

कम्मा-ऽणाहारेसुं णेयो परमो दुवे समया ॥१४५॥

भिन्नमुहुत्तं समयो वा उकोसो तिमिस्सजोगेसुं ।

सेसासु मग्गणासुं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वो ॥१४६॥

(प्रे०) “कम्माणाहारेसु”मित्यादि, कर्मणकाययोगमार्गणायामनाहारकमार्गणायां च
ज्ञेयः, क इत्याह—“परमो” ति समानामुत्कृष्टायाः स्थितेः ‘परमः’-उत्कृष्टो बन्धकाल इत्यर्थः ।
क्रियानित्याह—“दुवे समया” ति द्वौ समयाविति । कृतः ? उत्कृष्टस्थितेर्वन्धकस्य कस्य-
चिदपि जीवस्य प्रस्तुतमार्गणाद्वये समयद्वयादाधिकमनवस्थानात् । अयमभावः—कर्मणकाय-

योगा-ऽनाहारकमार्गणयोः सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका ये संज्ञिभ्यश्च्युत्वा वक्रगत्या संज्ञितयोत्पद्यमाना उत्पत्तिस्थानमप्राप्ता विग्रहगता वर्तमाना जीवास्ते भवन्ति, न पुनरेकेन्द्रियाद्यसंज्ञिभ्य आगताः संज्ञिनः, असंज्ञिभ्य आगतानां तदानीमनाहारकावस्थायामसंज्ञिप्रायोग्यस्थितिवन्धभावेन प्रस्तुतमार्गणाभाव्यन्तःकोटीकोटीमागरोपमप्रमाणोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वासम्भवात् । संज्ञिभ्यश्च्युत्वा संज्ञितयोत्पद्यमानानां व्रसनाडावेवोत्पत्तेरुत्कृष्टतोऽपि त्रिसामयिकी द्विवक्रा गतिर्भवति, न पुनस्त्रिवक्राऽपि, तस्याः स्थावराणामेव सम्भवात् । उक्तं च श्रीस्थानाङ्गत्रिस्थानकाध्ययनस्य चतुर्थोद्देशकवृत्तौ—

‘उक्तोमेणं’ नि व्रसानां हि व्रसनाद्यन्तरुत्पादाद्वक्रद्वयं भवति, तत्र च त्रय एव समयाः, तथाहि—आग्ने-
वदिशो नैऋतदिशमेकेन गच्छन्ति, ततो द्वितीयेन समश्रेण्याऽधस्तनस्तृतीयेन वायव्यदिशि समश्रेण्यैवेति,
व्रसानामेव व्रसोत्पत्तावेवाविध उक्त्येण विग्रह इत्याह—‘एतेन्द्रिये’ त्यादि, एकेन्द्रियास्त्वेकेन्द्रियेषु पञ्चसामयिके-
नाप्युत्पद्यन्ते, यन्मते बहिस्तान् व्रसनाडीतो बहिरप्युत्पद्यन्ते, तथाहि—विदिसाउ दिस पदमे बीध पइसरइ
लोयनाडीण । तइण जपिं धावइ, चउत्थण नीइ वाहिं तु ॥१॥ पंचमए विदिसीण गंतं उवउजए उ एगिदि’ ति
सम्भव एवायम, भवति तु चतुःसामयिक एव, भगवत्यां तथोक्तत्वादिति, तथाहि—‘अपञ्जत्तगसुहुमपुढविका-
इण णं भंते ! अहे लोणखेत्तनालीए वाहिरिक्खे खेत्ते समोहए, समोहपित्ता जे भधिए उइहलोयखेत्तनालिण
वाहिरिक्खे खेत्ते अपञ्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए उववउजत्तए मे णं भंते ! कतिसमएणं विग्गहेणं उववउजे-
ज्जा ? गोयमा ? तिसमइएण वा चउमसइएण वा विग्गहेण उववउजेज्जा’ इत्यादि’ इति ।

किञ्चैकवक्रादिगतिषु द्वितीयादिसमयेषु जीव आहारं करोति, न पुनः प्रथमादिसमयेषु ।
इत्थं त्रिसामयिक्यामेकवक्रायां प्रथमसमयेऽनाहारकः, त्रिसामयिक्यां द्विवक्रायां तु प्रथमद्वितय-
समयोरनाहारकः, तृतीयसमय उत्पत्तिस्थानप्राप्तां पुनराहारकः । एवमुत्तरत्रापि चरमसमये आहार-
मादत्ते, शेषसमयेषु त्वनाहारकः । उक्तञ्च श्रीप्रज्ञापनाकायस्थितिपदवृत्तौ श्रीमन्मलयगि-
रिसूरिपादैः—“तत्रोत्कर्षतस्त्रिसामयिक्यां विग्रहगतौ डायाद्यौ समयावनाहारक” इत्यादि ।

इत्थं हि कर्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणादये सप्तप्रकृतिमत्कोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनां
संज्ञिभ्यश्च्युत्वा संज्ञितयोत्पद्यमानानां जीवानामुत्कृष्टतस्त्रिसामयिक्या द्विवक्रगन्त्योत्पत्तेरनाहारका-
वस्था तत्सहचारिणी कर्मणकाययोग्यवस्था चोत्कृष्टतो द्वौ समयौ प्राप्येते, तत्रोत्कृष्टस्थितिवन्ध-
कालोऽपि तदधिको न सम्भवतीति तथैवोक्तः । कर्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणादयं विहाय
शेषमार्गणासु प्रस्तुतवन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवति, तथापि मिश्रयोगमार्गणात्रये शरीरपर्याप्तिनिष्ठाप-
नादर्वागनन्तरसमये एवोत्कृष्टस्थितिवन्धो जघन्यस्थितिवन्धो वा जायत इति प्राक्—“से काले पञ्जत्ति
निद्वयउ स व मुण मीसजोगेसु ॥” इत्यादिना स्वामित्वप्ररूपणायां मतान्तरेण दर्शितस्वामित्वानुसा-
रेणोत्कृष्टस्थितिवन्धस्योत्कृष्टः कालः समय एव प्राप्यत इति तत्र मार्गणात्रये उभयथापि दर्शयति—
“भिन्नमुहूर्तं समयो वा” इत्यादिना, सप्तानामुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः पर्याप्तिनिष्ठा-
पनात्प्राक्समय एवोत्कृष्टो जघन्यो वा स्थितिवन्धो भवतीति मतेन “तिमिस्सजोगेसु” ति

औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणासु प्रत्येकं समयो भवति, तदन्यमतेन त्वसी भिन्नमुहूर्तं भवतीत्यर्थः । उक्तपञ्चमार्गणा विवर्ज्य शेषमार्गणांश्चाह—“सेसासु” इत्यादि, निरयगत्योधादिषु शेषासु पञ्चपट्यभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकमन्तमुहूर्तं ज्ञातव्यः, मप्तानामनुकृष्ट-स्थितेरुत्कृष्टो बन्धकाल इति गम्यते । मुगमं चेदम्, औधिकबन्धकालापेक्षयाऽधिककालस्य मार्ग-णास्थानेष्वसम्भवादिति ॥१४५-१४६॥

तदेवं प्रतिपादितो मार्गणास्थानेषु मप्तानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेरजघन्योत्कृष्टद्विविधोऽ-पि बन्धकालः । साम्प्रतं तासांमेव मप्तानामनुत्कृष्टायाः स्थितेस्तं प्रचिकटपिपुगदौ गाथात्रयेण जघन्यकालमाह—

एगिंदि-णिगोएसुं तसिं सुहुमेसु मिं अपज्जेसुं ।

वण-अण्णाणदुगेसुं णाणदुगे देसविरइम्मि ॥१४७॥

अयता-ऽचक्खुसु तहा असुहतिलेसा-अभविय-भवियेसुं ।

सम्मत्त-खइअ-वेअग-उवमम-मीसेसु मिच्छत्ते ॥१४८॥

सत्तण्ह सुहत्तंतो अगुरुठिईण लह् खणां व भवे ।

मिस्सतिजोगा-ऽवहिदुग-परिहारेसु ममयोऽत्थि सेसामुं ॥१४९॥

(प्र०) “एगिंदिणिगोएसु”मित्यादि . एकेन्द्रियजात्योधमार्गणायां “णिगोए” ति निगोदवनस्पतिमार्गणायां, साधारणवनस्पतिकार्योधमार्गणाभेद इत्यर्थः । “तसिं सुहुमेसु” ति बहुवचनान्तनिर्देशः प्राकृतवशात्तस्तयोरनन्तरोक्तयोरेकेन्द्रियनिगोदयोर्वी ‘सुहुमी’-सुहुमै-केन्द्रियोधमार्गणाभेद-सुहुमसाधारणवनस्पतिकार्योधमार्गणाभेदौ तयोरित्यर्थः । एवमेवोत्तरत्राऽपि, ततः “सिं अपज्जेसु” ति अनन्तरोक्तयोर्द्रव्योः सुहुमकेन्द्रिय-सुहुमनिगोदयोरेपर्याप्तयोः, अपर्याप्त-सुहुमैकेन्द्रियभेदे, अपर्याप्तसुहुमसाधारणवनस्पतिकार्यभेदे चेत्यर्थः । इत्येवं गाथावर्धेन पञ्चमार्गणाः संगृ-हीताः । अथान्यमार्गणामग्रहायाह—“वणअण्णाणदुगेसु”मित्यादि, वनस्पतिकार्योधं, अज्ञानदिके मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानमार्गणाद्वयलक्षणे, मतिश्रुतज्ञानयोर्दिके, देशविरता, देशसंयममार्गणायामित्यर्थः । “अयताचक्खुसु तहा” ति अमंयमा-ऽचक्षुर्देशनमार्गेणयोः, तथाशब्दः समुच्चये । “असुह-तिलेस” ति ‘अशुभासु’-अप्रशस्तासु कृष्णादिविलेस्यासु, अभव्य-भव्यमार्गणयोः, तथा सम्यक्त्वोध-क्षायिकसम्यक्त्व-वेदकसम्यक्त्वो-पशमिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टिमार्गणासु विख्यात्वमार्गणायामित्येतसु पञ्चविंशतिमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु प्रत्येकं किमित्याह—“सत्तणहे”त्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामगुरोः-अनुत्कृष्टायाः स्थितेः ‘लघुः’-जघन्यो बन्धकालः“सुहुत्तंतो” ति अन्तमुहूर्त-मित्यर्थः । इयमत्र भावना—अनुत्कृष्टस्थितिवन्ध उत्कृष्टस्थितिवन्धवत् न केवलायां साकारोप-

योगावस्थायामेव प्रवर्तते, किन्तु साकाराऽनाकारान्यतरोपयोगावस्थायामपि प्रवर्तते, इत्येवं नासौ साकारोपयोगक्षये उत्कृष्टस्थितिवन्धवत् क्षयं याति, येन साकारोपयोगचरमसमयप्रवृत्तानुकृष्टस्थितिवन्धस्य साकारोपयोगक्षयप्रयुक्तो जघन्यबन्धकाल उत्कृष्टस्थितिवन्धजघन्यकालवत् समयमात्रः सम्पद्येत । तर्हि कथं लभ्यते ? अनुकृष्टस्थितिवन्धप्रारम्भद्वितीयसमये कालकरणेनाऽन्यथा वा प्रस्तुतमार्गणाया मार्गणान्तरतया परवर्तनात्, प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदादिति भावः । अत्रैकजीवाश्रयगतिजातीन्द्रियादिमार्गणाभेदानां विच्छेदस्तत्तद्भत्यादौ वर्तमानस्य जीवस्य कालकरणेनैव लभ्यते, नान्यथा । मनोयोगादिमार्गणानां तु कालकरणेन, कालकरणाभावे तु मार्गणान्तरगमनेन वाऽन्यतरप्रकारेणाऽपि विच्छेदः प्राप्यते, काययोगांच-मन्यज्ञान-श्रुताज्ञान-मतिज्ञानादिकृतिपयमार्गणानां तु मार्गणापरवृत्त्यैव विच्छेदः प्राप्यते, न पुनर्मरणव्याघातेन । यद्यप्येवं तथाप्यधिकृतमार्गणाभ्यः केवलेन मरणव्याघातेन विच्छेदयोग्यास्वेकेन्द्रियादिषु प्रथमोपात्तममार्गणासु ये जीवा भवद्विचरमसमये उत्कृष्टस्थितिवन्धं समाप्य भवचरमसमयेऽनुकृष्टस्थितिवन्धं प्रारम्भन्ते, ते तदनन्तरं मृत्वा प्रकृतमार्गणाभामेवोत्पद्यन्ते, अत एतासु मममार्गणासु भवचरमसमयेऽनुकृष्टस्थितिवन्धस्य प्रारम्भकानां कालकरणेऽपि मार्गणाविच्छेदस्याऽभावान्, मार्गणाविच्छेदप्रयुक्तोऽनुकृष्टस्थितेर्जघन्यो बन्धकाल एकसमयो न प्राप्यते, किन्तु जघन्यतोऽप्यन्तमुहूर्तमेव लभ्यते ।

ननु कुत एते भवचरमसमयेऽनुकृष्टस्थितिवन्धस्य प्रारम्भकाः प्रस्तुतैकेन्द्रियादिसप्तमार्गणागतजीवा अनन्तरमसमये मूर्त्वेकेन्द्रियादिप्रस्तुतमार्गणाभामेवोत्पद्यन्ते, न पुनर्मार्गणान्तरेऽपि ? इति चेद्, उच्यते, भवचरमसमयेऽनुकृष्टस्थितिवन्धस्यारम्भका हि नियमतो भवद्विचरमसमये उत्कृष्टस्थितिवन्धस्य निष्ठापकाः सन्ति, विदायोपशान्तमोहगुणस्थानकगतजीवान् । स च भवद्विचरमसमये निष्ठापितः स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिवन्धस्तत्राप्रायोग्योत्कृष्टमंक्रेशं विना न जायते, एवं हि ते नियमेन भवचरमान्तमुहूर्ते मरणाभिमुख्यावस्थायां स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिवन्धानुकूलमंक्रेशोपेताः सन्ति, भवचरमान्तमुहूर्ते स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिवन्धानुरूपमंक्रेशवतां जीवानां तु वर्तमानमनुष्यपञ्चेन्द्रियादिभवेभ्यश्च्युत्वा स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टेषु नरकतिर्यगेकेन्द्रियादिस्थानेषुत्पत्तिर्जायते । तथाहि-नारकाणामुत्पत्तिप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टं स्थानं तिर्यग्गतिः पञ्चेन्द्रियजात्यादयश्च । कुतः ? तेषां बन्धप्रायोग्यमनुष्यगत्यपेक्षया तिर्यग्गतेरधमत्वात् । पञ्चेन्द्रियजात्यपेक्षया यद्यपि चतुरिन्द्रियाद्यधमजातयः सन्ति, तथापि ता न नारकाणां बन्धप्रायोग्याः, अतः पञ्चेन्द्रियजातिरेवोपादीयते, न त्वेकेन्द्रियादयः । तिर्यग्गतावेकेन्द्रियाणां ततश्च्युत्वोत्पत्तिप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टं स्थानं तिर्यग्गतिरेकेन्द्रियजात्यादिकं च, न तु नरकगतिरपि, एकेन्द्रियाणां तत्रानुत्पादात्, शेषाणां मनुष्यगति-द्वीन्द्रियजान्यादिस्थानानां तिर्यग्गत्येकेन्द्रियजान्यादिस्थानापेक्षयोत्कृष्टत्वाच्च । द्वीन्द्रियादिलक्षणानां विकलाक्षणांमुत्पत्तिप्रायोग्यं सर्वापकृष्टं स्थानं तिर्यग्गतिरेकेन्द्रियजातिसूक्ष्मत्वादयश्च । अत्रादिपदादपर्याप्तत्व-नपुंसकवेदित्वादिकमवमतमस्थानतया यथासम्भवं ब्राह्मम् । इत्थ-

मेव पूर्वोत्तरत्र चावसातव्यम् । पञ्चेन्द्रियतिरश्चां पुनर्नरकगतावप्युत्पादात् तेषां पञ्चेन्द्रियाणा-
मुत्पत्तिप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टं स्थानं नरकगतिः पञ्चेन्द्रियजात्यादयश्च ।

ननु अत्र पञ्चेन्द्रियत्वस्य सर्वापकृष्टस्थानतया ग्रहणं नैव युज्यते, पञ्चेन्द्रियतिरश्चामेकेन्द्रिय-
जातावप्युत्पादात्, तस्याश्च पञ्चेन्द्रियजात्यपेक्षयाऽपकृष्टत्वात् ? इति चेद्, न, जातिध्वपि
गतिरेवप्रधाना, अपकृष्टगत्यनुवर्तिनी सामान्यतोऽनिकृष्टजातिरपि निकृष्टतया गृह्यते, कुतः ?
पञ्चेन्द्रियजातेरपि नरकगत्या समं वध्यमानतया सर्वसंक्रेशेन निर्वर्तनात् । वस्तुतः स्वप्रायोग्यो-
त्कृष्टसंक्रेशनिर्वर्तनीयानां गति-जात्यादीनां स्वप्रायोग्यसर्वापकृष्टस्थानरूपत्वेनाभिमतत्वादिति ।
यथा तिर्यक्यञ्चेन्द्रियाणां तथा मनुष्याणामपि बोध्यम् । देवगतिभेदेषु त्वीशानकल्पान्तानां देवानां
तिर्यग्गतिरेकेन्द्रियजात्यादिकं च सर्वनिकृष्टमुत्पत्तिप्रायोग्यं स्थानम्, न पुनः सनत्कुमारादि-
सहस्रारकल्पान्तानापि तत्र । कुतः ? तेषां सनत्कुमारादीनामेकेन्द्रियेष्वनुत्पादात्, अत एव तेषां
सर्वनिकृष्टमुत्पत्तिप्रायोग्यं स्थानं तिर्यक्यञ्चेन्द्रियरूपमेव । अनन्तकल्पादिवायिनां तु मनुष्यरूपमेव
सामान्यतोऽनिकृष्टानुत्कृष्टं स्थानम् । स्वप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिवन्धानुकूलसंक्रेशवद्विरपि तैर्मनुष्य-
गतेरेव निर्वर्तनात् । अन्यच्च भवचरमान्तमुहूर्ते ये जीवा यादृक्स्थानाभिमुखान्तादृशस्थानानु-
रूपपरिणामभाजः प्रायशो भवन्ति, अतो नरकाभिमुखमनुष्याणामिदंकेन्द्रियतयोत्पिच्छनां भवचरमा-
न्तमुहूर्तं निर्वहतामीशानकल्पान्तदेवानां तादृशानां विकलेन्द्रियाणां भवचरमान्तमुहूर्तं उत्कृष्टसंक्रेश-
सम्भवः, न पुनस्तदन्येषां भवचरमान्तमुहूर्तं निर्वहतामीशानकल्पान्तदेवानां विकलेन्द्रियाणां वा,
एवमेव तिर्यक्यञ्चेन्द्रियतयोत्पिच्छनां सनत्कुमारादीनां सहस्रारान्तदेवानामेकेन्द्रियतयोत्पिच्छना-
मेकेन्द्रियाणां च भवचरमान्तमुहूर्तं उत्कृष्टसंक्रेशसम्भवः, न तु तदन्येषां मनुष्यतयोत्पिच्छनां
सनत्कुमारादिसहस्रारान्तदेवानां द्वीन्द्रियादितया वोत्पिच्छनामेकेन्द्रियाणाम्, एवं सति प्रकृते
एकेन्द्रियतयोत्पिच्छनामेकेन्द्रियाणां भवचरमान्तमुहूर्तं उत्कृष्टस्थितिवन्धमम्भवः । भवचरमसमये-
ऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य प्रारम्भकानां तेषां व्यवनानन्तरं स्वगतिष्वेवोत्पत्त्या न च मार्गणाविच्छेदः,
न वा तेषां तत्रापर्याप्तवस्थायामुत्पत्तिसमयप्रभृत्याऽन्तमुहूर्तं यावदुत्कृष्टस्थितिवन्धोऽपि सम्भ-
वति; तथा सति पूर्वभवचरमसमयप्रारब्धानुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य प्रकृतमार्गणायामेव जघन्यतोऽप्यन्त-
मुहूर्तं यावन् नैरन्तर्येण प्रवर्तनादेकेन्द्रियादिमार्गणासु मत्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकालो
जघन्यतोऽप्यन्तमुहूर्तमुक्तः । ननु यद्येवं तर्हि वादरपर्याप्तैकेन्द्रियादिमार्गणास्वपि कथमभावानुत्कृ-
ष्टस्थितेर्जघन्यवन्धकालोऽन्तमुहूर्तं नोक्तः ? उच्यते, यथा द्वीन्द्रियादीनामेकेन्द्रियमार्गणारूपं
स्वप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टं स्थानं स्वस्थानाद्भिन्नमस्ति, ततश्च तत्रोत्पिच्छनां भवचरमसमयेऽनुत्कृष्ट-
स्थितिवन्धस्य प्रारम्भकानामपि द्वीन्द्रियादीनामनन्तरसमय एकेन्द्रियतयोत्पत्त्या द्वीन्द्रियादिमार्ग-
णायामनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाल एकसमयो लभ्यते, तथा वादरपर्याप्तैकेन्द्रियादिमार्गणागतजीवानाम-
प्युत्पत्तिप्रायोग्यं सूक्ष्मापर्याप्तैकेन्द्रियादिरूपं सर्वनिकृष्टं स्वस्थानाद्भिन्नं मार्गणान्तररूपं स्थानं

विद्यते । भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य प्रारम्भका वादरपर्याप्तिकेन्द्रियाद्या नियमतो भवचर-
मान्तमुहूर्ते उत्कृष्टस्थितिवन्धस्य कर्ताः, तथा च सति तेषां ततश्च्युत्वा सूक्ष्मापर्याप्तिकेन्द्रिय-
तया मार्गणान्तरे उत्पत्त्या प्रकृतमार्गणाया विच्छेद एव, एवं च सति भवचरमसमयारब्धस्यानुत्कृष्ट-
स्थितिवन्धस्य प्रस्तुतवादरपर्याप्तिकेन्द्रियादिमार्गणायां समयमात्रप्रवृत्तेर्वादरपर्याप्तिकेन्द्रियादिमार्गणा-
स्वनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालोऽन्तमुहूर्तं नोक्तः, किन्तु समय एव वक्ष्यतीति । एकेन्द्रियाद्य-सूक्ष्मै-
केन्द्रिया-ऽपर्याप्तिसूक्ष्मैकेन्द्रिय-वनस्पतिकायसामान्य-साधारणवनस्पतिकाय-साधारणसूक्ष्मवनस्पति-
काया-ऽपर्याप्तसाधारणसूक्ष्मवनस्पतिकायरूपप्रस्तुतसप्तमार्गणागतजीवानां नास्ति किञ्चित्स्योत्पत्ति-
प्रायोग्यं स्वस्थानाद्भिन्नं मार्गणान्तररूपं सर्वनिकृष्टं स्थानम् । कुतः ? प्रस्तुतैकेन्द्रियादितत्तन्मा-
र्गणाया एव तेषां सर्वनिकृष्टस्थानरूपत्वात्, अन्यासामनिकृष्टत्वान्च । भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थिति-
बन्धस्यारम्भकाः प्रकृतैकेन्द्रियादितत्तन्मार्गणागतजीवा मृत्वाऽन्तरं सूक्ष्मापर्याप्तवनस्पतितयोत्प-
द्यमानाः स्वस्वमार्गणायामेवोत्पद्यन्ते, न तु मार्गणान्तरे; अतः कालकरणेऽपि न तेषां प्रकृतमार्ग-
णाविच्छेदप्रयुक्तोऽनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्य एकसमयो बन्धकालः । मार्गणान्तरे उत्पित्सूनां तु प्रस्तुत-
सप्तमार्गणागतजीवानां भवचरमान्तमुहूर्ते उत्कृष्टस्थितिवन्ध एव न भवति, कुतः ? एकेन्द्रिया-
द्यादिस्वस्वमार्गणाभ्यो या अन्याः प्रस्तुतमार्गणागतजीवानामुत्पत्तिप्रायोग्या मार्गणास्तस्तेषां न
सर्वनिकृष्टस्थानरूपाः, अतस्तत्रोत्पित्सूनां तत्तद्द्वीन्द्रियादिमार्गणान्तराभिमुखानां तेषां भवचर-
मान्तमुहूर्ते न परम उत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्यः संकेशः, तथा च सति तेषां भवचरमान्तमुहूर्ते-
ऽनुत्कृष्टस्थितिवन्ध एव, तस्य च कालकरणेनाधिकृतमार्गणाविच्छिन्न्याऽपि सप्तानामनुत्कृष्टस्थि-
तिवन्धस्य प्रकृतमार्गणायां जघन्यतोऽप्यन्तमुहूर्तमेव प्रवर्तनं लभ्यते, भवचरमान्तमुहूर्तात्
पूर्वत एव प्रवृत्तस्यानुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य मरणं यावत् प्रस्तुतमार्गणायां नियमतः प्रवर्तनात् । काल-
करणाभावे तु प्रस्तुतमार्गणानां यगवृत्तेरसम्भवादिति । ननु सूक्ष्मापर्याप्तपृथिवीकायिकादिमार्गणा-
भेदेषु कथं प्रस्तुतकालोऽन्तमुहूर्तं नोक्तः ? उच्यते, सूक्ष्मापर्याप्तपृथिवीकायिकादिमार्गणाभेदेषु
प्रत्येकशरीरेण एव जीवाः प्रविष्टाः । तेषां चास्ति स्वप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टं स्वस्थानाद्भिन्नं साधा-
रणवनस्पतिकायमार्गणारूपं स्थानान्तरम्, अतस्तत्रोत्पित्सूनां तेषां भवचरमसमयारब्धानुत्कृष्टस्थिति-
बन्धापेक्षयाऽपि सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालो नान्तमुहूर्तम्, किन्तु समय एव ।

अयमत्र परमार्थः—येषां हि स्वप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टं पारमत्रिकोत्पत्तिस्थानं मार्गणान्तररूपं
नैव वर्तते, ते हि यदि भवचरमान्तमुहूर्ते स्वप्रायोग्यमुत्कृष्टं स्थितिवन्धं कुर्वन्ति, तदा स्वकीय-
वर्तमानमार्गणायामेवोत्पद्यन्ते, तेषां च भवचरमसमयारब्धानुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य कालोऽन्त-
मुहूर्तमेव, न पुनरेकसमयः, भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धं प्रारभ्य मार्गणान्तरे उत्पित्सु-
जीवापेक्षया तज्जाभात् । प्रस्तुतैकेन्द्रियादिसप्तमार्गणागतजीवानां स्वीयस्वीयमार्गणाभ्यो भिन्नाः
स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टस्थानरूपा अन्यमार्गणा न सन्ति, अत उक्तनीत्या तास्वनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्य-

बन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तमेव लभ्यते, न पुनः समयमात्रः । न च त्रसकायिकानां सर्वनिकृष्टं स्थानं नरकगतिः, सा च तेषां स्वभिन्नस्थानरूपा नास्ति, नारकाणां त्रसकायान्तर्गतत्वात्, यद्यप्येवं तथाऽपि त्रसकायान्तर्गता देवा भवचरमान्तर्मुहूर्ते उत्कृष्टस्थितिवन्धं कृत्वा मार्गणान्तरे एकेन्द्रियतयोत्पद्यन्ते, अतो निरुक्तनियमोऽतिव्याप्नोतीति वाच्यम् । यतस्त्रसकायिकानां स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टगमनस्थानं न केवलं नरकगतिरूपम्, तदनुवर्तिष्यञ्चेन्द्रियजातिरूपं च, किन्तु तिर्यग्गत्येकेन्द्रियजातिरूपमपि, कुतः ? नरकगतिवत् स्वप्रायोग्यसर्वमंकलेशनिर्वर्तनीयत्वलक्षणस्य स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टस्थानत्वस्य तत्रानपायात्, बध्नन्ति च त्रसकायान्तर्गता ईशानदेवलोकपर्यन्ता देवाः सर्वमंकलेशे सति तिर्यग्गतिमेकेन्द्रियजात्यादिकं च, तथा च सति नरकगत्यादिकमाश्रित्य त्रसकायानां स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टस्वभिन्नस्थानाभावेऽपि तिर्यग्गत्येकेन्द्रियजात्यादिकं समाश्रित्य स्वप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टस्वभिन्नस्थानं विद्यत एव, अतो भवचरमान्तर्मुहूर्ते उत्कृष्टस्थितिवन्धं कृत्वा देवरूपाणां त्रसकायिकानामेकेन्द्रियरूपायां त्रसान्यमार्गणायामुत्पन्त्याऽपि यथोक्तनियमो निराबाध एव । इत्थमेव पञ्चेन्द्रियमार्गणासु सर्वनिकृष्टस्थानस्य द्विविधत्वेन स्वभिन्नस्थानाऽविरहादोपातापक्षेऽपि विस्तरेण । इदमत्र बोध्यम्—यदुक्तं पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां नरकरूपम्, नारकाणां तिर्यकपञ्चेन्द्रियरूपम्, देवविकलेन्द्रियाणामेकेन्द्रियादिरूपम्, तथैव पर्वतानामपर्वतरूपं, बादराणां सूक्ष्मरूपं, त्रसानां स्थावररूपं यथासम्भवं सर्वनिकृष्टं स्थानं वेदितव्यम्, तथापि मनुष्यातिर्यगादीनां नरकादिषु पञ्चम-षष्ठ-सप्तमनरकादिरूपं स्वप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टस्थानमित्यादिकं समयाविरोधेन भावनीयमिति । अथ प्रस्तुतमेवोच्यते—सम्यग्ज्ञान-श्रुतज्ञानमार्गणाद्वये त्रसकायिकानुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य जघन्यकालवद् भावना कर्तव्या, तथैवा-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽसंयम-भक्त्या-ऽसम्यग्मिथ्यात्वमार्गणास्वपि अन्येकं भावनीयम् । मतिज्ञान-श्रुतज्ञानमार्गणयोः सम्यक्त्वकालस्य जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तत्वात् तदपेक्षया प्रस्तुतान्तर्मुहूर्तकालो भावनीयः । इत्थमेव देशसंयम-सम्यक्त्व-सामान्या-पशमिकसम्यक्त्व-वेदकसम्यक्त्व-क्षाधिकसम्यक्त्वमार्गणासु मिश्रदृष्टिमार्गणार्थां च अन्येकं भावना कर्तव्या । ननु सम्यक्त्वबौधादिमार्गणासु मार्गणापरावर्तनप्रयुक्त एकसमयजघन्यबन्धकालः कथं न लभ्यते ? उच्यते, सम्यक्त्वबौधादिमार्गणासु मिथ्यान्वाद्यभिमुखानामुत्कृष्टस्थितिवन्धभावात्सावुत्कृष्टस्थितिवन्धो मार्गणाविच्छेदादवर्गात् द्विचरमसमये व्युपरमते, किन्तु चरमसमये यावत्प्रवर्तते, ततश्च चरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्यैवाऽभावात्कुतस्तस्य मार्गणापरावृत्तिप्रयुक्तो व्याघातः स्यात्, तदभावे च कुत एकसमयः प्रस्तुतजघन्यबन्धकालः, न कुतश्चित्पर्ययः । न च देशसंयममार्गणार्थां भरणव्याघातेन मार्गणाविच्छेदादवर्गाभावी चरमस्थितिवन्धोऽनुत्कृष्ट एव, न कदाचिदेकसमयो लभ्येतेति वाच्यम् । यतो देशसंयमप्रतिपत्तेरारभ्य प्रवृत्तानुत्कृष्टस्थितिवन्धोऽपि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं प्रवर्तत एव, कुतः ? भङ्गबहुलदेशविरतिप्रतिपत्तौ जघन्येनाऽप्यन्तर्मुहूर्तकालस्य गमनात् । उक्तं च श्रीमन्मलयागिरिपादैः श्रीप्रज्ञापनावृत्तौ—“देशविरतिर्द्विविधत्रिविधादि-

भङ्गबहुला । तत्रप्रतिपत्तौ जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्ते लगति” इति । कृष्णाद्यशुभलेश्यामार्गणात्रये तु सुगमः, भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धं प्रारभ्य भवान्तर उत्पत्याऽपि कृष्णलेश्यादिमार्गणानां तत्राऽनुवर्तनादिति ।

अथ यासु मार्गणासु प्रस्तुतः सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालो मतद्वयेन पृथक्पृथक्प्राप्यते तासु तथैव दर्शयन्नाह—“स्वर्णो वा भवे मिःसनिजोगा-ऽवह्निदुग्-परिहारेसु” ति औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगत्रयलक्षणेषु त्रिवु मिश्रयोगेषु, श्वविज्ञाना-ऽवधिदर्शनलक्षणेऽवधिविक्रे परिहारविशुद्धिकर्मण्यमे च “स्वर्णो वा भवे” ति ‘मुहुत्तं चो अगुरुठिर्द्वे प्लु’ इति पदानां देहकीदीपकन्यायेनात्राऽपि योजनात् सप्तानामनुत्कृष्टायाः स्थितेर्जघन्यो बन्धकालो मुहूर्तान्तः क्षणो वा भवेदित्यर्थः । तत्र मिश्रयोगत्रये शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनप्राक्कर्मण्ये वर्तमानानामेव जघन्योऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वमतेनाऽन्तर्मुहूर्तम् । कुतः ? मार्गणाप्रथमसमयादारभ्य प्रवृत्तानुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य मिश्रयोगत्रिचरमसमयं यावत् नैरन्तर्येण प्रवर्तनात्, मिश्रयोगजघन्यकालस्याप्यन्तर्मुहूर्तत्वाच्च । तदन्यमतेन त्वमां ‘क्षणः’-समयो ज्ञातव्यः, तन्मते मिश्रयोगचरमसमय इव तद्द्विचरमादिमसमयेषुऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य सम्भवात् । ततः किम् ? ततो ये केचनौदारिकादिमिश्रयोगिनः संक्षिपन्चेन्द्रियकरणापर्याप्ता मिथ्यादृष्टिजीवा मिश्रयोगत्रिचरमसमय उत्कृष्टस्थितिवन्धं समाप्य चरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धं प्रारभन्ते, तेषामनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य मिश्रयोगमार्गणायां समयमात्रप्रवर्तनात् जघन्यबन्धकाऽऽ एकमसमयः प्राप्यत इति । शेषमार्गणात्रये त्वसौ मतद्वयेन वक्ष्यमाणमार्गणाजघन्यकायस्थित्यनुसारेण त्रिविध उक्तः, तत्रान्तर्मुहूर्तकालस्तु मतिज्ञानादिमार्गणाधिकारिण्यः, समयस्तु वक्ष्यमाणधर्मयोगादिमार्गणावदिति ।

“समयोऽस्थि सेसासु” ति उक्तशेषासु निरयगत्योधादिवेकोनचत्वारिंशदभ्यविकशत-मार्गणासु प्रत्येकं समयो भवति, सप्तप्रकृतिपत्कानुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यो बन्धकाल इति गम्यते । उक्तशेषमार्गणास्तु नामत इमाः—सर्वे निरयगतिमार्गणाभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिमार्गणाभेदाः, सर्वे मनुष्यगतिमार्गणाभेदाः, सर्वे च देवगतिमार्गणाभेदास्तथा वादरैकेन्द्रियैव-पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-वादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियरूपाश्चत्वार एकेन्द्रियमार्गणाभेदाः, द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियमार्गणासत्कास्तु सर्वे भेदाः, तथैव पृथिव्यप्तेजोवायुकायप्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणासत्का अपि सर्वे भेदाः, वादरसाधारणवनस्पतिकार्षाघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तरूपास्त्रयस्तथा पर्याप्तसूक्ष्मसाधारण-वनस्पतिकायभेदश्च, त्रसकायमार्गणासत्कास्तु सर्वेऽपि, पञ्चमनोयोग-पञ्चबन्धोयोग-काययोगता-मान्यैः-दारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-कर्मणकाययोगभेदाः, स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेदाः, अपगतवेदः, क्रोधा-दिचतुःकषायाः, मनःपर्यवज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमीघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-सूक्ष्मसम्प्रायसंयम-चक्षुर्दर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-सासादिन-संशय-ऽसंशया-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति । एतासु प्रत्येकं सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालः प्रागुक्तनीत्या मार्गणात्रिचरमसमये उत्कृष्टस्थितिवन्धं समाप्य

मार्गणाचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धं प्रारभ्य च मार्गणान्तरगमनेन तसन्मार्गणाविच्छेदप्रयुक्तो बोद्धव्यः, कासुचिन्मनोयोगादिमार्गणासु तु मार्गणाया वक्ष्यमाणसमयमात्रजघन्यकायस्थितिमपेक्ष्य प्रकारान्तरेणाप्यसौ लभ्यते, केवलं नपुंसकवेदमार्गणायां प्रस्तुतजघन्यबन्धकालः मार्गणाया जघन्यकायस्थितिमपेक्ष्यैव, न पुनरुत्कृष्टस्थितिवन्धादुत्तीर्य भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रारम्भापेक्षयाऽपि । कस्मात् ? उत्कृष्टस्थितिवन्धादुत्तीर्य भवचरमसमयेऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य प्रारम्भकानां नपुंसकवेदिजीवानां भवचरमान्तमुद्धृते उत्कृष्टस्थितिवन्धभावेन प्रागुक्तनीत्या भवान्तरे नपुंसकवेदितयैवोत्पत्तेर्नपुंसकवेदमार्गणाया विच्छेदाभावात् तद्विच्छेदाधीनः प्रकृतैकसमयबन्धकालो न लभ्यते, किन्तु जघन्यतोऽप्यन्तमुद्धृतेमेव लभ्यते, अतः समयमात्रस्तु जघन्यकायस्थित्यनुसारेणोन्नेय इति । अत्र शेषमार्गणासु विस्तरभावना तूक्तदीशा कर्तव्या । तद्यथा—केनचिन्धारकजीवेन भवचरमसमये पूर्वप्रवृत्तं मप्तानामनुत्कृष्टस्थितिवन्धं समाप्यानुत्कृष्टस्थितिवन्धः समाख्यः, अनन्तरसमये त्वसौ तत उद्धृत्य तिर्यक्तयोत्पन्नः, तत्र यद्यपि तस्य मप्तानामनुत्कृष्टस्थितिवन्ध एव प्रवर्तते, तथाऽपि नामौ निरगन्धोषमार्गणायाम्, तदानीं तस्य निरयगतिवद्विस्त्वात्, इत्येवं तस्य निरयगत्योषमार्गणामपेक्ष्य मप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालः समयमात्रः प्राप्त इति । इत्यमेव शेषनिरयगतिभेदादौ स्वयमेव भावनीय इति ॥१४७-१४८-१४९॥

तदेवं प्ररूपितः सर्वमार्गणासु मप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यो बन्धकालः । साम्प्रतं तस्या एवाऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टं बन्धकालं दिदर्शयिषुर्माथाइयमाह —

जेट्टो असंखलोगा एगिदि-णिगोअ-पंचकायेसुं ।

अंगुलअसंखभागो होइ अहुसुहुमोघभेएसुं ॥१५०॥

ओघव्व अणाणदुगे अयता-ऽचक्खु-भवि-अभिवि-मिच्छेसुं ।

सेसासुं उक्कोसा सगसगकायट्ठिई णयो ॥१५१॥

(प्रे०) “जेट्टो असंखलोगा” इत्यादि, ज्येष्ठः-मप्तानामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः पुनः “असंखलोग” इति क्षेत्रतोऽसंख्यलोकाः, असंख्येयेषु लोकाकाशप्रमितेष्वकाशखण्डेष्वसत्कल्पनया प्रतिप्रमयमेकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽपहीयमाणे यावता कालेन ते सर्व आकाशप्रदेशा अपहीयन्ते तावान् काल इत्यर्थः । कालतस्त्वसावसंख्योत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो भवति । कासु मार्गणास्वित्याह—“एगिदिणिगोअपंचकायेसुं” इति एकेन्द्रियसाधारणवर्नाधमार्गणयोस्तथा पञ्चसु पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तास्योषमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । अन्यत्राह—“अंगुलअसंखभागो होइ” इति अङ्गुलासंख्येयतमैकभागप्रमाणक्षेत्रगताकाशप्रदेशेषु प्रतिप्रमयमेकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽपहीयमाणे यावान् कालोऽपगच्छति, तावान् कालो भवति । स च कालतोऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्य एव ।

कुत्रेत्याह—“सुसुहृमोचभेगसु” ति सूक्ष्मेकेन्द्रियादिषु पट्बु सूक्ष्मजीवौघभेदेषु, ते च सूक्ष्मेकेन्द्रियौघ-सूक्ष्मपृथ्वीकायौघ-सूक्ष्मापकायाघ-सूक्ष्मतेजस्कायौघ-सूक्ष्मवायुकायौघ-सूक्ष्मसाधारण-वनस्पतिकायौघमार्गणालक्षणा बोद्धव्याः । ननु “असंखलोगा” इत्यनेन कालतोऽसंख्योत्सर्पिण्य-वसर्पिणीप्रमाणकालो व्याख्यातः, प्रकृते च “अंगुलअसंखभागो” इत्यनेनापि कालतोऽसंख्यो-त्सर्पिण्यवसर्पिण्य एव व्याख्यातास्तत्कथं नाऽसङ्गतिः, असंख्यलौका-ऽङ्गुलासंख्यभागयोरतिमह-दन्तरत्वात् ? इति चेद् न, “सुहृमो च होइ कालो, ततो सुहृमयस्य इवइ खित्त” मिति वचनात् कालापेक्षया क्षेत्ररयातिवहुसूक्ष्मतयोक्तनीत्याऽङ्गुलासंख्यभागमात्रक्षेत्रगताऽऽकाशप्रदेशापहरणेऽप्य-संख्योत्सर्पिण्यवसर्पिण्य एवापकाम्यन्ति, केवलं ता असंख्यलोकप्रमाणक्षेत्रप्रदेशापहारेऽपगच्छदुत्स-र्पिण्यवसर्पिण्यपेक्षयाऽसंख्येयभागमात्रा इति न काचिदसङ्गतिरिति । अथ मार्गणान्तरेष्वह— “ओघव्व” इत्यादिना, सप्तानामनुकृष्टायाः स्थितेरुक्तवन्धकाल औघवदसंख्येय-पुद्गलपरवर्तप्रमाणो भवति । कालु मार्गणास्वित्याह—“अणाणदुगे” इत्यादि, मन्यजान-श्रुताज्ञा-नमार्गणाद्वयरूपेऽज्ञानद्विके, असंख्यमार्गणार्था तथाऽघदृशाननल्लोपार्था भव्यमार्गणायामन्वमा-र्गणार्था मिथ्यान्वमार्गणायामिन्येतसु सप्तमार्गणसु प्रत्येकमिन्यर्थः । सुगमत्रायम्, औधिकशाला-पेक्षयाऽधिककालस्य कुत्राप्यमन्ववादिति ।

अथ शेषमार्गणसु लाघवात्तन्मार्गणायाः स्वस्वोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणः प्रकृतोत्कृष्टवन्धकाल इति दर्शयन्नाह—“सेसासु” इत्यादि, अनन्तरोक्ता एकेन्द्रियादिविंशतिमार्गणा विहाय शेषसु निरयगत्वादिपञ्चाशदुत्तरशतमार्गणसु प्रत्येकम् “उक्कोसा सगसगकायडिई” ति एकजीवस्य नैरन्तर्येण विवक्षितनाम्नादितत्त्वपर्याये उत्कृष्टावस्थानलक्षणैकजीवाश्रया निरयादितत्तन्मार्गणा-नां स्वकीया स्वकीयोत्कृष्टा कायस्थितिरित्यर्थः । अत्राऽपि व्याख्यानतः शेषमार्गणाऽन्तःप्रवि-ष्टायामपगतवेदमार्गणायां सैसासु उक्कोसा सगसगकायडिई इत्यनेनोत्कृष्टकायस्थितिरन्तमुर्हर्तप्रमाणः प्राप्तोऽपि प्रस्तुतकालोऽन्तमुर्हर्त तु ज्ञातव्यः, न तुत्कृष्टकायस्थितिः; उत्कृष्टकायस्थितेरन्तमुर्हर्तप्रमा-णत्वेऽपि तन्मध्ये उपशान्ताद्धादिकालस्य प्रविष्टत्वात्, तदानीं च प्रकृतिवन्धसत्त्वेऽपि स्थितिवन्ध-स्याऽप्रवर्तनेन परिपूर्णोत्कृष्टकायस्थितिकारुस्याऽनुम्भवात् । कायस्थितिस्तु सर्वमार्गणानां प्रकृ-प्रकृतिवन्धेऽभिहिताऽपीह स्थितिवन्धसाधिकृत्य क्रिञ्चिद्विशेषतोऽनुपदमेव वक्ष्यमाणस्वरूपाऽवसात-व्या । ननु कुत एतासु नरकगन्योधादिमार्गणसु प्रस्तुतवन्धकाल एकजीवविषयायाः मार्गणात्को-त्कृष्टकायस्थितेस्तुल्यो भवति ? उच्यते, निरयगन्योधादिमार्गणासत्कोत्कृष्टकायस्थिति निर्गम-यद्भिः कैश्चिज्जीवैः सकृदप्युत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्यसंज्ञेऽमनवाप्योत्कृष्टां मार्गणाकायस्थितिं यावदुत्कृष्टस्थितिवन्धो न क्रियते, उत्कृष्टस्थितिवन्धाभावेऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्तु तेषां मार्गणा-प्रथमसमयादारभ्य मार्गणाचरमसमयं यावन्नैरन्तर्येण प्रवर्तते, ततश्च सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृ-ष्ट वन्धकाल उत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणो लभ्यत इति । ननु यद्येवं तर्ह्येकेन्द्रियादिविंशतिमार्गणास्वप्यसौ

कथं कायस्थितिप्रमाणो नाभिहितः ? उच्यते, एतासु विंशतिमार्गणासु कासुचिद्रव्या-ऽभव्यजीव-
विशेषमधिकृत्यैकत उभयतो वा निरवधिकामु भव्यादिमार्गणासु, कासुचिच्चैकेन्द्रियादिष्वसंख्ये-
यलोकादिप्रमाणाऽतिबहुदीर्घकायस्थितिकासु मार्गणास्तुकृष्टकायस्थितिकालं निर्गमयद्विर्जीवैरन्त-
राऽन्तरोत्कृष्टस्थितिबन्धप्रायोग्यं संज्ञेशमवाप्य नियमेनोत्कृष्टस्थितिबन्धः क्रियते, ततश्च तासु
मार्गणासु कस्यापि जीवस्यानुत्कृष्टस्थितिबन्ध उत्कृष्टकायस्थितिं यावन्नैरन्तर्येण नैव प्रवर्तते,
अत एतासु मार्गणास्वनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्योत्कृष्टः कालो न उत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणः, किन्तु
ततोऽपत्यन्तहीनः सावधिकश्चेति तास्वर्सा निरयगन्यांवादिमार्गणावदुत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणो
नाभिहितः, किन्तु विशेषत एवाऽभिहित इति ॥१५०॥१५१॥

तदेवमुक्त एकेन्द्रियांघादिषु विंशतिमार्गणासु 'जेटो असंखलोगा' इत्यादिनां विशेषेण, शेषासु
निरयगत्योघादिषुश्चाशदुत्तरशतमार्गणासु तु 'उक्कोमा सगसगकायट्टिई' इत्यनेन समानामनुत्कृष्ट-
स्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः स्वीयस्वीयोत्कृष्टकायस्थितिरिति । तत्र कायस्थितिर्यद्यपि प्रकृतिबन्धे
प्रदर्शिता, तथापि सा तत्र सामान्यतच्छब्दस्था-ऽच्छब्दस्थोभयावस्थामपेक्ष्यैवोक्ता, तत्र तस्या युज्य-
मानत्वात् । इह तु स्थितिबन्धस्य प्रस्तुतत्वेन तदुपयोगिनीम्, उत्तरत्रव क्षरमाणानुभागबन्धादिग्रन्थो-
पयोगिनीं चेति मत्वा केवलच्छब्दस्थावस्थाधीनां पूर्वापेक्षया किञ्चिद्विशेषमन्वितां तामाचष्टे—

कायट्टिई उक्कोमा गिरय-सुराणं विभंगणाणस्स ।

किण्ह-मुइल-खइआणं तेत्तीमा सागरा णया ॥१५२॥

(प्रे०) "कायट्टिई उक्कोसा" इत्यादि, निरुक्तस्वरूपा एकजीवाश्रयोत्कृष्टा कायस्थि-
तिर्वेवेति माथाप्रान्तेऽन्वयः । केषां मार्गणास्थानानां क्रियती ज्ञेयेत्याह—"गिरयसुराणं"
मित्यादि, निरयगतिमामान्यस्य देवगतिमामान्यस्य विभङ्गज्ञानस्य कृष्ण-शुक्ललेखा-क्षायिकमस्य-
क्त्वानामित्येतेषां पण्णां मार्गणास्थानानां प्रत्येकम् "तेत्तीसा सागरा" नि 'भीमो भीम-
सेन' इति न्यायेन पदेऽपि पदममुदायोपचागत् त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीत्यर्थः । तत्र नैरधि-
काणामुत्कृष्टभवस्थितिप्रमाणोत्कृष्टकायस्थितिरपि, नैरधिकणामनन्तरभवे नैरधिकतयाऽनुत्पादात्,
उत्कृष्टभवस्थितेस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वाच्च । उक्तं चागमे—

नेरइण णं भंते ! कालओ केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्साहं उक्कोसेणं तेत्तीपं
सागरोवमाह" इति ।

इत्थमेव देवगतिभक्ताऽपि वेदितव्या, देशानामप्यनन्तरमवे देवतयाऽनुत्पादात्, तदी-
योत्कृष्टभवस्थितेस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वाच्च । विभङ्गज्ञानस्योत्कृष्टा कायस्थितिरपि नैरधि-
कस्योत्कृष्टभवस्थितिप्राधान्यात्प्रभवत इति सामान्यतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा दर्शिताऽपि
तत्तन्मतानुसारेण सोपस्कारं व्याख्येया । तद्यथा-श्रीप्रज्ञापनाध्वनाऽभिप्रायेण देशानपूर्वको-
ट्यभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । उक्तं च—

“विभंगणाणी णं भंते ! विभंगणाणि त्ति कालो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं एरां समयं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं देवूणात्तं पुच्चकोडीते अब्भट्ठिताइं” इति । (कायस्थितिपदे सूत्र-२४१)

इत्थमेव कृष्णलेश्यादिके शेषमार्गणात्रयेऽपि सामान्यतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यभिहित्ताऽपि प्रकृतकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तादिनाऽभ्यधिका द्रष्टव्या । कस्माद् ? उत्कृष्टस्थितिकस्य कृष्णलेश्याक-
नारकस्य कृष्णलेश्यायाः पूर्वोक्तभवेद्वयेऽन्तर्मुहूर्ते सम्बन्धात् । इदमुक्तं भवति—सप्तमनरक उत्कृष्ट-
स्थितिकतयोन्पित्तोः कस्याऽपि जीवस्य मनुष्यादिवर्तमानभवचरमान्तर्मुहूर्ते नियमेन कृष्णलेश्या
समुद्भवति । सा च तदा निवर्तते, यदा तत्स्वामी नारकतयोन्पद्योऽकृष्टकायस्थितिं चातिवाह्य तत-
श्च्युत्वा पुनरपि तिर्यग्भवे भवप्रथमान्तर्मुहूर्तमतिगच्छति । एवं च तादृशमेकजीवमपेक्ष्य कृष्ण-
लेश्याया उत्कृष्टा कायस्थितिरन्तर्मुहूर्तेद्वयेनाधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवति । उक्तं च
श्रीप्रज्ञापनायाम्— “कण्ठलेसे णं भंते ! कण्ठलेसेनि कालो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं
अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमव्वट्ठिताइं” इति ।

इत्थमेव शुक्ललेश्याया अपि मूलोक्तकायस्थितिरन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिका द्रष्टव्या । यदुक्तं प्रज्ञा-
पनासूत्रे कायस्थितिपदे— “सुक्कलेसे णं भंते ! सुक्कलेसे त्ति कालो केवच्चिरं होइ ? गोयमा !
जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमव्वट्ठिताइं” इति । भावनाप्यत्र कृष्ण-
लेश्यावदंश्च द्रष्टव्या, तत्रं मनुष्यभवाच्च्युत्वाऽनुत्तरविमाने उत्कृष्टस्थितिकदेवनयोन्पद्य पुनरपि मनुष्य-
भवे उत्तरमानजीवमपेक्ष्येति । क्षाधिकमन्वस्त्वमार्गणायां तु न केशलेनाऽन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिका, न
वा सुशोक्ता साधनन्तमङ्गपतिता, किन्तु यास्तु क्षपकश्रेणिमवाप्य स्थितेरबन्धको न भवति, तावत्प-
र्यन्ता बोद्धव्या । स्थितिबन्धाद्युपयोगिनी कायस्थितिं प्रदर्शयितुं प्रवृत्तत्वादिति । महाबन्धकारैस्तु
विभङ्गज्ञानं एकं पर्याप्तमंत्रिपञ्चेन्द्रियजीवभेदमङ्गीकृत्याऽपर्याप्तावस्थायां विभङ्गज्ञानस्याऽभावेन
भवद्वयमन्कविभङ्गज्ञानकालस्य सान्तरन्वादान्तर्मुहूर्तानत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्युत्कृष्टा कायस्थिति-
रभ्युपगम्यते इति ॥१५२॥

अथ शेषनिरयगतिभेदानां प्रकृतकायस्थितिमाह—

पढमाइगणिरयाणं कमसो एगो य तिण्णि सत्त दस ।

सत्तरह य बावीसा तेत्तीसा सागरा णेथा ॥१५३॥

(प्रे०) “पढमाइगणिरयाण” मित्यादि, ‘प्रथमादिकनिरयाणां’-अथमादिपृथिवीभेदैर्भि-
क्षानां प्रथमादिसप्तमान्तानां निरयगतिमार्गणाभेदानां क्रमशः ‘ज्ञेया’ इति गाथाग्रन्ते सम्बन्धः ।
उत्कृष्टकायस्थितिरिति गम्यते । क्रमशः कियती ज्ञेयेत्याह—“एगो ये”त्यादि, एतेषामेकज्या-
दीनां त्रयस्त्रिंशत्पर्यन्तनां संख्यापदानां प्रत्येकं “सागरा” इति परेणान्वयः । तत्र “सागरा”
इति सागरोपमाणि, तत्रश्रायमर्थः—अर्थवशाद्बचनविपरिणतेः प्रथमनिरयस्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टा
कायस्थितिरेकं सागरोपमम्, द्वितीयनिरयस्य तु सा त्रीणि सागरोपमाणि, एवं तृतीयस्य सप्त

सागरोपमाणि, चतुर्थस्य दश सागरोपमाणि, पञ्चमस्य सप्तदश सागरोपमाणि, षष्ठस्य द्वाविंशतिः सागरोपमाणि, सप्तमपृथिवीनारकभेदस्य तु त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणीति । सुगमं चैतत्, तत्तन्नर-
कगतनैराधिकानामुत्कृष्टस्थितेर्यथोक्तैकत्रयादिमागरोपमप्रमाणत्वात्, अनन्तरभवे नारकतयाऽनुत्पा-
दाच्चेति । उक्तं च पृथिवीभेदेन नारकाणां भवस्थितिं दर्शयता जीवसमासकृता—

एषं च तिपिण सत्त य दस सत्तरसेष हुंति बायीसा । तेनीसा उग्रहिनाभा पुद्गवीसु टिई कमुक्कोसा ॥ इति ।

तदेवं दर्शिता निरयगतिभेदानामेकजीवाश्रया दीर्घकायस्थितिः । साम्प्रतं क्रमप्राप्तनिर्यग्-
गतिमार्गणाभेदानां तां प्रचिकटयिषुः सदृशकायस्थितिकानामन्येषामपि भेदानां समसेवाह—

णेया असंखिया खलु परिअट्टा पोगगलाण तिरियस्म ।

एगिंदिय-हरिआणं काय-णपुंसग-असण्णीणं ॥१५४॥

(प्रे) “णेया असंखिये”त्यादि “णेय” ति प्रकृतोत्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञेया, किन्प्रमाणा
कस्य कस्येत्याह—“असंखिये”त्यादि, “तिरियस्से”त्यादि, तिर्यग्न्योधभेदस्य, “एगिंदि-
यहरिआणं” ति बहुवचनान्तनिर्देशः प्राकृतत्वात्, तत् एकंन्द्रिय-हरितयोः, एकंन्द्रियोधमार्गणा-
भेदस्य वनस्पतिकार्याषमार्गणाभेदस्य चेत्यर्थः । तथा काययोगसामान्यस्य, नपुंसकवेदस्य, असं-
ज्ञिमार्गणाभेदस्येत्येतेषां पण्णां मार्गणाभेदानां प्रत्येकम् “असंखिया खलु” ति खलुशब्दस्या-
वधारणार्थकन्वेनैकस्या आवलिकाया अमंग्येयतमभागगतसमयप्रमाणा एवाऽमंग्येयाः “परिअट्टा
पोगगलाणं” ति पुद्गलानां परावर्ताः । उक्तं च कायस्थितिपदे—

“तिरिक्खजोणिणं षं भंति ! तिरिक्खजोणिणंत्ति कालओ केयञ्चिरं होइ ? गोयसा ! जहन्नेणं
अंतोमुहुत्तं, उक्कोमेणं अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणिओ कालतो, खेत्तओ अणंता लोणा, असं-
खेज्जपोगगलपरिअट्टा, ते एं पुग्गलपरियट्टा आवलियाए अमंखिज्जइ भागे” इति तथा “वणस्सइका-
इयए षं पुच्छा० गोयसा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोमेणं अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणिअवसप्पिणिओ
कालओ, खेत्तओ अणंता लोणा, असंखेज्जा पुग्गलपरियट्टा ते एं पुग्गलपरियट्टा आवलियाए अमंखेज्जइ-
भागे “तथा” एगिंदिए षं भंति ! एगिंदिए ति कालतो केयञ्चिरं होइ ? गोयसा ! जहन्नेणं अंतो
मुहुत्तं, उक्कोमेणं अणंतं कालं वणस्सइकालो” । तथा “कायजोगी षं भंति ! कायजोगी ति कालतो केय-
ञ्चिरं होइ ? गोयसा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोमेणं वणस्सइकालो” तथा “नपुंसकवेए ति पुच्छा०,
गोयसा ! जहन्नेणं एणं समयं, उक्कोमेणं वणस्सइकालो” । तथा असण्णी षं पुच्छा०, गो० ! जहन्नेणं
अंतोमुहुत्तं, उक्को० वणस्सइकालो” इति ॥१४५॥

अथान्येषु तिर्यग्नतिभेदेषु व्याजिहिषुस्तन्व्यास्यान्मनुष्यगतिभेदेष्वपि समसेवाह—

तिपणिंदियतिरियाणं तिणराणं य पल्लिओवमा तिपिण ।

अब्भहिया पुव्वाणं कोडिपुहुत्तेण णायव्वा ॥१५५॥

(प्रे०) “तिपणिंदिये”त्यादि, अपर्याप्तभेदसत्ककायस्थितेः “सब्बाऽपज्जत्ताण”—

मित्यादिनाऽनन्तरं वक्ष्यमाणत्वात् तेनाऽपर्याप्तभेदेन रहितानां पञ्चेन्द्रियतिर्यगोध- पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-

तिर्यक्-तिरश्चीरक्षणानां त्रयाणां पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदानां तथैवापर्याप्तभेदवर्जानां त्रयाणां नरगति-
भेदानां च प्रत्येकं ज्ञानव्येति गाथाप्रान्तेऽन्वयः, प्रकृतोत्कृष्टकायस्थितिरिति गम्यते । कविप्रमाणा
ज्ञातव्येत्याह—“पल्लिओचमा तिणिण” इत्यादि, पुष्यस्त उ परिमाणं सयति खलु वास कोटि-
लकवाओ । छप्पन्नं च सहस्सा बोवन्वा वासको जीणं ॥” इत्यादिनाऽन्यत्राऽभिहितपरिमाणानां पूर्वाणां
कोटिपृथक्त्वेनाभ्यधिकानि त्रीणिपन्थोपमानीत्यर्थः । उक्तं च—“तिरिक्खजोणिणी णं भंते । तिरिक्ख-
जोणिणिं ति कालओ केवन्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं भंनोसुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पल्लिओचमाइं
पुष्यकोटिपुहुत्तमभ्भहियाइं । एवं मणुस्से वि, मणुस्सी वि एवं चैव” इति ।

इत्थमेव शेषभेदेष्वपि बोद्धव्यम्, “पंचिन्द्रियतिरिनराणं सत्तट्ठभवा उ उक्कोसा” इति
वचनादिति । न च श्रीप्रज्ञापनायाम्—“तिरिक्खजोणियपञ्जत्तए णं भंते ! तिरिक्खजोणिय-
पञ्जत्तएत्तिकालतो केवन्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं भंनोसुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि पल्लिओचमाइं भंनो-
सुहुत्तूणाइं” इति ग्रन्थेन पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदस्योत्कृष्टकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तोन्नत्रिपन्थोपमाभि-
हितत्वात्, कथमेतत् सङ्गच्छेदिति वाच्यम् । यतः प्रज्ञापनासूत्र-प्रकृतग्रन्थयोः पर्याप्तमार्गणाविरय-
कविवक्षाभेदादुभयत्र वचनभेदमात्रः, न पुनः काचिदसङ्गतिः । इदमुक्तं भवति—श्रीप्रज्ञापनायां
पर्याप्तजीवतया करणपर्याप्ता एव गृहीताः, लब्धपर्याप्ताः करणापर्याप्ताश्च वर्जिताः । ततस्तत्र “सत्तट्ठ-
भवा उ उक्कोसा” इति वचनोक्तमप्राप्तभवप्रमाणकायस्थितिरूपादात्तुं न शक्यते, द्वितीयभवप्रथम-
ममयादेव करणापर्याप्तावस्थायाः प्राप्तः । इत्थं च तत्र द्वितीयभवप्रारम्भमात्रेण पर्याप्तसत्का काय-
स्थितिर्निष्ठां याति, तत्कृतः मप्राप्तवस्थितीनामनुमंथानसम्भवः । अत एव तत्रैकं त्रिपन्थोपम-
स्थितिकं युग्मिभवमादाय तस्यापि प्रथमपर्याप्तावस्थासत्कमन्तर्मुहूर्तं विवर्ज्य शेषाः स्थितिरुत्कृष्ट-
कायस्थितितया दर्शिता । उक्तं च तद्दृष्टौ मलयगिरिसूरिपादैः—

“तिर्यक्सूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तभावना प्रागिव, उत्कर्षतस्त्रीणि पल्लयोपमान्यन्तर्मुहूर्तानानि, एतच्चोत्कृष्टा-
वुयो देवकुर्वादिभातिरतिरश्चोऽधिकृत्य वेदनीयम्, अन्येपामेतावत्कालप्रमाणायाः पर्याप्तावस्थाया अविच्छे-
देनाप्राप्यमाणत्वात्, अत्राप्यन्तर्मुहूर्तानस्त्वमन्तर्मुहूर्तस्याद्यस्याऽपर्याप्तावस्थायां गतत्वात्” इति ।

अत्र तु पर्याप्तनामकर्मोदयजन्यसर्वावस्थामपेक्ष्य कायस्थितिरभिहिता, पर्याप्तनामकर्मोदयस्तु
करणपर्याप्तानामपि तदानीमपर्याप्तावस्थायां भवत्येव, ततश्चापर्याप्तावस्थासत्कमन्तर्मुहूर्तं न वर्ज्यते,
तथाचोत्कृष्टस्थितिर्युग्मिभवसम्बन्धिन्या त्रिपन्थोपमस्थित्या सममनन्तरगतानां संख्येयवर्षस्थिति-
कानां पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियभवानां स्थितेरनुसन्धानमपि भवतीत्येवमत्र विवक्षाभेदादीर्घा काय-
स्थितिः प्रतिपादिता, न पुनः कश्चिन्मतान्तरोऽसङ्गतिर्वैत्यलं विस्तरेणेति ॥१५५॥

अथ क्रमप्राप्ताऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणास्थानस्य प्रस्तुतकायस्थितिं व्याजिहीषुस्तुन्य-
वक्तव्योपेता अन्या अपि मार्गणाः संगृह्य सममेवाह—

सव्वापज्जत्ताणं समत्तवायरणिगोअकायस्स ।

पज्जत्तगसुहुमाणं पणत्रय-उरलमीसाणं ॥१५६॥

विउवा-ऽऽहारदुगाणं अवगयवेअस्स चउकसायाणं ।

सुहुमु-वसम-मीसाणं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वा ॥१५७॥

(प्रे०) “सव्वापज्जत्ताण”मित्यादि, सर्वेषामपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तवादरैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तद्वीन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रीन्द्रिया-ऽपर्याप्तचतुरिन्द्रिया-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तवादरपृथिवीकायाष्कायतेजस्कायवायुकायसाधारणवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायाष्कायतेजस्कायवायुकाया-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तसाधारणवनस्पतिकाया-ऽपर्याप्तब्रह्मकाय रक्षणानां विंशतिसंख्याकानामप्यपर्याप्तमार्गणाभेदानां “समत्तवायरणिगोअकायस्स” इति समाप्तस्य-पर्याप्तस्य वादरनिर्गोदाख्यसाधारणवनस्पतिकायभेदस्येत्यर्थः । तथा “पज्जत्तगसुहुमाणं” इति पर्याप्तकसूक्ष्मजीवभेदानाम्, ते च पर्याप्तकसूक्ष्मभेदाः षट्, एकैन्द्रिय-पृथिवीकाया-ऽष्काय-तेजस्काय-वायुकाय-साधारणवनस्पतिकायभेदात् । तथा “पणमणे”त्यादि, तत्र पञ्चशब्दस्य मनोवचसोः प्रत्येकं योजनः शेषोत्तरभेदभिन्नानां पञ्चानां मनोयोगभेदानां पञ्चानां वचोयोगभेदानामौ-दारिकमिश्रकाययोगभेदस्य चेत्यर्थः । अथान्यानप्यन्तमुहूर्तोत्कृष्टकायस्थितिकान् मार्गणाभेदान् संगृह्याह-“विउवे”त्यादि, तत्र ‘दुग’ शब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाययोगयोर्द्विकस्या-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगयोर्द्विकस्य चेत्यर्थः । तथाऽपगतवंदमार्गणाभेदस्य क्रोधादीनां चतुर्णां कषायाणां “सुहुमुवसममीसाणं” इति सूक्ष्मसम्परायमयमस्यापशमिकप्रत्यक्त्वमिश्रदृष्ट्योरित्येतेषां पञ्चाशन्मार्गणाभेदानां प्रत्येकं “भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वा” इति ‘भिन्नमुहुत्तम्’, अन्तमुहूर्तं ज्ञानव्या, एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिर्निति गम्यते । लक्ष्यपर्याप्ततया नानाभवकरणेनाप्यन्तमुहूर्तादधिककालो नात्येति, तथा चाऽपर्याप्तावस्थाया उन्कृष्टमप्यवस्थानमन्तमुहूर्तमेवेति सर्वाऽपर्याप्तभेदानामुत्कृष्टकायस्थितिरन्तमुहूर्तं दर्शिता । यदुक्तं श्रीप्रज्ञापनासूत्रे—

“अपज्जत्तण णं भंते ! अपज्जत्तण ति काळओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं.” इति ।

इत्थमेव पर्याप्तसूक्ष्मजीवभेदानां पर्याप्तवादरसाधारणवनस्पतिकायस्य च प्रत्येकं जघन्यत इवोत्कृष्टतोऽप्यन्तमुहूर्तमेव कायस्थितिर्भवति, तत ऊर्ध्वं नियमान्मार्गणान्तरोत्पत्तेः । उक्तञ्च—

“सुहुमे णं भंते ! अपज्जत्तण सुहुमअपज्जत्तण ति काळओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पुद्विक्काइय-आउकाइय-तेउकाइय-वाउकाइय-वणस्सइकाइथाण वि एत्तं चेव, पज्जत्तथाण वि एत्तं, वायरनिगोयपज्जत्तण य वायरनिगोयअपज्जत्तण य पुच्छा, गोयमा ! दुत्ति वि जहन्नेण उक्कोसेणं वि अंतोमुहुत्तं ।” इति ।

मनोयोग-वचोयोगभेदानामुत्कृष्टतोऽन्तमुहूर्तादूर्ध्वं स्वभावादेव योगान्तरतया परावर्तना-

दुष्कृष्टाऽपि कायस्थिरस्तामुर्हतादिका न लभ्यते, एवमेवौदारिककाययोग-कर्मणकाययोगवर्जेषु काययोगभेदेष्वपि बोद्धव्यम् । ननु कस्मादौदारिककर्मणकाययोगौ वर्ज्येते ? उच्यते,—प्रस्तुतग्रन्थविवक्षया विग्रहगतौ सम्भविनः कर्मणकाययोगस्य त्रिसमयादधिकावस्थानाऽसम्भवात् त्रिसमयादधिका, तथा मनोवचो योगरहितानामेकेन्द्रियाणां पर्याप्तावस्थायामौदारिककाययोगादन्ययोगानामसम्भवेना-ऽऽमरणमौदारिककाययोगस्यावस्थानाद् दीर्घा कायस्थितिरौदारिककाययोगस्य लभ्यत इत्येतौ द्वौ योगौ वर्ज्येते इति । प्रस्तुतग्रन्थविवक्षां तु यथावसरं दर्शयिष्याम इति । अपगतवेदस्य कायस्थितिरुद्यमस्थजीवापेक्षया साद्यपर्यवसितभङ्गवन्ति भवति, तथाऽपि उद्यमस्थजीवापेक्षया सादिपर्यवसितभङ्गवन्ति दर्शिता । कस्मात् ? स्थितिग्रन्थादिनिरूपणोपयोगिकायस्थितेर्भण्यमानत्वात् । सा चोपशमश्रेणावन्तमुर्हतामात्रोन्कृष्टतोऽपि लभ्यते, नाधिकेति । कस्यापि जीवस्य क्रोधादिकषा-योदयानामप्युन्कृष्टतः प्रत्यन्तमुर्हतामन्यान्यकषायोदयतया नियमतः परावर्तनादेकजीवाश्रया क्रोधादिकषापमार्गणासन्कोन्कृष्टकायस्थितिरप्यन्तमुर्हतादिका न लभ्यते । यदुक्तम्—

“कोइकसाई णं भंते ! कोइकसाइ त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं उक्कोसेणं अंओमुहुत्तं, एवं जाव माणमायाकसाती । लोभकसाई णं भंते ! लोभ०पुच्छा, गोयमा ! जह० एक्कं ममयं, उक्कोअंतोमुहुत्तं ।” इति ।

शेषस्तु सुगमः, सूक्ष्मसम्परायादिगुणानामन्तमुर्हतामात्रावस्थानात् । उक्तं च पञ्चसंग्रहे—
'समयाओ अंतमुहु अणुवकरणेण जाव उवमंतो ।' तथा “मीमुपसम अंतमुहु” इति ॥१५६-१५७ ॥

तदेवं दर्शिता तिर्यग्गतिभेदानामेकजीवाश्रयोन्कृष्टकायस्थितिः, तत्तुल्यवक्तव्यत्वादन्येषामपि बहुमार्गणभेदानाम् । साम्प्रतं देवगतिमत्कशेषभेदानां दिदर्शयिषुराह—

भवणस्स साहियुदही पल्लं वंतरसुरस्स विण्णेया ।

पलिओवममव्भहियं जोइसदेवस्स णायव्वा ॥१५८॥

सोहम्माईण कमा अयरा दो साहिया दुवे सत्त ।

अव्भहिया सत्त य दस चउदस सत्तरह णायव्वा ॥१५९॥

एत्तो एगेगऽहिया णायव्वा जाव एगतीसुदही ।

उवरिमगेविज्जस्स उ तंतीसाऽणुत्तराण भवे ॥१६०॥

(प्र०) “भवणस्स साहियुदही”त्यादिगाथात्रयम्, “भीमो भीमसेन” इति । न्यायेन ‘भवनस्य’-भवनपतिदेवभेदस्य साधिकोदधिः,—साधिकसागरोपममुत्कृष्टकायस्थितिरित्यर्थः, नरकभव इव देवभवो निरन्तरमेक एव भवति, नाधिकः, मनुष्यतिरश्चामेवानन्तरभवे देवतयोत्पादात्, ततश्च देवानामपि यः भवस्थितिः, सैव कायस्थितिर्भवति । भवनपतिदेवेषुत्कृष्टा भवस्थितिरुत्तरदिग्बर्तिनामसुरकुमारनिकायदेवानाम् । सा च साधिकसागरोपममाना । यदुक्तं जीवस्समासे—

“असुरेषु सारमहियं” इति । तत्तश्चोत्कृष्टा कायस्थितिरपि तावन्वभिहिता । एवमेवोत्तरत्रापि तत्तद्देवानामुत्कृष्टभवस्थित्यनुसारेणोत्कृष्टकायस्थितिर्भावनीया । व्यन्तरादिदेवगतिभेदानामुत्कृष्टकायस्थितिं दर्शयति—“पञ्च वंतरसुरस्स विषगेया” इति एकदेशेन समुदायस्यावगमात् “पञ्च” इति पन्थोपमं व्यन्तरसुरभेदस्य विज्ञेया प्रकृतकायस्थितिः । तथा “पल्लिओवममममहियं” इति अभ्यधिकं पन्थोपमं ज्योतिष्कदेवभेदस्य विज्ञेया । अत्र वर्षलक्षेणाभ्यधिकमिति सोपस्कारं व्याख्येयम् । यदुक्तम्—“वन्तर पञ्च . जोडस धरिसल्लखाहियं पल्लियं” इति ।

अथ त्रैमानिकदेवभेदानामाह—“सोहम्माईणे”त्यादिना, सौधर्मादीनां क्रमाज्ज्ञातव्येति गाथाप्रान्तेऽन्वयः । कियतीत्याह—“अयर दो” इत्यादि, सौधर्मकल्पाख्यप्रथमदेवगतिभेदस्य ‘द्वावतरौ’—द्वौ सागरोपमावित्यर्थः । “साहिया दुवे” इति क्रमप्राप्तस्येशानकल्पदेवगतिभेदस्य साधिकौ द्वौ सागरोपमावुत्कृष्टकायस्थितिः । “सत्त” इति क्रमप्राप्तस्य मनत्कुमारकल्पदेवगतिभेदस्य सप्त सागरोपमाणि, तथैव “अवमहिया सत्त य” इति अभ्यधिकानि सप्त सागरोपमाणि माहेन्द्रकल्पभेदस्येत्यर्थः । चः पादपूर्त्ये । एवं यथोत्तरं वाच्यम्, ततो बह्वकल्पदेवभेदस्य “दश” इति दश सागरोपमाणि, लान्तककल्पदेवभेदस्य चतुर्दश सागरोपमाणि, शुक्रकल्पस्य सप्तदश सागरोपमाणि, इत उपरितनदेवभेदानामाह—“एत्तो एगेगऽहिया” इत्यादिना, ‘इतः’—शुक्रकल्पदेवगतिभेदादुत्तरम् “एगेगऽहिया” इति एकैकाधिका ‘अतगः’—सागरोपमाणि “णाववा” इति एकजीवाश्रयोत्कृष्टा कायस्थितिर्ज्ञातव्या, “जाव एगतीसुदही” इति यावदेकत्रिंशद्दशयः—सागरोपमाणि । कस्येत्याह—“उवरिमगेविज्जस्स” इति नवमग्रैवेयकस्येत्यर्थः ।

अयम्भावः—पहस्राराख्यस्याऽष्टमकल्पस्योत्कृष्टा कायस्थितिः शुक्रकल्पापेक्षयैकेन सागरोपमेणाधिकंऽष्टादश सागरोपमाणि ज्ञातव्या, साऽप्येकेन सागरोपमेणाधिकंकोनविंशतिः सागरोपमाण्यानताख्यनवमकल्पदेवभेदस्य ज्ञातव्या, अनया नीत्या प्राणतकल्पस्य त्रिंशतिः सागरोपमाणि, आरणकल्पस्यैकत्रिंशतिः सागरोपमाणि, अन्युतकल्पस्य द्वाविंशतिः सागरोपमाणि उत्कृष्टकायस्थितिः, प्रथमग्रैवेयकस्य सा त्रयोविंशतिः सागरोपमाणि, द्वितीयग्रैवेयकस्य चतुर्विंशतिः सागरोपमाणि, तृतीयग्रैवेयकभेदस्य पञ्चविंशतिः सागरोपमाणि, चतुर्थग्रैवेयकभेदस्य षड्विंशतिः सागरोपमाणि, पञ्चमग्रैवेयकभेदस्य सप्तविंशतिः सागरोपमाणि, षष्ठग्रैवेयकभेदस्याऽष्टाविंशतिः सागरोपमाणि, सप्तमग्रैवेयकभेदस्यैकोनत्रिंशत्सागरोपमाणि, अष्टमग्रैवेयकभेदस्य त्रिंशत्सागरोपमाणि, नवमग्रैवेयकभेदस्यैकोनत्रिंशत्सागरोपमाणि प्रकृतोत्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञातव्येति । पञ्चानुत्तरदेवगतिभेदानां तर्हि कियतीत्याह—“नेत्तीसाऽणुसराण भवे” त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि पञ्चानामनुत्तरविमानदेवगतिभेदानां भवेत्प्रकृता कायस्थितिः, सुगमा चैषा, एतेषु देवगतिभेदेषुत्कृष्टभवस्थितेरेतावत्प्रमाणत्वात् । उक्तञ्च—“दो साहि सत्त साहिय, दस चवदस सत्तर अयर जा सुक्को । इक्किक्कमहिय-मित्तो, जा इगतीसुवरि गोविज्जे ॥८॥ तितीसऽणुत्तरेसु” इति ।

तत्त्वार्थभाष्ये तु—सर्वार्थसिद्धवर्जेषु चतुर्ष्वनुत्तरविमानभेदेषु केनाप्यभिप्रायेणोत्कृष्टा भवस्थितिर्द्वात्रिंशन्मागरोपमाण्येवाभिहिता । तथा चोक्तं तत्र—“सा विजयादिषु चतुर्ष्वप्येकेनाधिका द्वात्रिंशत् ।” इति ॥१५८-१५९-१६०॥ गता देवगतिभेदानामुत्कृष्टा कायस्थितिः । साम्प्रतमेकेन्द्रियादिजातिसन्कभणितशेषमार्गणाभेदानां तामाह—

अंगुलअसंखभागो वायरर्गिंदियस्स सुहुमाणं ।

तह पुहवाइचउण्हं णेया लोगा असंखेज्जा ॥१६१॥

(प्र०) “अंगुलअसंखभागो” इत्यादि, अङ्गुलस्यासंख्यभागः,—अङ्गुलस्याऽसंख्येय-तमैकभागमात्रक्षेत्रगताकाशप्रदेशेषु प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे यावान् कालोऽनिगच्छति, तावत्प्यसंख्येया उन्मर्षिण्यवमर्षिण्य इत्यर्थः । एतावान् कालो वादरैकेन्द्रियमार्गणाभेदस्यैकजीवाश्रयो-त्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञेयाः । “सुहुमाणं” ति सर्वेषां ‘सूक्ष्माणां’ सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनां वर्णनामोघ-भेदानाम्, तथा समुच्चये, “पुहवाइचउण्हं” ति सूक्ष्मवादरपर्याप्तापर्याप्तविशेषणविरहितानां सामान्यपृथिव्यादिवायुकायान्तानां चतुर्णामोघभेदानाम् “णेया” ति प्रकृतकायास्थितिज्ञेया । कियत्प्रमाणेत्याह—“लोगा असंखेज्जा” ति क्षेत्रतोऽसंख्येया लोकाः, लोकाकाशप्रमाणेष्वसंख्ये-येष्वकाशखण्डेषु प्रतिसमयमेकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽपह्रीयमाणे यावता कालेन ते सर्वे प्रदेशा हीयन्ते, तावानसंख्येयोन्मर्षिण्यवमर्षिणीप्रमाणः काल इत्यर्थः । उक्तञ्च कायस्थितिपदे—

“सुहुमे णं भंते ! सुहुमे ति कालतो केवच्चिचरं होति ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोसुहुत्तं, उक्कोसेण असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ उस्सपिण्णिओसपिणीतो कालतो, खेत्ततो असंखेज्जा लोगा, सुहुमपुढविकाइते सुहुमआउकाइते सुहुमतेउकाइते सुहुमवाउकाइते सुहुमनिगोदे वि ज० अंतोसुहुत्तं, उक्को० असंखेज्जं कालं अनंखिज्जाओ उस्सपिण्णिओसपिणीतो कालतो, खेत्ततो असंखेज्जा लोगा” इति ॥१६१॥

वायरपज्जेगिंदिय-भू-दग्-पत्तेअ-वाउ-विगलाणं ।

संखेज्जसहस्ससमा समत्तवेइंदियस्स संखसमा ॥१६२॥ (गीतिः)

(प्र०) “वायरपज्जेगिंदिये”त्यादि, वादरपर्याप्तशब्दस्य वायुकायान्तेषु प्रत्येकं योज-नात् वादरपर्याप्तैकेन्द्रियभेदस्य “भू” ति वादरपर्याप्तस्य ‘भूकायिकस्य’-पृथिवीकायभेदस्य, तथा वादरपर्याप्तस्य “दग्” ति दृक्कायिकस्य, वादरपर्याप्ताकायभेदस्येत्यर्थः, । तथा “पत्तेअ” ति वादरपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदस्य, अत्र वादरेति विशेषणं स्वरूपदर्शनपरं विज्ञेयम् । तथा “वाउ” ति वादरपर्याप्तवाउकायभेदस्य, “विगलाणं” ति पर्याप्तापर्याप्तविशेषणविरहितानां द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियलक्षणानां विकलेन्द्रियाद्यभेदानामित्येवमष्टमार्गणाभेदानां प्रत्येकम् “संखेज्जस-हस्ससमा” ति एकजीवाश्रयकायस्थितिः संख्येयसहस्राणि ‘समाः’-वर्षाणीत्यर्थः । उक्तं च—

“वायरेगिंदियपज्जत्तणं णं भंते ! वायरेगिंदियपज्जत्तणं ति कालतो केवच्चिचरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोसुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइ” इति । तथा “वादरपुढविकाइचपअत्तणं णं

भंते । वादरपुढशिकाइयपञ्जत्तण्णि कालओ केवच्चिरं होति ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं, एवंथाउकाइएवि, "इति । "थाउकाइअ-वणस्सहकाइअ-पत्तेअसरीरवादरपण-फइकाइते पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं" इति ।

इत्थमेव द्वीन्द्रियादीनां त्रयाणामोद्यमार्गणास्थानानां कायस्थितिविषयेऽपि द्रष्टव्यम्, "विगलिवियाणं वाससहस्सा संखेज्जा" इति वचनादिति ।

अथ पर्याप्तद्वीन्द्रियस्याह—“समत्तवेइंदियस्स संखसमा” इति पर्याप्तद्वीन्द्रियमार्गणाभेदस्यैकजीवाश्रया प्रकृतोत्कृष्टकायस्थितिः संख्येयसमाः-संख्येयानि वर्णनीत्यर्थः । उक्तं च—

‘वेइंदियपञ्जत्तण्णि भंते ! वेइंदियपञ्जत्तण्णि कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वासाइं, "इति ॥१६२॥

पञ्जत्तगतेइंदिय-वायरतेऊण होइ संखेज्जा ।

दिवसा संखियमासा समत्तचउइंदियस्स भवे ॥१६३॥

(प्रे०) “पञ्जत्तगे”त्यादि, पर्याप्तकशब्दस्य त्रीन्द्रिय-वादरतेजसोः प्रत्येकं योजनात् पर्याप्त एव पर्याप्तकः स चासौ त्रीन्द्रियस्तस्य पर्याप्तकत्रीन्द्रियस्य, पर्याप्तत्रीन्द्रियमार्गणाभेदस्ये-त्यर्थः । तथैव पर्याप्तवादरतेजस्कायमार्गणाभेदस्य च प्रत्येकं “होइ” इति उत्कृष्टकायस्थितिर्भवति । कतिपयेत्याह—“संखेज्जे”त्यादि, संख्येया दिवसाः । उक्तं च—

“तेइंदियपञ्जत्तण्णि भंते ! तेइंदियपञ्जत्तण्णि कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं राइंदियाइं, " इति । तथा—“तेउकाइए पञ्जत्तण्णि भंते ! तेउकाइअ-पञ्जत्तण्णि कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहं अंतोमुहुत्तं, उक्को० संखेज्जाइं राइंदियाइं, " इति ।

“संखियमासा” इति संख्येया मासा उत्कृष्टकायस्थितिः, भवेदितिगाथाप्रान्तेऽन्वयः । कस्येत्याह—“समत्तचउइंदियस्स” इति म्वप्रायोग्यपर्याप्तीरपेक्ष्य ममाप्तस्य ‘चतुरिन्द्रियस्य’-चतुरिन्द्रियमार्गणाभेदस्येत्यर्थः । तथा चोक्तं—“चउरिंदियपञ्जत्तण्णि भंते ? चउरिंदियपञ्जत्तण्णि कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ? जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जा मासा, " इति ॥१६३॥

पंचिंदिय-ऽचक्खूण-ऽहियुदहिसहस्सं तसस्स तं दुगुणं ।

पञ्जपणिंदि-तस-पुरिस-सण्णीणायरसयपुहुत्तं ॥१६४॥

(प्रे०) “पंचिंदिये” त्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ-चक्षुर्दर्शनमार्गणयोः प्रत्येकमधिकोद्धारिसह-स्रम्, सातिरेकं सागरोधमसहस्रं प्रकृता कायस्थितिरित्यर्थः । उक्तं च कायस्थितिपदे—

“चक्खुदंसणी णं भंते । चक्खुदंसणि णि कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोधमसहस्सं सातिरेकं” तथा—“पंचिंदिये णं भंते ! पंचिंदिये णि कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोधमसहस्सं सादरेगं” इति ।

“तसस्स तं दुगुणं” इति त्रसकार्यौघमार्गणायाः “तं” इति ‘तत्’—पञ्चेन्द्रियाद्यनन्त-

रोक्तमार्गणयोर्नृत्कायस्थितिप्रमाणं दर्शितं तद् “दुग्धुण” द्विगुणं द्रष्टव्यमर्थात्—त्रसकायोधमार्ग-
णाया उत्कृष्टकायस्थितिः सातिरेकं सागरोपमसहस्रद्वयं भवति । यदुक्तम्—

“तसकाइण णं भंते ! तसकाइण त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्को-
सेणं दोसागरोपमसहस्साइं संखेज्जवासड्ढभहिवाइं,” इति ।

“पञ्चदशपञ्चिदि” इत्यादि, तत्र पर्याप्तशब्दस्य पञ्चेन्द्रिय-त्रयोभयत्र योजनात् पर्याप्तपञ्चेन्द्रि-
यमार्गणाभेदस्य पर्याप्तत्रसकायमार्गणाभेदस्य पुरुषवेदमार्गणायाः संज्ञिमार्गणायाश्च प्रत्येकमतरशतपृ-
थक्त्वम्—सागरोपमाणां शतपृथक्त्वं प्रकृतौत्कृष्टकायस्थितिरित्यर्थः । उक्तञ्च कायस्थितिपदे—

“पञ्चिदियपञ्जत्तण णं भंते ! पञ्चिदियपञ्जत्तण त्ति कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं
अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोपमसयपुहुत्तां,” तथा “तसकाइयपञ्जत्तण णं भंते ! तसकाइयपञ्जत्तण त्ति
कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोपमसयपुहुत्तां सातिरेगं,” तथा
“पुरिसवेदे णं भंते ! पुरिसवेदे त्ति कालतो केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं
सागरोपमसयपुहुत्तां सातिरेगं,” तथा “सण्णी णं भंते ! सण्णी त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा !
जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोपमसयपुहुत्तां सातिरेगं,” इति ।

अत्र मूले पर्याप्तत्रसकायादिमार्गणानां कायस्थितौ सातिरेकता न दर्शिता, तथाऽपि साऽऽग-
मानुसारेण स्वयमेव द्रष्टव्येति ॥१६४॥ तदेवमिन्द्रियमार्गणामन्कशेषभेदानां प्रसङ्गादन्यमार्गणा-
भेदानां चोत्कृष्टकायस्थितिर्दर्शिता । साम्प्रतं कायमार्गणासन्कशेषभेदानां दर्शयन्नाह—

अद्धतइअपरिअट्टा भवे णिगोअस्स होइ मोहठिई ।

वायरपुह्वाइच्चउग-णिगोअ-पत्तेअहरिआणं ॥१६५॥

(प्रे०) “अद्धतइअ” इत्यादि, ‘अर्धतृतीयपरावर्ताः’—सार्धौ द्वौ पुद्गलयरार्धवर्तवित्यर्थः ।
एतावती प्रकृतैकजीवाश्रया कायस्थितिरुत्कृष्टतो भवेत् । कस्येत्याह—“णिगोअस्स” त्ति निगो-
दाख्यवनस्पतिविशेषस्य, माधारणवनस्पतिकार्यौधमार्गणाया इति यावत् । यदुक्तं—

“निगोदे णं भंते ! निगोदे त्ति केवच्चिरं होति ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणं-
ताओ उक्खप्पिणिओसप्पिणीओ कालतो, खेत्ततो अड्ढाइज्जा पोण्णलपरियट्टा,” इति ।

“होइ मोहठिई” त्ति प्रकृतैकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिर्मोहस्थितिर्भवति, मोहनीय-
कर्मणो यावत्पुत्कृष्टा स्थितिस्तावती सप्ततिकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणा भवतीत्यर्थः । कस्याः कस्या
मार्गणाया भवतीत्याह—“वायरपुह्वाइच्चउगे”त्यादि, वादरशब्दस्य निगोदपर्यन्तेषु प्रत्येकं
योजनात् वादरपृथिविकाय-वादराष्काय-वादरतेजस्काय-वादरवायुकार्यौधभेदचतुष्क-वादरनिगोदौध-
भेदयोः “पत्तेअहरिआणं” त्ति प्रत्येकहरितकायस्य, प्रत्येकवनस्पतिकार्यौधमार्गणाभेदस्ये-
त्यर्थः । एतासां पण्णां मार्गणानां प्रत्येकम्, न पुनः समुदितानामिति । उक्तं च—

“वायरपुह्वाइच्चउग णं भंते ! वायरपुह्वाइच्चउग त्ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं
अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्तदि सागरोपमकोजाओडिओ । एवं वायरआउकाइण चि, एवं जाव वायरआउकाइण

धि । पक्षेयवायरवषणस्सइकाहए णं भंते ! पुच्छा, गोयमा । जहण्णेणं भंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्तरिं साग-
रोवमकोडाकोडीओ ।" तथा "वायरनिगोए णं भंते ! वायरनिगोए ति कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा !
जहण्णेणं भंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्तरिं सागरोवमकोडाकोडीओ," इति ॥१६५॥

देसूणसहस्ससमा बावीसुरलस्स तिसमया णेया ।

कम्मा-ऽणाहारणं पल्लसयपुहुत्तमित्थीए ॥१६६॥

(प्रे०) "देसूणसहस्से" त्यादि, देशोनसहस्रसमा द्वाविंशतिः, देशोनानि द्वाविंशतिवर्ष-
सहस्राणीत्यर्थः । कस्येत्याह—“उरलस्स” ति औदारिककाययोगमार्गणायाः, उत्कृष्टकायस्थिति-
रिति गम्यते । इयं हि स्वरवादरपृथिवीकायिकस्योत्कृष्टभवस्थित्यपेक्षया बोद्धव्या, केवलं तस्या-
ऽप्रमर्गणवस्थायामौदारिकमिथ्याशयोमत्तद्वाद् भवप्रथमान्तमुहूर्तं सुद्धौदारिककाययोगे न गृह्यते ।
तस्योत्कृष्टभवस्थितिस्तु द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि, “बावीसा पुढधीन” इति वचनात्, ततोऽन्तमुहूर्ते
व्यपनीते प्रकृतकायस्थितिरशक्यत इति । न च त्रिपल्लयोपमायुषां तिर्यग्मनुष्याणामौदारिककाय-
योगसद्भावेन माऽधिकाऽपि सम्पद्येतेति वाच्यम् । तेषां पर्याप्तावस्थायामौदारिकयोगान्येषां
मनोयोगादीनामप्यन्तराऽन्तरा सम्भवेन तदानीं मनोयोगादिप्रवर्तमानयोगप्राधान्यादौदारिक-
काययोग आमरणं नैरन्तर्येण न लभ्यते, किन्तूत्कृष्टतोऽप्यन्तमुहूर्तमेव, अतो न तदपेक्षयोक्ता-
धिककायस्थिति सम्भव इति । “ति समया णेया” ति त्रिसमयाः प्रकृतोत्कृष्टकायस्थिति-
ज्ञातिव्या । कस्याः कस्या इत्याह—“कम्मा-ऽणाहारणं” ति कार्मणकाययोगमार्गणाया अनाहारक-
मार्गणायाः प्रत्येकमित्यर्थः । यद्यप्यनाहारकमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिरल्लभ्यस्थजीवमपेक्ष्य साव-
नन्तमङ्गपतिताऽपि लभ्यते; तथापि स्थितिवन्धाद्युपयोगित्वात् प्राग्बलद्वन्द्वकल्लभ्यजीवापेक्षया
सा प्रकृतेऽभिहितेति । ननु ल्लभ्यजीवापेक्षयाऽपि सा प्रज्ञापनासूत्रे उत्कृष्टतो ह्येव समया-
वेवाभिहिता । तथा च तद्ग्रन्थः—“छउमत्थअणाहारणं णं भंते ! छउमत्थअणाहारणं ति कालओ केवचि
होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं एसां समयं, उक्कोसेणं दो समया,” इति । तत्कथमत्र त्रिसमया उत्कृष्ट-
कायस्थितिरभिधीयते ? इति श्रेद्, उच्यते, त्रिवक्रायाश्चतुःसामयिक्या विग्रहगतेरपि प्रकृते
विवक्षितत्वात् । इदमुक्तं भवति—एकद्वयादिपञ्चममयान्ता विग्रहगतयो भवन्ति । उक्तञ्च—
“उजुया य एगवका दुहसोवका गती विणिमिद्धा । जुज्जइ तिचउवका वि नाम चउपंचसमयाओ ॥” इति ।
तास्य एकाद्वित्रिसामयिक्यो विग्रहगतयः प्रज्ञापनायां विवक्षिताः, न पुनश्चतुःसामयिकी पञ्चसाम-
यिकी वा । उक्तं च तद्वैकायाम्—“दोसमया” इति त्रिसामयिकी विग्रहगतिमधिकृत्य, चतुः-
सामयिकी पञ्चसामयिकी च विग्रहगतितं विवक्षिता, इत्यादि ।

प्रकृतग्रन्थे तु—पञ्चसामयिक्या विग्रहगत्या प्रायेण जन्तूनामनुत्पत्तंस्तां विहाय जीवसमास-
वचतुःसामयिकी विग्रहगतिरपि विवक्षिता, ततश्च तदपेक्षया कार्मणानाहारकमार्गणयोरेकजीवा-
श्रिता प्रस्तुतोत्कृष्टकायस्थितिरपि श्रीप्रज्ञापनोक्तकायस्थित्यपेक्षया समयाधिकाऽभिहिता । उक्तं

च जीवसमासेऽपि— “... कस्मिन्” इति । “... सयपुहुत्तमित्थोए” ति पल्यशतपृथ-
क्त्वं स्त्रीवेदस्य, इत्यक्षरार्थः । इयं हि स्त्रीवेदमार्गेणायाः कायस्थितिर्दिधा व्याख्याता दृश्यते । तद्यथा—
“द्रव्यस्त्रीवेदोऽयः पल्योपमशतपृथक्त्वं यावदुत्कृष्टतो भवति ।” इति पञ्चसंग्रहमूलवृत्तौ । मलय-
गिरिवृत्त्यादौ पुनः “थी पल्यसयपुहुत्तं” ति स्त्रीवेदो जघन्यत एकं समयं, उत्कर्षतः पल्योपमशतं
पूर्वकोटिपृथक्त्वं च । ” इत्यादि व्याख्यातम् । श्रीप्रज्ञापनायां तु पूर्वपूर्ववनस्वरिमतभेदमुपदर्श-
यता भगवता आर्यहयामेन पञ्चादेशाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा—

“इत्थीवेए णं भंते ! इत्थीवेए ति कालो केवचिरं होइ ? गोपमा ! एणेणं आपसेणं जहन्नेणं
एणं समयं, उक्कोसेणं इसोत्तरं पल्लिओधमसयं पुव्वकोडिपुहुत्तमव्वमहियं १ । एणेणं आपसेणं जहन्नेणं एणं
समयं, उक्कोसेणं अट्टारस पल्लिओधमाइं पुव्वकोडिपुहुत्तमव्वमहियाइं २ । एणेणं आपसेणं जहन्नेणं एणं
समयं, उक्कोसेणं चोहसपल्लिओधमाइं पुव्वकोडीपुहुत्तमव्वमहियाइं ३ । एणेणं आपसेणं जहन्नेणं एणं
समयं उक्कोसेणं पल्लिओधमसयं पुव्वकोडिपुहुत्तमव्वमहियं ४ । एणेणं आपसेणं जहन्नेणं एणं समयं उक्को-
सेणं पल्लिओधमपुहुत्तं पुव्वकोडिपुहुत्तमव्वमहियं ति ५ । ” इति ।

तदत्र मूलोक्तप्रकृतकायस्थितिरपि मतिमता-ऽविरोधेन व्याख्येयेति ॥१६६॥

मणणाण-संयमाणं समइअ-छेअ-परिहार-देसाणं ।

देसूणा पुव्वाणं कोडी एणा मुणेयच्चा ॥१६७॥

(प्रे०) “मणणाणे”त्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमार्गमार्गणयोः सामायिक-छेदोपस्थापन-
परिहारविशुद्धिक-देशसंयमानामिन्धेतेषां पण्णां मार्गणाभेदानां प्रत्येकमुत्कृष्टा कायस्थितिः
“देसूणा” ति वर्षाण्यकारादिरूपकदेशेनोना पूर्वाणामेका कोटिर्ज्ञातव्या । तत्र परिहारविशुद्धिक-
मार्गणावर्जानां शेषमनःपर्यवज्ञानादिमार्गणाभेदानामष्टवर्षलक्षणेनैकदेशेनोना पूर्वकोटी बोद्धव्या,
परिहारविशुद्धिकसंयमस्य त्वेकोनविंशद्वर्षलक्षणेनैकदेशेनोना सा विज्ञेया, जघन्यतो विंशतिवर्ष-
यतिपर्यायाणां तदङ्गीकरणस्य विहितत्वात् । उक्तं च—“गिहिपञ्जाओ जइअिगुणतीसा । जइपञ्जाओ बीसा”
इति । अत्र द्वेकोनविंशद्वर्षाणि भवप्रथमसमयादारभ्य बोद्धव्यानीति ॥१६७॥

दुअणाणा-ऽयत्त-मिच्छाण अणाइधुवा अणाइअधुवा य ।

माइअधुवा य तिविहा तइआ हीणद्धपरिअट्टो ॥१६८॥

(प्रे०) “दुअणाणायत्ते”त्यादि, विभङ्गज्ञानवर्जयोर्द्वयोरज्ञानमार्गणाभेदयोरसंयमस्य
मिथ्यात्वस्य चेत्येतासां चतसृणां मार्गणानां प्रत्येकं प्रकृतोत्कृष्टकायस्थितिः “तिविहा” इति
परेणान्वयः । अर्थात् स्वामिभेदात् त्रिविधा-त्रिप्रकारा भवति । तद्यथा—“अणाइधुवा” ति
प्रथमाऽनादिध्रुवा, -अनाधनन्ताऽभव्यजीवमपेक्ष्य ज्ञातव्या, तस्या-ऽऽकालं मिथ्यात्वपरित्यागाभा-
वात् । “अणाइअधुवा य” ति अनाधध्रुवा, -अनादिसान्तेत्यर्थः, एषा ह्यभिन्नग्रन्थिकभव्यजीव-
पेक्षया ज्ञातव्या । कुतः ? अभिन्नग्रन्थिकत्वात्तदीयमिथ्यात्वस्यानादित्वम्, भव्यत्वेनागामिकाले

सम्यक्त्वादिप्राप्तौ विच्छेदं यास्यतीति तस्याधुवन्वं चेतिकृत्वा । चः समुच्चये । तृतीया पुनः
 “साहअधुवा च” ति साधधुवा, -सादिसान्तेत्यर्थः । इमा तु भिन्नग्रन्थिकजीवापेक्षया बोद्धव्येति ।
 चः प्राग्बद् । इत्थं त्रिविधा मत्तज्ञानादीनां कायस्थितिः । अत्र प्रथमयोर्द्वयोर्विधयोरान्यन्त्यान्य-
 तरावधिरहितत्वेन सावधिकप्रमाणप्रदर्शनाऽसम्भवात् तृतीयायास्तावदुत्कृष्टं प्रमाणं दर्शयन्नाह—
 “तद्भा हीणरूपपरिभट्टो” ति तृतीया साधधुवलक्षणा कायस्थितिरुत्कर्षतो हीनार्थपरावर्तः,
 क्षेत्रतो देशोनार्थपुद्गलपरावर्तप्रमाणेत्यर्थः । उक्तं च कायस्थितिपदे—

“अण्णाणी मतिअण्णाणी सुतअण्णाणी णं भंते ! अण्णाणी मतिअण्णाणी सुतअण्णाणि ति
 कालओ केवचिचरं होति ? गोयमा ! अण्णाणी मइअण्णाणी सुयअण्णाणी ति विधे पणत्ते, तं जहा—अणाइए
 वा अपज्जवसिते, अणाइए वा सपज्जवसिते, सादीए वा सपज्जवसिते । तस्य णं जे सादीए सपज्जवसिते से
 जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोभेणं अणत्तं कालं, अणत्ताओ उस्सपिपिओसपिणीओ कालतो, खेत्तओ अव-
 द्ढोपोगलपरिचट्टं देसूणं.” इति । इत्थमेव मिथ्यात्वकायस्थितिप्रियेऽपि सूत्रसंवादे द्रष्टव्य
 इति ॥१६८॥

साहियल्लसट्टिजलही तिणाण-मम्मत्त- वेअगो-हीसुं ।

दुविहाऽत्थि अणाइधुवा अणाइअधुवा अचक्खुम्म ॥१६९॥

(प्रे०) “साहियल्लसट्टिजलही” त्यादि, ‘साधिका’-मनुष्यमवसत्कक्रियन्कालेनाभ्यधिकाः
 पट्पट्टिर्जलधयः—सागरोपमाणि प्रकृतोत्कृष्टा कायस्थितिर्भवतीत्यर्थः । केषां मार्गणाभेदाना-
 मित्याह—“तिणाण” इत्यादि, मनःपर्ययज्ञानवर्जानां त्रयाणां मत्यादीनां ज्ञानमार्गणाभेदानां
 सम्यक्त्वौघ-वेदकसम्यक्त्वा-ऽवधिदर्शनमार्गणाभेदानां चेत्येतेषां पण्णां प्रत्येकमित्यर्थः । अत्र
 हि सम्यक्त्वौघमार्गणायाः उत्कृष्टकायस्थितिः प्राग्बद्धमव्यजीवापेक्षयैव बोद्धव्या । अथाचक्षु-
 र्दर्शनमार्गणाभेदस्याह—“दुविहात्थि” इत्यादि, सुगमा, नवरमनादिधुवा प्रागवदमव्यजीवा-
 पेक्षया, अनाद्यधुवा तु भव्यजीवापेक्षया बोद्धव्या, “नट्टम्मि उ छाउमत्थिण नाणे” इति वचनात् केव-
 लोत्पत्तौ क्षायोपशमिकभावानां मत्थादिज्ञानानां विलय इव क्षायोपशमिकभावस्याऽचक्षुर्दर्श-
 नस्याऽपि विलयभावात् । अत एवोक्तं प्रवचने—

“अचक्खुदंसणी णं भंते । अचक्खुदंसणि ति कालओ केवचिचरं होइ ? गोयमा ! अचक्खुदंसणी
 दुविहे पणत्ते, तं जहा—अणादीए वा अपज्जवसिते, अनादीए वा सपज्जवसिते.” इति, ॥१६९॥

णीलाइचउण्ह कमा अयरा दस तिणिण दौणिण अट्टार ।

भवियस्सऽणाइअधुवा तथा अभवियस्सऽणाइधुवा ॥१७०॥

(प्रे०) “णीलाइचउण्ह” त्यादि, नीलादीनां चतुर्णां लेश्यामार्गणाभेदानां, “कमा” क्रमाद्
 ‘अतराः’—सागरोपमाणि दश त्रीणि द्वे ऽष्टादशेति । सुगमा, नवरं नीलकापोततेजोलेश्याभेदानां
 प्रत्येकं मूलोक्ताः कायस्थितयः पूर्ववत्पल्योपमासंख्येयभागेनाभ्यधिका द्रष्टव्याः, मूलेऽधिकांशस्य

ऽविश्वित्वात् । न च ब्रह्मकल्पान्तानां देवानामेव पद्मलेश्याया अभिहितत्वात्, तेषां चोत्कृष्टतो-
ऽपि दशसागरोपमस्थितिकत्वात्पद्मलेश्यामार्गणायाः प्रकृतोत्कृष्टकायस्थितिरष्टादशसागरोपमाणीति
कथं नु सङ्गच्छेदिति शङ्कनायम् । तस्य स्वामित्वप्ररूपणायां प्रागेव समाहितत्वात्, अष्टादश-
सागरोपमविषयकस्याभिधायस्य व्युत्पादितत्वाच्चेति । श्रीप्रज्ञापनासूत्रापेक्षया तु सा पद्म-
लेश्याया उत्कृष्टकायस्थितिर्दशसागरोपमाप्येव द्रष्टव्या । उक्तञ्च तत्र—

“पम्हृत्से षं भंते । पम्हृत्से चि कालतो केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं
दस सागरोपमाडं अंतोमुहुत्तमवमदिथाडं,” इति ।

“भवियस्सऽणाइअधुवा” ति ‘भव्यस्य’—भव्यमार्गणाभेदस्यानाद्यध्रुवा, ‘अभव्यस्य’—
अभव्यमार्गणास्थानस्य “णाइधुवा” ति अकारस्य दर्शनादनादिध्रुवा, अनाद्यनन्ता प्रकृतकाय-
स्थितिरित्यर्थः । उक्तं च कायस्थितिपदे—

“भवसिद्धिणं भंते ! भवसिद्धिणं चि कालतो केवचिरं होइ ? गोयमा ! अणादीणं सपज्जव-
सिते । अभवसिद्धिणं षं भंते ! अभवसिद्धिणं चि कालतो केवचिरं होइ ? गोयमा ! अणादीणं अपज्जव-
सिते.” इति । ॥१७०॥

सासाणस्सा-ऽऽवलिआ लु भवे आहारगस्स णायन्वा ।

अंगुलअसंखभागे ति भवे उक्कोसकायटिई ॥१७१॥

(१) “सासाणस्सावलिआ” इत्यादि, सामादनमार्गणाया एकजीवाश्रयोत्कृष्टकाय-
स्थितिः षडावलिआ भवेत् । उक्तं च पञ्चसङ्ग्रहे—“आवलियाणं लुक्कं समचादारब्भ सासणो होइ”
इति । “आहारगस्स णायन्वा” ति आहारिमार्गणाभेदस्योत्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञानव्या, कति-
पयेत्याह—“अंगुलअसंखभागे” ति अङ्गुलाऽसंख्यभागप्रमाणाकाशप्रदेशेषु प्रतिसमयमेकैक-
प्रदेशापटारे यावान् कालो निर्याति, तावानसंख्योन्मर्षिण्यवमर्षिणीप्रमाणः काल उत्कृष्टकायस्थिति-
र्भवतीत्यर्थः । इयमपि लक्षस्थजीवापेक्षयैव उक्ता, तस्या एव प्रकृतोपयोगित्वात् । उक्तं च—

“छउमत्थाआहारणं षं भंते ! छउमत्थाआहारणं चि कालतो केवचिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं
सुइगमवग्गहणं दुसमथउणं, उक्कोसेणं असंखेवजं कालं असंखेवजाश्रो उस्तप्पिणीओसप्पिणीतो कालतो,
खेत्ततो अंगुलस्स असंखेवजतिभागं,” इति ॥१७१॥

अथ पर्याप्तदीन्द्रियादिकतिषयमार्गणानां प्रस्तुतकायस्थितिं मतान्तरेण दर्शयन्नाचार्याद्वयमाह—

अण्णे उ भणन्ति भवे संखसहस्सवरिमा समत्ताणं ।

वेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदिय-चायरग्गीणं ॥१७२॥

दो सागरा सहस्सा समत्तम-चखुदंसणाण भवे ।

सत्तरह सत्त अयरा होइ कमा णीलकाऊमुं ॥१७३॥

(प्रे०) “अण्णे उ भणन्ति” इत्यादि, अन्ये केचनाचार्यास्तु-पुनर्भणन्ति, किं भणन्ती-

त्याह—“भवे” इत्यादि, पर्याप्तप्राद्वरपृथिवीकायादीनामिव समाप्तानां-पर्याप्तानां द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-वादराप्रिकायलक्षणानां चतुर्णां मार्गणाभेदानां प्रत्येकं प्रकृतैकजीवाश्रयोऽनुकृष्टकाय-स्थितिः संख्येयानि वर्षसहस्राणि भवेदित्यर्थः । उक्तञ्च पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकाकारैः—

“वादराणां पर्याप्तकनामविशेषितानां संख्येया वर्षसाहस्रस्यः, प्रत्येकं पृथिवीजलवाग्निवायुवनस्पतिप्रत्येकैकै-न्द्रियाणां वर्षसाहस्रस्यः कायस्थितिः, विकलानामपि द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियाणां प्रत्येकं संख्येयवर्षसाहस्रस्यः कायस्थितिः” इति ।

अथान्येषामाह—“दो सागरा” इत्यादि, समाप्तस्य त्रसकाधिकस्य चक्षुर्दर्शनस्य च प्रत्येकं प्रकृतकायस्थितिद्वे सागरोपमसहस्रे भवेदित्यर्थः । उक्तञ्च जीवसभासे— “चक्षुस्सुदधीष-वे सहस्राहं ।” इति । “सत्तरह सत्त अयरा होइ कमा णीलकाऊसु” ति नीललेश्यायाः कापोतलेश्यायाश्च प्रत्येकमुत्कृष्टकायस्थितिः क्रमात् सप्तदश सप्त चातराः-सागरोपमाणि भवति । इदमुक्तं भवति—महाबन्धकाराः पञ्चमपृथिव्याः सर्वाधस्तनप्रतरे कृष्णलेश्याकनारकाणामिव नीललेश्याकनारकाणां सत्त्वं प्रतिपद्य, तथा तृतीयपृथिव्याः सर्वाधस्तनप्रतरे नीललेश्याकनारकाणा-मिव कापोतलेश्याकनारकाणामपि समुद्रनिमेषस्य मार्गणाद्वयस्यापि कायस्थितिं यथोक्तामभिद-धतीति ॥१७२-१७३॥

तदेवमभिहितैकजीवाश्रया प्रस्तुतोपयोगिनी भवमार्गणानुत्कृष्टा कायस्थितिः । साम्प्रतं प्रसङ्गात् प्रकृतोपयोगिन्वाच्च प्राग् दूरेणोक्तेति विस्मरणशीलानां जीवानामनुग्रहार्थं तामामेव सर्व-मार्गणानामेकजीवाश्रयां जघन्यां कायस्थितिं संस्मरयन्नाह—

कायठिई णायव्वा जहण्णगा दससहस्रवासाणि ।

णिरय-पढमणिरयाणं देव-भवण-वंतराणं च ॥१७४॥

दुइआइगणिरयाणं सा पढमाइणिरयाण जा जेट्ठा ।

(प्रे०) “कायठिई णायव्वा” इत्यादि, अनन्तरं वक्ष्यमाणा “कायठिई” ति एक-जीवाश्रिता कायस्थितिर्विवक्षितनरकाद्यवस्थाया अविच्छिन्नमवस्थानलक्षणा “णायव्वा जहण्णगा” ति जघन्या एव जघन्यका-मर्वलक्ष्मी ज्ञातव्येत्यर्थः । तामेव क्रमत आह—“दससहस्रे”त्यादिना, दशवर्षसहस्राणि जघन्या कायस्थितिर्निरयोध-प्रथमपृथिवीनिरयभेदयोः, देवोध-भवनपति-व्यन्तर-देवगतिभेदानां च प्रत्येकं ज्ञातव्येत्यर्थः । सुगमा चैवा, देवनैरयिकयोरनन्तरभवे देवनैर-धिकतयानुत्पादात्, प्रथमनरकनैरयिक-भवनपत्यादीनां जघन्यभवस्थितेर्दशसहस्रवर्षप्रमाणत्वाच्च । उक्तं च—“दससहस्रवरिसठिइआ, भवणाहिव-निरय-वंतरिआ” ॥२७॥ इति ।

अथ नरकगतिशेषमार्गणाभेदानां प्राह—“दुइआइगे”त्यादिना, द्वितीयादिपृथिवीभेद-मिच्छानां पण्णां निरयभेदानां जघन्यकायस्थितिः सा, भवतीति शेषः । का पुनः सेत्याह—“पढ-माइणिरयाणे”त्यादि, प्रथमादिनिरयभेदानां ‘जा’ ति या प्राक्—“पढमाइगणिरयाणं कमसो एणो

य निषिण सन्न दस । सत्तरह य चाधीसा तेन्नीसा सागरा षेया ॥१५३॥ इत्यनया गायया 'ज्येष्ठा'-उत्कृष्टा कायस्थितिरभिहितेत्यर्थः । तद्यथा—द्वितीयपृथिवीनिरयभेदस्य जघन्या कायस्थितिरेकं सागरोपमम्, तृतीयपृथिवीनिरयभेदस्य सा श्रीणि सागरोपमाणि, चतुर्थपृथिवीनिरयभेदस्य सप्त सागरोपमाणि, एवं पञ्चमपृथिवीनिरयभेदस्य दश, षष्ठपृथिवीनिरयभेदस्य सप्तदश, सप्तमपृथिवीनिरयभेदस्य तु सा जघन्यैकजीवाश्रयकायस्थितिर्द्वाविंशतिः सागरोपमाणीति । उक्तञ्चान्यत्राऽपि—

“सत्त य पुढवीसु डिइ, जिहो वरिमाइ हिइपुढवीण । होइ कमेण कणिह्वा दसवाससहस्स पढ-
साग ॥” इति ॥१७४॥

अथ क्रमशःतिर्यग्गत्योद्यमार्गणाभेदस्य जघन्यकायस्थिति विवक्षुस्तन्साम्यादन्यासामपि यासां मार्गणानां जघन्यकायस्थितिः क्षुल्लकभवग्रहणरक्षणस्ता अपि सममेव सङ्गृह्याह—

खुड्ढभवो तिरिय-पणिंदितिरिय-मणुस-तदपज्जाणं ॥१७५॥

पज्जत्तभेअवज्जिअसेसिंदिय-कायभेअ-सण्णीणं ।

अमणस्स तिसमयूणो आहारि-उरालमीसाणं ॥१७६॥

(प्र०) “खुड्ढभवां तिरिये” न्यादि, ‘क्षुल्लकः’—सर्वमवापेक्षया लघीयान् ‘भवः’—जन्म सः क्षुल्लकभवोऽनन्तरवक्ष्यमाणतिर्यग्गत्यादिमार्गणाभेदानां जघन्यकायस्थितिर्भवेदित्यर्थः । क्षुल्लक-
भवमार्तं निवर्त्य प्रतिपाद्यते,—आवन्निआणं दोसयछण्णत्ता एणखुड्ढभवे.” इति । तत्रावलिक्का न्यसंख्येयानां समयानां समुदायो ज्ञातव्यः । यदुक्तमनुयोगद्वारसूत्रे—“असंज्ञिज्जाणं समयणं समुदयसभिइ समा-
गमेण सा एणा आवन्डिय ति खुच्चइ ।” इति । तिर्यग्गत्योद्यमार्गणाभेदानेवाह—“तिरिये” न्यादिना, तिर्यग्गत्योद्यस्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाद्य-मनुष्याद्यभेदयोस्तथा तयोरेवापर्याप्तभेदयोः, अपर्याप्ततिर्यक्-
पञ्चेन्द्रियाऽपर्याप्तमनुष्यभेदयोश्चेत्यर्थः । तथा “पज्जत्ते” न्यादि, पर्याप्तवादरैकेन्द्रिय-पर्याप्तसूक्ष्मे-
केन्द्रिय-पर्याप्तद्वीन्द्रियादिलक्षणपर्याप्तभेदवर्जिता ये शेषा एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चे-
न्द्रियलक्षणैन्द्रियमार्गणासत्कांथा-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्तथा पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिवसकायलक्षणकाय-
मार्गणासत्कांथा-ऽपर्याप्तभेदभिन्ना भेदास्ते पर्याप्तभेदवर्जितशेषेन्द्रियकायभेदाः, ते च समस्तास्त्रिचत्वारिंशद्भवन्ति । तद्यथा—एकेन्द्रियसत्काः सूक्ष्मपर्याप्तवादरपर्याप्तभेदवर्जा ओद्य-सूक्ष्माद्य-वादरौद्य-
सूक्ष्माऽपर्याप्त-वादराऽपर्याप्तभेदभिन्नाः पञ्च भेदाः, तथैव पृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकायानां पञ्चानां प्रत्येकं पञ्च पञ्च भेदाः, द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाणां प्रत्येकं पर्याप्तभेद-
वर्जावोद्या-ऽपर्याप्तभेदभिन्ना द्वौ द्वौ भेदाः, इत्थमेव प्रत्येकवनस्पतिकायसत्कां द्वौ त्रसकायसत्कां द्वौ वनस्पतिकार्याद्यभेदश्चेति । तेषां, तथा “सण्णीणं” ति संज्ञिमार्गणाभेदस्य “अमणस्स” ति असंज्ञिमार्गणाभेदस्येत्येतेषां समुद्दितानां तिर्यग्गत्योद्यमार्गणाभेदानां प्रत्येकमित्यर्थः । सुगमा । अथानन्तरोक्तकायस्थित्यपेक्षया स्वल्पतारतम्यात् क्रमक्षुल्लङ्घ्यादावीदारिकमिश्रकाय-

योगाहारिमार्गणयोराह-तिसमयु गो आहारिउरालमीसाणं” ति आहारिमार्गणाया औदारिक-
मिश्रकाययोगमार्गणायाश्च प्रत्येकमेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिस्त्रिसमयोः, कः ? क्षुल्लकभव
इत्यनुष्ठया बोद्धव्यम् । कथं ? पृथिव्यादिभ्यश्च्युत्वा चतुःसामयिक्या विग्रहगत्या जघन्यस्थितिकपृथि-
व्यादितयोत्पद्य, ततोऽपि मृत्वा विग्रहगत्यैव यो भवान्तरं गच्छति, तस्य क्षुल्लकभवचतुर्थसमयात्प्रा-
रम्य क्षुल्लकभवान्त्यसमयं यावदाहारकत्वादौदारिकमिश्रकाययोगित्वाश्च तदपेक्षया प्रकृतकायस्थि-
तिर्बोद्धव्या । उक्तं च जीवसमासृत्तौ श्रीमन्मलधारीयहेमचन्द्रसूरिपादैः-

“कश्चिदेकेन्द्रियादिर्जीवो मृतः, पूर्वाभिहितप्रकारेण च विग्रहे समयत्रयसनाहारको भूत्वा क्षुल्लक-
भवप्रहणायुष्केषु पृथिव्यादिपृत्पन्नः, तत्र च तावन्तं कालं निरन्तरमाहारको भूत्वा मृतः, पुनरपि विग्रहेऽ-
नाहारको जात इत्येवं जघन्यतस्त्रिसमयोः क्षुल्लकभवप्रहणमाहारकत्वम्” इति ॥१७५-१७६॥

अथ क्रमप्राप्तस्य पर्याप्तितिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदस्य जघन्यकायस्थिति दिदृशंयिषुलाघवार्थ-
मक्रमगतानपि तुल्यवक्तव्यान् मार्गणाभेदान् सङ्गृह्याह-

भिन्नमुहुत्तं उ सयलपज्जत्तगजोणिणीण कायस्स ।

मीसदुजोग-पुमाणं कसायतिग-णाणजुगलाणं ॥१७७॥

अण्णाणदुगस्स तहा देसा-ऽयत-चक्खु-सव्वलेसाणं ।

सम्मत्त-खड्डअ-वेअग-उवसम-मीसाण मिच्छस्स ॥१७८॥

(प्रे०) “भिन्नमुहुत्तं उ” इत्यादि, भिन्नमुहुत्तम्-अन्तर्मुहुत्तं जघन्यकायस्थितिर्भवतीति
शेषः । तुशब्दः पूर्वापेक्षया विशेषद्योतनार्थं प्रकृतान्तर्मुहुत्तकायस्थितेः । को विशेषो द्योत्यते ?
उच्यते, पूर्वं तिर्यग्गत्याद्येकोनपञ्चाशन्मार्गणानां परस्परं तुल्यैव जघन्यकायस्थितिरासीद्, न पुनः
समयमात्रेणापि न्युनाधिका । प्रकृते तु सा कुत्रचित्केश्यादिमार्गणासन्का लघ्वन्तर्मुहुत्तमात्रा,
कुत्रचित्पर्याप्तादिभेदानां क्षुल्लकभवाद् दीर्घान्तर्मुहुत्तप्रमाणा, इत्येवं विशेषेण यथासम्भवं बोद्ध-
व्येति । केषां मार्गणाभेदानां जघन्यकायस्थितिरन्तर्मुहुत्तमात्रेत्याह-“सयलपज्जत्तगे” इत्यादि,
सकलशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सकलपर्याप्तभेद-सकलयोनिमतिमार्गणाभेदानामित्यर्थः । तत्र
पर्याप्तभेदा विंशतिः, द्वौ पुनर्योनिमद्भेदौ । तद्यथा-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-पर्याप्तमनुष्यभेदौ,
पर्याप्तशुश्रूमादरेकेन्द्रियभेदौ, तथा पर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियभेदाः, पर्याप्तशुश्रू-
मादरपृथिव्यप्तेजोवायु-माधारणवनस्पतिकाय-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-पर्याप्तसकायभेदाश्चेति पर्याप्त-
भेदाः । तिरश्ची मानुषी चेति द्वौ योनिमद्भेदाविति । “कायस्स” ति काययोगमार्गणाभेदस्य
तथा “मीसदुजोगपुमाणं” ति औदारिकमिश्रयोगस्याऽनन्तरमाथायामेवाभिहितत्वादौदारिक-
मिश्रयोगवर्जयोः शेषयोर्वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगभेदयोः पुंवेदमार्गणाभेदस्य चेत्यर्थः ।
“कसायतिगणाणजुगलाणं” ति “लोहविभंगोहिजुगलाणं” (गाथा-१८३) मित्यादिना लोभ-

मार्गणाया अवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञानमार्गणयोश्च जघन्यकायस्थितेरुत्तरत्र वक्ष्यमाणतया ता मार्गणा विज्ञाय क्रोध-मान-माया-लक्षणानां कषायमार्गणानां विकस्य मतिज्ञान-श्रुतज्ञानरूपयोर्ज्ञानमार्गणयो युगलस्य चेत्यर्थः । तथैव विभङ्गज्ञानमार्गणायाः प्रकृतकायस्थितेरप्युत्तरत्र वक्ष्यमाणतया “अपलाणदुग्स्स”ति पञ्चज्ञान-श्रुतज्ञानलक्षणयोर्द्वयोरज्ञानमार्गणयोस्तथा देशसंयमाऽसंयम-चक्षुर्दर्शनमार्गणाभेदानां “सब्बलेसाणं” ति सर्वासां पदसंख्याकानामपि कृष्णादिलेश्या-मार्गणाभेदानामित्यर्थः । तथा सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदकौ-पशमिक-मिश्रमार्गणाभेदानां मिथ्यात्वस्येत्येतेषां समुदितानामष्टचत्वारिंशन्मार्गणाभेदानां प्रत्येकमित्यर्थः । उक्तं च कायस्थिति-पदे—“पञ्चत्तण णं पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेण अतोसुहुत्तं” इति । इत्थमेव शेषमार्गणानां जघन्यकायस्थितिष्वपि समयसंवादो द्रष्टव्य इति ॥१७७-१७८॥

अधुना क्रमप्राप्तानां शेषदेवगत्यादिभेदानां जघन्यकायस्थितिमाह—

पलियस्स अट्टभागो जोइसिअस्स पलिओवमं णेया ।

सोहम्मसुरस्स भवे ईसाणस्सऽब्भहियपल्लं ॥१७९॥

दोण्णि हवेज्जा जलही सणकुमारस्स दोण्णि अब्भहिया ।

माहेंदस्स हवेज्जा सत्त भवे बम्हेदेवस्स ॥१८०॥

लंतकदेवाईणं सा बम्हसुराइगाण जा जेट्ठा ।

(प्रे०) “पलियस्से”त्यादि, पदकदेशे पदसमुदायोपचारात् “पलियस्स” ति पल्यो-पमस्याष्टमो भागो ज्योतिष्कदेवमार्गणाभेदस्यैकजीशश्रया जघन्यकायस्थितिरिति गम्यते । एव-मुत्तरत्रापि बोद्धव्यम् । “पलिओवमं णेय” ति एकं पल्योपमं ज्ञेया प्रकृतकायस्थितिः, कस्येत्याह—“सोहम्मसुरस्स” ति सौधमर्त्यस्य वैमानिकप्रथमदेवभेदस्येत्यर्थः । “भवे ईसाणस्सऽब्भहियं पल्लं”ति वैमानिकद्वितीयदेवभेदस्येशानकल्याण्यस्य माऽभ्यधिकं पल्यो-पमं भवेदित्यर्थः । “दोण्णि हवेज्जा जलही” ति द्वौ ‘जलही’ सागरोपमा भवेत् सनत्कु-सागराख्यदेवगतिभेदस्य, “दोण्णि अब्भहिया” ति ‘जलही’ इत्यस्यात्राप्यनुवर्तनाद् द्वौ ‘जलही’-सागरोपमेऽभ्यधिके माहेन्द्राख्यचतुर्थकल्पदेवगतिभेदस्य भवेत्, “सत्त भवे” ति पूर्ववत् “जलही” इत्यस्यानुवृत्त्या सप्त जलधयः—सागरोपमाणि प्रकृतकायस्थितिर्भवेद् ब्रह्मलोकाख्यपञ्चम-कल्पस्य । लाघवार्थमित उपरितनदेवगतिभेदानां प्रकृतकायस्थितिमतिदेशद्वारेणाह—“लंतक-देवाईणं”मित्यादिना, लान्तककल्पादिदेवगतिभेदानां सा जघन्यकायस्थितिर्मन्तव्येति वाक्य-शेषः । का पुनः सा इत्याह—“बम्हे”त्यादि । इदमुक्तं भवति—“सोहम्माईण कमा अकरा दो साहिया दुवे सत्त । अब्भहिया सत्त य द्दस चउदस सत्तरह् णायव्वा ॥१५९॥ एत्तो एगेगऽहिया णायव्वा जाव एगतीसुदही । उवरिमगेभिजस्स उ तेत्तीसाऽगुत्तराण भवे ॥१६०॥” इति गाथाद्वयेन ब्रह्मकल्प-

सुरादिकानां या ज्येष्ठा कायस्थितिः प्रागभिहिता, सा द्रष्टव्येत्यर्थः । तद्यथा—लान्तककल्पदेवगति-
भेदस्य दशसागरोपमाणि जघन्यकायस्थितिः, शुक्रकल्पस्य तु सा चतुर्दश सागरोपमाणि, मह-
सारकल्पस्य सप्तदशसागरोपमाणि, इतस्तूत्तरीत्तरदेवभेदानामेकैकसागरोपमेणाधिका कायस्थिति-
र्द्रष्टव्या यावच्चतुर्णामनुत्तरविमानदेवगतिमार्गणाभेदानां प्रत्येकमेकजीवाश्रयजघन्यकायस्थितिरेक-
त्रिंशत्सागरोपमाणीति । सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेदस्य तु सा एकत्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा जघन्य-
कायस्थितिर्न भवति, तस्या अनन्तरं प्रतिषेधयत्वादिति । एषा हि कायस्थितिस्तत्तदेवगतिभेदानां
जघन्यभवस्थित्यनुसारेण भावनीया । जघन्या भवस्थितिस्तु तेषामित्थं पठ्यते —

“सोहम्मे ईसाणे जहन्नठिइ पलियमहिंयं च ॥९॥

दोसाहि सत्त दस चउदस सत्तर अयराइं जा सहस्सरो ।

तप्परओ इक्किक्कं, अहिंयं जाऽणुत्तरचउक्के ॥१०॥ ” इति । (श्रीचान्द्रसंग्रहणी।

श्री.समवायाङ्गसूत्रे तु—सर्वार्थसिद्धवर्जेषु विजयादिषु चतुर्धनुत्तरभेदेषु जघन्या भव-
स्थितिर्द्वात्रिंशत्सागरोपमाण्यभिहिता । तथा च तद्ग्रन्थः—“विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियाणं देवाणं
केवइय कालं ठिईं पन्नत्ता ? गोधसा ! जहन्नेणं वन्नीसं सागरोवमाइ” इति ॥१७६-१८०॥

अथ सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेदे प्रागुक्तोऽकृष्टकायस्थितिरेवाऽजघन्यानुत्कृष्टा इति तत्रोक्तो-
ऽकृष्टकायस्थितितोऽन्या नास्ति काचिज्जघन्या कायस्थितिस्तित्येतत्प्रतिषेधादिभिस्तन्वाम्यादन्य-
थाऽपि सममेव जघन्या कायस्थितिं प्रतिषेधयन्नाह—

सच्चत्था-ऽचक्खूणं भविया-ऽभवियाण णत्थि लहु ॥१८१॥

(प्रे०) “सच्चत्थाचक्खूणं”मित्यादि, ‘भीमो भीमसेन’ इति न्यायेन “सच्चत्थ”

ति सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेदा-ऽचक्षुर्दर्शनमार्गणयोस्तथा भव्या-ऽभव्यमार्गणयोस्तित्येतासां
चतसृणां “णत्थि लहु” ति एकजीवाश्रया ‘लहुः’-जघन्या कायस्थितिर्नास्ति-न विद्यते । कुतः ?
सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेदवर्जानां त्रयाणामचक्षुर्दर्शनादिमार्गणास्थानानां कायस्थितेराद्यन्तान्यत-
रेयत्ताविरहितत्वंनोभयतः सावधिकाया जघन्यकायस्थितेरसम्भवात्, सर्वार्थसिद्धविमानदेवभेदस्य
त्वागमेऽजघन्यानुत्कृष्टव्यसिंशत्सागरोपमप्रमाणस्थितेः प्रतिपादनात् । तथा चोक्तं श्रीप्रज्ञापना-
याम्— “सच्चत्थसिद्धदेवाणं भंतं ! केवतियं कालं ठिईं पण्णत्ता ? गोधसा ! जहण्णुक्कोसेणं तिन्नीसं
सागरोवमाइं ठिईं पन्नत्ता” इति ॥१८१॥

साम्प्रतं शेषमार्गणानां प्रकृतेकजीवाश्रयां जघन्यां कायस्थितिमार्गद्वयेन प्रदर्शयन्नाह—

पणमणवयजोगाणं औराला-ऽऽहार-विउव-कम्माणं ।

धी-णपुमा-ऽवेआणं लोह-विभंगो-हिजुगलाणं ॥१८२॥

मणणाण-संयमाणं समइअ-छेअ-परिहार-सुहुमाणं ।

सासण-ऽणाहाराणं समयोऽत्थि जहण्णकायठिईं ॥१८३॥

(प्रे०) “पणमणे”त्यादि, पञ्चशब्दस्य योगशब्दस्य च मनोवचसोः प्रत्येकं सम्बन्धात् पञ्चानां मनोयोगभेदानां पञ्चानां वचोयोगभेदानां चेत्यर्थः । तथा “ओरालाहारविउषकम्माणं” ति आहारिका-ऽऽहारक-वैक्रिय-कार्मणाख्यानां चतुर्णां काययोगमार्गणोत्तरभेदानाम् । “शोणपुमा-ऽवेआणं” ति स्त्रीवेद-नपुंसकवेदयोरपगतवेदस्य चेत्यर्थः । तथा लोभकपाय-विमङ्गलानयोरवधि-ज्ञाना-ऽवधिदर्शनमार्गणाद्वयलक्षणस्या-ऽवधियुगलस्य, अन्यमार्गणामङ्गहाय प्राह—“मणणाण-संयमाण”मित्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोः सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयमभेदानां सामादना-ऽनाहारकमार्गणयोरित्येतेषामेकोनत्रिंशन्मार्गणामेदानां प्रत्येकम्—“समयोऽस्थि जहण्णकायठिई”ति एकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिः ‘समयः’-समयमा-त्राऽस्ति । उक्तं च जावसमासे—

“मण-वह-उरल-विउविषय-आहारय-कम्म-जोग-अणरित्थी । संजमविभाग-विउभंग-सासाणे एणसमयं तु ॥”

इत्थमेवापगतवेदादिमार्गणाजघन्यकायस्थितिर्विषये सूत्रसंवादो द्रष्टव्यः । तद्यथा—

“अवेदणं णं भंते । अवेदणं नि कालतो केवचिरं होइ ? गोयमा! अवेदे दुविधे पं० तं जहा-सावीण वा अपज्जवमिण, साइण वा सपज्जवमित्ते, तत्थ णं जे माहा, सपज्जवमित्ते से जहण्णेणं एणं समयं” इति ।

इत्थमेवावधिदर्शनादिजघन्यकायस्थितिर्विषयेऽपि द्रष्टव्यमिति ॥१८२-१८३॥

अथ मतान्तरतः क्रोधादिकतिपयमार्गणानां प्रकृतजघन्यकायस्थितिं दर्शयन्नाह—

अण्णे कोहाईणं समयो मणणाण-ओहिजुगलाणं ।

संयम-परिहाराणं भिन्नमुहुत्तं पडुच्च छउमत्थं ॥१८४॥ (गीतिः)

(प्रे०) “अण्णे कोहाईणं”मित्यादि, अन्ये-महाबन्धकारादयः क्रोधादीनां क्रोध-मान-माया-कपायलक्षणानां तिसृणां मार्गणानां प्रकृतकायस्थितिः “समयु” ति लोभकपायमार्गणावज्जघन्यत एकममयस्तथा “मणणाणओहिजुगलाणं संयमपरिहाराणं” ति मनःपर्यवज्ञानस्याऽवधि-ज्ञाना-ऽवधिदर्शनमार्गणयोर्गुगलस्य संयमौघ-परिहारविशुद्धिकसंयमयोरित्येतासां सप्तमार्गणानाम् “भिन्नमुहुत्तं” ति अन्तर्मुहूर्तं जघन्यकायस्थितिरिति वदन्तीति शेषः । संयमौघस्य जघन्यतो-ऽन्तर्मुहूर्तं कायस्थितिस्तु कपायप्राभृतचूर्णिकाराद्यभिप्रायेणापि दृश्यते । उक्तं च कपायप्राभृत-चूर्णौ मिथ्यात्वादीनां जघन्यादिकालविषयकान्पवद्भुत्वे—

“.....अपुव्वकरणद्धा संखेज्जगुणा । जहण्णिणया संजमासंजमद्धा समत्तद्धा मिच्छत्तद्धा संजमद्धा असंजमद्धा सम्मामिच्छत्तद्धा च एदाओ छप्पि अद्धाओ तुल्लाओ संखेज्जगुणाओ ।” इत्यादि, बृहत्कल्पेऽपि “पयवजाणं मुहुत्तो जह्ममुक्कोरिया उ देसुणा” (गाथा-१६३८) इत्याद्युक्तम् ।

इयं ह्युक्तजघन्यभेदभिन्ना द्विविधाऽपि मार्गणानां कायस्थितिः प्रकृतग्रन्थोपयोगित्वेन छद्यस्थजीवापेक्षया दर्शितेत्येतन्मूलचयन्नाह—“पडुच्च छउमत्थं” ति छद्यस्थानामेव स्थितिवन्ध-कत्वाद्देशाऽनन्तरोक्ता द्विविधकायस्थितिः छद्यस्थजीवं प्रतीत्योक्ता । इदमत्र हृद्यम्—स्थिति-

बन्धः सकषायजीवानामेव जायते, एवमनुभागबन्धोऽपि । प्रदेशबन्धो योगप्रत्ययत्वाद्यद्यपि सकषा-
याणामिवाऽकषायाणामपि जीवानां भवति, तथाप्यत्र विवक्षाविशेषेण सकषायजीवानांश्रिन्याऽवि-
करिष्यति । एवं सति भण्यमानवक्ष्यमाणस्थितिवन्धादिविधिवन्धस्याऽपि सकषायजीवविषयत्वात्
सकषायजीव-लघ्वस्थजीवमव्यपेक्षकजीवाश्रयकायस्थित्योर्मतिज्ञानादिकतिपयमार्गणा अधिकृत्याऽन्त-
मुर्हर्तमात्रेण न्यूनाधिकत्वेऽप्युभयकायस्थितिवक्तव्यतायास्तुल्यत्वाच्च लघ्वस्थजीवान् प्रतीत्य
पूर्वापेक्षया किञ्चिद्विलक्षणैवात्र कायस्थितिरभिहिता । ततश्चेमामेव कायस्थितिमुपादायानन्तरोक्तोत्त-
रवक्ष्यमाणस्थितिवन्धादिकाला-ऽन्तरादय उपपादनीयाः, न पुनः प्रकृतिवन्धग्रन्थोक्तकायस्थितिमा-
दायेति । तदेवं समामं प्रामाणिकं कायस्थितिनिरूपणम्, तत्समाप्तां च निष्ठिताऽष्टानामपि मूल-
प्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्विधिवन्धकालप्ररूपणा ॥१८४॥

अथ जघन्याऽजघन्यस्थितिवन्धयोर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नकालं ओषत दर्शयन्नाह—

आउगवज्जाण भवे जहण्णाए ठिईअ हसिसयरो ।

कालो भिन्नमुहुत्तं तिविहो होइ अजहण्णाए ॥१८५॥

(प्रे०) “आउगवज्जाणभवे” इत्यादि, आयुर्वर्जानां ज्ञानावरणादीनां सप्तानां मूल-
कर्मणां भवेत्, क इत्याह—“कालो” इति परेणान्वयः । प्रकृतत्वादिकजीवाश्रयवन्धकालो भवे-
दित्यर्थः । वस्याः कियानित्याह—“जहण्णाए” इत्यादि, जघन्या एव जघन्यका, तस्या जघन्य-
कायः स्थितेः “हसिसयरो” इति ह्रस्वस्तदितरदीर्घश्च प्रत्येकम् “भिन्नमुहुत्तं” इति अन्तमुर्हर्त-
मित्यर्थः । कुत उभयथाप्यन्तमुर्हर्तमेव ? सप्तकर्मसत्कजघन्यस्थितिवन्धस्य चाग्निमोहनीयक्षपकस्वा-
मिकत्वात् । उक्तञ्च स्वामिन्वद्वारे—“सव्व विसुद्धो खवगो हस्माअ ठिईअ बंधगो ” इत्यादि, (गाथा-११५)
क्षपकस्य यथोत्तरमनन्तगुणविशुद्धत्वात् मरणव्याघातस्याभावाच्च प्रत्येकं स्थितिवन्धा नियमेनान्तमुर्हर्तं
प्रवर्तन्ते, अतः सप्तानां जघन्यस्थितेरुत्कृष्टवन्धकाल इव जघन्योऽपि वन्धकालोऽन्तमुर्हर्तमेव लभ्यत
इति । अथ सप्तकर्मणामजघन्यस्थितेः प्राह—“तिविहो होइ अजहण्णाए” इति सामान्यतः
स्वामिभेदाजघन्याः स्थितेरन्धकालस्त्रिविधः-वक्ष्यमाणत्रिप्रकारो भवतीत्यर्थ इति ॥१८५॥

तानेव त्रीन् प्रकारान् सप्रभेदमुपदर्शयन्नाह—

स य एवमणाइधुवो अणाइअधुवो य साइअधुवो य ।

तइओऽतमुहुत्तमणू देसूणद्धपरियट्ठोऽण्णो ॥१८६॥

(प्रे०) “स य एवमि” इत्यादि, स चानन्तरगाथोदिष्ट आयुर्वर्जानां सप्तकर्मणां प्रत्येकमज-
घन्याः स्थितेश्चिद्वधो वन्धकालः ‘एवं’-वक्ष्यमाणस्वरूपो ज्ञातव्य इत्यर्थः । तमेवाह—“णाइधुवो”
इत्यादि, विश्वेशप्राप्तस्याकारस्य दर्शनादनादिधुवः, अनाद्यनन्त इत्यर्थः । अयं लघ्वस्थजीवापेक्षया
बौद्धव्यः, अभव्यानां मिथ्यात्वपरित्यागाभावेन क्षपकश्रेणिमाविजघन्यस्थितिवन्धस्योपशमश्रेणि-

भाविनः स्थितेरबन्धस्य वाऽऽकालमनवाप्तेरनादिकालप्रवृत्ताधिकाराजघन्यस्थितिवन्धस्य कदापि विच्छेदासम्भवादिनि । अथ द्वितीयविधामाह—“अणाहअधुवो य” ति, चः समुच्चये, अनाद्यधुवः, अनादिमान्त इत्यर्थः । अयं ह्यप्राप्तोपशान्तमोहगुणस्थानान् भव्यजीवान् प्रतीत्य ज्ञातव्यः, अप्राप्तोपशान्तमोहगुणस्थानानां भव्यजीवानां ह्यभव्यजीववत् प्रकृताजघन्यस्थिति-बन्धो नियमतोऽनादिः, स चागामिकाले उपशान्तमोहगुणस्थानप्राप्तौ जघन्यस्थितिवन्धे वा प्रारब्धे नियमेन व्यवच्छेदमेव्यति, ततश्च सान्त इति । तृतीयविधामाह—“साहअधुवो य” ति चः प्राग्बत्, ‘साद्यधुवः’-सादिसान्त इत्यर्थः । अयं पुनरुपशान्तमोहगुणस्थानात् निप-तितान् जीवान् समाश्रित्याऽवसातव्यः, उपशान्तमोहगुणस्थानान्निपतने तेषामजघन्यस्थिति-बन्धस्य सादिन्वात्, सान्तत्वं तु प्राग्बदिति । जघन्यस्थितिवन्धवदस्यापि कालो जघन्योत्कृष्ट-भेदादिश्च द्रष्टव्यः, स च प्रथमं प्रकारद्वये न सम्भवति, ? तयोराद्यन्तान्यतरैवसाऽपेतत्वात् । अतस्तृतीयस्य द्विविधकालमानं दर्शयन्नाह—“तद्दो” इत्यादिना, तृतीयः साद्यधुवभङ्गगतः “अंत-मुहुत्तमणु” ति अन्तमुहूर्तमणुः-जघन्यो बन्धकालः । “देशोणहपरिअटोऽण्णो” ति देशोना-र्थपुद्गलपरावर्तः ‘अन्यः’-जघन्यादन्यः-उत्कृष्टबन्धकालो भवतीत्यर्थः । तत्रोपोशान्ताद्वाक्ष्येण प्रति-पत्त्यान्तमुहूर्तं विश्रम्य पुनरपि श्रेणिमाकृष्टा-ऽजघन्यस्थितिवन्धं निष्ठापयति तस्य जघन्यबन्धकालः प्राप्यते, उत्कृष्टबन्धकालस्तु श्रेणिद्वयोत्कृष्टान्तरस्य देशोनार्थपुद्गलपरावर्तप्रमाणत्वात् तदपेक्षया ज्ञातव्यः । कुतः ? श्रेणिं विहायान्यत्रौघिकाजघन्यस्थितिवन्धविच्छेदस्यासम्भवादिनि ॥१८६॥

तदेवमुक्त ओघत आयुर्वर्जानां समानां जघन्याजघन्यद्विविधस्थित्योर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नद्वि-विधोऽपि बन्धकालः । साम्प्रतमवशेषस्याऽऽयुषोऽपि तमोघतो दिदर्शयिषुरन्यवक्तव्यत्वादादेशतोऽपि सममेव दर्शयन्नाह—

आउस्स जहण्णाए ठिईअ समयो भवे जहणियरो ।

अलहूअ मुहुत्तंतो आउस्सेमेव सव्वासुं ॥१८७॥

(प्र०) “आउस्स जहण्णाए” इत्यादि, आयुषो जघन्यायाः स्थितेः समयो भवेत् । क इत्याह—“जहणियरो” ति जघन्यस्तदितर उत्कृष्टश्च, द्विविधोऽपि बन्धकाल इत्यर्थः । कुतः ? उत्कृष्टावाधाया इव जघन्यावाधाया अप्यसंक्षेप्याद्वायामायुर्वन्धत आयुर्वन्धकालचरमसमय एव प्राप्तेः । अयम्भावः—असंक्षेप्याद्वा तु जघन्यतो यावत्त्यायुष्यवशेषेऽत्रदायुर्जीवो नियमेनायुर्वन्धं प्रारभत इत्येव-मवशेषवेद्यमानायुरूपा प्रथमाधिकाराल्पवद्दृत्वद्वारे व्याख्याता । सा च वेद्यमानायुषश्चरमखण्डप्रमाणा । तत्र प्रविश्य क्षुल्लकभवप्रमाणजघन्यायुर्वन्धं प्रारभमाणस्य जीवस्य न जघन्यावाधा, किन्तु क्रमेण निष्ठापयत आयुर्वन्धाद्वायाश्चरमसमयवर्तिनः । इत्येवं जघन्यावाधाया एकस्मिन् समय एव प्राप्ते-रुत्कृष्टस्थितिकायुर्वन्धकाल इव जघन्यस्थितिकायुर्वन्धकालोऽपि समयमात्र आस्रायते, न पुनर-

धिक इतिकृत्वा जघन्यत उन्कृष्टतश्चोभयथा पि समयमात्रो दर्शित इति । अथाजघन्यायाः स्थि-
तेः प्रकृतकालमानमाह—“अलहूअ मुहूर्त्ततो” ति अनन्तरोक्तं “जहणियरो” इति पदं काका-
क्षिगोलकन्यायेनात्रापि सम्बध्यते, ततः प्रकृतस्यायुषोऽलघोः-अजघन्यस्थितेर्जघन्येतरबन्धकालौ
प्रत्येकं मुहूर्त्तान्तः-अन्तमुहूर्त्तमित्यर्थः । इमावप्यायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्योन्कृष्टबन्धकालवद्भावनीया-
विति । दर्शित औघत आयुषो जघन्याजघन्यस्थित्योः प्रत्येकं द्विविधोऽपि कालः । साम्प्रतमादेशतः
प्रदर्शनावसरः, तत्रान्पवक्तव्यत्वाद् बहुषु मार्गणास्वोद्यसास्याच्चाऽऽयुषः प्रकृतबन्धकालमेवादाव-
तिदेशेनाह—“आउस्सेमेव म्बन्वास्सु” ति आयुषः, न पुनः शेषमसकर्मणासपीत्यर्थः । ‘एव-
मेव, यथौघतो दर्शितस्तथैव ‘सर्वासु’-निरयगत्यादिसर्वमार्गणासु जघन्याऽजघन्यस्थिन्योर्जघन्यो-
त्कृष्टद्विविधोऽपि बन्धकाल इति प्रकरणाद्रम्यत इति ॥१८७॥ तदेवं साम्यतावाहुन्येन लाघ-
चार्यं कृतेऽतिदेशे या काचिदतिप्रसक्तिस्तां निराचिकीर्षुर्विशेषं दर्शयन्नाह—

णवरं अजहण्णाए हस्सो समयोऽत्थि पणमणवयेसुं ।

काये उरले विउत्रे आहारदुगे कसायेसुं ॥१८८॥

(प्रे०) “णवरं” मिन्यादि, नवरं-परमयं विशेषो ज्ञातव्यः । कोऽवाचित्याह—“अजह-
ण्णाए” इत्यादि, अजघन्याः स्थितेर्ह्रस्वः-जघन्यो बन्धकालः समयोऽस्ति । कासु मार्गणास्मिन्याह-
“पणमणवयेसुं” मिन्यादि, पञ्चशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् पञ्चषु मनायोगमार्गणाभेदेषु पञ्चषु
च वचोयोगमार्गणाभेदेषु, काययोगे, आहारिककाययोगे, वैक्रियकाययोगे, आहारका-ऽऽहारक-
मिश्रकाययोगमार्गणाद्वयरूपे आहारकद्विके क्रोधादिषु चतुर्षु ‘कसायेसुं’-कसायमार्गणाभेदेष्वित्येतासु
षोडशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु षोडशमार्गणास्वपवदने हेतवस्त्वायुषोऽनुत्कृष्टस्थिते-
र्जघन्योत्कृष्टबन्धकालवदेव द्रष्टव्याः । भावनाऽपि च तथैव कार्या, केवलमनुत्कृष्टस्थितिस्थाने जघन्य-
स्थितिरभिधातव्येति ॥१८८॥

कृतं ममानामौघत आयुष औघत आदेशतश्च जघन्याऽजघन्यस्थिन्योर्जघन्योत्कृष्टबन्ध-
कालप्ररूपणम् । साम्प्रतमवशिष्टौ समानां जघन्याजघन्यस्थिन्योर्जघन्योत्कृष्टबन्धकालावादेशतः
प्ररूपयन्नाह—

णरतिग-पणिंदितसदुग-तिवेअ-गयवेअ-चउकसायेसुं ।

चउणाण-विभंगेसुं संयम-सामइअ-छेअ-सुहुमेसुं ॥१८९॥ (गीतिः)

देसम्मि दंसणतिगे सुइल-भविय-सम्म-खइअ-मीसेसुं ।

सण्णिम्मि य आहारे सत्तण्ह लहूअऽणू मुहूर्त्ततो ॥१९०॥ (गीतिः)

(प्रे०) “णरतिगे”त्यादि, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेरपर्याप्तभेदं विहाय मनुष्यगतयोघ-

पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणारूपे नरत्रिके, द्विकशब्दस्य पञ्चेन्द्रियप्रसयोः प्रत्येकं योजनात् पञ्चेन्द्रियौव-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणयोर्द्विके त्रसकार्यौव-पर्याप्तत्रसकाश्मार्गणबोध द्विके इत्यर्थो विज्ञेयस्तथा त्रिषु स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेदमार्गणाभेदेषु, गतवेदमार्गणायाम्, क्रोधादिकषायचतुष्के । अन्यामार्गणाः संचिन्वन्नाह—“चउणाणे,”त्यादि, मत्यादिचतुर्ज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-साप्तायिक-छेदोपस्थाप १-सूक्ष्मसम्प्रायसंयममार्गणेषु देशसंस्पर्शाणां चक्षुस्सिद्धिर्ज्ञानमार्गणयोर्विके शुक्ललेस्याभ्य-सम्यक्त्वौ १-क्षायिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टिमार्गणासु संक्षिमार्गणायामाहारिमार्गणायां चेत्येतासु पञ्चत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकम् “सत्तणह लहूअऽणु सुहुस्तु” ति शेषाणामायुर्वर्जानां सप्तानां मूलकर्मणां ‘लघोः’-जघन्यायाः “णु” ति अकारस्य दर्शनात् ‘अणुः’-जघन्यो बन्धकालो मुहूर्तान्तः-अन्तमुहूर्तमित्यर्थः । अत्र विभङ्ग-देशसंयम-मिश्रदृष्टिमार्गणात्रये जघन्यस्थितिवन्धः संयमाद्यभिमुखावस्थायां भवति, संयमाद्यभिमुखानां तत्स्वामित्वात् । यदुक्तं स्वामित्वप्ररूपणायाम्—“विभंग-देशेषु संयमाभिगुहो” तथा ‘मीसे षो पडिवज्जह अणंतरम्मि समयम्मि सम्मत्तं” इत्यादि । ततश्च मिध्यात्वाद्यभिमुखावस्थाभावयुक्तं स्थितिवन्धवज्जघन्यस्थितिवन्धोऽपि न मरणव्याघातादिना व्याहन्यते, अत उत्कृष्टबन्धकाल इव तस्य जघन्यबन्धकालोऽप्यन्तमुहूर्तमेव प्राप्यते । शेषासु द्वात्रिंशन्मार्गणासु तु जघन्यस्थितिवन्धवर्मी क्षपकश्रेणिगतो जीः, तस्यापि मरणव्याघाताऽसम्भवात् प्रतिममयमनन्तगुणत्रिशुध्यमारत्वान्चोक्तोक्त्या प्रत्येकं स्थितिवन्धा जघन्यतोऽप्यन्तमुहूर्तं प्रवृत्त्यैव विरलन्ति, अतस्तन्स्वामिकजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालोऽप्यन्तमुहूर्तमेव लभ्यत इति ॥१८९-१९०॥

अथ परिहारविशुद्धिकसंयमामार्गणासु जघन्यस्थितेः स्वामित्वविषयकमतभेदात् प्रस्तुतबन्धकालमपि भेदेन दर्शयन् शेषमार्गणासु प्रस्तुतबन्धकालं प्रतिपादयँथाह—

परिहारे तेऊए पउमाए वेअगे य समयो वा ।

भिन्नमुहुत्तं व भवे हस्सो समयोऽत्थि सेसासुं ॥१९१॥

(प्रे०) “परिहारे तेऊए” इत्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयमामार्गणायां तेजोलेस्यामार्गणायां पञ्चलेस्यामार्गणायां “वेअगे य” ति वेदके, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाधामित्यर्थः । चः समुच्चये । एतासु चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं सप्तानां जघन्यस्थितेर्जघन्यो बन्धकालः “समयो वा” ति स्वस्थानाप्रमत्तसंयतस्यापि जघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वं स्वीकुर्वतां मते ‘समयः’ एकसमयः, भवेदिति परेणान्वयः । वाकारस्तु मतान्तरद्योतकः । “भिन्नमुहुत्तं व भवे” ति “अदथा से बंधम्मि कय-करणो हवेहिह जो । सो णेयो परिहारे तेउपउमवेअगेसुं य ॥” (गाथा-१२८) इत्यनेन कुतकरणाद्धायाः प्राक् चरमस्थितिवन्धं कुर्वतोऽप्रमत्तस्यैव जघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वमिति दर्शितमतान्तरेण ‘भिन्नमुहूर्तम्’-अन्तमुहूर्तं वा भवेदित्यर्थः ।

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतकालमानमाह—“समयोऽत्थि सेसासुं” ति उक्तशेषासु निरय-

गतयोषाद्ये कत्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं समयोऽस्ति, जघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकाल इति गम्यते । तत्र शेषमार्गणा नामत इमाः—अष्टौ निरयगतिभेदाः, गज्जानि तिर्यग्गतिभेदाः, अपर्याप्त-मनुष्यभेदाः, सर्वेऽपि देवगतिभेदाः, सप्तैकेन्द्रियभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चन्द्रियभेदाः, पृथिव्यसेजोवायुवनस्पतिकायसत्काः सर्वे भेदाः, ते चैकोनचत्वारिंशत् । अपर्याप्तत्रसकायभेदाः, सर्वे योगभेदास्ते चाष्टादशः । मत्स्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयम-कृष्णा-नील-कापोतलेश्या-ऽभर्ष्या-पशुमिक-सम्यक्त्व-भासादन-मिथ्यात्वा-ऽसंशय-ऽनाहारिमार्गणाभेदाश्चेति । तत्र नरकगत्योघ-प्रथमपृथिवी-निरयभेदयोर्देवगत्योघ-भवनपति-व्यन्तरभेदेष्वपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां च प्रत्येकमेकवकया त्रिसाम-यिक्या विग्रहगत्याऽसंज्ञिभ्य आगच्छतो जीवस्य भवप्रथमममयापेक्षया विज्ञेयः । पञ्चसु मनोयोग-मार्गणाभेदेषु, पञ्चसु वचोयोगमार्गणाभेदेषु, काययोगसामान्य औदारिककाययोगमार्गणाभेदे च क्षपक-श्रेणी चरमस्थितिवन्धप्रारम्भद्वितीयसमये पूर्वप्रवृत्तमनोयोगादीनां योगान्तरतया परावर्तने तन्प्रयुक्त एकसमयकालोऽवसातव्यः । शेषासु द्वितीयपृथिवीनिरयभेदादिमार्गणासु तु न प्रकृतजघन्यस्थिति-बन्धः क्षपकश्रेणिमत्कः सम्यक्त्वाद्यभिमुखत्वावस्थाभावी वा, ततश्च तन्प्रारम्भद्वितीयसमये कालकरणेन मार्गणापरावर्तनादुपयोगक्षयात् तथास्वाभाव्याद्वाऽजघन्यस्थितिवन्धं कुर्वतो जीवस्य प्राप्यते । केवलमुप-शमसम्यक्त्वमार्गणायाससौ जघन्यस्थितिवन्धप्रारम्भद्वितीयसमये कालकरणापेक्षयैव प्राप्यत इति तदपेक्षयैव भावनीय इति ॥१९१॥

तदेवमभिहितः सप्तानां जघन्याः स्थितेर्जघन्यो बन्धकालः । साम्प्रतं तस्या एवोत्कृष्ट-बन्धकालं व्याजिहीषु रार्थाद्वयमाह—

होइ गुरु दोममया णिरये पढमणिरये अपजणरे ।

सुर-भवण-वंतरेसुं कम्मा-ऽणाहारगेसुं च ॥१९२॥

भिन्नमुहुत्तं समयो वा उक्कोसो तिमिस्सजोगेसुं ।

सेमासु मग्गणासुं भिन्नमुहुत्तं सुणेयव्वो ॥१९३॥

(प्रे०) “होइ गुरु” इत्यादि, सप्तानां जघन्याः स्थितेर्गुरुः-उत्कृष्टो बन्धकालो द्वौ समयौ भवति । कस्यां मार्गणावामित्याह—“णिरये” इत्यादि, निरयगन्त्योघ, प्रथमपृथिवीनिरयभेद, अपर्याप्तनरभेदे, सुरगन्त्योघ-भवनपतिदेवभेद-व्यन्तरदेवभेदेषु कर्मणानाहारकमार्गणयोश्चेत्येतास्वप्न-मार्गणास्त्वित्यर्थः । कुतः ? विग्रहगतावनाहारकावस्थायां वर्तमानानां वादरजीवानामेव प्रस्तुत-तत्तन्मार्गणासत्कजघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वादिति । अयमत्राभिप्रायः—अधिकृताष्टमार्गणासु जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनो वादरेभ्यश्च्युत्वा वादरतयोत्पद्यमाना जीवा एव सम्भवन्ति, तेषां त्रिसामयिक्यां द्विवक्यां विग्रहगतौ जायमानं जघन्यस्थितिवन्धमपेक्ष्य प्रकृतबन्धकाल उत्कर्षतः समयद्वयमेवावाप्यते, अनाहारकावस्थायां तद्भावात्, त्रिसामयिक्यां विग्रहगतौ समयद्वयमेवानाहार-

कल्पान्चेति । अथ मिश्रयोगत्रये स्वामिन्विषयकमतमेदापसौ विकल्पावाह—“भिन्नमुहुत्तां समयो
वा” इत्यादि, आदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रयोगाख्यासु त्रिसृषु मिश्रयोगमार्गणासु
प्रत्येकम् “उक्षोसो” ति प्रकृतत्वात्समानां जघन्यायाः स्थितेरुत्कृष्टो बन्धकालः “.....
पंतरकाले सरीरपवर्जति । यो णिड्वेड सो या पेयो तिसु मीसजोगेसु ॥१२६॥” इत्यनेन दर्शितजघन्य-
स्थितिवन्धस्वामिविषयकमतान्तरेण समयः, नदन्यमतेन तु ‘भिन्नमुहुत्तम्’-अन्तर्मुहुत्तं ज्ञातव्य
इति गाथाप्रान्तेऽन्वयः । गतार्थः । अथोक्तशेषमार्गणासु प्रस्तुतमाह—“सेसासु” इत्याद्युत्तरा-
धेन, अनन्तरोक्ता निरयगत्योघाद्येकादशमार्गणा विहाय शेषासु द्वितीयपृथिवीनिरयमेदादिष्वेकोन-
पञ्चत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं भिन्नमुहुत्तं ज्ञातव्यः, समानां जघन्यायाः स्थितेरुत्कृष्टो बन्धकाल
इति प्रकमाहम्यत इति । अयमपि कस्याप्येकस्थितिवन्धस्थानान्मकस्य जघन्यस्योत्कृष्टस्य वा
स्थितिवन्धस्यान्तर्मुहुत्तादधिकमप्रवर्तनादित्यादि प्राग्ब्रह्मवनीय इति ॥१९२-१९३॥

तदेवं सर्वमार्गणामु दर्शितः समानां जघन्यस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालोऽपि । साम्प्रतं तासामेव
समानामजघन्यायाः स्थितेर्द्विविधबन्धकालं प्रचिकटयिपुरादी जघन्यं बन्धकालं दर्शयन्नाह—

निरय-पढमणिरयेसु अपञ्जणर-देव-भवनजुगलेसु ।

अजहण्णाण हस्सो दुखण्णजहण्णकायठिई ॥१९४॥

(प्रे०) “निरयपढमे”-इत्यादि, निरयगत्योघ-प्रथमपृथिवीनिरयमेदरूपयोर्द्वयोर्मार्गण-
योस्तथा-ऽपर्याप्तनरमेद-देवाध-भवनपति-व्यन्तरयुगलेष्वित्येतासु षण्मार्गणासु प्रत्येकम् “अज-
हण्णाण हस्सो” ति आयुर्वर्जानां सप्तकर्मणामजघन्यायाः-जघन्यभिन्नायाः स्थितेर्ह्रस्वः-जघन्यो
बन्धकालः “दुखण्णजहण्णकायठिई” ति ‘द्विषणो’-द्वौ समयौ तास्यामूनाः-न्यूना द्विषणोना
“कायठिई णायव्वा जहण्णगा दसमहस्स थासाणि । निरयपढमणिरयाणं देवभवनवंतराणं च ॥१७४॥”
इत्यादिनाऽभिहितानि निरयगत्योघादिमार्गणानां स्वीया स्वीया जघन्या कायस्थितिर्भवतीत्यर्थः ।
इयमत्र भावना—प्रकृतसप्तमार्गणासु प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धो विग्रहगता वर्तमानस्य जीवस्य भव-
प्रथमममयद्वय एव सम्भवति, नान्यदा । उक्तं च स्वामिन्विषयक-“पढमदुह्रसमये खलु असण्णिओ
आगओ णओ ॥१२१॥ निरयपढमणिरयेसु अपञ्जणरदेवभवनजुगलेसु ।” इति । ततश्च भवप्रथमसमयद्वयं
संत्यज्यान्यदाऽजघन्यस्थितिवन्ध एव प्रवर्तते । नैरयिकदेवानां भवस्थितिकायस्थिती तु परस्परं तुल्य
एव, कस्यापि जीवेनैकस्यैव भवस्य नैरयिकतया देवतया वा निरन्तरकरणादिति तु प्रागभिहितमेव ।
इत्येवमजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालोऽपि यथोक्त एव प्राप्यत इति ॥१९४॥ अथ सप्तमपृथिवी-
निरयमेदे प्रकृतकालं दिदर्शयिषुः समानवक्तव्यत्वादन्यमार्गणास्त्रपि सममेवाह—

भिन्नमुहुत्तां सत्तमणिरये दुपणिदि-तस-पुमेसु तथा ।

मइ-सुअणाणियरेसु देसा-ऽयत-चक्खुइयरेसु ॥१९५॥

अपसत्थतिलेसामुं सुकिल-भवि-अभवि-सम्मेसुं ।

स्वाहअ-वेअग-उवसम-मीसेसुं मिच्छ-सण्णीसुं ॥१९६॥ (उपगोनिः)

(प्रे०) “भिन्नमुहूर्तं” इत्यादि, मत्तानामजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालो भिन्नमुहूर्तं भवति । केषु मार्गणाभेदेभित्त्याह—“सत्तमणिरये” इत्यादि, सप्तमपृथिवीनिरयभेदे, “दुपणिंदितसपुमेसु” ति द्विशब्दस्य पञ्चेन्द्रियत्रययोः प्रत्येकं योजनाद् द्वयोः पञ्चेन्द्रियभेदयोर्द्वयोश्चसकायभेदयोः पुंवेदमार्गणाभेदे चेत्यर्थः । अत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्त्या पञ्चेन्द्रियत्रयसकायसत्कौ निरुक्ता द्वौ द्वौ भेदावपर्याप्तभेदवर्जौ बोद्धव्याविति । तथाशब्दोऽनुक्तस्त्वमुच्चये, अनुक्तमार्गणाभेदानेत्र सार्धया गार्थया संगृहणन्नाह—“मइसुअ” इत्यादिना, मतिज्ञान-श्रुतज्ञानमार्गणयोः, मत्यज्ञान-श्रुतज्ञानलक्षणयोर्द्वयोरज्ञानमार्गणाभेदयोः, देशसंयमे, असंयमे, चक्षुरक्षुर्दर्शनमार्गणयोः, ‘अप्रशस्तासु’ अशुभासु त्रिसृषु कृष्णादिलेख्यामार्गणासु, शुक्ललेख्या-भव्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वौघमार्गणाभेदेषु, क्षायिक-वेदकौ-पशमिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टिमार्गणाभेदेषु मिथ्यात्वमार्गणासंज्ञिमार्गणयोरित्येतेषु सप्तविंशतिमार्गणाभेदेषु प्रत्येकमित्यर्थः ।

इयमत्र भावना—अजघन्या स्थितिरनुत्कृष्टस्थितिवत् साकाराऽनाकारोभयोपयोगेन बध्यते, अतस्तद्बन्धे साकारोपयोगोऽनाकारोपयोगो वा न व्याघातकः, किन्तु प्रकृतमार्गणाया मार्गणान्तरतया परावृत्तिर्जघन्यस्थितिबन्धोऽबन्ध इत्येतेषां त्रयाणामन्यतमो व्याघातको भवति । इत्थं हि तेभ्यस्त्रिभ्योऽवतीर्त्याजघन्यस्थितिबन्धप्रारम्भद्वितीयसमये यदि पुनरपि तेषां त्रयाणामन्यतमः समुद्भवति, तदाऽजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकाल एकसमयः प्राप्यते । एतच्च प्रस्तुतसप्तमपृथिवीनिरयभेदादिमार्गणासु न सम्भवति । तथाहि—प्रथमपृथिवीनिरयभेदं संन्यज्य शेषेषु द्वितीयादिसप्तमान्तेषु षट्षु निरयभेदेषु सप्तकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धस्वाभिनः सम्यग्दृश्यो जीवा एव । उक्तं च स्वामिन्वप्ररूपणायाम्— “सेसणिरयदेवेसुं विउवहुगे होइ सम्मत्ती” ॥१२२॥ इति ।

तत्रापि तिर्यक्त्वेनैवोत्पित्तवः सप्तमनरकजीवाः पूर्वलब्धसम्यक्त्वमुत्सृज्य मिथ्यात्वं चाऽवाप्याऽन्तमुहूर्तं विश्रम्यैव कालं कुर्वन्ति, न पुनरतदर्वागपि । इत्थं हि द्वितीयादिनिरयभेदगतजीवानामिवासीयां सप्तमनरकजीवानामजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालः समयो नावाप्यते, अजघन्यस्थितिबन्धप्रारम्भादन्तमुहूर्तेऽतिक्रान्ते एव तेषां मरणमभवत् । द्वितीयादिपञ्चनिरयभेदगतजीवास्तु सम्यक्त्वा अपि भवान्तरं गच्छन्ति, न पुनः सप्तमपृथिवीनैरयिकाणामिवान्तमुहूर्तं मिथ्यात्वं गत्वैव । इत्थं तेभ्यो ये केचन सम्यक्त्ववन्तो भवद्विचरमसमये जघन्यस्थितिबन्धं समाप्य भवचरमसमयेऽजघन्यस्थितिबन्धं च प्रारभ्य कालं कुर्वन्ति, तेषामजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालः समयमात्रोऽपि प्राप्यत इतिकृत्वा प्रकृते द्वितीयादिनिरयभेदानपह्वाय सप्तमपृथिवीनिरयभेद एव गृहीतः । निरयभेदेषु सरणव्याघातं विना तु सप्तममात्रजघन्यबन्धकालस्य सम्भव एव नास्ति । पञ्चेन्द्रियौघ-

पर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदयोस्तु जघन्यस्थितिवन्धादवतीर्णानां स्थितिवन्ध एव न प्रवर्तते, जघन्यस्थिति-
बन्धस्य क्षपकथ्रेणावेव भावात् । श्रेणाद्युपशान्ताद्वाक्षयेणाऽवन्धादुत्तीर्णाऽजघन्यस्थितिवन्धप्रारम्भद्वितीय-
समये मरणस्य सम्भवेऽपि तथाप्रकारेण कालं कुर्वतां देवगताद्युत्पत्त्या प्रकृतपञ्चेन्द्रियादिमार्गणा-
विच्छेदस्याभावात् प्रकृतबन्धकालोऽन्तर्मुहूर्तास्तोको न प्राप्यते । इत्थमेव व्रसकायभेदद्वये, पुंवेदे,
ज्ञानद्विके, दर्शनद्विके, शुक्ललेश्यायां, भव्ये, सम्यक्स्वाध-श्वायिक-वेदकौ-पशमिकसम्यक्त्वेषु संज्ञि-
मार्गणाभेदेषु च यथासम्भवं भावनीयम् । एतेषु भेदेष्वन्तर्मुहूर्तमात्रजघन्यस्थितिवन्धकालस्य
प्राप्तिस्त्वोच्यतेऽजघन्यकायस्थितिवन्धनुसारेण वा यथासम्भवं द्रष्टव्या । केवलं पञ्चेन्द्रियाद्यभेदे व्रसकायौ-
घभेदे संज्ञिभेदे च मार्गणान्तररतागतस्य षट्पञ्चाशदधिकद्विशतावलिकामात्रजघन्याद्युपस्ततश्च्युत्स्वै-
केन्द्रियतयोत्पिन्सोर्जीवस्य प्रकृतमार्गणायां संजाताऽजघन्यस्थितिवन्धमपेक्ष्याजघन्यस्थितेः षट्पञ्चाश-
दधिकद्विशतावलिकाप्रमाणो बन्धकालः सर्वजघन्यो द्रष्टव्यः । शेषमत्यज्ञानादिमार्गणास्वप्नया
रीत्यैव मत्प्रकर्ममन्काऽजघन्यस्थितेरन्तर्मुहूर्तकालो भावनीयः ।

ननु शेषासु मन्यज्ञानादिमार्गणासु प्रस्तुतकालः कथं समयमात्रो न प्राप्यते ? उच्यते,
मार्गणाया जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तमात्रत्वे मति मरणव्याघाते समुपजातेऽपि प्रस्तुतमार्गणानां
मार्गणान्तरतयाऽप्यप्रवर्तनात् । इदमुक्तं भवति—एतासु सप्तानामजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालः
समयमात्रमन्दा प्राप्येत, यदि मनोयोगादिमार्गणावत्तन्मार्गणाया जघन्यकायस्थितिः समयमात्रा
स्यात्, अजघन्यस्थितिवन्धप्रारम्भद्वितीयसमये मरणव्याघाते समुपजाते प्रस्तुतमार्गणाया मार्ग-
णान्तरतया परावृत्तिर्वा स्यात् । न चैवं देशसंयममार्गणां विहाय शेषासु मन्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-
ऽसंयम-कृष्णलेश्या-नीललेश्या-कापोतलेश्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वमार्गणानामन्यतमस्या अपि भवति,
प्रत्येकं मार्गणानां जघन्यकायस्थितेरन्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्, मरणव्याघातेन मार्गणान्तरतयाऽपरा-
वर्तनाच्च । जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तस्थितिकायां देशसंयममार्गणायां तु कालकरणे मार्गणापरावृत्तेः
सम्भवेऽपि तत्र सप्तानामबन्धस्याऽभावात्, जघन्यस्थितिवन्धादुत्तीर्णानामन्यस्थितिवन्धस्यैवाभावा-
च्च न लभ्यते प्रस्तुतकालः समयमात्रः । किमुक्तं भवति—जघन्यस्थितिवन्धादुत्तरं यद्यन्यस्थिति-
बन्धः स्यात्तदाऽस्माज्जघन्य एव स्यात्, तद्द्वितीयसमये कालकरणे च मार्गणापरावृत्तिप्रयुक्तः
प्रस्तुतकालः समयमात्रः सम्पद्येत । न चैवं भवति । देशसंयममार्गणायां संयमाभिमुखानां
जघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वेन जघन्यस्थितिवन्धसमाप्त्या सममेव देशसंयममार्गणाविच्छेदादिति
॥१९५-१९६॥

अथैकयाऽऽर्याया शेषमार्गणासु सप्तानामजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालं प्राह—

मिस्ततिजोग-कसायतिगा-ऽवहिजुगल-परिहार-तेऽसु ।

पम्हाअ मुहुत्ततो समयो वाऽण्णासु समयोऽत्थि ॥१९७॥

(प्रे०) “मिस्सतिजोगे”त्यादि, औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-
लक्षणे मिश्रयोगत्रये, “कसायनिग” ति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेर्लोभवर्जकपायत्रिके, क्रोध-
मान-मायालक्षणमार्गणात्रये इत्यर्थः । तथाऽवधियुगलेऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनमार्गणाद्वयात्मके, परि-
हारविशुद्धिकसंयममार्गणायां, तेजोलेश्या-पद्मलेश्यामार्गणयोश्चेत्येवं समुदितास्वेकादशमार्गणासु प्रत्ये-
कम् “मुहुत्तंतो समयो व” ति प्रस्तुतबन्धकालो मुहुर्तान्तः समयो वा भवति । तत्र मिश्रयोग-
तेजोलेश्या-पद्मलेश्यामार्गणासु ‘...ऽणंतरकाले सरीरपञ्जति । यो णिद्वेउ सो वा पेयो तिसु मीसजोगेसु
॥१२६॥’ तथा ‘अपमत्तो अह्या से बंधम्मि कयकरणो हवेहिइ जो । सो पेयो परिहारे तेउ-पउम-
वेअगेसुं य ॥१२८॥’ इत्यादिनोक्तस्वामिन्वविषयकमतान्तरप्रयुक्तोऽसौ यथासम्भवमन्तमुहूर्तं समयो
वा प्रागिव योज्यः । तत्र मिश्रयोगत्रये त्वनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालवत्सुगमाऽन्तमुहूर्तं समय-
कालयोजना । तेजः-पद्मलेश्यामार्गणयोस्तु स्वस्थानाऽग्रमत्तस्य जघन्यस्थितिवन्धस्वामिन्वमते
जघन्यस्थितिवन्धाद्वतीर्याऽजघन्यस्थितिवन्धप्राग्भ्रष्टितीयतमपे मार्गणापराहृष्टिप्रयुक्तः समयमात्रः
प्रकृतकालो लभ्यते । कृतकरणत्वावर्किसमयस्थस्य जघन्यस्थितिवन्धस्वामिन्वमते तु जघन्यस्थितिवन्ध-
कालिनलेश्याया उत्तरत्राऽन्तमुहूर्तं यावत्प्रवर्तनात्तदानीमजघन्यस्थितिवन्धस्यैव प्रवर्तनाच्चाऽजघन्य-
स्थितिवन्धस्य जघन्योऽपि कालोऽन्तमुहूर्तं प्राप्यते । अत्रकपायत्रिकादिमार्गणापटके तु यथोक्तजघन्य-
कायस्थितिष्विषयकमतद्वयानुसारेण प्रस्तुता-ऽन्तमुहूर्तं समयकालो योज्यः । तद्यथा—श्रोत्रज्ञापना-
सूत्रानुसारेण क्रोधादिकपायमार्गणात्रयस्यैकजीवाश्रयजघन्यकायस्थितेरन्तमुहूर्तत्वात्, अवधि-
दिक-परिहारसंयमयोरेकजीवाश्रयजघन्यकायस्थितेः समयमात्रत्वाच्च प्रस्तुतकालोऽपि क्रोधादिमा-
र्गणास्वबिज्ञानादिमार्गणासु च यथासङ्ख्यमन्तमुहूर्तं समयश्च लभ्यते ।

ननु भवन्ववधिज्ञानादिमार्गणाजघन्यकायस्थितेः समयमात्रत्वात्तत्र कालोऽयं समयमात्रः,
न पुनः क्रोधादिकपायमार्गणास्वपि तेनाऽन्तमुहूर्तप्रमाणेन भवितव्यमेव, जघन्यतोऽन्तमुहूर्तकाय-
स्थितिकमार्गणास्वपि प्रस्तुतकालस्य समयमात्रत्वमम्भवाद् ? इति चेद्, एवमपि नात्रासौ तद्वान्
सम्भवति, जघन्यस्थितिवन्धादित उतीर्णस्य पुनरपि समयान्तरेण जघन्यस्थितिवन्धाऽवन्धादीनां
समुद्भवे तद्भावात्, प्रस्तुतमार्गणात्रये तु जघन्यस्थितिवन्धादुत्तीर्णानां सर्वथैव स्थितिवन्धस्याऽप्रवर्त-
नात्, अवन्धादुत्तीर्णानां वाऽन्तमुहूर्तद्विर्वागवन्धस्य जघन्यस्थितिवन्धस्य मार्गणापरावृत्तेर्वाऽसम्भवा-
दिति । एतासु मार्गणासु वैपरीत्येन क्रोधादिषु समयमात्रः, अवधिज्ञानादिषु त्वन्तमुहूर्तं च महा-
बन्धकाराभिमततज्जघन्यकायस्थितेस्तथात्वात् तथा बोद्धव्यः । अत्र तु परिहारविशुद्धिकमार्गणायां
तन्मतेऽपि कृतकरणाद्धाया अवर्किसमये जघन्यस्थितिवन्धस्वामिन्वाभ्युपगमापेक्षया प्रस्तुतकालो-
ऽन्तमुहूर्तमपि द्रष्टव्य इति ।

“अण्णासु समयोऽस्थि” ति उक्तान्यासु द्वितीयपृथिवीनिरयभेदादिषु द्विंशत्यभ्यधिक-
शतमार्गणासु प्रत्येकं प्रकृतः मत्तकर्मणामजघन्याः स्थितेर्जघन्यो बन्धकालः ‘समयः’ समयमात्रो

भवतीत्यर्थः । तत्र शेषमार्गणाभेदा नामतोऽभौ-द्वितीयादिषु पृथिव्यन्ताः एव निरयगतिभेदाः, ज्योतिष्कादिषु अगुत्तरविमानभेदपर्यन्ताः सप्तविंशतिदेवगतिमार्गणाभेदाः, मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणात्रयो मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, सर्वे एकेन्द्रियभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदः, सर्वे पृथिवीकाया-ऽष्काय-तेजःकाय-वायुकाय-वनस्पतिकायसत्का भेदाः, अपर्याप्तत्रयकायभेदः, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, काययोगसामान्या-दारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-कार्मणकाययोगमार्गणाभेदाः, स्त्री-नपुंसकवेदभेदावपगतवेदभेदश्च, तथा लोभकषाय-मनः-पर्यवज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापन-सूक्ष्मसम्प्रायसंयम-सामादना-ऽसंज्ञा-ऽऽहार्य-ऽनाहारिमार्गणाभेदाश्चेति ।

तत्र द्वितीयपृथिव्यादिनिरयभेदेष्वनन्तरगाथायां प्रसङ्गाद्भाविताः प्रकृतबन्धकालः, तथैव सप्तविंशतिदेवमार्गणाभेदेषु भावनीयः । मनुष्यगतिभेदत्रये तूपशान्ताद्वाक्ष्येऽजघन्यस्थितिवन्धं प्राप्स्य द्वितीयसमये कालकरणेन देवगतावुत्पन्था प्रस्तुतमार्गणाविच्छेदादेकसमयः । तिर्यग्गत्योषे जघन्यस्थितिवन्धस्यापी यः कश्चिदेकेन्द्रियजीवो भवद्विचरमसमये जघन्यस्थितिवन्धं समाप्य भवचरमसमयेऽजघन्यस्थितिवन्धं प्राप्स्यानन्तरसमये कालं कृत्वा मनुष्यतयोत्पद्यते, तमपेक्ष्य प्रकृतबन्धकालः प्राप्यते । इत्थमेव शेषेषु तिर्यकपञ्चेन्द्रियभेदेष्वपि द्रष्टव्यम्, नवरमपर्याप्तमार्गणाभेदेऽसंविजीवस्य भवचरमसमयेऽजघन्यस्थितिवन्धप्राग्भादनन्तरं मनुष्यतयोत्पादो द्रष्टव्यः, शेषभेदत्रये तु देवतयेति । इन्द्रियमार्गणाभेदेषु कायमार्गणाभेदेषु च तिर्यगन्योघमार्गणाभेदवद् यथासम्भवं भावनीयः । काययोगवर्जेषु शेषयोगमार्गणाभेदेषु तु प्रत्येकं स्वस्वजघन्यकायस्थित्यनुसारेण प्रस्तुतोऽजघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालो भावनीयः । इत्थं वेदादिशेषमार्गणाभेदेष्वपि स्त्री-यस्त्रीयजघन्यकायस्थितिभावनावद्भावेना द्रष्टव्या, केवलं काययोगसामान्य-संयमौघ-मनःपर्यव-ज्ञान-आहारिमार्गणासु प्रत्येकमवन्धादृतीर्याऽजघन्यस्थितिवन्धप्राग्भादनन्तरं द्वितीयसमये योगपरावृत्त्या कालकरणेन च यथासम्भवं प्रकृतमार्गणाविच्छेदाजघन्यकालो द्रष्टव्य इति ॥१९७॥

तदेवमभिहितः सप्तानां मूलप्रकृतीनामजघन्यस्थितेरेकजीवाश्रयो जघन्यो बन्धकाल आदेशनः । साम्प्रतं तस्या एवोत्कृष्टबन्धकालं विमणिपुराथाद्वयमाह—

जेद्वो असंखलोगा तिरिये-गिन्दिय-णिगोअभेएसु ।

पणकाय-अणण जुगल-अयता-ऽभवि-मिच्छ-अमणसु ॥१९८॥

अंगुलअसंखभागो सुहमेसु भवे अचक्खु भवियेसु ।

ओघव्व जाणियव्वो सेसासु सगुरुकायठिई ॥१९९॥

(प्रे०) “जेद्वो असंखलोगा” इत्यादि, प्रकृतसप्तप्रकृतिसत्काया अजघन्यस्थितेर्जघन्यः—

उत्कृष्टो बन्धकालोऽसंख्यलोकाः क्षेत्रतः, कालस्तु प्रागवदसंख्येया उत्सर्पिग्यवसर्पिग्यः ।

<p>☼ A निरयगत्योचः, ☼ B प्रथमनिरयभेदः, ★ B ६, द्वितीयाद्याः, ÷ C तिर्यग्गत्योचः ÷ D पञ्चेन्द्रियतिर्य- गोचः, + D तत्पर्याप्तः, ÷ E तदपर्याप्तः, + D तिरश्ची, ÷ D मनुष्योचः, + D पर्याप्तमनुष्य, ÷ E अपर्याप्तमनुष्यः, + D भानुपी, ☼ A वेवगत्योचः, ☼ B २, भवन-व्यतरः ● B सर्वार्थमिदः, ★ B २६, ज्योतिष्काद्याः ÷ C ... एकैन्द्रियोचः, ÷ D वादर " " + G तत्पर्याप्तभेदः, ÷ E तदपर्याप्तः, ÷ H सूक्ष्मैकेन्द्रियोचः, + E नत्पर्याप्तभेदः, ÷ E तदपर्याप्त " " ÷ G द्वीन्द्रियोचः, + I पर्याप्तद्वीन्द्रियः,* ÷ E अपर्याप्त " "</p>	<p>÷ G ... त्रीन्द्रियोचः, + J पर्याप्तत्रीन्द्रियः,* ÷ E अपर्याप्त " " ÷ G चतुरिन्द्रियोचः + K पर्याप्तचतुरिन्द्रिय* ÷ E अपर्याप्त " " ÷ L ... पञ्चेन्द्रियोचः + M पर्याप्तपञ्चेन्द्रियः ÷ E अपर्याप्त " " ÷ H ५, पृथिव्यस्तेजो- वायुकार्योचः, ÷ C वनस्पतिकार्योचः ÷ N साधारण " " ÷ O प्रत्येक " " " ÷ P ५, वादरपृथिव्य- *ते जीवायुसाधार- णवर्णभेदाः, ÷ H ५, सूक्ष्मपृथिव्या- दिपञ्चसूक्ष्मीचाः, + G ३, पर्याप्तवादर- पृथिव्यवायुः + J पर्याप्तवादरतेज- स्कायः, + K " " साधारणवनः ÷ G " " प्रत्येकवनः + E ५, पर्याप्तसूक्ष्म- पृथिव्याद्याः,</p>	<p>÷ I त्रसकार्योचः, + M पर्याप्तत्रसकायः* ÷ E १२, शेषाऽपर्याप्त सूक्ष्मवादरपृथिव्या- वपर्याप्तत्रसान्ताः, ÷ E १०, मनोवचो- भेदः + C काययोगोचः, ÷ Q वीदारिकः, Δ R " मिश्रः, ÷ E वैकियः, + E " मिश्रः, ÷ R आहारकः, + E " मिश्रः, ÷ R कार्मणः, ÷ S स्त्रीवेदः, + M पुरुषवेदः, ÷ C नपुंसकवेदः, ÷ R अपगतवेदः, + R ३, क्रोध-मान- माया,* ÷ R लोभः, + T २, मति-श्रुतज्ञाने, ÷ T अवधिज्ञानम्,* ÷ U मनःपथ्यज्ञानम्* + V २, मतिश्रुता- ऽज्ञाने,</p>	<p>÷ W विभक्तज्ञानम्, ÷ U २, संयमाद्य-परि- + U देशः [हारः ÷ U २, सामां छेदः ÷ U ३, सूक्ष्मसम्परायः, + V अयंयमः, + L चक्षुर्दृशनम्,* ● X अचक्षुर्दृशनम्, ÷ T अवाधदर्शनम्,* + W कृष्णलेद्या, + Y १, नील-कापोत- तेजः-पद्मलेद्या + W शुक्ललेद्या, ● Z २, भव्या ऽभक्त्यो + T सम्यक्त्वाद्यः, + T क्षायोपशमिकं, + W क्षायिकम्, + E अपशमिकं, + E सम्यग्भिक्त्यात्वं ÷ C सासादनम्, + V मिक्त्यात्वम् ÷ M संज्ञी, ÷ C असंज्ञी, Δ P आहारी, ÷ R अनाहारी,</p>	<p>☼ A इत्या- दिना संज्ञित मार्गणाः संख्यया— A २ U ६ B ३६ V ४ C ६ W ४ D ६ X १ E ५० Y ४ F २ Z २ G ८ H १ H १० I १०० I १ J ५ J ० ★ ३२ K १ ÷ ५० L २ + ४८ M ४ Δ २ N १ ● ४ O ६ : २० P १ १०० Q १ R २ S १ T ६</p>
--	---	--	---	--

जघन्यकायस्थितिः— ☼ १० वर्षसहस्र० (गाथा-१७४). ★ स्वजघन्यभवस्थितिः (गा-१७५-१७६-१८०-१८१). ÷ क्षुब्धकभवः= २५६ आवर्तिकाः (गा-१७५-१७६), Δ त्रिसमयोनशुक्लकभवः (गा-१७६), + अन्नमुह-
 तम् (गा-१७७-१७८), ÷ ? समयः (गा-१८२-१८३), ● या जन्वाणां भव जघन्या (गाथा-१८१) ।

उत्कृष्टकायस्थितिः— A ३३ सागरोपम० (गाथा-१५२). B स्वोत्कृष्टभवस्थितिः (गा-१५३-१५८-१५९-१६०), C अमंख्यपुद्गलपराव० (गा-१५८), H पूर्वकोटिपृथक्त्वा-ऽऽवधिकारण्योगमत्रयम् (गा-१५५), I अन्नमुह० (१५६-१५७), E अङ्गुलाऽमंख्यभाग० (गा-१६१), G संख्येयवर्षसहस्र० (१६२), H अमंख्येया लोकाः (गा-१६१), I संख्येयवर्ष० (गा-१६२), J नख्येयदिवस० (गा-१६३), K संख्येयमास० (गा-१६३), L साधिकस-
 हस्रसागरोप० (गा-१६४), M सागरोपमशतपृथक्त्वं (गा-१६४), N साखंध्यपुद्गलपराव० (गा-१६५), O ३०कोटि-
 कोटिसागरोप० (गा-१६५), P साधिकसागरोपमसहस्रद्वयम् (गा-१६४), Q देशोनदाविशतिवर्षसहस्र० (गा-१६६), R त्रिसमय० (गा-१६६-१७१), S पर्याप्तमशतपृथक्त्वं (गा-१६६), T ६६ सागरोपमसाधिक० (गा-१६६),

भवस्थितिः उत्कृष्टतः जघन्यतः	भवस्थितिः उत्कृष्टतः जघन्यतः	भवस्थितिः उत्कृष्टतः जघन्यतः
निरयोध. ३३ सागरोप. १०००० वर्ष.	सहस्रार. १८ सागरोप० १७ मागरोपम०	चतुरिन्द्रियोध. ६ मास० क्षुल्लकभव०
प्रथमा० १ " " "	भानन० १६ " १८ "	तत्पर्याप्त० ६ मास० अन्तमुं ह०
द्वितीया ३ " १ सागरोप.	प्रागत २० " १६ "	नक्षपर्याप्त० अन्तमुं ह० क्षुल्लकभवः
तृतीया ७ " ३ "	प्राग्गा० २१ " २० "	पञ्चेन्द्रियोध. ३३ सागरोप० "
चतुर्थी १० " ७ "	अव्युत् २२ " २१ "	तत्पर्याप्त० ३३ सागरोप० अन्तमुं ०
पञ्चमी १७ " १० "	प्र.शेवे० २३ " २२ "	तदपर्याप्त० अन्तमुं ह० क्षुल्लकभव०
षष्ठी २२ " १७ "	द्वि० " २४ " २३ "	
सप्तमी ३३ " २२ "	तृ० " २५ " २४ "	
निर्योगीध० ३ पर्योपम० क्षुल्लकभव०	च० " २६ " २५ "	
पञ्चेन्द्रिय-	प० " २७ " २६ "	
तिर्यगोय० ३ " "	षष्ठ " २८ " २७ "	
तत्पर्याप्त० " " अन्तमुं ह०	स० " २९ " २८ "	
नक्षपर्याप्त० अन्तमुं ह० क्षुल्लकभव०	अ० " ३० " २९ "	
तीरक्षी ३ पर्योपम० अन्तमुं ह०	न० " ३१ " ३० "	
मनुष्योय. ३ पर्योपम० क्षुल्लकभव.	४ प्रभुत० ३२ " ३१ "	
तत्पर्याप्त० " " अन्तमुं ह०	सर्वार्थसिद्ध ३३ " ३३ "	
तदपर्याप्त० अन्तमुं ह० क्षुल्लकभव०	पञ्केन्द्रियोध, २२ सहस्रवर्ष. क्षुल्लकभव.	
मानुषी० ३ पर्योपम० अन्तमुं ह०	बादर " २२००० वर्ष. "	
देशोय० ३३ सागरोप० १०००० वर्ष०	सत्यर्याप्त० २२००० वर्ष. अन्तमुं ह०	
भवनपति. साधिकसागरो. १०००० "	तदपर्याप्त० अन्तमुं ह० क्षुल्लकभव०	
ब्यन्तर० १ पर्योपम० १०००० "	सूक्ष्मकेन्द्रियोध० " "	
ज्योतिष्क. साधिकपर्यो० ३ पर्योप०	तत्पर्याप्त० " अन्तमुं ह०	
सौम्यं० २ मागरोप० १ "	तदपर्याप्त० " क्षुल्लकभव.	
ईशान० २ " साधिक० १ " साधि०	द्वीन्द्रियोध० १२ वर्ष० "	
सन्तकुमार. ७ मागरोप० २ सागरो०	तत्पर्याप्त० १२ वर्ष० अन्तमुं ह०	
माहेन्द्र० ७ " साधिक० " साधि०	तदपर्याप्त० अन्तमुं ० क्षुल्लकभव०	
बह्म० १० सागरोप० ७ सागरोप.	त्रीन्द्रियोध० ४६ दिवस.	
नान्तक० १४ " १० "	तत्पर्याप्त० ४६ दिवस. अन्तमुं ह०	
शुक० १७ " १४ "	तदपर्याप्त० अन्तमुं ह० क्षुल्लकभव०	

पृथिवीकायोधादिसप्तमार्गस्थानेषु उत्कृष्टतो जघन्यतश्च सर्वायोक्त-केन्द्रियोधादिसप्तमार्गस्थानेषु वा ।
 अण्काय-तेजस्काय-वायुकाय-साधारणवतस्पतिकायसत्कमत्सप्तमार्गस्थानेषु चैकेन्द्रियोधादिसप्तमार्गस्थानेषु । केवलम् उत्कृष्टपदे-
 अण्कार्योष-बादराण्कार्योष-तत्पर्याप्तभेदेषु-३००० वर्ष० ।
 तेजस्कार्योष-बादरतेजस्कार्योष-तत्पर्याप्तभेदेषु-३ दिवस० ।
 वायुकार्योष-बादरवायुकार्योष-तत्पर्याप्तभेदेषु-३००० वर्ष० ।
 साधारणवतस्पतिकायोष-बादरसाधारणवतस्पतिकायोष-तत्पर्याप्तभेदेषु-अन्तमुं हर्तम् ।
 अनस्पत्योष० १०००० वर्ष. क्षुल्लकभवः प्रत्येक " १०००० वर्ष० " तत्पर्याप्त० १०००० वर्ष. अन्तमुं हर्त. तदपर्याप्त० अन्तमुं हर्त० क्षुल्लकभव० त्रसकायभेदेषु सर्वेषां पञ्चेन्द्रिय-भेदेषु च । इति ॥

[दिवांनपूर्वकोटिः (गा-१६७), V मङ्गत्रयं, तृतीयभङ्गे देशोनाऽर्धपुद्गलपरावर्त० (गा-१६८), W ३३ सागरोपम० यथासम्भवं साधिक० (गा-१६२), X अनादिध्रुव० अनाद्यध्रुव० (गा-१६६), Y क्रमेण साधिक १०-३-२-१८ सागरोप० (गा-१७०), Z क्रमेण-ज्नाद्यध्रुवा-ज्नादिध्रुवभङ्गो (गा-१७०), & ६ घावलिकाः (गाथा-१७१) ।

*मत्तान्तरे कायस्थितिः-उत्कृष्टपदे पर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-बादराणिकायलक्षणमार्गस्थानेषु चतुष्टये संख्येय-वर्षसहस्राणि । पर्याप्तत्रस-चक्षुर्दर्शनमार्गस्थानेषु सागरोपमसहस्रद्वयम् १ नीललेख्यायां साधिकसप्तदशसागरोपम० । कापो-तलेख्यायां साधिकसप्तसागरोपमणि । जघन्यपदे-क्रोध-मान-मायामार्गस्थानेषु समयः । प्रवधि-मनःपर्ववशात्-ऽवधि-दर्शनसंयमीव-परिहारविशुद्धिकाद्यमेष्वन्तमुं हर्तम् । (गाथा-१७२-१७३-१८४)

उत्कृष्टस्थितेरेकजीवाश्रयवन्वकालप्रदर्शकयन्त्रम्						आयुषोऽनुकृष्टस्थितेः वन्वकालप्रदर्शकयन्त्रम्			
आयुर्वर्जसंज्ञानाम्					आयुषः उभयथा				
उत्कृष्टतः		उभयन्वतः							
कालः-	समय- द्वयम्	प्रोषवद् अन्तर्मुह	अन्तर्मुहर्तम	प्रोषवद् एकसमयः	एक- समयः	कालः-	प्रोषवद् उभयथा अन्तर्मुह	ज्ये० एक- समय	उत्कृ० अन्त- मुह०
गति.		सर्व ४१६		सर्व. ४०	सर्व. ४०	गति	सर्व. ४०		
इन्द्रिय.		सर्व. ११		सर्व. ११	सर्व. ११	इन्द्रिय०	.. ११		
काय.		सर्व. ४२		सर्व. ४२	सर्व. ४२	काय.	.. ४२		
योग.	कार्मण.	शेष. १०		सर्व. १५	सर्व. १६	योग.	क्रौडारिक- मिश्र १	शेष. ११	
वेद.	१	★		सर्व ८	सर्व. ३	वेद.	सर्व ३		
कषाय.		सर्व. ४		सर्व. ४	सर्व. ४	कषाय		सर्व ४	
ज्ञान.		मन्यादि. ४ धजान. २	मन्यादि. ४	अज्ञानशय. ३	सर्व. ७	ज्ञान.	.. ७		
नयम०		सर्व० ७	मन्धीच. सामा वेद. परिहार विश. ५	अनयम. मुग्धमंथराय० २	सर्व ३	नयम.	.. ३		
दर्शन.		सर्व. ३	प्रवधि. १	चक्षु. अचक्षु० २	सर्व. ३	दर्शन.	.. ३		
निश्चया		सर्व. ६		सर्व. ६	सर्व. ६	निश्चया.	.. ६		
भक्ष्य.		सर्व. २		सर्व २	सर्व. २	भक्ष्य.	.. २		
सम्प- कल्.		सर्व. ७	सम्पत्पूर्वीष. क्षापीय. शीष० मिश्र. ४	क्षापिक. यासादन्० मिथ्यान्व ३	सर्व. ५	सम्प. कल्.	.. ५		
संजी.		सर्व. २		सर्व. २	सर्व. २	संजी	.. २		
आहारी.	घना. १	आहा. १		सर्व २	सर्व १	आहारी.	.. १		
सर्वमांसशा	२	१६५	१४	१५६	१६३	सर्वमांसशा	१६६	१६	
गाथाज्ञाः-	१४५	१४६	१४७-१४५	१४५	१४२	गाथाज्ञाः-	१४०	१४३	

★ मिश्रयोगत्रये सप्तान्तरे एकसमयः प्ररमुक्तकालः । △ सासादने सप्तान्तरेऽन्तर्मुहर्तम् ।

आयुर्वेदे वसभूतप्रकृतीनामनुकृष्टस्थितेरंकीशशथयन्धकालप्रदर्शकयन्त्रकम्

उत्कृष्टतः				जघन्यतः		
कालः-	श्लोघवद्- असंख्यपुद्- गणपरामर्शः	असंख्य- लोकः	अङ्गुल्या- ऽसंख्यभागः	सांख्यिकानां उत्कृष्टकाय- स्थितिः	श्लोघवद्- अन्तर्गुहृतम्	एकः समयः
गतिः				सर्वं ६७		सर्वं ६७
इन्द्रियः		एकैन्द्रियः १	सूक्ष्मकेन्द्रि- यौघः १	वादरौघ-तत्पर्यासा ऽपर्यासा-सूक्ष्मपर्यासा ऽपर्यासाभेदात्तत्त्वके न्द्रिसंवेधिकालपञ्च न्द्रियभेदाः १७	केन्द्रियौघ-सूक्ष्मके- न्द्रियौघः तदपर्यासात् २	वादरौघ-तत्पर्यासा-ऽपर्यासा सूक्ष्मपर्यासाकेन्द्रियभेदः सर्वविकल्पञ्चन्द्रियभेदा १६
कायः		पृथिव्यादि- गणौघः विगोदीघः ६	पृथिव्यादिप- ञ्चसूक्ष्मौघः ५	वादरौघ-तत्पर्यासा-प र्यासासूक्ष्मपर्यासा-पर्या सापृथिव्यादिगोवायु- साधारणगणभेद सर्व प्रत्येकगण-वमः ३१	विगो-साधारणगणौ- घसूक्ष्मपर्यासा-पर्या- सापृथिव्यादिगोवायु- रौघः तदपर्यासात् ५	पृथिव्यादिगोवायु प्रत्येक- भेद-वादरौघ-तत्पर्यासा- पर्यासासूक्ष्मपर्यासासाधा- रणागणभेद सर्ववमः ३८
योगः				सर्वं १८	त्रिमिश्रयोगः ३★	त्रिमिश्रयोगवर्जाः शेषाः-१५
वेदः				सर्वं ४ ●		सर्वं ४
कषायः				सर्वं ४		सर्वं ४
ज्ञानः	मत्तज्ञानः श्रुतज्ञानः			शान्तचतुष्क. विभङ्गः ५	मति-श्रुता-ऽवधि. ★ मत्तज्ञानः श्रुतज्ञानः ५	मत्तः पर्यव विभङ्गः २
संयमः	असंयमः १			संयमौघ-सामायिकः हृद-परिहारः सूक्ष्मः देशः ६	★ परिहार-देशः असंयमः ३	संयमौघः सामायिकः हृदोपस्थापनः सूक्ष्मः ४
दशः	अचक्षुः १			चक्षुः अर्वाधिः २	अचक्षुः अर्वाधिः २★	चक्षुः १
लक्षणः				सर्वं ६	अक्षुभाः-३	शुभाः- ३
भेदः	सर्वं २				सर्वं २	
नन्वक्त्रं	मिथ्यान्वः १			सम्पक्त्रौघ-श्रायवः आयोप-योग-माना- दन-मिथः ६	सम्पक्त्रौघ-श्रायवः आयोप-श्रीप-मिश्र- मिथ्यान्वः ६।	सासादनः १
संज्ञा				सर्वं २		सर्वं २
आदागी				सर्वं २		सर्वं २
सर्वमार्गः	७	७	६	१५०	३१	१३६
गाथाङ्काः	१५१	१५०	१५०	१५१	१५७-४८-४६	१५६

● भवगतवद उत्कृष्टकायस्थितिदन्तमु हृतम्, न तुत्कृष्टकायस्थितिः ।
★ मिश्रयोगप्रयेवविज्ञाना-ऽवधिदर्शन-परिहारविशुद्धिकसंयमेषु च मत्तान्तरेण प्रस्तुतकालः समयः ।

जघन्यस्थितेरेकजी शश्रयबन्धकालप्रदर्शकयन्त्रम्						आयुषोऽजघन्यस्थितेर्वन्ध कालदर्शकयन्त्रम्		
आयुर्वर्जसप्तानाम					आयुषः	उभयथा		
उत्कृष्टतः		जघन्यतः			उभयथा	उभयथा		उत्कृ०
काल-मानम्-	समय-द्वयम्	श्रीघवद् अन्तर्मुहूर्तम्.	श्रीघवद् अन्तर्मुहूर्तम्.	एकः समयः	श्रीघवद् एक-समयः	श्रीघवद् अन्तर्मुहूर्तम्.	उभय० एक-समयः	उत्कृ० अन्तर्मुहूर्तम्.
गति०	निरवोष. प्रथ- मा ऋ. अर्पयति मनुष्य. देवीच. भवन. व्यन्तर० ६	द्वितीयपृथिव्या- दिनिरयभेद. सर्व- तिर्यग्भेद. मनुष्यौ च. तत्पर्याप्त. सा- नुषी. ज्योतिष्कादि शेषदेवभेदाश्च ४१	मनुष्यौच० तत्पर्याप्त० मानुषी० ३	सर्वनिर्गमभेद० सर्वनिर्गमभेद. अर्पयतिमनुष्य० सर्वदेवभेदाश्च० ४४	सर्व० ४७	सर्व० ४७		
इन्द्रिय०		सर्व० १६	एकैन्द्रियौच० तत्पर्याप्त० २	सर्वैकेन्द्रिय-विक- लिनिय. अर्पयति- एकैन्द्रिय० १७	सर्व० १६	सर्व० १९		
काय०		सर्व० ४२	सर्वोष-तत्पर्या- प्तभेदौ० ०	सर्वपृथिव्यादि- एककायभेद. अर्प- यतिचमश्च० ४०	सर्व० ४२	सर्व० ४२		
योग०	कामंशा० १	कामंशावर्जाः ★ १७		सर्व० १८	सर्व० १६	श्रीदाग्नि- मिथ० १	शेष० १५	
वेद०		सर्व० ४	सर्व० ४		सर्व० ३	सर्व० ३		
कषाय०		सर्व० ४	सर्व० ४		सर्व० ४			सर्व० ४
ज्ञान०		सर्व० ७	मत्यादि० ४ विभङ्ग० १	सत्यज्ञान० अज्ञानज्ञान० २	सर्व० ७	.. ७		
संयम०		सर्व० ७	संयमवर्जः ६ ●	असंयम० १	सर्व० ६	.. ६		
दर्शन०		सर्व० ३	सर्व० ३		सर्व० ३	.. ३		
लेइया०		सर्व० ६	शुभा० ३ ●	अशुभा० ३	सर्व० ६	.. ६		
भव्य०		सर्व० २	भव्य० १	अभव्य० १	सर्व० २	.. २		
सम्य- क्त्व०		सर्व० ७	सम्यक्त्वोष. शा- यिक. शायोपग. मिथ० ४ ●	श्रीपशुपिक. सा- दान. मिथ्यात्व. ३	सर्व० ५	.. ५		
संज्ञी०		सर्व० २	संज्ञी० १	असंज्ञी. १	सर्व० २	.. २		
आहारी०	अनाहारी० १	आहारक० १	आहारक० १	अनाहार० १	आहारी० १	.. १		
सर्वमार्गणाः-	८	१६२	३९	१३१	१६३	१४४	१९	
गाथाः	१६२	१६३	१८६-६०-६१	१६१	१८७	१७७	१८८	

★ मिथयोगप्रथे मतान्तरे समयः । ● परिहारविशुद्धिक-तेजः-व्यस्य-शायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु

मतान्तरे समयः ।

आयुर्वेजसमभूलप्रकृतीनामजघन्यस्थितेरेकजीवाश्रयबन्धकालप्रदर्शकयन्त्रकम्

कालः-	उन्कृष्टतः				जघन्यतः		
	शोधवद- देशोनाऽ र्थाशयत	असंख्य- लोकः	श्रद्धगुला- ऽसंख्यभागः	उन्कृष्टकाय- स्थितिः	शोधवद- अन्तर्महूर्तः	द्विसमयभ्यू- ना जघन्य- कायस्थितिः	एकः समयः
गति०		निर्यागत्वोष० १		मध्निरिय-पञ्चे- न्द्रियनिर्यग्-मनुष्य- देवभेदाः ४६	सतमभूमि- निर्यभेद० १	निर्योष.प्रथ- मा.अपर्याप्त- मनुष्य.देवोष. भवन.व्यन्तर. ६	द्वितीयपृथिव्यादिपञ्चनिर- यभेद. ज्योतिष्कादि-२७ देवभेद. मनुष्योष. सत्पर्या- प्ता. मानुषी.सर्वनिर्यभेद. ४०
इन्द्रिय०		एकेन्द्रियोष. १	सूक्ष्मेकान्द्रि- योष० १	एकेन्द्रियोष-सूक्ष्मेक- न्द्रियोषद्वयवर्जाः१७	पञ्चान्द्रिया- व-पर्याप्त० २		सञ्जेन्द्रिय-विकनेन्द्रिय० अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय० १७
काय०		पृथिव्यादि- पञ्चोष० निर्योषोष० ६	सूक्ष्मपृथिव्या- दिपञ्चोष० ५	वाद्गोष-सत्पर्याप्ता-प- र्याप्तसूक्ष्मपर्याप्ता-पर्या- प्तपृथिव्यादिजोवायु- साधारणवनभेद.सर्व- प्रत्येकवन-अस० ३१	त्रयोष-अस- पर्याप्त० २		पृथिव्यादिपञ्चकायसत्कस- धेभेद० रूपवर्गसत्रमथ ४०
योग०				सर्व० १८			सर्व० ★ १८
वेद०				सर्व० ४ ●	पुराण० १		स्थी० नपु० गनवेद० ३
कपाय०				सर्व० ४			नव० ★ ४
ज्ञान०		मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २		मतिज्ञानादि० ४ विभङ्ग० १	मति-श्रुतज्ञाने- मत्य-श्रुताजा४		अवधि० मनःपर्यव० विभङ्ग. ३
संशम०		असंशम० १		असंशमवर्ज० ६	देशसंशम० असंशम० २		असंशम० सामा० छेद० ★ परिहार० सूक्ष्म० ५
दर्शन०	अचक्षु० १ ★			अक्षु० अचक्षु० २	अक्षु.अचक्षु. २		अचक्षु० १
वेदय०				सर्व० ६	अक्षुभाः ३ शुक्ला० १		तेजः-पदम० ★ २
भव्य०	भव्य० १ ★	अभव्य० १			सर्व० २		
पम्यस्त्वं		मिष्यत्स्व० १		मिष्यत्स्व- वर्जाः शेष० ६	सामादन- वर्जाः-६		सामादन० १
संज्ञी०		असंज्ञी० १		संज्ञी० १	संज्ञी० १		असंज्ञी० १
भाहारी				सर्व० २			सर्व० २
सर्वमार्गणाः-	२	१४	६	१४८	२७	६	१३७
गाथाङ्काः-	१६६	१६८	१६६	१६६	१६५-१६६	१६४	१६७

● गतवद कार्यास्थानवदन्तर्मुहूर्तम्, न तु कायस्थितिः । ★ त्रिमिश्रयोग-क्रोध-मान-माया-अविज्ञाना-अवि-
द्वान-परिहारविद्युत्कसंयम-तेजः-अश्लेषामार्गणासु मतान्तरेऽन्तर्मुहूर्तम् । * सादिसान्तभङ्गे ।

कासु मार्गणास्वित्याह—“तिरिद्येगिन्दिये” त्यादि, तिर्यगत्योर्ध्व-केन्द्रियौघ-साधारणवनस्पत्योघ-
भेदेषु तथा पृथिव्यादिवनस्पतिः कायान्तपञ्चकायौघमार्गणासु, मत्स्यज्ञान-श्रुताज्ञानशोयुगले, असंयमा-
ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिमार्गणास्वित्येतासु चतुर्दशमार्गणामु प्रत्येकमित्यर्थः । कथमेतावानेव, न
पुनन्यूनः ? इति चेत्, सूक्ष्मपृथिव्यादीनामुत्कृष्टकायस्थितेरसंख्येयलोकप्रमाणत्वात्, तेषां च
प्रकृतमार्गणासत्कजघन्यस्थितिवन्धस्वामिन्वाभावेनोत्कृष्टकायस्थितिं यावदजघन्यस्थितिवन्धस्यैव निर्व-
र्तनादिति । अथान्यग्राह—“अङ्गुलअसंख्यभागो सुहृमेसु भवे” ति प्रस्तुतोत्कृष्टबन्धकालः
पट्ष्वेकेन्द्रिय-पृथिव्यादि-वनस्पतिकायान्तेषु पर्याप्ताऽपर्याप्तविशेषणविरहितेषु सूक्ष्मौघभेदेषु प्रत्ये-
कमङ्गुलस्याऽसंख्यभागः क्षेत्रतो भवेत् । कालतस्तु प्राग्ब्रह्मसातव्यः । “अश्वक्खुभविद्येसु”
ति अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्यमार्गणायां च प्रत्येकम् “ओघव्व” ति प्रकृतबन्धकाल औघवत्
त्रिधा ज्ञातव्यः । तद्यथा—अनादिध्रुवः, अनाद्यध्रुवः, साद्यध्रुवश्च । तत्र साद्यध्रुव उत्कृष्टतो देशोनार्ध-
पुद्गलपरावर्तः । उक्तञ्च प्राक्—

“स य मषमणाद्भुवो अणाद्भुवो य साद्भुवो य । तद्ब्रह्मोऽतमुहूतनणु देमूणद्वपरियट्टोऽण्णो” ॥ इति ।

अथ शेषमार्गणामु प्रकृतकालमाह—“सेसासु सगुरुकायठिई” ति उक्तविंशतिमार्गणा
विहाय शेषास्वष्टचत्वारिंशदुत्तरशतमार्गणामु प्रत्येकं प्रकृतसप्तकर्मणामजघन्यस्थितेरुत्कृष्टो बन्ध-
कालस्तत्तन्मार्गणाया स्वीया स्वीया प्रगुक्तोत्कृष्टकायस्थितिर्बोद्धव्य इत्यर्थः । सुगमः, नैर्त्यिकादि-
जीवेषु केषाञ्चिज्जीवानामुत्कृष्टकायस्थितिं यावज्जघन्यस्थितिवन्धस्याप्रवर्तनेनाजघन्यस्थितिवन्धस्या-
ऽविरततया प्रवर्तनसम्भवात् । अत्राऽपि शेषमार्गणाऽन्तःप्रविष्टायामपगतवेदमार्गणायां ‘सगुरुका-
यठिई’ इत्यनेन प्रस्तुतकालयुत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणे प्राप्तेऽप्यर्सा व्याख्यानतोऽनुत्कृष्टस्थिति-
बन्धोत्कृष्टकालवदन्तमुहूर्तमेवावसातव्यः, न तूत्कृष्टकायस्थितिरिति ॥१९८-१९९॥

तदेवमभिहितः शेषसप्तकर्मसत्काजघन्यस्थितेरपि द्विविधो बन्धकालः, तस्मिन्वाभिहिते
समाप्ता चतुर्थद्वारविषयभूतैः कजीवाश्रयकालग्ररूपणेति ॥

॥ इति बन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे द्वितीयाधिकारे चतुर्थमेकजीवाश्रयकालद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथ पञ्चममन्तरद्वारम् ॥

इदानीं पञ्चमस्यैकजीवाश्रयान्तरद्वारस्यावसरः । तत्रैकजीवाश्रयामन्तरप्ररूपणां चिकीर्षुरादौ तावदुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धविषयां तामोघतः कुर्वन्नाह—

सत्तण्डुकोसाए ठिईअ लहुमंतरं मुहुत्तंतो ।

परममसंखपरद्वा अगुरूअ लहु भवे समयो ॥२००॥

भिन्नमुहुत्तं परमं आउस्स गुरूअ अंतरं हस्सं ।

समयूणपुव्वकोडी होइ दससहस्सवासऽहिया ॥२०१॥

परममसंखपरद्वाऽणुकोसाए जहण्णगं णेयं ।

भिन्नमुहुत्तं परमं तेत्तीसा सागराऽम्महिया ॥२०२॥

(प्रे०) “सत्तण्डुकोसाए ठिईअ” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येक-
मुत्कृष्टायाः स्थितेः “लहुमन्तरं” ति बन्धस्य प्रकृतत्वात् ‘लघु’-जघन्यं बन्धान्तरं ‘मुहुत्तन्तः’-
अन्तमुहुत्तं भवेदिति परेणान्वयः । इदमुक्तं भवति—अनन्तरोक्तकालप्ररूपणावन्तरप्ररूपणाया-
मायुत्कृष्टाऽनुत्कृष्ट-जघन्याऽजघन्यभेदाद्यनुर्था विभक्तानां स्थितीनां प्रत्येकं बन्धस्य जघन्यत
उत्कृष्टतश्च द्विधाऽन्तरं चिन्त्यते, तत्रैकजीवाश्रयेऽनन्तरद्वारोक्ते ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टादिस्थिति-
सत्के बन्धकाले समाप्ते व्युपगतस्योत्कृष्टादिस्थितिवन्धस्य यावन्तं कालमतिक्रम्य नियमेन पुनः
प्रारम्भो जायते, तावान् प्राङ्निष्ठितस्य पुनरावधस्य तत्तदुत्कृष्टादिस्थितिवन्धस्यान्तरालवती सर्वो-
ऽपि कालमन्तदुत्कृष्टादिस्थितिवन्धस्योत्कृष्टमन्तरमभिधीयते । पूर्वनिष्ठितस्तत्तदुत्कृष्टादिस्थिते-
र्वन्धो यावन्तं समयादिकालमनतिक्रम्य पुनर्नैव प्रागभ्यते, तावान् सर्वः कालस्तु तस्यास्तस्या उत्कृष्टा-
दिस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं संगीर्यते । औघत आयुर्वर्जमूलसप्तप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य
जघन्यमन्तरं भिन्नमुहुत्तमभिहितम्, तच्चानुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालापेक्षया भावनीयम् ।
नथाहि—कस्यापि पर्याप्तसंज्ञिषन्धेन्द्रियमिध्यादृष्टेर्जीवस्योत्कृष्टस्थितिवन्धे समाप्ते नियमेनानुत्कृ-
ष्टस्थितिवन्धः प्रवर्तते । स चानुत्कृष्टस्थितिवन्धः स्वकीयजघन्यबन्धकालमन्तमुहुत्तं यावदविरततया
प्रवर्तत एव । तस्मिंश्च प्रवर्तमाने सति न विद्यते तावत्कालमुत्कृष्टस्थितेर्वन्धप्रारम्भावकाशः, विवक्षि-
तैककर्मण उत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिवन्धयोः सममेव प्रवृत्तेर्विरोधात् । ततश्चानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धप्रायोग्ये
जघन्यबन्धकालेऽतिक्रान्ते कस्यापि तादृशजीवस्य पुनरप्युत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्याप्यवसायप्राप्तेर-
नुत्कृष्टस्थितिवन्धविरामेन पुनरप्युत्कृष्टस्थितिवन्धः प्रवर्तयितुं लगति । एवमेतादृशजीवस्वामिको-
त्कृष्टस्थितिवन्धयोर्जघन्यमन्तरमन्तमुहुत्तं प्राप्यत इति । “परममसंखपरद्वा” ति एकजीवाश्रयं
सप्तकर्मणां प्रत्येकमुत्कृष्टायाः स्थितेः ‘परमम्’—उत्कृष्टं बन्धान्तरमसंख्यपुद्गलपरावर्ता भवेदित्यर्थः ।

इदमप्यनन्तरद्वारोक्तसप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टायाः स्थितेरुत्कृष्टबन्धकालापेक्षया स्वयमेव भावनीयम्, केषाञ्चिज्जीवानामनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालं यावदुत्कृष्टस्थितिवन्धस्याऽप्रवर्तनात्, तदुत्तरं नियमेन प्रवर्तनाच्चेति ।

अथानुत्कृष्टस्थितिवन्धस्याह—“अगुरुअ” ति सप्तप्रकृतीनामगुरोः—अनुत्कृष्टायाः स्थितेः “लहु” भवे समयो” ति ‘लघु’-जघन्यं बन्धान्तरं ‘समयः’—समयमात्रं भवेत् । सुगमम्, प्रतिपक्षस्थितिवन्धजघन्यबन्धाद्धायाः समयमात्रत्वात् । उक्तं चानन्तरं कालमरूपणायाम्—‘सत्तपह गुरुअ लहु कालो समयो’ इति । यद्देवतदन्वयाऽपि स्थितेरजघन्यमबन्धकालमाश्रित्य भावनीयम् । तथाहि—उपशमश्रेणौ सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमसमये वेद्यमानद्युपो द्विचरमसमयं वेद्यन् यः कश्चिन् महात्मा ज्ञानावरणस्यानुत्कृष्टं स्थितिवन्धं करोति, न तु भवचरमसमये, तदानीं भवचरमसमय उपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनस्तस्य कस्याऽपि कर्मणः स्थितिवन्धस्याभावात् । तदुत्तरसमये पुनः स कालं कृत्वाऽन्तःकोटाकोटीसागरोपमप्रमाणां स्थितिं बध्नन् पूर्वनिष्ठितमनुत्कृष्टस्थितिवन्धं पुनरपि करोति । तदेवं तस्य ज्ञानावरणस्यानुत्कृष्टस्थितेरजघन्यं बन्धान्तरं प्राप्यत इति । इत्थमेव दर्शनावरणादिविषयेऽपि यथासम्भवं भावनीयमिति । अथाऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरं दर्शयति—“भिन्नमुद्दत्तं परमं” ति सप्तानामनुत्कृष्टायाः स्थितेः परममुत्कृष्टं बन्धान्तरं भिन्नमुद्दत्तमित्यर्थः । इदं हि बन्धान्तरमुपशमश्रेणावबन्धको भूत्वा य उपशान्ताद्वाक्ष्येण प्रतिपत्ति, तस्य महात्मनस्तत्कर्मसत्कस्थितिवन्धानामबन्धकालापेक्षया भावनीयम्, न तुत्कृष्टस्थितिवन्धोत्कृष्टकालापेक्षया, तदपेक्षयाऽबन्धाद्धायाः संख्येयस्थितिवन्धाद्वाप्रमाणत्वेन दीर्घत्वादिति ।

अथायुरधिकृत्याह—“आउस्से”त्यादिना, उक्तशेषस्याऽऽयुःकर्मणो ‘गुरोः’—उत्कृष्टायाः स्थितेरन्तरम्-बन्धान्तरं ‘ह्रस्वम्’-जघन्यम् “समयूणपुञ्चकोडो होह दससहस्सवासऽहिया” ति समयोना एका ‘पूर्वकोटी’—उक्तस्वरूपाणां पूर्वाणां कोटी दशमहस्रवर्षाधिका भवतीत्यर्थः । इयमत्र भावना—आयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धो वेद्यमानपूर्वकोटिस्थितिकायुषो भागद्वयेऽतिक्रान्ते तृतीयभागस्य प्रथमसमये वेद्यमाने त्रयस्त्रिंशन्सागरोपमस्थितिकं देवायुर्नरकायुर्वा बध्नतो जीवस्यै-कस्मिन् समय एव लभ्यते, न पुनर्द्वितीयादिसमये, तदानीमवाधायाः परिगलितत्वेनोत्कृष्टावाधासंगतस्योत्कृष्टस्थितिकायुर्वेन्धस्यालाभाद् । एतच्च प्राक् प्रपञ्चितमेव । इत्थमुत्कृष्टावाधाया-मुत्कृष्टस्थितिकमायुर्वद्वा पुनरप्युत्कृष्टावाधायामुत्कृष्टस्थितिकायुर्वन्धो जघन्यतोऽपि समयोनदशसहस्रवर्षाभ्यधिकपूर्वकोटीकालेऽतिक्रान्त एव सम्भवति, न पुनस्तदत्रकिं, ओघोत्कृष्टस्थितिकायुषो बन्ध-वेदनयोर्भिन्नभिन्नगतावेव भावात् । किमुक्तं भवति—ओघोत्कृष्टस्थितिकायुषो बन्धकस्तिर्यग् मनुष्यो वा भवति, तच्चायुर्नरकतया देवतया चोत्पद्य वेदयति, ततश्च निरन्तरं भवद्वये तदन्वयो न प्राप्येते, किन्तु सान्तरभवद्वय एव, इत्यतो जघन्यमप्यन्तरमुक्तप्रमाणां जायत इति । अत्र नोदकः—ननु सान्तरभवद्वये तद्बन्धेऽपि कथमेतावत्सङ्गच्छेत्, यत उत्कृष्टस्थितिकमायुर्वद्वा तत्र नारकतया

देवतया वोत्पद्य तावदायुर्वेदयित्वा ततश्चतुर्वा पुनरपि प्राग्भदुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य प्रारम्भात्पूर्वं जघन्यतोऽपि समयोन्पूर्वकोटिभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमकालस्यापसरणाद् ? इति चेद्. उच्यते, सत्यमेतत्. यदि सर्वगं जीर्वयेथावद्धस्थितिकमायुर्वेद्येत । न चैतदेवम्, यत् उत्कृष्टस्थितिकं वद्धमपि तत् पश्चादपवर्तितं यत् कृष्णवासुदेवदृष्टान्तेन कैश्चिन्न्यूनमपि वेद्यते । उक्तं च श्रीपञ्च-
माङ्गप्रथमशतके—

‘जीवे णं भंते ! सर्वकात्रं धात्रं वेणुः ? गोयमा ! अत्येगह्यं वेणुः, अत्येगह्यं नो वेणुः, जहा दुक्खेणं
शो इण्डगा तथा आउणं वि दो इण्डगा एणत्तपुहुत्तीभा, एणत्तेणं जाव वेमाणिआ, पुहुत्तेणं वि तहेवं’ इति ।

अयम्भावः—एकजीवमाश्रित्य नानाजीवानाश्रित्य च वैमानिकपर्यन्तेषु चतुर्विंशतिदण्डकेषु
‘दःखं’-कर्म तद्भेदनवन्धवद्धमायुः कश्चिद् वेदयति कश्चिन्न वेदयति । किमुक्तं भवति—कश्चिद्यथा-
वद्धमुत्कृष्टादिस्थितिकं वेदयति, अपवर्तनाकरणतोऽनपवर्तितत्वेन यथावद्धमुदितत्वात् । कश्चित्पुन-
रुत्कृष्टादिस्थितिकं वद्ध्वा पश्चादपवर्तनाकरणेनापवर्तितं-हस्वीकृतस्थितिकं वेदयति, न तु यथा-
वद्धमुत्कृष्टादिस्थितिकम्, यथावद्धोत्कृष्टादिस्थितिकत्वेन तस्यानुदीर्णत्वात् । तथा च तद्दोका—

‘अथायुःप्रधानत्वात्प्राग्भदुत्कृष्टस्थितिकव्यपदेशस्यायुःश्रित्य दण्डकद्वयम्, एतस्य चैवं वृद्धोक्तभावता—यदा सम-
क्षितायुर्वद्धं, पुनश्च काऽन्तरे परिणामविशेषात्तृतीयधरणीप्रायोग्यं निर्वर्तितं वासुदेवेनेश, तन्नाहशमङ्गीकृत्यो-
च्यते-पुर्वधद्धं कश्चिन्न वेदयति, अनुदीर्णत्वात्तस्य । यदा पुनर्यत्रैव वद्धं तत्रैवोत्पद्यते, तथा वेदयतीत्युच्यते,
तथैव तस्योक्तिर्यादिति ॥’ इति ।

इत्थं हि यः कश्चित्तिर्यग् मनुष्यो वोत्कृष्टावाधायां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकं निरयायु-
र्वद्ध्वा पश्चात् कालान्तरे विण्ड्याव्यवसायमवाप्य तं ह्रस्वं दशमहस्रवर्षस्थितिकं करोति, ततश्चानु-
क्रमेण वेद्यमानायुःक्षये दशमहस्रवर्षस्थितिकनारकतयोत्पद्य यथाकालं पूर्वकोटिवर्षस्थितिकं तिर्यगा-
युर्मनुष्यायुर्वा वद्ध्वा क्रमेण तत्रोत्पद्य च तस्य पूर्वकोटिस्थितिकस्य वेद्यमानायुषो भागद्वयेऽतिक्रान्ते
तृतीयभागे च वेदयितुमारब्धे तत्प्रथमसमये उत्कृष्टावाधायां पुनरपि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमोत्कृष्ट-
स्थितिकमायुर्वन्तानि, एतादृशमान्तरभवद्वयकृतयोरायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धयोरन्तरं समयोन्दशमह-
स्रवर्षाभ्यधिकपूर्वकोटिप्रमाणं प्राप्यते, समयोन्पूर्वकोटितृतीयभागः प्रथमभवसत्कः, दशवर्षमह-
स्राणि सध्ववर्तिनिरवभवसत्कानि, पूर्वकोटीतृतीयभागद्वयं तु तृतीयभवसम्बन्धि, एतेषां सङ्कलने
निरुक्तप्रमाणत्वात् । इदं ह्यन्तरमुत्कृष्टस्थितिकदेवायुर्वेन्धद्वारेण तु स्वयं भावनीयमिति । एतच्चाऽऽ-
युर्वन्धोत्तरं वेद्यमानायुषोऽपवर्तनामनभ्युपगम्योक्तम् । तदभ्युपगमापेक्षया तु सूक्तोक्तान्तरात्किञ्चि-
दुन्पूर्वकोटितृतीयभागेन हीनं स्वयमभ्युह्यमिति ।

अथायुषो उत्कृष्टस्थितिवन्धस्योत्कृष्टमन्तरमाह—“परमभसंखपरदा” ति आयुषो गुरुस्थितेः
‘परमम्’ उत्कृष्टं बन्धान्तरमसंख्येयपुद्गलपरावर्ता भवतीत्यर्थः । इदं हि सप्तकर्मणामुत्कृष्टायाः
स्थितेरुत्कृष्टबन्धान्तरवद् भावनीयमिति । आयुष एवात्कृष्टायाः स्थितेर्द्विविधं बन्धान्तरमाह—
“णुहोसाण” इत्यादिना, “णुक्कोसाण” इत्यत्र लुप्ताकारस्य दर्शनाद् अनुत्कृष्टायाः प्रकृतस्या-
युषः स्थितेः “जहणणं णेयं” ति जघन्यमेव जघन्यकं—ह्रस्वं बन्धान्तरं ज्ञेयमित्यर्थः ।

क्रियञ्ज्ञेयमित्याह—“भिन्नमुद्धृतं” ति भिन्नमुद्धृतम्-अन्तमुद्धृतम् । इदं हि पारभविकायुर्वन्धप्रायोग्यायां द्विचरमाद्धायां चरमाद्धायां च चारद्वयमायुर्वन्धप्रायोग्याच्यवसायानवाप्य द्विरायुर्वन्धं कुर्वतां जीवानां तस्यायुर्वन्धद्वयस्यान्तरालप्रमाणं बोद्धव्यम्, न पुनर्देशोनक्षुल्लकभवप्रमाणम्, क्षुल्लकभवापेक्षया यथोक्तान्तरस्यैव लघुत्वात् । कुतः ? इति चेद्, अपर्याप्तिकेन्द्रियादिमार्गणास्वापि नानाऽऽकर्षे-
रायुर्वन्धस्याभिमतत्वेन जघन्यस्थितिकापर्याप्तकसद्यत्रिभागादपि न्यूनत्वादिति । “परमं” ति आयुषो-
ऽनुत्कृष्टस्थितेः ‘परमम्’-उत्कृष्टं बन्धान्तरं “तेत्तोसासागराऽन्महिया” ति अभ्यधिकानि
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानीत्यर्थः । इदं हि यः कश्चिन्मनुष्यस्तिर्यग्जीरो वा स्त्रीयवेद्यमानपूर्वकोटिर्वा-
युषो भागद्वयेऽतिक्रान्ते तृतीयभागद्वितीयमयादन्तमुद्धृतं यावदनुत्कृष्टस्थितिकं देवायुर्निरयायुर्वा
बद्ध्वा कालान्तरे निरयादित्वेनोत्पद्य च पूर्ववद्दं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकं निरयाद्यायुर्वेदयन्
क्रमेणाऽवाप्तायामायुर्वन्धप्रायोग्यायां चरमायाममंशंध्याद्धायां प्रविशन्नेव यदा पारभविकायुर्वन्धं
करोति, न तु तदर्वाक, तदा तेन जीवेन पूर्वकोटीमनुष्यादिभवतृतीयभागावशेषे कृतस्याऽऽयुर्वन्धस्य
तथाऽनन्तरं अनुत्कृष्टस्थितिकानिरयादिभवे आयुर्वन्धप्रायोग्यायां चरमबन्धाद्धायां कृतस्यायुर्वन्धस्य
यदन्तरालमन्तमुद्धृतद्वयोनपूर्वकोटितृतीयभागाम्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं तदपेक्षया विज्ञे-
यमिति ॥२००-२०१-२०२॥

तदेवमभिहितं मालानामशानां क्रमणामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्याः प्रत्येकं जघन्योत्कृष्टद्विविधं
बन्धान्तरमोद्यतः । साम्प्रतं तदेवादेशतो व्याजिहीपुरादौ तावदायुर्वर्जसप्तक्रमेणां दर्शयन्नाह—

सव्वेसुं जोगेसुं गयवेए चउकसाय-णाणसुं ।

संयम-सामइएसुं छेए परिहार-देशेसुं ॥२०३॥

सुहुमो-हि-सम्म-वेअग-उवसम-मामाण-मीस-ऽणाहारे ।

सत्तण्ह अंतरं णो उक्कोसाए ठिईअ भवे ॥२०४॥

(प्र०) “सव्वेसुं” इत्यादि, सर्वेषु ‘योगेषु’ मनोयोग-वचोयोग-काययोगसन्केष्वपि
दशष्वपि मूलोत्तरयोगभेदेष्वित्यर्थः । तथा ‘गतवेदे’-ऽयगतवेदमार्गणामेदं “चउकसायणाणसुं”
ति चतुःशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् क्रोधादिषु चतुर्षु कषायभेदेषु मत्यादिषु चतुर्षु ज्ञानमार्गणभेदेषु
चेत्यर्थः । तथा संयमो-सामायिकसंयममार्गणयोः “छेए” ति छेदोपस्थापनसंयमे, तथैव परि-
हारविशुद्धिकसंयम-देशसंयममार्गणयोरित्यर्थः । अन्या मार्गणाः संगृहितुं ग्राह—“सुहुमोहि”
इत्यादि, सुक्ष्मसम्परायसंयमा-ऽवाधिदर्शन-सम्यक्त्वाद्य-वेदकसम्यक्त्वा-पशमिकसम्यक्त्व-साप्तादन-
मिश्रदृष्ट्य-नाहारकमार्गणभेदेष्वित्येतासु चत्वारिंशन्मार्गणसु प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु प्रत्येकं किमि-
त्याह—“सत्तण्ह अंतरं णो” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलकर्मणासुत्कृष्टायाः स्थितेः ‘अंतरं’

ति बन्धान्तरं न भवेदित्यर्थः । इदमुक्तं भवति—यस्यां मार्गणायामुत्कृष्टादिस्थितिवन्धः स्वप्रति-
पक्षेणानुत्कृष्टादिस्थितिवन्धेन स्थितेरवन्धेन वाऽन्तरितः सन् जघन्यतोऽपि द्विः प्राप्यते, तस्यां
मार्गणायां तस्या उन्कृष्टादिस्थितेर्बन्धान्तरं लभ्यते । प्रकृते च योगभेदकपायभेदान् विवर्ज्य शेषेष्व-
पगतवेद-मतिज्ञानादिमार्गणासु वेदोदय-मिथ्यात्वाद्यभिमुखजीवानामेव मार्गणाचरमस्थितिवन्धे उत्कृ-
ष्टस्थितिवन्धो जायते, तेषामेव स्वस्वमार्गणागतशेषजीवापेक्षयाऽधिकसंक्रिष्टत्वात् । ते चोन्कृष्टस्थिति-
बन्धं कृत्वाऽन्तरमेव प्राग् यस्याभिमुखा आमन्, तं वेदोदय-मिथ्यात्वादिकं प्राप्नुवन्ति; तथा च
मति तेषां प्रकृतमार्गणाया एव विच्छेदो जायते । अन्येऽप्यपगतवेद-मतिज्ञानादिषु योगकपायवर्जमार्ग-
णाभेदेषु मार्गणाविच्छेदादवर्णभाविचरमस्थितिवन्धे सकृदेवोन्कृष्टस्थितिवन्धभावाद् उत्कृष्टस्थिति-
बन्धद्वित्वनिबन्धनमुत्कृष्टस्थितेर्बन्धान्तरं न लभ्यते । मनोयोगादियोगमार्गणाभेदेषु तूत्कृष्टस्थितिवन्ध-
स्वामिनः मंझिपञ्चेन्द्रियजीवा एव । तेषां च मनोयोगादीनां प्रत्यन्तमुहूर्तं परावृत्तिर्जायते । तथा
च मति मंझिपञ्चेन्द्रियजीवानामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनां मनोयोगादितत्तन्मार्गणासु निरन्तरमव-
स्थानं स्वल्पमेव भवति । तावति च ह्रस्वकाले तत्स्वामिभिः मंझिपञ्चेन्द्रियजीवैर्द्विरुत्कृष्टस्थिति-
बन्धः कर्तुं नैव पायते, ततश्च स्वल्पावस्थानप्रयुक्तः प्रकृतान्तरस्याऽभाव एव तासु भवतीति ॥२०३
-२०४॥ तदेवं यामु मार्गणासु सप्तकर्मणामुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धान्तरस्याऽसम्भवस्तासु तत्प्रतिविध्य
नाम्यतं यामु तत्सम्भवस्तासु तज्जघन्यादिभेदेन दर्शयन्नाह—

सेसासु मुहुत्तंतो लहु गुरु तिपणिंदितिरियमणुसेसु ।

कोडिपुहुत्तं पुव्या अयराऽद्वार सुर-सुक्कासु ॥२०५॥

(प्रे०) “सेसासु मुहुत्तंतो” इत्यादि, अनन्तरं “सन्नेसु जागेसु” इत्यादिगाथाद्वयेऽभि-
हितमार्गणा विवर्ज्य शेषासु निरयगत्योधादित्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं “मुहुत्तंतो लहु” ति
सप्तकर्ममत्कोन्कृष्टस्थितेर्लघु-जघन्यं बन्धान्तरं ‘मुहुत्तान्तः’-अन्तमुहूर्तं, भवतीति शेषः । तत्रैकेन्द्रि-
यांघादिमार्गणास्वनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालस्यान्तमुहूर्तत्वात् प्रकृतान्तरमप्योषवदन्तमुहूर्तमेव
प्राप्यते । निरयगत्योधादिमार्गणासु यद्यपि सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालः समयस्तथाप्यसौ
कालकरणेनान्यथा वा मार्गणापरवृत्तेरर्वाग् मार्गणाचरमसमयप्रारब्धानुत्कृष्टस्थितिवन्धमपेक्ष्य प्राप्यते,
य च मार्गणाचरममयरूपोऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य जघन्यः समयमात्रकालः प्रस्तुतान्तरप्रयोजको
भवितुं नाऽर्हति, तस्य मार्गणाकालभान्युत्कृष्टस्थितिवन्धद्वयमध्यवर्तिन्वाभावात् । यतो यः
कश्चिदनुत्कृष्टस्थितिवन्धो मार्गणाकालभान्युत्कृष्टस्थितिवन्धद्वयमध्ये प्रवर्तते, स स्वकीयप्रवृत्तिकाल-
मपेक्ष्योन्कृष्टस्थितिवन्धान्तरस्य प्रयोजको भवति । निरयगत्योधादिमार्गणासु तादृशः स्थितिवन्धो
जघन्यतोऽप्यन्तमुहूर्तकालिनः, अतो निरयगत्योधादिषु सप्तानामनुत्कृष्टस्थितिवन्धजघन्यकालस्य सम-
यमात्रत्वेऽप्युत्कृष्टस्थितिवन्धस्य जघन्यमन्तरं तु समयं नैव प्राप्यते, किन्त्वन्तमुहूर्तमेव प्राप्यत इति

तथैवाभिहितमिति । एतास्वेव शेषमार्गणासु प्रकृतान्तरमुत्कृष्टतः कियद्भवतीत्येतद्विदर्शयिषुः क्रमेणान्—“तुरु निपणिदिरे” न्यादिना, सप्तानामुत्कृष्टायाः स्थितेगुरु-उत्कृष्टं बन्धान्तरम् “निपणिदिनिरियमणुसेसु” ति त्रिशब्दस्य पञ्चेन्द्रियतिर्यग्-मनुष्ययोः प्रत्येकं योजनाद् व्याख्याततो विशेषप्रतिपत्तेश्चापर्याप्तभेदवर्जस्त्रयः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, अपर्याप्तभेदवर्जस्त्रयो मनुष्यभेदाश्चैतेषु षट्पु मार्गणाभेदेषु “कोटिपुहुत्तं पुब्वा” ति कोटिपृथक्त्वं पूर्वाणि, पूर्वकोटिपृथक्त्वमित्यर्थः । “पुब्वा” इत्यत्र पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । प्राकृते हि लिङ्गमन्त्रं भवति । वगदुः कलिवालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरिपाशः स्वप्राकृतलक्षणे “लिङ्गमन्त्रम् (मि०हे० ८।४।४३५) इति ।

इयमत्र भावना—पणां उक्त मार्गणाभेदानां प्रत्येकमेकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिः पूर्वकोटिपृथक्त्वान्यधिकपल्योपमप्रथमाना भवति । उक्तं चानन्तरमेव कालद्वारे—“निपणिदिवनिरियणं निपणरणं च पलिभोवमा निणिण । भ्रमरहिवा पुत्राणं कोटिपुहुत्तंण पायव्वा ॥” १५५॥ इति । तत्रैषा कायस्थितिः “पचिदियनिरियणं सत्तद्भवत्ता उ उफोसा” इति, वचनात् नानाभवग्रहणैः प्राप्यते, न पुननिरियगन्धोघादिमार्गणाभेदेकेनैव भवेत् । तत्राप्युत्कृष्टकायस्थितिमतिवाह्यन्तो जीवाः संख्येयवर्षस्थितिकान् नानाभवान् प्रागेव कृत्वा एताद् एकं त्रिपल्योपमस्थितिकं भवं कुर्वन्ति, न पुनः पूर्वमेव मध्ये वा । कुतः ? पूर्व मध्ये वाऽसंख्येयवर्षस्थितिकभवग्रहणे तेषामुत्कृष्टकायस्थितेरेवाज्जन्वाप्तेः । ननु पश्चान्संख्येयवर्षस्थितिकान् नानाभवान् कुर्वन्त एते प्रकृतमार्गणाया उत्कृष्टां कायस्थितिं कस्माद् न पूरयन्ति ? उच्यते, “अरतिरि अतंनजीवि सख्ये निरियणं जीव वेवेसु” इति नियमाद्संख्येयवर्षस्थितिकभवशदुत्तरं तेषां देवगतावेवोत्पन्त्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियादिमार्गणातो बहिर्भाव एव जायते, ततश्च नास्ति प्रस्तुतमार्गणाखेव निरन्तरं पश्चान्संख्येयवर्षस्थितिकानानाभवकल्पावकाशः । किञ्च प्रकृततन्मार्गणान्कोत्कृष्टकायस्थितिनिर्वाहकानामपि जीवानां चयमे त्रिपल्योपमप्रमाणेऽसंख्येयवर्षस्थितिकं भव उत्कृष्टस्थितिवन्धो न जायते । कुतः ? तेषां युगिष्वेव स्वजायत एव मन्दकपायित्वात् । उक्तं च लोकप्रकाशे युगिष्वेवस्वप्रदर्शनावसरे श्रीमन्महोपाध्यायविनयविजयगणिपादैः—“तनुको वमानमा जायेत देवाः स्वजायत ॥७॥” इति । इत्थं चोत्कृष्टस्थितिवन्धन्योत्कृष्टमध्यन्तरं पूर्वकोटीपृथक्त्वमेव लभ्यते, न पुननिरियगन्धोघादिबन्धीयस्वीयदेशोक्तकायस्थितिप्रमाणम्, प्रथमोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य कार्यास्थितेः प्रारब्धावस्थायां भावेऽपि द्वितीयवारमाव्युत्कृष्टस्थितिबन्धस्य त्रिपल्योपमकायस्थित्यवशान्पूर्वमेव सम्भवादिति ।

“अघराऽद्वार सुरसुक्कासु” ति ‘अतराः’—गामरोपमाणवष्टादश सप्तप्रकृतियत्कोत्कृष्टायाः स्थितेरुत्कृष्टबन्धान्तरं भवतीति प्रकमाद्भ्रम्यते । कस्यामित्याह—“सुरे” न्यादि, तत्र “सुर” ति देवगन्धोघमार्गणायां तथा शुक्ललेश्वामार्गणायामित्येतयोः प्रत्येकमित्यर्थः । अयम्भावः—यद्यपि सामान्यत उत्कृष्टस्थितिवन्धस्योत्कृष्टमन्तरं तन्स्वामिनस्तत्तन्मार्गणायासुत्कृष्टावस्थानलक्षणोत्कृष्टकायस्थित्यधीनम्, ततश्च बहुषु मार्गणासु तद्देशोनकायस्थितिप्रमाणं प्राप्यते, तथापि कतिपय-

मार्गणास्वनन्तरोक्तनीत्या तद्धीनमपि लभ्यते, प्रकृतेऽपि द्वयोर्मार्गणयोरुत्कृष्टकायस्थितिर्यद्यपि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, तथापि तयोरुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनो न उत्कृष्टकायस्थितिका जीवाः, देवगन्धोषमार्गणायामष्टमकल्पान्तानामेवोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिन्वात्, शुक्लेश्यामार्गणायामपि नवमकल्पान्तानामेवोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वाच्च । तत्राप्यधिकस्थितिका-ऽधिकतरस्थितिकानां शुक्लेश्याकदेवानां प्रशस्ततर-प्रशस्ततमशुक्ललेदयत्वेन प्राणतकल्पादिदेवानामिव कदाप्युत्कृष्टस्थितिवन्धो न जायते, किन्तु ये नवमकल्पगता ह्रस्वस्थितिका देवा त एवोत्कृष्टस्थितिवन्धं निर्वर्तयन्ति, ते च यदाऽन्तर्मुहूर्तं त्यक्त्वा भवप्रारम्भे प्रान्ते च त्रारद्वयमेवोत्कृष्टस्थितिवन्धं कुर्वन्ति, तदा मूलोक्तमष्टादशसागरोपमप्रमाणमन्तरं प्राप्यते, तच्चान्तर्मुहूर्तलक्षणेनैकदेशेन स्तोकमेव हीनामिति मूलेऽनुक्तमपि स्वयमेव हीनं द्रष्टव्यम्, देशेन हीनाधिक्यस्य लाघवाय मूलेऽदर्शित्वात् । तच्चैत्थं भाव्यते—यथा-संख्यमुत्कृष्टज्वन्धस्थितिकानां सहस्रारा-ऽऽनतकल्पदेवानामपर्याप्तावस्थायां भवप्रथमान्तर्मुहूर्ते उत्कृष्टस्थितिवन्धस्याऽयमभवत् तदुत्तरजातप्रथमोत्कृष्टस्थितिवन्ध-भवचरममयकृतोत्कृष्टस्थितिवन्धयोरन्तरमेव प्रकृतोत्कृष्टान्तरं भवति, तच्चान्तर्मुहूर्तलक्षणेनैकदेशेनोनान्यष्टादशसागरोपमाणि । यद्वा-शुक्लेश्यायां स्वामित्वद्वारे उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनः 'सुइलाभ आणतसुरो मिच्छो वा' इत्यादि-गाथोक्तवाक्येणानतादिकल्पवाशिनोऽपि दर्शिताः, अतस्तानपेक्ष्य प्रकृतान्तरमुक्तनीत्या तत्र मूलोक्तादधिकमपि द्रष्टव्यमिति । इत्येवान्वत्रापि मूले सामान्यतोऽभिहितान्यन्तराप्यन्तर्मुहूर्तदिलक्षणेनैकदेशेनोनान्यधिकानि वा यथायममवं स्वयमेव द्रष्टव्यमिति ॥२०५॥ अथान्यत्र प्रकृतान्तरमाह—

णयं असंखलोगा एगिदि-णिगोअ-पंचकायेसु ।

अंगुलअसंखभागो होइ छसुहुमोघभेएसु ॥२०६॥

ओघव्व अणाणदुगे अयता-ऽचक्खु-भवि-अभवि-मिच्छेसु ।

(प्रे०) “णयं असंखलोगा” इत्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः, केवलम् “असंखलोग” चि क्षेत्रतोऽसंख्येयलोकप्रमाणम्, कालतस्त्वसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः । एवम् “अंगुलअसंखभागो” इत्यत्रापि क्षेत्रतोऽङ्गुलस्यासंख्यभागप्रमाणम्, कालतस्तु प्राग्बदसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिण्य एव शोद्धव्याः, नवरं पूर्वापेक्षयाऽमूरसंख्यभागगता इति । क्षेत्रतस्तु प्रतिमयप्रदेशापहार रक्षणा भावना प्राग्बद् द्रष्टव्या । अत्रैकेन्द्रियांघ-निगोर्दांघ-पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तौघरूपासु सप्तमार्गणास्वसंख्य-लोकप्रमाणमन्तरं तथा षट्स्वेकेन्द्रियपृथिव्यादिसाधारणवनस्पतिकायान्तेष्वधिषिकेषु सूक्ष्ममार्गणा-भेदेषु प्रत्येकमङ्गुलासंख्यभागप्रमाणं मत्स्यज्ञानादिसप्तमार्गणाभेदेष्वोघवदसंख्यपुद्गलपरावर्तप्रमाणं च प्रकृतायाः सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धान्तरम्- (जेट्टो असंखलोगा एगिदि-णिगोअ-पंचकायेसु) । अंगुलअसंख-भागो होइ छसुहुमोघभेएसु ॥१५०॥ ओघव्व अणाणदुगे अयता-ऽचक्खु-भवि-अभवि-मिच्छेसु । इति ग्रन्थेनोक्तमनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टवन्धकालमपेक्ष्य भावनीयमिति ॥२०६॥

अथोक्तशेषमार्गणासु प्रकृतान्तरमार्गार्थेनाह—

सेसासुं देसूयाः सप्तशतकायट्टिई परमा ॥२०७॥

(श्रे०) “सेसासु” इत्यादि, सुगमम् । नवरं “सेसासु” ति “सन्वेसुं जोगेसु” इत्यादि-
गाथाद्वये प्राक्प्रतिपिद्धप्रकृतान्तराश्चत्वारिंशन्मार्गणास्तथा “गुरु तिपणिदितिरियमणुसेसु”मिन्यादि-
नाऽनन्तरमभिहितप्रकृतान्तरा अष्टाविंशतिमार्गणा विहाय शेषासु इत्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं सप्ता-
नामनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्योत्कृष्टान्तरं स्वीयस्वीयोत्कृष्टकायस्थितिरित्यर्थः । तत्र शेषमार्गणा
नामत् इमाः—सर्वे निरयगतिभेदाः, देवगन्योधभेदवर्जा एकोनविंशद्भवनपत्न्यादिदेवगतिभेदाः,
तिर्यग्न्योधा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, वादरैकेन्द्रियौघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तबद-
रैकेन्द्रिय-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियरूपाः पञ्चकेन्द्रियभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, सर्वे पञ्चे-
न्द्रियभेदाः, औघ-सूक्ष्मौघभेदद्वयवर्जा वादरौघ-वादरपर्याप्ता-ऽपर्याप्त-सूक्ष्मपर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नाः
पञ्च पृथिवीकायभेदाः, तथैव पञ्चाकायभेदाः, पञ्च तेजस्कायभेदाः, पञ्च वायुकायभेदास्तथा पञ्च सा-
धारणवनस्पतिकायभेदाः, औघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदास्तथैव त्रय-
स्त्रसकायभेदाः, स्यादयस्त्रयो वेदमार्गणाभेदाः, विमङ्गलान-चक्षुर्दर्शन-कृष्णादिपञ्चलेश्या-क्षायिक-
सम्यक्त्व-संज्ञ-ऽसंज्ञा-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति । भावना तु पूर्ववत्, नवरं सर्वमार्गणासुत्कृष्टकायस्थि-
तिरन्तमुर्हृत्तलक्षणेनैकदेशेना द्रष्टव्या । तत्राप्यन्तमुर्हृत्तमुत्कृष्टस्थितिवन्धकालादिसत्कं कायस्थितेः,
प्रारम्भभागसम्बन्धि चरमभागसम्बन्धि च समुदितं सद् दीर्घं ह्रस्वं च यथासम्भवं वर्ज्यम्, न पुनः
सर्वमार्गणासु तुल्यमेव । तथाहि—निरयगन्योधमार्गणाभेदे कश्चिदुत्कृष्टस्थितिकः सप्तमपृथिवीनैर-
यिकजीवस्तत्रोत्पद्योपर्याप्तावस्थाया ऊर्ध्वमुत्कृष्टस्थितिवन्धं प्रारभ्य तं समापयति, ततः प्रभृतेरुत्कृष्ट-
स्थितिवन्धस्योत्कृष्टमन्तरं प्रवर्तते, तच्च तावत्प्रवर्तते, यावदसौ पुनरपि भवचरमसमय उत्कृष्टस्थिति-
वन्धं प्रारभते । एवंतस्य मार्गणायाश्चरमभागसम्बन्धेकमसयस्तथाप्रारम्भभागसम्बन्धयुत्कृष्टस्थिति-
वन्धमपि यावद् निरयभवसत्को यावान् कालो लङ्घितस्तावदन्तमुर्हृत्तं च वर्जनीये, ताभ्यां हीनं
त्रयस्त्रिंशन्मार्गणोपमप्रमाणं निरयौघे उत्कृष्टस्थितिवन्धयोत्कृष्टान्तरं भवति । एवमेवान्यनिरयगत्या-
दिमार्गणाभेदेष्वपि शोद्धव्यम् । अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियमार्गणाभेदे तु मार्गणायाः प्रारम्भभागसत्कान्तमुर्हृ-
त्तमिव मार्गणायाः प्रान्तभागसम्बन्ध्यप्यन्तमुर्हृत्तकालो वर्जनीयः, न पुननिरयगन्योधादिवन्तसमय-
सात्रः, मार्गणान्तराभिमुखानामपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियजीवानां भवचरमान्तमुर्हृत्ते उत्कृष्टस्थितिवन्धस्या-
ऽप्रवर्तनात्, प्रागेवोत्कृष्टस्थितिवन्धभावे तुत्कृष्टस्थितिवन्धकालस्य तदुत्तरवर्तिकालस्य चान्तरकाल-
वद्भिर्भावान्चेति । इत्येवाऽपर्याप्तसूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायमार्गणादावपि यथासम्भवं कायस्थिति-
सत्कं चरमान्तमुर्हृत्तमपि वर्ज्यमिति ॥२०७॥

तदेवं दर्शितमायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्जघन्योत्कृष्टद्विविधमपि वन्धान्तरमादेशतः ।

साम्प्रतं तासामेव सप्तानामनुत्कृष्टायाः स्थितेस्तत्प्रचिकटयिपुरादौ यासु मार्गणासु तन्न सम्भवति, तासु प्रतिषेधयन् यासु सम्भवति, तासु पूर्ववद्दर्शयंश्चाह गाथात्रयम्—

कम्मण-मामइएसुं छेए परिहार-देस-सुहुमेसुं ।

वेअग-सामाणेसुं मीसा-ऽणाहारगेसुं च ॥२०८॥

णो अंतरं ठिईएऽणुक्कोसार तिमिस्सजोगेसुं ।

णत्थि अहवा जहण्णं समयो परमं मुहुत्तंतो ॥२०९॥

अवगयवेअम्मि तहा मणपज्जव-संयमेसु लहुमियरं ।

णेयं भिन्नमुहुत्तं सेसासुं होइ ओघव्व ॥२१०॥

(प्र०) “कम्मणसामइएसु”मित्यादि, कर्मणकाययोग-सामायिकसंयमयोः, छेदोप-
स्थापनसंयमे, परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयम-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणासु, वेदकसम्यक्त्व-सामा-
दनयोमिश्रा-ऽनाहारकमार्गणयोश्चेत्येतासु दशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु किमित्याह—
“णो अंतरं ठिईएऽणुक्कोसार” ति सप्तमूलप्रकृतीनामनुत्कृष्टायाः स्थितेः “अंतरं” ति वन्धा-
न्तरम् “णो” ति न भवतीत्यर्थः । सुगमम् । भावना तूत्कृष्टस्थितेर्वन्धान्तरप्रतिषेधवन्कार्या,
प्रकृतमार्गणासुत्कृष्टस्थितिवन्धवदनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्याऽप्येकं जीवमपेक्ष्यकदैव भावात् । इद-
मुक्तं भवति—एतासु प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धसमाप्त्या सममेव सामायिकसंयमादितत्तन्मार्गणाऽपि
मार्गणान्तरतया परावर्तते, ततश्चोत्कृष्टस्थितिवन्धेनान्तरितोऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धोऽपि दिवर्न प्राप्यते,
तदभावे च कुतोऽन्तरं लभ्येत, न कुतश्चिदपि, अन्तरस्य प्रतिषेधस्थितिवन्धादिद्वयाधीनत्वादिति ।
ननु अपगतवेदादिमार्गणास्वप्युत्कृष्टस्थितिवन्धादनन्तरमेव मार्गणाविच्छेदादनुत्कृष्टस्थितिवन्ध उत्कृ-
ष्टस्थितिवन्धेनान्तरितो न भवति, तत्कुतस्तास्वपि प्रकृतान्तरं न प्रतिपिद्धम् ? इति चेद्, उच्यते,
अपगतवेद-मतिज्ञानादिमार्गणासु मार्गणाप्रान्त एवोत्कृष्टस्थितिवन्धभावेनाऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्तदन्त-
रितो न भवति, तथाप्यसाकुपशान्तमोहगुणस्थानकसत्कंनऽवन्धकालेनान्तरितो भवति, तथा च
सत्यन्तरं लभ्यते, अभिहितं च प्राग् यस्यां मार्गणायां स्वप्रतिषेधस्थितिवन्धेन स्थितेर्वन्धेन वा-
ऽन्तरितः मन्तुत्कृष्टादिस्थितिवन्धो द्विः प्राप्यते तस्योत्कृष्टादिस्थितिवन्धस्यान्तरं लभ्येत इत्यतोऽप-
गतवेदादिमार्गणास्वेकतरप्रकारेणापि तल्लामादुत्कृष्टस्थितिवन्धान्तरवन्न निषिद्धं प्रस्तुतान्तरमिति ।
कर्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोस्तूत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनां संक्षिपञ्चेन्द्रियाणामुत्कृष्टतोऽपि सम-
यद्वयमात्रमवस्थानाज्जघन्धतः समयत्रयाधीनमन्तरमपि न सम्भवतीति । अथ यासु मार्गणासु
मतद्वयमभिप्रेत्य प्रस्तुतान्तरस्य भावाभावौ तासु तथैव दर्शयन्चाह—“तिमिस्सजोगेसु” इत्या-
दिना, औरादिकामिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगलक्षणासु तिसृषु मिश्रयोगमार्गणासु

प्रत्येकं “०. ति” चि शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनाद्वर्त्ममय एव मत्तानामनुकृष्टस्थितिवन्धं स्त्रीकुर्वतां नास्ति बन्धान्तरम्, उत्कृष्टस्थितिवन्धस्य सामायिकादिमार्गणाद्यन्मार्गणाश्रान्ते सकृदेवभावेन स्थितेर-
बन्धस्यासम्भवेन चानुत्कृष्टस्थितिवन्धस्यैकदैव लाभत । “अह्वा जह्णं परमं सुहृ-
स्तो” चि अथवा शोक्तान्यमतेन समानामनुकृष्टायाः स्थितेर्वन्धान्तरं जघन्यं ‘समयः’-समय-
प्रमाणं भवति, ‘परमम्’-उत्कृष्टं तु तद् ‘सुहृत्तान्तः’-अन्तमु हृतं भवतीत्यर्थः । सुगमम् । तत्तन्मार्गणाया
द्विचरमादिसमयेषु समयमेकमुत्कृष्टस्थितिवन्धं कुर्वतां प्रकृतान्तरं समयप्रमाणं लभ्यते, अन्तमु-
हृतं यावदुत्कृष्टस्थितिवन्धं कुर्वतां त्वन्तमु हृतमानं तत्प्राप्यत इति । अथ यत्र स्थितेरबन्धकालेनान्त-
रितः सन्ननुत्कृष्टस्थितिवन्धो द्विः प्राप्यते, तत्र तदपेक्षया लभ्यमानमन्तरं दर्शयन्नाह—“अवगाय-
वेअम्भि” इत्यादिना, अपगतवेदमार्गणायां तथा मनःपर्यवज्ञान-संयमाद्यमार्गणशेरित्येताम् निम्बु
मार्गणासु प्रत्येकं समानामनुत्कृष्टायाः स्थितेः “लहूमियरं” चि ‘लवु’ जघन्यं ‘इतरम्’-उत्कृष्टं चोभ-
यविधमपि बन्धान्तरं “जेयं भिन्नमुरुस्तं” चि भिन्नमुहृतम्-अन्तमु हृतं ज्ञेयमित्यर्थः । इदं ह्युप-
शान्तमोहगुणस्थानककालप्रमाणं लभ्यते, तत्रापि मोहनीयानुत्कृष्टस्थितेस्तु तत् सविशेषम्, सूक्ष्म-
सम्परायगुणस्थानके मोहनीयस्य बन्धाभावेन सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकालद्वयस्याऽपि प्रकृतान्तरे
प्रविष्टत्वात् । विस्तरस्तु स्वयमेव भावनीयम् । ननु जघन्यतोऽपि कथमन्तमु हृतमैवोच्यते ? भण्य-
ते—उपशान्ताद्वाक्ष्येण प्रतिपतनामेव तल्लामात् । नचोऽशान्तमोहगुणस्थाने समयमात्रमवस्थाय कालं
कुर्वतां तत्समयमात्रमपि लभ्येतेति शङ्क्यम्, नादृशजीवानां देवगनावुत्पत्त्या प्रकृतमार्गणाया एव
बहिर्भावेन समयमात्रस्थाप्यन्तरस्याऽलाभादिति ।

अथशेषमार्गणासु प्रकृतान्तरमतिदिशन्नाह—“सेसासु होइ ओघव्व” चि “सम्परायसाम-
णसु”-मिन्यादिना निषिद्धाधिकृतान्तरा दशमार्गणास्तथोदारिकादिमि त्रयोगमार्गणात्रयमनन्तरोक्ता-
ऽपगतवेदादिमार्गणात्रयश्च विवर्ज्य शेषासु निरयगतयोघादिचतुःपञ्चाशदुत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं मम-
प्रकृतिसत्कानुत्कृष्टस्थितिवन्धान्तरम् “होइ ओघव्व” चि ओघवज्ज १२ त एकममय उत्कृष्ट-
तश्चान्तमु हृतं भवतीत्यर्थः । तत्र निरयगतयोघमार्गणाभेदे समानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालेनै-
कसमयेनान्तरितयोरनुत्कृष्टस्थितिवन्धयोरन्तरं जघन्यतो लभ्यते, अन्तमु हृतिकेनोत्कृष्टस्थितिवन्धे-
नान्तरितयोरनुत्कृष्टस्थितिवन्धयोरन्तरं तुत्कृष्टपदे प्राप्यते । इत्यमेव मनुष्यगन्योघ-पर्याप्तमनुष्य-
मानुषी-पञ्चेन्द्रियोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायोघ-पर्याप्तत्रसकाय-काययोगसामान्यभेद-मति-श्रुता-ऽव-
धिज्ञान-चक्षुरादित्रिदर्शन-शुक्लेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकौ-पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञा-ऽऽहारिमा-
र्गणा विहाय शेषसर्वमार्गणास्वपि भावनीयम् । मति-श्रुता-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-सम्यक्त्वौघौ-पशमिक-
सम्यक्त्वमार्गणासु तु जघन्यमुत्कृष्टं द्विविधमप्यन्तरं स्थितेरबन्धकालान्तरितयोरनुत्कृष्टस्थितिवन्ध-
योरन्तरालमपेक्ष्यौघिकभावनावद्भावनीयम्, न पुनरुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकालमपेक्ष्य, तदपेक्षया जघन्यो-
त्कृष्टैकतरान्तरस्याऽप्यनुत्पत्तेः । कृतोऽनुत्पत्तिरिति चेत् ? मतिज्ञानादिमार्गणासु मिथ्यात्वाद्यभिमुखा-

नामेवोत्कृष्टस्थितिवन्धभावेनोत्कृष्टस्थितिवन्धेन सममेव मतिज्ञानादिमार्गणानामपि विच्छेदादिति ।
 मनुष्यगत्योष-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रिया-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकार्योष-पर्याप्तत्रसकाय-काययो-
 गमामान्य-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-शुक्ललेहया-भक्ष्य-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञया-ऽऽहारिमार्गणासु तु सप्ता-
 नामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धान्तरं निरयगत्योषादिवदुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालापेक्षया, मतिज्ञाना-
 दिमार्गणावत्ममयमात्रा-ऽबन्धकालापेक्षया वा भावनीयम्, केवलं मनुष्यगत्योषादिमार्गणात्रय उत्कृष्ट-
 स्थितिवन्धजघन्यकालापेक्षयैव । एतासु मनुष्यगत्योषादिमार्गणासुत्कृष्टान्तरं त्वोषवत् स्थितेरबन्ध-
 कालमपेक्ष्यैव भाव्यम्, न पुनर्निरयगत्योषादिवदुत्कृष्टस्थितिवन्धोत्कृष्टकालापेक्षया, उत्कृष्टस्थिते-
 रुत्कृष्टबन्धकालस्यान्तमुद्दृतेत्वेऽप्युपशान्ताद्वापेक्षया लघुत्वादिति ॥२०८-२०९-२१०॥

तदेवमभिहितमादेशतोऽपि सप्तानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टयोर्द्विविधयोः स्थित्योः
 प्रत्येकं जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमपि बन्धान्तरम् । साम्प्रतमवशेषस्यायुपस्तदिदर्शयिषुत्कृष्ट-
 स्थितिष्वियत्कं दर्शयन्नाह—

सव्यणिरयदेवेसुं तिरिये तिपणिदितिरियमणुसेसुं ।
 पणमणवय-कायेसुं ओराल-विउव्वजोगेसुं ॥२११॥
 आहारदुगम्मि तहा कसायचउग-मणपज्जवेसु तहा ।
 विन्भंग-संयमेसुं समहअ-छेअ-परिहारेसुं ॥२१२॥
 देसम्मि छलेसासुं स्वहए सासायणं असण्णिम्मि ।
 आउस्स अंतरं णो गुरुअ

(श्लो०) “सव्यणिरयदेवेसुं”मित्यादि, प्राग्बत् सर्वेषु निरयगतिभेदेषु, सर्वेषु देवगति-
 भेदेषु, तिर्यगोचं, अपर्याप्तभेदवर्जेषु त्रिषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेषु त्रिषु च मनुष्यभेदेषु, पञ्चमनो-
 योगभेदेषु, पञ्चवचोयोगभेदेष्वौ-दारिक-वैक्रियकाययोगयोराहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगयोर्द्विके तथा
 क्रोधादिकपायचतुष्क-मनःपर्यवज्ञानयोः, विमङ्गज्ञान-संयमौषभेदयोः, सामायिक-छेदोपस्थापन-परि-
 हारविशुद्धिकसंयमभेदेषु, देशसंयमे, कृष्णादिषु षट्षु लेहयाभेदेषु, क्षायिकसम्यक्त्वे, सासादनेऽसंज्ञि-
 मार्गणाभेदे चेत्येतासु नार्थद्वयगाथासंगृहीतास्वशीतिमार्गणासु प्रत्येकम् “आउस्स अंतरं णो
 गुरुअ” ति मालस्यायुःकर्मणो ‘गुरोः’-उत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धान्तरं “णो” ति न भवतीत्यक्ष-
 रार्थः । भावार्थस्त्वयम्—आयुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धान्तरं सप्तकर्मणामन्तरमिवोत्कृष्टस्थितिकायु-
 र्बन्धद्वयस्यान्तरालापेक्षया प्राप्यते, उत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धद्वयं तु कस्मिंश्चिदप्येकस्मिन् भवे न प्राप्यते ।
 कुतः ? उत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धस्योत्कृष्टान्नाधाऽधीनत्वात्, उत्कृष्टान्नाधाया एकस्मिन् भवे सकृदेव
 लाभान्च । इत्थं च यां मार्गणां भवद्वयमाव्युत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धद्वयं यावत्तद्बन्धकजीवो न परि-

त्यङ्गति, तस्यां मार्गणायाश्चायुष उल्कृष्टस्थितेरेकजीवाश्रयं प्रकृतबन्धान्तरं प्राप्यते, नान्यासु । प्रकृते च निरयगतिदेवगत्यादिमार्गणाभेदेषु जीव एकभवमेव तिष्ठति, परतस्तु नियमेन तत्तन्निरयगत्यादि-मार्गणां परित्यजति, ततो भवद्वयाधीनं प्रकृतान्तरमपि तत्तन्निरयगत्योषादिमार्गणामु न लभ्यते । तिर्यग्गत्योषादिमार्गणागतजीवास्तथाऽसंज्ञिमार्गणागता जीवा यद्यपि स्वस्वमार्गणायामेव नाना-भवान् कर्तुं शक्नुवन्ति, तथापि यस्मिन् भवे एतेऽष्टमार्गणागतजीवा उल्कृष्टस्थितिक्रमायुर्वन्धं कुर्वन्ति, तद्भवादनन्तरे भव उल्कृष्टस्थितिकायुर्दयादेतेऽपि तिर्यग्गत्योषादितत्तन्मार्गणाया बहिर्भवन्ति । कुतः ? वर्तमानतिर्यगादिगतेरन्या या निरयादिगतिस्तत्सत्कोल्कृष्टायुपन्तैर्निर्वर्तितत्वात् । इदमुक्तं भवति-अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणागता जीवा उल्कृष्टस्थितिक्रमायुस्तिर्यग्गतिसत्कमपि बध्नन्ति, तिर्यग्गतिकाश्च जीवा अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणायां समाविष्टाः सन्ति, ततश्च यः कश्चिदपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणागतो जीवस्तिर्यग्गतिसत्कोल्कृष्टायुर्वद्भवा पश्चात्तत् पूर्ववद्द्वं पारभविकापुरपवर्त्य ह्रस्वमपर्याप्तजीव तायोग्यं करोति, क्रमेण कालं कृत्वा प्रकृतापर्याप्तमार्गणायामेव चोत्पद्यते । एवं च सति पारभविकायुष उल्कृष्टस्थितिवन्धे कृतेऽपि तादृशो जीवोऽनन्तरे भवे न प्रकृतमार्गणाया बहिर्भ-वत्येव, किन्तु प्रकृतमार्गणायामेवावतिष्ठते, तेन वेद्यमानतिर्यग्गतिसत्कस्यैवोल्कृष्टस्थितिकपारभविकायु-षो बन्धकरणात् । तिर्यग्गत्योषाद्यष्टमार्गणागता जीवास्तु निरयगत्यादिमत्कमवोल्कृष्टायुर्वध्नन्ति, तत-श्चाऽध्यवसायवशात् पश्चात्तमपवर्त्याऽपि तासु निरयगत्यादिष्वेवोत्पद्यन्ते, आयुषः स्थितावपवर्तिताया-मपि प्रकृतिपरावर्तेनस्याशक्यत्वात् । किमुक्तं भवति-आयुर्वन्धानन्तरं तस्यायुष उल्कृष्टादि-स्थितिः कृष्णवासुदेवद्रष्टान्तेन कैश्चित्पश्चादपवर्त्य ह्रस्वीक्रियते, प्रकृतिस्तु सा पूर्ववद्वा निरय-तिर्यग्-मनुष्य-देवायुरन्यतरूपैव तिष्ठति, मूलप्रकृतिवदायुःप्रकृतीनां परस्परसंक्रमस्यानभिमतत्वात् । इत्थं च तिर्यग्गत्योषाद्यष्टमार्गणास्वायुष उल्कृष्टस्थितिवन्धान्तरस्यासम्भव एवेति । विभङ्गज्ञान-मार्गणायां तूल्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनो मनुष्यास्तिर्यञ्चो वा, ते चोल्कृष्टस्थितिकं निरयायुर्वद्भवा नैरयिकतयोन्पद्य पुनरपि तिर्यक्तया मनुष्यतया वा यावदुत्पद्यन्ते तावद्विभङ्गज्ञानमार्गणायामेव नावतिष्ठन्ति । कुतः ? नैरयिकाणां विभङ्गज्ञानेन सहितानां गत्यन्तरेऽनुत्पत्तेः । इदमुक्तं भवति-यथाऽवधिज्ञानेन महितास्तीर्थकरादिजीवा नारकेभ्य उद्धृत्य मनुष्यतया गत्यन्तरं उत्पद्यन्ते, न तथा विभङ्गज्ञानोपेता जीवा अपि, किन्त्वेते प्रतिपत्ति एव विभङ्गे मनुष्यादितयोत्पद्यन्ते । उक्तं च नवाङ्गीटीकाकृद्भिः श्रीमदभयदेवसूरिपादैः पञ्चमाङ्गवृत्तौ-

“मनुष्यगतौ हि गच्छन्तः केचिज्ज्ञानिनोऽवधिना सहैव गच्छन्ति तीर्थङ्करयन्, केचिच्च तद्वि-मुक्त्य, तेषां त्रीणि वा द्वे वा ज्ञाने स्थातामिति, ये पुनरज्ञानिनो मनुष्यगतानुत्पत्तुकामास्तेषां प्रतिपत्तिते एव विभङ्गे तत्रोत्पत्तिः” इत्यादि ।

इत्थं च तिर्यग्गतौ मनुष्यगतौ वा सकृदुल्कृष्टस्थितिकायुर्वद्भवा पुनरपि तत्रोत्पत्तेर-वागेव तस्वामिनां विभङ्गज्ञानमार्गणातो बहिर्भावान्मार्गणाकालभाव्युल्कृष्टस्थितिवन्धद्वयाधीन-

मायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धस्याऽन्तरं विभङ्गज्ञानमार्गणायामपि न प्राप्यते । महाबन्धकारैस्तु निरयगणित आगच्छतामिव निरयगतौ गच्छतामपि विभङ्गज्ञानेन सह गमनं नाभ्युपगतम्, इत्थं तेषां मतेनाऽपि प्रस्तुतान्तरं नैव प्राप्यते, उत्कृष्टस्थितिकायुर्निर्वर्त्य तद्दये नारक्तयोत्पत्तिमात्रेणैव तत्स्वामिनां प्रस्तुतमार्गणाय बहिर्भवनादिति । योगादिमार्गणासु तूत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनः संज्ञिषञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्या अन्तर्मुहूर्तादधिकं तत्तन्मार्गणायां नावतिष्ठन्ति, तत्कृतो भवद्रयावस्थानार्थीनस्य प्रकृतान्तरस्य सम्भवः, न कृतश्चिदित्यर्थः । मनःपर्यवज्ञान-संयमौघादिमार्गणासु निरयगत्यादित्रदेव भावनीयम् । तासु प्रत्येकं वेद्यमानगतेरन्यगतिसत्कस्योत्कृष्टस्थितिकायुषो बन्धादिति ॥२११-२१२॥ अथ यासु मार्गणास्वायुष उत्कृष्टस्थितेर्जघन्यान्तरस्याऽसम्भवस्तासु तत्प्रतिषिध्य यासु तत्सम्भवति तासु जघन्यादिभेदतः प्रचिकटाधिपुरादौ तावज्जघन्यत आह—

ओघव्व होइ लहुं ॥२१३॥

दुपणिंदितसेसु तहा तिवेअ-दुअणाण-अयत-चक्खूसुं ।

अणयण-भवि-यियरेसुं मिच्छे सणिणम्मि आहारे ॥२१४॥

(प्रे०) “ओघव्व होइ लहुं”मित्यादि, आयुष उत्कृष्टस्थितेर्लघु-जघन्यं बन्धान्तरमो-धवत् समयोनदशसहस्रवर्षाभ्यधिका एका पूर्वकोटी भवतीत्यर्थः । कासु मार्गणास्वित्याह-“दु-पणिंदिये”त्यादि, प्राग्बदपर्याप्तभेदवर्जयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियजातिभेदयोः, द्वयोश्च त्रसकायभेद-योस्तथा स्वदक्षिण त्रिषु वेदभेदेषु, मत्यज्ञान-श्रुतज्ञानरूपयोर्द्वयोरज्ञानभेदयोरसंयम-धक्षुर्दर्शन-मार्गणयोः, अचक्षुर्दर्शन-भव्य-तद्वितराऽभव्यमार्गणाभेदेषु, मिध्यात्वे, संज्ञिन्या-ऽऽहारिमार्गणा-याञ्चेत्येतासु सप्तदशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । भावनाऽप्येतासु प्रत्येकमोघवदेव द्रष्टव्या, केवलं नपुंसकवेदा-ऽज्ञानद्रया-ऽसंयमा-ऽभव्य-मिध्यात्वमार्गणासुत्कृष्टस्थितिकनिरयायुषोऽपवर्तनया भाव-नीयम् । स्त्री-पुंवेदमार्गणयोस्तूत्कृष्टस्थितिकदेवायुषोऽपवर्तनया भावनीयम्, न पुनरोघवद्भयथा-ऽपीति ॥२१३-२१४॥ अथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणाः संगृह्य तत्र प्रकृतान्तरमाह—

समयूणगुरुभवठिई असमत्तपणिंदितिरिय-मणुसेसुं ।

दुपणिंदियतसवज्जिअसेसिंदियकायभेएसुं ॥२१५॥

(प्रे०) “समयूणे”त्यादि, समयोना ‘गुरु’-उत्कृष्टा ‘भवस्थितिः’ तत्तन्मार्गणागतजीवानां वेद्यमानाऽऽयुष उत्कृष्टस्थितिस्त्यर्थः । आयुष उत्कृष्टस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरमिति प्रकरणाद्भ्यते, भवतीति शेषः । कासु मार्गणासु समयोनोत्कृष्टभवस्थितिः प्रकृतं जघन्यं बन्धान्तरं भवतीत्याह— “असमत्ते”त्यादि, अपर्याप्तापरपर्यायस्यासमाप्तशब्दस्योभयत्र योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मे-दा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदयोरित्यर्थः, द्विशब्दस्य पञ्चेन्द्रियत्रसयोः प्रत्येकं योजनाद् व्याख्यानतो विशेष-

प्रतिपत्त्या वैश्वपयोनिर्गमिणीं क्रौ पञ्चेन्द्रियभेदां द्वौ च श्रमकायभेदां, एते चत्वारो भेदा 'वर्जिता'-स्त्यक्ता येभ्य एवम्भूता ये शेषा 'इन्द्रियकायभेदाः' एकेन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियान्तेन्द्रियमार्गणा-सत्काः समदशभेदाः, पृथिव्यादिवसकायान्तकायमार्गणामन्काश्चत्वारिंशद्भेदाश्च ते द्विपञ्चेन्द्रियवप-वर्जितशेषेन्द्रियकायभेदास्तेष्वेकोनषष्टिमार्गणाभेदेषु प्रत्येकमित्यर्थः । अयम्भावः--एतेषु प्रत्येकं जीवैर्वेद्यमानतिर्यगाद्यायुःसदृशं पारभविकं तिर्यगाद्यायुः प्रकृतमार्गणायां बन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिकं निर्वर्तयितुं शक्यते, ततश्च ये केचन जीवा उत्कृष्टावाधायां तद्बद्ध्या पश्चान्कालान्तरेण संक्रिष्टाध्य-वसायेन तदपवर्त्य ह्रस्वं वेद्यमानोत्कृष्टभवस्थितितुन्यस्थितिकं कुर्वन्ति, पश्चाच्च कालं कृत्वोत्कृष्ट-स्थितिकापर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियादितया प्रकृतमार्गणायामेवोत्पद्यन्ते, तत्र च वेद्यमानायुषो भागद्वये-ऽतिक्रान्ते तृतीयभागप्रारम्भे उत्कृष्टावाधायां पुनरपि प्राग्बद्धोत्कृष्टं पूर्वकोटीस्थितिकमायुर्यध्नन्ति, तदा तेषामायुष उत्कृष्टस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं प्राप्यते, तच्च यथोक्तं समयोनस्वीयगुरुभवस्थिति-प्रमाणम्, उत्कृष्टस्थितिकपूर्वभवमत्कसमयोनतृतीयभागस्य तथोत्तरभवमत्कतृतीयभागद्वयस्योत्कृष्ट-स्थितिवन्धद्वयान्तराले पतितत्वात् । प्रस्तुतमार्गणासूक्तकृष्टभवस्थितिप्रतिपादिका गाथाः पुनरिमाः-

'निरियस्स पणिदिनिरियणरत्तप्पज्जत्तजोणिणीणं च । तिण्णि पलिओवमाइ' उक्कोसा भवटिई पेया ॥
पणिदियपुह्वीणं होइ दुक्कीसा सहस्सवासाणि । एमेव होइ तेसि वायर-वायरसमत्ताणं ॥
दग्वाऊणं कमसो सहस्सशासाणि सत्त तिण्णिण भवे । तिदिणाऽग्गिस्सेवं सि वायर-वायरसमत्ताणं ॥
वेइ'दियाइगाणं कमसो वारहू समा अउणवण्णा । दिवसा तइ छम्मासा एवं तेसि समत्ताणं ॥
वासाऽत्थि सहस्सा इस वण पत्तेअवणतस्समत्ताणं । मिन्नमुहुत्तं पेया सेसाणं पंचतीसाए ॥

इति ॥ १२५ ॥

अथ शेषमार्गणास्वायुष उत्कृष्टस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरमेकयाऽऽर्ययाऽऽह-

समयूणंतमुहुत्तं उरालमीसम्मि साहियं पल्लं ।

णाणतिगे ओहम्मि य सम्मत्ते वेअगे य भवे ॥२१६॥

(प्रे०) "समयूणंतमुहुत्तं"मिन्यादि, औदारिकमिधकाययोगमार्गणायां प्रकृतं जघन्या-न्तरं समयोनान्तमुहुत्तं भवेदित्यर्थः । इदं हि लब्धपर्याप्तस्य समयोनोत्कृष्टभवस्थितिप्रमाणमव-गन्तव्यम् । एतन्मूलचनार्थमेव मूलेऽन्तमुहुत्तस्य समयोनविशेषणमुपात्तम्, अन्यथाऽन्तमुहुत्तस्य नानाविधत्वेन समयोनविशेषणं व्यर्थं म्यादिति । "साहियं पल्लं" ति प्रकृतजघन्यान्तरं माधिकं 'पल्लं'-पल्लयोपमं भवेदिति गाथाप्रान्तेऽन्वयः । कासु मार्गणास्वित्याह-"णाणतिगे" इत्यादि, मति-श्रुता-ऽऽवधिज्ञानानां त्रिकेऽवधिदर्शनमार्गणायाम्, चः पादपूर्त्यं । सम्यक्त्वांधमार्ग-णायां वेदकमम्यक्त्वमार्गणायां चेत्येतासु पणमार्गणासु प्रत्येकमित्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्-एतासु प्रत्येकं सम्यग्दृष्टय एव जीवाः सन्ति, तेभ्यो यः कश्चिज्जीवः पूर्वकोटीविभागरूपायासुत्कृष्टा-यामवाधायां प्रथमवारसुत्कृष्टस्थितिकं देवायुर्वद्ध्या पश्चात्तदपवर्त्य सम्यग्दृशां बन्धप्रायोग्यं ह्रस्वं-

साधिकपल्योपमस्थितिकं करोति, । पुनस्ततोऽपि हीनं दशवर्षमहस्रस्थितिकम्, ब्रधन्यस्थिति-
कायुपो मिथ्यादृशां बन्धप्रायोग्यत्वात् । अथ च साधिकपल्योपमस्थितिकवैमानिकदेवतयोत्पद्य क्रमेण
मृत्वा पुनरपि पूर्वकोटिवर्षायुष्कमनुष्यत्वेनेत्पद्य वेद्यमानायुपो भागद्वयेऽतिक्रान्ते तृतीयभागप्रथम-
समय उत्कृष्टाधायायामुत्कृष्टस्थितिकं देवायुर्वध्नाति, एवं तस्य समयोनपूर्वं होत्थस्यधिकं साधिक-
पल्योपममायुष उत्कृष्टायाः स्थितेर्जधन्यं बन्धान्तरं प्राप्यते, तत्र समयोनपूर्वं होट्यंशस्याधिकंशेन
गम्यत्वान्मूले समयोनपूर्वकोट्यंशं पृथगनुपादाय साधिकं पल्योपममेवोक्तं, तथाऽपि साधिकपदेन
यथोक्तमेव प्रकृतान्तरं बोद्धव्यमिति ॥२१६॥

तदेवमभिहितं निषिद्धप्रकृतान्तरा निरयगत्यादिमार्गणाः संत्यज्य शेषपञ्चेन्द्रियौघादि-
मार्गणासु जधन्यत आयुष उत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धान्तरम् । अथ तास्वेव शेषासु पञ्चेन्द्रियोघादिमार्गणा-
सुत्कृष्टतस्तं दर्शयन्नाह—

हीणमगुरुकायटिर्ह परमं सव्वत्थ णवरि ओघव्व ।

अण्णाणदुगे अयते अचक्खु-भवि-अभवि-मिच्छेपुं ॥२१७॥

(श्रे०) “हीणमगुरुकायटिर्ह परम”मित्यादि, अन्तर्मुहूर्तादिलक्षणेनेकदेशेन हीना
पञ्चेन्द्रियौघादितत्तन्मार्गणाया ताऽन्तर्मुहूर्तादिलक्षणेनेकदेशेन हीना पञ्चेन्द्रियौघादि-
स्थितिः सा हीनस्वगुरुकायस्थितिः “परमं” ति आयुष उत्कृष्टस्थितेः “परमम्”-उत्कृष्टं बन्धान्तरं
भवतीत्यर्थः । कासु मार्गणास्त्वित्याह—“सव्वत्थ” ति सामान्यतः सर्वत्र, पञ्चेन्द्रियौघादिशेषसर्वमा-
र्गणास्त्वित्यर्थः । बध्ममाणापवादं विहाय बहुषु मार्गणासु हीनस्वगुरुकायस्थितिप्रमाणस्य प्रस्तुता-
न्तरस्य लाभालाघवकृत आत्मर्गिकोऽयं निर्देशः, अतस्तत्रापवादमाह—“णवरि” इत्यादिना,
‘नवरम्’-परम् “ओघव्व” ति आयुष उत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरमोघवदसंख्यपुद्गलपरावर्त-
प्रमाणम्, भवतीति शेषः । कासु मार्गणास्वोघवदसंख्यपुद्गलपरावर्ता भवतीत्याह—“अण्णाणदुगे”
इत्यादि, मत्स्यज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽमयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वरूपासु सप्तमार्गणासु प्रत्ये-
कमित्यर्थः । एतासु सप्तमार्गणामु प्रकृतान्तरभावनाप्योघवदेव द्रष्टव्या । शेषाऽप्यर्थात्तन्मुष्पादिवट-
सप्तमार्गणामु तु मार्गणाप्रारम्भस्थामत्केऽन्तर्मुहूर्तादिप्रमाणे वेद्यमानोत्कृष्टस्थितिकायुपो भाग-
द्वयेऽनतिक्रान्ते तृतीयभागे चानारब्धे पारमत्रिकायुर्वन्धस्य प्रथमाऽऽर्कस्याप्यसम्भवात् तन्तन्तर्मुहूर्ता-
दिकालं विहाय ये जीवा उत्कृष्टस्थितिकायुर्वन्धं कुर्वन्ति, तदनन्तरं चानुत्कृष्टस्थितिकायुर्वन्धद्वारे-
णैव नानाभवैरुत्कृष्टां कायस्थितिं निर्गमयन्ती यदा मार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिसमाप्तेरर्वागन्त-
र्मुहूर्ताद्यवशेषायामुत्कृष्टकायस्थितौ पुनरप्युत्कृष्टस्थितिकमायुर्वन्धं कुर्वन्ति, तदा तेषामायुष उत्कृ-
ष्टस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरं प्राप्यते । इत्थं हि मार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिसत्कस्य प्रारम्भप्रान्तयोः
कतिपयकालस्य वर्जनीयतया देशेना स्वीयस्वीयकायस्थितिरेवाऽऽयुष उत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धान्तर-
मभिहितम् । तत्र देशेनता तु तत्तन्मार्गणायां यथासम्भवं द्रष्टव्या ।

तथाहि—अपर्याप्ततिर्यकपञ्चेन्द्रियमार्गणायां कश्चिद् मार्गणान्तरादागत उत्कृष्टस्थितिको लब्धपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्जीवो घेद्यमानायुषो भागद्वयेऽतिक्रान्ते तृतीयभागप्रथमसमय उत्कृष्टा-
बाधायां वर्तमानः सन् पूर्वकोटीस्थितिकं तिर्यगायुर्वध्नाति, पश्चाच्च तत् प्रागुक्तनीत्याऽपवर्त्य
ह्रस्वमपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं करोति, मृत्वा चापर्याप्ततिर्यकपञ्चेन्द्रिय एव भवति,
ततश्चाऽनुत्कृष्टस्थितिकतिर्यगायुर्वन्धद्वारेण संख्येयवाराणपर्याप्ततिर्यकपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्योत्पद्य विपद्य
विपद्य च तत्रैवापर्याप्ततिर्यकपञ्चेन्द्रियसन्कामुत्कृष्टां कायस्थितिं गमयति, तत्र चोत्कृष्टकायस्थितिं
गमयन्नपर्याप्ततिर्यकपञ्चेन्द्रियसत्के चरमे भव उत्कृष्टस्थितिकाऽपर्याप्ततिर्यकपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्य
प्राग्बहुत्कृष्टाबाधायां वर्तमानः सन् पूर्वकोटीस्थितिकमुत्कृष्टमायुर्वध्नाति, पश्चाच्च वर्तमानभवोत्कृष्ट-
कायस्थितयोः सममेव ममाप्यन्तर् पूर्वकोटीस्थितिकतिर्यगादिनयोत्पद्यते, इत्येवं प्रकृतमार्गणातो
बहिर्भाविस्तस्य जायते; एतादृशजीवेन कृतयोर्यथोक्तोत्कृष्टस्थितिकायुर्वन्धयोरन्तरालमपेक्षयाऽपर्याप्त-
तिर्यकपञ्चेन्द्रियमार्गणायामायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धस्योत्कृष्टान्तरं समयाधिकाऽपर्याप्तोत्कृष्टभवस्थित्या
न्यूनाऽपर्याप्ततिर्यकपञ्चेन्द्रियमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिः प्राप्यते । इत्येवमपर्याप्ततिर्यकपञ्चेन्द्रिय
मार्गणायां हीनपदेन समयोनापर्याप्तोत्कृष्टभवस्थित्या हीना स्वोत्कृष्टकायस्थितिर्बोद्धव्येति दिग् ।
अनया दीशा शेषगतिजान्यादिमार्गणाभेदेऽपि देशानकायस्थितिर्भाविनीयेति ॥२१७॥

तदेवं दर्शितमायुष उत्कृष्टस्थितेरेकजीवाश्रयं द्विविधं बन्धान्तरमादेशतः । साम्प्रतं तस्यैवा-
ऽऽयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेस्तद्विदशपिपुराह—

पणमणवयेसु विउवे आहारदुगे कसायचउगे य ।

मासाणे आउस्म उ अगुरुठिईएँ ऽतरं णत्थि ॥२१८॥

(प्र०) “पणमणे” त्यादि, प्राग्बहुत्कृष्टशब्दस्योभयत्र योजनात् पञ्चमनोयोगभेदेषु, पञ्चव-
चोयोगभेदेषु, वैक्रियकाययोगे, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोर्विके, क्रोधादिकषाय-
षतुष्के, चः समुच्चयार्थं उच्यते योज्यस्ततः साभादने चेत्येतास्वष्टादशमार्गणानु प्रत्येकमायुषोऽगुरु-
स्थितेः-अनुत्कृष्टायाः स्थितेः प्रकृतमेकजीवाश्रयं बन्धान्तरं 'नास्ति' न विद्यते इत्यर्थः । सुग-
मम् , उत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तावस्थायिनीषु प्रकृतमार्गणानु प्रत्येकं कस्यापि जीवस्यायुर्वन्धद्वयं याव-
दनवस्थानात् , आयुर्वन्धद्वयाभावेऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धान्तरस्याप्यसम्भवाच्चेति ॥२१८॥

तदेवं कतिपयमार्गणास्वसम्भवात् निषिद्धमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धान्तरम् । साम्प्रतं यासु
वत्सम्भवति तासु अधन्योत्कृष्टमेदभिन्नं तत्कमशो दर्शयन्नाह—

सेसासु मुहुत्तंतो लहुं गुरुं होइ ऊणळम्मासा ।

सव्वणिरयदेवेसुं पसत्थअपसत्थलेसासुं ॥२१९॥

(प्रे०) “सेसासु” इत्यादि, अनन्तरोक्तमनोयोगाद्यष्टादशमार्गेणा विवर्ज्य शेषासु निरय-
गन्योधादिष्वचत्वारिंशदभ्यधिकप्रतमार्गेणासु प्रत्येकम् “मुहुर्त्ततो लङ्” ति आयुषोऽनुकूल-
स्थिते ‘लघु-’ जघन्यं बन्धान्तरं ‘मुहुर्त्तान्तः’-अन्तमुर्हते भवतीत्यर्थः । कुतः ? वेद्यमानायुषस्तृतीय-
नवम-सप्तविंशतितमादिभागविशेषप्रकारेणाऽऽयुर्वन्धप्रायोग्यां द्विचरमाद्धायां चरमाद्धायां चायुर्वन्धा-
कर्षयोः प्रकृतमर्षमार्गगागतजन्तूनां सम्भवात्, तयोरेवाम्बान्तमुर्हतेन्वाच्चेति । इदमुक्तं भवति-
निरयगतयोधाद्यन्वतममार्गेणागतो यः कश्चिजन्तुरन्तमुर्हतेति शेषे स्ववेद्यमानायुषि पारभविकायु-
र्वन्धप्रायोग्यां द्विचरमाद्धायां वर्तमानः मन्त्रायुर्वन्धप्रायोग्याथ्यवसायानवाप्य तत्कालव्ययमान-
कर्मदलेषु स्वभागावाप्तकर्मदलान्यायुष्कृतया परिणमयति, परतस्तु व्युपरमते,
यावदायुर्वन्धप्रायोग्या चरमाद्धा, ततश्चाऽऽयुर्वन्धप्रायोग्यां चरमाद्धां प्रविशन् पुनरप्यायुर्वन्धाव्य-
वर्षायेऽन्तकालव्ययमानकर्मदलेषु स्वभागावाप्तकर्मदलान्यायुष्कृतया परिणमयितुं प्रारभते, ततश्च
तन्तमुर्हते यावद् बद्ध्या विरम्य वेद्यमानायुर्वन्धप्रायोग्यामन्तमुर्हतेप्रमाणवाधाकालं च तस्मिन् भव
एव निर्गमय कालं करोति; एवं तेन द्विचरम-वामशोरायुर्वन्धप्रायोग्याद्धायाः कृतस्यायुर्वन्ध-
व्यस्य यदन्तरालं तन्प्रकृतजघन्यान्तरतया बोद्धव्यमिति ।

“गुरुं होइ ऊणल्लम्मास” ति आयुषः प्रकृतानुकूलप्रायाः स्थिते ‘गुरु’-उत्कृष्टं बन्धान्तरं
भवत्युपपन्नायाः । कासु मार्गेणास्त्वित्याह-“सच्चणिरये”त्यादि, सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योज-
नान्तर्गेषु निरयगतिमार्गेणाभेदेषु सर्वेषु च देवगतिमार्गेणाभेदेषु तथा “पसत्थअपसत्थ-
लेसासु” ति कृष्णादित्र्यशुभलेश्या-तैजम्यादित्रिशुभलेश्यामार्गेणास्त्वित्येतासु चतुश्चत्वारिंशन्मार्ग-
णाम् प्रत्येकमित्यर्थः । इयमत्र भावना-तद्विन्नाकजीवो वेद्यमानायुषः षण्मासावशेषायां स्थितौ
उत्कृष्टावाधायां वर्तमानः सन् प्रथमवारं प्रथमेनाकर्षेण पारभविकायुर्वन्धं करोति, ततश्च स एवान्त-
मुर्हते शेषे म्वायुषि चरमायामायुर्वन्धप्रायोग्यायामद्धायां प्रविशन् द्वितीयवारं द्वितीयेनाकर्षेण
पुनरपि तत्कालव्ययमानकर्मदलेभ्यः स्वभागावाप्तकर्मदलान्यायुष्कृतया परिणमयन्नायुर्वन्धं करोति,
एवं तेन प्रथमद्वितीयवारकृतयोर्दशोक्ताऽऽयुर्वन्धयोर्दन्तरं तदन्तमुर्हतेनोपपन्नासप्रमाणं भवति,
षण्मासेभ्य आयुर्वन्धव्ययकालस्य लघन्यावाधाकालस्य च वर्जनीयत्वात् । एतदेव प्रस्तुत उत्कृ-
ष्टान्तरतया ज्ञेयम्, केवलं देवगतिमार्गेणाभेदेषु शुभलेश्यात्रयं च देवजीवापेक्षया यथा-
सम्भवं भावनीयमिति ॥२१९॥ उक्तं निरय-देवगतिमार्गेणाभेदेषु तत्साम्याल्लेश्यामार्गेणापट्के
च प्रकृतबन्धान्तरम् । इदानीं निर्योग्यादिमार्गेणाभेदेषु तदर्थयच्चाह—

मञ्चेसुं तिरिय-मणुस-एगिंदिय-विगल-पंचकायेसुं ।

असमत्तपणिंदि-तसेसु साहिया भवंठिई जेट्टा ॥२२०॥

(प्रे०) “सञ्चेसु” इत्यादि, सर्वेषु तिर्यग्गति-मनुष्यगत्येकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-पृथिव्यादि-

वनस्पतिकायान्तपञ्चकायेषु, एतेषां तिर्यग्गत्यादिमार्गणानां सर्वभेदेष्विन्यर्थः । ते च समस्ता-
 शतुःषष्टिमार्गणाभेदाः प्राग्बदौघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-योनिमत्-सूक्ष्म-वाद्दर-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदाद्यथापथ-
 मत्र ग्रन्थेऽधिकृता बोद्धव्याः; अन्यभेदसंग्रहायाह—“असमत्तो”त्यादि, तत्रापर्याप्तापरपर्यावस्थासमा-
 प्तशब्दस्य प्रत्येकं योजनात्समाप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽसमाप्तत्रयकायभेदयोरित्येतासु षट्षष्टिमार्गणामु प्रत्येकं
 “साह्रिया भवतिर्ई जेट्टा” ति साधिका स्वीया भवस्थितिर्ज्येष्ठा-उत्कृष्टा, साधिकस्वीयभवस्थिति-
 प्रमाणमित्यर्थः । आयुषोऽनुत्कृष्टायाः स्थितौत्कृष्टं पञ्चान्तरमिति प्रकृतान्तरम् । अत्राभावः-
 चरमभवं विहाय शेषभवेषु प्रतिभवं सर्वैर्जीवैः सकृत् नियमेनायुर्वन्धः क्रियत एवेति सुप्रतीतम् ।
 तत्रापि स बन्धो यद्यन्तुत्कृष्टावाधायामुत्कृष्टस्थितिकायुषः प्रारभ्यते, तदाऽपि प्रारम्भद्वितीयादिसम-
 येष्वसावनुत्कृष्टस्थितिकायुर्वन्ध एव भवति, प्रतिसमयमवाधायः परिगलनात् । इत्थं हि प्रति-
 भवमनुत्कृष्टस्थितियन्धो नियमेन प्राप्यते । ततः किम् ? ततो प्रकृततत्तन्मार्गणागतो यः कश्चि-
 जीवो मार्गणाप्रायोग्यवेद्यमानोत्कृष्टायुषस्त्रिभागोऽत्रशेषरूपायामुत्कृष्टागामवाधायं वेद्यमानायुःसदृशं
 तिर्यग्गत्यादेरुत्कृष्टस्थितिकमायुर्वन्ध्वा क्रमेण च तत्रोत्पद्य वेद्यमानायुःशान्ते यथाकालमायुर्वन्धं
 करोति, तदा तेन तादृशजीवेन निरन्तरभवद्वयकृतायुर्वन्धद्वयस्यान्तरालं प्रकृतान्तरतया लभ्यते ।
 तथाहि—तिर्यग्गन्धोद्यमार्गणायां कश्चित्पूर्वकोटीवर्षायुस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियजीवो वेद्यमानायुषश्चामे तृतीये
 भागे वेदयितुमारब्धे प्रकृतमार्गणाप्रायोग्यायां पूर्वकोटीत्रिभागरूपायामुत्कृष्टावाधायं वेद्यमानायुःसदृशं
 त्रिपल्योपमोत्कृष्टस्थितिकं तिर्यगायुर्वन्धनाति, ततश्च क्रमेण कालं कृत्वा पूर्ववद्वायुर्द्वये त्रिपल्यो-
 पमस्थितिकस्तिर्यग्भवति, तस्मिन् भवे त्वसौ शान्ते आयुर्वन्धप्रायोग्यायां चरमाद्धायां सकृदे-
 वायुर्वन्धं करोति; इत्थेवं तेन निरन्तरभवद्वयकृतस्याऽऽयुर्वन्धद्वयस्यान्तरं देशेनपूर्वकोटीतृतीय-
 भागेनाभ्यधिकत्रिपल्योपमप्रमाणं भवति, तदेव तिर्यग्गन्धोद्यमार्गणायामायुषोऽनुत्कृष्टस्थिति-
 बन्धस्योत्कृष्टान्तरतया बोद्धव्यम् । अनया गीत्या शेषमार्गणामु भावना स्वयमेव कार्येति ॥२२०॥

दर्शितं गत्यादिभेदेऽपि प्रकृतान्तरम् । साम्प्रतं क्रमप्राप्तयोगमार्गणाशेषभेदेषु दर्शयन्नाह—

कायम्भि भूभवतिर्ई देसूणतिभागसंजुया जेट्टा ।

उरलेऽब्भहियाणि भवे सत्त सहस्पाणि वामाणि ॥२२१॥

(प्र०) “कायम्भि” इत्यादि, काययोगमार्गणायां “भूभवतिर्ई” ति भुवः-पृथिवीकायि-
 कस्य भवस्थितिर्ज्येष्ठा-द्वाविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणोत्कृष्टेति परेणान्वयः । किं तत्तन्मात्रोतोनाऽधिका
 वेत्याह—“देसूणतिभागसंजुया” ति अन्तर्मुहूर्तलक्षणेनैकदेशेनोनो यः ‘त्रिभागः’ तस्या एव
 पृथिवीकायोत्कृष्टभवस्थितेस्तृतीयभागस्तेन ‘संयुता’ समेता, देशेनत्रिभागसंयुता, आयुषोऽनुत्कृष्टस्थिते-
 रुत्कृष्टबन्धान्तरमिति गम्यते । इदं हि स्वरवाद्दरपर्याप्तपृथिवीकायस्योत्कृष्टस्थितिकयोर्निरन्तरभवयोः
 क्रमेणोत्कृष्टायामवाधायामसंक्षेप्याद्धायां च केनचिज्जीवेन प्रारब्धस्यानुभवयोग्यतालक्षणद्वि-

शतिवर्षसहस्रस्थितिकाऽऽयुर्वन्धद्वयस्यान्तरालापेक्षया बोद्धव्यम् । कुतः ? मनोवाग्भोगरहितेषु केवल-
काययोगोपेतजीवेषु पर्याप्तखरवाद्रपृथिवीकायिकानामेवोत्कृष्टस्थितिकत्वात् । इदमुक्तं भवति—
येषां हीन्द्रियादिजीवानां काययोगादन्ययोगस्याऽपि सम्भवोऽस्ति, तेषां काययोगस्याऽन्ययोगेन
सह परावृत्त्य परावृत्त्य प्रवर्तनात्काययोगोऽन्तर्मुहूर्तादधिकं नावतिष्ठते, तदभावे कुतः प्रकृतोत्कृ-
ष्टान्तरस्य सम्भवः, न कुतश्चिदपीत्यर्थः । अतो यः कश्चिद् द्वाविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणोत्कृष्टस्थि-
तिको निरन्तरकाययोगी खरवाद्रपृथिवीकायिको जीवः स वेद्यमानायुषो भागद्वयेऽतिक्रान्ते तृतीय-
भागप्रारम्भे वेद्यमानायुःमदृशं पारभविकमायुर्वध्नाति, तच्चान्तर्मुहूर्तं ब्रह्म्या विरमति, इत प्रकृ-
तान्तरस्य प्रारम्भः, एवाव्ययान्तरागमने पूर्ववदायुर्द्वयेन द्वाविंशतिवर्षसहस्रस्थितिको खरवाद्र-
पृथिवीकायिको भवति, तस्मिन् भवे तु जघन्यस्यामन्तर्मुहूर्तात्मिकायामवाधायां सत्यामे-
वायुर्वन्धं करोति, नत्वर्वाक्, इत्येवं तेन निरन्तरयोरुत्कृष्टस्थितिकपूर्वोत्तरभवयोः कृतस्यायुर्वन्ध-
द्वयस्यान्तरालमायुर्वन्धाद्वाद्येन जघन्यावाधालक्षणेन चान्तर्मुहूर्तकालेनोनतृतीयभागेपेतपृथिवी-
कायोत्कृष्टभवस्थितिप्रमाणं काययोगमार्गणायामुत्कृष्टतो लभ्यते, न पुनस्तदधिकमिति तथैव
दर्शितमिति ।

“उरले” ति औदारिककाययोगमार्गणायां प्रकृतान्तरं “बभ्रहियाणि भवे सप्तसहस्र-
वासाणि” ति लुप्ताकारस्य दर्शनादभ्यधिकानि सप्तसहस्रवर्षाणि भवेदित्यर्थः । इदमप्यनन्तरो-
त्तोत्कृष्टकायस्थितिकपर्याप्तखरवाद्रपृथिवीकायभवापेक्षयैव भावनीयम् ; केवलमुत्कृष्टावाधायां प्रथ-
माकर्षणायुर्वन्धादनन्तरं द्वितीय आयुर्वन्धोऽनन्तरभवेऽसंक्षेप्याद्धायां न द्रष्टव्यः, किन्तु तस्मिन्नेव
भवेऽसंक्षेप्याद्धायां द्वितीयाकर्षणायुर्वन्धापेक्षया द्रष्टव्यः । कुतोऽनन्तरोत्तरभवे न द्रष्टव्यः ? उच्यते,
भवान्तरगमनेऽपर्याप्तवस्थायामौदारिकमिश्रकाययोगस्य नियमतः प्रवर्तनेन प्रकृतमार्गणाया विच्छे-
दभयात् । इत्येवं तेन द्वाविंशतिवर्षसहस्रस्थितिकेन खरवाद्रपर्याप्तपृथिवीकायजीवेन प्रथमचरमा-
युर्वन्धाद्वाद्येन आकर्षणद्वयेन द्विर्वद्धस्य पारभविकायुषो बन्धद्वयस्याऽन्तरं साधिकानि सप्तसहस्रवर्षाण्ये-
वाप्यते; आयुर्वन्धाद्वात्मकेनाऽसंक्षेप्याद्वासत्केन चान्तर्मुहूर्तद्वयेनोनस्य द्वाविंशतिवर्षसहस्राणां तृती-
यभागस्यान्तर्मुहूर्तानमासचतुष्केनाधिकत्रयस्त्रिंशद्वर्षोत्तरत्रिसप्तविंशतवर्षप्रमाणत्वादिति ॥२२१॥

अथान्यत्र प्रकृतमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धान्तरमाह—

ओरालियमीसम्मि उ भिन्नमुहुत्तं हवेज्ज इत्थीए ।

जाण्यब्बं पंचावण्णा पलिओवमाऽबभ्रहिया ॥२२२॥

(प्रे०) “ओरालियमीसम्मि उ” इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां तु-पुनर्भिन्न-
मुहूर्तमन्तर्मुहूर्तं भवेत्, प्रकृतान्तरमिति गम्यते । सुगमं चैतत् । भावनात्वपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-
मार्गणावद् द्रष्टव्येति । “इत्थीए” ति स्त्रीवेदमार्गणायां ज्ञातव्यमित्युत्तरार्धेऽन्वयः, प्रकृतान्तर-

मिति प्राग्ब्रूम्यते । कियज्ज्ञातव्यं स्त्रीवेदमार्गणायां प्रकृतान्तरमित्याह—“पञ्चावण्णे”त्यादि, अभ्यधिकानि पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानीत्यर्थः । इदं हि पूर्वकोटीस्थितिकमानुष्या वेद्यमानायुषस्तृतीयभागावशेष उत्कृष्टावाधायां पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमस्थितिकं देवायुर्वेद्येष्वेशानकल्पे उत्कृष्टस्थितिकाऽपरिशुद्धीतदेवीतयोत्यद्य तत्र जघन्यावाधायां पुनरप्यायुर्वन्धे कृते मति प्राप्यते, अतः पूर्ववदन्तमुहूर्तद्वयेन हीनपूर्वकोटीत्रिभागाभ्यधिकानि पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानीति बोद्धव्यमिति ॥२२२॥

मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-देसेसुं ।

देसूणो पुव्वाणं कोडितिभागो मुणेयव्वं ॥२२३॥

(प्रे०) “मणणाणे” न्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोः, सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयममार्गणास्वित्थेतापु षण्मार्गसु प्रत्येकं ज्ञातव्यमिति गाथाप्रान्तेऽन्वयः । आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरमिति प्रक्रमाद्ब्रूम्यते । कियज्ज्ञातव्यमित्याह—“देसूणो पुव्वाण”मित्यादि, मुगमम् । भावना त्वादारिककापयोगमार्गणावत् पूर्वकोटीभवस्थितिकमनः-पर्यवज्ञान्यादिजीवापेक्षया द्रष्टव्येति ॥२२३॥

विबभंगे देसूणा जेट्ठा कायट्ठिई मुणेयव्वं ।

देसूणा छम्मामा हवइ ति भणन्ति अण्णे उ ॥२२४॥

(प्रे०) “विबभंगे” इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायाम् “देसूणा जेट्ठा कायट्ठिई” ति “कायट्ठिई उक्कोसा णिरयसुराणं विभङ्गणाणस्म” इत्यादिना पूर्वं कालद्वारेऽभिहितमाना देशोनपूर्व-कोट्यभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि ‘ज्येष्ठा’-उत्कृष्टा “कायट्ठिई” ति विभङ्गज्ञानस्य काय-स्थितिः “देसूणा” ति किञ्चिद्दूनपूर्वकोटीतृतीयभागद्वयलक्षणेनैकदेशेनोना मती, आयुषोऽनुत्कृष्ट-स्थितेरुत्कृष्टबन्धान्तरं भवतीति गम्यते । कथम् ? इति चेत्, पूर्वकोटीस्थितिकमनुष्यभवे वेद्य-मानायुषश्चरमतृतीयभागादारब्धे उत्कृष्टस्थितिकनिरयायुषो बन्धेऽन्तमुहूर्तेन समाप्तेऽनुपदं प्रवृत्तान्तर-स्योत्कर्षत उत्कृष्टस्थितिकनिरयभवेऽसंश्लेष्याद्वायामायुर्वन्धं यावत्प्रवर्तनात्, तावत्कालस्य किञ्चिद्दून-पूर्वकोटीतृतीयभागेनाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वादिति । अत्रैव महाबन्धकारमतमाह— “देसूणा” इत्यादि, प्रस्तुतान्तरं देशोनाः षण्मामा भवतीति “भणन्ति अण्णे उ” ति अन्ये-महाबन्धकारास्तु-पुनर्भणन्ति, तैर्नरिकाणामपर्याप्तिवस्थायां विभङ्गज्ञानस्याऽनभ्युपगमात्, तिर्यग्-नरेषुत्कर्षतोऽन्तमुहूर्तमेव निरन्तरविभङ्गज्ञानस्याभ्युपगमाच्च यथा निरयगन्तोधादिमार्गणायां प्रस्तु-तान्तरं देशोनषण्मामाः प्राप्यते, तथा प्रस्तुतमार्गणायामपि, उभयत्राविशेषादिति ॥२२४॥

पुव्वाणेगाकोडी अब्भहिया होअए असण्णिम्मि ।

सेसासुं णायव्वं तेत्तीसा सागराऽब्भहिया ॥२२५॥

(प्रे०) “पुञ्जाणोऽगा कोटी” त्यादि, आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेः कृष्टं बन्धान्तरं पूर्वाणामेका कोटिः “अब्रह्मिआ” ति प्राग्वदन्तर्मुहूर्तद्वयोनपूर्वकोटितृतीयभागेनाभ्यधिका “होअए अस-
पिणम्मि” ति असंज्ञिमार्गणायां भवति । सुगमम् , असंज्ञिनामुत्कृष्टाया भवस्थितेः पूर्वकोटिवर्ष-
प्रमाणत्वात् । भावना तु काययोगमार्गणावद् द्रष्टव्या, नवरं निरन्तरे पूर्वकोटीस्थितिकामंज्ञिभवद्वये
क्रमेणोत्कृष्टावाधा-ऽसंक्षेप्याद्द्वयोजिताऽऽयुर्वन्धद्वयापेक्षयेति । “सेसासु” ति मनोयोगादिनिपिद्ध-
प्रकृतान्तरा अष्टादशमार्गणास्तथा निरयगत्योघादिदर्शितप्रकृतान्तरा द्वाविंशत्यभ्यधिकशतमार्गणाश्च
संत्यज्य शेषासु पञ्चेन्द्रियांघादित्रयोविंशतिमार्गणासु प्रत्येकं “णायच्च” ति आयुषोऽनुत्कृष्टस्थिते-
रुत्कृष्टं बन्धान्तरं ज्ञातव्यम् । कियदित्याह-“तेत्तीसा सागराऽब्रह्मिया” ति ओघवत् त्रयस्त्रि-
शत्मागरोपमाभ्यधिकानीत्यर्थः । पुंस्त्वं तु प्राकृतवशात्प्राग्वदत्रापि बोद्धव्यम् । शेषमार्गणा-
नामतस्त्वम्—पञ्चेन्द्रियांघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदां, तर्थांघ-पर्याप्तभेदभिर्ना द्वौ त्रसकायभेदौ,
पुंघेद-नपुंसकभेदौ, मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽधिज्ञानानि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाने, असंयममार्गणा, चक्षु-
रादित्रिदर्शनभेदाः, भव्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वांघ-क्षायिक-वेदकसम्यक्त्वानि, मिथ्यात्वं, संज्ञया-ऽऽहारि-
मार्गणाभेदां चेति । एतासु प्रत्येकं प्रकृतान्तरमौघिकभावनानुसारेण भावनीयम्, केवलं गत्यन्त-
रोत्पादेऽपि प्रकृतमार्गणाविच्छेदो न स्यादिति निरयत्वेन देवत्वेन वा यथासम्भवमुत्पादो
द्रष्टव्य इति ॥२२५॥

तदेवं प्ररूपितमादंशतोऽप्यायुःकर्मण उत्कृष्टा-नुत्कृष्टस्थिन्योर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविध-
मप्येकजीवाश्रयमन्तरम् । साम्प्रतं जघन्याजघन्यस्थितयोस्तदिदृशियिपुरादां तावदोघत आयुर्वर्जसप्त-
मूलप्रकृतीनां प्राह—

सत्तण्ह जहण्णाए ठिईअ णत्थि अजहण्णगाए उ ।

हस्सं समयो दीहं भिन्नमुहुत्तं मुणेयच्चं ॥२२६॥

(प्रे०) “सत्तण्ह जहण्णाए” इत्यादि, सामान्यतो मार्गणामनधिकृत्य सप्तानामायुर्वर्ज-
मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यायाः स्थितेः “णत्थि” ति प्रकृतमेकजीवाश्रयं बन्धान्तरं ‘नास्ति’-न
विद्यते । कुतः ? सप्तानां जघन्यस्थितिवन्धस्य क्षपकश्रेणो भावादिति । इदमुक्तं भवति—ओघत
मार्गणास्थानेषु वा सप्तानां जघन्यस्थितिवन्धस्यान्तरं न लभ्यते, क्षपकश्रेणिमात्रिनस्तस्य सकृदेव
भावाद्, अन्तरस्य तु तद्द्वयसापेक्षत्वादिति । “अजहण्णगाए उ” ति “सत्तण्ह” इत्यनुवर्तते,
ततः सप्तानामजघन्यायाः स्थितेस्तु-पुनर्वन्धान्तरं प्राप्यते, तच्च “हस्सं समयो” ति ‘हस्वं’-लघु
‘समयः’-समयप्रमाणं, ज्ञातव्यमिति प्रान्तेऽन्वयः । “दीहं” ति सप्तानामजघन्यस्थितेरेकजीवाश्रयं
‘दीर्घं’ गुरु बन्धान्तरं पुनः “भिन्नमुहुत्तं मुणेयच्चं” ति भिन्नमुहूर्तं ज्ञातव्यमिति । इदं हि द्विविध-
मप्यजघन्यस्थितेर्वन्धान्तरं क्रमश उपशमश्रेणिसत्कजघन्योत्कृष्टाऽवन्धाद्वाऽपेक्षयैव बोद्धव्यम्, न

पुनरनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धान्तरवत्प्रतिपक्षभृताया जघन्यस्थितेर्वन्धकालमपेक्ष्य । कुतः ? औधिकजघन्य-
स्थितिवन्धस्याऽज्जान्द्विधिवन्धद्वयमध्येऽजायमानत्वादिति ॥२२६॥

अथायुषो जघन्यस्थितिवन्धस्य प्रस्तुतद्विविधमन्तरमोघतः ग्राह—

आउस्स जहण्णाए हस्सं खुड्डगभवो समयहीणो ।

परमं जेट्ठाऽब्भहिया पज्जत्तसस्स कायठिई ॥२२७॥

(प्रे०) “आउस्स जहण्णाए” इत्यादि, आयुषो जघन्यायाः स्थितेः ‘ह्रस्व’-जघन्य-
वन्धान्तरं “खुड्डगभवो समयहीणो” ति ‘शुन्दाहः’-पर्वलुपुर्भवः समयहीनो ज्ञेयम्, समयोन-
पट्पञ्चाशदभ्यधिकद्विशतावन्धो चोद्भव्यमित्यर्थः । कुतः ? उच्यते, आयुष उत्कृष्टस्थितिवन्ध-
वदायुषो जघन्यस्थितिवन्धस्याऽपि जघन्यावाधासंगतत्वात्, तस्या एकस्मिन् भवे सकृदेव लाभा-
चोत्कृष्टस्थितिवन्धान्तरवज्जघन्यस्थितिवन्धान्तरमपि भवद्वये जघन्यावाधायां कृतस्य जघन्य-
स्थितिकायुर्वन्धद्वयस्यान्तरालापेक्षया प्राप्यते, तथा च मति यः कश्चित्संख्येयवर्षायुष्कस्तिर्यग्-
मनुष्यो वा जघन्यावाधायां प्रथमं जघन्यं पट्पञ्चाशदभ्यधिकद्विशतावन्धिकाप्रमाणमायुर्वन्धनाति, ततश्च
क्रमेण तत्रोत्पद्य तत्रापि जघन्यावाधायां पुनरपि प्राग्वज्जघन्यस्थितिकमायुर्वन्धनाति, तेन पूर्वोत्तर-
भवयोर्जघन्यावाधायां कृतस्याऽऽयुर्वन्धद्वयस्यान्तरालं समयोनपट्पञ्चाशदभ्यधिकद्विशतावन्धिका-
प्रमाणं भवति, तदेव मूले “खुड्डगभवो समयहीणो” इत्यनेनाभिहितमिति । “परमं” ति
आयुषो जघन्याः स्थितेः ‘परमम्’-उत्कृष्टं वन्धान्तरं ‘ज्येष्ठा’-उत्कृष्टा कायस्थितिरिति ग्रान्तेऽन्वयः ।
कस्येत्याह—“पज्जत्तसस्स” ति अधिकृतद्वितीयाधिकारे एकजीवाश्रयकालद्वारे उक्ता पर्याप्तव्रम-
कायसार्गणायाः कायस्थितिरित्यर्थः । किं तावन्मात्रोतोनाऽधिका वेत्याह—“ब्भहिया” ति अकार-
स्य दर्शनादभ्यधिका-पन्थोपमामंख्येयभागेनाधिका, न पुनस्तावन्मात्रा । कुतः ? पर्याप्तव्रमकाय-
स्योत्कृष्टकायस्थितिं निर्वाहिकेन्द्रियादितया कालं गमयतो जीवस्योत्कृष्टतः पन्थोपमामंख्येयभागे-
ऽतिक्रान्ते जघन्यावाधायां जघन्यस्थितिवन्धस्य नियमेन भावादिति ॥२२७॥

आयुषोऽजघन्यायाः स्थितेः प्रस्तुतान्तरमोघत आह—

भिन्नमुहुत्तं हस्सं अजहण्णाए टिईअ णायब्बं ।

अब्भहिया तेत्तीसा जलही विण्णयमुक्कोसं ॥२२८॥

(प्रे०) “भिन्नमुहुत्तं” मिन्यादि, प्रकृतत्वादायुषोऽजघन्यायाः स्थितेः ‘ह्रस्व’ जघन्यवन्धान्तरं
“भिन्नमुहुत्तं” ति अन्तर्मुहुत्तं ज्ञातव्यम् । “अब्भहिया” ति अन्तर्मुहुत्तानपूर्वकोटीत्रिभागेना-
ऽभ्यधिकाश्रयस्त्रिशत् ‘जलधयः’-सागरोपमाणि “विण्णयमुक्कोसं” ति आयुषोऽजघन्यायाः
स्थितेरुत्कृष्ट-दीर्घमन्तरं विज्ञेयमित्यक्षरार्थः । भावार्थस्तु सुगमः । भावना त्वस्य जघन्योत्कृष्ट-
द्विविधस्याप्यन्तरस्यायुषोऽनुत्कृष्टायाः स्थितेरौधिकजघन्योत्कृष्टान्तरवत्सर्वथैव द्रष्टव्येति ॥२२८॥

तदेवं दर्शितमष्टानामपि मूलप्रकृतीनामेकजीवाश्रयं जघन्याऽजघन्यस्थित्योर्द्विविधमपि बन्धान्तरमोघतः । साम्प्रतं तदेवादेशतः प्रचिकटयिपुरादी तावदायुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां जघन्याः स्थितेर्दर्शयन्नाह—

णिरय-पढमणिरयेसुं मन्वणरेसुं च देव-भवणेषुं ।
 वन्तर-दुपणिंदीसुं दुतसेसुं सब्वजोगेषुं ॥२२९॥
 वेअतिगा-ऽवेएसुं कसायचउगम्मि णाणचउगम्मि ।
 विचभंग-संघमेषुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥२३०॥
 देसम्मि तहा सुहुमे तिदरिसण-छलेस-भविय-सम्मेषुं ।
 खाइअ-वेअग-उवसम-सासायण-मीस-सण्णीसुं ॥२३१॥
 आहारेऽणाहारे सत्तण्ह लहूअ अंतरं णत्थि ।

(प्रे०)“णिरयपढमणिरयेसुं” इत्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः । भावार्थः पुनरयम्-निरयोध-पढमणिरयेसुं-ऽपर्याप्तमनुष्यभेद-देवोघ-भवनपति-व्यन्तरदेवभेदरूपासु पण्मार्गणासु बक-गन्याऽमंज्ञिभ्य आगच्छतामन्तरालगतौ भवप्रथममयद्वये वर्तमानानामेव जघन्यस्थितिवन्धः सम्भवति, तेषामेव जघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वात् । उक्तं च स्वामित्वद्वारे—“सत्तण्ह वंधगो लहुठिईणः पढमदुइअसमये श्वत्तु असण्णिओ आगओ णेओ ॥२२९॥ णिरयपढमणिरयेसुं अप-जणरदेव भवणयुगलेसुं ॥” इति । ततः किम् ? ततस्तासु पण्मार्गणासु केनापि जीवेन जघन्यस्थिति-वन्धः सकृदेव क्रियते, मनुष्योघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणाभेदेषु पञ्चेन्द्रियोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-भेद-त्रसकार्योघ-पर्याप्तत्रसकार्यभेदेषु, पञ्चसु मनोयोगभेदेषु, पञ्चसु वचोयोगभेदेषु, काययोग-मामान्यादारिककाययोगभेदयोः, स्त्री-पुं-नपुंसकवेदेष्वपगतवेदमार्गणायां, चतुर्षु क्रोधादिकपाय-भेदेषु मन्यादिषु चतुर्षु ज्ञानभेदेषु, संयमोघ-सामाधिक-छेदोपस्थापन-सूक्ष्मसम्परायसंयमभेदेषु, चक्षुरादिषु त्रिषु दर्शनभेदेषु, शुक्ललेश्यायां, भव्यमार्गणायां तथा सम्यक्त्वोघ-क्षायिकसम्य-क्त्वयोः, संज्ञा-ऽऽहारिमार्गणयोश्चेत्येतासु चतुश्चत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धः क्षपक-श्रेणिभावीतिकृत्वामौ सकृदेव प्राप्यते, आदारिकमिश्र-त्रैकिय-त्रैकियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहरकमिश्र-कर्मणकाययोगभेदेषु, कृष्णादिषु श्वलेश्याभेदेषु, सासादना-ऽनाहारकमार्गणयोरित्येतासु त्रयोदशमार्ग-णासु प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनां स्वल्पतरावस्थानेन सकृज्जघन्यस्थितिवन्धाऽनन्तरं पुनर्जघन्य-स्थितिवन्धभावात्पूर्वमेव प्रस्तुतमार्गणाया विच्छेदात्, तथा पञ्चसु विभङ्गज्ञान-परिहारविशुद्धिक-संयम-देशसंयम-वेदकसम्यक्त्व-मिश्रमार्गणाभेदेषु संयमाद्यभिसुखानां जघन्यस्थितिवन्धभावेन सकृ-देव जघन्यस्थितिवन्धो लभ्यते, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायामपि मार्गणास्थस्य कस्यापि जीवस्य

मार्गणाव्यवच्छित्तेर्वाक् सकृदेवोपशमश्रेणेः सम्भवात् सूक्ष्मपम्पगम्यचरमस्थितिवन्धभात्री ज्ञानावरणादीनां षण्णां जघन्यस्थितिवन्धस्तथाऽनिवृत्तिकरणगुणस्थानचरमस्थितिवन्धभात्री मोक्षनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धः सकृदेव लभ्यते, इत्थं च निरयगत्योधादिषण्मागोणासु भवप्रारम्भे, मनुष्यौघादिचतुश्चत्वारिंशन्मार्गणामु क्षपकश्रेणौ, औदारिकमिश्रकायवोगादित्रयोदशमार्गणामु जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनां स्त्रन्पतरावस्थानेन, विभङ्गज्ञानादिषण्मार्गणामु मयमाद्यभिमुखानां जघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वेन तथा निरन्तरे औपशमिकमम्यक्त्वकाले कस्याऽपि जीवस्य सकृदेवोपशमश्रेणेः सम्भवेन निरयगत्योधाद्येकोनसप्ततिसंख्याकासु सर्वासु मार्गणामु जघन्यस्थितिवन्धस्य सकृदेव भावात् जघन्यस्थितिवन्धद्वयाधीनं प्रकृतान्तरं न लभ्यते इति ॥२२९-२३०-२३१॥

तदेवमेकोनसप्ततिमार्गणामु जघन्यस्थितिवन्धान्तरं निषिद्धमप्येकोनसप्तत्यन्तःप्रविष्टयोः परिहारविशुद्धिकसंयम-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोः स्वस्थानाप्रमत्तसंयतानामपि जघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वमप्युपगच्छतां तन्मम्भवतीतिकृत्वा तत्र प्रतिपादयितुकाम आह—

अहवा भिन्नमुहुत्तं परिहारे वेअगे य लहुं ॥२३२॥

उक्कोसं देसूणा सगगुरुकायट्टिई मुणेयच्चं ।

प्रे०) “अहवा भिन्नमुहुत्तं”मित्यादि, अथत्राशब्दो मतान्तर्घोतनार्थम्, ततः ‘अपमत्तो अहवा मे बंधंमि कयकरणो हवेहिद्व जो । सो णेयो परिहारे तेउपउमवेअगेसु य ॥२३२॥’ इत्यनेन स्वामित्वद्वारे संगृहीतमतान्तरेण “भिन्नमुहुत्तं परिहारे वेअगे य लहुं” ति परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां वेदकसम्यक्त्वमार्गणायां च प्रकृतान्तरं ‘लघु’-जघन्यमन्तमुहृतेम् । तेनैव मतान्तरणोत्कृष्टमन्तरं तु “देसूणा सगगुरुकायट्टिई मुणेयच्चं” ति देशोना स्त्रीया स्त्रीयोन्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञातव्यम् । इदमुक्तं भवति—कृतकरणावस्थाया अर्वाकस्थितिवन्धे जायमानस्थितिवन्धस्य जघन्यस्थितिवन्धत्वे प्रकृतान्तरं न लभ्यते । कुतः ? तथाविधजघन्यस्थितिवन्धस्य सकृदेव भावात् । अतस्तदपेक्षयाऽनन्तरं मार्गणादयेऽपि प्रस्तुतान्तरं प्रतिषिद्धम् । स्वस्थानमयतस्वामिकत्वे तु जघन्यस्थितिवन्धस्य द्विरपि सम्भवात् प्रकृतान्तरं लभ्यते, अतः “अहवा” इत्यादिना दर्शितम् । तत्र जघन्यतोऽन्तमुहृतेमजघन्यस्थितिवन्धस्य जघन्यकालापेक्षया, तथा उत्कृष्टतः स्त्रीया स्त्रीया देशोन्कृष्टकायस्थितिस्तु तत्तन्मार्गणाप्रारम्भप्रान्तयोर्व्यासम्भवमन्तमुहृते न्यक्त्वा शेषोन्कृष्टकायस्थिन्यपेक्षया प्राग्वद्भावनीयमिति ॥२३२॥

अथ शेषमार्गणामु प्रस्तुतान्तरं दिदर्शयिषुरादौ जघन्यत आह—

सेसासुं च जहण्णं जाणेयच्चं मुहुत्तंतो ॥२३३॥

(प्रे०) “सेसासुं च” इत्यादि, अनन्तरं “णिरथपढमणिरथे”त्यादिनाऽभिहिता एकोनसप्ततिमार्गणा विहाय शेषासु द्वितीयपृथिवीनिरयभेदादिष्वेकोत्तरशतमार्गणामु ‘च’-पुनः सप्तानां

जघन्यायाः स्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं 'नुद्धर्तान्तः'-अन्तर्मुहूर्तं ज्ञातव्यमित्यर्थः । सुगमम् । प्रत्येक-
मजघन्यस्थितिवन्धकालापेक्षयैव तन्लाभात्, अजघन्यस्थितिवन्धस्य तु भवक्षयादिव्याघाताभावे
जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तं प्रवर्तनाच्चेति ॥२३३॥

अथैतासु शेषमार्गणाख्येवोत्कृष्टतः प्रस्तुतबन्धान्तरं दर्शयन्त्याद्वयमाह—

लोगाऽसंख्या तिरिये एगिंदि-णिगोअ-पंचकायेसु ।

अण्णाणदुगे अयत्ते अभविय-मिच्छा-ऽमणेषु गुरुं ॥२३४॥

कोडिपुहुत्तं पुच्वा पणिंदियतिरियतिगे उ सुहुमेसु ।

अंगुलअसंखभागो सेसा दूणगुरुकायटिई ॥२३५॥

(प्रे०) "लोगाऽसंख्या" इत्यादि, क्षेत्रतोऽसंख्यलोकाः, असंख्येभ्यो लोकाकाशप्रमितक्षेत्र-
खण्डेभ्यः प्रतिसमयमेकैककाशप्रदेशापहारे यावान् कालोऽपगच्छति, तावानसंख्योत्सर्पिण्यवमर्पिणि-
प्रमाणः काल इति भावः । अस्य च "गुरु" इत्यनेन गाथाप्रान्ते योगः, ततोऽसंख्यलोकाः 'गुरु'
उत्कृष्टं बन्धान्तरं भवतीत्यर्थः, तस्यैव प्रकृतत्वात् । कासु मार्गणासु क्षेत्रतोऽसंख्यलोकाः सप्ताना-
मुत्कृष्टान्तरमित्याह—"तिरिये" इत्यादि, तिर्यग्गन्धोघभेद-केन्द्रियोघभेद-निगोदाख्यसाधारणवन-
स्पत्योघभेदेषु "पंचकायेसु" ति पृथिवीकायादिवनस्पतिकायान्तेषु पञ्चसु कायमार्गणासुत्क्रौघ-
भेदेषु, तथा मत्स्यज्ञान-श्रुताज्ञानरूपेऽज्ञानद्विके, असंयमे, अभव्य-मिथ्यात्वमार्गणयोः "अमणेषु" ति
'अमनसि'-असंज्ञिमार्गणायामित्येतासु समुदितासु चतुर्दशमार्गणासु प्रत्येकम् । सुगमम् । एतासु
प्रत्येकमजघन्यस्थितेरुत्कृष्टवन्धकालस्य तावत्प्रमाणत्वात् । उक्तं च प्रागजघन्याः स्थितेरुत्कृष्टं
बन्धकालं प्रतिपादयता ग्रन्थकृता—

जेहो असंखलोणा तिरि-चेगिंदिय-णिगोअभेणसु ।

पणकाय-अण्णाणजुगल-अयत्ता-ऽभाव-मिच्छा-अमणेषु ॥ ११८ ॥

अंगुलअसंखभागो सुहुमेसु भवे अचकुसु-अविचेसु ।

ओधव्य जाणियच्चो सेसासु सगुरुकायटिई ॥११९॥ इति ।

"कोडिपुहुत्तं पुच्वा पणिंदियतिरियतिगे उ" ति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपरोरप-
र्याप्तभेदवर्जानां पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदानां त्रिके, ओघ-पर्याप्त-योषिद्धेदभिन्नपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्ग-
णासुत्क्रौघभेदत्रय इत्यर्थः । तुः प्राग्यत्, ततः पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिकं पुनः "कोडिपुहुत्तं पुच्वा"
ति प्राकृतत्वात्पुंस्त्वम्, ततः कोटीपृथक्त्वं पूर्वाणि "पुवस्स उ परिमाण"मित्यादिनान्यत्राऽभिहित-
मानानि, सप्तानां जघन्यस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरमित्यनुवृत्त्या बोद्धव्यम्, । "सुहुमेसु" ति
एकेन्द्रिय-पृथिव्यप्तेजोवायुसाधारणवनस्पतिकायमार्गणासुत्क्रौघे पर्याप्त-ऽपर्याप्तविशेषणरहिताः सूक्ष्मो-
घमार्गणाभेदास्तेषु षट्सु सूक्ष्ममार्गणाभेदेषु प्रत्येकम् "अंगुलअसंखभागो" ति सप्तानां

जघन्यस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरं क्षेत्रतोऽङ्गुलासंख्यभागः, कालतस्त्वसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इत्यर्थः । इदमपि पूर्ववदजघन्यस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालापेक्षया भावनीयमिति । “सेसासूणगुरुकायटिई” ति द्वितीयपृथिवीनिरयभेदाद्येकौत्तरशतमार्गणाभ्योऽनन्तरमिहितास्तिर्यग्गन्धोघादित्रयोविंशतिमार्गणा अपहाय शेषास्वप्नसप्ततिमार्गणासु प्रत्येकं “ऊणागुरुकायटिई” ति तत्तन्मार्गणायाः स्वीया स्वीया कालद्वारोक्तोत्कृष्टा कायस्थितिरन्तमुहूर्तादिनैकदेशेनोना सती प्रकृतं सप्तानां जघन्यस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरं भवतीत्यर्थः । तत्राष्टसप्ततिः शोधमार्गणा नामतस्त्वमूः—द्वितीयादिपृथिवीभेदभिन्नाः षड्निरयगतिभेदाः, एको ज्योतिष्कदेवभेदः, द्वादश कल्पोपचरैमानिकदेवभेदाः, चतुर्दश कल्यातीतवैमानिकदेवभेदास्तथाऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदः, बादरौघ—तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तसूक्ष्मपर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नाः पञ्चैकेन्द्रियभेदाः, तथैव पञ्च पृथिवीकायभेदाः, पञ्चाध्यायभेदाः, पञ्च तेजस्कायभेदाः, पञ्च वायुकायभेदाः, पञ्च माधारणवनस्पतिकायभेदाः, औघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्त्रयो द्वीन्द्रियभेदास्तथैव त्रयस्त्रीन्द्रियभेदास्त्रयश्चतुरिन्द्रियभेदास्त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तवसुकायभेदा चेति । एतासु प्रत्येकमुक्तदेशोनस्वस्वकायस्थितिस्तुत्कृष्टस्थितिवन्धस्योत्कृष्टान्तरभावनायामभिहितरीत्याऽपर्याप्तावस्थादिरूपं मार्गणाप्रारम्भान्तमुहूर्तं, तथैव देशोनकायस्थितिरुल्लङ्घ्य मार्गणाप्रान्ते द्वितीयपृथिवीनिरयभेदादिषु समयः, सप्तमपृथिवीनिरयभेदादिषु पुनरन्तमुहूर्तमित्येवं यथासम्भवं नानान्तमुहूर्तनिष्पन्नैकान्तमुहूर्तेनोना स्वयमेव भावनीयेति । ननु अपर्याप्तभेदवर्जतिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदत्रये कथं प्रकृतान्तरं देशोनकायस्थितिर्नाभिहितम्, किन्तु पूर्वकोटीपृथक्त्वमेव दर्शितम् ? उच्यते, मार्गणात्रयेऽपि जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनोऽसंज्ञिजीवाः सन्ति । उक्तं च प्राग् जघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वाभिधानावसरे— “असण्णो उ । पंचिदितिरियचडगअसमत्तपणिदियेसु भवे ॥१२॥” इति । ततश्च “पंचिदितिरित्तरेसु सत्तट्टमवा उ उक्कोस्सा” इत्येवंरूपा या संख्येया-ऽसंख्येयवर्षस्थितिकेनानाभवैर्निष्पन्ना पूर्वकोटीपृथक्त्वेनाभ्यधिकपल्योपमश्रयप्रमाणोत्कृष्टकायस्थितिः साऽन्तमुहूर्तेन त्रिपल्योपमस्थितिकेन चरमन युग्मिभवेन च न्युना सती प्रकृतान्तरतया लभ्यते । कुतः ? युग्मिनामसंज्ञित्वाभावेन प्रस्तुतमार्गणासत्कजघन्यस्थितिवन्धस्याकरणाच्चरमं युग्मिभवं विचर्य शेषभवनिष्पन्नकायस्थितितोऽप्यन्यमार्गणावत् प्रारम्भप्रान्तकालमन्कान्तमुहूर्तेकालस्य वर्जनीयत्वात् । इत्येवमन्तमुहूर्ताभ्यधिकत्रिपल्योपमेन न्युना पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गोघादिमार्गणात्रयसत्कोत्कृष्टा कायस्थितिः मार्गणात्रये जघन्यस्थितिवन्धस्योत्कृष्टान्तरं भवति । एतच्चाधिकृतमार्गणात्रये उत्कृष्टस्थितिवन्धस्योत्कृष्टमन्तरं देशोनकायस्थितिप्रमाणमभिधातुं न युज्यते, बहुभागहीनकायस्थितिप्रमाणत्वात् । ततश्चस्तथाऽदर्शयित्वा, पूर्वकोटीस्थितिकनानाभवप्रमाणत्वात् पूर्वकोटीपृथक्त्वं दर्शितमिति ॥२३४-२३५॥

तदेवमभिहितं मार्गणास्थानेष्वपि सप्तानां जघन्यस्थितेर्वन्धान्तरम् । सम्प्रति तासामेव सप्तानामजघन्या स्थितेस्तद् दिदर्शयिषुरादौ तावद्यासु न सम्भवति, तासु प्रतिषेधयन्नाह—

णिरय-पढमणिरयेसुं अपज्जणर-देव-भवनजुगलेसुं ।
 पणमणवयजोगेसुं ओरादिय-कम्पजोगेसुं ॥२३६॥
 वेणु कसायेसुं विभंग-सामाहणसुं छेअम्मि ।
 सुहमम्मि तहा देसे मीसा-ऽणाहारगेसुं च ॥२३७॥
 सत्तण्ह अहस्साए ठिईअ णो चेव अंतरं णवरं ।
 लोहे मोहस्स लहुं समयो परमं मुहुत्तंतो ॥२३८॥

(प्रे०) “णिरयपढमणिरयेसु”मित्यादि, अथ “णिरये”त्यादिगाथाद्वयेन संगृही-
 तासु निरयगत्योधादिद्वात्रिंशन्मार्गणामु तृतीयगाथापूर्वार्धे “सत्तण्ह अहस्साए ठिईअ णो
 चेव अंतरं”मित्यनेनायुर्वर्जानां मत्तानां मूलप्रकृतीनामहस्वायाः स्थितेरन्धान्तरं प्रतिपिद्धम् ।
 कस्मात्प्रतिपिद्धम् ? इति चेद्, द्वात्रिंशन्मार्गणास्वपि प्रत्येकमजघन्यस्थितिवन्धस्य सकृदेव लाभात् ।
 अजघन्यस्थितिवन्धस्य सकृदेव प्राप्तिस्तु प्रकृतान्यतममार्गणागतस्योत्कृष्टमार्गणाकायस्थितिं निर्वाह-
 यतः कस्यापि जीवस्य मार्गणाकालमध्ये जघन्यस्थितिवन्धस्य स्थितेरन्धस्य चाऽप्राप्तेः, तद-
 प्राप्तिः पुनर्जघन्यस्थितिवन्धस्य मार्गणायाः प्रारम्भे प्रान्ते वा सकृदेव लाभात्, मार्गणायाः प्रारम्भे
 प्रान्ते वैकवारमेव जघन्यस्थितिवन्धस्य प्रारम्भस्तु प्राक् सप्तप्रकृतीनां जघन्यस्थितिवन्धान्तरप्रतिषेधभाव-
 नायां व्युत्पादितस्तथैव ज्ञानव्य इति । तदेवं प्रतिपिद्धंऽपि प्रकृतान्तरे या कान्चिदतिप्रसक्तिस्तां
 निगकुर्वन्नाह—“णवरं”मित्यादि, ‘नवरं’—परम् “लोहे” ति लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणो-
 ऽजघन्यस्थितेरन्धान्तरं भवति, तच्च जघन्यत एकसमयः, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके एकसमय-
 मवन्धको भूत्वा कालं कुर्वतो देवगतायुत्पत्त्या लोभमार्गणायामेव मोहनीयस्याजघन्यस्थितिवन्धभावात्
 स्थितेः समयमात्राऽवन्धकालप्रयुक्तं ज्ञेयम् । ‘परमम्’—उत्कृष्टमन्तर्मुहूर्तम्, एतच्च सूक्ष्मसम्पराय-
 चरमसमये कालं कुर्वतः समयोनसूक्ष्मसम्परायाद्वाप्रमाणं प्राप्यत इति ॥२३६-२३७-२३८॥

अथ मार्गणान्तरेषु भिन्नभिन्नमतापेक्षया प्रकृतान्तरस्य सत्त्वाप्तत्वे प्रतिपादयन्नाह—

मीसतिजोगेसु तहा मासाणम्मि य ण अंतरं हवण् ।
 अहवा समयो हस्सां णेयं परमं मुहुत्तंतो ॥२३९॥

(प्रे०) “मीसतिजोगेसु तहा” इत्यादि, औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाय-
 योगलक्षणेषु त्रिषु मिश्रयोगेषु तथा सास्वादनमार्गणाभेदे च प्रत्येकं “ण अंतरं हवण्” ति
 प्रकृतं मत्तानामजघन्याः स्थितेरन्धान्तरं न भवति । तत्र मिश्रयोगमार्गणात्रये स्वामित्वाद्द्वारोक्तेन
 शरीरपर्याप्तिनिष्ठानाद्वाग् मिश्रयोगवरममये एव जघन्यमुत्कृष्टं वा स्थितिवन्धमुरीकतु-
 र्भूतेन प्रकृतान्तरं नास्ति । सासादनमार्गणायां तु संयमादागतानामेव जघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वा-

पेक्षया प्रकृतान्तरं निषिद्धम् । तदन्यमतापेक्षया तु प्रकृतान्तरं प्राप्यत इति तज्जघन्यादिभेदेन दर्शयन्नाह—“अहवा समयो हस्स” मित्यादि, सुगमम् । अन्यमते स्वस्थानेऽपि जघन्यस्थिति-
बन्धस्याङ्गीकृतत्वादिति भावः । विशेषतस्तु प्रागिव स्वयं भावनीयमिति ॥२३९॥

अथ शेषमार्गणासु सप्तकर्मणामजघन्यस्थितिवन्धान्तरं जघन्यतो दर्शयन्नाह—

भिन्नमुहुत्तं तिमणुस-अवेअ-मणणाण-मंयमेसु भवे ।

हस्सं पुण परिहारे तेउ-पउम वेअगेसुं च ॥२४०॥

ममयो भिन्नमुहुत्तं व होइ सेसासुं होअए समयो ।

(प्रे०) “भिन्नमुहुत्त”मित्यादि, अपर्याप्तभेदवर्जेषु त्रिषु मनुष्यगतिमार्गणाभेदेष्वपगत-
वेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमोघमार्गणाभेदेषु च प्रत्येकं भिन्नमुहुत्तं भवेत् । किं तद् यद्भिन्नमुहुत्तं
भवेदित्याह—“हस्सं”ति सप्तकर्मणामजघन्यायाः स्थितेः ‘हस्सं’-जघन्यं बन्धान्तरमित्यर्थः ।
अयन्भाषः—प्रकृतपमार्गणासु जघन्यस्थितिवन्धस्त्वौघिक एव, ततश्च न तत्प्रयुक्तं प्रकृतान्तरं
लभ्यते, किन्तूपशमश्रेणिसन्केन स्थितेरबन्धकालेन प्रयुक्तं तल्लभ्यते, एतच्चाऽबन्धकालप्रयुक्त-
मन्तरं यासु मार्गणामु मरणव्याघाते सत्यपि सम्भवति, तासु पञ्चेन्द्रियजाति-त्रसकायादिमार्गणासु
तज्जघन्यत एकसमयः प्राप्यते । प्रकृतमार्गणागतजीवस्य तु स्थितेरबन्धकाले मरणव्याघाते
समुत्पन्ने नियमतः प्रकृतमार्गणानां विच्छेदो जायते, अतस्तदुपशान्ताद्वाक्ष्येण क्रमशः प्रतिपततो
जीवस्याबन्धकालापेक्षया सम्पद्यमानं मज्जघन्यतोऽप्यन्तमुहुत्तमेव प्राप्यत इति । अथान्यमार्गणामु
भिन्नभिन्नमतापेक्षया प्रस्तुतं जघन्यं बन्धान्तरमपि भिन्नं भिन्नं प्राप्यत इति तथैव दर्शयति—“पुण
परिहारे” इत्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां तेजः-पञ्चलेश्या-वेदकसम्यक्त्वमार्गणामु च
प्रत्येकं पुनः “समयो भिन्नमुहुत्तं व होइ”ति “हस्सं” इत्यस्य कक्षाक्षिगोलकन्यायेनात्रापि
योजनात् सप्तानामजघन्यस्थितेहस्सं बन्धान्तरं समयो भिन्नमुहुत्तं वा भवति । तत्रान्तमुहुत्तम्—
“अपमत्तो अहवा मे कालम्मि कयकरणो हवेद्विइ जो । सो णेयो परिहारे तेउउमवेअगेसुं च ॥” (गाथा-१२८)
इत्यत्राऽथवेत्यादिनाभिहितस्य कृतकरणज्ञायाः प्रागनन्तरस्थितिवन्धं कुर्वत एव जघन्यस्थिति-
बन्धम्वामिन्वमङ्गीकर्तुं मतेन । समयस्तु “अपमत्तो” इत्यनेनोक्तस्य स्वस्थानप्रसक्तसंयतस्यापि जघन्य-
स्थितिवन्धमङ्गीकर्तुं मतेनावसानव्यम्, स्वस्थानप्रसक्तयतरेकसमयमपि जघन्यस्थितिवन्धस्य सम्भ-
वात् तेनान्तरितयोरजघन्यस्थितिवन्धयोर्जघन्यान्तरं समयः प्राप्यत इति भावः । “सेसासु” ति
निषिद्धप्रकृतान्तरा निरयगत्योघभेदादिद्वात्रिंशन्मार्गणास्तथा दर्शितप्रकृतान्तरा अनन्तरोक्ता औदा-
रिकमिश्रयोगादिवेदकसम्यक्त्वान्ताश्चतुर्दशमार्गणा विहाय शेषासु चतुर्विंशत्यम्बधिकशतमार्गणासु
“होअए समयो” ति सप्तानामजघन्यस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं समयो भवेदित्यर्थः । अत्र शेष-
मार्गणास्तु नामत इमाः—द्वितीयादिसप्तमान्तपृथिवीभेदभिन्नाः षड् निरयगतिमार्गणाभेदाः,

पञ्चापि तिर्यग्गतिमार्गभाेदाः, ज्योतिष्कादिमवार्थमिद्विमानान्ताः सप्ताविंशतिदेवगतिमार्गभाेदाः, सर्वेऽपीन्द्रियमार्गभाेदास्ते चैकोनविंशतिः, सर्वेकायमार्गभाेदास्ते च द्विचत्वारिंशत्, काययोग-सामान्य-वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारककाययोगभाेदाः, मत्याशयत्र ते ज्ञानभाेदाः, मत्यज्ञान-श्रुतज्ञान-भाेदा, तथाऽमंयम-चक्षुरादित्रिदर्शन-कृष्ण-नील-कापोत-शुक्ललेश्या-भव्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वाघ-क्षा-यिकमस्यक्त्वा-पशमिकमस्यक्त्व-भिष्णत्वा-संज्ञ-ऽसंज्ञ-ऽऽक्षिपार्याणामंशरवेति । एतासु कासु-चित् तृतीयपृथिवीनिरयभाेदादिमार्गभाेदासु स्वस्थानसम्यग्दृष्ट्यादीनां समयमात्रभाविजघन्यस्थिति-बन्धान्तरितयोरजघन्यस्थितिवन्धयोस्तरालापेक्षया प्रकृतं सामयिकान्तरं भावनीयम् । कासुचित् तिर्यग्गोघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भाेदादिमार्गभाेदास्वेकेन्द्रिया-ऽमंश्यादिजीवानामेकसमयप्रवृत्तजघन्यस्थितिवन्धा-पेक्षया योजनीयम् । कासुचिन्पुनः पञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-श्रसकार्याघ-पर्याप्तसकाय-काययोग-सामान्य-मतिज्ञानादिमार्गभाेदासु जघन्यस्थितेर्जघन्यवन्धकालस्याप्यन्तमुर्हृत्प्रमाणत्वेन तदपेक्षया न सम्भवति प्रकृतसामयिकान्तरम्, अत ओघवत् स्थितेरवन्धकालमपेक्ष्य तद्द्रष्टव्यमिति ॥२४०॥

अथैतास्वेव मनुष्यगत्योधादिचतुस्त्रिंशदभ्यधिकशतमार्गभाेदासु सप्तप्रकृतिसत्त्वाऽजघन्यस्थिते-र्वन्धान्तरमुत्कर्षतः प्रदर्शयन्नाह—

होइ तिमणुसार्हसु एआसु गुरुं मुहुत्तंतो ॥२४१॥

(प्रे०) “होइ तिमणुसार्हसु”मित्यादि, “भिन्नमुहुत्तं तिमणुसअवेअ” इत्यादिनाऽनन्तर-मेवाभिहिताः पर्याप्तमनुष्यादिपण्णमार्गभाेदाः, परिहारविशुद्धिकसंयमादिचतुर्मार्गभाेदास्तथा “सेसासु” इत्यनेन सहगृहीताश्चतुर्विंशत्यभ्यधिकशतमार्गभाेदा इत्येतासु चतुस्त्रिंशदभ्यधिकशतमार्गभाेदासु प्रत्येकं “गुरु” ति सप्तानामजघन्यायाः स्थितेः ‘गुरु’-उत्कृष्टं बन्धान्तरं “मुहुत्तंतो” ति अन्तमुर्हृत् भवतीति पूर्वेण योगः । कुतः ? इति चेद्, उत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टवन्धाद्वावज्जघन्यस्थितेरुत्कृष्टवन्धा-द्वाया उत्कृष्टोपशान्ताद्वायाश्चान्तमुर्हृत्त्वेन तदन्तरितयोरजघन्यस्थितिवन्धयोः कालस्याप्यन्तमुर्हृ-त्ताधिकत्वाक्षम्यादिति । अत्र भावना तु यासु मनुष्यगत्योधादिमार्गभाेदासुपशान्तमोहानां जीवानां प्रवेशादुपशान्ताद्वा प्राप्यते, तासु तदपेक्षया कर्तव्या; यासु पुनर्निरयदेवगत्यादिभाेदेषु सा न लभ्यते, तासु जघन्यस्थितिवन्धकालापेक्षया कर्तव्या । तथाहि—मनुष्यगत्योधमार्गभाेदायां केनचिच्चारित्रमोहो-पशामकेन महात्मना वादरानिष्टिकरणगुणस्थानकचरमसमयेमोहनीयस्याजघन्यस्थितिवन्धो निष्ठा-पितस्तथासूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमसमये मोहनीयायुर्वर्जानां पण्णां प्रकृतीनामजघन्यस्थिति-वन्धो निष्ठापितः, ततः प्रभृति तत्तत्कर्मणामजघन्यस्थितिवन्धस्यान्तरं प्रवृत्तम्, तच्च यावदसावु-पशामक उपशान्तमोहगुणस्थानके गत्वोपशान्ताद्वाक्षयेण क्रमात्प्रतिपत्य तत्तत्कर्मणां स्थितिवन्धं न प्रारभते, तावत्प्रवर्तते, तथा च सति मोहनीयवर्जानां पण्णामजघन्यस्थितिवन्धोत्कृष्टान्तरमुपशान्तमोह-गुणस्थानकालप्रमाणं प्राप्यते, मोहनीयाजघन्यस्थितिवन्धोत्कृष्टान्तरं तु ततोप्यधिकं प्राप्यते, सूक्ष्म-

सम्परायाद्वादयस्यापि तदन्तरे प्रवेशात् । इत्थमेव पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणास्वपि द्रष्टव्यम् । द्वितीय-
पृथिवीनिरयभेदादिषु तु प्राग्दर्शितानुत्कृष्टस्थितिवन्धान्तरवदेवभावनीयमिति ॥२४१॥

तदेवं प्रतिपादितमादेशत आयुर्वर्जानां सप्तानां जघन्याऽजघन्यस्थितिवन्धयोर्जघन्योत्कृष्टभेद-
भिन्नं बन्धान्तरम् । सम्प्रति शेषस्या-ऽऽयुःकर्मणस्तद्दिदर्शयिषुरादौ तावज्जघन्यस्थितेराह—

सन्वेसुं खलु णारग-समत्त-जोणिमइ-देवभेएसुं ।
पणमणवय-उरलेसुं आहारदुगम्मि वेउब्बे ॥२४२॥
थी-पुरिस-कमायेसुं विभंग-मणणाण-संयमेसु तद्दा ।
सामाइअ-छेएसुं परिहारे देस-चक्खूसुं ॥२४३॥
असुहेयरलेसासुं खइए सासायणम्मि य हवेजा ।
आउस्स जहण्णाए ठिईअ णो अंतरं चैव ॥२४४॥

(प्रे०) “सन्वेसुं खलु णारगे” त्यादि, ‘द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणः शब्दः प्रत्येकं मन्वध्यत’ इति
नियमेन भेदशब्दस्य निरयादिना प्रत्येकं योजनात् सर्वस्वित्यष्टसु निरयगतिभेदेषु, “समत्त” चि
‘समाप्ताः’-पर्याप्ताभेदास्ते च सर्वे पर्याप्तपञ्चेन्द्रियनिर्यगाद्या अत्र ग्रन्थेऽधिकृता विशतिः, तेषु सर्वेषु
भेदेषु, तथा “जोणिमइ” चि योनिर्विद्यते यस्याः सा योनिमती । स्त्रीत्यर्थः । तदीयसर्वभेदे, तिरश्ची-
मानुषीभेदद्वय इति भावः । सर्वस्त्रीभेदानां ग्राह्यत्वेऽपि देव्यो न पृथग्गृह्यन्ते, देवीमार्गणायाः प्रकृतग्रन्थे
पृथगनुपादानादिति । तथा सर्वेषु देवगतिभेदेषु, अन्यमार्गणाभेदान् संग्रहितुमाह—“पणमणे”
त्यादि गाथाद्वयम्, तस्याक्षरगमनिका तु प्राग्ब्रह्मसुगमा । इत्थेवं सार्धगाथाद्वयेन संगृहीतासु निरय-
गत्योषादिपणवतिमार्गणासु प्रत्येकम् “आउस्स जहण्णाए ठिईअ णो अंतरं” इत्यादिना
तृतीयगार्थोत्तरार्धनायुषो जघन्यायाः स्थितेर्वन्धान्तरस्याभावः कथितः । कस्माद् ? आयुषो जघन्य-
स्थितिवन्धान्तरस्य जघन्यस्थितिवन्धद्वयाधीनत्वात्, एकस्मिन् भवे सकृदेव जघन्यस्थितिवन्धस्य
भावश्च । इदमुक्तं भवति—उत्कृष्टावाधायां सन्यामायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धवदायुषो जघन्यस्थि-
तिवन्धो जघन्यावाधायामभिमतः, नान्यथा । जघन्यावाधा त्वेकस्मिन् भवे सकृदेव प्राप्यते,
अन्तरं तु वन्धद्वयाधीनम्, ततश्च एकस्मिन् भवे जघन्यावाधायां प्रथमवारं जघन्यस्थितिकमायुर्वद्भवा
यावत्कमेणायुःक्षये भवान्तर उत्पद्य जघन्यावाधायां द्वितीयवारं जघन्यस्थितिकमायुर्वन्नाति, ताव-
द्यदि प्रकृतमार्गणायामेव तद्बन्धकजीवस्तिष्ठति, तदायवज्जघन्यस्थितिवन्धान्तरं प्राप्यते । तच्च
प्रकृते न सम्भवति, द्वितीयं जघन्यायुर्वन्धं यावत् प्रकृतनिरयादिमार्गणास्वेव तद्बन्धकजीवस्या-
ऽनवस्थानात् । तथाहि—सर्वेषु निरयगतिभेदेषु, सर्वेषु देवगतिभेदेषु, वैक्रियकाययोग-तेजः-पद्म-
शुक्ललेश्यामार्गणाभेदेषु च प्रत्येकं जघन्यायुर्वन्धका नारका देवा वा, ते च जघन्यस्थितिकमायु-

स्तु मनुष्यसत्त्वं तिर्यक्सत्त्वं वा वर्धन्ति, ततश्च क्रमेण तत्रोत्पत्त्या प्रकृतमार्गणाया बहिर्भावाद् द्वितीयवेलायां जघन्यायुर्वन्धं यावत् नावतिष्ठन्ति प्रकृतनिरयौघादिमार्गणायाम्, ततश्च प्रकृतान्तरमपि न प्राप्यते । आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामाधिक-च्छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयमरूपास्वप्नमार्गणासु जघन्यायुर्वन्ध्वा देवगतायुत्पत्त्या प्रकृतमार्गणाविच्छेदान्न लभ्यते प्रकृतान्तरम् । क्षायिकमम्यकन्धमार्गणायां तु सकृदेव जघन्यायुर्वन्धसम्भवात्प्रकृतान्तरस्या-ऽभावः । मनोयोगमार्गणायां तु जीवस्य स्वल्पावस्थानात् नास्ति द्विरायुर्वन्धस्तत्कुतो भवद्वयाधीन-जघन्यस्थितिवन्धान्तरसम्भवः, न कुतश्चिदपि । एवमेव शेषमनोयोगभेदेषु, वचोयोगभेदेषु, चतुर्षु कपायमार्गणाभेदेषु, त्रिषु कृष्णादिलेश्यामार्गणाभेदेषु, सासादनमार्गणायां च बोद्धव्यम् । ननु कृष्णादिलेश्यामार्गणात्रयस्यैकजीवाश्रयकायस्थितिदीर्घाऽभिहिता, तत्रासु कथं जीवस्य स्वल्पावस्थानमन्तराभावप्रयोजकतया दृश्यते ? इति चेद्, न, अभिप्रायाऽपरिज्ञानाद्, यत आयुषो जघन्यस्थितेर्वन्धकाऽपेक्षया तदभिधानम्, कृष्णलेश्यादिमार्गणात्रये आयुषो जघन्यस्थितेर्वन्धका मनुष्याः पञ्चेन्द्रियतिर्यश्चो वा, तेषां च प्रत्यन्तमुर्हृतं लेश्यापरावृत्तिर्भवति, उक्तञ्च—“अंतमुहुत्तठिईओ तिरियनराण हुन्ति लेसाओ” इति । या तूत्कृष्टकायस्थितिरुक्ता सा तु सामान्यतो निरयजीवापेक्षयेति न कश्चिदोषः । औदारिककाययोगेऽप्यायुर्वन्ध्वा भवान्तर उत्पत्तिमात्रेणादारिकमिश्रयोगप्रवर्तनात्प्रकृतमार्गणाविच्छेदो भवति । विंशतिपर्याप्तमार्गणा-निरखी-मानुषी-स्त्रीवेद-पुंवेद-विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शनरूपासु शेषमार्गणासु पुनः प्रत्येकं जघन्यायुर्वन्ध्वा लब्ध्यपर्याप्ततपोत्पत्तिमात्रेण प्रकृतमार्गणानां विच्छेदान् जघन्यस्थितिकायुर्वन्धद्वयाधीनं प्रकृतान्तरं नैव लभ्यते । न च पर्याप्तपञ्चेन्द्रियाद्यवस्थायां जघन्यस्थितिकमायुर्वन्ध्वा लब्ध्यपर्याप्तचतुरिन्द्रियत्वोत्पद्य तत्र जघन्यायुर्वन्धकरणे चक्षुर्दर्शनमार्गणायां प्रकृतान्तरं लभ्येतेति वाच्यम् । लब्ध्यपर्याप्तानां चतुरिन्द्रियमार्गणायां प्रविष्टत्वेऽपि चक्षुर्दर्शनमार्गणायामप्रवेशात्, । कुतः ? तेषां चक्षुर्दर्शनस्थानङ्गीकारात् । उक्तञ्च पञ्चसङ्ग्रहे—

‘महसुयधनाणलचरुदंसणेककारसेसु ठाणेसु’ इति ।

पर्याप्तचतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-संज्ञिपञ्चेन्द्रिय-लक्षणजीवस्थानत्रयवर्जेष्वेकादशसु जीवस्थानेषु मत्स्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽचक्षुर्दर्शनलक्षणास्त्रय एवोपयोगा भवन्तीति भावः । उक्तञ्च तद्वृत्तौ—

एकेन्द्रियसूक्ष्मवादरद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तकैः सह चतुरिन्द्रियासंज्ञिसंयपर्याप्तकेष्वेकादशसु जीवस्थानेषु मत्स्यज्ञानश्रुताज्ञानाचक्षुर्दर्शनाभ्यास्त्रयः प्रत्येकं भवन्ति, एते च लब्ध्यपर्याप्तकाः, यतः करणा-ऽपर्याप्तकेष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्यां तेषां चक्षुर्दर्शनं भवति” इति ॥२४२-२४३-२४४॥ अथ शेषमार्गणा-स्त्रायुषो जघन्यस्थितिवन्धान्तरस्य सम्भवात्तासु जघन्यादिभेदभिन्नं तत्क्रमेण दर्शयन्नाह—

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मत्ते वेअगम्मि य जहण्णं ।
साहियपल्लं णेयं सेसासु खणूणखुड्ढभवो ॥२४५॥

(प्रे०) “जघन्यस्थिते” इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां प्रकृतान्तरस्यान्तरमेव प्रति-
 पिद्धत्वात् तां विहाय मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञानमार्गणानां त्रिके, तथाऽवधिदर्शनमार्गणां
 समयक्तव्यमार्गणायां वेदकसम्यक्त्वमार्गणायां च “जहणं” ति आयुषो जघन्यायाः स्थिते-
 ‘जघन्य’-ह्रस्वं बन्धान्तरं “साहियपल्लं णेयं” ति साधिकं पल्योपमं ज्ञेयमिति । इयमत्र
 भावना-मतिज्ञानादिप्रकृतयामार्गणास्वायुषो जघन्यस्थितिवन्धो वर्षपथकत्वं भवति । उक्तञ्च प्राक्—
 ‘मह-सुभ-ऽवधिणाणेषु ओहिद्विसणम्मि सम्भ-त्तद्वणसुं । वेअगसम्मत्तम्मि य विण्णेषो दायणपुहत्तं
 ।७४। इति । तच्च वर्षवृथकत्वस्थितिकं जघन्यमायुर्जघन्यायामवाधायां केनापि सम्यग्दृष्टिदेवेन बद्धम्,
 तत्पश्चादसौ भवक्षये ततश्च्युत्वा मनुष्यतयोत्पन्नः । नास्ति च तत्र सम्यग्दृष्टिवसुप्यन्वे तस्य
 प्रकृतान्तरप्रयोजकस्य द्वितीयवारं जायमानस्य जघन्यस्थितिकायुर्वन्धस्य सम्भवः, सम्यग्दृष्टि-
 मनुष्याणां जघन्यतोऽपि साधिकपल्योपमस्थितिकदेवायुष एव बन्धभावात् । अतस्तेन तत्र जघन्य-
 स्थितिकं देवायुर्वद्धम्, पश्चान्मृत्वा देवतयोत्पद्य प्राग्बद्धवशेषेऽन्तर्मुहूर्तायुषि जघन्यावाधायां जघन्य-
 स्थितिकं मनुष्यायुर्वद्धम् ; इत्थं हि तेन प्रथमवैमानिकभवे कृतस्य जघन्यस्थितिकायुर्वन्धस्य
 सान्तरे च द्वितीये वैमानिकभवे कृतस्य जघन्यस्थितिकायुर्वन्धस्य यदन्तरं तदेव प्रकृते षट्श्वपि
 मार्गणास्वायुषो जघन्यस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं प्राप्तम्, ततो हीनान्तरस्याऽसम्भवादिति ।

“संसासु खण्णखुडुभवो” ति शेषमनुष्यगत्योघाद्येकपष्टिमार्गणासु प्रत्येकं प्रकृतमा-
 युषो जघन्यस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं ‘क्षणोः’-समयोः ‘क्षुल्लकभवः’-षट्पश्चादस्यविक्रयतद्वया-
 ऽऽवलिकाप्रमाणः सर्वलघुर्भव इत्यर्थः । अत्र शेषमार्गणा नामत इमाः-मनुष्याघा-ऽपर्याप्त-
 मनुष्य-तिर्यग्गत्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, ओघ-वादरोघ-पृश्माव-वादरा-
 पर्याप्त-सूक्ष्मापर्याप्तभेदभिन्नाः पञ्चैकेन्द्रियभेदाः, ओघा-ऽपर्याप्तभेदभिन्ना द्वौ द्वौन्द्रियभेदा, तयैव
 द्वौ त्रीन्द्रियभेदा, द्वौ चतुरिन्द्रियभेदा, द्वौ च पञ्चेन्द्रियभेदा, एकेन्द्रियवत् पृथिव्यप्रेतजोवायु-
 साधारणवनस्पतिकायमत्का प्रत्येकं पञ्च पञ्चेति पञ्चाविंशतिभेदाः, वनस्पतिकायौघभेदाः, तयो-
 घा-ऽपर्याप्तभेदभिन्ना द्वौ प्रत्येकवनस्पतिकायभेदा द्वौ च त्रसकायभेदा, तथा काययोगसामान्या-
 दारिकमिश्रकाययोग-नपुंसकवेद-मन्यज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽसंयमा-ऽवधिदर्शन-भव्या-ऽसंय-सिंघान्व-
 संय-ऽसंय-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति । एताव्हेकपष्टिमार्गणासु प्रत्येकं भावना त्वोघवदेव दृष्ट्वा,
 केवलं तत्तन्मार्गणागतमनुष्यादिजीवापेक्षयेति ॥२४६॥ अथ निरयगन्धोघादिनिविद्धान्तरावर्तावु
 शेषमार्गणास्वेवायुषो जघन्यायाः स्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरं विभणिपुराह—

परमं तिरि-येगिंदिय-पुहवाइचउग-णिगोअ-हरिएसुं ।

वायरमुहुमेगिंदिय-चउपुहवाइग-णिगोएसुं ॥२४६॥

परोअवणे काये अमणे पलियस्स खलु असंखंसो ।

(प्रे०) “परमं तिरियेगिंदिये” त्यादि, आयुषो जघन्यस्थितेः ‘परमम्’—उत्कृष्टं बन्धान्तरं “पलियस्स खलु असंखंसो” इत्युत्तरगाथापूर्वार्धेऽन्वयः । पल्योपमस्यासंख्येयतमैकमाग इति तदर्थः । कासु मार्गणास्वित्याह—“तिरियेगिंदिये” त्यादि, तिर्यग्गत्योघभेद-केन्द्रियौघभेद-पृथिव्यादिवायुकायान्तचतुरोघभेद-निगोदौघ-वनस्पतिकार्यौघभेदेऽस्वित्यर्थः । अन्यमार्गणाभेदान् संचिन्वन्नाह—“वायरसुहुमेगिंदिये” त्यादि, तत्र वादरसूक्ष्मशब्दयोः प्रत्येकं योजनाद् वादरैकेन्द्रियौघभेद-सूक्ष्मैकेन्द्रियौघभेदयोस्तथा “चउपुहुवाहग” ति चत्वारः पृथिव्यादिकाः वादराः सूक्ष्माधौघभेदाः । वादरपृथिव्यप्तेजोवायुकार्यौघलक्षणाश्चत्वारो भेदाः सूक्ष्मपृथिव्यप्तेजो-वायुकार्यौघलक्षणाश्चत्वारोभेदाश्चेत्यर्थः । “णिगोणसु” ति ‘निगोदः’—साधारणवनस्पतिकाय-स्तस्य सूक्ष्मवादरभेदभिन्नावोघभेदावित्यर्थः । प्रत्येकवनस्पतिकार्यौघभेदे, काययोगौघभेदेऽसंज्ञि-मार्गणायां चेत्येतासु त्रयोविंशतिमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । कुतः ? इति चेद्, प्रकृतसर्वमार्ग-णासु केवशानां तिर्यग्गतिकानां जीवनामेव प्रवेशेन भिन्नभिन्नगतिकभवसंवेधप्रधानायाः पर्याप्त-कायस्थितेः स्तोकमात्रप्राप्तेः पर्याप्तकायस्थितिसंख्यपेक्षमायुषो जघन्यस्थितेर्बन्धान्तरमपि स्तोक-मेव प्राप्यते । एतच्चानन्तरवक्ष्यमाणनीत्या विशेषतस्तु प्रतिमार्गणं स्वयमेवोद्भवमिति ॥२४६॥

अथान्यत्र प्रकृतान्तरमाह—

कोडिपुहुत्तं पुब्बा पणिंदियतिरिक्ख-मणुसेसुं ॥२४७॥

णपुमे होइ पुहुत्तं अयरसयाण दुअणाण-अयत्तेसुं ।

अणयण-भन्नि-यियरेसुं मिच्छा-ऽऽहारेसुं ओघव्व ॥२४८॥

(प्रे०) “कोडिपुहुत्त”मित्यादि, कोटीपृथक्त्वं “पुब्बा” ति पूर्वाणि “पणिंदिय-तिरिक्खमणुसेसुं” ति पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघमार्गणाभेद-मनुष्याधौघमार्गणाभेदयोः प्रत्येकम्, आयुषो जघन्यस्थितेरुत्कृष्टबन्धान्तरमिति प्रक्रमाद्गम्यते । अत्र भावना तु सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थिते-रुत्कृष्टबन्धान्तरवत्कर्तव्या, सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिवन्धवदायुषो जघन्यस्थितिवन्धस्यापि युग्मिनाम-भावादिति । “णपुमे” ति नपुंसकवेदमार्गणायां “होइ पुहुत्तं अयरसयाण” ति ‘अतरश-तानां’—सागरोपमशतानां पृथक्त्वं भवति, आयुषो जघन्यस्थितेरुत्कृष्टं बन्धान्तरमिति गम्यत इति ।

ननु अनन्तरं “परमं तिरिये”त्यादिनाऽसंख्यपुद्गलपरिवर्तकायस्थितिकतिर्यग्गत्योघमार्ग-णायां प्रकृतान्तरं पल्योपमसंख्येयभागमात्रमभिहितम्, अत्र तु “णपुमे होइ पुहुत्तं अयरसयाणे” त्यनेनाऽसंख्यपुद्गलपरिवर्तकायस्थितिकायां नपुंसकवेदमार्गणायां तदतिबहुदीर्घं सागरोपमशत-पृथक्त्वप्रमाणमभिहितमित्यत्र किं तत्त्वम् ? इति चेद्, उच्यते—आयुषो जघन्यस्थितेर्दीर्घं बन्धान्तरं दीर्घायाः पर्याप्तकायस्थितेरधीनम्, पर्याप्तस्य दीर्घा कायस्थितिस्तु निरय-देवभवैः समं मनुष्यादि-भवसंवेधप्रधाना, न पुनर्मनुष्यतिर्यग्भवानां परस्परं संवेधप्रधाना, एकेन्द्रियविकलेन्द्रियादितिर्यग्भ-

वानां वा परस्परं संवेधप्रधाना, इत्थं च तिर्यग्गतिमार्गणायामेकेन्द्रियविकलेन्द्रियादिभवसंवेध-
निष्पन्ना सा पर्याप्तकायस्थितिः स्तोका प्राप्यते, अतस्तदधीनं प्रकृतान्तरमपि स्तोकं प्राप्यते,
नपुंसकवेदमार्गणायां तु निरयभवैः समं तिर्यङ्मनुष्यभवाणां संवेधनिष्पन्ना पर्याप्तनपुंसकवेदकाय-
स्थितिरतिबहुदीर्घा प्राप्यते. पर्याप्तसत्कदीर्घकायस्थितिप्रयोजकैर्निरयभवैः सममपि संवेध-
प्राप्तेः । ततश्च नपुंसकवेदमार्गणायां प्रकृतान्तरमपि दीर्घं प्राप्यते । अत एव तिर्यग्गत्योच-नपुंसक-
वेदाद्यसंख्येयपुद्गलपरावर्तकायस्थितिकमार्गणाभ्योऽपि स्तोकासंख्योत्सर्पिष्यमर्षिणिमात्रकायस्थिति-
कायामप्याहारिमार्गणायां पर्याप्तदीर्घकायस्थितिप्रयोजकैर्निरयदेवभवैः समं मनुष्यादिभवानां संवेध-
निष्पन्ना सा पर्याप्तकायस्थितिरतिबहुदीर्घतरा ततस्तदधीनमायुषो जघन्यस्थितिवन्धान्तरमपि नपुं-
सकवेदमार्गणायामुक्तप्रकृतान्तरगपेक्षयाऽपि दीर्घमनुपदमेव वक्ष्यते ग्रन्थकृतेत्यलं विस्तरेण ।

कतिपयमार्गणास्वतिदेशद्वारेणाह—“दुअणाणे”त्यादि, मत्पज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षु-
दर्शनभव्या-ऽभ्रव्य-मिथ्यात्वा-ऽऽहागिरुपास्वणमार्गणागु गत्येकम् “ओघञ्व” ति प्रकृतान्तर-
मोधवदनन्तरं कालद्वारंऽभिहितपर्याप्तसकायकायस्थितितोऽभ्यधिकं भवतीत्यर्थः । इदमप्यनन्त-
रोक्तनित्यैव विभावनीयमिति ॥२४७-२४८॥ अथ शेषमार्गणासु प्रकृतान्तरं दर्शयन्नाह—

सैसाम् देसूणासगसगकायट्टिई भवे जेट्टा ।

(प्रे०) “सैसासु देसूणा” इत्यादि, ‘सव्वंसुं खलु णारग’ (गाथा-२४२) इत्यादिना-
ऽभिहिताः निषिद्धप्रकृतान्तराः पणवतिमार्गणास्तथा ‘परमं निरियेगिदिये’ (२४६) इत्यादिनाऽभिहित-
प्रकृतान्तराश्चतुस्त्रिंशन्मार्गणा विहाय शेषास्वपर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियादित्रयस्त्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं
“देसूणासगसगकायट्टिई भवे जेट्टा” ति ‘देशोना’-अन्तमुर्हतादलिक्षणेनैकदेशेनोना-ऽपर्याप्त-
पञ्चेन्द्रियतिर्यगादितत्तन्मार्गणानां स्वीया स्वीयोत्कृष्टा कायस्थितिर्भवेत्, आयुषो जघन्यस्थिति-
वन्धस्योत्कृष्टमन्तरमिति गम्यत इति । सुगमम् । भावाना तु प्रागुक्तदिशा स्वयमंत्र कर्तव्या, केवलं
शेषमार्गणा नामत इमाः—विंशतिरपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगाद्यपर्याप्तमार्गणास्थानानि, द्वीन्द्रिय-
त्रीन्द्रिय-चतुर्गिन्द्रि-पञ्चेन्द्रिय-यत्रयकायरूपाः पञ्चाधमार्गेणाः, आदारिकमिश्रकाययोगः, मति-
श्रुता-ऽवधिज्ञानानि, अवधिदर्शनं, सम्यक्त्वाद्य-वेदकसम्यक्त्वमार्गेणोऽमंज्ञिमार्गणा चेति ॥

तदेवमभिहितमायुषो जघन्यस्थितेद्विविधमपि वन्धान्तरं मार्गणास्थानेषु । साम्प्रतमजघन्य-
स्थितेस्तन्मार्गणास्थानेषु दिदेशयिपुर्लाघवार्थमतिदेशेनाह—

मव्वासु अहस्साएऽणुकोसठिइव्व णायव्वं ॥२४९॥

(प्रे०) “सव्वासु अहस्साए” इत्यादि, निर्यगत्योधादिसर्वमार्गणासु प्रत्येकम्
“अहस्साए” ति ‘अहस्वायाः’ प्रकृतस्यायुषोऽजघन्यायाः स्थितेः “णुकोसठिइव्व णायव्वं”
ति जघन्यादिभेदभिन्नं वन्धान्तरमनुत्कृष्टस्थितिवज्जातव्यम्, प्राक्—

उत्कृष्टस्थितिवन्धस्य								अनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य		
जघन्यतः— श्लोघवद् अन्तर्गृहीतम् (गाथा--२०५)								नास्ति	अन्तर्मु-	श्लोघवत्
उत्कृष्टतः	अन्तर्गृहीत- नास्ति	पूर्वलोष्टि- पृथक्त्वम्	असंख्येय- लोकः (क्षेत्रतः)	अ.ह.श.उ.मं- रूपभाग- (क्षेत्रतः)	श्लोघवद् असंख्येयपु- त्राऽपरावर्तः	श्लोघ- वत्	सा.पा. नामुत्कृष्ट- श्लोघश्लिष्टः	नास्ति	अन्तर्मु- हूर्तम्	अन्तर्मु- हूर्तम्
गतिः		सप्तमोक्षवर्ज- उच्चैन्द्रिय- निर्गमगुण्य- गदा ० ६					श्लोघ- ४०			सर्वं ० ४७
गन्धिः			एकेन्द्रधौवः १	गुक्ष्मैकेन्द्र- वीचः १			श्लोघ- १७			सर्वं ० ११
कायः			अन्तर्गृह्यान्- पञ्चवीचभयः ०	सुक्ष्मश्लिष्टवा- दिगुक्ष्मसाधा- रणाश्नसाध्या- न्पञ्चवीचः ५			श्लोघ- ३१			सर्वं ० ४२
शोः	मयं १५							कार्मणः १		श्लोघ- ★ १७
वेः	वेदः ०						श्लोघ- ३		श्लोघ- ३	श्लोघ- ३
कर्मणः	मयं ४									सर्वं ० ४
ज्ञानः	गत्यादि ४				गत्यज्ञानः श्रुतज्ञानः ० ०		विभङ्ग- १		मनःपर्यव- १	श्लोघ- ६
संयमः	संयम- वर्तः ६				संयमः १			भागो.श्लेढ- परि.सूक्ष्म- श्लोघः ५	संयमीय- १	असंय- १
दृशः	गत्यादि १				गत्यादि १		वक्षु- १			सर्वं ० ३
श्लेढः							श्लुक्त- श्लोघ- १			सर्वं ० ६
भयः					सर्वं ० ३					सर्वं ० २
सम्प- त्त्वः	सम्पत्त्वो- वशायां श्रीय.सात्ता- मिश्रः ५				मिथ्यात्व- १		आयिक्त- १	शायोप- मासादन- मिश्रः ३		श्लोघ- ४
संज्ञो							सर्वं ० २			सर्वं ० २
ग्राहः	अनाहा १						आहा १	अनाहा १		आहा १
संमत्ताः-	४०	६	७	६	७	२	१०२	१०	३	१५७
गाथाः-	२०५-५	२०५	२०६	२०६	२०७	२०५	२०७	२०८-६	२१०	२१०

★ मिथयोगत्रय मतान्तरेऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धान्तरं नास्ति (गाथा-२०६) ।

आयुःकर्मण उत्कृष्टस्थितिवन्धस्यैकजीवाश्रिता-ऽन्तरप्रदर्शकं यन्त्रकम्

उत्कृष्टः		असंख्येयपुद्गल-परावर्ते०	एकजीवाश्रया देशोना स्वीयस्वीयोत्कृष्टकायस्थितिः			अन्तरमेव
प्रोद्यवत्-समयोनदश-अधन्यतः—सहस्रवर्षाभ्यधिकपूर्वकोटि०		समयोनदशसहस्र-वर्षाभ्यधिकपूर्व-कोटि०	समयोनस्वीय-स्वीयोत्कृष्टभव-स्थितिः	समयोना-ऽन्तर्मुहूर्तं	साधिकं पल्योपमम्	नास्ति
गति०			अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्० अपर्याप्त-मनुष्य० २			शेष० ४५
इन्द्रिय०		पञ्चेन्द्रियौष-सत्प-र्याप्तभेदो, २	सर्वेकेन्द्रिय० सर्व-त्रिकनेन्द्रिय० अप-र्याप्तपञ्चेन्द्रि० १७			
काय०		वर्षौष-सत्पर्याप्त-भेदो, २	पृथिव्याप्तेजोवासु-वनस्पतिकायसत्क-मर्षभेदाः, अपर्याप्त-वसश्च, ४०			
योग०				शोदारिक-मिथ० १		शेष० १५
वेद०		स्त्री-पुं-नपुंसक० ३				
कपाय०						सर्व० ४
ज्ञान०	सत्यज्ञान-श्रुताज्ञाने २				मति-श्रुता ऽवधि-जानानि, ३	मनःपर्यवज्ञान० विमङ्गल० २
संयम०	असंयमः १					शेष० ५
दर्शन०	अनक्ष० १	चक्षु० १			अवधि० १	
लेख्या०						सर्व० ६
भव्य०	भव्या-ऽभव्या, ०					
सम्यक्त्व	मिथ्यात्वम्, १				सम्यक्त्वोष० क्षायोपशामिक० २	क्षायिक० सास्वादन० २
संज्ञी०		संज्ञी, १				असंज्ञी० १
आहार०		आहारक० १				
सर्वमार्गणाः—	७	१०	५६	१	६	८०
गाथाङ्काः	२१३-१४-१७	२१३ २१४-२१७	२१५-२१७	२१६-१७	२१६-२१७	२१९-२१९

आयुःकर्मणोऽनुकृष्टस्थितिवन्धस्यैकजीवाश्रयान्तप्रदर्शकं यन्त्रकम्

जन्मस्थितः—अन्तर्मुहू०	अन्तर्मुहूर्तं	अन्तर्मुहूर्तः	अन्तर्मुहूर्तः	अन्तर्मुहूर्तः	अन्तर्मुहूर्तः	अन्तर्मुहूर्तः	अन्तर्मुहूर्तः	अन्तर्मुहूर्तः	अन्तर्मुहूर्तः
देशोनाः	०९ वर्षमह-	७ वर्ष सहस्रा-	अन्तर्मुहूर्तम	देशोत्तोरुक्-	देशोत्तोरुक्-	देशोत्तोरुक्-	देशोत्तोरुक्-	देशोत्तोरुक्-	देशोत्तोरुक्-
षट्तः—	साधि- कानि	साधि- कानि	अन्तर्मुहूर्तम	पुत्रार्थ- कानि	पुत्रार्थ- कानि	पुत्रार्थ- कानि	पुत्रार्थ- कानि	पुत्रार्थ- कानि	पुत्रार्थ- कानि
यति०	सर्वतरकदव० ३८								
इन्द्रिय०									
काय०									
योग०	काय० १	श्रीशारिक० १	मिथ्यौदारिक						
वेद०				स्वीवेद० १					
कृषाय०									
ज्ञान०				विमङ्ग १					
संश्रम०									
दर्शन०									
लेख्या०	सर्व० ६								
अध्य०									
सम्यक्त्व-									
संज्ञी०									
आधारी०									
सर्वमार्गणाः—	४४	१	१	१	१	१	१	१	१
गाथाङ्काः—	२१६	२२१	२२२	२२४	२२२	२२२	२२२	२२२	२२२

● केचित्—देशोत्तोरुक्त्वादिभ्यस्तिस्रस्रस्येति । ★ सर्वमार्गणासु कुक्त्वादिभ्यस्तिस्रस्रस्येति । तु १६४ तमे पृष्ठे विवक्षित इति ।

जघन्यस्थितिवन्धस्यान्तरम्

जघन्यान्तरम्		उत्कृष्टान्तरम्						
शोधवत् समथोनक्षुब्धकमव०	साधिक- पन्योप०	अन्तरं न भवति	पल्लवोपमा- उमंग्रपभा १०	देशोना स्वीयस्थी- शोन्कृष्टकायमिति:	कोटि- थक्त्वम्	सागरो समशत पुष्पकत्व	रोहवत् नाधिक २०००सा	
पाति०	तिर्यगीष. तिर्यक- ञ्चेन्द्रिचीष. तददर्शा. मनुष्यीष. तदपर्याप्त	शेष० ४२	तिर्यकत्वोप० १	अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय- तिर्यगपर्याप्तमनुष्यी. २	पञ्चेन्द्रिय- तिर्यग- मनुष्यीष- भेदो. २			
इन्द्रिय०	शोध-बादरीष-तदप- र्याप्त-सूक्ष्मीष-तदप- र्याप्तकेन्द्रियभेदाः. मौघा-अपर्याप्तद्वि-वि- चतुःपञ्चेन्द्रिय- भेदाश्च १३	शेष० ६	शोध-बादरीष- सूक्ष्मीषभेदादे- केन्द्रियभेदत्रयम्. ३	मौघा-अपर्याप्तद्वि-वि- चतुःपञ्चेन्द्रियभेदाः अपर्याप्तसूक्ष्मबादरीके- न्द्रियभेदो च. १०				
काय०	शोध-बादरीष-तदप- र्याप्त-सूक्ष्मीष-तदप- र्याप्तभेदाभिलाषुषिव्य- प्लेजावायुसाधारण- वनभेद. वनीष. प्रत्ये- कवनीषाअपर्याप्तो. त्र- सी. १३३३०३०३०३०	शेष० १२	शोध-सूक्ष्मीष- बादरीषभेदाभिला- षुषिव्यप्लेजावायु- साधारणवनभेदाः वनीषः प्रत्येक- वनीष १३	वनीष-अपर्याप्तद्वि-वि- चतुःपञ्चेन्द्रियभेदाः अपर्याप्तसूक्ष्मबादरीके- न्द्रियभेदो च. १०				
योग०	कायोप० औदारिक- मिश्रश्च० २	शेष० १४	कायोप० १	औदारिकमिश्र० १				
वेद०	नपुंसक० १	शेष० २				गुण१-		
कपाय०		सर्व० ४						
ज्ञान०	मध्यज्ञा० खुलाज्ञा० २	मन्यादि० ३	मनःपर्यव. विभङ्ग. २	मत्वादिज्ञानत्रिक. ३			मन्यज्ञा. अनाज्ञा २	
संयम०	असंयमः--१	शेष० ५					असंयम. १	
दर्शन०	अवक्षु० १	शोधवि० १	चतु० १	अवधि० १			अवक्षु० १	
लेइया०		सर्व० ६						
भण्य०	सर्व० २						सर्व० २	
सम्बन्धत्वं	मिष्ट्यात्व० १	सम्बन्धवत्त्वो. आयोप. २	शेष० २	गम्यगन्धीय० ज्ञानोपदाधिक० ०			मिष्ट्यात्व० १	
संज्ञी०	मंज्ञी, अमंज्ञी० २		अमंज्ञी १	मंज्ञी० १				
आहारी.	आहारी० १						आहारा० १	
सर्वमागणाः-	६१	६	२६	२३	३३	२	१	
गाथाङ्काः-	२४५	२४५	२४६	२४६-२४७	२४६	२४७	२४८	

अजघन्यस्थितिः जघन्यान्तरमात्रेण आदेशेन च सर्वथाऽनु-
कृत्यस्थितिवन्धः न्यासनेन (गाथा-२४९)

अन्तरम्	६९ मार्गणासु अन्तरं न भवति	शेषासु १०१ मार्गणासु जघन्यमन्तमुत्तमम्, असंख्यलोकाः	पूर्वकोटिपृथ- क्त्वम्	अङ्गुलाऽसंख्य- भागाः	उत्कृष्टं तु- देशो नोत्कृष्ट- कायस्थितिः
गति०	निरयोध० प्रथमा व० सर्वमनुप्यभेद० द्वयोध० भवन० व्यन्तरदेवभेद० ६	तिर्यग्गतौघ० १	पञ्चेन्द्रियतिर्य- गोघ० तत्पर्याप्त० तिरभी० ३		शेष० ३४ ★
इन्द्रिय०	पञ्चेन्द्रियोध० तत्पर्याप्त० २	एकेन्द्रियोध० १		सूक्ष्मकेन्द्रियोध० १	शेष० १५ . १
काय०	प्रसकामोघ० तत्पर्याप्त० २	पृथिव्यप्ते जीवा- युवनस्पत्योघ० नाधारणवनोघ० ६		सूक्ष्मपृथिव्यप्ते- जीवायुसाधारण- वनोघभेदाः ५	शेष २६ . १
योग०	सर्व० १८				
वेद०	मन्वा० ४				
कृपाय०	सर्वा० ४				
ज्ञान०	मत्स्यविज्ञानवतृष्णः विभङ्ग० ५	मत्स्यज्ञान० श्रुता- ज्ञान० ६			
संयम०	संयमोघ० सामाविक० ज्ञेद० △ परिहारविशुद्धिक० सूक्ष्मदेश० ६	असंयम० १			
वर्जन०	सर्व० ३				
लेइया०	सर्व० ६				
भक्ष्य०	भक्ष्य० १	अभक्ष्य० १			
सम्य- क्त्व०	सम्यक्त्वोघ० क्षायिक० औपशमिक० △ क्षायोपशमिक० सासदन० मिश्र० ६	सिध्यात्व० १			
संज्ञी०	संज्ञी० १	असंज्ञी० १			
आहागी०	सर्वा० २				
सर्वमार्गणाः-	६६	१४	३	६	७८
गाथाङ्काः-	२२६***२३२	२३४	२३५	२३५	२३५

△ परिहारविशुद्धिकसंयम-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोर्मतान्तरेण जघन्यमन्तमुत्तमम्, उत्कृष्टं स्वदेशो नोत्कृष्ट-
कायस्थितिः । (गाथा-२३२-२३३)

★ द्वितीयपृथिव्याद्याः ६ निरयभेदाः, ज्योतिष्काद्याः २७ देवभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-१, = ३४ ।

+ वादरोध-तत्पर्याप्ता-अपर्याप्त-सूक्ष्मपर्याप्ता-अपर्याप्तकेन्द्रियभेदाः ५, सर्वविकलेन्द्रियभेदाः ६, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदाः = १५ ।

. वादरोध-तत्पर्याप्ता-अपर्याप्त-सूक्ष्मपर्याप्ता-अपर्याप्तभेद मिस्रपृथिव्यप्ते जीवायुसाधारणवनभेदाः-२५, सर्वप्रत्येकवनस्पति-
कायभेदाः-३, अपर्याप्तप्रसभेदाः-१ = २६ ।

उत्कृष्टम्—	घोषवन्तमु हृतम्— (मार्गणाः—१३८)	शेषासु अन्तरमेव नास्ति	
जघन्यम्—	घोषवत् समयः	अन्तमु हृतम्	
गति०	द्वितीयपृथिव्यादिसप्तमपृथिव्यन्ताः ६ निरयभेदाः, ज्योति- ष्वादिसर्वाधिभिद्विमानान्ताः २७ देवभेदाः, ५ सर्वतिर्यग्भेदाश्च ३८	मनुष्योव० तत्पर्याप्त० मानुषी० ३	निरयोध-प्रथमनिरया-अ- र्वाणमनुष्य-देवोष-भवत- पति-व्यन्तरदेवभेदाश्च ६
हृन्त्रिय०	सर्व० १६		
काय०	सर्व० ४२		
योग०	काययोगौघ० वैक्रिय० आहारक० + मिश्रयोगत्रयम्० ६		सर्वमनोवचोभेद० शौदा- रिक० कामंगु० १२
वेद०		अवेद० १	वेदत्रयी० ३
कराय०			सर्व० ★ ४
ज्ञान०	मति-श्रुता-अधिज्ञानानि, मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाने च ५	मनःपर्यव० १	विभङ्गज्ञान० १
संयम०	असंयम० परिहार० ∴ २	समसौघ० १	सामायिक० छेद० सूक्ष्मसम्प० देघ० ४
दर्श०	चक्षु० अचक्षु० अविधि० ३		
नेत्र्या०	सर्व० ∴ ६		
भक्ष्य०	भक्ष्य० अभक्ष्य० २		
सम्यक्त्वं	सम्यक्त्वोघ० क्षायिक० शोषशमिक० क्षायोपशमिक० ∴ सासवन० मिथ्यास्व० ६		
संज्ञी०	संज्ञी० असंज्ञी० २		सम्यग्मिथ्यान्व० १
आहारी०	आहारी० १		अनाहारी० १
सर्वमार्गणाः-	१३८	६	३२
साध्याङ्काः-	२३८	२४०	२३६-२७-३८

— मिश्रयोगत्रयं सासदनमार्गणायां च मतान्तरेऽन्तरमेव न भवति (गाथा-२३६) ।

★ अपवादः—लोभमार्गणायां मोहनीयस्य जघन्यं समयः, उत्कृष्टमन्तमु हृतम् (गाथा-२३८) ।

∴ परिहारशत्रुद्विकसंयम-तेजोलेश्या- पञ्चलेस्या-शापोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु मतान्तरे प्रस्तुतान्तरं जघन्यतोऽप्यन्त-
मु हृतम् (गाथा-२४०) ।

'पणमणवयेसु विउवे आहारदुरो कसायचडो य । सासाणे आउस्स उ भगुरुठिईपंऽतरं णत्थि ॥२१८॥
 सेसासु सुहुत्तंते लहुं गुरुं होइ उणछम्मासा । मव्वणिस्यदेनेसुं पयत्तवपसात्थलेत्तासुं ॥२१९॥
 सव्वेसु तिरिय-मणुस-पणिदिय-विगल-पंचकायेसुं । असमनपणिदि-तसेसु साहिया भवठिई जेढा ॥२२०॥
 कायम्मि भूसवठिई देसूणतिभागसंजुया जेढा । उल्लेऽवभहियाणि भवे सत्तसहस्साणि वासाणि ॥२२१॥
 ओरान्धिय मीसम्मि उ भिन्नसुहुत्तं हवेज्ज इत्थीय । जाणेयव्वं पंचावण्णा पळिओवमाऽव्वमहिया ॥२२२॥
 मणणाण संयमेसु समइअ-छेअ परिहार देसेसुं । देसूणो पुव्वाणं कोडिनिभागो सुणेयव्वं ॥२२३॥
 विवभंगे देसूणा जेढा कायट्ठिई सुणेयव्वं । देसूणा छम्मासा इवइ ति भणन्ति अण्णे उ ॥२२४॥
 पुव्वाणेगा कोडी अवभहिया होअए असणिमम्मि । सेसासुं णायव्वं तेत्तोसा सागराऽव्वमहिया ॥२२५॥
 इति गाथाऽष्टकेनाभिहित्वाऽऽयुरनुत्कृष्टस्थितिवन्धवन्धान्तरवत् प्रकृतान्तरं यश्च मनोयोगभेदाद्यष्टादश-
 मार्गणामु नास्ति । शेषनिरयगत्योघादिपञ्चत्वारिंशदभ्यधिकशतमार्गणामु तु जघन्यतोऽन्तमुहूर्तम्,
 उत्कृष्टतस्तु निरयगत्योघादिचतुश्चत्वारिंशन्मार्गणामु देशोपमासाः । निरयगत्योघादिषट्पष्टिमार्ग-
 णामु प्रत्येकं साधिका भवस्थितिः । काययोगमार्गणायां साधिकान्येकोनत्रिंशदर्धसहस्राणि । आदारिक-
 काययोगमार्गणायां साधिकानि सप्तवर्षसहस्राणि । आदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायामन्तमुहूर्तम् ।
 स्त्रीवेदमार्गणायां साधिकानि पञ्चपञ्चाशन्व्योपमानि । मनःपर्यवज्ञान-संयमाव-सामायिक-छेदो-
 पस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयममार्गणामु प्रत्येकं देशेनः पूर्वकोटीतृतीयभागः । विभङ्गज्ञानमार्ग-
 णायां किञ्चिदुत्पूर्वकोटीतृतीयभागद्वयोना स्त्रीयोत्कृष्टकायस्थितिः । असंज्ञिमार्गणायां साधिका पूर्व-
 कोटिः । उक्तशेषामु पञ्चेन्द्रियोध-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियादित्रयोविंशतिमार्गणामु पुनः प्रत्येकं साधिकानि
 त्रयोविंशत्सागरोपमाण्यायुषोऽजघन्यस्थितेरुत्कृष्टं वन्धान्तरं बोद्धव्यमित्यर्थः । भावनाप्येतासु
 प्रत्येकमनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धान्तरवदेव कार्येति ।

इदन्तु बोध्यम्—यथा संयमादसंयमे गमनाऽगमनापेक्षया एकस्मिन् भवे नानासंयमा-
 कर्षाः, एवं सम्यक्त्वाद्याकर्षाश्च निर्विवादमभ्युपगम्यन्ते, तथा श्रीपज्ञापनायामोक्ता आयुर्वन्धा-
 कर्षा आयुर्वन्धात्तद्वन्धे गमनाऽगमनापेक्षयाऽभ्युपगम्य एकस्मिन् भव एकद्रयादिवारं यावत्सप्त-
 कृत्व आयुर्वन्धापेक्षयाऽत्र ग्रन्थे एकजीवाश्रयमायुर्वन्धान्तरं प्रतिपादितं भवति । कथं गम्यते ?
 निरयगत्योघाद्येकभक्तिकमार्गणास्थानेष्वप्यनुत्कृष्टादिस्थितेर्वन्धान्तरस्य प्रतिपादितत्वात् । अत
 एव तत्र तत्राऽनुत्कृष्टादिस्थितेर्जघन्यवन्धान्तरमेकस्मिन् भवे चरमद्विचरमायुर्वन्धाद्द्वयोर्द्विरायु-
 वन्धापेक्षयाऽन्तमुहूर्तप्रमाणमुपपादितमस्माभिः ।

यदि च * ग्रन्थान्तरवचनेनैकस्मिन् भवे सकृदेवायुर्वन्धमभ्युपगम्याऽऽयुर्वन्धाकर्षास्तथा
 नाभ्युपगम्यन्ते, मतान्तरं वाऽभ्युपगम्यन्ते, तदा तु निरयगत्योघादिमार्गणामु यास्वेकमवाधिक-
 कालं जीवो न तिष्ठति, तासुत्कृष्टस्थितिवन्धान्तरप्रतिषेधवदनुत्कृष्टादिस्थितिवन्धान्तरमपि प्रति-
 षेधनीयम् । यत्र पुनरोघादिप्ररूपणायां नानाभवसम्भवस्तत्राऽनुत्कृष्टादिस्थितेर्जघन्यमन्तमुहूर्तप्रमाणं
 वन्धान्तरं भवद्वयेनैव साधनीयम्, न त्वेकेन भवेन । तथाहि—यः कश्चिन्मनुष्यादिजीवोऽसंक्षेप्याद्याया-

* महोपाध्यायधिरचितयोगविशिकायुक्त्यादिव चनादित्यर्थः ।

मर्याप्तमनुष्यादिसत्कमायुर्निर्वर्त्य तत्पश्चादपर्यंत्य क्षुल्लकभवप्रमाणवद्धन्वाद्वा भवान्तरे पट्पञ्चाश-
 दभ्यधिकशतद्वयावतिस्थितिकृतयोत्पद्य तत्र वेद्यमानायुस्तृतीयभागरूपायामघाधायामायुर्वन्धं प्रारभते,
 तस्य तथाविधायुर्वन्धकस्य तथाविधायुर्वन्धद्वयस्य किञ्चिदभ्यधिकक्षुल्लकभवतृतीयभागद्वयप्रमाण-
 मन्तरमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यं बन्धान्तरं लभ्यते, जघन्यावाधायः क्षुल्लकभवतृतीयभागद्वयस्य च
 तादृशायुर्वन्धद्वयान्तराले पतितत्वात् । एतदेवं घतस्तिर्यग्गत्योधादिमार्गणालु चाऽऽयुषोऽनुत्कृष्टस्थिते-
 र्जघन्यं बन्धान्तरं ज्ञेयम् । अनुत्कृष्टस्थितिवन्धोत्कृष्टान्तरमप्योवतस्तिर्यग्गत्योधादिमार्गणास्वेव
 च प्रथमत उत्कृष्टावाधायो पश्चाच्चनन्तरे सम्भवत्पूर्वकोऽथाद्युत्कृष्टस्थितिकभवे जघन्यावाधायामायु-
 र्वन्धापेक्षया लभ्येतेत्येवं प्रतिमार्गणं यथासम्भवं स्वयमेवोद्यम् । एवमेवाऽजघन्य-जघन्यस्थिति-
 बन्धान्तरमप्युपपादनीयम् । एवमेवाग्रे भूयस्काराधिकारादावप्येकजीवाश्रयान्तरे यथासम्भवं विशेषः
 स्वयमभ्युद्धः । न चैकस्मिन् पक्षे वेद्यमानायुस्तृतीयभागद्यवशेष आयुर्वन्धाद्वायां सकृदायुर्वन्धनां
 तदानीमेव नानाऽऽकर्षानभ्युपगम्य तदपेक्षयाऽऽयुषः सम्भवदुत्कृष्टादिस्थितिवन्धान्तरस्य प्रतिपादन-
 मेव साधीयस्, तथाऽभ्युपगम आगमोक्तऽऽयुर्वन्धाकर्षा एकस्मिन् भवे सकृदेवायुर्वन्ध इत्यस्य
 वचनद्वयस्योपपत्तेरिति वाच्यम् । तथा सति वेद्यमानायुषस्तृतीय-नवमादिभागावशेषादन्तमुर्हत्-
 मध्ये द्वितीयाध्याकर्षरूपाणामायुर्वन्धानां वेद्यमानायुषोऽवशेषतृतीय-नवमादिभागादन्यत्रा-ऽन्तमुर्हत्-
 द्वयन्तमुर्हत्तद्योनतृतीयभागाद्यवशेषे पुनः पुनः प्रारम्भस्याऽऽवश्यकतया 'तृतीय-नवमभागाद्यवशेषे
 स्वीयवेद्यमानायुषि जीवः पारमविकायुर्वन्धं प्रारभते, नान्यथा,' इत्यर्थकविद्वान्तो विरुध्येत ।
 इत्येवं यथासति विवृतमायुर्वन्धान्तरम्, तत्र पुनः सर्वविदवेद्यमिति नार्त्रिकस्मिन्नपि पक्षेऽस्मा-
 कमाग्रह इति ॥२४९॥

तदेवमभिहितमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्द्विविधं बन्धान्तरमतिदेशद्वारेण सर्वमार्गणालु । तस्मिन्-
 श्चाभिहिते गतं पञ्चममेकजीवाश्रितमन्तरद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे द्वितीयाधिकारे पञ्चममन्तरद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथ षष्ठं संनिकर्षद्वारम् ॥

अथ क्रमशः संनिकर्षद्वारम् । तत्र चोत्कृष्ट-जघन्यस्थितिवन्धभेदाद् द्विविधः संनिकर्षः प्रति-
पादनीयः, तत्रादायुत्कृष्टस्थितिवन्धसंनिकर्षं प्रतिपादयिषुरोधतः प्ररूपयन्नाह—

पढमस्मुकोमठिइं वंधंतो वंधगो चिअ हवेज्जा ।

छण्हं उक्कोमाए वाऽणुक्कोसाअ व ठिईए ॥२५०॥

(प्रे०) “पढमस्से”त्यादि, इह हि संनिकर्षः-सम्बन्धः, न च मूलप्रकृतिसत्कोत्कृष्टा-
दिस्थितिवन्धानां समकाले जायमानानां परस्परं गृह्यते, तेषामेव प्रस्तुतत्वात् । इदमुक्तं भवति—
यदा हि ज्ञानावरणीयादिविश्वितप्रकृतेर्विश्वितो य उत्कृष्टादिस्थितिवन्धः प्रवर्तते, तेन सह भावी,
अर्थात् तदानीमेव जायमानो यस्तदन्यप्रकृतीनामुत्कृष्टादिस्थितिवन्धः, सोऽत्र प्ररूपणीयः, संनि-
कृष्टानां-समकालादौ वर्तमानत्वाज्जायमानत्वाद्वा परस्परं सम्बन्धितानामर्थानां तेनरूपेण प्ररू-
पणायाः सन्निकर्षप्ररूपणाशब्दनिर्वचनात् । तत्र “पढमस्स” ति निरुक्तयुक्त्या * व्युत्पन्नक्रमेण
‘प्रथमस्य’ ज्ञानावरणीयकर्मण ‘उत्कृष्टां’ त्रिंशत्कोटिकोटिसागरोपमप्रमाणां स्थितिं बन्धन् यः
कश्चिज्जीवः सः “बंधगो चिअ हवेज्जा” ति बन्धक एव भवति । कस्या इत्याह—“छण्हं”
मित्यादि, ज्ञानावरणमायुश्च विहाय शेषाणां दर्शनावरणीयादीनां पण्णां कर्मणामुत्कृष्टाया वाऽनुत्कृ-
ष्टाया वा स्थितेरित्यर्थः ॥२५०॥ तदेवं ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिवन्धकाले दर्शनावरणीयादीनां
पण्णां कर्मणामनुत्कृष्टा स्थितिरपि बध्यत इति विकल्पने मति साऽनुत्कृष्टा स्थितिः किं सम-
योत्कृष्टा तिसमयोत्कृष्टा वा, कियत्प्रमाणा बध्यते ? इत्यत्राह—

सा य अणुक्कोसठिई उक्कोसाउ समयाइणा हीणा ।

जाव असंखसेणं हीणा पलिओवमस्स भवे ॥२५१॥

(प्रे०) साय अणुक्कोसठिई” त्यादि, सा च ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिवन्धकाले तत्स्वा-
मिना निर्वर्त्यमाना दर्शनावरणीयादीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टा स्थितिः “उक्कोसाउ” ति “ठिइं वंधो
उक्कोसो पढम-दुइअ-तइअ अहुमाण भवे । सागरकोडकोडी” । (भा०-३७) इत्यादिना प्रागुक्तत्रिंशत्को-
टिकोत्यादिप्रमाणदर्शनावरणीयादिमत्कोषोत्कृष्टस्थितेः, दर्शनावरणादिसत्कर्माधिकमुत्कृष्टस्थितिवन्ध-
प्रमाणमपेक्ष्यन्त्यर्थः । समयदिना हीना यावत्पल्योपमस्यासंख्यांशेन हीना भवेत् । इदमुक्तं
भवति—यदा ज्ञानावरणीयस्योत्कृष्टस्थितिर्वध्यते, तदा दर्शनावरणीयादीनां पण्णां कर्मणां नियमतो
बन्धो भवति, स्थितिस्तु तदानीमुत्कृष्टा त्रिंशत्कोटीकोट्यादिप्रमाणा बध्यते, अनुत्कृष्टा वा दर्शनावर-
णीयस्य समयोनास्त्रिंशत्कोटीकोट्यः, तिसमयोनास्त्रिंशत्कोटीकोट्यः, तिसमयोनास्त्रिंशत्कोटीको-
ट्यः, एवं यावत्पल्योपमस्यासंख्यातमेन भागेनोनास्त्रिंशत्कोटीकोट्योऽपि बध्यते, न पुनस्ततो-

* द्वितीयाधिकारे प्रथमद्वारे सप्तत्रिंशत्तमगाथावृत्तौ दर्शितयुक्त्येत्यर्थः ।

ऽप्युता । इत्यमेव वेदनीयकर्मणोऽन्तरायकर्मणोऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धविषयेऽपि द्रष्टव्यम्, मोहनीयस्य त्वनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्तदीर्याधिकसप्ततिकोटीकोटीप्रमाणोत्कृष्टस्थितिवन्धमपेक्ष्य समयादिना हीनो यावत्पन्योपमस्यासंख्यभागेन हीनसप्ततिकोटीकोटीप्रमाणो जायत इति द्रष्टव्यम् । एवमेव नामगोत्रयोरपि स्वकीर्याधिकोत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणमपेक्ष्याभिधत्तव्यमिति ॥२५१॥ तदेवं ज्ञानावरणीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धे जायमाने नियमेन वध्यमानानां दर्शनावरणादीनां षण्णां स्थितिवन्धविषयकविकल्पान् प्रतिपाद्य सम्प्रत्युक्तशेषस्यायुःकर्मणस्तान् दर्शयन्नाह—

आउस्स बन्धगो वा अबन्धगो वाऽत्थि गुरुठिईए च्च ।
भयणिज्जा उणऽवाहा होज्जेवं छण्ह कम्माणं ॥२५२॥

(प्रे०) “आउस्स” इत्यादि, ज्ञानावरणस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्तर्मा पुनरायुःकर्मणो बन्धको वाऽबन्धको वा भवति, पारमत्रिकायुषो वेद्यमानायुस्त्रिभागाद्यशेषे नियतकाल एव बन्धसम्भवात् । यदा च ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिवन्धकालेऽसात्रायुषो बन्धकस्तदा “गुरुठिईए च्च” ति निषेकमात्रमधिकृत्यावाधानिरपेक्षा याऽऽयुषो ‘गुरुः’-उत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणा स्थितिस्तस्याः “च्च” ति एव बन्धको भवतित्यर्थः । इत्येवमवधारणादनुत्कृष्टायाः समयादिहीनत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणाया अनुभवयोग्यस्थितेरबन्धको नैव भवतीति भावः । अत्रावाधायुतनिषेकरूपायाः कर्मरूपतावस्थानलक्षणायास्तु तस्या अनुत्कृष्टस्थितेरपि बन्धको भवतीत्येतददर्शयितुकाम आह—“भयणिज्जा उणऽवाहा” ति तस्या उत्कृष्टस्थितेरवाधा पुनर्भजनीया-भाज्या, निषेकमात्रमधिकृत्य बन्धप्रायोग्याया आयुषो वध्यमानानुभवयोग्योत्कृष्टस्थितेरवाधा पुनरुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टा वा स्यादित्यर्थः । अयम्भावः-पूर्वकोटीवर्षायुपध्वरमे तृतीये भागे वेदयितुं प्रारब्धे कश्चिज्जीवो ज्ञानावरणीयस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् दर्शनावरणीयादीनामुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा स्थितिं निर्वर्तयति, स च तदानीमेवाऽऽयुषो बन्धं निर्वर्तयति चेत्तदा सप्तमनरकसत्कत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणोत्कृष्टस्थितिफायुष एव, न तु समयादिहीनस्थितिकस्य, अस्य त्वादुष उत्कृष्टस्थितिवन्धे प्रारब्धे प्रथमममय उत्कृष्टाऽवाधा भवति, प्रारम्भद्वितीयममयात्पुनस्तस्योत्कृष्टनिषेकस्याप्यायुषः स्थितिवन्ध-ऽवाधा समयादिना हीना हीनतराद्याऽनुत्कृष्टा भवति, इत्येवं वेद्यमानायुषो नत्रमादिभागेष्ववशेषेषु ज्ञानावरणीयस्योत्कृष्टां स्थितिवन्धन्तो येऽष्टानां मूलप्रकृतीनां बन्धकार्त्तवामप्यायुषो निषेकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाण उत्कृष्ट एव द्रष्टव्यः, अत्राधापुनरनुत्कृष्टावेति । तदेवं ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिवन्धकाले शेषसप्तकर्मणां जायमानं स्थितिवन्धं प्रदर्श्य सम्प्रति दर्शनावरणीयादीनां षण्णां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धकाले तदन्यप्रकृतीनां जायमानस्थितिवन्धं प्ररूपयितुकामोऽतिदिशुन्नाह—“होज्जेवं छण्ह कम्माणं” ति एवंशब्दस्य सादृश्यार्थकतया यथा ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीवः शेषाणां दर्शनावरणादीनां षण्णां नियमेनायुषश्च भजनया यथोक्तप्रमाणोत्कृष्टादि-

स्थितेर्वन्धको वाऽवन्धको वा भवति, तथैव “उष्णह कम्माणं” ति ज्ञानावरणीयायुर्वर्जानां पष्णां दर्शनावरणीयादिकर्मणां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिं वधन् जीवोऽपि शेषाणां ज्ञानावरणीयादीनां कष्णा-
मायुषश्च यथोक्तप्रमाणोत्कृष्टादिस्थितेर्वन्धकोऽवन्धको वा भवतीति भावः । विशेषतस्तु प्रतिकर्म स्वयमेव योजनीयमिति ॥२५२॥

सम्प्रत्यायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धे शेषकर्मणां स्थितिबन्धसंनिकर्ममाह—

आउस्सुकोसटिइं बंधंतो बंधगो च होएज्जा ।

उक्कोमाअ ठिईएऽणुक्कोमाअ व सत्तण्हं ॥२५३॥

(प्रे०) “आउस्सुकोसटिइ”मित्यादि, आयुष उत्कृष्टां स्थितिं वधन् जीवस्तु “बंध-
गो च होएज्जा” ति अस्य ‘सत्तण्ह’ इति परेणान्वयस्ततः शेषसप्तकर्मणां बन्धक एव भवेत्, न
पुनर्वन्धकः । स्थितेस्तु तेषां शेषसप्तकर्मणामुत्कृष्टाया अनुत्कृष्टाया वा बन्धक एव भवेत्, उत्कृष्टा-
नुत्कृष्टस्थित्योऽन्यतस्याः स्थितेर्वन्धको भवतीति भावः; सकृदायजीवानां प्रकृतिबन्धभावे स्थिति-
बन्धस्य नियन्तो भावादिति ॥२५३॥ अनन्तगात्रायामायुष उत्कृष्टस्थितेर्वन्धकः शेषाणामुत्कृष्टा-
मनुत्कृष्टां वा स्थितिं वध्नातीति विकल्पितम्, अतस्तत्रानुत्कृष्टा स्थितिः किमुत्कृष्टापेक्षयाऽसंख्य-
भागहीना उत संख्येयभागहीनाऽसंख्येयादिबहुभार्गवा हीना वक्ष्यत इति जिज्ञासायामाह—

मा य अणुक्कोसटिई ति विहा णेया असंखभागूणा ।

संखेज्जभागहीणा तथा य संखेज्जगुणहीणा ॥२५४॥

(प्रे०) “सा य अणुक्कोसटिई”त्यादि, सा चायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धकाले निर्वर्त्य-
माना ज्ञानावरणादीनामनुत्कृष्टस्थितिः “तिविहा” “त्रिविधा”-अनुपदं वक्ष्यमाणविस्थानपतिता ज्ञेया ।
त्रैविध्यमेवाह—“असंखभागे”त्यादिना, स्वीयस्वीयौघोत्कृष्टस्थितिबन्धापेक्षयाऽसंख्येयतमभागे-
नोना, संख्येयतमभागेन हीना, संख्येयगुणहीना, संख्येयैर्बहुभिर्भागीहीना वेत्यर्थः । इयं हि
त्रिविधाऽपि स्थितिर्निरयायुर्वधन्तो जीवानपेक्ष्य विज्ञेया, न पुनर्देवायुर्वधन्तां, देवायुर्वधन्तां
जीवानां विशुद्धाध्यवसायतया ज्ञानावरणादेः संख्येयगुणहीनोत्कृष्टस्थितिबन्धस्यैव भावादिति
॥२५४॥

तदेवमौवतोऽष्टानामपि मूलकर्मणासुत्कृष्टस्थितिबन्धमभिकर्षमभिधाय सम्प्रति तेषामेवा-
ऽऽदेशतो निरयगत्योधादिमार्गणास्थानेषु तमभिधित्सुराह—

एवं सव्वासु णवरि बंधो आउस्स णो विउवमीसे ।

कम्मण-गयवेअ-सुहुम-उवसम-मीसेसु णाहारं ॥२५५॥

(प्रे०) “एवं सव्वासु” इत्यादि, एवंशब्दस्य सादृश्यार्थकत्वेन सर्वासु मार्गणासु ज्ञाना-

वरणादिमूलकर्मसन्कोत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिवन्धमनिकर्षोऽनन्तरोक्तौधिक्यमनिकर्षवज्जातव्य इत्यर्थः । अयं ह्यतिदेशः सामान्यतो बहुदेशमाहश्यमाश्रित्य वेदितव्यः । कुतः ? अनुपदमेव त्वानिदिष्टार्थे कतिपयमार्गणास्त्रपवादस्थानानां दर्शनीयत्वात् । अपवादस्थानान्येव दर्शयन्नाह—“णवरि” इत्यादि, तत्राद्यम्—“बन्धो आउस्स णो विउवमोसे” इत्यादि, वैक्रियमिश्र-कामेणकाययोगा-ऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयमौ-पशमिकयस्यक्त्र-मिश्रदृष्ट्य-ऽनाहारकरूपासु सममार्गणास्वायुःकर्मणो बन्धो न भवत्यतस्तासु सप्तकर्मणां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीव आयुषोऽवन्धक एवेति विशेषतो द्रष्टव्यम्, न पुनरोधवदायुषो बन्धकोऽवन्धको वेत्यादि । तथाऽऽयुष उत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीवः शेषसप्तकर्मणां बन्धक एवेत्यादि यदोघोक्तं तदपि न वक्तव्यम्, एतासु मार्गणास्वायुष एवावन्धात् ।

अत्रेदमवधेयम्—मार्गणास्थानेष्वोघवन्कृतोऽतिदेशे वचनसाम्यमेव, न पुनः पदार्थसाम्यम्, अत उत्कृष्टस्थितिवन्धस्थाने सर्वत्रौघिकोत्कृष्टस्थितिवन्धो न धर्तव्यः, किन्तु तत्तन्मार्गणापेक्षया यावानुत्कृष्टस्थितिवन्ध उक्तस्तावानेव ग्राह्यः; तदपेक्षया चानुत्कृष्टस्थितिवन्धस्याऽसंख्यभागादिहीनत्वादिकं द्रष्टव्यम् । इत्थं हि वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामायुर्वन्धस्य निषेधात् तद्वर्जशेषमोघवद् । अर्थात्-प्रथमस्य ज्ञानावरणम्योत्कृष्टां स्थितिं वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां बन्धप्रायोग्यामन्तः-कोटीकोटीसागरोपमप्रमाणां बध्नन् तत्स्वामी दर्शनावरणादीनामायुर्वर्जशेषाणां पण्णां कर्मणामुत्कृष्टाया वाऽनुत्कृष्टाया वा स्थितेर्निवमेन बन्धको भवति । तत्र दर्शनावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिः प्रकृतमार्गणापेक्षया याऽन्तःकोटिकोटीसागरोपमप्रमाणा तां बध्नाति, अनुत्कृष्टां त्वन्तःकोटीकोटी-सागरोपमप्रमाणोत्कृष्टरिश्त्यपेक्षया समयादिना हीनां यावत्पल्पोपभासंख्यभागेन हीनां बध्नाति । यथा ज्ञानावरणोत्कृष्टस्थितिं बध्नन् शेषकर्मणामुत्कृष्टं स्थितिवन्धं करोति, तथा दर्शनावरणोत्कृष्ट-स्थितिं बध्नन् ज्ञानावरणादिशेषपट्कर्मणामुत्कृष्टस्थितिवन्धं करोति; इत्येवं वेदनीयादिकर्मोदाय प्रत्येकं संनिकर्षो द्रष्टव्यः, इत्यमेव शेषासु कामेणकाययोगादिमार्गणासूत्रत्र च मार्गणाप्रायोग्यं तत्सन्कर्मसन्कोत्कृष्टादिस्थितिवन्धमाश्रित्य तत्तन्मार्गणासु भावनीयमिति ॥ २५५ ॥

अथापगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोरन्यदप्यपवादस्थानमाह—

पहमस्सुककोसठिहं बंधतोऽवगयवेअसुहुमेसु ।

जेट्टाअ बंधगां चिअ सेमाणेमेव सेसाणं ॥२५६॥

(प्रे०) “पहमस्सु” इत्यादि गतार्थम्, नवरमपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां चोभयत्रोत्कृष्टस्थितिवन्ध उपशमश्रेणी लभ्यते, स चापगतवेदमार्गणायां बध्यमानानामायुर्वर्जानां प्रतिनियतैरध्यवसायविशेषैरेव भवति । कुतः ? अनिष्टुत्तिकाणादारभ्योर्ध्वं प्रतिनियतैरध्यवसायविशेषैः प्रतिनियतस्थितिवन्धविशेषाणां निवृत्तेः । अतो यदा एकस्य ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिवन्ध-प्रायोग्याध्यवसायो वर्तते, तदा तदन्येषां दर्शनावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्या ये प्रति-

नियताध्यवसायास्तेषामेव सद्भावः; तथा च सत्येकस्योत्कृष्टस्थितिवन्धे तच्छेषाणामपि कर्मणामुत्कृष्ट एव स्थितिवन्धो जायते, अत उक्तम्—“जेहाअ बंधगो चिअ सेसाण”मिति, तत्र चिअशब्दो एवकारार्थकोऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धव्यवच्छेदार्थमुपात्त इति । इत्थमेव सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गेणायामपि द्रष्टव्यम्, नवरं तत्र बध्यमानपट्कर्मविषय एव, न तु मोहनीयविषयेऽपि, ‘एमेव सेसाणे’त्यनेन बध्यमानशेषाणां विवक्षितत्वादिति ॥२५६॥ अथ मार्गणान्तरेष्वपवादोऽह—

सत्तण्हुकोसठिइं बंधंतो बंधए ण चेवाउं ।

सच्चणिरय-सुरि-गोदिय-विगलिंदेव-पंचकायेसुं ॥२५७॥

असमत्तपणिंदितिरिय-मणुस-पणिंदि-तस-उरलमीसेसुं ।

विउवे आहारदुगे णाणचउग-संयमेसुं च ॥२५८॥

सामाइअ-छेएसुं परिहारविसुद्धि-देस-ओहीसुं ।

णीलाईसुं पंचसुं सम्म-खइअ-वेअगेसुं सामाणे ॥२५९॥ (गीतिः)

(प्र०) “सत्तण्हुकोसठिइं”मित्यादि, अनुपदम् “सच्चणिरय” इत्यादिसार्धगाथाद्वयेन बक्ष्यमाणनिरयगत्यादिविंशत्यभ्यधिकशतमार्गणाभेदेव्यायुर्वर्जानां मत्तानां कर्मणामुत्कृष्टस्थितिं बध्नन् जीवः “बंधए ण चेवाउं” ति आयुःकर्म नैव बध्नीयात् । अयम्भावः—ज्ञानावरणस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् दर्शनावरणादीनां पण्णां मूलप्रकृतीनामेव बन्धं करोति, न पुनरोधवदायुषोऽपि, अतो ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिवन्धकाले तदन्येषामायुर्वर्जानां पण्णामेवाधवदुत्कृष्टाया वाऽनुत्कृष्टाया वा स्थितेर्वन्धक इति विशेषेण द्रष्टव्यम् । एवं दर्शनावरणस्योत्कृष्टस्थितिं बध्नन् ज्ञानावरणादीनामायुर्वर्जानां पण्णामुत्कृष्टाया वाऽनुत्कृष्टाया वा स्थितेर्वन्धको भवतीति विशेषेण द्रष्टव्यम् । एवमेव वेदनीयादीन्याधिकृत्याऽपि विशेषतो द्रष्टव्यम् । आयुष उत्कृष्टस्थितिं बध्नन् शेषाणां मत्तानामुत्कृष्टामनुत्कृष्टां वा यादृशीं स्थितिं बध्नाति तादृशीं तु ग्रन्थकारः स्वयमेव “एआसुकोसठिइं बंधंतो आउगम्म होएजा” इत्यादिनाऽनन्तरं दर्शयिष्यतीत्यत्र न द्रष्टव्यमिति ।

निरयगत्यादिमार्गणाभेदानेवाह—“सच्चणिरये”त्यादिना, तत्राद्यस्य सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वेषु निरयगतिमार्गेणाभेदेषु, सर्वेषु सुरगतिभेदेषु, सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियजातिलक्षणविकलेन्द्रियभेदेषु सर्वेषु पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायमार्गेणा-सत्कभेदेष्वित्यर्थः । तथा “असमत्ते”त्यादि, अत्राप्यपर्याप्ताऽपर्यायस्याऽसमाप्तशब्दस्य त्रसान्तेषु प्रत्येकं योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदे, अपर्याप्तमनुष्यभेदे, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-भेदे, अपर्याप्तत्रसभेदे चेत्यर्थः । तथौदारिकमिश्रकाययोगे, वैक्रियकाययोगे, आहारका-ऽऽहारक-मिश्रकाययोगयोद्विके, मत्यादिषु चतुर्षु ज्ञानेषु, संयमौष-सामयिकसंयमयोः, छेदोपस्थापन-

संयमे, परिहारविशुद्धिकसंयन-देशमंयमा-ऽवधिदर्शनमार्गणाम्, कृष्णलेशरावर्जासु नीलादिषु पञ्चसु लेश्यामार्गणसु, सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-वेदकसम्यक्त्वेषु सासादने चेत्यर्थः । ननु कस्मा-देतासु निरगत्योधादिमार्गणसु समानामुत्कृष्टस्थितिं वधन् जीव आयुर्नैव वध्नाति ? उच्यते-नीलकापोतलेश्यामार्गणे विहायैतासु प्रत्येकं शुभस्य नरकभिन्नायुष एव बन्धभावात्, तस्य च शुभत्वेन विशुद्धिप्रत्ययत्वात्समानामुत्कृष्टस्थितिवन्धकैः संक्रिष्टाध्ववपायैर्जीवैस्तद्वन्धो न क्रियते, नीलकापोतलेश्ययोरपि समानामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनो मनुष्यास्तिरथो वा न भवन्ति, कृष्ण-लेश्यायां सत्यामेव तैः समानामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य निर्वर्तनात् । शेष जीवानां तु निरयायुर्वन्धप्रा-योग्यमेव नास्ति, निरयायुर्वर्जानि शेषायुषि तु शुभानीतिकृत्वोत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्यसंक्लेश-गतैरतैस्तदानीं न निर्वर्त्यन्ते । इत्थं हि नील-कापोतलेश्यामार्गणयोरपि समानामुत्कृष्टस्थिति-बन्धकैरायुर्वन्धो न क्रियत एवेति ॥२५७-२५८-२५९॥

प्रकृतमार्गणास्वेवोत्कृष्टस्थितिकायुर्वन्धे शेषकर्मणां स्थितिवन्धमनिकर्षमाह—

एआसुककोसटिडं बंधंतो आउगस्स हाएज्जा ।

मत्तण्ह बंधगो विअऽणुककोसाए विअ ठिईए ॥२६०॥

(श्रे०) “एआसुककोसटिडमि”त्यादि, अनन्तरोक्तनरकगत्योधादित्रिंशत्युत्तरशतमार्गणा-स्वायुष उत्कृष्टस्थितिं वधन् जीवः शेषसप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेरेव बन्धक एव, न पुनरुत्कृ-ष्टस्थितेर्बन्धकः सप्तकर्मणामबन्धको चेत्यभिप्रायकमेवकारद्वयोपादानम् । गतार्थं चैतत्, प्रकृत-मार्गणास्वनन्तरमेव सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिवन्धं कुर्वतामायुर्वन्धस्य निषेधेनायुर्वन्धकाले सप्तकर्मणा-मुत्कृष्टस्थितिवन्धस्याऽप्यर्थान्निषिद्धत्वात् । सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितिवन्धाभावेऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्तु तस्य भवत्येवेति तु मुखेन गम्यते, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानं यावन्नकृतिवन्धभावे स्थितिवन्धस्यापि नियमेन भावात्, आयुर्वन्धकानामष्टमूलप्रकृतिवन्धस्वामित्वस्याभिहितत्वाच्चेति ॥२६०॥

तदेवमायुषो उत्कृष्टस्थितिं वधन् जीवः शेषकर्मणामनुत्कृष्टस्थितिमेव वध्नातीत्युक्तं साऽनुत्कृष्टा स्थितिः कीयती ? उत्कृष्टापेक्षया संख्येयभागेन हीनोतान्यथा वेति जिज्ञासां निरसितुमाह—

मा खलु सव्वेगिंदियपणकायेसु अमंखभागूणा ।

सव्वविगलेसु संखंसुणा, सेमासु संखगुणहीणा ॥२६१॥

(श्रे०) “सा खलु सव्वेगिंदिये” त्यादि, साऽनन्तरोक्तसप्तकर्मणामनुत्कृष्टा स्थितिः खलु सर्वेवकेन्द्रिय-पृथिव्यादिपञ्चकायसत्केषु पट्त्वरिंशदपि मार्गणाभेदेषु प्रत्येकं बन्धप्रा-योग्योत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षयाऽसंख्येयभागेनैव बध्यते, न पुनः संख्येयभागादिहीना । कुतः ? प्रकृत-मार्गणागतजीवानामेकेन्द्रियतयोत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया जघन्यस्यापि स्थितिवन्धस्य पण्योरमा-ऽसंख्येयभागमात्रेण हीनत्वादिति । “सव्वविगलेसु संखंसुणा” त्ति विकलेन्द्रियसत्केषु नव-

मार्गणाभेदेषु प्रत्येकं सा सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितिरुत्कृष्टस्थित्यपेक्षया संख्येयांशोना बध्यते, विकलेन्द्रियेषुत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया जघन्यस्थितिवन्धस्यापि पक्षोपसंख्येयभागमात्रन्यूनभावात् । ननु तथा सति विकलेन्द्रियाणां प्रकृतवन्धः संख्येयगुणहीनायाः स्थितेर्मा भवतु, असंख्येयभागहीनायाम् तु स्थितेर्भवेदसौ ? इति चेद्, न, शुभायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धकाले विशुद्धतया एते विकलेन्द्रियाः ज्ञानावरणादीनां स्वबन्धप्रायोभ्योत्कृष्टस्थित्यपेक्षया संख्येयभागहीनामेव स्थितिं वधन्ति, न पुनस्ततोऽधिकामसंख्येयभागमात्रहीनामिति ।

“सेसासु” ति ‘सव्वणिग्घे’त्यादिनाऽनन्तरोक्तविंशत्युत्तरशतमार्गणाभ्यः ‘सव्वेगिदिग्घे’त्यादिनोक्तपट्चत्वारिंशन्मार्गणास्तथा ‘सव्वविगले’त्यादिनाऽनुपदमुक्ताः नवमार्गणा विहाय शेषासु सर्वनरक-सर्वदेवा-ऽपर्याप्तनिर्यक्यञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसौ-दारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-मत्यादिचतुर्ज्ञान-संयमाद्य-मामयिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयमा-ऽवधिदर्शन-नीलादिपञ्चलेश्या-मम्यकत्वसामान्य-क्षायोपशमिकमम्यकत्व-क्षायिकमम्यकत्व-सामादनरूपासु पञ्चपष्टिमार्गणासु “संख्यगुणहीणा” ति उत्कृष्टस्थितिकायुर्वन्धकाले बध्यमाना सप्तकर्मणामनुत्कृष्टा स्थितिः संख्येयगुणहीना एव बध्यते । अत्रापि हेतुः पूर्ववद् द्रष्टव्य इति ॥२६१॥ तदेवमुक्तो नरकगत्योधादिमार्गणास्वौधिकसंनिकर्षापेक्षया विशेषः । साम्प्रतमसंज्ञिमार्गणायां न दर्शयन्नाह—

अमणे उक्कोसठिहं बंधंतो आउगस्स सत्तण्हं ।

बंधइ ढुविहमजेट्टं संखंसूणं असंखभागूणं ॥२६२॥ (गोतिः)

(प्रे०) “अमणे” इत्यादि, प्राग्बद्धसंज्ञिमार्गणायामायुष उत्कृष्टां स्थितिं वधन् जीवः शेषसप्तकर्मणां ‘द्विविधाम्’-द्विविधान्यतरां, संख्येयांशोनामसंख्यभागानां वाऽनुत्कृष्टस्थितिं वधनातीति भावः । अत्र यद्यप्यसंज्ञिनामुत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया जघन्यस्थितिवन्धो विकलेन्द्रियवत्संख्येयभागान्यूनोऽस्तस्यैव वक्तव्यो भवति, तथाऽप्यसंज्ञिनो नारकायुषि वधन्ति, तच्चाशुभम्, अतस्तस्योत्कृष्टां स्थितिं वधन्तस्तन्स्वामिनः संक्रिष्टाः, तथा च तदानीं शेषज्ञानावरणादीनामसंख्येयभागमात्रहीनामेव स्थितिं निर्वर्तयन्तीति संख्येयांशोनामित्यप्यभिहितमिति । इत्थं ह्यतिदिष्टार्थविषयकापवादपदेषु परिसमाप्तेषु केवलं त्रिचत्वारिंशन्मार्गणास्वेव सर्वथाधवदवशिष्टम् । ताश्च त्रिचत्वारिंशन्मार्गणा इमाः—अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदवर्जाश्चत्वारस्तिर्यग्गतिभेदाः तथैवापर्याप्तभेदवर्जास्त्रयो मनुष्यगतिभेदाः, द्वौ पञ्चेन्द्रियभेदौ, द्वौ त्रसकायभेदा, तथा पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्या-दारिककाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकाय-मत्यज्ञानादिव्यज्ञाना-ऽसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्णलेश्या-भक्ष्या-ऽभक्ष्य-मिथ्यात्व-संज्ञ-ऽसंज्ञ-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति । अत्राप्यसंज्ञिमार्गणाभेद आयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धसंनिकर्षे विशेषस्याऽभिहितत्वात् तत्र सर्वथाधवत्सु सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिवन्धसंनिकर्षेविषय एवेति ॥२६२॥

तदेवमुक्त ओषत आदेशतश्चोभयथाऽपि सर्वासां मूलप्रकृतीनामृत्कृष्टस्थितिवन्धसंनिकर्षः ।
साम्प्रतं जघन्यस्थितिवन्धविषयं तं प्रचिकटयिपुरादौ तावदोषत आह—

पढमस्म जहण्णठिडं बंधंतो बंधइ च्च पंचण्हं ।

तं चिअ, अनांधगो खलु दोण्हं, एमेव पंचण्हं ॥२६३॥

(प्रे०) “पढमस्स जहण्णठिडं”मित्यादि, प्रथमस्य ज्ञानावरणाख्यस्य मूलकर्मणो जघन्यां स्थितिं बध्नन् कश्चिदपि जीवः “बंधइ च्च पंचण्हं” ति मोहनीयायुर्वर्जानां पञ्चानां बध्नात्येव । कामित्याह—“तं चिअ” तामेव, जघन्यां स्थितिमेवेत्यर्थः । मोहनीयायुषोन्मर्हि किमित्याह—“अनांधगो खलु दोण्हं” ति शेषयोमोहनीयायुषोर्द्वयोरबन्धक एवेत्यर्थः । सुगमं चैतत्, ज्ञानावरणस्यौघिकजघन्यस्थितिवन्धस्य सूक्ष्मस्यस्यरायगुणस्थाने भावात् तत्र च मोहनीयायुर्वर्जानां षण्णां मूलप्रकृतीनामेव बन्धस्य प्रवर्तनाच्चेति । अथ दर्शनावरणादीन्यधिकृत्याह—“एमेव पंचण्हं” ति सुगमम् । नवरं शेषेभ्यो मोहनीयायुर्वर्जानां पञ्चानां मूलप्रकृतीनामित्यर्थ इति ॥२६३॥

अथ मोहनीयस्य जघन्यास्थितिवन्धसंनिकर्षमोषत आह—

मोहस्म जहण्णठिडं बंधंतो बंधगो च्च छण्ह भवे ।

संखगुणाब्भहियाए अजहण्णाए चिअ ठिईए ॥२६४॥

(प्रे०) “मोहस्स जहण्णठिडं” मित्यादि, मोहनीयस्यौघिकजघन्यस्थितिं बध्नन् जीव आयुर्वर्जानां शेषाणां षण्णां बन्धको भवेदेव । मोहनीयबन्धविच्छेदात् पश्चादेव ज्ञानावरणादीनां बन्धविच्छेदादिति भावः । स्थितेस्तु तेषां षण्णामपि स्वीयस्वीयजघन्यस्थित्यपेक्षया “संखगुणाब्भहियाए अजहण्णाए चिअ” ति संख्येयगुणाम्यधिकाया अजघन्याया एव, बन्धक इत्यनुवर्तते । सुगमं चैतत्, क्षयकसूक्ष्मस्यरायचरमस्थितिवन्धापेक्षया क्षयकानिवृत्तिवाद्गम्य विशुद्धेः स्तीकृतया संख्येयगुणाम्यधिकस्थितिवन्धभावादिति ॥२६४॥

अथ शेषस्याऽऽयुःकर्मणः प्रकृतसंनिकर्षमोषतः प्राह—

आउस्म जहण्णठिडं बंधंतो बंधगो च्च मत्तण्हं ।

अजहण्णठिईए चिअ होज्ज असंखगुणअहियाए ॥२६५॥

(प्रे०) “आउस्से”न्यादि, सुगमम्, नवरमायुष आधिकजघन्यस्थितिनिर्मिव्यान्वावस्थायामेव बध्यते, मिथ्यात्व गुणस्थाने च ज्ञानावरणादीनां जघन्योऽपि स्थितिवन्ध एकेन्द्रियस्वामिकः सन् मागरोपमत्रिमस्रभागादिप्रमाण एव, स च ज्ञानावरणादीनामौघिकजघन्यस्थितिवन्धापेक्षयाऽसंख्यगुणाम्यधिक एवेतिकृत्या “असंखगुणअहियाए” इत्यभिहितमिति ॥२६५॥

तदेवमभिहितोऽष्टानामपि मूलकर्मणां प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धसंनिकर्ष ओषतः । इदानीमादेशतोऽभिधित्मुर्लाघवार्थं कतिपयमार्गणास्वतिदेशद्वारेणाह—

तिणर-दुपणिंदितस-पणमणवय-काय-उरलेसु गयवेए ।
 लोहे चउणाणेसु संयम-सुहुम-तिदरिसणेसु ॥२६६॥
 सुइल-भवियसम्मेसु तहा खइअ-उवममेसु सणिणम्मि ।
 आहारम्मि य णेयं आउगवज्जाण ओघव्व ॥२६७॥

(प्रे०) “तिणरदुपणिंदितसे”त्यादि गाथाद्वयम् , व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः
 “तिणर” इत्यनेनापर्याप्तभेदवर्जा मनुष्यौव-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणाश्रयो नरभेदा ग्राह्यास्तेषु,
 तथैवाऽपर्याप्तभेदवर्जावोधपर्याप्तभेदाभिर्ज्ञा द्रौ पञ्चेन्द्रियभेदा, “तस” ति द्विशब्दस्यात्रापि योज-
 नात् तथैवाव-पर्याप्तभेदाभिर्ज्ञा द्रौ व्रमकायभेदा, इत्येतेषु चतुर्षु मार्गणाभेदेषु, तथा “पणमण”
 ति पञ्चसु मनोरोगभेदेषु, “वय” ति पञ्चशब्दस्यात्रापि योजनान् पञ्चसु वचोयोगभेदेषु, तथा
 काययोगा-दारिककाययोगभेदयोः, गतवेदे, अन्यमार्गणाभेदान् सङ्ग्रहीतुमाह—“लोहे” इत्यादि,
 लोभे, मतिज्ञानादिषु चतुर्षु ज्ञानभेदेषु, संयमौघ-सूक्ष्मसम्परायसंयम-चक्षुरादित्रिदशेनमार्गणान्,
 शुक्लेदया-भक्ष्य-सम्यक्त्रोघभेदेषु, ध्यायका-पशामिकसम्यक्त्वयोः, संज्ञिभेदे, आहारिमार्गणाभेदे
 चेत्येतासु यत्प्रतिज्ञमार्गणान् प्रत्येकं “णेयं” ति ज्ञेयम्-अवसानव्यम् । किमित्याह—“आउग-
 वज्जाण ओघव्व” ति आयुष्कवर्जानां मत्तानां मूलकर्मणां जघन्यस्थितिवन्धसंनिकर्षे ओघवत्-
 ‘पढमस्स जहण्णाठिइ’ इत्यादिगाथाद्वयेन यथाऽनन्तरमभिहितस्तथैवेत्यर्थः ।

इदमुक्तं भवति—एतासु प्रत्येकमोघवत् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने जायमानचरमस्थिति-
 वन्धो जघन्यस्थितिवन्धतया प्राप्यते, तदानीं चैकस्य ज्ञानावरणादेः स्थितिवन्धकाले तदितरेषां
 दर्शनावरणादीनामपि नियता एव स्थितिवन्धा जायन्ते, ततश्च ज्ञानावरणस्य जघन्यां स्थितिं
 वधन् शोभाणां पञ्चानामपि जघन्यामेव स्थितिं वधन्ति तद्वन्धक इत्यादिरूप्य ओघोक्तः
 संनिकर्ष एव प्रकृतसर्वमार्गणास्वपि घटामुपैति, ततश्च लाघवार्थं तथैवानिदिष्ट इति ॥२६६-२६७॥

अथ क्षपकश्रेणावनिवृत्तिकरणगुणस्थाने जायमानस्थितिवन्धो यासु जघन्यस्थितिवन्धतया
 प्राप्यते तासु मोहनीयस्य जघन्यां स्थितिं वधन्तोऽपि जीवस्य शेषकर्मणां जघन्यस्थितिवन्ध
 एव प्राप्यते, अतस्ता मार्गणाः सङ्गृह्य तत्र तथैव दर्शयन्माह—

पढमस्स जहण्णाठिइ वेअकसायतिग-मामइअ-ल्लेए ।

बंधंतो हस्सठिइं बंधइ लण्हा-ऽऽउगं ण, लण्हेवं ॥२६८॥ (गीतिः)

(प्रे०) “पढमस्से” त्यादि, तत्र “पढमस्स जहण्णाठिइ”मित्यस्य “बंधंतो हस्स-
 ठिइं बंधइ लण्ह” इत्यादिना परेणान्वयः, ततः प्रथमस्य ज्ञानावरणकर्मणो जघन्यस्थितिं
 वधन् “हस्सठिइं बंधइ लण्ह” ति षण्णां ज्ञानावरणाऽऽयुर्वर्जानां मूलकर्मणां ‘हस्सा’-जघन्यां

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिवन्धे सैनिकप्रदर्शकं यन्त्रकम्

प्रोधतः—मोहनीया-ऽऽयुर्वर्जानां घण्टा प्रकृतीनामन्यतमस्याः प्रकृतेर्जघन्यस्थितिं बध्नन् जीघो मोहनीया-
 ऽऽयुषोऽवन्धक एव, शेषपञ्चप्रकृतीनां बन्धक एव, स्थितिमपि तेषां जघन्यामेव बध्नाति (गा० २६३) ।
**मोहनीयजघन्यस्थितिं बध्नन् जीघ आयुषोऽवन्धक एव, शेषाणां पण्णां बन्धक एव, स्थितिं तु तासां पण्णा-
 मजघन्यामेव बध्नाति (गाथा-२६४) ।**

प्रादेशतः—प्रायुर्वर्जानां सप्तानां ज्ञानावरणादीनां प्रकृतीनामन्यतमस्याः प्रकृतेर्जघन्यां स्थितिबध्नन् जीघः

	शेषप्रकृतीनां सर्वेष्वेव प्रोधवद् बन्धकः	आयुषोऽवन्धक एव, शेषाणां जघन्यस्थितेरेव बन्धकः	आयुषोऽवन्धक एव, शेषाणां जघन्याया अजघन्याया वा स्थितेर्बन्धकः, नत्रा- ऽजघन्या जघन्यस्थित्यपेक्षया समया- दिना यावत्पल्योपसामंख्येयभागेना- ऽभ्यधिका बध्यते ।
गति०	मनुष्यीघ-तत्पर्याप्त-मानुषीभेदाः, ३		सर्वनरक-तिर्गन्-देवभेदाः, अर्थात्समुद्य- भेदश्च, ६४
इन्द्रिय०	पञ्चेन्द्रियीघ-तत्पर्याप्तभेदाः, ०		सर्वेन्द्रियविकल्पेन्द्रियभेदाः, अर्थात्स पञ्चेन्द्रियभेदश्च, १०
काय०	ऋसकायीघ-तत्पर्याप्तभेदाः, ३		पृथिव्यादिजीवायुषोऽस्पर्शिकायमन्काः सर्व भेदाः, अर्थात्जघन्यकायभेदश्च, ४०
योग०	सर्वमनोवचोभेद० काययोगीघ० श्रीदारिकतामयोगश्च, १०		विमिश्रयोग० आहारक-वैकल्प-कार्मण- काययोगाश्च० ६
वेद०	अगमत्वैश्च० १	वेदत्रयी, ३	
कषाय०	लोभ० १	क्रोध-मान-माया० ३	
ज्ञान०	मति-श्रुता-ऽवधि-मन-पदवैज्ञान० ४		अज्ञानत्रयम्० ३
संयम०	संयमीघ० मूढमस्पर्शाय० २	सामासिक-लेदोपस्थापन००	पट्टिहार० देशभावम० अगमम० ३
दर्शन०	चक्षु० मचक्षु० अविधि० ३		
लेख्या०	शुक्ल० १		कृष्णपादाः शेषाः पञ्च, ५
भक्ष्य०	भक्ष्य०		अभक्ष्य० १
सैन्यवस्त्र.	सैन्यकवचीघ० क्षात्रिक० औपशमिक० ३		प्रायोपशमिक० सैन्यमिथ्यात्व० सास्त्रादिनः मिथ्यात्व० ६
संज्ञी०	संज्ञी, १		असंज्ञी, १
आहारी०	आहारक० १		आहारक० १
सर्वसार्गणाः-	३७	८	१२५
गाथाङ्काः-	२६६-२६७	२६८	२६९-२७०

आयुषो जघन्यस्थितिवन्धे मंनिकर्षप्रदर्शकं यन्त्रकम्

शोधतः- आयुषो जघन्या स्थिति बध्नन् जीवः शेषरूपप्रकृतीनामजघन्याया जघन्यस्थित्यपेक्षयाऽसंख्येय-
गुणाभ्यधिकायाः स्थितिवन्धक एव भवति (गाथा-२६५) ।

प्रावेशतः- आयुषो जघन्या स्थिति बध्नन् जीवः शेष समप्रकृतीनां यन्धक एव भवति, स्थिति तु तासां समप्रकृ-
तीनामजघन्यामेव बध्नति, सा त्वजघन्यास्थितिर्जघन्यास्थित्यपेक्षया--

	शोधवदसंख्य- गुणाभ्यधिकाः	संख्येयगुणा- भ्यधिकाः	संख्यगुणा- धिका, संख्य- भागाधिकाः	संख्यभागाधि- कैव,	असंख्यभागा- धिकाः	असंख्यभागेन, सं- ख्यभागेन संख्य- गुणेनाऽधिका वा
गति०	मनुष्यीष-तत्पर्याप्त- मानुषीभेदाः, ३	सर्वतरक-सर्वदेवा- ऽऽर्यासमनुष्य, ३६	सर्वपञ्चेन्द्रिय- निर्यसभेदाः ४			तिर्यगत्यौष- भेदाः, १
उन्द्रिय०	पञ्चेन्द्रियौष-तत्पर- यांभेदाः, ५		अपर्याप्तपञ्चे- न्द्रियभेदाः, १	सर्वविकलेन्द्रिय- भेदाः, ६	सर्वेन्द्रियभेदाः ७	
काय०	पञ्चौष-तत्पर्याप्त- भेदाः, ७		अपर्याप्तत्रस- भेदाः, १		पृथिवीकायादिमात्क- दोषसर्वभेदाः, ३६	
योग०	यस्य मनोवृत्तीभेदाः काययोगीयः श्रीदा- रिकाः, १०	आहारकालिक० वीक्रिय० ३				श्रीदारिकमिश्र० १
वेद०	वेदत्रयम् ३					
क्षपाय०	सर्व० ५					
ज्ञान०	मति श्रुता-ऽर्थाधि- मनःपर्यवज्ञान० ४	विभक्त० १				मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाने, २
संयम०	संयमोक्त. सामासिक छेद० ३	परिहारविशुद्धिक. देशसंयम० २				असंयम० १
दर्शन०	विशु, अचक्षु, अविधि. २					
लेख्या०	शुक्ल० १	संज्ञः-गद्य० २				अप्रवास्ताः, ३
भक्ष्य०	भक्ष्य० १					अभक्ष्य० १
सम्यक्त्व	सम्यक्त्वोप० श्रायिक० २	आयोगशमिक० साम्बादन० २				मिथ्यात्व० १
संज्ञी०	संज्ञी० १					असंज्ञी० ६
आहार०	आहारक० १					
सर्वमार्गणाः-	४२	४६	६	९	४६	११
गाथाङ्काः-	२७६	२७३-२७४	२७५	२७६	२७६	२७२-२७३

बोधतः-आयुर्वर्जसप्तान्यतमकर्मण उत्कृष्टस्थितिं वञ्चन् जीव आयुर्वर्जानां बन्धक एष, स्थितिस्तु तेषामुत्कृष्टा-
मनुत्कृष्टा वा बध्नाति । तथाऽनुत्कृष्टा उत्कृष्टापेक्षया सम्य-द्विसमयादिना यावत्पर्ययोपमानसंश्लेषभागेन हीना वा स्यात्,
न तु क्तोऽपि न्यूना । आयुषो बन्धकोऽबन्धको वा, बन्धकस्येदुत्कृष्टस्थितिवन्धे, अवस्था तुत्कृष्टा वाऽनुत्कृष्टा वा
स्यात् ॥ आयुष उत्कृष्टस्थितिं वञ्चन् जीवः शेषाणामुत्कृष्टाया अनुत्कृष्टाया वा स्थितिवन्धक एव । तत्रानुत्कृष्टा उत्कृष्टा-
पेक्षया संख्येयभागेना-४संख्येयभागेन संख्येयगुणेन हीना वा स्यादिति (माधा-२५०.....२५५) ।

आयुर्वर्जसप्तान्यतमकर्मण उत्कृष्टस्थितिं वन्धन् जीव आयुषोऽबन्धक एव० शेषकर्मणा- शेषपञ्चन्यतमस्य			आयुष उत्कृष्टस्थितिवन्धकः शेषाणां बन्धक एव, स्थितेस्तु तेषां समानाम् उत्कृष्टाया अनु- त्कृष्टाया वा बन्धकः तत्रानुत्कृष्टा शोधवत् संख्येयभागहीना- द्वित्रिभिश्च स्यात्			अनुत्कृष्टाया एव बन्धकः, सा तुत्कृष्टस्थितिरपेक्षया असंख्य- भागहीना एव- संख्येय- भागहीना एव, संख्येय- भागहीना असंख्य- भागहीना वा स्यात्, संख्येय- गुणहीना एव.		
गति०	सर्वनिरमदव० शेषाणां- पञ्चेन्द्रियनिर्ग० अपर्णात् मनुष्य० ४०	शेष० ७	शेषाणां प्रद्वयवर्ज- नियग्-मनुष्यगति- भेदाः- ७			शेष० ४०		
इन्द्रिय०	सर्वेन्द्रिय-विकले, अप- र्णात्पञ्चेन्द्रिय० १७	पञ्चेन्द्रियाप- त्पर्णात् ७	पञ्चेन्द्रियाप० तत्पर्णात् ७	सर्वकाण्डय भेद० ७	सर्वीव- कले० ६	अपर्णात्- पञ्च. १		
काय०	चतुर्णां त्रिधायाणां वभेद० अपर्णात्पञ्चमथ ४०	प्रतीच. तत्प- र्णात् २	प्रतीच० तत्प- र्णात् २	वनास्ताः सर्वे ३६		प्रसाप- र्णात् ७		
योग०	शौदारिकमिथ. वीक्रिय-त- न्मिथो, आहारक-तन्मिथो, कामंगा० ६	शेष० १२	सर्वभोगोवचोभेद० काययोगीच. शौदा- रिक्त० १२			त्रिभुज० आहारक० ४		
वेद०		अभेद०	वेदत्रिकं० ३	वेदत्रिकं० ३				
कपाय०		नर्व० ४	नर्व० ४	नर्व० ४				
ज्ञान०	मत्वादिज्ञान० ४	अज्ञान० ३	अज्ञान० ३	अज्ञान० ३		पत्यादि. ४		
संयम०	सयमोच० सामा० छेद० परिहात० वेद्य० ५	मूष्मता०	असंयम० १	असंयम० १		शेष ५		
दर्शन०	अवधि० १	चक्षु. अक्षु. २	चक्षु. अक्षु. २	चक्षु. अक्षु. २		अवधि. १		
लेश्या०	कृष्णगुर्वर्जाः ५	कृष्णा० १	कृष्णा० १	कृष्णा० १		शेष. ५		
भण्य०		सर्व० २	सर्व० २	सर्व० २				
सम्य-	मिथ्यात्वं विना, ८	मिथ्यात्व. १	मिथ्यात्व. १	मिथ्यात्व० १		शेष. ४		
संज्ञी०		सर्व० २	सर्व० २	सर्व० २				
आहारी	अनाहारक० १	आहारी १	आहारी १	आहारी १				
सर्वमार्गणाः-	१२५	२	४३	४२	४६	६५		
गाथाङ्काः-	२५५-५७-५९-६०	२५६	२५५	२५५.....	२६०	२६१		

स्थितिमेव बध्नाति, न पुनरजघन्यमिति भावः । “उर्गं ण” ति विश्लेषप्राप्तस्याऽऽकारस्य दर्शनादायुषः-आयुःकर्मणो न । तदानीं क्षयकश्रेणात्रायुर्वन्धस्याऽऽसम्भवादायुःकर्म नैव बध्नातीति भावः । “छण्डेच” ति ‘ण्वं’- यथा ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिवन्धमनिकर्षस्तथा षण्णां दर्शना-
वरणादीनामपि जघन्यस्थितिवन्धसंनिकर्षः, वक्तव्य इति शेषः । कासु मार्गणास्त्रित्याह—“वेअ-
कसायतिणे”त्यादि, त्रिकशब्दस्य वेदकषाययोः प्रत्येकं योजनाद् वेदत्रिके-स्त्र्यादिषु त्रिसृषु
वेदमार्गणासु, कषायत्रिके-क्रोधादिषु तिसृषु कषायमार्गणस्त्रित्यर्थः । तथा “सामहअच्छेए” ति
सामायिकसंयम-च्छेदोपस्थापनसंयममार्गणयोरित्येतास्त्रष्टमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । अत्र युक्तिस्तु
पातनर्थेव दर्शितेति ॥२६८॥

अथ शेषमार्गणास्त्रायुर्वर्जानां सप्तानामेव जघन्यस्थितिवन्धसंनिकर्षमाह—

सेमासु जहण्णठिइं णाणावरणस्स बंधमाणो उ ।

बंधइ चिअ छण्ह ठिइं जहण्णगं व अजहण्णं वा ॥२६९॥

हस्साउ सा अहस्सा समयाउ पलियअसंखभागेणं ।

अब्भहिया-ऽऽउं णो चिअ बंधइ एमेव छण्ह भवे ॥२७०॥

(प्रे०) “सेमासु जहण्णठिइं” इत्यादि, अनन्तरं “तिणरे”त्यादिनाऽभिहिताः सप्त-
त्रिंशन्मार्गणास्तथा “वेअकसाय” इत्यादिनोक्ता अष्ट मार्गणाश्च विहाय शेषासु पञ्चविंशत्यभ्यधिक-
शतमार्गणासु प्रत्येकं ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिं बध्नन् ‘तु’-पुनः “बंधइ चिअ छण्ह ठिइं”
ति षण्णां दर्शनावरणादीनां ज्ञानावरणायुर्वर्जानां स्थितिं बध्नात्येव, न पुनरायुष इव न बध्नात्य-
पीति भावः । “जहण्णगं व अजहण्णं वा” ति तां च षण्णां दर्शनावरणादीनां स्थितिं
जघन्यकां वाऽजघन्यां वाऽन्यतरप्रकारां, बध्नातीत्यनुवर्तते । अत्राजघन्याः स्थितेर्बहुभेदभिन्नत्वात् सा
कियन्मानेत्वाद्यङ्गायामाह—“हस्साउ सा अहस्सा” इत्यादि, सा प्रकृतमार्गणासु ज्ञानावरणस्य
जघन्यस्थितिवन्धकाले तद्वन्धकेन निर्वर्त्यमानाऽहस्वा-ऽजघन्याः स्थितिः “हस्साउ” ति
‘हस्त्रायाः’-जघन्यायाः स्थितेः “समयाउ पलियअसंखभागेणं” ति समयादारभ्य पन्योप-
मयाऽसंबन्धेयतमंक्रमणेन, अभ्यधिकेति गार्थात्तत्त्वंऽन्वयः । भवतीतिशेषः । गतार्थम् । “उं णो
चिअ बंधइ” ति प्राग्बद् विश्लेषप्राप्तस्याऽऽकारस्य दर्शनादायुः-आयुःकर्म नैव बध्नाति, स
ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिवन्धक इति गम्यते । “एमेव” ति ‘एवमेव’- यथैतासु ज्ञानावरणस्य
जघन्यस्थितिवन्धमनिकर्षोऽभिहितास्तथैव “छण्ह भवे” ति आयुर्वर्जानां शेषषण्णां दर्शनावरणा-
दीनां जघन्यस्थितिवन्धसंनिकर्षो ‘भवे’-व कृत्यो भवेत् । प्राग्बद् दर्शनावरणादि प्रत्येकं कर्मादाय
स्वयमेव वक्तव्य इति भावः ।

अत्र शेषमार्गणा नामत इत्याः—सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वैर्यगतिभेदाः, अपर्याप्त-
मनुष्यभेदः, सर्वे देवगतिमार्गणाभेदाः, सर्वे एकेन्द्रियभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्त-
पञ्चेन्द्रियभेदः, सर्वे पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायसत्कभेदाः, अपर्याप्तत्रसकायभेदः, औदारिक-
मिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्र-वैक्रिया-ऽऽहारक-कर्मणकाययोगभेदाः, तथाऽज्ञानत्रय-परिहार-
विशुद्धिकसंयम-देशसंयमा-ऽसंयम-कृष्णादिपञ्चलेश्या-ऽभव्य-धायोपशमिकसम्यक्त्व-भासादन-सम्य-
ग्मिथ्यात्व-मिथ्यात्वा-ऽसंश्य-ऽनाहारिमार्गणाभेदाश्चेति ॥२६९-२७०॥

अथ शेषस्यायुःकर्मणो जघन्यस्थितिवन्धसंनिकर्षं मार्गणास्थानेषु दर्शयन्नाह—

सव्वासु जहण्णठिई वंधंतो आउगस्स णायव्वो ।

सत्तण्ह वंधगो चिअ अजहण्णाए चिअ ठिईए ॥२७१॥

(प्रे०) “सव्वासु” इत्यादि, सर्वास्वायुर्वन्धप्रायोग्यासु त्रिपष्ट्युत्तरशतमार्गणामु प्रत्येकं
“आउगस्स” ति उक्तशेषस्यायुःकर्मण्य-अयुःकर्मणः “जहण्णठिई” ति प्रागुक्तमार्गणाप्रायोग्य-
जघन्यस्थितिं बध्नन् ज्ञातव्य इति परंणान्वयः । कथंभूतो ज्ञातव्य इत्याह—“सत्तण्ह वंधगो
चिअ” ति शेषाणां समानां ज्ञानावरणादीनां बन्धक एव ज्ञातव्य इत्यर्थः । किं तेषां समानां जघन्य-
स्थितेर्वन्धको ज्ञातव्य उताऽजघन्यायाः स्थितेरित्याह—“अजहण्णाए चिअ ठिईए” ति ओषव-
दजघन्याया एव स्थितेः, न पुनर्जघन्यायाः स्थितेरेपीत्यर्थः । कुत ? उच्यते, एतासु सर्वमार्गणा-
स्वायुषो जघन्या स्थितिर्निरयायुर्वर्जशेषायुःसत्कैव बध्यते । सान्वशुभा इतिकृत्वा संकलेशेन निर्व-
र्त्यते, आयुर्वर्जानां समानां जघन्यस्थितिस्तु शुभा इतिकृत्वा विशुद्ध्या निर्वर्त्यते । उक्तञ्च—
‘सव्वाठिईणं उकोसो उ उक्कोमसांकलेसेण । विवरीए उ जहणो आउगतिगयज्जेसाणं ।’ इति ।

अत आयुषो जघन्यस्थितेर्वन्धकः संक्लिष्टः सन् शेषाणां जघन्यस्थितिं न बध्नानि, किन्त्व-
जघन्यामेव बध्नतीति ॥२७१॥ अथायुषो जघन्यस्थितिवन्धकः सा ज्ञानावरणादीनामजघन्या
स्थितिर्जघन्यस्थित्यपेक्षया कियत्यभ्यधिका बध्यत इत्येतद् दिदग्गणिपुराह—

सा खलु अजहण्णठिई णायव्वा तिरियुरालमीसेसुं ।

दुअणाणा-ऽयत-तिअसुहलेसा-ऽभवि-मिच्छ-अमणेषुं ॥२७२॥

तिविहा-ऽसंखंसहिया संखंसहिया य संखगुणअहिया ॥

(प्रे०) “सा खलु” इत्यादि, तत्र खलु शब्दो वाक्यालङ्कारे, ततः सा खल्वायुषो जघन्य-
स्थितिवन्धकाले तद्वन्धकेन निर्वर्त्यमाना समानाम् “अजहण्णठिई णायव्वा” ति अजघन्या
स्थितिर्ज्ञातव्या । कासु मार्गणसु कीयतीत्याह—“तिरियुराले” त्यादि, “तिविहा” इत्यादि
च, तिर्यग्गत्योर्घां-दारिकमिश्रकाययोग-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयम-कृष्णादिव्यशुभलेश्या-ऽभव्य-

मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिमार्गणामु प्रत्येकं 'त्रिविधा'-विस्थानगता भवति । तामेव दर्शयति—“संखंसहिया”
त्यादिना, तत्र “संखंसहिया” इत्यत्रा-ऽकारस्य दर्शनादसंख्यांशाधिका, तत्तन्मार्गणासत्कजघन्य-
स्थितिवन्धापेक्षयेति प्राग्बद्धनुक्तमपि द्रष्टव्यम् । इयं हि जघन्यायुर्वन्धकैकेन्द्रियजीवापेक्षया बोद्ध-
व्या । “संखंसहिया य” ति जघन्यस्थितिवन्धापेक्षया संख्यांशाधिका । चकारस्मसुचयार्थो
व्युत्क्रमेण ग्रान्ते योज्यः । इयं संख्यांशाधिका तु जघन्यायुर्वन्धकदीन्द्रियादिजीवापेक्षया विभाव-
नीया । “संखगुणअहिया” ति जघन्यस्थितिवन्धापेक्षया संख्यगुणाधिका चेत्यर्थः । अत्र तु
संख्यगुणाधिक्यं जघन्यायुर्वन्धकसंज्ञिजीवापेक्षया विभावनीयम्, केवलमसंज्ञिमार्गणायां संज्ञि-
जीवानामपेक्षया संख्यगुणाधिक्यं दीन्द्रियादिजीवापेक्षया द्रष्टव्यम् । न च दीन्द्रियादीनां
जघन्यस्थितिवन्धापेक्षयोत्कृष्टः स्थितिवन्धः पल्योपमसंख्येयभागेनाधिको भवति तत्कथं संख्येयगु-
णत्वं सङ्गच्छेदिति वाच्यम् । प्रकृतमार्गणासत्कजघन्यस्थितिवन्धापेक्षया दीन्द्रियादीनां स्थिति-
बन्धस्य संख्येयगुणन्याभिधानात् न काचिदसंगतिः, तथैवोपपत्तेः । तथाहि—प्रकृताऽसं-
ज्ञिमार्गणायामेकेन्द्रियजीवानामपि प्रवेशाज्ज्ञानावरणादीनां जघन्यः स्थितिवन्धः सागरोपमस्य
पल्योपमसंख्यभागेन त्रिसप्तभागादिर्यः पूर्वसुक्तः, तं प्रकृतमार्गणासत्कजघन्यस्थितिवन्धमपेक्ष्य
दीन्द्रियादीनामायुर्वन्धकाले जायमानः पञ्चविंशत्यादिमागरोपमाणां पल्योपमसंख्येयभागेन न्यून-
स्त्रिसप्तभागादिः स्थितिवन्धः पञ्चविंशत्यादिगुणाधिकः मन् संख्येयगुण एव भवतीति ॥२७२॥

अथ यामु मार्गणास्वनन्तरोद्दिष्टाऽजघन्यस्थितिर्जघन्यस्थित्यपेक्षया संख्यगुणाधिकैव बध्यते,
तामु तथैव दर्शयन्नाह—

मन्वणिरयदेवेषुं अपज्जमणुसम्मि वेउब्बे ॥२७३॥

आहारदुग-विभंगेषुं देस-परिहार-तेउ-पउमामुं ।

वेअग-सासाणेषुं संखेज्जगुणेण अब्भहिया ॥२७४॥

(प्र०) “सन्वणिरये” इत्यादि, सर्वशब्दस्य ग्रन्थेकं योजनात् सर्वे निरयगतिमार्गणाभेदाः
सर्वे च देवगतिमार्गणाभेदास्तेषु, तथाऽपर्याप्तमनुष्यभेदे, वैक्रियकाययोगभेदे, अन्यभेदान् संग्रहीतु-
माह—“आहारे”त्यादि, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोर्द्विके, विमङ्गज्ञाने, देशसंयम-
परिहारविशुद्धिकसंयम-तेजोलेश्या-पद्मलेख्यामार्गणामु तथा क्षायोपशमिकमस्यक्त्व-सासादनयोरित्ये-
तास्वेकोनपञ्चाशन्मार्गणामु प्रत्येकमायुषी जघन्यस्थितिवन्धकाले बध्यमाना शेषाणामजघन्या
स्थितिः निरयगत्यादिस्वस्वमार्गणायां बन्धप्रायोग्यजघन्यस्थित्यपेक्षया “संखेज्जगुणेण अब्भ-
हिया” ति संख्येयगुणाभ्याधिका भवतीत्यर्थः । इति ॥२७३-२७४॥ अथान्यत्र प्रकृतमाह—

संखेज्जभागअहिया संखेज्जगुणाहिया य णायब्बा ।

पंचिंदियतिरियचउग-असमत्तपणिंदियतसेसुं ॥२७५॥

(प्रे०) “संखेज्जभागअहिया” इत्यादि, अनन्तरवक्ष्यमाणमार्गणासु प्रकृताऽजघन्य-स्थितिर्जघन्यस्थितिः संख्येयभागाविका मार्गणाप्रविष्टाऽसंज्ञिजीवापेक्षया, तथा संख्येयगुणाधिका मार्गणाप्रविष्टसंज्ञिजीवापेक्षया ज्ञातव्या । कास्वित्याह—“पंचिदिये”त्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणा-भेदचतुष्केऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदेऽपर्याप्तत्रसकायभेदं चेत्यर्थः ॥२७५॥

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतं दिदर्शयिपुरंकामार्यामाह—

गेया सव्वेगिंदियपणकायेसु असंखभाग-ऽहिया ।

सव्वविगलेसु संखंसहिया सेसासु ओघव्व ॥२७६॥

(प्रे०) “गेया” इत्यादि, प्रकृताऽऽयुषो जघन्यस्थितिवन्धकाले बध्यमाना शेषाणा-मजघन्या स्थितिर्ज्ञेया । कासु कियतीत्याह—“सव्वेगिंदिये”त्यादि, सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योज-नात्सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु सर्वेषु च पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायमार्गणामत्कभेदेष्वित्येवं पट्-चत्वारिंशन्मार्गणाभेदेषु प्रत्येकम् “असंखभागहिया” ति सुगमम् । सव्वविगलेसु संखं-सहिया” ति ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु सर्वेषु द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियलक्षणविकले-न्द्रियभेदेषु संख्यांशाधिका । एतदपि सुगमम् । “सेसासु ओघव्व” ति उक्तशेषासु मनुष्य-गत्योधादिद्विचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमोघवदसंख्यगुणाधिका ज्ञेयेत्यर्थः ।

अथ शेषमार्गणां नामत इमाः—मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यौ-दारिक-काययोग-स्व्यादिवेदत्रय-क्रोधादिचतुःकषाय-मत्यादिचतुर्ज्ञान-सामायिक-छेदोपस्थापनसंधम-चक्षुगादि-त्रिदर्शन-शुक्ललेश्या-भ्रम्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञ्या-ऽऽहारिमार्गणा इति । एतासु प्रत्येक-मायुर्वर्जानां जघन्यस्थितिवन्धस्य क्षपकश्रेणो जायमानतयाऽतिस्तोकत्वेन तदपेक्षयैकेन्द्रियादि-जीवैरायुर्वन्धकाले निर्वर्त्यमानशेषकर्मणां जघन्यस्थितिवन्धस्याऽप्यसंख्येयगुणत्वात्प्रकृतसंनिकर्षोऽपि तथैव दर्शित इति ॥२७६॥

तदेवमभिहितः सर्वासां मूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिवन्धसंनिकर्ष आदेशतोऽपि । तस्मिँ-श्चाभिहिते गतं “सण्णयासा” इत्यनेनोद्दिष्टं पष्ठं द्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धेद्वितीयाधिकारे पष्ठं संनिकर्षद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ सप्तमं भङ्गविचयद्वारम् ॥

साम्प्रतं 'भङ्गविचय' इत्यनेनोद्दिष्टस्य भङ्गविचयद्वारस्यावसरः, तत्रादीं तावधानाजीवनाश्रित्योत्कृष्टादिस्थितेर्भङ्गादिस्वरूपं निर्धारयितुकाम आह—

भङ्गाऽष्टु बंधगो खलु षडमो विद्दुओ अवंधगो तद्दुओ ।

सव्वे वि बंधगा तद्दु सव्वे वि अवंधगा चोत्थो ॥२७७॥

एगेण बंधगेणं एगेऽणेगे अवंधगा कमसो ।

णेगेहि बंधगेहिं मह एव पंचमाद्दुचऊ ॥२७८॥

जे बंधगुक्कसाए ठिईअ ते चिअ अवंधगियराए ।

जेऽणुक्कोसाअ ठिईअ बंधगा ते अवंधगिरार ॥२७९॥

जे बन्धगा लहूए ते चेव अवंधगा अहस्साए ।

जे बन्धगाऽणणूए ते चेव अवंधगा जहण्णाए ॥२८०॥

(प्रे०) “भङ्गाऽष्टु” न्यादि, भङ्गाः-विकल्पाः, ते चैकद्वयादिसंयोगनिष्पन्ना वस्तुविकल्पैरनेकधा ग्रन्थान्तरेषु दृश्यन्ते तथाऽवसेयाः । अत्र तु स्थितिवन्धस्य प्रस्तुतत्वादुत्कृष्टादिस्थितीनामेकानेकादिग्रन्थकाद्यपेक्षया चिन्त्यमाना अष्टावभिप्रेता इत्युक्तम्—“भङ्गाऽष्टु” इति । तानेव क्रमतः स्वरूपतथाह—“बंधगो खलु षडमो” इत्यादि, ‘बंधगो खलु षडमो’ चि बन्धक इत्यत्रैकवचनस्योपादानात् खलुशब्दस्याऽवधारणार्थत्वान्च ‘एको बन्धक’ एवेति प्रथमो भङ्गः । यदा हि ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टादिस्थितेः कश्चिदेकबन्धक एव विद्यते, न पुनरन्यस्तद्वन्धकस्तद्वन्धको वा ‘जे बंधगुक्कसाए’ इत्यादिना वक्ष्यमाणस्वरूपः । एतादृशः कालविशेषमव्यपेक्षः प्रथमभङ्गः, न पुनरन्येषां बन्धकानामवन्धकानां वा सद्भावकालिकैकबन्धकसत्ताप्रयुक्तः, तदानीमन्येषां बन्धकानामवन्धकानां वा सद्भावेन विभिन्नकालीनतया ‘एको बन्धक एव’ इति सावधारणभङ्गस्याऽयुज्यमानत्वात् । ननु ‘मा युज्यतां सावधारणः प्रथमभङ्गस्तदानीमन्येषां बन्धकाऽवन्धकानामपि सद्भावकाले, अनवधारणस्वसो युज्येत’ ? इति चेत्, न, ‘अद्दणहुकोसाए सिआ तुरिय-छद्द-अद्दमा भङ्गा’ इत्यादिनां घादिप्ररूपणायां तत्र तत्र चतुर्थपदादिभङ्गानां वक्ष्यमाणत्वेऽपि प्रथमादिभङ्गानामवक्ष्यमाणत्वेनानिष्टत्वादिति । इत्थमेवोत्तरत्र द्वितीयादिभङ्गेष्वपि यथासम्भवं विभावनीयं स्वधिया ।

“विद्दुओ अवंधगो” चि ‘एकोऽवन्धक एवे’ति द्वितीयो भङ्गः । तत्रोत्कृष्टादिस्थितिवन्धापेक्षयाऽवन्धकस्वरूपं तु ‘जे बंधगुक्कसाए’ इत्यादिनाऽनन्तरमेव गाथाद्वयेन ग्रन्थकृता वक्ष्यमाणं प्रतिपक्षस्थितेर्बन्धकलक्षणमेव विज्ञातव्यम् न पुनःसर्वथाऽवन्धकलक्षणमिति । “सव्वे वि बंधगा

तह” ति तथाशब्दः समुच्चये । ‘सर्वेऽपि बन्धका एवे’ति तृतीयभङ्गः, न पुनः केचनाऽबन्धका इत्यबन्धकव्यवच्छेदार्थोऽपिशब्दः । एवमुत्तरत्रापि, ततः “सर्वे वि अबंधगा चोत्थो” ति ‘सर्वेऽबन्धका एवे’ति चतुर्थो भङ्ग इत्यर्थः । पञ्चमादिभङ्गकानाह—“एगेण बन्धरोण” मित्यादि, एकेन बन्धकेन सह क्रमेण एकोऽबन्धकः, अनेकेऽबन्धकाः । अनेकेऽबन्धकेः सह एकोऽबन्धकः, अनेकेऽबन्धका एवैरूपाः पञ्चमादयोऽष्टमान्ताश्चन्वागे भङ्गाः । तत्रथा—‘एको बन्धक एकोऽबन्धक एवे’ति पञ्चमभङ्गः । ‘एको बन्धकोऽनेकेऽबन्धका एवे’ति षष्ठ्यभङ्गः । ‘अनेके बन्धका एकोऽबन्धक एवे’ति सप्तमभङ्गः । अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका’ इत्यष्टमो भङ्ग इति ।

द्वितीयादिभङ्गोक्तऽबन्धकानामनुकृष्टादिस्थितिभेदेन स्वरूपं निर्धारयन्नाह—“जे बंधगुक्साए” इत्यादि, ये उन्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकास्त एवेतरस्याः—अनुकृष्टायाः स्थितेर्बन्धका अनुकृष्टस्थितिवन्धविपर्ययकभङ्गाविचयेऽबन्धकतया शृण्वन्ते, न पुनर्ये स्थितेः सर्वथाऽबन्धकान्नेऽपीति सर्वथाऽबन्धकव्यवच्छेदार्थकमेवकागोपादानम् । तथैव “जेऽणुक्कोसाअ” ति चिअण्वदोऽनुवर्तते, ततो येऽनुकृष्टायाः स्थितेर्बन्धकास्त एवेतरस्या उन्कृष्टस्थितेर्बन्धकाः । अत्रापि पूर्ववद्भावार्थो द्रष्टव्यः । जवन्याजवन्यस्थितिवन्धविपर्ययेऽबन्धकस्वरूपमत्र शरयन्नाह—“जे बंधगा लहुए” इत्यादि पूर्ववत्, नवरं “लहुए” ति जवन्याः स्थितेः, “णणए” ति अकारस्य दर्शनाद् ‘अनणव्याः’ अजवन्याः स्थितेरित्यर्थः ॥२७७-२७८-२७९-२८०॥

तदेवं भङ्गकस्वरूपं तत्रोपयोग्यबन्धकस्वरूपं व्यावर्थाय साम्प्रतं ज्ञानावरणादीनामनुकृष्टादिस्थितिवन्धमधिकृत्य सम्भवद्भङ्गान् व्याचिकीर्षु रदौ तावदोघतः प्रतिपादयति—

अट्टणहुक्कोमाए सिआ तुरिय-लुट्ट-अट्टमा भंगा ।

अट्टम-मत्तम-तइआ ऽणुक्कोमाए ठिईए य ॥२८१॥

(प्रे०) “अट्टणहुक्कोसाए” इत्यादि, ज्ञानावरणादीनामष्टानामपि मूलप्रकृतीनां प्रत्येकानुकृष्टायाः स्थितेः “सिआ तुरिय-लुट्ट-अट्टमा भंगा” ति स्याच्चतुर्थभङ्गः ‘सर्वेऽबन्धका एवे’ ति । स्यात्षष्ठ्यभङ्गः ‘एको बन्धकोऽनेकेऽबन्धका एवे’ ति । स्यादष्टमभङ्गः ‘अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका एवे’त्येवमोघत उन्कृष्टस्थितेर्भिन्नभिन्नकालापर्यया नानामङ्गानां सम्भवादेकमङ्ग उक्तोऽप्यन्यभङ्गावकाशायानेकान्तद्योतकं स्यात्पदं प्रत्येकं योज्यमिति भावः । एवमेवोत्तरत्रापि नानामङ्गसम्भवेऽनुक्तेऽपि स्यात्पदे तद् द्रष्टव्यमिति । ननु ओघतो ज्ञानावरणादीनामनुकृष्टस्थितेः कथमेते त्रय एव भङ्गाः, न पुनरन्ये पञ्च ? इति चेत्, बन्धकपरिमाणादितथाविधनियमवशाद्, एतदर्थं तथाविधव्याप्तय एव द्रष्टव्याः, तास्त्वनन्तरं मार्गणास्थानेषु भङ्गप्रपञ्चनावसरे दर्शयिष्यामः, तत्र तासां सुज्ञेयत्वादिति । अथाऽष्टानामनुकृष्टस्थितेः सम्भवद्भङ्गानाह—“अट्टमे” इत्यादि, ‘अट्टणह’ इत्यनुवर्तते, ततोऽष्टानामपि ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीनामनुकृष्टायाः स्थितेः

स्यादृष्टमो भङ्गः 'अनेके बन्धगा अनेकेऽबन्धका एवे'ति । स्यात्सप्तमभङ्गः 'अनेके बन्धका एको-
ऽबन्धक एवे'ति । स्यात्तृतीयभङ्गः 'सर्वे बन्धका एवे'ति त्रयो भङ्गाः, न पुनरन्ये पञ्चेति ॥२८१॥

तदेवमभिहित औघतोऽपानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थिन्योनानाजीवाश्रयो बन्धका-
बन्धकनिष्पन्नो भङ्गविचयः । इदानीमादेशतश्चिकथयिषुरादौ तावदायुर्वर्जानां सप्तानां तमाह—

अममत्तणरे विक्रियमीसे आहारदुग-अवेएसुं ।

सुहुम-उवममेषु तहा सासण-मीसेसु भङ्गाऽट्ट ॥२८२॥

जेडियराण ठिईणं आउगवज्जाण अट्टमो भंगो ।

सव्वेषुं एगिंदिय-णिगोअभेएसु सेमसुहुमेषुं ॥२८३॥ (गीतिः)

व्यग्रअपज्जपुहवाइचरम-एनेअहरिअ-हरिएसुं ।

मयमुज्झं परिहारं छेए ओघव्व सेसासुं ॥२८४॥

(प्रे०) "असमत्तणरे" इत्यादि, 'अपर्याप्तनरे'—अपर्याप्तमनुष्यमार्गणास्थाने, तथा वैक्रिय-
मिश्रकथयोरमार्गणास्थाने, आहारक-तन्मिश्रकायवोगमार्गणाऽव्यलक्षण आहारकडिके, 'अवेअ' ति
अवगतवेदमार्गणास्थाने, तथा सूक्ष्मसंपरायसंयमे, अल्पशमिकपम्यकत्वे, मासादन-अम्यग्मिध्यात्व-
मार्गणास्थानयोश्चैत्येवं समुदितसु नवमार्गणास्थानेषु "भङ्गाऽट्ट" ति उक्तस्वरूपा अष्टावपि
भङ्गाः नश्यन्ते । केषां कर्मणां कथम्भूतायाः स्थितेरित्याह—"जेडियराणे"त्यादि, आयुर्व-
र्जानां नमकर्मणां 'ज्येष्ठायाः'—उत्कृष्टायाः 'इतरायाः'—अनुत्कृष्टायाश्च स्थिन्योः । कथम् ? प्रत्येकं
मार्गणास्थानानां नानाजीवानाश्रिन्य सात्त्वत्त्वान् । उक्तञ्च जावसमासे मार्गणास्थानेषु
जीवानां कादाचित्कमर्थाऽभावलक्षणमन्तरं प्रदर्शयता ग्रन्थकृता—

'यथाऽमंनियभावां सासणमिस्सासमन्नमणुणसुं' । वामपुहुत्तं उवमामणसु खवगेसु छम्मासा ॥

आहागिस्सजोगे वाणपुहुत्तं विउवसिसेसुं । वारस हुंति सुहुत्ता सव्वेषुं जहण्णओ समओ ॥इति॥

अत्र पाठे क्षपकाणामुपशमकानां चान्तरस्य प्रदर्शितत्वेन स्थितेर्बन्धकानामपगतवेदानां
सूक्ष्मसंपरायसंयतानां चान्तरमर्थतो गम्यत एव, क्षपकोपशमकान् विडापान्नेवां स्थितिवन्धकावेदितया
सूक्ष्मसंपरायसंयततया वाऽप्राप्तेः । ननु तथाऽपि प्रस्तुताऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणास्थानेष्वपाना-
मपि भङ्गानां सम्भवे, अन्यवर्षादौ तु तृतीयादीनां सम्भवे, तदन्येषां भङ्गकानां त्वसम्भवे को
नाम गमकः ? इति चेद्, तथाविधव्याप्तय एव ।

इहोघत आदेशतश्च ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टादिस्थितौ तत्तद्भङ्गसम्भवाऽसम्भवे इमा व्याप्तयः—
सर्वाः स्थितयो द्विविधस्थितिवन्धेऽन्तर्भवन्ति, तत्रैका सर्वाधिका स्थितिरुत्कृष्टस्थितिवन्धे, एक-
वर्जाः शेषाः समय-द्विसमय-त्रिसमयादिन्यूनोत्कृष्टा यावज्जघन्याः सर्वा अप्यनुत्कृष्टस्थितिवन्धे ।

इत्येवमुत्कृष्टानुत्कृष्टद्विविधस्थितिवन्धे सर्वा बन्धप्रायोग्यस्थितयोऽन्तर्भूताः । एवं जघन्याऽजघन्य-
द्विविधस्थितिवन्धेऽपि सर्वा बन्धप्रायोग्यस्थितयोऽन्तर्भवन्ति, जघन्यस्थितिवन्धतया एकस्य
बन्धप्रायोग्यसर्वस्तोकस्थितिवन्धस्थानस्य, अजघन्यस्थितिवन्धतया तु शेषसर्वबन्धप्रायोग्यस्थिति-
बन्धस्थानानां च ग्रहणात् । एतच्च सर्वं प्राग्दर्शितमेव । द्विविधस्थितिवन्धे नानास्थितिवन्धस्था-
नात्मकानुत्कृष्टादिस्थितेर्वन्धकानां कादाचित्कसर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं यत्र मार्गणादौ लभ्यते तत्र
तस्यास्तत्प्रतिपक्षभूताया उत्कृष्टादिस्थितेः प्रत्येकमष्टावपि भङ्गाः सम्पद्यन्ते । यथा प्रस्तुताऽप-
र्याप्तमनुष्यादिमार्गणास्वष्टकर्मणाम्, निरयगन्धोधादिमार्गणास्वायुःकर्मणश्चेत्येका व्याप्तिः ।

यत्र पुनरोषे मार्गणासु वा ज्ञानावरणादेरेकस्थितिवन्धस्थानात्मकोत्कृष्टादिस्थितेर्वन्धक-
परिमाणमसंख्यलोकप्रमाणं तदधिकं वा भवति, तत्र तु तस्यास्तत्प्रतिपक्षभूताया नानास्थिति-
बन्धस्थानात्मिकायाश्च स्थितेः प्रत्येकमकोऽष्टमभङ्ग एव प्राप्यते, न पुनरन्वे सप्तः यथाघत आयुषः,
आदेशतस्तिर्यग्गन्धोधादिमार्गणासु ज्ञानावरणादेर्जघन्याऽजघन्यस्थितयोः, एकेन्द्रियादिमार्गणासु
ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थितयोश्चेति द्वितीया व्याप्तिः ।

यत्र मार्गणादौ तु नानास्थितिवन्धस्थानात्मकस्थितेर्वन्धकानां कादाचित्कसर्वथाऽभाव-
लक्षणमन्तरं न भवति, न वा तत्प्रतिपक्षभूतैकस्थितिवन्धस्थानलक्षणायाः स्थितेर्वन्धका असंख्य-
लोकाकाशप्रदेशप्रमितास्तदधिका अनन्ता वा, तत्र तु द्विविधस्थितयोस्त्रयस्त्रयो भङ्गा एव सम्प-
द्यन्ते । तेऽपि एकास्थितिवन्धस्थानात्मकस्थितेश्चतुर्थ-पञ्चा-ऽष्टमभङ्गलक्षणाः, तत्प्रतिपक्षभूतनाना-
स्थितिवन्धस्थानात्मकस्थितेश्चतुर्थ-पञ्चा-ऽष्टमभङ्गलक्षणास्त्रयः, यथाघतोऽष्टाना-
मपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थितयोः क्रमेणति तृतीया व्याप्तिः ।

कुतः एवम् ? इति श्रेद्, उच्यते—यत्र नानास्थितिवन्धस्थानात्मकस्थितेर्वन्धकानां
सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं सम्पद्यते, तत्रैकस्थितिवन्धस्थानात्मकस्थितेर्वन्धकानां तु तत् सुतरां
सम्पद्यते; नानास्थितिवन्धस्थानात्मकस्थित्यपेक्षयैकस्थितिवन्धस्थानात्मकस्थितेर्वन्धकानां मन्त्रे-
यादिभागगतत्वेनस्तोकत्वात् । इत्येवं तत्र मार्गणादौ बन्धकाऽबन्धकपदद्वयस्याऽप्यध्रुवत्वेन
तत्तद्वन्धकादीनां सद्भावाऽसद्भावेऽष्टावपि भङ्गाः समुत्पद्यन्ते, आयुर्वर्जसप्तानां नानास्थिति-
बन्धस्थानात्मकाऽनुत्कृष्टादिस्थितेर्वन्धकानां कादाचित्कसर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं तु प्रस्तुताऽपर्याप्त-
मनुष्यादिमान्तरमार्गणास्वेव लभ्यते, न पुनः शेषमार्गणास्थानेष्वोषे वा, तथा च तास्वेव सप्ताना-
मुत्कृष्टादिस्थितेरष्टावपि भङ्गाः समुत्पद्यन्ते ।

तथाहि—अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां जीवानां सर्वथाऽभावलक्षणान्तरकालस्यात्रात्रिकमये द्वावेव
जीवावपर्याप्तमनुष्यतया विद्येते, नान्ये । तयोरप्येकेन तदानीं बध्यमानाऽऽयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीना-
मुत्कृष्टा स्थितिनिर्वर्त्यते, नान्येन, इत्येवं तत्कालमपेक्ष्योत्कृष्टस्थितिवन्धविषये पञ्चमभङ्गः

प्राप्यत 'एको बन्धक एकोऽबन्धक एवे' ति । तदनन्तरसमये तु तौ प्रावपि जीवौ तदव्युत्थाऽपर्याप्तमूर्ध्वैकेन्द्रियादिमार्गणान्तरं प्राप्ता । न च तदानीं समस्तेऽपि जगति कश्चिज्जीवोऽपर्याप्तमनुष्यतया विद्यते । तच्चाऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणाया अन्तर्गम् । अन्तरकालादूर्ध्वं पुनरपि मार्गणान्तराच्च्युत्वा जीवानामपर्याप्तमनुष्यतयोत्पत्तिः प्राग्भा, तत्र प्रथमसमये कश्चिदेक एव जीवोऽपर्याप्तमनुष्यतयोत्पन्नः । स च तदानीं भवप्रथमसमयस्थः सन् सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितिवन्धमेव करोतीति प्राप्तो द्वितीयभङ्गः 'एकोऽबन्धक एवे'ति, अनुत्कृष्टस्थितिवन्धकानामुत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षयाऽबन्धकतयाऽभिमतत्वात् । कियत्कालेन च तेन जीवेन सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धः प्रारब्धः, यद्यत्ता नाऽऽगतः कश्चिज्जीवो मार्गणान्तरादपर्याप्तमनुष्यतया, एवं च लब्धः प्रथमो भङ्गः 'एको बन्धक एवे' ति, तदानीमपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां तदन्यजीवम्याविद्यमानत्वात्, विद्यमानेन तु तेनोत्कृष्टस्थितिवन्धस्य निर्वर्तनाच्च । आरब्धे च तेनोत्कृष्टस्थितिवन्धे द्वितीयसमये कश्चिदन्यो जीवो मार्गणान्तरादागत्याऽपर्याप्तमनुष्यतया समुत्पन्नः, स च तदानीं सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेरेव बन्धक इति लब्धः पुनरपि पञ्चमभङ्गः । समयान्तरेऽन्ये त्रिचतुरा जीवा अपर्याप्तमनुष्यतया समजायन्त । ते च तदानीमनुत्कृष्टस्थितेरेव बन्धकाः, इत्थं तदानीमेकस्य सर्वप्रथममागतस्य जीवस्यैवोत्कृष्टस्थितेरेव बन्धकत्वात्, तदन्येषां पञ्चानामपि जीवानामनुत्कृष्टस्थितेरेव निर्वर्तकत्वाच्च जात 'एको बन्धकोऽनेकेऽबन्धका एवे'ति षष्ठभङ्गः । समयान्तरे च प्रथमागतेनाऽप्युत्कृष्टस्थितिवन्धं समाप्याऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धः प्रारब्धः, तदानीं च मार्गणागतानां षण्णामपि जीवानामनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्यैव प्रवर्तनात् प्राप्तश्चतुर्थभङ्गः 'सर्वेऽबन्धका एवे'ति । अन्तर्मुहूर्तेऽतिगते तैः सर्वैरुत्कृष्टस्थितिवन्धः प्रारब्धः, नाऽगतश्चाऽद्यापि तदन्यः कश्चिज्जीवः । इत्थं तदानीं मार्गणावर्तिनां सर्वेषामपि जीवानां सप्तकर्मोत्कृष्टस्थितिवन्धस्य प्रवर्तनाल्लब्धस्तृतीयो भङ्गः 'सर्वे बन्धका एवेति । तदनन्तरसमये च कश्चिदेक एव जीवोऽपर्याप्तमनुष्यतया संजातः, तस्याऽभिनवोत्पन्नस्याऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धः, शेषाणां तूत्कृष्टस्थितिवन्धः प्रवर्तत इति सम्प्राप्तः सप्तमो भङ्गो 'ऽनेके बन्धका एकोऽबन्धक एवे'ति । समयान्तरेऽन्येऽपि केचनाऽपर्याप्तमनुष्यतया समुत्पन्नाः । न चाद्याऽपि पूर्वोक्तैरुत्कृष्टस्थितिवन्धः समाप्तः । इत्थं प्राप्तोऽष्टमभङ्गो 'ऽनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका एवे'ति ।

इदन्तु दिङ्मात्रम् । अनया दिशा प्रकारान्तरेण तु स्वयमेव भावनीयाः । अनुत्कृष्टस्थिते-रष्टौ भङ्गास्तूक्तव्यत्यासेन भावनीयाः, यतो 'जे बंधगुक्कस्ताए' इत्यादि--(२७९-२८०) गाथाद्वये य उत्कृष्टस्थितेरेवन्धकास्तेऽनुत्कृष्टस्थितेरेवन्धकाः, ये चानुत्कृष्टस्थितेरेवन्धकास्त उत्कृष्टस्थितेरेवन्धका उक्ताः । एवञ्चोत्कृष्टस्थितेः प्रथमभङ्गोऽनुत्कृष्टस्थितेर्द्वितीयो भङ्गो भवति । उत्कृष्टस्थितेर्द्वितीयस्त्वनुत्कृष्टस्थितेः प्रथमः । एवं तृतीय-चतुर्थावपि भङ्गा व्यत्यासेन प्राप्येते । एवमेव षष्ठ-सप्तम-भङ्गावपि व्यत्यासेन वाच्यौ, य उत्कृष्टस्थितेः षष्ठभङ्गः, सोऽनुत्कृष्टस्थितेः सप्तम-भङ्गो भवति, उत्कृष्टस्थितेः सप्तमस्त्वनुत्कृष्टस्थितेः षष्ठ इति भावः । पञ्चमा-ऽष्टमौ तु स्वस्थाने

बन्धकाऽबन्धकव्यपदेशभेदेनोत्कृष्टस्थितेरनुत्कृष्टस्थितेश्च पञ्चमाऽष्टमभङ्गाव भवतः, न पुनर्मङ्ग-
गव्यत्यासेन । इत्थं च यत्रैकस्थितिवन्धस्थानात्मकोत्कृष्ठादिस्थितेः पञ्चमोऽष्टमो वा भङ्गो लभ्यते,
तत्र नानास्थितिवन्धस्थानात्मकप्रतिपक्षभूतानुत्कृष्ठादिस्थितेरपि स पञ्चमोऽष्टमो वा भङ्गः
प्राप्यते, यत्र तुत्कृष्टस्थितेः प्रथमो वा द्वितीयो वा तृतीयो वा चतुर्थो वा पष्ठो वा सप्तमो वा
भङ्गस्तत्र तु क्रमेणानुत्कृष्टस्थितेर्द्वितीयो वा प्रथमो वा चतुर्थो वा तृतीयो वा सप्तमो वा पष्ठो वा
भङ्गः सम्पद्यते । अत एवाँघतो ज्ञानावरणाद्यनुत्कृष्टस्थितेः वतुर्थपष्ठाऽष्टमभङ्गाः, तदनुत्कृष्टस्थि-
तेस्तु तृतीय-सप्तमा-ऽष्टमभङ्गाश्चाभिहिताः, निरयगत्योघादिमार्गणास्थानेषु वक्ष्यते च ।

औघतो निरयगत्योघादिमार्गणास्थानेषु च ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्ठादिस्थितेश्चिभङ्गप्रा-
प्तिस्तु तेषु नानास्थितिवन्धस्थानात्मकस्याऽनुत्कृष्ठादिस्थितेर्वन्धकानां कदाचित्कपर्वथाऽभावलक्ष-
णान्तरस्याऽभावेनैकपदस्य ध्रुवत्वात्, एकस्थितिवन्धस्थानात्मकोत्कृष्ठादिस्थितेर्वन्धकानामसंख्य-
लोकपरिमाणापेक्षया स्तोकत्वेनान्यपदस्याऽध्रुवत्वात् । एकस्थितिवन्धस्थानात्मकस्योत्कृष्ठादिस्थिते-
र्वन्धकानां कदाचित्सर्वथाभावलक्षणस्यान्तरस्याऽपि सम्भवेन तत्पदस्याऽध्रुवत्वादिति भावः ।
एकस्य पदस्य ध्रुवत्वे तदबन्धकाः सर्वदाऽनेके लभ्यन्ते । अध्रुवपदस्य तु कदाचिदेको लभ्यते,
कदाचित्चनेके लभ्यन्ते, कदाचित्तु न इत्येवं भङ्गत्रयी समुत्पद्यते ।

तद्यथा—एकस्थितिवन्धस्थानात्मकस्थितेर्यदा एकोऽपि बन्धको न लभ्यते, तथा 'सर्व-
ऽबन्धका एव'ति चतुर्थभङ्गः; तदानीं बहूनां नानास्थितिवन्धस्थानात्मकस्थितेर्वन्धकानां
विद्यमानत्वात् । अत एव यदाऽध्रुवपदे एको बन्धकः प्राप्यते, तदा पष्ठमङ्ग 'एको बन्धकोऽनेकेऽ-
बन्धका एव'ति । यदा पुनरनेके बन्धकाः प्राप्यन्ते, तदा त्वष्टमो भङ्गो 'ऽनेके बन्धका अनेकेऽब-
न्धका एव'ति । नानास्थितिवन्धस्थानात्मकानुत्कृष्टस्थितेस्तु बन्धकस्थानेषु बन्धकाः, अबन्धक-
स्थानेषु बन्धका इति व्यत्यासेन तृतीय-सप्तमा-ऽष्टमभङ्गाः स्वयमेव योज्याः ।

यत्र तु मार्गणादावेकस्थितिवन्धस्थानात्मकस्थितेर्वन्धका असंख्यलोकप्रदेशराशिपरिमितास्त-
दधिका वा सन्ति, तत्र तु पदद्वयमपि ध्रुवमेव भवति । कुतः ? असंख्यलोकप्रदेशपरिमितजीवराशे-
र्वन्धप्रायोग्यस्थितेर्वन्धकानां नैरन्तर्येण बहूनां लाभात् ।

ननु तथा मति भवन्वैकस्थितिवन्धस्थानात्मकस्थितेर्वहनां बन्धकानां नैरन्तर्येण लाभस्त-
तश्च तत्पदं ध्रुवम्, अनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां स्वध्रुवं भविष्यति ? इति चेद्, सैवम्, सर्वत्रैकस्थिति-
बन्धस्थानात्मकस्थितेर्वन्धकपरिमाणापेक्षया तत्प्रतिपक्षभूतानानास्थितिवन्धस्थानात्मकस्थितेर्वन्ध-
कानामनेकगुणानां भावाद् यत्रैकस्थितिवन्धस्थानात्मकस्थितेर्वन्धकानां बहुत्वेन तत्पदं ध्रुवं भवति,
तत्र नानास्थितिवन्धस्थानात्मकस्थितेर्वन्धकपदमपि ध्रुवमेव लभ्यते, इत्येवं तादृशमार्गणादीं पद-
द्वयस्यापि ध्रुवतया सार्वदिकनानाबन्धकाऽबन्धकलाभलक्षणो 'ऽनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका एव'त्य-
ष्टमभङ्ग एव सम्पद्यते ।

एवं हीदं प्रतिष्ठितम्—यत्रोत्कृष्ट-जघन्यान्तरस्थितेस्तत्प्रतिपक्षस्थितेश्च बन्धकानां कादाचित्कसर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं प्राप्यते, तत्र बन्धकाऽबन्धकलक्षणपदद्वयस्याऽध्रुवत्वेनाऽष्टा-
वपि भङ्गाः प्राप्यन्ते । यत्र त्वनुत्कृष्टाऽजघन्यस्थितेर्यन्धकानां कादाचित्कसर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं
नैव लभ्यते, किन्तु तत्प्रतिपक्षभूतोत्कृष्टादिस्थितेस्तल्लभ्यते, तत्रैकस्य पदस्य ध्रुवत्वाद् एकस्य
त्वध्रुवत्वाच्चोत्कृष्टादिस्थितेर्यथासम्भवं चतुर्थादयस्त्रयस्त्रयो भङ्गाः प्राप्यन्ते । यत्र तु बन्धकपरिमा-
णस्यासंख्येयलोककाशादिलक्षणबहुत्वेनैकस्थितिवन्धस्थानान्मकोत्कृष्टादिस्थितेर्यन्धकानामपि कादा-
चित्कसर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं न भवति, तत्र तु पदद्वयस्य ध्रुवत्वेनाष्टमभङ्ग एवाऽऽप्यत इति ।

नन्वेवं तर्हि छेदोपस्थापनसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणयोर्लुत्कृष्ट-जघन्य-तत्प्रतिपक्ष-
स्थितानां प्रत्येकं बन्धकानां कादाचित्कसर्वथाऽभावलक्षणान्तरस्य सम्भवेऽपि तत्र कथमष्टौ भङ्गा
नाभिहिताः ? इति चेद्, उच्यते, छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणयोर्पर्याप्तमनुष्यमार्ग-
णादिवन्मान्तरत्वेऽपि तत्र मार्गणादये यदि जघन्यपद एको गौं लभ्येत, तदोक्तनीत्या स्याद्भ-
ङ्गाष्टकम्, नवरं श्रीपञ्चमाङ्गे "छेदोपस्थापनियया पुनच्छाण्डोग्यमा । साऽवज्जमाणा ए फुल्लव सिय अत्थि
सिय नत्थि, जह अत्थि जहन्नेणं एको वा दो वा तिन्नि वा, उक्को वेणं सवपुत्तं, पुत्रपडिवज्ज ए सिय अत्थि
सिय नत्थि, जह अत्थि जहन्नेणं कोडिसयपुहुत्तं, उक्कोवेणवा कोडिसयपुहुत्तं" इत्यनेन जघन्यपदेऽपि
छेदोपस्थापनसंयतानां कोटिशतपृथक्त्वमभिहितम् । तदोक्तायां पुनः श्रुतिबलाज्जघन्यतस्तेषां
विंशतिरेव सम्भाविता । तथा च टोकाक्षराणि—“दुष्पमान्ते भग्नादिषु दशसु क्षेत्रेषु प्रत्येकं तद्द्वय-
स्य भावाद्द्विंशतिरेव तेषां श्रूयते,” इति । एवं परिहारविशुद्धिकसंयतमार्गणास्थाने “परिहारविशुद्धिया
जहा पुलागा” इत्यनेनातिदेशतः श्रीमत्यां भगवत्यां जघन्यपद एकोऽभिहितः, पञ्चवस्तुक-
प्रकरणे तु “उक्कोस-जहण्णेणं सयसो च्चिय पुत्रपडिवण्णा ॥गाथा १५३४॥” इत्यनेन जघन्यतोऽपि
ते शतशः प्रतिपादिताः ।

न चैवं मति तत्तन्मतेन यथासम्भवं भङ्गका द्रष्टव्या भवन्तीति वाच्यम् । यत एनेषाम-
तुल्यप्रतिपादनानां भिन्नभिन्नमतावलम्बित्वमेव, न पुनरभिप्रायविशेषावलम्बित्वमिति न केना-
ऽपि निश्चितम् । यत उक्तमभयदेवसूरिपादैः—“इहोत्कृष्टं छेदोपस्थापनीयसंयतपरिमाणमादित्ती-
र्यकरतीर्थान्याश्चित्य सम्भवति । जघन्यं तु तत्सम्यग् नावगम्यते” इति । पञ्चवस्तुके च प्रक्षेपपक्षापे-
क्षया जघन्यपद एक एव परिहारविशुद्धिको भवतीत्युक्तम् । तथा च तद्ग्रन्थः—

‘पडिवज्जमाण भइया उक्कोऽत्रि हु होज्ज ऊणपक्खेवे ।

पुत्रपडिवलयात्रि हु भइया एगो पुहुत्तं वा ॥१५३६॥’ इति ।

केचित्पुनरेवमाहुः—*छेदोपस्थापनीयं तु प्रथमचतुर्विंशतितमजिनतीर्थे तु नियमत आदत्तव्यं, पूर्व-
गृहीतचारित्रस्य विशेषोद्योगार्थमथवा मुक्तगुणभङ्गे पुनर्महाप्रयोगेणम्, एतत्तु सर्वजिनतीर्थेषु प्राप्यते’ इति ।

इत्यतोऽत्र ग्रन्थे छेदोपस्थापनसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणेऽष्टभङ्गाप्रस्तावेऽपि न संगृहीते, एवं न ते भङ्गाप्रस्तावेऽपि संगृहीयतः, किन्तु 'सयमुज्जं परिहारे छेप' इत्यनेन तत्र मार्गणाद्वये ममयाऽविरोधेन प्रस्तुतभङ्गाः स्वयमेवोह्या इत्यभिधास्यते, अतस्तत्र पूर्वदर्शितन्यायेन तत्तद्वचनान्यवलम्ब्य सम्भवद्भङ्गाः स्वयमभ्युह्या इति ।

अथ यासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिविषये केवलोऽष्टमभङ्ग एव, न पुनः शेषाः सप्ताऽपि, ना मार्गणाः संगृह्य तत्रैकोऽष्टमभङ्ग एवेति दर्शयन्नाह—“अष्टमभङ्गे” इत्यादि, 'अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका इत्येवंरूपोऽष्टमभङ्ग एव भवति, न पुनरन्ये मत् । कासु मार्गणास्विन्याह—“सञ्चेसु एगिदिचे” न्यादि, सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु, “णिगोअभेएसु” ति सर्वेषु साधारणवनस्पतिकायभेदेषु, तथा “सेससुहुमेसु” ति ओघ-पर्याप्ताऽ-पर्याप्तभेदभिन्नानेकेन्द्रिय-सत्त्वान् साधारणवनस्पतिकायसत्त्वांश्चानन्तरं “सञ्चेसु एगिदिचेणिगोअभेएसु” इत्यनेन संगृहीतान् पट् सूक्ष्मभेदान् न्यक्त्वा शेषेषु पृथिव्यप्तेजोवायुकायसत्त्वेऽप्योघ-पर्याप्ताऽ-पर्याप्तभेदभिन्नेषु द्वादशसु सूक्ष्मभेदेष्वित्यर्थः । अन्यभेदान् संगृहीतुमाह—“वायरअपज्जे” न्यादि, तत्र वादरापर्याप्तगण्डस्य प्रत्येकहरितान्तेषु प्रत्येकं योजनाद् वादराऽपर्याप्तपृथिवीकाय-वादराऽपर्याप्ताकाय-वादराऽपर्याप्ततेज-स्काय-वादराऽपर्याप्तवायुकाय-लक्षणे वादराऽपर्याप्तपृथिव्यादिभेदचतुष्के “पत्तेअहरिअहरिअ” ति वादराऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिभेदे, तथा 'हरिते' वनस्पत्यांश्च मार्गणायां चेत्येतेषु द्वात्रिंशन्मार्गणा-भेदेषु प्रत्येकमित्यर्थः । एतेष्वष्टमभङ्गोपपत्तिस्तु प्रत्येकमेकस्थितिवन्धस्थानात्मकोत्कृष्टस्थिते-र्वन्धकानामप्यसंख्येयलोक-तदधिकपरिमाणतया प्रागिव द्रष्टव्येति ।

अथ छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसंयमयोगाह—“सयमुज्जं” मित्यादि, गतार्थमिति ।

अथ शेषमार्गणास्वाह—“ओघच्च सेसासु” ति उक्तशेषासु सप्तविंशत्यभ्यधिकशतमार्ग-णासु प्रत्येकमोघवद्भवन्ति, सप्तानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्नानाजीवाश्रया भङ्गा इति प्रक्रमाद्भवन्ते । अत्र शेषमार्गणा नामत इमाः—सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, मनुष्यांघ-पर्याप्त-मनुष्य-मानुषीलक्षणास्त्रयो मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे देवगतिभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रि-यभेदाः, चत्वारः पृथिव्यप्तेजोवायुकार्योघभेदाः, वादरपृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिकायलक्षणाः पञ्च भेदाः, पर्याप्तवादरपृथिव्यतेजोवायु-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायलक्षणाः पञ्च भेदाः, त्रयस्त्रसकायभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चचोयोग-काययोगसामान्या-दारिकौ-दारिकमिश्र-वैक्रिय-कर्मणकाययोगाः, स्त्री-वेदादित्रिवेद-क्रौधादिचतुःकपाय-मन्यादिचतुर्जान-मत्यज्ञानादिव्यज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयम-देश-संयमा-ऽसंयम-चक्षुरादित्रिदर्शन-कृष्ण-नील-कापोत-तेजः-पद्म-शुकललेदया-भव्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वांघ-क्षायिक-वेदक-मिथ्यात्व-संशय-ऽसंशया-ऽऽहार्य-ऽनाहारिमार्गणाभेदाश्चेति । एतसु प्रत्येकं न भवति ज्ञानावरणादेर्नानास्थितिवन्धस्थानात्मकानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां कादाचित्कसर्वथाऽभावलक्षणमन्त-रम्, तस्याऽपर्याप्तमनुष्यादिसान्तरमार्गणास्वेवाभिहितत्वात् । एवं च न भवत्येकस्थितिवन्धस्था-

नात्मकोत्कृष्टस्थितेर्वन्धकपरिमाणमसंख्यलोकं तदधिकं वा, अन्यतममार्गेणाप्यासपि सूक्ष्माणां साधारणानामपर्याप्तवादरैकेन्द्रियाणां वोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वाभावात् । इत्थं चैकस्य पदस्य ध्रुवत्वादेकस्य त्वध्रुवत्वाद् भङ्गा अप्योक्तवृत्तानुत्कृष्टप्रतिबन्धोर्ध्वमन्धकं चतुर्थ-गण-ऽष्टमास्तृतीय-सप्तमा-ऽष्टमाश्च लभ्यन्ते, ते च सर्वथौघवदेव भावनीया इति ॥२८२-२८३-२८४॥

तदेवमभिहिता आयुर्वर्जानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितयोर्वन्धकावन्धकभङ्गाः सर्वमार्गेणास्थानेषु । साम्प्रतं तास्वेवायुपस्तान् प्रकटयन्नाह—

सर्वेषुं स्वलु णारग-पणिंदितिरिय-णर-देवभेणुं ।

सर्वेषुं विगलिंदिय-पणिदि-तमकायभेणुं ॥२८५॥

वायरसमतपुहवाइचउग-पत्तेअ-पणमणवयेमुं ।

विउवाहारदुग-पुरिम-थी-चउणाणेषु विभंगे ॥२८६॥

संयम-समइअ-छेअ-परिहार-देसो-हि-णयण-त्तेऊमुं ।

पम्ह-सुइल-सम्म-खइअ-वेअग-सासाण-सण्णीमुं ॥२८७॥

आउम्म अट्टु भंगा उकोमाए टिईअ णायव्वा ।

एवमणुकोमाए णया ओघव्व सेसामुं ॥२८८॥

(प्रे०) “सर्वेषुं स्वलु” इत्यादि गाथाचतुष्टयम् । तत्राद्यगाथात्रयेण संगृहीतास्वेकोत्तर-शतमार्गेणासु प्रत्येकं चतुर्थगाथापूर्वाधेनायुप उत्कृष्टस्थितेर्भङ्गा अभिहिताः; चतुर्थगाथोत्तरार्धेन तु तास्वेव गाथात्रयोक्तास्वेकोत्तरशतमार्गेणास्त्रायुपोऽनुत्कृष्टस्थितेर्भङ्गकानलिदिश्य शेषासु द्विपष्टि-मार्गेणासुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितयोर्भङ्गा औघवदभिहिताः । एतामां चतसृणामपि गाथानामक्षर-र्थस्तु सुगमः, नवरं द्वितीयगाथापूर्वाधे “वायरसमतपुहवाइचउगपत्तेअ” इत्यत्र वादर-पर्याप्तवाचको वादरसमाप्तशब्दः प्रत्येकान्तेषु प्रत्येकं युज्यते, ततश्च तेन वादरपर्याप्तपृथिव्यसेजोवायु-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकारूपाः पञ्चमार्गेणाः संगृहीता बोद्धव्याः ।

भावार्थः पुनरथम्—निरयगत्योष्वादिष्वेकोत्तरशतमार्गेणासु प्रत्येकं साधारणवनस्पतिकारू-जीवानां सूक्ष्मैकेन्द्रियजीवानां वादरापर्याप्तैकेन्द्रियाणां वा जीवानामग्रवेशाज्जीवपरिमाणं मूलत एवाऽसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्यं न विद्यते, किन्तु ततः स्तोत्रं स्तोत्रतरं स्तोत्रतमं वा विद्यते, इत्थं च न भवत्येतासामन्यतमस्यामप्यायुपोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकपरिमाणमसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्यम्, ततश्च प्रत्येकमायुपोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां कादाचित्कसर्वथाऽभावलक्षणस्याऽन्तरस्य सद्भावात्तत्पदम-ध्रुवम्, तस्याऽध्रुवत्वं तन्प्रतिपक्षभूतमुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकपदं सुतरामध्रुवं, द्वयोरध्रुवत्वे तु प्रागुक्तनीत्या-ऽष्टौ भङ्गाः समुत्पद्यन्त इति तथैवोक्ताः ।

शेषासु तिर्यगन्योघादिद्विपष्टिमार्गणासु तु प्रत्येकं साधारणानां सूक्ष्माणं वादराऽपर्याप्तानां वाऽन्यतमजीवानां प्रवेशेन, तैः सर्वैरायुषोऽनुत्कृष्टस्थितैर्वन्धकरणेन चायुषोऽनुत्कृष्टस्थितैर्वन्धक-परिमाणस्य बहुत्वात्तद्वन्धकानां सार्वदिकप्राप्तिलक्षणं तत्पदस्य ध्रुवत्वं भवति, न पुनरायुष उन्कृष्ट-स्थितेरपि । कुतः ? तद्वन्धकानामसंख्येलोकप्रदेशराशयपेक्षया स्तोकत्वात् ।

ननु मा भवतु तिर्यगन्योघ-काययोगसामान्यादिमार्गणासु संज्ञिपञ्चेन्द्रियादीनामेवाऽऽ-युष उन्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिन्वात्तेषां चासंख्येलोकप्रदेशराशयपेक्षया स्तोकत्वाद्नुत्कृष्टस्थितेः पदं ध्रुवम्, अपर्याप्तवादरैकेन्द्रियादिमार्गणाभेदेषु तु तद् ध्रुवं स्यात्, तत्र साकारादिविशेषणविशिष्टानां सामान्यजीवानामेवायुष उन्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिन्वकथनेन बन्धप्रायोग्यस्य पूर्वकोटीस्थितिकस्या-ऽऽयुषो मार्गणाप्रविष्टानामसंख्येलोकप्रदेशराशितुल्यानां तदधिकानां वा सर्वेषां जीवानां बन्ध-प्रायोग्यत्वात् ? इति चेद्, उच्यते, सत्यमेतत्, तथाऽपि तादृशोन्कृष्टस्थितैर्वेदकानामेव लोके स्तोकतया तादृशस्थितैर्वन्धका अपि लोके कस्मिन्नपि समये तदधिका नैवाऽवाप्यन्ते । इत्थं चाऽसंख्येलोकजीवराशिकेष्वपि तेषु पूर्वकोटीप्रमाणोन्कृष्टस्थितैर्वन्धकास्तु स्तोका एव प्राप्यन्ते, तत्राऽपर्याप्तवादरैकेन्द्रियादिमार्गणास्थानेष्वनुत्कृष्टस्थितेः पदमध्रुवं प्राप्यते, एवं चैकस्य पदस्य ध्रुवत्वादेकस्य न्वध्रुवत्वाद्दोधवदायुषो उन्कृष्टस्थितेः 'सर्वेऽवन्धका एव' इति चतुर्थभङ्गः, 'एको बन्धकोऽनेकेऽवन्धका एव' इति पटो भङ्गस्तथा 'अनेके बन्धका अनेकेऽवन्धका एव' इत्यष्टमभङ्गश्च प्राप्यते । अनुत्कृष्टस्थितेस्तु वैपरित्येन 'सर्वे बन्धका एव' इति तृतीयः 'अनेके बन्धका एकोऽवन्धक एव' इति सप्तमस्तथा 'अनेके बन्धका अनेकेऽवन्धका एव' इत्यष्टम इत्येवं त्रयस्त्रयो भङ्गाः प्राप्यन्त इति । अत्र शेषमार्गणाभिधानानि स्थिमानि-तिर्यगन्योघः, सर्वैकेन्द्रियभेदास्तथा पर्याप्तवादरभेदवर्जाः पट् पृथिवीकायभेदाः, एवं षड्कायभेदाः, पट् तेजस्कायभेदाः, षड् वायुकायभेदाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदवर्जा दशवनस्पतिकायभेदाः, काययोगसामान्यौ-दारिकौ-दारिकमिश्र-काययोग-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकषाय-मन्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दृशेन-कृष्ण-नील-कोपोत-लेश्या-भ्रूया-ऽमव्य-मिथ्यान्वा-ऽसंज्ञया-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति ॥२८५-२८६-२८७-२८८॥

तदेवमभिहित आदेशत आयुषोऽयुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थितोर्नानार्जावाश्रयो भङ्गविवयः ।
साम्प्रतं जघन्याजघन्यस्थिन्योम्नं दिदर्शयिपुरादां तावदोचत आह—

भंगाऽऽउगवज्जाणं ठिईण हस्सेयराण णायव्वा ।

जेट्टियरठिइव्व कमा आउस्स उ अट्टमां भंगां ॥२८९॥

(प्रे०) "भंगाऽऽउगवज्जाणं" मित्यादि आयुष्कवर्जानां ममानां भूषकृतीनाम् "ठिईण हस्सेयराणं" ति 'हस्त्रायाः'-जघन्यास्तदितरात् अजघन्यायाश्च स्थित्योर्भङ्गा ज्ञातव्या इति योगः । कथं ज्ञातव्या इत्यादि—"जेट्टियरठिइव्वकमा" ति ज्येष्ठेतरस्थितिवत् क्रमात्,

प्रागोघतो यथा ज्येष्ठायाः स्थितेः 'अट्टण्डुकोसाए सिञ्चा तुरिचछट्टबट्टमा भंगा' इत्यनेन ये चतुर्थ-
षष्ठा-ऽष्टमास्त्रयो भंगा दर्शितास्त एव त्रयो भङ्गाः सप्तानां जघन्यायाः स्थितेर्वोद्धव्याः । ये च तत्र
'अट्टमसत्तमत्तद्वत्ताऽणुकोसाए ठिईए च' इत्यनेनानुक्कृष्टायाः स्थितेस्त्रयो भङ्गा अभिहितेस्ते
सप्तानामजघन्यायाः स्थितेर्ज्ञातव्या इति भावः । तत्र सप्तानामजघन्यस्थितेर्वन्धकास्तु ध्रुवं लभ्य-
न्ते, एकेन्द्रियादिजीवैर्निरन्तरमायिकाजघन्यस्थितिवन्धस्य निर्वर्तनात्, इत्येवमेकं पदं ध्रुवम्,
अन्यत्तु जघन्यस्थितिवन्धकलक्षणमध्रुवम्, क्षपकानां तत्स्वामिन्वात् । तथा चोत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिद्व-
यस्त्रयो भङ्गा एवोन्पद्यन्त इति । अथाऽऽयुषो जघन्याऽजघन्यस्थित्योरोघतो भङ्गविचयमाह—
“आउस्स उ अट्टमो भङ्गो” इति 'हस्सेएराणे' न्यनुवर्तते, तत आयुषो 'हस्वेतरयोः'-जघन्या-
ऽजघन्यस्थितयोः प्रत्येकमष्टमो'ऽनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका एव' इत्येको भङ्गो भवति । तुका-
रस्तु पुनरर्थं द्रष्टव्य इति । कुत एकः ? इति चेद्, निगोदपर्यन्तानामनन्तानां जीवानामायुषो जघन्या-
ऽजघन्यस्थितिवन्धकत्वेन पदद्वयस्यापि ध्रुवत्वात्, पदद्वयस्य ध्रुवत्वे त्वेक एव भङ्ग प्राप्यत इति
प्राग् व्युत्पादितमिति ॥२८९॥ उक्त ओघतोऽष्टानां जघन्याजघन्यस्थितयोर्भङ्गविचयः । साम्प्रत-
मादेशतो विभणिपुरादां तावदायुर्वर्जानां सप्तानां तमाह—

तिरियु-रलमीम-कम्मण-दुअणाणा-ऽयत-तिअमुहलेमासुं ।

अभविय-मिच्छत्तेसुं अमणा-ऽणाहारगेषुं च ॥२९०॥

भंगाऽट्टमो चिअ भवे हस्सियरठिईण आउवज्जाणं ।

सेसामु जाणियव्वा उक्कोसेयरठिइव्व कमा ॥२९१॥

(प्रे०) “तिरियुरलमीसे” इत्यादि, तिर्यग्-बोधो-दात्मिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोग-
मत्पज्ञान-श्रताज्ञाना-ऽमंयम-कृष्णादिव्यशुभलेश्यामार्गणामु तथा-ऽभव्य-मिथ्यात्वयोरसंश्य-ऽनाहार-
कमार्गणयोर्गन्धेतासु त्रयोदशमार्गणामु प्रत्येकमायुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां “हस्सियरठिईण”
इति 'हस्वेतरयोः'-जघन्याऽजघन्ययोः स्थितयोः प्रत्येकं “भंगाऽट्टमो” इति अष्टमो भङ्गो'ऽनेके
बन्धका अनेकेऽबन्धका एवे'ति । कुतः ? एतासु प्रत्येकं प्रविष्टानां साधारणवनस्पतिकायादि-
जीवानां प्रस्तुतद्विविधस्थितिवन्धस्वामिन्वेन पदद्वयस्यापि ध्रुवत्वादिति ।

सेसामार्गणास्वाह—“सेसामु जाणियव्वा” इत्यादिना, अक्षरार्थस्तु सुगमः । भावार्थः
पुनरयम्--अपर्याप्तमनुष्यादिष्वेकादशसान्तरममार्गणामु तु मार्गणानामेव सान्तरत्वेनोत्कृष्टानुत्कृष्ट-
स्थित्योरिव जघन्याऽजघन्यस्थितिलक्षणपदद्वयस्याध्रुवत्वादृष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्ते । सर्वेष्वेकेन्द्रिय-
भेदेषु, वादरापर्याप्तपृथिव्यप्तेजोवायुकायरूपेषु चतुर्षु भेदेष्वपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाये, ओष-पर्याप्ता-
ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु त्रिषु सूक्ष्मपृथिवीकायभेदेषु, तथैव सूक्ष्माष्काय-तेजस्काय-वायुकायसत्केषु त्रिषु
त्रिषु भेदेषु, सर्वेषु साधारणवनस्पतिकायभेदेषु, वनस्पतिकायां घमार्गणायां चेत्येतासु प्रत्येकमुत्कृष्ट-

मूलाष्टप्रकृत्युत्कृष्टादिस्थितीनां

ओ
घ
तः

आयुर्वर्जसप्तानाम्-उत्कृष्ट-जघन्यस्थित्योः प्रत्येकम्-चतुर्थ-पञ्चा-ऽष्टमाः भङ्गाः।
 " अनुत्कृष्टा-ऽजघन्यस्थित्योः प्रत्येकम्-तृतीय-सप्तमा-ऽष्टमाः भङ्गाः। (गाथाः-
 आयुषः-उत्कृष्टस्थिते-चतुर्थ-पञ्चा-ऽष्टमाः, भङ्गाः } जघन्याऽजघन्यस्थित्योः- २८२-
 " अनुत्कृष्टस्थिते-तृतीय-सप्तमा-ऽष्टमाः भङ्गाः } देवलोऽष्टमो भङ्ग एवेति । २८९)

आवेशतः		गतिः	इन्द्रियः	कार्यः	योगः	वेदः
उत्कृष्टा-ऽजघन्य-स्थितीनां प्रत्येकम्	अष्टमभङ्ग एव	शपर्याममनुष्यः १			ग्राह्यकतन्मिथयोगी	गन-वेदः १
	अष्टमभङ्ग एव		सर्वे एकेन्द्रिय-भेदाः ३	७ सर्वे साधारणफलस्फूर्ति- १६ सर्वसूक्ष्मा-ऽपर्याप्त- वादरपृथिव्यस्फूर्ति-जो-वायु- कायभेदाः, शपर्यामप्रत्य- फलस्फूर्तिः ७ तन्मिथयोग- भेदश्च ८ ७		
उत्कृष्टायाः-चतुर्थ-पञ्चा-ऽष्टमा भङ्गाः अनुत्कृष्टायाः-तृतीय-सप्तमा-ऽष्टमाः जघन्यायाः-उत्कृष्टवत्प्र- भङ्गाः	अष्टमभङ्ग एव	तिर्यगन्वीच-भेदः १			शौचार्किकमिथः नामस्यः ३	
उत्कृष्टायाः-चतुर्थ-पञ्चा-ऽष्टमा भङ्गाः अनुत्कृष्टायाः-तृतीय-सप्तमा-ऽष्टमाः जघन्यायाः-उत्कृष्टवत्प्र- भङ्गाः	अष्टमभङ्ग एव	सर्वे देव-निर्य-भेदः सर्वे पञ्चेन्द्रियनिर्माणभेदः मनुष्योपनिर्माणभेदः मानुषीभेदाश्च १२	शोच-शर्यामा-ऽप- र्याप्तभेदाभिन्नाः सर्वे विकलेन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियभेदाः	शोच-वादरौघ-वादरपर्याप्त- भेदभिन्नाः पृथिव्यस्फूर्ति- वायुगायभेदा द्वादश, प्रत्ये- कवनीच-सत्पर्याप्तभेदो, त्रय- स्त्रयकायभेदाश्च १७	सर्वे मनोवचो- काययोगीपः शौचार्किकः वैक्रियश्च १३	स्त्रीः पुं० नपुं० ३
चतुर्विधस्थितीनां प्रत्येकमष्टौ भङ्गाः		नरक-पञ्चो-ऽश्व-यतिर्यग्-मनुष्य-देवसत्काः सर्व-भेदाः ४६	सर्वे विकलेन्द्रिय-गञ्चेन्द्रियभेदः १२	सर्वे त्रयकायभेदाः पर्याप्त- वादरपृथिव्यस्फूर्ति-जो-वायु- पर्याप्तप्रत्येकफलस्फूर्ति- भेदश्च ८	सर्वे मनोवचो- वैक्रियः ग्राह्यक- तन्मिथ १३	भेदः स्त्रीः पुं० २
चतुर्विध-स्थितीनां शोधवत्	जपः तिर्यगोपः १	सर्वे एकेन्द्रियः ७	उपगुं नाष्टमजाः पृथिवीका- योषादिभेदः ३४	काययोगीपः शौचार्किकतन्मिथो, ३	नपुं० १	

△ प्रतिपन्नद्वेषोपस्थापनीयमयतादीनां जघन्यादिपरिमाणानुसारेण सम्भवद्भङ्गा, स्वयमुच्यते ।

भङ्गविचयप्रदर्शकं यन्त्रकम्

भङ्गक्रमः—(प्रथमः) एको बन्धकः, (पञ्चमः) एको बन्धक एकोऽबन्धकः, (गाथा-
 (द्वितीयः) ★ एकोऽबन्धकः, (षष्ठः) एको बन्धकोऽनेकेऽबन्धकाः, २७७-
 (तृतीयः) सर्वे बन्धकाः, (सप्तमः) अनेके बन्धका एकोऽबन्धकः, २७८)
 (चतुर्थः) सर्वेऽबन्धकाः, (अष्टमः) अनेके बन्धका अनेकेऽबन्धका इति ।

कषायः	ज्ञानः	संयमः	दर्शन	श्रेयाः	भव्यः	सम्यक्त्वः	संज्ञीः	आहाः	सर्वाः	गाथाङ्काः
		सूक्ष्ममपरायः १				प्रोपशः सासादः मिश्रः ३			६	२८२ २६१
									३२	२८३ २८४ २६९
		△ छेदः परिहारः							२	२०४
	मत्प्रज्ञानः श्रुताज्ञानः २	असंयमः १		प्रशुः ३	भव्यः १	मिष्यात्वः १	प्रसंज्ञीः १	आहाः १	६२	२८४ २६०
मर्वः ४	मत्प्रज्ञान- चतुष्कां विभङ्गज्ञान चः ५	संयमोषः साभाषिकः देशसंयमश्च ३	चक्षुः अचक्षुः अवधि ३	शुभः ३	भव्यः १	सम्यक्त्वोषः क्षायिकः क्षायोपवासिकः ३	संज्ञीः १	आहाः १	११४	२६१
	मत्प्रज्ञान- ज्ञानचतुष्कां विभङ्गः ५	संयमोषः सामां छेदः परिहारः देशसंयमश्च, ५	अचक्षुः चक्षुः २	शुभः ३		सम्यक्त्वोषः क्षायिकः क्षायोपः सासादः ४	संज्ञीः १		१०१	२८५ २८६ २८७ २८८ २६२
सर्वः ४	मत्प्रज्ञानः श्रुताज्ञानः २	असंयमः १	अचक्षुः १	प्रशुभः ३	भव्यः अभः २	मिष्यात्वः १	प्रसंज्ञीः १	आहाः १	६२	२८८ २६२

★ अवन्धका नाम ये प्रतिपन्नस्वित्तबन्धकास्ते, त.तु सर्वथाऽबन्धका इति ।

स्थितेर्वन्धकपरिमाणमिव जघन्यस्थितेर्वन्धकपरिमाणमप्यसंख्येयलोकाकाशादि लक्षणमेव, ततश्च पद-
द्वयस्य ध्रुवत्वादेकोऽष्टमभङ्ग एव प्राप्यते । एता द्वात्रिंशन्मार्गणा एकादशाऽपर्याप्तमनुष्यादि-
सान्तरमार्गणास्तथा 'निरिये'त्यादिनाऽनन्तराक्तास्तिर्यग्गत्योधादिवयोदशमार्गणाश्च विहाय शेषामु
निरयगत्योधादिचतुर्दशोत्तरशतमार्गणामु तत्कृष्टस्थितिवन्धकानामिव जघन्यस्थितेर्वन्धकानामप्य-
संख्यलोकाकाशप्रदेशापेक्षया स्तोकत्वान्मार्गणानां निरन्तरत्वाच्चैकं पदं ध्रुवमेकं त्वध्रुवमित्येवमो-
घवत्त्रयस्त्रयो भङ्गा एव प्राप्यन्त इति ॥२९०-२९१॥

तदेवमभिदिता आयुर्वर्जसप्तानां जघन्याऽजघन्यस्थिन्योनानिजीवाश्रया भङ्गा मार्गणास्था-
नेष्वपि । साम्प्रतं शेषस्याऽऽयुःकर्मणस्तानादेशतो दर्शयन्नाह—

जासुं जेद्वियराणं ठिईण भंगाऽऽगस्म अट्टऽत्थि ।

तासु जहणियराणं ते चिअ ओधव्व सेसासुं ॥२९२॥

(३०) "जासुं जेद्वियराणं"मित्यादि, यामु मार्गणास्वायुषो 'जघन्येतरयोः'-उत्कृष्टा-
नुत्कृष्टयोः स्थिन्योरैकानेकादिवन्धकावन्धकनिष्पन्ना भङ्गाः "अट्टऽत्थि" ति अनन्तरम्—

'सव्वेसुं खलु णारमपणिदिद्विरियणरदेवभेवसुं । सव्वेसुं विगण्ठियपणिदिद्विसकायभेवसुं ॥

चायरसमत्तपुद्दवाइचउगपत्तंभपणमणवयेसुं । विउवाहारदुगपुसिअधीचउणाणेसुं विउभंगे ॥

मंयसमसद्वअभपरिहादेसोद्विणयणतंउमुं । पण्हसुइलसम्मवइअवेअगसासाणसणीसुं ॥

आउस्स अट्टभंगा उक्कोसाए ठिईअ णायवा ॥ एवमणुक्कोसाए..... ॥ (गाथा-२८५...२८८)

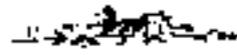
इत्यनेनाष्टवभिदिताः सन्तीत्यर्थः । "तासु जहणियराणं ते चिअ" ति तामु निरय-
गत्योधादिष्वेकोत्तरशतमार्गणामु 'जघन्येतरयोः'-जघन्याजघन्ययोः स्थिन्योस्त एवार्थं भङ्गा भव-
न्तीत्यर्थः । कुतः ? एतासु प्रत्येकं मूलत एव जीवानामसंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकत्वेनायुष
उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धलक्षणपदद्वयस्यैव जघन्या-ऽजघन्यस्थितिवन्धलक्षणपदद्वयस्याप्यध्रुवत्वात् ।

अथ शेषमार्गणास्वाह—"ओधव्व सेसासुं" ति शेषामु तिर्यग्गत्योधादिषु त्रिषष्टिमा-
र्गणामु प्रत्येकमायुषो जघन्याऽजघन्यस्थिन्योः प्रत्येकमोघवदेकोऽष्टमभङ्ग एवेत्यर्थः । नन्वेतासु
कथमुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्भङ्गावत्त्रयस्त्रयो भङ्गा नाभिधीयन्ते ? उच्यते, तत्राऽनन्तजीव-
राशिकेष्वसंख्यलोकजीवराशिकेषु वा मार्गणाऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां स्तोक्तानामेव प्राप्तेः पदस्य-
कस्याध्रुवत्वेन बन्धकाभावस्यैकादिवन्धकानां च कालभेदेन लाभान्त्रयो भङ्गाः प्राप्यन्ते ।
अत्र तु जघन्यस्थितेर्वन्धका अप्यजघन्यस्थितेर्वन्धकानामिव बहवः प्राप्यन्ते, ततश्चाजघन्यस्थितेर्वन्ध-
कानामिव जघन्यस्थितेर्वन्धकानामपि सर्वदेव प्राप्तेः पदद्वयस्य ध्रुवत्वादेकोऽष्टमभङ्ग एव लभ्यत
इति । तत्रोत्कृष्टस्थितिवन्धकानां स्तोकत्वं तत्कृष्टस्थितिकायुषो वेदकानां जीवानां लोके स्तो-
कत्वात्, प्रकृते जघन्यस्थितेर्वन्धकानां बहुप्राप्तिस्तु लोके क्षुल्लकभवरूपजघन्यायुर्वेदकानां जीवानाम-
नन्तत्वाद् बोद्धव्या ।

अयन्मावः—यत्स्थितिकजीवानां लोक उत्कृष्टो यावत्परिमाणं भवति, तत्परि-
माणादधिकजीवा एकस्मिन् समये तत्स्थितिकमायुर्न बध्नन्ति; क्षुल्लकभवग्रहणस्थितिका जीवा
लोकेऽनन्ता भवन्त्यतः क्षुल्लकभवप्रमाणजघन्यस्थितेर्वन्धका अप्येकसमये लोकेऽनन्ताः प्राप्यन्ते,
पूर्वकोट्यादिस्थितिकजीवास्तु लोके स्तोका भवन्त्यतः पूर्वकोट्यादिस्थितिकायुषो बन्धका अपि लोके
स्तोकाः प्राप्यन्ते, इत्येवमुभयत्र बन्धकपरिमाणवैषम्याद्भ्रमवैषम्यं बोद्धव्यमिति ॥२९२॥

तदेवं प्रतिपादितः शेषस्याऽऽयुर्कर्मणो जघन्याऽजघन्यस्थित्योर्नानाजीवाश्रयो भङ्गविचय
आदेशतोऽपि । एवञ्च गतं सप्तमं नानाजीवाश्रितं भङ्गविचयद्वारम् ॥

॥ इति श्रीघनवचिद्याने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे
द्वितीयाधिकारे सप्तमं नानाजीवाश्रय-
भङ्गविचयद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथाऽष्टमं भागद्वारम् ॥

सम्प्रति क्रमप्राप्तं “भागो” इत्यनेनोद्दिष्टे भागद्वारं भागप्ररूपणां चिकीर्षुरादौ तावदुत्कृष्टा-
नुत्कृष्टस्थित्योर्वन्धकजीवानां भागान् दर्शयन्नाह—

उकोसाअ ठिईए अणंतभागोऽत्थि बंधगाऽट्टण्हं ।
होअंति बंधगाखलु अणंतभागा अजेट्टाए ॥२९३॥

(प्रे०) “उकोसाअ ठिईए” इत्यादि, तत्र “ट्टण्हं” मित्यत्राऽकारस्य दर्शनादष्टानां ज्ञानावर-
णादीनां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकाः “अणंतभागोऽत्थि” ति औघतो भण्यमानत्वात्
सर्वेषां स्थितिवन्धकजीवानामनन्तभागः,—अनन्ततमैकभागप्रमाणाः सन्तीत्यर्थः । कुत एक एव भाग
इति गम्यते ? ‘अणंतभागो’ इत्यत्रैकवचनस्योपादानादिति । कथमनन्तैकभागः ? इति चेत्,
पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेवोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वात्तेषां च सर्वस्थितिवन्धकानन्तभागगतत्वात् ।
अत एव शेषा अनन्तबहुभागजीवा ज्ञानावरणादीनां तत्प्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकतया प्राप्ता
इति तान् तथैव दर्शयन्नाह—“होअंति बंधगा खलु” इत्यादि, अत्र “अट्टण्हं” मित्यनुवर्त-
तेऽतोऽष्टानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकम् “अजेट्टाए” ति ‘अज्येष्टायाः’ अनुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकाः
खल्वनन्तभागाः—सर्वास्थितिवन्धकजीवानामनन्तबहुभागगता भवन्तीत्यर्थः । अत्रापि पूर्ववद् बहुवचन-
प्रयोजनाद् बहुभागग्रहणं विज्ञेयम् । एवमेवोत्तरत्रापि द्रष्टव्यमिति ॥२९३॥

तदेवं दर्शिता अष्टानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितयोर्वन्धकभागा ओघतः । इदानीं तानेवादेशतः प्रचिकटयिपुरादौ तावदायुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामाह—

सत्तण्हुक्कोसाए अणंतभागोऽस्थि तिरियकायेसुं ।

उरलदुग-कम्मणेसुं णपुंसगे चउकसायेसुं ॥२९४॥

अण्णाणदुगे अयते अचक्खुदंसण-तिअसुहलेमासुं ।

भविये-यर-मिच्छेसुं असण्णि-आहार-गियरेसुं ॥२९५॥

(प्रे०) “सत्तण्हुक्कोसाए” इत्यादि. आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टायाः स्थितेः “अणंतभागोऽस्थि”ति मार्गणागतानां सप्तकर्मसत्कस्थितिवन्धकजीवानामनन्ततमैक-भागप्रमाणाः मन्तीत्यर्थः । बन्धका इति गम्यते । कस्यु मार्गणास्त्रित्याह—“तिरियकायेसुं”-मित्यादि, तिर्यग्गन्धोघ-काययोगयोः “उरलदुगकम्मणेसुं” ति औदारिकौ-दारिकमिश्रकाय-योगमार्गणयोर्द्विके, कर्मणकाययोगे, तथा नपुंसकवेदे, क्रोधादिचतुःकपायमार्गणासु । अन्यमार्गणाः संग्रहीतुमेकाभार्यामाह—“अण्णाणदुगे” इत्यादि मन्यज्ञान-श्रुताज्ञानमार्गणयोर्द्विके, असंयमे, अच-क्षुदर्शने, कृष्णादित्र्यशुभलक्ष्यासु, भव्ये, तदितरेऽभव्ये, मिथ्यात्वे, असंज्ञया-ऽऽहारकमार्गणयोः, आहारकेतराऽनऽहारकमार्गणायांमत्येतासु त्रयोविंशतिमार्गणासु प्रत्येकामन्वर्थः । कुतः ? औघवदेतासु प्रत्येकं श्रविष्टैरनन्तबहुभागगतैः साधारणवनस्पतिकायादिजीवैः सर्वेदानुऽऽकृष्टस्थितिवन्ध एव निर्वर्त्यन्ते, इत्यश्च शेषाणां मंजिपञ्चेन्द्रियादीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धकानामसंख्येयत्वेन ते तिर्यग्गत्यादि-तत्तन्मार्गणागतसप्तकर्मसत्कस्थितिवन्धकजीवानामनन्ततमैकभागगता एव भवन्ति ॥२९४-२९५॥

अथ मार्धाऽऽर्यया शेषमार्गणासु सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितेर्वन्धकभागान् प्ररूपयन्नाह—

पज्जमणुम-मणुसीसुं सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेणसुं ।

मणणाण-संयमेसुं समहअ-छेअ-परिहारसुहुमेसुं ॥२९६॥

होअन्ति संखभागो असंखभागो हवन्ति सेसासुं ।

(प्रे०) “पज्जमणुसे” न्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोः, सर्वार्थसिद्धविमानदेव-गतिभेदा-ऽऽहारक-ऽऽहारकमिश्र काययोगमार्गणाभेदद्वया-ऽपगतवेदमार्गणासु, तथा मनःपर्यवज्ञान-संयममार्गणयोः, सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणास्त्रित्येतासु संख्येयजीवराशिकासु द्वादशमार्गणासु प्रत्येकं “होअन्ति संखभागो” ति ‘सत्तण्हुक्को-साए’ इत्यस्यानुवृत्तेः सप्तानामायुर्वर्जान्यतमानां पर्याप्तमनुष्यादितत्तन्मार्गणासु बन्धप्रायोग्यानां ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेः संख्येयभागो भवन्ति, बन्धका इति प्रकरणाद्गम्यते । कुतः ? एतासु मार्गणासु प्रत्येकं जीवानां संख्येयत्वाद्दुत्कृष्टस्थितिवन्धस्यैकस्थितिवन्धस्थानात्म-

कन्वान्वेति । अथ शेषमार्गणासु प्रकृतमाह—“असंख्यभागो हवन्ति सेसासु”मिति, अनन्तरो-
क्तमार्गणाः पञ्चिदश शेषासु निर्यगत्योधादिपञ्चत्रिंशदुत्तरशतमार्गणामु प्रत्येकम् “असंख्यभागो
हवन्ति” ति मार्गणागतवर्षवन्धकानामसंख्यभागः-असंख्येयतमैकभागप्रमाणा भवन्ति, सप्ताना-
मुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धका इति प्राग्बोध्यमिति ।

शेषमार्गणा नामत इमाः—सर्वे निर्यग्भेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, मनु-
ष्याद्या-ऽप्यर्थात्तनुष्यभेदाः, सर्वाथैनिद्विमानभेदवर्जा एकोनत्रिंशद्देवगतिभेदाः, एकोनविंशतिरी-
न्द्रियमार्गणाभेदाः, द्विचत्वारिंशदपि पृथिव्यादिकापमार्गणाभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-वैक्रिय-
वैक्रियमिश्रकाययोग-स्त्रीवेद-पुं वेद-मत्यादित्रिज्ञान-विभङ्गज्ञान-देशसंघम-चक्षुर्दर्शना-ऽवाधिदर्शन-
तेजः-पञ्चशुक्लेश्या-गन्धवत्त्व-ध-श्लाथिक-क्षायोपशमिका-पशमिक-मिश्र-साक्षादन-संज्ञिमार्गणाभेदा-
श्चेति । अत्र निर्यगत्योधादिभेदेषु प्रत्येकं स्थितिवन्धकजीवानामसंख्येयत्वादेकस्थितिवन्धस्थान-
न्मकोत्कृष्टमिश्रतेर्वन्धका अप्यसंख्येयैकभागता एव प्राप्यन्ते, सप्तस्वेकेन्द्रियमार्गणाभेदेषु, सर्वेषु
साधारणवनस्पतिकायभेदेषु वनस्पतिकायाधमार्गणाभेदे च यद्यपि प्रत्येकमनन्ता जीवाः सन्ति,
तथापि तेषु चादरसाधारणवनस्पतिकायाद्यनन्तकायिकजीवानामपि तत्तन्मार्गणासत्कोत्कृष्टस्थिति-
वन्धस्वामित्वाद्दुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका असंख्येयभागता एव प्राप्यन्त इति तथैवाभिहिता इति ॥२९६॥

अथ सर्वमार्गणासुनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकभागानाह—

सव्वासु सेसभागाऽणुकोसठिईअ णायव्वा ॥२९७॥

(प्रे०) “सव्वासु” इत्यादि सुगमम् । नवरं “सेसभागा” ति यास्वेकोऽनन्तभागः
मप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका उक्ताः, तासु तिर्यगत्योधादिमार्गणासु शेषा अनन्तबहुभागाः सप्ताना-
मनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकाः । एवमेव शेषमार्गणासु शेषाः संख्येयबहुभागाः, असंख्येयबहुभागाश्च
यथामन्त्रं ज्ञानावरणादीनामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकतया द्रष्टव्या इति ॥२९७॥

तदेवं प्रतिपादिता आदुर्वर्जसप्तानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्वन्धकभागा मार्गणा-
स्थानेष्वपि । साम्प्रतं शेषस्याऽऽयुःकर्मणस्तान् मार्गणासु दर्शयन्नाह—

तिरिये सव्वेगिंदिय-णिगोअ-णका-युरालियदुगेसुं ।

णपुम-चउकपायेसुं दुअणाणा-ऽयत-अचक्रखूसुं ॥२९८॥

अपसत्थतिलेसासुं भवि-यर-मिच्छा-ऽमणेसु आहारे ।

आउस्स बंधगा खलु अणंतभागोऽत्थि जेट्ठाए ॥२९९॥

(प्रे०) “तिरिये सव्वेगिंदिये”त्यादि, तिर्यगत्योधे, तथा “सव्वे” इत्यादौ सर्वशब्द-
स्यैकेन्द्रिय-निगोदयोः प्रत्येकं योजनाद् सर्वे एकेन्द्रियभेदाः, सर्वे च निगोदभेदास्तथा वनस्पति-

कायौघ-काययोगामान्यौ-दारिकौ-शार्ङ्गिकमिश्रकाययोगेषु, तथा नपुंयकत्रेद-चतुःकपायेषु, मन्व-
ज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शनमार्गणासु, मार्गणान्तराणि मङ्गप्रहायाह-“अपसत्थे”त्यादि,
‘अप्रशस्ताः’-अंशुभाः कृष्णादिविलेखास्तासु, भन्त्ये, तदितरेऽभन्त्ये, मिथ्यात्वा-ऽर्पणमार्गगमोगहाक-
मार्गणायामिन्येतासु पट्त्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकम् “आउस्स” ति आयुः कर्मणः “जेद्वाण” ति
‘ज्येष्ठायाः’-उत्कृष्टायाः स्थितेः “बंधगा खलु अपंतभागोऽस्थि” ति मुगदम् । इत्यञ्जगर्भः ।
भाषार्थस्त्वयम्-पूर्वकोट्याद्युत्कृष्टस्थितिकजीवानां लोके स्तोत्रत्वात्तस्य पूर्वकोट्याद्युत्कृष्टस्थिति-
कायुषो बन्धका अपि लोके स्तोका अमंख्येया एव प्राप्यन्ते । किञ्च प्रकृतसर्वमार्गणासु प्रतिप्रमयं
सर्वजीवानामायुर्वन्धाभावेऽपि मार्गणागतजीवेश्वः मंख्येयंरुभागगता अनन्ता जीवाः प्रतिप्रमयना-
युर्वन्धकतया प्राप्यन्ते । तेभ्यश्चोक्तनीत्या पूर्वकोट्याद्युत्कृष्टस्थितेर्वन्धका अमंख्येया एव सम्भवन्ति,
न पुनस्तदधिकाः । ते च मार्गणागतानां सर्वेषामायुर्वन्धकजीवानामनन्ततर्मकभागगता एवेति-
कृत्वा “बंधगा खलु अपंतभागोऽस्थि” इत्यभिहितमिति ॥२९८-२९९॥

अथ शेषमार्गणामु सार्धथाऽऽर्यथाऽऽयुष उत्कृष्टस्थितेर्वन्धकभागान्तिरूपवन्नाह—

पञ्जमणुस-मणुसीसुं आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेसुं ।

मणणाण-संयम-समहअच्छेअपरिहारसुइलखइएमुं ॥३००॥

होअन्ति संखभागो अमंखभागो हवन्ति सेसासुं ।

(प्रे०) “पञ्जमणुसे”त्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोस्तथाऽऽहारकाऽऽहारका-
ऽऽहारकमिश्रकाययोगलक्षणै, आनतकल्पादिसर्वार्थसिद्धविमानान्ताष्टादशदेवमार्गणासु, मनःपर्यव-
ज्ञान-संयमौघ-यामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकर्मणम-शुक्लेह-त-आधिकव-ऽऽऽणतासु
सप्तमार्गणामिन्येवमेकोनत्रिंशन्मार्गणानु प्रत्येकं “होअन्ति संखभागो ति मार्गणागतायुर्वन्ध-
कजीवानां मंख्येयतर्मकभागो भवन्ति, आयुषो ज्येष्ठायाः स्थितेर्वन्धका इति प्रकृष्णाद्भवति इति ।
अत्र सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जासु शेषाम्बानतादिषु देवगतिपत्कउत्तममार्गणासु यशस्वसंख्येया
जीवाः सन्ति, तथापि तासु विवक्षित एकस्मिन् समये मंख्येयादिविधा जीवा आयुर्वन्धकतया न
प्राप्यन्ते । कुतः ? तैः पर्याप्तमनुष्यसत्कायुर्वन्धात् पर्याप्तमनुष्याणामुत्कृष्टेऽपि मंख्येयत्वात् च ।

इदमुक्तं भवति-यत्रागुक्तं लोके यत्स्थितिकजीवानामुत्कृष्टतो वाधन्परिमाणं तन्नवति,
तत्परिमाणादधिकजीवा एकस्मिन् समये तत्स्थितिकायुर्वन्धकतया न प्राप्यन्ते, किन्तु ततो जीवा
एव प्राप्यन्त, इति नियमेन पर्याप्तमनुष्यसत्कायुर्वन्धका एकस्मिन् समये संख्येया एव प्राप्यन्ते;
तेभ्योऽपि केवलदेवगतिमार्गणामत्कप्रकृतैरुक्तमेदेषु ते स्तोत्रतयाः मंप्रयन्ते । शेषपर्याप्तमनुष्यादि-
मार्गणासु तु सर्वेऽपि जीवाः संख्येया इतिकृत्वाऽऽयुर्वन्धकजीवानामपि संख्येयाविक्रानाममभव
एव । एवं च स्थिते एकस्थितिवन्धस्थानात्मकोत्कृष्टस्थितिकायुषो बन्धकजीवा मार्गणागतसर्वायु-

वन्धकजीवानां संख्येयैकभागगताः, नानास्थितिवन्धात्मकानुत्कृष्टस्थितिकायुषो बन्धकास्तु संख्येय-
बहुभागगता इतिकृत्वा 'होश्चन्ति संख्यभागो' इत्युक्तमिति ।

अथोक्तशेषमर्षमार्गणाम् प्रस्तुतमाह--“असंख्यभागो हवन्ति” इति अनन्तानेतरस्थित्य-
न्यादियत्राष्टिमार्गणा विवर्ज्य शेषाय निरयमन्वयोवाद्यनयनिमार्गणाम् प्रत्येकम् “असंख्यभागो
हवन्ति” इति आहुर उन्कृष्टस्थितैर्वन्धकास्तत्तन्निरयमन्वयोवादिमार्गणागतसर्वाधुर्वन्धकजीवानाम-
संख्यभागगता भवन्तीत्यर्थः । तत्र शेषमार्गणाऽभिधानानि त्विमानि—अष्टौ निरयगति-
भेदाः, चत्वारस्त्रिर्यत्रवेन्द्रियभेदाः, मनुष्याद्या-ऽपयामनुष्यभेदाः, देवीषभेदाः, एकादश भवन-
पत्यादिमहत्तरान्ता देवभेदाश्च, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, तथैव सर्वे पृथि-
वीकाया-ऽष्काय-तेजस्काय-वायुकाय-प्रत्येकवनस्पतिकाय-व्रसकायभेदाः, सर्वे मनोयोगभेदाः, सर्वे
वचनयोगभेदाः, वैक्रियकाययोगभेदाः, स्त्रीवेद-पु वेद-मन्यादित्रिज्ञान-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-चक्षुर्द-
र्शना-ऽव्यभिदर्शन-नेजोलेश्या-पद्मलेश्या-यस्यवन्वीच-श्रायोपशमिकमम्यकत्व-सास्वादन-संज्ञिमार्गणा-
भेदाश्चेति । एतासु प्रत्येकमसंख्येया जीवाः, उत्कृष्टायुध नियोग्-देवाद्यसंख्येयजीवराशिसत्कं वक्ष्यते,
ततश्चोक्तनीन्योऽन्कृष्टस्थितिकायुर्वन्धका अप्यसंख्येयैकभागगताः प्राप्यन्त इति ॥३००॥

अथ प्रागिव सर्वमार्गणास्त्रायुषोऽनुत्कृष्टस्थितैर्वन्धकभागान् दर्शयन्नाह—

मन्वासु मेसभागाऽणुत्रकोसठिईअ णायन्वा ॥३०१॥

(प्रे०) “सन्वासु” इत्यादि गतार्थम् । नवरं सर्वास्त्रित्यनेन वैक्रियमिश्रकाययोगादिसप्त-
मार्गणावर्जास्त्रियुत्तरशतमार्गणा ग्राह्याः । इति ॥३०१॥

तदेवमभिहित्वा आदेशतोऽपि मन्वाऽष्टकर्मणामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थिन्योर्वन्धकभागाः । साम्प्रतं
तेषामेवाऽऽतां जघन्याऽजघन्यस्थिन्योर्वन्धकभागान् व्याचिक्वीपुरादां तावदोद्यत आह—

सत्तण्ह लहृटिईण् अणंतभागो असंखभागोऽस्थि ।

आउस्म मेमभागा अजहण्णठिईअ अट्टण्हं ॥३०२॥

(प्रे०) “सत्तण्ह लहृटिईण्” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां ‘लघुस्थितेः’-
जघन्यस्थितेः “अणंतभागो” इति सर्वस्थितिवन्धकजीवानामनन्ततमैकभागः, सन्तीति परेणान्वयः,
वन्धका इति गम्यते । कुतः ? सप्तानामौघिकजघन्यस्थितेः क्षपकस्वाभिन्वात् तेषां चातिस्वीकृत्वा-
दिति । अथायुषो जघन्यस्थितेर्गाह—“असंख्यभागोऽस्थि” इति सर्वाधुर्वन्धकानामसंख्यतमैक-
भागो भवन्ति, ‘लहृटिईण्’ इत्यम्वानवृत्त्या लघुस्थितेः, वन्धका इति गम्यते । एवमुत्तरत्राप्यनुवृत्त्या
योगो द्रष्टव्यः । कस्य कर्मण इत्याह—“आउस्म” इति आयुःकर्मण इति । कुतः ? जघन्यस्थिति-
कायुषः साधारणवनस्पतिकायजीवैरपि निर्वर्तनादिति । अथाजघन्यस्थितैर्वन्धकभागानाह—“सेस-
भागा” इत्यादि, सप्तानां जघन्यस्थितैर्वन्धककृष्णमनन्तैकभागं विहाय शेषा अनन्तबहुभागाः

सप्तानामजघन्यस्थितेर्वन्धकाः, आयुषो जघन्यस्थितेर्वन्धकलक्षणमसंख्यैकभागं विवर्ज्य शेषा असंख्य-
बहुभागा आयुषोऽजघन्यस्थितेर्वन्धकाः, सन्तीत्यनुवर्तते । गतार्थमिति ॥३०२॥

उक्ता ओघतोऽशानां जघन्याजघन्यस्थित्योर्वन्धकभागाः । अथादेशतो दिदर्शयिषुस्तावदादा-
वायुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामाह—

सत्तण्डु जहण्णाए अणंतभागोऽस्थि कायुरालेसु ।

णपुम-चउकसापेसुं अचक्षु-भवियेसु आहारे ॥३०३॥

(प्रे०) “सत्तण्डु जहण्णाए” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां जघन्यायाः स्थितेर्वन्धकाः
“अणंतभागोऽस्थि” नि काययोगौघो-दारिककाययोगादितत्तन्मार्गणागतसर्ववन्धकानामनन्त-
भागः-अनन्ततमैकभागगताः सन्ति । कासु मार्गणास्वित्याह—“कायुरालेसु”मित्यादि, काययोग-
सामान्यौ-दारिककाययोगयोः, नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकषायेषु, तथाऽचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गण-
योगाहारिमार्गणायामिन्येतासु दशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । कुतः ? इति चेत्, प्रतिमार्गणं साधारण-
वनस्पतिकायजीवानां समावेशे सति क्षपकाणां जघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वात् ।

इदमुक्तं भवति—साधारणवनस्पतिकायजीवानां समावेशेन प्रतिमार्गणमनन्तं वन्धस्वामिमा-
णम्, क्षपकाणां जघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वेन संख्येया एव सप्तानां जघन्यस्थितेर्वन्धकाः, ते च
मार्गणागतसर्ववन्धकजीवानामनन्तैकभागमात्रा एवेति ॥३०३॥

अथ मार्धगाथया शेषमार्गणासु प्रकृतमाह—

पञ्जमणुम-मणुसीसुं सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेएसुं ।

मणणाण-मंयमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-मुहुमेसुं ॥३०४॥

होअन्ति मंखभागो असंखभागो हवन्ति सेसासुं ।

(प्रे०) “पञ्जमणुसे”त्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः । भावार्थः पुनरयम्—एकयाऽऽर्यया
संगृहीतासु पर्याप्तमनुष्यादिद्वादशमार्गणाम् प्रत्येकं संख्येयानां जीवानामेव सद्रावेन “होअन्ति
संखभागो” इत्यनेन प्रकृताः सप्तान्यतमानां वन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्यस्थितेर्वन्धकाः संख्येयैक-
भागगता अभिदिताः । “असंखभागो हवन्ति सेसासु”मित्यत्र शेषमार्गणास्तु इमा
अष्टचत्वारिंशदभ्यधिकशतम्—सर्वे निरव्यगतिभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, मनुष्याद्या-ऽप-
र्याप्तमनुष्यभेदाः, सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जा एकोनत्रिंशद्देवगतिमार्गणाभेदाः, सर्वे इन्द्रियमार्गणा-
भेदास्तथैव सर्वे कायमार्गणाभेदाः, पञ्चभनोयोग-पञ्चवचोयोगो-दारिमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्र-
कार्मणकाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-मत्यादित्रिज्ञान-मत्यज्ञानादित्र्यज्ञाना-ऽसंयम-देशसंयम-चक्षुर्दर्शना-
ऽवधिदर्शन-कृष्णादिपल्लेश्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वोघ-क्षायि त्वेदका-पशमिक-सासादन-मिश्र-मिथ्यात्व-

आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनाम्				आयुषः		
उत्कृष्ट-स्थितेः-	श्लोघवद् अनन्तैकभाग०	संख्यातैकभाग०	असंख्यातैक- भाग०	श्लोघवद् अनन्तैकभाग०	संख्यातैकभाग०	असंख्यातै- कभाग०
अनुत्कृष्ट-स्थितेः-	श्लोघवद् अनन्तबहुभाग०	संख्यातबहुभाग०	असंख्यातबहु- भाग०	श्लोघवद् अनन्तबहुभाग०	संख्यातबहुभाग०	असंख्यात- बहुभाग०
गति०	तियंग्मत्थोष० १	पर्याप्तमनुष्य. मानु- षी. सर्वाधिंसिद्धदेव० ३	शेष० ४३	तियंग्मत्थोष० १	पर्याप्तमनुष्य. मानु- षी. भ्रानतादिमर्वाधि- सिद्धान्तदेव० २०	शेष० २६
इन्द्रिय०			सर्वे० १६	सर्वेकेन्द्रियभेद०७		शेष० १२
काय०			सर्वे० ४२	वनोष० सर्वसाधा- रणावनभेदाश्च० ८		शेष० ३४
योग०	काययोगोष० श्रीवाग्निक-तन्मिथ० कामंग० ४	आहारक-तन्मिथ० २	शेष० १२	काययोगोष० श्रीवा- ग्निक-तन्मिथ० ३	आहारक-तन्मिथ० योगी० २	शेष० ११
वेद०	नपुंसक० १	अपमनवेद० १	शेष० २	नपुंसकः १		स्त्री० पुं० २
कपाय०	गर्व० ४			गर्व० ४		
ज्ञान०	मत्त्वज्ञा. श्रुताज्ञा. २	मनःपर्यव० १	शेष० ४	मत्त्वज्ञा. श्रुताज्ञा. २	मनःपर्यव० १	शेष० ४
संयम०	असंयम० १	संयमोष. साभा. छेद. परिहार. सूक्ष्म. २	देशसंयम० १	असंयम० १	संयमोष० साभा० छेद०परिहार० ४	देशसंयम० १
दर्शन०	अचक्षु० १		चक्षु० अवधि० २	अचक्षु० १		चक्षु० अवधि० २
श्रेण्या०	अशुभकृष्णाद्या० ३		शुभा० ३	अशुभा० ३	शुक्ला० १	शेष० २
भक्ष्य०	मन्य०अभक्ष्य० २			भक्ष्य०अभक्ष्य० २		
सम्यक्त्व०	मिथ्यात्व० १		शेष० ६	मिथ्यात्व० १	क्षातिक० १	शेष० ३
संज्ञी०	असंज्ञी १		संज्ञी० १	असंज्ञी १		संज्ञी० १
आहारी	सर्वे० २			आहारक० १		
सर्वमार्गणाः-	२३	१२	१३५	३६	२६	६८
साधाङ्काः-२६४-२६५-३०१	२६६-३०१	२६७-३०१	२६८-२६९-३०१	३००-३०१	३०१	

जघन्य-स्थितेः	आयुर्वर्जसप्तकर्मणाम्			आयुःकर्मणः	
	श्रीघबद् अतन्तैक- भाग०	संख्यातैक- भाग०	ख्यैकभाग	संख्यातैक- भाग०	श्रीघबद् असं० एकभा०
अजघन्य-स्थितेः-	श्रीघबद् अतन्तवहु- भाग०	संख्यात- बहुभाग०	असंख्य- बहुभाग	संख्यातबहु- भाग०	श्रीघबद् असंख्य- बहुभा०
गति०		पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० सर्वाधि- सिद्धदेवभेद० ३	शेष० ४४	पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० आन- तादिदेव० २८	शेष० ६७
इन्द्रिय०			सर्व० १६		सर्व० १६
काय०			सर्व० ४२		सर्व० ४०
योग०	काययोगीध० श्रीदारिकः २	आहारकः तन्मिश्रयोगी २	शेष० १८	आहारक० तन्मिश्र० २	शेष० १४
वेद०	सप्तमकः १	आगतपर्यव० १	स्त्री० पु० २		वैश्विक ३
कपाय०	सर्व० ४				सर्व० ४
ज्ञान०		मनःपर्यव० १	शेष० ६	मनःपर्यव० १	शेष० ६
संयम०		संयमोघ ० सामा. श्रेद. परि- हार. शुद्धि. ५	शेष० २	संयमोघ० सामा० श्रेद० परिहार० शुद्धि० ४	शेष० ०
दर्शन०	अक्षयु० १		शेष० २		सर्व० ३
लेख्या०			सर्व० २	शुक्ला० १	शेष० १
भण्य०	भण्य० १		अभण्य० १		सर्व० ०
सम्य-			सर्व० ७	आहारिकः १	शेष० ४
संज्ञी०			सर्व० २		सर्व० २
आहारक०	आहारक० १		अनाहारक० १		आहारक० १
सर्वसंज्ञाः--	१०	१२	१४५	२६	१३४
शाश्वत्काः--	३०३	३०४	३०५	३०६-	३०७

संशय-ऽसंख्य-ऽनाहारिमार्गणाभेदाश्चेति । एताभ्योऽष्टचवारिंशदभ्यधिकशतमार्गणाभ्य एकेन्द्रिया-
दिकृतिपयमार्गणा विहाय शेषामु स्थितिवन्धकजीवानामसंख्येयत्वात्, तथैकेन्द्रियादिमार्गणा-
भेदेषु स्थितिवन्धकजीवानामानन्त्येऽपि तेषां बन्धप्रायोग्यसर्वोस्थितिवन्धस्थानात्वासंख्येयभागरूपदे-
कस्थितिवन्धस्थानान्यकस्य जघन्यस्थितिवन्धस्य निर्वर्तका मार्गणागतशेषजीवानामसंख्येयकभागमात्रा
एव सम्पद्यन्ते, न त्वनन्तैकभागप्रमाणा इति ॥३०४॥

अथऽऽयुर्वर्जमज्ञानामजघन्यस्थितेर्वन्धकभागान् प्राग्वदाह—

सब्वासु सैमभागा अजहण्णाटिईअ णायव्वा ॥३०५॥

(श्र०) “सब्वासु” इत्यादि गतार्थमिति ॥३०५॥

तदेवमनिहिता आयुर्वर्जनमज्ञानां जघन्याजघन्यस्थित्योर्वन्धकभागा आदेशतोऽपि । साश्रुतं
शेषस्यायुपरस्तात् दर्शयन्नाह—

पज्जमणुममणुमीसुं आहारदुगाणताइदेवेसुं ।

मणणाण-संयम-समइअ-ऊअ-परिहार-सुइल-खइएसुं ॥३०६॥ (गीतिः)

आउस्स जहण्णाए संखंसो वंधगा मुणेवव्वा ।

सैमासु अमंखंसो सब्वत्थ अलहुठिईअ सैसंसा ॥३०७॥ (गीतिः)

(श्र०) “पज्जमणुसुं” इत्यादि, अक्षरार्थस्तु प्राग्वत् । भावार्थः पुनरयम्—पर्याप्त-
मनुष्याद्येकोनत्रिंशन्मार्गणासु ग्रन्थेकमायुष उन्कृष्टस्थितेरिव जघन्यस्थितेर्वन्धका अपि संख्येया
एव सन्ति, ततश्च जघन्यस्थितिवन्धस्यैकस्थितिवन्धस्थानरूपतया प्रागुक्तनीत्या जघन्यस्थितेर्वन्धका
अपि मार्गणागतसर्वायुर्वन्धकानां संख्येयैकभागगता एव प्राप्यन्ते, शेषमार्गणास्वपि निरयगत्यादिषु
बहुषु मार्गणास्वायुर्वन्धकजीवानामसंख्येयत्वात्, तथैकेन्द्रियादिस्तोकमार्गणास्वायुर्वन्धकजीवानामन-
न्तत्वेऽपि तेषां सर्वेषां जघन्यायुर्वन्धार्हत्वादिकस्थितिवन्धस्थानात्मकजघन्यस्थितेर्वन्धकाः प्रागुक्तनी-
त्याऽसंख्याततमैकभागगताः प्राप्यन्त इति ॥३०६-३०७॥

समाप्ता सर्वासां मूलप्रकृतीनां जघन्याजघन्यस्थित्योर्वन्धकानामपि भागप्ररूपणा, तत्समाप्तौ
च गतं “भागा” इत्यनेनोद्दिष्टप्रथमं भागद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे द्वितीयाधिकारेऽष्टमं नामाजीशश्रयभागद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ नवमं परिमाणद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्ते नवमे द्वारे परिमाणप्ररूपणां चिकीर्षुरादावुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितयोर्वन्धकपरिमा-
णमोषतः प्ररूपयन्नाह—

उक्कोसाअ टिईए अट्टण्हं बंधगा असंखेजा ।

हुन्ति अणुक्कोसाए टिईअ उण बंधगाऽणंता ॥३०८॥

(प्रे०) “उक्कोसाअ टिईए अट्टण्हं” इत्यादि, ओषतः समस्तजीवराशयपेक्षया ज्ञानावर-
णादीनामष्टानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धका एकस्मिन् समय उत्कृष्टतोऽसंख्येया
भवन्ति, प्रतिविशिष्टपर्याप्तमंज्ञिपन्थेन्द्रियाणामेवाष्टकर्ममन्कोत्कृष्टस्थितिवन्धकत्वामित्वात् । “अणु-
क्कोसाए टिईअ उण” नि अत्र ‘अट्टण्हं’मित्यनुवर्तते, ततो ज्ञानावरणादीनामष्टानामप्यनुत्कृष्टायाः
स्थितेः पुनः “बंधगाऽणंता” चि ‘बन्धकाः’-एकस्मिन् समय उत्कृष्टतो लभ्यमाना निर्वर्तका
अनन्ता भवन्तीत्यर्थः । सुगमम् ॥३०८॥

अथादेशतो विभणियुरादां सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकपरिमाणं दर्शयन्नाह—

सत्तण्ह तिमणुसेसुं मव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेणुं ।

मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-मुहुमेसुं ॥३०९॥ (गीतिः)

जेट्टाए संखेजा मव्वेगिंदियणिगोअभेणुं ।

वणकाये य अणंता सेमासु असंखिया णेया ॥३१०॥

(प्रे०) “सत्तण्ह तिमणुसेसुं”मित्यादि, तत्र “सत्तण्ह” इत्यस्य “जेट्टाए
संखेजा” इत्यनेनोत्तरमाथायामन्वयस्तत आयुर्वेर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां ‘ज्येष्ठायाः’-उत्कृष्टायाः
स्थितेः संख्येयाः, बन्धका इति गम्यते । काम् मार्गेणाश्विन्याह—“तिमणुसेसुं”मित्यादि,
व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेभिरमनुष्येष्वित्यनेनाऽपर्याप्तभेदवर्जा ओष-पर्याप्त-मानुषीभेदभिन्नास्त्रयो
भेदा ग्राह्यास्तेषु, तथा सर्वार्थमिद्वाहदेवगतिमार्गणाभेदे, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगवौक्तिके,
अपगतत्रेदे, मनःपर्यवेज्ञाने, संयमौघे, सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्पराय-
संयममार्गणाभेदेषु चेत्येतासु त्रयोदशमार्गणाम् प्रत्येकमित्यर्थः । तत्र मनुष्यौघमार्गणां विना शेषासु
प्रत्येकं संख्येयानामेव जीवानां सद्भावेन तदधिकस्याऽसंख्येयस्याऽनन्तस्य वा परिमाणस्याऽस-
म्भवः । मनुष्यौघमार्गणायामपि पर्याप्तमनुष्याणामेवोत्कृष्टस्थितेर्वन्धकत्वात्, तेषां चोत्कृष्टपरिमा-
णस्याऽपि संख्येयत्वादुक्ताधिकपरिमाणसम्भव इति । अथ यासु प्रकृतबन्धकानां परिमाणमनन्तं
ता मार्गणाः संगृह्याह—“सव्वेगिंदिये” त्यादि, सर्वशब्दस्योभयत्र योजनात्सर्व एकैन्द्रियजाति-

भेदाः सर्वे च निगोदभेदास्तेषु, वनस्पतिकार्येषु च प्रत्येकम् “अर्णता” चि आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका अनन्ता इत्यर्थः । कुतः ? साधारणवनस्पतिकार्यिकानामपि सप्तानां ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिन्वादिति ।

अथ शेषमार्गणाम् प्रकृत्याह—“संख्यासु” इत्यादि, उक्तशेषामु द्विचत्वारिंशदभ्यधिकशत-
मार्गणामु प्रत्येकम् “असंखिया णेया” चि सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका असंख्येया ज्ञेयाः ।
कुतः ? इति चेद्, निर्यगत्योधादिषु बहुषु मार्गणाम्बसंख्येयानां जीवानां सद्भावात्, कतिपयासु च
तिर्यग्गन्धोधादिमार्गणामु साधारणवनस्पतिकार्यजीवानां प्रवेशेनानन्तजीवानां सद्भावेऽपि तिर्यक्सं-
क्षिपन्धेन्द्रियपर्याप्तादीनामसंख्येयजीवराशिकानामेवोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वादिति । अत्र प्रति-
मार्गणं सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकजीवानामसंख्येयत्वेऽपि न ते परस्परं तुल्या एव, किन्तु हीना-
ऽधिका भवन्ति, तत्र च कतिपयमार्गणास्वतिवद्बोऽसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्याः, कतिपयमार्गणामु
ततो हीना हीनतराद्याः सन्ति, न पुनरसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्या इति ॥३०९-३१०॥

अथैतास्वेव शेषमार्गणामु यामु पृथिवीकार्योधादिमार्गणामु प्रकृतवन्धका असंख्यलोक-
प्रदेशराशितुल्यास्तासु तद्राशेः पूर्वोक्तभङ्गविचयादिप्रयोजकत्वादुत्तरत्र वक्ष्यमाणस्पर्शनादिप्रयोज-
कत्वाच्च तत्र विशेषतः प्रतिपादयन्नाह—

तत्थ वि असंखलोगा पुह्वाइचउण्ह मव्वसुहुमेसु ।

वायरअसमत्तेसु य अपज्जपत्तेअवणकाये ॥३११॥

(प्रे०) “तत्थ वि असंखलोगा” इत्यादि, यामु मार्गणाम्बनन्तम् “असंखिया णेया”
इत्यनेन सामान्यतः सप्तानां ज्येष्ठस्थितेर्वन्धका असंख्येया ज्ञापितास्तत्रापि वक्ष्यमाणमार्गणामु विशेष-
पतन्ते “असंखलोगा” चि ‘असंख्यलोकाः’— असंख्येयेषु लोकाकाशप्रमाणेषु क्षेत्रखण्डेषु यावन्त
आकाशप्रदेशाः सन्ति तावन्प्रमाणाः, ज्ञेया इति शेषः । कासु मार्गणाम्बिन्याह—“पुह्वाइचउण्ह”
इत्यादि, पृथिव्यादीनां चतुर्णां मूलकायभेदानां य ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्ना द्वादश सूक्ष्म-
भेदास्तेषु सर्वेषु सूक्ष्मपृथिवीकार्योधादिभेदेषु, तथा “वायरअसमत्तेसु य” चि तेषामेव
पृथिव्यादिवायुकायान्तानां चतुर्णां कायानां ये चत्वारो वादरापर्याप्तपृथिव्यादिलक्षणा उत्तरभेदा-
स्तेषु वादरापर्याप्तपृथिवीकायादिभेदेषु, “अपज्जे”त्यादि, अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकार्यभेदे चेत्यर्थः ।
एतासु सप्तदशमार्गणामु प्रत्येकं प्रविष्टजीवराशीनामप्यसंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितुल्यत्वात्, तत्रा-
संख्येयतमैकभागता भागद्वारेऽभिहिताः प्रकृतवन्धका असंख्यलोकप्रदेशराशितुल्या एव भवन्ति,
असंख्यलोकानामप्यसंख्यभेदभिन्नत्वादिति ॥३११॥

अथ सप्तमूलकर्मणामेवानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकपरिमाणं मार्गणास्थानेषु दर्शयन्नाह—

तिरिये सव्वेगिंदिय-णिगोअभेअ-वण-कायजोगेसुं ।
 उरलदुग-कम्मणेसुं णपुंसगे चउकसायेसुं ॥३१२॥
 अण्णाणदुगे अयते अचक्खुदंसण-तिअहलेसासुं ।
 भवि-येयर-मिच्छेसुं असण्णि-आहार-गियरेसुं ॥३१३॥
 हुन्ति अणुकोसाए टिईअ सत्तण्ह बंधगाऽणंता ।

(प्रे०) “तिरिये सव्वेगिंदिये”त्यादि, तिर्यग्गत्योधे, “सव्वेगिंदियणिगोअभेअ”
 त्ति सर्वशब्दस्योभयत्र योजनात् सर्व एकेन्द्रियजातिभेदाः, सर्वे च निगोदभेदास्तेषु, तथा वनस्पति-
 कायौघ-काययोगसामान्ययोः, तथादारिकौ-दारिकमिश्रकाययोगयोर्द्विके, कार्मणकाययोगे, नपुंस-
 कवेदे, क्रोधादिचतुःकषायभेदेषु, अन्यमार्गणासंप्रहायाह—“अण्णाणदुगे” इत्यादि, मत्पत्रान-
 भ्रुताज्ञानमार्गणयोर्द्विके, असंयमे, अचक्षुर्दर्शन-कृष्णादिव्यशुभलेश्यासु, भव्ये, तदितरेऽभव्ये,
 मिथ्यान्वे, असंख्या-ऽऽहारिमार्गणयोस्तथाऽऽहारीतरस्यामनाहारकमार्गणायामित्येतास्वष्टत्रिंशन्मार्ग-
 णासु प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु प्रत्येकं किमित्याह—“हुन्ति अणुकोसाए” इत्यादि, प्रकृताना-
 मायुर्वर्जादां त्वादां मूलप्रकृतीनामनुत्कृष्टायाः—उत्कृष्टे तत्स्थः स्थितेर्वन्धका अनन्ता भवन्तीत्यर्थः ।
 कुतः ? यत एतासु प्रत्येकं सूक्ष्मवाटरपर्याप्ताऽपर्याप्तान्यतमसाधारणवनस्पतिकायजीवराशीनां प्रवेशो-
 ऽस्ति, ते च प्रत्येकं प्रकृतमार्गणावन्धप्रयोग्यसमकर्मसन्कानुत्कृष्टस्थितिवन्धं कर्तुं समर्थाः, तेषां
 च प्रत्येकं परिमाणमनन्तम् । उक्तं च जीवसमासे—‘साधारणा उ चउसु वि त्रिमुं लोयाभवेऽणंता’
 इति । तथा च सति तेषां सूक्ष्मादिसाधारणवनस्पतिकायजीवानां परिमाणप्राधान्याद् एतासु
 सर्वमार्गणासु प्रस्तुतवन्धका अनन्ताः प्राप्यन्ते ॥३१२-३१३॥

अथ शेषमार्गणामु मार्धगाथाद्वयेन प्रकृतपरिमाणमाह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेएसुं ॥३१४॥ (गोतिः)
 मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-सुहुमेसुं ।
 णायव्वा संखेज्जा सेमासु असंखिया तत्थ ॥३१५॥
 वायरसमत्तवज्जिअपुहवाइगचउगसेसभेएसुं ।
 पत्तोअवणम्मि तहा तदपज्जत्ते असंखलोगसमा ॥३१६॥ (गोतिः)

(प्रे०) “पज्जमणुसे”त्यादि, पर्याप्तमनुप्य-मानुषीमार्गणयोः, सर्वार्थसिद्धाख्यदेवगति-
 भेदे, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोः, अयगतवेदमार्गणायां, तथा “मणणाणे” त्यादि,
 मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोः. सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्प्रायसंयम-

मार्गणास्वित्तेनासु द्वादशमार्गणासु प्रत्येकं “णायव्वा संखेज्ज” इति सप्तानामनुकृष्टस्थिते-
र्वन्धकाः संख्येया ज्ञातव्याः । कुतः ? प्रत्येकं बन्धकजीवानां संख्येयत्वादिति । “सेसासु”
इति उक्तशेषासु विंशत्युत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकम् “असंखिया” इति सप्तानामनुकृष्टस्थितेर्वन्धका
असंख्येया भवन्तीत्यर्थः । कुतः ? इति चेत्, प्रत्येकं जीवानामसंख्येयत्वात्, तैः सर्वैरनुकृष्ट-
स्थितिवन्धस्य निर्वर्तनाच्चेति । अत्रापि सामान्यतो दर्शिता असंख्येया बन्धकाः प्राग्बद् विशे-
षतो दर्शयन्नाह-“तत्थे”त्यादि, तत्र ‘तत्थे’ इत्यस्यान्वय उत्तरत्र “असंखलोगसमा”
इत्यनेन, ततश्चानन्तरोक्ता असंख्येया अपि विशेषतोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितुल्या ज्ञेयाः ।
कामु मार्गणास्वित्त्याह-“वायरसमत्तवज्जिअ” इत्यादि, ‘वादरसमाप्ताः’-वादरपर्याप्ता ये भेदास्ते
वर्जिता येभ्यस्ते वादरसमाप्तवर्जिताः, ते च ते पृथिवीकायादिकवायुकायान्तचतुष्कसंख्याः शेषभेदाः,
वादरसमाप्तवर्जितपृथिव्यादिकचतुष्कशेषभेदाः । ते चाघ-वादरीघ-वादरापर्याप्त-सूक्ष्माघ-सूक्ष्मपर्याप्त-
सूक्ष्मापर्याप्तभेदाभिन्नाः षट् पृथिवीकायभेदास्तथैव षड्कायभेदाः, षट् तेजस्कायभेदाः, षड्
वायुकायभेदाश्चेत्येवं चतुर्विंशतिः । तेषु, तथा प्रत्येकवनस्पतिकार्याघभेदे, तस्य प्रत्येकवनस्पति-
कायस्या-ऽपर्याप्तभेदे चेत्येतासु षड्विंशतिमार्गणासु प्रत्येकम् “असंखलोगसमा” इति योजि-
तमिति । ननु शेषासु निरयगन्धोष्वादिमार्गणाभेदेषु तर्हि कियन्तः ? इति चेत्, असंख्य-
लोकापेक्षयाऽत्यन्तस्तोकाः, लोकाभ्यन्तरवर्तिप्रतर-श्रेण्यादेरसंख्यादिभागमत्रगतनमःप्रदेशराशितुल्य-
त्वाद् । ते च विशेषतो जिज्ञासुना श्रापज्ञापनासूत्रादिनाऽवसेया इति ॥३१४-३१५-३१६॥

तदेवमभिहितमायुर्वर्जसप्तानामनुकृष्टानुकृष्टस्थितेर्वन्धकानामनुकृष्टपदगतपरिमाणमादेशतः ।
सास्प्रतमाऽऽयुषस्तद्विदर्शयिषुगर्दा तावदनुकृष्टस्थितेराह—

संखेज्जा हुन्ति तिणर-आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेसुं ।

चउणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥३१७॥

देसो-हि-तिसुहल्लेसा-सम्म-खइअ-वेअगंसेसुं सामाणे ।

आउस्स गुरुठिईए सेमासु असंखिया णया ॥३१८॥

(प्र०) “संखेज्जा हुन्ति” इत्यादि, संख्येया भवन्ति, बन्धका इति गम्यते । कस्याः ?
इति चेद्, आयुषो ‘गुरुस्थितेः’-उत्कृष्टायाः स्थितेरिति द्वितीयगत्योत्तरार्थेऽन्वय इति । कासु मार्गे-
णास्वित्वाह-“तिणरआहारदुगे” त्यादि प्राग्बन्धमनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणेषु त्रिषु मनुष्य-
गतिभेदेषु, तथा-ऽऽहारक-ऽऽहारकमिश्रकाययोगयोर्द्विके, आन्तकल्यादिसर्वार्थसिद्धविमानान्तेष्वष्टा-
दशसु देवगतिभेदेषु, मत्यादिचतुर्ज्ञान-संयमौघेषु, सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंय-
मेषु तथा देशसंयमा-ऽवधिदर्शन-तेजस्यादिविशुभलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-वेदकसम्यक्त्वेषु सासा-
दने चेत्येतासु चत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । तत्र मनुष्यौघादिबहुमार्गणासु पर्याप्तमनुष्या-

णामेवायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वात् तेषां च संख्येयत्वात् प्रस्तुतबन्धकपरिमाणमपि तथै-
 वोक्तम् । आनतकल्पादिदेवगतिमार्गणामु न्वसंख्येयानां देवानां सद्भावेऽपि तेषु कस्मिन्नपि समय
 आयुर्वन्धकाः पर्याप्तमनुष्यपरिमाणादधिका न सम्भवन्ति, पर्याप्तमनुष्यास्तुत्कृष्टतोऽपि संख्येया
 एव सन्ति । अत आनतकल्पादिमार्गणास्वेकसमयसन्वपेक्षमायुष उत्कृष्टस्थितेर्वन्धकपरिमाण-
 मायुत्कृष्टपदे संख्येयमेवामिहितमिति । “सेसासु असंखिया ज्ञेया” त्ति अनन्तरोक्तस्य
 ‘आउस्स गुरुठिईए’ इत्यस्य काकाक्षिगोलकन्यायेनात्रापि योजनाद् उक्तशेषासु त्रयोविंशत्युत्तर-
 शतमार्गणास्वायुषो गुरुस्थितेरसंख्येया ज्ञेयाः, बन्धका इति गम्यत इति । मृगमम् : नवरमनन्तर्जाव-
 राशिकास्वेकेन्द्रियादिमार्गणास्वप्युत्कृष्टस्थितिकमायुः पर्याप्तमनुष्यसत्कं पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियसत्कं
 वा निर्बर्त्यते, पर्याप्तमनुष्य-पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाश्च समुदिता अप्यसंख्येया इतिकृत्वा प्रागुक्त-
 नीन्या तदायुषो बन्धका अपि समस्ते जगति कस्मिन्नपि समयविशेषेऽनन्ता न प्राप्यन्ते, किन्त्व-
 संख्येया एव प्राप्यन्त इति तथैवामिहिता इति ॥३२७-३१८॥

अथायुषोऽनुकृष्टस्थितेर्वन्धकपरिमाणमादेशतः प्ररूपयन्नाह—

पञ्जमणुसमणुसीसु आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेसु ।

मणणाण-संयम-समइअ-छेअ-परिहार-सुइल-खइणमु ॥३१९॥ (गीतिः)

संखेज्जा अगुरुए ठिईअ आउस्स हुन्ति सेसामु ।

सत्तण्ह जत्तिआ खलु अगुरुठिईएऽत्थि तत्तिआ ज्ञेया ॥३२०॥ (गो०)

(प्रे०) “पञ्जमणुसे”त्यादि, अक्षरार्थस्तु प्राग्बत् । भावार्थः पुनरयम्—पर्याप्तमनुष्या-
 दिमार्गणामु ग्रन्थेकमायुषो बन्धका एकस्मिन् समय उत्कृष्टतः संख्येया एव प्राप्यन्ते, ततश्चायु-
 षोऽनुकृष्टस्थितेर्वन्धका अपि तदधिका न सम्भवन्ति । कुत आयुषो बन्धकाः संख्येया एव
 प्राप्यन्ते ? इति चेद्, पर्याप्तमनुष्यादिकतिपयमार्गणासु जीवानामेव संख्येयत्वाद्, कतिपयामु
 पुनरानतकल्पादिमार्गणामु जीवानामसंख्येयत्वेऽपि पर्याप्तमनुष्यसत्कस्यैवाऽऽयुषो बन्धभावात्
 प्रागुक्तनीन्याऽऽयुषो बन्धकाः संख्येया एव प्राप्यन्ते । शुक्ललेद्यायामप्येवमेव, तस्यां तिर्यग्भि-
 रायुर्वन्धस्यैवाकरणत् । क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणायां तु युग्मितिर्यग्भिरायुर्वन्धकरणेऽपि श्रीभगवन्ती-
 सूत्राभिप्रायेण स्वपत्तिकं प्रस्तुतपरिमाणम्, तदभिप्रायेण युग्मितिरश्चामप्यसंख्येयानामभावात् ।
 उक्तश्चासंख्येयवर्षायुष्कसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भ्यश्च्युतानां संख्येयानामेवाऽसुरकुमारदेवतयोन्पादं
 व्युत्पादयद्भिर्वादिगजघटाकेसरिभिः श्रीमदभयदेवसुरिपादैश्चतुर्विंशतितमशतकद्वितीयोद्देशशुर्त्ता—

‘संखेज्जा उच्यते’ त्ति असंख्यातवर्षायुस्तिरश्चामसंख्यातानां कदाचिदप्यभावात् इति । (सूत्रं ६९८)

तेषां च संख्येयत्वे क्षायिकसम्यक्त्वभाजां तिरश्चामपि संख्येयानामेव सद्भावेन देवायु-
 र्बन्धन्तः प्रकृतमार्गणागतास्तिर्यग्युग्मिनः संख्येया एव, युग्मिवर्जतिरक्षां तु क्षायिकसम्यक्त्व-

मार्गणायां प्रवेश एव नास्ति; किञ्च प्रकृतमार्गणागतदेवनारकाः सम्यक्त्वभाक्तया संख्येयराशि-
कस्य पर्याप्तमनुष्यस्याऽऽयुर्वधन्त एकस्मिन् समय आनतकल्पादिभेदवत् संख्येया एव सम्पद्यन्ते,
एतेषां समस्तानामपि संख्येयन्व आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका अपि संख्येयाधिका न सम्भवन्ति ।

कषायप्राभृते तु—

‘संख्येया च मणुस्त्रेसु खीणमोहा सहस्रानो णियमा । सेसासु खीणमोहा गदीसु णियमा असंख्येया ॥’

इत्यनेन खीणदर्शनमोहाः क्षायिकसम्यक्त्वभाजस्तिर्यञ्चोऽसंख्येया अभिहिताः, अतस्तन्मते
तु प्रकृतपरिमाणमायव्ययतान्यनियमाद्भावनीयम् । तथाहि—निरयगत्यादिमर्षजीवराशिषु प्रत्येक-
मेकस्मिन् समये संख्येया असंख्येया अनन्ता वा यावन्तो जीवा उत्कृष्टतो मार्गणान्तरेभ्य आयान्ति,
तावन्त एव संख्याता असंख्याता अनन्ता वा जीवा एकस्मिन् समये उत्कृष्टतो वियन्ति, तावतां
जीवानां गत्यन्तरगमनरूपो व्ययो भवतीति भावः । कुतो ज्ञायत एतद् ? इति चेद्, श्रीप्रज्ञाप-
नादावुपपातोऽर्तनाधिकारे तु ल्यानां संख्येयानामसंख्येयानामनन्तानां वा जीवानामुपपातोऽर्तनयो
रभिहित्वात् । उक्तञ्च श्रीमत्यां प्रज्ञापनायाम्—निरयथा णं भन्ति ! एगसमयेण केवइया उवट्टंति ?
गोयसा ! जइन्नेणं एक्को वा दो वा तिल्लि वा उक्कोसेणं संख्येया वा असंख्येया वा उवट्टंति, एवं जहा
उववाओ भणिवो तहा उवट्टणा धि भाणियव्वा । इत्यादि । प्रकृतेऽपि चाऽसंख्येयपरिमाणे क्षायिक-
सम्यग्दृष्टिर्यञ्जीवराशावेकस्मिन् समय उत्कृष्टतः संख्येया एव जीवा आयान्ति, न पुनरसं-
ख्येयाः, पर्याप्तमनुष्याणामेव तत्रोत्पत्तेः । इत्थं क्षायिकसम्यग्दृष्टिनिर्यगजीवसङ्घाते उत्कृष्टपदे संख्ये-
यानामेवायः, यावतामायस्तावतामेव व्ययोऽपीति नियमात् क्षायिकसम्यग्दृष्टिजीवनित्ययादेकस्मिन्
समये उत्कृष्टतोऽपि संख्येया एव वियन्ति; किञ्च कस्यामपि मार्गणायासुत्कृष्टतो यावतामेकस्मिन्
समये मरणं सम्भवति, तदधिकानामायुर्वन्धो न भवति; ततश्च क्षायिकसम्यग्दृष्टां तिरश्चामसंख्ये-
यानां सद्भावेऽप्यायुर्वन्धकास्तु संख्येया एवोत्कृष्टत एकसमये प्राप्यन्ते, तथा च सति श्रीभगवत्यभि-
प्रायवत् कषायप्राभृतामिप्रायेणाऽपि प्रकृतमार्गणायासुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकास्त्वेकसमये संख्ये-
याधिका नैव प्राप्यन्ते, ततश्च पर्याप्तमनुष्यादिक्षायिकसम्यक्त्वान्तास्वेकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येक-
मायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका अपि संख्येया एवोक्ता इति ।

अथ शेषमार्गणास्वाह—“सेसासु” इत्यादिना ‘अगुरुण् ठिईअ आउस्स हुन्ति’ इत्यस्य
डमरूकमणिन्यायेनाऽत्रापि योजनात् शेषासु निरयगतयोधादिषट्त्रिंशद्भ्यधिकशतमार्गणासु “तत्तो-
आ गोया” ति तावन्तो ज्ञेया इति गाथाप्रान्तेऽन्वयः, यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तत्पदवाच्यान् तान् यत्पदे-
नाभिदधाति—“सत्तण्ह जत्तिआ खलु” इत्यादिना, आयुर्वर्जानां सप्तानामगुरुस्थितेः-अनुत्कृ-
ष्टायाः स्थितः निरयगतयोधादिमार्गणासु प्राग् यावन्तो-वन्धका अभिहिताः सन्तीत्यर्थः । इदमुक्तं
भवति—पर्याप्तमनुष्याद्यनन्तरोक्तेकोनत्रिंशन्मार्गणावर्जासु शेषासु चतुस्त्रिंशद्भ्यधिकशतसंख्याकासु
निरयगतयोधादिमार्गणासु प्रत्येकसंख्येयोऽनन्तो वा यो जीवराशिस्तदनुसारेण यथासम्भवमसंख्येया

अनन्ता वा सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकाः प्रागभिहितास्तथैव तासु निरयगत्योघादिशेषमार्गणासु प्रत्येकमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका अप्यसंख्येया अनन्ता वा बोद्धव्याः । यास्वसंख्येयो जीवराशिस्तास्वसंख्येयाः, यास्वनन्तो जीवराशिस्तास्वनन्ता इति भावः । न चैवं सति निरयगत्यादिमार्गणागताः सर्व एव जीवा आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका इत्याशङ्क्यम्, बहुनामबन्धकानामपि सद्भावात्, केषाञ्चिदनुत्कृष्टस्थितिवन्धकानां सद्भावाच्च । अत एव 'यावन्तस्तावन्तः' इत्यनेनासंख्येया अनन्ता इत्येवंरूपवचनसाम्यकृतोऽतिदेशो मन्तव्य इति ॥३१९-३२०॥

तदेवमभिहितमष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थित्योर्वन्धकपरिमाणम् । साम्यतं तासामेवाष्टानां जघन्याजघन्यस्थित्योर्वन्धकपरिमाणं विभणिपुरादौ तावदोघत आह—

संखेज्जा सत्तण्हं जहण्णाण् ठिईअ अलहूण् ।

हुन्ति अणंताऽणंता आउस्स ठिईण दोण्हं वि ॥३२१॥

(प्रे०) “संखेज्जा सत्तण्हं” मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां “जहण्णाण् ठिईण” इति जघन्या एव जघन्यका तस्या जघन्यकायाः-ह्रस्वायाः स्थितेः संख्येयाः, बन्धका इति गम्यते । सुगमं चैतत्, सप्तानामाधिकजघन्यास्थितिवन्धस्य क्षपकश्रेणो भावादिति । “अलहूण्” इति ‘सत्तण्हं’मित्यनुवर्तते ‘ठिईअ’ इत्यत्रापि याज्यते च, ततः सप्तानामजघन्याः स्थितेः “हुन्ति अणंता” इति बन्धका अनन्ता भवन्ति, निगोदपर्यन्तानां जीवानां प्रकृताऽजघन्यास्थितिवन्धस्य भावात्, तेषां चानन्तत्वादिति । अथ शेषस्यायुष आह—“ऽणंता आउस्स ठिईण दोण्हं वि” इति मालस्यायुःकर्मणोर्द्वयोरपि जघन्याजघन्ययोः स्थित्योः प्रत्येकं बन्धका अनन्ताः, भवन्तीत्यनुवर्तते इति । एतदपि सुगमम्, साधारणवनस्पतिकायिकानामपि प्रकृतद्विविधस्थितिवन्धभावादिति ॥३२१॥ उक्तमोघतोऽष्टानां जघन्याजघन्यद्विविधस्थित्योर्वन्धकपरिमाणम् । अथ तदेवादेशतो दिदर्शयिपुरादौ तावज्जघन्यस्थितेराह—

तिरिये सव्वेगिंदिय-णिगोदभेअ-वण-उरलमीसेसुं ।

कम्मण-दुअणाणेषुं अयत्ते अपमत्थलेसासुं ॥३२२॥

अभविय-मिच्छत्तेसुं अमणा-ऽणाहारगेषु य अणंता ।

सत्तण्ह बंधगा खलु हुन्ति ठिईण् जहण्णाण् ॥३२३॥

(प्रे०) “तिरिये सव्वेगिंदिये” त्यादि, तिर्यग्गत्योघे, तथा सर्वशब्दस्यैकेन्द्रियनिगोदयोः प्रत्येकं योजनात् सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु सर्वेषु च निगोदभेदेषु, तथा वनस्पतिकायौघो-दाहिकमिश्रकाययोगयोः, कर्मणकाययोग-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानेषु, असंयमे, अग्रशस्तासु कृष्णादित्रिलेह्यासु, तथाऽमव्यमिथ्यात्वयोरसनस्का-ऽनाहारकयोश्चेत्येतास्वष्टाविंशतिमार्गणासु प्रत्येकम् “अणंता”

ति अनन्ताः । क इत्याह—“सत्तपहे”त्यादि सुगमम् । भावार्थोऽपि सुगमः, यतः प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनो विशिष्टाः साधारणवनस्पतिकायिकाः, तेषां चानन्तत्वात्प्रकृतबन्धक-परिमाणमप्यनन्तं भवतीति ॥३२२-३२३॥

तिमणुस-सव्वत्थेसुं दुपणिदितसेसु पणमणवयेसुं ।
 कायो-रालेसु तह आहारदुगे तिवेणसुं ॥३२४॥
 गयवेअ-कसायचउग-चउणाण-विभंग-संयमेसुं च ।
 सामाइअ-छेणसुं परिहारे देस-सुहुमेसुं ॥३२५॥
 णयणा-ऽणयणो-हीसुं पसत्थलेसासु भविय-सम्मंसेसुं ।
 खइअम्मि वेअगम्मि य उवसम-सण्णीसु आहारे ॥३२६॥
 णायव्वा संखेज्जा अवसेसामु हविरे असंखेज्जा ।

(प्र०) “तिमणुसे”त्यादि, अक्षरार्थस्तु प्राग्बत्, नवरम् “तिमणुस” इत्यनेनापर्याप्त-मनुष्यभेदवर्जाः शेषा मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणास्तिस्रो मार्गणा प्राद्याः, तथा “दुपणिदि-तसेसु” इत्यत्रापि द्विशब्दस्य प्रत्येकं योजनादपर्याप्तभेदवर्जावोघ-पर्याप्तभेदभिन्नौ द्वौ पञ्चेन्द्रि-यजातिभेदौ द्वौ च त्रयसंकायभेदौ विशिष्टौ बोद्धव्यौ, तथा “पसत्थलेसासु” इत्यनेन पञ्चाद्या-स्तिस्रः शुभलेश्याश्च सङ्गृहीता विज्ञेयाः । इत्येवमाद्यगाथात्रयेण सङ्गृहीतासु मनुष्यगत्योघादि-चतुःपञ्चाशन्मार्गणासु प्रत्येकं “णायव्वा संखेज्जा” ति प्रकृतत्वादायुर्वर्जनां सप्तान्यतमानां तत्तन्मनुष्यगत्योघादिमार्गणायां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां जघन्यस्थितेर्बन्धकाः संख्येया ज्ञातव्याः । कुतः ? उच्यते, मनुष्यौघमार्गणायां सप्तानां जघन्यस्थितिवन्धस्य क्षपकश्रेणावनिवृत्तिवाटरगुणस्थाने सूक्ष्म-सम्परायगुणस्थाने वा यथासम्भवं भावात्, तत्र कस्मिन्नप्येकस्मिन् समये उत्कृष्टतः संख्ये-यानामेव जीवनां सद्भावाच्चेति । इत्थमेव पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रयसंकायौघ-पर्याप्तत्रयकाय-पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चबन्धयोगभेद-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-स्यादिविभेदा-ऽपगतवेद-क्रोधादिचतुःकषाय-मत्यादिचतुर्जान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-सूक्ष्मसम्परायसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽत्रिदृशान-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-सम्यक्त्व-संस्था-ऽऽहारिमार्गणामु प्रत्येकं बोद्धव्यम् । औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां जघन्यस्थिति-बन्धस्योपशमश्रेणौ लाभात्, तथा सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेद आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-मार्गणयोः परिहारविशुद्धिसंयममार्गणायां च प्रत्येकं जीवनामेव संख्येयत्वात् तदधिकपरिमा-णाऽसम्भवः । विभङ्गज्ञान-देशसंयममार्गणयोस्तु जघन्यस्थितेर्बन्धकाः संयमाभिमुख्या मनुष्या एव, ततः संख्येया एव सम्भवन्ति । तेजः-पद्मलेश्या-वेदकसम्यक्त्वमार्गणासु तु जघन्यस्थितेर्बन्धका-

अप्रमतसंयता इति कृत्वा संख्येया एव । इत्येवमुक्तसर्वमार्गणामुच्चमिच्छितोः संख्येया एव बन्धका लभ्यन्ते, न पुनरसंख्येया अनन्ता वेति ।

अथ शेषमार्गणसु प्रकृतबन्धकपरिमाणमाह—“अचसेसासु हविरे असंखेज्जा” ति ‘तिरिये सव्वेगिदिये’त्यादिना प्रागुक्ता अष्टाविंशतिमार्गणास्तथा ‘तिमणुसे’त्यादिनाऽनन्तरोक्ता-श्चतुःपञ्चाशन्मार्गणाश्च संत्यज्य शेषासु निरयगत्योधादिष्वष्टाशीतिमार्गणसु प्रत्येकमसंख्येया भवन्तीत्यर्थः । शेषमार्गणा नामतस्त्विमाः—अष्टौ निरयगतिमार्गणाभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्भेदाः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जा देवौघभवनपन्यादय एकोनत्रिंश-देवगतिभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदः, पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिकाय-सत्काः सर्व इत्येकत्रिंशद्भेदाः, अपर्याप्तसकायभेदः, वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाययोगभेदौ सम्यग्मिथ्यात्व-सासादनभेदौ चेति । एतासु प्रत्येकमसंख्येया जीवास्ते च स्वस्थानविशुद्धाः सन्तः सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धका भवन्ति, न पुनर्विभङ्गज्ञानादिमार्गणात् संयमाद्यभिमुखाः सन्त एव, तदर्थ-कस्मिन् समय उत्कृष्टतोऽसंख्येया प्राप्यन्त इति तथैवाभिहिता इति । इदन्तु षोडशम-मासादनमार्गणायां ‘सासाणे चउद्दयो निवडंतो संयमा व भवे’ (गाथा-१२९) इति जघन्यस्थिति-बन्धस्वामित्वप्ररूपणोक्तेन चतुर्गतिकानां स्वस्थानविशुद्धानां सासादनसम्यग्दशां जघन्यस्थिति-बन्धस्वामित्वाभिप्रायेण प्रकृतबन्धका असंख्येया अभिहिताः । तदन्यमतेन तु ते संख्येया एव भवन्ति, संयमान्मासादनप्राप्तानां संख्येयानामेव सम्भवादिति ॥३२४-३२५-३२६॥

तदेवमभिहितं सप्तानां जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकपरिमाणमादेशतः । अथ तेषामेवाऽजघन्यायाः स्थितेर्विभण्डिपुरुकृष्टस्थितिवन्धकपरिमाणेन सर्वसाध्याल्लाघवार्थमतिदिशन्नाह—

सव्वामु अहस्साएऽणुकोसठिइव्व णायव्वा ॥३२७॥

(प्रे०) “सव्वामु अहस्साए” इत्यादि, निरयगत्योधाद्यनाहारकपर्यन्तासु सप्तत्यधिकश त-संख्याकामु सर्वास्वधिकृतमूलोत्तरमार्गणसु “अहस्साए” ति प्रकृतत्वादायुर्वर्जसप्तान्यतमानां निरयगत्योधादितत्तन्मार्गणायां बन्धप्रायोग्यानां मूलप्रकृतीनामहस्वायाः—अजघन्यायाः स्थिते-र्बन्धकाः “ऽणुकोसठिइव्व णायव्वा” ति अत्रैव द्वारे प्राक्—

‘तिरिये सव्वेगिदियणिगोभभेअ-वणकाय-योगेसुं । उरलदुग-कम्मणेसुं णपुंसगे चउकसायेसुं ॥

अपणाणदुगे भयते भच्चक्खुवंसण-तिअसुइलेसासुं । भविये-यर-मिच्छेसुं अस्सणिण-आहार-गियरेसुं ॥

हुन्ति अणुक्केसाए इअ सत्ताण्ह वंधगाऽणंता । पज्जमणुस-मणुसीसुं सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेणसुं ॥

मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-सुहुमेसुं । णायव्वा संखेज्जा सेसासुं असंखिया तत्थ ॥

वायरसमत्तवज्जअपुह्वाइगचउगसेसभेणसुं । पत्तेअवणम्मि तद्दा तदपज्जत्ते असंखलोगसमा ॥

इतिगाथापञ्चकेन निरगन्यादितत्तन्मार्गणायामभिहितानामायुर्वर्जानां सप्ताना-‘मनुकृष्टस्थितिवत्’-अनुकृष्टस्थितेर्बन्धकानाञ्चिद् ज्ञातव्याः । यथा मार्गणास्थानेषु प्राक् सप्तानामनुकृष्टस्थिते-

र्वन्धकपरिमाणमभिहितं तथा प्रकृतेऽपि मप्तानामजघन्यस्थितेर्वन्धकानां परिमाणमविशेषेण ज्ञात-
व्यम् । मार्गणागतानां सर्वजीवानामनुत्कृष्टस्थितिबन्धवदजघन्यस्थितिबन्धार्हत्वादितिभावः ।
विशेषतस्तु प्रतिमार्गणं मप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकपरिमाणवत् स्वयमेव भावनीयमिति ॥३२७॥

तदेवमुक्तं मप्तानां जघन्याजघन्यस्थित्योर्वन्धकपरिमाणमादेशतः साम्प्रतमवशेषस्वायुषस्त-
त्तन्मार्गणास्थानेषु प्रतिपिपादयिषुलाघवार्थमेकयाऽऽर्यथा । आपवादमतिदिशति—

हस्मियराण ठिईणं आउस्स अगुरुठिइव्व हुन्ति परं ।

हस्साए संखेज्जा तिणाण-ऽवहि-सम्म-वेअगेसु भवे ॥३२८॥ (गीतिः)

(प्रे०) “हस्मियराणे” न्यादि, शेषस्याऽऽयुषः-मालायुःकर्मणो ‘हस्वेतरयोः’-जघन्याऽज-
घन्ययोः स्थित्योः “अगुरुठिइव्व हुन्ति” चि ‘आउस्स’ इत्यस्यात्रापि योजनादायुषोऽगु-
रुस्थितिबद् भवन्ति । आयुषोऽनुत्कृष्टायाः स्थितेरत्रैव द्वारे प्राक्—

‘संखेज्जा हुन्ति तिणर-आहारदुग-आणताइदेवेसुं । चउणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥

देसो द्वि-तिमुइलेमा-सम्म-वइअ-वेअगेसु मात्ताणे । आउस्स गुरुठिईए सेसासु असंखिया णेया ॥

पव्वजमणुम-माणुपेसुं आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेसुं । मणगाण-संयम-समइअ-छेअ-परिहार-सुइल-खइएसुं ॥

संखेज्जा अगुरुए ठिईअ आउस्स हुन्ति सेसासुं । सत्तएह जत्तिआ खलु अगुरुठिईएऽस्थि मत्तिआ णेया ॥’

इतिगत्याचतुष्टयेन यावन्तो बन्धकाः प्रतिपादितास्तावन्तो भवन्तीत्यर्थः । अयं हि बहुसाम्यकृतोऽति-
देशः, न पुनः सर्वसाम्यकृतः, अतस्तत्र स्तोकमात्रैवम्यग्रयुक्ता याऽतिव्याप्तिस्तासुद्धर्तुं काम आह-
“परं” मित्यादि, परमयमत्र विशेषः; कोऽप्यत्रि-वाह—“हस्साए” इत्यादि, प्रकृतस्यायुषो ‘हस्वा-
याः’-जघन्यायाः स्थितेः संख्येयाः, बन्धका इति गम्यते । कासु मार्गणास्वित्याह—“तिणाणे”
त्यादि, मन्यादिषु तिसृषु ज्ञानमार्गणाम्, तथाऽवविदर्शनसम्पक्त्वाघ-वेदकसम्पक्त्वमार्गणास्वित्ये-
तासु परमार्गणाम्बन्धन्यर्थः, न पुनरन्यमार्गणाम्बन्धन्यस्थितेर्वन्धकपरिमाणविषये वा ।

इदमुक्तं भवति—मतिज्ञानादिष्वमार्गणास्वायुषो जघन्यस्थितेर्वन्धकपरिमाणविषयकमप-
वादं विज्ञाय शेषमार्गणास्वायुषो जघन्यस्थितेर्वन्धकाः, सर्वमार्गणास्वायुषोऽजघन्यस्थितेर्वन्धकाश्च
प्रत्येकमौन्मर्गिकवाक्यानुसारेण संख्येया असंख्येया अनन्ताश्च यथासम्भवं बोद्धव्या इति ।

इदमत्र हृदयम्—उत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिकायुर्वन्धकानां परिमाणमिव जघन्याऽजघन्यस्थिति-
कायुर्वन्धकानां परिमाणमपि तादृशायुर्निर्वर्तनाहानां जीवानां यदुत्कृष्टं परिमाणं तथा तादृशायुर्वन्धकानां
जीवानां यदुत्कृष्टं परिमाणं तयोर्द्वयोर्दस्तोकं संख्येयमसंख्येयमनन्तं वा तदनुसारेण तादृश-
स्थितिकायुर्वन्धका अपि संख्येया असंख्येया अनन्ता बोत्कृष्टतः सम्पद्यन्ते । किञ्च येऽनुत्कृष्टस्थिते-
र्वन्धकास्ते सर्वेऽजघन्यस्थितेर्वन्धका अपि, तच्छेषास्तु लोका एव, अतो निरयगतयोघादितत्तन्मार्ग-
णासु यावन्त आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकास्तावन्तोऽजघन्यस्थितेर्वन्धका अपि भणिताः । एते चा-
ऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका अजघन्यस्थितेर्वन्धकाश्च संख्येयत्वादिरूपेण तुल्या अप्यनुत्कृष्टस्थितेर्वन्ध-

अष्टमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टा-ऽनुकृष्ट-जघन्या-

शोधतः-आयुर्वर्ज-
सप्तानाम्

उत्कृष्टस्थितेः-असंख्याः बन्धकाः । शेषद्विविधस्थितेः -अनन्ताः ।
जघन्यस्थितेः-संख्याः बन्धकाः ।

(गाथा-३०८-३२१)

कियन्तो बन्धकाः		गतिः	इन्द्रियः	कायः	योगः	वेदः		
आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनाम्	उत्कृष्टस्थितेः	संख्येयाः	मनुष्योष, तत्पर्याप्त- मानुषीसर्वार्थसिद्ध. ४			आहारकतन्मिश्र २	ध्रुवद १	
		अनन्ताः		सर्वेकेन्द्रियभेदाः ७	वनीषसर्वसाधारण- रसावनभेदाः ८			
		शोधवत् असंख्याः	शेष ४३	शेष १२	शेष ३४	शेष १९	त्रिवेद ३	
	प्रजघन्यानुकृष्टस्थित्योः	शोधवत् अनन्ताः	तियंसात्योषः १	सर्वेकेन्द्रियभेदाः ७	वनीष-सर्वसाधारण- वनभेदाः ८	कायोष. औदारिक- तन्मिश्र ४	नगु १	
		संख्येयाः	पर्याप्तमनु.मानुषी. सर्वार्थसिद्ध ३			आहारकतन्मिश्र २	अवेद १	
		असंख्याः	शेष ४३	शेष १२	शेष ३४	शेष १९	स्त्री-पुं २	
	जघन्यस्थितेः	अनन्ताः	तियंसात्योषः १	सर्वेकेन्द्रियभेदाः ७	वनीष-सर्वसाधारण- रसावनभेदाः ८	औदारिकतन्मिश्र २		
		शोधवत् संख्येयाः	मनुष्योष-तत्पर्याप्त- मानुषी,सर्वार्थसिद्ध. ४	पञ्चेन्द्रियीण- तत्पर्याप्तभेदो २	वनीष-पर्याप्त- श्रसभेदी. २	सर्वमनीषोष-कायोष औदारिकतन्मिश्र. १४	सर्व ४	
		असंख्याः	शेष ४२	शेष ११	शेष ३२	शेष ७		
	★ आयुषः	उत्कृष्टस्थिते	संख्येयाः	मनुष्योष-तत्पर्याप्त- मानुषी,आनतादि १= देवभेदाश्च, २१			आहारकतन्मिश्र २	
			असंख्याः	शेष २६	सर्व १६	सर्व ६२	शेष १४	त्रिवेद ३
		अनुकृष्टस्थितेः	संख्येयाः	पर्याप्तमनु.मानुषी, आनतादिवेदाश्च. २०			आहारकतन्मिश्र २	
अनन्ताः			तियंसात्योषः १	सर्वेकेन्द्रियभेदाः ७	वनीषसर्वसाधारण- वनभेदाः ८	कायोष. औदारिक- तन्मिश्र ३	नगु सफ १	
शोधवत् असंख्याः			शेष २६	शेष १२	शेष ३४	शेष १९	स्त्री-पुं २	
असंख्याः			शेष २६	शेष १२	शेष ३४	शेष १९	स्त्री-पुं २	

★ आयुषो जघन्याऽजघन्यस्थितयोर्वन्धकपरिमाणमायुषोऽनुकृष्टस्थितिवन्धकपरिमाणवदेव, केवलं मति-अना-ऽवधिमाना-ऽ-

-ऽजघन्यस्थितिवन्धकपरिमाणप्रदर्शकं यन्त्रकम्

धोघतः-
आयुषः

उत्कृष्टायाः स्थितेः-असंख्येया बन्धकाः ।
शेषत्रिधायाः स्थितेः-अनन्ता .. ।

(गाथा-३०८-३२१)

कषाय.	ज्ञान०	संयम०	दर्शनं	लेइया	भन्व्य०	सम्यक्त्व०	संज्ञी०	आहा०	सर्धाः	गाथाङ्काः
	मनःपर्यव०	संयमोघ० सामा० छेद० परिहार० सूक्ष्म० ५							१२	३०६
									१५	३१०
सर्वे	शेष०	असंयम० देश० २	सर्वे० ३	सर्वे ६	सर्वे २	सर्वे ७	सर्वे २	सर्वे ०	१४०	३१०
सर्वे	मत्प्रज्ञान० श्रुताज्ञान० २	असंयमः १	अवधि १	अशुभा ३	सर्वे २	मिथ्यात्व० १	असं० १	मयं० २	३८	३१२ ३१३
	मनःपर्यव०	संयमोघ० सामा० छेद० परिहार० सूक्ष्म० ५							१२	३१४ ३१५
	शेष०	देशसंयमः १	शेष० २	शुभ० ३		शेष० ६	संज्ञी० १		१२०	३१५
	मत्प्रज्ञान- श्रुताज्ञान० २	असंयमः १		अशुभा ३	असं० १	मिथ्यात्व० १	असं० १	असं० १	२८	३२२ ३२३
सर्वे	मति-श्रुता-ऽवधि- मनःपर्यव० विमङ्गल० ५	संयमोघ० सामा० छेद० परिहार० देश० सूक्ष्मगणराय० ६	सर्वे० ३	शुभ० ३	भव्य० १	सम्यक्त्वोघ० क्षायिक० वेदक० श्रीपण० ४	संज्ञी० १	आहा० १	५४	३२४ लः ३२७
						साम्ना० मिथ० २			८८	३२७
	मति-श्रुता-ऽवधि मनःपर्यव० ४	संयमोघ० सामा० छेद० परिहार० ४ देश० ५	अवधि १	शुभ० ३		सम्यक्त्वोघ० क्षायिक० वेदक० साम्नादन० ४			४०	३१७ ३१८
४	अज्ञानत्रयं ३	असंयमः १	शेष० २	अशुभा ३	सर्वे २	मिथ्यात्व० १	सर्वे० २	आहा० २	१२३	३१०
	मनःपर्यव० १	संयमोघ० सामा० छेद० परिहार० ४		शुभा ३		क्षायिकं १			२६	३१६ ३२०
सर्वे	मत्प्रज्ञान० श्रुताज्ञान० २	असंयमः १	अवधि १	अशुभा ३	सर्वे० २	मिथ्यात्व० १	असं० १	आहा० १	३६	३२०
	शेष० ४	वशासंयमः १	अवधि १	शेषः २	भव्य० २	शेष० ३	संज्ञी० १		६८	३२०

अविज्ञान-सम्यक्त्वोघ-आयोपशमिकसम्यक्त्वमागंरणासु जघन्यस्थितेः संख्येया बन्धकाः, न त्वसंख्येयाः (गाथा-३२८) ।

कापेक्षयाऽजघन्यस्थितेर्वन्धकाः स्तोका एव । एवं स्तोकाधिक्यभावेऽप्यतिदेशप्रयोगस्त्वभिला-
पसाम्यादेवात्रसातव्यः । एवमेवान्यत्राऽप्यतिदेशेऽभिलापसाम्यमेवादाय सर्वेषुपपादनीयम् । इत्थं
य आयुषो जघन्यस्थितेर्वन्धका अप्यतिदेशेन दर्शितास्तेऽपि अभिलापसाम्यादेव, तदुपपत्तिस्तुऽक्त-
नीत्यैव कार्या । तथाहि—निरयगत्योघे जघन्यस्थितिकायुर्वन्धार्हानां परिमाणमिव तादृशजघन्य-
स्थितिकायुर्वेदकजीवपरिमाणमपि लोकेऽसंख्येयं विद्यते, अतस्तत्रानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकपरिमाणवज्जघन्य-
स्थितेर्वन्धकपरिमाणमप्युत्कृष्टपदेऽसंख्येयं भवति । इत्थमेव शेषनिरयगतिभेदेषु, चतुर्षु तिर्यक्प-
ञ्चेन्द्रियभेदेषु, मनुर्याधा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदयोः, देवाधि, सहस्रारान्तस्वेकादशदेवभेदेषु, तथा
नवस्वपि विकलेन्द्रियभेदेषु, त्रिषु पञ्चेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु पृथिव्यमेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिकाय-
सत्केष्वेकत्रिंशद्भेदेषु, त्रिषु व्रसकायभेदेषु, पञ्चमनोयोग-पञ्चबन्धोयोग-वैक्रियकाययोग-स्त्रीवेद-
षु वेद-विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शन-देशसंयम-तेजः-पद्मलेइया-सास्वादन-संज्ञिमार्गणास्वपि बोद्धव्यम् ।
तिर्यग्गत्योघमार्गणायां स्वायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धं निर्वर्तयितुं यथाऽनन्ताः साधारणवनस्पतिकाय-
जीवा अप्यर्हन्ति, तथा एते जघन्यस्थितिकायुर्वन्धं कर्तुमर्हन्ति, तथा तादृशजघन्याऽऽयुर्वेदका
अपि लोकेऽनन्ता विद्यन्ते, ततश्च तिर्यग्गत्योघमार्गणायामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानामिव जघन्यस्थिते-
र्वन्धका अप्यनन्ताः प्राप्यन्ते । एवमेव अनन्तजीवराशिकासु सर्वमार्गणसु विज्ञेयम् ।

ताश्च मार्गणा इमाः—तिर्यग्गत्योघः, सर्व एकेन्द्रियभेदाः, वनस्पतिकायाधिः, सर्वे साधा-
रणवनस्पतिकायभेदाः, ते च सप्त, काययोगौर्धा-दारिकौ-दारिकमिश्र-नपुंसकवेद-कषायचतुष्क-मत्य-
ज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोतलेइया-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यान्वा-ऽसंख्या-हारि-
मार्गणा इति । शेषमार्गणाभ्य आनतादिदेवभेदेषु पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणसु च समग्रा अप्यायु-
र्वन्धकाः प्रागुक्तनीत्योत्कृष्टतोऽपि संख्येया एव सम्भवन्ति, अतोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानामिव
जघन्यस्थितिवन्धका अपि संख्येया एव प्राप्यन्ते, अतस्तत्राऽप्यतिदेशेनाभिहिताः । मतिज्ञाना-
दिष्वपवादविषयभूतासु पणमार्गणसु तु जघन्यस्थितिकमायुः पर्याप्तमनुष्यसत्कमेव बध्यते, देव-
नारकाणां तत्स्वामित्वात्; अनुत्कृष्टस्थितिकायुस्तु देवमत्कमपि बध्यते, मनुष्यतिर्यक्पञ्चेन्द्रि-
याणामपि तत्स्वामित्वात्, इत्थं च जघन्यस्थितेर्वन्धकाः संख्येया एव प्राप्यन्ते, देवानामसंख्ये-
यत्वेऽपि तादृशायुर्वेदकानां पर्याप्तमनुष्याणां संख्येयत्वात्, । अनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकास्त्वसंख्येयाः
प्राप्यन्ते, तद्वन्धाहर्जिवराशेरिव वन्धप्रायोग्यदेवायुषो वेदकानामपि लोकेऽसंख्येयानां सद्भावात् ।
ततश्चोभयत्र वैषम्यात् ताम् पणमार्गणास्वपोदितमिति ॥३२८॥

तदेवं दर्शितमायुषो जघन्याजघन्यस्थित्योर्वन्धकपरिमाणमादेशतोऽपि, इत्थं च गतं
नवमं परिमाणद्वारम् ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे द्वितीयाधिकारे नवमं द्रव्यपरिमाणद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ दशमं क्षेत्रद्वारम् ॥

अथ “खेत्” इत्यनेनोद्दिष्टस्य दशमस्य क्षेत्रद्वारस्यावतरः, तत्र मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टा-
ऽनुत्कृष्टस्थित्योर्नानाजीवाश्रयं क्षेत्रं प्रतिपिपादयिषुरादौ तावदोघत आह—

लोगस्म असंख्यमे भागे होअन्ति बंधगाऽट्टुण्हं ।

उक्कोसाअ ठिईएऽणुक्कोसाअ पुण सव्वजगे ॥३२९॥

(प्रे०) “लोगस्से” त्यादि, अद्यानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेरबन्धका लोकस्य चतुर्दश-
रज्ज्वात्मकस्यासंख्यतमे “भागे” ति एकस्मिन् भागे भवन्ति । इह “होअन्ति” इत्यत्र वर्तमान-
त्वोपादानेन भण्यमानं क्षेत्रं समयमात्रापेक्षमवगन्तव्यम् । किमुक्तं भवति ? भण्यमानक्षेत्रप्ररू-
पणायां वक्ष्यमाणस्पर्शनाप्ररूपणायां च लोकासंग्रह्येयभागादिलक्षणं तत्तन्स्थितेरबन्धकानामुत्कृष्टपदगतं
क्षेत्रपरिमाणमेव प्ररूपणीयम्, यद्यप्येवं तथाऽपि क्षेत्रप्ररूपणायां भण्यमानस्य स्पर्शनाद्वारे वक्ष्य-
माणस्य च क्षेत्रपरिमाणस्याऽस्ति विशेषः, स चेह कालकृत एव विज्ञेयः । उत्कृष्टादिस्थितेरबन्धका-
नामुत्पाद-समुद्घातादिविषयभूतसमस्तक्षेत्रस्य तत्तत्कालापेक्षया हिनाधिकता भवति, समयमात्रकाला-
पेक्षं तद् विलक्षणं प्राप्यते, नानासमयसव्यपेक्षं पुनस्ततोऽपि विलक्षणं लभ्यत इति भावः ।

तथाहि—एकसमयमपेक्ष्य, अर्थाद् एकस्मिन् समय उन्कर्षतो यावति क्षेत्रे विवक्षितोत्कृष्टादि-
स्थितेरबन्धकजीवानां सम्भवस्तावत् ‘लोगस्म असंख्यमे’ इत्यादिना भण्यमानं लोकासंग्रह्येयभागादि
क्षेत्रपरिमाणं क्षेत्रप्ररूपणाविषयभूतम् । नानासमयापेक्षयोत्कर्षतो यावति क्षेत्रे तादृशबन्धकजीवानां
सम्भवस्तावत् ‘कुसिआ तेरह भागा’ इत्यादिना स्पर्शनाद्वारे वक्ष्यमाणं त्रमनाड्यास्त्रयोदशादिभाग-
लक्षणं क्षेत्रपरिमाणं पुनः स्पर्शनाप्ररूपणाविषयभूतम् । न चायमसाम्प्रदायिकः कुतो विवक्षितः
क्षेत्रस्पर्शनयोर्विशेष इति वाच्यम् । जीवसमासे इत्यमेव विवक्षितत्वात् । उक्तं च तत्र—

सट्टाण-ससुग्घाणुक्कवाणं च जेजहिं भावा । संपइकाले खेत्तं तु फासणा होइ समईए ॥१८०॥ इति ।

न च तत्र साम्प्रतकालिकं क्षेत्रम्, अतीतकालिकी तु स्पर्शनीक्ता, न तु सामयिकं क्षेत्रमित्या-
दीति वाच्यम् । वर्तमानकालस्य समयमात्रत्वेनातीतकालस्य त्वनन्तसमयात्मकत्वेन च वि-
वक्षामेदाभावात् । उक्तञ्च तत्त्वार्थभाष्ये वर्तमानादीनां समयाद्यात्मकत्वम्—

“तत्रैक एव वर्तमानसमयः, अतीता-ऽनागतयोस्त्वानन्त्यम्” इति ॥५॥३९॥

इत्थं च कदाचित् ‘लोगस्म असंख्यमे भागे होअन्ति बंधगाऽट्टुण्हं’मित्यादिभणनावसरे
प्रज्ञापकापेक्षया तत्तत्समयाद्यात्मके वर्तमानकाले सर्वस्मिन् जयति न स्यादेकोऽपि मूलकर्मणामुत्कृष्ट-
स्थितेरबन्धकस्तदभावे तत्संबन्धिलोकाऽसंख्यभागमात्रं क्षेत्रं तथाऽपि न काचिच्छक्तिः, अतीत-
समयमात्रकालमपेक्षयाऽपि प्रस्तुतक्षेत्रोपपत्तेः । अत एवाधिकृतबन्धविधानग्रन्थे मूलप्रकृति-
बन्धप्रथमाधिकारे क्षेत्र-स्पर्शनयोर्विशेषप्रतिपादनपरायाम्—

‘कालं उ वदुर्माणं पदुश्च खेत्ते परुषणा जेया । आसिज्ज अईअद्धं परुषणा उण करिसणाए ॥’
इति गाथायां वर्तमानकालादेर्ग्रहणं समयादिकाले पर्यवसितं बोद्धव्यमिति ।

तथा “असंख्यमे भागे” इत्यत्राऽऽधारार्थायाः सप्तम्याया विभक्तोरुपादानं क्षेत्राभिधानाय, यतः सर्वाधारमाकाशम्, तच्च क्षेत्रमप्युच्यते, जीवादिपदार्थानां तत्र निवसनात् । तदुक्तं श्रौतत्वार्थनृत्तौ—‘क्षियन्ति-निवसन्ति यत्र जीवादिद्रव्याणि तत्क्षेत्रम्-आकाशम्’ इति । ततश्चाष्टानामुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धका एकस्मिन् समये लोकाकाशस्याऽसंख्येयभागे भवन्ति, तेषां क्षेत्रं लोकस्याऽसंख्येयभागमात्रं भवतीत्यर्थः । इत्थमेवोत्तरत्रापि बोद्धव्यम् ।

अथानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां क्षेत्रमाह—“उक्कोसाअ पुण सच्चजणे” ति लुमाकारस्यदर्शनात् प्रकृतत्वाच्चाष्टानामनुत्कृष्टायाः स्थितेः ‘सर्वजगति’-सर्वास्मिन्नपि लोके वन्धकाः, भवन्तीत्यनुवर्तते । सुगमं चेदं त्रिविधमपि क्षेत्रम्, पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेवाष्टप्रकृतिमत्कोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वात्, तेषां च श्लोकश्चादनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकक्षेत्रं श्लोकं प्राप्यते । अनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकास्तु सूक्ष्मपर्याप्तैकेन्द्रियपर्यन्ताः सर्वे जीवा भवन्ति, ते चातिबहुकाः सर्वलोकव्यापिन इति कृत्वाऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोकप्रमाणं प्राप्यत इति ॥३२९॥

तदेवमभिहितमोघतोऽष्टानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्वन्धकक्षेत्रम् । साम्प्रतं तदेवादेशतो व्याजि-
हिषुरादौ तावदायुर्वर्जानां सप्तानामाह—

उक्कोसाअ ठिईए आउगवज्जाण सच्चलोगम्मि ।

होअन्ति बंधगा खलु एगिंदियसच्चभेएसुं ॥३३०॥

पुहवाईण चउण्हं मच्चसुहुमवायरासमत्तेसुं ।

वण-मच्चणिगोएसुं अपज्जपत्तेअवणकाये ॥३३१॥

(प्र०) “उक्कोसाअ ठिईए” इत्यादि, आयुष्कवर्जानां सप्तानां ज्ञानावगणादीनां प्रत्येकमुत्कृष्टायाः स्थितेः “होअन्ति बंधगा खलु” ति ‘वन्धकाः’-स्वामिनो ‘खलु’-निश्चयेन भवन्ति । कुत्र ? “सच्चलोगम्मि” ति सर्वास्मिन्नपि लोके । कासु मार्गणास्वित्याह—“एगिंदिये” त्यादि, ओघ-सूक्ष्म-तन्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-वादर-तन्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेष्वेकेन्द्रियजातिमत्केषु सर्वभेदेषु, अन्यमार्गणाः संग्रहीतुमाह—“पुहवाईण” न्यादि, पृथिव्यप्तेजोवायुकायलक्षणानां पृथिव्यादीनां चतुर्णां “सच्चसुहुमवायरासमत्तेसुं” ति ये ‘सर्वे’-ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्त्रयस्त्रयः सूक्ष्मभेदा ये च वादराऽपर्याप्तभेदास्तेषु षोडशमार्गणभेदेषु तथा “वणसच्चणिगोएसुं” ति वनस्पतिकार्याद्ये, सर्वेषु निगोदभेदेषु तथाऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकार्यभेदे चेत्येतासु द्वात्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । कुतः ? एतासु प्रत्येकं सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धकपरिमाणस्यासंख्येयलोक-

प्रदेशराशिप्रमितत्वात् नदधिकत्वाद् वा । अथस्मात्—मद्भुविकलादिषु क्षेत्रादिकानि बन्धक-
जीवपरिमाणाधीनम्, जीवानां बाहुल्यात् प्रतिप्रमयं सुसुपूर्णा जीवानामाधिक्येन मारणान्तिकसमु-
द्धानादिनिरुद्धक्षेत्रस्याधिकतरलाभात् ।

तथाहि—पर्याप्तपर्याप्तपृथिव्यादिकाः सर्वेऽपि सूक्ष्मजीवराशयः प्रत्येकमतिवहुपरिमाणाः
मन्तः समस्तलोकव्यापिनः सन्ति । उक्तं च श्रीप्रज्ञापनासूत्रे द्वितीये स्थानपदे—

‘कहि णं भंते ! सुहृमपुढवीकाइयाणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाणं यं ठाणा पन्नत्ता ? गोयमा ! सुहृ-
सपुढवीकाइया जे पज्जत्तगा जे अपज्जत्तगा ते सव्वे एणविद्वा अविसेसा अणाणत्ता सव्वल्लोयपरियावन्नगा
पन्नत्ता समणाउल्लो ।’ इत्यादि । (सू०३९)

अपर्याप्तवाद्वापृथिवीकायाः कायतेजस्कायप्रत्येकवनस्पतिकायरूपाश्चत्वारो जीवनिचयाः, पर्या-
प्तपर्याप्तवाद्वाधारणवनस्पतिकायरूपौ च द्वौ जीवनिचयावित्येते षट् जीवनिचया यद्यपि स्वस्था-
नमपेक्ष्य लोकासंख्येयभागमात्रव्यापिनस्तथापि तत्रापर्याप्तवाद्वापृथिव्यादिजीवनिचयानां प्रत्येक-
मसंख्यलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितत्वेन द्वयोश्च वाद्वाधारणवनस्पतिकायजीवनिचययोरनन्तजीव-
राशितया प्रतिप्रमयमुत्पद्यमानानां सुसुपूर्णां च जीवानां बहुत्वात् तैः प्रतिप्रमयं मारणान्तिक-
समुद्धानादिना सर्वे लोको व्याप्यते । उक्तं च स्थानपदे—

‘कहि णं भंते ! वाद्वापुढवीकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पण्णत्ता ? जत्थेव वाद्वापुढवीकाइयाणं
पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता तत्थेव वाद्वापुढवीकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता, उववाएणं सव्वल्लोए, समु-
ग्घाएणं सव्वल्लोए, सट्ठाणेणं लोयस्स अमंखेज्जेइभागे ।’ इति ।

तथा—‘कहि णं भंते ! वाद्वाउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता ? गोयमा ! जत्थेव वाद्वा-
वाउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता तत्थेव वाद्वाउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता, उववाएण
सव्वल्लोए, समुग्घाएणं सव्वल्लोए, सट्ठाणेणं लोयस्स अमंखेज्जेइभागे ।’ इति ।

इत्थमेव शेषाणामपर्याप्ततेजस्कायाऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाय-पर्याप्तपर्याप्तवाद्वाधारणवन-
स्पतिकायानां प्रत्येकं स्थानविषये सूत्रसंवादो द्रष्टव्यः । अपर्याप्तवाद्वायुकायिका अपि स्वस्थानम-
पेक्ष्य न सर्वलोकव्यापिनः, किन्तु लोकस्याऽसंख्यवद्भागेष्वेव; यद्यप्येवं तथाप्यसंख्यलोका-
काशराशितुल्यैस्तेः प्रतिप्रमयं मारणान्तिकसमुद्धानादिना सर्वाऽपि लोकः पूर्यते । उक्तञ्च—

‘कहि णं भंते ! अपज्जवाद्वाउकाइयाणं ठाणा पन्नत्ता ? गोयमा ! जत्थेव वाद्वाउकाइयाणं
पज्जत्तगाणं ठाणा तत्थेव वाद्वाउकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता, उववाएणं सव्वल्लोए, समुग्घाएणं
सव्वल्लोए, सट्ठाणेणं लोयस्स अमंखेज्जेसु भागेसु ।’ इति ।

पर्याप्तवाद्वायुकायिकास्तु स्वस्थानापेक्षया लोकवद्भागान् पूर्यन्तीऽपि नाऽसंख्यलोका-
काशप्रदेशराशितुल्याः, किन्तु लोकसंख्येयभागमात्रगतनभःप्रदेशराशितुल्या एव, तथा च सत्यल्पतया
एकस्मिन् समये मारणान्तिकसमुद्धानादिनापि समग्रलोकं नैव व्याप्नुवन्ति । उक्तञ्च स्थानपदे—

‘कहि णं भंते ! वाद्वाउकाइयाणं ठाणा पन्नत्ता ? गोयमा ! सट्ठाणेणं सत्तसु घणवाणसु, सत्तसु
घणवावकलएसु, सत्तसु तणुवाणसु, सत्तसु तणुवायकलयेसु, अहोल्लोए-पायालेसु, भवणेसु, भवणपत्थडेसु,
भवणडिडेसु, भवणनिक्खुडेसु, निरणसु, निरणवालियासु, निरणपत्थडेसु, निरणडिडेसु, निरणनिक्खुडेसु,

उद्दलोए-कप्पेसु, विमाणेसु, विमाणावलिथासु, विमाणपत्थडेसु, विमाणछिहेसु, विमाणनिक्खुडेसु, तिरिय-
लोए-पार्इण-पईण-वादिण उदीण(ईणं)सब्बेसु चैव लोणागासछिहेसु, लोणनिक्खुडेसु च, एत्थ णं वादर-
वाउकाइयाणं पञ्जत्तगाणं टाणा पत्तत्ता; उव्वचाएणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु, समुग्घाएणं लोयस्स असंखेज्जेसु
भागेसु, सट्ठाणेणं लोयस्स असंखेज्जेसु भागेसु ।' इति ।

पर्याप्तवादरपृथिवीकायादिजीवनिचयाः, नारक-देव-मनुष्यादिजीवनिचयाश्च प्रत्येकं स्वल्पस्व-
ल्पतराद्याः स्वस्थानसमुद्घातादिनाऽपि लोकाऽसंख्येयभागमात्रव्यापिनः; यतो जघन्यतोऽप्यसंख्य-
लोकाकाशप्रदेशराशिप्रमितजीवानां निचयेनैव समुद्घातादिना एकस्मिन् समये समग्रो लोको
व्याप्यते, न पुनस्तदल्पजीवानां निचयेनाऽऽपि । न च केवलिसमुद्घातत एकेनाऽपि जीवेन
स्वात्मप्रदेशैरेकस्मिन् समये समग्रलोकः व्याप्यत एव, तद्दृष्टमेतदिति वाच्यम् । यतोऽत्र प्रकृ-
तस्थितिवन्धसुदिश्य तद्वन्धकजीवाऽपेक्ष्यैतत् कथितमिति निर्दृष्टमेव, केवलिसमुद्घातमपेक्ष्यैक-
जीवेन समग्रलोकपूरणसम्भवेऽपि स्थितिवन्धकजीवानपेक्ष्य सम्भवन्मरणान्तिकसमुद्घातादि-
नाऽसंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितो हीनसंख्याकैर्जीवैरेकस्मिन् समये लोकपूरणस्यासम्भवादिति ।

इत्थं हि यस्यां यस्यां मार्गणायामेतेषां सूक्ष्मवादरपर्याप्तपर्याप्तपृथिव्यादितत्तज्जीवनि-
चयानां समावेशोऽसमावेशो वा तदपेक्षया सर्वलोक-लोकाऽसंख्येयबहुभागै-कमागादिक्षेत्रं लभ्यते ।

तथाहि-तिर्यग्मान्योर्ध्व-केन्द्रियोश्च-सूक्ष्मकेन्द्रिय-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्ता इति चत्वारो मार्गणाभेदा-
स्तथैव पृथिवीकायाश्च-सूक्ष्मपृथिवीकाय-तत्पर्याप्ता(पर्याप्ता इति चत्वारो मार्गणाभेदास्तथैवाप्यायमन्का-
श्चत्वारः, तेजस्कायमन्काश्चत्वारः, वायुकायमन्काश्चत्वारः, साधारणवनस्पतिकायमन्काश्चत्वारश्च;
तथा वनस्पतिकार्यायः, काययोग्यामान्यौ-दारिककाययोगौ-दारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोग-
नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकपाय-मन्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-
मव्यय-ऽमन्य-मिथ्यान्वा-ऽसंज्ञया-ऽऽहार्य-ऽनाहारिमार्गणाभेदाश्चेत्येतेषु प्रत्येकं सूक्ष्मजीवनिचयस्य
प्रवेशात् तदपेक्षया स्वस्थानतः समुद्घातादिना च क्षेत्रं सर्वलोकः । वादरैकेन्द्रिय-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-
वादरवायुकाय-तदपर्याप्ता इत्येतेषु पञ्चमार्गणास्थानेषु सूक्ष्मजीवनिचयस्याप्रवेशेन पूर्ववदुभयथा न
सर्वलोकः, किन्तु स्वस्थानतो लोकासंख्येयबहुभागाः, समुद्घातादितश्च सर्वलोकः । कुतः ? प्रत्ये-
कमपर्याप्तवादरैकेन्द्रिय-साधारणवनस्पत्यन्यतरजीवनिचयस्य समावेशात्, वादरौघ-वादरापर्याप्तपृथि-
वीकाया-ऽप्याय-तेजस्काया इति षट्, तथा प्रत्येकवनस्पतिकाय-तदपर्याप्त-वादरसाधारणवनस्पतिकाय-
तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्ता इति पञ्चेत्येतेष्वंकादशमार्गणाभेदेषु पुनः प्रत्येकं स्वस्थानतो लोकस्याऽसं-
ख्येयभागः, समुद्घातादितश्च सर्वलोकः । यत एतेषु नास्ति सूक्ष्मजीवनिचयस्य प्रवेशः, न वा
विद्यते वादरपर्याप्ता-ऽपर्याप्तन्यतरवायुकायजीवनिचयस्य प्रवेशः, किन्त्वपर्याप्तवादरपृथिव्या-
द्यन्यतमजीवनिचयस्य प्रवेशात् तदपेक्षया क्षेत्रमपि तथैव प्राप्यते । शेषेषु पुनः पञ्चनवतिमार्गणा-
भेदेषु तु समुद्घातादिना सर्वलोकव्यापिनोऽपर्याप्तवादरपृथिवीकायाद्यन्यतमस्यापि जीवनिचयस्या-
प्रविष्टतया शेषाणां पर्याप्तवादरपृथिवीकायादिजीवनिचयानां तु स्वस्थान-समुद्घातादिनाऽपि

लोकासंख्येयभागमात्रव्यापित्वेन च स्वस्थानात् समुद्घातादितश्च लोकासंख्येयभाग एव बोद्धव्यम् ।

उक्तं च जीघसमासे—‘सेसा उ असंखभागम्मि ॥ इत्यादि ।

इत्थं च स्थिते एकेन्द्रियादिषु प्रकृतद्वात्रिंशन्मार्गणासु कामुच्छिदसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्य-
जीवानां सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य स्वामित्वात्, कासु चिच्चनन्तानां जीवानां तत्स्वामित्वाच्च
प्रस्तुतबन्धकक्षेत्रमपि सर्वलोकः प्राप्यत इति ॥३३०-३३१॥

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतक्षेत्रं दिदर्शयिषुरेकामार्यामाह—

होअन्ति वाउकाये वायस्वाउम्मि तस्स पज्जत्ते ।

हीणजगे सेसामुं लोगस्स असंखभागम्मि ॥३३२॥

(ग्रे०) “होअन्ति वाउकाये” इत्यादि, वायुकार्याद्ये, वादरवायुकाये, तथा “तस्स-
पज्जत्ते” ति तस्य वादरवायुकायस्य पर्याप्तभेद इत्येतासु तिसृषु मार्गणासु प्रत्येकं “हीणजगे”
ति सप्तानामुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धका ‘हीणजगति’-असंख्येयतमैकभागेन हीने ‘जगति’-लोके
भवन्तीति पूर्वेण योग इति । कृतः ? तिसृषु प्रत्येकं स्वस्थानतो लोकाऽसंख्येयबहुभागव्यापिनां
पर्याप्तवादरवायुकायिकानां सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वात् । न चैते प्रकृतोत्कृष्टस्थि-
तिबन्धस्वामिनः प्रकृतमार्गणात्रयगताः पर्याप्तवादरवायुकायिका मार्गान्तिकसमुद्घातं प्रपञ्चाः
सन्तः किञ्चित्शेषं क्षेत्रमप्यवगाह्य समग्रमपि लोकं व्याप्तुयुरिति वाच्यम् । असंख्यलोक-
प्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकाणां तेषां कस्मिन्नप्येकसमये मार्गान्तिकसमुद्घातेन समग्रलोकं व्याप्तुम-
समर्थत्वात् । कुतोऽमामर्ध्यम् ? स्तोकरिमाणत्वादिति प्रागभिहितमेवेति । “सेसासु” ति
प्रागुक्तैकेन्द्रियादिद्वात्रिंशन्मार्गणास्तथाऽनन्तरमभिहिता वायुकार्याद्यास्तिस्त्रो मार्गणा विवर्ज्य शेषासु
पञ्चत्रिंशद्भ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं “लोगस्स असंखभागम्मि” ति सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थि-
तेर्वन्धकाः कस्मिन्नप्येकसमये उन्कर्षतो लोकस्याऽसंख्येयतमैकभागे, भवन्तीत्यत्रापि युज्यत इति ।
कृतस्ताधन्मात्रम् ? प्रत्येकं सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनोऽसंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकाः
सन्ति, स्वस्थानक्षेत्रमपि च तेषां लोकासंख्येयभागमात्रं भवति, इत्येवमुक्ताधिकक्षेत्रस्यासम्भवा-
दिति । शेषमार्गणानामानि त्वेवम्—सप्तचत्वारिंशदपि निरयादिगतिचतुष्कसत्कमूलोत्तर-
भेदाः, सर्वे द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियजातिसत्कभेदाः, ते च द्वादश । ओष-वादरीष-
पर्याप्तवादरभेदभिन्नाः पृथिव्यप्तेजस्कायानां प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भेदाः, ओष-पर्याप्तभेदभिन्नौ
प्रत्येकवनस्पतिकायभेदौ, त्रयस्त्रयसकायभेदाः, योगादिमार्गणासत्कास्तु सर्वेऽपि भेदास्ते च द्विप-
ष्टिरित्येवं समुदिताः पञ्चत्रिंशद्भ्यधिकं शतमिति ॥३३३॥

तदेवमभिहितं सप्तानामुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकक्षेत्रमादेशतः । अथ तेषामेव सप्तानामुत्कृ-
ष्टायाः स्थितेस्तदादेशतो दर्शयन्नाह—

तिरिये सव्वेगिदि-णिगोअ-वण-सेससुहुमभेएसुं ।
 पुहवाइचउमु तेसिं वायर-वायरअपज्जेसुं ॥३३३॥
 एत्तेअवणम्मि तहा तदपज्जत्तम्मि कायजोगे य ।
 उरलदुग-कम्मणेसुं णपुंसगे चउकसायेसुं ॥३३४॥
 अण्णाणदुगे अयते अचक्खु-अपसत्थलेस-भवियेसुं ।
 अभविय-मिच्छत्तेसुं असण्णि-आहारगियरेसुं ॥३३५॥
 होअन्ति बन्धगा खलु ठिईअ अगुरूअ सव्वलोगम्मि ।
 देसेण्णे लोगे वायरपज्जत्तवाउम्मि ॥३३६॥

(प्रे०) “तिरिये सव्वेगिदिचे” न्यदि, तिर्यगन्व्योघे, सर्वशब्दार्थकेन्द्रिय-निगोदयोः प्रत्येकं योजनात् सर्वशब्दकेन्द्रियभेदेषु सर्वेषु निगोदभेदेष्वित्यर्थः । तथा वनस्पतिकार्योघे “सेससु-हुमभेएसुं” ति ‘सव्वेगिदियणिगोअ’ इत्यनेन शृहीतान पद सूक्ष्मकेन्द्रियादिभेदान् त्रिवर्ज शेषेषु पृथिव्यप्तेजोवायुकायमन्केषु सूक्ष्मघ-सूक्ष्मपर्याप्त-सूक्ष्मापर्याप्तभेदभिन्नेषु द्वादशसु सूक्ष्मपृथिवी-कायादिभेदेषु, तथा “पुहवाइचउसु” ति पृथिव्यादिषु वाय्वन्तेषु चतुर्व्योघभेदेषु, तथा “तेसिं” ति तेषां पृथिव्यादिचतुर्णां “वायरवायरापज्जेसुं” ति चतुर्षु वादरौघभेदेषु, चतुर्षु वादरापर्याप्तभेदेषु धेन्यर्थः । अन्यमार्गणाः संग्रहीतुमार्याद्वयमाह—“एत्तेअवणम्मि” इत्यादि, प्रत्येकवनस्पतिका-र्योघे तथा “तदपज्जत्तम्मि” ति तस्य प्रत्येकवनस्पतिकायस्या-ऽपर्याप्ते, अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पति-कायभेद इत्यर्थः । काययोगवामान्ये । चः समुच्चये । “उरलदुगे” न्यादि, औदारिको-दारिक-मिश्रकाययोगमार्गणाद्वयस्य औदारिकदिके कार्मणकाययोगे, नपुंसकवेदे, क्रोधादिचतुःक्रायेषु, मन्थत्रात-भ्रताज्ञानद्वयरूपेऽज्ञानदिके, असंयमे, अचक्षुर्दर्शना-ऽग्रजस्तकृष्णादित्रिलश्या-भव्यमार्गणाम्, तथाऽभव्य-मिथ्यात्वयोरसंज्ञा-ऽऽहारिमार्गणयोः, इतरपदेनाऽनाहारकमार्गणायामिन्येतासु चतुः-षष्टिमार्गणाम् प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु प्रत्येकं किमित्याह—“होअन्ति बन्धगा खलु” इत्यादि, प्रकृतत्वादायुर्वर्जानां सप्तानां मूलकर्मणां “ठिईअ अगुरूअ” ति ‘अगुरोः’-अनुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकाः खलु “सव्वलोगम्मि” ति सर्वलोकं भवन्ति, एतेषामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां क्षेत्रं सर्वलोक इति भावः । कुतः ? कामचित् स्वस्थानतः सर्वलोकव्यापिनां सूक्ष्मपृथिवीकायादीनां प्रवेशात्, कामचित्पुनस्तेषामप्रवेशेऽपि मारणममुद्घातेन सर्वलोकव्यापिनां वादरसाधारणवनस्पतिका-यानामपर्याप्तवादरपृथिवीकायाद्यन्यतमजीवगशेषां प्रवेशात्, तैः सर्वैः सप्तानामनुत्कृष्टस्थितिवन्ध-स्य निर्वर्तनाच्चेति । अथ वादरपर्याप्तवायुकायमार्गणायां प्रकृतक्षेत्रमाह—“देसेण्णे” इत्यादि, देशेनाऽसंख्येयतमैकभागलक्षणेनोने-न्युने लोकं, सप्तकर्मसत्कानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका भवन्तीति प्रकमा-द्गम्यते । कुत्रेत्याह—“वायरपज्जत्तवाउम्मि” ति सुगमम्, असंख्यलोकप्रदेशराशिमपेक्ष्य स्तोका-

नामपि वादरपर्याप्तवायुकायजीवानां स्वस्थानक्षेत्रस्यैव देशोनलोकप्रमाणत्वादिति ॥३३३ तः ३३६॥
अथैक्याऽऽर्यया शेषमार्गणामु प्रस्तुतमायुर्वर्जसप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकक्षेत्रं सर्वमार्गणा-
स्वायुष उत्कृष्टस्थितेर्वन्धकक्षेत्रं च प्रदर्शयन्नाह—

लोगामंस्त्रियभागे सेसासु बंधगाऽस्थि मन्वामु ।

आउस्स गुरुठिईए लोगस्म असंखभागम्मि ॥३३७॥

(प्रे०) “लोगासंस्त्रियभागे” इत्यादि, लोकस्यासंख्येयतमैकभागे “बंधगाऽस्थि” ति प्रकृतत्वान्सप्तकर्मसत्कानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकाः सन्ति । कामु मार्गणास्त्रित्याह—“सेसासु” ति ‘तिस्ये सव्वं गिदिवे’ त्यादिगाथात्रयेणामिहिताश्चतुःषष्टिमार्गणान् तथाऽनन्तरमेवोक्तां वादरपर्याप्तवायुकायमा-
र्गणां त्रिहाय शेषामु निरयगत्योधादिपञ्चोत्तरशतमार्गणामु प्रत्येकमित्यर्थः ।

ताश्च शेषमार्गणा नामत इमाः—अष्ट निरयगतिभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, चत्वारो सप्तुष्पगतिभेदाः, त्रिसाष्टैवभतिभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, वादरपर्याप्तपृथिव्यपतेजः-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदाः, त्रयस्त्रसकायभेदाः, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च रचोयोगभेदाः, वैक्रिय-वैक्रियामिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगभेदाः, स्त्रीवेद-पुंवेदा-ऽपगतवेद-मनि-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यवेज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-मामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशु-
द्धिक-सूक्ष्मसम्प्राय-देशसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेदया-सम्यक्त्वाघ-क्षायिक-श्ला-
योपशमिका-पशमिक-मिश्र-मामादन-संज्ञिमार्गणाश्चेति । एतास्वन्यतमस्यामपि स्वस्थानेन समुद्घा-
तादितश्चमर्बलोकव्यापिनः सूक्ष्मैकेन्द्रियजीवराशेरनन्तकायिकजीवराशेर्वादराऽपर्याप्तजीवराशेर्वाऽप्रवे-
शादधिकृतक्षेत्रमपि सर्वलोकप्रमाणं न प्राप्यते, न च ताम्बन्यतमस्यां वादरपर्याप्तवायुकायजीवानामपि प्रवेशोऽस्ति, येन देशोनलोकमपि प्रस्तुतक्षेत्रं स्यात् । इत्थं हि लोकसंख्येयभागमात्रमेवोक्तम्,
उक्तसूक्ष्मैकेन्द्रियाऽनन्तकायिक-वादरपर्याप्ता-ऽपर्याप्तवायुकायजीवराशिवर्जानां शेषाणां सर्वजीवाना-
मेकस्मिन् समये स्वस्थानतो मारणसमुद्घातेन वा लोकसंख्यभाग एवावगाहनादिति ।

तदेवं मप्तानामनुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्वन्धकक्षेत्रमभिधायैव शेषस्यायुष उत्कृष्टस्थितेर्वन्धकक्षेत्र-
मार्गणसंख्येयाह—“सव्वामु” मित्यादि, निरयगत्योधादिषु यत्रायुर्वन्धो भवति तामु सर्वमार्गणास्वायुषः
“गुरुठिईए” ति उत्कृष्टायाः स्थितेलोकस्याऽसंख्यभागे, बन्धकाः सन्तीत्यत्रापि युज्यत इत्य-
क्षरार्थः । भावार्थं पुनरयम्—आयुष उत्कृष्टस्थितेर्वन्धका यामु मार्गणास्त्रिसंख्येयाः प्राप्यन्ते
तास्वपि ते नऽसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्याः किन्त्वतीव स्तोका एव । कथम् ? उच्यते, चतुर्गेतिष्वपि
पूर्वकोट्याद्युत्कृष्टस्थितिकजीवानां स्तोका यथा पूर्वकोट्याद्युत्कृष्टस्थितिकत्वेनोत्पद्यमाना जीवाः
स्तोका एव प्राप्यन्ते, तथा पूर्वकोट्याद्युत्कृष्टस्थितिकत्वेनोत्पत्सवो जीवाः पूर्वकोट्याद्युत्कृष्टस्थिति-
कायुषो बन्धकजीवाश्च स्तोका एव प्राप्यन्ते । ते च पूर्वकोट्यादिस्थितिकजीवराश्यपेक्षयाऽविका

असन्तः कृतः सर्वलोकं व्याप्नुयुः ? न कुतश्चिद्, असंख्यलोकप्रदेशराशितः स्तोकजीवनामेकस्मिन् समये सर्वलोकव्याप्तेर्दर्शनात् । न च ते लोकबहुभागानपि व्याप्नुवन्ति, असंख्यलोकप्रदेशराश्य-पेक्षया स्तोकजीवराशिकेष्वपि पर्याप्तवादस्वायुषाणामेव लोकबहुभागव्याप्तेर्दर्शनादिति ॥३३७॥

अथाऽऽयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकक्षेत्रमादेशत आह—

एगिंदिय-पुहवाङ्गचउग-णिगोएसु मव्वसुहुमंसुं ।

वण-तिरिय-कायुरलद्दुग-णप्पमेसुं चउकसायंसुं ॥३३८॥

दुअणाणा-ऽयत-अणयण-असुहतिलंस-भवि-यियर-मिच्छेसुं ।

अमणे तह आहारे ठिईअ अगुरूअ सव्वजगे ॥३३९॥

(प्रे०) “एगिंदियपुहवाङ्गो” इत्यादि, एकेन्द्रियोद्य-पृथिवीकायादिकचतुष्कोद्य-निगोदोद्य-रूपासु षण्मार्गणासु, तथोद्य-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नासु सूक्ष्मकेन्द्रिय-सूक्ष्मपृथिव्यप्तेजोवायुसाधारण-वनस्पतिकारुपासु सर्वासु सूक्ष्मजीवमार्गणासु, वनस्पतिकारोद्य-तिर्यग्गत्योद्य-काययोगोद्यो-दारिको-दारिकमिश्रकाययोगद्वय-नपुंमकवेदेषु, चतुर्षु कोधादिकपायमार्गणासु तथा “दुअणाणायते” त्यादि, द्वयोर्मन्यज्ञान-श्रुताज्ञानयोरसंयमा-ऽनयन-कृष्णाद्यशुभत्रिलेश्यामार्गणासु, भव्य-तदितरयो-मिथ्यात्वमार्गणायां चेत्यर्थः । तथा “अमणे तह आहारे” ति असंज्ञा-ऽऽहारिमार्गणयोश्चेत्येतसु पदचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं “ठिईअ अगुरूअ सव्वजगे” ति आयुःकर्मणः ‘अगुरोः’-अनुत्कृ-ष्टायाः स्थितेः ‘सर्वजगति’-मर्त्रीरिमल्लोके, बन्धका इति गम्यते । कुतः ? इति चेत्, प्रत्येकं स्वस्था-नतः सर्वलोकव्यापिनां सूक्ष्मकेन्द्रियादीनां प्रवेशात् । न च शरीरेकेन्द्रियादिमार्गणासु सूक्ष्मके-न्द्रियादीनामप्रवेशेऽप्यनन्तानां बादरसाधारणवनस्पतिकारुजीवानां प्रवेशसद्भावेन प्रस्तुतबन्धकानां बाहुल्यात् सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकक्षेत्रवत् प्रकृतबन्धकक्षेत्रमपि सर्वलोकः प्राप्येतेति वाच्यम् । यतो भवचरमान्तमुहूर्ते मारणसमुद्घातप्रयुक्तलोकव्याप्तिमपेक्ष्य हि तानु शरीरेकेन्द्रियादि-मार्गणासु सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकक्षेत्रं सर्वलोकः प्राप्यते, तदानीं मारणसमुद्घातकालेऽपि तेषां जीवानां सप्तकर्मसत्कालानुत्कृष्टस्थितिवन्धकक्षेत्रमात्रेण । न चैतदायुःकर्मण्यपि घटाभटाद्यते, तदानीं मारणसमुद्घातकाले आयुर्वन्धस्यैवाभावात् । इदमुक्तं भवति—आयुःकर्मणः स्थितेर्वन्धकक्षेत्रं तद्बन्धकजीवानां स्वस्थानक्षेत्रमपेक्ष्यैव युज्यते, न पुनमारणसमुद्घातादिप्रयुक्तक्षेत्रमपेक्ष्य, पारमविकायुर्वन्धं निष्ठाप्य पश्चाद् भवान्तराभिसुखीभूतजीवानामेव मारणसमुद्घातस्य सम्भवात्, तदानीं चायुर्वन्धस्यैवाभावादिति ॥ ३३८-३३९ ॥

अथ शेष मार्गणास्वेकयाऽऽर्यया प्रस्तुतक्षेत्रं प्रतिपादयन्नाह—

देसूणजगे वायरएगिंदियवाउसव्वभेएसुं ।

लोगस्स असंखयमे भागे सेसासु णायव्वा ॥३४०॥

(प्रे०) “देसूणजगे” ति असंख्येयतमैकभागलक्षणेन देशेनोने ‘जगति’-लोके, आयुषोऽनुत्कृष्ट-स्थितेर्वन्धका भवन्तीति प्रक्रमाद्भव्यते । कासुमार्गणास्त्वित्याह—“वायरे”त्यादि, तत्र वादर-शब्दस्यैकेन्द्रिय-वायव्योः प्रत्येकं योजनाद् वादरैकेन्द्रिय-वादरवायुकायसन्केष्वोष-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेद-भिन्नेषु सर्वभेदेष्वित्यर्थः । कुतः ? एतासु षण्मार्गणासु प्रत्येकं सर्वलोकव्यापिनां सूक्ष्मजीवानाम-प्रवेशेऽपि स्वस्थानतो देशोलोकव्यापिनां पर्याप्ताऽपर्याप्तान्यतरवादरवायुकायजीवानां प्रवेशात्, स्वस्थानगतानामायुर्वन्धस्याऽविरुद्धत्वाच्चेति । “लोगस्स असंख्यमे भागे” ति आयुषोऽ-नुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका लोकस्याऽसंख्येयतम एकभागे ज्ञातव्या इति परेणान्वयः । कासु मार्गणास्त्वि-त्याह—“सेसासु” ति ‘गुण्दिद्यपुहवाङ्गे’न्यादिनाऽनन्तरमभिहिताः षट्चत्वारिंशन्मार्गणास्तथा ‘वायरगुण्दिद्यवाउमव्वभेएसु’मित्यनेनानुपदमेवाभिहिताः षण्मार्गणाश्च संत्यज्य शेषासु निरय-गतयोधादिष्वेकादशास्यधिकशतमार्गणास्त्वित्यर्थः । ताश्च शेषमार्गणा नामत इमाः-अष्टौ निरय-गतिभेदाः, चत्वारिंशत्येकपञ्चेन्द्रियभेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः, त्रिंशद् देवगतिभेदाः, ओष-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्त्रयो द्वीन्द्रियभेदास्तथैव त्रयस्त्रीन्द्रियभेदास्त्रयश्चतुरिन्द्रियभेदास्त्रयः पञ्चे-न्द्रियभेदास्त्रयो वादरपृथिवीकायभेदास्त्रयो वादराकायभेदास्त्रयो वादरतेजस्कायभेदास्त्रयः प्रत्ये-कवनस्पतिकायभेदास्त्रयो वादरसाधारणवनस्पतिकायभेदास्त्रयस्त्रयस्त्रयस्त्रयभेदाः, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वज्रोयोगभेदाः, वैक्यिकाययोगा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-स्त्रिवेद-पुरुषवेद-मत्यादि-चतुर्ज्ञान-विमङ्गज्ञान-मयर्माद्य-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशमयम-चक्षुर्दर्शना-ऽव-धिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-मभ्यकत्वौष-क्षायिक-क्षायोपशामिक-सास्वादन-संज्ञिमार्गणा भेदाश्चेति । कुतो लोकाऽसंख्येयभागमात्रमेव ? इति चेद्, प्रत्येकं स्वस्थानतो लोकासंख्येयभागमात्रव्यापिनां जीवराशीनामेव प्रवेशादिति ॥३४०॥

तदेवमभिहितमादेशतोऽपि भूलाष्टकर्मणामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्वन्धकक्षेत्रम् । साम्प्रतं तेषां-मेवापानां जघन्याजघन्यस्थित्योर्वन्धकक्षेत्रमभिधित्पुरादी तावदाघत आह—

लोगासंखियभागे सत्तण्ह वंधगा लहुटिईए ।

अलहूअ सव्वलोगे आउस्स ठिईण दोण्हं वि ॥३४१॥

(प्रे०) “लोगासंखियभागे” इत्यादि, आयुर्वर्जानां मसानां ज्ञानावरणादीनां ‘लघुस्थितेः’-जघन्याः स्थितेर्वन्धकाः-स्वामिनः “लोगासंखियभागे” ति लोकस्यासंख्येयतम एकस्मिन् भागे सन्ति, लोकसंख्येयभागमात्रं तेषां क्षेत्रमिति भावः । कुतः ? अनिष्टुत्तिवादरक्षपकाणां सूक्ष्म-सम्परायक्षपकाणां च तिर्यग्लोकासंख्येयभागमात्रव्यापित्वादिति । “अलहूअ” ति प्रकृतत्वात्समा-नामलघोः-पद्म-अजघन्याः स्थितेर्वन्धकाः “सव्वलोगे” ति अनूने लोके, सर्वलोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः । सुगमं चैतदपि, सूक्ष्मनिगोदपर्यन्तानां जीवानामजघन्यस्थितेर्निर्वर्तकत्वात्, तेषां च सर्वलोकव्या-पित्वादिति । “आउस्स ठिईण दोण्हं वि” ति अनन्तरोक्तं ‘सव्वलोगे’ इत्येतत्पदं ‘घण्टा-

लालान्यायेना'त्रापि मन्वध्यते, ततः शेषस्याऽऽयुःकर्मणो जघन्याऽजघन्यात्मिकयोर्द्विविधस्थितयोः प्रत्येकं सर्वलोके, बन्धका इति गम्यते । स्वस्थानत एव सर्वलोकव्यापिनां सूक्ष्मनिगोदपर्यन्तानां जीवरशीनां सप्तकर्मणामजघन्यस्थितिवन्धवदायुगो जघन्याऽजघन्यस्थितिवन्धाऽर्हत्वादिति ॥३४१॥

अथाऽऽदेशतोऽभिधित्सरादौ तावदायुर्वर्जानां सप्तानां जघन्यस्थितेर्वन्धकक्षेत्रमाह—

देसूणे लोके लहुठिईअ सत्तण्ह बंधगा तिरिये ।

एगिदिय-वाऊमुं सिं वायरसव्वभेएसुं ॥३४२॥

ओरालमीस-कम्मण-दुअणाणा-ऽयत-तिअसुहलेमासुं ।

अभविय-मिच्छत्तेसुं अमणा-णाहागेसुं च ॥३४२॥

होअन्ति मव्वलोके अट्टारह सव्वसुहुम भेएसुं ।

सेमासु अमंखयमे भागे लोगस्स णायव्वा ॥३४४॥

(प्र०) देसूणे लोके” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां ‘लघुस्थितेः’ जघन्याः स्थितेर्वन्धका देशोने लोके, भवन्तीति शेषः । कासु मार्गणाभिव्याह—“तिरिये” इत्यादि, तियेगान्योधे, एकेन्द्रियवायुकायौघभेदयोस्तथा “सिं” ति तयोरेकेन्द्रियवायुकाययोः “वायरसव्वभेएसुं” ति ओघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदमिन्नेषु वादरेषु सर्वभेदेषु । वादरेकेन्द्रियौघ-पर्याप्तवादरेकेन्द्रिया-ऽपर्याप्तवादरेकेन्द्रियभेदेषु, वादरवायुकायौघ-पर्याप्तवादरवायुकाया-ऽपर्याप्तवादरवायुकायभेदेषु चेत्यर्थः । अन्यमार्गणाः मंगृह्णन्नाह—“ओरालमासे” इत्यादि, आंदाहिकमिश्रकाययोग-कर्मणकाययोग-मन्य-ज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽमंयम-कृष्णादित्रयशुभलेष्ट्यास्त्रमध्य-मिथ्यान्वयोरसंशय-ऽनाहारिमार्गणयोश्चेत्या-स्वेकविंशतिमार्गणासु । एतच्च प्रत्येकं प्रविष्टस्य वादरपर्याप्तवायुकाय-वादरपर्याप्तवायुकायान्यतरजीव-निचयस्य स्वस्थानक्षेत्रप्राधान्याज्ज्ञेयम् । नन्वेकेन्द्रियौघ-वादरपर्याप्ता-ऽपर्याप्तकेन्द्रियादिमार्गणासु संक्लेशविशुद्धिरूपं विशेषं विहाय सूक्ष्मवादरपर्याप्तत्वादिकमपेक्ष्योत्कृष्टस्थितेर्वन्धका जघन्यस्थिते-र्वन्धकाथाविशिष्टा एवाभिहिताः, यदि चैवं तथापि सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकक्षेत्रवत् सप्तानां जघन्यस्थितेर्वन्धकक्षेत्रं कथं सर्वलोको नाभिधीयते ? इति शब्द, उच्यते, सन्पमेतत्, पदे-केन्द्रियादिकतिपयमार्गणासु संक्लेशविशुद्धिरूपं विशेषमपहाय पर्याप्तत्वादिकमपेक्ष्य जघन्योत्कृष्ट-स्थितिवन्धस्वामिनामनन्यत्वम्, ततश्चैकेन्द्रियादिमार्गणासु यथा पर्याप्तत्वादात्माधारणवनस्पति-कायिकाः सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकाः सन्ति, तथा ते जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनोऽपि भवन्ति, तथैव यथा पर्याप्तत्वादरवायुकायिकाः सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनः सन्ति-तथा ते सप्तानां जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनोऽपि भवितुमर्हन्ति, यद्यप्येवं तथाऽपि प्राक्पप्तकर्ममत्कोत्कृष्टस्थिति-बन्धकानां क्षेत्रं यत्सर्वलोकमभिहितं तत् पर्याप्तत्वादरमाधारणवनस्पतिकायिकजीवानां मारण-

समुद्घातप्रयुक्तसर्वलोकव्याप्तिप्राधान्याद् । मरणान्तिकसमुद्घातो हि भवान्तराभिमुखानां जीवानामेव सम्भवति, तथा च सत्यसौ भवचरमान्तमुहूर्ते जायते, इत्थं हि यथा भवचरमान्तमुहूर्ते मरणान्तिकसमुद्घातगतानामनन्तानां वादरपर्याप्तनिगोदजीवानामुत्कृष्टस्थितिवन्धसम्भवात् सम्पूर्णलोकप्रमाणं क्षेत्रं लभ्यते तथा जघन्यस्थितिवन्धकानां वादरपर्याप्तनिगोदानां तत्र प्राप्यते । कुतः ? भवचरमान्तमुहूर्ते भवान्तराभिमुखेषु तेषु संख्येयानामेव जघन्यस्थितिवन्धस्य सम्भवात् । कुतः ? इति चेद्, भवचरमान्तमुहूर्तवर्तिमुमूर्षुजीवेषु स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टस्थानाभिमुखानामेवोत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्यसंक्लेशस्येव जघन्यस्थितिवन्धप्रायोग्यविशुद्धेरपि स्वप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानाभिमुखानां स्तोकजीवानामेव सम्भवात् ।

इदमुक्तं भवति—प्रागेकजीवाश्रये कालद्वारे—परिदिमणिगोष्पुं तेषिं सुहुमेसु सिं अप-
ज्जेसुं मिन्यादि—(१४७)—गाथावृत्तौ सप्तस्वेकेन्द्रियादिमार्गणास्वनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यवन्धकालस्यैक-
समयमात्रत्वव्युत्पादनावसरे मुमूर्षुजीवेषु स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टस्थान उत्पत्त्यनां जीवानामेव स्व-
प्रायोग्यसर्वसंक्लेशस्य सम्भवाच्च एव तदानीं सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिं निर्वर्तेयन्ति, नान्येः इत्येवं रूपं
नियमं प्रतिपाद्य तदुपपत्तौ स्वप्रायोग्यसर्वसंक्लेशनिर्वर्तनीयानां गति-जात्यादीनां स्वप्रायोग्य-
सर्वापकृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानत्वमभिहितम् । तेनैव न्यायेनाऽपि स्वप्रायोग्यसर्वविशुद्धया निर्वर्त-
नीयानां गतिजात्यादीनां स्वप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानरूपता बोद्धव्या, भावनाऽपि
तत्रोत्तरीन्यैव कर्तव्या; केवलं तत्रोत्कृष्टस्थितिवन्धमपेक्ष्य व्युत्पादितम्, अत्र तु जघन्यस्थितिवन्धम-
पेक्ष्य वैपरित्येन स्वयं व्युत्पादनीयम् । अस्माभिस्तु प्रकृतोपयोग्येवोच्यते, तद्यथा—पर्याप्तवादरनिगोद-
जीवैः स्वप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टविशुद्धौ सत्यां मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजाति-पर्याप्तनामकर्मादिकं निर्वर्त्यते ।
वक्ष्यते चोत्तरप्रकृतिस्थितिवन्धसंनिकर्षद्वार एकेन्द्रियादिमार्गणसु ज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिं
वध्नतो जीवस्य मनुष्यगति-पर्याप्तत्वादिकशुभप्रकृतिवन्धनियमः । इत्थं हि तेषां सर्वोत्कृष्टस्थानं पर्याप्त-
मनुष्यरूपमिति सिद्धम् । पर्याप्तमनुष्या हि लोक उत्कृष्टतोऽपि संख्येया एव लभ्यन्ते, अतः पर्याप्तमनु-
ष्यमत्काद्युपो बन्धकानामिव पर्याप्तमनुष्यत्वाभिमुखा मुमूर्षवो जीवा अप्येकस्मिन् समये लोक उत्कृ-
ष्टतः संख्येया एव प्राप्यन्ते । तथा च सति पर्याप्तमनुष्यत्वाभिमुखा मरणान्तिकसमुद्घातं प्राप्तः
जघन्यस्थितिवन्धकाः पर्याप्तवादरनिगोदजीवा अप्येकस्मिन् समय उत्कृष्टतः संख्येया एव लभ्येरन्;
तैश्च मरणान्तिकसमुद्घातगतैर्मनुष्यलोकं यावन्निक्षिप्तस्वात्मग्रदंशुदण्डैरप्यन्यल्पतया समग्रो लोको-
ऽशितुं नैव शक्यते; स्वस्थानक्षेत्रं तु तेषां वादरनिगोदादीनां लोकासंख्येयभागमात्रमुक्तम्,
अतस्तदपेक्ष्योत्कृष्टतः सर्वलोकक्षेत्रस्यासम्भवाज्जघन्यस्थितिवन्धकानां वादरपर्याप्तवायुकायानां स्व-
स्थानक्षेत्रमाश्रित्य प्रकृतैकेन्द्रियादिमार्गणसु जघन्यस्थितिवन्धकानां क्षेत्रं देशोनलोक इत्यभिहितम् ।

ननुक्तनियमात् पर्याप्तवादरवायुकायानां सर्वोत्कृष्टमुत्पत्तिप्रायोग्यस्थानं तिर्यग्गत्यादिरूपम्,
पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भासंख्येयाः सन्ति, अतस्तत्स्थानाभिमुखा भवचरमान्तमुहूर्ते समुद्घातं

गता जघन्यस्थितेर्वन्धकाः पर्याप्तवाद्वायुकायिका असंख्येया लभ्येरन्, तैश्च समुद्घातगतै-
रितस्ततो निक्षिप्तस्वात्मप्रदेशदण्डैः समग्रोऽपि लोकः पूर्येत ? इति चेद्, न, यतः स्थिति-
बन्धस्य निर्वर्तकैर्जघन्यतोऽप्यसंख्यलोकाकाशप्रदेशप्रभितरेव जीवैः समग्रो लोक एकस्मिन्
समये पूरयितुं वार्यते, न पुनस्तदूर्नैः, एतच्च प्रागेवोक्तं कथं विस्मर्यते । पर्याप्तवाद्वायुकायि-
कास्तु समुद्घातं प्राप्ता अप्राप्ताश्च समुद्रिणा अपि लोकसंख्येयभागगततमःप्रदेशराशितुल्याः सन्तः
समस्तं लोकं नैव व्याप्नुवन्ति, किं पुनः समुद्घातगतास्तदसंख्येयभागमात्रा जघन्यस्थितेर्वन्धकाः,
अतः स्वस्थानगतानां जघन्यस्थितिवन्धकानां पर्याप्तवाद्वायुकायानां क्षेत्रमपेक्ष्यैकविंशतिमार्ग-
णास्वपि देशोलोकक्षेत्रं मन्तव्यमिन्यलं प्रसङ्गेन ।

अथ प्रकृतं प्रस्तुतमः “होअन्ति सव्वलोगे” ति प्रकृतायाः सप्तकर्मणां जघन्यस्थिते-
र्वन्धकाः सर्वलोके भवन्ति, सर्वलोकस्तेषां क्षेत्रमित्यर्थः । कासु मार्गणास्वित्याह—“अट्टारह-
सव्वसुहुमभेएसु” ति ओष-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदादष्टादशधा भिन्नेष्वेकैन्द्रियपृथिव्यप्तेजोवायु-
साधारणवनस्पतिकायसन्केषु सर्वेषु सूक्ष्ममार्गणाभेदेष्वित्यर्थः । कुतः ? स्वस्थानतोऽप्येकैन्द्रिय-
पृथिव्यादि-सर्वसूक्ष्मजीवनिचयानां सर्वलोकव्यापित्वात् । उक्तञ्च पञ्चसंग्रहमल्लघगिरिघट्टौ—

‘सूक्ष्मा एकैन्द्रियाः पृथिव्यम्बुतेजोवायुधनस्पतयः प्रत्येकं सर्वेऽपि सर्वस्मिन्नपि जगति भवन्ति’ इति ।

अथ शेषमार्गणामु प्रकृतक्षेत्रमाह—“सेसासु” इत्यादिना, उक्तशेषास्वेकविंशदस्यधिकशत-
मार्गणासु प्रत्येकम् “असंख्येयमे भागे लोकास्तु णायव्व” ति सप्तकर्मणां जघन्यस्थितेर्वन्धका
लोकस्यासंख्येयतमैकभागं ज्ञातव्या इत्यर्थः । तत्र शेषमार्गणा नाम्न इमाः—सर्वे निरयगतिभेदाः,
सर्वे तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, सर्वे मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे देवगतिभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, सर्वे
पञ्चेन्द्रियभेदाः, पृथिव्यप्तेजोवनस्पत्योषभेदास्तथाव-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदाभिन्ना वाद्वायुपृथिव्यप्तेजः-
प्रत्येकवनस्पतिकाय-वाद्वासाधारणवनस्पतिकाय-व्रसकायानां प्रत्येकं ध्रुवस्त्रयो भेदाः, पञ्च मनोयोग-
भेदाः, पञ्च धनोयोगभेदाः, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-वैक्रियकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगा-
ऽऽहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-स्त्री-पुरुष-नपुंसकवेदा-ऽपगतवेद --क्रोधादिचतुःकषाय-
मत्यादिचतुर्जानि-विभङ्गज्ञान-संयमौ-व-सामायिक-ल्लेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्पराय-देश-
संयम-चक्षुरादित्रिदर्शन-तेजः-पञ्च-शकलेश-भव्य-सम्यक्त्वा-ध-क्षायिक-क्षायोपशमिका-पशमिक-
सामादन-मिश्र-संज्ञा-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति । कुत एतासु सर्वासु प्रकृतवन्धकानां क्षेत्रं लोकासंख्य-
भागमात्रम् ? उच्यते, निरयगत्यादिषु कासुचिन्मार्गणासु स्वस्थानतः सर्वलोकव्यापिनां सूक्ष्म-
जीवनिचयानां देशोलोकव्यापिनां वायुकायजीवानां च प्रवेशाभावेन, शेषप्रविष्टजीवनिचयानां
स्वस्थानतः लोकासंख्येयभागमात्रव्यापित्वात् सप्तकर्मणां जघन्यस्थितेर्वन्धकानां क्षेत्रमपि लोका-
संख्येयभागप्रमाणमेव प्राप्यते, पृथिव्याद्योषमार्गणासु काययोगादिमार्गणासु च सूक्ष्मजीवनिचयानां
वायुकायिकजीवानां वा प्रवेशेऽपि तेषां जघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वाभावादेव सप्तकर्मसत्कजघन्य-

स्थितेर्वन्धकक्षेत्रं सर्वलोको लोकासंख्यबहुभागमात्रं वा नैव प्राप्यते, किन्तु सप्तकर्मसत्त्वजघन्य-
स्थितिवन्धस्वामिनां पर्याप्तवाद्स्पृथिवीकायिकादीनां मनुष्याणां वा क्षेत्रप्राधान्याल्लोकासंख्येय-
भागमात्रमेवावाप्यत इति ॥३४२-३४३-३४४॥

तदेवमभिहितमायुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितेर्वन्धकक्षेत्रमादेशतो मार्गणास्था-
नेषु । अथैकयाऽऽर्ययाऽत्रशिष्टं तामामेवाऽजघन्यस्थितेर्वन्धकक्षेत्रमायुषो जघन्याजघन्यस्थित्योर्वन्धक-
क्षेत्रं चानिदेशद्वारेणाह—

अजहण्णाअ ठिईए सत्तण्ह अगुरुठिइव्व सव्वासु ।

हस्सियराण ठिईणं आउस्स अगुरुठिइव्व सव्वासु ॥३४५॥

(प्र०) “अजहण्णाअ ठिईए” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानामजघन्यायाः स्थितेः
प्रकृतत्वात् वन्धकक्षेत्रम् “अगुरुठिइव्व” ति ‘सत्तण्ह’ इति देहलीदीपकन्यायेनाऽत्रापि
युज्यते, ततः प्राक्—

‘तिरिये सच्चैगिदिय-णिगोअ-वण-सेससुहुमणेसुं । पुहयाडचउसु तेसि वायर-थायरअपज्जेसुं ॥

पत्तभवणम्मि तहा तदपज्जत्तम्मि कायजोगे य । उरल्लुगा-कम्मणेसुं णणंसगे चउकसायेसुं ॥

अणाणज्जेगे अयो अचक्खु-अपसत्थल्लेम भवियेसुं । अभाधिय-मिच्छत्तसुं असण्णि-आहारगियरेसुं ॥

होअन्ति वंधगा खलु ठिईअ अगुरुअ सव्वलोगम्मि । देसेणूणे लोगे वायरपज्जत्तजाउम्मि ॥

लोकासंख्येयभागं सेमाभुं वंधगाअत्थि । ॥’ (गाथा-३३३-३३४-३३५-३३६-३३७)

इत्यनेनाभिहितस्य सप्तानामगुरुस्थितिवत्, अनुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकक्षेत्रवदित्यर्थः । कासु
मार्गणास्विन्वाह—“सव्वासु” ति निरयगन्धोघाद्याहारकमार्गणापर्यन्तासु सप्तन्युत्तरशतसंख्या-
कासु सर्वास्वपि मार्गणास्वित्यर्थः । “हस्सियराण ठिईणं आउस्स” ति आयुषो ‘ह्रस्वेतर-
योः’-जघन्याऽजघन्यस्थिन्योः ग्रन्थेकम् “अगुरुठिइव्व” ति ‘आउस्स’ इत्यस्यानन्तरोक्त-
न्यायेनाऽत्रापि योजनादायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिवत्—

‘गिदिय-पुहयाडचउग णिगोसु सव्वसुहुमेषुं । वण-तिरिय-कायुरल्लुगणपुमेषुं चउकसायेसुं ॥३३८॥

हुअणाणा-ज्यन-अणवण-असुहत्तिल्लस-भवि-धियर-मिच्छेसुं । अमणाऽणाहारेसु य ठिईअ अगुरुअ सव्वजगे ॥

देसूणजगे वायरगिदियवाउमव्वभेणसुं । लोगम्मि असंख्येयमे भागे सेमाभु णायव्वा ॥३४०॥’

इतिगाथात्रयेण प्रागुक्तानुत्कृष्टस्थितिमन्कवन्धकक्षेत्रवदित्यर्थः । किमिति चेत् ? प्रक्रमाद्धन्धक-
क्षेत्रम् । कासु मार्गणास्विन्वाह—“सव्वासु” ति गतार्थम्, केवलमायुषः प्रकृतत्वादायुर्वन्धप्रायो-
र्यासु वैक्रियमिश्र-कार्मणकाययोगा-ऽयगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंघर्मा-पशमिकमप्यक्त्व-मप्यगिमध्या-
त्वा-नाहारकमार्गणावर्जासु निरयगन्धोघाद्याहारिपर्यन्तासु त्रिषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वि-त्यर्थः ॥३४५॥

तदेवं दर्शितं शेषं सप्तानामजघन्यस्थितेर्वन्धकक्षेत्रम्, आयुषो जघन्याऽजघन्यस्थित्योर्वन्धक-
क्षेत्रं च मार्गणास्थानेष्वतिदेशद्वारेण, तस्मिंश्च दर्शिते गतं दशमं क्षेत्रद्वारम् ।

॥ इति श्रीवन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे द्वितीयाधिकारे दशमं क्षेत्रद्वारं समाप्तम् ॥

अष्टमूलप्रकृतीनामुत्कृष्ट-जघन्य-तदितर-

ओ आयुर्वर्जसप्तानाम्—उत्कृष्टस्वितेर्बन्धकक्षेत्रम्—लोकाऽसंख्यभागः ।

ध " " अगुत्कृष्ट " " " सर्वलोकाः ।
 थ आयुवः— उत्कृष्ट " " " लोकाऽसंख्यभागः ।
 तः " " अनुत्कृष्ट " " " सर्वलोकाः । (शाश्व-३२९)

आदेशतः	कुत्र	गति०	इन्द्रिय०	काय०	
आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनाम्	उत्कृष्टस्थितेः	सर्व- लोके	सर्वेकेन्द्रिय० ७	पृथिव्यप्तेर्जोवायुकायनशकाः सर्वसूक्ष्मा-ऽपर्याप्तबादरभेदाः २५	
		देशोने		वनोष्ण-सर्वसाधारणवनभेदाः, अपर्याप्तप्रत्येकवनभेदाश्च ३	
		लोकासं- ख्यभागे	सर्व० ४७	वायुकायोष्ण-बादरवायुकायोष्ण-तत्पर्याप्तभेदाः ३	
			शेष० १२	श्लोष्ण-बादरीष्ण-तत्पर्याप्तभेदाभिन्नाः पृथिव्यप्तेजसां नवभेदाः, वनोष्ण-प्रत्येकवनोष्ण-नदपर्याप्त-सर्वसाधारणवनभेदाश्च १४	
	अनुत्कृष्टायाः स्थितेः प्रजघन्यायाः स्थितेः	सर्व- लोके	तिर्यगोष्णः १	सर्वेकेन्द्रिय० ७	पृथिव्यप्तेर्जोवायुनामौष्ण-सर्वसूक्ष्म-बादरीष्ण-तदपर्याप्तभेदाः, वनोष्ण-प्रत्येकवनोष्ण-नदपर्याप्त-सर्वसाधारणवनभेदाश्च ३४
		देशोने०			पर्याप्तबादरवायुकायः १
		लोकासं- ख्यभागे	शेष० ४६	शेष० १२	पर्याप्तबादरपृथिव्यप्तेजःप्रत्येकवनभेदाः, सर्वे वनभेदाश्च ७
	जघन्यस्थितेः	देशोने लोके	तिर्यगोष्णः १	श्लोष्ण-सर्वबादरीके- न्द्रिय० ४	श्लोष्ण-सर्वबादरभेदाभिन्ना वायुकायभेदाः ४
		सर्वलोके		सर्वसूक्ष्मकेन्द्रिय० ३	सूक्ष्मौष्णतत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदाभिन्नाः पृथिव्य-प्तेर्जोवायुसाधा- रणवनस्पतिकायभेदाः १५
		लोकासं- ख्यभागे	शेष० ४६	शेष० १२	शेष० २३
आयुवः अधन्या-ऽजघस्थित्योः अनुत्कृष्टस्थितेः	लोकासं- ख्यभागे	सर्व० ४७	सर्व० १९	सर्व० ४२	
	सर्वलोके	तिर्यगोष्णः १	श्लोष्ण-सर्वसूक्ष्मके- न्द्रिय० ४	श्लोष्ण-सर्वसूक्ष्मभेदाभिन्नाः पृथिव्यप्तेर्जोवायुसाधारणवनभेदाः, वनस्पतिकायोष्णभेदाश्च २१	
	देशोने		सर्वबादरीकेन्द्रिय० ३	बादरीष्ण-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदाभिन्नावायुकायिकभेदाः ३	
	लोकासं- ख्यभागे	शेष० ४६	शेष० १२	शेष० १५	

स्थितिवन्धकारणां क्षेत्रप्रदर्शकयन्त्रम्

ओ प्रायुर्धजसप्तानाम्—जघन्यस्थितेर्वन्धकक्षेत्रम्—लोकाऽसंख्यभागः ।

घ " अत्रघन्य " " " " सर्वलोकः

तः प्रायुषः जघन्य " " " " "

" अजघन्य " " " " " (गाथा--३४२)

योगः	वेदः	कषाय	ज्ञान०	पंथम	दर्शन	देश्या	मठव०	सम्य	संज्ञी०	आहा०	मर्धाः	ताथाङ्काः
											३२	३३० ३३१
											३	३३२
मवं० १०	सर्व० ४	सर्व० ४	सर्व० ७	सर्व० ७	सर्व० ३	सर्व० ६	सर्व० २	सर्व० ७	सर्व० २	सर्व० २	१३५	३३२
कामयोगीष. प्रौढा- रिक्ततन्मि. श्री, कामेगा० ४	नपु० १	सर्व० ४	मन्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २	प्रसंग० १	अचक्षु १	अशुभा ३	सर्व० २	मिथ्या १	प्रसं० १	" २	६४	३३३ मः ३३६
योग० १४	योग० ३		विमङ्ग० १ मत्यादि० ४	योग० ६	योग० २	योग० ३		योग० ६	मंजी १		१०५	३३७
प्रौढारिकतन्मि. श्री कामेगा० २			मन्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २	प्रसंग० १		अशुभा ३	अभ० १	मिथ्या १	प्रसं० १	आहा. १	२१	३४२ ३४३
											१८	३४४
योग० १६	सर्व० ४	सर्व० ४	योग० ५	योग० ६	सर्व० ३	योग० ३	भठ्य. १	योग० ६	मंजी १	प्रना० १	१३१	३४४
सर्व० १६	सर्व० ३	सर्व० ४	मर्धाः ७	सर्व० ६	सर्व० ३	सर्व० ६	सर्व० २	सर्व० ५	मत्र० २	आहा० १	१६३	३३७
कामयोगीष० प्रौढारिकतन्मि. श्री. ३	नपु० १	सर्व० ४	मन्यज्ञान- श्रुताज्ञान० २	प्रसंग० १	अचक्षु. १	अशुभा. ३	सर्व० २	मिथ्या १	प्रसं० १	आहा. १	४६	३३८ ३३९
											६	३४०
योग० १३	स्त्री-पुं २		योग० ५	योग० ५	योग० ६	योग० ३		योग० ४	असंजी १		१११	३४०

॥ अथैकादशं स्पर्शनाद्वारम् ॥

अथाऽऽयतं क्रमप्राप्तं “फोसणा” इत्यनेनोद्दिष्टमेकादशं स्पर्शनाद्वारम् । तत्र प्रागुक्तस्वरूपां क्षेत्रद्वारोक्तक्षेत्रापेक्षया त्रिकक्षणां स्पर्शनां व्याचिकीर्षुरादौ तावदुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिवन्धविषयां तामोचत आह—

फुसिआ तेरह भागा सत्तण्हं बंधगेहि जेट्टाए ।

परिफामिअं ठिईएऽणुकोसाए जगं सब्बं ॥३४६॥

फुसणाअ बुच्चिरे इह जे भागा भाजिआअ चउदसहिं ।

तसनाडीअ लहिज्जउ जं तावइअप्पमाणा ते ॥३४७॥

(श्रे०) “फुसिआ तेरह भागा” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां प्रकृतीनां ‘ज्येष्ठायाः’-उत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकैस्त्रयोदशभागाः स्पृष्टाः । तामामेव सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टायाः स्थितेः सर्वजगत् परिस्पृष्टम्, बन्धकैरित्यनुवर्तते । एवमुत्तरत्रापि बन्धकैरित्यस्यानुवृत्तिर्द्रष्टव्या । नन्वेते त्रयोदशभागाः ग्रन्थेकं कियन्माना इत्याशङ्कायां भागित-वक्ष्यमाणभागानां परिमाणं व्यवस्थापयन्नाह-“फुसणाअ बुच्चिरे” इत्यादि, ‘इह’-प्रकृतग्रन्थे “फुसणाअ” ति ‘स्पर्शनायां’-स्पर्शनाद्वारे ये भागाः “बुच्चिरे” ति ‘वर्तमानसानीप्ये वर्तमानवद्वा’ (पा० ३-३-१३१) इत्यनेन वर्तमानस्य समीपे भूते भविष्यति च वर्तमानप्रत्ययः । ततोऽनन्तरोक्तास्त्रयोदशभागावक्ष्यमाणाः पडादिभागाश्चेत्येवं समस्तस्पर्शनाद्वारे ये भागा उच्यन्ते ते सर्वेऽपीत्यर्थः । ते च ग्रन्थेकं “भाजिआअ चउदसहिं तसनाडीअ” ति चतुर्दशज्जुच्चैकरज्जुवृत्तविस्तृतायां तसनाड्यां चतुर्दशसंख्याभिर्भाजितायां सत्यां “लहिज्जउ जं” ति ‘यइ’-यावद् भागकलं लभ्येत, “तावइअप्पमाणा” ति तावन्प्रमाणास्ते त्रयोदशादिभागा ज्ञेया इति गाथाद्वयसंक्षेपार्थः ।

विस्तरार्थस्त्वयम्—भङ्गविचयादीनि नानाजीवान् समाश्रित्योच्यन्ते, तत्र क्षेत्रमेकमयमाश्रित्य स्पर्शना तु नानाप्रमयानाश्रित्य प्ररूप्यन्त इत्येतत् प्राक् क्षेत्रद्वारप्रारम्भ एवाभिहितम् । तथा च सति नानाजीवैर्नानामयानाश्रित्य यावत् क्षेत्रं स्पृश्यते तावत्क्षेत्रं प्रस्तुतस्पर्शनाद्वारप्ररूपणाविषयं भवतीति संस्थितम् । इत्थं हि प्रकृत ओघचिन्तायामादेशचिन्तायां च स्पर्शना क्षेत्रप्ररूपणावत् न जीवपरिमाणव्यपेक्षा । कुतः ? स्पर्शनाया नानामयसापेक्षतया पर्याप्तमनुष्यगत्यादिसंख्येयजीवराशिकादिमार्गणास्थानेषु वर्तमानसंख्येयादिजीवैरिव भूतकालेऽतिगनैरनन्तैः पर्याप्तमनुष्यादिभिरवगाढक्षेत्रस्याऽपि स्पर्शनाप्ररूपणाविषयत्वात् । इत्थं हि स्पर्शनानानान्वं न परिमाणाधीनम् । कस्याधीनं तर्हि ? इति चेद्, उच्यते, तत्तज्जीवराशीनां पारभविकोत्पत्तिस्थान-स्वस्थान-क्षेत्रयोस्तपोरन्तरालक्षेत्रस्य गमनागमनक्षेत्रस्य चाधीनम्, यतो यस्य हि जीवराशेः स्वस्थान-

पारभविकोत्पत्तिक्षेत्र-तदन्तरालवर्तिक्षेत्र-गमनागमनादिक्षेत्राणि समुदितानि यावन्ति जायन्ते ताव-
त्प्रमाणा तस्य जीवराशेः स्पर्शना भवति ।

ननु स्वस्थानक्षेत्र-पारभविकोत्पत्तिक्षेत्रयोर्न्तरालवर्तिक्षेत्रमपि कथं गृह्यते ? इति चेत्, कालभ्यानन्त्येन मिश्रमिन्नकालेषु मारणान्तिकमसुद्घातादिगतेर्नानाजीवैस्तस्य सर्वस्याप्यन्तरालस्य स्पृष्टत्वात् । किमुक्तं भवति—स्वस्थानादितः स्वप्राप्त्योत्पत्तिस्थानेषु गच्छतां जीवानामृजुवक्र-
गतिभ्यां यावद्विकल्पैर्गन्तुं शक्यते, तावत्पर्यविकल्पगतं क्षेत्रं कालभ्यानन्त्यात् मारणसमुद्घातगतै-
र्नानाजीवैर्नियमतः स्पृष्टमस्ति । कुतः ? मारणान्तिकमसुद्घातेऽप्युत्पत्तिस्थानं स्पृष्टद्विर्जीवैः
स्वस्थानादुत्पत्तिस्थानं यावत् स्वशरीरप्रमाणविक्षम्भवाहल्यस्य स्वात्मप्रदेशदण्डस्य प्रसारणात् ।
यदुक्तं लोकप्रकाशान्तोयसर्गे—

अन्तर्मुहूर्तशेषाद्युर्मरणान्तकराहितः । मुन्वादिरेन्द्राण्यप्युयं शरीरी स्वप्रदेशकेः ॥२४॥

स्वाह्वविषममवाहल्यं, स्वशरीरानिरेकतः । जगत्प्रतोऽह् गृह्यासंख्येयांशमुत्कृतपतः पुनः ॥२५॥

असंख्येययोजनान्येकदिशुत्पत्तिस्थानावधि । आयमतोऽभिन्वाप्यान्तर्मुहूर्तान्मिन्नयते ततः ॥२६॥ इत्यादि ।

इत्थं हि स्तोकजीवराशिसत्काऽपि सा क्षेत्रापेक्षयाऽधिका लभ्यते । तथाहि—सप्तमपृथिव्याः
प्राग्भ्योपयुपरि यथोत्तरं पृष्ठादिपृथिवीषु नास्काः क्रमेणाधिकाऽधिकतराअधिकनयाः सन्ति । उक्तं
च महादण्डके—‘आणनकपे देवा असंखेज्जगुणा, अहे सत्तमाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, छट्ठाए
तमाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा’ इत्यादि । स्पर्शना पुनस्तेषां विपरिता प्राप्यते । कुतः ? उच्यते,
नास्काणां पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्तया पर्याप्तमनुष्यतया वा उत्पादात् पारभविकोत्पत्तिस्थानानि
तिर्यग्लोक एव विद्यन्ते । तिर्यग्लोकश्च सप्तमपृथिवीनास्काणां दूरतरोऽतस्तयोर्न्तरालमहितं स्वस्थान-
पारभविकोत्पत्तिस्थानक्षेत्रमप्यधिकम्, तथा च स्पर्शनाऽपि शेषपृष्ठादिनरकमार्गगास्थानापेक्षया
सप्तमनरकमार्गगास्थानेऽधिका भवति । पृष्ठादिपृथिवीनां तु क्रमेण तिर्यग्लोकस्यान्तिकान्तिकतरत्वा-
दन्तिकतमत्वादिहेतोस्तत्र पुनः स्पर्शनाऽल्पल्पतराद्या भवति ।

तथाहि—‘सर्वाधस्तनल्लोकान्नादारभ्योपरितं तलय । यावत्सप्तममेदिन्या एकारज्जुरियं भवेत् ॥१॥

प्रत्येकमेवं सप्तानां भुवासुपरिचरितेषु तलेषु रज्जुरेकैका, स्युरेवं समरज्जवः ॥१॥’

इत्यादिवचनाल्लोकमर्धाधस्तनभागादारभ्योर्ध्वं यत्र प्रथमा रज्जुः समाप्यते, तत्र सप्तमपृथिवीनार-
काणां स्वस्थानानि सन्ति. तिर्यग्लोकस्तु लोकाधस्तनभागादारभ्य यत्राष्टमी रज्जुः प्रारभ्यते-
तत्र विद्यते । तथा च सति तयोर्न्तराले षड्रज्जवः क्षेत्रम्, तच्चैकरज्जुप्रमाणतिर्यग्वृत्तविस्तृतं
षड्रज्जुप्रमाणोच्चं सर्वक्षेत्रं सप्तमनरकतस्तिर्यग्लोके दिशायां त्रिदिशायां वा वक्रगत्यादिनोत्पद्य-
मानैः पूर्वोत्पन्नैश्च जीवैर्नैरन्तर्येण स्पृष्टमस्ति, तथैव मारणसमुद्घातगतैस्तत्रत्यैर्नारिकैरपि स्पृष्टम-
स्ति । इत्थं हि सप्तमनरकमार्गगायां स्पर्शना षड्रज्जुप्रमाणा । तथैवोपरितनैः पृष्ठादिपृथिवीसत्कवर्तमा-
नातीतनैरयिकैरपि मारणान्तिकसमुद्घातादितः स्वस्थानतिर्यग्लोकयोर्न्तरालस्य नैरन्तर्येण स्पृष्ट-

त्वात् पृष्ठादिपञ्चनरकमार्गणाभेदेषु जीवानां यथोत्तरमेकरज्जुवृत्तविस्तृता पञ्च-चतु-स्त्रि-द्वयं करज्जु-
प्रमाणा स्पर्शाना प्राप्यते । प्रथमनरकस्य सप्तमरज्ज्वोरुपरितनभागवर्तित्वात् तिर्यग्लोकस्याष्टमरज्ज्वोः
प्रारम्भभागवर्तित्वाच्च तयोरन्तरं नैकरज्जुप्रमाणमपि, किन्त्वेकस्या रज्ज्वोरसंख्येयतमभागमात्रम् ।

मनुष्याणां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां च स्वस्थानक्षेत्रं यद्यपि लोकासंख्येयभागमात्रं तथापि तेषां सूक्ष्मै-
केन्द्रियतयाऽप्युत्पत्तेः स्वस्थानक्षेत्रं पारभविकोत्पत्तिक्षेत्रं च समुदितं सत् सर्वलोकस्पर्शाना भवति, अती-
तकाले मारणसमुद्घातादिना पारभविकोत्पत्तिस्थानानि प्राप्तैर्मनुष्यैः पञ्चेन्द्रियतिर्यगिमश्च प्रत्येकं
समप्रलोकस्य स्पृष्टत्वात् । तिर्यक्प्रामान्यैस्तु स्वस्थानतोऽपि सर्वलोकः स्पृष्टोऽस्तीति सुप्रतीतमेव ।

देवानां स्पर्शान्निपत्ते नु बहवो विकल्पाः सन्ति । तद्यथा-ईशानान्तदेवभेदेषु नव रज्जवः
स्पर्शाना । कुतः ? उच्यते, भवनपत्यादिमहस्रारकल्पान्तानां देवानां तथास्वभावतोऽधोलोके
पृथिवीकायादितयोत्पादाभावेऽपि नरकगतानां पूर्वभवस्वजनानां स्नेहवशात्तृतीयां पृथिवीं यावद् गम-
नागमने स्तः । उक्तञ्च पञ्चसंग्रहे—

‘सहस्रारंनियदेवा नारचनेहेण जंति नइअभुवं’ इति ।

तथा च सति तेषां तिर्यग्लोकादधो रज्जुद्वयं स्पर्शाना भवति, ऊर्ध्वं न्वीपन्प्राग्भारापृथिव्यां
पृथिवीकायतयोत्पद्यमानान् पूर्वोत्पन्नान् ईशानकल्पान्तदेवान् समाश्रित्य पूर्ववत् सप्त रज्जवः स्पर्शाना
सम्पद्यते । ‘तत्थ वि सणं कुमारं पभिइ एणिदियेसुं नो जंति’ इत्यादिवचनेन सनत्कुमारादिमहस्रार-
कल्पान्तानां देवानां त्वेकेन्द्रियतयोत्पत्तिरेव प्रतिषिद्धा, अतस्तेषामूर्ध्वमीपन्प्राग्भारापृथिव्यामुत्पा-
दाभावेन तिर्यग्लोकादूर्ध्वं सप्त रज्जुस्पर्शाना न लभ्यते, किन्तु स्वशक्त्या गन्तुममर्था अप्यधस्तन-
देवा उच्युतकल्पसुरैः स्नेहादिनोर्ध्वं स्वस्थानेषु नीयन्ते । उक्तं च पञ्चसङ्गहे—“निज्जंति अच्चुयं
जा अच्चुयदेवेण इयएसुरा ॥३१॥” इति । तथा च नीयमानैः पूर्वनीतेश्च सनत्कुमारादिकल्पानां
प्रत्येकमनन्तैः सुरैरुच्युतकल्पान्तं तिर्यगेकरज्जुवृत्तविस्तृतं सर्वं क्षेत्रं स्पृष्टं भवति, अतस्तेषां प्रत्येकं
तिर्यग्लोकादूर्ध्वं षड्रज्जुस्पर्शानालाभात् समस्ता स्पर्शानाऽष्टरज्जुप्रमाणा जायते ।

ननु सनत्कुमारादिदेवा अपि प्रत्येकमसंख्येया एव श्रयन्ते, तत्कथं प्रत्येकमनन्तैर्देवैरुच्यु-
तकल्पान्तमेकरज्जुवृत्तविस्तृतं सर्वक्षेत्रं स्पृष्टं भवतीति कथ्यते ? अप्यनेऽत्रोत्तरम्—न केवलं
वर्तमानाकालापेक्षयैतत्कथनम्, किन्त्वनन्तमतीतकालमपेक्षयाऽपि, स्पर्शानाया नानासमयविषयत्वेना-
तीतकाले विनष्टानामपि देवानां तदन्तर्गतत्वादित्यादिप्राग्भिहितमेव । अनयाऽपेक्षया यदि
सूक्ष्मसम्परायादिमार्गणाविशेषेषु गतकालमधिकृत्यानन्तानां जीवानां समावेशो भवति, तदा सनत्कु-
मारादिमार्गणासु तु का वार्ता । तदेवं नानासमयानाश्रित्य नास्ति कश्चिदोपः ।

न च “पणऽच्युए” इति लोकनालिस्तवचनान् तिर्यग्लोकादूर्ध्वमच्युतकल्पं यावत् पञ्च
रज्जव एव क्षेत्रं भवति, तथा च सति सनत्कुमारादिकल्पवासिनां समस्ताऽपि सप्त रज्जव एव स्पर्शाना
भवेदतोऽसङ्गतमेतदिति वाच्यम् । जीवसमासे—

'इमाणस्मि दिवद्वा अद्वाइजा य रज्जु माहिंदे । पंचेव सहस्रारे छ अच्युण सत्त लोंगंते ॥१९१॥'
इत्यनेनाऽन्यथाऽपि रज्जुव्यवस्थादर्शनात् । न च तत्र पाठभ्रमः, तद्दृत्तौ तथैवाभिहितत्वात् ।

बृहत्संग्रहणोदृत्तौ मलयगिरिसूरिपादैरपि—

'सोह्निम दिवद्वा अद्वाइजा य रज्जु माहिंदे । पंचेव सहस्रारे छ अच्युण सत्त लोंगंते ॥'
इत्यनेन तिर्यग्लोकाद् यावत् सौधमेशानदेवलोकौ तावत्सार्धरज्जुप्रमाणम्, यावत्सनत्कुमार-
माहेन्द्रकल्पौ तावत् सार्धरज्जुद्वयम्, यावच्च महस्रारकल्पस्तावत्पञ्च रज्जवः, यावच्चाच्युतकल्प-
स्तावत् षड्रज्जवो लोकान्तं यावत्सप्त रज्जवश्च क्षेत्रमभिहितम् । एतदनुसारेण तु सुसङ्गतमेवेदम् ।
लोकनालिकास्तवाभिप्रायेण त्वन्यथा स्वयमेवोह्यमिति ।

आनतादीनां चतुर्णां कल्पानां देवास्त्वधस्तिर्यग्लोकं यावद्गच्छन्ति, न पुनर्नरकपृथिवीष्वपि ।
तथा च मति तेषां प्रत्येकं षड्रज्जव एव स्पर्शना भवति । 'गमणागमणं णत्थि अच्युअवरत्तो सुराणं पि'
इत्यादिवचनेनोपरितनानां ग्रैवेयकादिदेवानां तु गमनागमनाभावात् लोकासंख्येयभागमात्रैव स्पर्-
शना लभ्यते । ननु ग्रैवेयकादिदेवानां गमनागमनाभावेऽपि नारकाणांमिव मारणसमुद्घातेन स्वो-
त्पत्तिस्थानं तिर्यग्लोकं यावत्स्पर्शना युज्यते, तत्कथं लोकसंख्येयभागमात्रा स्पर्शना कथ्यते ? इति
चेद्, उच्यते, ग्रैवेकदेवानामूर्ध्वलोके तिर्यगेकरज्जुवृत्तविस्तृतप्रतराणामसंख्येयभागमात्रे देशे
स्वस्थानानि सन्ति । न केवलं स्वस्थानानि, किं तर्हि ? गमनागमनविरहितानां तेषामेवस्थानमपि
तत्र त्रसनाडीगतवृत्तविस्तृततिर्यकप्रतरासंख्येयतमे भाग एव । अन्यच्च तेषां पारभविकोत्पत्तिस्था-
नान्यपि मनुष्यलोके एव, न च मनुष्यलोकोऽपि तिर्यग्लोकवर्तिरतिर्यकप्रतराऽसंख्येयभागमात्राव-
गाढः । तथा च मति ग्रैवेयकविमानेभ्यो मनुष्यलोकपर्यन्तानां समुद्घातगतदेवात्मप्रदेशदण्डाना-
मूर्ध्वाधः सप्त रज्जुप्रमाणदीर्घान्त्रेऽपि तिर्यकक्षेत्रस्य स्वल्पतर्येते आत्मप्रदेशदण्डाः समस्ता अपि सन्त-
स्तिर्यगेकरज्जुवृत्तविस्तृतप्रतरासंख्येयभागमात्रमवगाहन्ते । इत्थं चोर्ध्वाधः सप्त रज्जुच्चाऽपि ग्रैवेयक-
देवानां स्पर्शना तिर्यगेकरज्जुसंख्येयभागमात्रेति कृत्वा लोकस्यासंख्येयभागमात्रैव भवति ।

हृदयम्—येषां स्वस्थान-गमनागमनस्थान-पारभविकोत्पत्तिस्थानरूपाणि त्रिवि-
धान्यपि स्थानानि प्रत्येकं त्रसनाडीगततिर्यग्वृत्तविस्तृतप्रतराऽसंख्येयभागमात्रमवगाहन्ते तेषाम्-
र्ध्वाधःक्षेत्रयोरन्तरालस्य बाहुल्येऽपि तिर्यकक्षेत्रस्य स्वल्पतर्या मारणान्तिकममुद्घातमपेक्षयापि लोकाऽ-
सङ्ख्येयभागमात्रस्पर्शना सम्पद्यते । येषां पुनस्तेभ्यस्त्रिविधस्थानेभ्यः एकविधान्यपि स्थानानि, तिर्यकप्रत-
राऽसंख्येयभागमात्रावगाढानि न सन्ति, किन्तु ततोऽधिकाधिकतरादिभागगतानि सन्ति, तेषां तूर्ध्वाधः-
क्षेत्रान्तरस्य बाहुल्ये स्पर्शनाऽपि तदनुसारेणाधिकाधिकतराद्या लभ्यते । अत एव द्वितीयादि-
नरकभेदेषु स्पर्शना न लोकासंख्येयभागमात्रा, एवमानवादिदेवानामपि । तथाहि—स्वस्थान-गमना-
ऽऽगमनस्थानान्यपेक्ष्य तिर्यकप्रतरासंख्येयभागमात्रावस्थापिनामपि द्वितीयादिपृथिवीनैरयिकाणां तत-
श्च्युत्वा तिर्यग्लोके स्वयम्भूरमणसमुद्रजगत्यादिदेशान् विहाय तिर्यकप्रतरस्य बहुभागेऽप्युत्पादे-

नोत्पत्तिस्थानानां किञ्चिद्नतिर्यक्प्रतरव्यापित्वात् मारणममुद्घातप्राप्ता स्पर्शना न लोकासंख्येय-
भागमात्रा । एवमानतादिदेवानां स्वस्थानोत्पत्तिस्थानयोः प्रत्येकं तिर्यक्प्रतराऽसंख्येयभागमात्रगत-
त्वेऽपि गमनागमनक्षेत्रस्य तिर्यग्वृत्तविस्तरज्जुप्रमाणत्वात् स्पर्शना न लोकासंख्येयभागमात्रा,
किन्तु षड् रज्जवः प्राप्यते ।

न च प्रथमपृथिवीनैरयिकाणां पारभविकोत्पत्तिस्थानानि तिर्यक्प्रतरस्यासंख्येयबहुभागेषु
वर्तन्ते, तत्कथमेतेषां मारणममुद्घातेनापि लोकासंख्येयभागमात्रा स्पर्शनोच्यत इत्याऽऽशङ्क्यम् ।
यतो यथा तिर्यक्प्रतरासंख्येयभागादीं स्वस्थानादीनामत्रगाढतया तदनुसारेण स्पर्शनालाभस्तथैवोर्ध्वा-
धोवर्तिनां तेषां स्वस्थानपारभविकोत्पत्तिस्थानानां षड् रज्जवसंख्येयभागादिप्रमाणमन्तरं तदप्यूर्ध्वाधो-
स्पर्शनायामपेक्ष्यत एव; अतो यत्रोर्ध्वाधोःप्रतरवर्तिनां स्वस्थान-पारभविकोत्पत्तिस्थानानामन्तरं रज्ज्व-
संख्येयभागमात्रं तत्र तेषां स्थानानां तिर्यक्प्रतरबहुभागव्यापित्वेऽपि स्पर्शना लोकाऽसंख्येयभाग-
मात्रैव लभ्यते । यत्र तु तदूर्ध्वाधोःप्रतरगतस्वस्थानादीनामन्तरं रज्जुद्विरज्ज्वादिप्रमाणं तत्र तु तेषां
स्थानानां तिर्यक्प्रतरबहुभागगतत्वे साऽप्येकद्वयादिरज्जुप्रमाणा प्राप्यते । तथा च सति प्रथम-
पृथिवीनारकाणां पारभविकोत्पत्तिस्थानानां तिर्यग्लोकगततिर्यक्प्रतरबहुभागव्यापित्वेऽप्यूर्ध्वाधो-
वर्तिनां तेषां स्वस्थान-पारभविकोत्पत्तिस्थानानामन्तरालस्य रज्ज्वसंख्येयभागमात्रतया स्पर्शनाऽपि
लोकासंख्येयभागमात्रोच्यत इत्यलं विस्तरेण । इदं हि तत्तन्मार्गणानामुत्कृष्टस्पर्शनोपपत्तां दिङ्मा-
त्रम्, अनया दिशा शेषमार्गणस्थानेषु तु स्पर्शना स्वयमेवोच्यते ।

अथ प्रस्तुतेऽस्याऽनन्तरोक्तस्य घटना प्रदर्श्यते—आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्ट-
स्थितिवन्धस्वामिनः सञ्जिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तजीवा यद्यपि लोकस्याऽसंख्येयभाग एव वर्तन्ते, तथापि
तेषु ये भवनपत्यादीशानान्ता देवास्तैर्मारणममुद्घातेनेयन्प्राग्भारापृथिवीं प्राप्तैरूर्ध्वलोकसत्काः
सप्त रज्जवः स्पश्यन्ते । न च तदानीं मारणममुद्घातगतानां तेषामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्यासम्भवः ।
यत एते मारणममुद्घातगता देवास्तदानीमेकेन्द्रियत्वाभिमुखः सन्ति, एकैन्द्रियत्वं च तेषां पार-
भविकं सर्वनिकृष्टमुत्पत्तिप्रायोग्यं स्थानम्, तथा च सति तदानीं तेषां स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टोत्पत्ति-
स्थानाभिमुखतयोत्कृष्टस्थितिवन्धोऽविरुद्धः । कुतः ? उच्यते, ये हि स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टोत्पत्तिस्थाना-
भिमुखा न सन्ति तेषां मारणममुद्घातादिगतानामुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्यसंकलेशस्यानुत्पत्तेः सप्ता-
नामुत्कृष्टस्थितिवन्धो न भवति, स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टोत्पत्तिस्थानाभिमुखानां तु तदानीमुत्कृष्टस्थिति-
वन्धप्रायोग्यसंकलेशस्य सम्भवाद्दुत्कृष्टस्थितिवन्धस्यापि सम्भव एव । इत्थं हि भवनपत्यादि-
देवापेक्षयोर्ध्वलोकसम्बन्धिनी सप्तरज्जुस्पर्शनोपपत्ता । शेषा तिर्यग्लोकादारभ्याधोलोकसत्का षड्-
ज्जुस्पर्शना त्वनया नीत्येव मारणान्तिकसमुद्घातेन सप्तमपृथिवीं यावन्निश्चिन्नात्मप्रदेशदण्डैस्ति-
र्यग्भिः कृता दृष्टव्या । एताश्च रज्जवः समस्ताः सत्यस्त्रयोदश भवन्ति, ता एवाधिकृत्य प्रकृत
ओषत उत्कृष्टस्थितिवन्धकैस्त्रयोदश भागाः स्पृष्टा इत्युक्तम् ।

ननु तिर्यग्मनुष्याणामनन्तरभवे सूक्ष्मैकेन्द्रियतयाप्युत्पत्तेः सम्भवेन तेषां पारमविकोत्पत्ति-
स्थानानि लोकसर्वाभ्यन्तनप्रतरं यावद्विद्यन्ते, ततश्चोक्तनीत्याऽधोलोकमम्बन्धिनी सप्तरज्जुस्पर्शना-
ऽपि प्राप्यते, तत्कथं षड्ज्जव एव गृहीता ? इति चेद्, उच्यते, सत्यमेतत्, तथाऽपि साम्प्रत-
मुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिस्पर्शना प्रस्तूयते, आधिकोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनस्तु संक्षिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-
मनुष्याः, न पुनः सूक्ष्मैकेन्द्रियादयः । संक्षिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां तु सा सप्तरज्जुस्पर्शना मार-
णान्तिकसमुद्घातानां प्राप्येत, न तु स्वस्थानतो गमनगमनतो वा । सूक्ष्मैकेन्द्रियादितयोत्सवो
मारणान्तिकसमुद्घातं प्राप्ताश्चैत उत्कृष्टस्थितिवन्धमेव न कुर्वन्ति, भवान्तराभिमुखेषु जीवेषु स्व-
प्रायोग्यसर्वनिकृष्टपारमविकोत्पत्तिस्थानानिमुखानां पर्याप्तसंक्षिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणामेव तस्य
सम्भवात् । पर्याप्तसंक्षिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टं पारमविकोत्पत्तिस्थानं तु
निरयगतिः, उत्कृष्टसंकलेशोपेतैस्तैस्तस्या एव निर्वर्तनात्, इत्येवं सर्वं एकजीवाश्रयकालक्षारे
'एतद्विद्यमिणोऽसुं तैमि सुहुमेसु' इत्यादिगाथा(१४७)वृत्तां दर्शितनीत्या विभावनीयम् । इत्थञ्चै-
केन्द्रियत्वाभिमुखमुष्णु जीवानां तदानीं सप्तकर्ममत्कोत्कृष्टस्थितिवन्धस्यैवाऽसम्भवाद्यथोक्तसप्त-
स्पर्शनां विहाय सप्तमनरकाभिमुखजीवानपेक्ष्य षड्ज्जवः स्पर्शनैव गृहीता ।

अमुमेव पदार्थं प्रतिपादयितुं प्राक्—'कुसणाथ बुच्चिरे इह जे भागा भाजिबाव च उदसर्हि ।
नमनाडीअ लद्विज्जउ जं तावडअणमाणा ते ॥३४७॥' इत्यत्र चतुर्दशभिस्त्रसनाड्यं व विभक्तुमभिहिता,
न तु लोकनाडी; यत्स्त्रमनाडी चतुर्दशरज्जुप्रमाणोच्चा, एकरज्जुप्रमाणा तु वृत्तविस्तृता, तस्यां
चतुर्दशभिर्भाजितायां सन्यामंकरज्जुप्रमाणोच्चमेकरज्जुप्रमाणं वृत्तविस्तृतमित्येतावत्क्षेत्रं भागफल-
तया लभ्यते, तावत्प्रमाणास्त्रयोदशभागाः शक्येऽपि सङ्गच्छन्ते । तथाहि—मारणान्तिकसमुद्घात-
काल ईषत्प्राग्भारापृथिव्यां निक्षिप्तान्मप्रदेशदण्डैर्गीशानान्तदेवैरे ऊर्ध्वलोकमत्काः सप्त रज्जवः स्पृ-
श्यन्ते, तास्त्रमनाड्यन्तर्गता एव मन्ति; त्रसनाड्या एकरज्जुवृत्तविस्तृतत्वात् ताः सप्त रज्जवोऽप्येक-
रज्जुवृत्तविस्तृता एव प्राप्यन्ते । इत्थमेव मारणान्तिकसमुद्घातेन सप्तमपृथिवीं प्राप्तानां तिर्यग्मनुष्या-
णामपि षड्ज्जवः स्पर्शनैः करज्जुप्रमाणवृत्तविस्तृतक्षेत्रमम्बन्धिन्यवगन्तव्या ।

अत्रेदमवधेयम्—स्वयम्भूरमणममुद्रस्य जगत्याः परभागवर्तिषु स्तोकमात्रदेशेषु पञ्चेन्द्रिय-
तिरश्चामभावाद्दुक्तषड्ज्जुस्पर्शना यद्यप्येकदेशेनोना भवति, तथापि तस्यैकदेशस्य स्वल्पत्वाद-
विवक्षया सामान्यत एकरज्जुवृत्तविस्तृताः षड्ज्जवोऽभिहिताः । एवमन्यत्रापि यथामम्भवं द्रष्टव्य-
मिति । सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां सर्वलोकस्पर्शना तु सुगमेति ॥३४६-३४७॥

तदेवमोघतः सप्तकर्मणामुत्कृष्टानुत्कृष्टद्विविधाया अपि स्थितेर्वन्धकानां स्पर्शनाऽभिहिता ।
साम्प्रतमु कशे तस्याशुपस्तामोघतः प्राह—

आउस्स असंखयमो भागो लोगस्स फोसिओ होज्जा ।

उकोसाअ ठिईएऽणुकोसाए जगं सव्वं ॥३८४॥

(प्र०) "आउस्स" इत्यादि, आयुष उक्तृष्टायाः स्थितेर्वन्धकैर्लोकस्यासंख्यतम एको भागः स्पृष्टो भवति । तस्यैवानुत्कृष्टायाः स्थितेः सर्वं जगत् स्पृष्टं भवति, बन्धकैरिति तु प्रथमगाथातोऽत्राप्यनुवर्तते, यद्वा स्पृष्टमिति प्रयुक्तेऽनुक्तमपि प्रकरणाद्भ्रम्यत इत्यक्षरार्थः । भावार्थः नरयम्—आयुर्वन्धो हि मारणसमुद्घातं गतानामन्तरालगतौ वर्तमानानां वा न भवति, तथा च मन्यायुर्वन्धकानां स्पर्शनाऽपि स्वस्थानक्षेत्रमपेक्ष्य गमनागमनक्षेत्रं वाऽपेक्ष्य प्राप्यते, स्वस्थानाद्विशिष्टं गमनागमनक्षेत्रं तु भवनपत्यादिदेवानामेव । आयुष औधिकोत्कृष्टस्थितेर्वन्धकास्तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याः । तेषां च नास्ति किञ्चित्स्वस्थानाद्विशिष्टं गमनागमनक्षेत्रमतस्तेषां स्वस्थानक्षेत्राक्षिप्ता स्पर्शना एव प्रकृते प्राप्यते, सा तु लोकसंख्यभागमात्राऽतस्तथैवोक्ता । आयुष औधिकाऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकास्तु स्रष्टुर्मेकेन्द्रियादयोऽपि, अतस्तेषां स्वस्थानापेक्षयापि सर्वलोकस्पर्शनैव भवतीत्योक्तं आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकस्पर्शना सर्वलोक उक्ता इति । ॥३४८॥

तदेवमभिहितौघतोऽष्टानामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्वन्धकस्पर्शना । साम्प्रतं तामेवादेशते त्वजिडीपुंशो तज्जदाऽपुंशोत्कृष्टावाहुः कृष्णमितेराह—

णिरये सत्तमणिरये तिरयम्पि तहा पणिंदितिरियदुगे ।

चउआणताइगेषु ओरालणपुंससुकामु ॥३४९॥

सत्तण्हुकोसाए ठिईअ भागा छ फोसिआ होज्जा ।

(प्र०) "णिरये सत्तमणिरये" इत्यादि, निरयगतयोषे, सप्तमपृथिवीनिरयभेदे, तिर्यक्सामान्ये तथा पञ्चेन्द्रियतिर्यक्पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगात्मके पञ्चेन्द्रियतिर्यग्द्विके, आनत-प्राणताऽऽरणाऽच्युतकल्पभेदभिन्नेषु चतुषु देवगतिमार्गणाभेदेषु । तथा औदारिककाययोग-नपुंसकवेदशुक्ललेश्यामु, इत्येवं द्वादशमार्गणासु "सत्तण्हुकोसाए" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेः 'पड्भागाः'-व्रसनाख्याश्वतुदर्शभागरूपाः पड्जवः स्पृष्टा भवन्ति, बन्धकैरित्यनुवर्तते । कथं पड्जवः ? इति चेद्, उच्यते, नरकगन्धोधमार्गणायां सप्तमनरकमार्गणायां च मारणान्तिकसमुद्घातेन तिर्यग्लोकं स्पृष्टैः स्वस्थानगर्तनारकैरपि तदानीमुत्कृष्टस्थितिवन्धो निर्वर्तयितुं शक्यते, ततश्च सप्तमनिरयनैरयिकाणामुत्कृष्टस्पर्शनायाः प्रकृतमार्गेणाद्वय उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिस्पर्शनातया युज्यमानत्वात् पड्जुस्पर्शनीक्ता । एतेषां सप्तमपृथिवीनारकाणामुत्कृष्टस्पर्शनापेक्षयैव, यद्वा पञ्चेन्द्रियतिर्यगां वक्ष्यमाणोत्कृष्टस्पर्शनापेक्षया नपुंसकवेदमार्गणायां प्रस्तुतस्पर्शना विज्ञेया । आनतादिदेवानां स्वधस्तिर्यग्लोकं यावदूर्ध्वं चाच्युतकल्पं यावद्गमनागमनस्याऽप्यमिमत्त्वाद्गमनागमनकृतस्पर्शनापेक्षयापि पड्जुस्पर्शना प्राप्यत इति तदनुसारेण सा भावनीया । शुक्ललेश्यामार्गणायामपि तथैवानतादिदेवानां स्पर्शनाप्राधान्यात्सा बोद्धव्या । तिर्यग्त्योष-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगौ-दारिककाययोगमार्गणासु पुनर्मारणान्तिक-

समुद्घातेन पारभविकोत्पत्तिस्थानसप्तमनिरयभूमिप्राप्तानां संक्षिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां तदानीं स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टोत्पत्तिस्थानाभिमुखतयोत्कृष्टस्थितिवन्धस्य सम्भवात् तदपेक्षया प्रस्तुतस्पर्शनाऽपिपट् रज्जवो लभ्यत इति ॥३४९॥

द्वितीयपृथिव्यादिषु पञ्चसु निरयगतिमार्गणास्थानेषु प्रकृतस्पर्शनामाह—

एगाङ्गा कम्पूणा ते छट्टाङ्गपणणिरयेसु ॥३५०॥

(प्रे०) “एगाङ्गा कम्पूणा” इत्यादि, एकादिना भागेन क्रमादनाः “ते” त्तिऽनन्त-रोक्ताः षड् भागाः, सप्तानां प्रकृतीनामुत्कृष्टाः स्थितेर्वन्धकैः स्पृष्टा सप्ततीत्यनुवर्तते । इत्थमेवोत्तरत्राऽप्यनुवृत्तिर्द्रष्टव्या । केषु मार्गणाभेदवित्याह—“छट्टाङ्गपणणिरयेसु” ति आनुपूर्व्याऽसम्भवादनन्तरमेव सप्तमपृथिवीनिरयभेदे प्रस्तुतस्पर्शनाया अभिहितत्वाच्च पश्चादानुपूर्व्या षष्ठादिषु षष्ठ-पञ्चम-चतुर्थ-तृतीय-द्वितीय-पृथिवीनिरयभेदरूपेषु पञ्चसु निरयमार्गणास्थानेष्वन्यर्थः । इदमुक्तं भवति—षष्ठपञ्चमादिनरकपृथिवीनां यथोत्तरं तिर्यग्लोकदभ्यर्णाऽभ्यर्णतराभ्यर्णतमवर्तित्वात्प्रमाणसमुद्घातेन तत्रन्यनारकैः कृता स्पर्शनाऽप्यल्पाऽल्पतराद्या प्राप्यते, किञ्च तिर्यग्गतेस्तेषां स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टपारभविकोत्पत्तिस्थानरूपत्वात् तदानीं मारणसमुद्घातगतानां तेषां सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिवन्धोऽपि सम्भवति । इत्थं हि अतीतकालमन्विभिर्मारणसमुद्घातगतैः सप्तकर्मणासुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकैर्नारकैः कृता स्पर्शनाऽपि षष्ठपृथिवीनिरयभेदेऽनन्तरोक्तपट् रज्जव एकया रज्ज्वा न्यूनाः पञ्च रज्जवः, पञ्चमपृथिवीनिरयभेदे रज्जुद्वयेन न्यूनाश्चतुरज्जवः, चतुर्थपृथिवीनिरयभेदे रज्जुत्रयेण न्यूनास्त्रिस्रो रज्जवः, एवमेवोत्तरत्राऽपि, ततस्तृतीयपृथिवीनिरयभेदे रज्जुद्वयम् द्वितीयपृथिवीनिरयभेदे त्वेका रज्जुः स्पर्शना भवतीति ॥३५०॥ अथ मार्गणान्तरेष्वह—

होह पण तिरिच्छीए सुर-इमाणंतदेव-तेऊसु ।

णव वारह कम्मण-थी मासण-ऽणाहारगेसुं य ॥३५१॥

(प्रे०) “होह पण तिरिच्छीए” ति तिरिच्छीमार्गणायां सप्तकर्मणासुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकैः कृता स्पर्शना “होह पण” ति त्रसनाड्याः पञ्च चतुर्दशभागा भवति, एकरज्जुवृत्तविस्तृतपञ्च-रज्जुप्रमाणोच्चा भवतीति भावः । इत्थमेवोत्तरत्रापि भागपदेन त्रसनाडीगतैका रज्जुर्वेदितव्येति । कुतः पञ्चरज्जुस्पर्शना ? इति चेद्, उत्कृष्टस्थितिवन्धं कुर्वतीभिस्तिरिच्छीभिर्मार्गणसमुद्घातेनाधः षष्ठपृथिवीं यावन्स्पृष्टत्वात् । “सुर-इमाणंतदेव-तेऊसु” ति सुरगान्योषमार्गणाभेदे, भवनपतिव्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मे-शानकल्परूपेष्वीशानान्तदेवभेदेषु, तेजोलेश्यामार्गणाभेदे चेत्येतेषु सप्तसु प्रत्येकं “नव” ति त्रसनाड्या नव चतुर्दशभागाः, सप्तकर्मणासुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकैः स्पृष्टा इत्यनुवर्तते । कथम् ? इति चेत्, मारणसमुद्घातेनेपत्प्राग्भाराभूमौ स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टपारभवि-कोत्पत्तिस्थान एकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानैः पूर्वोत्पन्नैश्चोर्ध्वं सप्तरज्जुक्षेत्रमापूरणात्, तृतीयनरक-पृथिवीं यावद्गमनागमनं कुर्वन्निरधो रज्जुद्वयस्पर्शनाच्च समस्ता नव रज्जवो भवन्ति ।

“धारह् कम्मणथो” न्यादि, कार्मणकाययोग-स्त्रीवेद-सामादना-अनाहारकमार्गणामु प्रत्येकं सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकैस्त्रसनाडया द्वादश चतुर्दशभागाः स्पृष्टा भवन्तीत्यर्थः । तत्र कार्मणकाययोगमार्गणायां मूलसप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतश्च्युत्वा पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमाना विग्रहगतिवर्तिनो जीवा इति प्रागभिहितमेव, तेऽप्यष्टमकल्पान्ता देवाः, अन्ये वा गतित्रयसम्बन्धिन एव भवन्ति, न त्वानतादिकल्पवामिनः, शुक्ललेश्याकैस्तैः कार्मणकाययोगमार्गणावन्धप्रायोत्पद्यत्कृष्टस्थितिवन्धस्याकरणात् । इत्थं च यदाऽच्युतकल्पसुरैः स्वस्थानं नीता सहस्रारकल्पान्ता देवास्तत्रस्था एवायुःशयात् कालं कृत्वा विग्रहगत्या निर्यग्भोके तिर्यक्त्वेनात्पद्यन्ते तदोर्ध्वलोकमन्काः षड् रज्जवः स्पर्शना लभ्यते, अधोलोकमन्काः षड् रज्जवस्तु सप्तमभूमौ नैरयिकतयोत्पद्यमानैर्विग्रहगतिस्थैस्तिर्यग्भिर्मनुष्यैर्वा स्पृष्टाः सन्ति, एताः समस्ताः सत्यो द्वादश रज्जवो भवन्ति । ता एव द्वादश रज्जवः प्रकृते सप्तानां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धकानामुत्कृष्टस्पर्शना दशितेति । अनाहारकमार्गणायामप्ययमेव प्रकारो द्रष्टव्यः । स्त्रीवेदमार्गणायां त्वी-पत्न्यारभगपृथिवीं प्राप्तानां मारणान्तिकसमुद्घातगतानां भवनपत्यादिदेवीनामूर्ध्वलोकमन्का सप्त-रज्जुस्पर्शना, तथा तिरश्चीनां षष्टपृथिवीं यावदुत्पादादधोलोकमन्का पञ्चरज्जुस्पर्शना च समुद्रिता सती द्वादशरज्जुस्पर्शना भवतीति तथैव दर्शिता । उत्कृष्टस्थितिवन्धस्तु तदानीं तायां देवीनां मानुषीणां च स्वप्रायोग्यसर्वनिकृष्टपारभक्तिकोत्पत्तिस्थानाभिमुखतया सम्भवतीति प्राग्बद् बोद्ध-व्यम् । सामादनमार्गणायां पुनस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यन्तां षष्टपृथिवीनैरयिकाणां मारण-समुद्घातेन प्राप्ताऽधोलोकमन्का पञ्चरज्जुस्पर्शना, शेषसप्तरज्जुस्पर्शना तूर्ध्वलोके लोकान्तं याव-दुत्पत्त्यन्तां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मनुष्याणां वा मारणान्तिकसमुद्घातनिष्पन्ना, एवं नानाजीव-नाना-समयसमाश्रयणादेकरज्जुतिर्यग्भूतविस्तरद्वादशरज्जुञ्ज्वा स्पर्शनाक्तंति ।

ननु तिर्यग्लोक उत्पत्त्यन्तां सप्तमपृथिवीनैरयिकाणां षड् रज्जुस्पर्शनां विहाय कथमत्रा-धोलोकमन्का पञ्चरज्जुस्पर्शनैव गृहीता ? इति चेद्, उच्यते, भवत्परमान्तमुर्तवर्तिनां मुमूर्षुणां सप्तपृथिवीनैरयिकाणां नियमतो मिथ्यादृष्टिन्वेन प्रकृतमार्गणावहिस्त्वात् तत्संबन्धिषड् रज्जुस्पर्शनां विहाय षष्टपृथिवीनैरयिकसम्बन्धिनी सा पञ्चरज्जुमानैव गृहीता, षष्टपृथिवीनैरयिकाणां सामादन-गुणयुतानामपि तिर्यग्मनुष्यतयोत्पत्तः । उक्तं च पञ्चसङ्ग्रहे—“छट्वाप नैरइभो सासणभावेण एह निरिमणुण” इति ॥३५१॥

सम्प्रति यामु मार्गणामु प्रकृतस्पर्शना समग्रलोकप्रमाणा ता मार्गणाः षड् गृह्याह—

सर्वजगं सर्वेसुं एगिंदिय-विगल-पंचकायेसुं ।

असमत्तपणिंदितिरिय-मणुस-पणिंदिय-त्तसेसुं य ॥३५२॥

(प्र०) “सर्वजग” मित्यादि, सर्वं जगत्, सप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकैः स्पृष्टं भवतीति

प्राग्ब्रह्मोः । केषु मार्गणाभेदेष्वित्याह—“सर्वेषु एगिदिये” त्यादि, ‘सर्वेषु’ सप्तसंख्या-
केष्वप्येकेन्द्रियजातिष्वन्कभेदेषु, तथैव सर्वेषु नवस्वपि विकलेन्द्रियमत्कभेदेषु, सर्वेषु पृथिव्यादि-
पञ्चकायमत्केष्वेकोनचत्वारिंशन्मार्गणाभेदेषु । मार्गणान्तरमङ्गप्रहायाह—“असमत्तं” त्यादि, तत्रा-
ऽपर्याप्तभेदवाचकोऽसमाप्तशब्दः पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिषु प्रत्येकं युज्यते, तथा च सत्यपर्याप्तपञ्चे-
न्द्रियतिर्यग-पर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रयमकायरूपेषु चतुर्षु भेदेषु चेति ।

इयमत्र भावना—प्रकृतैकोनपष्टिमार्गणासु याः सूक्ष्माघतन्पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदभिन्ना अष्टा-
दशमार्गणास्तासु सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनां स्वस्थानत एव सर्वलोकं सद्भावात्प्रकृत-
स्पर्शना तदनुसारेण सर्वलोकः प्राप्यते, यद्वा प्रकृतसर्वमार्गणगतानां जीवानां सर्वनिकृष्टं स्वप्रायो-
ग्यं पारमविकोत्पत्तिस्थानमपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदात्मकम्, अपर्याप्तसूक्ष्मनिगोदजीवास्त्वन्युने लोके
व्याप्ताः, अस्तत्रोत्पत्तिस्त्रयः प्रकृतप्रत्येकमार्गणासम्बन्धिजीवा मारणसमुद्घातावस्थायां ममानामु-
त्कृष्टस्थितिवन्धं कुर्वन्तः सर्वं लोकं स्वात्मप्रदेशैः पूरयितुं शक्नुवन्ति, ततो नानासमयसव्यपेक्षा
प्रकृतस्पर्शनाऽपि सर्वलोकप्रमाणा प्राप्यत इति ॥३५२॥

इदानीं यासु प्रभुतस्पर्शनाऽष्टौ रज्जवस्ता मार्गणाः संगृह्याह—

भागाऽष्टु होज्ज तद्वाइसहस्सारंतसुर-तिणाणेषु ।

ओहि-पउम-सम्म-खइअवेअगु-वसमेसु मीसे य ॥३५३॥

(प्रे०) “भागाऽष्टु होज्जे” त्यादि, सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकैस्त्रसनाडया अष्टौ भागाः
स्पृष्टा भवन्तीत्यर्थः । केष्वित्याह—“तद्वाइसहस्सारंतं” त्यादि, तृतीयमनत्कुमारकल्पमादौ
कृत्वा सहस्रारकल्पान्तेषु पटुषु सुरगतिभेदेषु, मनःपर्यवज्ञानवर्जेषु त्रिषु मतिश्रुतावधिरूपज्ञानभेदेषु,
तथा “ओहिपउमे” त्यादि, अवधिदर्शन-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वाध-क्षायिकसम्यक्त्व-वेदकसम्यक्त्वा-
पशमिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टिमार्गणाभेदेषु चेत्येषु षोडशमार्गणाभेदेषु प्रत्येकमित्यर्थः । तत्र सन-
त्कुमारादिसहस्रारान्तानां पूर्वमाङ्गलिकैरच्युतकल्पे नीतानां देवानां तत्रैव भवचरमान्तमुर्हते प्राप्ते
मारणसमुद्घातेन तिर्यग्लोकं यावत् स्पर्शनादूर्ध्वलोके पद् रज्जवः स्पर्शना, तृतीयनरकं यावदधो-
रज्जुद्वयमपि तत्रगतानां समुद्घातकरणेनेति समस्ताऽष्टौ भागाः स्पर्शना । यद्वाऽष्टावपि रज्जवः
स्पर्शना तेषां गमनागमनक्षेत्रापेक्षयैव बोद्धव्या । पद्मलेश्यामार्गणायामपीत्यमेव विभावनीयम् ।
शेषनवमार्गणास्वपि तथैव, नवरं ज्ञानत्रया-ऽवधिदर्शना-पशमिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टिमार्गणासु गमना-
गमनं कुर्वतां मिथ्यात्वाभिमुखानामुत्कृष्टस्थितिवन्धं विदधतां देवानां स्पर्शनाऽपेक्षया प्रकृतस्पर्शना
बोद्धव्या, न पुनः समुद्घातापेक्षयाऽपि । किं कारणम् ? अभिमुखावस्थार्थां मरणस्येव मारण-
समुद्घातस्याप्यसम्भवादिति ॥३५३॥ यासु मार्गणास्वायुर्वजसप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकैस्त्रसनाडया-
स्त्रयोदश भागाः स्पृष्टास्ताः सङ्गृह्याह—

पंचिदियदुग-तसदुग-पणमणवयणेषु काय-विउवेसुं ।
 पुरिस-चउकसायेसुं तिअणाणा-ऽसंयमेसुं च ॥३५४॥
 णयणा-ऽणयणेषु तथा भविणे-यर-मिच्छ-सण्णि-आहारे ।
 तेरहभागा छिहिआ उक्कोसाए-ऽत्थि सत्तण्हं ॥३५५॥

(प्रे०) “पंचिदियदुगतसदुग” इत्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः, नवरमपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-
 ऽपर्याप्तप्रसकायभेदयोः प्राग् गृहीतत्वात् “पंचिदियदुग” इत्यनेन शेषां पञ्चेन्द्रियाघ-पर्याप्त-
 पञ्चेन्द्रियमार्गणाभेदां तथा “तसदुग” इत्यनेन प्रसकायौघ-पर्याप्तप्रसकायभेदां समुच्चितां ।
 तथा च सति पञ्चेन्द्रियाघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियाद्याहारिपर्यन्तेषु द्वात्रिंशन्मार्गणास्थानेषु सप्तकर्मणामु-
 त्कृष्टस्थितेर्वन्धकैस्त्रयोदश भागाः स्पृष्टा भवन्तीत्यर्थः । एतेषु द्वात्रिंशन्मार्गणाभेदेषु प्रत्येकमोघवद्-
 ध्वलोके सप्तर्ज्जुस्पर्शना ईशानान्तदेवकृता, अधोलोके षड्ज्जुस्पर्शना तु सप्तमनरकनैरयिककृता,
 सप्तमपृथिव्यां नैरयिकनयोत्पित्सुभिः पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भिः कृता वा बोद्धव्या, केवलं नैरयि-
 काणां नियमतो नपुंसकवेदितया पुंवेदमार्गणायां तिर्यक्कृतैराधः षड्ज्जुस्पर्शना लभ्यते, तथा
 वैक्रियकाययोगमार्गणायां वैपरित्येन सप्तमपृथिवीनैरयिककृतैव सा षड्ज्जुस्पर्शना लभ्यते, न
 पुनस्तिर्यक्कृताऽपीति तत्र मार्गणाद्वये तथा द्रष्टव्येति ॥३५४-३५५॥

शेषमार्गणामु प्रस्तुतस्पर्शनामेकगाथयाऽऽह—

किण्हाईसुं कमसो तेरेगार णव फोसिया भागा ।
 विति ल चउरो दोऽण्णे सेसासुं जगअसंखंसो ॥३५६॥

(प्रे०) “किण्हाईसु” मित्यादि, कृष्णादिषु कृष्ण-नील-कापोतलक्षणासु तिसृषु लेश्या-
 मार्गणामु ‘क्रमशः’-यथाक्रमं त्रयोदश, एकादश, नव “फोसिया भागा” इति आयुर्वर्जानां सप्ताना-
 मुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकैर्यथोक्तलक्षणास्त्रमनाडीसत्का भागाः स्पृष्टाः । तत्र कृष्णादिषु क्रमेण षड्, चन्वारो
 द्वौ च तिर्यक्नयोत्पित्सुभिः समुद्घातगतैस्तत्तल्लेश्याकनैरयिकजीवैः कृताऽधोलोकस्पर्शनापेक्षयाऽव-
 सातव्याः, तत्तल्लेश्याकनैरयिकाणामुत्कृष्टतस्तिर्यग्लोकान्तषड्ज्ज्वाद्यन्तरे सप्तमादिपृथिवीषु वर्तमान-
 त्वात् । यत् उक्तम्—‘दुसु काऊ, तइआए काऊनीला य, नील पंकाअ । धूमाथ नीलकिण्हा, दुसु किण्हा हुनि
 लेसाओ’ इति । शेषसप्तभागास्तूर्ध्वमीषन्प्राग्भराभूर्मा मारणसमुद्घातेन निक्षिप्तात्मप्रदेशैः स्वस्थानगतै-
 र्भवनपत्यादिभिर्निर्वर्तितोर्ध्वलोकस्पर्शनापेक्षयाऽवसातव्याः, तदानीं स्वप्रायोम्यसर्वनिकृष्टपारभविको-
 त्पत्तिस्थानामिसुखानां तेषां नैरयिकदेवानां सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिबन्धस्य सम्भवात् ।

अथ प्रस्तुतमार्गणात्रये महाबन्धकारमते देवा उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनो न भवन्ति । कथम् ? तैरपर्या-
 ष्ठावस्थाया अन्यत्र देवानामशुभलेश्याया अनङ्गीकारात्, अपर्याष्ठावस्थायां सप्तानामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्या-

मात्राच्च । एवं सति महाबन्धकारमते देवकृता ऊर्ध्वलोकसत्का सप्तरज्जुस्पर्शना प्रस्तुतमार्गणात्रये न प्राप्यते, किन्तु केवलं नैरतिक्रमता स्याद्विरज्ज्व एव प्राप्यत इत्यतस्तन्मते प्रस्तुतस्पर्शनां तथैव दर्शयन्नाह—“यिति छ चवरो” इत्यादि, गतार्थम् ।

अथोक्तशेषमार्गणांश्चाह—“सेसासु जग असंखंसो” त्ति अनन्तरोक्तनिरयगतयोघाद्येकोन-चत्वारिंशदधिकशतमार्गणा विहाय शेषास्वेकत्रिंशन्मार्गणामु ‘जगतः’-लोकस्यैकोऽसंख्येयतमोऽंशः प्रस्तुतबन्धकः स्पष्टो भवतीत्यर्थः । तत्र शेषमार्गणानामानि त्वैवम्—प्रथमपृथिवीनरकभेदः, नव-प्रैवेयकदेवभेदास्तथैव पञ्चानुत्तरदेवभेदाः, अपर्याप्तभेदवर्जास्त्रयो मनुष्यगतिभेदाः, औदारिकमिश्र-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारक-ऽऽहारकमिश्रकाययोगरूपाश्चत्वारो योगमार्गणभेदाः, अपगतवेद-मनःपर्यव-ज्ञानभेदा, असंयमवर्जाः षट् संयममार्गणभेदा अयं द्विमार्गणभेदश्चेति ।

तत्र मनुष्यत्रिका-दारिकमिश्रकाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोग-देशसंयम-ऽसंज्ञिमार्गणावर्जशेष-चतुर्विंशतिमार्गणामु प्रत्येकं जीवानां स्वस्थान-गमनागमनस्थानानि तथा पारभविकोत्पत्तिस्थानानि च प्रत्येकं तिर्यकप्रतरस्यासंख्येयभागमात्रवर्तीनि सन्ति, तथा सति मूलतोऽपि तेषामुत्कृष्टस्पर्शना लोकासंख्येयभागमात्रा प्राप्यते, तत्पुनरुत्कृष्टस्थितिवन्धकानां स्पर्शनायास्तु का वार्ता, अर्थांल्लोका-ऽसंख्येयभागादाधिकस्पर्शनाया असंभव एव । न च संयमसामान्यमार्गणागतानां केवलमभवतां केवलिसमुद्घातमपेक्ष्य सर्वलोकस्पर्शना लभ्येतेति वक्तुं युज्यते, स्थितिवन्धस्य प्रकृतत्वेन स्थितिवन्धस्वामिनां सम्भवन्माणसमुद्घाताद्यपेक्षया लभ्यमानायाः स्पर्शनाया एवात्रोपयोगित्वात्, तस्यास्तु यथोक्तप्रमाणत्वाच्चेति । एवं प्रथमनरकभेदेऽप्युक्ताधिकस्पर्शना नाशङ्क्या, तस्या अपि प्राङ्-निराकृतत्वादिति । मनुष्याद्यमार्गणायां तु मारणसमुद्घातकाले नारकतयोत्पित्तुनामेव मार्गणायां बन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिवन्धस्य सम्भवान्लोकासंख्येयभागस्पर्शनीक्ता । एवं पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-मार्गणयोर्योज्यम्, नवरं मानुषीमार्गणायां षष्टनरकाभिमुखीनां मारणसमुद्घातमपेक्ष्य ज्ञेयम् ।

ननु पर्याप्तमनुष्याणां सप्तमनरकमेव स्वप्रायोग्यं सर्वनिकृष्टं पारभविकमुत्पत्तिस्थानम्, तथा च सति भवचरमान्तमुर्हते तदभिमुखानामेवोत्कृष्टस्थितिवन्धसम्भवः, नान्येषाम् । इत्थं हि षष्ट-पृथिव्यभिमुखीनां स्त्रीणां पर्याप्तमनुष्यत्वेनोत्कृष्टस्थितिवन्धः कथं भवेद् ? इति चेद्, उच्यते, षष्टनरकेऽपि सप्तमनरकवत् कृष्णलेश्याया एव सद्भावात् षष्टमन्तमपृथिव्यभिमुखजीवानां स्थितिवन्ध-स्वामित्वविषये न कश्चिद्विशेषः, षष्टपृथिव्यभिमुखानां नरकप्रायोग्यं बध्नतामपि कृष्णलेश्यन्वेनोत्कृष्ट-स्थितिवन्धप्रायोग्यसंक्रेशस्य सम्भवादिति भावः । एवं पञ्चमपृथिव्यभिमुखानां स्थितिवन्धस्वामित्व-विषयेऽपि विज्ञेयम्, न पुनरन्येषु नरकभेदेष्वेवं सम्भवति, तदभिमुखानां कृष्णतरलेश्यत्वात् । अत एव नरकगति-नरकानुपूर्वीप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टा स्थित्युदौरणाऽधस्तनपृथिवीत्रय एव प्रत्यग्रोत्पन्नानां नारकाणां दर्शिता, न त्वन्यपृथिवीगतानां नारकाणाम् । उक्तञ्च कर्मप्रकृतिचूर्णा-

‘णिरयगतिणिरयाणुपुञ्जीणं तिरियो वा मणुषो वा उकोसं ठितिं बंधिन्ता हेट्टिल्लाणं तिण्हं पुढवीणं अप्पयराए उयवण्णो नम्म पढमसमयाउ आइत्तं जाव आवलिया ताव उकोसा ठितीउदीरणा णिरयगतीए भवति । एवं णिरयाणुपुञ्जीए वि । णयरि तिण्णिण समया उकोसा ठितीउदीरणा होति ।’ इत्यादि ।

औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां तु स्वस्थानगतानां करणापर्याप्तिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेवोत्कृष्टस्थितिर्भवो जायते, न पुनर्लब्धपर्याप्तानामपीतिकृत्वा लोकाऽसंख्येयभागमात्रा स्पर्शना प्राप्यते, न पुनरधिका । कुतः ? करणापर्याप्तानां स्वप्रायोग्यपर्याप्तीनां समाप्तेरर्वागायुर्वन्धस्याऽसम्भवेन मारणसमुद्घातादेरप्यसम्भवादिति । असंज्ञिमार्गणायां तु प्रथमनरकभेदवद्विभावनीयम्, केवलं स्वस्थानोत्पत्तिस्थानानां वैपरीन्येनेति । वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां हि देवानां वर्तमानभवमत्कोत्पत्तिस्थानप्रमाणैव स्पर्शना प्राप्यते । कुतः ? तदानीमपर्याप्तावस्थायां गमनागमनस्याऽभावात्, उत्पत्तिस्थानानि तु तेषां व्यन्तरदेवज्योतिष्कदेवानधिकृत्यापि प्रतरसंख्येयभागमात्रगतानि, शेषाणां तु ततः स्वल्पस्वल्पतराण्येव, अतः स्पर्शनाऽपि तेषां लोकासंख्येयभागमात्रोक्ता । देशमयममार्गणायामपि मिथ्यान्वाभिमुखानां सप्तकर्ममत्कोत्कृष्टस्थितिवन्धकानां देशविरतानां तदानीं मिथ्यान्वाभिमुखावस्थायां मरणस्यैव मारणसमुद्घातस्याप्यसम्भवात् प्रकृतस्पर्शना स्वस्थानक्षेत्रमपेक्ष्य लोकस्याऽसंख्येयभागप्रमाणैव दर्शितेति ॥३५६॥

तदेवमुक्ताऽऽश्रुर्वर्जमवकर्मणाऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां स्पर्शना विभागतोऽपि । इदानीं तेषामेव सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां स्पर्शनाघतः प्रागुक्तैतिकृत्वाऽऽदेशतो व्याचिकीर्षुर्लघुवार्थं कतिपयमार्गणास्त्रतिदेशद्वारेणैवाह—

मन्वणिरय-सुर-विउवा-ऽहारदुग-अवेअ-णाणचउगेसुं ।

जइ-ममइअ-छेणुं परिहारम्मि सुहुमोहीसुं ॥३५७॥

मुहलेम-मम्म-वेअग-खइ-उवमम-मीस-सासणंसु य ।

सत्तण्ह होज्ज फुमणा अगुरुठिईए गुरुठिइव्व ॥३५८॥

(प्रे०) “सन्वणिरयसुरे”त्यादि, नरकगत्योध-प्रथमनरकादिषु सामादनान्तासु सार्धगाथया मङ्गुहीतासु द्विषष्टिमार्गणामु प्रत्येकमायुर्वर्जानां सप्तप्रकर्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां स्पर्शना तत्तन्मार्गणामु प्राग्दर्शितसप्तप्रकृतिमत्कोत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां स्पर्शनावदेव भवतीति संक्षेपार्थः । विस्तरार्थस्त्वेवम्—नरकगत्योधभेदे, सप्तमनरकभेदे, आनत-प्राणना-ऽऽरणा-ऽऽच्युतकल्परूपेषु चतुर्षु देवगतिभेदेषु, शुक्लेश्यामार्गणाभेदे च प्रत्येकमनुत्कृष्टस्थितिवन्धकादिजीवविशेषाननपेक्ष्य सामान्यतः सर्वनारकादिजीवैः कृता स्पर्शनाऽप्यनुत्कृष्टमन्वनाडीमत्काः षट् चतुर्दशभागा एव भवति । प्रथमनरकभेदे, नवसु ग्रै वैयक्रविमानभेदेषु, पञ्चधनुत्तरविमानभेदेषु, वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहारक-काययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगेषु, तथाऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयम-छेदोप-

स्थापनसंयम-परिहारविशुद्धिकसंयम-सूक्ष्मसम्प्रायसंयममार्गणामु च प्रत्येकं सा उत्कृष्टस्पर्शना लोकासंख्येयभागमात्रा सम्पद्यते । द्वितीयनरकभेदे तु सा उत्कृष्टतोऽपि त्रसनाडीमत्का एकश्चतुर्दशभागः, तृतीयपृथिवीभेदे द्वौ चतुर्दशभागौ, चतुर्थपृथिवीभेदे त्रयश्चतुर्दशभागाः, पञ्चमपृथिवीभेदे चत्वारश्चतुर्दशभागाः, षष्ठपृथिवीभेदे पञ्च चतुर्दशभागा उत्कृष्टा स्पर्शना प्राप्यते । देवगत्कीच-मार्गणायामीशानन्तेषु पञ्चसु देवगत्पृथ्वरभेदेषु तेजोलेशमार्गणायां च प्रत्येकमुत्कृष्टा स्पर्शना त्रस-नाड्या नव चतुर्दशभागा अप्राप्यते । सनत्कुमारादिसहस्रारान्तेषु षट्षु देवगतिभेदेषु मति-श्रुता-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-पञ्चलेख्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकौ-पञ्चमिक-मिश्रदृष्टिरूपेषु दश-मार्गणाभेदेषु च प्रत्येकं सा उत्कृष्टतोऽपि त्रसनाडीमत्का अष्ट चतुर्दशभागाः प्राप्यते । त्रैक्रिय-काययोगमार्गणायां त्रयोदश चतुर्दशभागाः, एकरज्जुवृत्तविस्तृतत्रयोदशरज्जुक्षेत्रसम्बन्धिनी स्प-र्शनेत्यर्थः । सामादनमार्गणायां तु तादृशो द्वादश रज्जवः स्पर्शनीत्कृष्टतोऽपि लभ्यते । एषा तत्तन्मार्गणासु सामान्यतो लभ्यमानोत्कृष्टस्पर्शनेव द्विषष्टिमार्गणाभेदेष्वपि प्रत्येकं सप्तकर्मणामनुत्कृष्ट-स्थितेर्वन्धकानामप्युत्कृष्टतः प्राप्यते । कुतः ? सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य तत्तन्मार्गणागतैः मवर्ज्जैर्निर्वर्तनान्, प्रायशः सर्वावस्थायां भाषाच्येति ।

ननु न केवलमनेषु मार्गणाभेदेष्वेवैष प्रकारः, किन्तु सर्वेषु मार्गणाभेदेषु मार्गणागतजीवै-र्बाहुल्येन सर्वावस्थायां सप्तानामनुत्कृष्टस्थितिवन्ध एव निर्वर्त्यते, अतः सर्वमार्गणाभेदेषु यावत्पुत्कृष्ट-स्पर्शना लभ्यते तावती सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां द्रष्टव्या भवति, तत्कथमेतावत्सु मार्गणाभेदेष्वेव तथोच्यते ? इति चेत्, सत्यम्, यतोऽन्यमार्गणाभेदेष्वपि तथैव दर्शयिष्यते; नवरं लाघवार्थमेतेषुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां स्पर्शनायास्तुल्यवक्तव्यत्वात् तथैवातिदिष्टेति ॥३५७-३५८॥

उक्तशेषमार्गणाभेदेष्वेकगाथया प्रकृतस्पर्शनामाह—

देसम्मि पंच भागाऽणुक्कोसाए ठिईअ सत्तण्हं ।

छिहिओ हवेज्ज सव्वा सेसासु' फोसिओ लोगो ॥३५९॥

(प्रे०) “देसम्मि” इत्यादि, देशसंयममार्गणायां सप्तकर्मणामनुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकै-स्त्रसनाडीमत्का पञ्च चतुर्दशभागाः स्पृष्टा भवन्ति । उक्तशेषासु तु सप्तोत्तरशतमार्गणासु सर्वो लोकः स्पृष्टः, सप्तकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकैरित्यनुवर्तते । इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्—देशसंयम-मार्गणायांभा रणसमुद्घातेन तिर्यग्भिः सहस्रारकल्पं यावत् स्पर्शनात् तिर्यग्लोकादारभ्य सहस्रारकल्प-पर्यन्ता या त्रसनाड्यन्तर्वर्तिपञ्चरज्जुक्षेत्रप्रमाणा स्पर्शना सैवदेशविरतिमार्गणायामुत्कृष्टस्पर्शना, सैव प्राग्बदनुत्कृष्टस्थितिवन्धकानामपीति पञ्च भागा उक्ताः । उक्तशेषमार्गणासु पुनः प्रत्येकं सूक्ष्मसाधारणवनस्पतिकायतयोत्पिस्तुभिर्जीवैर्मरिणसमुद्घातेन सर्वो लोकः स्पृश्यते, तथा च सति तासु प्रत्येकमुत्कृष्टस्पर्शनाऽपि सम्पूर्णलोकोऽवाप्यते, सैव पूर्वबदनुत्कृष्टस्थितिवन्धकानामपीति ।

शेषमार्गणास्त्वमाः—पञ्चापि तिर्यग्गतिभेदाः, तथैव चत्वारोऽपि मनुष्यगतिमार्गणा-
भेदाः, एकोनविंशतिरपीन्द्रियमार्गणाभेदाः, द्विचत्वारिंशदपि कायमार्गणासत्कभेदाः, पञ्च मनोयोग-
भेदाः, पञ्च बचोयोगभेदाः, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगौ-दारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाय-
योग-स्त्रीवेद-पुंवेद-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकपाय-मत्यज्ञानादिव्यज्ञाना-ऽसंयम-चक्षु-रचक्षुर्दर्शन-
कृष्ण-नील-कापोतलेख्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यान्व-संज्ञ-ऽसंज्ञ-ऽऽहार्य-ऽनाहारिमार्गणाश्चेति । ३५९।

तदेवमुक्ता मसकर्मणामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकस्पर्शनाऽप्यादेशतो मार्गणास्थानेषु । साम्प्रतं
प्रागोद्यत उक्तेतिकृत्वाऽऽयुर्विषयामपि तामादेशतो चिकथयिपुरादायुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानामाह—

आउस्स बंधगेहिं देव-सहस्मारअंत-विउवेसुं ।

उक्कोमाअ ठिईए भागा आलुंखिआ अट्टु ॥३६०॥

(प्रे०) “आउस्स बंधगेहिं” इत्यादि, देवगतयोध-भवनपत्यादिषु सहस्रारकल्पान्तेषु
द्वादशदेवगतिभेदेषु वैक्रियकाययोगे च प्रत्येकमायुष उत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकैरष्टौ चतुर्दशभागाः
“आलुंखिआ” त्ति ‘स्पृशः फास-फं न-फरिस-छिध-छिद्वा-ऽऽलुङ्गा-ऽऽलिहाः’ (सिद्धहेम० ८।४।
१८२) इत्यनेन सूत्रेण स्पृशः ‘आलुङ्ग’ इत्यादेशः, ततः स्पृष्टा इत्यर्थः । इयमत्रोपपत्तिः—
क्षेत्रप्ररूपभावात् स्पर्शनाप्ररूपणायामप्यायुषः स्थितिवन्धकानां मारणममुद्घातप्राप्ता स्पर्शना नैव
युज्यत इति प्रागेवभिहितम्, तथा सति मारणममुद्घातप्राप्यस्पर्शनां विहाय या स्वस्थान-
गमनागमनक्षेत्रापेक्षया स्पर्शना प्राप्यते, तदपेक्षया चिन्त्यमाना प्रकृतत्रयोदशमार्गणासु प्रत्येकमष्टौ
रज्जव उत्कृष्टस्पर्शना प्राप्यते । कथम् ? भवनपत्यादिदेवानामधस्तृतीयां पृथिवीं यावदुपरि चाच्युत-
कल्पं यावद्गमनागमनयोरभिमतत्वात् तदानीमुत्कृष्टस्थितिकायुर्वन्धस्यापि सम्भवाच्चेति ॥३६०॥

प्रकृतस्पर्शनामेवान्यत्राह—

छिविआ होज्ज छ भागा चउसुं देवेसु आणताईसुं ।

देसूणजगं पुट्टं वायरअसमत्तवाउम्मि ॥३६१॥

(प्रे०) “छिविआ होज्ज” इत्यादि, प्रकृतेरायुष उत्कृष्टस्थितेर्वन्धकैस्त्रसनाडया षट् चतु-
र्दशभागाः स्पृष्टा भवन्ति । कियन्मार्गणाभेदवित्याह—“चउसुं” इत्यादि, आनत-प्राणता-ऽऽरणा-
ऽच्युतकल्परूपेषु चतुर्विंशतिदिषु देवगतिसत्कमार्गणाभेदेष्वित्यर्थः । सुगमं चैतद्, यत आनतकल्पादि-
सुराणामूर्ध्वमच्युतकल्पं यावद्गमनेऽप्यधस्तिर्यग्लोकात् परतोऽगमनात् महस्त्रारान्तदेववचाष्टरज्जु-
स्पर्शना, किन्तु षड् रज्जव एव । शेषं त्वनन्तरोक्तमहस्त्रारान्तदेवमार्गणास्थानवदेव भावनीयमिति ।
“देसूणजगं पुट्टं”मिति, प्राग्वादायुष उत्कृष्टस्थितेर्वन्धकैर्देशीनम्-असंख्येयतमेनैकभागेनोनं
जगत् स्पृष्टं भवतीत्यर्थः, । कस्यां मार्गणायामित्याह—“वायरअसमत्तवाउम्मि” त्ति अपर्याप्त-

बादरवायुकायमार्गणायामित्यर्थः । कुतः ? स्वरथानमपेक्ष्योत्कृष्टस्पर्शनायास्तावन्मात्रत्वादिति ॥३६१॥

शेषमार्गणास्वेकया गाथयाऽधिकृतस्पर्शनामाह—

सर्वेषुं सुहुमेसुं लोगो सर्वो वि फासिओ होज्जा ।

सेसामु होइ छिविओ अमंस्वभागो उ लोगस्स ॥३६२॥

(ब्र०) “सर्वेषु” इत्यादि, औघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नन्वेकेन्द्रियपथिव्यादिसम्बन्धि-
ष्वष्टादशसंख्याकेषु सर्वेष्वपि सूक्ष्मजीवभेदेषु, प्रकृतत्वादायुष उल्कृष्टस्थितेर्वन्धकैलोकः सर्वोऽपि
स्पष्टः, न पुनरपर्याप्तबादरवायुकायवदेकदेशेनो न इत्यपिशब्दार्थः । कुतः ? सूक्ष्मजीवभेदानां
प्रत्येकं स्वस्थानापेक्षयाऽपि सर्वलोकव्यापित्वादिति ।

“सेसासु” ति अनन्तरोक्तदेवगत्योघमार्गणाय आरभ्य सर्वसूक्ष्मपर्यन्ताः षट्त्रिंशन्मार्गणा-
स्त्यक्त्वा शेषासु यास्वायुर्वन्धो भवति तासु सप्तविंशत्यभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । शेष-
मार्गणा नामत इमाः—अष्टावपि नरकगतिभेदाः, पञ्चापि तिर्यग्गतिभेदाः, चत्वारोऽपि मनुष्यगति-
भेदाः, नव ग्रै वयकविमानभेदाः, पञ्चानुत्तरविमानभेदाः, इत्येवमेकत्रिंशद्भित्तमार्गणासत्कभेदाः । एके-
न्द्रियाँघ-बादरैकैन्द्रियाँघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदाः, विकलेन्द्रियसत्का नव भेदाः, पञ्चेन्द्रियसत्का-
स्त्रयो भेदाः, इत्येवमिन्द्रियमार्गणासत्काः षोडश भेदाः । पृथिवीकायसत्का औघ-बादरौघ-तत्पर्याप्ता-
ऽपर्याप्ता इत्येवं चत्वारो भेदाः, एवमेवापकायसत्कचतुर्भेदाः, तेजस्कायसत्कचतुर्भेदाः, वायुकायसत्कास्तु
बादरापर्याप्तवर्जास्त्रयो भेदाः, माधारणवनस्पतिकायसत्कास्तु चत्वारोऽपि, वनस्पतिकार्याँघमार्गणाभेदाः,
प्रत्येकवनस्पतिकायसत्कास्त्रयो औघ-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्त्रयः, एवं त्रसकायसत्का अपि त्रयो भेदा
इत्येवं षट्त्रिंशतिः कायमार्गणासत्कभेदाः । पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, काययोगमा-
मान्याँ-दारिकौ-दारिकमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगा इत्येवं पञ्चदश योगमार्गणासत्कभेदाः,
तथा त्रिवेद-चतुःकपाय-चतुर्ज्ञान-व्यज्ञान-सूक्ष्मसस्परायवर्जपटुसंयमभेद-त्रिदर्शन-पन्लेश्या-भव्या-
ऽभव्य-सम्यक्त्वाँघ-क्षायिक-क्षायोपशमिक-सासादन-मिथ्यात्व-मंश्य-ऽमंश्या-ऽऽहारिमार्गणाश्चेति ।

एतासु सप्तविंशत्युत्तरशतशेषमार्गणासु किमित्याह—“होइ छिविओ” इत्यादि, एतासु
प्रत्येकमायुष उल्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां तन्प्रायोग्योत्कृष्टसंक्रियानां जीवानां स्वस्थानक्षेत्रं लोकाऽसंख्येय-
भागमात्रमत उक्तनीत्या स्पर्शनापि तावन्मात्रा लोकासंख्येयभागमानैवेत्यर्थः । न चैकेन्द्रियादिकृति-
पयमार्गणासु आयुष उल्कृष्टस्थितिबन्धः पूर्वकोटिवर्षप्रमाणः, स च तत्तन्मार्गणागतैः सूक्ष्मैकेन्द्रियै-
रपि निर्वर्तयितुं शक्यते, ते च सूक्ष्मैकेन्द्रियाः स्वस्थानक्षेत्रमपेक्ष्यापि सर्वलोकव्यापिनस्तत्कथं
तास्त्रैकेन्द्रियादिमार्गणास्वपि प्रकृतस्पर्शना लोकासंख्येयभागमात्रोच्यत इत्याशाङ्कधम् । यतोऽत्र
कर्मरूपतावस्थानलक्षणः स्थितिबन्धोऽधिकृतः, स चोत्कृष्टाऽबाधासमेतोत्कृष्टनिपेककालप्रमाणः सन्तु-
त्कृष्टस्थितिकैरेकेन्द्रियादिजीवैरेव निर्वर्तयितुं शक्यते, देव-निरयभेदवर्जासु मार्गणासत्कृष्टाबाधाया

उत्कृष्टमवस्थितिसव्यपेक्षत्वात् । एकेन्द्रियादिमार्गणासुत्कृष्टायुष्कजीवा न सूक्ष्मा अपर्याप्ता वा, किन्तु खरवादरपृथिवीकायादिरूपाः; तेषां चोत्कृष्टमपि स्वस्थानक्षेत्रं लोकासंख्येयभागमात्रमतः स्पर्शनाऽपि तावन्मात्रेति कृत्वा तथैवोच्यते ।

अत्र हि वादरापर्याप्तैकेन्द्रियमार्गणायामौदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां च प्रत्येकमायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धकानां देशोलोकव्यापिनामपर्याप्तवादरवायुकायजीवानां समावेशादुत्कृष्टस्पर्शना स्वस्थानक्षेत्रापेक्षयाऽपि देशोलोकप्रमाणा सम्भवति । अन्यच्च पर्याप्तवादरवायुकायमार्गणाया- मप्यनया युक्त्या देशोलोकमिता स्पर्शना वक्तव्या भवति । यद्यप्येवं तथापि उक्ता तु लोकाऽसंख्यभागमात्रा, सा तु पर्याप्तवादरपृथिवीकायमार्गणायां यथोत्कृष्टायुष्कजीवाः खरवादर- पृथिवीकायिका एव सन्ति, नान्ये, तथैव पर्याप्तवादरवायुकायमार्गणायामप्युत्कृष्टायुष्कजीवाः केचन् ध्वनत्वात्त्रलयादिगता एव स्युरिति सम्भावनया बोद्धव्या; अन्यथा सर्वत्रगतानां तेषां पर्याप्त- वादरवायुकायिकजीवानामप्युत्कृष्टायुष्मन्त्वे तेषामप्युत्कृष्टावाधया लाभाद् उत्कृष्टस्थितिकोषोर्वन्धस्य विहितत्वाच्च वादरवायुकायानामुत्कृष्टस्वस्थानप्रमाणोत्कृष्टस्पर्शनाऽपि देशोलोकः सम्पद्येत । तदत्र तन्त्रज्ञैरामेक्षिकयाऽवलोक्याऽवधारणीयेयमिति ॥३६२॥

अथाऽऽयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां स्पर्शनां मार्गणास्थानेषु दिदर्शयिषुरादीं तावद्यासु मार्गणासु सा स्पर्शना सर्वलोकप्रमाणा ता मार्गणाः सङ्गृह्याह—

तिरिये एगिंदिय-पणकाय-णिगोएसु सव्वसुहुमेसु ।

कायु-रलदुग-णपुम-चउकसाय-दुअण्णाण-अयतेसु ॥३६३॥

अणयण-असुहत्तिलेसा-भवि-यियर-ऽऽहार-मिच्छ-अमणेसु ।

सव्वो लोगो छुविओ आउस्स टिईअ अगुरूए ॥३६४॥

(प्रे०) “तिरिये एगिंदिये” त्यादि, तिर्यग्भावोद्यमेदे, पृथिवीकायादिवनस्पतिकायान्तेषु पञ्च- कायसन्केष्वोद्यमेदेषु, “निगोएसु” ति माधारणवनस्पतिकायौद्यमेदे, सर्वेष्वष्टादशस्वपि सूक्ष्म- केन्द्रियादिषु सूक्ष्मभेदेषु तथा “काये” त्यादि, काययोगमामान्या-दारिकौ-दारिकमिश्रकाययोग- नपुं सकवेद-चतुःकपाय-मत्पज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयममार्गणाभेदेषु, तथा “अणयणे” त्यादि, अचक्षुर्दर्शना-ऽशुभकृष्णादिलेश्यात्रय-भव्य-तदितराभव्या-ऽऽहारि-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिमार्गणामेदेषु क्षेत्रेषु पट्चत्वारिंशन्मार्गणाभेदेष्वित्यर्थः । एतेषु किमिन्याह—“सव्वो” इत्यादि, एतेषु प्रत्येक- मायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धकानां सूक्ष्मपृथिवीकायाद्यन्यतमानां सूक्ष्मजीवानां समावेशात् तेषां स्वस्था- नक्षेत्रापेक्षयाऽपि सर्वलोकव्यापिन्वाच्चाऽऽयुषोऽनुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकैः सर्वो लोकः “छुत्त”- स्पृष्ट इत्युक्तमिति गाथाद्वयार्थः ॥३६३-३६४॥

साम्प्रतं यासु मार्गणास्वायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकैरष्टौ रज्जवः स्पृष्टास्ताः सङ्गृह्याह—

देव-ऽट्टमंतमुर-दुपणिंदितस-पणमणवयण-विउवेसु ।

थी-गुम-तिणाण-विव्भंगो-हि-णयण-तेउ-पम्हामुं ॥३६५॥

सम्मत्त-खइअ-वेअग-सामण-मणीसु अट्ट छिप्पीअ ।

(ग्र०) “देवट्टमंते” त्यादि, देवगत्योषः, सहस्रारकल्पान्ता अन्ये एकादश सुरगति-भेदाः, ओष-पर्याप्तभेदभिन्नौ द्वौ पञ्चेन्द्रियमार्गणभेदौ द्वौ त्रयकायमार्गणभेदौ च, पञ्च मनोयोग-भेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, त्रिक्रियकाययोगभेदश्चेत्येतेषु, तथा “श्रीपुष्पे” त्यादि, स्त्रीवेद-पुरुषवेद-मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-विभङ्गज्ञाना-ऽवधिदर्शन-चक्षुर्दर्शन-नेत्रोलेक्षया-पत्रलेक्षयामार्ग-णामु, तथा “सम्मत्ते” त्यादि, सम्पत्कल्याण-क्ष-यिक-आपोपशमिक-सामाइन-संज्ञिमार्गणामु चेत्येतासु द्वित्रिचत्वारिंशन्मार्गणामु ग्रन्थेऽहम्, “अट्ट छिप्पीअ” ति अष्टौ रज्जवोऽस्पृश्यन्त, आयुषो-ऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकैरिति प्रकरणाद्गम्यते । अत्र हि भवनपत्यादिदेवानामच्युतकल्पादारभ्याधस्तृ-तीयभूमिं यावद् यद् गमनागमनक्षेत्रं तदपेक्षयाऽष्टौ रज्जवः स्पर्शना प्राग्बद्धवसत्तव्या ।

न च पञ्चेन्द्रियन्त्रादिभावानां तृतीयभूमेः परतोऽधस्तननारकांश्चपि सत्त्वाधिकस्पर्शना-ऽपि लभ्येतेति वाच्यम् । आयुर्वन्धकानां स्पर्शनायाः स्वस्थानक्षेत्रापेक्षया गमनागमनक्षेत्रापेक्षया वा लभ्यात्, नारकाणां स्वस्थानक्षेत्र-गमनागमनक्षेत्रयोर्लोकसंख्येयभागमात्रत्वाच्च साऽष्टौ रज्जवः स्पर्शना न कयाचिदेकादिज्ज्याऽधिक्या लभ्यन्ते, लोकसंख्येयभागस्पर्शना तु यत्र केवलं तावन्मात्रा तत्रैव प्रदश्यन्ते, नान्यत्र, अन्यथा एषा देवानामष्टरज्जुस्पर्शनाऽपि देशेनो नैव वक्तव्या भवेत् । कुतः ? तिर्यक् स्वयम्भूरमणसमुद्रवेदिकायाः परभागेषु भवनपत्यादिदेवानामनुत्पादात् । उक्तं च लोकप्रकाशततोयसर्गे भवनपत्यादीनां तैजसशरीरस्योत्कृष्टावगाहनां भावयद्भिः श्रीम-द्विनयविजयविबुधवरैः—

‘तिर्यक् स्वयम्भूरमणापरान्तवेदिकावधि । ऊर्ध्वं तथेपत्प्राग्भारापृथिव्यूर्ध्वतलावधि ॥५८॥

एतावदन्नं पृथिवीकायत्वेन समुद्भूयान् । ततः परं च पृथिवीकायादीनामसम्भवान् ॥५९॥’ इति ।

इत्थं हि लोकसंख्येयभागरूपणैकदेशेन न्यूनताऽधिकता वाऽत्र ग्रन्थे विस्तरभयात्स्फुटं नोक्ता, सा त्वधस्तननरकाद्यपेक्षया लभ्यमानाऽलभ्यमाना वा यथासम्भवं स्वयमेव योज्या ।

ननु भवतु स्त्रीवेदवर्जासु देवगत्योषाद्येकचत्वारिंशन्मार्गणामु प्रस्तुतस्पर्शनाऽष्टौ रज्जवः, न पुनः स्त्रीवेदमार्गणायां सा सङ्गतिमङ्गति, ‘उववाओ देवीणं कप्पदुगं जा परओ सहस्सारा । गमणा-गमणं तत्थी अरुचुअपरओ सुराणं पि’ इति वचनेन भवनपत्यादिदेवानामूर्ध्वमच्युतकल्पं यावद् गमना-ऽऽगमनस्य विहितत्वेऽपि देवीनां तस्य सहस्रारकल्पात् परतः प्रतिपिद्धत्वाद् ? इति चेत्, सत्यम्, किन्तु न एवमेव, यतोऽन्यत्र देवीनां गमनमूर्ध्वमच्युतकल्पं यावदभिमतम्, तथा

चाभाणि कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरि दुःकृष्टवैर्योगशास्त्रस्वोपज्ञवृत्तौ—

‘उत्पत्तिर्देवीनामा ईशानान्, गमनं च धा अच्युतान् ।’

एवं त्रिषष्टिशलाकागुरुष्वचरित्रेऽपि कथितम्, यत्—

“जा ईशानान् समुत्पत्तिर्देवीनां गतिराच्युतान्” इति । इत्थं स्त्रीवेदमार्गणायास्तुक्ताष्टरज्जु-
स्पर्शना ना सङ्गतेति ॥३६५॥ अथान्यत्र प्रस्तुतस्पर्शनामाह—

परिफोसिआ छ भागा चउआणतआइमुइलामुं ॥३६६॥

(प्रे०) ‘परिफोसिआ’ इत्यादि, परिस्पृष्टाः षड् ‘भागाः’-रज्जवः । केषु मार्गणा-
भेदेष्वित्याह—“चउआणत” इत्यादि, चतुर्ष्वानतकल्पादिदेवगतिभेदेषु शुक्लेश्यामार्गणायां
षेत्यर्थः । सुगमं चतत्, आनतादिदेवानां तिर्यग्लोकादधो नारकनिवासेष्वगमनात्, शुक्लेश्याया-
मप्यानतादिदेवापेक्षयैवोत्कृष्टस्पर्शनाया लाभाच्चेति ॥

शेषमार्गणास्वेकयाऽऽर्ययाऽऽयुषोऽनुकृष्टस्थितेर्वन्धकस्पर्शनामाह—

देसूणजगं वायरशगिदिथवाउमव्वभेण्णुं ।

सेसासु असंखयमो भागो लोगस्म छुहिओऽत्थि ॥३६७॥

(प्रे०) “देसूणजगं” इत्यादि, ओष-पर्याप्त-ऽपर्याप्तभेदाभिन्नेषु सर्वेषु वादरैकेन्द्रिय-
भेदेषु, सर्वेषु वादरवायुकायभेदेषु च प्रत्येकं वादरपर्याप्त-वादरापर्याप्तान्यतस्वायुकायजीवानां ममा-
वेशान् तेषां स्वस्थानतोऽपि देशानलोकव्यापित्वाच्च प्रस्तुतस्पर्शनाऽपि “देसूणजगं” ति
देशानं जगल्लभ्यत इति । “सेसासु” ति तिर्यगन्योषाद्या अनन्तरोक्ता नवनवतिमार्गणा
विहाय शेषासु चतुःषष्टिमार्गणासु प्रत्येकम् “असंखयमो” ति लोकस्याऽसंख्यतमो भागः
स्पृष्टोऽस्ति, आयुषोऽनुकृष्टस्थितेर्वन्धकैरिति गम्यते । चतुःषष्टिशेषमार्गणास्तु नामत
इमाः—नरकौष-ममनरकपृथिवीभेदाः, चत्वारभिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः,
नव ग्रंथयकभेदाः, पञ्चानुत्तरभेदाः, नव विकलेंद्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाभेदः, ओष-
पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नास्त्रयो वादरपृथिवीकायभेदास्तथैव त्रयो वादराष्कायभेदास्त्रयो वादरतेज-
स्कायभेदास्त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदास्त्रयो वादरमाधारणवनस्पतिकायभेदास्तथाऽपर्याप्तत्रस-
कायमार्गणाभेदः, आहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-
छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयममार्गणाभेदा इत्येति । एतेषु चतुःषष्टिमार्गणाभेदेष्वन्यतम-
मार्गणाभेदेऽपि स्वस्थानक्षेत्रापेक्षया गमनागमनक्षेत्रापेक्षया वा लोकसंख्येयभागादधिकस्पर्शना-
ऽऽक्षेपकानां सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तवादरवायुकायिकानामच्युतकल्पान्तानां देवानां वा प्रवेशा-
भावात् स्पर्शनाऽपि लोकसंख्येयाभागादधिका नैव सम्पद्यते, अतोऽन्यविकल्पानुपेक्ष्य मार्गणा-
प्रविष्टजीवानां स्वस्थानक्षेत्रापेक्षया लोकसंख्येयभागमात्रा स्पर्शना दर्शितेति ॥३६७॥

तदेवमुक्ताऽष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकानां स्पर्शनीघत आदेशतश्च ।
साम्प्रतं जघन्याजघन्यस्थित्योर्बन्धकस्पर्शनाप्रदर्शनावसरः, तत्रादौ तावदोधतो व्याजिहीषुराह—

सत्तण्ह असंखंसो जगस्स हस्साअ फोसिओ सव्वो ।

लोगो अजहण्णाए आउस्स ठिईण दोण्हमवि ॥३६८॥

(प्रे०) “सत्तण्हे” त्यादि, पदानां यथायथं योजनात् समानामायुर्वर्जानां ज्ञानावरणादि-
प्रकृतीनां ‘ह्रस्वायाः’-जघन्यायाः स्थितेर्वन्धकैर्‘जगतः’-लोकस्य ‘असंख्याशः’-असंख्यतमेकभागः
स्पृष्ट इत्यर्थः । कथम् ? क्षपकश्रेणिगतैर्महर्षिभिरेव ज्ञानावरणादिसत्क्रौधिकजघन्यस्थिकिवन्धस्य
निर्वर्तनात् तेषां मारणसमुद्घातादेरसम्भवान्चेति । “सव्वो लोगो” इत्यादि, मूलप्रकृतीनाम-
जघन्यायाः स्थितेरायुषो “दोण्हमवि” ति जघन्याऽजघन्योर्द्वयोरपि स्थित्योर्बन्धकैः प्रत्येकं
सर्वो लोकः स्पृष्ट इत्यर्थः । तत्र सप्तकर्मणामजघन्यस्थितेर्वन्धकानां सर्वलोकस्पर्शना सुगमा । आयुषो
जघन्याजघन्यस्थित्योर्बन्धकाः सूक्ष्मैकेन्द्रिया अपि भवन्तीति तत्रापि सर्वलोकस्पर्शनिव लभ्यते,
सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां स्वस्थानक्षेत्रोऽपि सर्वलोकव्यापित्वादिति ॥३६८॥

अथादेशतो विभणिपुरादावायुर्वर्जसप्तकर्मणां जघन्यस्थितेर्वन्धकानां स्पर्शनामाह—

एगिंदिय-वाऊसुं तेसिं सव्वेसु वायरेसुं च ।

तिरि-युरलमीस-कम्मण-दुअणाण-ऽयत-कुलेसासुं ॥३६९॥

अभविय-अमणंसुं तहा मिच्छा-ऽणाहारगेषुं देसूणो ।

लोगो जहण्णाए ठिईअ सत्तण्ह छिप्पीअ ॥३७०॥

(प्रे०) “एगिंदिये”त्यादि, एकेन्द्रियौघ-वायुकार्यौघभेदौ तयोस्तथा “तेसिं सव्वेसु
वायरेसुं” ति तयोरेकेन्द्रियवायुकार्योरे वादरौघ-तत्पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदभिन्नाः सर्वे वादरभेदा-
स्तेषु, वादरैकेन्द्रियौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदेषु वादरवायुकार्यौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदेषु चेत्यर्थः ।
चकार उक्तानुक्तमार्गणाभेदानां समुच्चये । तत्रानुक्तमार्गणाभेदानाह—“तिरियुरलं”त्यादिना,
तिर्यगात्सोर्षा-दारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोग-मन्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयममार्गणाभेदेषु “कु-
लेसासुं” ति दुर्गतिनिबन्धनत्वात् कुत्सितासु-अप्रशस्तासु कृष्ण-नील-कापोताख्यासु तिसृषु
कुलेश्यामार्गणासु तथा “अभविये” त्यादि, अव्यमार्गणायामसंज्ञिमार्गणायां मिथ्यान्वमार्गणाया-
मनाहारिमार्गणायां चेत्यर्थः । एतेष्वेकविंशतिमार्गणाभेदेषु किमित्याह—“देसूणो लोगो”
इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां जघन्यायाः स्थितेर्देशोनो लोकोऽस्पृश्यत, बन्धकै-
रिति शेषः । एषा हि देशोलोकस्पर्शना येषु मार्गणास्थानेषु पर्याप्तवादरवायुकायजीवाः प्रविष्टा-
स्तेष्वपर्याप्तवादरैकेन्द्रियाऽपर्याप्तवादरवायुकायमार्गणाभेदवर्जेष्वेकाविंशतिमार्गणास्थानेषु पर्याप्तसंज्ञि-

पञ्चेन्द्रियतयोत्पित्तानां मारणास्तिकममुद्धानेन तिर्यग्लोकं यावन्निक्षिप्तस्वात्मप्रदेशदण्डानां स्व-
स्थानस्थितानां वा पर्याप्तबादरवायुकायानामुत्कृष्टस्पर्शनापेक्षया भावनीया । अपर्याप्तबादरैकेन्द्रिया-
ऽपर्याप्तबादरवायुकायमार्गणाद्वयेऽपि तथैव, नवरं तथाविधानामेवापर्याप्तबादरवायुकायिकाना-
मुत्कृष्टस्पर्शनापेक्षयेति विशेष इति ॥३६९-३७०॥

यत्र प्रस्तुतस्पर्शनाऽर्था रज्जवस्तत्र तथैवाह—

अट्ट फरिसिआ भागा जोइसपहुडीसु अट्टमंतेसुं ।
देवेषु विउव-सासण-मीसेसुं हुन्ति णायव्वं ॥३७१॥

(प्रे०) “अट्ट फरिसिआ” इत्यादि, ज्योतिष्कप्रभृतिष्वष्टमसहस्रारकल्पान्तेषु “देवेषु”
देवगतिमार्गणाभेदेषु, त्रैकियकाययोग-सासादन-मिश्रदृष्टिमार्गणाभेदेषु चार्था भागाः स्पृष्टा
भवन्तीति ज्ञातव्यम् । सप्तकमणा जघन्यस्थितेर्वन्धकैरिति त्वनुवृत्त्या द्रष्टव्यम् । भावना तु प्राग्बत्
सहस्रारकल्पान्तानां देवानां गमनागमनप्राप्तस्पर्शनापेक्षयैव कर्तव्या, न त्वीपन्प्राग्भागपृथिव्यामे-
केन्द्रियतयोत्पित्तानां समुद्घातकृतस्पर्शनापेक्षया, तदानीं स्वप्रायोग्यसर्वानिकृष्टस्थानाभिसृज्यतया
तेषामीजानान्तदेवानां जघन्यस्थितिवन्धाभावादिति ॥३७१॥

अन्यप्राधिकृतस्पर्शनामाह—

छ फरिमिआ खलु भागा चउसुं देवेषु आणताईसुं ।
मव्वेषुं सुहुमेषुं सव्वो होज्ज फुमिओ लोगो ॥३७२॥

(प्रे०) “छफरिमिआ” इत्यादि, “सव्वेषुं सुहुमेषुं” इत्यादि, च सुगमम् ।
केवलं षड्भागस्तिर्यग्लोकादारभ्यान्नुत्कल्पपर्यन्ता ऊर्ध्वलोकमन्विन इति ॥३७२॥

उक्तशेषमार्गणाभ्यार्याधेनाह—

सेसासु जहण्णाए असंखभागो जगस्स उ फरिमिओ ।

(प्रे०) “सेसासु जहण्णाए” इत्यादि, अनन्तरमेव “णगिदियवाउसु” मित्यादिगाथा-
चतुष्कोक्तप्रस्तुतस्पर्शनाः पञ्चपञ्चाशन्मार्गणा विवर्ज्य शेषासु नरकगत्योधादिषु पञ्चदशोत्तरशतमार्ग-
णासु “जहण्णाए” ति सप्तप्रकृतीनां जघन्याः स्थितेः, बन्धकैरिति गम्यते । तैः किमित्याह—“असंख-
भागो” इत्यादि, सुगमम् । नास्तस्तु शेषमार्गणा अस्तुः—अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारः
पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, चत्वारोपि मनुष्यगतिभेदाः, देवगत्योद्य-भवनपति-व्यन्तर-नवग्रं वेपक-पञ्चा-
ऽनुत्तररूपाः सप्तदश देवगतिमार्गणाभेदाः, विकलेन्द्रियसत्का नव भेदाः, पञ्चेन्द्रियसत्कास्त्रयः,
पृथिवीकाया-ऽऽकाय-तेजस्काय-वनस्पतिकायरूपाश्चत्वार औधमार्गणाभेदाः, तथा बादरपृथिव्यसंजः-
प्रत्येकवनस्पति-बादरसाधारणवनस्पतिसत्का औध-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नाः प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भेदाः,

साधारणवनस्पतिकार्याधमार्गणाभेदस्तथा त्रयस्यैकायभेदाः, एतन्नोयोग-पञ्चवचनयोग-काययोग-सामान्यौ-दारिक-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगाः, त्रयो वेदाः, अपगतवेदः, क्रीडादि-चतुःकपायाः, मनि-श्रुता-ऽवधिज्ञानानि विभङ्गज्ञानम्, संयमौघ-सामायिक-च्छेदोपस्थापन-परिहारवि-शुद्धिक-सूक्ष्मसम्प्राय-देशसंयमरूपाः षट् संयममार्गणभेदाः, चक्षु-रक्षु-रवधिदर्शनानि, शुभलेस्याप्रयम्, भव्य-सम्यक्त्वाघ-क्षायिक-क्षायोपशमिका-पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञया-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति ।

तत्र प्रथमभूमिनरकभेदे सप्तानां जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यश्छुत्वा नारक-तयोत्पद्यमाना अन्तरालगतिस्थाः भवप्रथमद्वितीयसमये वर्तमाना जीवा एव, तैश्च तिर्यग्लोकादष्टमरज्जु-प्रारम्भमागात् सप्तमरज्जुप्रान्तभागेऽऽगच्छद्विर्लोकसंख्यभाग एव स्पश्यते । एवमेव नरकाधमार्गणाभेदे-ऽपि द्रष्टव्यम्, देवाघ-भवनपति-व्यन्तरदेवभेदेऽप्यर्थात्तमनुष्यभेदे चैवमेव, नवरं तत्तन्मार्गणागतदेवादि-जीवापेक्षया । शेषद्वितीयपृथिव्यादिनरकभेदेषु तु मरणसमुद्घातकाले मत्तानां जघन्यस्थितिवन्धस्य सम्भवेऽपि लोकासंख्येयभागमात्रेव स्पर्शना लभ्यते । कुतः ? मनुष्यतयोत्पित्स्वनामेव जघन्यस्थिति-वन्धसम्भवात् । कस्मादेवम् ? उच्यते, यथा मुमुषु जीवेषु स्वप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टपारमविकोत्पत्तिस्थाना-भिमुखानामेवोत्कृष्टस्थितिवन्धः सम्भवति, तथा जघन्यस्थितिवन्धोऽपि स्वप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टपारमविको-त्पत्तिस्थानाभिमुखानामेव भवति । नारकाणां तु स्वप्रायोग्यमवोत्कृष्टं पारमविकमुत्पत्तिस्थानं मनुष्य-गतिरेव, अतो मारणसमुद्घातेऽपि तदभिमुखानामेव जघन्यस्थितिवन्धसम्भव इति ।

न च सप्तभूमिनारकाणां स्वप्रायोग्यं सर्वोत्कृष्टमपि पारमविकोत्पत्तिस्थानं पञ्चेन्द्रिय-तिर्यक्त्वम्, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्तया तु स्वयम्भूरमणममुद्रं यावदुत्पत्तिः सम्भवति, तथा च तदभिमुखानां जघन्यस्थितिवन्धसम्भवात्तेषां प्रकृतस्पर्शना षड्ज्जवोऽत्राप्येतेति वाच्यम् । यतस्तदानीं तिर्यक्त्वाभि-मुखानां तेषां सम्यक्त्वाभावात् न जघन्यस्थितिवन्धः, किन्तु स्वस्थानगतानां सम्यग्दृष्टिर्नरयि-काणामेव, अतः स्पर्शनाऽपि स्वस्थानक्षेत्राऽपेक्षया लोकासंख्येयभागमात्राऽवाप्यत इति । अपर्याप्त-भेदवर्जेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यकसत्केषु त्रिषु भेदेषु स्वस्थानस्थितानां भवनपतितया व्यन्तरतया वोत्पित्स्वनां मारणसमुद्घातगतानामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेव जघन्यस्थितिवन्धभावाज्जल्लोकासंख्यभागमात्रोक्तैति ।

शेषमार्गणाभेदेषु कामुचिन्पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणामु स्वस्थानस्थितानामेव कामुचित्पुनर-पर्याप्ततिर्यक्यञ्चेन्द्रियादिषु लोकासंख्येयभागमात्रे स्वस्थानक्षेत्रे स्थितानां मारणसमुद्घाते मनुष्य-गत्यभिमुखानामेव वा सप्तकर्मसत्कजघन्यस्थितिवन्धस्य सम्भवात् स्पर्शनापि तदनुसारेण लोकाऽसं-ख्येयभागमात्रोक्ता ।

ननु 'सत्तमिहनेरहणं तेऽऽ वाऽऽ असंख्यनरनिरिण । मुत्तूण सेसजीवा उप्पज्जति नरभवस्मि ।' इत्यादिवचनात् तेजस्कायिकानां मनुष्यतयोत्पादाभावेन मनुष्यत्वामिमुखताऽपि न सम्भवति, न च सावन्मात्रम्, किन्तु तथा सति तेषां स्वप्रायोग्यसर्वोत्कृष्टमुत्पत्तिस्थानं पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्वम्, तदभिमुखानां मारणसमुद्घातकाले जघन्यस्थितिवन्धसम्भवे तेजस्कार्याधमार्गणादावधिकाऽपि

स्पर्शना स्याद् ? इति चेद्, न, तेजस्कायौघादिषु चतुर्मार्गणामु सप्तकर्मणां जघन्यस्थितेर्बन्धका वादरतेजस्कायिका एव, ते च स्वस्थानक्षेत्रमपेक्ष्य मनुष्यलोके एव वर्तन्ते, ततश्च मनुष्यलोका-
त्तिर्यग्लोक एव पञ्चेन्द्रियतिर्यक्तयोत्पिन्सूनां तेषां मारणसमुद्घातापेक्षयाऽपि लोकासंख्येयभाग-
मात्रस्पर्शनिव लभ्यत इति ॥

तदेवमोक्षतः सप्तकर्मणां जघन्यस्थितिवन्धकविषया स्पर्शनोक्ता । तेषामेवाऽजघन्यस्थिति-
बन्धस्तु सामान्यतः सर्वेषां जीवानां सर्वावस्थाभावीतिकृत्वा तद्वन्धकानां स्पर्शनाऽपि तत्तन्मा-
र्गणानामुत्कृष्टस्थितिवन्धकस्पर्शनावलभ्यते, अतो तथैवाभिधित्सुरतिदेशेनैवाह—

सव्वासु अहस्साएऽणुकोसठिईव्व णायव्वा ॥३७३॥

(प्र०) “सव्वासु” इत्यादि, निरगतयोघाद्यनाहारिपर्यन्तासु सौत्तरभेदासु प्रस्तुतग्रन्थेऽधि-
कृतासु सप्तन्यभ्यधिकशतमार्गणामु प्रत्येकं सप्तानामजघन्यायाः स्थितेर्बन्धकानां स्पर्शना “णुकोस-
ठिईव्व णायव्व” ति तासामेव सप्तानां प्राक्—

‘सव्वणिरयसुर-विउवा-ऽऽहारदुग-अवेअ णाणचउगेसु । जइ-समइअ-छेएसुं परिहारम्मि सुहुमो-हिसुं ॥३५७॥
सुहलेस-सम्म-वेअग-खइ-उवसम-मीस-सासणेसुं य । सत्तण्ह होव्व अणुठिईए गुरुठिईव्व ॥३५८॥
वेसम्मि पंचभागाऽणुकोसाए, ठिईअ सत्तण्हं । छिह्वो हनेव्व सव्वो सेसासु फासिओ लोगे ॥३५९॥’
इतिगाथात्रयेणाभिहिताऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां स्पर्शनावज्ज्ञानव्या ।

तथा—निरयगन्योघे, सप्तमभूमिनिरयभेदे, आनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युतकल्पेषु शुक्रलेख्या-
यामित्येतासु सप्तमार्गणामु त्रसनाडिसत्काः षट् चतुर्दशभागाः । प्रथमपृथिवीनिरयभेदे, नवसु
ग्रं वेयकभेदेषु, पञ्चस्वन्तुत्तरधिमानभेदेषु, वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगेषु
तथाऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-पुद्गलसम्परायसंयम-
मार्गणामु चेत्येतासु पञ्चविंशतिमार्गणामु प्रत्येकं लोकाऽसंख्येयभागमात्रा स्पर्शना । द्वितीय-
पृथिवीनिरयभेदे तु त्रसनाड्या एकश्चतुर्दशभागः, तृतीयपृथिवीनिरयभेदे द्वौ चतुर्दशभागां, चतुर्थ-
पृथिवीनिरयभेदे त्रयश्चतुर्दशभागाः, पञ्चमपृथिवीनिरयभेदे तु श्वत्वारश्चतुर्दशभागाः, षष्ठपृथिवीनिरक-
भेदे पुनः पञ्च चतुर्दशभागा उन्कृष्टा स्पर्शना प्राप्यते । देवगन्योघभेदे, ईशानान्तेषु भवनपत्यादिषु
पञ्चभेदेषु, तेजोलेख्यायां च प्रत्येकं तादृशा नव भागाः । सनत्कुमारादिसहस्रारान्तेषु षट्षु देवगति-
भेदेषु तथा मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानाऽवधिदर्शन-पद्मलेख्या-सम्पक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकसम्य-
क्त्व-मिश्रदृष्टिरूपेषु दशमार्गणाभेदेषु प्रत्येकं त्रसनाडीमन्का अष्टौ चतुर्दशभागाः स्पर्शना भवति ।
वैक्रियकाययोगे तु तादृशास्त्रयोदशभागाः स्पर्शना, देशसंयममार्गणायां पञ्च भागाः, सामादनमार्ग-
णायां पुनस्तादृशा द्वादश भागाः । सर्वेषु तिर्यगातिभेदेषु, सर्वेषु मनुष्यगतिभेदेषु, सर्वेष्वेकेन्द्रिय-
भेदेषु, तथैव सर्वेषु विकलेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु पञ्चेन्द्रियभेदेषु, तथैव सर्वेषु पृथिव्यप्तेजोवायुवन-
स्पतिकायसत्केषु भेदेषु, त्रसकायसत्केषु सर्वभेदेषु, एवमेव पञ्चमनोयोग-पञ्चबचोयोग-काय-

योगसामान्यौ-दारिककाययोगौ-दारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-नपुंसकवेद-
क्रोधादिचतुःक्रयाय-मत्यज्ञानादित्र्यज्ञानाः-ऽसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-ऋण-नील-कापोतलेश्या-भव्या-
ऽभव्य-मिथ्यात्व-संज्ञय-ऽसंज्ञया-ऽऽहार्य-ऽनाहारिमार्गणास्विन्येतासु सप्ताभ्यधिकशतमार्गणासु तु सर्व-
लोकस्पर्शनिति । अत्र प्रत्येकं मार्गणासु प्रस्तुतस्पर्शनोपपत्तिरप्यनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां स्पर्शनावत्
तत्तन्निरयगत्योधादिमार्गणानां नानाजीवाश्रितायाः स्पर्शनायास्तथात्वात्तथा द्रष्टव्या, सप्ताना-
मनुत्कृष्टस्थितिवन्धवत् सप्तानामजघन्यस्थितिवन्धस्यापि प्रायशः सर्वावस्थायां सर्वजीवानां च
सम्भवादिति ।

तदेवं मार्गणास्थानेष्वपि दर्शिता सप्तकर्मणां जघन्याजघन्यस्थितिवन्धकानां स्पर्शनाः केवलमायु-
कर्मणः साऽवशिष्टाऽतस्तामेव दिदर्शयिषुरादौ जघन्यस्थितिवन्धकविषयामाह—

तिरिये एगिंदिय-पणकाय-णिगोएसु सव्वसुहमेसु ।

कायु-रलदुग-णपुम-चउकसाय-दुअणाण-अयतेसु ॥३७४॥

अणयण-असुहतिलेसा-भवि-यियरा-ऽऽहार-मिच्छ-अमणेसु

आउस्म जहण्णाए ठिईअ लुहिअं जगं सव्वं ॥३७५॥

(प्रे०) “तिरिये एगिंदिये” त्यादि, तिर्यग्गन्धोधाद्यसंज्ञिपर्यन्तासु सार्धगाथया सङ्गृही-
तासु षट्चन्वारिंशन्मार्गणास्वायुषो जघन्याः स्थितेर्बन्धकैः सर्वं जगत् स्पृष्टमिति गाथाद्वय-
षिष्यार्थः । अक्षरगमनिकास्तु प्राग्बल्मुगमा, केवलं “दुअणाण” ति मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानमा-
र्गणयोः “भवि-यियर” ति भव्यमार्गणा तथा भव्येतरा-ऽभव्यमार्गणा तयोरित्यर्थः । सर्वलोक-
स्पर्शनाया भावना त्वेतासु प्रत्येकं विद्यमानानां सूक्ष्मैकेन्द्रियाणामप्यायुषोः जघन्यस्थितिवन्ध-
सम्भवान् तेषां सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां स्वस्थानतः सर्वलोकव्यापित्वाच्चेति ॥३७४-३७५॥

अन्यमार्गणासु प्रस्तुतस्पर्शनामाह—

छिविआऽट्ट देव-अट्टमअंतसुर-विउव-तिणाण-ओहीसु ।

तेउ-पउम-सम्म-खइअ-वेअग-सासायणेसु च ॥३७६॥

(प्रे) “छिविआट्ट देवे” त्यादि, देवगत्योधा-ऽष्टमसहस्रारकल्पान्तैकादशसुरगतिभेद-वैक्रिय-
काययोग-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनमार्गणासु, तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वाद्य-क्षायिक-वेदक-
सासादनेषु चेत्येतासु द्वात्रिंशन्मार्गणासु “छिविआट्ट” ति शसनाब्धन्तर्गता अष्टौ रज्जवः
स्पृष्टा इत्यर्थः । आयुषो जघन्यस्थितेर्बन्धकरिति प्रक्रमाद्गम्यते । मारणसमुद्घाते आयुषोऽ-
बन्धाद्देवाऽष्टरज्जुस्पर्शना भवनपत्यादिदेवानां गमनागमनक्षेत्रापेक्षया यथायथं भावनीयेति ॥३७६॥

अन्यमार्गणासु प्रस्तुतस्पर्शनामाह—

होज्ज छिविआ छ भागा आणतपहुडिचउदेव-सुहलासुं ।
देसूणजगं सव्वेसु वायरेगिंदिवाऊसुं ॥३७७॥

(प्रे०) “होज्ज छिविआ” इत्यादि, आनतकल्पप्रभृतिष्वच्युतकल्पान्तेषु चतुर्षु देवगति-
मार्गणाभेदेषु शुक्ललेश्यामार्गणाभेदे चाऽऽयुषो जघन्यस्थितेरबन्धकैस्त्रयनाडीप्रत्काः ‘पड् भागाः’-
पड् रज्जवः स्पृष्टा भवन्तीत्यर्थः । इयं हि स्पर्शना तैर्ना देवाभो गमनागमनक्षेत्रप्राधान्याद्विज्ञेयेति ।
“देसूणजगमि” इति तत्र “सव्वेसु” इति ओष-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदेभिन्नेषु सर्वेषु वादरैकेन्द्रिय-
भेदेषु सर्वेषु वादरवायुकायभेदेषु चेत्येतेषु षट्षु मार्गणाभेदेषु प्रस्तुतबन्धकैर्देशोनं जगत् स्पृष्टमि-
त्यर्थः । अत्रापि स्पर्शना तत्तन्मार्गणागतानां पर्याप्तवादरवायुकायानामपर्याप्तवादरवायुकायानां वा
स्वस्थानक्षेत्रप्राधान्यादत्रातव्या । इति ॥३७७॥ शेष मार्गणासु प्रस्तुतस्पर्शनामाह—

सेसासु जहण्णाए जगस्स होज्ज छिहिओ असंखंसो ।

(प्रे०) “सेसासु” इति अनन्तरमेव साथाचतुष्के “तिरिये एगिंदिये पणकाये” इत्यादिनाभि-
हिता अशीतिमार्गणाः संन्यज्य शेषासु नरकगत्योषादिष्वशीतिमार्गणासु प्रत्येकं “जहण्णाए” इति
आयुषो जघन्यायाः स्थितः, बन्धकैरिति शेषः । तैः किमित्याह—“जगस्स” इत्यादि, ‘जगतः’-
लोकस्या ‘ऽसंख्यांशः’-असंख्याततमैकभागः स्पृष्टो भवति । तत्र शेषमार्गणा इमाः—अष्टौ नरक-
भेदाः, चत्वारस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिमार्गणाभेदा, नव ग्रैवेयकदेवभेदाः, पञ्चा-
नुत्तरविमानभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, ओष-पर्याप्ताऽपर्याप्तभेदभिन्नास्त्र-
यो वादरपृथिवीकायभेदास्तथैव त्रयो वादराष्कायभेदास्त्रयस्तेजस्कायभेदास्त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकाय-
भेदास्त्रयो वादरसाधारणवनस्पतिकायभेदास्त्रयस्त्रसकायभेदास्तथा पञ्च मनोयोगभेदाः पञ्च वचोयोग-
भेदाः, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगभेदा, स्त्रीवेद-पुंवेद-मनःपर्यवज्ञान-विमङ्गज्ञान-संयमाद्य-
सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयम-चक्षुर्दर्शन-संज्ञिमार्गणाश्चेति ।

उपपत्तिस्त्वेवम्-आयुर्बन्धस्य मरणसमुद्घातात्प्रागेव मात्रादायुर्बन्धकानां स्पर्शना स्वस्थान-
क्षेत्रापेक्षया गमनागमनकृतस्पर्शनापेक्षया वा प्राप्यते, न तु मरणसमुद्घातापेक्षयेति प्राग्दर्शित-
मेव । अत्र शेषमार्गणास्वन्यतमस्यामपि मार्गणायां स्वस्थानक्षेत्रादधिका नास्ति काचिद् गमनागमन-
कृता विशिष्टस्पर्शना, अच्युतान्तानां देवानामेव गमनागमनकृतविशिष्टस्पर्शनाया अभिहितत्वात् ।
ते च प्रकृतशेषनिरयगत्योषाद्यन्यतमस्यामपि मार्गणायां बन्धप्रायोग्यजघन्यस्थितिकायुषः स्वामि-
नो न सन्ति । तदभावे त्ववशिष्टा स्वस्थानक्षेत्राक्षिप्ता स्पर्शना, सा त्वेतासु प्रत्येकं लोकासंख्येय-
भागमात्रा, अत आयुषो जघन्यस्थितिवन्धकानां स्पर्शनाऽपि तथैवोक्तेति ॥

तदेवमायुषो जघन्यस्थितिवन्धविषयाऽपि स्पर्शना सर्वासु मार्गणास्वभिहिता । साम्प्रतमव-
शिष्टामायुषोऽजघन्यस्थितिवन्धविषयां तां व्याजिहीर्षुर्गाथार्धेनातिदिशति—

आयुर्वेदसप्तमः प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां स्पर्शानाप्रशकयन्त्रम्

स्पर्शानाः	श्रीवशः १३ रजतः	सर्वेषां ०	रज्जुः १२	रज्जुः ११	रज्जुः ९	रज्जुः ८	रज्जुः ६	रज्जुः ५	रज्जुः ४	रज्जुः ३	रज्जुः २	रज्जुः १	लाक्षा- संख्य- भागः
गन्धिः	आपान- जिह्वान्दि- र्षा तन्- मनुषी- ३				शरीर- इषानान- त्वन्वाध- ३	गन्धकुमा- शादराहवा- रागवेध- ३	★	पश- भरक- तिरकी- ०	गन्ध- नन्क- १	गन्ध- नन्क- १	गन्ध- नन्क- १	गन्ध- नन्क- १	१०
इन्द्रियः	पञ्चान्द्रिय- तन्पर्याप्त- ३	१३											
स्पर्शः	प्रथम- नन्क- ०	४०											
योगः	भार्यमनो- वर्ष- १		ताभंग- १				श्रीश- १						शेष- ४
वेदः	पुष्प- १		स्वी- १				गन्धि- १						भविष्य- १
कथाः	नन्क- ०												
ज्ञानः	धजाता- ३												मनःप- १
संभारः	तन्क- १												शेष- ६
दर्शनः	तन्क- १												
लेङ्गाः	कुम्भा- १			नि- १	रज्जु- १	पञ्च- १	शुक्र- १						
भयः	मन्क- २												
सन्धः	सिन्ध- १		मास्का- १										
सङ्गीः	मन्की- १												धस- १
भ्राताः	श्राह- १		प्र- १										
सर्वजागणाः	३३	५६	४	१	८	१६	१२	२	१	१	१	१	३१
साक्षात्काः	३५६	३५२	३५१	३५६	३५५	३५६	३५६	३५०	३५०	३५०	३५०	३५०	३५६

★ निरयोध-मसमनिरय-निरयोध-यन्त्रेन्द्रियतियोग-तन्पर्याप्त-३३नलादिद्वयभेदचतुष्टयरूपा नव भेदाः ।

+ प्रथमनिरय-सर्वेयकनचका-५नुत्तरप त्क-मनुष्यीय-तन्पर्याप्त-पानुषीभेदावष्टादश भेदाः ।

△ मलान्तरे कुम्भादित्रिलेख्यामु मयाक्रमं षट् , चलसः, ६ रज्जुः । (शाखा-३५६)

आयुर्वेदसप्तप्रकृतीनां जघन्या-ऽजघन्या-ऽनुत्कृष्टत्रिविधस्थितिवन्धकानां स्पर्शनाप्रदर्शकयन्त्रम्

जघन्यस्थितेर्वन्धकानाम्					अजघन्या-ऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानाम्			
स्पर्शना-	देशोल्लोकः	अष्टोर वज्रवः	पद्मवज्रवः	सर्वलोकः	श्लोचवत् लोकंऽनं- रुच्यभागः	उत्कृष्टस्थिति वन्धकानां स्पर्शनाप्रदु	पद्मवज्रु.	सर्वलोकः
गति०	निर्यगोध० १	ज्वोत्पिकादि- सहस्रारान्त- देवभेद० १	प्राणनाद्याश्चतु- देवभेद० ४		शेषः। ३३	सर्वनिर्यदेव- भेदाः ३३		संवातियगु- मनुष्यभेद० ६
इन्द्रिय०	श्रीघ-मर्व- बाह्वरभेद० ४			सर्वगुणमके- न्द्रियभेद० ६	शेष० १२			मर्त्तः। १६
काय०	श्रीघ-मर्व- बाह्वरवायु- कायभेद० ४			एषिन्नादि गर्वसूक्ष्म० १५	शेष० २६			मर्त्त० ४२
योग०	श्रीदारिवा- मिष्य-कार्मणा० ८	वैक्रिय० १			शेष० १५	वैक्रियाऽऽहा- रकठिकं. ४		शेष० १४
वेद०					मर्त्त० ४	अवेद० १		मिष्यद० ६
कपाय०					" ४			मर्त्त० ४
ज्ञान०	मर्त्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २				शेष० ५	मर्त्यादि- ज्ञानः। ४		अज्ञान० ३
संयम०	अस० १				शेष० ६	असयम देश- संयमवर्ज. ५	देश०	असयम० १
दृशम०					मर्त्त० ३	अर्वाभि० १		शेष० २
लेख्या०	अणुभ० ३				शुभः। ३	शुभ० ३		अणुभ० ३
भज्य०	अभ० १				भज्य० १			सर्वा० २
मन्थकत्व.	मिष्यात्व० १	सासादन। मिष्य० २			शेष० ४	मिष्यात्ववर्ज- शेषभेद० ६		मिष्यात्व. १
संज्ञी०	असं० १				संज्ञी० १			सर्वा० २
आहारी०	अना० १				आहारी० १			सर्वा० २
सर्वमांशगाः-	२६	१२	४	१५	११५	६२	०१	१०७
गणिकाः-	३६१-३७०	३७१	३७०	३७०	३७३			

आयुष उन्कृष्ट-जवन्यस्थितयोर्बन्धकानां स्पर्शनाप्रदर्शकयन्त्रकम्

शेषतः—उन्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां लोकाऽसंख्यभागः । जवन्यस्थितेर्बन्धकानां सर्वलोकः ।

आदेशतः—

उन्कृष्टस्थितेर्बन्धकानाम्

जवन्यस्थितेर्बन्धकानाम्

स्पर्शनाः	अष्टौ रजवः	पञ्चजवः	देशोक्तोक्तः	सर्वलोकः	लोकस्याऽसंख्यभागः	लोकाऽसंख्यभागः	अनुरूपस्थिति-बन्धकस्पर्शनावत्
गति०	देवीषां भवन-पत्यादि सङ्ख्या-शान्ताश्च १२	आमरा-प्राणुता-ऽऽरणा-ऽन्युत-देवभेदाः ४			उत्तमोष्ठ-वर्णा निरसी-पादिभेदाः २१		सर्व० ४०
इन्द्रिय०				मनासूक्ष्मकेन्द्रिय० ३	भूभेकेन्द्रिय-भेदत्रयवर्णाः शेषाः १६	पञ्चेन्द्रियीप-तत्पर्याप्त २	शेष० १७
काय०			आयांसषावर-वायुकाय० १	मनासूक्ष्मगाथ-गादिभेद० १५	शेष० २६	प्रसोष-तत्पर्याप्त २	शेष० ४०
योग०	वीक्रियः १				शेष० १५	सर्वमनोवचो १०	शेष० ६
वेद०					सर्व० ३	स्त्री०पुं० २	नपुं० १
कपाय०					सर्व० ४		सर्व० ४
ज्ञान०					सर्व० ७	विभक्त० १	शेष० ६
संयम					सर्व० ६		सर्व० ६
दर्शन०					सर्व० ३	चक्षुः १	अचक्षुः २
लेखा०					सर्व० ६		सर्व० ६
भव्य०					सर्व० २		सर्व० २
सम्य०					सर्व० ५		सर्व० ५
संज्ञी०					सर्व० २	संज्ञी० १	असंज्ञी० १
आहारी०					आहारी० १		आहारी० १
सर्वमार्गणाः-	१६	४	१	१८	१२७	१९	१४४
गाथाङ्काः-	३६०	३६१	३६१	३६२	३६२	३७८	३७४...३७५

आयुषोऽजघन्याऽनुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकानां स्पर्शनाप्रदर्शकयन्त्रकम्

अजघन्याऽनुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकानां प्रत्येकम् (माथा--३७८)

स्पर्शनाः	श्लोघवत् सर्वश्लोः	शब्दो रजजघः	पङ्कजजघः	देशान्तलोः	लोकाऽसंख्य- भागः
शक्ति०	निर्भंगत्वोघ० १	देवीघ० भवणपत्थादिसहस्रा- रगताश्र० १२	स्नाना-श्रमता- ऽऽरगता उच्युतेदेव- भेदाः ४		शेषनिरयगत्यो- घादि० ३०
इन्द्रिय०	श्लोघ-सर्वसूक्ष्मेन्द्रिय- भेद० ४	एन्द्रियसौष-तन्पर्यायी, २		संबन्धादकेन्द्रिय- भेद० ३	संबन्धकानाऽप- र्याप्तगण्येन्द्रियः १०
श्राय०	श्राय सर्वसूक्ष्मभेदाद्विंशतिः गृथिव्यन्तेजावायुसाधारण- यन्भेदाः वनोघश्च. २१	प्रसवगयोत्र-नत्पर्याप्तभेदो, ०		श्लोघ-पर्यास्ताश- र्याप्तभेदाः नवयो- त्रादिरवायुकाग- भेदः ३	उक्तश्लोपाः १६
योग०	कावयोगोत्र० श्रौतारिक्- तभिमर्था ३० ३	संबन्धनाश्रयो० वीक्रियञ्च ११			शाश्वत- नन्मिथ्योः २
वेद०	तपसंज्ञ० १	स्त्री-पुरुषभेदो, २			
काम्य०	सर्व० ४				
ज्ञान०	मत्याज्ञान-भ्रुताज्ञाने, २	मति-युगा-ऽधिज्ञानानि विभङ्ग० ४			मत्तःपर्यव० १
संयम०	संयम० १				शेषभेद० ५
दर्शन०	अचक्षु० १	चक्षु० अचक्षि० २			
लेश्याः	अशुभकृष्णादि० ३	नेत्राः-पद्म० ०	शुक्र० १		
भक्ष्य०	सर्व० २				
सम्प०	मिथरात्व० १	सम्पत्कवीच-शाश्विक-क्षयो- पर्याप्तिकः सामादरः ४			
संज्ञी०	असंज्ञी० १	संज्ञी० १			
आहारी०	अहारीक० १				
सर्वमागंगा- ४६		४२	५	५	६४
माथाः-- ३६२-३६३-३६४		३६५-३६६	३६६	३६७	३६७

सव्वासु अहस्ताए फुसणा होज्ज अगुरुठिइव्व ॥३७८॥

(प्रे०) “सव्वासु”ति त्रिपष्टयधिकशतसंख्याकासु सर्वास्वपि मार्गणासु प्रकृतस्याऽऽयुषो “अहस्ताए”ति ‘अहस्वायाः’-अजघन्यायाः स्थितेर्वन्धकस्पर्शना “अगुरुठिइव्व”ति तत्तन्मार्गणा-यामायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां तिरिवे एगगिदिय-पणकाय-णिगोअेसु सव्वसुहुमेसु । कायु-रत्तदुग-णपु-मचउकसाय-हुण्णणाण-अरनेसु ॥३७८॥ इत्यादिना प्रणालिद्धिना या स्पर्शना तद्वद् भवेदिति । एषा हि समुद्घातमनपेक्ष्य स्वस्थानक्षेत्र-गमनागमनक्षेत्रमात्रापेक्षया लभ्यमानया तत्तन्मार्गणात्कोत्कृष्टस्पर्श-नया तुल्या भवति, आयुषोऽजघन्यस्थितेर्वन्धस्याप्यनुत्कृष्टस्थितिवन्धवत्सर्वजीवानां भावादिति ॥३७८॥

तदेवं प्ररूपिताऽऽयुषोऽजघन्यस्थितेर्वन्धकानामपि स्पर्शना । तस्यां च प्ररूपितायां गत-मेकादशं स्पर्शनाद्वारम् ।

॥ इति श्रीवन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे
द्वितीयाधिकारे एकादशं नानाजीवा-
ऽऽश्रयस्पर्शनाद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथ द्वादशं कालद्वारम् ॥

साम्प्रतं क्रमप्राप्ते नानाजीवाश्रये कालद्वारे मूलकर्मणामुत्कृष्टादिस्थितेर्वन्धकानां जघन्यो-
त्कृष्टभेदमिदं कालं प्रतिपिपादयिपुरादां तावदष्टानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्वन्धकानां
तमोघतः प्रतिपादयति—

सत्तण्ह बंधगाणं समयो हस्तो ठिईअ जेद्दाए ।

पल्लाऽसंखियभागो परमो अगुरुअ सव्वद्धा ॥३७९॥

(प्रे०) “सत्तण्ह बंधगाणं” मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं बन्धकानां
समयो ‘हस्वः’-जघन्यः, काल इति गम्यते । सप्तानां कस्याः स्थितेर्वन्धकानामित्याह—“ठिईअ
जेद्दाए” ति सप्तानां ‘ज्येष्ठायाः’-उत्कृष्टायाः स्थितेरित्यर्थः । “पल्लाऽसंखियभागो परमो”
ति तस्या एवानन्तरोक्तायाः सप्तानां ज्येष्ठस्थितेर्वन्धकानां ‘परमः’-उत्कृष्टः कालः “पल्लाऽसंखिय-
भागो” ति पदकदेशेनापि पदसमुदायस्य गम्यमानत्वात् पन्थोपमासंख्येयभाग इत्यर्थः । तत्र

समानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां समयमात्रो जघन्यकालस्तु प्रागुक्तैकजीवाश्रयोत्कृष्टस्थितिवन्धकालव-
देवात्रगन्तव्यः । अद्यम्भावः-ओषत आदेशतो मार्गणास्थानेषु वा यत्र तत्तदुत्कृष्टादिस्थितिवन्धाही
जीवा अमंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकाः सन्ति तत्र मार्गणादावुत्कृष्टाया जघन्यायाश्च स्थिते-
र्बन्धकानां जघन्यकालः क्रमेणोत्कृष्टजघन्यस्थितयोरेकजीवाश्रयबन्धकालतुल्यः प्राप्यते, न पुन-
रधिकः । कुतः ? एकजीवाश्रयस्य तत्रस्थितिवन्धजघन्यकालस्यपि तत्तदुत्कृष्टाया जघन्याया वा स्थिते-
र्बन्धकीभूतनानाजीवाश्रयजघन्यकालतया प्राप्तेः सम्भवात् ।

ननु एकजीवाश्रयस्य, अर्थादिकेन जीवेन समयमात्रं निर्वर्तितस्योत्कृष्टादितत्स्थितिवन्धस्य
जघन्यकालो यदि नानाजीवाश्रितोत्कृष्टादितत्स्थितिवन्धजघन्यबन्धकालतया प्राप्येत, तदा को
नाम विशेषो धेन पूर्वोक्त एकजीवाश्रयः कालः, प्रस्तुतस्तु नानाजीवाश्रयकारुः ? इति चेद्,
अस्ति विशेषः, यतो नानाजीवाश्रयः काल एकजीवाश्रयकालात् स्तोको नैव भवति । न च मा
भवतु स्तोकः, तुल्यप्राप्तावपि कथं नामैकजीवाश्रय-नानाजीवाश्रयबन्धकालयोः पार्थक्यमिति
वाच्यम् । यतो जघन्यपदे तुल्योऽप्यसौ नानाजीवाश्रयः काल उत्कृष्टपदे एकजीवाश्रयकालापे-
क्षया दीघातिदीर्घः प्राप्यते । इत्थं चोत्कृष्टपदे एकजीवमाश्रित्व प्राप्यमाणकालापेक्षया नानाजी-
वाश्रितकालस्याऽधिकप्रमाणप्राप्तेर्विद्वत्त एकजीवाश्रय-नानाजीवाश्रयकारुयोर्विशेषः ।

न च नानाजीवाश्रयो जघन्यकालो युगपदनेकबन्धकसम्बन्धी गृह्यताम्, न त्वेकजीवसम्बन्धी,
तेनोत्कृष्टपदवज्जघन्यपदेऽप्यपार्थक्यकारुपेक्षयाऽधिकः सम्पद्येत, ततश्चोत्कृष्टपद इव जघन्य-
पदेऽप्यधिककालप्राप्तिरूपो विशेषोऽप्यप्येतेति वाच्यम् । जघन्यपदे युगपदनेकबन्धकसम्बन्धकालग्रह-
णद्वारेणाधिककालप्राप्तिरूपविशेषाधानप्रयामस्याऽज्ञानमूलकतयाऽऽयाममात्रत्वात् । कथम् ? इति चेद्,
युगपद्नानाबन्धकसम्बन्धकारुस्यैव नानाबन्धकाश्रयकालतया ग्रहणे प्रत्युक्तैकजीवाश्रयकालापेक्षया-
ऽपि तस्य युगपद्नानाबन्धकसम्बन्धकालस्य जघन्यपदे स्तोकमात्रस्य प्राप्तेः । तथाहि-
निरयगन्त्योषे आयुर्वन्धकाः कदाचित् प्राप्यन्ते, कदाचित् न, प्राग् भङ्गविचयेऽष्टमज्ञानां कथि-
तत्वाद्दुत्तरत्र नानाजीवाश्रयान्तरस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च । अतो यदा नासन् केऽप्यायुर्वन्धकास्तादृश-
कालादूर्ध्वं केनाऽप्येकेन नारकजीवेनानुत्कृष्टस्थितिकायुर्वन्धः प्रारब्धः, न पुनरन्येन, स चानुत्कृष्ट-
स्थितिकायुर्वन्धस्तस्यान्तमुहूर्तं यात्रन्वियमतः प्रवर्तते, नवरममावन्तमुहूर्तकालो भवन्निर्दिष्टविवक्षया
नानाबन्धकाश्रयकालतयाऽङ्गीकर्तुं न शृज्यते, तस्य एकबन्धकसम्बन्धित्वात् । यदा चासौ नारक-
जीवस्तस्याऽप्यायुर्वन्धाद्वायाश्रयमे समये वर्तते तदा केनाप्यन्येन नारकजीवेनानुत्कृष्टस्थितिकायु-
र्वन्धः प्रारब्धः, अतस्तदानीमनुत्कृष्टस्थितेर्नानाबन्धकसङ्घावात् स समयमात्रः कालो भवदुक्त-
विवक्षया नानाबन्धकाश्रयकालतयाऽङ्गीकर्तुं शृज्यते, न तु तदुत्तरवर्तिसमया अपि, तदानी-
मुत्तरसमयेषु पूर्वप्रारब्धायुर्वन्धेन जीवेनायुर्वन्धस्य निष्ठापितत्वेन, अन्येन केनाऽप्यनुत्कृष्ट-

स्थितिकायुर्वन्धस्यानारब्धत्वेन चैकायुर्वन्धकसम्बन्धिकालस्य तु भवदुक्तविवक्षया नानाजीवाश्रयकालतयाऽयुज्यमानत्वात् । इत्थं हि नानावन्धककाल इत्यत्र नानापद-
वाच्य तथा युगपत्स्थितिवन्धनिर्वर्तकानामनेकानामेव ग्रहणविवक्षया निरयगत्योधादिमार्गणासु पूर्वा-
त्तरसमये एकैकस्य, मध्ये एकस्मिन् समये तु निष्ठापक-प्रारम्भकयोर्गुणप्राप्तेः सम्भवाद् व्यन्यासेनैक-
जीवाश्रितकालापेक्षया स्तोकः समयमात्रोऽपि नानाजीवाश्रयकालः प्राप्यते । अत्र स्थापना-

एकजीवाश्रयकालस्य जघन्यनोऽन्तर्मुहूर्तत्वेऽपि नानाजीवाश्रयस्य समयमात्रसम्भव इयं स्थापना ।

(१) आयुर्वन्धकानां सर्वथाऽभावकालः, (२) अत्रैकेन जीवेनाऽनुत्कृष्टस्थिति-
कायुर्वन्धः प्रारम्भः, (३) तस्याऽऽयुर्वन्धस्य निष्ठासमयः, (४) तस्य निष्ठासमय-
एवाऽन्येनाऽनुत्कृष्टस्थितिकायुर्वन्धः प्रारम्भः, (५) तस्याऽऽयुर्वन्धनिष्ठासमयः, (६)
अत्र वन्धकद्वयसद्भावादयमेकः समयो नानावन्धकसम्बन्ध्यायुरनुत्कृष्टस्थितिवन्धकाल-
तया प्राप्तः, तस्मात्पूर्वोच्यते (७-८) समयो एकैकवन्धकसम्बन्धित एव इति ।

इत्यमेव मार्गणान्तरेऽपि द्वैयम् । न च युगपद्नानाजीवसम्बन्धिकालविवक्षया सा भवतु जघन्य-
पदे एकजीवाश्रयजघन्यकालान्नानाजीवाश्रयकालोऽधिकः, स्तोकप्राप्तावपि उत्कृष्टपद इव
जघन्यपदेऽप्येकजीवाश्रयकालापेक्षया नानाजीवाश्रयकाले विशेषस्तु लभ्येतेति वाच्यम् । निरयगत्योधा-
दिमार्गणासु 'अगुरुश्च मुहुत्तं आरस्तेमेव सध्यासु' (गाथा-१४२) इत्यनेन प्रागुक्तैकजीवाश्रयस्या-
ऽऽयुष्काऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य जघन्यकालवन्नानाजीवाश्रयस्याऽपि तस्याऽऽयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्य-
कालस्य 'सेसासु' भिन्नमुहुत्तं मुणोऽन्वो' (गाथा-३९८) इत्यनेनाऽन्तर्मुहूर्तमात्रस्यैव वक्ष्यमाणतया
तादृशविवक्षायाऽनधिकृतत्वात् ।

इत्थञ्च नानाजीवाश्रयकालोऽत्र न युगपद्व्ययमाननानाजीवसम्बन्धेव, किन्तु मार्गणा-
गतविवक्षितस्थितिवन्धकसर्वजीवराशिसपेक्ष्य नैरन्तर्येण विवक्षितस्थितिवन्धं कुर्वन्तो जीवा यावन्तो
लभ्यन्ते, विवक्षितस्थितिवन्धकतावन्सर्वजीवसम्बन्धेव, स्याद्यदि विवक्षितस्थितेः निरन्तरसर्ववन्धक-
तया एको जीवः, अनेके वा । तत्र विवक्षितस्थितिवन्धस्तु कुत्रचिदेकजीवस्योत्कृष्टतोऽन्त-
र्मुहूर्तं यावद्वन्धप्रायोग्योऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितजीवानां वन्धप्रायोग्यतयाऽन्यान्यजीवैर्नैर-
न्तर्येण प्रवर्तमानः सत्कालमवाप्यते । कुत्रचिन्मार्गणादीं पुनरुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तं यावद्वन्धप्रायोग्यो-
ऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकानामसंख्येयानां संख्येयानां वा जीवानां वन्धप्रायोग्य-
तया नैरन्तर्येण यल्योपमाऽसंख्येयभागादिप्रमाणकालं यावदुत्कृष्टतः प्रवर्तमानो लभ्यते, न तु सर्वदा,
अतस्तत्र मार्गणादीं तावानेव कालस्तस्य विवक्षितस्थितिवन्धस्य नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालः । जघन्य-
तोऽप्योद्यतो मार्गणास्थानेषु वा तत्र तत्र प्रविष्टसर्वजीवराशौ एकादिना जीवेन तस्य विवक्षितस्थिति-

बन्धस्यैकजीवाश्रयं समयाऽन्तर्मुहूर्तादिजघन्यबन्धकालं यावत् तस्मिन् विवक्षितस्थितिवन्धे कृते तदनु निरन्तरं तत्र प्रविष्टसर्वजीवेश्वस्तदन्येन जीनेन तदन्यैर्वा जीवैस्तादृशः स्थितिवन्धो न क्रियते तदा तत्र मार्गणादौ स विवक्षितस्थितिवन्धो तत्रस्थसर्वजीवापेक्षया चिन्त्यमानोऽपि जघन्यत एकजीवाश्रयतदीयजघन्यबन्धकालं यावदेव प्रवर्तमानो लभ्यते, अतस्तावानेकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालेन तुल्य एकजीवकृतस्थितिवन्धसम्बन्धपि समयादिकाल एव विवक्षाभेदाशानाजीवाश्रयो जघन्यकालो बोद्धव्यः । अत एवात्र द्वारे नानाजीवाश्रयस्थितिवन्धकालमनुकृत्वा तत्र विवक्षितस्थितेर्बन्धकालप्ररूपणेऽपि न कश्चिद्दोषः, अधिकृतविषयया विवक्षितास्थितेर्नानाजीवाश्रयबन्धकालस्य तदीयनानाबन्धकालस्य च सर्वथैव तुल्यत्वात् । इत्येवमेकजीवाश्रयकालप्ररूपणायामन्यान्यजीवान् विहाय विवक्षितैकजीवनिर्वर्तितविवक्षितस्थितिवन्धस्य निरन्तरकालस्याधिकृतत्वात्, नानाजीवाश्रयकालप्ररूपणायाम् तत्तन्मार्गणादौ वर्तमानैकादिसर्वबन्धकालैर्नैरन्तर्येण निर्वर्तितस्य तस्य विवक्षितस्थितिवन्धस्य निरन्तरबन्धकालस्य विवक्षितत्वात् कुत्रचिज्जघन्यपदे विवक्षितस्थितिवन्धस्यैकजीवकृतत्वेऽपि तदानीं तत्र मार्गणादौ तदन्यस्य तादृशबन्धकतयाऽविद्यमानत्वेन तस्यैकैकजीवस्य सर्वबन्धकतया लभ्यात् तस्य नानाजीवाश्रयजघन्यादिकालरूपो विवक्षाकृत एकजीवाश्रयकालापेक्षया भेद एवेत्यलं पल्लवितेनेति ।

अथ प्रस्तुतम्—तत्र सप्तानामुत्कृष्टस्थितेः समयमात्रो जघन्यबन्धककालो यथोक्तनीत्या एकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालत्रिभावेन भावनीयः । ननु सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टकालस्तर्हि कुतः पल्लवोपमासंख्येयभागमात्र उच्यते, न पुनः सर्वाद्या ? इति चेद्, भ्रम्यते-असावुत्कृष्टस्थितिवन्धः केनाप्येकजीवेन निरन्तरमुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तकालादधिककालं न निर्वर्त्यते, अन्यच्च तद्बन्धाह्नी जीवा असंख्येयाः सन्तोऽपि नाऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशितुल्याः, किन्तु ततो हीनाः स्वल्पतरा एव । पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेव सप्तकर्मसत्काराधिकोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वात् । तथा च सति तस्याः सप्तानामुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टकालः पल्लवोपमासंख्येयभागमात्रः प्राप्यते । इदमुक्तं भवति—यस्या एकस्थितिवन्धस्थानरूपाया उत्कृष्टाया जघन्याया वा स्थितेरेकजीवाश्रयो बन्धकाल उत्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्त बन्धकपरिमाणं चासंख्येयं सदप्यसंख्यलोकाकाशप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोत्रं भवति, तस्या उत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धका नैरन्तर्येणोत्कृष्टतः पल्लवोपमासंख्येयभागप्रमाणकालं यावल्लभ्यन्ते, तदूर्ध्वं तु नियमतस्तद्बन्धकानां सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं भवति । यस्याः स्थितेर्बन्धकाः पुनरसंख्येयाः सन्तोऽप्यसंख्यलोकाकाशप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकाः सन्ति तस्याः स्थितेरेकजीवाश्रयबन्धकालो यद्युत्कृष्टतः संख्येयसमयमात्रस्तदा तद्बन्धका नैरन्तर्येणोत्कृष्टत आवलिकाया असंख्यभागमात्रकालं यावत्प्राप्यन्ते, न पुनः परतः, परतस्तु नियमेन तेषामन्तरस्य प्रवर्तनात् । मूलसप्तकर्मणामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्यान्तर्मुहूर्तत्वात्तद्बन्धकपरिमाणस्योत्कृष्टतोऽसंख्येयत्वेऽप्यसंख्यलोकापेक्षया स्तोक्त्वाच्च तद्बन्धकानामुत्कृष्टः कालः पल्लवोपमासंख्येयभागमात्रः प्राप्यते,

न पुनस्तदधिक इति तथैवोक्तः । इत्यमेव मार्गणास्थानेष्वपि वक्ष्यमाणपल्योपमार्गव्यभागान्काल उत्कृष्टपदगतबन्धकपरिमाणै-कजीवाश्रयोत्कृष्टस्थितिवन्धाकालानुमारेणाम्युह्य इति ।

अथ यस्यास्तूत्कृष्टादिस्थितेर्वन्धका असंख्यलोकाकाशप्रदेशाशितुल्यास्तदधिका वा तस्या स्थितेरेकजीवाश्रयकालोऽन्तर्मुहूर्तमात्रो भवतु, समयो वा भवतु, तथाऽपि तद्वन्धकाः सर्वदेव लभ्यन्ते, न पुनस्तद्वन्धकानां कदाप्यन्तरं भवति । तथा च सप्तानामाधिकानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानामनन्तत्वात् तदीयेकजीवाश्रयबन्धकारुम्य च दीघेत्वात् तद्वन्धकास्तु सर्वदेव प्राप्यन्त इत्येतद् दर्शयन्नाह—“अगुस्तअ सव्वद्धा” ति नप्तानामगुरोः-अनुत्कृष्टाया स्थितेर्वन्धकानां ‘सर्वाद्धा’,-सर्व-काल इत्यर्थः । गतार्थमिति ॥३७९॥

अथोक्तशेषम्यापुष उत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्वन्धकानां कालमोषतो दर्शयन्नाह—

अउत्स लहू समयो उकोसाए ठिईअ उकोसो ।

आवलिआऽसंखंसोऽणुकोमाए उ सव्वद्धा ॥३८०॥

(प्रे०) “अउत्स लहू समयो” इत्यादि, आयुष उत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकानां ‘लघुः’-जघन्यकाः समयः, भवतीति शयः । “उकोसो” ति तेषामेवापुष उत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धका-नामुत्कृष्टः कालः “आवलिआऽसंखंसो” ति आवलिकाऽसंख्यभागः, आवलिकाया असंख्येय-भागगतयमप्रमाण इत्यर्थः । “णुकोसाए उ सव्वद्धा” ति प्राग्वत्, नवरमायुषः प्रकृतत्वात्-स्यानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां कालः सर्वाद्धेति बोद्धव्यम् । अत्रैकसमयः सर्वाद्धा च सप्तकर्मणामुत्कृष्टा-नुत्कृष्टस्थित्योर्वन्धकानामनन्तरदर्शितकसमयसर्वाद्धावद्भावनीयः । आवलिकाया असंख्येयभागप्रमाण-कालस्त्वापुष आधिकोत्कृष्टस्थितेरेकजीवाश्रयस्योत्कृष्टबन्धकालस्य समयमात्रत्वात्, तादृशबन्धकाना-मुत्कृष्टपरिमाणस्यासंख्यलोकप्रदेशाश्रयपञ्चया स्तोक्तत्वेऽप्यसंख्येयत्वान्चोक्तव्याप्त्योद्यः ॥३८०॥

तदेवमभिहितोऽपानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थितिवन्धकानां काल ओषतः । अथ तमेवादेशतो व्याजिहीषुरादौ तावदायुर्वर्जानां सप्तानां प्रकृतीनामाह—

सत्तण्ह बंधगाणं उकोसाए ठिईअ सव्वद्धा ।

सव्वेसुं एगिंदियणिगोअभेएसु वणकाये ॥३८१॥

अममत्तवायरेसुं पत्तेअवण-पुहवाइचउसुं च ।

तह पुहवाइचउण्हं सव्वेसुं सुहुमभेएसुं ॥३८२॥

(प्रे०) “सत्तण्हं” त्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तान्यतमानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेः “सव्वद्धा” ति नानाजीवाश्रयः कालः सर्वाद्धा भवति । कालु मार्गणास्त्रित्याह—“सव्वेसुं” मित्यादि, सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु निर्गाहभेदेषु, वनस्पतिकार्येषु, तथाऽपर्याप्तबादरेषु प्रत्येक-

वनस्पतिपृथिव्यप्तेजोवायुकायिकभेदेषु च । अत्र प्रत्येकवनस्पतिक्राये वादरेति विशेषणं स्वरूपदर्शक-
परमेव बोद्धव्यम्, 'पत्तेअवण' इत्यस्य पूर्वनिपातोऽपि लन्दानुलोम्यादेवेति । "तह पुहवाह-
षउण्हं" ति तथा पृथिव्यादीनां वायुकायान्तानां चतुर्णां "सव्वेसुं सुहुमभेएसुं" ति सूक्ष्माघ-
-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदानिष्पन्नेषु 'सर्वेषु'-द्वादशष्वपि भेदेष्विन्वर्थः । एतासु द्वात्रिंशत्स्वपि मार्गणामु
प्रत्येकमौघिकात्तुत्कृष्टस्थितिवन्धकवत् सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानामसंख्यलोकप्रदेशाशितुन्व-
त्वात्तदधिकत्वाद्वा प्रकृतकालः सर्वाद्वाऽभिहित इति ॥३८१-३८२॥

अथ शेषमार्गणामु प्रकृतकालमाह—

चउणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-देसेसुं ।

मम्मो-हि-वेअणु-वसम-मीसेसु लहू मुहुत्तंनो ॥३८३॥

णयो भिन्नमुहुत्तं अहवा समयो तिमिस्सजोगेसुं ।

सेसामु भवे समयो

(ग्रे०) "चउणाणसंयमेसुं"मित्यादि, मत्यादिचतुर्जानामार्गणा-संयमौघमार्गणामु मापा-
दिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयममार्गणाम्बवविदर्शने, सम्यक्त्वाघ-वेदकपय्यत्वा-
पशमिकमध्यकत्व-सम्यग्मित्यात्वमार्गणास्थित्येतासु चतुर्देशमार्गणामु प्रत्येकं "लहू मुहुत्तंनो"
ति आयुर्वर्जसप्तान्यतमकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितेर्नानावन्धकाश्रयो 'लघुः'-जघन्यः कालो 'मुहुत्तान्तः'-
अन्तर्मुहूर्तं ज्ञेय इत्यर्थः । कस्मादन्तर्मुहूर्तमेव ? चतुर्देशमार्गणामु प्रत्येकं मिथ्यान्वाद्यभिसृत्वानामेव
प्रकृतस्थितिवन्धस्वामिन्वात् तद्वन्धकानामसंख्यलोकापेक्षया स्तोत्रत्वाच्चेति । अयं हि सप्ताना-
मौघिकोत्कृष्टस्थितेर्वन्धककालवदेकजीवाश्रयप्राप्तकालानुसारी ज्ञेयः । मिश्रयोगत्रये स्वामित्व-
विषयकमतद्वयेन प्रस्तुतनानाजीवाश्रयकालं यथासम्भवमाह—"भिन्नमुहुत्तं अहवा" इत्यादि, गता-
र्थम्, भावना त्वेकजीवाश्रयवन्धककालवदेव द्रष्टव्या । अथ शेषमार्गणास्वाह—सेसामु भवे समयो
ति उक्तशेषा निरयगत्योघाद्येकविंशत्युत्तरशतमार्गणामु प्रत्येकं सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां
जघन्यः काल एकसमयो भवेत् ।

शेषमार्गणा नामत इमाः—सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे निर्यग्गतिभेदाः, सर्वे मनुष्यगति-
भेदाः, सर्वे देवगतिभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, पृथिवीकाया-ऽपकाय-तेजस्काय-
वायुकायमत्काश्चत्वार ओघमार्गणाभेदाश्चत्वारश्च वादरेण्यभेदास्तथा चत्वारः पर्याप्तवादरपृथिव्यादि-
भेदाः, प्रत्येकवनस्पतिकायौघ-पर्याप्तभेदाः, सर्वे त्रसकायभेदाः, सर्वे मनोवचोयोगभेदाः, काययोग-
मामान्यौ-दारिक-वैक्रिया-ऽऽहारक-कर्मणकाययोगाः, स्त्री-पुं-नपुंसकवेदा-ऽपगतवेद-कोष्ठादिचतुः-
कपाय-मत्यज्ञानादिष्वज्ञान-सूक्ष्मसम्परावसंयमा-ऽसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्णादिष्वे श्वा-भव्या-
ऽभव्य-श्रायिकसम्यक्त्व-सासादन-मिथ्यात्व-संज्ञ-ऽसंज्ञा-ऽऽहार्य-ऽनाहारिमार्गणाभेदाश्चेति । एतासु

प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धकपरिमाणस्याऽसंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकत्वात् तथैकजीवाश्रयस्य प्रकृतोत्कृष्टस्थितेर्वन्धकालस्य जघन्यतः समयमात्रत्वादाधिकोत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां जघन्यकालवत् प्रकृतजघन्यवन्धकालसमयमात्रोऽभिहित इति ॥३८३॥

अथ सप्तानामुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकानामुत्कृष्टकालं मार्गणाम्थानेषु दिदर्शयिष्याह—

अह उक्कोसो मुहुत्ततो ॥३८४॥

तिमणुस-सव्वत्थेषुं आहारदुगे अवेअ-मुहुमेसुं ।

मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥३८५॥

(प्रे०) “अह उक्कोसो” इत्यादि, ‘अथ’-सप्तानामुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकानां ह्रस्वकालनिरूपणानन्तरम् “उक्कोसो” ति तेषामेवोत्कृष्टः कालो निरूप्यते, य च “मुहुत्ततो” ति भिन्नमुहूर्तं ज्ञातव्यः । कासु मार्गणास्वित्याह—“तिमणुसं” इत्यादि, अपर्याप्तभेदवर्जास्वोद्य-पर्याप्त-मानुषीभेदभिन्नासु त्रिसृषु मनुष्यमार्गणासु, सर्वार्थेभिद्धारुयदेवगतिभेदे, आहरका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगयोर्द्विके, अपगतवेदसुःसमयस्य समंयममार्गेणोस्तथा मनःपर्यवेज्ञान-संयमव-लामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारत्रिजुद्विकसंयममार्गेणस्वित्येतसु त्रयोदशमार्गणास्वित्यर्थः । कुत एतासु प्रत्येकमन्तमुहूर्तमेव ? इति चेत्, जीवानां संख्येयत्वादेकजीवाश्रयोत्कृष्टवन्धकालस्यान्तमुहूर्तत्वान्च । इवन्तु षोडशम्—सप्तानामेकजीवापेश्रान्तमुहूर्तोत्कृष्टवन्धकालान्नानाजीवाश्रयः प्रकृतोऽन्तमुहूर्तकालः संख्येयगुणाधिको भवति, संख्येयानां बन्धकानामविरततया लाभसम्भवादिति ॥३८४-३८५॥

अथ शेषमार्गणाम्बेक्याऽऽर्यया प्रकृतोत्कृष्टकालमाह—

कम्मा-ऽऽणाहारेसुं आवलिआए भवे असंखंसो ।

सेसासु असंखयसो भागो पलिओवमस्स भवे ॥३८६॥

(प्रे०) “कम्माणाहारेसुं” मित्यादि, कामेणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गेणयोः “आवलिआए भवे असंखंसो” ति सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानामुत्कृष्टः काल आवलिकाया असंख्येय-भागः, असंख्येयभागगतसमयप्रमाणो भवेदित्यर्थः । कुतः ? इति चेत्, उच्यते, एतयोः प्रत्येकं प्रकृत-स्थितेरेकजीवाश्रयो बन्धकाल उत्कृष्टतोऽपि द्विसमयमात्रोऽभिहितः, बन्धकपरिमाणं चासंख्येयं सदस्यसंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकमभिहितम्, इत्थञ्च मार्गणादयेऽपि प्रकृतकाल उत्कृष्टपदे आवलिकाऽसंख्येयभागमात्रः प्राप्यते, नत्वधिकः । अथ यासु मार्गणासु सप्तानामुत्कृष्टस्थितेरेकजीवाश्रयवन्धकाल उत्कर्षतोऽप्यन्तमुहूर्तप्रमाणः, तद्वन्धका चैधिकोत्कृष्टस्थितेर्वन्धकवदसंख्येयाः सन्तोऽप्यसंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकास्तासु तासामुत्कृष्टस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयं कालं तथैव पन्थोपमसंख्येयभागप्रमाणं दर्शयिष्याह—“सेसासु” इत्यादिना, गतार्थम् ।

शेषमार्गणा नामनस्त्वमाः—सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, अपर्याप्तमनुष्य-
भेदाः, सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जाः शेषा एकोनत्रिंशद्देवगतिभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः सर्वे
पञ्चेन्द्रियभेदाः, पृथिव्यत्तेजोऽणुक्ताण्डकाश्चत्वार ओषधभेदाश्चत्वारो वादरौघभेदाश्चत्वारश्च पर्याप्त-
वादरभेदाः, प्रत्येकवनस्पतिकार्यौघ-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकार्यभेदाः, सर्वे व्रतकायभेदाः, पञ्च मनो-
योगभेदाः, पञ्च ब्रह्मयोगभेदाः, काययोगामान्यांदारिककाययोगां-दारिकमिश्रकाययोग-वैक्रिय-
काययोग-वैक्रियमिश्रकाययोग-स्त्री-पुं-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकपाय-मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-
मत्यज्ञान-श्रुतज्ञान--विभङ्गज्ञान-देशसंयमा-ऽसंयम--चक्षु-रचक्षु- रवधिदर्शन--कृष्णादिपल्लेश्या-भव्या-
ऽभव्य-सम्यक्वौघ-क्षायिक-वेदकां--पशुमिकमम्यक्त्व-सामादन-मिश्र-मिश्र्यात्व-संज्ञय-ऽसंज्ञया-ऽऽ-
हारिमार्गणाभेदाश्चेति । इदन्तु षोडश्व्यम्—एतासु प्रत्येकं पल्योपमासंख्येयभागमात्रोऽपि प्रकृत-
कालो बन्धकपरिमाणदिकस्य हीनाधिकताऽपेक्षया स्तोकोऽधिको वा भवति, केवलं स्तोकोऽपि
पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणः, अधिकोऽपि पल्योपमासंख्येयभागप्रमाण एव; पल्योपमासंख्येय-
भागस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वादिति तुल्य एवेति नावधारणीय इति ॥३८६॥

तदेवमभिहितः समानामनुकृष्टायाः स्थितेर्वन्धकानां द्विविधोऽपि कालः । साम्प्रतं तेषामेव
समानामनुकृष्टस्थितिर्माधिकृत्य तमाह—

होइ अणुक्कोमाए ठिईअ मत्तण्ह मीसु-वममेसुं ।

हम्मो भिन्नमुहुत्तं मिस्मदुजोगेसु ममयो वा ॥३८७॥

(प्रे०) “होइ अणुक्कोसाए” इत्यादि, मिश्रदृष्ट्यौपशमिकसम्यक्त्वमार्गेणयोरायुर्वर्जानां सप्ता-
नामनुकृष्टायाः स्थितं: “हस्सो भिन्नमुहुत्तं” ति प्रकृतत्वाद् बन्धकानां ‘हस्वः’-अध्वन्यः कालो
भिन्नमुहुत्तं भवति । कुतः ? इति चेत्, नानाजीवानाश्रित्य मार्गेणाऽस्य सान्तरत्वादेकजीवमा-
श्रित्य प्रकृतानुकृष्टस्थितिवन्धकालस्य अध्वन्यतोऽन्तमुहुत्तत्वाच्च । इदमुक्तं भवति—अपर्याप्त-
मनुष्यभेद-वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहाक्ता-ऽऽहाकमिश्रकाययोग-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-
सूक्ष्मसम्परायसंयमा-पशुमिकमम्यक्त्व-सामादन-मिश्रदृष्टिरूपा दश मार्गणाः स्वभावेन एव सान्तराः,
तासु मार्गेणानु कदाचिजीवा भवन्ति, कदाचिच्चपर्याप्तमनुष्यादितया कस्याऽपि जीवस्यासद्भावेन
सर्वथाजीवाभावरूपमन्तगमपि प्रवर्तते, अपगतवेदमार्गेणया अपि सर्वजीवापेक्षया निरन्तरत्वे-
ऽपि स्थितिवन्धकजीवापेक्षया तु सान्तरत्वमेव । कुतः ? श्रेणिगतजीवानामेव तत्र प्रवेशात्, श्रेणि-
द्वयस्य सान्तरत्वाच्च । अत एवोक्तं जीवसमासे—

‘पञ्चाऽसत्रिविधां सामणमित्ताऽमत्तमणुगसुं । वासपुहुत्तं उवसाअणसु खवगेसु हम्माम्ना ॥

आहारमित्तजोगे वासपुहुत्तं विउवमिसेसुं । बारस हुंति मुहुत्ता सव्वेसु जहण्णओ समओ ॥’ इति॥

ततः किं ? ततस्तास्वेकादशमार्गेणस्ववानुकृष्टस्थितेर्वन्धकानामजध्वन्यस्थितेर्वन्धकानां

चाऽन्तरं प्राप्यते । शेषमार्गणासु तु सर्वदा जीवानां सद्भावात् तैर्जीवितवहुभागेषु समानां नानास्थिति-
बन्धान्मकस्यानुत्कृष्टाऽजघन्यस्थितिवन्धस्यैव निर्वर्तनाव्चानुत्कृष्टाऽजघन्यस्थितेर्वन्धकाः सर्वदा
प्राप्यन्ते, ततश्चैकादशमार्गणावजासु शेषमार्गणासु प्रस्तुतानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां ह्रस्वेतरभेदभिन्नं
मात्रधिकं काळमप्रदर्श्य सर्वाद्भैव प्रस्तुतकाल उत्तरत्र दर्शयिष्यते । अपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्ग-
णासु न्वमानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां काळो द्विधा दर्शयितुं युज्यते, सादिसान्तत्वात्तन्नाम् । तत्रा-
ऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां जघन्यकालः प्रायेणैकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालतुल्यः प्राप्यते, अनुत्कृष्टस्थिते-
र्वन्धकानामुत्कृष्टकालस्तु मार्गणाया नानाजीवाश्रयानुत्कृष्टकालतुल्यः प्राप्यते । अजघन्यस्थितेर्वन्धकानां
कालोऽप्यनया नीत्यैव प्राप्यते, अत एव वक्ष्यतऽग्रं यद्—“अजहण्णाव ठिडेण सत्तण्ह अगुरुठिह्वव”
इत्यादि, अत्र नियमं प्रायोग्रहणं छेदोपस्थापनीयसंयमादिमार्गणान्तरे दीर्घकालं यावन्नियमतोऽनुत्कृष्ट-
स्थितेर्वन्धकानां लामेनातिप्रसङ्गनिवारणार्थम् । औपशशमिकमम्यक्त्व-मिश्रदृष्टिमार्गणाद्वये सप्ताना-
मनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालस्तु प्रागेकजीवमाश्रिन्यान्तमुहूर्तमभिहितस्ततो नानाजीवानाश्रिन्धा-
ऽप्यसौ तथैवान्तमुहूर्तं बोद्धव्यः । वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयोस्तु प्रागेकजीव-
माश्रित्य सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्जघन्यबन्धकालो मतद्वयेन यथासम्भवं समयोऽन्तमुहूर्तं चोक्तः,
स एव प्रकृतेऽपिः लभ्यत इति तथैव दर्शयन्नाह—“मिस्सदुजोगेसु समयो वा” ति ऽनन्तरो-
क्तस्य ‘मिन्नमुहूर्त’मित्यस्य काकाक्षिगोलकन्यायेनात्रापि योजनाद् वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहारक-
मिश्रकाययोगमार्गणाद्वये सप्तकर्मसत्कानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां ह्रस्वः कालो भिन्नमुहूर्तं समयो वा
भवतीत्यर्थः । अत्र भावनान्वेकजीवाश्रयबन्धकालवत्तत्तन्मतानुसारेण कर्तव्येति ॥३८७॥

समयो असमत्तणरे आहारम्मि गयवेअ-सुहमेसुं ।

सासायणे य णेयो छेए अद्धतइअसयसमा ॥३८८॥

(प्र०) “समयो असमत्तणरे” इत्यादि, प्रकृतो ह्रस्वकालः समयो ज्ञेय इति गार्थोत्तरा-
धेऽन्वयः । कासु मार्गणास्विन्याह—“असमत्तणरे” इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्या-ऽऽहारककाययोग-
गतवेद-सूक्ष्ममम्परायसंयम-सासादनरूपासु पञ्चमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । सुगमं चैतत्, सूक्ष्म-
सम्पराये षण्णां तथा शेषासु प्रत्येकं सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेरेकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालस्य समय-
मात्रन्वादिति । “छेए” ति ‘भीमो भीमसेने’तिन्यायाच्छेदोपस्थापनसंयममार्गणायाम् “अद्धतइअ-
सयसम” ति । प्रकृतो ह्रस्वकालोऽर्धतृतीयशतानि ‘समाः’-वर्षाणि, पञ्चाशदभ्याधिकशतद्वयवर्षाणि
भवतीत्यर्थः । कुतः ? उत्तर्षिण्यां प्रथमतीर्थकरतीर्थस्य तावत्कालं प्रवर्तनात्, तर्तीर्थान्तं यावच्छेदो-
पस्थापनसंयतानां वर्तनाच्च । इदमुक्तं भवति—छेदोपस्थापनसंयता जघन्यतः सार्धशतद्वयवर्षाणि
यावन्नेरन्तर्येण प्राप्यन्ते । उक्तं च श्रीपञ्चमाङ्गे पञ्चविंशतितमशतकसप्तमोद्देशे—

“छेदोवहावणिगसु पुच्छा० गोयमा ! जहणेणं थड्ठाइज्जाइं वाससयाइं, उक्कोसेणं पन्नासं सागरो-
वमकोडिसयसइन्साइ” इति ।

तत्र जघन्यकाल उत्सर्पिण्यामादितीर्थकरतीर्थकालापेक्षया, उत्कृष्टकालस्त्ववसर्पिण्यां प्रथम-
तीर्थकरशासनकालापेक्षया प्राप्नोते । उक्तञ्च लघुश्लो श्रीमद्भगवत्प्रेषसूक्तिपद्यै—

‘पृथक्त्वेन कालचिन्तायां “छेदोपस्थापणम्” इत्यादि, तत्रोत्सर्पिण्यामादितीर्थकरस्य तीर्थ-
यावच्छेदोपस्थापनीयं भवतीति, तीर्थं च तस्य सार्द्धं द्वे वर्षशते भवतीत्यत उक्तम्— “सद्दृढाद्दृढाद्” इत्यादि,
तथाऽवसर्पिण्यामादितीर्थकरस्य तीर्थं यावच्छेदोपस्थापनीयं प्रवर्तते, तन्व्य पञ्चाशत्तापारोपमकोटीलक्षा इत्यतः
“उङ्गोसेणं पञ्चास”मित्याद्युक्तम् इति ।

इत्थं च तीर्थजघन्यकालस्य प्रान्तं यावत् केचन सप्तानामनुकृष्टस्थितैर्वन्धका नियमेन
लभ्येरन् । न च तीर्थकालमध्य एव कदाचित् सर्वेषां छेदोपस्थापनीयसंयतानामनुकृष्टस्थितिवन्ध-
सम्भवः, यतस्तथाभावेऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं तेषां सर्वेषां मिथ्यान्वगमनेन तीर्थकालेऽवशेष एव छेदोपस्था-
पनसंयताभावः स्यात् । स च नेष्यते, आदितीर्थकरस्य तीर्थं यावच्छेदोपस्थापनीयं भवतीत्यभिधा-
नात् । इत्थं हि छेदोपस्थापनसंयममार्गणायां सप्तानामनुकृष्टस्थितैर्वन्धकानां कालो नाऽपयाप्त-
मनुष्यादिमार्गणावदेकजीवाश्रयजघन्यवन्धकालानुसार्येकममयः, किन्तु नानाजीवाश्रयजघन्यमार्गणा-
कालतुल्यः सार्धं द्वे वर्षशत इति तथैवाभिहित इति ॥३८८॥

अथ परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायामपि प्रकृतवन्धकानां कालोऽनन्तरोक्तनीत्या नान्त-
र्मुहूर्तमात्रः, किन्तु देशोनशतवर्षेभ्यः प्राप्यते, परिहारविशुद्धिकसंयमस्य नानाजीवाश्रयजघन्य-
कालस्य तावन्मात्रन्वात् । उक्तं च श्रीमत्यां भगवत्याम्—

‘परिहारयिसुद्धीए पुच्छा, गोयमा ! जद्दनेणं देसूणाडं दो वाससयाडं, उङ्गोसेणं देसूणाओ दो
पूव्वकोडीओ’ इति ।

अतः परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां प्रकृतवन्धकालं तावन्मात्रं तथा शेषमार्गणासु
वन्धकानां सर्वथाऽभावलक्षणस्याऽन्तरस्यैवाऽभावात् तामु सर्वाद्वां च दर्शयन्नेकां गाथामाह—

परिहारे वासाणं वीसपुहुत्तं हवेज्ज सेसासुं ।

सन्वद्धा णायव्वोऽणुक्कोसाए खलु ठिईए ॥३८९॥

(प्रे०) “परिहारे वासाणं”मित्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां “वासाणं वीस-
पुहुत्तं हवेज्ज”ति सप्तानामनुकृष्टस्थितैर्वन्धकानां निरन्तरो जघन्यकालो वर्षाणां विंशतिपृथक्त्वानि
भवेत् । एष तूक्तनीत्या नानाजीवाश्रयप्रकृतमार्गणासत्कदेशोनशतवर्षेभ्यः आत्मकजघन्यकाङ्क्षिप्तो
बोद्धव्यः, प्रकृतमार्गणायामपि छेदोपस्थापनसंयममार्गणावन् मार्गणान्तराभिमुखानामेव सप्तकर्म-
सत्कोन्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वात् । मार्गणाजघन्यकालस्त्वन्यं भाव्यते—वर्षशतायुवा केनाऽपि नव-
केन गणेन स्वायुष एकोनविंशद्वर्षेषु गतेषुत्सर्पिण्यामाद्यतीर्थकरस्य समीपे परिहारविशुद्धिकं चारित्रं
प्रतिपद्यैकसप्ततिवर्षाणि निरन्तरं निर्व्यूढम्, तदायुःपर्यन्ते च तत्समीपे वर्षशतायुषैवाऽन्येन
नवकगणेन स्वायुष एकोनविंशद्वर्षेषु व्यतीतेषु परिहारविशुद्धिकचारित्रमङ्गीकृतं, तच्च स्वायुषोऽन्तं

यावन्नेर्यन्तयेण सनाप्यनुपालितम्, अतः परं न कोऽपीदं प्रतिपद्यते, तीर्थकरं तत्समीपे प्रतिपन्नप्रकृत-
चारिणं वा विहायान्ययमीपे तत्प्रतिपत्तेर्निषेधात् । एवं च सति जघन्यतो द्विचत्वारिंशदभ्यधिक-
वर्षशतं निरन्तरं प्रकृतचारिणिणां प्राप्तिर्भवति, एवैव श्रीमद्भगवत्यां देशोनशतवर्षद्वयेनाभिहिता,
प्रकृते च वर्षाणां विंशतिषुधक्त्वरपि तावन्मात्रः काल एवाभिहित इति ।

“सेसास्तु” ति अनन्तरोक्ताः सम्यग्मिश्रव्याघ्रेकादशमार्गणाः मन्वज्य शेषास्वेकोनपञ्च्यु-
त्तरशतमार्गणासु प्रत्येकं “सर्वद्वयाण्यव्या” इत्याद्युत्तगर्भम्, आयुर्वर्जानां सप्तानामनुकृष्टायाः
स्थितेर्वन्धकानां कालः सर्वाद्वया ज्ञातव्यः । किं जघन्य उन्कृष्टो वा ? इति चेत्, न जघन्यो न
वोन्कृष्टः, सर्वाद्वया निन्वधिकत्वेन जघन्योन्कृष्टभेदमिभ्रत्वाभावात् । एष ह्यनन्तरं “होइ अणुकोसाए”
इत्यस्या गाथाया वृत्ता भावित इति ॥३८९॥

तदेवमुक्तोऽपर्याप्तमनुष्याघ्रेकादशमार्गणानां सान्तरत्वात्तासु सप्तानामनुकृष्टायाः स्थिते-
र्वन्धकानां जघन्यकालो यथामभवम्, शेषसु तु सर्वाद्वया । सम्प्रतं यासु जघन्यकाल उक्तस्ता-
स्वेव नानाजीवाश्रयमार्गणोन्कृष्टावस्थानकालाऽऽश्रितमनुकृष्टकालं दर्शयन्नाह—

असमत्तमणुस-वित्रिकयमीसु-वसम-भीम-सासणेसु गुरु ।

पलिअअसंखियभागो आहारदुगे अवेअ-सुहुमेसु ॥३९०॥ (गीतिः)

भिन्नसुहुत्तं छेए अयरा पण्णामलक्खकोडीओ ।

परिहारं विण्णेयो देसूणा पुव्वकोडी दो ॥३९१॥

(प्र०) “असमत्तमणुसे”त्यादि, अपर्याप्तमनुष्य-वैक्रियमिश्रकाययोगी-पशमिकसम्य-
क्त्व-मिश्र-मासादनमार्गणासु प्रत्येकं “गुरु” ति प्रकृतत्वात् सप्तकर्मसत्कानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां
‘गुरुः’-उत्कृष्टः कालः “पलिअअसंखियभागो” ति पन्थोपमाऽसंख्यभागो भवति, तत्तन्मार्ग-
णानां नानाजीवाश्रयोन्कृष्टकालस्य तावन्मात्रत्वात् । उक्तं च पञ्चसंग्रहवृत्तौ—

‘नानाप्रकाराः कश्चिदपचात्कानेकमनुष्यकायस्य तत्सन्ततेरव्यवच्छिन्नाया उत्कृष्टतः पन्थोपमासंख्येयभाग-
मात्रा स्थितिः’ इति ।

तथैव ‘पञ्चासंखियभागो वेउखियमिस्सगाण अणुसारे’ तथा ‘पञ्चासंखियभागो सासणमिस्सा च हुंति
उकोमं’ इत्यादिभिः श्रीजीवसमासादिग्रन्थवचनैः प्रकृतमार्गणानां नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्य
तथात्वात् प्रकृतबन्धककालोऽपि तथोपपादनीय इति ।

“आहारदुगे अवेअसुहुमेसु” ति आहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणयो-
द्विकं, अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमयममार्गणयोरित्येतासु चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं ‘भिन्नसुहुत्तं’
मित्युत्तरगाथायामन्वयः, सप्तानामनुकृष्टस्थितेर्वन्धकानामुत्कृष्टः काल इति प्रकृमाद् बोद्धव्यम् ।
अत्रापि “भिन्नसुहुत्तं आहारमिस्से”त्यादिना ग्रन्थान्तरोक्ता प्रकृतमार्गणासन्ना नानाजीवाश्रयोत्कृष्ट-

कायस्थितिरेवानुसर्तव्या । यद्वा सान्तरासु प्रकृतचतुर्मार्गणासु प्रत्येकं संख्येया एव जीवाः, एकजीवा-
श्रयोत्कृष्टकायस्थितिश्च प्रत्येकमन्तमुर्हृत्तमात्राऽभिहिता, एवं च सति मनुष्यगत्योद्वादिमार्गणासु
सप्तानामुत्कृष्टस्थितेरबन्धकानां संख्येयत्वाद्दुत्कृष्टस्थितेरैकजीवाश्रयस्य गुरुबन्धकालस्यान्तमुर्हृत्तत्वाच्च
यथा नानाजीवाश्रयः सप्तानामुत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धकालोऽन्तमुर्हृत्तं प्राप्यते तथा प्रकृतचतुर्मार्गणानां
नानाजीवाश्रयः कालोऽप्यन्तमुर्हृत्तमेव प्राप्येतेति सामर्थ्याद्भ्रम्यते, तथा च सति प्रकृतानुत्कृष्ट-
स्थितेरबन्धकानामुत्कृष्टकालोऽपि तावन्मात्रोऽन्तमुर्हृत्तमेव प्राप्यत इति ।

“छेप” ति प्राग्छेदोपस्थापनसंयममार्गणायाम् “अतरा पण्णासलक्खकोडिओ”
ति अतिमहत्त्वादुदधिवत् तरितुम् अचिगत् पारं नेतुं न शक्यन्त इत्यतराः-सागरोपमाणि पञ्चाश-
ल्लक्षकोटय इत्यर्थः । कुतः ? छेदोपस्थापनसंयममार्गणाय नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्य तावन्प्रमा-
णत्वात् । छेदोपस्थापनसंयममार्गणाय नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्तु प्राग्-“उक्कोसेण पञ्चासं सागरो-
वसकोडिसयसहस्साइ” इति श्रीभगवतोग्रन्थेन दर्शित एवेति । परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणा-
यामपि “परिहारविशुद्धिण पुच्छा, गोयमा ! जहजेणं देसुणाइं दो वाससयाइं, उक्कोसेणं देसुणाओ दो
पूव्वकोडिओ” इत्यनेन श्रीभगवत्यां परिहारविशुद्धिकसंयमस्य नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्य
देशेनपूर्वकोटीद्वयप्रमाणस्याभिहितत्वात् प्रकृतकालोऽपि तावन्मात्र एव प्राप्यत इति तं तथैव दर्श-
यन्नाह-“परिहारे विण्णेयां” इत्यादि, गतार्थम् ॥३९०-३९१॥

तदेवमभिहित आयुर्वर्जानां सप्तानामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकानां कालो मार्गणास्थाने-
ष्वपि । साम्प्रतमवशेषस्यायुःकर्मण उक्तृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकानां कालं दिदशेधिवुरादां ताव-
दुत्कृष्टां स्थितिमधिकृत्याह—

आउस्सुक्कोसाए ठिईअ कालो हवेज्ज सव्वायुं ।

हस्सो समयो परमो आवलियाए असंखंसो ॥३९२॥

णवरं परमो समयो संखेज्जा होअए-तिमणुमेसुं ।

आणतपहुडिसुरेसुं आहारदुग-चउणाणेसुं ॥३९३॥

संयम-सामइएसुं छेए परिहार-देस-ओहिसुं ।

मुहलेम-मम्म-खाइअ-वेअग-सासायणेसुं च ॥६९४॥

(प्रे०) “आउस्सुक्कोसाए ठिईअ” इत्यादि, आयुष उक्तृष्टायाः स्थितेः “कालो” ति
नानाबन्धकाश्रयः कालः “हवेज्ज सव्वायु” ति त्रिषष्ट्यभ्यधिकशतसंख्याकसु सर्वमार्गणासु
भवेत् । कीदृशः किर्यांश्चेत्याह-“हस्सो समयो” इत्यादि, ‘हस्वः’-लघुः कालः समयः, ‘परमः’-
दीर्घः काल आवलिकाया असंख्यांशः, आवलिकाऽसंख्येयतमक्रममागताऽसंख्येयसमया इत्यर्थः ।

किं सर्वांश्चिन्त्यमेवोतास्ति कासुचित्कश्चिद्विशेष इत्यत आह—“नवरं परमो” इत्यादिमाथाद्वयम्, 'नवरं'-परमयमत्र विशेषः, कोऽसावित्याह—“परमो” इत्यादि, 'परमः'-उत्कृष्टः कालः संख्येयाः समया भवति । कासु मार्गणास्विन्याह—“तिमणुसेसु”मित्यादि, मनुष्योद्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-रूपेषु त्रिषु मनुष्यगतिमार्गणाभेदेषु तथाऽऽननकल्यादिषु पञ्चानुत्तरविमानपर्यन्तेष्वष्टादशषु देवगति-मार्गणाभेदेष्वारकाः-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणादिक-मत्यादिचतुर्ज्ञानमार्गणासु, संयमोद्य-सामा-यिकसंयममार्गणयोः, छेदोपस्थापनसंयममार्गणायां परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमा-ऽवधिदर्शन-मार्गणासु, तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वोद्य-क्षायिकसम्यक्त्व-वेदकसम्यक्त्व-मायादनमार्गणासु चेत्येतासु चत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः ।

तत्र जघन्यकालः सर्वमार्गणास्वोद्यवदेकमभयस्तृकृष्टावाधाऽधीनस्यायुष उत्कृष्टस्थितिवन्ध-स्यैकस्मिन् भवे सकृन् ममयमेव प्रवर्तनात्, तद्वन्धकपरिमाणस्य च प्रत्येकं मार्गणास्वसंख्यलोक-प्रदेशराश्यपेक्षया स्तोक्तत्वाच्च । स चैकजीवाश्रितजघन्यकालवद्विद्धावनीयः । सूक्ष्मापर्याप्तिकेन्द्रियादि-मार्गणासुत्कृष्टस्थितिकायुर्वन्धकानामसंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षयास्तोक्तत्वं तूत्कृष्टस्थितिकजीवानां लोके स्तोक्तत्वेन हेतुना परिमाणद्वारे भावितमिति तत एवावसेपम् । प्रतिमार्गणमुत्कृष्टस्थितिकायुर्वन्धक-परिमाणस्तोक्तत्वादेवायुष उत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानामुत्कृष्टकालोऽपि यासु मार्गणासु बन्धकपरिमाण-संख्येयं तासु मार्गणास्वसंख्येयाः समयाः प्राप्यते, यासु पुनर्मार्गणासुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकजीवपरि-माणं संख्येयं तासु मनुष्यगन्धोवादिमार्गणासु संख्येयममयमात्रः प्राप्यते, अत सः “परमो आवलिआण असंखंसो” इत्यात्मगिकवचनेन सर्वमार्गणासु लाघवार्थमावळिकाऽसंख्यभाग-मात्रोऽभिहितोऽपि सन् “नवरं परमो समया संखेज्जा” इत्यादिना मनुष्यगन्धोवादिमार्गणासु पश्चादपोदित इति ॥३९२-३९४॥ अथायुषोऽनुकृष्टस्थितेर्वन्धकानां कालमभिधित्तुराह—

सन्वद्धा-ऽऽउस्स भवे अगुरुठिईअ तिरियम्मि सव्वंसुं ।

एगिंदि-णिगोणसुं पुहवाइपणसु य सेममुहुमेसुं ॥३९५॥

वायरपुहवाइचउमु पत्तेअवणे य सिं अपज्जेसुं ।

काये उरालियदुगे णपुंसग-कसायचउगेसुं ॥३९६॥

अण्णाणदुगम्मि तहा असंयमा-ऽचक्खु-अमुहलेसामुं ।

भवि-येयर-मिच्छेसुं असण्णि-आहारगेसुं च ॥३९७॥

(प्रे०) “सन्वद्धाउस्स भवे” इत्यादि, अनन्तरं वक्ष्यमाणतिर्यगत्योधादिद्विषष्टिमार्गणास्वा-युषः “अगुरुठिईअ” त्ति ‘अगुरुस्थितः’-अनुकृष्टायाः स्थितः “सन्वद्धा” त्ति प्रकृतो नाना-बन्धकाश्रयः कालः सर्वाद्धा भवेदित्यर्थः । तिर्यगत्योधादिमार्गणा एवाह—“तिरियम्मि” इत्यादिना,

तिर्यग्गत्योद्य-सर्वैकेन्द्रियभेद-सर्वनिगोदभेद-पृथिव्यादिपञ्चकार्योद्यभेदेषु तथा सूक्ष्मपृथिव्यप्तेजोवायु-
कार्योद्य-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तरूपासु द्वादशसु शेषसूक्ष्मभेदेषु, वादरपृथिव्यप्तेजोवायुकायरूपासु चतुर्षु
वादरपृथिव्याद्योद्यभेदेषु, ग्रन्थेकवनस्पतिकार्योद्यभेदे च, तथा “सि अपञ्जेसु” ति तेषां वादर-
पृथिव्यादिचतुःग्रन्थेकवनस्पतिकार्यपञ्चमानामपर्याप्तभेदेषु, अपर्याप्तवादरपृथिवीकायाद्यपर्याप्तग्रन्थेक-
वनस्पतिकायान्तेषु पञ्चध्वपर्याप्तभेदांघ्वन्यर्थः । “कार्ये उरालिय” इत्यादि, माघंगाथा तु सुगमाः ।
एतासु तिर्यग्गत्योद्याद्याहारिपर्यन्तासु द्विपष्टिमार्गणासु प्रत्येकमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका अमंख्य-
लोकप्रदेशराशितुल्यास्तदधिका वाऽनन्ताः सन्तिः, ततश्च निरन्तरमनेकानां प्रस्तुतबन्धकानां
लाभात् प्रस्तुतकालः सर्वाद्वा प्राप्यत इति तथैवोक्त इति ॥३९५-३९६-३९७॥

अथानन्तरोक्तद्वापष्टिमार्गणावर्जामु शेषमार्गणासु प्रकृतकालः सावधिक इति तं जघन्यादि-
भेदेन दिदर्शयिषुरादीं तावज्जघन्यत आह—

पणमणवय-विउवेसु आहारदुगे जहणगो समयो ।

णायव्यो सेसामु भिन्नमुहुत्तं मुणयव्वो ॥३९८॥

(प्रे०) “पणमणवये” त्यादि, पञ्चशब्दस्य सनायचसोः ग्रन्थेकं योजनात् पञ्चमनोयोग-
पञ्चचोयोग-वैक्रियकाययोगेषु, तथाऽऽहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगामार्गणाद्वय इत्येतासु
त्रयोदशमार्गणासु प्रत्येकं “जहणगो” ति आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां जघन्य एव जघन्यकः कालः
“समयो” ति समयमाशौ ज्ञानव्य इत्युत्तरार्धेऽन्वयः । कुतः ? अमंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया
स्तोकबन्धकरिमाणसु मार्गणास्वेकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालानुसारेण प्रकृतकालस्य लाभात्, एक-
जीवाश्रयजघन्यबन्धकालस्य त्वधिकृतमार्गणायं समयमात्रन्वाच्य । उक्तञ्च प्राग्—

.....अणुक्कोसार लद्धं वणो होइ पणमणवयेसु । कार्ये उराले विउवे आहारदुगे कमायेसु ॥३९५॥ इति ।

अत्र काययोगो-दारिककाययोग-कपत्यमार्गणानां वर्जनं तासु प्रत्येकं बन्धकरिमाणस्यानन्त-
त्वादिति शोद्धव्यमिति । “सेसासु” ति तिर्यग्गत्योद्याद्यनन्तरोक्तद्विपष्टिमार्गणाः, प्रकृतगाथोक्ता
मनोयोगादित्रयोदशमार्गणाश्च विहाय शेषास्वायुर्वन्धशरोर्यासु निर्यग्न्योद्याद्यष्टाशीतिमार्गणासु
“भिन्नमुहुत्तं मुणयव्वो” ति आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां नानाजीवाश्रयो जघन्यकालो
‘भिन्नमुहुत्तं’-अन्तमुहुत्तं ज्ञानव्य इत्यर्थः । अयमपि कालः शेषमार्गणासु बन्धकरिमाणस्योक्ता-
ऽपेक्षया स्तोकत्वे सन्त्यप्येकजीवाश्रयस्य जघन्यबन्धकालस्यान्तमुहुत्तत्वात् प्रागुक्तनीत्या शोद्धव्य इति ।
शेषा अष्टाशीतिमार्गणाः पुनर्नामन्त इमाः-सर्वे निर्यगतिभेदाः, सर्वे देवगतिभेदाः, सर्वे
पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, सर्वे मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, वादर-
पर्याप्ताः पृथिव्यप्तेजोवायुकायिकाः, पर्याप्तग्रन्थेकवनस्पतिकायः सर्वे त्रयकायभेदाः, स्त्रीबेद-पुंवेद-
मत्यादिचतुर्ज्ञान-विभङ्ग-संयमोद्य-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयम-चक्षु-

दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सासादन-संज्ञिमार्गणाश्चेति ॥३९८॥

अथ प्रकृतमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धककालमुत्कृष्टत आह—

परमो अंतमुहुत्तं णयो पञ्जत्तणर-मणुस्सीसुं ।

आणत्तपहुडिसुरेसुं आहारदुग्गम्मि मणणाणं ॥३९९॥

संयम-सामङ्गसुं छेए परिहार-सुइल-खइएसुं ।

सेमासु असंखयमो भागो पलिओवमस्स भवे ॥४००॥

(श्र०) “परमो अंतमुहुत्तं णयो” इत्यादि, ‘परमः’-उत्कृष्टः कालोऽन्तमुहुत्तं ज्ञेयः, आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानामिति प्रक्रमाद्भवति । कासु मार्गणास्वित्याह—“पञ्जत्तणरे” त्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोरान्तकल्पप्रभृतिषु पञ्चानुत्तरविमानान्तेषु देवगतिमार्गणाभेदे-ष्वहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगद्विके, मनःपर्यवज्ञाने, संयमौघ-सामायिकसंयमयोः, छेदोपस्थापन-संयमे, परिहारविशुद्धिकसंयम-शुक्ललेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणास्वित्येतस्वेकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । कुतः ? प्रत्येकमायुर्वन्धकानां संख्येयत्वादेकजीवाश्रयवन्धकालस्यान्तमुहुत्तत्वाच्चेति । “सेमासु” चि उक्तशेषसु निरयगत्योधादिद्विसप्तमिमार्गणासु “असंखयमो भागो पलिओ-वमस्स भवे” चि प्रकृतकालः पल्योपमस्यासंख्येयतमैकभागप्रमाणो भवेदित्यर्थः । कुतः ? प्रत्येकं बन्धकपरिमाणस्यासंख्येयत्वेऽप्यसंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षयास्तोकत्वादेकजीवाश्रयवन्धकाल-स्यान्तमुहुत्तत्वाच्चेति ।

शेषमार्गणा नामतस्त्विमाः-सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, मनुष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदा, देवौघः, भवनपत्यादिसहस्रारकल्पान्ता अन्य एकादशदेवभेदाश्च, सर्वे विकलेन्द्रिय-भेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, वादरपर्याप्ताः पृथिव्यादिवायुकायान्ताश्चत्वारो भेदाः, पर्याप्तप्रत्येक-वनस्पतिकायभेदः, सर्वे त्रसकायभेदाः, पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चवचोयोगभेद-वैक्रियकाययोग-स्त्रीवेद-पुं-वेद-मत्यादित्रिज्ञान-विभङ्ग-देशसंयम-चक्षु-रवधिदर्शन-तेजः-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिकसम्य-क्त्व-सासादन-संज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति ॥३९९-४००॥

तदेवमभिहित आदेशतोऽप्यष्टानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योः प्रत्येकं बन्धकानां जघन्योत्कृष्टमेदभिन्नो द्विविधोऽपि निरन्तरकालः । साम्प्रतं जघन्याऽजघन्यस्थितिविषयं तं दिद-शंयिषुरादी तावदोघत आह—

सत्तण्ह बंधगाणं भिन्नमुहुत्तं ढिईअ हस्सासुं ।

हस्सियरो अलहूए सब्बद्धा-ऽऽउस्स दोण्हं वि ॥४०१॥

(प्रे०) “सत्तण्ह बंधगाण”मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं “टिईअ हस्साण” ति ‘ह्रस्वायाः’-जघन्यायाः स्थितेः “बंधगाणं” ति ‘बन्धकानां’-निर्वर्तकानां ‘भिन्नमुहूर्तम्’-अन्तमुहूर्तं, कालो भवतीति प्रक्रमाद्भवते । किं जघन्य उन्कृष्टो वैप भिन्नमुहूर्तं काल इत्याह—“हस्सियरो” ति ह्रस्वः-जघन्यः, ‘इतरः’-दीर्घः, जघन्यान्कृष्टद्विविधकालः प्रत्येकमप्यन्तमुहूर्तमेवेत्यर्थः । अत्र ह्रस्वापेक्षया दीर्घकालः संख्यातगुणाधिको बोद्धव्यः, संख्येयानां जीवानां निरन्तरं क्रमशो जघन्यास्थितिवन्धयम्भवादिति । “अलहूण” ति सप्तानामलघोः-अजघन्यायाः स्थितेर्वन्धकानां कालस्तु “सच्चद्धा” ति सर्वाद्धा भवतीति । अथाऽऽयुपन्तमाह—“उस्स दाण्हं वि” ति अकारस्य पूर्व दर्शनात् ‘सच्चद्धा’ इतिपदस्य देहलीदीपकन्यायेनात्राऽपि योजनाच्चायुषो ‘द्वयोरपि’-जघन्याऽजघन्ययोः स्थित्योः कालः सर्वाद्धा, -अनाद्यनन्त इत्यर्थः । असंख्य-लोकादिपरिमाणेषु जीवराशिष्वायुषां जघन्याऽजघन्यस्थित्योर्वन्धकानां निरन्तर्येणाऽऽकालं लभ्यात्, प्रकृते च जीवपरिमाणस्य तथात्वादिति ॥४०१॥

अथ प्रकृतकालमेव मार्गणास्थानेषु दिदर्शयिपुरादौ तावदायुर्वर्जानां सप्तानां जघन्यस्थितेर्वन्धकानां कालमाह—

णयो सव्वेगिंदियणिगोअ-सेमसुहुमेसु वणकाये ।
 अममत्तवायरेसुं चउसुं पुह्वाइभेणसुं ॥४०२॥
 पत्तेअवणापज्जे तिरिय-उरलमीस-कम्मणेसुं च ।
 अण्णाणदुगे अयते तीसुं अपमत्थलंसासुं ॥४०३॥
 अभविय-मिच्छत्तेसुं अमणा-ऽणाहारगेसु सव्वद्धा ।
 मत्तण्हं कम्माणं जहण्णगाण सल्लु टिईण ॥४०४॥

(प्रे०) “णयो सव्वेगिंदिये” न्यादि, सर्वशब्दस्यैकेन्द्रिय-निगोदयोः प्रत्येकं योजनात् सर्वेष्वेकेन्द्रियजानिमार्गणाभेदेषु, सर्वेषु निगोदभेदेषु तथा “सव्वेगिंदियणिगोअ” इत्यनेन संगृहीतास्त्रयः सूक्ष्मैकेन्द्रियभेदाश्चयथासूक्ष्मनिगोदभेदा इत्येतान् पङ्भेदान् विहाय शेषेषु सर्वेषु पृथिव्यप्तजोशायुकाययन्केषु द्वादशषु सूक्ष्मपृथिवीकायादिभेदेषु, वनस्पतिकार्योद्यभेदे, तथा पृथिव्यादि-सन्केष्वपर्याप्तवादस्पृथिव्यादिरूपेषु चतुषु मार्गणाभेदेषु । अन्यमार्गणाः संगृहीतुमाह—“पत्तेअ-वणापज्जे” इत्यादि, अपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकार्यभेदे, तिर्यग्गन्धोष्ण-दारिकमिश्रकाययोग-कार्मण-काययोगेषु, । चः समुच्चये । मन्यज्ञान-श्रुताज्ञानरूपेऽज्ञानिके, असंयममार्गणायां त्रिमृष्वप्रशस्त-कृष्णादिलेश्यामार्गणासु, तथाऽभव्य-मिथ्यस्त्वमार्गणयोस्संज्ञ-ऽनाहारकमार्गणयोश्चेत्येतासु पञ्च-चत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं “सच्चद्धा”ति प्रस्तुतनानावन्धकाश्रयो कालः सर्वाद्धा, ज्ञेय इति पूर्व-

कस्याः स्थितेः प्रकृतकालः सर्वाद्वैत्याह—“सत्तपह” मित्यादि, आयुर्वर्जानां समानां मूलकर्मणां जघन्याः स्थितेरित्यर्थः । सुगमं चेदं, तिर्यग्न्योषाद्यष्टाविंशतिमार्गणासु प्रत्येकं जघन्य-स्थितेर्वन्धकरिमाणम्यानन्व्यात् । उक्तञ्च शाक् परिमाद्वारे यत्—

‘तिरिये सव्वेगिन्द्रिय-पिणोदभेअ-वण-उरलमीसेसुं । फम्मण-दुअणाणेसुं अयत्ते अपसत्त्वलेसामुं ॥३२२॥

अभविअ-सिच्छत्तेसुं अमणा-णाद्वारेसेसु य अणाना । सत्तपह बंधगा खलु हुन्ति डिईए जइपणाः ॥३२३ इति

शेषास्वपर्याप्तवादरपृथिव्यादिमार्गणास्त्रपि प्रत्येकं बन्धकजीवा असंख्यलोकप्रदेशराशितुल्यास्ततः प्रकृतबन्धका निरन्तरं प्राप्यन्त इति सर्वोद्वाऽभिहित इति ॥४०२-४०४॥

अथ शेषमार्गणासु सप्तकर्मणां जघन्यस्थितेर्वन्धककालोऽसर्वाद्वैत्यर्थाद्द्रम्यते । स च मावधिक इतिकृत्वा जघन्योत्कृष्टभेदेन दिदर्शयिपुरादौ जघन्यपद आह—

सव्वणिरय-पंचिन्द्रियतिरियेसु तहा अपज्जमणुसम्मि ।

सव्वामर-विगलेसुं असमत्तपणिन्द्रिय-त्तसेसुं ॥४०५॥

पुहवाइचउसु तेसिं वायर-वायरसमत्तभेएसुं ।

पत्तोअवणम्मि तहा समत्तपत्तोअवणकाये ॥४०६॥

पणमण-वय-कायेसुं आहार-विउव्वदुग-उरालेसुं ।

उवमम-सामाणेसुं हस्सो समयो मुणेयव्वो ॥४०७॥

(प्रे०) “सव्वणिरये”त्यादि, अक्षरार्थस्तु प्राग्वत्, ततः सर्वेषु निरयभेदेषु, सर्वेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेषु, तथाऽपर्वाप्तमनुष्यभेदे, सर्वेष्वमरभेदेषु, सर्वेषु देवगतिभेदेष्वित्यर्थः । तथाऽपर्याप्त-पञ्चेन्द्रियभेदे, अपर्याप्तवसकायभेदे, पृथिव्यादिषु चतुर्वर्षाद्यभेदेषु, तेषामेव पृथिव्यादीनां चतुर्षु वादरगंधभेदेषु, तेषामेव पृथिव्यादीनां चतुर्षु पर्याप्तवादरभेदेषु, तथा प्रत्येकवनस्पतिकार्यौघभेदे, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकार्यभेदे, पञ्चषु मनोयोगभेदेषु, पञ्चषु त्रयोयोगभेदेषु, काययोगसामान्ये, आहारक-तन्मिश्रकाययोगयोर्द्विके, वैक्रिय-तन्मिश्रकाययोगयोर्द्विके, औदारिककाययोगे, आंशमि-क-माभ्वादनमार्गणयोश्चैत्येतासु षडशीतिमार्गणासु प्रत्येकं प्रकृतायाः समानां जघन्याः स्थिते-र्नानाजीवाश्रयो ‘ह्रस्वः’-जघन्यः कालः समयो ज्ञानव्यः । एष हि प्रकृतस्थितेरेकजीवाश्रयजघन्य-कालवद् बोद्धव्यः, असंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोत्रबन्धकरिमाणसु मार्गणासु नानाबन्ध-काश्रयजघन्यकालोऽप्येकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालवल्लभ्यत इति तु प्रागुपपादितमेव, प्रकृतमार्गणासु-प्रत्येकमेकजीवाश्रयः सप्तकर्मणां जघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालस्तु प्रागेकजीवाश्रयबन्धकालप्ररूपणा-यामेकसमयो दर्शितो भावितश्च, अत्राप्ययं तथैव भावनीय इति ॥ ४०५-४०७॥

परिहारे तेऊए पउमाण वेअगे य समयो वा ।

भिन्नं मुहुत्तं व भवे सेसासु भवे मुहुत्तं तो ॥४०८॥

(प्रे०) “परिहारे” इत्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयमे, तेजोलेश्यायां, पञ्चलेश्यायां, वेदक-सम्यक्त्वे चेत्येताषु चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं सप्तानां जघन्यस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयो ह्रस्वः कालः “समयो वा भिन्नमुहुत्तं व भवे” ति स्वस्थानाऽग्रमतसंयतस्यापि जघन्यस्थितिवन्धस्वामित्व-मिच्छतां समयो भवेत् । वाकारस्य मतान्तरघ्नोक्तत्वात् कृतकरणाद्धाया अनन्तरप्राग्भाविस्थितिवन्धं कुर्वतोऽग्रमतस्यैव जघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वमिच्छतोक्तान्यमतेन तु भिन्नमुहुत्तं प्रकृतबन्धकाल इत्यर्थः । एष हि मतद्वयापेक्षयाऽप्येकजीवाश्रयस्य सप्तानां जघन्यस्थितेर्जघन्यबन्धकालस्य तथा-त्वात्तथा बोद्धव्यः । उक्तं श्रीकजावाश्रयकालधारेऽपि—

“परिहारे तेऊए पउमाण वेअगे य समयो वा । भिन्नमुहुत्तं व भवे” ॥१९१॥ इति ।

“सेसासु” ति उक्तशेषासु मनुष्यगत्योधादिपञ्चविंशन्मार्गणासु प्रत्येकं सप्तानां जघन्य-स्थितेर्नानाबन्धकाश्रयो ह्रस्वकालोऽन्तर्मुहूर्तं भवेत् । तत्र शेषमार्गणा नामत इमाः—सनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-ब्रह्मकायौघ-पर्याप्तस्त्रसकाय--वेदत्रया-ऽपगतवेद-कषायचतुष्क-मन्यादिज्ञानचतुष्क-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-सूक्ष्मसम्पराय-देशसं-यम-चक्षुरादिदर्शनत्रिक--शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ--श्रायिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टि-भंस्था--ऽऽहारि-मार्गणा इति । अप्रापि पूर्ववदेकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालानुसारेणैव प्रकृतकालो भावनाय इति ॥४०८॥

अथ प्रकृतसप्तानां जघन्यस्थितेर्नानाजीवाश्रयकालमुत्कर्षतो व्याजिहीर्षुराह—

णिरय-पढमणिरयेसुं देव-भवनदुग-अपज्जमणुसेसुं ।

उक्कोमो णायव्वो आवलिआए असंखंसो ॥४०९॥

(प्रे०) “णिरयपढमणिरयेसु”मित्यादि, निरयगत्योघ-प्रथमपृथिवीनिरयभेदयोस्तथा देवगत्योघ-भवनपति-व्यन्तरद्विका-ऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणासु च प्रत्येकं “उक्कोसो णायव्वो” ति आयुर्वर्जसप्तानां मूलप्रकृतीनां जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टः-दीर्घः कालो ज्ञातव्यः । क्रिया-नित्याह—“आवलिआए असंखंसो” ति आवलिकाया ‘असंखयांशः’-असंख्येयतमैरुभागगत-समयप्रमाण इत्यर्थः । कुतः ? एतासु प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धस्य विग्रहगतौ भावेनैकजीवमाश्रिन्या-ऽपि द्वौ समयावेव सम्भवात्, तद्वन्धकपरिमाणस्यासंख्येयलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोक्तत्वाच्च । इदमुक्तं भवति—यथा कर्मणा-ऽन्तहारकमार्गणयोरुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टकाल आवलिकाया असंख्यभागमात्रस्तथा एतासु मार्गणाश्चपि जघन्यस्थितेर्बन्धकानामसौ बोद्धव्यः, कर्मणकाय-योगादिमार्गणावग्निरयगत्योधादिमार्गणास्वप्येकजीवाश्रितस्य सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकालस्य तद्-

बन्धकानां च तुल्यत्वात् । ननु कर्मणाऽनाहारकमार्गणयोः प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाश्चतु-
र्गतिकाः सन्ति, एतासु निरयगत्योधादिमार्गणासु तु जघन्यस्थितेरपि त एकैकगतिसत्कास्तदुभयत्र
बन्धकानां तुल्यत्वकथने कथं न दोषः ? इति चेद्, न, असंख्यलोकप्रदेशराशितः स्तोकत्वमपेक्ष्यैव
तुल्यत्वस्याऽभिहितत्वादिति ॥४०९॥

अथाऽऽर्यात्रयेण शेषमार्गणासु प्रकृतकालमाह—

सेसेसुं णिरयेसुं भव्वेसु पणिंदितिरिय-विगलेसुं ।
सव्वत्थवज्जसेससुरा-ऽपज्जपणिंदियतसेसुं ॥४१०॥
पुह्वाहचउसु नेमिं वायर-वायरममत्तभेणसुं ।
पत्तेअवणम्मिं तहा समत्तपत्तेअवणकाये ॥४११॥
वेउव्वहुगे मीसे सामाणम्मिं य भवे असंखयमो ।
पलिओवमस्स भागो सेसासु भवे मुहुत्तंतो ॥४१२॥

(प्र०) “सेसेसुं णिरयेसुं” मित्यादि, निरयगत्योध-प्रथमपृथिवीनिरयभेदयोरनन्तरमेव
गृहीतत्वात्ताभ्यां विना द्वितीयादिसप्तमान्तपृथिवीभेदभिन्नेषु शेषनिरयगतिभेदेषु, तथा सर्वेषु पञ्चे-
न्द्रियतिर्यग्भेदेषु, सर्वेषु त्रिकलेन्द्रियभेदेषु, तथा “सव्वत्थवज्जसेससुर” त्ति देवगत्योध-भवन-
पति-व्यन्तरदेवभेदानामनन्तरमेव गृहीतत्वात् तैस्त्रिभिः सहितं सवार्थसिद्धविमानदेवगतिभेदं विहाय
शेषेषु ज्योतिष्कादिषु चतुरनुत्तरविमानपर्यन्तासु षड्विंशतिदेवगतिमार्गणाभेदेष्वित्यर्थः । तथाऽपर्याप्त-
शब्दस्य पञ्चेन्द्रियत्रययोः प्रत्येकं योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदऽपर्याप्तत्रयसकायभेदे च । अन्य-
भेदानपि संग्रहीतुमाह—“पुह्वाहचउसु” इत्यादि, “वेउव्वहुगे” इत्यादि च, पथिव्यादिवायु-
कायान्तेषु चतुर्ध्वंशमार्गणास्थानेषु, तेषामेव चतुर्णां चतुर्षु बादरीधेषु चतुर्षु पर्याप्तवादरेष्वित्येव-
मष्टपृत्तरभेदेषु, तथा प्रत्येकवनस्पतिकार्याधभेदे, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकाये, वैकियकाययोग-
वैकियमिश्रकाययोगमार्गणाद्विके, सम्यग्मिथ्यात्वे सासादने चेत्येतासु समस्तासु पञ्चषष्टिमार्गणासु
प्रत्येकं प्रकृतः सप्तमूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयो दीर्घः कालः पल्योपमस्याऽसंख्य-
तमैकभागो भवेदित्यर्थः । अयं हि सप्तानामाधिकोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानासुत्कृष्टकालवद्बोद्धव्यः,
तद्वदत्रापि प्रकृतस्थितेर्बन्धकपरिमाणस्यासंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकत्वेऽप्यसंख्येयत्वादेक-
जीवाश्रयोत्कृष्टबन्धकालस्यान्तमुर्हतेत्वाच्च ।

ननु एतासु मार्गणासु प्रत्येकं जघन्यस्थितेर्बन्धकजीवा असंख्येयाः सन्तोऽपि कासुचिन्मा-
र्गणास्वोधिकोत्कृष्टस्थितेर्बन्धकपरिमाणापेक्षयाऽसंख्येयगुणा अपि भवन्ति, तत्तास्वप्यसौ कथं स्तोक-
बन्धकपरिमाणप्रमुक्ताधिकोत्कृष्टस्थितेरुत्कृष्टबन्धककालवत्पल्योपमासंख्येयभागप्रमाण एवोच्यते ?

इति चेद्, भण्यते—यथाधिकोत्कृष्टस्थितेर्वन्धकपरिमाणं प्रकृतैकैकमार्गणासत्कपरिमाणं च न तुल्यम्, किन्तु हीनाधिकमपि मद् असंख्येयस्याऽसंख्येयमेदमिच्छतयाऽसंख्येयमिति तुल्यव्यपदेशं भजते, तथा पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणौधिकोत्कृष्टस्थितिर्वन्धकालविषये प्रकृततत्तन्मार्गणासत्क-कालविषये च 'पल्योपमासंख्येयभाग' इत्येवंरूपव्यपदेशसाम्यमेव, न पुनः कालसाम्यमपि, कालस्य तु बन्धकपरिमाणाद्यनुसारेण हीनाऽधिकस्य सम्भवादिति ।

“सेसासु” ति उक्तशेषासु मनुष्यगन्धोधादिचतुःपञ्चाशन्मार्गणासु प्रत्येकमेकजीवाश्रयस्य सप्तानां जघन्यस्थितेर्वन्धकालस्योत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तस्येऽपि बन्धकपरिमाणस्य संख्येयत्वात् नाना-जीवाश्रितो जघन्यस्थितेरुत्कृष्टकालोऽप्यधिकजघन्यस्थितेरुत्कृष्टकालवदन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यते, न पुनस्तदधिक अतन्मर्थैव दर्शयन्नाह—“भवे सुहृत्तानो” ति सप्तानां जघन्यस्थितेर्नानावन्धकाश्रय उत्कृष्टकालो 'मुहूर्तान्तः'-मुहूर्ताभ्यन्तरेती भवेत्, अन्तर्मुहूर्तमिति यावदिति । शेषमार्गणाऽभि-धानानि त्वेवम्—अपर्याप्तमेदवर्जितयो मनुष्याभिरुक्ता, सर्वाभीष्टाभिर्देवैरुक्ताभेदः, शोध-पर्याप्तभेदभिर्ना द्वौ पञ्चेन्द्रियजातिभेदौ, तथैव द्वौ त्रयकायभेदौ, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यो-दारिककाययोगा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-वेदत्रया-ऽपगतवेद-कषायचतुष्क-मत्यादिज्ञानचतुष्क-विमद्भजान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्पत्तय-संयम-देशसंयम-चक्षुरादित्रिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेख्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-शायिक-शायोपशमिकौ-पशमिकसम्यक्त्व-मंद्स्या-ऽऽहारकमार्गणादयेति ॥४१०-४११-४१२॥

तदेवं दर्शितः सप्तानां जघन्यस्थितेर्नानावन्धकाश्रयो द्विविधोऽपि कालः । साम्प्रतं तामा-मेव सप्तानामजघन्यस्थितेस्तं दिदर्शयिषुः सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्नानावन्धकाश्रयकालेन बहुसाम्य-मितिकृत्वैकयाऽऽर्या सापवादमतिदिशति—

अजहण्णाअ ठिईए मत्तण्ह अगुरुठिइव्व सव्वासु ।

णवरि लह् सुहुभवो दुसमयहीणो अपज्जणरे ॥४१३॥

(प्रे०) “अजहण्णाअठिईए” इत्यादि, सप्तानामायुर्वर्जानां मूलप्रकृतीनां नासावन्धका-श्रयः कालः “अगुरुठिइव्व सव्वासु” ति निरयगतयोधादिसप्तन्युत्तरगतमार्गणासु प्रत्येकं सामान्यतोऽगुरुस्थितिर्वत्, सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेः प्रागुक्तनानावन्धकाश्रयजघन्योत्कृष्टद्विविधकाल-वदित्यर्थः । इदमुक्तं भवति—

‘होड अणुकोसाए ठिईए मत्तण्ह मीसु-धसमेसु’ । हस्यो भिन्नमुहूर्तं मिस्सदुजोगेसु समयो वा ॥३८७॥

समयो अममत्तणरे आहारस्मि गयवेअ-सुहुमेसु’ । सामावणे व पंथो छेए अद्धनइअसयसमा ॥३८८॥

परिहारे वासाणं वीसपुहुत्तं ह्वेवज्जेसामु’ । सव्वद्धा णायव्वोऽणुकोसाए सव्वु ठिईए ॥३८९॥

असमत्तप्रणुस-त्रिकियमीसु-वसस-भीस-सासणेसु गुरु । पल्लिआऽसंखियभागो आहारदुगे अवेअ-सुहुमेसु’ ॥

भिन्नमुहुत्तं छेए अयरा पण्णाअलकत्तकोडीधो । परिहारे विण्णेयो देसूणा पुव्वकोडी धो ॥३९१॥

इति गाथापञ्चकेनाऽऽयुर्वर्जसप्तकर्मणामनुकृष्टायाः स्थितेर्नानाजीवाश्रितकाल एकादशमार्गणासु सावधिकतया जघन्यत उन्कृष्टश्च यावानभिहितस्तावान् सप्तानामजघन्यस्थितेरपि बोद्धव्यः । शेषमार्गणाम् न्वसौ निरवधिकतया मर्षाद्वैव बोद्धव्यः । इत्थं ह्यतिदेशे कृते याऽतिप्रसक्तिस्तां निराकुर्वन्नाह—“णवरि” इत्यादि, नवरं तत्रापर्याप्तनरमार्गणायां सप्तानामनुकृष्टस्थितेर्जघन्यः कालः समयो असन्नत्तणरे इत्यनेन समप्रमात्रः कथितः सोऽत्र तथा न वक्तव्यः, किन्तु “खुडुभवो दुसमय हाणो” इति, द्विसमयोनक्षुन्नकभवः सप्तानामजघन्यस्थितेर्जघन्यकालतयाऽभिधातव्य इत्यर्थः । कृतः ? इति चेद्, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां सप्तानां जघन्यस्थितेर्वन्धकालस्य विग्रहगतौ भवप्रथमद्विसमययोरेव सम्भवेनाऽजघन्यस्थितेर्वन्धकालो भवतृतीयसमयादारभ्यातीव्रतं नैरन्तर्येण प्राप्यते, स चाजघन्यस्थितिसन्कैकजीवाश्रयजघन्यवन्धकाश्रयानुसारेण बोद्धव्यः । शेषसर्वमार्गणासु स्वतिदिष्टद्विविधकालोऽपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामुत्कृष्टकालश्च सर्वधैवानुत्कृष्टस्थितेः प्राग्भावितकालानुसारेण भावनीय इति ॥४१३॥

तदेवं दर्शितः सप्तानां जघन्याऽजघन्यस्थित्योनानावन्धकाश्रयो द्विविधोऽपि कालो यथा-यथमतिदेशादिना । सास्त्रतमवशेषस्याऽऽयुःकर्मणस्तं प्रतिपिपादयिपुरतिदेशादिनैव प्राह—

जासु अणुकोसाए ठिईअ आउम्म होइ सव्वद्धा ।

तासु तह से लहूए उक्कोसठिइव्व सेसासुं ॥४१४॥

णवरा-ऽऽवल्लिआऽसंखियभागो णर-देस-सासणंसु गुरू ।

णंसो अजहण्णाएऽणुक्कोसठिइव्व सव्वासुं ॥४१५॥

(प्रे०) “जासु अणुकोसाए” इत्यादि, यासु मार्गणास्वायुषोऽनुकृष्टायाः स्थितेर्नाना-जीवाश्रितकालः “होइ सव्वद्धा” इति प्राक् “सव्वद्धाउम्म भवे अगुरुठिईअ तिरियम्मि” इत्यादि-गाथात्रयेण सर्वाद्वाऽभिहितो भवति “तासु तह से लहूए” इति तासु तिर्यग्न्योषादिद्विपष्टिमार्गणाम् “से” इति तस्यायुषो ‘लघोः’-जघन्यायाः स्थितेः ‘तथा’-तद्वत्, सर्वाद्वा इति यावत् । नाना-वन्धकाश्रयकाल इति तु गम्यते । इदमुक्तं भवति—तिर्यग्न्योषे, सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु साधारणवनस्पतिकायभेदेषु, पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकार्याघभेदेषु, सूक्ष्मपृथिव्यप्तेजोवायुकायोष-तत्पर्याप्ता-ऽपयोप्तभेदेषु, वादरपृथिव्यप्तेजोवायुकार्याघ-तदपर्याप्तभेदेषु, प्रत्येकवनस्पतिकार्याघ-तदपर्याप्तभेदयोः, काथयोगमामान्या-दारिककाययोगी-दारिकमिश्रकाययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्का-ऽज्ञानद्विका-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-भ्रव्या-ऽमव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ्या-ऽऽहारि-मार्गणासु प्रत्येकमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकपरिमाणवर्दायुषो जघन्यस्थितेर्वन्धकपरिमाणस्याऽप्य-संख्येयलोकादिप्रदेशराशितुल्यत्वान्नानावन्धकाश्रयः कालोऽपि सर्वेद्वैव प्राप्यत इति ।

“उक्तोसठिइव्व सेसासु” ति उक्तशेषमार्गणासु प्रत्येक‘मुत्कृष्टस्थितिवद्’-उत्कृष्ट-स्थितेर्वन्धकानां ह्रस्वेतरकालवज्जघन्यस्थितेर्वन्धकानां ह्रस्वेतरकाल इत्यर्थः । अत्रैवापवदनाह-“णवरावलि” इत्यादि, ‘नवरं’-परं ‘णरदेससासणेसु’ चि शेषमार्गणागतसु नरगन्योव-देश-संयम-सासादनरूपासु तिसृषु मार्गणामु प्रत्येकमायुषो जघन्यस्थितेर्वन्धकानां ‘गुरुः’-दीर्घः काल ‘आवलयसंख्येयभागः’ आवलिकाया असंख्येयतमैकभागगतमयप्रमाणः । अयम्भावः-असंख्य-लोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकवन्धकपरिमाणामु निरयगत्योघाद्येकोत्तरशतशेषमार्गणास्वेकजीवाश्रयो-त्कृष्टस्थितिवन्धका ऽऽजघन्यस्थितेर्वन्धकानस्थ समयमात्रत्वेन तुल्यत्वेऽप्यायुष उत्कृष्टजघन्य-स्थित्योर्वन्धकपरिमाणं तु मनुष्यगत्योघ-देशसंयम-सासादनरूपासु शेषनिरयगत्योघादिमार्गणास्वेव तुल्यम्, न पुनर्मनुष्यगत्योघादिमार्गणात्रयेऽपि, तत्र मार्गणात्रये आयुष उत्कृष्टस्थितेर्वन्धकपरि-माणस्य संख्येयत्वात् तदीयजघन्यस्थितेर्वन्धकपरिमाणस्य त्वसंख्येयत्वात्, इत्यतः ‘उक्तोसठि-इव्व सेसासु’ इत्यनेन शेषसर्वमार्गणासु सामान्यतोऽतिदिष्टोऽपि प्रस्तुतकाष्ठो मनुष्यगत्योघादि-मार्गणाचतुष्के पश्चादपोद्याऽऽवलयसंख्येयभागप्रमाणो दक्षितः ।

इत्थं च शेषमार्गणास्वायुषो जघन्यस्थितेः प्रस्तुतकाल इयान् प्राप्यते-पर्याप्त-मनुष्य-योनिमन्मनुष्यभेदा, आनतकल्पाद्या अष्टादशदेवगतिभेदाः, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थान-परिहारविशुद्धिकसंयमा-ऽवधि-दर्शन-शुभलेश्यात्रिक-सम्यक्त्वौघ-श्रायिक-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणाश्चेत्येतासु सप्तत्रिंशन्मार्ग-णासु प्रत्येकमायुषो जघन्यस्थितेर्नानावन्धकाश्रयो दीर्घः कालः संख्येया समयाः । सर्वे निरयगति-भेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, मनुष्याघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदा, देवगन्योघ-सहस्रारान्तदेवगतिभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, पर्याप्तवाद्पर्याप्तप्रेजोशायुकायभेदाः, पर्याप्तप्रत्येकवन-स्पतिकायभेदाः, सर्वे त्रसकायभेदाः, पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चवचोयोगभेद-वैक्रियकाययोग-श्रीवेद-पुंवेद-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-चक्षुर्दर्शन-ग्रामादन-संज्ञिमार्गणाश्चेत्येतासु चतुःषष्टिमार्गणासु तु प्रकृत-काल उन्कर्षत आवलिकाया असंख्येयभागः । एताश्चतुःषष्टिमार्गणास्तथाऽनन्तराभिहिताः सप्त-त्रिंशन्मार्गणा इत्येवमेकोत्तरशतमार्गणासु त्वायुषो जघन्यस्थितेः प्रकृतकालो जघन्यत एकसमय इति ।

अथाऽऽयुषोऽजघन्यस्थितेः प्रकृतकालमतिदिशति-“जेयो अजहण्णाण” इत्यादिना, सुगमम् । अत्रापि भावनाऽनुत्कृष्टस्थितेर्नानावन्धकाश्रयकालवदेव द्रष्टव्येति ॥४१४-४१५॥

तदेवं प्ररूपितः शेषस्याऽऽयुषोऽपि जघन्याऽजघन्यस्थित्योर्वन्धकानां सम्भवजघन्योत्कृष्ट-द्विविधकालः, तस्मिंश्च प्ररूपिते गतं नानाजीवाश्रितं कालद्वारम् ॥

आयुर्वर्जसप्तभूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयकालप्रदर्शकयन्त्रम्

जघन्यकालः		उत्कृष्टकालः			सर्वाद्या
अन्तमुहूर्तम्	शोधवद् एकसमयः	अन्तमुहूर्तम्	आश्रयिका- ऽसंख्यभागः	शोधवत् कालाऽसंख्य- भागः	
गतिः	सर्वभेदः ४७	मनुष्योप-नन्यापि- मानुषीऽसर्ववि- सिद्धश्च ४		निरयोपादि- शेषभेदाः ४३	
इन्द्रियः	सर्वविकल्पञ्चेन्द्रि- यभेदाः, १३			सर्वविकल्प- ञ्चेन्द्रिय- १२	सर्वकेन्द्रिय- सर्वसूक्ष्मा-ऽप्रयोजित- वादभेदाभिन्नाः पृथिव्यादीजोवायु- कायभेदाः, जनीश्व- रप्रयोजितप्रत्येक- वत् सर्वसाधारणवत्तभेदाश्च ०
कायः	शोधवादेशोपतला- यासभेदात् पृथि- व्यस्येजोवानुभेदाः प्रत्येकवनोप-नत- गोपनी, सर्वत्रय- भेदाश्च. १७				
श्रोत्रः	★ सर्वभेदः १८	आहारकृत्रिकः २	तामराः १	शेषः १५	
चेदः	सर्वभेदः ४	गतभेदः १		वेदाङ्गिकः ३	
कषायः	सर्वः ४			सर्वः ४	
ज्ञानः	मत्पादिः ४	मज्जाः ३	मगःपवनः १	शेषः ९	
संयमः	पतमौषधःसामा- द्वेदः परिहारः देहाः ५	सूक्ष्ममन्त्राण्यः संयमश्च. २	सयमोषधः साभा- द्वेदः परिहारः सूक्ष्मः ५	देषसंयमः असंयमः २	
दर्शनः	यवधिः १	चक्षुः अचक्षुः २		सर्वः ३	
लेदयाः		सर्वः ६		सर्वः ६	
भ्रम्यः		सर्वः २		सर्वः २	
सम्यक्त्वः	गम्यकत्वोप- दायोप-ऽश्रीप- विधः ४	धार्मिकः सास्वा- दनः मिथ्यात्वः ३		सर्वः ७	
संज्ञीः		सर्वः ३		सर्वः ३	
आहारीः		सर्वः २		आहारीः १	
सर्वमार्गिणाः-	१४	१२४	१३	१२३	३२
गाथाङ्काः-	३८३	३८४	३८४-३८५	३८६	३८६-३८७

★ मनान्तरे मिथयोगत्रये जघन्यतोऽन्तमुहूर्तम् ।

आयुर्वेदसम्प्रदायकृतीनामनुत्कृष्टा-ऽजघन्यस्थितिवन्धयोर्नाजाजीवाश्रयकालप्रदर्शकयन्त्रम्

अघन्यतः- एकसमयः	एकसमयः	२५० वर्षाणि	विंशतिप्रथक्त्वर्य	अन्तर्मुहूर्तः	शोधवत्	
वत्कृष्टतः-अन्तर्मुहूर्तः	पर्योपमाऽसंख्यतमैकभागः	पञ्चाशत्सहस्रकोटि-सागरोपमाणि	देशीनपूर्वकोटि-द्वयम्	पर्योपमाऽसंख्य-भागः	सर्वाद्या	
गति०		अपर्याप्तमनुष्य० ★ १			शेष० ४६	
इन्द्रिय०					सर्व० १६	
काय०					सर्व० ४२	
योग०	आहारक- तन्मिश्र० △ २	वैक्रियमिश्र० ० १			शेष० १५	
वेद०	अपगतवेद० १				त्रिवेद० ३	
कषाय०					सर्व० ४	
ज्ञान०					सर्व० ७	
संयम०	सूक्ष्मसंपराय १		क्षिप्तोपस्थापन० १	परिहार० १	शेष० ४	
दर्शन०					सर्व० ३	
लेख्याः					सर्व० ६	
भण्ड्य०					सर्व० २	
सम्यक्त्व.		सास्वादन० १			शेष० ४	
संज्ञी०					सर्व० २	
आहारी०					सर्व० ८	
सर्वमार्गजाः —	४	३	१	१	२	१५६
गाथाङ्काः	३८७-३८८ ३९०-३९१	३८७-३८८ ३९०	३८८-३९१	३८९-३९१	३८७-३९०	३८९

△ मतान्तरे मिश्रयोगद्वये जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम् ।

★ अपवादः-अजघन्यस्थितेः प्रस्तुतकालो जघन्यतो द्विसमयन्मूलक्षुल्लकसमः ।

आयुर्वेदसप्तमूलप्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयकालप्रदर्शकयन्त्रम्

जघन्यतः		उत्कृष्टतः			सर्वाद्या	
श्लोघवद् अण्मुहूर्तम्	समयः	श्लोघवद् अन्तर्मुहूर्तम्	आश्रयिका- ऽसंख्यभागाः	पल्योपमा- ऽसंख्यभागाः		
गति०	मनुष्यीघ-तत्पर्याप्त-मानुषी० ३	सर्वे निरयतिर्याप्त- ञ्चेन्द्रिय-देवभेदाः, अपर्याप्तगरश्च. ४३	मनुष्यीप-तत्पर्याप्त- मानुषी० सर्वार्थ- मिद्ध० ४	निरयोघ० प्रथम- नरक० देवीघ० भवनगति० अण्- न्त० अपर्याप्त- पनुष्य० ६	द्वितीयवृश्चिगादिपद्- निरयभेद० सर्वपञ्च- न्द्रियनिर्यग्भेद० ज्यो- तिष्कादिचतुरमुत्तम- न्त० देवभेदाश्च. ३६	निरयमास्योघ० १
इन्द्रिय०	पञ्चेन्द्रियोघ- तत्पर्याप्त० २	सर्वविकल० अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय० १०	पञ्चेन्द्रियोघ-तत्प- र्याप्त० २		सर्वविकलाना-ऽपर्याप्त- पञ्चेन्द्रिय० १०	सर्व एकेन्द्रिय- भेदाः ७
काय०	त्रयोघ-तत्पर्याप्त- भेदी, २	श्लोघ-बादरोघ- तत्पर्याप्तपृथिव्यप्ले- जोवाश्रुभेदाः, श्लोघ- पर्याप्तप्रत्येकवन- भेदी, अपर्याप्तत्रयश्च १५	श्रसीघ-तत्पर्याप्त- भेदी, २		श्लोघ-बादरोघ-तत्पर्याप्त- पृथिव्यप्लेजोवा- श्रुभेदाः अपर्याप्तप्रत्येक- वनभेदी० अपर्याप्त- त्रयश्च० १५	उत्तसप्तदश- भेदवर्जाः शेषाः २५
योग०		श्रीदारिकमिश्र- कार्मण्य० १६	सर्वमनोवचाभेद० कायवोगोघ० आहारक-नात्मश्च० श्रीदारिक० १४		वैक्रिय-तन्मिश्रो, २	श्रीदारिक- मिश्र० कार्मण्य० २
वेद०	सर्व० ६		सर्व० ४			
कपाय०	सर्व० ४		सर्व० ४			
ज्ञान०	मन्यादिज्ञान० ४ विभङ्ग० १		मत्यादि० ४ विभङ्ग० १			मत्यज्ञान० श्रुताज्ञान० २
संयम०	असंयमवजाः शेषाः, ६		असंयमवर्जाः शोभाः, ★ ६			असंयमः १
दशन०	सर्व० ३		सर्व० ३			
लेश्या०	शुभ० ३		शुभ० ★ ३			अशुभ० ३
भव्य०	भव्य० १		भव्य० १			अभव्य० १
सन्ध्य०	मन्यकुत्वोघ० आयि० क्षायो० मिश्र० २	श्रीपशमिक० सास्त्रादन० २	नम्यकुत्वोघ० क्षायि० ★ क्षायो० श्रीप- शमिक० ४		सास्त्रादन० मिश्र० २	मिथ्यास्व० १
संज्ञी०	संज्ञी० १		संज्ञी० १			असंज्ञी० १
आहारी०	आहारी०, १		आहारी, १			अनाहारी० १
सर्वमार्गणाः-	३६	६६	५४	६	६५	४५
गाथाङ्काः-	४०८	४०४-५-६-७	४१२	४०६	४१०-४११-४१२	४०२-३-४

★ सत्तान्तरे-परिहारविशुद्धिकसंय-तेजः-पञ्चलेश्या-क्षायोपशामिकसम्यक्त्वेपुस्तक्युक्तोऽपि समयः (गाथा-४०८)

आयुष उत्कृष्ट-जघन्यस्थितिवन्धयोर्नानाजीवाश्रयकालप्रदर्शकयन्त्रकम्

उत्कृष्टस्थितिः		जघन्यस्थितिः			
जघन्यतः- समयः	श्रेयसः समयः	समयः	समयः	शोधवत् सदाहा	
उत्कृष्टतः- संख्येयाः समयाः	आचलिकाऽसंख्य- भागः	संख्येयाः समयाः	आचलिकाऽसंख्यभागः		
गति०	मनुष्यौष-तत्पर्याप्तौ, मानुषी, प्राणतादि- १० देवभेदाश्च. २१	उक्तमनुष्योपाद्येक- विश्रुतिभेदव भंडोप० २३	पर्याप्तमनुष्य-मानुषी भेदी, प्राणतादि- १० देवभेदाश्च. २०	मनुष्यकालयत्पञ्चन्द्रिय० मनुष्यौष-तत्पर्याप्तौ, देवीव-भवनपत्न्यादि- महत्वागताश्च २६	वियंभाग्यौष० १
इन्द्रिय०		सर्वं० १६		पर्वत्रिकल्प पञ्चन्द्रियभेदाः १२	सर्वेन्द्रिय० ७
काय०		सर्वं० ४२		वातस्त्वपिग्निपृथिव्यप्लेजो- वागुभेद० पृथग्विप्रत्येक- यत्न-सर्वत्रसंभेदाश्च० ८	उक्तान्भेदवर्जा० ३४
योग०	आहारक-तन्मिथो २	योग० १४	आहारक-तन्मिथो, ०	सर्वमनोवर्जो० वीक्रिय० ११	वर्ज्यमिथो० शोधा- रिक-तन्मिथो० ३
वेद०		वेदवग, ३		स्त्री-पुरुषावेदी २	नपुंसक० १
कषाय०		सर्वं० ४			सर्वं० ४
ज्ञान०	मत्यादिज्ञान० ४	अज्ञान० ३	मत्यादिज्ञान० ४	विभङ्ग० १	ज्ञान० ०
संयम०	संयमीष० मामा० छेद० परिहार० विना० ५	असंयम० १	संयमीष० मामा० छेद० परिहार० ४	देशसंयम० १	असंयम० १
दर्शन०	अवधि० १	चक्षु० अचक्षु० २	अवधि० १	चक्षु० १	अचक्षु० १
लेइया०	शुभ० ३	अशुभ० ३	शुभ० ३		अशुभ० ३
भक्त्य०		भक्त्या-भक्त्या, ०			सर्वं० ०
सम्यक्त्व०	सम्यक्त्वोष० क्षायिक० क्षायो० सास्वादन० ४	मिथ्यात्व० १	सम्यक्त्वोष० क्षायिक० क्षायोपशामिक० ३	सास्वादन० १	मिथ्यात्व० १
सङ्गी०		नर्घ० २		मङ्गी० १	असङ्गी० १
आहारी०		आहारक० १			आहारी० १
सर्वमार्गणाः- ४०		१२३	३०	६४	६२
गाथाङ्काः- ३६२-३६३		३६२-३६३	४१४	४१४-४१५	४१४

आरुयोऽनुकृष्टा-ऽजघन्यस्थितिवन्धयोः प्रत्येकं नानात्री पाथयन्नाऽप्रदर्शकवन्त्रम्

जघन्यतः-- अन्तर्मुहूर्तम्	अन्तर्मुहूर्तम्	श्रीघवत्
उत्कृष्टतः-- अन्तर्गुहूर्तम्	पल्लवोऽमस्याऽसंख्यभागाः	सर्वरिद्धा
गतिः परात्मसुख्यं० मानुषी० साधनतादिसर्वाभिविज्ञान्त- देवभक्त्या- २०	सर्वतत्त्वभेदः० सर्वपञ्चेन्द्रियतिथेरभेदः० मनुष्यीय-तत्परिणतो, देवीय० भवन- पल्लवद्विभक्त्याऽप्राप्त्याऽऽदिभिरश्रु० २०	तियं गान्ध्याय० १
इन्द्रियः	सर्वविकल्पमर्षपञ्चेन्द्रियभेदः० १२	सर्वकेन्द्रियभेदः० ७
ज्ञानः	परात्मबाधरपृथिव्यप्लेजोवायुभेदाः, परात्मप्रत्येकवन-सर्वत्रयभेदाश्च० ८	उक्ताष्टभेदयजाः षोषाः पृथिवीकायो- षाशाः, ३४
योगः	आहारक-तन्मिश्रयोगो, १ २	काययोगौघः० औदारिक-तन्मिश्रयोगौ च ३
वेदः	स्त्री-पुरुषभेदी, २	गणसकः० १
कृपाः		रावः० ४
ज्ञानः	मनःपथेव० १	मरयज्ञान-श्रुताज्ञाने० २
संयमः	संगमीघः० सामायिकः० द्वेदः० परिहारः० ४	असंयमः० १
दर्शनः		अचक्षुः० १
देश्याः	बुक्कः० १	कृष्णाद्यष्टुभः० ३
भक्त्यः		भक्त्या-ऽभक्त्या, २
सम्बन्धः	आधिक्यः० १	मिथ्यात्वः० १
मन्त्रीः		असंजी, १
आहारीः		आहारी, १
सर्वमार्गणाः-- २६	७२	६२
गाथाङ्काः-- ३६८-३६९	३६८-४००	३६९-३६६-३६७

अपवादः-- आहारक-तन्मिश्र-सर्वमनोवचोभेद-वैक्रियकाययोगेषु प्रत्येकं जघन्यतः समयमात्रः, तदपुनरन्त-
र्मुहूर्तम् (गाथा -३६८) ।

॥ अथ त्रयोदशमन्तरद्वारम् ॥

साम्प्रतं क्रमशस्ते नानाजीवाश्रयेऽन्तरद्वारे मूलाष्टकर्ममत्कोऽनुकृष्टादिस्थितेर्वन्धकानामन्तरं
व्यानिर्णीयुं रादौ तावदायुर्वर्जसप्तप्रकृतीरधिकृत्याह—

अंतरमट्टण्ह लहुं जेट्टाअ टिईअ बंधगाण खणो ।

अंगुलअसंखभागो परमं अगुरूअ णेव भवे ॥४१६॥

(प्रे०) “अंतरमट्टणहे”त्यादि, अष्टानां ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीनां ‘ज्येष्ठायाः’-उत्कृ-
ष्टायाः स्थितेर्वन्धकानां ‘लघु’-जघन्यमन्तरं सर्वथाऽभावलक्षणं ‘खणो’ ति समयः, समयमात्रं
भवेदिति गाथाप्रान्तेऽन्वयः । “अंगुलअसंखभागो परमं” ति तेषामेवाऽष्टप्रकृतिसत्कोऽनुकृष्ट-
स्थितेर्वन्धकानां ‘परमं’-दीर्घमन्तरमङ्गुलाऽसंख्यभागः, अङ्गुलामंख्यभागप्रमाणक्षेत्रगताकाश-
प्रदेशेषु प्रतिसमयं निरन्तर्येणैकैकाकाशप्रदेशेऽपहीयमाणे यावान् कालोऽपगच्छति, तावानमंख्येद्योन्म-
र्षिण्यवसर्पिणीप्रमाणकालो भवेदित्यर्थः । “अगुरूअ णेव भवे” ति अष्टानामपिमूलप्रकृतीनाम-
गुरोः-अनुकृष्टायाः स्थितेर्वन्धकानां नैव भवेत्, प्रकृतत्वादन्तरमिति शक्यत इति । अत्र समय-
प्रमाणाद्युक्तान्तरस्य भावना त्वनन्तरमेव मार्गणास्थानेषु वक्ष्यमाणममयाद्यन्तराणांमुषपन्थनुसारेण
द्रष्टव्या, तत एव प्रकृतसमयाद्यन्तराणां सुखावसेयत्वादिति ॥४१६॥

अथ मार्गणास्थानेषु प्रकृतान्तरं दिदर्शयिपुरादौ तावदायुर्वर्जसप्तप्रकृतीरधिकृत्याह—

जासुं जेट्टुठिईए कालो सत्तण्ह होइ सन्वद्धा ।

तासुं जेट्टुठिईए मत्तण्हं अंतरं णत्थि ॥४१७॥

(प्रे०) “जासुं जेट्टुठिईए” इत्यादि, यास्वेकेन्द्रियौषादिद्रात्रिशन्मार्गणास्वायुर्वर्जानां
सप्तानां कर्मणां ‘ज्येष्ठायाः’-उत्कृष्टायाः स्थितेः “कालो” ति नानावन्धकाश्रयकालः सर्वाद्वा प्राग्भ-
गितो भवति, तासु मार्गणामु सप्तानां ज्येष्ठस्थितेः “अंतरं” ति प्रकृतं नानावन्धकाश्रयमन्तरं
‘नास्ति’ न विद्यत इत्यर्थः । कुतः ? इति चेद्, वन्धककालस्य सर्वाद्वात्वादेव । इदमुक्तं
भवति—यत्र मार्गणादौ यस्याः उत्कृष्टाया अनुकृष्टाया जघन्याया अजघन्याया वा स्थितेर्वन्ध-
कानां परिमाणमयंख्येयलोकादिप्रमाणं तस्याः स्थितेर्वन्धकास्तत्र मार्गणादौ निरन्तरं प्राप्यन्ते, तत-
स्तत्र तद्वन्धकानां काठः प्राक् सर्वाद्वाऽभिहितः । यतो वन्धकानां कालः सर्वाद्वाः, अर्थाद् वन्धक-
प्राप्तिनिरन्तराः, तत एव वन्धकानामन्तरं न भवतीति तु सुगमः, निरन्तरस्यैवान्तराभावाऽर्थक-
त्वात्, इत्येवमन्योन्यगमकत्वात् सर्वाद्वा-निरन्तरयोगिति । इत्थमेवानन्तरसोऽवतोऽष्टकर्मणामनुकृ-
ष्टस्थितेर्वन्धकानामन्तरप्रतिषेधे मार्गणास्थानेषु वक्ष्यमाणान्तरप्रतिषेधे च विभावनीयमिति ॥४१७॥

एकेन्द्रियौघादिद्वात्रिंशन्मार्गणास्थानेष्वायुर्वर्जसप्तकर्मणां ज्येष्ठस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयसर्वाद्वा-
प्रतिपादिके गाथे पुनरिमे—

‘सन्नपह् चंथगाणं उक्कोसारं ठिईअ मव्यद्वा । सव्वेसुं एण्णिदिय णिगोअभेएसु वणकाये ॥३८१॥
अममनवायरेसुं पत्तेअरण-पुह्वाइचउसुं च । तह् पुह्वाइचउण्हं सव्वेसुं सुहुमभेएसुं ॥३८२॥’ इति ।

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतं सप्तकर्मणासुत्कृष्टस्थितिस्तत्कनानाबन्धकाऽऽश्रयमन्तरं जघन्योत्कृष्ट-
भेदतः प्रतिपादयन्नेकामार्गामाह—

सेसासु लहुं ममयो वासपुहुत्तं अवेअ-सुहुमेसुं ।

उक्कोमं सेसामुं अंगुलभागो असंख्यमो ॥४१८॥

(प्रे०) “सेसासु लहुं”मित्यादि, एकेन्द्रियौघादिद्वात्रिंशन्मार्गणावर्जासु शेषासु निरय-
गत्यौघाद्यद्वात्रिंशदुत्तरशतमार्गणामु प्रत्येकं “लहुं” ति प्रकृतत्वात् सप्तानामुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्ध-
कानां ‘लघु’-जघन्यमन्तरं ‘ममयः’-समयमाश्रं, भवतीति शेषः । कथम् ? एकेन समाप्त उत्कृष्टस्थिति-
बन्धे समयान्तरेण तस्यैव तत्प्रवृत्तेरशक्यत्वेऽपि तदन्यस्य तत्प्रवृत्तेः शक्यत्वादिति ।

अथ प्रकृतमेवोत्कृष्टत आह—“वासपुहुत्तं अवेअसुहुमेसुं” ति अपगतवेदमार्गणायां
सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणाया च सप्तानामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां वर्षपृथक्त्वमन्तरम् “उक्कोसं”
ति ‘उत्कृष्टम्’ उत्कृष्टपदं ज्ञेयम् । सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनां प्रतिपत्तवारित्रिमोहोपश-
मकानां वर्षपृथक्त्वं यावत् सर्वथाऽभावस्यापि सम्भवात् । कुतः सम्भवः ? नानार्जावानाश्रित्यो-
पशमश्रेणेरुत्कृष्टान्तरस्य तावन्प्रमाणत्वात् । उक्तं चान्यत्र—“वासपुहुत्तं उव्वसासु” इति ।

अथोक्तशेषास्वाह—“सेसासुं अंगुलभागो असंख्यमो” ति एकेन्द्रियौघादिद्वात्रिं-
शन्मार्गणा अपगतवेदसूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणे च विहाय याः शेषा निरयगत्यौघादियद्वात्रिंश-
दभ्यधिकशतमार्गणास्तासु शेषसर्वमार्गणामु प्रकृतोत्कृष्टान्तरमङ्गुलस्य भागोऽसंख्यतमः, औघवद-
ङ्गुलासंख्यभागप्रमाणक्षेत्रगताऽऽकाशप्रदेशापहारलक्षणाऽसंख्योत्सर्पिण्यवसर्पिण्य भवतीत्यर्थः ।

हृदमत्र हृदयम्—यासु मार्गणासु सप्तकर्मणां तत्तत्स्थितेर्वन्धकानामसंख्यलोकप्रदेशराशय-
पेक्षया स्तोकत्वाद्बन्धकान्तरसम्भवस्तासु प्रत्येकमेकस्थितिवन्धस्थानात्मिकाया उत्कृष्टाया जघन्याया
वा स्थितेर्वन्धका यदि श्रेणिगतास्तदा तस्या उत्कृष्टाया जघन्याया वा स्थितेर्नानाबन्धका-
श्रयमुत्कृष्टमन्तरमङ्गुलाऽसंख्यभागप्रमाणं यथोक्तमेव प्राप्यते, यदि च तयोरेकस्थितिवन्धस्थाना-
त्मिकयोः स्थित्योर्वन्धकाः श्रेणिगतास्तदा त्वपगतवेदादिमार्गणावत् श्रेण्यन्तरकालानुसारेणोत्कृ-
ष्टान्तरं स्तोकं प्राप्यते, जघन्यान्तरं तु तयोस्सर्वत्र समयमात्रमासाद्यते । कुतः ? विवक्षितजीवैर्नि-
ष्ठापिते जघन्यादिस्थितिवन्धेऽन्यैर्जीवैः समयान्तरेणैव तत्स्थितिवन्धस्य निर्वर्तयितुं शक्यत्वात् ।
सप्तानां नानास्थितिवन्धस्थानात्मकयोरनुत्कृष्टाऽजघन्यस्थितिवन्धयोः प्रकृतं नानाबन्धकाश्रयमन्तरं

तु या अपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमान्तरमार्गणास्तास्वेव प्राप्यते, नान्यासु । कुतः ? नानाम्थितिवन्ध-
स्थानात्मकानुत्कृष्टादिस्थितिवन्धस्य जीवनवहुकालभावितया सर्वदा तद्वन्धकानां लाभेनाऽनन्तरं
कालद्वारे सर्वाद्याया अभिहितत्वात् । मान्तरमार्गणासु तु तयोर्नुत्कृष्टमन्तरं मार्गणाया नानाजीवा-
श्रयोत्कृष्टान्तरप्रमाणं प्राप्यते, जघन्यं तु यथामम्भवं समयादिकम् ।

इत्यतोऽपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां च प्रकृतोत्कृष्टान्तरं स्तोत्रमभिहितम्, तत्रो-
पशमश्रेणिगतानामेवोत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वात् । शेषमार्गणासु तु श्रेणिविहिःस्थानामेवोत्कृष्टस्थिति-
बन्धस्वामित्वात्तदुत्कृष्टतोऽङ्गुलाऽमंगलभागप्रमाणमभिहितम्, जघन्यं च शेषसर्वमार्गणासु समय-
मात्रं दर्शितमिति ॥४१८॥

तदेवमुक्तं समानामनुत्कृष्टस्थितेर्नानाबन्धकाश्रयमन्तरम् । श्याप्यतं तामामंवाऽऽयुर्वर्जसप्तानाम-
नुत्कृष्टायाः स्थितेस्तं दर्शयन्नाह—

सत्तण्ण अपज्जणरे आहारदुगे विउच्चमीसे य ।

गयवेए सुहमम्मि य उवसम-साम्माण-मीसेसुं ॥४१९॥

समयोऽणुक्कोमाए टिईअ हस्सं सहस्सवामाणि ।

तेवट्ठी चुलसीई कमसो छेअ-परिहारेसुं ॥४२०॥

(प्र०) “सत्तण्णे” न्यादि, तत्र ‘सत्तण्ण’ इत्यस्य ‘समयोऽणुक्कोमाए टिईअ हस्सं’
मिति परेणान्वयः, तत्र आयुर्वर्जानां समानां मूलप्रकृतीनामनुत्कृष्टायाः स्थितेः ‘हस्सं’ जघन्यमन्तरं
समयः, अस्तीति शेषः । कासु मार्गणाम्बिन्याह—“अपज्जणरे” इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणा-
यामाहारकः—ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्ये वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामपगतवेदमार्गणायां
सूक्ष्मसम्परायमंयममार्गणायामौपशमिकस्यक्त्व-भ्यामादन-मिश्रदृष्टिमार्गणासु च प्रत्येकमित्यर्थः ।
“सहस्सवामाणि तेवट्ठी चुलसीई कमसो” नि ‘णुक्कोमाए टिईअ हस्सं’ मिति काकाक्षिगोत्कृ-
न्यायेनाऽत्रापि सम्बध्यते, ततः सप्तप्रकृतीनामनुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकानां हस्समन्तरं वर्षयहस्राणि
त्रिपष्टिशतुरशीतिश्च क्रमशः, भवतीति शेषः । कुत्रेत्थाह—“छेअपरिहारेसुं” नि छेदोपस्थापन-
संयमे परिहारविशुद्धिकसंयमे चेत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—अपर्याप्तमनुष्याद्यनन्तरोक्तनवमार्ग-
णाष्वपर्याप्तमनुष्यादितया जीवानां सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं जघन्यतः समयमात्रं सम्पद्यते, ततश्च
तासु मार्गणासु समानामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां सर्वथाऽभावलक्षणं जघन्यमन्तरमपि समयमात्रं
प्राप्यते, न चैवं छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणयोरपि । कस्मान् ? तयोर्नानाजीवाश्रय-
जघन्यान्तरस्याऽप्युक्तप्रमाणत्वात् । उक्तं च श्रीपञ्चमाङ्गे—

‘छेदोयद्वावणियं पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं तेसद्धिं वाससहस्साइं, उक्कोसेणं अट्टारम सागरोपम-
कोडाकोडिओ, परिहारविस्सुद्धियस्स पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं चउरासीइं वाससहस्साइं, उक्कोसेणं अट्टारस
सागरोवमकोडाकोडीओ’ इति ।

न च जीवानां सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं वा भवतु समयमात्रं, सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्ध-
कानामन्तरं तु तावत्स्यात्, को दोषः ? इति वाच्यम् । यतः प्रकृतमार्गणागतसर्वजीवानां सममे-
वोत्कृष्टस्थितिवन्धसद्भावे तावदन्तरस्य सम्भवः, सममेव सर्वेषामुत्कृष्टस्थितिवन्धसद्भावे त्वन्तमुर्हृता-
दूर्ध्वं तेषां सर्वजीवानां मिथ्यात्वाद्गो गमने प्रकृतमार्गणाया एवान्तरं प्रवर्तेत, तच्च नेष्यते, यदा तु
सर्वे जीवामार्गणान्तरं गच्छन्ति, तदा तु यथोक्तान्तरमेव प्राप्यते, न पुनः सामयिकम् । इत्थं न
कुतश्चिदपि प्रकृतानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानामन्तरं जघन्यतः समयादिमात्रं भवितुमर्हतीतिकृत्वा शेष-
मार्गणापेक्षया दीर्घं यथामम्भवमुक्तमिति ॥४१९-४२०॥ अथोक्तशेषमार्गणानां निरन्तरत्वात्तत्र
प्रकृतान्तरं निषेधयन् तथा-ऽनन्तरोक्तसान्तरमार्गणामु प्रकृतान्तरमुत्कर्षतः प्रतिपादयन्नाह—

सेसासु अंतरं णो अपज्जणर-मीस-सासणेसु गुरुं ।

पल्लाऽसंखियभागो वारमुहुत्ता विउवमीसे ॥४२१॥

परमं आहारदुगे वासपुहुत्तं अब्ब-सुहुमेसुं ।

णायव्वं छम्पासा होइ उवसमम्मि सत्तदिणा ॥४२२॥

छेए परिहारम्मि य अयरा अट्टार कोडिकोडिओ ।

उक्कोसमंतरं खलु होइ ठिईए अजेट्टाए ॥४२३॥

(प्रे०) “सेसासु अंतरं णो” इत्यादि, उक्तशेषामु निरयगत्योद्यादिमार्गणामु सप्तानाम-
नुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानामन्तरं “णो” ति न भवतीत्यर्थः । कुतः ? प्रत्येकं मार्गणानां निरन्तर-
त्वादिति । अथाऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणानां सान्तरत्वेन तत्राऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां जघन्यमन्तर-
मभिहितम्, न पुनरुत्कृष्टमिति तदेव दर्शयन्नाह—“अपज्जणरमोसे”त्यादि, अपर्याप्तनरभेदे
सम्यग्मिथ्यात्वे सासादने च “गुरु” ति सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्नानावन्धकाश्रयं ‘गुरु’ उत्कृष्ट-
मन्तरं “पल्लाऽसंखियभागो” ति पल्लोपमाऽसंख्यभागप्रमाणं भवतीत्यर्थः । कुतः ? मार्ग-
णात्रयस्योत्कृष्टान्तरस्य तावत्प्रमाणत्वात् । यदुक्तं जीवसमासे—

‘पल्लाऽसंखियभागं सासण-मिस्सा-ऽसमत्तमणुरसु’ इति ।

“वारमुहुत्ता विउवमीसे” ति प्रकृतान्तरं वैकियकाययोगमार्गणायां द्वादश मुहूर्ता
भवतीत्यर्थः । अत्राऽपि मार्गणोत्कृष्टान्तरस्य तथात्वादेवेति हेतुर्वोद्भव्यः । उक्तं चैतदपि जीव-
समासे—‘विउव्विमिस्सेसु । वारस हुंति मुहुत्ता’ इति ।

“परमं आहारवृणे वासपुहुत्तं” इति आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणादिके ‘परमम्’-उत्कृष्टमन्तरं वर्षपृथक्त्वम् । एतदपि नानाजीवाश्रयमार्गणान्तरस्य वर्षपृथक्त्वान्पूर्व-वदवसातव्यम् । अभिहितं च जीवसमासे-“आहारभिस्सजोगे वासपुहुत्तं” इति । “आहारमाहं लोप छम्मासं जा न होमि न कयई” इत्यादिवाचानुक्त्या प्रकृतान्तरं षण्मासमात्रमपि ज्ञायते, नवरं तत्रात्राधिकृतम्, अतो श्रीप्रज्ञापनाद्यभिप्रायेण तु तद्विशेषतः स्वयमेव द्रष्टव्यमत्रोत्तरं चेति ।

“अवेअसुहुमेसु णायव्वं छम्मासा” इति अपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायसंयम-मार्गणायां च प्रत्येकमृषमकानामिवानुत्कृष्टस्थितिवन्धकानां क्षपकाणां नपि प्रवेशात् तेषामुत्कृष्टा-न्तरस्य “अवत्रेसु छम्मासा” इति वचनेन षण्मासप्रमाणत्वाच्च प्रकृतोत्कृष्टान्तरमपि षण्मासप्रमाणं ज्ञातव्यमिति भावः ।

“होइ उवसमम्मि सत्त दिणा” इति उपशमसम्यक्त्वमार्गणायां प्रकृतान्तरं सप्त दिनानि, सप्ताहोरात्राणीत्यर्थः । उपशमकानां सर्वथाऽभावलक्षणोत्कृष्टान्तरस्य वर्षपृथक्त्व-प्रमाणत्वेऽपि प्रस्तुतमार्गणायां न त एवानुत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनः, किन्तु प्रथमोपशमसम्यक्त्व-भाजोऽपि, तेषां चान्तरं सप्त दिनान्येवोत्कृष्टतोऽप्यवसातव्यमिति भावः ।

अथ छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसंयममार्गणयोः प्रकृतमाह-“छेण परिहारम्मि चे” न्यादिना, अक्षगर्थस्तु युगमः । भावनाऽपि तयोर्द्वयोर्मार्गणोत्कृष्टान्तरापेक्षयैव कर्तव्या । उत्कृष्टान्तरं पुनस्तयोरेवमुक्तम्-“छेदोवट्ठावणियस्स पुच्छा, गोयमा । जह्जेणं तेवट्ठिइं वाससहस्साइं, उक्कोसेण अट्टारस्स सागरां वमकोडाकोडीओ । परिहारं चिसुद्धियस्स पुच्छा, गोयमा । जह्जेणं चवरासीइं वाससहस्साइं, उक्कोसेण अट्टारस्स सागरां वमकोडाकोडीओ” इति व्याख्याप्रज्ञप्तिपञ्चविंशतितमशतकसप्तमो-वेशके सामायिकसंयमादीनामन्तराधिकारे । इति गाथात्रयार्थः ॥४२१-४२२-४२३॥

तदेवमभिहितं सप्तानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टस्थित्योर्बन्धकानां यथामम्भवमन्तरम् । सम्प्रति शेषस्याऽऽयुःकर्मणस्तदादेशतो दिदर्शयिपुरादावुत्कृष्टस्थितिमधिकृत्याह—

आउस्सुकोसाए टिईअ मव्वासु अंतरं णेयं ।

हस्सं समयो जेट्ठं अंगुलभागो असंखयमो ॥४२४॥

(प्र०) “आउस्सुकोसाए” इत्यादि, निरयगत्योधायाहारिपर्यन्तास्वायुर्वन्धप्रायोपयासु सर्वासु मार्गणास्वायुष उत्कृष्टायाः स्थितेः “अंतरं णेयं” इति नानाजीवाश्रयं बन्धकानां सर्व-थाऽभावलक्षणमन्तरं ज्ञेयम् । कियदित्याह-“हस्सं समयो” इति ‘हस्सं’ लघु ‘समयः’ समय-मप्रम्, “जेट्ठं अंगुलभागो असंखयमो” इति ‘ज्येष्ठ’ दीर्घं पुनस्तन्ध्वं ततोऽङ्गुलस्याऽसंख्य-तमो भागः, अङ्गुलसंख्यभागप्रमाणक्षेत्रप्रदेशानां प्रतिसमयाऽपहारलक्षणा असंख्येया उत्सर्पिण्यव-सर्पिण्य इत्यर्थः । एतच्च हस्वेतरं द्विविधमप्यन्तरं “सेसासु लहुं समयो वासपुहुत्तं अवेअसुहुमेसु”

उक्कोसं सेसासुं धंगुलभागे असंख्यमो" ॥४१८॥ इत्यस्या गाथाया वृत्तानुक्तव्याप्त्यनुसारेणोपपादनीयमिति ॥४२४॥

अथायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानामन्तरं प्रतिपिपादयिषयाऽऽर्याद्वयमाह—

जहि सव्वद्धा कालोऽणुक्कोसठिईअ आउगस्स भवे ।

तहि तीअ अंतरं णो सेसासु भवे लहुं समयो ॥४२५॥

पंचिंदियतिरिय-विगल-पणिंदिय-तसेसु-सिं अपज्जेसुं ।

भिन्नमुहुत्तं जेट्टं अण्णह णाऊण णेयव्वं ॥४२६॥

(प्रे०) "जहि" इत्यादि, "जहि" ति 'यत्र' यासु मार्गणासु "सव्वद्धा कालोऽणुक्कोसठिईअ आउगस्स भवे" ति 'सव्वद्धाउस्स भवे अणुरुठिईअ तिरियम्मि' इत्यादि, गाथा—(३९५-३९६-३९७) त्रयेणायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां कालोऽनन्तरगते कालद्वारे सर्वाद्धा भणितः "तहि" ति तासु तिर्यगन्योष-पर्याप्तवादरभेदवर्जपट्टपृथिविकाय-पडप्काय-षट्तेजस्काय-पड्वायुकाय-वनस्पतिकार्यौघा-ऽपर्याप्तभेदवर्जप्रत्येकवनस्पतिकार्यभेदद्वय-सर्वसाधारणवनस्पतिकार्यभेद-काययोगार्घ्या-दारिककाययोगां-दारिकभिश्चकाययोग-नपुंसकवेद-क्रोधादिकषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभलेश्यात्रिक-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्व-ऽसंश्य-ऽऽहारकलक्षणसु द्विपष्टिमार्गणासु "तीअ" ति तस्या आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितेः "अंतरं णो" ति प्रस्तुतत्वाद्बन्धकानामन्तरं न भवति । सुगमः, बन्धककालस्यैव सर्वाद्धात्वात् । बन्धककालः सर्वाद्धा तु कालद्वारे बन्धकपरिमाणवाहुल्यादुपपादित इति तत एवावसेयः ।

शेषमार्गणासु प्रस्तुतान्तरस्य सम्भवात्तदादीं जघन्यत आह—“सेसासु” इत्यादि, अनन्तरोक्ततिर्यगन्योषादिद्विपष्टिमार्गणा अपहाय शेषासु यास्वायुर्वन्धो भवति, तासु निरयगत्योषाद्येकोत्तरशतमार्गणासु प्रस्तुतमायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानां सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं “लहुं समयो” ति 'लहु' जघन्यं 'समयः' समयमात्रं भवेदित्यर्थः । सुगमम्, शेषमार्गणास्वायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकपरिमाणस्योत्कृष्टपदेऽपि स्वल्पत्वात्, असंख्यलोकप्रदेशराश्वपेक्षया स्तोक्तत्वादिति भावः । ततः किम् ? ततो भवति कदाचित् सर्वथा प्रस्तुतबन्धकाभावः, तथा च तादृशसर्वजघन्यसमयमात्रान्तरकालात्पूर्वोत्तरसमयेष्वायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धकानां सम्भवे प्रस्तुतान्तरं जघन्यतः समयमात्रं प्राप्यते । भावना त्वन्यान्यजीवापेक्षया प्रागिव द्रष्टव्या, न त्वेकजीवापेक्षया विवक्षितैकजीवेनाऽऽयुर्वन्धे निष्ठापिते पुनरप्यन्तर्मुहूर्तादिकालादर्वाक् तस्यैवायुर्वन्धाऽप्रवर्तनात्, अत एवैकजीवाश्रयान्तरप्रस्तात्र आयुषोऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धजघन्यान्तरमन्तर्मुहूर्तं प्रदर्श्याऽप्यत्र नानाजीवापेक्षया तत् समयमात्रं प्रदर्शितमिति ।

प्रस्तुतान्तरमुत्कर्षतो दर्शयितुमाह—“पञ्चिदिये”त्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघादिमार्गणासु प्रत्येकं नानाजीवाश्रयच्यवनान्तस्य सद्भावे सत्यन्तमुहूर्तभवस्थितिकजीवानां सर्वदा लाभादायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकाणां ‘ज्येष्ठम्’ उन्कृष्टमन्तरमायुषः प्रकृतिवन्धान्तरवदन्तमुहूर्तमेव भवेत्, नाधिकमित्यर्थः ।

एतदुक्तं भवति—यदाऽऽयुषः प्रकृतिवन्धो जायते, तदा कुत्रचित् समयमेकं विहायाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्तस्य नियमेन प्रवर्तते, एवञ्चाऽऽयुषो नानाजीवाश्रयप्रकृतिवन्धानुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरयोर्नास्ति किञ्चिद्विशेषः । प्रकृतिवन्धान्तरसाधनेनैवाऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धान्तरं साधितं भवतीति भावः । आयुषः प्रकृतिवन्धान्तरं तु यत्र मार्गणायां नानाजीवाश्रयच्यवनान्तरसद्भावे सत्यन्तमुहूर्तभवस्थितिकजीवाः सर्वदा प्राप्यन्ते तत्र पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघादिमार्गणासुत्कर्षतोऽन्तमुहूर्तमेव प्राप्यते, नाधिकमिति तादृशमार्गणाभ्यायुषोऽनुत्कृष्टस्थितिबन्धस्य नानाजीवाश्रयोन्कृष्टान्तरमप्यन्तमुहूर्तं लभ्यते, नाधिकम् । न चान्तमुहूर्तभवस्थितिकजीवानां सार्वादिकप्राप्त्यैव प्रस्तुतान्तमुहूर्तान्तरं प्रसाध्यताम्, किं नानाजीवाश्रयच्यवनान्तरस्य साधनैकदेशतया प्रवेशेनेति वाच्यम् । यत आधुर्वन्धकान्तरे सिद्धे सति तदन्तमुहूर्तभवस्थितिकजीवानां सार्वादिकप्राप्त्योन्कर्षतोऽन्तमुहूर्तमाश्रायां पर्यवस्यति, न त्वाधुर्वन्धकान्तरेऽसिद्धे एव । आयुर्वन्धकान्तरं तु नानाजीवाश्रयच्यवनान्तराधीनम् । को भावः ? यत्र मार्गणायां नानाजीवाश्रयच्यवनान्तरं लभ्यते, तत्रैव मार्गणायासाधुर्वन्धकान्तरमप्युपगतम्, नान्यत्र । इत्थं हि नानाजीवाश्रयच्यवनान्तरस्य साधनैकदेशतया प्रवेश आवश्यकः । अन्यथा तदप्रवेशे केवलेनाऽन्तमुहूर्तभवस्थितिकजीवानां सार्वादिकलाभमात्रेणैव प्रस्तुतान्तरस्याऽन्तमुहूर्तमात्रन्वमिद्धां तिर्यगन्वोघादिमार्गणास्थानेषु नानाऽऽयुर्वन्धकाश्रयमन्तरमन्तमुहूर्तमापद्येत, तत्रान्तमुहूर्तभवस्थितिकजीवानां नैरन्तर्येण लाभात् । न श्रेष्ठापत्तिः, तिर्यगन्वोघादिमार्गणास्थानेष्वायुर्वन्धकान्तरस्य सर्वथा प्रतिषिद्धत्वात् । न च तर्हि नानाजीवाश्रयच्यवनान्तरेणैव प्रस्तुतान्तमुहूर्तमाधुर्वन्धकान्तरं साध्यताम्, किं पुनरन्तमुहूर्तभवस्थितिकजीवानां सार्वादिकमद्भावस्य हेत्वंशतया निविशेन, तिर्यगन्वोघादिमार्गणास्थानेषु नानाजीवाश्रयच्यवनान्तरस्यैवाभावेन ★तावतैवोक्तापत्तेर्वारणसम्भवादित्यपि वाच्यम् । तथा सति निर्यगन्वोघादिमार्गणास्थानेषु नानाजीवाश्रयच्यवनान्तरस्याऽभिमतत्वेन तत्राऽपि प्रस्तुतान्तरमन्तमुहूर्तप्रमाणमेव वक्तव्यं स्यात् । न च तत्रथा वक्तुं युक्तम् । तत्र तस्य द्वादशमुहूर्तादिच्यवनान्तरसर्वाधित्वा दीर्घस्य किञ्चिद्द्वन्द्वमुहूर्ताभ्यधिकपणमासादिप्रमाणस्य सम्भवात् । तथाहि—निर्यगन्वोघमार्गणास्थाने ‘ओहे शरसमुहूर्त गुरु’ इति च्यवनान्तरप्रतिपादकग्रन्थान्तरवचनेन नानाजीवाश्रयं च्यवनान्तरं द्वादशमुहूर्तप्रमाणमस्ति, तथा च तत्र यदा कदाचिदुत्कृष्टायां षण्मासात्मिकायामवाश्रायां यावज्जघन्यायामन्तमुहूर्तविधायां वद्वायुष्का नारका वर्तन्ते, ततः प्रभृति यद्यन्त-

मुहूर्तानान् द्वादशमुहूर्ताभ्यधिकषण्णमासान् यावत्कैश्चिन्नारकैरायुर्बन्धो न क्रियेत, तदा द्वादशमुहूर्ता-
श्वयनान्तरमन्तमुहूर्तानां द्वादशमुहूर्ताभ्यधिकषण्णमासा उत्कृष्टमायुर्बन्धकान्तरं च सुखेनोन्पद्येताम्,
षण्णमासान् यावत् पूर्वोक्तानामन्तमुहूर्ताद्यवाधायां बद्धायुष्कानां व्यवमानानां लाभात्, षण्णमासादूर्ध्वं
द्वादशमुहूर्तान् यावच्छ्वयनान्तरस्य प्रवर्तनेन कस्यापि व्यवनस्याऽनपेक्षणात्, ननुत्तरं द्वादशमुहूर्त-
श्चवनान्तरस्यान्तप्रभृत्या तु तस्य व्यवनान्तरस्य समाप्तेरर्वागन्तमुहूर्तादिमात्रायां जघन्याद्यवाधायां
बद्धायुष्कानां यथोत्तरं व्यवनमाशात् । अत्र एव द्वादशमुहूर्ताभ्यधिकषण्णमासप्रमाणमायुर्बन्धान्तर-
मसम्भाव्यान्तमुहूर्तानमेवोत्कृष्टतः सम्भावितमिति ।

इत्थं हि सावधारणान्तमुहूर्तमात्राऽऽयुर्बन्धकान्तरमिदृश्यं न केवलं च्यवनान्तरमत्रम्, न वा
केचन्याऽन्तमुहूर्तभवस्थितिकजीवानां सार्वदिकप्राप्तिरत्रम्, किन्तु च्यवनान्तरमद्भावे सत्यऽन्तमुहूर्त-
भवस्थितिकजीवानां सार्वदिकप्राप्तिरित्येतावदेव । अत्र एव यत्र मार्गणासु नानाजीवापेक्षया च्यवना-
न्तरमद्भावे मन्यन्तमुहूर्तभवस्थितिकजीवानां सार्वदिकमद्भावः सिद्धस्तत्र मार्गणास्वेव प्रस्तुतान्तरमन्त-
मुहूर्तमभिहितम्, न पुनर्निरयगत्योधादिमार्गणान्तरेषु । ननु मौढ्यतां निरयगत्योधादिमार्गणा-
न्तरेऽन्तमुहूर्तभवस्थितिकजीवानां सार्वदिकप्राप्तेरभावेन तत्र प्रस्तुतान्तरमन्तमुहूर्तम्, उक्तनीत्या
तत्र यथोक्तं किञ्चिदभ्यधिकषण्णमासादिप्रमाणं तु वक्ष्यते ? इति चेद्, न, यत् उक्तयुक्त्या
तस्य तदवन्मात्रस्य सम्भवेऽपि, ततोऽपि प्रबलेन युक्त्यन्तरेण तत्रतः स्तोकमपि सम्भवति ।

तथाहि-बद्धायुष्कानामर्ष्यं च्यवनभावात्, व्यवमानानां नियमतो बद्धायुष्कत्वाच्च
च्यवनाऽऽयुर्बन्धो परस्परं नियमितौ । इत्थं चौघतो मार्गणास्थानेषु वोत्कृष्टपदे च्यवनपरिमाण-
बद्धायुर्बन्धकपरिमाणं संख्येयमसंख्येयमनन्तं वा सदृशं लभ्यते, तथैव प्राक् परिमाणद्वारे प्रतिपादितं
च, तेनैव न्यायेनाऽऽयुर्बन्धकान्तरमपि तत्तन्मार्गणासु ग्रन्थान्तरदर्शितनानाजीवाश्रयच्यवमान्तरेण
तुल्यमेव माधनीयसुचितं प्रतिभाति, न पुनः पूर्वोक्तमभ्यधिकषण्णमासादिमानम् । यद्यप्येवं तथाऽप्ये-
कजीवापेक्षया च्यवनस्य सामयिकत्वेनाऽऽयुर्बन्धस्यान्तमुहूर्तिकत्वेन च बाधकसम्भावनाया नाऽप-
मपि पक्ष उपादास्पते, किन्तु 'णाऊण णेयन्व'मित्यनेन तत्प्रतिपादकग्रन्थान्तरलाभे तेन, तदभावे
तथाविधासपुरुषविशेषात्, तदभावे तु प्रबलोपपर्यन्तरतस्तत्स्वयमुन्नेयमित्येवमेव वक्ष्यते, उक्तसा-
धनाभावे तस्य स्पष्टं वक्तुमशुक्तत्वात् । स्याद्यदि तत्प्रतिपादकवचनादीनामन्यतमत्, तदा तु तस्य
स्पष्टं कथनेऽपि न बाधा । न चैकजीवाश्रयाऽऽयुर्बन्धकाल-च्यवनकालयोरन्तमुहूर्त-समयमात्र-
तया भवत्कृष्टपदे नानाजीवाश्रया-ऽऽयुर्बन्धकाल-च्यवनकालयोरतुल्यत्वम्, न पुनस्तयोरन्त-
रस्य किञ्चिदापद्येत, अन्तरोपपत्तावेकजीवाश्रयच्यवनकाला-ऽऽयुर्बन्धकालवैयम्यस्य बाधकत्वसम्भा-
वनाया एवाऽनवकाशादिति वाच्यम् । नानाजीवानाश्रित्याऽऽयुर्बन्धे समाप्ते तदन्तरस्य, तदन्तरे
समाप्ते पुनरपि तद्वन्धस्य प्रवृत्तेरिव नानाजीवानाश्रित्य च्यवनसमाप्ती तदन्तस्य, तत्समाप्ती

पुनरपि तच्च्यवनप्रवृत्तेरावश्यकत्वादुत्कृष्टपदे तयोः कालस्य तारतम्ये उत्कृष्टपदेऽन्तरपरिमाणतार-
तम्यमपि कथं न स्यात् ।

यदि चैकजीवाश्रयच्यवनकालस्य समयमात्रत्वेनैकजीवाश्रयाऽऽयुर्बन्धकालस्यान्तमुहूर्तप्रमा-
णत्वेन च तयोर्मध्येऽसंख्येयगुणहीनाधिकत्वेऽपि उत्कृष्टपदगतैकजीवाश्रयाऽऽयुर्बन्धान्तर-व्यवनान्त-
रयोर्मध्येऽसंख्येयभागमात्रेण हीनाधिक्यान्नानाजीवाश्रययोस्तयोर्मध्ये स्यात्तुल्यप्रायत्वं तुल्यत्वं वा
तर्हि तु न काञ्चिदोषमुत्पश्यामः, नवरं तयोस्तुल्यत्वमेव तुल्यप्रायत्वमेव वेति तु प्रबलसाधनाभावे
निश्चेतुं न युक्तम्, इत्यतोऽपि 'णाउण णेयव्व' मित्येवमेवेदानीं सम्यग् । निश्चयतस्तु तस्य सूक्ष्मार्थ-
वेदिवेद्यत्वादित्येवं विचारितं यथामति प्रसङ्गवशान्निरयगत्याधादिमार्गणास्थानेष्वऽऽयुषोऽनुत्कृष्ट-
स्थितेर्नानाजीवाश्रयोत्कृष्टान्तरम् । एतर्हि तदेव विभणिपुराह मूलकृत्- 'अण्णाह् णाउण णेयव्व'
मिति, गतार्थम् । केवलमन्यत्रेति 'जहि मव्वद्धा' इत्यादिना प्रतिपिद्मप्रकृतान्तरास्तिर्यग्गत्योधादि-
द्विषष्टिमार्गणास्तथा 'यंचिदियतिरिय-विगले' न्यादिनाऽभिहितप्रकृतान्तरा द्वादशमार्गणा इत्येवं
चतुःसप्ततिमार्गणाभ्यो 'ऽन्यत्र' -निरयगत्योधादिनवनवतिशेषमार्गणास्त्वित्यर्थः । ताश्च शेषमार्गणा
इमाः- सर्वे निरयगतिभेदाः, पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्, निरक्षी, सर्वे मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे देवगतिभेदाः,
पर्याप्तद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाः, पर्याप्तबादरपृथिवीकायाऽऽयु-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पति-
पर्याप्तत्रसकायभेदाः, सर्वे मनोवचोयोगभेदाः, वैक्रिया-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगाः, स्त्रीवेद-
पुंवेदौ, मत्यादिज्ञानचतुष्कम्, विभङ्गज्ञानम्, संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-
संयम-देशसंयमाः, चक्षु-रगधिदर्शने, शुभलेश्यात्रिकम्, सम्यक्त्वाघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकसम्य-
क्त्वानि, मासादनं मंजिमार्गणास्थानञ्चेति ।

अत्रेवमवधेयम्-यत्र मार्गणादावायुष उत्कृष्टादिस्थितेर्बन्धकपरिमाणमुत्कृष्टपदेऽसंख्य-
लोकान्त्वन्यूनं, तत्र मार्गणादौ तद्वन्धकानां यथोक्तविवक्षया स्तोक्तत्वेन कादाचित्कान्तरमभ्युपगम्य पूर्वं
भङ्गविचयद्वारे पर्याप्तबादरपृथिवीकायादिमार्गणास्थानेष्वऽऽयुषोऽनुत्कृष्टस्थितावष्टौ भङ्गा अभिहिता ।
यदि तत्र पञ्चमङ्गप्रहानुसारेण निरन्तरोत्पत्तिवच्च्यवनान्तरमपि नाभ्युपगम्यते, तदा तत्राऽष्टमो
भङ्गस्तथा नानाजीवाश्रयकालद्वारे सर्वाद्धा, प्रस्तुतद्वारेऽन्तरप्रतिषेधश्च द्रष्टव्यो भवति । एवमन्य-
त्राऽपि यथासंभवं ज्ञेयमिति ॥४२५-४२६॥

तदेवमभिहितमष्टानामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टानुत्कृष्टद्विविधस्थित्योर्बन्धकानां लोके सर्वथाऽभाव-
लक्षणमन्तरमोघत आदेशतश्च यथासम्भवम् । साम्प्रतं तस्मामेवाष्टानां जघन्या-ऽजघन्यस्थित्यो-
स्तद्विभणिपुरादौ तावदोघत आह—

सत्तण्ह लहुं समयो हस्साअ ठिईअ बंधगाण गुरुं ।

छम्मासा अलहूए णंतरमाउस्स दोण्हं वि ॥४२७॥

(प्रे०) “सत्तण्हं” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां ‘इस्यायाः’ जघन्यायाः स्थिते-
र्वन्धकानां “लहु समयो” ति ‘लघु’-जघन्यमन्तरं ‘समयः’ समयमात्रं भवति । सुगमम् ।
उत्कृष्टमाह—“गुरु” मिन्यादि, सप्तानां जघन्यस्थितेर्वन्धकानां ‘गुरु’-उत्कृष्टमन्तरं पुनः षण्मासा
भवति, क्षपकाणामेव जघन्यस्थितिवन्धस्वामिन्वात् तेषां च सर्वथाऽभावलक्षणस्यान्तरस्योत्कर्षितः
षण्मासप्रमाणत्वात् । उक्तञ्च जीवसमासप्रकरणे—‘स्ववगेषु छम्मासा’ इति । अजघन्यस्थिति-
वन्धकानामाह—“अलहूणं णंतरं” मिति, सप्तानामलघुस्थितेर्वन्धकानां “णंतरं” ति अन्तरं न
भवति । सुगमम्, एकेन्द्रियादिमर्षजीवराशिभिः सप्तानामजघन्यस्थितिवन्धस्य नैरन्तर्येण करणात्,
तेषां बहूनां राशीनामविच्छेदेन प्राप्यमाणतया बन्धककालस्यैव सर्वाद्वात्वादिनि । अथाऽप्युप आह—
“आउस्स दोण्हं वि” ति ‘णंतरं’ मित्यत्राऽपि सम्बध्यते, तत आयुःकर्मणो ‘द्वयोरपि’-जघन्या
याः स्थितेर्वन्धकानामजघन्यायाः स्थितेर्वन्धकानां चान्तरं न भवति, न पुनः केवलानामजघन्य-
स्थितेर्वन्धकानामित्यपिशब्दार्थः । सुगमं चेदमपि, प्रतिसमयं द्विविधस्थित्योरनन्तानां बन्धकानां
लाभेन बन्धकाद्वाया एवानाद्यनन्तत्वात्, येषां च निरवधिको बन्धकाद्वा तेषां त्वन्तरं न लभ्यत
इत्यनेकशः प्रतिपादितमिति ॥४२७॥

अथादेऽतो व्याजिहीर्षुरादीं यासु सप्तानां जघन्यस्थितेर्वन्धकानामन्तरमुक्तनीत्या न सम्भ-
वति, तासु प्रतिषेधयन्नाह—

जासु जहण्णठिईए कालो सत्तण्ह होइ सव्वद्धा ।

तासु जहण्णठिईए सत्तण्हं अंतरं णत्थि ॥४२८॥

(प्रे०) “जासु” इत्यादि, यासु तिर्यग्गत्योर्वादिष्वचत्वारिंशन्मार्गणासु सप्तानां जघन्य-
स्थितेर्वन्धकानां कालः सर्वाद्वा “होइ” ति उक्तो भवति, तासु मार्गणासु सप्तानां जघन्यस्थिते-
र्वन्धकानामन्तरं न भवतीत्यक्षरार्थः । भावार्थस्तु प्राग्वत् । यासु सप्तानां जघन्यस्थितेर्वन्धककालः
सर्वाद्वा, ता मार्गणाः पुनरिमाः-तिर्यग्गत्योर्वा-सर्वकेन्द्रियभेदाः, सूक्ष्मौष-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-वादरापर्याप्त-
भेदभिन्नाश्चत्वारः पृथिवीकायभेदास्तथैवाप्याय-तेजस्काय-वायुकायसत्काः प्रत्येकं चत्वारश्चत्वारो
भेदाः, वनस्पतिकार्याषा-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकार्यभेदाः, सर्वे माधारणवनस्पतिकार्यभेदाः, औदा-
रिकमिश्र-कार्मणकाययोगौ, मत्स्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽशुभलेश्यात्रिका-ऽभन्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञ-
ऽनाहारकमार्गणाश्चेति ॥४२८॥

उक्तशेषमार्गणासु प्रस्तुतान्तरस्य सम्भवात्तज्जघन्येतरभेदेन दर्शयन्नाह—

सेसासु लहुं समयो गुरुमत्थि दुणर-पणिंदिय-तसेसुं ।

पणमणवय-कायेसु उरालिय-अवेअ-लोहेसुं ॥४२९॥

मह-सुअ-संयम-ममइअ-सुहुमेसु अचक्खु-चक्खु-सुक्कासुं ।
 सम्म-खइअ-सण्णीसुं भविया-ऽऽहारेसु छम्मासा ॥४३०॥
 वासपुहुत्तं मणुसी-णपुंसगि-त्थि-मणणाणु-वसमेसुं ।
 साहियवासो हवए पुम-तिकसायो-हिजुगलेसुं ॥४३१॥
 अहवा तिकसायेसुं छम्मासो-हिजुगलम्मि विति परं ।
 वासपुहुत्तं छेए अट्टारस जलहिकोडिकोडिओ ॥४३२॥ (गीतिः)
 सेसासु मग्गणासुं अंगुलभागो भवे अमंखयमो ।

(प्रे०) “सेसासु” इत्यादि, उक्ततिर्यग्गत्योधादियञ्चत्वारिंशन्मार्गणा उत्सृज्य शेषासु निरयगत्योधादिपञ्चविंशत्यभ्यधिकशतमार्गणासु पुनः मत्तानां जघन्यायाः स्थितेर्वन्धकानामन्तरं प्राप्यते, तच्च “लहुं समयो” ति जघन्यं समयमात्रं भवति । उक्तं तर्हि कियञ्जवतीत्याह— “शुरुमत्थि” इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्यमानुषीभेदवर्जितयोरोध-पर्याप्तभेदभिन्नयोर्द्वयोर्नरगतिभेदयो-स्तथैवाध-पर्याप्तभेदभिन्नयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियजातिभेदयोर्द्वयोश्च त्रसकायभेदयोः, पञ्चमनोयोग-भेदेषु, पञ्चवचोयोगभेदेषु, काययोगौघे, आदारिककाययोगे, अपगतवेदे, लोभकपाथे, मतिज्ञान-श्रुतज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयम-सूक्ष्ममम्यरायसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौ-घ-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञि-भव्या-ऽऽहारकंश्चित्येवं समुदितासु त्रयस्त्रिंशन्मार्गणासु “छम्मासा” ति षण्मासा भवति । कुतः ? एतासु प्रत्येकं मत्तानां जघन्यस्थितिवन्धस्य क्षपकस्वामिकतया क्षपकाणां सर्वथाऽभावलक्षणोत्कृष्टान्तरापेक्षया तल्लाभात्, क्षपकाणामुत्कृष्टान्तरस्य षण्मासत्वाच्चेति । अन्यत्राह—“वासपुहुत्त”मित्यादि, मानुषी-नपुंसकवेद-स्त्रीवेद-मनःपर्यवज्ञानो-पशमिकसम्यक्त्व-लक्षणसु पञ्चमार्गणासु प्रस्तुतान्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति ।

ननु भवत्वौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां जघन्यस्थितेर्वन्धकानामुत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, उपशमकानां नानाजीवाश्रितोत्कृष्टान्तरस्य जीवसमासे “वासपुहुत्तमुवसासणसु” इत्यनेन वर्षपृथक्-त्वाभिधानात् । न पुनः शेषमानुष्यादिमार्गणास्वपि तद्युज्यते, तासु क्षपकाणामेव जघन्यस्थितिवन्ध-स्वामित्वेन मनुष्यगत्योधादिमार्गणावन्पण्मासप्रमाणम्यैव तस्य युज्यमानत्वात् ? इति चेद्, उच्यते, तत्तद्वेदतज्ज्ञानादिनाऽविशिष्टानां सामान्यजीवानां सिद्धयगमनलक्षणमन्तरमुत्कृष्टतः षण्मासादधिकमभवदपि तत्तद्वेदतज्ज्ञानादिना विशिष्टानां स्यादित्तत्तल्लिङ्गिनामवध्यादित्तज्ज्ञा-निनां विशेषतो यथा-स्त्रीवेदनपुंसकवेदसिद्धानामुत्कृष्टतः संख्येयानि वर्षमहस्राणि, पुंवेदसिद्धानां साधिकवर्षमानम्, यथा चाऽऽभिनिबोधिक-श्रुता-ऽवधिज्ञानयथात्कृतानां साधिकवर्षमानम्, आभि-

निबोधिक-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यवज्ञानचतुष्कपश्चात्कृतानां जीवविशेषाणां तु संख्येयानि वर्षसहस्राण्यु-
त्कृष्टान्तरं भवति । उक्तं च सिद्धप्राभृतवृत्तौ—

'पुरिससिद्धाणं पुरिसाणंतरसिद्धाणं य दोषहं चि भंगाणं अंतरं वासं अहियं । सेसपुरिसे इत्थि-णपुं-
सगभंगेसु संखेज्जाणि वाससहस्साणि अंतरं' ति गाथार्थः ॥६८॥' इति । तथा 'सेसाणं थिगप्पाणं वासं
अहियं, तं जहा - "आभिणिवाहियमुयश्रोहिताणपच्छाकडाणं एयं 'मणपज्जणाणरहे' ति मणपज्जवणाणरहाह-
याणं । सहियाणं पुण सेसभंगाणं आभिणिवाहियमुयमणपज्जवणाणपच्छाकडाणं वा 'संखसम' ति संखे-
ज्जाणि वाससहस्साणि ति गाथार्थः ॥७३॥' इति ।

तथैव तत्तद्देद-तत्तज्ज्ञानेनाऽविशिष्य सामान्यतः क्षपकजीवानामुत्कृष्टान्तरस्य षण्मासप्रमाणत्वेऽपि
तत्तद्देदादिना विशिष्टानां तदुत्कृष्टान्तरमधिकं प्राप्यते, तच्च स्त्रीवेदविशिष्टानां वर्षपृथक्त्वम्,
तत एव मानुषीणामपि वर्षपृथक्त्वम्, नपुंसकवेदिजीवानां मनःपर्यवज्ञानिनां च वर्षपृथक्त्वं विज्ञे-
यम्, पुंवेदेन क्षपकश्रेणि समारूढानां तु तन्साधिकवर्षप्रमाणमवोत्कृष्टतोऽपि भवति । इत्थमेवावधि-
ज्ञानिनामवधिदर्शनेनामपि क्षपकजाणां क्षपेकमुत्कृष्टान्तरं साधिकवर्षप्रमाणं भवति, अत एवानुपदं
पुंवेदादिमार्गणामु सप्तानां जघन्यस्थितेर्नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टमन्तरं साधिकवर्षप्रमाणं वक्ष्यते ।

ननु 'पुरिसे वासं अहियं' इति सिद्धप्राभृतघञनात् तदनुसारेण भवतु पुंवेदिक्षपकान्तरा-
धीनं प्रस्तुतान्तरमुत्कृष्टतः साधिकवर्षप्रमाणम्, एवं 'सेसाणं वासअहियं' इति तद्वचनात् तदनुसा-
रेणावधिज्ञानादिमार्गणामु साधिकवर्षमानं च, न पुनर्मानुषी-स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-मनःपर्यवज्ञानमार्ग-
णामु तद्वर्षपृथक्त्वं भण्यमानमुपपत्तिपथमामृशति, स्त्रीवेदादिसिद्धानामुत्कृष्टान्तरस्य संख्येयवर्ष-
सहस्रप्रमाणकथनाद् ? इति चेद्, न, बहुवाचित्वेऽपि पृथक्त्वशब्दस्य दृश्यमाणत्वात् । उक्तं
चोपशमनाकरणचूर्णौ—“पुहुत्तसदो बहुवाची” इति । इत्थं च वर्षपृथक्त्वमित्यनेन सम्भवद्बहु-
वर्षप्रमाणान्तरस्याऽपि ग्रहीतुं शक्यत्वादित्यलं विस्तरेण । पुंवेदादिमार्गणास्ववाह—“साहिय-
वासो” इत्यादि, पुरुषवेदे “तिकसाधोहिजुगलेसु” ति लोभकपाये भणितत्वान्तद्वर्जेषु त्रिषु
क्रोधादिकपायेषु, अवधिज्ञानेऽवधिदर्शने चेत्येवं समुदितासु षण्मार्गणामु सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्ध-
कानामुत्कृष्टमन्तरं साधिकवर्षमानं भवति । कषायत्रिके मतान्तरेणाह—“अह्वा” इत्यादि, लोभ-
वर्जक्रोधादिकषायत्रिके 'ऽध्वा'-मतान्तरेण प्रस्तुतान्तरं षण्मासा भवति । अवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-
मार्गणाद्वयेऽनन्तरं साधिकवर्षमानं दर्शितम्, साम्प्रतं महाबन्धकारमतेन तत्पूर्वापेक्षयाविलक्षणमेवेति
कथयति—“ओहिजुगलस्मि” इत्यादि, अवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शनमार्गणाद्वयलक्षणेऽवधिपुगले प्रस्तु-
तान्तरं “बिंति परे” ति परे-महाबन्धकारा बुवन्ति-प्रतिपादयन्ति । कियदित्याह—“वासपुहुत्तं”
ति वर्षपृथक्त्वमिति ।

“छेए अठारस जलहिकोडिओडीओ”, ति छेदोपस्थापनसंयममार्गणायां सप्तानां
जघन्यस्थितेर्बन्धकानामुत्कृष्टान्तरमष्टादश 'जलधिकोटिकोटयः'- सागरोपमकोटिकोटयो भवति ।
अथोक्तशेषमार्गणामु प्रस्तुतान्तरमाह—“सेसासु” इत्यादि, अष्टौ निरयमेदाः, चत्वार-

स्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यः, त्रिंशद्देवगतिमार्गणभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, ओष-वादर्ष-वाद्रपर्याप्तभेदभिन्नाः पृथिव्यादीनां प्रत्येकं त्रयस्त्रय इति द्वादश भेदाः, प्रत्येकवनस्पतिकार्योष-तत्पर्याप्तभेदाः, अपर्याप्तत्रसकायः, वैक्रिय-तन्मिश्रकाययोगी, आहारक-तन्मिश्रकाययोगी, विभङ्गज्ञानम्, परिहारविशुद्धिकर्मयम-देशसंयमौ, तेजः-पञ्चलेश्ये, क्षायोपशमिकसम्यक्त्वम्, सम्यग्मिथ्यात्वं सासादनं चेत्येवंरूपासूक्तशेषास्वशीतिमार्गणासु सप्तप्रकृतीनां जघन्यस्थितेर्वन्धकानामुत्कृष्टान्तरं क्षेत्रतोऽह्मगुलासंख्यभागप्रमाणं भवति, कालतस्त्वसंख्येयोत्सर्पिण्यत्रसर्पिण्य इति प्राम्बज्ज्ञेयमिति ॥४२९-४३०-४३१-४३२॥

अथ मार्गणास्थानेष्वेव सप्तानामजघन्यस्थितेर्नानावन्धकाश्रयमन्तरमाह—

अजहण्णाअ ठिईएऽणुक्कोसठिइव्व सव्वासुं ॥४३३॥

(प्रे०) “अजहण्णाअ” इत्यादि, सर्वासु निरयगन्त्योषाद्यनाहारकमार्गणापर्यन्तासु सप्तपुत्रशतमार्गणासु प्रस्तुतत्वान्मूलप्रकृतीनामजघन्यायाः स्थितेर्वन्धकानां जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमप्यन्तरम् “णुक्कोसठिइव्व” इति सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकान्तरवत् ‘सत्तपह् अपज्जणरे आहारदुगे विउव्वमिसे य’ । इत्यादि(४१९...४२३)गाथापञ्चकेनोक्तमानं बोध्यम् । तद्यथा—अपर्याप्तमनुष्या-ऽऽहारककाययोग-वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयमौ-पशमिकसम्यक्त्वमिश्र-सास्वादनलक्षणेषु नवमार्गणास्थानेषु जघन्यतः समयः, छेदोपस्थापनसंयमे तु तजघन्यतस्त्रिपष्टिवर्षसहस्राणि, परिहारविशुद्धिकर्मयमे पुनश्चतुरशीतिवर्षसहस्राणि, एता एकादशमार्गणा विहाय सेमासु निरयगन्त्योषादिमार्गणासु त्वजघन्यस्थितिवन्धकानामन्तरमेव न भवति । प्रस्तुतान्तरमुत्कृष्टतः पुनरपर्याप्तमनुष्य-मिश्रदृष्टि-सास्वादनमार्गणात्रये एत्योपसस्याऽसंख्येयभागमात्रम्, वैक्रियमिश्रकाययोगे द्वादश मूर्हताः, आहारक-तन्मिश्रकाययोगमार्गणाद्वये वर्षपृथक्त्वम्, अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोः षण्मासाः, औपशमिकसम्यक्त्वे तु सप्त दिनानि, छेदोपस्थापनसंयम-परिहारविशुद्धिकर्मयममार्गणयोः पुनरिदमुत्कृष्टमन्तरमष्टादश सागरोपसकोटिकोटयो भवति । एतच्च जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमपि सप्तकर्मणामजघन्यस्थितिवन्धकानामन्तरं सर्वथैव सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानामन्तरवद्विभावनीयमिति ॥४३३॥

उक्तमायुर्वर्जमप्तानां जघन्या-ऽजघन्यस्थित्योर्नानार्जावाश्रयं जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नमन्तरं मार्गणास्थानेष्वपि । अथ शेषस्यायुःकर्मणस्तद्विभागिपुरतिदेशेनैवाह—

जामु अणुक्कोसाए ठिईअ आउस्स अंतरं णत्थि ।

तासु जहण्णठिईअ वि अंतरमाउस्स णेव भवे ॥४३४॥

सेसासु लहुठिईए उक्कोसठिइव्व अंतरं णयं ।

अजहण्णाअ ठिईएऽणुक्कोसठिइव्व सव्वासुं ॥४३५॥

(प्र०) “जासु” इत्यादि, यासु मार्गणासु आयुषोऽनुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकानामन्तरं “णस्थि” ति ‘आउस्स’ अंतरं णोऽणुक्कोसात् टिईअ’ इत्यादिना प्राक् प्रतिपिद्धं तासु तिर्यग्-न्योघ-सर्वेकेन्द्रिय-सर्वसाधारणवनस्पतिकार्यौघ-सूक्ष्मौघ-तन्पर्याप्त-ऽपर्याप्त-वादर्शौघा-ऽपर्याप्तवाद्-भेदभिन्न-पृथिव्यसंज्ञोवायुकाय-वनस्पतिकार्यौघ-प्रत्येकवनस्पतिकार्यौघ-नदपर्याप्त-काययोगौघा-दारिकौ-दारिकमिश्र-काययोग-नपुंसकवेद-कपायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभ-लेश्यात्रिक-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंश्य-ऽनाहारकलक्षणासु द्विषष्टिमार्गणासु “जहृष्णठिईअ वि” ति आयुषो जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकानामप्यन्तरं नैव भवेत् । न केवलमजघन्यस्थितेर्बन्धकानामन्तरं न भवति, किन्तु जघन्यस्थितेर्बन्धकानामन्तरमपि नैव भवतीत्यपिशब्दार्थः । कुतोऽजघन्यस्थितेर्बन्धकानामिव न भवति ? अणुक्कोसलोकादिना रूपेण बन्धकपरिमाणस्य मास्यादिति ।

“सेसासु” ति अनन्तरोक्ताः द्विषष्टिमार्गणाः परिहृत्य निरयगन्योघाद्येकोत्तरशतमार्गणासु सप्तानां लघुस्थितेर्बन्धकानाम् “उक्कोसट्टिईअ अंतरं णेघ”मिति जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमन्तरमुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानाम् ‘आउस्सुक्कोसात् टिईअ सव्वासु अंतरं णेयं । इस्सं समयो जेद्धं अंगुलभागो असंखयमो’ ॥४२४॥ इत्यनेन प्रतिपादिनान्तरवज्जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतस्त्वङ्गुलामंख्यभागप्रमाणं ज्ञेयम् । निरयगन्योघाद्याः शेषमार्गणाः पुनरिमाः-सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, सर्वे मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे देवगतिभेदाः, सर्वे द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चेन्द्रियजातिभेदाः, पर्याप्तवादराः पृथिव्यसंज्ञोवायुकायाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकार्यः, सर्वे त्रसकायिकाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-वैक्रिया-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यवज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वांघ-क्षायिक-श्लायोपशमिक-सास्वादन-संज्ञिमार्गणा-श्चेति । आयुषोऽजघन्यस्थितेर्बन्धकानामाह-“अजहृष्णाअ” इत्यादि, अजघन्यस्थितेर्बन्धकानां जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमन्तरं पुनः “अणुक्कोसट्टिईअ सव्वासु” ति सर्वासु द्विषष्ट्युत्तरशतमार्गणास्वप्यायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकानां प्रागस्मिन्नेवाऽन्तरद्वारे—

‘जहि सव्वद्धा कालोऽणुक्कोसट्टिईअ आउगस्स भवे । तहि तीअ अंतरं णो सेसासु भवे लहुं समयो ॥४२५॥ पंचिन्द्रियतिरिय-विगळ-पणिदिय-तसेसु सि अपज्जेसु’ । भिन्नमुहुत्तं जेद्धं अप्पणह् णाउण णेयज्जं ॥४२६॥ इत्यनेनोक्तानुत्कृष्टस्थितिवन्धकान्तरवज्जातव्यमिति ॥४३४-४३५॥

प्रदर्शितमायुषोऽपि जघन्या-ऽजघन्यद्विविधस्थितिवन्धयोर्नानाजीवाश्रयं जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमन्तरम् । तस्मिंश्च प्रदर्शिते निष्ठितं नानाजीवाश्रयमन्तरद्वारमिति ॥

॥ इति श्रीबन्धविभागे मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे द्वितीयाधिकारे त्रयोदशं नानाजीवाश्रयमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥



आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टाऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धयोर्नानाजीवाश्रयान्तरप्रदर्शकं चन्द्रम्

उत्कृष्टस्थितेः		अत्रान्याऽनुत्कृष्टस्थितयोः प्रत्येकम्							
जघन्यतः- नास्ति	शोधवत् समयः	समयः	समयः	समयः	समयः	समयः	समयः	समयः	शोध-वत्
उत्कृष्टतः- नास्ति	अङ्गुलाऽसंख्यभागः (क्षेत्रतः)	सन्धोपमा संख्यभा	द्वादश मुहूर्ता	वर्षप्रथम क्त्वम्	पण्णासाः	सप्त दिनाः	१८कोटि-कोटिसा-गणैश्च	१८कोटि-कोटिसा-गणैश्च	शेषमां-पासु-नाति
गति०	सर्व० ४७	समयपति मनुष्य० १							शेष० ४६
इन्द्रिय०	सर्वं एकेन्द्रिय-भेदाः ७	सर्वचिदानपञ्चैन्द्रि० १२							सर्व० १६
काय०	सर्वं नूक्षमा उपलोम-नादरभेदभिन्नपुष्टि-व्यप्लेजोवायुभेदाः, तनोत्रा-उपदीप्रत्येक-वन० सर्वसाधारणा-वनभेदाश्च० २५	शोध-बादरौप-न्त-पिभेदभिन्नपुष्टिव्य-प्लेजोवायुभेदाः, प्रत्येकवनोपतत्पर्या-न्भेदौ, सर्वत्रम-भेदाश्च० १७							सर्व० ६२
योग०	सर्व० १८	वैक्रिय-भिन्न० १	ग्राह्य-रतिक.						सर्व० १५
वेद०	★ सर्व० ४				प्र० १				शेष० ३
कषाय०	सर्व० ५								सर्व० ४
-ज्ञान०	सर्व० ७								सर्व० ७
संयम०	★ सर्व० ७				सूक्ष्म-मपरा १		क्षुद्रोगस्या-पन० १	परिहार-विशुद्धिक० १	शेष० ४
दर्शन०	सर्व० ३								सर्व० ३
लेश्या०	सर्व० ६								सर्व० ६
भक्ष्य०	सर्व० २								सर्व० २
सम्यक्त्व	सर्व० ७	साक्षात्वन-भिन्न० ७				शोषिणी-भिन्न० १			शेष० ५
संज्ञी०	सर्व० २								सर्व० २
साक्षरी०	सर्व० २								सर्व० २
सर्वमांसाः-	७२	१७८	३	१	२	२	१	१	१५६
गाथाङ्काः-	४१७	४२८	४१६	४१६	४१६	४१६	४२०	४२०	४२१
			४२१	४२१	४२२	४२२	४२३	४२३	

★ प्रपञ्चः-प्रपञ्चवेद-सकमसम्परासंयमयोत्कृष्टतो वर्षप्रथमत्वम्, न त्वङ्गुलासंख्यभागः (गा०-४१८) ।

आयुर्वेदसमूहप्रकृतीनां जघन्यस्थितिवन्धस्य नानाजीवाश्रयान्तरप्रदर्शकयन्त्रम्

जघन्यतः	नास्ति	शोधवत् समयः	समयः	समयः	समयः	समयः
उत्कृष्टतः	नास्ति	पचभागाः	नाधिकवर्षः	वर्षप्रथमवर्ष	१८ कोटिकोटि सागरीपम०	अङ्गुलाऽसंख्य- मागः (क्षेत्रतः)
गति०	तिर्यग्गतपीष० १	मनुष्यीच-तदावर्षात् २		मानुषी, १		वर्ष० ४३
दृष्टिः	सर्वं एकैन्द्रियभेदाः, ७	पञ्चैन्द्रियोप- तत्पर्याप्त० २				शेष० १०
शक्तिः	सर्वगूढमा-ऽपर्याप्तवाद्भेद- भिन्नगुणिकान्तेर्जावायुभेदाः, वनीघा-ऽगर्वाण्यप्रत्येकवत्- भेदो, सर्वमाधारणवत्- भेदाश्च, २५	त्रयकापीष-सत्ता- पर्याप्त० २				शेष० १५
योगः	श्रीशारिकमिथ- नापेमा २	सर्वमनोवत्ताभेद० काशयोगीष० श्रीशारिक ३				शेष० ४
वेदः		श्रामतवेद० १	पुरुष० १	स्त्री० नपु० २		
कथाश्च		लोम० १	शेष० ३			
ज्ञान०	सत्त्वज्ञान० भूताज्ञान० २	मतिज्ञान० धूलज्ञान० २	अवधि० १	मनःपर्यन्त० २		विभङ्ग० १
संयमः	यज्ययमः, १	नयमोष० सामा- यिकः सूक्ष्म० ३			क्षेत्रोपस्थापन० १	परिहार० देश० २
दर्शन०		जज्ञ० वनक्षु० २	अवधि० १			
लेख्या०	अधुभ० ३	वृक्षा, १				तेजःपत्र० २
भव्य०	अभव्य० १	भक्ष्य० १				
सम्पत्त्व	विधयान्त्र० १	साम्यकपीष० क्षायिक० २		श्रीपर्याप्तिक० १		क्षायोपसामिक० सासादन० मिथः ३
सङ्गी०	असङ्गी, १	सङ्गी, १				
आहारी	अनाहारिक० १	आहारी, १				
सर्वसागंणाः-	४५	३३	६	५	१	६०
साथाङ्काः-	४२८	४२६-४३०	४३१	४३१	४३२	४३३

आयुष उत्कृष्टादिचतुर्विधस्थितिबन्धस्य नानाजीशश्रयान्तरप्रदर्शकत्रयम्

उत्कृष्टस्थितेः		जघन्यस्थितेः		अजघन्या-ऽनुत्कृष्टस्थित्योः		
जघ०-ओघवत्समयः		ओघवत् नास्ति	समयः	ओघवत् नास्ति	समयः	समयः
उत्कृष्टतः- अङ्गुलाऽसं- ख्यभागः		"	अङ्गुलाऽसंख्य- भागः	"	अन्तमुद्गुर्न	अन्यतो ह्येवम्
गति०	सर्व० ४७	तिपंगत्योघ० १	शेष० ४६	निर्योगत्योघ० १	पञ्चेन्द्रिय- गोच-तदपर्या- प्तभेदो, ०	शेष० ४४
इन्द्रिय०	सर्व० १९	सर्व एकेन्द्रियभेदाः ७	सर्वविकल्पपञ्चे- न्द्रियभेदाः १२	सर्वा एकेन्द्रियभेदाः ७	द्वि-वि-त्रु- पञ्चेन्द्रियोघ- तदपर्याप्त- भेदाः ८	शेष० ६
काय०	सर्व० ४२	श्रीघ-वादरीघ-तदपर्याप्त- सूक्ष्मोघ-तदपर्याप्ता-ऽपर्याप्त- भेदभिन्नगृथिव्यप्लेजोवायु- भेदाः, प्रत्येकवनीघ तद- पर्याप्तभेदो, वनीघ-सर्व- साधारणभेदाश्च. ३४	पर्याप्तवादरृथि- व्यप्लेजोवायु- भेदाः, पर्याप्त- प्रत्येकवन० सर्व- त्रयभेदाश्च. ८	श्रीघ वादरीघ-तदपर्याप्त- सूक्ष्मोघ-तदपर्याप्ता-ऽपर्याप्त- भेदभिन्नगृथिव्यप्लेजो- वायुभेदाः, प्रत्येकवनीघ- तदपर्याप्तभेदो, वनीघ० सर्वसाधारणभेदाश्च. ३४	श्रमवागीप- तदपर्याप्तो, २	शेष० ६
योग०	सर्व० १६	काययोगीघ० श्रीदारिक- तन्मिश्रयोगी च, ३	शेष० १३	काययोगीघ० श्रीदारिक- तन्मिश्रयोगी च, ३		शेष० १३
वेद०	त्रयेऽपि, ३	नपुंसक० १	शेष० २	नपुंसकवेद० १		शेष० २
कपाय०	सर्व० ४	सर्व० ४		सर्व० ४		
ज्ञान०	सर्व० ७	मत्पज्ञान-श्रुताज्ञाने, २	शेष० ५	मत्पज्ञान-श्रुताज्ञाने, २		शेष० ५
संयम०	सर्व० ६	असंयम० १	शेष० ५	असंयम० १		शेष० ५
दर्शन०	सर्व० ३	अज्ञ० १	शेष० २	अज्ञ० १		शेष० २
लेदया०	सर्व० ६	कृष्णाद्यशुभ० ३	शुभ० ३	कृष्णाद्यशुभ० ३		शुभ० ३
भव्य०	सर्व० २	भव्या-ऽभव्यो, ०		भव्या-ऽभव्यो, ०		
सम्यक्त्व	सर्व० ५	मिथ्यात्वम्, १	शेष० ४	मिथ्यात्वम्, १		शेष० ४
संज्ञी०	सर्व० २	असंज्ञी, १	संज्ञी, १	असंज्ञी, १		संज्ञी० १
आहारी०	आहा० १	आहारी, १		आहारी, १		
सर्वमार्गणाः-	१६३	६२	१०१	६२	१०	८९
गाथाङ्काः-	४२४	४३४	४३५	४२५-४३४-४३५	४२६-४३५	४२६-३५

॥ अथ चतुर्दशं भावद्वारम् ॥

एतर्हि चतुर्दशस्य भावद्वारस्यावसरः, तत्र प्रस्तुतोऽष्टमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टादिस्थितिवन्ध ओघत आदेशतश्चौपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकौ-दयिक-परिणामिकभावानां मध्ये केन भावेन जायत इत्येतद्वर्णयन्नेकामार्यामाह—

अट्टण्हं कम्माणं चउव्विहाण वि ठिह्ण भावेणं ।
ओदइएणं वंधो एमेव हवेज्ज सव्वासुं ॥४३६॥

(प्रे०) “अट्टण्ह” मित्यादि, ज्ञानावरणादीनामष्टानां मूलकर्मणां “चउव्विहाण वि ठिह्ण” ति उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यभेदाच्चतुर्विधानामपि ‘स्थितीनां’ स्थितिविशेषाणाम्, अस्य च ‘बंधो’ इति परेणान्वयः, ततस्तासां बन्धः, भवतीति शेषः । केन भावेनेत्याह— “भावेणं ओदइएणं” ति औदयिकेन भावेन । कुतः ? इति चेत्, स्थितिवन्धस्य कषायप्रत्ययत्वात् । उक्तं च—‘ठिह्णअणुभागं कसायओ कुणइ’ इति । कषायस्त्वौदयिकभाव एव, यतः कर्मणां विपाकोद्भवलक्षण उदयस्तेन निवृत्तः, तत्प्रयोजनो वा यो भावः स औदयिकभाव उच्यते । उक्तं च तत्त्वार्थवृत्तौ—‘कर्मविपाकाभिर्भाव उदयः, तत्प्रयोजनस्तन्निवृत्तो वा औदयिको भावः’ इति ।

इदमुक्तं भवति—जीवस्य नैरयिकत्वादिपरिणामाः निरयगत्यादिकर्मणां विपाकोदयजन्यत्वाद् यथा औदयिकभावास्तथाऽनन्तानुबन्ध्यादिकषायोदयजन्यत्वात्स्थितिवन्धहेतुभूताः काषायिकात्मपरिणामा अप्यौदयिकभावा एव । उक्तञ्च तत्रैव—‘नरकगतिनामकर्मोदयान्नरकगतिरौदयिकोऽभिधीयते भावः, कषायमोहनीयोदयाच्च क्रोधी मानीत्याद्यौदयिकः’ इत्यादि । इत्यतः सुदृक्तम् ‘भावेण ओदइएण वंधो’ इति ।

अथ मार्गणास्थानेष्वपि चतुर्विधायाः स्थितिवन्ध औदयिकभावेनैव, अतस्तास्वपि तथैव विभक्तिपुरतिदेशेनाह—“एमेव हवेज्ज सव्वासुं” ति एवमेव-यथा ओघतो ज्ञानावरणादेरन्यतमस्या अपि प्रकृतेरुत्कृष्टाद्यन्यतमस्थितिवन्ध औदयिकभावेनोक्तस्तथा निरयगत्योघादिध्वनाहारकपर्यन्तासु सर्वासु मार्गणास्वप्यसार्वाौदयिकभावेनाऽवगातव्य इत्यर्थः ।

एतेन हि स्थितिवन्धे काषायिक औदयिकभाव एवाऽसाधारणो हेतुरन्वयव्यतिरेकव्यभिचाराभावात्, न पुनरन्ये गत्याद्यौदयिकभावा औपशमिकादय भावा वा, उपशान्तमोहादिगुणस्थाने तेषां सद्भावेऽपि स्थितिवन्धस्याभावेनाऽन्वयव्यभिचारादित्यपि विज्ञेयम् । अत्र तु द्वितीयादिषु तृतीयादिषु वा समवेष्यवस्थानं स्थितिरित्येव निरुक्तिराश्रयणीया, न पुनः स्थानं स्थितिरिति, उपशान्तमोहादिगुणस्थाने बध्यमानदलिकानां समय-द्विसमयाऽवस्थानस्याऽभिमतत्वात् ।

यदवाचि शतफूर्णिटीप्पमकेऽकलिनकृत्याऽकृत्यकर्मकर्मकलापकलङ्कितकृताकिंकतकिंत-
तर्कतिमिस्तरणिभिर्मुनिमनःकुमुदचन्द्रैः श्रोमन्मुनिचन्द्रैः सुरितल्लजैः—

'अल्प'-स्तोकं कपायाभावेन तत्प्रत्ययस्थित्यनुभागापोढतया अल्पस्थित्यनुभागत्वात् । तथाहि-तत्कर्म
प्रथमसमये बद्धं द्वितीयसमये वेदितं तृतीयसमये निर्जीर्यत' इति ।

ननु 'एवमपि दशमगुणस्थाने लोभसूक्ष्मकिट्प्रदयसद्भावेऽपि मोहनीयस्य स्थितिवन्धो
नैव जायते, इत्थं च विद्यते तत्र कारणसत्त्वे कार्याभावलक्षणोऽन्वयव्यभिचारः । न च तत्र
सूक्ष्मकपायस्यैवोदयः, स चाधिकृतौदयिकभावान्तर्गततया न गृह्यते, वादरकपायोदयस्यैवाऽधि-
कृतत्वादित्यपि वक्तुं शक्यते । एवं सति दशमगुणस्थाने ज्ञानावरणादीनां स्थितिवन्धस्याभि-
मतत्वेन व्यतिरेकव्यभिचारस्य दुर्गरत्वात् ?' इति चेद्, न, सति प्रकृतिवन्धे एव स्थितिवन्ध-
सद्भावा-ऽसद्भावचिन्तनस्य प्रस्तुतत्वात् । न हि दशमगुणस्थाने मोहनीयप्रकृतिवन्धे प्रवर्तमानेऽपि
तत्स्थितिवन्धाभावः प्रवर्तते, येन सूक्ष्मलोभकिट्प्रदयसद्भावेऽपि मोहनीयस्थितिवन्धाभावलक्षणो-
ऽन्वयव्यभिचारस्स्यात् । यासां तु ज्ञानावरणादिप्रकृतीनां तत्र बन्धः प्रवर्तते, तासां तु स्थितिवन्धोऽपि
जायत एव । इत्थं वादरकपायोदयमेव प्रस्तुतौदयिकभावतयाऽभ्युपगम्य व्यतिरेकव्यभिचारप्रसङ्गा-
पादनं निरषकाशमेव । अत एवाऽधस्तनगुणस्थानेषु कपायिकादयिकभावस्य संततं प्रवर्तमानेऽपि
तत्राऽऽयुषः स्थितिवन्धस्याऽसार्थदिकत्वेऽपि न काचित्शक्तिः, आयुर्वन्धस्यैव कादाचित्कत्वात्
प्रकृतिवन्धसद्भावे तु तदीयस्थितिवन्धस्य नियमतः प्रवर्तनाच्चेत्यलं पल्लवितेनेति ॥४३६॥

तदेवमोघत आदेशतश्चाऽष्टानामपि मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टादिचतुर्विधस्थितिवन्धे कृता भाव-
प्ररूपणा, तस्यां च कृतायां गतं चतुर्दशं भावद्वारम् ।

अष्टानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टादिचतुर्विधस्थितिवन्धे भावप्रदर्शकयन्त्रम्		
कुत्र	केषाम्	केन भावेन बन्धः
ओघतः सर्वमार्गणास्थानेषु च.	अष्टकर्मसत्कोत्कृष्टादिचतुर्विधस्थितिनां प्रत्येकम्	औदयिकेन भावेन

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे द्वितीयाधिकारे चतुर्दशं भावद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ पञ्चदशमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

अथ णणम् “अपपञ्च” इत्यनेनोक्तिर् न्यस्यमल्पबहुत्वद्वारम् । अत्र हि मूलकर्मणामुत्कृष्टादिस्थितेर्वन्ध-बन्धकपरिमाणभेदान्मृष्यतया सोत्तरभेदं द्विविधमन्यबहुत्वं वक्तव्यं भवेत् ।

तत्र बन्धकपरिमाणान्पबहुत्वं त्रिधा । तद्यथा— (१) उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धकपदद्वयापेक्षम्, (२) जघन्या-ऽजघन्यस्थितिवन्धकपदद्वयाश्रयम्, (३) उत्कृष्ट-जघन्या-ऽजघन्यानुत्कृष्टस्थितिवन्धकरूपपदत्रयसमाश्रितं च । एतानि चैकैकमपि प्रत्येकं मूलकर्माण्याश्रित्य वक्तव्यानि ।

स्थितिवन्धप्रमाणान्पबहुत्वन्तु स्वस्थान-परस्थानभेदतो द्विधा, तत्र स्वस्थान उत्कृष्ट-जघन्यपदद्वयमपेक्ष्यैकविधमेवाल्पबहुत्वम्, परस्थाने तु त्रीणि । तद्यथा—आद्यं केवलमुत्कृष्टपदापेक्षम्, द्वितीयं केवलं जघन्यपदमधिकृत्य, तृतीयं तु जघन्योत्कृष्टपदद्वयं प्रतीत्येति ।

तत्र हि आदौ तावद्बन्धकपरिमाणान्पबहुत्वं विभणिपुरुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थित्यधिकृत्याह—

उक्कोसाअ ठिईए अट्टण्हं बंधगा मुणेयव्वा ।

सव्वत्थोवा तत्तोऽणुक्कोसाए अणंतगुणा ॥४३७॥

(प्रे०) “उक्कोसाअ ठिईए” इत्यादि, ज्ञानावरणादीनामष्टानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धका ज्ञातव्या इति संदङ्कः । कियन्त इत्याह—“सव्वत्थोवा” त्ति सर्वस्तोकाः, अनन्तरवक्ष्यमाणद्वितीयपदापेक्षया स्तोका इत्यर्थः । तर्हि द्वितीयपदे कियन्त इत्याह—“तत्तोणुक्कोसाए” इत्यादि, पूर्वोक्तपदानामनुवर्तनाद् द्वितीये चरमे वा पदे ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकमनुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकाः “तत्तो” त्ति तेभ्य उत्कृष्टस्थितिवन्धकेभ्यः “अणंतगुणा” त्ति अनन्तगुणा इति । इयमत्र भावना—ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितेर्वन्धकाः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव सम्भवन्ति, ते चासङ्ख्येयाः । ज्ञानावरणस्यानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकास्तु सूक्ष्मनिगोदपर्यन्ताः सर्वे, ते चानन्ताः, तथा सत्युत्कृष्टस्थितेर्वन्धका अनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकापेक्षया स्तोका भवन्ति, उत्कृष्टस्थितेर्वन्धकापेक्षयाऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकास्त्वनन्तगुणा एव । इत्थमेव दर्शनावरणादिष्वपि प्रत्येकं द्रष्टव्यमिति ॥४३७॥

अथादेशतो व्याजिहीषुरादौ तावदायुर्वर्जमप्रकृतीरधिकृत्याह—

तिरिये काय-उरलदुग-कम्म-णपुम-चउकसाय-अयतेसुं ।

दुअणाण-अणयणेसुं तिअसुहलेसासु मिच्छे य ॥४३८॥

भवि-यियरा-ऽसण्णीसुं आहारि-यरेसुं हुन्ति सव्वऽप्पा ।

सत्तण्हुक्कोसाए तो इयराए अणंतगुणा ॥४३९॥

(प्रे०) “तिरिचे कायउरले”त्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः, नवरम् “उरलदुगे” त्यनेनौ-
दारिकौ-दारिकमिश्रकाययोगी, “णपुमे”त्यनेन नपुंसकवेदस्तथा “तिअसुहलेसासु” इत्यनेन
कृष्ण-नील-कापोतलेखाश्च ग्राह्या । इत्येवं सार्धगाथया संगृहीतासु तिर्यग्न्योधाघनाद्वारिपर्यन्तासु
त्रयोविंशतिमार्गणासु “ष्टुन्ति” ति भवन्ति । बन्धका इत्यनुवर्तते, कस्याः स्थितेर्वन्धकाः कियन्त-
श्चेत्याह—“सव्वप्पा” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां प्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टायाः स्थितेः सर्वा-
न्याः । “तो इयराए” ति ‘ततः’-उत्कृष्टस्थितिवन्धकेभ्यः ‘इतरायाः’-उत्कृष्टेतरायाः अनुत्कृष्टाया
अनन्तगुणाः, बन्धका इति गम्यते । अत्रापि सर्वमोघवद्भावनीयम्, नवरमसंज्ञिमार्गणायामुत्कृष्टस्थिते-
र्वन्धकाः पर्याप्ता असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया इति वक्तव्यमिति ॥४३८-४३९॥

अथ गाथाद्वयेन श्रेयमार्गणासु प्रकृतस्त्वबहुत्वमाह—

पञ्जमणुस-मणुसीसुं सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेएसुं ।
मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥४४०॥
सुहुम्मि य सत्तण्हं उक्कासाए टिईअ थोवा तो ।
अपराए संखगुणा असंखियगुणा उ सेसासुं ॥४४१॥

(प्रे०) “पञ्जमणुसे”त्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोः, सर्वार्थसिद्धविमानदेवगति-
भेदाऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगा-ऽपगतवेदमार्गणासु, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोः, सामा-
यिकलेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणासु सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां चेत्येतासु समुदितासु
पर्याप्तमनुष्यादिसूक्ष्मसम्परायान्तासु द्वादशमार्गणाम् प्रत्येकं “सत्तण्ह” मित्यादि, आयुर्वर्जानां
सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेः स्तोकाः, बन्धका इति गम्यते, । “तो” ति ‘ततः’-उत्कृष्टस्थिति-
बन्धकेभ्यः “अपराए संखगुणा” ति ‘अपराया’-अनुत्कृष्टायाः स्थितेः संख्येयगुणा इति । सुगमं
चैतद्, एतासु प्रत्येकमुत्कृष्टतोऽपि संख्येयानां जीवानां लाभाद्, एकस्थितिवन्धस्थानात्मिकाया
उत्कृष्टस्थितेः केषाञ्चित् कदाचिद्बन्धप्रायोग्यत्वाच्चेति ।

उक्तशेषासु पञ्चत्रिंशदुत्तरशतमार्गणास्त्राह—“असंखियगुणा उ सेसासुं” ति उक्तशेष-
मार्गणासु तु प्रत्येकं सप्तानां मूलप्रकृतीनामनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका उत्कृष्टस्थितिवन्धकेभ्योऽसंख्येय-
गुणाः, उत्कृष्टस्थितेर्वन्धकास्तु स्तोका इत्यर्थः । कुतः ? एवं ज्ञायत इति चेत्, “अपराए” इत्य-
स्य पूर्वतोऽनुवर्तनात्, सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रस्तुतत्वात् शेषम्यार्थाद्द्रम्यत्वाच्च ‘असंखियगुणा उ
सेसासुं’ इत्येतावन्मात्रोक्त्याऽपि व्याख्यातार्योऽवबुध्यत इति । शेषाः पञ्चत्रिंशदभ्यधिक-
शतमार्गणास्त्विमाः—अष्टौ नरकगतिमार्गणाभेदाः, चत्वारोऽपि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, सनु-
ष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदौ, सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जाः शेषा एकोनत्रिंशदेवगतिमार्गणाभेदाः,

एकोनविंशतिरपीन्द्रियमार्गणाभेदाः, द्विचत्वारिंशदपि कायमार्गणाभेदाः, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाययोगभेदाः, स्त्रीवेद-पुंवेद-मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेख्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपश-मिकौ-पशामिकसम्पत्त्या-सम्पत्तिद्वयान-साहादन-संज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति ।

ननु अनन्तरं पर्याप्तमनुष्यादिद्वादशमार्गणासु जीवानां संख्येयत्वादनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका यथा संख्येयगुणाः, तथा नरकगत्योधादिमार्गणासु जीवानामसंख्येयत्वादुत्कृष्टस्थितिवन्धकेभ्योऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका असंख्येयगुणा इति सुष्ठुक्तम्, न पुनरनन्तराशिकास्वेकैन्द्रियादिमार्गणास्वप्यसंख्येयगुणा इति वाच्यम् । यतोऽत्र न केवलं तत्तन्मार्गणासु प्रागुक्तं परिमाणमेव यथोक्ताल्पबहुत्वे प्रयोजकं किन्तु बन्धप्रायोग्यस्थितिवन्धस्थानपरिमाणमपि, ततश्चोत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टयोर्द्विविधस्थिति-बन्धयोर्वन्धकपरिमाणस्य संख्येयत्वेन रूपेण, एवमसंख्येयत्वेनाऽनन्तत्वेन वा रूपेण तुल्यत्वे मति यद्येकसमये नानाजीवापेक्षया बन्धप्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयानि तदोत्कृष्टस्थिति-बन्धकेभ्योऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकाः संख्येयगुणाः प्राप्यन्ते, यदि चैकसमये नानाजीवानाश्रित्य बन्धप्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानान्यसंख्येयानि तदा तु तेऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकाऽसंख्येयगुणाः संपद्यन्ते । एकैन्द्रियादिमार्गणास्वपि ग्रन्थेकं निरयगत्योधादिमार्गणावद् द्विविधस्थितेर्वन्धकानां तुल्य-सनन्तपरिमाणमेवोक्तम्, एकसमये नानाजीवानां बन्धप्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानानि त्वसंख्येयानि, ततश्चैकस्थितिवन्धस्थानात्मकोत्कृष्टस्थितेर्वन्धकेभ्योऽसंख्येयस्थितिवन्धस्थानात्मकानुत्कृष्ट-स्थितेर्वन्धका असंख्येयगुणा एव लभ्यन्त इति न कश्चिदोष इति ॥४४०-४४१॥

तदेवमुक्तं समानां प्रकृतीनामुत्कृष्टा-नुत्कृष्टस्थितयोर्वन्धकानामल्पबहुत्वमादेशतोऽपि । इदानी-मुक्तशेषस्याऽऽयुषः स्थितिवन्धकविषयं तदाह—

तिरिये वणप्फईए सव्वेगिंदिय-णिगोअभेएसुं ।

काय-उरालदुगेसुं णपुंसग-कसायचउगेसुं ॥४४२॥

दुअणाणा-ऽयत्त-अणयण-किण्हासुं णील-काउ-भवियेसुं ।

अभविय-मिच्छत्तेसु य असण्णि-आहारगेसुं च ॥४४३॥

आउस्सुक्कोसाए टिईअ होअन्ति बंधगा थोवा ।

तत्तोऽणुक्कोसाए टिईअ णेया अणंतगुणा ॥४४४॥

(प्र०) “तिरिये वणप्फईए” इत्यादि, तत्राद्यगाथाद्वयेन तिर्यग्गत्योधादिषट्त्रिंशन्मार्गणाः संगृहीताः, तृतीयगाथया च तासु मार्गणास्वायुष उत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थितयोर्वन्धकानामल्पबहुत्वमभि-

हितम् । अक्षरार्थस्तु प्राग्बत् ततस्तिर्यग्गत्यौघमार्गणायां, वनस्पतिकार्यौघमार्गणायां, सर्वेषु निगोद-
भेदेषु, सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु, काययोगौ-दारिकौ-दारिकमिश्रकाययोगमार्गणासु, नपुंमकवेद-क्रोधादि-
कषायचतुष्कयोः, मत्स्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्णलेश्यामार्गणासु, नीललेश्या-कापोत-
लेश्या-मव्यमार्गणासु, अभव्य-मिथ्यान्वमार्गणयोः, असंज्ञया-ऽऽहारकमार्गणयोश्चेत्येतासु पट्त्रिं-
शन्मार्गणासु प्रत्येकमायुष उत्कृष्टायाः स्थितेरन्धकाः स्तोका भवन्ति, “नत्तो” ति तेभ्यः
“णुकोसाए” ति आयुषोऽनुत्कृष्टायाः स्थितेरनन्तगुणा ज्ञेयाः, बन्धका इत्यनुवर्तत इति । एतासु
प्रत्येकं साधारणवनस्पतिकार्यिकानामपि नभावेशेनाद्युषो बन्धकानामनन्तगुणत्वेऽप्यायुष उत्कृष्टस्थिते-
र्वन्धकास्त्वसंख्येया एव । कस्मात् ? प्रकृतमार्गणासु बन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थितेर्वेदकानां जीवानां लोके-
ऽसंख्येयत्वेन तदधिकानामुत्कृष्टस्थितिकायुर्वन्धकानामप्यसम्भवात्, इत्थं च यथोक्तमेवाल्पबहु-
त्वमुपपद्यत इति ॥४४२-४४३-४४४॥

अथ गाथाद्वयेन शेषमार्गणासु प्रकृताल्पबहुत्वमाह—

पञ्जमणुस-मणुसीसुं आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेसुं ।

मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥४४५॥

सुइल-खइएसु थोवा उक्कसाए ठिईअ आउम्स ।

अगुरूए संखगुणा असंखियगुणा उ सेसासुं ॥४४६॥

(प्रे०) “पञ्जमणुसे”त्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणास्थानयोः, आहारका-ऽऽहारक-
मिश्रकाययोगात्मके आहारकद्विके, अष्टादशस्वानतादिसदार्थमिद्वपर्यन्तेषु देवगतिभेदेषु, मनःपर्यव-
ज्ञान-संयमौघमार्गणयोः, सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयमेषु, शुक्ललेश्या-श्लायिक-
सम्यक्त्वमार्गणयोरित्येतास्वेकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं स्तोकाः । के इत्याह- “जेडाअ” इत्यादि,
आयुषो ‘ज्येष्ठायाः’-उत्कृष्टायाः स्थितेः, बन्धका इति प्राग्बदनुवर्तते । “नत्तो” ति ‘ततः’-आयुष
उत्कृष्टस्थितेर्वन्धकेभ्यः “अगुरूए संखगुणा” ति आयुषः ‘अगुरोः’-अनुत्कृष्टायाः स्थितेः
संख्येयगुणाः, बन्धका इति पूर्ववत् । सुगमम्, प्रत्येकमायुर्वन्धकजीवानामेव संख्येयत्वादिति ।

उक्तशेषाष्वष्टनवतिमार्गणास्वाह-“असंखियगुणा उ सेसासु” ति शेषमार्गणासु तु प्रत्येक-
मायुषोऽनुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका असंख्येयगुणाः । केभ्यः ? इति चेत्, स्तोकेभ्य आयुष उत्कृष्टस्थिति-
बन्धकेभ्य इति प्राग्बदार्थादवसीयत इति । शेषमार्गणास्त्विमाः—अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वार-
स्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, मनुष्यौघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदाः, देवगत्यौघभेदाः, भवनपत्यदिसहस्रारकन्या-
न्ता एकादश देवगत्युत्तरभेदाः, नवविकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, पृथिवीकायसत्काः सर्वे,
अपकायसत्काः सर्वे, तेजस्कायसत्काः सर्वे, वायुकायसत्काः सर्वे भेदाः, त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकाय-

भेदाः, त्रयस्त्रयसकायभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चत्रयोयोग-वैक्रियकाययोग-स्वीवेद-पुंवेद-मति-
श्रुता-ऽवधिज्ञान-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-चक्षुदर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्मलेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायोपश-
मिक-सामादन-संज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति ॥४४५-४४६॥

तदेवमुक्तमोघत आदेशतश्चाष्टानामपि प्रकृतीनामुत्कृष्टा-ऽनुत्कृष्टस्थित्योर्वन्धकानामल्पबहुत्वम् ।
साम्प्रतं जघन्या-ऽजघन्यस्थित्योर्वन्धकानामल्पबहुत्वं व्याजिहीषुरादौ तावदोघत आह—

सत्तण्ह बंधगाऽप्या लहूअ ताउ अलहूअऽणंतगुणा ।

आउस्स लहूएऽप्या असंखियगुणा अहस्साए ॥४४७॥

(प्रे०) “सत्तण्ह बंधगाऽप्या” इत्यादि, आयुर्वर्जानां मूलप्रकृतीनां बन्धकाः ‘अप्याः’-
स्तोकाः । कस्याः स्थितेरित्याह—“लहूअ” ति ‘लघोः’-जघन्यायाः स्थितेः । तेभ्यः “अलहूअ”
ति अजघन्यायाः स्थितेरनन्तगुणाः, बन्धका इत्यनुवर्तते । सुगमम्, क्षपकाणामेव जघन्यस्थितिवन्ध-
कतया निगोदपर्यन्तानां जीवानामजघन्यस्थितिवन्धकतया च लाभादिति । आयुष आह—“आउस्से”
न्यादिना, आयुषः ‘लघोः’-जघन्यायाः स्थितेरप्याः-स्तोकाः । “अहस्साए” ति तेभ्यो जघन्यस्थिति-
बन्धकेभ्य आयुषः ‘अहस्वायाः’-अजघन्यायाः स्थितेरसंख्येयगुणा । उभयत्र बन्धका इति प्राग्बोधोऽयम् ।
अत्र जघन्यस्थितिकमायुःसूक्ष्मनिगोदादिसत्कमपि वध्यते, अतस्तद्वन्धका अप्यनन्ताः सम्यद्यन्ते ।
ते च शेषायुर्वन्धकेभ्योऽसंख्यभागगता इति भागद्वारे उक्तमेव, तथा चाजघन्यस्थितिकायुषो बन्धका
असंख्यगुणा एव भवन्ति, न पुनरनन्तगुणाः । विशेषतस्तु तुल्यपरिमाणत्वेऽप्येकस्मिन् समये-
ऽसंख्येयानामेवस्थितिविशेषाणां बन्धप्रायोग्यत्वादित्येवमत्रैवाल्पबहुत्वे प्रागुक्तहेतुनोऽयम् ॥४४७॥

अथाऽऽदेशतः प्रकृताऽल्पबहुत्वं विभणिपुरादौ तावदायुर्वर्जानामाह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेएसुं ।

मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥४४८॥

सुहमम्मि य सव्वऽप्या जहण्णाए ठिईअ सत्तण्हं ।

तत्तो संखेज्जगुणा हुन्ति ठिईअ अजहण्णाए ॥४४९॥

(प्रे०) “पज्जमणुस” इत्यादि, प्राग्बत् पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-सर्वार्थसिद्धविमानदेवगति-
भेदा-ऽऽहारक-ऽऽहारकमिश्रकाययोगा-ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थायन-
परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयमरूपासु द्वादशमार्गणासु प्रत्येकं “सव्वऽप्या” ति आयुर्वर्जानां
सप्तानां प्रकृतीनां जघन्याया एव जघन्यकायाः स्थितेः सर्वाल्पाः, बन्धका इत्यनुवर्तते । “तत्तो-
संखेज्जगुणा हुन्ति” ति तेभ्यो जघन्यस्थितिवन्धकेभ्यः संख्येयगुणाः भवन्ति । के ?
“ठिईअ अजहण्णाए” ति अजघन्याः स्थितेर्वन्धका इत्यर्थः । सुगममिति ॥४४८-४४९॥

शेषमार्गणास्वेकया गाथया प्रकृताल्पवहुत्वमाह—

कायु-रल-णपुसेसुं कसायचउगे अचक्खु-भवियेसुं ।

आहारेऽणंतगुणा अवसेसासुं असंखगुणा ॥४५०॥

(प्रे०) “कायुरले” त्यादि, काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-नपुं मकवेद-कोधादिकपाय-चतुष्का-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारिमार्गेणसु प्रत्येकमनन्तगुणाः, सप्तानामजघन्यस्थितेर्वन्धका इत्य-नुवर्तते, सप्तानां जघन्यस्थितेर्वन्धकाः स्तोकास्तेभ्यश्चेमेऽनन्तगुणा इत्यर्थाद्द्रव्यते । एवमुत्तरत्रापि बोद्धव्यम् । उक्तशेषमार्गणास्वाह—“अवसेसासुं असंखगुणा” चि प्राग्बद्वशेषासु मार्गणासु सप्तानां जघन्यस्थितेर्वन्धकाः स्तोकास्तेभ्योऽजघन्यस्थितेर्वन्धका असंख्येयगुणा इत्यर्थः । अचशेष-मार्गणास्त्विमा अष्टचत्वारिंशदधिकशतम्—सर्वे नरकगतिभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः मनु-ष्याणा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदाः, सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जाः शेषा एकोनत्रिंशद् देवगतिभेदाः, सर्वे इन्द्रियमार्गणाभेदाः, तथैव सर्वे कायमार्गणाभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चबोयोगौ-दारिकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्र-कार्मणकाययोग-स्त्री-पुं वेद-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभंगज्ञान-देशसं-यमा-ऽसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-कृष्णादिपल्लेश्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकौ-पशमिक-सम्यग्मिथ्यात्व-सामादन-मिथ्यात्व-संज्य-ऽसंज्य-ऽनाहारकमार्गणाश्च । सुगममिति ॥४५०॥

तदेवमुक्तं सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्याजघन्यस्थितिवन्धकपदद्वयाश्रयमल्पवहुत्वसा-देशतः । अथाऽऽयुषस्तदादेशतः प्राह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेसुं ।

मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥४५१॥

सुइल-खइएसु थोवा जहण्णगाए ठिईअ आउम्म ।

अलहूए संखगुणा असंखियगुणा उ सेसासुं ॥४५२॥

(प्रे०) “पज्जमणुसे” त्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुष्या-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगा-ऽऽनतकल्पादिसर्वार्थसिद्धविमानान्ताष्टदशदेवगतिभेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामयिक-छेदोप-स्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-शुक्लेश्या-क्षायिकसम्यक्त्वरूपास्वेकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुषो जघन्या एव जघन्यकाम्तस्या जघन्यकायाः स्थितेः ‘स्तोकाः’-अन्पाः, वन्धका इति प्रकरणाद्द्रव्यते, “अलहूए संखगुणा” चि अनन्तरोक्तभ्यो जघन्यस्थितिवन्धकेभ्यः ‘अलघोः’-अजघन्यस्थितेर्वन्ध-काः संख्येयगुणाः । अत्र हि प्रत्येकं सामयिकोन्कृष्टवन्धकपरिमाणस्यैव संख्येयत्वान्प्राग्बत्संख्येय-गुणत्वं भावनीयमिति । उक्त शेषमार्गणास्वाह—“असंखियगुणा उ सेसासुं” चि प्राग्बद्वशेषासु चतुस्त्रिंशद्दुत्तरशतमार्गणारवायुषो जघन्यस्थितेर्वन्धकाः स्तोकास्तेभ्यस्तस्यैवाऽजघन्यस्थितेर्वन्धका

असंख्येयगुणा इत्यर्थः । शेषमार्गणा ह्रस्वाः—सर्वे नरकगतिभेदाः, सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, मनुष्या-
वा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदाः, देवौघः, भवनपत्यादिमहत्कारकल्पान्तैकादशभेदाश्च, सर्वे इन्द्रियमार्गणाभेदाः,
पञ्चमनोयोग-पञ्चबचोयोग-काययोगसामान्यौ-दारिकौ-दारिकमिश्र-वैक्रियकाययोग-स्त्री-पुं-नपुंसक-
वेद-क्रोधादिकपायचतुष्क-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभंगज्ञाना-ऽसंयम-देशसंयम-
चक्षुरचक्षुरविदर्शन-शुक्लवर्जलेश्यापञ्चक-भव्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षयोपशमिक-सासादन-मिथ्या-
त्व-संज्ञय-ऽसंज्ञया-ऽऽहारिमार्गणाभेदाश्चेति ॥४५१-४५२॥

तदेवमुक्तं पदद्वयमपेक्ष्य बन्धकान्यबहुत्वम् । साम्प्रतं जघन्यस्थितिरुत्कृष्टस्थितिरजघन्या-
नुत्कृष्टस्थितिरिति पदत्रयमपेक्ष्य तद्वन्धकानामल्पबहुत्वं प्रतिपादयितुमना आदाबोधत आह—

सत्तण्ह बंधगाऽप्पा हस्साअ ठिईअ तो असंखगुणा ।

जेट्टाअ तो ठिईए अलहुगुरूए अणंतगुणा ॥४५३॥

आउस्सुकोसाए थोवाऽणंतगुणिया जहण्णाए ।

अजहण्णुकोसाए ठिईअ णेया असंखगुणा ॥४५४॥

(प्रे०) “सत्तण्ह बंधगाऽप्पा” इत्यादि, आयुर्वर्जानां ‘ह्रस्वायाः’-जघन्यायाः स्थितेर्वन्धकाः
‘अल्पाः’-स्तोकाः “तो” ति ‘ततः’-अनन्तरोक्तेभ्यो जघन्यस्थितिवन्धकेभ्योऽसंख्यगुणा बन्धकाः ।
कस्या इत्याह-“जेट्टाअ” ति ‘ज्येष्ठायाः’-उत्कृष्टायाः स्थितेः । “तो अलहुगुरूए” ति ततः
‘अलघुगुरोः’-लघुगुरुभिन्नायाः स्थितेरित्यर्थः । “अणंतगुणा” ति अनन्तगुणाः बन्धका इत्यर्थः ।

तत्र मूलसप्तप्रकृतीनां जघन्यस्थितेर्वन्धकाः क्षपकश्रेणिगताः संख्याता एवेतिकृत्वा स्तोका
उक्ताः, उत्कृष्टस्थितेर्वन्धकास्तु पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः, ते चोत्कृष्टतोऽसंख्येयाः प्राप्यन्त इत्यतः
पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणा दर्शिताः, अजघन्यानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकास्तु सूक्ष्मनिमोदपर्यन्ताः सर्वे-
ऽपि, ते चानन्ता इतिकृत्वा चरमपदे तेऽनन्तगुणा अभिहिता इति ।

अथ भणितशेषस्याऽऽद्युक्र्मणः प्रस्तुतल्पबहुत्वमाह—“आउस्सुकोसाए” इत्यादिना, आयुष
उत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकाः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्या एव, जघन्यस्थितेर्वन्धकास्तु निगो-
दादिजीवा अपीत्यत उक्तम्—“बंधगाऽप्पा उक्कसाए ठिईअ” ति उत्कृष्टायाः स्थितेः
‘अल्पाः’-स्तोकाः । “ऽणंतगुणिया जहण्णाअ” ति तेभ्योऽनन्तरोक्तेभ्यो बन्धकेभ्यो जघन्याया
स्थितेरनन्तगुणाः, बन्धका इति गम्यते । तेभ्योऽप्यजघन्यानुत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धका असंख्यगुणा
ज्ञेयाः, यतो निगोदजीवानां जघन्याऽजघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वेऽपि जघन्यस्थितिरैकस्थितिवन्ध-
स्थानात्मिका, अजघन्या त्वसंख्येयस्थितिवन्धस्थानात्मिका, ततश्च कस्मिन्नपि समये जघन्यस्थिति-
बन्धकापेक्षयाऽजघन्यानुत्कृष्टस्थितिवन्धकसंख्योऽसंख्येयगुणो लभ्यत इति ॥४५३-४५४॥

तदेवमुक्तमोक्षतः ! असादेशतो दिग्दर्शयिषुणागौ तत्रदायुर्वर्जानां सप्तानामाह—

तिरि-युरल-मीस-कम्मण-दुअणाणा-ऽयत-तिअसुहलेसासुं ।

अभविय-मिण्छत्तेसुं अमणा-ऽणाहारगेषुं च ॥४५५॥

सत्तण्हुकोसाए थोवाऽणंतगुणिया जहण्णाए ।

अजहण्णुकोसाए ठिईअ णेया असंखगुणा ॥४५६॥

(प्र०) “तिरियुरलमोसे” त्यादि, तिर्यग्गत्योर्घा-दारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोग-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयम-कृष्णादिव्यशुभलेइयास्वभव्य-मिथ्यात्वयोरसंज्ञय-ऽनाहारकमार्गणयोश्चे-त्यर्थः । एतासु त्रयोदशमार्गणासु किमित्वाह—“सत्तण्हुकोसाए” इत्यादि, एतासु त्रयोदशमार्ग-णासु प्रत्येकमायुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टायाः स्थितेः “थोवा” ति बन्धकाः स्तोकाः, “अणं-तगुणिया जहण्णाए” ति सप्तानां जघन्यस्थितेर्बन्धकास्तु तेभ्योऽनन्तगुणिताः । कुतः ? प्रकृत-मार्गणामत्कजघन्यस्थितिवन्धस्य वादरसाधारणवनस्पतिकायजीवनामपि भावात्, ते चानन्ताः, उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तु संज्ञिनोऽसंख्याता एवेतिकृत्वा जघन्यस्थितेर्बन्धका अनन्तगुणा भवन्ति । “अजहण्णुकोसाए” इत्यादि, अजघनवानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तु जघन्यस्थितिवन्धकेभ्योऽसंख्य-गुणा ज्ञातव्या इत्यर्थः । अत्राप्यसंख्येयगुणत्वं ब्रह्मज्ञाननीयमिति ॥४५५-४५६॥

अथान्यमार्गणास्वाह—

जेट्टाअ जहण्णाए अलहुगुरुअ कमसो असंखगुणा ।

पंचिदियतिरियचउग-असमत्तपणिंदियतसेसुं ॥४५७॥

(प्र०) “जेट्टाअ” इत्यादि, प्रकृतसप्तप्रकृतीनां (ज्येष्ठायाः-उत्कृष्टायाः, जघन्यायाः, अलघु-गुरुस्थितेश्च क्रमशः “असंखगुणा” ति बन्धका असंख्यगुणाः । उत्कृष्टस्थितेः स्तोकाः, ततो जघन्यस्थितेरसंख्येयगुणाः, ततोऽजघन्यानुत्कृष्टायाः स्थितेरसंख्यगुणा इत्यर्थः । कासु मार्गणास्वि-त्याह—“पणिंदिये” त्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यक्कर्मकेषु चतुषु भेदेषु, अपर्णासवाचकस्यासमाप्तशब्दस्य प्रत्येकं योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाभेदा-ऽपर्याप्तसकायमार्गणाभेदयोरित्येवं समुदितासु सप्त-मार्गणास्त्रिति ॥४५७॥ अथाऽपरमार्गणास्वाह—

णर-चउअणुत्तरेसुं सव्वेगिंदि-पणकाय-विगलेसुं ।

सत्तण्ह जहण्णाए ठिईअ खलु बंधगा थोवा ॥४५८॥

ततो संखेज्जगुणा उकोसाए ठिईअ ताहिन्तो ।

अजहण्णुक्कोसाए ठिईअ णेया असंखगुणा ॥४५९॥

(प्रे०) “णरे” न्यादि, नरगत्योधभेदे, सर्वार्थसिद्धवर्जाश्रत्वागेऽनुत्तरविमानभेदास्तेषु, तथा सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्व एकैन्द्रियभेदाः, सर्वे पथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायमार्गणा-मन्कभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदा इत्येतासु पष्टिमार्गणास्त्विन्यर्थः । एतासु किमित्याह—“सत्तण्ह जहण्णाए” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां प्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यायाः स्थितेर्वन्धकाः स्तोकाः “तत्तो” त्ति तेभ्यः “संवेज्जगुणा उक्कोसाए ठिईए” त्ति तासामेवोत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकाः संख्येयगुणाः । कुतः ? इति चेद्, उच्यते, जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धयोः स्वामिनां विगुद्धि-संक्लेशापेक्षया पार्थक्येऽपि मिथ्यादृष्टिन्वादिकमपेक्ष्य कासुचिन्मार्गणासु सादृश्यं विद्यते । यामु च मार्गणासु तेषां मिथ्यादृष्टिन्वादिरूपेण साम्यं विद्यते, तामु तद्वन्धकानामनन्तत्वेन रूपेणाऽसंख्येयत्वा-दिरूपेण वा तुल्यत्वेऽपि जघन्यस्थितेर्वन्धकापेक्षयोत्कृष्टस्थितेर्वन्धकाः संख्येयगुणा एव लभ्यन्ते । कुतः सम्यग्दृष्ट्यादिरूपेण सजातीयजीवसमुदाये जघन्यसंक्लेशघ्नजीवापेक्षयोत्कृष्टसंक्लेशपरिणतजीवाना-मुत्कृष्टतः संख्येयगुणानामेव लाभात् । प्रकृते च सर्वार्थसिद्धवर्जेऽनुत्तरविमानचतुष्के सर्वेषां जीवानां सम्यग्दृष्टितया जघन्याया उत्कृष्टायाश्च स्थितेर्वन्धका अपि सम्यग्दृष्टय एव, तथा च सत्युक्तनीत्या जघन्यसंक्लिष्टाध्यवसनानां जीवानामपेक्षयोत्कृष्टसंक्लिष्टाध्यवसायानां जीवानां संख्येयगुणत्वेनोत्कृष्ट-संक्लेशनिर्वर्तनीयाया उत्कृष्टस्थितेर्वन्धका अपि संख्येयगुणा लभ्यन्ते । इन्धमेवैकेन्द्रियादिपञ्च-पञ्चाशन्मार्गणासुपि केवलानां मिथ्यादृष्टिजीवानामेव मद्भावेन जघन्यस्थितेर्वन्धकापेक्षयोत्कृष्ट-स्थितेर्वन्धकाः संख्येयगुणा लभ्यन्ते । मनुष्यगत्योधमार्गणायां यद्यपि जघन्यस्थितेर्वन्धका उत्कृष्ट-स्थितेर्वन्धकाश्च भिन्ना भिन्नाः सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयश्च, तथाऽपि ते पर्याप्ता एव, न पुनरपर्याप्ता अपि, पर्याप्तमनुष्यास्तुत्कृष्टतोऽपि संख्येया भवन्ति, अतस्तयोर्वन्धकेष्वपि संख्येयगुणतारतम्यमेव प्राप्यते, न पुनस्तदधिकम्, संख्येयजीवेषु तदधिकस्याऽसंख्येयगुणादितारतम्यस्याऽसम्भवादिति । “ताहि-न्तो” इत्यादि, तेभ्योऽनन्तरोक्तोत्कृष्टस्थितिवन्धकेभ्यः शेषा अजघन्यानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका असं-ख्येयगुणा ज्ञेयाः, अप्राप्यजघन्यानुत्कृष्टस्थितिवन्धान्तःप्रविष्टानां स्थितिवन्धविकल्पानामेकविकन्त्र-रूपजघन्यस्थितिवन्धापेक्षयाऽसंख्येयगुणत्वादिति हेतुर्दृष्टव्य इति ॥४५८-४५९॥ अथान्यत्राह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं आहारदुगे तहा य सव्वत्थे ।

मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारंसुं ॥४६०॥

सत्तण्ह जहण्णाए थोवा तत्तो गुरूअ संखगुणा ।

अजहण्णुक्कोसाए ठिईअ होअन्ति संखगुणा ॥४६१॥

(प्रे०) “पज्जमणुसे” न्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोराहारका-ऽऽहारकमिश्रकाय-योगरूप आहारकद्विके । तथाकारचकारां समुच्चये । ‘सर्वार्थे’-सर्वार्थसिद्धविमानमार्गणामेदे, मनः-पर्यवज्ञान-संयमांधमार्गणयोः, सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणासु चेत्यर्थः ।

एतासु दशमार्गणासु किमिन्याह—“सत्तण्ह जहण्णाए” इत्यादि, आयुर्वर्जसप्रकृतीनां जघ-
न्यायाः स्थितेः स्तोकाः, ततः ‘गुरोः’-उत्कृष्टायाः स्थितेः संख्येयगुणाः, तेभ्यश्चाजघन्यानुत्कृ-
ष्टायाः स्थितेः संख्येयगुणा भवन्ति । बन्धका इति सर्वत्र गम्यते, तद्विषयकाल्पबहुत्वस्यैव प्रस्तुत-
त्वात् । सुगमं चैतदल्पबहुत्वम् । न च जघन्यस्थितिवन्धस्थानापेक्षयाऽजघन्यानुत्कृष्टस्थितिवन्ध-
स्थानानामप्राप्यसंख्येयगुणत्वात्तद्वन्धकाः कथमसंख्येयगुणा नोच्यन्ते इत्यपि वक्तुं युज्यते । यत
एतासु प्रत्येकमुत्कृष्टतोऽपि संख्येयानां जीवानामेव लाभदेकस्मिन् समये बन्धप्रायोग्यानि स्थिति-
बन्धस्थानानि संख्येयान्येव सन्ति, न त्वसंख्येयानि, ततश्च प्रागुक्तनीत्या संख्येयगुणत्वमेवोपपद्य-
तेऽजघन्यानुत्कृष्टस्थितिवन्धकानामिति ॥४६०-४६१॥ आनतादिशेषदेवगतिभेदेष्वह—

सत्तण्हकोसाए थोवा संखगुणिया जहण्णाए ।

इयराअ असंखगुणा सेसाणतआइदेवेषु ॥४६२॥

(प्रे०) “सत्तण्हकोसाए” इत्यादि, प्राग्ब्रह्मज्ञानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकमुत्कृष्टायाः स्थिते-
र्वन्धकाः स्तोकाः, तेभ्यो जघन्यायाः स्थितेर्वन्धकाः संख्येयगुणिताः, तेभ्यः “इयराअ” त्ति
अनन्तरोक्ते ये जघन्योत्कृष्टे स्थिती ताभ्यामितरा याऽजघन्यानुत्कृष्टा स्थितिः सा इतरा स्थिति-
स्तस्या इतरस्याः स्थितेः “असंखगुणा” त्ति सुगमम्, बन्धका इति गम्यते । कासु मार्गणा-
स्वित्याह—“सेसाणतआइदेवेषु” त्ति अनन्तरोक्ताश्चत्वार एकश्चेति पश्चाऽनुत्तरविमानसन्कान्
देवगतिभेदान् विहाय ये शेषाः ‘आनतादयः’-आनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युत-ग्रैवेयकनवकरूपास्त्रयो-
दश‘देवाः’-देवगतिमार्गणाभेदास्तेष्विन्यर्थः । इयमत्र भावना-सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टिद्विविध-
बन्धकेषु सत्सु समानामुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका मिथ्यादृष्टयो जघन्यस्थितेर्वन्धकास्तु सम्यग्दृशः, प्रकृ-
तासु च त्रयोदशदेवगतिमत्कमार्गणासु प्रत्येकं मिथ्यादृष्टिदेवापेक्षया सम्यग्दृशो देवाः संख्येयगुणाः
सन्ति, ततश्चोत्कृष्टस्थितिवन्धकापेक्षया जघन्यस्थितेर्वन्धका अपि संख्येयगुणा लभ्यन्ते । चरस-
पदेऽसंख्येयगुणत्वं तु प्राग्ब्रह्मिति ॥४६२॥ काययोगादिदशमार्गणास्वाह—

कायुरलणपुंसेसुं कमायचउगे अचक्खुभवियेसुं ।

आहारे सत्तण्हं सब्वत्थोवा जहण्णाए ॥४६३॥

तत्तो उक्कोसाए ठिईअ खलु बंधगा असंखगुणा ।

अजहण्णुक्कोसाए ठिईअ णेया अणंतगुणा ॥४६४॥

(प्रे०) “कायुरल” इत्यादि, काययोगसामान्यां-दार्शनिककाययोग-नपुंसकवेदेषु, कोधादि-
कषायचतुष्के, अचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणयोराहारिमार्गणायां च प्रत्येकं सप्तानां “जहण्णाए” त्ति
जघन्यायाः स्थितेर्वन्धकाः सर्वस्तोकाः, तेभ्य उत्कृष्टायाः स्थितेर्वन्धकाः खल्वसंख्यगुणाः, तेभ्यो-

ऽजघन्यानुत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धका अनन्तगुणा ज्ञेयाः । सुगमं चैतद्, यतो जघन्यस्थितेर्बन्धकाः क्षपकश्रेणिगता इति कृत्वा संख्येया एव, उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्तुः पर्याप्ताः संज्ञिनस्तिरश्चोऽपि, ततश्चासंख्येयाः, शेषास्त्वजघन्यानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धका एकेन्द्रियादयोऽपि ते चानन्ताः, इत्येवमल्प-बहुत्वमपि तदपेक्षया यथोक्तमेव प्राप्यत इति ॥४६३-४६४॥

अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोराह—

गयवेए सत्तण्हं सुहुमे छण्हं कमेण संख्यगुणा ।

जेट्टाअ जहण्णाए अलहुगुरूए मुण्यव्वा ॥४६५॥

(प्रे०) “गयवेए सत्तण्हं” इत्यादि, सुगमम्, नवरं “सत्तण्हं” ति आयुर्वर्जानाम्, “छण्हं” ति मोहनीयायुर्वर्जानाम्, “कमेण” ति यथाक्रमम्, तेन च ज्येष्ठ्यायाः स्थितेर्बन्धकापेक्षया क्रमोक्ताया जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि क्रमप्राप्ताया अजघन्योत्कृष्टायाः स्थितेर्बन्धकाः संख्येयगुणा इति ॥४६५॥

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतपदत्रयसत्कवन्धकाल्पबहुत्वमाह—

सेसासु मत्तण्हं जहण्णागाए ठिड्ढअ सब्बऽप्पा ।

कमसो असंखियगुणा उक्कोसाए तदियराए ॥४६६॥

(प्रे०) “सेसासु” इत्यादिना, उक्तशेषासु पट्पश्चाशन्मार्गणासु सप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्यकायाः स्थितेः सर्वाङ्गाः “कमसो असंखियगुणा” ति ‘क्रमशः’-गाथान्यस्तक्रमाद-संख्येयगुणाः । कयोरित्याह—“उक्कोसाए तदियराए” ति तामामेवोत्कृष्टायाः स्थितेस्तथा ताभ्यामनन्तरोक्ताभ्यां जघन्योत्कृष्टस्थितिभ्यामितरस्याः—तदितरस्याः, अजघन्यानुत्कृष्टायाः स्थिते-रित्यर्थः । तत्र शेषमार्गणास्त्विमाः—अष्टौ नरकगतिभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, देवौघ-भवन-पत्यादिसहस्रारकन्धान्ता द्वादश देवगतिभेदाः, पञ्चेन्द्रियाघ-तत्पर्याप्त-त्रसौघ-तत्पर्याप्त-पञ्चमनो-योगभेद-पञ्चचोयोगभेद—त्रैक्रिय-त्रैक्रियमिश्रकाययोग—स्त्रीवेद-पुंवेद-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-विभङ्ग-ज्ञान-देशसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्लेश्या-मम्यकर्त्तृघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकौ-पश-मिकमम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सास्वादन-संज्ञिमार्गणाश्चेति । तत्र नरकगत्योघ-प्रथमपृथिवीनरक-भेद-देवौघ-भवनपति-व्यन्तरभेदरूपासु पञ्चमार्गणासु जघन्यस्थितिबन्धस्य विग्रहगतौ द्विसमयमात्रं सम्भवात् तद्बन्धकतया द्विसमयसञ्चिता जीवा लभ्यन्ते, उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्त्वन्तमुहूर्तसञ्चिताः, तथा च सत्युत्कृष्टस्थितेर्बन्धका जघन्यस्थितिबन्धकापेक्षयाऽसंख्येयगुणा भवन्ति ।

अथम्भावः—प्रतिसमयं नव्यानां नव्यानां स्थितिबन्धारम्भकाणां तत्तज्जघन्यादिस्थिते-र्बन्धकतया तावदवस्थानं सम्भवति यावत्तदीयोत्कृष्टबन्धाद्धायाक्षरमसमयः, जघन्यस्थितेरुत्कृष्टबन्ध-

कालस्तु निरयगत्योधादिप्रस्तुतपञ्चमार्गणासु समयद्वयमात्रः, तथा च सति प्रथमसमयजघन्यस्थिति-
बन्धप्रारम्भकाः, अनन्तरद्वितीयसमये जघन्यस्थितिवन्धस्य प्रारम्भकाश्चेत्येत एव कस्मिँश्चिदेकस्मिन्
समये पुगपज्जघन्यस्थितिवन्धकतयाऽऽप्यन्ते, न पुनस्तृतीयादिसमयजघन्यस्थितिवन्धप्रारम्भकैः समं
प्रथमसमयप्रारम्भकाः । कुतः ? प्रथमसमये जघन्यस्थितिवन्धस्य प्रारम्भकाणां जघन्यस्थितिवन्धस्य
तृतीयसमयं यावदप्रवर्तनात्, तृतीयसमये तेषामजघन्यस्थितिवन्धस्यैव प्रवर्तनादितिभावः । उत्कृ-
ष्टस्थितिवन्धकतया न्वसंख्येयसमयेषुत्कृष्टस्थितिवन्धप्रारम्भकाणामप्येकसमये सञ्चयो लभ्यते ।
कुतः ? विवक्षिते प्रथमसमये, एवं द्वितीयादिसमयेषु चोत्कृष्टस्थितिवन्धप्रारम्भकाणामुत्कृष्टस्थिते-
रुत्कृष्टवन्धकालान्तमुहूर्तं यावदुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकतयाऽवस्थानस्य सम्भवात्, ते च विवक्षितप्रथम-
समयारब्धोत्कृष्टस्थितिवन्धस्य चरमेऽसंख्ययाततमे समये बहवः सम्पद्यन्ते, यतः प्रथमादिसमयेषु
तैस्तैरारब्ध उत्कृष्टस्थितिवन्धोऽद्यापि चरमसमयं यावत्तेषां प्रवर्तते । इत्येवमसंख्यसमयेषुत्कृष्टस्थिति-
बन्धस्य प्रारम्भका एकस्मिन् समय उत्कृष्टस्थितेर्वन्धकतया प्राप्यन्ते, जघन्यस्थितिवन्धस्य प्रारम्भ-
कास्तु द्विसामयिका एव । न च तावन्मात्रम्, किन्तु यत उत्कृष्टः स्थितिवन्धः सर्वेषां नारकाणां
सम्भवति, जघन्यस्त्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्य आगतानां भवप्रथमसमयद्वयवर्तिनां केषाञ्चिदेव, ततोऽपि
सुतरां प्रकृतपञ्चमार्गणायां जघन्यस्थितेर्वन्धकाः सर्वस्तोकाः प्राप्यन्ते, उत्कृष्टस्थितेर्वन्धकास्तु
तेभ्योऽसंख्येयगुणा इति ।

शेषमहस्रारान्तदेवगतिभेदेषु, पट्टपूक्तशेषनरकगतिभेदेषु, वैक्रिय-तन्मिश्रकाययोगमार्गणयोश्च
प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धकाः सम्यग्दृष्टयो जीवाः, उत्कृष्टस्थितेर्वन्धकास्तु मिथ्यादृष्टयः, एतासु
मार्गणासु सम्यग्दृष्टिभ्यो मिथ्यादृष्टयो जीवा असंख्यगुणाः, सन्ति समग्राणामपि सम्यग्दृशां पक्षयो-
पमाऽसंख्यभागगतसमयराशिप्रमाणत्वात्, प्रकृतदेवनारकाणां तु केषाञ्चन श्रेण्यसंख्यभागगतनमः-
प्रदेशराशितुल्यत्वात्, केषाञ्चित्तु तदधिकत्वाच्च । इत्यञ्च प्रकृतान्यवहुत्वमपि यथोक्तं सम्पद्यत इति ।

मिश्रदृष्टिमार्गणायामपि सम्यक्त्वाभिमुखजीवापेक्षयाऽसंख्येयगुणानां मिथ्यात्वाभिमुखानां
सद्भावमपेक्ष्य जघन्यस्थितेर्वन्धकपरिमाणादुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकपरिमाणमुत्कृष्टपदेऽसंख्येयगुणं ज्ञेयम् ।
कथम् ? तत्तद्गुणस्थानाभिमुखानामेव तत्तज्जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामित्वात् । शेषमार्गणासु तु
प्रत्येकं स्थितिवन्धकजीवानामसंख्येयानां सद्भावेऽपि सप्तकर्मसत्कजघन्यस्थितेर्वन्धकास्तु पर्याप्तमनुष्या
एव, ते च संख्येयाः, उत्कृष्टस्थितेर्वन्धकास्तु तिर्यगादयोऽपि ते चामंख्येयाः, एवं च स्फुटमुत्कृष्टस्थिते-
र्वन्धकानामसंख्येयगुणत्वम् । अजघन्यानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धकानामसंख्येयगुणत्वं तु सर्वासु मार्गणासु
प्राग्वद्भावनीयमिति ॥४६६॥

तदेवमभिहितमायुर्वर्जानां जघन्यो-त्कृष्ट-तदितरस्थितिवन्धपदत्रयापेक्षया बन्धकान्यवहुत्वमा-
देशतः । साम्प्रतमवशेषस्याऽऽयुपस्तदमिधातुकाम आह—

तिरिये सञ्चेर्गिदिय-णिगोअ-वणकायु-रालियदुगेसुं ।
 णपुम-चउकसायेसुं दुअणाणा-ऽयतअचक्खुसुं ॥४६७॥
 असुहत्तिलेसासु तहा भवि-यियरा-ऽऽहार-मिच्छ-अमणंसुं ।
 आउस्सुक्कोसाए ठिईअ होअन्ति सब्बऽप्पा ॥४६८॥
 तत्तो जहण्णगाए ठिईअऽणंतगुणिया मुणेयव्वा ।
 ताहिन्तो अण्णाए ठिईअ णेया असंख्यगुणा ॥४६९॥

(ब्रे०) “तिरिये सञ्चेर्गिदिये” त्यादि, तिर्यग्गत्योषमार्गणायां तथा सर्वशब्दस्यैकेन्द्रिय-
 निगोदयोः प्रत्येकं योजनात् सर्वैकेन्द्रिय-सर्वनिगोद-वनस्पत्योषभेद-काययोगसामान्यभेदा-दारिको-
 दारिकमिश्रकाययोगमार्गणासु, नपुंसकवेद-चतुःकोधादिकपायमार्गणासु, मत्त्यज्ञान-श्रुताज्ञान-ऽसं-
 यमा-ऽचक्षुर्दर्शनमार्गणासु, कृष्णाधशुभत्रिलेश्यामार्गणासु, तथाशब्द उक्तानुक्तसमुच्चये, तत्रानुक्त-
 मार्गणा आह-“भवियियराहारे” इत्यादिना, भव्यमार्गणायां, तदितरस्यामभव्यमार्गणायामाहारि-
 मार्गणायां भिद्यतात्वा-ऽसंज्ञिभागेणोपदेश्यर्थः । एतासु षट्त्रिंशन्मार्गणासु किमित्याह-“आउस्सु-
 क्कोसाए” इत्यादि, आयुः उन्कृष्टायाः स्थितेः “सब्बप्पा” ति मर्वाण्या भवन्ति, बन्धका इति
 शेषः । “तत्तो” ति तेभ्योऽनन्तरोक्तोत्कृष्टस्थितिवन्धकेभ्यः “जहण्णगाए ठिईअ” ति आयुषो
 जघन्यैव जघन्यका तस्या जघन्यकायाः स्थितेः ‘णंतगुणिया मुणेयव्व’ ति अनन्तगुणिता ज्ञात-
 व्याः, बन्धका इत्यत्रापि वाक्यशेषः । “ताहिन्तो” ति तेभ्यो जघन्यस्थितिवन्धकेभ्यः “अण्णाए
 ठिईअ” ति उक्तान्यस्याः स्थितेः, तत्रोक्तस्थितिर्जघन्या उत्कृष्टा च, अतस्तदन्या याऽजघन्यानुत्कृष्ट-
 स्थितिस्तस्या अजघन्यानुत्कृष्टस्थितेरित्यर्थः । तस्याः कियन्त इत्याह-“णेया असंख्यगुणा”
 ति बन्धका असंख्यगुणा ज्ञेयाः ।

तत्रैकेन्द्रियसत्काः सप्त, निगोदवनस्पतिकायसत्काः सप्तेति चतुर्दशभेदाः वनस्पतिकार्योष-
 भेदश्चेत्येतान् पञ्चदश भेदान् मुक्त्वा शेषमार्गणाभेदेष्वायुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाः कतिपयपञ्चेन्द्रिया
 एव, ते चाऽसंख्या इतिकृत्वा स्तोकतयाऽऽर्दा गृहीताः । जघन्यस्थितेर्बन्धकास्त्रैकेन्द्रिया अपि भवन्ति,
 ते चानन्ता इतिकृत्वा पूर्वोक्तेभ्योऽनन्तगुणा उक्ताः । अजघन्यानुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकास्वनन्ता अपि
 पूर्ववदसंख्यातानां नानास्थितिवन्धस्थानानां निर्वर्तका गृह्यन्ते, ते चासंख्यातेषु भिन्नभिन्नसमये-
 ष्वायुर्वन्धप्रारम्भका अप्येकसमये बन्धकतया प्राप्यन्ते, जघन्यस्थितेर्बन्धकास्त्रैकसामायिका एव
 प्राप्यन्त, तथा च सति जघन्यस्थितिवन्धकेभ्योऽजघन्याऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धका असंख्यगुणा एव
 सम्पद्यन्त इति तथैवोक्ताः । एवमुत्तरत्राप्यजघन्यानुत्कृष्टस्थितिवन्धकविषयेऽसंख्येयगुणत्वं विभा-
 वनीयमिति । एकेन्द्रियादिषु पञ्चदशमार्गणास्वप्येवमेव, नवरमायुष उत्कृष्टस्थितेर्बन्धका एकेन्द्रियाः

सन्तोऽपि पञ्चेन्द्रियसत्कमायुर्वेधन्तस्तेऽसंख्येया एव लभ्यन्ते, न पुनः पञ्चेन्द्रियपरिमाणाद-
धिका, तथा चाल्पवहुत्वमपि तिर्यग्गत्योषादिमार्गणावदेवोपपद्यत इति ॥४६७-४६८-४६९॥

अथ मार्गणान्तरेषु प्रकृताल्पवहुत्वमाह—

पञ्जमणुस-मणुसीसुं आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेषुं ।

मणणाण-संयमेषुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥४७०॥

सुइल-खइएसु थोवा उक्कोसाए ठिईअ हस्साए ।

संखेज्जगुणा तत्तो इयराअ ठिईअ संखगुणा ॥४७१॥

(प्रे०) “पञ्जमणुसे” त्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोराहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययो-
गा-ऽऽनतकल्पादिमर्थभेदविमानान्तदेवगतिभेदेषु, मनःपर्यवज्ञान-संयमार्गणयोः, सामायिक-
छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणसु शुक्ललेखा-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोः प्रत्येकं
“थोवा” ति न्तोका बन्धकाः, । करयाः स्थितेरित्याह—“उक्कोसाए ठिईअ” ति प्रकृत-
त्वादायुष उत्कृष्टायाः स्थितेरित्यर्थः । “हस्साए संखेज्जगुणा तत्तो” ति तत आयुषः
‘हस्वायाः’-जघन्यायाः स्थितेः संख्येयगुणाः, बन्धका इति गम्यते । “इयराअ ठिईअ
संखगुणा” ति अनन्तरोक्तजघन्योत्कृष्टस्थित्यपेक्षयेतरा यऽजघन्यानुत्कृष्टस्थितिस्तस्याः संख्येय-
गुणा बन्धका इत्यर्थः । न च भवतु पर्याप्तमनुष्यादिसंख्येयजीवराशिकासु मार्गणासूक्तृष्टादिस्थिति-
बन्धकानां यथोत्तरं संख्येयगुणत्वम्, कथं पुनरसंख्येयजीवराशिकेष्वानतप्रभृतिदेवभेदेष्वपि तेषां
यथोत्तरं संख्येयगुणत्वमेवेति वाच्यम् । यत आनतकल्पादिष्वसंख्येयजीवराशिकेष्वप्यायुर्वन्धका
एकस्मिन् समये संख्येया एव लभ्यन्ते, एतच्च प्राग्नेकश उक्तं भावितं च, ततश्च यथोत्तरं
संख्येयगुणत्वमेव युज्यते, न त्वसंख्येयगुणत्वमिति ॥४७०-४७१॥

णाणतिगे ओहिम्मि य सम्मत्ते वेअगे य आउस्स ।

पञ्जमणुमव्व णेया णवरियराए असंखगुणा ॥४७२॥

(प्रे०) “णाणतिगे” इत्यादि, मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानमार्गणारूपे ज्ञानत्रिके, अवधिदर्शन-
मार्गणायाम् । चः पादपूर्त्ये । “सम्मत्ते वेअगे य” ति, सम्यक्त्वार्थमार्गणायां वेदकसम्यक्त्वमार्ग-
णायां येत्यर्थः । एतासु किमित्याह—“आउस्से”त्यादि, आयुर्कर्मणः पर्याप्तमनुष्यमार्गणावज्ज्ञात-
व्याः, जघन्यादिस्थितीनां बन्धका इति शेषः । किं सर्वथा तथैव ज्ञातव्या, अस्ति वा कश्चिद्विशेषः ?
इत्यतो विशेषं दर्शयन्नाह—“णवरियराए असंखगुणा” ति द्वितीयपदे जघन्यस्थितेर्वन्धकाः
संख्येयगुणा इत्युक्त्वा तृतीयपदे इतरस्या अजघन्यानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका असंख्यगुणा वक्तव्याः,
न पुनस्तद्वत्संख्येयगुणा इत्यर्थः । सुगमं श्रेयम्, मतिज्ञानादिप्रस्तुतमार्गणसु तु प्रत्येकमेकस्मिन्
समये उत्कृष्टतोऽसंख्येयानामायुर्वन्धकानां लाभादिति ॥४७२॥

अथ शेषमार्गणाम् प्रस्तुतपदत्रयवियपमायुर्वन्धकाल्पबहुत्वमाह—

सेसासुक्कोसाए आउस्सऽप्पा तओ जहण्णाए ।

ताहिन्तो सेसाए ठिईअ कममो असंखगुणा ॥४७३॥

(प्रे०) “सेसासुक्कोसाए” इत्यादि, उक्तशेषासु निरयगत्योघादिद्विनत्रतिमार्गणासु प्रत्ये-
कमायुष उत्कृष्टायाः स्थितेः “प्पा” ति अकारस्य दर्शनाद् “अप्पा” ति सर्वाङ्गाः बन्धका
इति शेषः । ततो जघन्यायाः स्थितेर्वन्धकास्ततश्च शेषाया अजघन्यानुत्कृष्टायाः स्थितेः क्रमशोऽसं-
ख्यगुणा इति । शेषमार्गणास्त्विमाः—अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, मनु-
ष्योघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदौ, देवगन्योघ-गहस्वारकल्पान्ता देवगतिसत्का द्वादश भेदाः, नव विकले-
न्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, पृथिव्यप्तेत्रोवायुकायानां प्रत्येकं सप्त सप्त भेदा इतिकृत्वाऽष्टा-
विंशतिभेदाः, त्रयः प्रत्येकवनभेदाः, त्रयस्त्रसकायभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-वैक्रियकाय-
योग-स्त्रीवेद-पुंवेद-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-चक्षुर्दर्शन-तेजः-पद्मलेश्या-सामादन-संज्ञि-मार्गणाश्चेति ।

एतासु प्रत्येकमुत्कृष्टपदेऽसंख्येया आयुर्वन्धकास्तत्राप्यसंख्येयबन्धकराशिर्यथाऽजघन्यानुत्कृष्ट-
स्थितिकायुर्वन्धाहेस्तयोत्कृष्टस्थितिकायुर्वन्धाहा जघन्यस्थितिकायुर्वन्धाहाश्च जीवा असंख्येया एव,
विहाय मनुष्यांश्च-देशसंयम-तेजः-पद्मलेश्या-सामादनमार्गणाः । एतत् परिमाणद्वारणैव गतार्थम्,
केवलं तस्यां तस्यां निरयगत्योघादिमार्गणायां त्रिविधबन्धकानां प्रत्येकमसंख्येयत्वेऽप्युत्कृष्टस्थिति-
कायुर्वन्धकानां स्तोक्त्वं तु सर्वसुलभजघन्यानाधानान्तरियकजघन्यस्थितिकायुर्वन्धापेक्षया उत्कृष्टा-
नाधाऽविनाभाव्युत्कृष्टस्थितिकायुर्वन्धस्य सुदुर्लभत्वात् । इत्थञ्चोत्कृष्टस्थितेर्वन्धका जघन्यस्थितिकायु-
र्वन्धकेभ्योऽसंख्येयगुणहीनाः प्राप्यन्ते, किञ्च पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघादिमार्गणासु यावदायुर्वन्धन्यस्थिति-
कायुस्त्वं न वध्यते तावदायुषां जीवानां बहुत्वात्तादृगायुर्वन्धका अपि लोके बहवो लभ्यन्ते, एवं
यावदायुर्वन्धन्यस्थितिकायुस्त्वेन वध्यते तावदायुषां जीवानां स्तोक्त्वात् तादृशायुषो बन्धका अपि
प्रकृतमार्गणासु स्तोका असंख्येयगुणहीनाः सम्पद्यन्ते । तृतीयपदे तु बन्धप्रायोग्यस्थितिवन्धस्थाना-
नामेवासंख्येयगुणत्वादजघन्यानुत्कृष्टस्थितेर्वन्धका जघन्यस्थितिकायुर्वन्धकेभ्योऽसंख्येयगुणा इति
सुगममसंख्येयगुणत्वमिति ॥४७३॥

तदेवं समाप्तमायुष उत्कृष्टस्थित्यादिपदत्रयमपेक्ष्य बन्धकाल्पबहुत्वमादेशतोऽपि, तत्समाप्तौ
च समाप्तमुत्कृष्टादिस्थितिवन्धपदत्रयापेक्षं बन्धकाल्पबहुत्वम्, तस्मिंश्च समाप्तं गतं बन्धकपरि-
माणाल्पबहुत्वम् ।

अथ स्वस्थान-परस्थानभेदभिन्नस्थितिवन्धपरिमाणाऽल्पबहुत्वमणनावसरः । तत्र ज्ञानावरणा-
दीनां स्वस्थानान्पबहुत्वे प्रथमं तावज्जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धपदद्वयमधिकृत्याभिधित्तुरोघत आह—

अट्टण्हं ठिहबंधो हस्सो थोवो हवेज्ज ताहिन्तो ।

उक्कोसो ठिडबंधो असंखियगुणो मुणेयव्वो ॥४७४॥

(ग्रे०) “अड्डण्ह”मित्यादि, ज्ञानावरणादिलक्षणानामन्तरायपर्यन्तानामष्टानामपि मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं ‘ह्रस्वः’-जघन्यः स्थितिवन्धः “धोवो ह्वेज्ज” ति स्तोको भवेत् । “नाहिन्तो” ति तेभ्यो ज्ञानावरणादीनां स्वकस्वकजघन्यस्थितिवन्धेभ्यः “उक्कोसो ठिडबंधो” ति ज्ञानावरणादीनां स्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितिवन्धोऽसंख्येयगुणो ब्राह्मणः । जघन्यज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिवन्धोऽन्तर्मुहूर्तमात्रः, तस्यैवोत्कृष्टस्थितिवन्धस्त्वोद्यतस्त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमप्रमाणः, इत्थं च भवति ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिवन्धापेक्षया तस्यैवोत्कृष्टस्थितिवन्धोऽसंख्येयगुणः, अन्तर्मुहूर्तकालापेक्षया पञ्चोपसामंख्येयभागमात्रकालस्याऽप्यसंख्येयगुणत्वे त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटिकालस्य तु का कथा, सुतरामसंख्येयगुणत्वमिति भावः । इत्थमेव दर्शनावरणादीनां जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धपदद्वयस्याप्यत्रहुत्वं पृथक् पृथग् द्रष्टव्यम्, स्वस्थानान्पचहुत्वन्य प्रस्तुतत्वात् ।

तथा—ज्ञानावरणस्यैव दर्शनावरणा-ऽन्तरायकर्मणोः प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धः स्तोकाः, स चान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, ततः पुनस्तयोरेवोत्कृष्टस्थितिवन्धोऽसंख्येयगुणः, त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् । वेदनीयस्य जघन्यः स्तोकाः, स च द्वादशमुहूर्तप्रमाणः, ततस्तस्यैवोत्कृष्टः स्थितिवन्धोऽसंख्येयगुणः पूर्ववत् त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमप्रमाणत्वात् । आयुषो जघन्यः स्तोकाः, स चान्तर्मुहूर्तप्रमाणः, ततस्तस्यैवोत्कृष्टोऽसंख्येयगुणः, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वात् । नामगोत्रयोः प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धः स्तोकाः, स चाष्टमुहूर्तमानः, ततस्तयोरेवोत्कृष्टोऽसंख्येयगुणः, त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमप्रमाणत्वादिति । इत्थमेव मार्गणास्थानेष्वपि प्रत्येकं तत्तत्कर्मणोऽन्पचहुत्वं पृथक् पृथग्द्रष्टव्यम्, तत्र जघन्यस्थितिवन्धस्य स्तोकात्वं तु स्थितिवन्धस्य जघन्यपदगतत्वादेव विज्ञेयम्, उत्कृष्टस्थितिवन्धस्यासंख्येयगुणत्वादिकं तु प्राक् स्थितिवन्धप्रमाणद्वारोक्तजघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणद्वारेणोपपादनीयमिति ॥४७४॥

तद्वत् प्रतिकर्म जघन्योत्कृष्टस्थित्योः स्वस्थानान्पचहुत्त्वमोघतोऽभिधाय साम्प्रतमादेशतोऽभिधित्तुरादी तावत्सप्तप्रकृतिविषयं तदाह—

णरतिग-दुपणिंदियतम-पणमणवयणेषु काय-उरलेसुं ।

वेअतिग-कमायचउग-णाणचउग-संयमेसुं च ॥४७५॥

समइअ-छेअ-तिदरिसण-सुइल-भविय-सम्म-खइ-उवसमेसुं ।

सणिणम्मि तहा-ऽऽहारे सत्तण्ह गुरू असंखगुणो ॥४७६॥

(ग्रे०) “णरतिगे” इत्यादि, सूचनात्स्रमितिक्त्वा ‘णरतिग’ इत्यनेनाऽपर्याप्तभेदवर्जास्त्रयो मनुष्यगतिमार्गणाभेदा गृह्यन्ते । कुतः ? स्थितिवन्धप्रमाणद्वारोक्तार्थानुसारेणानन्तरं वक्ष्यमाणस्य

“सत्तण्हं गुरु असंख्यगुणो” इत्यस्याऽपर्याप्तवर्जभेदत्रय एवोपपत्तेः । अत एव “दुपणिदिय-
तसे” न्यत्र पञ्चेन्द्रियत्रयोभयप्रयोजनीयद्विशब्देनाऽपर्याप्तभेदवर्जो पञ्चेन्द्रियाद्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-
रूपा द्वौ भेदा, तथैवापर्याप्तभेदवर्जो द्वौ त्रयकायभेदा गृह्यते । “पणमणवयणे” न्यादि, प्राग्बत्
पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनभोगास्तेषु, काययोगसामान्यौ-दार्शिककाययोगयोः, स्त्री-पुरुष-नपुंसकरूप-
वेदत्रिक-क्रोधादिकपायचतुष्क-मत्यादिज्ञानचतुष्क-संयमार्थमागोणासु । च उक्तानुक्तसमूहस्ये । अनुक्त-
मागोणा आह-“सत्तण्हं” इत्यादिना, सामायिक-छेदोपस्थापनसंयम-चक्षुरादित्रिदर्शन-शुक्ललेश्या-
भव्य-नम्यकर्माद्य-श्रायिका-पशामिकसम्यक्त्वेषु संज्ञिमार्गोणायां तथाऽऽहारिमार्गोणायामित्येतासु
त्रिचन्वारिंशन्मार्गोणासु प्रत्येकं-“सत्तण्हं गुरु असंख्यगुणो” ति आयुर्वर्जानां सप्तानां ‘गुरुः’-
उत्कृष्टः स्थितिवन्धोऽसंख्यगुणो भवतीत्यर्थः । कस्माद् ? इति चेत्, स्तोत्राज्जघन्यस्थितिवन्धात् ।
पदद्वयस्याल्पबहुत्व एव एकपदस्याऽसंख्येयगुणत्वादिकेऽभिहितेऽन्यपदस्य स्तोत्रत्वं सुतरां गम्यते ।
ततश्च ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिवन्धः स्तोत्रस्ततो ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिवन्धोऽसंख्यगुणः,
एवमायुर्वर्जदर्शनावरणादीनामपि ज्ञेयम् । यद्वा “जहण्णाओ” इति पूर्वतोऽनुवर्तते, अतस्तदपेक्षया
संख्येयगुणत्वं योजनीयम् । एवमेवाग्रेऽपि ज्ञेयम् । भावना त्वर्थाधवद् द्रष्टव्या, यद्वा तत्तन्मार्गोणायां
स्थितिवन्धप्रमाणद्वारात्कजघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणमपेक्ष्य द्रष्टव्येति ॥४७५-४७६॥

गयवेण उक्कोसो संखेज्जगुणो चउण्हं घाईणं ।

णयो अमंखियगुणो तिण्हं अघाईण उक्कोसो ॥४७७॥

(प्रे०) “गयवेण” इत्यादि, अयमतेवेदमार्गोणायां “चउण्हं घाईणं” ति ज्ञानावरण-
दर्शनावरण-मोहनीया-ऽन्तरायलक्षणानां चतुर्णां धातिप्रकृतीनां “उक्कोसो” ति उत्कृष्टस्थिति-
वन्धः “संखेज्जगुणो” ति प्राग्बज्जघन्यस्थितिवन्धापेक्षया संख्येयगुणः । “तिण्हं अघाईण
उक्कोसो” ति अधिकृतमार्गोणायामायुर्वन्धस्याऽभावात्तदायुर्वर्जानां वेदनीय-नाम-गोत्रलक्षणानां
त्रयाणामधातिप्रकृतीनामुत्कृष्टः स्थितिवन्धः “णयो अमंखियगुणो” ति असंख्यगुणो ज्ञेयः ।
स्वस्थानाल्पबहुत्वस्य प्रकृतत्वाद्वापि ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिवन्धापेक्षया ज्ञानावरणस्योत्कृष्ट-
स्थितिवन्धः संख्येयगुण इत्यादिकं प्रतिकर्म प्राग्बत् स्वयमेव योज्यमिति ॥४७७॥

अथोक्तशेषमार्गोणाभेदक्याऽऽर्य्याऽऽह—

सत्तण्हं सर्व्वेसुं एगिंदियविगलपंचकायं सुं ।

जेद्वो विसेसअहियो णयो सेसासु संखगुणो ॥४७८॥

(प्रे०) “सत्तण्हं” इत्यादि, सर्व्वेकेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु विकलेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु पृथिव्यादि-
वनस्पत्यन्तपञ्चकायसत्कभेदेष्वित्येवं पञ्चपञ्चाशन्मार्गोणासु प्रत्येकं “सत्तण्हं” ति आयु-
र्वर्जानां सप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकं ‘ज्येष्ठः’-उत्कृष्टः स्थितिवन्धः “विसेसअहियो” ति स्तोत्र-

प्रमाणजघन्यस्थितिवन्धाद्विधेयाधिकः । “णेयो सेसासु संखगुणो” त्ति नरत्रिकेत्यादिना-
ऽनन्तरोक्ता नवनवतिमार्गणास्त्यक्त्वा शेषास्वेकसप्ततिमार्गणासु प्रत्येकं संख्येयगुणो ज्ञातव्यः,
सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्ध इत्युनुवर्तते, जघन्यस्थितिवन्धापेक्षयेति गम्यत इति ।

शेषमार्गणास्त्वमाः-अष्टौ नरकमेदाः, त्रिंशदपि देवगतिमेदाः, पञ्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रिय-
मेदाः, अपर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायमेदाः, औदारिकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रा-
ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र-कर्मणकाययोगाः, मत्पज्ञान-श्रुतज्ञान-विभङ्गज्ञान-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्म-
सम्यराय-देशसंयमा-ऽसंयम-कृष्णादिपञ्चलेश्या-ऽभव्य-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सासादन-सम्यग्मिथ्या-
त्व-मिथ्यात्वा-ऽसंयम-ऽनौदारिकमार्गणाभेदाश्चेति ॥४७८॥

तदेवमुक्तमायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामादेशतोऽपि प्रकृतान्पवदुत्वम् । साम्प्रतमायुपस्तदादेशत आह—

सब्बेसुं णिरया-ऽमर-एगिंदिय-विगल-पंचकायेसुं ।

असमत्तपणिंदितिरिय-मणुस-पणिंदिय-तसेसुं च ॥४७९॥

आहारदुगे विउवे उरालमीस-मणपञ्जवेसुं च ।

संयम-सामाहएसुं छेए परिहार-देसेसुं ॥४८०॥

आउम्म जहण्णाओ ठिइबन्धाओ हवेज्ज संखगुणो ।

ठिइबन्धो उक्कोमो असंखियगुणो उ सेसासुं ॥४८१॥

(प्रे०) “सब्बेसुं” इत्यादि, सर्वासु निरयगतिमार्गणासु, सर्वासु देवगतिमार्गणासु, तथैव सर्वे-
केन्द्रिय-सर्वपथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायसत्कमार्गणास्त्वित्यर्थः । “असमत्ते” त्यादि, अत्रा-
प्यसमत्तशब्दस्य प्रत्येकं योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-पर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रस-
कायमार्गणास्त्वित्यर्थः । चकारस्तु समुच्चये । तेनान्यमार्गणाः समुच्चिन्वन्नाह—“आहारदुगे” इत्यादि,
आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्वयरूप आहारकद्विके वैक्रियकाययोगमार्गणायामौदाकिमिश्र-
काययोग-मनःपर्यवज्ञानमार्गणयोः । चः पादपूर्त्ये । “संयमे” त्यादि, संयमोप-सामायिकसंयम-
मार्गणयोः, छेदोपस्थापनसंयममार्गणायां परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयममार्गणयोरित्येतासु सप्तो-
त्तरशतमार्गणासु । एतासु किमिन्याह—“आउम्म जहण्णाओ” इत्यादि, आयुःकर्मणः स्तोका-
जघन्यस्थितिवन्धात्सर्वोत्कृष्टः स्थितिवन्धः संख्येयगुणो भवेदित्यर्थः । कुतः ? इति चेत्, कासु-
चिन्निरयगन्त्योघादिमार्गणासुत्कृष्टस्थितिवन्ध औधिकजघन्यस्थितिवन्धापेक्षयाऽपि संख्येयगुण एव ।
कथम् ? पूर्वकोटिवर्षप्रमाणत्वात् । ततः किम् ? ततो निरयगत्यादिमार्गणासत्कजघन्यस्थितिवन्धापेक्षया
त्वसां सुतरां संख्येयगुणो भवेत् । कासुचिन्मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु तत्रायुषो जघन्यः स्थितिवन्ध
एव पल्योपमपृथक्त्वं तदधिको वा जायते, तदपेक्षया त्वीधिकोत्कृष्टस्थितिवन्धोऽपि संख्येयगुणः,

किं पुनस्तत्तन्मार्गणाभावोत्कृष्टस्थितिवन्धः । इत्यतो निरयगत्योघादिमर्बमार्गणामु जघन्यस्थिति-
बन्धापेक्षयोत्कृष्टस्थितिवन्धः संख्येयगुण एवोक्त इति ।

अथ शेषमार्गणास्वाह—“असंख्यगुणो उ सेसासु” इति सुगमम्, नवरम् ‘आउस्म
जहणाओ ठिइंवाओ हवेज्ज’ इत्यस्यानुवृत्तिर्दृष्टव्याः । शेषमार्गणास्त्विमाः—तिर्यगत्योघ-
पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-योनिमत्तिर्यग्-मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चे-
न्द्रियाघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-अनकाराघ-पर्याप्तपञ्चाघ-पञ्चमनोयोग-पञ्चययोग-काययोगसामान्यौ-
दारिककाययोग-स्त्री-पुं-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकपाय-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-
विमलज्ञाना-ऽसंयम-चक्षुरादित्रिदर्शन-कृष्णादिपल्लेश्या-भव्या-ऽभव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोप-
शमिक-सामादन-मिथ्यात्व-मंश्य-ऽसंज्ञाऽऽहारिमार्गणा इति ॥४७९-४८०-४८१॥

तदेवमुक्तं जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धावधिकृत्य ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकं स्वस्थानाल्पबहुत्वम् ।
साम्प्रतमुत्कृष्टादिस्थितिवन्धमाश्रित्य समुदितानामष्टानामपि ज्ञानावरणादीनां यत्परस्थानाल्पबहुत्वं,
तद्गणनावमरः । तत्रादीं तावदुत्कृष्टस्थितिवन्धमधिकृत्य व्याजिहीर्षुरोघत आह—

आउस्मुक्कोमोऽप्पो ताहिन्तो वीसगाण संखगुणो ।

तो तीसगाण अहियो ततो मोहस्म संखगुणो ॥४८२॥

(प्र०) “आउस्सुक्कोसोऽप्पो” इत्यादि, आयुःकर्मण उत्कृष्टः स्थितिवन्धः ‘अल्पः’-मर्ब-
स्तोकः । तस्मात् “वीसगाण”ति ओघोत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणमधिकृत्य ‘विंशतिकयोः’-विंशति-
सागरोपमकोटीकोटीस्थितिकयोर्नाम-गोत्रकर्मणोः प्रत्येकं संख्येयगुणः, परस्परं तु तयोस्तुल्य इति
गम्यते । कथम् ? युगपदभिधानात् । अयम्भावः—कर्मरूपतावस्थानलक्षणस्थितिवन्धस्याधिकृतत्वा-
दायुष औधिकोत्कृष्टस्थितिवन्धः पूर्वकोटीत्रिमाणेनाम्पधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणः सन्नापि शेष-
सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया स्तोक एव भवति । नामकर्मण उत्कृष्टस्थितिवन्धो विंशति-
सागरोपमकोटीकोटयः, स चायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया संख्येयगुणो भवति । तथैव गोत्रकर्मणोऽप्यु-
त्कृष्टस्थितिवन्धो विंशतिसागरोपमकोटीकोटय इतिकृत्वा नामकर्मण उत्कृष्टस्थितिवन्धेन सह तुल्यः
सन्नायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया संख्येयगुण एव भवति, ततश्च नामकर्मणा समं तुल्यत्वख्यापनार्थ-
मायुषा समं संख्येयगुणत्वप्रदर्शनाय च नामगोत्रयोर्दुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य युगपत्संख्येयगुणता
कथिता । यत्पुनः “वीसगाणे”न्यत्र बहुवचनं, तत् प्राकृतवशात् । एवमुत्तरत्रापि युगपदभिहितानां
स्थितिवन्धविषये परस्परं तुल्यताऽपि विभावनीयंति । “तो तीसगाण अहियो” ति ‘ततः’-
विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोर्दुत्कृष्टस्थितिवन्धात् ‘त्रिंशत्कानां’-त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटयोधोत्कृष्ट-
स्थितिकानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणो प्रत्येकमधिकः-विशेषाधिकः, उत्कृष्ट-
स्थितिवन्ध इत्यनुवर्तते । अत्रापि ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य परस्परं तुल्यत्वमेकैकस्य

चानन्तरोक्तस्थितिवन्धापेक्षया विशेषाधिकत्वमिति स्वयमेव द्रष्टव्यमिति । “ततो मोहस्य संख्यगुणो” ति ‘ततः’-त्रिंशत्कानां ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां प्रत्येकसुकृष्टस्थितिवन्धात् ‘मोहस्य’-मोहनीयकर्मणः संख्येयगुणः । अत्राप्युत्कृष्टस्थितिवन्ध इत्यनुवर्तते इति । भावना तु सुगमा; प्रागुक्तोत्कृष्टस्थितिवन्धप्रमाणानुसारेण स्वयमेव कर्तव्येति ॥४८२॥

उक्तमोघत उत्कृष्टपदमधिकृत्य मूलकर्मणां परस्थानस्थितिवन्धाल्पबहुत्वम् । अथ तदेवादेशतो दर्शयन्माह—

सब्बेसुं णिरया-ऽमर-एगिंदिय-विगल-पंचकायेसुं ।

असमत्तपणिंदितिरिय-मणुस-पणिंदिय-तसेसुं च ॥४८३॥

विउवे उरालमीसे अमणे आउस्स होइ सब्बऽप्पो ।

एआउ वीसगाणं असंश्लियगुणे सुणेयत्वां ॥४८४॥

तो तीसगाण अहियो ताओ मोहस्स होइ संख्यगुणां ।

णवरि पणणुत्तरेसुं मोहस्स भवे विसेसहियो ॥४८५॥

(प्रे०) “सब्बेसुं” इत्यादि, अक्षरार्थस्तु प्राग्वत्सुगमः । नात्रात्रयपिण्डार्थस्त्वेवम्—सर्वनिरयगतिभेद-सर्वदेवगतिभेद-सर्वैकेन्द्रियभेद--सर्वविकलेन्द्रियभेद-सर्वपृथिव्यादिवनस्पत्यन्तपञ्चकायसत्कभेदा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-ऽपर्याप्तमनुष्या-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तप्रमकाय--वैकियकाय-योगी-दारिकमिश्रकाययोगा-ऽसंज्ञिमार्गणाभेदरूपेण शतमार्गणासु प्रत्येकमायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धः सर्वाल्पः, तस्माद्त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमस्थितिकयोर्नामिगोत्रकर्मणोरसंख्यातगुणः, तत्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमस्थितिकानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तर्गम्यकर्मणां विशेषाधिकः, ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धः संख्यातगुणो भवति, नवरमयमत्रापवादः--देवगतिमन्केषु पञ्चानुत्तरविमानभेदेषु चरमपदे मोहनीयोत्कृष्टस्थितिवन्धः संख्यातगुणो न भवति, किन्तु विशेषाधिक एव भवति, अतस्तर्थात्र वाच्यः । कुतः संख्यातगुणो न भवति ? तत्र मिथ्यात्वमोहनीयप्रकृतेश्चन्धात् ।

इदमुक्तं भवति—मूलप्रकृत्युत्कृष्टादिस्थितिवन्धमानमधिकतमस्थितिकतया बन्धप्रायोग्योत्तरप्रकृतिवन्धाधीनम् । अत एव मोहनीयस्याधिकोत्कृष्टस्थितिवन्धमानं सप्ततिसागरोपमकोटीकोटयः । एवं ज्ञानावरणादीनां मूलकर्मणां त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमादिकं च । तत्र मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धो यः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटयः स ओघतो बन्धप्रायोग्यमिथ्यात्वमोहनीयापेक्षया, एवमेव ज्ञानावरणादीनामपि यथासम्भवं मतिज्ञानावरणाद्यपेक्षया । अत एवाधवदेकेन्द्रियादिमार्गणाभेदेऽपि ज्ञानावरणाद्यपेक्षया मोहनीयोत्कृष्टस्थितिवन्धः संख्येयगुण उक्तः, तर्थात्र तेषां ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिवन्धापेक्षया मोहनीयजघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुण उक्तः, न पुनरनुत्तरविमानभेदाद्, तत्र मिथ्यात्वमोहनीयस्य बन्धाभावेन बन्धप्रायोग्याऽप्रत्याख्यानावरणकयायाद्यपेक्षया मूलप्रकृत्य-

ल्पबहुत्वस्यापि ला गत् । अयम्भावः—यथाऽसत्कल्पनया यदि मिथ्यात्वमोहनीयाख्यप्रकृतिरेव न स्यात्तदाऽनन्तानुबन्धाद्युत्तरप्रकृत्यपेक्षया मोहनीयस्योत्कृष्टोऽप्यौघिकस्थितिवन्धश्चत्वारिंशत्सागरोपमकोटिकोऽप्येव स्यात्, ज्ञानावरणादेश्च त्रिंशत्सागरोपमकाटीकोऽप्यदिरेव, तथा चोक्त एव ज्ञानावरणापेक्षया मोहनीयोत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः, स चोपरितनगुणस्थानेषु संक्लेशहान्या हीयमानोऽपि श्रेणि विहाय यथोक्तं विशेषाधिकत्वरूपं मिथ्यस्तारतम्यं नातिक्रमेत् । कुतः ? सास्वादनादिगुणस्थानेषु चत्वारिंशत्सागरोपमकोटिकोऽप्यौघिकोत्कृष्टस्थितिकानामप्रत्याख्यानावरणादिकषायाणां मतिज्ञानावरणादेश्च बन्धभावात्, मिथ्यात्वस्य त्वबन्धात् । एवमेव सास्वादनादिगुणस्थानेषु स्वरूपतो एव मिथ्यात्वमोहनीयबन्धाभावेन ज्ञानावरणाद्यपेक्षया मोहनीयोत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः प्राप्यते, नत्वसत्कल्पनया, मिथ्यात्वगुणस्थाने तु यथोक्तसत्कल्पनयैव विशेषाधिकः, स्वरूपतस्तु संख्येयगुण एव । प्रकृते त्वनुत्तरविमानवासिनां मिथ्यात्वाख्यमोहनीयोत्तरप्रकृतेर्वन्धाभावेन चत्वारिंशत्सागरोपमकोटिकोऽप्यौघिकोत्कृष्टस्थितिकवध्यमानाऽप्रत्याख्यानावरणाद्युत्तरप्रकृत्यपेक्षया मोहनीयस्याऽन्तःकाटीकोटीसागरोपमप्रमाणोऽपि स्थितिवन्धो ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया विशेषाधिक एव प्राप्यते, ज्ञानावरणस्यैकैकोत्तरप्रकृतेरुत्कृष्टस्थितिवन्धस्य त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्, तासां प्रत्येकमनुत्तरविमानवासिनां बन्धभावाच्च ।

यदि च स्यादेवम्—मूलज्ञानावरणकर्मणः पञ्चमत्तरप्रकृतिषु केवलज्ञानवरणस्यौघोत्कृष्टस्थितिवन्धस्त्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमाणि, मिथ्यात्वगुणस्थान एव तद्वन्धश्च, शेषाणां मतिज्ञानावरणादीनां तूत्कृष्टाऽप्यौघिकीस्थितिर्विशतिसागरोपमकोटीकोऽप्येव, तासां तूपरितनगुणस्थानेष्वपि बन्धस्तदाऽनुत्तरवासिनां देवानां सम्यग्दृष्टितया मिथ्यात्वस्येव केवलज्ञानावरणस्याऽपि बन्धाभावात् शेषाणां तु ज्ञानावरणोत्तरप्रकृतीनां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीस्थितिकत्वात् कषायमोहनीयाऽपेक्षया जायमानोऽपि मोहनीयोत्कृष्टस्थितिवन्धः सम्यग्दृष्टिगुणस्थाने बध्यमानज्ञानावरणानां जायमानोत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया द्विगुणः स्यात्, न पुनः विशेषाधिकः । किन्तु नास्त्येवम्, यतो ज्ञानावरणस्य पञ्चानामप्युत्तरप्रकृतीनामौघोत्कृष्टस्थितिवन्धस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोऽप्येव भवति, ताश्च प्रकृतयो ध्रुवबन्धिन्यः सत्य उपरितनगुणस्थानेष्वपि बध्यन्ते, इत्थं मूलोक्तमेवाल्पबहुत्वं प्राप्यत इति विक् । अनया दिशा पूर्वोत्तरत्र च विभावनीयमल्पबहुत्वं स्वधिया । विशेषार्थिना तूत्तरप्रकृतिस्थितिवन्धविधानग्रन्थोऽवलोकनीय इति ॥४८३-४८४-४८५॥

आहारदुग्मि तद्वा चउणाण-जईसु समहए छेए ।

परिहारे देस-अवहि-सम्म-खइअ-वेअगेसुं च ॥४८६॥

सासायणे य आउस्सऽप्यो तो वीसगाण संखगुणो ।

तो तीसगाण ततो मोहस्स कमा विसेसहियो ॥४८७॥

(प्रे०) “आहारदुग्गन्मि तहा” इत्यादि, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणादिके, तथा मत्यादिचतुर्ज्ञान-संयमौघमार्गणासु, सामायिकसंयममार्गणायां, छेदोपस्थापनसंयममार्गणायां, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां, देशसंयमा-ऽर्थाधिदर्शन-सम्यक्त्वांघ-क्षायिक-वेदकसम्यक्त्वमार्गणासु । चकारः पाददूर्ये । सामादनमार्गणायां चेत्येतासु षोडशमार्गणासु प्रत्येकमायुषः ‘अल्पः’-सर्व-स्तोकः, उत्कृष्टस्थितिवन्ध इत्यनुवर्तते, एवमुत्तरत्रापि । ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थिति-बन्धः संख्यातगुणः । ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां, ततो मोह-नीयकर्मणः “कमा” चि ‘क्रमाद्’-यथासंख्यं विशेषाधिकः । नामगोत्रयोरपेक्षया ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां विशेषाधिकस्ततो मोहनीयकर्मण उन्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिक इत्यर्थः । अत्रापि ज्ञाना-वरणादीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया मोहनीयोत्कृष्टस्थितिवन्धस्य विशेषाधिक्यमनन्तरोक्तनीत्या प्रस्तुतमार्गणाद्वये मिथ्यात्वस्याऽवन्धादवसातव्यम् ॥४८६-४८७॥

विक्रियमीसे कम्मेऽणाहारे वीसगाण सब्बप्पो ।

तो तीसगाण अहियो ततो मोहस्स संखगुणो ॥४८८॥

(प्रे०) “विक्रियमीसे” इत्यादि, विक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां “कम्मे” चि कार्मण-काययोगमार्गणायां “णाहारे” चि लुप्ताकारस्य दर्शनादनाहारकमार्गणायामित्येतासु तिसृषु प्रत्येकं विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिवन्धः सर्वान्पः । ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शना-वरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकम् “अहियो” चि विशेषाधिकः । ततो मोहनीयकर्मण उन्कृष्ट-स्थितिवन्धः संख्यातगुणः । आयुःकर्मणः प्रकृतमार्गणात्रयेऽवन्ध एवेति नोक्त इति ॥४८८॥

मीसु-वसमेसु णेयो सब्बप्पो वीसगाण ताहिन्तो ।

होएज्ज तीसगाणं ततो मोहस्स अब्भहियो ॥४८९॥

(प्रे०) “मीसुवसमेसु” इत्यादि, मिश्रदृष्टिमार्गणायामौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां च प्रत्येकं विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिवन्धः सर्वान्पो ज्ञातव्यः । तस्मात् त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां, ततो मोहनीयकर्मणः ‘अभ्यधिकः’-विशेषाधिको भवेद्, उन्कृष्टस्थितिवन्ध इत्यनुवर्तते, क्रमादिनिशेषः । ततश्च नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिक इति । चरमपदे विशेषाधिक्यं मिथ्यात्वम्याऽवन्धात्प्राग्ब-दिज्ञेयमिति ॥४८९॥

गयवेए सब्बऽप्पो मोहस्स तिघाइगाण संखगुणो ।

तो दोण्ह असंखगुणो ततो तइअस्स अब्भहियो ॥४९०॥

(प्रे०) “गयवेए” इत्यादि, ‘गयवेए’ चि अपगतवेदमार्गणायां “मोहस्स” चि मोहनीयकर्मणः “सव्वप्पो” चि उत्कृष्टस्थितिवन्धः सर्वान्पः । “तिघाहगाण” चि मोहनीयस्यान्तरमेव कथितत्वात् तच्छेषाणां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां ‘घातिकानां’-घातिकर्मणां “संखगुणो” चि उत्कृष्टस्थितिवन्धः संख्येयगुणः । “तो दोण्ह असंखगुणो” चि ततो द्वयोर्नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिवन्धोऽसंख्यगुणः । “ततो तहअस्स अब्भहिओ” चि ततस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिवन्धोऽभ्यधिक इति ॥४९०॥

सुहुमम्मि तिघाईणं सव्वप्पो ताउ णामगोआणं ।

संखेज्जगुणो ततो तहअस्स भवे विसेसहियो ॥४९१॥

(प्रे०) “सुहुमम्मि” चि सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां “तिघाईणं” चि मोहनीयस्याऽयन्धाद् बन्धप्रायोग्यानां त्रयाणां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां घातिकर्मणां “सव्वप्पो” चि प्रकृतोत्कृष्टस्थितिवन्धः सर्वान्पः । “ताउ णामगोआणं संखेज्जगुणो” चि ततो नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिवन्धो संख्येयगुणः । “ततो तहअस्से” इत्यादि, सुगमम्, नवरं “तहअस्स” चि वेदनीयकर्मण इति ॥४९१॥

अथ शेषसप्तचत्वारिंशन्मार्गणासु प्रकृतान्पबहुत्ववक्तव्यता तुल्येति कृत्वा तासु युगपदाह—

सेसासुं आउस्म उ सव्वप्पो वीसगाण संखगुणो ।

तो तीसगाण अहिओ ततो मोहस्स संखगुणो ॥४९२॥

(प्रे०) “सेसासुं आउस्स” इत्यादि, उक्तशेषमार्गणासु पुनः “आउस्स उ सव्वप्पो” आपुप उत्कृष्टस्थितिवन्धः सर्वान्पः । तुकारः पुनरर्थे भिन्नक्रमश्च, स च प्राग्योजितः । “वीसगाण संखगुणो तां” चि ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः प्रकृतोत्कृष्टस्थितिवन्धः संख्येयगुणः, “तीसगाण अहिओ” चि, अनन्तरोक्तस्य “तो” शब्दस्य काकाक्षिगोलकन्यायेनात्रापि योजनात् ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणासुत्कृष्टस्थितिवन्धः ‘अधिकः’-विशेषाधिकः । ततश्च मोहनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिवन्धः संख्येयगुण इति । शेषमार्गणास्त्विमाः-तिर्यग्न्योघ-पञ्चेन्द्रियतिर्यगोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्-तिरक्षी-मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियांघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकायौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चत्रयोयोग-काययोगौ-दारिककाययोग-स्त्री-पुं-नष्टं सकवेद-क्रोधादिचतुःकपाया-ऽज्ञानत्रया-ऽसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-पल्लेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्व-संज्ञया-ऽऽहारिमार्गणा इति ॥४९२॥

तदेवमुक्तमादेशतोऽप्युत्कृष्टस्थितिवन्धमधिकृत्याष्टानां प्रकृतीनां परस्थानाल्पबहुत्वम् । अथ जघन्यस्थितिवन्धमधिकृत्य प्रचिकटयिपुरादौ तावदोषत आह—

सर्वऽप्यो ठिडबंधो आउस्स जहणणगो मुणेयव्वो ।
 ताहिन्तो णायव्वो संखेज्जगुणो उ मोहस्स ॥४९३॥
 ततो उ तिदाइयं संखगुणो तो य नामगोआणं ।
 संखेज्जगुणो ततो तहअस्स विसेसओऽव्वभहियां ॥४९४॥

(प्रे०) “सर्वऽप्यो” इत्यादि, आयुष जघन्य एव जघन्यकः स्थितिवन्धः सर्वान्यो ज्ञातव्यः । तस्मादायुषो जघन्यस्थितिवन्धात् मोहनीयकर्मणः संख्येयगुणो ज्ञातव्यः, जघन्यस्थितिवन्ध इत्यनुवर्तते । एवमुत्तरत्रापि जघन्यस्थितिवन्ध इत्यस्यानुवृत्तिर्द्रष्टव्या । “ततो उ” चि ततस्तु मोहनीयवर्जानां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां घातिकर्मणां जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः । ततश्च नाम-गोत्रयोर्जघन्यः स्थितिवन्धः संख्येयगुणः, ततस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो जघन्यस्थितिवन्धो ‘विशेषतोऽभ्यधिकः’, -विशेषाधिक इत्यर्थः ॥४९३-४९४॥

उक्तमोघतः । अथाऽऽदेशतो नरकगत्यांघादिमार्गणास्थानेष्वभिविस्तुराह—

दुइआइणिरय-जोइमपहुडिसुर-विउव्व-त्तउ-पउमासुं ।
 वेअग-मासाणसुं आउस्स लहु भवे थोवो ॥४९५॥
 ताहिन्तो णायव्वो असंखियगुणो उ णाम-गोआणं ।
 तो तीमियाण ततो मोहस्स कमा विसेसहियां ॥४९६॥

(प्रे०) “दुइआइणिरये” न्यादि, द्वितीयादिसप्तमपृथिव्यन्तेषु पदेषु निरयगतिभेदेषु, ज्योतिष्कप्रभृतिमवार्थेसिद्धविमानपर्यन्तेषु सप्तत्रिंशत्सुरगतिभेदेषु, वैक्रियकाययोग-नेजालेश्या-पञ्च-लेश्यामार्गणामु, वेदकसम्यक्त्व-सामादनमार्गणयोश्च प्रत्येकमायुषो ‘लघुः’-जघन्यः स्थितिवन्धः स्तोको भवेत् । ततो नाम-गोत्रयोस्तु लघुस्थितिवन्धोऽसंख्येयगुणो ज्ञातव्यः । तत्रस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां जघन्यस्थितिवन्धः, ततो मोहनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धः क्रमा-द्विशेषाधिकः, ज्ञातव्य इत्यनुवर्तते । अत्र त्रिंशत्कानां जघन्यस्थितिवन्धापेक्षया मोहनीयजघन्यस्थितिवन्धस्य विशेषाधिक्यकथनं तन्स्वामिनां सम्यग्दृष्टित्वेन प्रागुक्तनीत्या मिथ्यात्वमोहनीयस्या-ऽवन्धात्, कनायमोहनीयापेक्षया तु मूलप्रकृत्यल्पवहुत्वे विशेषाधिक्यस्य लाभाच्चेति । एवमुत्तरत्रापि श्रेणिवद्विर्वर्तिनां सम्यग्दृशां मिथ्यात्वमोहनीयस्य बन्धाभावेन वृध्यमानमोहनीयोत्तरप्रकृतिसत्क-जघन्यस्थितिवन्धापेक्षया विशेषाधिक्यमुपपादनीयमिति ॥४९५-४९६॥

णरतिग-दुपणिंदिय-तस-पणमणवयणसु कायु-रालेसुं ।
 पुरिस-चउकमाय-भविय-णयणियरा-ऽऽहार-सण्णीसुं ॥४९७॥

आउस्म जहण्णोऽणो कममो मोहस्स तो तिघाईणं ।

तो वीसगाण संखियगुणो तओ साहियो उ तइअस्स ॥४९८॥

(प्रे०) “णरतिगहुपणिंदिसे” त्यादि, तत्र “णरतिगे” इत्यनेनाऽपर्याप्तभेदवर्जास्त्रयो मनुष्यगतिमार्गणाभेदा गृह्यन्ते, एवं पञ्चेन्द्रियत्रययोः प्रत्येकं योज्यद्विशब्देनाऽप्यपर्याप्तभेदवर्जौ द्वौ पञ्चेन्द्रियजातिभेदौ, अपर्याप्तभेदवर्जौ द्वौ त्रसंकायभेदौ च प्राप्ताः, तास्तु सप्तमार्गणास्तु तथा पञ्चमनो-योग-पञ्चब्रह्मयोग-काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-पुरुषवेद-क्रोधादिचतुःकषाय-भ्रम्य-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽऽहारि-संज्ञिमार्गणास्वित्येतास्तु समुदिताम्बेकोनविंशन्मार्गणास्तु प्रत्येकमित्यर्थः । एतास्तु किमिन्याह—“आउस्से” इत्यादि, आध्वदायुषो जघन्यस्थितिवन्धः ‘अल्पः-’मर्वाल्पः, क्रमशो मोहनीयस्य, ततस्त्रिधातिकर्मणां, ततो विंशतिकयोः संख्येयगुणः स्थितिवन्धः । ततः “साहियो उ” ति ‘माधिकः’-विशेषाधिकस्तु तृतीयस्य । अयम्भावः—आयुषो जघन्यस्थिति-बन्धापेक्षया मोहनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः, ततश्च शेषाणां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां धातिकर्मणां प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः, ततो विंशतिकयो-र्नामगोत्रकर्मणोर्जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः, ततश्च तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिक इत्येवं मनुष्यगत्योधादिमार्गणास्तु प्रस्तुताल्पबहुत्वं सर्वथाध्वदेवेति ॥४९७-४९८॥

विक्रियमीसे मीसे सब्बो वीसगाण णायव्वो ।

तो तीसियाण ततो मोहस्स कमा विसेसहियो ॥४९९॥

(प्रे०) “विक्रियमोसे” इत्यादि, विक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां मिश्रदृष्टिमार्गणाभेदे चायुषोऽबन्धात्तच्छेषेषु मर्वाल्पो जघन्यस्थितिवन्धो विंशतिकयोर्नाम-गोत्रकर्मणोर्ज्ञातव्यः । ततस्त्रि-शत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां ततो मोहनीयकर्मणः क्रमाद्विशेषाधिकः, जघन्यस्थितिवन्ध इति गम्यते । कुतो विशेषाधिकः ? इति चेद्, मार्गणाद्वयेऽपि जघन्यस्थिति-बन्धकानां मिथ्यात्वमोहनीयस्याऽबन्धादिति ॥४९९॥

कम्मा-ऽणाहारेसुं सब्बो वीसगाण णायव्वो ।

तो तीसियाण अहियो ततो मोहस्स संख्यगुणो ॥५००॥

(प्रे०) “कम्माणाहारेसुं” ति कार्मणकाययोगमार्गणायां मनाहारकमार्गणायां चोभयत्रा-प्यायुषोऽबन्धात्सर्वाल्पो जघन्यस्थितिवन्धो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोर्ज्ञातव्यः । ततस्त्रिशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणाम् “अहियो” ति विशेषाधिकः । ततो मोहनीय-कर्मणः संख्येयगुणः, जघन्यस्थितिवन्ध इत्याद्यापि प्राग्वद्गम्यत एवेति । हेतुस्तु मार्गणाद्वयेऽपि जघन्यस्थितिवन्धस्यैकेन्द्रियस्वामिकत्वेन तद्वन्धकाले मिथ्यात्वस्य नियमेन बन्धादिति ॥५००॥

आहारदुगे देसे परिहारे आउगस्स सब्बणो ।

तो वीसगाण णेयो संखगुणो तीसगाणऽहियो ॥५०१॥

तत्तो मोहस्स हवइ विसेमअहियो भवे णपुमथीसुं ।

आउस्स उ सब्बऽणो तत्तो मोहस्स संखगुणो ॥५०२॥

तो तिण्हं घाईणं संखगुणो ताउ णामगोआणं ।

णेयो असंखियगुणो तत्तो तइअस्स अब्भहियो ॥५०३॥

(प्रे०) “आहारदुगे” इत्यादि, आहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्वयरूप आहारकद्विके “देसे” ति देशसंयममार्गणायां तथा “परिहारे” ति परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायाम् । एतासु प्रत्येकमित्यर्थः । किमित्याह—“आउगस्स” इत्यादि, आयुष्कस्य जघन्यस्थितिवन्धः सर्वान्पः, ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोर्जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणो ज्ञानव्यः, “तीसगाणऽहियो” ति ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिकः, ततो मोहनीयकर्मणो जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिको भवति ।

अथाऽन्यत्राह—“भवे णपुमथीसुं” इत्यादि, नपुंसकवेदमार्गणायां स्त्रीवेदमार्गणायां च भवेत् । किं भवेदित्याह—“आउस्स उ” इत्यादि, प्राग्ब्रह्मयुगो जघन्यस्थितिवन्धस्तु सर्वान्पः, ततो मोहनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः, ततो मोहनीयवर्जानां त्रयाणां घातिनां प्रत्येकं संख्येयगुणः, तस्मान्नामगोत्रयोः प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धोऽसंख्येयगुणः, ततः पुनस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो जघन्यस्थितिवन्धः ‘अभ्यधिकः’-विशेषाधिको ज्ञानव्य इत्यर्थः ॥५०१-५०३॥

गयवेअ-उवममेसुं मोहस्सऽणो तओ तिघाईणं ।

तो वीसगाण संखगुणो तत्तो तइअस्स अब्भहियो ॥५०४॥

(प्रे०) “गयवेअ” इत्यादि, अपरातवेदमार्गणायामौपशमिकयस्यकत्वमार्गणायां च मोहनीयकर्मणः “णो” ति अकारस्य दर्शनाद् ‘अल्पः’-मर्त्यस्तोकः, जघन्यस्थितिवन्ध इति गम्यते । ततः शेषाणां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां घातिकर्मणां, ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः संख्येयगुणः, क्रमादिति शेषः । ततस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मणोऽभ्यधिकः, जघन्यस्थितिवन्ध इति सर्वत्र प्राग्वद्योज्यमिति ॥५०४॥

णाणतिगे ओहिम्मिय सुइला-सम्म-खइएसु णायव्वो ।

मोहस्स सब्बथोवो तओ तिघाईण संखगुणो ॥५०५॥

तो वीसियाण णेयो संखगुणो तो विसेसओऽब्भहियो ।

तइअस्स हवइ तत्तो आउस्स हवेज्ज संखगुणो ॥५०६॥

(प्रे०) “णाणतिगे” इत्यादि, “णाणतिगे” ति मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां मनन्तरं वक्ष्यमाणत्वात् तां विहाय शेषाणां मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानमार्गणानां त्रिके-ज्ञानत्रिके, “ओहिम्मि” ति अवधिदर्शनमार्गणायां, चकारस्ममुच्चयार्थो भिन्नक्रमश्च “सम्मखइएसु” इत्यस्योत्तरं योज्यस्ततः “सुइल” ति शुक्ललेख्यामार्गणायां “सम्मखइएसु” ति सम्यक्त्वौघमार्गणायां क्षाधिकसम्यक्त्वमार्गणायां चेत्येतासु सप्तमार्गणासु प्रत्येकं ज्ञातव्य इत्यर्थः । कः कियानित्याह—“भोइस्स सब्बधोवो” इत्यादि, मोहनीयकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धः सर्वस्तोकः । ततो ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां घातिकर्मणां प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः । ततो विशेषतोऽभ्यधिकः-विशेषाधिको जघन्यस्थितिबन्धः “तइअस्स हवइ” ति तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो भवति, तत आधुःकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणो भवेदिति ॥५०५-५०६॥

मणणाण मंयमेसुं समइअच्छेएसुं होइ सब्बप्पो ।

मोहस्स तओ णेयो तिण्हं घाईण संखगुणो ॥५०७॥

तो वीसगाण णेयो संखगुणो तो विसेसओऽब्भहियो ।

तइअस्स हवइ तत्तो आउस्स भवे अमंखगुणो ॥५०८॥

(प्रे०) “मणणाण” इत्यादि, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां संयमौघमार्गणायां तथा सामाधिक-छेदोपस्थापनसंयममार्गणयोः प्रत्येकं मोहनीयकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धः सर्वान्यो भवति । तत्र त्रयाणां-ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां घातिकर्मणां प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणो ज्ञेयः । ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणो ज्ञेयः । ततो विशेषतोऽभ्यधिकस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धो भवति । ततः पुनराधुषो जघन्यस्थितिबन्धोऽसंख्येयगुणो भवेदिति ॥५०७-५०८॥

सुहुमम्मि तिघाईणं सब्बप्पो ताउ णामगोआणं ।

संखेज्जगुणो तत्तो तइअस्स विसेसओ अहिओ ॥५०९॥

(प्रे०) “सुहुमम्मि तिघाईणमि” इत्यादि, सुहृदसम्परायसंयममार्गणायां मोहनीयस्या-ऽबन्धाच्छेषाणां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां घातिकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धः सर्वान्यः । तस्मात् नामगोत्रयोः प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिको भवतीत्यर्थः ॥५०९॥ उक्तशेषमार्गणास्वाह—

सेसासुं आउस्स उ थोवो दोण्हं तओ अमंखगुणो ।

तो तीसगाण अहियो ततो मोहस्स संखगुणो ॥५१०॥

(प्रे०) “सेसासु” इत्यादि, अनन्तरं पृथक् पृथक् द्वितीयपृथिवीनरकभेदाद्येकोनवति-
मार्गणा विचर्यं शेषासु नरकगत्योघभेदाद्येकोनाशीतिमार्गणसु प्रत्येकमायुषो जघन्यः स्थिति-
बन्धः “थोवो” चि सर्वस्तोकः । “दोण्हं तओ” चि ततो द्वयोर्नामगोत्रकर्मणोरमंख्यगुणः, जघन्य-
स्थितिवन्ध इति प्राग्ब्रूम्यते । “तो” चि ततो नामगोत्रयोर्जघन्यस्थितिवन्धात् त्रिंशत्कानां ज्ञाना-
वरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायकर्मणामधिकः-विशेषाधिकः । ततो मोहनीयकर्मणो जघन्यस्थितिवन्धः
संख्येयगुण इति । शेषमार्गणा नामत इमाः—नरकगत्योघ-प्रथमपृथिवीनरकभेदा, पञ्चापि-
तिर्यग्गतिभेदाः, अपर्याप्तपनुष्यभेदाः, देवगन्धोघ-भवनपति-व्यन्तरदेवभेदाः, सर्व एकेन्द्रियभेदाः,
सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदाः, पृथिवीकाया-ऽष्काय-तेजस्काय-वायुकाय-वनस्पति-
कायसत्काः सर्वे भेदाः, अपर्याप्तत्रसकायभेदाः, औदारिकमिश्रकाययोग-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्ग-
ज्ञाना-ऽसंयम-कृष्ण-नील-कापोतलेश्या-ऽभव्य-मिथ्यान्वा-ऽसंज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति ॥५१०॥

तदेवं जघन्यस्थितिवन्धमधिकृत्याप्युक्तमष्टानां मूलप्रकृतीनां परस्थानाल्पवद्भुत्वमादेशतो-
ऽपि । साम्प्रतं पुनस्तदेव जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धद्वयमधिकृत्य व्याजिहीषुरादी तावदोद्यत आह—

सव्वऽप्पो ठिइबंधो आउस्स जहण्णगो मुणेयव्वो ।

ताहिन्तो णायव्वो संखेज्जगुणो उ मोहस्स ॥५११॥

तो तिण्हं घाईणं संखगुणो ताउ णामगोआणं ।

संखेज्जगुणो ततो तइअस्स विसेसओऽव्वहियो ॥५११॥

ताऽऽउस्स असंखगुणो जेट्ठो तो वीसगाण संखगुणो ।

तो तीसगाण अहियो ततो मोहस्स संखगुणो ॥५१३॥

(प्रे०) “सव्वऽप्पो” इत्यादि, सर्वाल्पः स्थितिवन्धो ‘ज्ञातव्य’ इति परेणान्वयः ।
कथम्भूतः ? इत्याह—“आउस्स जहण्णगो” चि साधिकक्षुल्लकभवप्रमाणो य आयुःकर्मणो जघन्यः
स्थितिवन्धः स इत्यर्थः । “ताहिन्तो” चि तस्मात् मोहनीयकर्मणः संख्यातगुणो ज्ञातव्यः, जघन्य-
स्थितिवन्ध इत्यनुवर्तते । “तो तिण्हं” इत्यादि, ततस्त्रयाणां घातिकर्मणां संख्येयगुणः, जघन्य-
स्थितिवन्ध इत्यनुवर्तते । एवमुत्तरत्रापि तदनुवृत्तेः “ताउ णामगोआणं” चि ततो नामगोत्र-
कर्मणोर्जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः । ततस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो जघन्यस्थितिवन्धः ‘विशेष-
तोऽभ्यधिकः’-विशेषाधिक इत्यर्थः । “ताऽऽउस्स” चि तत आयुःकर्मणो ‘ज्येष्ठः’-उत्कृष्टः स्थिति-
बन्धोऽसंख्यगुणः । “तो वीसगाण” चि ततो त्रिंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः “संखगुणो” चि

संख्येयगुणः, ज्येष्ठस्थितिवन्ध इत्यनुवर्तते, क्रमादिति शेषः । “तो तीसगाण” ति ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणाम् “अहियो” ति विशेषाधिकः । “ततो मोहस्स संखगुणो” ति ततो मोहनीयस्य संख्येयगुणः, उत्कृष्टस्थितिवन्ध इत्युभयत्राप्यनुवृत्त्या बोद्धव्यम् । इदमल्पबहुत्वं स्थितिवन्धप्रमाणानुसारेण प्राग्बत्स्वयमेव भावनीयम्, वक्ष्यमाणदेशप्ररूपणायामप्येवं तत्तन्मार्गणोक्तस्थितिवन्धप्रमाणानुसारेण प्रागिवाभ्युह्यमिति ॥५११-५१२-५१३॥

उक्तमोघतो जघन्योत्कृष्टपदद्वयसम्बन्धि परस्थानाल्पबहुत्वम् । अथ तदेवादेशत आह—

णिरय-पढमणिरयेसुं सुर-भवन-दुगेषु उरलमीसे य ।

असमत्तपणिंदितिरिय-मणुस-पणिंदिय-तसेसुं य ॥५१४॥

आउस्स लहु थोवो ततो परमो ह्वेज्ज संखगुणो ।

तो वीसगाण हस्सो असंखियगुणो मुण्येव्वो ॥५१५॥

तो तीसगाण अहियो ततो मोहस्स होइ संखगुणो ।

तो वीसगाण जेट्ठो संखेज्जगुणो मुण्येव्वो ॥५१६॥

तो तीसगाण अहियो ततो मोहस्स होइ संखगुणो ।

(श्रे०) “णिरयपढमणिरयेसुं” इत्यादि, नरकांध-प्रथमपृथिवीनरकभेदयोः, “सुर” ति सुरगतभोगे, भवनपति-व्यन्तरदेवभेदयोः, आदारिकमिश्रकाययोगे च । अन्यमार्गणासङ्ग्रहायाह-“अस-मत्ते” त्यादि, तत्र “असमत्त” शब्दस्य प्रत्येकं योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग-पर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायमार्गणास्त्रिन्यर्थः । चकार उक्तसमुच्चये । तत एतासु समुच्चि-तासु दशमार्गणासु प्रत्येकम् “आउस्स लहु थोवो” ति आयुषः ‘लघुः’-जघन्यः स्थितिवन्धः श्लोकः । “ततो परमु” ति ततस्तरयैवाऽऽद्युषः ‘परमः’-उत्कृष्टः स्थितिवन्धः “ह्वेज्ज संख-गुणो” ति संख्येयगुणो भवेत् । “तो वीसगाणे”त्यादि, ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः ‘ह्रस्वः’-जघन्यस्थितिवन्धोऽसंख्यातगुणो ज्ञातव्यः । “तो तीसगाण” ति ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञाना-वरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणां प्रत्येकम् “अहियो” ति विशेषाधिकः, जघन्यस्थिति-वन्ध इत्यनुवर्तते । “ततो मोहस्स” ति ततो मोहनीयकर्मणः “होइ संखगुणो” ति संख्येयगुणो भवति, जघन्यस्थितिवन्ध इत्यावर्तते । “तो वीसगाणे”त्यादि, ततो विंशतिकयो-र्नामगोत्रयोर्ज्येष्ठः-उत्कृष्टः स्थितिवन्धः संख्येयगुणो ज्ञातव्यः । “तो तीसगाण अहियो” ति ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणां प्रत्येकं विशेषाधिकः, ज्येष्ठस्थिति-वन्ध इत्यनुवर्तते । “ततो मोहस्स” ति ततो मोहनीयकर्मणः “होइ संखगुणो” ति प्राग्बत् “जेट्ठो” इत्यस्याऽत्राप्यनुवर्तनादुत्कृष्टस्थितिवन्धः संख्येयगुणो भवतीति ॥५१४-५१५-५१६॥

भणितार्थेन सादृश्यवाङ्मन्यान्लाघवार्थी कतिपयमार्गणासु सापवादमतिदिशति—

एमेव जाणियव्वं सेसणिरयदेव-विउवेसुं ॥५१७॥

णवरं मोहस्स लहू विसेसअहिओ ह्वेज्ज एएसुं ।

पणऽणुत्तरेसु णेयो मोहस्स गुरू वि अब्भहियो ॥५१८॥

(प्रे०) “एमेवे” न्यादि, प्राकृतत्वेन वकारस्य लुप्तत्वाद् “एमेव” ति एवमेव, तत्रैवंशब्द-
स्य सादृश्यार्थित्वेन यथाऽव्यवधानेन मार्गणादशकेऽन्यबहुत्वमभिहितं तथैव “जाणियव्वं” ति
कल्पयणमार्गणास्वष्टप्रकृत्वं ज्ञानव्यमित्यर्थः । कासु मार्गणास्वित्याह—“सेसणिरयदेवविउवेसुं”
ति अनन्तरोक्ता निरयगत्योष-प्रथमनरक-देवगत्योष-भवनपति-व्यन्तरभेदरूपा याः पञ्च निरयगति-
देवगतिमत्का मार्गणास्तास्त्यक्त्वा शेषासु षट्शु निरयगतिमार्गणासु, शेषासु सप्तविंशतिदेवगति-
मार्गणासु तथा वैक्रियकाययोगमार्गणायां धेन्यर्थः । किमेतासु चतुस्त्रिंशन्मार्गणासु सर्वथैव नरकौष-
प्रथमनरकमार्गणादिवदुतास्ति कश्चिद्विशेषोऽपीत्याह—“णवरमि” ति नवरं-परमपदे विशेषः ।
कोऽसावित्याह—“मोहस्स” इत्यादि “पणणुत्तरेसुं” इत्यादि च । तस्यायमर्थः—चतुस्त्रिंश-
न्मार्गणाभ्योऽनुत्तरविमानवर्जास्त्रैकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमतिदेशानुसारेण पूर्वोक्तक्रमतोऽन्यबहु-
त्वेऽभिधीयमाने ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां जघन्यस्थितिवन्धो यथोक्तस्थाने
पूर्वपदापेक्षया विशेषाधिक इत्युक्त्वा तदनन्तरं मोहनीयकर्मणो ‘लघुः’-जघन्यः स्थितिवन्धः
प्राग्वत् संख्येयगुणो न वक्तव्यः, किन्तु विशेषाधिको वक्तव्यः, एतासु जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनां
मिथ्यात्वस्यावन्धात् । ततस्तु पूर्ववद् यथाक्रमं तथैव । पञ्चानुत्तरविमानसत्कमार्गणामेदेषु त्विन्ध-
मेव मोहनीयकर्मणो जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिक इति वक्तव्यम्, अन्यच्च चरमपदे मोहनीय-
स्य गुरुः स्थितिवन्धः पूर्ववर्तिपदापेक्षया विशेषाधिक इत्यपि वक्तव्यम् । कुतः ? तत्र सर्वेषां सम्यग्दृष्टि-
तयोन्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनामपि मिथ्यात्वस्यावन्धेन “वि अब्भहियो” इत्यत्रापिशब्दस्यान-
न्तरापोदितार्थसमुच्चायकतयोपादानादिति । इत्थं हि द्वितीयपृथिवीनिरयभेदाद्येकोनत्रिंशन्मार्गणासु
प्रत्येकमायुषो जघन्यस्थितिवन्धः सर्वस्लोकः, ततस्तस्यैवोन्कृष्टस्थितिवन्धः संख्येयगुणः, ततो नाम-
गोत्रयोर्जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः, ततो ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां विशेषाधिकः, ततो मोहनीयस्य
विशेषाधिकः, ततो नामगोत्रयोर्लुकृष्टस्थितिवन्धः संख्येयगुणः, ततो ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुन्कृष्टो
विशेषाधिकः, ततो मोहनीयस्योत्कृष्टः संख्येयगुण इत्येवमन्यबहुत्वं भवति । पञ्चानुत्तरविमानेषु
तु चरमपदेऽपि मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिक इत्यभिधातव्यमिति ॥५१७-५१८॥

तिरिय-अणाणदुगा-ऽयत-तिअसुहलेसा-अभविय-मिच्छेसुं ।

आउस्स लहू थोवो ततो दोण्हं असंखगुणो ॥५१९॥

तो तीसगाण अहियो ततो मोहस्स होइ संखगुणो ।

ततो आउस्स गुरू संखेज्जगुणो मुणेयव्वो ॥५२०॥

तो वीसगाण णेयो संखेज्जगुणो तओ विसेसहिओ ।

होएज्ज तीसगाणं ततो मोहस्स संखगुणो ॥५२१॥

(प्रे०) “निरियअणाणं”त्यादि, तिर्यग्गन्योष-मत्थज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयम-कृष्णादिव्य-श्रमलेश्या-ऽभन्य-मिथ्यात्वमार्गणासु प्रत्येकमायुषो ‘लघुः’-जघन्यस्थितिबन्धः स्तोकः, ततो द्वयो-र्नामगोत्रकर्मणोरसंख्येयगुणः, जघन्यस्थितिबन्ध इत्यनुवर्तते । एवमुत्तरत्राप्यनुवृत्तिबलान्नामगोत्र-योरेकैहस्य जघन्यस्थितिबन्धापेक्षया त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकं जघन्यस्थितिबन्धः “अहिओ” त्ति विशेषाधिकः, ततो मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणो भवति, तत आयुषो ‘गुरू’-उत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणो ज्ञातव्यः । इत उत्तरत्रापि ‘गुरू’ इति शब्दस्यानुवृत्तस्ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोरुत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणो ज्ञेयः, तत्रान्विशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां “विसेसहिओ होज्ज” त्ति उत्कृष्टस्थितिबन्धो विशेषाधिको भवेत्, ततो मोहनीयकर्मणः उत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुण इति ॥५१९-५२०-५२१॥

पंचिंदियतिरियतिगे विभंग-तेउ-पउमासु णायव्वो ।

आउस्स लहू अप्पो ततो परमो असंखगुणो ॥५२२॥

तो वीसगाण हस्सो संखगुणो ताउ तीसगाणऽहियो ।

तो य कमा संखगुणो मोहस्स तओऽत्थि वीसगाण गुरू ॥५२३॥

तो तीसगाण अहियो ततो मोहस्स होइ संखगुणो ।

णवरं मोहस्स लहू अब्भहिओ तेउ-पउमासुं ॥५२४॥

(प्रे०) “पंचिंदिय” इत्यादि, ‘असमत्तपण्णिंदितिरिये’त्यादिना प्रागपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तिर्यग्भेदेऽल्पबहुत्वस्याभिहितत्वात् तेन विना ये पञ्चेन्द्रियतिर्यगोष-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-योनि-मत्पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदास्तेषां त्रिकं पञ्चेन्द्रियतिर्यक्त्रिकं तस्मिन्, तथा विभङ्गज्ञान-तेजोलेश्या-यश-लेश्यामार्गणासु च ज्ञातव्यः । कः कियान्नित्याह—“आउस्स लहू” इत्यादि, आयुःकर्मणो ‘लघुः’-जघन्यस्थितिबन्धः ‘अल्पः’-सर्वस्तोकः, ततः “परमो” त्ति ‘परमः’-तस्यैवायुष उत्कृष्टस्थितिबन्धः “असंखगुणो” त्ति सुगमम् । ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः ‘हस्वः’-जघन्यस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, । तस्मात् त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां “हिओ”

त्ति अकारस्य दर्शनादनन्तरोक्तस्य “ह्रस्वो” इत्यस्याऽनुवर्तनाच्च जघन्यस्थितिबन्धः ‘अधिकः’-
विशेषाधिकः, ततः क्रमान्तर्येयगुणः, केयामित्याह—“मोहस्स तओऽत्थि” ति मोहनीय-
कर्मणः, अस्यापि जघन्यस्थितिबन्धो बोद्धव्यः । कुतः ? पूर्ववद् “ह्रस्वो” इतिपदस्यानुवृत्तः,
ततो विशतिक्रयोर्नामगोत्रकर्मणोः । अनयोः को जघन्य उत्कृष्टो वेत्याह—“गुरू” ति उत्कृष्टः
स्थितिबन्धः । अयम्भावः—ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां जघन्यस्थितिबन्धान्मोहनीयस्य जघन्य-
स्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततश्च नामगोत्रयोर्त्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणः, ततस्त्रिशन्कानां ज्ञाना-
वरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणामधिकः-विशेषाधिकः, स च गुरुशब्दानुवृत्तंत्कृष्टस्थिति-
बन्धोऽवमान्यः । एवमग्रं ऽपि; ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धः संख्येयगुणो भवतीति । तदेवं
सामान्यतोऽभिहिते याऽतिप्रसक्तिस्तां निराचिकीर्षुराह—“णवरं” इत्यादि, परमयमत्र विशेषः,
कोऽसावित्याह—“मोहस्से”त्यादि । अयम्भावः—तेजोलेश्यामार्गणायां पञ्चलेश्यामार्गणायां च
प्रत्येकमनन्तरोक्ताल्पबहुत्वं न सर्वथाऽनन्तरोक्तं तथैव, किन्तु ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिबन्धादूर्ध्वं
मोहनीयस्य जघन्यस्थितिबन्धो विशेषाधिको द्रष्टव्यः, अन्यपदेषु तु यथोक्त एव; तदन्यमार्गणासु
तु निरपवादं यथोक्त एवेति ॥५२२-५२३-५२४॥ अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां प्रागभिहितत्वेन क्रम-
प्राप्तासु शेषमनुष्यमार्गणास्वतिदिदिक्षुः प्रसंगादन्यमार्गणास्वपि मममेवातिदिशन्नाह—

णरतिगद्दुपणिंदिय-तस-पणमणवयणेषु कायुरालेसुं ।

वेअतिग-कमायचउग-चक्खु-अचक्खु-भवियेसुं च ॥५२५॥

मणिणम्मि तहा-ऽऽहारे ओघब्ब हवइ परं णपुम-थीसुं ।

णेयो असंखियगुणो जहण्णगो णामगोआणं ॥५२६॥

(प्रे०) “णरतिगद्दुपणिंदिये” त्यादि, अपर्याप्तमनुष्यभेदवर्जेषु त्रिषु नरगतिभेदेषु तथैवा-
ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदवर्जयोर्द्वयो पञ्चेन्द्रियजातिभेदयोस्तथैव द्वयोस्त्रसकार्योघ-पर्याप्तत्रसकार्यभे-
दयोः, पञ्चमनोयोगभेदेषु, पञ्चषु वचोयोगभेदेषु, काययोगसामान्या-शारिककाययोगमार्गणयोः,
स्त्री-पुं-नपुंसकवेदरूपे वेदत्रिके, क्रोधादिकपायचतुष्के, चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणासु, चः
समुच्चये, व्युत्क्रमेण योज्यः, ततश्चमंज्ञिमार्गणायां तथाऽऽहारिमार्गणायां चेत्येतास्वेकत्रिशन्मार्ग-
णासु प्रत्येकम् “ओघब्ब हवइ” ति प्रकृताल्पबहुत्वमोघवद्भवति । अतिदिष्टार्थेऽघटमानार्थमपवद-
न्नाह—“परं”मित्यादि, परमयमत्र विशेषः, स च “णपुमथीसुं णेयो” ति नपुंसकवेदमार्ग-
णायां स्त्रीवेदमार्गणायां च ज्ञातव्यः । कोऽसावित्याह—“असंखियगुणो” इत्यादि । अयम्भावः—
त्रयाणां घातिकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धं मोहनीयजघन्यस्थितिबन्धापेक्षया संख्येयगुणमुक्त्वाऽनन्तरं
नामगोत्रकर्मणो जघन्यस्थितिबन्ध आधिकान्यबहुत्वे यः संख्येयगुण उक्तः सोऽत्राऽसंख्येयगुणो
ज्ञेयः । तथाथा—नपुंसकवेद-स्त्रीवेदमार्गणयोरायुषो जघन्यः स्थितिबन्धः स्तोकः, ततो मोहनी-

यस्य जघन्यः संख्येयगुणः, ततः शेषत्रिधातेनां प्रत्येकं जघन्यः स्थितिवन्धः संख्येयगुणः, ततो नामगोत्रयोर्जघन्योऽसंख्येयगुणः, ततो वेदनीयस्य जघन्यो विशेषाधिकः, तत आयुष उत्कृष्टः स्थितिवन्धोऽसंख्येयगुणः, ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टः संख्येयगुणः, ततो ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टो विशेषाधिकः, ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धः संख्येयगुण इति ॥५२५-५२६॥

ठिडबंधो सव्वेसुं एगिंदिय-विगल-पंचकायेसुं ।

आउस्सऽप्पो हस्सो तत्तो परमो उ संखगुणो ॥५२७॥

तो वीसगाण हस्सो असंखियगुणो तओ भवे तेसिं ।

जेट्ठोऽब्भहियो तत्तो अब्भहियो तीसगाण लहू ॥५२८॥

तेसिं चिअ उक्कोसो विसेसअहियो तओ य संखगुणो ।

मोहस्स लहू तत्तो तस्सुक्कोसो विसेसहियो ॥५२९॥

(प्रे०) “ठिडबंधो सव्वेसुं” इत्यादि, “ठिडबंधो” इत्यस्य “आउस्सप्पो हस्सो” इत्यादिना परेणान्वयस्तत आयुषो ह्रस्वः स्थितिवन्धः स्तोको भवति । कासुमार्गेणास्वित्वाह- “सव्वेसुं” इत्यादि, सर्वेष्वेकेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु विकलेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु पृथिव्यादिपञ्चकाय-मन्कभेदेषु, इत्येवमेतासु पञ्चपञ्चाशन्मार्गेणास्वित्यर्थः । ततः पुनः किमित्याह-“तसो परमो” इत्यादि, “तत्तो” ति तस्मादायुषो जघन्यस्थितिवन्धात् “परमो” ति “आउस्स” इत्यस्या-नुवृत्तरायुष एव ‘परमः’-उत्कृष्टः स्थितिवन्धः “उ संखगुणो” ति संख्येयगुणः । तुः पादपूर्त्यै । ततो विशेषिकयोर्नाम-गोत्रयोः ‘ह्रस्वः’ जघन्यः स्थितिवन्धोऽसंख्येयगुणः, ततः “तेसिं” ति “द्वययो बह्वयगणं” इति प्राकृतलक्षणात् ‘तयोः’-अनन्तरोक्तयोर्नामगोत्रकर्मणोः ‘ज्येष्ठः’-उत्कृष्टस्थितिवन्धोऽभ्यधिकः-विशेषाधिक इत्यर्थः । ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तर्गयकर्मणां “लहू” ति जघन्यः स्थितिवन्धोऽभ्यधिक इति पूर्वणान्वयः । “तेसिं चिअ” ति तेषामनन्तरोक्तानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तर्गयकर्मणामेवोत्कृष्टः स्थितिवन्धो विशेषाधिकः, ततश्च संख्येयगुणः । क इत्याह-“मोहस्स लहू” ति मोहनीयकर्मणो जघन्यस्थितिवन्धः । ततः “तस्सुक्कोसो” ति तस्यैव मोहनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषतोऽभ्यधिकः, विशेषाधिक इत्यर्थे इति ॥५२७-५२८-५२९॥

विकियमीसे मीसे जहण्णगो वीसगाण सव्वऽप्पो ।

तो तीसगाण अहियो तत्तो मोहस्स अब्भहियो ॥५३०॥

तो वीसगाण जेट्ठो संखगुणो ताउ तीसगाणऽहियो ।

मोहस्स उ संखगुणो णवरं मीसे विसेसहियो ॥५३१॥

(प्रे०) “विक्रियमोसे मोसे” इत्यादि, वैक्रियकाययोगमार्गणायां मिश्रदृष्टिमार्गणायां च प्रत्येकं “वीसगाण” ति विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोर्जघन्य एव जघन्यकः स्थितिवन्धः सर्वा-
 ल्यः, तत्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणाम् “अहियो” ति विशेषा-
 धिकः, जघन्यस्थितिवन्ध इत्यनुवर्तते । ततो मोहनीयस्य स्थितिवन्धोऽभ्यधिकः, स च प्रागुक्तस्य
 “जहृणगो” इत्यस्याऽत्राभ्यनुवर्तनाजघन्य इति गम्यते । ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः
 ‘ज्येष्ठः’-उत्कृष्टः स्थितिवन्धः संख्येयगुणः । तस्मात् त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽ-
 न्तरायकर्मणां प्रत्येकम् ‘अधिकः’-विशेषाधिकः “जेष्टो” इत्यस्यानुवृत्तेरुत्कृष्टस्थितिवन्ध इत्यवगीयते ।
 एवमत्रापि तदनुवृत्तेः “मोहस्स उ संखगुणो” ति मोहनीयस्य ‘ज्येष्ठः’-उत्कृष्टस्थितिवन्धः
 संख्येयगुणः । इदमेव चरमपदमाश्रित्य मिश्रदृष्टिमार्गणायां याऽतिप्रसक्तिस्तामपरिपारयिपुराह-
 “णवरं मोसे विसेसहियो” ति ‘नवरं’-परमयं चरमपदोक्तो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धो
 मिश्रदृष्टिमार्गणायां तु विशेषाधिक एव मन्तव्यः, न पुनः संख्येयगुणः, वैक्रियमिश्रमार्गणायां
 मिथ्यात्वस्य बन्धेऽपि मिश्रदृष्टिमार्गणायां तद्वत्त्वाऽभावादिति भाव इति ॥५३०-५३१॥

आहारदुगे देसे तह परिहारमि आउगस्स लह ।

सव्वथोथो ततो उकोसो होइ संखगुणो ॥५३२॥

तो वीसगाण हस्सो संखगुणो ताउ तीसगाण भवे ।

अब्भहियो ताहिनतो मोहस्स भवे विसेसहियो ॥५३३॥

तो वीसगाण जेष्टो संखगुणो ताउ तीसगाण भवे ।

अब्भहियो तो णयो मोहस्स विसेसओ अहियो ॥५३४॥

(प्रे०) “आहारदुगे देसे” इत्यादि, आहारका-ऽऽहारकामिश्रकाययोगमार्गणयोर्द्विंश, देज-
 संयमे, परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणायां चायुष्कस्य ‘जघुः’-जघन्यः स्थितिवन्धः सर्वसो कः । ततः
 “उकोसो” ति “आउगस्स” इत्यस्यानुवर्तनादायुः उत्कृष्टः स्थितिवन्धः संख्येयगुणो भवति ।
 ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः ‘हस्वः’-जघन्यः स्थितिवन्धः संख्येयगुणः । तस्मात् त्रिंशत्कानां
 ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणां प्रत्येकं “हस्सो” इत्यस्यानुवृत्तेः ‘हस्वः’-जघन्यस्थिति-
 वन्धः ‘अभ्यधिकः’-विशेषाधिको भवेदित्यर्थः । “ताहिनतो” ति तस्मात् “मोहस्स भवे
 विसेसहियो” ति ‘हस्वः’-विपदस्यात्रापि योजनान्मोहनीयस्य जघन्यः स्थितिवन्धो विशेषाधिको
 भवेदित्यर्थः । ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः ‘ज्येष्ठः’-उत्कृष्टः स्थितिवन्धः संख्येयगुणः । तस्मात्
 त्रिंशत्कानामभ्यधिको भवेत्, ततो मोहनीयस्य विशेषतोऽभ्यधिको ज्ञातव्यः । अत्रापि त्रिचरमपदे
 चरमपदे च ज्येष्ठशब्दानुवृत्त्या ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धो बोद्धव्य इति ॥५३२-५३४॥

कम्मा-ऽणाहारेसुं जहण्णगो वीसगाण सव्वप्पो ।

तो तीसगाण अहियो तत्तो मोहस्स संखगुणो ॥५३५॥

तो वीसगाण जेट्ठो मंखेज्जगुणो तओ विसेसहियो ।

हवइ खलु तीसगाणं तत्तो मोहस्स मंखगुणो ॥५३६॥

(प्रे०) “कम्माणाहारेसुं” इत्यादि, कर्मणकाययोगमार्गणायामनाहारकमार्गणायां च विंशतिकयोर्नामगोत्रार्जघन्यकः स्थितिवन्धः सर्वोऽल्पः । तत्रान्निव्रशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकमधिकः-विशेषाधिकः, जघन्यस्थितिवन्ध इत्यावर्तते । ततो मोहनीयस्य संख्येयगुणः, जघन्यस्थितिवन्ध इति प्राग्बद्धाणि युज्यते । ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोः ‘ज्येष्ठः’-उत्कृष्टः स्थितिवन्धः संख्येयगुणः । कुतः ? इति चेद्, ज्ञानावरणादीनां जघन्यस्थितिवन्धस्यैकेन्द्रियस्वामिकतया पन्थोपमामंख्यभागन्धुनमागरोपमत्रिसप्तभागादिप्रमाणत्वाद्, तेषामेवोत्कृष्टस्थितिवन्धस्य तु संक्षिपन्नेन्द्रियस्वामिकतयाऽन्तःकोटीकोटीमागरोपमप्रमाणत्वाच्च भवति संख्येयगुणत्वम् । ततो विशेषाधिको भवति, उत्कृष्टस्थितिवन्ध इत्यनुवर्तते । कस्येत्याह— “खलु तीसगाणं” ति त्रिंशत्कानां ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां प्रत्येकम् । खलुशब्दः पादपूरणे । ततो मोहनीयकर्मणः संख्येयगुणः, उत्कृष्टस्थितिवन्ध इति पूर्वबद्धनुवृत्त्या बोद्धव्यमिति ॥५३५-५३६॥

गयवेण सव्वऽप्पो मोहस्स लहू तओ तिघार्हणं ।

तो वीसगाण कमसो संखेज्जगुणो मुणयव्वो ॥५३७॥

तो तइयस्सऽव्वहियो तो जेट्ठो तेण चिअ कमेण कमा ।

संखगुणो संखगुणो असंखियगुणो विसेसहियो ॥५३८॥

(प्रे०) “गयवेण सव्वऽप्पो” इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां सर्वोऽल्पः । कः ? इत्याह— “मोहस्स लहू” ति मोहनीयकर्मणो जघन्यस्थितिवन्धः । “तओ तिघार्हणं” ति ‘लहू’ इति पदानुवृत्त्या तन्मत्रयाणां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-ऽन्तरायलक्षणानां घातिकर्मणां ‘लघुः’-जघन्यः स्थितिवन्धः, ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रकर्मणोर्जघन्यस्थितिवन्धः क्रमशः संख्येयगुणो ज्ञातव्यः । ततस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मणोऽभ्यधिकः, जघन्यस्थितिवन्ध इत्यनुवर्तते । “तो जेट्ठो” ति तत्र एतेषामेव ज्ञानावरणादिकर्मणां ‘ज्येष्ठः’-उत्कृष्टः स्थितिवन्धः । केन क्रमेण क्रियाश्चेत्याह— “तेण चिअ कमेण” इत्यादि, तेनानन्तरोक्तेन क्रमेणादौ मोहनीयकर्मणस्तत्रस्त्रिधातिनां ततो विंशतिकयोस्ततस्तृतीयस्य वेदनीयस्य क्रमात्संख्येयगुणः संख्येयगुणोऽसंख्येयगुणो विशेषाधिकश्च । अघम्भावः— वेदनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धो विशेषाधिक उक्तस्ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धः संख्येयगुणः, ततः शेषाणां त्रयाणां घातिनां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धः संख्येयगुणः, ततो नामगोत्रयोः प्रत्येक-

मसंख्येयगुणः, ततो वेदनीयकर्मण उत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिक इति ॥ ५३७-५३८ ॥

चउणाण-संयमेसु' समइअ-छे-ओहि-सम्म-खइएसु' ।

मोहस्स लहू थोवो तओ तिघार्हण संखगुणो ॥५३९॥

तो वीसगाण णयो संखगुणो तो विसेसओऽब्भहियो ।

तइअस्स हवइ ततो आउस्स हवज्ज संखगुणो ॥५४०॥

आउस्स असंखगुणो उक्कोसो ताउ वीसगाण भवे ।

संखगुणो तो कमसो चउण्ह मोहस्स चब्भहियो ॥५४१॥

णवरं आउस्स लहू अमंखियगुणो तओ भवे जेट्ठो ।

संखगुणो मणपज्जव-संयम-सामइअ-छेएसु' ॥५४२॥

(प्र०) “चउणाण संयमेसु” इत्यादि, मन्थादिचतुर्ज्ञानमार्गणामु, संयमौघमार्गणायां, तथा सामायिक-छेदोपरथापनसंयमा-ऽवधिदर्शन-वस्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणामु प्रत्येकं मोहनीयस्य ‘लघुः’-जघन्यः स्थितिवन्धः स्तोकः । इतः प्रभृति जघन्यस्थितिवन्धाभिधायकस्य “लहू” इत्यस्योत्तरप्राप्यनुवृत्तेः “ततो तिघार्हणं” ति तत्स्रयाणां घातिकर्मणां जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः । ततो विंशतिकयोर्नामगोत्रयोर्जघन्यः स्थितिवन्धः संख्येयगुणो ज्ञानव्यः । ततो विशेषाधिकस्तृतीयस्य जघन्यस्थितिवन्धो भवति । तत आयुषो जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणो भवेत् । “आउस्स असंखगुणो उक्कोसो” ति तस्मादायुष उत्कृष्टस्थितिवन्धोऽसंख्येयगुणः । इतस्तूत्कृष्टस्थितिवन्धाभिधायकस्य “उक्कोसो” इति शब्दस्यानुवृत्तेः “वीसगाण भवे संखगुणो” ति विंशतिकयोर्नामगोत्रयोस्तूत्कृष्टस्थितिवन्धः संख्येयगुणः, “तो कमसो चउण्ह मोहस्स चब्भहियो” ति ततः क्रमशश्चतुर्णां ज्ञानावरणादीनां मोहनीयस्य च प्रत्येकमभ्यधिक उत्कृष्टस्थितिवन्धः ।

अयम्भाषः--नामगोत्रयोस्तूत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तराय-कर्मणां प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिकः । ज्ञानावरणादीनां चतुर्णामुत्कृष्टस्थितिवन्धः परस्परं तु तुल्यः । ज्ञानावरणादीनामेकैकस्योत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिक इति । अनन्तरोक्तकदेशमपवदन्नाह--“णवरं” इत्यादि नवरं परमयमत्र विशेषः, कोऽसाधित्याह--“आउस्स लहू” इत्यादि, यत्र स्थाने आयुषोजघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुण इत्युक्तस्तत्रैवाऽसौ तथाऽनुक्त्वाऽसंख्येयगुण इति वक्तव्यः, तदपेक्षया च “जेट्ठो” ति आयुषो ‘ज्येष्ठः’-उत्कृष्टस्थितिवन्धः संख्येयगुण इति द्रष्टव्यम्, न पुनः शेषस्थानेषु, अर्थाच्छेषेषु मोहनीयादीनां जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धरूपेषु स्थानेषु तत्तज्जघन्यादिस्थितिवन्धो यथोक्तः स्तोकादिक एव द्रष्टव्य इति ।

किमेतदपवादपदमुक्तमतिज्ञानादिसर्वमार्गणासु शोद्धव्यमुत कासुचिदेवेत्याह—“मणपञ्जवे” इत्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामाधिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयममार्गणासु न पुनस्तदन्यमार्गणासु, अन्यमार्गणासु देवानामायुषो जघन्यस्थितिवन्धस्वामित्वेन वर्षपृथक्स्थितिकस्य मनुष्यायुषो बन्धमम्भवात्, तदपेक्षया साधिकत्रयत्रिंशत्सागरोपमप्रमाणस्यायुष उन्कृष्टस्थितिवन्धस्यासंख्येयगुणत्वाच्च । मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणासु त्रायुष उन्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिनामिव जघन्यस्थितिवन्धस्वामिनां मनुष्याणां जघन्यतोऽपि पत्न्योपमपृथक्स्थितिकदेवायुष एव बन्धभावात्, तदपेक्षया साधिकत्रयत्रिंशत्सागरोपमस्थितिकस्यायुष उन्कृष्टस्थितिवन्धस्य संख्येयगुणत्वाच्च विशेषतो वक्तव्यम् । तद्यथा—मोहनीयस्य जघन्यस्थितिवन्धः सर्वस्तोकः । ततः शेषत्रिघातिनामसौ संख्येयगुणः । ततो नामगोत्रयोर्जघन्यः संख्येयगुणः । ततो वेदनीयस्य जघन्यो विशेषाधिकः । तत आयुषो जघन्योऽसंख्येयगुणः । ततस्तस्यैवायुष उन्कृष्टः संख्येयगुणः । ततो नामगोत्रयोरुन्कृष्टः संख्येयगुणः । ततो ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायाणां चतुर्णां विशेषाधिकः । ततो मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिक इति ॥५३९-५४०-५४१-५४२॥

सुहमम्मि तिघार्हणं हस्सोऽप्पो ताउ णामगोआणं ।

संखेज्जगुणो तत्तो तइअम्म विसेसओ अहियो ॥५४३॥

तो तीसगाण जेहो संखगुणो ताउ णामगोआणं ।

संखेज्जगुणो तत्तो तइअस्स भवे विसेसहिओ ॥५४४॥

(प्रे०) “सुहमम्मि” इत्यादि, सुहमसम्परायसंयममार्गणायां मोहनीयस्यावन्धात् तच्छेषाणां ज्ञानावरणादीनां त्रयाणां धातिकर्मणां “हस्सोप्पो” चि ‘ह्रस्वः’-जघन्यः स्थितिवन्धः ‘अल्पः’-स्तोकः । तस्मान्नामगोत्रयोः संख्येयगुणः । ततस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो विशेषतोऽधिकः । उभयत्राऽपि “हस्सो” इत्यस्यानुवृत्तेर्जघन्यस्थितिवन्ध इति ज्ञातव्यम् । ततस्त्रिंशत्कानां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां ‘ज्येष्ठः’-उत्कृष्टस्थितिवन्धः संख्येयगुणः, ततो नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिवन्धः संख्येयगुणः । ततस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मण उन्कृष्टस्थितिवन्धो विशेषाधिको भवेदित्यर्थः । अत्रापि पदद्वये पूर्ववद् “जेहो” इतिपदानुवृत्त्योत्कृष्टस्थितिवन्ध इति बोद्धव्यमिति ।

ओहिव्व उ सुइलाए णवरं मोहस्स होइ उक्कोसो ।

संखगुणो अहुवसमे मोहस्स लहू भवे थोवो ॥ ५४५ ॥

तो तीसगाण णयो संखगुणो ताउ णामगोआणं ।

संखेज्जगुणो तत्तो तइअस्स विसेसओऽब्भहिओ ॥५४६॥

ताउ असंखेज्जगुणो उक्कोसो होइ णामगोआणं ।

तो तीसगाण ततो मोहस्स कमा विसेसहियो ॥५४७॥

(प्रे०) “ओह्निव्वे” इत्यादि, अविज्ञानमार्गणावदविददर्शनमार्गणावद्वा, अन्यवहुत्वमिति-
शेषः । तुः पादपूरणे । तद्वक्तव्यामित्याह—“सुहलाए” ति शुक्ललेश्यामार्गणायाम् । किं सर्वथा
तद्वदुत किञ्चिदन्यथाऽप्यस्तीत्याह—“णवरं मोहस्स” इत्यादि । अयम्भावः—सामान्यतः सर्वथा
तथैव, परं मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धोऽविज्ञानमार्गणायां विशेषाधिक उक्तः, सोऽत्र शुक्ललेश्या-
मार्गणायां संख्येयगुणो भवति । कुतः ? समप्रकृतिसत्कोत्कृष्टस्थितिवन्धकशुक्ललेश्याकजीवानां
मिथ्यात्वस्य बन्धसद्भावात् । अतस्तथैव द्रष्टव्यः । तद्यथा—मोहनीयस्य जघन्यः स्थितिवन्धः
सर्वस्तोकः । ततः शेषत्रिघातिनामर्मा संख्येयगुणः । ततो नामगोत्रयोरसी जघन्यः संख्येयगुणः ।
ततो वेदनीयस्य तु स विशेषाधिकः । तत्र आयुषो जघन्यः संख्येयगुणः । ततस्तु तर्क्योत्कृष्टोऽसं-
ख्येयगुणः । ततो नामगोत्रयोः उत्कृष्टः संख्येयगुणः । ततो ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरा-
याणां चतुर्णां विशेषाधिकः । ततस्तु मोहनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्धः संख्येयगुण इति ।

“अह्वसमे” ति अथशब्दस्यानन्तर्यार्थकत्वेन शुक्ललेश्यामार्गणाऽनन्तरमापशमिकसम्य-
कत्वमार्गणायाम् । तत्र किमित्याह—“मोहस्स लहू” इत्यादि, मोहनीयकर्मणो ‘लघुः’-जघन्यः
स्थितिवन्धः “भवे थोवो” ति स्तोको भवेत्, वक्ष्यमाणस्थानापेक्ष्येति गम्यत एव । ततः “तीस-
गाण” ति वेदनीयस्योत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वाद्देदनीयवर्जानां ‘त्रिशक्तानां’-ज्ञानावरणादीनां त्रयाणाम्
“णेयो संखगुणां” ति संख्येयगुणो ज्ञानव्यः, जघन्यस्थितिवन्ध इत्यनुबुद्ध्या बोद्धव्यम् । तस्मात्
नामगोत्रयोः संख्येयगुणो जघन्यस्थितिवन्ध इति पूर्ववत् । ततस्तृतीयस्य वेदनीयकर्मणो विशेष-
लोऽभ्यधिकः । अत्रापि जघन्यस्थितिवन्ध इति पूर्ववदनुवृत्तेर्द्रष्टव्यम् । ततोऽसंख्येयगुण उत्कृष्ट-
स्थितिवन्धो भवति । कस्येत्याह—“णामगोआणं” ति नामगोत्रकर्मणोः “तो तीसगाण” ति
ततस्त्रिशक्तानां चतुर्णां ज्ञानावरणादीनाम्, उत्कृष्टस्थितिवन्ध इति प्राग्धत् । “ततो मोहस्स”
ति ततो मोहनीयकर्मणः, उत्कृष्टस्थितिवन्ध इति पूर्ववत् । कियानित्याह—“कमा विसेसहियो”
ति उक्तक्रमेण यथोत्तरं विशेषाधिक इत्यर्थ इति ॥५४५-५४६-५४७॥

वेअग-सासाणेमुं आउम्म भवे जहण्णगो थोवो ।

ताहिन्तो उक्कोसो असंखियगुणो मुणेयव्वो ॥५४८॥

ततो संखेज्जगुणो जहण्णगो होइ णामगोआणं ।

तो तीसगाण ततो मोहस्स कमा विसेसऽहियो ॥५४९॥

ततो संखेज्जगुणो उक्कोसो होइ णामगोआणं ।

तो तीसगाण ततो मोहस्स कमा विसेसऽहियो ॥५५०॥

(प्र०) "वेभगसासाणोसु" इत्यादि, वेङ्कटस्थितिवन्धा-सासादनसम्यक्त्वमार्गणयोः प्रत्ये-
कमायुषो जघन्य एव जघन्यकः स्थितिवन्धः स्तोकः । तस्माद् "उक्तोसो" ति 'आउस्से'त्य-
स्यानुवृत्तेरायुष उऽङ्कटस्थितिवन्धोऽसंख्येयगुणो ज्ञानव्यः । ततः संख्येयगुणो जघन्य एव जघन्यकः
स च स्थितिवन्ध इति गम्यते । कस्य कस्येत्याह—“णामगोआणं” ति नामगोत्रकर्मणोः । तत-
स्त्रिशक्तानां चतुर्णां ज्ञानावरणादीनां ततो मोहनीयकर्मणः क्रमाद् विशेषाधिकः; जघन्यस्थितिवन्ध
इत्यनुवर्तते । ततः संख्येयगुण उऽङ्कटः स्थितिवन्धो भवति नामगोत्रकर्मणोः । ततस्त्रिशक्तानां
चतुर्णां ज्ञानावरणादीनां ततो मोहनीयकर्मणः क्रमाद् विशेषाधिकः; उऽङ्कटस्थितिवन्ध इत्यनु-
वर्तते इति ॥५४८-५४९-५५०॥

पंचिदियतिरियव्व उ होइ असण्णिम्मि णवरि ठिइबंधो ।

हवइ अमंस्सेज्जगुणो जहण्णगो णामगोआणं ॥५५१॥

(प्र०) "पंचिदियतिरियव्वे" त्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः, नवरमसंज्ञिमार्गणायामि-
त्यमल्पबहुत्वम्—आयुषो जघन्यस्थितिवन्धः स्तोकः । तत आयुष उऽङ्कटस्थितिवन्धोऽसंख्येयगुणः ।
ततो नामगोत्रयोर्जघन्योऽसंख्येयगुणः । ततश्चतुर्णां ज्ञानावरणादीनां जघन्यो विशेषाधिकः । ततो
मोहनीयस्य जघन्यः संख्येयगुणः । ततो नामगोत्रयोर्ऽङ्कटः संख्येयगुणः । ततश्चतुर्णां ज्ञानावरणा-
दीनामुऽङ्कटो विशेषाधिकः । ततो मोहनीयस्योऽङ्कटः स्थितिवन्धः संख्येयगुण इति ॥५५१॥

तदेवं प्ररूपितं पदद्वयमन्वन्धि तृतीयं परस्थानस्थितिवन्धाल्पबहुत्वमपि । साम्प्रतं मन्द-
मेधसां लघ्ववधारणकृते प्राग्बदत्रापि प्रस्तुतद्वारोक्तार्थसंग्रहपराप्यल्पबहुत्वयन्त्रकाप्यालिखनीयानि ।
तानि त्वंशम्—* ।

तदेवमालिखितान्यल्पबहुत्वप्रदर्शकयन्त्रकाप्यपि, तेषु चाऽऽलिखितेषु गतं पञ्चदशमल्पबहु-
त्वद्वारम् । तस्मिँश्च गतं निष्ठतः पञ्चदशद्वारात्मको द्वितीयाधिकारः ॥

एनमपराधिकारं विवृण्वता यन्मया सुकृतमाहम् ।

तेन हि विश्वं विश्वं विश्वं विश्वसतु जिनवचने ॥ (पथ्यार्या)

॥ इति श्री बन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे द्वितीयाधिकारे पञ्चदशमल्पबहुत्वद्वारं समाप्तम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधान-मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे द्वितीया धिकारः ॥

उत्कृष्टस्थितेर्बन्धकापेक्षयाऽनुत्कृष्टस्थितेर्बन्धकाः						
आयुर्वर्जसामान्यतमकर्मणः			आयुःकर्मणः			
अनन्तगुणाः		संख्येयगुणाः	असंख्यगुणाः	अनन्तगुणाः		असंख्यगुणाः
गति०	तियोगःगोष० १	पर्याप्तमनुष्य-मानुषी० सर्वाथमिन्द्रदेवः ३	शेष० ४३	तियोगःगोष० १	पर्याप्तमनुष्य- मानुषी०प्राणला- दिमर्वाथसिद्धान्त- देवाश्च० २०	शेष० २६
इन्द्रिय०			शेष० १६	सर्वकेन्द्रियभेदाः ७		शेष० १२
काय०			सर्व० ४२	वनोप० सर्वसाधा- रणावनभेदाः ०		शेष० ३४
योग०	काययोगोष० घोरता- रिक्तदिन० कामरण० ४	आहारक-तामिश्री, २	शेष० १२	काययोगोष० श्रीदारिकद्विक० ३	आहारकद्विक० २	शेष० ११
वेद०	सप्तसक्त० १	सप्तगतवेद० १	शेष० २	सप्तसक्त० १		स्त्री-पुरुष० २
कषाय०	सर्व० ४			सर्व० ४		
ज्ञान०	मतिश्रुताऽज्ञाने, २	मनःपर्यव० १	शेष० ४	मतिश्रुताऽज्ञाने, ०	मनःपर्यव० १	शेष० ४
संयम०	असंयम० १	पर्यमौष० सामाजिक० छेद० परिहार० मुक्षम० ५	दणसंयम० १	असंयम० १	पर्यमौष० सामा- जिक०छेद०परि- हार० ४	शेष० १
वृक्षान०	अचक्षु० १		शेष० २	अचक्षु० १		शेष० २
लेदया०	अक्षुभ० ३		शुभ० ३	अक्षुभ० ३	शुक्लः १	शेष० ०
भक्ष्य०	सर्व० २			भक्ष्याभक्ष्यो० २		
सम्बन्धत्व	मिथ्यात्व० १		शेष० ६	मिथ्यात्व० १	आयिक० १	शेष० ३
संज्ञी०	धर्मजी० १		संज्ञी० १	धर्मजी० १		संज्ञी० १
आहारी०	सर्व० २			आहारी० १		
सर्वमार्गणाः-	२३	१२	१३५	३६	२६	६८
गाथाङ्काः-	४३७-४३८-४३९	४४०-४४१	४४१	३३७-३४२ ३४३-३४४	४४५-४४६	४४६

* अष्टमूलप्रकृतीनां जघन्या-ऽजघन्यस्थित्योर्वन्धकानामल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रकम् *

— जघन्यस्थित्योर्वन्धकापेभ्योऽजघन्यस्थित्योर्वन्धका —

आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनाम्

आयुःकर्मणः

क्रियदू- गुणाः-	संख्येयगुणाः	प्रोक्तवद् अनन्तगुणाः	असंख्येयगुणाः	संख्येयगुणाः	प्रोद्यवद् असंख्येयगुणाः
गतिः	पर्याप्तमनुष्यः मानुषी० सर्वाङ्ग- सिद्धयर्थभेदश्च. ३		दोषपारंगणा. ४८	पर्याप्तमनुष्यः मानुषी० प्रानतादि- सर्वाङ्गसिद्धान्त- देवभेदाश्च २०	दोषपारंगणा० २७
इन्द्रियः			सर्वं० १९		सर्वं० १९
शक्तिः			सर्वं० ४२		सर्वं० ४२
शोभः	आहारक-तन्मि- धयोगी, २	काश्यायोगी० प्रौढारिकाश्च. २	शेषः १४	आहारक तन्मि- धयोगी, २	दोषः १४
वेदः	गतवेदः १	तपुंसकः १	स्त्री-गुरुवः २		वेदत्रिकः ३
कषायः		क्रोधादिः ४			सर्वं० ४
ज्ञानः	मनःपर्यवः १		मत्यादिज्ञानः ३ अज्ञानत्रिकः ३	मनःपर्यवः १	मत्यादिज्ञानः ३ अज्ञानः ३
संयमः	देशसंयमः सामाजिकः छेदः परिहारः सूक्ष्मगम्परायः ५		देशसंयमा- ऽसंयमी, २	संयमीघः सामाजिकः छेदः परिहारः ४	देशसंयमः असंयमः २
दृशयः		अचक्षुः १	चक्षुः अक्षयिः ०		सर्वं० ३
लेदनाः			सर्वं० ६	शुक्रः १	दोषः ५
भक्षयः		भक्षयः १	अभक्षयः १		सर्वं० २
गम्यः			सर्वभेदः ७	क्षायिकः १	दोषः ४
संज्ञिः			संज्ञिः असंज्ञिः २		सर्वं० २
आहारिः		आहारकः १	अनाहारकः १		आहारताः १
सर्वपारंगणाः-	१२	१०	१४०	२९	१३४
गाथाङ्काः-	४४८-४४९	४४७-४५०	४५०	४५१-४५२	४४७-४५२

आयुर्वेज्ज्ञानावरणादिसप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकम्

स्थितिः जघन्यायाः- उत्कृष्टायाः-असंख्यगुणाः प्रजघन्यानुत्कृ०--	वन्धकाः स्तोकाः असंख्यगुणाः " "	-सर्वस्तोकाः -संख्येयगुणाः -असंख्य " "	-सर्वस्तोकाः -संख्येयगुणाः - " " " "	ओषधत् सर्वस्तोकाः असंख्यगुणाः अनन्तगुणाः	उत्कृष्टस्थितेः- स्तोक.जघन्यायाः अनन्तगु० अजघ. न्यानु.असं.गुण.	स्थितेः- उत्कृ० स्तोकाः जघ० असंख्यगु प्रज० "
गति०	सर्वतरक० देवीष० भवनगत्यादिसहस्रा- रान्तदेवभेद.प्रपर्याप्त- मनुष्यः २	मनुष्योष० सर्वायं- सिद्धवर्जानुत्तर- भेदघत्क० ५	पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० सर्वायं- सिद्धदेवभेदअ. ३		तिर्यग्गत्योष० १	सर्वे पञ्च इन्द्रिय- तिर्यग्भेदाः, ४
इन्द्रिय०	पञ्च इन्द्रियोष० तत्प- र्याप्तभेदौ, २	सर्वेकेन्द्रियभेदाः सर्वे विकले " १६				अपर्याप्तपञ्च इन्द्रि० १
काय०	प्रसीप-तत्पर्याप्त- भेषी० २	पृथिव्यादिवनस्पति- कावान्तसर्वभेद० ३६				अपर्याप्तप्रस० १
योग०	सर्वमनोवचो० वैकिय- तन्मिथो, १२		आहारक-तन्मि- थयोगी, २	काययोगीष० श्रीदारिक० २	श्रीदारिकमिश्र० कामरुण० २	
वेद०	सुधी-पुरुषवेदौ २			नपुंसक० १		
कषाय०				सर्व० ४		
ज्ञान०	मति-श्रुता-ऽववि० विभङ्ग० ४		मत्तःपर्यवज्ञान० १		मत्तज्ञान-श्रुता- ऽज्ञाने, २	
संयम०	वेशसंयम० १		संयमीष० सामा० श्लेव०परिहार ४		असंयम० १	
दर्शन०	चक्षु० अववि० २			अचक्षु० १		
लेइया०	शुभ० ३				अशुभ० ३	
भव्य०				भव्य० १	अभव्य० १	
सम्य०	मिथ्यात्ववर्ज० ६				मिथ्यात्व० १	
संज्ञि०	संज्ञी० १				असंज्ञी, १	
आहारि०				आहारक० १	अनाहारक० १	
सर्वमार्गणाः—	५६	६०	१०	१०	१३	६
गाथाङ्काः—	४६६	४६८-४६९	४६०-४६१	४५३-४६३-४६४	४५५-४५६	४५७

आयुर्वर्जनाम्				आधुःकर्मणः		
स्थितेः- उत्क्रमाणाः जघन्यायाः भ्रजवत्यानु	स्तोकाः संख्येयगुणाः असंख्यगुणाः	स्तोकाः संख्येयगुणाः "	स्तोकाः असंख्यगुणाः असंख्यगुणाः	श्लोघवत् स्तोकाः अनन्तगुणाः असंख्यगुणाः	स्तोकाः संख्येयगुणाः "	स्तोकाः संख्येयगुणाः असंख्यगुणाः
गति०	आनतादिदेवभेद- चतुष्कानवर्षवेयक- भेदाश्च० १३		सर्वे नरक-पञ्चेन्द्रि- पतिर्यभेदाः, मनु- ष्यीघ-सदपर्याप्तौ, देवीघ-मवनपत्यादि सहस्रारान्ताश्च २६	तियंगस्त्योघ० १	पर्याप्तमनुष्य- मानुषी० आनता- दिसर्वार्थसिद्धान्त- देवभेदाश्च, २०	
इन्द्रिय०			सर्वे विकलेन्द्रिय- पञ्चेन्द्रियभेदाः १२	सर्वे एकेन्द्रियभेदाः, ७		
काय०			सर्वे पृथिव्यप्तेजी- वायु-प्रत्येकवनस्पति- असकामभेदाः ३४	सर्वे साधारणभेदाः षनीघश्च० ८		
योग०			सर्वमनीवचोभेदाः, वीक्रिययोगश्च, ११	काययोगीघ० शौदारिकद्विक० ३	प्राहारकद्विक० २	
चंद०		गतवेद० १	स्था-गुणवेदी, २	नवुंमक० १		
कमान०				सर्व० ४		
ज्ञान०			विभाङ्गजनम्, १	मत्यजान-श्रुताऽ- ज्ञाने, २	मनःपर्यय० १	मति-श्रुताऽवधि- ज्ञान० ३
संयत्नः		मुख्यमंशराशः १	दशमंशमः, १	अमंशमः, १	सयमोघ० मासाः-द्वेद० परिहार० ४	
दर्शन०			चक्षुर्दर्शन० १	अचक्षु० १		अवधि० १
लेइया०			तेजः-पद्म० २	अशुभ० ३	शुक्ल० १	
भय०				भय्याऽभयौ, २		
सिद्धिः			सास्वादन० १	मिथ्यात्व० १	साधिक० १	सम्भक्तवीघ० सायोपशमिक० २
संज्ञी०			संज्ञी, १	असंज्ञी, १		
आहारी०				आहारक० १		
सर्वमार्गणाः-	१३	२	६२	३६	२९	६
गाथाङ्काः-	४६२	४६५	४७३	४५४-४५९	४७०-४७१	४७२

शोधवत्—	जघन्योत्कृष्टस्थितिबन्धाः क्रमेण कियद्गुणाः ?	गतिः
आयु० मोह० त्रिधाति० नामगोत्र० वेद० *आयु० नामगोत्र० ज्ञानादि०४, मोह० ततः ततः ततः ततः ततः ततः ततः ततः	स्तोक० सं०गु० सं०गु० सं०गु० विशेष० असं०गु० सं०गु० विशेषा० सं०गुणाः—	मनुष्योद्य० तत्पर्याप्त० मानुषी० ३
" " " असं०गु० " " " " " "	" " " " " " " " " "	3
आयु०० आयु० नामगोत्र० ज्ञानादि०४, मोह० नामगोत्र० ज्ञानादि०४, मोह० ततः ततः ततः ततः ततः ततः ततः ततः	स्तोक० सं०गु० असं०गु० विशेषा० सं०गु० सं०गुणा० विशेषा० सं०गुणाः—	निरयोद्य० प्रथमानर० दे० शोध० भवत्पति० अन्तर० प्रपर्याप्त० तत्पर्याप्त० त्रिगतिर्यसन्मयो० ७
" " " " विशेषा० " " " " " "	" " " " " " " " " "	4
" " " " " " " " " "	" " " " " " " " " "	5
" असं०गु० सं०गु० " सं०गु० " " " " " "	" " " " " " " " " "	6
" " " " " " " " " "	" " " " " " " " " "	7
" " " " " " " " " "	" " " " " " " " " "	8
" " " " " " " " " "	" " " " " " " " " "	9
स्तोक० सं०गु० सं०गु० " " " " " "	" " " " " " " " " "	10
" " " " " " " " " "	" " " " " " " " " "	11
स्तोक० असं०गु० सं०गु० " विशेषा० " " " विशेषा०—	" " " " " " " " " "	12
" " असं०गु० " सं०गुणा० " " " सं०गुणाः—	" " " " " " " " " "	13
मोहनी० त्रिधाति० नामगोत्र० वेदनी० आयु० आयु० नामगोत्र० ज्ञानादि०४, मोहनी० स्तोक० सं०गु० सं०गु० विशेषा० असं०गु० सं०गु० सं०गु० विशेषा० विशेषा०—	" " " " " " " " " "	14
" " " " " सं०गु० असं०गु० " " " " " "	" " " " " " " " " "	15
" " " " " अन्तः अन्तः असं०गु० " " " " " "	" " " " " " " " " "	16
" " " " " सं०गु० असं०गु० सं०गु० " " " सं०गुणाः—	" " " " " " " " " "	17
मोहनी० त्रिधाति० नामगोत्र० वेदनी० मोहनी० त्रिधाति० नामगोत्र० वेदनीय० स्तोक० सं०गु० सं०गु० विशेषा० सं०गु० सं०गु० असं०गुणा० विशेषादि०	" " " " " " " " " "	18
" " " " " " " " " " " " " " " "	" " " " " " " " " "	19
आयु० नामगोत्र० ज्ञानादि०४, मोहनी० आयु० नामगोत्र० ज्ञानादि०४, मोहनी० स्तोक० असं०गु० विशेषा० सं०गु० सं०गु० सं०गु० विशेषा० सं०गुणाः—	तिमंमात्योद्यः १	20
आयु० आयु० नामगोत्र० नामगोत्र० ज्ञानादि०४, ज्ञानादि०४, मोहनी० मोहनी० स्तोक० सं०गु० असं०गु० विशेषा० विशेषा० विशेषा० सं०गुणा० विशेषा०—	" " " " " " " " " "	21

* पूर्वव्यस्ताऽऽपुरादिपदेन तदीयजघन्यस्थितिबन्ध उक्तस्तेन तु तेन तदीयोत्कृष्टस्थितिबन्धश्च ज्ञेयः ।

इन्द्रिय०	काय०	योग०	वेद०	कपाय	ज्ञान०	संयम०	दर्शन	लेखया	भन्व	सम्य- कत्व०	संज्ञी	आहा	सत्रमि- र्णनाः	शुद्धि
1	पञ्चैन्द्रि- यौ-तरु- र्णित० २	प्रमोष० प-प्रमोषः २	सर्वमनीव- चोभेदाः कायौघ० घोषा० १२	पुरुष० १	सर्व० ४			चक्षु- प्रच० २	मन्व० १		संज्ञी० १	आहा. १	२९	५२५ ५२६
2				स्त्रीनपु									२	"
3	प्रपर्याप्त- गच्छेन्द्रिय १	प्रपर्याप्त- वस० १	प्रौढारिक- मिश्र० १										१०	५१४ ५१५ ५१६
4													५	५१७
5			वर्षि- शयः।										२९	५१८
6					वि- मञ्ज० १								४	५२२ ५२४
7								नेत्रपथ					२	"
8			वैक्रियमिश्र										१	५३०
9										मिश्र०			१	५३१
10			२२			★ २							४	५३२
11			शामंसा०									अना०	२	५३५
12										× २			२	५४५
13											असं०		१	५४१-
14					मनःप- मंथ० १	संयमौघ० सासा० वेद० २							४	५३९
15					मत्स्य- वि- २		प्रवाधि			● २			६	५४२-
16										प्रोष०			१	५४५-
17								सुकु०					१	५४५-
18			गत- वेद०										१	५३७ ५३८
19						सूक्ष्मता०							१	५४३-
20					॥ २	असंयम० १		अशुभ. ३	अभव्य १	मिथ्या- त्व. १			९	५१९- ५२१
21	सर्वैन्द्रि- सर्वविक- लेन्द्रि० १६	सोपसव- पञ्चकाय- सेवाः ३९											५५	५२७ ५२९

— आहारक-तन्मिश्रयोगी, ★ परिहारदेश-संयमे, ॥ मत्स्यज्ञान-श्रुताज्ञाने, × वेदक-सास्त्रादने, ● सम्यक्प्रोष-क्षायिके ।

यथोत्तरं क्रियद्गुणः ?		गति०	इन्द्रिय०	काय०
प्रायु० । नामगोत्र० । ज्ञानादि० ४ । मोहनीय० ततः ततः ततः स्तोक० । असंख्येयगुण० । विशेषाधिक० । संख्येयगुण०	सर्वनरक० देवीष० भवन- पत्यादिनवमर्षवेयकान्त- देव० अर्पयामनुष्टय० अर्प- यामपञ्चेन्द्रियतिर्यग्-३५	सर्वकेन्द्रिय० सर्वविकले० अर्पयाम- पञ्चेन्द्रिय० १७	पृथिव्यादिवन- स्पत्यन्तसर्व० अर्पयामपञ्च० ४०	
" " " विशेषाधिकः-	अनुत्तरदेवपञ्चक० ५			
" संख्येयगुण० " "				
० स्तोक० " संख्येयगुणः-				
० " " विशेषाधिकः-				
धोषवत्	अर्पयामपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेद ४ । मनुष्यौष० तत्पर्याप्त० मानुषी०= ७	पञ्चेन्द्रियौष० तत्पर्याप्त० २	प्रसीध० तत्पर्याप्त० २	
स्तोक० संख्येयगुण० " संख्येयगुणः-				
मोहनीय० । ज्ञाना० दर्शना० अन्तरा० । नामगोत्र० । वेदनी० स्तोक० । संख्येयगुण० । असंख्यगु० । विशेषा०				
० स्तोक० संख्येयगुण० " "				
प्रायु० । नामगोत्र० । ज्ञानादि० ४ । मोहनीय० ततः ततः ततः स्तोक० । असंख्येयगु० । विशेषाधिक० । विशेषाधिक०	६ द्वितीयादिनरकभेद० २७ ज्योतिष्काविदेवभेद० ३३			
० स्तोक० " "				
० " " संख्येयगुणः-				
स्तोक० संख्येयगुण० " विशेषाधिकः-				
" असंख्येयगुण० " संख्येयगुणः-	निरगौष० अथमा पञ्च, सर्वे तिर्यग्० अर्पयामनुष्टय० देवीष० भवन, अन्तर, ११	सर्वकेन्द्रिय० सर्व- विकले० अर्पयाम- पञ्चेन्द्रिय० १७	पृथिव्यादिवन- स्पत्यन्तसर्व० अर्पयामपञ्च० ४०	
मोहनीय० । शेषत्रिधाति० । नामगो० । वेदनी० । प्रायु० ततः ततः ततः ततः स्तोक० । संख्येयगुण० । संख्येयगु० । विशेषा० । असंख्यगु०				
" " " " :-				
" " " " संख्येयगुणः				
० स्तोक० " " :-				
प्रायु० मोहनीय० शेषत्रिधाति० नाम० वेदनी० धोषवत् स्तोक० संख्यगुण० संख्यगुण० संख्यगु० विशेषा०	मनुष्यौष० तत्पर्याप्त० मानुषी० ३	पञ्चेन्द्रियौष० तत्पर्याप्त० २	प्रसीध० तत्पर्याप्त० २	
" " " असंख्यगुण० " :-				

उत्कृष्टस्थितेः

जघन्यस्थितेः

गोत्र०	वेद०	रूपाय	ज्ञान०	संयम०	दर्शन	लेदया	मन्त्र	सम्य- कृत्य०	मंज्ञी	आहा०	मार्गणा	गाथा- शुकाः
पौदारिकमिश्र० वैक्रिय० ०									मंस० १		६५	४८३ ४८४ ४८५
											५	४८५
आहारक० तन्मिश्र० २			मत्यादि- ज्ञान० ४	संय.सामा.छेद परि.देश. ५	प्रवधि १			△			१६	४८६ ४८७
वैक्रियमिश्र.कामं									धना०		३	४८८
								शौच मिश्र			२	४८९
सर्वमनोवचोभेदा कायोप० शौचा- रिका० १२	वेद- त्रिक० ३	सर्व० ४	अज्ञान- त्रिक० ३	असंयम० १	वशु० अवशु. २	सर्व० ६	सर्व० २	मिथ्या- त्व० १	संज्ञी. १	आहा० १	४७	४८२ ४९२
	प्रवेद०										१	४९३
				सूक्ष्मसम्प०							१	४९४
वैक्रिय० १						तेजः- पक्षा० २		शायोपश० शासाद० २			३८	४९५ ४९६
वैक्रियमिश्र० १								मिश्र० १			२	४९७
कामिण० १									धना०		२	५००
आहा-तन्मिश्र०				परिहार.देश०							४	५०१-
पौदारिकमिश्र० १			अज्ञान- त्रिक० ३	असंयम० १	वशुभा ३	सर्व० १	मिथ्यात्व. १	मंस० १			७९	५१०-
			मनःपर्यव. १	संयममौघ० सामा०छेद० ३							४	५०७ ५०८
	प्रवेद०							शौच०			२	५०४
			मत्यादि. ३		सर्व० १	शुक्र. १		★ २			७	५०५-
				सूक्ष्मसम्प०							१	५०९-
सर्वमनोवचो.काय योग० शौचा० १२	दु० १	सर्व० ४			वशु० अवशु० २		मन्त्र. १		संज्ञी, १	आहा० १	२६	४९३- ४९७
	सौ.न.										२	५०२-

* अष्टमूलप्रकृतीनां प्रत्येकं जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धयोः रल्पवद्वत्तदर्थकं यन्त्रकम् *						
मा र्गः	आयुर्वर्जसप्तानां प्रत्येकं जघन्यस्थितिवन्धाऽपेक्षया उत्कृष्टस्थितिवन्धः—			आयुषो जघन्यस्थितिवन्धाऽपेक्षया उत्कृष्टस्थितिवन्धः—		
	धीघवद् असंख्यगुणः	★	विशेषाधिकः	संख्येयगुणः	गंख्येयगुणः	असंख्येयगुणः
गतिः	मनुष्योप० तत्पर्याप्त० मानुषी० ३			सर्वंगरक तिर्यग्देव० अपर्याप्त-मनुष्यश्च ४४	सर्वंगरक-देवभेद० अपर्याप्त-चेन्द्रिय-तिर्यग्० अपर्याप्त-मनुष्यश्च ४०	तिर्यगोप-पञ्चेन्द्रिय-गोप-तत्पर्याप्त० तिरश्ची० मनुष्योप० तत्पर्याप्त० मानुषी च ३
इन्द्रिय०	पञ्चेन्द्रियोप० तत्पर्याप्त० ०		सर्वेन्द्रिय० सर्वविकले० १६	अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय० १	सर्वकाण्डय० सर्वविकलेन्द्रिय० अपर्याप्तपञ्चे० १३	पञ्चेन्द्रियोप० तत्पर्याप्त० ०
काय०	प्रसौघ० तत्पर्याप्त० २		पृथिव्यादिवनस्प-तिकायास्ता-सर्वभेद० ३६	अपर्याप्तप्रस० १	पृथिव्यादिवने-स्पतिकायास्तसर्व० अपर्याप्तप्रस० ४०	प्रसौघ० तत्पर्याप्त० २
योग०	सर्वमनोवचोभेद० कायोप० औदारिकगोप० १२			औदारिकमिश्र० वैक्रिय० तन्मिश्र० आहारात् तन्मिश्र० कामरा० ६	आहारक तन्मिश्र० औदारिकमिश्र० वैक्रिय० ४	सर्वमनोवचोभेद० काय-योगोप० औदारिकश्च १२
वैद०	वेदविक० ३	अवेद०				वदविक० ३
कषाय०	क्रोधादि० ४					क्रोधादि० ४
ज्ञान०	सत्प्रादिज्ञान० ४			मत्प्राज्ञा० श्रुताज्ञा० विभङ्ग० ३	मनःपर्यव० १	मत्प्राज्ञाऽर्थाधिज्ञानानि प्रज्ञानविकं च ६
संयम०	संयमोप० सामा० छेदः ३			परिहार० मूत्रम० असंयम-देश-संयमश्च० ४	संयमोप० सामा० छेद० परिहार० देशसंयम० ५	असंयम० १
दर्शन०	चक्षुरादिवय० ३					चक्षुरादिवय० ३
लेह्या०	शुक्र० १			कृष्णादि० ५		सर्व० ६
भ्रम्य०	भ्रम्य० १			अभव्य० १		सर्व० २
सम्प- कृत्य०	सम्पत्कृत्योप० क्षायि० औपसामि० ३			क्षायोप० मिश्र० सास्नाद० मिथ्यात्व० ४		सम्पत्कृत्योप० क्षायिक० क्षायोपसामिक० सासादन० मिथ्यात्व० ५
संज्ञी०	संज्ञी० १			असंज्ञी० १		सर्व० २
आहार०	आहारी० १			अनाहारी० १		आहारी० १
सर्वमार्गणाः—	४३	१	५५	७१	१०७	५६
गाथाङ्कः—	४७५-४७६	४७७	४७८	४७८	४७९-८०-८१	४८१

★ घातिनां संख्येयगुणाः, अघातित्रयस्याऽसंख्येयगुणाः ।

॥ भूयस्कारादिधिकारः ॥

एतर्हि क्रमप्राप्तस्य “भूगारा” इत्यनेन प्रस्तुतस्थितिवन्धग्रन्थप्रारम्भ उद्दिष्टस्य तृतीयस्य भूयस्कारादिधिकारस्यावकाशः । अत्र हर्षिकारे मूलप्रकृतीनां भूयस्कारस्तदुपलक्षणादल्पतरः, अवस्थितः, अवक्तव्य इत्येवं चतुःप्रकाराः स्थितिवन्धविशेषाः सत्पदस्वामित्वादिद्वारेषु प्राग्बच्चिन्तनीयाः, अतो ऽधिकारप्रारम्भ आदौ तावत्प्राक् ‘तेषु पदमाहसु अहिगारेषु’ इत्यादितृतीयगाथायां संख्यामात्रेण कीर्तितानां त्रयोदशद्वाराणां नामधेयान्याविष्कुर्वन्नाह गाथायुग्मम्—

तद्गु भुओगारे अहिगारमि हविरं दुआराइं ।
तेरस संतपयं तह सामी कालंतराइं च ॥५५२॥
भंगविचयो य भागो परिमाणं खेतफोसणाउ तहा ।
कालो अंतरभावा अप्पावहुगं जहाकमसो ॥५५३॥

(प्रे०) “तद्गु भुओगारे” इत्यादि, मूलप्रकृतिस्थितिवन्धमधिकृत्योद्दिष्टपदधिकारान्त-
र्गते तृतीये भूयस्काराभिधेऽधिकारे त्रयोदश द्वाराणि यथाक्रमशः भवन्तीति क्रियायोगः । तत्र
द्वारनामानि तु “संतपय”मित्यादिनाऽभिहितानि । तद्यथा—(१) आद्यं सत्पदद्वारम्, (२) तदनु
द्वितीयं स्वामिन्वद्वारम्, (३) ततस्तृतीयं कालद्वारम्, (४) ततोऽन्तरद्वारम्, (५) तत्पश्चाद्
भङ्गविचयद्वारम्, (६) ततो भागद्वारम्, (७) ततः परिमाणद्वारम्, (८) ततः क्षेत्रद्वारम्, (९) ततः
स्पर्शनाद्वारम्, (१०) ततस्तु कालद्वारम्, (११) ततोऽन्तरद्वारम्, (१२) ततो भावद्वारम्,
(१३) ततस्त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारम् । अत्राऽपि गताधिकारवद्भङ्गविचयादीनि पञ्चमादीनि द्वाराणि
नानाजीवानाश्रित्य प्ररूपयिष्यन्त इति विज्ञेयम् । सत्पदवर्जशेषद्वारव्याख्यानमपि पूर्ववदेव
द्रष्टव्यम् । सत्पदद्वारस्य त्वेवम्—सन्ति-विद्यमानानि पदानि भूयस्कारादिस्थितिवन्धलक्षणा-
नीति सत्पदानि, तानि यत्र द्वारे चिन्त्यन्ते तत् सत्पदद्वारम् । ओषतः सर्वजीवराशौ, विशेषतो
मार्गणास्थानेषु च मूलाष्टकर्मणां भूयस्कारादिचतुर्विधस्थितिवन्धेभ्यः कियन्ति पदानि सद्भूतानी-
त्यस्य प्ररूपणमिति भाव इति ॥५५२-५५३॥

॥ प्रथमं सत्पदद्वारम् ॥

तदेवमुक्तानि सक्रमं प्रारिप्सिताधिकारगतानां द्वाराणां नामानि । साम्प्रतमुद्दिष्टक्रमेणैव तेषु
भूयस्कारादिस्थितिवन्धं चिच्छिन्तयिषुरादौ तावत् प्रथमे सत्पदद्वार ओषतः सत्पदानि दर्शयन्नाह—

सत्तण्ह भूअगारो अप्पयरो ऽवट्टियो अवत्तव्वो ।

बन्धो चउहा ऽऽउस्स उ दुविहो ऽप्पयरो अवत्तव्वो ॥५५४॥

(प्रे०) “सत्तण्ह भूअगारो” इत्यादि, तत्र “सत्तण्ह” चि आयुर्वर्जानां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-मोहनीय-नाम-गोत्रा-ऽन्तरायलक्षणानां समानां मूलप्रकृतीनामित्यर्थः । अस्य चान्वयः ‘बन्धो चःह’ इति परेण, ततस्तासां समानां प्रकारान्तरेण चिन्त्यमानो “बंधो” चि प्रकृतत्वात् स्थितिवन्धः “चउहा” चि चतुर्था, अस्तीति शेषः । चातुर्विध्यमेव दर्शयन्नाह— “भूअगारो” इत्यादि, वक्ष्यमाणस्वरूपो भूयस्कारबन्धोऽल्पतरबन्धोऽवस्थितबन्धोऽवक्तव्यबन्ध-श्चेत्यर्थः । अथ शेषस्याद्युःकर्मण आह— “उस्स उ दुविहो” इत्यादि, पूर्वमाकारस्य दर्शनादा-द्युपस्तु ‘द्विविधो’ अल्पतरोऽवक्तव्यश्च स्थितिवन्धोऽस्तीति ॥५५४॥

ननु किमेतेषां स्वरूपमिन्याशङ्कायां तेषां स्वरूपं दर्शयन्नाह—

पूर्वसमयाउ समये अणन्तरे बंधण् पट्टत्तयरं ।

बंधो म भूअगारो ऽप्पयरं बंधइ म अप्पयरो ॥५५६॥

तावइयां चिअ बंधइ सो णायव्वो अवट्टियो बंधा ।

होउं अबंधगो उण बंधइ म हवइ अवत्तव्वो ॥५५७॥

(प्रे०) “पूर्वसमयाउ” इत्यादि, पूर्वसमये स्तोकास्थितिं बध्नन् कश्चिज्जीवः पूर्वसमया-दनन्तरे समये यदा “पट्टत्तयरं” चि ‘प्रभूततराण्’ समयादिनाऽधिकां स्थितिं बध्नीयात् तदा तस्य म बन्धः प्रकृते भूयस्कारनामा “बंध” चि स्थितिवन्धो भवतीति परेणान्वयः । एवमुत्तर-त्रापि बोद्धव्यम् । अल्पतरबन्धस्वरूपमाह— “प्पयरं बंधइ” इत्यादि, अत्र लुप्ताऽकारस्य दर्शनात् “पूर्वसमयाउ समये अणन्तरे” इत्यस्यानुवर्तनाच्च पूर्वसमये प्रभूतस्थितिं बध्नन् कश्चि-ज्जीवः पूर्वसमयादनन्तरे समये यदा “ऽप्पयरं बंधइ” चि अल्पतरं समयादिना हीनां स्थितिं बध्नाति तदा तस्य मोऽल्पतरनामा स्थितिवन्धो भवतीत्यर्थः । अवस्थितबन्धस्वरूपमाह— “तावइयां चिअ बंधइ” इत्यादि, पूर्वसमये स्तोकास्थितिं प्रभूतस्थितिं वा बध्नन् यः कश्चिज्जीवः पूर्वसमयादनन्तरे समये “तावइयां चिअ” चि ‘तावतीमेव’-पूर्वसमयवद्धस्थिन्या तुल्यामेव स्थितिं बध्नातिः न पुनः समयादिना हीनामधिकां वेत्यर्थः । तस्य किमित्साह— “सो णायव्वो” इत्यादि, तस्य म बन्धोऽवस्थितनामा स्थितिवन्धो ज्ञानव्य इत्यर्थः । अवक्तव्यबन्धस्वरूप-माह— “होउं अबंधगो उण” इत्यादि, पुनः शब्दोऽनन्तरोक्तबन्धत्रयस्वरूपापेक्षयाऽवक्तव्यबन्ध-स्वरूपस्य बलक्षण्यद्योतकः, यतः पूर्वं तत्तद्भूयस्कारादिस्थितिवन्धानां निर्वर्तको जीवस्तत्तद्बन्धसमया-दनन्तरप्राक्समये प्रभूत-स्तोकतुल्यानामन्यतमस्याः स्थितिवन्धक आसीद्, अत्र चरमप्रकारे त्वमावन्य-तमस्या अपि स्थितिवन्धको न भवति, किन्तु सर्वथाऽबन्धक एव भवति । एतदेव दर्शयन्नाह— “होउं

अवन्धगो" ति कश्चिज्जीवः पूर्वसमये "अवन्धगो" ति तत्तज्ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतेः स्थिति-
बन्धमपेक्षयाऽवन्धगो भूत्वाऽनन्तरे समये "अवन्ध" ति बन्धप्रायोग्यस्थितीनामन्यतमां स्थितिं
बध्नाति "स ह्यवन्धो अवन्धो" ति य तस्यावन्धादनन्तरजायमानोऽन्यतमस्थितेर्बन्धो प्रथम-
समयेऽव्यक्तव्यनामा स्थितिवन्धो भवति ।

इदमुक्तं भवति—भूयस्कारादिस्थितिवन्धाः पूर्वसमये स्तोकादि-स्थितिवन्धसद्भावेन तदपेक्षया
उत्तरसमयव्ययमानस्थितेर्भूयस्त्वादिनया भूयस्कारादिपदवाच्या भवन्ति । अवन्धादुत्तरसमये जाय-
मानस्थितिवन्धस्तु पूर्वसमये स्थितिवन्धाभावाद्भूयस्कारादिव्याधिकः स्तोकास्तुल्यो वेत्यतो भूय-
स्कारादिपदव्ययेन वक्तुमशक्य इतिकृत्वाऽव्यक्तव्यपदेनैव व्यपदिश्यते । उक्तं च महोपाध्यायैः
श्रीमद्योगोविजयपूज्यैः कर्मप्रकृतिटीकायाम्—

‘यदा तु सर्वेषां वाऽवन्धकादिभूत्वा अन्तरेऽपि बन्धादिकमारभते तदा स बन्धादेऽत्रतुर्थो भेदोऽव्यक्तव्य-
नामा, भूयस्कारादिशब्देन वक्तुमशक्यत्वान् ।’ इति ।

भूयस्कारादीनां लक्षणानि कर्मप्रकृत्यादिष्वपीत्यमेवाभिहितानि । यदुक्तं कर्मप्रकृतौ क्रमेण
तन्लक्षणानि प्रतिपादयतिः शिवशर्मादिपुङ्गवैः—

‘एगा इद्विगे पदसो एगा इरुणगस्मि विद्वधो उ । तन्निधमेनो तद्वधो पदमे समये अवन्धो’ ॥५२॥ इति ।

इत्थं हि भूयस्कारादिलक्षणानां स्थितिवन्धविशेषाणां स्वरूपे व्यवस्थिते प्रथमगाथोक्तौघिक-
सत्पदभावनात्वेवं कार्य-क्षयकश्रेणिवहिःस्थस्य ज्ञानावरणादीनां समानामुत्कृष्टस्थितिवन्धादन्यं
स्थितिवन्धं विदधतः कस्याऽपि जीवस्य वर्तमानगुणस्थानादपकृष्टगुणस्थानकान्तरप्राप्तौ स्थितिवन्ध-
वृद्धिर्भवति । एतमेकेन्द्रियादिभ्यश्च्युत्वा द्वीन्द्रियादित्वेनोत्पत्ताऽपि नियमेन स्थितिवन्धवृद्धिर्भवति ।
एवं वैपरित्वेन वर्तमानगुणस्थानाद् विशुद्धगुणस्थानकान्तरप्राप्तौ संज्ञिभ्यश्च्युत्वाऽसंज्ञिपन्वे-
न्द्रिय-चतुरिन्द्रियाद्यन्यतमतथोत्पद्यमानस्य वा स्थितिवन्धहानिर्जायते । एवंविधकारणाभावेऽपि
प्रत्यन्तमुहूर्तं जघन्यतः समयमुत्कृष्टतः समयद्वयं वा सर्वजीवानां स्थितिवन्धस्य वृद्धिहानय-
स्तथास्वाभाव्येन प्रवर्तन्त एव । तत्र यः पूर्वसमयादुत्तरसमये जायमानः समय-द्विसमयादिना वृद्ध-
स्थितिवन्धः, स एव प्रथमसमये भूयस्कारः, इत्येवं भूयस्कारपदं सदेव । अनेनैव प्रकारेणाधिकस्थिति-
बन्धस्याऽपि जघन्यतः प्रत्यन्तमुहूर्तं नियमेन हीनस्थितिवन्धतया परावृत्तभावादल्पतरस्थितिवन्ध-
पदमपि सदेव । यदा तूपयुक्तान्यतमकारणं न विद्यते, तदा तु यावान् स्थितिवन्धः पूर्वसमये आसीत्तावा-
नेत्रोत्तरसमये प्रवर्तते इति त्ववस्थितः, इत्येवमवस्थितस्थितिवन्धसत्ताऽपि प्रामिद्धा । अव्यक्तव्यस्थिति-
बन्धस्तूपशमश्रेणौ व्युपरतस्थितिवन्धस्य जीवस्योपशान्ताद्वाक्षयान्प्रतिपाते, कालकरणेन देवगतावु-
त्पत्त्या वा पुनरपि स्थितिवन्धप्रारम्भसद्भावात् प्रारम्भप्रथमसमयजातस्थितिवन्धापेक्षया प्राप्यत एव;
एतच्चानन्तरं स्वामित्वद्वारे ग्रन्थकारः स्वयमेव व्यक्तीकरिष्यति । आयुषोऽल्पतरा-ऽव्यक्तव्यरूपद्वि-
विधस्थितिवन्धस्य सत्त्वं तु सुसिद्धम्, कादाचित्कत्वादायुर्बन्धस्य । तथा— यदायुर्बन्धः प्रारभ्यते,

तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यस्थितिवन्धः । कुतः ? तत्पूर्वसमये सर्वथैवावन्धान् । द्वितीयादिसमयेषु पुनरायुष्कस्थितिवन्धान्तर्गताया अवाधायाः प्रतिममयं हानेः प्रवर्तनादायुर्वन्धविच्छेदं यावन्प्रति- समयमल्पतरस्थितिवन्धा एव प्राप्यन्ते । अत एवायुषो भूयस्काराऽवस्थितस्थितिवन्धा सन्तौ नाभिहितान्वित्यपि विज्ञेयमिति ॥५५५-५५६॥

तदेवमभिहितान्याघतोऽष्टकर्मणां स्थितिवन्धभूयस्कारादिसन्पदानि । अथादेशतो मार्गणा- स्थानेषु भूयस्कारादिसन्पदानि चिचिन्तयिषुर्गदा तावदायुर्वर्जसप्तकर्माण्यधिकृत्य प्राह—

णरतिग-दुपणिंदियत्तम-पणमणवयणेषु काय-उरलेसु ।

गयवेण् णाणचउग-संयम-तिदरिमण-मुइलासु ॥५५७॥

भविण् मम्पे खइण् उवसम-मण्णीषु य तह आहारे ।

भूगाराई होअइ मत्तण्हं चउविहो बंयो ॥५५८॥

(ब्र०) “णरतिगदुपणिंदिये”त्यादि, अत्र “णरतिगे”त्यादिनाऽपर्याप्तभेदवर्जाः शेष- भेदा गृह्यन्ते; ततोऽपर्याप्तभेदवर्जेषु त्रिषु मनुष्यगतिमार्गणाभेदेषु; तथेवाऽपर्याप्तभेदवर्जयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियजातिभेदयोः, द्विशब्दस्य त्रसेन्यत्रापि योजनाऽपर्याप्तभेदवर्जयोर्द्वयोश्चक्रकावभेदयोः, पञ्च- मनोयोगभेदाः पञ्चवचोयोगभेदास्तेषु, तथा काययोगसामान्या-दारिककाययोगमार्गणयोः, “गय- वेण्” ति अपगतवेदमार्गणायाम्, तथैव मत्थादिज्ञानवतुष्के, संयमाव-चक्षुरादित्रिदशेन-शुक्ल- लेश्यामार्गणाम्, भव्यमार्गणायां मभ्यक्त्वाघमार्गणायां, श्वायिकमस्यक्त्वमार्गणावामोपशमिकमस्य- क्त्व-संज्ञिमार्गणयोः “आहारे” ति आहारिमार्गणायां चेत्यर्थः । एतासु प्रत्येकमायुर्वर्जानां सप्त- प्रकृतीनां भूयस्कारादिश्चतुर्विधो बन्धो भवति । चतुर्विधबन्धः सन्नित्यर्थः, सत्पदप्ररूपणायाः प्रस्तु- तत्वाद्, भूवातोः सत्तार्थकत्वाच्चेत्यक्षरार्थः ।

भावार्थः पुनरयम्—क्षपकश्चेणिवहिःस्थानां नरकगतयोधाद्यनाहारकमार्गणापर्यन्ततत्त्व- मार्गणागतजीवानां कपायोदयजन्या विशुद्धिः संक्लेशो बोत्कृष्टतः प्रत्यन्तमुहूर्तं तथाभ्याभा- व्येन नियमतोऽन्यान्यस्थितिवन्धप्रायोग्यसंक्लेशतया विशुद्धितया वा विपरिवर्तते । तथा च मति- तैर्जीवैः प्रारब्धाः स्थितिवन्धा अप्युत्कृष्टतोऽन्तमुहूर्तमवस्थाय संक्लेशविशुद्धचतुसारेण विपरि- वर्तन्त इत्यनन्तरमुक्तमेव । ततः किम् ? ततः प्रतिमार्गेण सप्तकर्मणां तावन्मात्रस्थितिवन्धप्रवर्तन- रूपोऽवस्थितस्थितिवन्धः, समयद्विसमयादेरुर्ध्वमधिकस्थितिवन्धे प्राग्ध्ये भूयस्कारस्थितिवन्धः, हीनस्थितिवन्धे प्राग्ध्ये न्यल्पतरस्थितिवन्धश्चेत्येवं विविधबन्धसु सुतरां लभ्यते । अवक्तव्यस्थिति- बन्धः पुनर्याम् मार्गणाम् ज्ञानावरणादिकर्मण्यन्कस्थितेरबन्धः प्राप्यते तासु मार्गणस्वेव सम्भवति । आयुर्वर्जानां सप्तमूलकर्मणां स्थितेरबन्धस्तु समग्रायामपि भवभ्रान्तौ न कुत्रचिदवाप्यते, विहायोपश- मश्रेणि । तत्रापि मोहनीयस्थितेरबन्धोऽनिवृत्तिवाद्दरगुणस्थानाद्दुर्ध्वं तथाऽऽयुर्माहनीयवर्जानां षण्णां

स्थितेरवन्धस्तु सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानाद्भ्रूमुपरितनगुणस्थानेष्वेवाशप्यते, तथा च सति यासु अनिवृत्तिरादरगुणस्थाः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाश्च जीवा लभ्यन्ते ताम् मोहनीयमत्कः, यासु च मार्गणासु सूक्ष्मसम्परायगुणस्था उपशान्तमोहगुणस्थाश्च जीवाः प्राप्यन्ते ताम् पदकर्ममत्कोऽवक्तव्य-स्थितिवन्धोऽपि सम्पद्यते, अवन्धोत्तरवन्धरूपत्वात्तस्य । लभ्यन्ते च प्रकृतपञ्चत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं तादृशा जीवाः, तेषां चोपशमश्रेणितः प्रतिपद्य पुनरपि स्थितिवन्धप्रारम्भेऽवक्तव्यवन्धभावात् पञ्चत्रिंशन्मार्गणासु समकर्मणां चतुर्थोऽवक्तव्यवन्धोऽपि मन्त्रभिहित इति ।

ननुपशमश्रेणावुपशान्तमोहगुणस्थाने पञ्चत्वं प्राप्य ये केचन जीवा देवगतावृत्पद्य तत्राभि-
नवमवन्धोत्तरस्थितिवन्धं प्रारम्भन्ते, तादृशजीवानपेक्ष्य देवगन्त्योघादिमार्गणास्वपि सप्तानां मूलप्रकृतीना-
मवक्तव्यलक्षणः स्थितिवन्धः सत्पदविपर्ययीकर्तव्यो भवति, तन्कथमेता देवगन्त्योवादिमार्गणा न संगृ-
हीताः ? इति चेद्, उच्यते, सत्यमेतद्, यद् उपशान्ताद्वायामाद्युःक्षयाह्वनयोपद्यमानानां जीवा-
नामवन्धोत्तरवन्धप्रारम्भः, न पुनस्तदपेक्षया देवगतिमार्गणायां सप्तानामवक्तव्यास्थितिवन्ध इत्यपि,
यतो देवगतिमार्गणायां द्वि ये देवगतिनामकर्मादियाद् देवपर्यायापन्ना जीवास्त एव प्रविष्टाः, नान्ये
उपशान्तमोहगुणस्था भवचरममयवर्तिनो मनुष्यपर्यायापन्ना अपि, इत्थं च न विद्यते तादृशो देव-
पर्यायापन्नो जीवः यस्य देवपर्यायापन्नस्य सप्तानामवन्धोऽनन्तरोत्तरसमये स्वभिनववन्धप्रारम्भश्च,
अर्थात् पूर्वमवन्धकन्वे सत्यव्यवहितोत्तरमभिनवस्थितिवन्धप्रारम्भकत्वं यथा मनुष्य-पञ्चेन्द्रियादि-
पर्यायापन्नजीवस्य सम्पद्यते, तथा देवपर्यायापन्नस्य कस्यापि जीवस्य नोपपद्यते, तदभावे च कुतो देव-
गन्त्योघादिमार्गणास्ववक्तव्यस्थितिवन्धसम्भवः, न कुतश्चित् । इत्येवं विवक्षितपर्यायस्य जीवस्यैवाऽ-
वन्धकन्वादिन्वेऽवक्तव्यवन्धस्य स्वीकृतत्वेन देवगन्त्योघादिमार्गणासत्कजीवानां समकर्ममत्कावक्तव्य-
स्थितिवन्धस्याऽसम्भवाद् देवगन्त्योवादिमार्गणा न मङ्गृहीता इत्यलं प्रमङ्गेन ॥५५७-५५८॥

तदेवं यासु मार्गणासु समकर्मणां भूयस्कारादिश्रुतुविंशोऽपि स्थितिवन्धः सम्भवति, तासु
तन्मन्त्रं प्रतिपादितम् । साम्प्रतमृक्तशेषमार्गणासु सप्तानां सर्वमार्गणास्वायुश्चतद्दिदर्शयिषुराह—

सेसासु भूअगारो अप्पयरोऽवट्टिओ तिहा बंधो ।

मोहस्स अवत्तव्वो लोहे सव्वह दुहाउस्स ॥५५९॥

(प्रे०) 'सेसासु' इत्यादि, अभिहितशेषासु निरयगन्त्योघादिपञ्चत्रिंशदुत्तरशतमार्गणासु
प्रत्येकं भूयस्कारः, अल्पतरः, अवस्थितश्चेत्येवं 'त्रिधा'-त्रिप्रकारः स्थितिवन्धः सन् वर्तते, त्रिणि
पदान्येव सन्ति, न पुनरवक्तव्यस्थितिवन्धपदमपि । किं सर्वासु शेषमार्गणासु सप्तानामवक्तव्य-
स्थितिवन्धलक्षणं चतुर्थपदमसदुतास्ति कासुचित्कम्यचित्सदपीत्याह—“मोहस्स अवत्तव्वो
लोहे” त्ति शेषमार्गणान्तःप्रविष्टायां लोभकपायमार्गणाभ्यां मोहनीयकर्मणोऽवक्तव्यस्थितिवन्धश्च
सन्निभ्येवं लोभमार्गणायां मोहनीयस्य चत्वार्यपि पदानि सन्ति, मोहनीयाऽऽयुर्वर्जानां षण्णां
शेषकर्मणां तु शेषनिरयगन्त्योघादिमार्गणावत् त्रीण्येवेति भावः ।

तत्र शेषमार्गणास्त्रिभेदाः-अष्टौ नरकगतिभेदाः, पञ्चापि तिर्यग्गतिभेदाः, अपर्याप्तमनुष्य-
मार्गणभेदः सर्वेऽपि देवगतिमार्गणभेदाः, सर्वे एकेन्द्रियजातिभेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्त-
पञ्चेन्द्रियभेदाः, तथा पृथिवीकाया-ऽष्काय-तेजस्काय-वायुकाय-प्रत्येकवनस्पतिकाय-साधारणवनस्पति-
कायसत्काः सर्वे भेदाः, अपर्याप्तत्रयकायभेदाः, औदारिकमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रिय-
मिश्र-कार्मण ह्यययोगभेदाः, स्त्री-पुं-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकषाय-मन्त्रज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-
सामायिक-छेदोपस्थापन-गर्हितारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयम-देशसंयमा-ऽसंयम-कृष्ण-नीच-कापोत्त-
तेजः-पद्मलेश्या-ऽभ्रव्य-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सापादन-मिथ्यात्वा-ऽसंश्य-ऽनाहारि-
मार्गणभेदाश्चेति ।

एतामु प्रत्येकं भयस्कारादिवन्धवलावस्तु पूर्ववन्त्युगमः । श्रवक्तव्यवन्धाभावस्तु सूक्ष्म-
सम्परायसंयम-लोभमार्गणावर्जामु शेषमार्गणामु केराश्चिदपि जीवानां सप्तकर्मणां स्थितिवन्धाभावस्या-
लाभान्प्रागुक्तनीत्या भावनीयः । सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणां तु मोहनीयकर्मस्थितिवन्धस्य
लाभेऽप्यवन्धादूर्ध्वं स्थितिवन्धप्रारम्भस्याऽऽभावाद् विशेषणाभावप्रयुक्ताप्राप्तलक्षणाप्राप्तेरवक्तव्य-
वन्धो न प्राप्यते । किमुक्तं भवति ? यथोक्तं विशिष्टवन्धकाधीनावक्तव्यस्थितिवन्धलक्षणमंशद्वया-
पक्षम्, एको विशेष्यांशोऽन्वो विशेष्यांशः । पूर्वमवन्धे सति वन्धप्रारम्भोऽवक्तव्यवन्धस्तत्र पूर्व-
मवन्धे सतीत्येतावान् विशेष्यांशः, वन्धप्रारम्भ इत्येतावान् विशेष्यांशः । मार्गणास्थानेषु प्रकृतवन्ध-
चिन्तायामेतल्लक्षणं विवक्षितनारकत्वादिपर्यायापन्नतत्तन्मार्गणास्थजीवमपेक्ष्य चिन्तनीयम्, तच्च
प्रागुक्तमनुष्यादिकामार्गणाश्वेवोपपद्यते, न पुनः शेषामु नरकगत्योधादिमार्गणामु । कथम् ? कामु-
चित्ररकगत्योधादिमार्गणामु विशेषणविशेष्योभयाभावात्, कामुचिदेवगत्योधादिमार्गणामु विशेष-
णाभावात्, सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां मोहनीयकर्मस्थितिवन्धविषये तु विशेष्यांशविरहाच्च ।

तथाहि-नरकगत्योधादिषु नास्ति कस्यापि नारकत्वादिपर्यायापन्नस्य जीवस्य ज्ञानावरणा-
दीनां सप्तातां स्थितिवन्धः, एवमुपशमश्रेणावन्धकावस्थायां कालं कृत्वा नारक-तिर्यगादितयोन्पा-
दाभावेन देवगत्योधादिमार्गणावत्सप्तानामभिनववन्धप्रारम्भोऽपि नास्ति । देवगत्योधादिकतिपवमार्ग-
णामु तादृशवन्धप्रारम्भसम्भवंऽपि देवत्वादिपर्यायविशेषे प्रवर्तमान एव नास्ति कस्यापि देवजीवस्य सप्त-
कर्मणां स्थितिवन्धः, एवं सति विशेषणाभावप्रयुक्तप्रकृतलक्षणाप्राप्तेरवक्तव्यवन्धमत्त्वं न प्रतिपादितम् ।
इत्यमेव सामायिक-छेदोपस्थापनसंयममार्गणयोर्मोहनीयकर्मस्थितिवन्धविषये तथा सूक्ष्मसम्पराय-
संयम-लोभकषाद्यमार्गणयोर्मोहनीयवर्जपट्टकर्मस्थितिवन्धविषये बोद्धव्यम् । कथम् ? उपशमश्रेणितः
प्रतिपतज्जीवापेक्षयाऽपि मोहनीयादिकर्मणां स्थितिवन्धस्य सामायिकादिमार्गणतो बहिर्भावात् ।
सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां मोहनीयकर्मस्थितिवन्धविषये तु विशेष्यांशस्य स्थितिवन्धलक्षणस्य
सद्भावेऽपि सूक्ष्मसम्परायमार्गणायामेव मोहनीयस्थितिवन्धप्रारम्भलक्षणस्य विशेष्यांशस्याऽसद्भावा-
द्विशेष्याभावप्रयुक्ता प्रकृतावक्तव्यवन्धलक्षणाप्राप्तिः, अतस्तत्र मोहनीयस्थितिवन्धवन्धो नोक्तः ।

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिवन्धमन्पदप्रदर्शकं यन्त्रम्

- भूयस्क रूढयः स्वरूपतः**
- (१) पूर्वसमयादुत्तरसमये समयाद्यधिकस्थितिवन्धे भूयस्कारस्थितिवन्धः ।
 - (२) पूर्वसमयादुत्तरसमये समयादिहीनस्थितिवन्धेऽल्पतरस्थितिवन्धः ।
 - (३) पूर्वसमयादुत्तरसमये तावन्मात्रस्थितिवन्धेऽत्रस्थितस्थितिवन्धः ।
 - (४) स्थितिवन्धाभावात्स्थितिवन्धेऽवक्तव्यस्थितिवन्धः । (गाथा-५५५-५५६)

आयुवजंमप्रकृतीनाम्			आयुषः
स त्प दा नि	श्लोघवद् भूयस्कारा-ऽल्पतरा- ऽवस्थिताऽवक्तव्यलक्ष- णानि चत्वारि सत्पदानि	भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितलक्षणानि त्रीणि पदानि सङ्गृह्यानि, अवक्तव्यवद् त्वसन् ।	श्लोघवद् अल्पतरा-ऽवक्तव्य- लक्षणे द्वे सत्पदे,
गति०	मनुष्योप० तत्पर्याप्त० मानुषी, ३	सर्वेन्द्रिया० सर्वेन्द्रिय० सर्वेन्द्रिय० ४०	सर्व० ४०
इन्द्रिय०	पञ्चेन्द्रियोप० तत्पर्याप्त० २	सर्वेन्द्रिय० सर्वेन्द्रिय० अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय० १७	सर्व० १६
काय०	अप० पर्याप्त० २	पृथिव्यप० जलवायुवनस्पतिकामशक्तासर्वभेदाः, अपर्याप्तनसकाय- भेदश्च, ४०	सर्व० ४०
शरीर०	तत्रे मदीय० औदारिक० काययोगीय० १२	औदारिकमिश्र० वैक्रियन्तन्मिश्र० आहारकन्तन्मिश्र० कार्मण्यकायभोगश्च, ६	सर्व० १६
वेद०	अपगतवेद० १	स्त्री, पुरुष० नपुंसक० ३	सर्व० ३
रसा०	लोभ० ★ १	क्रोध० मान० माया० ३	सर्व० ४
ज्ञान०	मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्य० ४	मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान० ३	सर्व० ७
संयम०	नन्दमौष० १	सामाधिक-छेद-परिहारविद्याद्वय-सूक्ष्म-पर्याप्त-संयम-देश- मंयमा-ऽसंगमाः— ६	सर्व० ६
दर्शन०	चक्षु० मनश्चक्षु० श्रवण० ३		सर्व० ३
विदपा०	शुक्र० १	कृष्ण० नील० कापीत० तेजः० पद्म० ५	सर्व० ६
भक्त्य०	भव्य० १	अभव्य० १	सर्व० २
मिश्र०	सम्यक्श्रीय० क्षायिक० श्रीयशमिक० २	शायोपशामिक० मिश्र० सामाशन० मिथ्यात्व० ४	सर्व० ५
सजी०	सजी १	असजी, १	सर्व० २
आहारी०	आहारी, १	अनाहारी, १	सर्व० १
सर्वमार्गणाः—	३६	१३४	१६३
गाथाः—	५५७-५५८	५५६	५५६

★ लोभमार्गणायां मोहनीयरसैवा-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धः सन्, अतो मोहनीयरसैव चत्वारि पदानि सन्ति, क्षेप-
जानावरणादीनां त्वचक्तव्यवर्जाणि त्रीण्येव सत्पदानि (गाथा-५५६) ।

लोभमार्गणायां तु मोहनीयकर्मणोऽवन्धादुत्तरं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानके कालं कृत्वा देवगतावृन्ध मोहनीयस्थितिवन्धप्रारम्भं यावत् तन्स्वामी लोभमार्गणायामेव वर्तते, तथा सति लोभपर्यायापन्नस्यैव जीवस्य पूर्वोत्तरसमययोर्मोहनीयकर्मस्थितेरवन्ध-वन्धयोर्लाभाद्, यद्वा क्रमेण प्रपततोऽनिवृत्तिवादात्-सम्परायगुणस्थाने पूर्वप्रवृत्तलोभमार्गणायामवन्धोत्तरं मोहनीयवन्धप्रारम्भादवक्तव्यस्थितिवन्धलक्षण-सङ्गतेर्मोहनीयकर्मणोऽवन्धव्यस्थितिवन्धः प्राप्यतेऽतस्तत्रासौ विशेषेण सन्नभिहित इति दिक् । अनया दिशा प्रतिमार्गणं भावना तु स्वयमेव कर्तव्येति । तदेवं शेषमार्गणास्वपि सप्तप्रकृतीनां भूय-स्कारादिस्थितिवन्धसत्पदानि दर्शितानि ।

अथावशेषस्याधुपस्तानि गाथाशेषेणाह—“सव्वह दुहाउस्स” ति ‘सर्वत्र’-त्रिविष्टयभ्यधिक-शतसंख्याकास्वायुर्वन्धप्रायोग्यासु सर्वमार्गणासु “दुहाउस्स” ति ओधवदायुषोऽल्पतरावक्तव्यभेदाद् ‘द्विधा’-द्विविधोऽपि स्थितिवन्धः सन् भवतीत्यर्थः । सुगमं चैतद्, आयुर्वन्धस्य कादाचित्कतया सर्वमार्गणासु तद्वन्धप्रारम्भेऽवक्तव्यस्थितिवन्धस्य प्रारम्भद्वितीयादिममेषु त्वल्पतरस्थितिवन्धस्य च प्रभवनात् । न च ‘अप्यमत्तो आउं बंधि उ’ णाढप्यद्, पमत्तेणाडत्तं अप्यम्म तो यं रद्’ इति शतकचूर्णि-वचनादप्रमत्तसंयतानामायुर्वन्धप्रारम्भस्याभावेनाऽवक्तव्यस्थितिवन्धासम्भवाच्चिापवादं सर्वासु मार्ग-णास्वायुषो द्विविधोऽपि वन्धः सन्नित्यभिधानं कथं संगच्छेदिति वाच्यम् । यतो देशसंयतादि-वन्धाश्च काचिदप्रमत्तसंयतमार्गणा पृथगधिकृता येनोक्ताऽसङ्गतिः स्यात्, संयमोऽथमार्गणायां त्वप्रमत्त-जीवापेक्षया केवलस्यायुषोऽल्पतरस्थितिवन्धस्यैव सद्भावेऽपि प्रमत्तसंयतापेक्षया यथोक्तद्विविधो-ऽप्यसौ प्राप्यते, प्रमत्तसंयतेन आयुर्वन्धप्रारम्भस्यापि करणादिति ॥१५९॥

तदेवमभिहितान्यष्टानां प्रकृतीनां भूयस्कारादीनि सत्पदान्यादेशतोऽपि तस्मिन्नाभिहिते गतमाद्यं सत्पदद्वारम् ॥

॥ इति श्रीवन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे प्रथमं सत्पदद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

अथ “यथाद्देशं निर्देश” इति न्यायेन कमप्राप्ते स्वामित्वद्वार आदौ तावदोघतोऽष्टमूल-
प्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिवन्धस्वामिनः प्ररूपयन्नाह—

भूओगाराईणं सत्तण्हं बंधगो उ अण्णयमो ।

तिण्ह पयाणं दोण्ह वि आउस्स पयाण णायव्यो ॥५६०॥

उवमामगो पडंतो सेढीए बंधगो णरो अहवा ।

पढमखणसुरो णयोऽवत्तव्वस्म खलु सत्तण्हं ॥५६१॥

(प्रे०) “भूओगाराईणं” इत्यादि, तत्र “भूओगाराईणं” मित्यस्य “तिण्ह पयाण”
मिति परेणान्वयः, तत्र “सत्तण्हं” ति आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतानां भूयस्कारादीनां भूय-
स्कारा-ऽन्वतरा-ऽवस्थितिलक्षणानां त्रयाणां ‘पदानां’-स्थितिवन्धविशेषाणां “बंधगो उ अण्णयमो”
ति ‘बन्धकः’-स्वामी त्वन्यतमः, नारक-तिर्यग्-मनुष्य-देवानामिति शेषः । यथासम्भवमिति गम्यम् ।
कथम्? श्रेण्यागेहा-ऽवरोह-मिथ्यात्वाभिमुखाद्यवस्थाविशेषेषु क्षपकोपशमकादिजीवानां भूयस्कारा-ऽ-
न्वतरस्थितिवन्धामात्रेण तेषां वर्जनार्थमिति । कुतोऽन्यतमः ? एकस्थितिवन्धस्थानप्रायोग्याध्यवसा-
यानामन्तर्मुहूर्तादधिकमनवस्थानेनोत्कृष्टतोऽपि प्रत्यन्तर्मुहूर्तं स्थितिवन्धवृद्धिहान्योः सर्वजीवानां
भावान् । अथायुःकर्मण आह—“दोण्ह वि” इत्यादि, ‘बंधगो उ अण्णयमो’ इत्यत्रापि संबध्यते,
अत्र आयुषोऽन्वतरा-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धरूपयोर्द्वयोरपि पदयोर्वन्धकः-स्वाम्यन्यतमगतिको जीवो
जातव्य इति । युगमं चैतन् सत्पदविवरणाद्गतार्थं चेति । अथ सप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धस्य स्वामिनो
दर्शयन्नाह—“उवमामगो” इत्यादि, सप्तानां प्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिवन्धस्य ‘बन्धकः’-स्वामी
“सेढीए” ति उपशमश्रेणितः पतन्नुपशमको ‘नरः’-मनुष्योऽथवा “पढमखणसुरो” ति उप-
शमश्रेणावबन्धकावस्थायां सृत्वा यो देवगता देवतयोत्पन्नः स प्रत्यग्रोत्पन्नः ‘प्रथमखणसुरः’-
देवायुःप्रथमममयवेदको देवः । अत्राऽथवा शब्दो समुच्चये, न पुनर्भतान्तरेः एवं खलुशब्दोऽ-
वधारणार्थो जानावेकवचनं च । ततोऽयमर्थः—श्रीघत उपशान्ताद्वाक्षयात्पतन्त उपशमकाः, उप-
शान्ताद्वायां कालकरणेन देवतयोत्पन्ना देवाश्च सप्तकर्मणाम्, तथा भूदमसम्परायगुणस्थाने भव-
क्षयेण देवतयोत्पन्ना मोहनीयकर्मणोऽवक्तव्यस्थितिवन्धस्वामिनः, नान्ये इति । एतदपि सत्पद-
चिन्तायां भावितप्रायम्, न पुनर्भाव्यत इति ॥५६०-५६१॥

तदेवं दर्शिता ओघतोऽष्टानामपि मूलकर्मणां भूयस्कारादिस्थितिवन्धस्वामिनः । अथा-
ऽऽदेशतो व्याचिकीर्षुर्लाघवार्थमतिदेशपूर्वकमाह—

एवं सव्वासु णवरि पढमस्वणसुरोत्ति णेव वत्तव्वं ।

णरतिग-पणमणवयुरल-अवेअ-मणणाण-संयमेसुं च ॥५६२॥

(प्रे०) “एवं सव्वासु” इत्यादि, तत्रैवंशब्दस्य सादृश्यार्थकत्वेनानन्तरं प्रथमे सत्पदद्वार औघतः सत्तया प्रतिपादितानां सप्तकर्मणां भूस्कारादिचतुर्विधस्थितिवन्धानामायुषोऽल्पतराऽवक्तव्य-द्विविधस्थितिवन्धयोश्च स्वामिनो यथावचिन्तायां दर्शितास्तथा “सव्वासु” इति निर्यगन्धो-धादिषु सर्वासु मार्गणासु, वक्तव्या इति शेषः । यासु मार्गणासु येषां कर्मणां भूयस्कारादयो यावन्तः स्थितिवन्धाः सन्तः प्रतिपादितास्तासु मार्गणासु तेषां कर्मणां तत्तद्भूयस्कारादिसत्पदानां स्वामिन औघवद्वक्तव्या इतिभावः । इत्येवं सामान्यतोऽतिदिष्टे या काचिदतिप्रमक्तिस्तां निराचिकीर्षुराह- “णवरि” इत्यादि, अक्षरार्थस्तु मुगमः । भावार्थः पुनरयम्-अनन्तरोक्तात् ‘एवं सव्वासु’ इत्यो-त्सर्गिकवचनात् मनुष्यमन्योधादिपञ्चदशमार्गणासु ज्ञानावरणादीनामवक्तव्यवन्धमद्भावेन श्रेणितः पतन्त उपशमकाः प्रथमसमयदेवाऽचेति वक्तव्यं भवति, नवरं मनुष्यगन्धोष-पर्याप्तमनुष्य-योनि-मन्मनुष्य-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोगा-दारिककाययोगा-ऽपगतवेद-मनःपर्ययज्ञान-संयमौघमार्गणानां पञ्चेन्द्रियादिमार्गणावद् देवगतिमनुष्यगतिद्वयव्यापित्वाभावात्तासु भवप्रथमसमयदेवा अवक्तव्य-वन्धस्वामितया नैव वक्तव्याः । कुतः ? देवगतिमनुष्यगतिद्वयव्यापिनीषु पञ्चेन्द्रियादिमार्गणा-स्वेव मार्गणानुरूपपञ्चेन्द्रियत्वादिविचक्षितैरुपर्याधापन्नानां जीवानां तत्तत्कर्मणामवक्तव्यवन्धप्रयो-जकयोः स्थितेरवन्ध-वन्धयोर्लाभेन तास्वैव तेषामवक्तव्यस्थितिवन्धस्वामित्वादिति । तदेवमपोदिते मनुष्यगत्यादिसप्तदशमार्गणास्वायुर्वजानां सप्तकर्मणामवक्तव्यस्थितिवन्धस्वामिनः श्रेणितः पतन्त उप-

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिवन्धस्वामिन्वप्रदर्शकं यन्त्रम्

औघतः- आयुर्वजसप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धस्वा-
मिनः-

आयुर्वजसप्तानां शेषत्रिविधस्थितिवन्ध-
स्वामिनः

प्रायुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यद्विविधस्थिति-
वन्धस्वामिनः-

श्रेणितः पतन्त उपशमकाः स्थितिवन्धप्रथमसमय-
वन्धकारिभ्युत्ता देवतयोत्पत्ता भवप्रथमसमय-
वर्तमाना जीवाश्च,

यथागम्यं भूयस्कारा-ऽपगतवेदकणाणां क्षमका-
पशमक-सप्तक-वाभिमुपरदिजीवान् विज्ञाय संसार-
स्था अन्वतमजीवाः,

आयुर्वन्धकाः संसारस्था अन्वतमजीवाः,

श्रावेशतः- सर्वासु मार्गणासु ज्ञानावरणादिसप्तमूलप्रकृतीनां सर्वेषां भूयस्कारादिस्थितिवन्धसत्पदानां स्वामिनः-
औघवत्, केवलम्-

मनुष्योप-तलायास-मानुषी-सर्वमनोवचोयोगभेदो-दारिककाययोगा-ऽपगतवेद-मनःपर्ययज्ञान-संयमौघ-
लक्षणासु सप्तदशमार्गणास्वायुर्वजसप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धस्वामिनः श्रेणितः पतन्त उपशमका
एव, न पुनर्देवा इति ।

शमका एव, पञ्चेन्द्रियोद्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसौद्य-पर्याप्तमकाय-काययोगसामान्य-मन्यादिविज्ञान-
-चक्षुर्गादिविदर्शन-शुक्ललेस्या-भव्य--सम्यक्त्वौद्य-क्षायिकौ--पशमिकमम्यक्त्व--संज्ञया-ऽऽहारिरूपाश्व-
ष्टादशमार्गणासु तु भवप्रथमसमयवर्तिनो देवा अपि । इत्थमेव लोभमार्गणायामपि, नवरं मोहनीय-
कर्मणोऽवक्तव्यस्थितिवन्धस्वामिनः, न पुनः शेषकर्मणामपि, लोभमार्गणायां शेषकर्मणामवक्त-
व्यस्थितिवन्धस्यैवामच्चात् । मसकर्मणां भूयस्कारादिशेषत्रिविधस्थितिवन्धस्वामिनस्तु तत्तन्मार्ग-
णागता अन्यतमजीवा भवन्ति । अत्र व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तंरल्पतरस्थितिवन्धस्वामितया प्रति-
पत्तन्त उपशमका वर्जनीयाः, एवं भूयस्कारस्थितिवन्धस्वामितया श्रेणिं समारोहन्तः क्षपका उप-
शमकाश्च वर्जनीयाः । आयुषोऽल्पतराऽवक्तव्यस्थितिवन्धस्वामिनस्तु त्रिपष्टयस्यधिक्युतमार्गणास्वोद्य-
वदन्यतमा जीवा ये केचनायुःप्रकृतिवन्धस्वामिनो भवन्ति ते सर्वथिति विज्ञेयमिति ॥५६१-५६२॥

तदेवमिहिता आदेशतोऽपि मूलाष्टकर्मणां भूयस्कारादिलक्षणस्थितिवन्धस्वामिनः, तस्मिँ-
श्चाभिहिते गतं द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

॥ इति श्रीवन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे तृतीयं भूयस्काराधिकारे द्वितीयं स्वामित्वद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथ तृतीयं कालद्वारम् ॥

साम्प्रतं “काल” इत्यनेनोद्दिष्ट एकजीवाश्रिते कालद्वारे मूलकर्मणां भूयस्कारादिलिखिति-
वन्धानामेकजीवाश्रयं कालं विभणियुरल्पवक्तव्यत्वादादौ तावदायुषो भूयस्कारादिस्थितिवन्धस्य
जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं कालमोघत आदेशतश्चाह—

आउस्स जहणियरो अप्पयरस्स हवए मुहुत्तंतो ।

कालोऽवत्तव्वस्स उ समयो एमेव सव्वासुं ॥५६३॥

णवरि जहणो समयो अप्पयरस्सऽत्थि पणमणवयेसुं ।

कायुरल-विउव्वेसुं आहारदुगे कमायेसुं ॥५६४॥

(प्रे०) “आउस्स जहणियरो” इत्यादि, आयुःकर्मणः “अप्पयरस्स” ति अल्पतर-
स्थितिवन्धस्य जघन्यः ‘इनरः’-उत्कृष्टश्च कालो “हवए मुहुत्तंतो” ति अन्तर्मुहूर्तं भवति, एक-
जीवाश्रयां जघन्योत्कृष्टकाशौ प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तं भवत इत्यर्थः । “ऽवत्तव्वस्स उ” ति अनन्तरो-
क्तस्य ‘काशे’ इति शब्दस्य-तत आरभ्य कालद्वारप्रान्तं यावदनुवर्तनादवक्तव्यस्थितिवन्धस्य कालस्तु
“समयो” ति अजघन्यानुत्कृष्ट एकः समय एव भवति, तुशब्दस्यात्रावधारणार्थत्वात् ।

अयम्भावः—आयुर्वन्धः कदाचिन्कस्तथा प्राग्बन्धः सन्नन्तमुहूर्तं प्रवृत्त्यैव विरमति ।
उक्तश्चायस्यकषूर्णावुषोद्घातनियुक्तौ—'सर्वजीवाण आउबंधो अणाभोगभिनिव्यक्तिसो, तेण
सो भोगोसुदुत्तिसो' इति । इत्थं च तन्प्राग्बन्धेऽवक्तव्यस्थितिवन्धो लभ्यते, द्वितीयसमयात् समय-
समयहीयमानावाधपेक्षयाऽन्तमुहूर्तं यावत्प्रतिसमयं हीन-हीनतरादिस्थितिवन्धलाभान्तरन्तरमल्प-
तरबन्धाः प्राप्यन्ते, अतोऽल्पतरस्थितिवन्धस्य जघन्य उत्कृष्टो वा कालोऽन्तमुहूर्तप्रमाणस्तथाऽ-
वक्तव्यस्थितिवन्धस्य स्वजघन्यानुत्कृष्टः समयप्रमाण एव कालो लभ्यत इति ।

ननु सर्वेणामपि जीवानां समयमात्रप्रवर्तनाद् यथाऽऽयुषोऽवक्तव्यस्थितिवन्धस्य काठः
सर्वार्थमिदृशदेवानां भवस्थितिद्वजघन्यानुत्कृष्टकालतया दर्शितस्तथैवाऽऽयुषोऽल्पतरस्थितिवन्धोऽपि
सर्वजीवानामन्तमुहूर्तमेव प्रवर्तते, तन्कयमनावप्यजघन्यानुत्कृष्टान्तमुहूर्तं नाभिधीयते ? इति चेद्,
अन्तमुहूर्तमात्रमाऽपि तस्य जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नत्वात्, यत आयुर्वन्धाद्वाऽन्तमुहूर्तमात्राऽपि
कदाचिद्भवा भवति, कदाचित्तु दीर्घा, अत एव आप्रज्ञापनागमायुषो जघन्यस्थितिवन्ध-
स्वामित्वं प्रदर्शनावसरे श्रीमताऽऽयस्यामपादेनाऽऽयुर्वन्धाद्वायाः सर्वमहत्त्वविशेषणमुपात्तम् ।
तथा चोक्तम्—'सर्वमहतीय आउबंधद्वेष' इति । इत्येवमायुर्वन्धाद्वायाः सर्वत्राऽन्तमुहूर्तमात्रत्व-
ऽपि कुत्रचिद्भवत्वात्, कुत्रचित्तु दीर्घेन्वादायुषोऽल्पतरस्थितिवन्धकालोऽन्तमुहूर्तमात्रोऽपि कुत्र-
चित्तुस्तोकः, कुत्रचित्तु अधिको भवति, इत्यतोऽयावक्तव्यस्थितिवन्धकालवदजघन्यानुत्कृष्टो वक्तुमनु-
चितः, ततश्च जघन्योत्कृष्टभेदेनैव प्रतिपादित इति ।

अथ मार्गणास्थानेषु प्रस्तुतस्यायुषो भूयस्कारादेः कालं दिदर्शयितुं शक्यं सापवादमति-
दिशति—“एमेव सव्वासु” मित्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः ।

भावार्थस्त्वयम्—पञ्चमनोयोगभेदेष्वेकजीवाश्रयमार्गणाजघन्यकायस्थितं: यमवप्रमाण-
त्वात्तदपेक्षया प्रकृतकालोऽपि समयमात्रः प्राप्यते, एवं त्रयोयोगभेदेष्वपि । यद्वा पञ्चमनोयोग-
पञ्चत्रयोयोग-काययोगसामान्या-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र-त्रैक्रियी-दारिककाययोग-क्रोधादिचतुःरुपा-
यलक्षणास्त्रपवादविषयभूतास्वेकोनविंशतिमार्गणासु प्रत्येकं पूर्वप्रवृत्तमनोयोगादिना जीवनेऽपि यदा
मार्गणाद्विचरमसमय आयुर्वन्धः प्रारभ्यते तदा तस्य प्रस्तुतमार्गणायां समयद्वयमायुर्वन्धः प्रवर्तते,
तत्र प्रथमे समयेऽवन्धादुत्तरमायुर्वन्धतोऽवक्तव्यः, द्वितीयसमये तु वेद्यमानानुगवशेनलक्षणाया अवा-
धाया समयमात्रं परिक्षयान् तदधीनाया आयुषोऽवस्थानयोग्यतालक्षणवध्यमानस्थितेरपि हीनभावाद्-
ल्पतरबन्धः । तदनन्तरसमयेषु यद्यपि तस्य जीवम्याऽल्पतरस्थितिवन्धो विद्यते एव, तथाऽपि नाभीं
प्रकृतमार्गणाविषयः, तदानीं मनोयोगादिविचरितमार्गणातो शक्तिर्मात्रस्तस्य । इत्थं हि तादृशी-
जीवैर्मनोयोगादिमार्गणाद्विचरमसमयारब्धायुर्वन्धमपेक्ष्य मनोयोगाद्येकोनविंशतिमार्गणास्वपि प्रकृत-
बन्धकालः समयमात्रः प्राप्यते, न शेषासु । अयमेव समयमात्रोऽल्पतरबन्धकाल आयुर्वन्धाद्वा-

द्विचरममये प्रवृत्तमनोयोगादेर्द्वितीयममयापेक्षयाऽपि प्राप्यते, तृतीयममये मार्गणाविच्छेदात् । इत्येवमन्यथाऽपि भावनीय इति ।

ननु मनोयोगादिमार्गणास्थानानामिव स्त्रीवेदादिमार्गणास्थानानामप्यैकजीवाश्रिता जघन्य-
कायस्थितिः समयमात्रा भवति । उक्तं च जीवसमासे—‘मण-वइ-उरल-विउधिय-आहारय-कम्म-
जोग-अणहि-न्धी । संजमविभाग-विठ्ठं-त-सासाणे एगम्मसयं तु’ ॥२३६॥ इति । तत्कथमेतासु स्त्रीवेदादि-
मार्गणास्वप्नायुषोऽल्पतरस्थितिवन्धकालो जघन्यपदे समयमात्रो नोक्तः ? इति चेद्, उच्यते,
स्त्रीवेदादीनामेकजीवाश्रया जघन्यकायस्थितिस्तृपशान्ताद्वाक्ष्येण प्रपततां जीवानां स्त्रीवेदोदयाद-
नन्तरममये मरणव्याघाते समुपजात एव प्राप्यते, न च तदानीं तेषामायुर्वन्धसम्भवः, आयुषो
जघन्याद्याद्या अप्यन्तर्मुहूर्तत्वेन तावदायुष्यशेषे पूर्वमेवाऽऽयुर्वन्धनमाप्तेः । मनोयोगादि-
मार्गणास्तु मरणव्याघातभावेऽपि स्त्रीयाद्वाक्ष्यादुन्कृष्टतोऽप्यन्तर्मुहूर्तेऽतिक्रान्ते नियमेन योगान्तर-
तया परावर्तन्ते, अतो मनोयोगादिवर्जसु समयमात्रजघन्यकायस्थितिकास्वपि स्त्रीवेदादिषु मार्ग-
णास्वप्नायुषोऽल्पतरस्थितिवन्धस्य जघन्यकारुः समयो नोक्तः, मनोयोगादिषु तूक्तः ।

इदन्तु घोष्यम्—सासादनस्य जघन्यकायस्थितिर्यद्यपि मरणव्याघातं विनाऽपि समयमात्रा
प्राप्यते, तथापि सासादनमार्गणायां प्रारब्धायुर्वन्धस्य सासादनमार्गणायामेव समाप्तेऽल्पतरस्थिति-
वन्धकालः समयो न प्राप्यते, किन्त्वन्तर्मुहूर्तमेव प्राप्यते । ननु सासादनमार्गणायां प्रारब्धायु-
र्वन्धः कस्मात्सासादनमार्गणायामेव समाप्यते, न पुनर्मनोयोगादिवन्मार्गणान्तरं प्राप्याऽपि ? इति
चेद्, आयुर्वन्धस्य घोलनापरिणामप्रायोग्यतया निरन्तरमनन्तगुणक्रमेण संक्रियमानायां मिथ्या-
न्याभिमुखत्वस्थायां तद्वन्धस्य विरुद्धतया पूर्वमेव तत्समाप्तेरावश्यकत्वादिति ॥५६३-५६४॥

तदेवमुक्त आयुषो भूयस्कारादिस्थितिवन्धकाल ओघत आदेशतश्चोभयथापि । साम्प्रतं शेष-
सप्तकर्मणां तं व्याजिहीर्षुर्गदो तावदोघत आह—

भूओगाराईणं चउण्ह सत्तण्ह होअइ जहण्णो ।

समयो परमो समयो भूओगारस्स चत्तारि ॥५६५॥

अण्णयरस्सुक्कोमो समयो तिण्णि उ अवट्ठिअस्स भवे ।

भिन्नमुहुत्तं परमोऽवत्तव्वस्स समयो णेयो ॥५६६॥

(प्रे०) “भूओगाराईणं” इत्यादि, “सत्तण्ह” ति आयुर्विषयेऽनन्तरमेवोक्तत्वादायुर्वर्जानां
सप्तानां मूलप्रकृतीनां “भूओगाराईणं चउण्ह” ति भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थिता-ऽवक्तव्य-
स्थितिवन्धलक्षणानां चतुर्णां प्रत्येकम् “होअइ जहण्णो समयो” ति जघन्यः-‘ह्रस्वः’
कालः समयो भवति । “परमो” ति ‘परमः’-दीर्घः कालः “समयो” ति अस्य परेण

“वत्तारि” इत्यनेनान्वयस्ततश्चत्वारः समयाः । कस्येत्याह—“भूओगारस्स” ति भूयस्कार-
लक्षणस्थितिवन्धस्य, सप्तप्रकृतीनामित्यनुवर्तते । भूयस्कारादिस्थितिवन्धानां ह्रस्वकालस्तु सुगमः ।

भूयस्कारस्थितिवन्धस्योत्कृष्टकालस्त्वित्थं भावनीयः—कश्चिदेकेन्द्रियो विकले-
न्द्रियो वा जीवो भवद्विचरममये पूर्वप्रवृत्तत्रघनपादिस्थितिवन्धप्रायोग्यविशुद्धः क्षयात् जघन्पादि-
स्थितिवन्धं समाप्य नव्यं पूर्वापेक्षयाधिकं स्थितिवन्धं प्रारभते तदा तस्य प्रथमममयभूयस्कारः,
तदनन्तरममये पुनरपि तथास्वाभाव्येन संकलेशदृष्टेः पूर्वसमयापेक्षयाऽधिकस्थितिवन्धं कुर्वतस्तस्य
निरन्तरो द्वितीयसमयभूयस्कारो लभ्यते, ततश्चानन्तरममये मृत्वा स जीवः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमान
एकसामयिक्यां विग्रहगतौ वर्तमानोऽद्याप्युत्पत्तिस्थानमप्राप्तः सन्नसंज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं स्थिति-
वन्धं विदधाति, तदा तस्य निरन्तरस्तृतीयसमयभूयस्कारो भवति, तदनन्तरममये तूत्पत्तिस्थानं
प्राप्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यमन्तःकौटीकौटीसागरोपमप्रमाणं स्थितिवन्धं कुर्वतस्तस्य निरन्तर-
श्चतुर्थसमयभूयस्कारवन्धः प्राप्यते; न पुनस्ततोऽप्युर्ध्वम् । कुतः ? जान्यन्तरपरावृत्त्यादेरसम्भवात् ।

इदमुक्तं भवति—एकेन्द्रियाद्यन्यतमजातीयस्य कस्यापि जीवस्य जान्यन्तरपरावृत्त्या-
दिकारणान्तरादतेऽपि तथास्वाभाव्येनैवोत्कृष्टो निरन्तरं ममयद्वयमन्यान्यस्थितिवन्धप्रायोग्याद्य-
वसायपरावर्तनात् निरन्तरो भूयस्कारवल्परौ वा प्राप्येते, तदूर्ध्वं तु जान्यन्तरपरावृत्त्यादिना निर-
न्तरं भूयस्कारादिप्राप्तिर्भवति, न पुनर्जान्यन्तरपरावृत्त्याद्यभावेऽपि । प्रकृतेऽपि दृष्टान्तीकृततीव्रस्य-
केन्द्रियाद्यवस्थायां तथास्वाभाव्येन भूयस्कारद्वयसवनान्तरं जान्यन्तरप्राप्तिं विग्रहगतौ पूर्वापेक्षया-
ऽधिकस्थितिवन्धकरणानुत्पीयो निरन्तरो भूयस्कारो लब्धः, तत ऊर्ध्वमपि संज्ञितयोत्पत्तिस्थानरूपकार-
णान्तरप्राप्त्याऽधिकस्थितिवन्धभावान्निरन्तरश्चतुर्थो भूयस्कारः प्राप्तः; इत ऊर्ध्वंस्तु निरन्तरे पञ्चमे
समये न सम्भवति जान्यन्तरप्राप्त्यादिकारणान्तरम्, तदभावे तु संज्ञिभवद्वितीयसमयप्रवृत्तस्याधिक-
तरस्थितिवन्धस्यैव तृतीयादिममयेषु प्रवर्तनादवस्थितवन्धः प्रवर्तते, न पुनर्निरन्तरः पञ्चमादि-
भूयस्कारोऽपि । इत्येवं निरन्तरचतुर्थभूयस्कारस्थितिवन्धादूर्ध्वमनन्तरममये जान्यन्तरपरावृत्त्या-
द्यधिकस्थितिवन्धप्रयोजकानामन्यतरस्याऽप्यसद्भावादीधिकभूयस्कारस्थितिवन्धस्योत्कृष्टोऽपि काल-
श्चत्वारः समया एवाभिहित इति । अनया नीत्योत्तरत्राऽपि भूयस्काराल्परयोः समयद्वयकालसद्भावे
तौ द्वौ समयौ तत्स्वाभाव्येन संकलेशपरावृत्त्या भावनीयौ, समयद्वयादधिककालसद्भावे तु तत्र तृती-
यादिसमयभूयस्कारादीं जान्यन्तरपरावृत्त्यादेः प्रयोजकता द्रष्टव्येति ।

अथाल्परस्थितिवन्धस्योत्कृष्टकालमानमाह—“अप्परस्से” त्यादि, आयुर्वर्जानां समानां
मूलप्रकृतीनामल्पतरस्थितिवन्धस्योत्कृष्टकालस्त्रयः समयाः । अयमपि यथोक्तनीत्या प्राप्यते, नवरं
वैपरित्येन भावनीयः । तथाहि—चतुरिन्द्रियादितयोत्पत्तयोः कस्यचित्संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवस्य भव-
द्विचरममयेऽन्तर्मुहूर्तात्प्रवृत्तस्थितिवन्धः स्वप्रायोग्यसंकलेशाद्वाक्षयाद्विरतः सन् पूर्वापेक्षया हीनः
प्रवर्तयितुं लभः । कस्मात् ? पूर्वापेक्षया विशुद्धस्याभिनवाव्यवसायस्य प्राप्तेः । असौ हीनस्थितिवन्धो-

ऽप्यनन्तरे भवचरमसमये तथास्वाभाव्येनाधिकतरत्रिशुद्धाध्यवसायप्राप्त्या व्यवच्छिन्नः, हीनतर-
स्थितिवन्धश्च प्रवृत्तः; इत्येवं निरन्तरीं द्वावल्पतरौ तु जात्यन्तरपरावृत्त्यादिकारणान्तरं विनेव
प्राप्ता, तदनन्तरमसमये तु मृत्वाऽन्तरालगतो वर्तमानस्योत्पत्तिस्थानं वा प्राप्तस्य तस्य चतुरिन्द्रियादि-
भवप्रथमसमयादेव चतुरिन्द्रियादिवन्धप्रायोग्यः स्थितिवन्धो भवति, न पुनः पूर्ववद्विग्रहगतावसंज्ञि-
पञ्चेन्द्रियप्रायोग्योऽपि; इत्थं त्रय एव निरन्तरा अल्पतरस्थितिवन्धाः प्राप्यन्ते । यदि चार्था प्रागसंज्ञि-
पञ्चेन्द्रियतयोन्पिन्मुगामीन्, मृत्वा चासंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पन्नस्तद्धि तस्य विग्रहगतावसंज्ञि-
पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यस्थितिवन्धो जायते, तथापि तत् ऊर्ध्वमुत्पत्तिस्थानप्राप्तस्याऽपि तस्यासंज्ञिपञ्चेन्द्रिय-
प्रायोग्यपूर्वप्रवृत्तस्थितिवन्धस्यैव प्रवर्तनान् निरन्तरचतुर्थाल्पतरवन्धस्यासम्भव एव । इत्थं द्वैकेन्द्रि-
याद्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तानां भवप्रथमसमयप्राग्धस्यैव स्थितिवन्धस्य द्वितीयादिमसयेषु प्रवर्तनान्
निरन्तरास्त्रय एवाल्पतरवन्धाः प्राप्यन्ते, संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां तु केषाञ्चिदेकेन्द्रियविकलेन्द्रियस्य
आगतानामन्तरालगतो भवप्रथमसमयेऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्याधिकस्थितिवन्धस्य भावाद्दुत्पत्तिस्थान-
प्राप्तौ भवद्वितीयसमये संज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्याधिकतरस्थितिवन्धस्य च भावादल्पतरवन्धस्योत्कृष्ट-
काशपेक्षया भूयस्कारस्योत्कृष्टवन्धकालः समयाधिकः प्राप्यत इति । इदं हि दिङ्मात्रम्, यतो यथा
संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां तत्र तत्रोत्पत्त्या हीनतरस्थितिवन्धभावात् पूर्ववत् त्रिमया अल्पतरस्थितिवन्धस्य
निरन्तरवन्धकालो लभ्यते, तथैकेन्द्रियतया वा त्रीन्द्रियतया वा त्रिन्द्रियतया वा त्रिन्द्रियतया वा त्रिन्द्रिय-
पेक्षयाऽप्यसौ निरन्तरत्रिसमयाल्पतरवन्धकालोऽवाप्यते । एवमेव त्रीन्द्रियादीनपेक्षयापि बोद्धव्यम् ।
भूयस्कारसत्कचतुःसमयोत्कृष्टवन्धकालस्तु तथा नोत्पद्यते । कुतः ? तृतीयसमयभाव्यसंज्ञिपञ्चे-
न्द्रियप्रायोग्यवन्धप्रयुक्तात् निरन्तरप्राप्ततृतीयसमयभूयस्कारादूर्ध्वमप्यव्यवहितोत्तरसमय उत्पत्ति-
स्थानप्राप्तौ यस्य संज्ञिपञ्चेन्द्रियवन्धप्रायोग्यान्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणस्थितिवन्धस्य सम्भवात्
निरन्तरश्चतुर्थसमयवन्धकालो लभ्यते, असोऽन्तःकोटीकोटीसागरोपमस्थितिवन्धो द्वीन्द्रियादितयो-
न्पिन्मुनामेकेन्द्रियाणां न भवति, ततश्च तदपेक्षस्य निरन्तरचतुर्थभूयस्कारस्थितिवन्धस्याप्यलाभाद्-
उत्कृष्टकालस्त्रयः समया एव सम्भवति, न पुनश्चत्वारः समया इत्यलं विस्तरेण ।

अथाऽवस्थितस्थितिवन्धस्योत्कृष्टकालमाह—“अवद्वियस्स भवे” इत्यादि, सप्तानामवस्थित-
स्थितिवन्धस्य ‘परमः’-उत्कृष्टः कालो ‘मिन्नमुहूर्तम्’-अन्तमुहूर्तं भवेदित्यर्थः । कुतः ? इति चेत्,
एकस्य नियतस्थितिवन्धस्योत्कृष्टतोऽप्यन्तमुहूर्तादूर्ध्वं नियमतः स्थितिवन्धान्तरतया परावर्तनात् ।

इदमुक्तं भवति—एकैकस्थितिवन्धप्रायोग्यानामध्यवसायानां नियमतः प्रत्यन्तमुहूर्तं परावृ-
त्तिर्भवति, अतस्तन्निवन्धनाः स्थितिवन्धा अप्युत्कृष्टतोऽन्तमुहूर्तमवस्थाय परावृत्त्य पूर्वापेक्षया हीना
अधिका वा नियमेन जायन्ते, तथा च सति समयमेकं भूयस्कारस्याल्पतरस्य वा स्थितिवन्धस्य
भावादवस्थितस्थितिवन्धो व्युपरमते, इत्येवं प्रागुक्तनीत्याऽवस्थितस्थितिवन्धस्योत्कृष्टो वन्धकालो-
ऽन्तमुहूर्तमेव सम्पद्यते, नाधिक इति । अथावक्तव्यस्य प्रकृतवन्धकालमाह—“वत्तव्वस्स” इत्यादि,

पूर्वमकारस्य दर्शनात् परमशब्दस्य घण्टालालान्यायेनापि योजनाच्चाऽवक्तव्यस्थितिवन्धस्य 'परमः'-उत्कृष्टः कालः 'समयः'-एकसमयो ज्ञेयः । ननु अवक्तव्यस्योत्कृष्टवन्धकालोऽपि जघन्यवन्धकालवत् कथं समयमात्रः, न पुनर्द्वयादिवसप्रमाणः ? इति चेत्, तत्स्वरूपस्यैव तथात्वात् ।

अयम्भावः—प्रकृतकालोऽनन्तरं प्ररूपणीयमन्तरं चैकजीवमपेक्ष्य प्ररूपणीये, किञ्चावन्धादुत्तरं जायमानस्थितिवन्धः प्रथमसमय एवावक्तव्य उक्तः, तथाभूतोऽवक्तव्यवन्धः काश्चिदेकां प्रवृत्तिमपेक्ष्य कत्याप्येकजीवस्य निरन्तरे समयउच्येऽपि न प्राप्यते, अवन्धापेक्षत्वात्तस्य । अवक्तव्यवन्धादूर्ध्वं द्वितीयसमये यद्यपि स्थितिवन्धो भवति, तर्ह्यपि नाभाववक्तव्यः, तन्पूर्वसमयेऽवन्धस्याभावात्, यदि चासन्नरूपनया कस्याचिज्जन्तोः प्रथमसमयेऽवक्तव्यः, द्वितीयसमयेऽवन्धस्तदूर्ध्वं तृतीयसमये पुनर्वन्धभावेनावक्तव्यवन्धलाभस्तदाप्यसौ न निरन्तरः, अवक्तव्यवन्धस्य मध्य एकतामधिकस्यान्तरालस्य भावात् । इत्येवमेकजीवमाश्रित्यैकां च प्रकृतीमाश्रित्य निरन्तरेण समयउच्यमवक्तव्यवन्धस्यालाभ एव, ननु तदाश्चिन्सास्य तु सा कथा । इत्येवमवक्तव्यवन्धलक्षणकृत एवैकजीवाश्रय एकप्रकृत्याश्रयोऽवक्तव्यस्थितिवन्धकालोऽजघन्यानुत्कृष्टः समयमात्रो भवति । प्रकृतेऽप्येकैकप्रकृतेरेकजीवाश्रितावक्तव्यस्थितिवन्धकालोऽभिधानीयः, अतोऽसौ समयमात्रोऽभिहित इति ॥५६५-५६६॥

तदेवमुक्तः समप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिवन्धकाल ओघतः । अथाऽऽदेशत आह—

भूओगाराईणं चउण्ह मत्तण्हण्णुं अवे समयो ।

मब्वासुं, अह परमो भूओगारस्स चउ समयया ॥५६७॥

तिरिय-तित्तप-काय-णडुम-कमायचउग-दुअणाण-अयत्तेसुं ।

णयणेयर-अपमत्थतिलेसा-भविपियर-मिच्छेसुं ॥५६८॥

(प्रे०) "भूओगाराईणं" इत्यादि, आर्जुर्जानां सप्तानां भूयस्कारादीनां "भूओगाराईणं चउण्ह" ति भूयस्कारादीनां चतुर्णां स्थितिवन्धविशेषाणां "ण अवे समयो" ति पूर्वमकारस्य दर्शनात् 'अणुः'-जघन्यकालः समयो भवेत् । कासु मार्गणास्वित्वाः—"मब्वासुं" ति यासु मार्गणासु प्रथमे मत्पदद्वारे समप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिवन्धाः सन्तोऽभिहितान्तासु सर्वासु मार्गणास्वित्त्वर्थः । अर्थतेषामेव भूयस्कारादिस्वित्त्वानां उत्कृष्टकार्त्तं दिदेशेऽपिपुत्रादीं तारत्वज्ञानां भूयस्कारस्थितिवन्धविषयं तं दर्शयन्नाह—"अह परमो" इत्यादिना, तत्राथशब्द आनन्तर्ये, ततः समप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिवन्धानां जघन्यकालाभिधानानन्तरं प्ररूपयितव्यं तेषामुत्कृष्टकाल आदीं सप्तानां भूयस्कारादिस्थितिवन्धस्य 'परमः'-उत्कृष्टकालः "चउसमय" ति चर्त्तारः समयः । किं सर्वासु मार्गणास्तु कासुचिदेवेत्याह—"तिरिये" त्यादि, तिर्यग्गत्योपमार्गणायां, त्रिषु वस-

कायमार्गणाभेदेषु, काययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्क-मन्थज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयम-चक्षु-रचक्षुर्दर्शना-
ऽप्रशस्तकृष्णादिविलेश्या-भक्ष्या-ऽभव्य-मिथ्यान्वमार्गणास्त्रित्येवमेतास्त्रैकविंशतिमार्गणासु ।

अयम्भावः—एतासु तिर्यग्गत्योघ्राद्यैकविंशतिमार्गणासु प्रत्येकमेकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-
चतुरिन्द्रियाद्यन्यतमजातीयजीवानां पञ्चेन्द्रियजातीयजीवानां च समावेशेनैकेन्द्रियादिनश्यत्वा
पञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमानानामपि न प्रकृतमार्गणातः प्रच्युतिर्भवति, तथा च सन्धोषवदेकेन्द्रियादि-
भवसत्कचरमिचरमममययोः पञ्चेन्द्रियभवसत्कयोरन्तरालगत्युत्पत्तिस्थानप्राप्तिसमययोश्चेत्येव
चतुर्षु समयेषु निरन्तरं भूयस्कारवन्धानां लाभसम्भवान् सप्तानां भूयस्कारवन्धस्योत्कृष्टकाल
ओषवच्चतुःसमयप्रमाणोऽभिहितः । विशेषभावनात्वोषवत्स्वयमेव द्रष्टव्येति ॥५६७-५६८॥

भूगारस्म तिसमया पर्णिदितिरियचउगे पर्णिदितिगे ।

ओरालियमीसम्मि य थी-पुम-अमणेमु आहारे ॥५६९॥

(प्रे०) “भूगारस्से” इत्यादि, प्रकृतानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं “भूगारस्स” चि
भूयस्कारलक्षणस्य स्थितिवन्धस्य “तिसमय” चि उत्कृष्ट एकजीवाश्रयः कालस्त्रयः समया
इत्यर्थः । कासु मार्गणास्त्रिन्याह—“पर्णिदितिरियचउगे” इत्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्चतुष्के,
पञ्चेन्द्रियजातिभेदत्रिके, औदारिकमिश्रकाययोगे । चः समुच्चये । स्त्रीवेद-पुंवेदा-ऽसंज्ञिष्वाहारि-
मार्गणायां चेत्यर्थः । तत्र—चतुर्षु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदेषु, त्रिषु पञ्चेन्द्रियजातिभेदेषु स्त्रीवेद-
पुरुषवेदमार्गणयोश्च प्रत्येकं संज्ञिनामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां च जीवानां समावेशादसंज्ञिभ्यः संज्ञितयो-
त्पद्यमानानां प्रथमदिसमयभूयस्कारवसंज्ञिभवचरमसमयद्वयसत्कां, तृतीयसमयभूयस्कारस्तु संज्ञिभव-
प्रथमसमयसत्कः, इत्येवमुत्कृष्टतस्त्रिममयाः सप्तानां निरन्तरभूयस्कारवन्धकालः प्राप्यते । असंज्ञि-
मार्गणायां तु संज्ञिनानसमावेशेऽप्यन्यान्यजातीयानां जीवानां समावेशेनैकेन्द्रियादिभ्यो द्वीन्द्रिया-
दितयोत्पद्यमानं जीवैर्निरन्तरतृतीयसमयकृतभूयस्कारमपेक्ष्यार्थं बोद्धव्यः । औदारिकमिश्रकाययोग-
मार्गणायां तूभयथाऽप्युपपद्यत इति यथेच्छं भावनीय इति ॥५६९॥

णाणतिगे ओहिम्मि य सुहलेमा-सम्म-खड्-उवसमेसुं ।

वेअगसणीसु गुरु भूओगारस्स समया दो ॥५७०॥

(प्रे०) “णाणतिगे” इत्यादि, मतिज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽवधिज्ञानमार्गणारूपे ज्ञानमार्गणात्रिके,
अवधिदर्शनमार्गणायाम् । चः समुच्चये । तेजः-पद्म-शुक्लाख्यप्रिशुभलेश्या-सम्यक्त्वौष-क्षायिकसम्य-
क्त्वौ-पशुभिकसम्यक्त्वमार्गणासु क्षायोपशुभिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणयोश्चेत्येतासु द्वादशमार्गणासु
प्रत्येकं “गुरु भूओगारस्स समया दो” चि सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारस्थितिवन्धस्य ‘गुरुः’-उत्कृष्टः
कालो द्वौ समयौ । एतासु प्रत्येकं संज्ञिसंज्ञिनां भिन्नभिन्नजातीयानां वा जीवानामसमावेशेन

जात्यन्तरपरावृत्त्यादिकारणान्तरसव्यपेक्षन्तृतीयसमयभूयस्कारो न लभ्यत इत्यतस्तथास्वाभाव्येन संक्लेशक्षयप्रयुक्तद्विसमयभूयस्कारमपेक्ष्य प्रकृतकालो भावनीयः । यदा मतिज्ञानादिमार्गणागतानां देशसंयतादिजीवानां देवगतावुत्पत्त्या तत्र प्रथमसमये भूयस्कारबन्धसम्भवेऽपि तथाविधानां प्राग्भवे भवचरमसमय एकस्यैव भूयस्कारस्य सम्भवात् तदपेक्षया प्रकृतबन्धकालो भावनीयः, केवलं संज्ञि-
मार्गणायां मार्गणान्तरादागच्छतामन्तरालगतावेकं समयमुत्पत्तिस्थानप्राप्तिं च द्वितीयसमयमित्येवं समयद्वयं नैरन्तर्येण भूयस्कारबन्धसम्भवात् प्रकारान्तरेणाऽपि द्वौ समयौ प्रकृतबन्धकालो द्रष्टव्यः । केचित्तु स्वस्थाने देशसंयमाद्यवस्थायां कालं कृत्वा देवगतावुत्पद्यमानानामपि मनुष्यादिभवंद्वि-
चरम-चरमसमययोस्तथास्वाभाव्येन भूयस्कारद्वयस्याविराधात्प्रकृतसर्वमार्गणासु निरन्तरात्रिसमय-
भूयस्कारमपीच्छन्तीति ॥५७०॥

अथ शेषमार्गणासु सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारस्थितिवन्धस्योत्कृष्टकालं दर्शयन्नेकामायांमाह—

कम्मण-गयवेएसुं सुहुमा-ऽणाहारगंसु खलु समयो ।

भूओगारस्स गुरू सेसासु भवे दुवं समयो ॥५७१॥

(प्रे०) “कम्मणगयवेएसुं” इत्यादि, कर्मणकाययोगा-ऽपगतवेदमार्गणयोः सूक्ष्मसम्प-
रायसंयमा-ऽनाहारकमार्गणयोश्च प्रत्येकं मूलसप्तप्रकृतीनां भूयस्कारस्थितिवन्धस्य “गुरू” ति एक-
जीवाश्रयो ‘गुरुः’-उत्कृष्टः कालः “खलु समयो” ति खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, एकः समय
एव भवतीत्यर्थः । तत्र—कर्मणकाययोगानाहारकमार्गणयोरेकेन्द्रियादिभ्यश्च्युत्वा द्वीन्द्रियादितयो-
त्पद्यमानानां विप्रहर्ता प्रथमसमयजायमानबन्धमपेक्ष्य यदा द्वितीये समयेऽधिकबन्धकरणे भूयस्कार-
स्थितिवन्धो भवति, तदा एकसमयभूयस्कारः प्राप्यते । अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणयोरपि
प्रत्येकं स्थितिवन्धानां मरणव्याधाताभावंऽन्तर्मुहूर्तं यावदविरततया प्रवर्तनात् श्रेणितोऽद्वाक्षयेण क्रमशः
प्रतिपतन्तं जीवमपेक्ष्य स्थितिवन्धप्राग्भवेप्रथमसमयसत्क एकामायाविको भूयस्कारस्थितिवन्धः प्राप्यते,
तदूर्ध्वं द्वितीयादिसमयेषु त्ववस्थितस्थितिवन्ध एव । मरणव्याघातेन निरन्तरं सम्भवन् द्वितीयसमय-
भूयस्कारस्तु नापगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणयोः, किन्तु पुरुषवेदा-ऽसंयममार्गणयोरित्येवमेकसमया-
दधिककालस्यासम्भवं एव इति । उक्तशेषमार्गणास्वाह—“सेसासु” इत्यादिना ‘भूओगारस्स गुरू’
इत्यस्य देहलीदीपकन्यायेनात्रापि योजनाच्छेषामु नरकगन्तोषाद्येकविंशत्यभ्यधिकगतमार्गणासु
प्रत्येकं सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारस्थितिवन्धस्य ‘गुरुः’-उत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ भवेदित्यर्थः ।

तत्र शेषमार्गणा इमाः—अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः, त्रिंशद्देवगति-
भेदाः, सप्तकेन्द्रियभेदाः, नव विकलेन्द्रियजातिभेदाः, पृथिवीकायादिवायुकायान्तानां प्रत्येकं सप्त
सप्तत्यष्टाविंशतिभेदाः, वनस्पतिकायमार्गणासत्का एकादश भेदाः, दश मनोयोगवचोयोगमार्गणाभेदाः,
आदारिक-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-मनःपर्यवज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-
सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयम-सामादन-मिश्रदृष्टिमार्गणाभेदाश्चेति ।

नन्वेतासु निरयगत्योघादिशेषमार्गणासु कस्मत्सप्तानां मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टो भूयस्कार-
स्थितिवन्धकालो द्वौ समयावेव, न पुनस्तदधिकस्त्रयः समयाश्चत्वारः समया वा ? इति चेद्,
उच्यते, निरन्तरतृतीयसमयभूयस्कारो हि प्राग्दर्शितनीत्या य एकैन्द्रियादयो जीवा द्वीन्द्रिय-
त्रीन्द्रियादितया जान्यन्तरे समुत्पद्यन्ते तेषां जायते, जान्यन्तरपरावृत्त्यादेर्विहाय तथास्वाभाव्येन
निरन्तरं तृतीयादेर्भूयस्कारबन्धस्याऽल्पतरवन्धस्य वाऽसम्भवात् । जान्यन्तरपरावृत्तिर्हि भवक्षयमविना
भाविनी । इत्यञ्च निरयगत्योघादिषु यासु मार्गणासु भवक्षयेण सममेव मार्गणाक्षयोऽपि नियमेन
जायते तासु न सम्भवति निरन्तरतृतीयसमयभूयस्कारस्थितिवन्धः, अतस्तासु सर्वनिरयभेद-सर्व-
देवभेद-पञ्चमनोर्योग-पञ्चचोयोगा-दारिक-वैक्रिया-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-मनःपर्यवज्ञान-
विभङ्गज्ञान-संयर्माण-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयममार्गणासु द्वौ समया-
वेव निरन्तरभूयस्कारकालो दर्शितः, न पुनस्त्रयः समयाः चत्वारः समया वा, तृतीयसमयनिरन्तर-
भूयस्कारसम्भवे चतुर्थसमयनिरन्तरभूयस्कारस्यापि मुतरामसम्भवात् । न च सा भवतु निरय-
गत्योघादौ मरणव्याघातेन मार्गणाविच्छेदादिजान्यन्तरतृतीयसमयभूयस्कारः, किन्तु ये स प्राग्दर्शो नार-
कादयो जीवास्तथास्वाभाव्येन निरन्तरसमयद्वयं भूयस्कारो निर्वर्त्यापकृष्टतरं गुणस्थानकान्तरं स्पृ-
शन्ति, तेषां तत्र नियमतोऽधिकस्थितिवन्धभावात्प्राप्यति निरन्तरतृतीयसमयभूयस्कार इत्यारे-
कणीयम् । यतो मिथ्यात्वादितथाविधगुणान्तरपरावृत्तेरन्तरपूर्वसमयेषु तादृशजीवानां तथाविध-
हीनतरगुणान्तराभिसुखतयाऽऽन्तर्मुहूर्तिकस्थितिवन्धा एव प्रवर्तन्ते, न पुनः सामायिकस्थितिवन्धाः ।
इत्थं च तादृशां जीवानां निरन्तरद्विसमयभूयस्कारावेव न प्राप्येते । येषां पुनस्तथास्वाभाव्येन
द्विमामयिकः सामायिको वा भूयस्कारो जायते ते तु तदनन्तरसमये तथाविधहीनतरगुणान्तरमेव न
गच्छन्ति, तत्कुतो निरयगत्योघादिमार्गणासु तादृशसम्पष्टष्ट्यादिजीवानपेस्यापि निरन्तरतृतीयसमय-
भूयस्कारस्थितिवन्धसम्भवः, न कुतश्चिदपि । अत एव सम्यग्मिथ्यान्ध-मासादन-मार्गणयोगपि
प्रकृतकालो समयद्वयमेवोक्तः । वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायां प्रकृतग्रन्थाधिकृतविषयया भवप्रत्यय-
वैक्रियकाययोगोपेतजीवानामेव प्रवेशान्तरां च मरणासम्भवेन जान्यन्तरपरावृत्तेरप्यसम्भवात् प्राप्यत
उक्ताऽधिको भूयस्कारस्थितिवन्धकालः । शेषेषु मनुष्यगतिभेदचतुष्क-सर्वैकेन्द्रिय-सर्वैकलेन्द्रिय-
सर्वैशिव्यादिवनस्पतिकायान्तभेदेषु यद्यपि भवक्षयेण समं मार्गणाक्षयो नाऽपि भवति, तथापि यदा
भवक्षयेण समं जान्यन्तरपरावृत्तिर्जायते तदा तु नियमेन मार्गणाक्षयोऽपि जायते, ततश्च न लभ्यते,
निरयगत्योघादिमार्गणावन्निरन्तरतृतीयसमयभूयस्कारः, तदभावे चतुर्थसमयभूयस्कारश्चेति ॥५७१॥

तदेवमुक्तो मूलमसप्रकृतिसन्कभूयस्कारस्थितिवन्धस्योत्कृष्टकाल आदेशतः । साम्प्रतं सप्ता-
नामल्पतरस्थितिवन्धस्योत्कृष्टकालं दिदर्शयिषुराह—

तिरियपणिदि-तसेसुं सव्वेसुं काय-उरलमीसेसुं ।

थी-पुरिस-णपुंसेसुं कसायचउग-दुअणाणेसुं ॥५७२॥

अयत-णयणियर-असुहृत्तिलेसा-भविणियर-मिच्छ-अमणसुं ।
आहारगे य जेट्टो तिखणाऽप्यरस्स सत्तण्हं ॥५७३॥

(ब्र) “तिरियपणिंवितसेसु” इत्यादि, सर्वेषु तिर्यग्गतिभेदेषु, सर्वेषु पञ्चेन्द्रियजातिभेदेषु, सर्वेषु त्रसकायभेदेषु, काययोगमामान्या-दारिकमिश्रकाययोगयोः, स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेदेषु, कषायचतुष्क-मन्यज्ञान-श्रुताज्ञानेष्वसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्णाद्यशुभत्रिलेश्या-भक्ष्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिष्वाहारके चेत्येवं समुदितासु त्रयस्त्रिंशन्मार्गणास्थानेषु प्रत्येकमायुर्वर्जानां मत्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकमल्पतरस्थितिवन्धस्य ‘ज्येष्ठः’-उत्कृष्टः कालः “तिखणा” ति त्रयः समयाः, भवतीति शेषः । तत्र प्रथमो द्वौ समयौ स्वोद्यत्तथाप्याभाव्यप्रयुक्तावेव, तृतीयसमया-ल्पतरवन्धोऽपि तथैव, नवरं यथासम्भवं संज्ञिपञ्चेन्द्रियादिभ्यश्च्युत्वाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियादितयोत्प-द्यमानानां तत्तन्मार्गणागतानां जीवानां भवप्रथमसमयस्थितिवन्धमपेक्ष्य विज्ञेयः । ननु भवतु तिर्यग्गन्धोष्वादिमार्गणासु नानाजातीयजीवानां प्रवेशेन जात्यन्तर उत्पत्त्यापि तिर्यग्गन्धोष्वादिमार्गणा-स्वेवोत्पत्तेः सम्भवाज्जात्यन्तरोत्पत्तिप्रयुक्तस्तृतीयसमयाऽल्पतरः, ततश्चाल्पतरस्योत्कृष्टो बन्धकाल-स्त्रयः समयाः, कथं पुनः सर्वेषु पञ्चेन्द्रियजातिभेदेषु स्त्रीवेदमार्गणाद्यं पुंसवेदमार्गणाद्यापि प्रकृत-कालश्चिन्तयः सम्पद्यते ? इति चेद्, उच्यते, पञ्चेन्द्रियजातिमार्गणायां संज्ञिनामिवाऽ-संज्ञिजीवा-नामपि प्रवेशो विद्यते, ते चासंज्ञिनो यद्यपि पञ्चेन्द्रियजातीया एव, तथाऽपि तेषामेकेन्द्रियादिवद् विवक्षाधीना पृथग्जातिरेवाङ्गीकर्तव्या, एकेन्द्रियादिवन्मरणं विना संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामप्यसंज्ञिपञ्चे-न्द्रित्वेनाभवनात्, विजानीयस्य सहस्रमार्गोपमत्रिसप्तभागादिप्रमाणस्य नियतस्थितिवन्धविशेषस्यैव भावाच्च । इत्थं च भवचरमसमवदयेऽल्पतरस्थितिवन्धद्वयं कृत्वाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतया ये संज्ञिपञ्चे-न्द्रियजीवा उत्पद्यन्ते, तेषां तत्र भवप्रथमसमयेऽल्पतरवन्धः प्राप्यते, स च प्रकृतपञ्चेन्द्रियमार्गणागत-जीवमपेक्ष्य निम्नतरस्तृतीयाऽल्पतरवन्ध एव । एवमेव पर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदयोः स्त्रीवेद-पुंसवेदमार्गणाद्वये च विज्ञेयम्, स्त्रीवेदमार्गणाद्यापि पञ्चसङ्ग्रहाद्यभिप्रायेणासंज्ञिनामपि प्रवेशात् । उक्तं च पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकाकारैः—

‘यद्यपि चासंज्ञिपर्याप्तपर्याप्तौ नपुंसकौ तथाऽपि स्त्री-पुंसलिङ्गाकारमात्रमङ्गी कृत्य स्त्रीपुंसावुक्तौ’ इति ।

सप्ततिकाचूर्णिकारस्तु—“असन्निपज्जत्तगस्स तिहिं वि वेण्हि” इति वचनादसंज्ञिन्यपि लक्षिपर्याप्तके यथायोगं वेदत्रयस्याप्युदयमिच्छति, इत्यादि सप्ततिकाभाष्यवृत्तौ ।

यदि चाभिप्रायान्तरेणासंज्ञिनां केवलं नपुंसकवेदमधिकृत्य प्रकृताल्पतरवन्धकालश्चिन्तनीय-स्तदा स्वर्गो मार्गणाद्वये समयद्वयमेव प्राप्यतेत्येवं विवक्षाभेदेनाऽभिप्रायभेदेन वा स्वयमेव यथा-सम्भवं विभावनीयः प्रस्तुतकाल इति ॥५७२-५७३॥

अथ शेषमार्गणासु सप्तप्रकृतिमत्काल्पतरस्थितिवन्धस्योत्कृष्टकालमाह—

कम्मण-गयवेणुं सुहुमा-ऽणाहारणेषु होइ खणो ।

अप्पयरस्सुक्कोसो सेसासु गुरु दुवे समयया ॥५७४॥

(प्र०) “कम्मणगयवेणुं” इत्यादि, कर्मणकाययोगा-ऽपगतवेदमार्गणयोः सूक्ष्मसम्प-
रायसंयमा-ऽनाहारकमार्गणयोः प्रत्येकं सप्तप्रकृतीनामल्पतरस्थितिवन्धस्योत्कृष्टकालः ‘क्षणः’-समयो
भवति । अयं हि प्रकृतमार्गणास्वेव प्राग्दर्शितभयस्कारस्थितिवन्धस्यैकसमयकालवद्भावनीयः । उक्त-
शेषमार्गणास्वाह-“सेसासु गुरु दुवे समयया” ति अनन्तरोक्ततिर्यग्व्योधादिमक्षत्रिंशन्मार्गणा-
वर्जासु शेषानु त्रयस्त्रिंशदभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं सप्तप्रकृतीनामल्पतरस्थितिवन्धस्य ‘गुरुः’-
उत्कृष्टः कालो द्वौ समयौ भवतीत्यर्थः । तत्र शेषमार्गणा नामत एताः-अष्टौ नरकगतिभेदाः,
चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः, त्रिंशद् देवगतिभेदाः, सप्तकेन्द्रियजातिभेदाः, नव विकलेन्द्रियजातिभेदाः,
पृथिव्यादिवनस्पतिकाथान्तपञ्चकायमार्गणामन्का एकोनचत्वारिंशद्भेदाः, पञ्चमनोयोगभेदाः, पञ्च-
वचोयोगभेदाः, औदारिक-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगभेदाः, मत्यादिचतु-
र्ज्ञान-निवेमङ्गलानि-संधर्माद्य-सामायिक-छंदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयमा-ऽवधिदर्शन-तेजः-
पद्म-शुक्ललेश्या-सम्यक्चर्च-ध-क्षायिक-क्षायोपशमिकौ-पक्षमिकमम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सासादन-
संज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति । एतासु कुतो द्वौ समयौवेव ? उच्यते, निरन्तरतृतीयसमयाल्पतरस्थितिवन्धो
जात्यन्तर उत्पत्त्यैव लभ्यत इति प्रागसकृद्भावितम् । स च प्रकृते न सम्भवति, जात्यन्तर उत्पादे
प्रकृतनरकगत्योधादिमार्गणानामेव विच्छेदाद्, इत्थं हि द्विसामयिकभूयस्कारस्थितिवन्धकालवद-
धिकृतशेषमार्गणासु द्विसामयिकाल्पतरवन्धकालोऽपि भावनीय इति ॥५७४॥

अथ सप्तप्रकृतीनामेवावस्थिताऽवक्तव्यस्थितिवन्धयोरुत्कृष्टकालं मार्गणास्थानेषु दर्शयन्नाह—

कम्म-ऽणाहारेणु अवट्टिअस्स तिखणा गुरु णेयो ।

सेसासु मुहुत्तंतो जहऽवत्तव्वो तह खणो से ॥५७५॥

(प्र०) “कम्मणाहारेणु उ” इत्यादि, तत्र तुकारो विवक्षाविशेषद्योतनार्थः । ततो विवक्षा-
विशेषेण कर्मणकाययोगा-नाहारकमार्गणयोर्ज्ञानावरणादीनामवस्थितस्थितिवन्धस्य ‘विवक्षणाः’-त्रयस्स-
मयाः “गुरु” ति उत्कृष्टवन्धकालो ज्ञेयः । विवक्षाविशेषस्त्वत्र मार्गणाप्रथमसमयभाविस्थितिवन्ध-
स्याऽप्यनन्तरपूर्वसमये मार्गणान्तरभाविस्थितिवन्धेन तुल्यत्वेऽवस्थितस्थितिवन्धत्वविवक्षणलक्षणः ।

एतदुक्तं भवति-मार्गणास्थानेषु भूयस्कारादिस्थितिवन्धसत्पदत्वं विवक्षितमार्गणायामेव
पूर्वसमयजातेन स्थितिवन्धादिना सहाविक्यतुल्यत्वादिना तदुत्तरसमयभाविस्थितिवन्धस्येदानीं यावद्
विवक्षितम्, तदपेक्षया स्वामित्वादिप्ररूपणं कृतम्, उत्तरत्र कालादिप्ररूपणमपि तदपेक्षयैव करिष्यते
च । अनया विवक्षया देवगत्योधादिमार्गणास्थानेषु ज्ञानावरणादीनामवक्तव्यस्थितिवन्धाभाववन्न
लभ्यते कर्मणकाययोगादिमार्गणाद्वयेऽपि मार्गणाप्रथमसमयभाविस्थितिवन्धो भूयस्कारादितया,

अवस्थितस्थितिवन्धतया वा, तदभावेऽवस्थितस्थितिवन्धस्योन्कृष्टतस्त्रिममयकालश्च । कथम् ? एक-
जीवधर्मसर्गणोन्कृष्टतस्थानस्यैव विसमयमात्रत्वात् । एवमपि “कम्माणाहारेसु उ अवडि-
अस्स तिखणा गुरू णेयो” इत्यभिधानात् पूर्वोत्तरग्रन्थविरोधः । कथम् ? इति चेद्, पूर्वोत्तरग्रन्था-
ऽधिकृतविवक्षया कर्मणकाययोगादिमार्गणादये ज्ञानावरणादीनामवस्थितस्थितिवन्धोन्कृष्टकालस्य
द्विसमयमात्रस्य स्पष्टत्वेऽपि समयत्रयस्य प्रतिपदानं तु विवक्षाविशेषेणैव । विवक्षाविशेषेण समय-
त्रयप्रतिपादनस्य वीजन्तु विवक्षाविशेषेणाऽपि भूयस्कारादिस्थितिवन्धप्ररूपणसम्भवप्रदर्शनम्, मार्ग-
णान्तरचरमसमयभाविस्तोक्तादिस्थितिवन्धमपेक्ष्य तदुत्तरं विवक्षितमार्गणाप्रथमसमये नैरन्तर्येण
जातस्य समयादिनाऽधिकादिस्थितिवन्धस्वापि भूयस्कारादिस्थितिवन्धत्वं विवक्ष्य भूयस्कारादि-
स्थितिवन्धप्ररूपणा सम्भवतीति भावः । केवलं नार्यं प्रकारोऽत्र मुख्यवृत्त्याऽधिकृतः । कर्मणकाय-
योगादिमार्गणादये ज्ञानावरणादीनामवस्थितस्थितिवन्धं विहायान्यत्र तस्यानधिकृतत्वेन गौणत्वात् ।

एवं हि द्विविधविवक्षया भूयस्कारादिस्थितिवन्धप्ररूपणस्य सम्भवेऽप्येकविधविवक्षा मुख्यत-
याऽऽहता, अन्यविधविवक्षा तु गौणभावेनैव दर्शिता, कर्मणकाययोगादिमार्गणादये ज्ञानावरणादी-
नामवस्थितस्थितिवन्धलक्षणे स्थानविशेष एव तस्याधिकृतत्वात् ।

वस्तुतस्तु—कर्मणकाययोगादाववस्थितस्थितिवन्धलक्षणे स्थानविशेषे गौणभावेनाभ्युपगता
विवक्षैव मुख्यवृत्त्या मार्गणान्तरेष्व्यादरणीयोचिता प्रतिभाति, न पुनर्या मुख्यतया निरयगन्योधादि-
सर्वमार्गणात्तधिकृता सा, तथा विवक्षया प्रतिमार्गणं मार्गणाप्रथमसमयभाविस्थितिवन्धस्य भूय-
स्कारादिचतुर्विधस्थितिवन्धानामन्धनमतयाऽप्राप्तः तदप्ररूपणरूपन्यूनताभावात् ।

ननु अयमेव प्रकारो गौणः, यः पुनः कर्मणकाययोगादिमार्गणादये समयप्रयावस्थितस्थिति-
वन्धकालस्योत्पादको भवता गौणतयोच्यते, स एव मुख्य इत्यवधार्यताम्, तथाऽप्युक्तमधेग्रन्थो-
पपत्तेः, विहाय देवगन्योधादी ज्ञानावरणादीनामवक्तव्यस्थितिवन्धप्रतिषेधम् । स तु विवक्षितमार्ग-
णायं तत्रैव भाविनं स्तोकादिस्थितिवन्धमपेक्ष्य तदनन्तरभाविस्थितिवन्धानां भूयस्कारादिस्थिति-
वन्धत्वम्, न पुनर्मार्गणान्तरभाविस्तोक्तादिस्थितिवन्धाद्यपेक्षया इत्येवंलक्षणेन गौणीभूतेन विवक्षा-
विशेषेणैवोपपद्येत, न च स्यादुक्तन्यूनता ? इति चेत्, सत्यम्, निरयगन्योधादिमार्गणात्तसर्व-
सत्यदादिप्ररूपणस्य, एवं कर्मणा-ऽनाहारकमार्गणयोरवस्थितस्थितिवन्धविषयकप्ररूपणस्य देवगन्यो-
धादिमार्गणादाववक्तव्यस्थितिवन्धप्रतिषेधस्य च भवदुक्तनीत्योपपत्तेरपि कर्मणा-ऽनाहारकमार्गणादये
‘कम्मा-ऽणाहारेसु’ ण होण अंतरं च’ इत्यनेन वक्ष्यमाणस्य कर्जावाश्रयभूयस्कारादिस्थितिवन्धान्तर-
प्रतिषेधस्यानुपपत्तिरेव, अतस्तदर्थमपि देवगन्योधाद्युक्ताऽवक्तव्यस्थितिवन्धप्रतिषेधोपपत्तिवद् विवक्षा-
न्तरानुसरणमावश्यकं स्याद्, न चैतद्युक्तम्, विवक्षान्तरेणाऽपि भूयस्कारादिस्थितिवन्धप्ररूपणं
सम्भवतीत्येतावन्मात्रप्रदर्शनार्थं कुञ्चिद्देवगन्योधादी केवलंऽक्तव्यस्थितिवन्धप्रतिषेधे तदनुसरणस्य
पर्याप्तत्वेन एतः कर्मणाऽनाहारकमार्गणयोः भूयस्काराद्यन्तरप्रतिषेधे तदनुसरणस्य व्यर्थत्वात् । इत्यतः

आधुर्वर्जमसमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धमत्पदानामेकजीवाश्रयकालप्रदर्शकयन्त्रम्

कालः-		भूयस्कारस्थितिबन्धस्य		△	प्रत्यक्षस्थितिबन्धस्य			अवस्थितस्य	
जयन्त्यतः- समयः	प्रोधवत् समयः	समयः	समयः		प्रोधवत् समयः	समयः	समयः	समयः	प्रोधवत् समयः
उत्कृष्टतः- ३ समय्याः	४ समय्याः	१ समयः	२ समय्या		३ समय्याः	१ समयः	२ समय्या	३ समयः	अन्तर्मुह०
गति०	सर्वपञ्चेन्द्रिय- नियोग० ४	तिर्यगो० १		शेष० ४०	सर्वतियोगति- भेद० ५		शेष० ४२		सर्व० ४७
इन्द्रिय०	सर्वपञ्चेन्द्रिय- ३			शेष० १६	सर्वपञ्चेन्द्रिय- ३		शेष० १६		सर्व० १९
काय०		सर्वशस० ३		शेष० ३६	सर्वशस० ३		शेष० ३६		सर्व० ४२
योग०	श्रीदारिक- मिथ० १	कामयोगीध० १	कामयोगः १	शेष० १५	कामयोगीध०- श्रीदारिक- मिथ० २	कामयोगः १	शेष० १५	कामयोगः १	शेष० १७
वेद०	श्री० पु० २	सर्व० १	सर्व० १		त्रिवेद० ३	सर्व० १			सर्व० ४
कण्ठ०		सर्व० ४			सर्व० ४				" ४
ज्ञान०		मत्तज्ज्ञान० श्रुताज्ञान० ६		मत्त्यादि-★ ४ त्रिमङ्गलः १	मत्तज्ज्ञान० श्रुताज्ञान० २		शेष० ५		सर्व० १७
संशय०		धर्मशय० १	सूक्ष्मसम्प- गय० १	शेष० ५	धर्मशय० १	सूक्ष्मसम्प- १	शेष० ५		" ७
दर्शन०		नञ्-अवधुः ०		अवधि० ★ १	नञ्-अवधुः २		अवधि० १		" ३
लेख्या०		शुभ० ३		शुभ० ★ ३	शुभ० ३		शुभ० ३		" ६
भक्त्य०		सर्व० २			सर्व० २				" २
सम्य०		मिथ्यात्व० १		शेष० ★ ६	मिथ्यात्व० १		शेष० ६		" ७
संज्ञी०	असंज्ञी० १			संज्ञी० ★ १	असंज्ञी० १		संज्ञी० १		" २
आहारी०	आहारक० १		अनाहा० १		आहारक० १	अनाहा० १		अना० १	आहारा० १
सर्वमात्राणाः- १२	२१	४	१३३	३३	४	१३३	२१	१६५	
गाथाङ्काः- ५६७-५६८-	५६७-५६८	५६७-५७१	५६७-७०-७१	५६७-७२-७३	५६७-७४	५६७-७४	५६७-७५	५६७-७५	

△ अवस्थितस्य स्थितिबन्धो यत्र सन् तत्र सर्वात्र-—अंशतो मनुष्यगतयोपादिष्वद्विदशमागंतास्थानेषु च तस्य प्रस्तुतकालोऽवध्यानुकृष्टः समयमात्रः (गाथा-५६७-५७५) ।

★ केचित्-मति-श्रुताऽधिज्ञाना-अधिदर्शन-शुभलेख्यात्रिक-सम्यक्सौध-आयिकी-पशामिक-आयोपशामिक-संज्ञिलक्षणानु द्विदशमागंतासूक्तकालस्त्रयः समयाः (७५ गाथावृत्ती) ।

आयुषोऽन्तरा-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धयोरेकजीवाश्रयकालप्रदर्शकयन्त्रकम्		
प्रवक्तव्यस्य	श्लोघतः सर्वमार्गणास्थानेषु च जघन्योत्कृष्टोभयथा समयमात्रः ।	शाखा-
अल्पतरस्य	सर्वमनोयचोयोगभेद-काययोगोघा-ऽऽहारक-तन्मिथी-दारिक-वैश्विककाययोग-क्रोधादिकषाय- चतुष्कनक्षणासु १९ मार्गणासु जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतोऽन्तमुहूर्तम् ।	५६३
	श्लोघतः शेषमार्गणासु च जघन्योत्कृष्टोभयथाऽन्तमुहूर्तम् ।	५६४

कर्मणाऽनाहारकमार्गणाद्वयेऽवस्थितस्थितिवन्धविषयकप्रतिपादन एव मार्गणान्तरचरममयभावि-
स्तोकस्थितिवन्धेन तुल्यत्वादिना तदुत्तरप्रवृत्तमार्गणाप्रथममयभाविस्थितिवन्धस्याऽपि भूयस्कारादि-
त्वमित्येवंरूपा विवक्षा तादृग्विवक्षया प्ररूपणस्य सम्भवमात्रप्रदर्शनार्थं गोणतयाऽऽहता, अन्यत्र तु
सर्वत्र देवगत्योघादवक्तव्यस्थितिवन्धप्रतिषेधिका विवक्षैवाङ्गीकृता, इति सैव मुख्यरूपेण विज्ञेया,
तयैव पूर्वोत्तरग्रन्थो सङ्गमनीयः, विहाय कर्मणा-ऽनाहारकमार्गणाद्वयेऽवस्थितस्थितिवन्धविषयकरू-
पणमित्यलं पल्लवितेनेति ।

अनन्तरोक्तमार्गणाद्वयवर्जशेषमार्गणास्वाह-“सेसासु मुहूर्ततो” ति सप्तमूलप्रकृतीनामव-
स्थितस्थितिवन्धस्योत्कृष्टकालः शेषास्वष्टपस्थितरशतमार्गणासु प्रत्येकमन्तमुहूर्तम् । अयमन्तमुहूर्त-
बन्धकालस्त्वोघवन्सुगमः । अथावक्तव्यस्थितिवन्धस्याह-“जह्ऽवत्तच्चो” इत्यादिना, तत्र “जह्”
त्ति ‘यत्र’-यासु मार्गणासु “वत्तच्चो” ति अकारस्य दर्शनात्प्रकृतानामायुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनाम-
वक्तव्यस्थितिवन्धः प्राक् प्रथमे सप्तद्वारे सत्तथाऽभिहित इत्यर्थः । “तह्” ति ‘तत्र’-तासु
मनुष्यगत्योघादिपट्टिग्रन्मार्गणासु “श्वणो से” ति तस्यावक्तव्यस्थितिवन्धस्योत्कृष्टकालः ‘श्वणः’-
एकसमयो ज्ञेयः । अयम्भावः-अपर्याप्तभेदवर्जेषु त्रिषु मनुष्यगतिभेदेषु तथैव पञ्चेन्द्रियाध-पर्याप्त-
पञ्चेन्द्रिय-श्रमाध-पर्याप्तत्रय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यो-दारिककाययोगा-ऽपगत-
वेद-मत्यादिचतुर्ज्ञान-संयमाध-चक्षुरादित्रिदर्शन-शुक्लेश्या-मध्य-सम्यक्त्वाध-क्षाधिकमध्यक्त्वा-पञ्च-
मिकसम्यक्त्व-संज्ञया-ऽऽहारिमार्गणाभेदेषु च सप्तानामपि प्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिवन्धस्योत्कृष्टकाल
एकः समयः, लोभमार्गणार्थं मोहनीयकर्मणोऽवक्तव्यस्थितिवन्धस्योत्कृष्टकाल एकसमयश्च । शेष-
मार्गणासु शेषकर्मणां चावक्तव्यस्थितिवन्धस्यैवाभावदर्शा नोन्यत इति । वस्तुतोऽवक्तव्यस्याऽ-
जघन्यानुत्कृष्टकाल एव समयः, यद्यप्येवं तथापि प्राग् लाघवाय भूयस्कारादिचतुर्विधस्थितिवन्धानां
प्रत्येकं जघन्यकालं समयमात्रमभिधाय तदन्तरं भूयस्कारादिवन्धानासुत्कृष्टकालस्य भेदेनाभिधाने
स्यादाशङ्का-‘अवक्तव्यस्थितिवन्धस्योत्कृष्टः कालः कियान्’ इत्यतोऽर्था प्राग् जघन्यव्यपदेशेनाभि-
हितोऽप्यत्रोत्कृष्टव्यपदेशेन पुनरप्यभिहित इति ॥५७५॥

तदेवं प्रतिपादित आयुर्वर्जशेषसप्तकर्मणां भूयस्कारादिस्थितिवन्धस्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टकालो-
ऽपि मार्गणास्थानेषु । तस्मिन् प्रतिपादिते गते तृतीयमेकजीवाश्रयं कालद्वारम् ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे तृतीयमेकजीवाश्रयकालद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ चतुर्थमन्तरद्वारम् ॥

साम्प्रतं क्रमप्राप्तेऽन्तरद्वारे मूलप्रकृतिसम्भूयस्कारादिस्थितिवन्धानामेकजीवाश्रितमन्तरं प्ररूपयिपुरादीं तावदोघत आह—

सत्तण्ह अंतरं खलु भूगार-प्ययर-ऽवट्टिआण भवे ।
 समयो हस्सं परमं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं ॥५७६॥
 सत्तण्ह मुहुत्तंतोऽवत्तव्वस्संतरं लहुं णेयं ।
 जेट्ठं अद्धपरट्ठो देसूणो पोग्गलाण भवे ॥५७७॥
 आउस्स अंतरं खलु पयाण दोण्ह वि लहुं मुहुत्तंतो ।
 उक्कोस्सं विण्णेयं तेत्तीमा सागराऽम्भहिया ॥५७८॥

(प्रे०) “सत्तण्हं अंतरं” इत्यादि, आयुर्वर्जानां समानां मूलप्रकृतीनां भूयस्कारा-न्पतरा-ऽवस्थितलक्षणानां स्थितिवन्धानां प्रत्येकमेकजीवाश्रयमन्तरं खलु भवेत् । कियदित्याह—“समयो हस्सं” ति ‘हस्सं’-जघन्यं ‘समयः’-एकसमयो भवेत्, “परमं भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वं” ति तेषा-मेव भूयस्कारादिस्थितिवन्धानां ‘परमम्’-उत्कृष्टमन्तरं ‘भिन्नमुहुत्तम्’-अन्तमुहुत्तं ज्ञातव्यमित्यर्थः ।

इमेऽत्रोपपत्तिपन्थानः—कस्यचिद्देशसंयतादेर्भवद्विचरमसमये पूर्वस्थितिवन्धापेक्षयाऽधिक-स्थितिवन्धो जातस्ततस्तस्य भूयस्कारस्थितिवन्धोऽभूत्, ततस्तु भवचरमसमये तावन्मात्रः स एव स्थितिवन्धः प्रवृत्त इत्येवं भवचरमसमये तस्याऽवस्थितो नाम स्थितिवन्धोऽभूत्, तदूर्ध्वं तु काल-करणेन देवगतावुत्पन्नस्य तस्य तत्राऽसंयमावस्थायां प्रत्याख्यानावरणकपायोदयात् पूर्वभवचरमसमया-पेक्षया सङ्घेयगुणाधिकस्थितिवन्धः प्रवृत्तः, अतस्तदानीं तस्य जन्तोः पुनरपि भूयस्कारस्थिति-वन्धः प्राप्तः । एवं तस्य पूर्वभवद्विचरमसमयजातोत्तरभवप्रथमसमयजातो भूयस्कारवन्धावेकसामायि-केनावस्थितस्थितिवन्धेनान्तरितावभूताम् । एतादृशजीवेन कृतस्यैकसामयिकावस्थितस्थितिवन्धान्त-रितभूयस्कारस्थितिवन्धद्वयस्य जघन्यमन्तरमेकसमयं प्राप्यते; अन्यथा वैकेन्द्रियादिभ्यो द्वीन्द्रियादि-तयोन्याद्येद् भावनीयम् । प्रकारान्तरेण वा तथास्वाभाव्यात् स्वस्थान एव समयान्तरजातयोर्भूयस्कार-योर्मध्यवर्त्यवस्थितस्थितिवन्धस्य समयमात्रजघन्यकालापेक्षयाऽपि भूयस्कारस्य जघन्यमन्तरं भव-तीति यथासम्भवं द्रष्टव्यमिति ।

अल्पतरस्थितिवन्धस्य जघन्यान्तरमप्यनया रीत्या भाव्यते, त्वरं भवद्विचरमसमये हीन-स्थितिवन्धम्, ततश्चरमसमये तावन्मात्रस्थितिवन्धं कृत्वाऽनन्तरं संज्ञिपञ्चेन्द्रियादितुश्च्युत्वाऽसं-ज्ञिपञ्चेन्द्रियादितयोत्पत्तीं नियमतो न्यूनस्थितिवन्धभावात् तादृशजीवविशेषापेक्षया भावनीयम् । अन्यथा वा स्वस्थाने संक्लेशाद्धाक्षयादल्पतरवन्धः, ततः समयमेकमवस्थितवन्धः, तत पुनरपि स्व-

भावतः संक्लेशहानौ पुनरप्यल्पतरस्थितिवन्धो भवति तदाप्येकसमयमन्तरं प्राप्यते, इत्येवं प्रकारान्तरैरपि यथासम्भवं भावनीयमिति ।

अवस्थितस्थितिवन्धजघन्यान्तरं तु सुलभम्, मामान्यतोऽवस्थितस्थितिवन्धादूर्ध्वमेकसामयिके भूयस्कारवन्धेऽल्पतरवन्धे वा जाते प्रायेण पुनरप्यवस्थितस्थितिवन्धस्य प्रवर्तनादिति ।

सप्तानां भूयस्कारस्थितिवन्धस्योत्कृष्टान्तरं पुनः प्रमत्तगुणस्थाने चरमं भूयस्कारवन्धं समाप्योपशमश्रेणिमारुह्य ततः प्रतिपततो जीवस्य लभ्यते । कुतः ? श्रेणिमारोहतो जीवस्याऽवस्थितवन्धानामल्पतरवन्धानां चैव भावेन तैः संख्येयैरल्पतरवन्धैरवस्थितवन्धैश्चान्तरितयोर्भूयस्कारस्थितिवन्धयोरन्तरं सर्वदीर्घं भवतीति कृत्वा ।

अल्पतरस्थितिवन्धस्योत्कृष्टान्तरमपीत्थमेव लभ्यते, नवरमनिवृत्तिवादरगुणस्थानके मोहनीयस्य, सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने शेषाणां पण्णां चरमस्थितिवन्धप्रारम्भेऽल्पतरवन्धं कृत्वा क्रमेणोपशान्तमोहगुणस्थानकं प्राप्य तत उपशान्ताद्वाश्रयेण प्रतिपत्य प्रमत्तगुणस्थाने पुनरप्यल्पतरस्थितिवन्धं कुर्वतो जीवस्य प्राप्यते ।

अवस्थितस्थितिवन्धस्योत्कृष्टान्तरं तु भूयस्कारादीनामुत्कृष्टकालापेक्षया न लभ्यते, किन्त्ववन्धकालापेक्षया प्राप्यते । तथाहि—उपशमश्रेणौ सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकचरमसमयेऽवस्थितस्थितिवन्धं समाप्योपशान्तमोहगुणस्थानं प्राप्तः यः कश्चिज्जीव उपशान्तमोहगुणस्थानकालं तत्रैव निर्गमय्य ततः प्रतिपत्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानेऽवक्तव्यवन्धादूर्ध्वं मृत्वा देवगतावृत्तव्य देवभवद्वितीयसमये भूयस्कारवन्धादनन्तरं मोहनीयायुर्वर्जानां पण्णामवस्थितस्थितिवन्धं पुनरपि प्रारभते, तस्य पण्णामवस्थितस्थितिवन्धस्योत्कृष्टान्तरं द्विसमयाधिकोपशान्तमोहगुणस्थानकालप्रमाणं प्राप्यते, तदेव प्रकृते उत्कृष्टान्तरतया विज्ञेयम् । मोहनीयकर्मणोऽवस्थितस्थितिवन्धस्य तु तद् बृहदन्तर्मुहूर्तप्रमाणं बोद्धव्यम्, मोहनीयाऽवन्धस्य सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानेऽपि लाभात् । भावना तु प्रागिव कर्तव्येति ।

अथाऽवक्तव्यस्थितिवन्धस्य जघन्योत्कृष्टान्तरं दर्शयन्नाह—“सत्तपह सुसुत्ततोऽवक्तव्यस्से” त्यादि, सप्तानां प्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिवन्धस्य ‘लघु’-जघन्यमन्तरं ‘मुहूर्तान्तः’-अन्तर्मुहूर्तं ज्ञेयम् । “जेह्व” चि तस्यैवावक्तव्यस्थितिवन्धस्य ‘ज्येष्ठम्’-उत्कृष्टमन्तरम् “अच्छपरदो देसूणां पोग्गलाण भवे” चि ‘दिशानः’-एकदेशेनोनः पुद्गलानामर्धः परावतो भवेत्, उपशमश्रेण्युत्कृष्टान्तरवद्देशेनार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणं भवेदित्यर्थः । तत्रोपशान्तमोहगुणस्थानात् पतनस्तत्प्रकृतीनां स्थितिवन्धप्रारम्भसमयादूर्ध्वं प्रवृत्तमवक्तव्यस्थितिवन्धान्तरमधस्तादन्तर्मुहूर्तं विश्रम्य पुनरप्युपशमश्रेणिमारुहावन्धद्वितीयसमये कालकरणेन देवगतां पुनरप्यवक्तव्यवन्धे जाते यदा-निष्ठांमेति तदा सप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धस्य जघन्यमन्तरं लभ्यते, तच्चान्तर्मुहूर्तमेव भवति । कुतः ? उपशमश्रेण्यारोहणावरोहणकालस्याधो जघन्यावस्थानकालस्य च समुदितस्याप्यन्तर्मुहूर्तमात्रत्वादिति ।

एवमेवोक्तान्तरमप्युशमश्रेणोदेशोनाथपुद्गलपरावर्तप्रमाणैरेकजीवाश्रयोत्कृष्टान्तरवद् भावनी-
यम्, केवलमन्तरप्रारम्भात् पूर्वमुपशमश्रेणित उपशान्ताद्वाक्ष्येण प्रविपातादवक्तव्यस्थितिवन्धो
द्रष्टव्यः, तदूर्ध्वं तु देशोनाथपुद्गलपरावर्तकालं संसारपर्यटनादनन्तरमन्तमुहूर्तेऽवशेषे संसारे पुनरप्यु-
पशमश्रेणित उपशान्ताद्वाक्ष्येण पातादवक्तव्यस्थितिवन्धो द्रष्टव्यः, न पुनरेकदाऽप्युशमश्रेणो
कारकरणेन देवगतावुत्पत्त्या । कस्मात् ? अन्तरप्रारम्भ उपशमश्रेणो कालं कृत्वा देवगतावुत्पद्यमा-
नस्योत्कृष्टतोऽपि संख्येयभवप्रमाणाल्पसंमारन्वेनोत्कृष्टान्तरस्यानुत्पत्तेः, अन्तरप्रान्ते तु तथात्वे
शेषसंसारकालस्य जघन्यतोऽपि संख्येयमागरोपमप्रमाणतपोत्कृष्टान्तरानुत्पत्तेश्चेति ।

अथाधुपो द्विविधवन्धस्य द्विविधान्तरमाह—“आउरस्स अंतरं खलु” इत्यादिना, आधुः-
कर्मणः “पयाण दोण्ह वि” ति अल्पतराऽवक्तव्यस्थितिवन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि पदयोः प्रत्येकं
‘लघु’-जघन्यमन्तरं खलु ‘मुहूर्तान्तः’-अन्तमुहूर्तम् । तथा “उक्कोस्स” ति तयोरेव द्वयोः पदयो-
रुत्कृष्ट-दीर्घमन्तरमभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि विज्ञेयमित्यर्थः ।

इयमत्र भावना—यदाऽऽयुर्वन्धो जायते तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यस्थितिवन्धो द्वितीयसमया-
दन्तमुहूर्ते यावदल्पतरस्थितिवन्धाश्च नियमेन भवन्तीत्यसकृदभिहितम्, तथा च सत्यायुःप्रकृतिवन्धस्य
जघन्योत्कृष्टान्तरानुसारेण तदीयाल्पतराऽवक्तव्यस्थितिवन्धयोरपि द्विविधान्तरं प्राप्यते । तथाहि—
वेद्यमानायुषस्त्रि-नव-सप्तविंशतितमभागाद्यवशेषप्रकारेणायुर्वन्धप्रायोग्यां द्विचरमाद्धां प्राप्य कश्चि-
ज्जन्तुः प्रथमाकर्षेणायुर्वन्धं प्रारभते तदा प्रथमसमयेऽवक्तव्यस्थितिवन्धं करोति, तदूर्ध्वं त्ववक्तव्य-
वन्धस्यान्तरं प्रारब्धम्, द्वितीयसमयात्प्रवृत्ताल्पतरस्थितिवन्धस्त्वन्तमुहूर्ते यावन्नेरन्तर्येण प्रव-
त्त्याऽऽयुर्वन्धनिष्ठया ममं निष्ठां याति, तदूर्ध्वं त्वल्पतरस्थितिवन्धस्यान्तरं प्रवृत्तं, ते च द्वेऽप्यन्तर-
ऽन्तमुहूर्तेऽतिक्रान्ते यदाऽऽसौ जीव आयुर्वन्धप्रायोग्यां चरमामद्धां प्राप्य द्वितीयाकर्षेण पुनर-
प्यायुर्वन्धं प्रारभते, तदा क्रमेण निस्तिष्ठतः । इत्थमल्पतरा-ऽवक्तव्ययोः द्वयोरपि स्थितिवन्धयोः
प्रत्येकं जघन्यमन्तरमन्तमुहूर्तप्रमाणं लभ्यते । उभयत्र यो विशेषः स तु भावनातो गम्यतेऽतः
प्रथङ्गनोऽयत् इति ।

द्विविधवन्धयोरुत्कृष्टान्तरमपीत्यमेव भावनीयम्, नवरं प्रथमायुर्वन्धो वेद्यमानपूर्वकोटी-
वर्षायुषस्तृतीये भागेऽवशेषे द्रष्टव्यः, तदनन्तरं द्वितीयायुर्वन्धस्तु मृत्वा नरकगतीं देवगतीं वोत्कृष्ट-
स्थितिकृतयोत्पद्य तत्र वेद्यमानोत्कृष्टायुषश्चरमान्तमुहूर्तेऽसंश्लेष्याद्धायां वर्तमानस्य द्रष्टव्यः, नत्व-
र्वाक् । एवं मति प्रकृतोत्कृष्टान्तरमन्तमुहूर्तानपूर्वकोटीतृतीयभागाभ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणं
लभ्येत, तदेवाऽऽधुपोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धोत्कृष्टान्तरतया बोद्धव्यमिति ॥५७७-५७८॥

तदेवमुक्तमष्टानां प्रकृतीनां भूयस्कारादिचतुर्विधानामपि स्थितिवन्धानां द्विविधमेकजीवाश्रय-
मन्तरमोघतः । अथ तदेवादेशतो व्याजिहीषुरादावायुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामाह—

सव्वासुं सत्तण्हं लहुं खणो अंतरं मुणयब्बं ।
 भूगारप्पयराणं भिन्नमुहुत्तं उ उक्कोसं ॥५७९॥
 णवरि हवेज्ज कणिट्ठं भिन्नमुहुत्तं अवेअ-सुहुमेषुं ।
 कम्मा-ऽणाहारेसुं ण होअए अंतरं चैव ॥५८०॥

(प्रे०) “सव्वासुं सत्तण्हं” मित्यादि, नरकगन्धोघादिषु सर्वमार्गणास्वायुर्वर्जानां मूलप्रकृतीनां ‘लघु’-जघन्यमन्तरं “खणो” ति समयो ज्ञातव्यम् । कस्य कस्येत्याह—“भूगारप्प-यराणं” ति भूयस्काराऽल्पतरस्थितिवन्धयोः प्रत्येकमित्यर्थः । तयोरेवोत्कृष्टान्तरमाह—“भिन्न-मुहुत्तं” इत्यादि, तयोः मूलप्रकृतीसत्कभूयस्काराऽल्पतरस्थितिवन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टमन्तरं तु ‘भिन्नमुहुत्तम्, अन्तमुहुत्तं’ मित्यर्थः । अयं हि लाघवकृतः सामान्यो निर्देशः, तथा च निर्दिष्टे याऽतिप्रसक्तिस्तां निराचिकीर्षुर्गह—“णवरि” इत्यादि, परमयमत्र विशेषः । कोऽसाविन्याह—“हवेज्ज कणिट्ठं” इत्यादि, अपस्तवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोः प्रत्येकं “कणिट्ठं” ति प्रकृतवन्धद्वयसत्कं ‘कनिष्ठं’-जघन्यमन्तरं ‘भिन्नमुहुत्तं’ भवेत्, न पुनः समय इत्यर्थः ।

“कम्माणाहारेसुं” इत्यादि, कर्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोश्चप्रत्येकं भूयस्कारा-ऽल्पतरलक्षणस्थितिवन्धद्वयमन्कमन्तरमेव न भवतीत्यर्थः । अत्रापगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्ग-णयोः प्रकृतान्तरस्य जघन्यतोऽप्यन्तमुहुत्तप्रमाणस्य कथनं तयोर्मार्गणयोर्जायमानाः स्थितिवन्धाः प्रत्येकमन्तमुहुत्तं प्रवृत्त्य परावर्तन्ते, न त्वर्वाक्, तथा च श्रेणितः प्रपततां तत्तत्स्थितिवन्धप्रथम-समये जायमानाद्भूयस्कारादनन्तरप्रवृत्तोऽवस्थितवन्धोऽन्तमुहुत्तमवतिष्ठत एव, तदूर्ध्वमन्यविधे-ऽधिकस्थितिवन्धे प्राग्वध एव पुनर्भूयस्कारवन्धयम्भवः, न तु ततोऽर्वागपि, इत्येवमवस्थितस्थिति-वन्धस्य जघन्यकालतुल्यं जघन्यतोऽप्यन्तरं प्राप्यते, अवस्थितवन्धस्य जघन्यकालस्तु प्रकृतमार्ग-णयोरन्तमुहुत्तम्, अतो भूयस्कारवन्धस्य जघन्यान्तरमपि तावदुक्तम् । इत्थमेवाल्पतरस्थितिवन्ध-स्य जघन्यान्तरविषयेऽपि विभावनीयम् । यस्तु कर्मणकाययोगानाहारकमार्गणयोः प्रकृतान्तराभावः सोऽपि मुख्यतयाऽधिकृतेन विवक्षाविशेषेण त्रिसामधिक्यामपि कर्मणकाययोगवस्यायां प्रथमसमय-वन्धस्य मार्गणान्तरजातपूर्वसमयवन्धेन तुल्यत्वादावपि भूयस्कारतयाऽल्पतरतया वाऽलाभात्, शेषसमयद्वयमपेक्ष्य त्वन्तरस्यैवाऽमम्भवादिति । एताश्चतस्रो मार्गणा विवर्ज्य शेषासु तु प्रस्तुत-वन्धयोर्जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरर्माधिकभावानुसारेण स्वयमेव योज्यमिति ॥५७९-५८०॥

अथ मूलप्रकृतीनामवस्थितस्थितिवन्धस्यान्तरं दिदर्शयिपुराह—

सव्वासुं सत्तण्हं समयो हस्सं अवट्ठिअस्स भवे ।
 परमं वि भवे समयो कम्मे सुहुमे अणाहारे ॥५८१॥

(ब्र०) “सुखवासु” इति नरकगत्योधाद्यनाहारकपर्यन्तासु सर्वासु मार्गणास्वायुर्वर्जानां सप्त-
प्रकृतीनामवस्थितस्य स्थितिवन्धस्य ‘ह्रस्व’-जघन्यमन्तरं “समयो” इति एकसमयप्रमाणं भवेदि-
त्यर्थः । सुगमम् । भावनात्वोपवद् द्रष्टव्येति । अर्थतस्यैवावस्थितस्थितिवन्धस्योत्कृष्टमन्तरं दर्श-
यन्नाह—“परमं च भवे समयो” इत्यादि, कार्मणकाययोग-सूक्ष्मसम्परायसंयमा-ऽनाहारक-
मार्गणामु प्रत्येकं सप्तप्रकृतिसत्कावस्थितस्थितिवन्धस्य ‘परमम्’-उत्कृष्टमन्तरमपि समय एव भवेत्,
किं पुनर्जघन्यान्तरमिन्यपिशब्दार्थः ।

नत्र कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणयोरेकजीवापेक्षयोत्कृष्टतोऽपि समयत्रयाऽवस्थानेन मध्यसमये
भूयस्कारान्पतरान्यतरबन्धभावे कालद्वारे ‘कृमाणादारेसु उ’ इत्यादि (५७५) गाथायां गौणभावेन
दर्शितविवक्षान्तरमधिकृत्य प्रथमचरममयजात्यमानाऽवस्थितस्थितिवन्धयोरन्तरं समयमात्रं विज्ञेयम्,
न तु मुख्यवृत्त्याऽधिकृतविवक्षया, तथा विवक्षया मार्गणाप्रथमसमयजातस्थितिवन्धस्याऽवस्थित-
स्थितिवन्धतयाऽप्यप्राप्तेः, शेषसमयद्वयापेक्षया तु भूयस्कारादिवन्धवस्थितस्थितिवन्धान्तरस्याप्यसम्भव
एवेति । सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां तु भूयस्कारान्पतरद्विविधस्थितिवन्धयोरुत्कृष्टस्यापि कालस्य
समयमात्रत्वात्तन्ान्तरितयोरवस्थितस्थितिवन्धयोरन्तरमपि समयदधिकं नैव भवतीति समयमात्र
मभिहितमिति ॥५८१॥

यामु मार्गणावस्थितस्थितिवन्धस्योत्कृष्टान्तरं चत्वारः समयास्ताः संगृह्याह—

तिरिय-अपज्जतस-णपुम-कसायचउग-दुअणाण-अयत्तंसुं ।

असुहतिलेसा-अभविय-मिच्छेसुं हांइ चउसमया ॥५८२॥

(ब्र०) “तिरियअपज्जतसे” इत्यादि, तिर्यग्गत्योधा-ऽपर्याप्तत्रसकाय-नपुंसकवेद-कोधादि-
कयायचतुष्क-मन्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयममार्गणामु तथाऽशुभकृष्णादित्रिलेश्या-ऽभव्य-मिथ्यान्व-
मार्गणामु प्रत्येकं सप्तप्रकृतिसत्कावस्थितस्थितिवन्धस्यान्तरं चत्वारः समया भवतीत्यर्थः । कुतः ?
उच्यते, एतासु प्रत्येकमवस्थितवन्धादन्ये ये भूयस्कारादिवन्धास्तेषु भूयस्कारस्थितिवन्धस्योत्कृष्टः
कालश्चत्वारः समयाः प्राप्यते, तेन समयचतुष्कप्रमाणभूयस्कारबन्धकालेनान्तरितयोरवस्थितस्थिति-
बन्धयोरन्तरं चत्वारः समया भवति ।

ननु प्रस्तुततिर्यग्गत्योधादिपञ्चदशमार्गणावत् त्रसकार्यौघ-पर्याप्तत्रसकाय-काययोगसामान्य-
चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणास्वपि प्रत्येकमवस्थितेतरस्य भूयस्कारबन्धस्योत्कृष्टकालश्चत्वारः
समया एवोक्तः, तर्हि त्रसकार्यौघादिमार्गणाः कथमत्र न संगृहीताः ? इति चेद्, उच्यते, तासु
त्रसकार्यौघादिमार्गणासुपञ्चमश्रेणिगतानामपि जीवानां प्रवेशेन तदीयस्थितेरबन्धकालमाश्रित्याव-
स्थितस्थितिवन्धस्यान्तरमन्तर्मुहूर्तमपि लभ्यते, न पुनरधिकृततिर्यग्गत्योधादिमार्गणास्वपि, श्रेणि-
गतानामुपञ्चमकानामत्राप्रवेशात् । इत्येवं चतुःसमयान्तरकथनप्रस्तावात्तिर्यग्गत्योधादिमार्गणाः संगृह्या-
ऽपि त्रसकार्यौघादिमार्गणा उपेक्षिता इति ॥५८२॥

अथ यासु मार्गणासु सप्तानामवस्थितबन्धस्यान्तरं त्रिसमयास्ताः पिण्डीकृत्याह—

पंचिदियतिरियत्रउग-असमत्तपणिदि-उरलमीसेसु ।

थी-पुरिस-असणीसु अवट्टिअस्स तिखणा परमं ॥५८३॥

(प्र०) “पंचिदियतिरियत्रउगे” न्यादि, पञ्चेन्द्रियतिर्यम्बतुष्का-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियौ-दारिकामिश्रकाययोगमार्गणासु स्त्रांविद-पुरुषवेदा-ऽसंज्ञिभागणाम् च प्रत्येक मक्षप्रकृतिसत्कावस्थित-स्थितिवन्धस्योत्कृष्टमन्तरं त्रिसमयप्रमाणं लभ्यते इत्यर्थः । अत्राप्यन्यतमस्यां मार्गणायामुपशान्त-चारित्रमोहानां जीवानामप्रवेशेन स्थितेरबन्धकालप्रयुक्तं प्रस्तुतान्तरं न प्राप्यते, किञ्च पञ्चेन्द्रियतिर्यगोधादिद्वादशमार्गणासुत्कृष्टोऽपि भूयस्कारस्थितिवन्धकालस्त्रिसमया एव लभ्यते, अतः त्रिसामयिकभूयस्कारबन्धेनान्तरितयोरवस्थितस्थितिवन्धयोरन्तरालमपेक्ष्यावस्थितबन्धस्योत्कृष्टान्तर-मपि त्रयस्समया एव सम्पद्यते, न पुनस्तदधिकमिति । यद्वाऽल्पतरस्थितिवन्धकालप्रयुक्ताऽन्तरालमपेक्षयाऽपि तल्लानः सम्भवतीति प्रकारान्तरेणाप्युपपादनीयमिति ॥५८३॥

अथशेषमार्गणासु प्रकृतान्तरं दर्शयन्नाह—

णरतिग-दुपणिदियतस-काय-ऽवगयवेअ-णाणचउगेसु ।

संयम-णयणियर-अवहि-मुइल-भविय-सम्म-खइएसु ॥५८४॥

उवमम-मणीसु तहा आहारम्मि हवए मुहुत्तंतो ।

सेसासु दोणिण समया अवट्टिअस्स हवए परमं ॥५८५॥

(प्र०) “णरतिगदुपणिदिये” स्यादि, अत्र “व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति” गितिन्यायेन नरत्रिकेत्यनेनापर्याप्तमनुष्यभेदवर्जाः शेषा मनुष्यगतिमार्गणासुत्कास्त्रयो भेदा प्राच्याः, अतस्तेषु मनुष्यांघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणासु, तथा तेनैव न्यायेनापर्याप्तवर्जितयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रिय-जातिभेदयोः, द्विशब्दस्य त्रसेत्यनेनापि योजनादपर्याप्तभेदवर्जयोर्द्वयोस्त्रसकावभेदयोः, काययोग-मामान्या-ऽपगतवेद-मत्यादिज्ञानचतुष्केषु, संयमांघ-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-शुक्ललेख्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-क्षायिका-पशमिकमस्यक्त्व-संज्ञिमार्गणासु, तथाऽऽहारिमार्गणासु प्रत्येकं “हवए मुहुत्तंतो” ति प्रकृतं सप्तप्रकृतीमत्कावस्थितस्थितिवन्धस्योत्कृष्टमन्तरं ‘मुहुत्तान्तः’-अन्त-मुहुत्तं भवतीत्यर्थः । सुगमं चैतत्, प्रत्येकमुपशान्तमोहगुणस्थानादिगतानां जीवानां प्रवेशात् । भावनात्वबन्धकालमधिकृत्य द्रष्टव्येति ।

“सेसासु” ति ‘कम्मे सुहुमे अणाहारे’ इत्यादिनामिहिताः कार्मणकाययोगादिचतुःपञ्चा-शन्मार्गणा विहाय शेषासु नरकरास्योधादिषोडशोत्तरशतमार्गणासु प्रत्येकम् “अवट्टिअस्स” ति सप्तप्रकृतीनामवस्थितस्थितिवन्धस्य ‘परमम्’-उत्कृष्टमन्तरं “दोणिण समया” ति द्वौ समयौ

भवतीत्यर्थः । तत्र शेषमार्गेण नामत्र इमाः—अष्टौ नरकगतिभेदाः, एकोऽपर्याप्तमनुष्यभेदः, त्रिंशद्देवगतिभेदाः, सर्पकेन्द्रियभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्ता मूलोत्तराः सर्वे इत्येकोनत्रिंशत्कायमार्गणाभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोगा-दारिक-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-विभङ्गज्ञान-पामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशपंगम-तेजोक्षेत्र्या-पद्मलेश्या-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मि-पान्त्र-सास्त्रादनमार्गणाभेदाश्चेति । एतासु षोडशाम्यधिकजनमार्गणासु प्रत्येकमवस्थितबन्धस्य द्विसमयादधिकान्तरनिष्पादकश्रतुःपामायिको भूयस्कारबन्धस्त्रिसामयिको भूयस्कारान्यतरान्यतरबन्धो वा नास्ति, किञ्च स्थितेऽबन्धकालोऽपि प्रकृतान्तरप्रयोजको भवितुं नार्हति, किन्तु द्विसामयिको भूयस्कारबन्धोऽल्पतरो वा बन्ध एव लभ्यते, अतस्तदन्तरितयोरवस्थितस्थितिवन्धयोरन्तरमप्युत्कृष्टतो द्विसमयप्रमाणमेव प्राप्यते, न पुनस्तदधिकमिति ॥५८४-५८५॥

तदेवं मार्गणास्थानेषुक्तं सप्तानामवस्थितस्थितिवन्धस्थान्तरम् । अथ यासु मार्गणासु सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिवन्धस्य सङ्गावः साकं सत्पदद्वारे प्रतिपादितस्तास्वक्तव्यवन्धान्तरसम्भवाऽसम्भवाशङ्कायां यासु तदसम्भवस्तासु प्रतिषेधयन्नाह—

पणमणवय-काय-उरल-अवेअ-मुइलु-वसमेसु सत्तण्हं ।

मोहम्म तहा लोहेऽवत्तव्वस्संतरं णत्थि ॥५८६॥

(प्रे०) “पणमणवये” त्यादि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यो-दारिककाय-योगा-ऽपगतवेद-शुद्धलेश्या-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणासु प्रत्येकमायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां तथा लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणोऽवक्तव्यस्थितिवन्धसङ्गावेऽपि तस्यावक्तव्यस्थितिवन्धस्याऽन्तरं ‘नास्ति’ न विद्यत इत्यर्थः । कुतः ? द्वितीयावक्तव्यवन्धात्पूर्वमेव प्रकृतमार्गणानां व्यवच्छेदात् ।

इदमुक्तं भवति—आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां प्रत्येकमेकजीवाश्रयस्यावक्तव्यस्थितिवन्धस्यैकस्या-मुपशमश्रेणां सकृदेव सम्भवः, अवक्तव्यवन्धस्यान्तरं त्ववक्तव्यवन्धे वारद्वयं जाते तदन्तरालमपेक्ष्य लभ्यते, प्रकृते च कस्यचिज्जीवस्योपशमश्रेणां प्रथमावक्तव्यवन्धादूर्ध्वं द्वितीयवारमवक्तव्यवन्धोऽधः प्रतिपत्य पुनरपि श्रेण्यारोहणे क्रमेण सम्भवति, न पुनस्तदवागमि; पुनः श्रेण्यारोहणं तदा सम्भवति, यदाऽसावधोऽप्रमत्तादिगुणस्थाने क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं स्पृशेत् । कस्मात् ? नैरन्तर्येण प्रवर्तमान औपशमिकसम्यक्त्वे सकृद्वोपशमश्रेण्यारोहणस्य सम्भवात् । इत्थं हि प्रोक्तमनोयोगादितत्तन्मार्गणायां कश्चिज्जीवः प्रथमवारमवक्तव्यस्थितिवन्धं कृत्वा यावत्क्षायोपशमिकसम्यक्त्वं स्पृशति तावत्तस्य मनोयोगादिसर्वमार्गणातो बहिर्भावो जायते, तत्र योगादीनां प्रत्यन्तमुद्धृतं परावर्तनात्तद्बहिर्भावः, वेदोदयात् क्षायोपशमिकसम्यक्त्वस्पर्शनाच्चापगतवेदमार्गेणोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणावहिस्त्वं विज्ञेयम् । इत्येवं प्रकृतमार्गणास्वविच्छेदेन प्रवर्तमानासु सतीसु वारद्वयमवक्तव्यवन्धस्याऽसम्भवात्तदन्तरस्याऽभाव एवाऽवाप्यत इति ॥५८६॥

तदेवं मनोयोगादिमार्गणामु सप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धान्तरे निपट्रे तदन्यमार्गणामु तद्विद्यत इत्यर्थाद्गम्यते, नपुनस्तत्रमाणमपि, अतः शेषामु तत्कियत्प्रमाणमिति जिज्ञासायामादौ तावज्जवन्यत आह—

सेसासु मुहुत्ततोऽवत्तव्वस्स हवए कणिहं उ ।

(प्रे०) “सेसासु” इत्यादि, यामु सप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धो सन्, ताभ्यः षट्त्रिंशन्मार्गणाभ्योऽनन्तरोक्ता मनोयोगादिषोडशमार्गणास्त्वक्त्वा शेषामु विंशतिमार्गणामु प्रत्येकं सप्तप्रकृतिनामवक्तव्यस्थितिवन्धस्य ‘कनिष्ठं’-जघन्यमन्तरं तु ‘मुहुत्ततो’ ति अन्तमुद्दृतं भवति । तच्चैवम्-उपशमश्रेणौ सप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धं कृत्वा पश्चात् प्रमत्ताप्रमत्तभावं स्पृष्ट्वा पुनरप्युपशमश्रेणिनारुह्य यावद्वितीयवारं सप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धस्तावदपि प्रस्तुतशेषमर्गमार्गणा अविच्छेदेन प्रवर्तन्ते, एवं सन्यवक्तव्यस्थितिवन्धस्यान्तरालमपि प्रकृतमार्गणास्वेव सम्पद्यते, तच्चान्तमुद्दृ-मिति तथैवोक्तम्, अत्र विस्तरभावना तु सप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धस्यौघिकजघन्यान्तरानुसारेण द्रष्टव्येति ॥ अर्थेनास्वेव शेषमार्गणामु सप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धान्तरमुत्कृष्टत आह—

तिणरेसुं उक्कोमं कोडिपुहुत्तं उ पुव्वाणं ॥५८७॥

(प्रे०) “तिणरेसु” ति अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिवन्धस्यैवाभावात्तदन्तरस्यापि नास्ति चिन्ता, अतस्तामपर्याप्तमनुष्यमार्गणां विहाय शेषामु त्रिसृषु ‘णरेसु’ ति मनुष्यगतशेष-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणासु नरमार्गणामु “उक्कोसं” ति सप्तप्रकृतीनाम्कावक्तव्य-वन्धस्योत्कृष्टमन्तरं “कोडिपुहुत्तं उ पुव्वाणं” ति पूर्वकोटिपृथक्त्ववर्षप्रमाणमित्यर्थः ।

अयम्भावः—एतासां त्रिसृणां मार्गणानां प्रत्येकमेकजीवाश्रितोत्कृष्टा कायस्थितिः—

‘तिपणिदियरियाणं तिणराणं य पल्लोवसा तिण्णिण । अब्भहिया पुव्वाणं कोडिपुहुत्तेण णायव्वा’ ॥१५५॥ इत्यनेन प्राक् पूर्वकोटीपृथक्त्वाधिकत्रिपल्योपमप्रमाणाऽभिहिता, तत्रापि त्रीणि पल्योपमानि तु मार्गणाविच्छेदादवाग्भाविचरमयुग्मिभवमपेक्ष्य प्राप्यन्ते, अतस्तान्यत्र वर्ज्यन्ते । कुतः ? तस्मिन् युग्मिभव उपशमश्रेणोरसम्भवात्, तदनन्तरभवे तु जीवानां प्रकृतमार्गणतो वहिर्भावात् तथा च त्रिपल्योपमकालेनाना शेषा कायस्थितिरत्र गृहीता । कस्मात् ? तस्यां संख्येयवर्षायुष्कनानाभवनिष्पनायां शेषायां कायस्थितौ प्रारम्भे ग्रान्ते चाऽऽष्टवर्षादिकालं त्यक्त्वा उपशमश्रेणोः सम्भवात् । तत्रोपशमश्रेणावक्तव्यवन्धां तु प्रागवह द्रष्टव्यौ, तयोरन्तरालमपेक्ष्यान्तरमपि च प्राग्वद्भावनीयम् । एवमग्रे-ऽपि द्रष्टव्यमिति ॥५८७॥ अथ शेषमार्गणामु प्रकृतोत्कृष्टान्तरं दर्शयति—

देसूणऽद्धपरट्ठोऽवत्तव्वस्स हवए उ सत्तण्हं ।

अणयण-भवियेसु गुरुं, अणणह ऊणगुरुकायठिई ॥५८८॥

(प्रे०) “वेसूणऽरुपरदो” इत्यादि, सप्तानां प्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिवन्धस्य, उत्कृष्टान्तरमिति गम्यते । किञ्चिदित्याह—“वेसूणऽरुपरदो” चि ओषवद् देशेनार्धपुद्गलपरावर्त इत्यर्थः । कस्यां कस्यां मार्गणायामित्याह—“अणघणभविष्येसु” चि अचक्षुर्दर्शनमार्गणायां भव्यमार्गणायां चेत्यर्थः । भावनापत्र सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिवन्धस्याधिकोन्कृष्टान्तरवद् द्रष्टव्येति । अथ शेषमार्गणास्वाह—“गुरुं अण्णहे” त्यादि, उक्तमनोयोगोदिमार्गणाभ्योऽन्यत्र, पञ्चेन्द्रियाणादिशेषपञ्चदशमार्गणास्त्विन्वर्थः । “गुरु” चि आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामैकजीवाश्रयं ‘गुरु’—उत्कृष्टमन्तरम् “ऊणगुरुकायटिई” चि ऊनाऽन्तर्मुहूर्तादिलक्षणेनैकदेशेन ‘गुरुः’—उत्कृष्टा, एकजीवाश्रयान्तरस्य प्रकृतन्वादेकाजीवाश्रया तत्तन्मार्गणानां कायस्थितिर्भवति । तत्र कायस्थितौ न्यूनत्वविद्वेषणोपादानं प्रागिव कायस्थितिप्रारम्भप्रान्तयोरवक्तव्यस्थितिवन्धादिसत्कक्रियत्कालस्य प्रस्तुतान्तरवाह्यत्वात्तत्कालस्य प्रस्तुतान्तरतया प्रतिषेधार्थम् । शेषमार्गणा नामत्र इमाः—पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-तत्कार्याणां पर्याप्तमन्तव-वन्धादिज्ञानचतुष्टय-चक्षुर्दर्शन-संयमाद्य-सम्यक्त्वाद्य-स्वायिकस्यस्यत्व-संज्ञा-ऽऽहारिमार्गणा इति । कायस्थितयस्तु तासां द्वितीयाधिकार एकजीवाश्रयकालद्वारे ‘कायटिई उक्तेना’ इत्यादि-(१५२) गाथाकदम्बकेनाभिहिता अतस्तत एव द्रष्टव्याः, भावनाऽप्येतासु कायस्थितेः प्रारम्भप्रान्तममामभभाव्युपशमश्रेणिद्वयानुसारेण प्राग्बत्कार्येति ॥५८८॥

तदेवमुक्तं सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारादिचतुर्विधवन्धस्यान्तरमादेशतोऽपि । साम्प्रतमायुषोऽल्पतराऽवक्तव्यद्विविधस्थितिवन्धयोरन्तरमादेशतो विमणिपुराह—

पणमणवयेसुं विउवे आहारदुगे कसायचउगे य ।

सासाणे य पयाणं दोण्हा-ऽऽउस्संतरं णत्थि ॥५८९॥

(प्रे०) “पणमणवयेसु” इत्यादि, पञ्चशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् पञ्चमनोयोगमार्गणाभेदेषु, पञ्चचोयोगमार्गणाभेदेषु, वैक्रियकाययोगे, आहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगमार्गणाद्वयरूप आहारकद्विके, क्रोधादिकषायचतुष्के, चः समुच्चये, सासादनसम्यक्त्वमार्गणायाम्, चः प्राग्वत् । एतास्वष्टादशमार्गणासु प्रत्येकम् ‘आयुषः’-शेषस्यायुःकर्मणः “पयाणं दोण्हा” चि अल्पतरावक्तव्यस्थितिवन्धरूपयोर्द्वयोः पदयोः प्रत्येकमन्तरं नास्ति, अन्तरं न विद्यत इत्यर्थः । कुतः ? अल्पकालवस्थायिनीष्वेतासु प्रत्येकं वारद्वयमायुर्वन्वाभावात् । इदमुक्तं भवति—आयुषोऽल्पतरादिस्थितिवन्धस्यान्तरं द्विरायुर्वन्धे सति लभ्यते, एतच्चौघिकभावनायां दर्शितमेव, एता मार्गणास्तु प्रत्येकं स्वल्पकालवस्थायिन्यः अतस्ता द्वितीयायुर्वन्धादवगिय विच्छेदमियति, तत्कुतस्तद्वन्धद्वयाधीनमन्तरमपि लभ्येत, न कुतश्चिदित्यर्थः ॥५८९॥ शेषमार्गणास्वायुषोऽल्पतरावक्तव्यद्विविधस्थितिवन्धान्तरं दिदर्शयिषुर्जघन्यादिक्रमेणाह—

सेसासु मुहुत्ततो हसां परमं हवेज्ज छम्मासं ।

सव्वणिरयदेवेषुं पसत्थअपसत्थलेसासुं ॥५९०॥

(प्रे०) “सेसासु सुहृत्तान्ते” इत्यादि, अनन्तरोक्तमनोयोगाद्यष्टादशमार्गणा विहाय शेषासु यास्वायुर्वन्धो भवति, तासु निरयगत्योधादिपञ्चचत्वारिंशदभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं “सुहृत्तान्ते हस्सं” ति आयुपोऽल्पतरस्थितिवन्धस्याऽवक्तव्यस्थितिवन्धस्य च प्रत्येकं ‘हस्वं’ जघन्यमन्तरं ‘सुहृत्तान्तः’-अन्तर्मुहूर्तं भवतीत्यर्थः । सुगमम् । भावना तु सर्वथैवोषधद् द्रष्टव्येति । एतास्वेव पञ्चचत्वारिंशदभ्यधिकशतसंख्याकासु शेषमार्गणासु उत्कृष्टान्तरं दर्शयन्नाह—“परमं ह्वेज्जे” इत्यादि, आयुपोऽधिकृतद्विविधस्थितिवन्धस्य प्रत्येकं ‘परमम्’-उत्कृष्टमन्तरं षण्मासा भवेत् । कासु मार्गणास्वित्याह—“सव्वणिरये” इत्यादि, सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वेषु नरकगतिमार्गणाभेदेषु, सर्वेषु देवगतिमार्गणाभेदेषु, पट्पु प्रशस्ता-ऽग्रशस्तलेश्यामार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । कुतः ? उच्यते, निरयदेवानां वेद्यमानायुपो मासपटकेऽनवशेषे परमवायुर्वन्धो न भवति, तथा च गति प्रथमा-कर्षेण षण्मासात्मिकायामुत्कृष्टावाधायां प्रथमवारमायुर्वन्धं कृत्वा द्वितीयाकर्षेण जघन्यावाधायां भव-चरमान्तर्मुहूर्ते पुनरप्यायुर्वन्धभाव उत्कृष्टान्तरं लभ्यते, यद्यप्येवं प्रकृतान्तरं देशोनषण्मासप्रमाणं भवति, मूले च षण्मासा इत्यभिहितम्, तथाऽपि सूत्रस्य सूचकत्वाददोषायेति । शेषकृष्णलेश्यादि-षण्मार्गणास्वपि प्रस्तुतान्तरं देवनिरयसन्कप्रस्तुतान्तरानुसारेणैव भावनीयमिति ॥५९०॥

अथ मार्गणान्तरेषु प्रस्तुतान्तरमाह—

परमं सव्व-तिरिय-णर-एगिंदिय-विगल-पंचकायेसुं ।

असमत्तपणिंदितसेसु साहिया भवटिई णेयं ॥५९१॥

(प्रे०) “परमं सव्वतिरिय” इत्यादि, आयुपोऽल्पतराऽवक्तव्यस्थितिवन्धयोः ‘परमम्’-उत्कृष्टमन्तरं, माधिका भवस्थितिर्ज्ञेयमिति गाथा ग्रान्तेऽन्वयः । कासु मार्गणास्वित्याह—“सव्व-तिरिये” इत्यादि, सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वे तिर्यग्गतिभेदाः, सर्वे “णर” ति मनुष्यगति-भेदाः, सर्वे एकैन्द्रियजातिभेदाः, सर्वे त्रिकलेन्द्रियजातिभेदाः, सर्वे पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्त-पञ्चकायमार्गणासत्का भेदास्तेषु चतुःषष्टिमार्गणाभेदेषु, तथा “असमत्त” इत्यादि, अत्राप्यसमाप्त-शब्दस्य प्रत्येकं योजनादपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाप्यामपर्याप्तत्रयकायमार्गणायां च प्रत्येकमित्यर्थः । कुत आसु साधिकभवस्थितिः प्रस्तुतान्तरम् ? आसां मार्गणानां प्रत्येकं नानाभवावस्थायित्वात् ।

किमुक्तं भवति ? पूर्वोक्तमार्गणाः प्रत्येकं भवद्भ्येऽवस्थायिन्यो नामन्, अतस्तास्वेकास्मिन् भव एवाकर्षद्भ्येन वारद्वयमायुर्वन्धं कुर्वन्तं जीवमपेक्ष्याऽन्तरमानीतम्, प्रकृतमार्गणास्तु नानाभवा-वस्थायिन्यः, प्रतिभवमेकवारं तु नियमेनायुर्वन्धो जायते, स चोत्कृष्टस्थितिक एकस्मिन् भवे यदा उत्कृष्टावाधायां, तादृशे च तदनन्तरमवे जघन्यावाधायामित्येवं द्विः क्रियते तदाऽऽयुर्वन्ध-स्योत्कृष्टान्तरं लभ्यते, तच्च प्रथमभवसत्कृतृतीयभागाभ्यधिकान्तर्मुहूर्तेन द्वितीयभवप्रमाणं, तदेव

मूले साधिकभवस्थितिप्रमाणप्रस्तुतान्तरतयाभिहितम् । कथम् ? आयुर्वन्धेन सममेव तयोरवक्तव्यान्पतरस्थितिवन्धयोरपि नियमतो भावात् । अत्र हि भवस्थितिरुत्कृष्टा ज्ञेया, उत्कृष्टान्तरस्य प्रस्तुतत्वादिति ॥५११॥ अथाऽन्यत्राह—

कायम्भि भूभवठिर्देसूणतिभागसंजुया जेट्टा ।

उरलेऽवमद्वियाणि गुरुं सत्तमहस्याणि वामाणि ॥५१२॥

(प्रे०) “कायम्भि” इत्यादि, काययोगमार्गणाश्वायुषोऽल्पतराऽवक्तव्यस्थितिवन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टमन्तरं “भूभवठिर्दे” ति भूयः-पृथिवीकाधिकस्य भवस्थितिभूभवस्थितिः, अस्य चान्वयः परेण “जेट्टा” इत्यनेनः ततश्च पृथिवीकायस्योत्कृष्टा भवस्थितिरित्यर्थः । प्रस्तुतान्तरस्य पृथिवीकायोत्कृष्टभवस्थितितोऽप्यधिकमभवात्पृथिवीकायोत्कृष्टभवस्थितिं विशिनष्टि—“देसूणति-भागसंजुया” ति देशानेन स्वीयतृतीयभागेन ‘संजुया’-अभ्यधिका इत्यर्थः ।

इदमुक्तं भवति—निरन्तरकाययोगिनः उत्कृष्टभवस्थितिका जीवाः पृथिवीकार्यका एव सन्ति, अतः पूर्वोक्तन्यायेनोत्कृष्टस्थितिकयोर्निरन्तयोर्द्वयोर्भवयोः, क्रमेणोत्कृष्टावाधायां जघन्यावाधायां च जायमानायुर्वन्धद्वयस्यान्तरालमपेक्ष्य काययोगमार्गणाश्वायुषोऽल्पतराऽवक्तव्यस्थितिवन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टान्तरमन्तमुहूर्तलक्षणेनैकदेशेनोत्तमस्वतृतीयभागेनाभ्यधिका पृथिवीकायस्योत्कृष्टभवस्थितिः सम्पद्यते, अतस्तथैवोक्तमिति ।

“उरले” ति औदारिककाययोगमार्गणाश्वायुषः प्रस्तुतस्थितिवन्धद्वयस्य प्रत्येकं ‘गुरु’-उत्कृष्टमन्तरमभ्यधिकानि-याधिकानि सप्तमहस्रवर्षाणि भवतीत्यर्थः । इदमप्यनन्तरोक्तपृथिवीकायोत्कृष्टभवस्थितिमपेक्ष्यैव भावनीयम्, नवरं द्वितीयवारमायुर्वन्धोऽपि प्रथममेव एव जघन्यावाधायां द्वितीयाऽऽकर्षणं द्रष्टव्यः न पुनस्तदनन्तरमेव । कुतः ? तत्रोत्पत्त्याऽपर्याप्तवस्थायां प्रस्तुतां दारिककाययोगमार्गणाया विच्छेदप्रसंगात् । इत्थं हि पृथिवीकायस्योत्कृष्टभवस्थितिर्द्विंशतिवर्षसहस्राणि, तस्यास्तृतीयभागेऽवशेषमुत्कृष्टावाधायां प्रथमवारमायुर्वन्धाद्द्वं द्वितीयवारं भवत्तन्तमुहूर्त आयुर्वन्धकरणेऽधिकृतान्तरं लभ्यते, आयुर्वन्धेन सममेव तृतीयावक्तव्यान्पतरस्थितिवन्धयोरपि नियमेन भावादिति ॥५१२॥ औदारिकमिश्रकाययोग-स्त्रीवन्दयोः प्रस्तुतान्तरमाह—

ओरालियमीसम्मि उ भिन्नमुहुरं हवेज्ज उक्कोसं ।

अवमद्विया पणपण्णा पलिया थीए गुरुं णेयं ॥५१३॥

(प्रे०) “ओरालियमीसम्मि उ” इत्यादि, औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां तु ‘भिन्न-मुहूर्तम्’-अन्तमुहूर्तं भवेत् । किमित्याह—“उक्कोसं” ति आयुषो द्विविधस्थितिवन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टान्तरम् । सुगमं चैतत्, अपर्याप्तजीवानां निरन्तरे भवद्वये जायमानायुर्वन्धद्वयमपेक्ष्य तन्लाभा-

दिति । भावना काययोगसामान्यवदपर्याप्तोत्कृष्टमवग्रयापेक्षया द्रष्टव्येति । अथ स्त्रीवेदमार्गणाया-
माह—“अवमहिया” इत्यादि, स्त्रीवेदमार्गणायामधिकृतं ‘गुरु’-उत्कृष्टमन्तरम‘भ्यधिकानि’-पूर्व-
कोटीत्रिभागेनाभ्यधिकानि पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि ज्ञेयम् । “पलिया” इत्यत्र पुंस्त्वं प्राकृतवशात् ।
प्राकृते हि लिङ्गमतन्वम् । यदाहुः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः स्वप्राकृतलक्षणे ‘लिङ्गमतन्वम्’ (सिद्ध-
हेम० ८।४।४४५) इति । अत्र पूर्वकोटीतृतीयभागः पूर्वकोट्यायुष्कमनुष्यावस्थायामुत्कृष्टावाधायां
प्रथमवारमायुर्वन्धकरणान्छेपमनुष्यभवमन्तः, पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमानि तुत्कृष्टस्थितिकदेवीतरोत्पन्न
तत्रान्तमुहूर्तान्मिकायामसंक्षेप्याद्यायां द्वितीयवारमायुर्वन्धकरणादायुर्वन्धाभ्रावतीतदेवभवमन्तकानि,
शेषं तु प्राण्यद्योव्यमिति ॥५९३॥

मणणाण-संयमेषुं ममइअ-छेअ-परिहार-देसेसुं ।

उक्कोसं पुव्वाणं कोडितिभागो उ देसूणो ॥५९४॥

(प्र०) “मणणाणे” न्यादि, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणयोः मापाविक-छेदोपस्थापन-
परिहारविशुद्धिक-देशसंयममार्गणासु च प्रत्येकम् “उक्कोसं” ति आयुषोऽल्पतरावक्तव्यस्थिति-
बन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टं दीर्घमन्तरं “पुव्वाणं कोडितिभागो उ देसूणो” ति पूर्वोणां ‘पुव्वस्स
उ परिमाणं’ इत्यादिनाऽन्यत्रोक्तस्वरूपाणां या कोटिस्तस्याः “लिभागो” ति तृतीयभाग इति पूर्व-
कोटित्रिभागः स च “देसूणो” ति अन्तमुहूर्ते लक्षणेनैकदेशेनोतः, अन्तमुहूर्तेनपुनपूर्व कोटितृतीय-
भाग इति भावः । तद्यथा—संयमितो देवसंयमितश्चोत्कृष्टः पूर्वकोटीवर्षायुष्का एव सन्ति,
तेषु केनायुत्कृष्टाराधायां प्रथमाकर्षणं, ततोऽसंक्षेप्याद्यायां द्वितीयाकर्षणेनैवं दिगयुर्वन्धे कृते
प्रकृतान्तरं यथांक्तप्रमाणमवाप्यत इति ॥५९४॥ अथ विभङ्गज्ञानमार्गणायामाह—

विचभंगे देसूणा जेट्ठा कायट्टिई मुणेयव्वं ।

देसूणा छम्मासा हवइ ति भणन्ति अण्णे उ ॥५९५॥

(प्र०) “विचभंगे” इत्यादि, विभङ्गज्ञानमार्गणायां ‘उद्येष्टा’-उत्कृष्टा “कायट्टिई” ति
‘कायट्टिई उक्कोसा णिरवसुराणं विभङ्गणाणस्स’ इत्यादिना पूर्वं काठजारेऽभिहितमना देशेन पूर्वकोटय-
भ्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि विभङ्गज्ञानमार्गणाया एकजीवाश्रया कायस्थितिः ‘देसूणा’ ति
किञ्चिदूनपूर्वकोटितृतीयभागइत्यलक्षणेनैकदेशेनोतः सती प्रकृतयोरायुषोऽल्पतरा-ऽयक्तव्यलक्षणस्थिति-
बन्धयोः प्रत्येकमुत्कृष्टमन्तरं ज्ञानव्यम् । अत्रैव महाबन्धकाराभिमतामाह—“देसूणा छम्मासा”
इत्यादि, सुगमम्, तन्मते नारकेष्वपर्याप्तावस्थायां विभङ्गज्ञानस्यानभ्युपगमात्, तिर्यग्नरेषुत्कृष्टतो
निरन्तरमन्तमुहूर्तमेव विभङ्गज्ञानस्य स्वीकृतत्वाच्च । विशेषतस्तु प्रस्तुतमार्गणायां द्वितीयाधि-
कारैकजीवाश्रयकालक्षारदर्शिताऽऽयुरनुत्कृष्टस्थितिवन्धोत्कृष्टान्तरवद्विभावनीवमिति ॥५९५॥

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतान्तरं दिदर्शयिषुसेकामार्यामाह—

आयुर्वेदसप्तसूक्तप्रकृतीनां मूयस्कारादिचतुर्विधस्थितिवन्स्यैकजीवाश्रयान्तरप्रदर्शकयन्त्रम्

★	अवस्थितस्थितिबन्धस्य				अवक्तव्यस्थितिबन्धस्य		
	जघन्यतः समयः	१ समयः	१ समयः	श्लोघवत् १ समयः	१ समयः	नास्ति	श्लोघतः △ अन्तमु हृतम्
उत्कृष्टतः	४ समयाः	३ समयः	अन्तमु हृतम्	२ समयः	॥	देशान्तरस्थितिः	
गति०	तिर्यग्गत्योष. १	सर्वपञ्चेन्द्रिय- तिर्यग्भेद० ४	मनुष्योष-तत्पर्याप्त- मानुषीः ३	शेष० ३६		मनुष्योष-तत्पर्याप्त- मानुषी० * ३	
इन्द्रिय०		अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय- य० १	पञ्चेन्द्रियोष- तत्पर्याप्तभेदो, २	" १६		पञ्चेन्द्रियोष-तत्पर्याप्त- वन्ति, ०	
काय०	अपर्याप्तवस० १		अश्लोघ-तत्पर्याप्तो. २	" ३६		अश्लोघ-तत्पर्याप्त- भेदो २.	
गोच०	गोच. १	श्रीदारिकाभिघ० १	काययोगोष० १	" १५	सर्वगोचरो- काययोगोष० श्रीदारिक० १२		
वेद०	नपुंसक० १	स्त्री०पुंवेद० २	अपगतवेद० १		गतवेद० १		
चत्वार्य०	सर्व० ४				नाम० १		
ज्ञान०	मत्स्यज्ञान-भुजा- जाने, २		मत्स्याविज्ञान- चतुष्क० ४	विभङ्ग० १		मत्स्याविज्ञान- चतुष्क० ४.	
संयम०	सूक्ष्म. १ असयम० १		संयमोष० १	शेष० ४		संयमोष० १	
दर्शन०			चक्षुरादि० ३			चक्षुरादि० △ ३	
लेदया०	अधुम० ३		शुक्र० १	" २	शुक्र० १		
भव्य०	अभव्य० १		भव्य० १			भव्य० △ १	
सम्यक्त्व.	मिथ्यात्व० १		सम्यक्त्वोष० शायि० श्लोष० ३	" ३	श्लोषशमिक० १	सम्यक्त्वोष० शायि० श्लोष० ३	
संज्ञी०		असंज्ञी० १	संज्ञी, १			संज्ञी० १	
आहारी०	अना. १		आहारी, १			आहारी, १	
सर्वमार्गिणाः-३	१५	६	२४	११६	१६	२०	
गाथाङ्काः-५८१	५८१-५८२	५८१-५८३	५८४-५८५	५८५	५८६	५८७-५८८	

★ मूयस्कारा-रूपतरयोः प्रत्येकमावतो निरगत्तोषादिसर्वमार्गिणासु च जघन्यतः समयः, उत्कृष्टतोऽन्तमु हृतम्, केवलम्-कामर्गाऽनाहारकगोरन्तरमेव नास्ति, अत्रगतवेद-सूक्ष्मसम्परायणो जघन्यतोऽप्यन्तमु हृतम् । (गा-५७६-७६-८०)
 * मनुष्योष-तत्पर्याप्त-मानुषीमार्गत्रय उत्कृष्टान्तरं पूर्वकोटिपृथक्त्वम्, न तु देशान्तरस्थितिः । (गाथा-५८७)
 △ श्लोघतोऽचक्षुर्दंशने भव्यमार्गिणास्थाने चोत्कृष्टतो देशान्तरपुद्गलपरार्धतः । (गाथा-५८८)

आयुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धयोरेकजीवाश्रयान्तरप्रदर्शकयन्त्रम्		
शोधतः सर्वमार्गणासु च	प्रयत्नव्या-ऽल्पतरस्थितिवन्धयोः प्रत्येकम्	सर्वथा-ऽनुकृष्टस्थितिवन्धान्तन्यम् ★

अब्भहियपुव्वकोडी गुरुं असण्णिम्मि होइ सेसासुं ।

साहियतेत्तीसुदही उक्कोसं अंतरं णेयं ॥५९६॥

(प्रे०) “अब्भहियपुव्वकोडी” इत्यादि, असंज्ञिमार्गणायां “गुरुं” ति प्रकृतमायुषो-
ऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धयो प्रत्येकं ‘गुरु’-उत्कृष्टमन्तरमभ्यधिकपूर्वकोटिः, देशोनपूर्वकोटिर्तृतीय-
भागेनाभ्यधिकपूर्वकोटीवर्षप्रमाणं भवतीत्यर्थः । एतच्च प्रागुक्तकाययोगसामान्यमार्गणावद्भावनी-
यम्, नवरमुत्कृष्टस्थितिकामंज्ञिनो भवइयमपेक्ष्येति । “सेसासुं” ति यास्वायुर्वन्धो भवति
तास्योऽनन्तरोक्ता मनोयोगाद्यसंज्ञिपर्यन्ता मार्गणा विविच्य शेषासु पञ्चेन्द्रियांघादिव्रयोविंशति-
मार्गणासु प्रत्येकमायुषो द्विविधस्थितिवन्धस्योत्कृष्टमन्तरं साधिकत्रयस्त्रिंशदुदधयो ज्ञातव्यमि-
त्यर्थः । शेषमार्गणा नामत इमाः—पञ्चेन्द्रियांघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसकार्योघ-पर्याप्तत्रसकाय-
पुंवेद-नपुंसकवेद-मत्यादिविज्ञान-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयम-चक्षुगादिविदर्शन-भ्रमा-ऽभव्य-सम्य-
कन्धौघ-क्षायिक-क्षायोपशामिकसम्यक्त्व-मिथ्यात्व-संज्ञया-ऽऽहागिमार्गणा इति । एतासु प्रत्येकमुत्कृष्ट-
स्थितिकायुर्वद्ध्या मत्समभूर्मां नारकतयोन्पादेऽनुत्तरविमाने देवतयोत्पादे वा तत्राऽपि प्रकृतपञ्चेन्द्रि-
यांघादिमार्गणा अनुवर्तन्ते, ततश्च प्रथमे पूर्वकोटीस्थितिकमनुध्यादिभव उत्कृष्टाबाधायां प्रथमवारं
तदनन्तरं तूत्कृष्टस्थितिकं निरवभवे देवभवे वा जघन्याबाधायां द्वितीयवारमायुर्वन्धं कुर्वन्तं जीव-
मपेक्ष्य प्रकृतान्तरं प्राप्यते, अतस्तदधिक्यद्वेन पूर्वकोटीतृतीयभागेनाभ्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरो-
पमाणि वेदितव्यमिति ॥५९६॥

तदेवमभिहितमायुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धयोः प्रकृतमेकजीवाश्रयमन्तरं शेषमार्गोस्वपि,
तस्मिँश्चाभिहिते गतं चतुर्थमेकजीवाश्रितमन्तरद्वारम् ॥

॥ इति श्रीवन्धुविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे चतुर्थे नानाजीवाश्रयमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम् ॥

साम्प्रतं नानाजीवाश्रितेषु भङ्गविचयादिद्वारेषु क्रमप्राप्ते “भङ्गविचयो” इत्यनेनोदिष्टे भङ्गविचयार्थिषु पञ्चमे द्वारे नानाजीवाश्रयां भङ्गविचयप्ररूपणां चिकीर्षुर्वक्ष्यमाणकरणेन भङ्गविचयोत्पत्त्यां शीजभूतं तत्तत्पदानां भ्रुवत्वादिकमादौ तावदोच्यते आह—

सत्तण्ह बंधगा खलु भूगाराईण तिण्ह णियमात्थि ।

भयणीआऽवत्तव्वस्माउस्स पयाण दोण्ह धुवा ॥५९७॥

(प्रे०) “सत्तण्ह बंधगा” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां “भूगाराईण” ति ‘भूयस्कारादीनां’-भूयस्काराऽन्पतरावऽवस्थितलक्षणानां त्रयाणां स्थितिवन्धविशेषाणां प्रत्येकं ‘बन्धकाः’-निर्वर्तकाः “णियमात्थि” ति नियमात् सन्ति, नियमस्य त्रिकालापेक्षया कृतत्वादोष-चिन्तायां तद्वन्धकानां न कदाचिदभावो लभ्यत इत्यर्थः । ‘ध्रुवपदान्येतानीति यावत् । “भय-णीआऽवत्तव्वस्स” ति तेषामेव सप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धस्य ‘भजनीयाः’-भाज्याः, कदाचि-ल्लभ्यन्ते कदाचित् नेत्यर्थः । अध्रुवपदमेतदिति यावत् । “उस्स पयाण दोण्ह” ति विश्लेश-प्राप्तस्याऽऽकारस्य पूर्वं दर्शनादायुषोऽन्पतरावक्तव्यस्थितिवन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि पदयोः “ध्रुवाः” ति बन्धका ध्रुवाः, सर्वदा लभ्यन्त इत्यर्थः । अत्र भङ्गविचयप्रस्तावेऽपि भूयस्कारादिस्थितिवन्धक-पदानां ध्रुवाध्रुवत्वप्रदर्शनं ध्रुवाध्रुवपदैरेव वक्ष्यमाणकरणेन भङ्गविचयोत्पत्तेरिति ज्ञेयम् । तत्तत्पदानां ध्रुवा-ऽध्रुवत्वोपपत्तिस्तु मार्गणास्थानेषु तत्तत्पदानां वक्ष्यमाणध्रुवाऽध्रुवत्वोपपत्तिवत्कार्येति ॥५९७॥

तद्वैवं दर्शितान्पोषतो भङ्गविचयप्रयोजकानि ध्रुवाध्रुवपदानि । साम्प्रतमादेशतो दिदर्श-यिषुः सप्तप्रकृतिसन्धभूयस्वारादिस्थितिवन्धकपदानां ध्रुवत्वादिकं दर्शयति—

तिरिये सव्वंगिंदियणिगोअ-सेससुहमेसु वणकाये ।

पुहवाइ चउसु तेमिं वायर-वायरअपज्जेसुं ॥५९८॥

पत्तेअवणे तस्स य असमत्ते कायुरालियदुगेसुं ।

कम्मण-णपुंसगेसुं कसायच्चउगे अणाणदुगे ॥५९९॥

अयताऽचक्खूसु तहा अपसत्थतिलेस-भवियेसुं ।

अभविय-भिच्छत्तेसुं असणिण-आहारगियरेसुं ॥६००॥ (उपगीतिः)

सत्तण्ह बंधगा खलु भूगाराईण तिण्ह णियमाऽत्थि ।

एआसु अवत्तव्वो जहि तहि से अत्थि भयणीया ॥६०१॥

(प्र०) “तिरिच्ये” इत्यादि, तिर्यगन्वोघे, सर्वशब्दस्यैकेन्द्रियनिगोदयोः प्रत्येकं योजनात् सर्वैकेन्द्रियभेदाः, सर्वनिगोदभेदाः, सूक्ष्मपृथिवीकायादिद्वादशसूक्ष्मजीवभेदास्तेषु, वनस्पतिकार्याघे तथा “पुह्वाइच्चउसु” ति पृथिवीकायादिवायुकायान्तेषु चतुर्षु पृथिव्याद्योघभेदेषु, “नेसि” ति तेषां पृथिव्यादिचतुर्णां “वायरवायरअपज्जेसु” ति वादरभेदेष्वपर्याप्तवादरभेदेषु च, वादरपृथिव्यसंज्ञोवायुकायेष्वपर्याप्तवादरपृथिव्यसंज्ञोवायुकायेषु चेत्यर्थः । प्रत्येकवनस्पतिकार्यस्याघे, तस्य च प्रत्येकवनस्पतिकार्यस्याऽपर्याप्तभेदे, “कायुरालियदुगेसु” ति काययोगसामान्यादारिकादारिकमिश्रकाययोगेषु चेत्यर्थः । तथा कर्मणकाययोग-नपुंसकवेदयोः, क्रोधादिकरायचतुष्के, मत्पज्ञान-श्रुताज्ञानरूपेऽज्ञानद्विके, अमंयमा-ऽचक्षुर्दर्शनयोस्तथाऽप्रशस्तकृष्णादिविलेश्या-भव्यमार्गणाभेदेषु, अभव्य-मिध्यान्वमार्गणयोः, असंज्ञिमार्गणायां, आहारकमार्गणायां तथेतरपदादनाहारकमार्गणायां चेत्येवं चतुःषष्टिमार्गणासु प्रत्येकमायुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां “भ्रूगाराईण तिष्ह” ति ‘भूयस्कारादीनां’-भूयस्काराल्पतरावस्थितस्थितिवन्धलक्षणानां त्रयाणां “बंधगा” ति बन्धकाः-निर्वर्तकाः, खलु पादप्रत्ये, “णियमाऽत्थि” ति प्राग्बन्ध नियमान्सन्ति-यवदा प्राप्यन्ते, एतानि त्रीण्यपि ध्रुवपदानां भावः ।

एतासु तिर्यगन्वोघादिचतुःषष्टिमार्गणामु मर्जासु न सप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धसद्भावः, किन्तु कासुचिन्काययोगसामान्यादिमार्गणास्वेव, अतस्तास्ववक्तव्यबन्धकपदं ध्रुवमध्रुवं वन्त्येतदर्शयन्नाह—“एआसु” इत्यादि, एतासु तिर्यगन्वोघादिचतुःषष्टिमार्गणामु सप्तानां प्रकृतीनामवक्तव्यस्य बन्धकास्तु “अवक्तव्वो जहि” ति ‘यध्र’-यामु मार्गणास्ववक्तव्यस्थितिवन्धः सन्नभिहितः “तहि” ति तासु काययोगौ-दारिककाययोगा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारिमार्गणासु सप्तप्रकृतीनां लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणश्च “से” ति तस्यावक्तव्यस्थितिवन्धस्य “अत्थि भयणीआ” ति बन्धका भजनीया सन्ति, अवक्तव्यबन्धकानापदमध्रुवमित्यर्थः ।

तत्तत्पदानां ध्रुवत्वाद्युपपत्तिमार्गास्त्वमे-विहायाऽवक्तव्यस्थितिवन्धसत्पदं सप्तानां भूयस्कारादित्रिविधस्थितिवन्धमन्पदान्योघत आदेशतश्च सर्वजीवानां बन्धप्रायोग्यानि, अन्यच्च कुत्रचिन्मार्गणास्वसंग्यलोकप्रदेशराशिपरिमाणास्तदधिका अनन्ता वा जीवाः सन्ति, यथाघतस्तिर्यगन्वोघादिमार्गणास्थानेषु च । कुत्रचित्तु ततः स्तोकाः स्लोकतराः स्लोकतमाः संख्येया एवोत्कृष्टतोऽपि भवन्ति । तेऽपि कासुचिन्नरकगन्वोघादिमार्गणास्थानेषु निरन्तरं प्राप्यन्ते, कासुचिदपर्याप्तमनुष्यादिसान्तरमार्गणासु तु कदाचित्प्राप्यन्ते, कदाचित् नाऽपि प्राप्यन्ते । इत्थं च यत्र कदाचित्नाऽपि प्राप्यन्ते तस्यास्तु मार्गणाया एवाऽध्रुवत्वात्तत्र मार्गणायां सर्वविधभूयस्कारादीस्थितिवन्धकपदान्यध्रुवाण्येव भवन्तीति तु सुगमः । यत्र तु जीवपरिमाणमेवाऽसंग्यलोकप्रदेशराशितुल्यं तदधिकं वा तत्र तु भूयस्कारादीनि त्रिविधान्यपि पदानि ध्रुवाण्येव भवन्ति, बन्धकानामतिबहुतयाऽन्याऽन्यजीवानां नैरन्तेर्येण भूयस्कारादिबन्धकतया परिणतेः । अत एवाघतस्तिर्यग-

न्योधादिचतुःषष्टिमार्गणास्थानेषु चायुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिद्विविधस्थितिवन्धकपदानां ध्रुवत्वमभिहितम् । यत्र पुनर्निरयगन्योधादिमार्गणास्थानेषु नास्ति जीवपरिमाणं तावत्संख्येय-
लोकादिलक्षणम्, न वा भवति जीवानामेव नारकादितया सर्वथाऽभावस्तत्र त्ववस्थितस्थितिवन्धक-
लक्षणमेकमेव पदं ध्रुवं भवति, भूयस्कारा-ऽल्पतरस्थितिवन्धकास्त्वध्रुवं प्राप्यन्ते । कस्मात् ?
प्रत्यन्तमुहूर्तभाविनामपि भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितस्थितिवन्धानां मध्ये भूयस्काराऽल्पतरस्थिति-
वन्धयोक्तकृष्टस्याऽप्येकजीवाश्रयकालस्यैकद्वयादिसंख्येयसमयमात्रत्वेन तदीयैकजीवाश्रयान्तरस्योक्त-
प्रतोऽसंख्येयसमयप्रमाणत्वेन च प्रत्येकं जीवानां जीवितसंख्येयबहुभागेष्वस्थितस्थितिवन्धकतया परि-
णतेः, भूयस्कारा-ऽल्पतरस्थितिवन्धकतया तु जीवितसंख्येयैकभागमात्रकालं परिणतेश्च । जीवित-
संख्येयबहुभागकालेष्ववस्थितस्थितिवन्धस्य प्रवर्तनात्, जीवितसंख्येयैकभागकाल एव भूयस्कारादि-
स्थितिवन्धानां प्रवर्तनाच्चेति भावः । अत एवानन्तरमपर्याप्तमनुष्यादिमान्तरमार्गणासु सर्वपदानाम-
ध्रुवत्वं प्रतिपाद्याऽपि निरयगन्योधादिमार्गणासु त्ववस्थितस्थितिवन्धकानां ध्रुवत्वमेव वक्ष्यते ।
समानामवक्तव्यस्थितिवन्धस्वामिनस्तूपशमश्रेणिं समारुह्य निपतन्तः केचनैव जीवाः, ते च
नानाजीवानाश्रित्योक्तशमश्रेणैव मान्तरस्त्वात्कदाचित्प्राप्यन्ते, कदाचित् नेत्योघतो मार्गणास्थानेषु
वा सर्वत्र यत्र कुत्रचित्समानामवक्तव्यस्थितिवन्धपदं सदभिहितं तत्र तदध्रुवमेव लभ्यते । आयुषो-
ऽल्पतरा-ऽवक्तव्यद्विविधस्थितिवन्धसन्पदयोस्तु प्रस्तुतध्रुवाऽध्रुवत्वमोघतो मार्गणास्थानेषु वा
सर्वत्र सर्वथैवाऽयुषः प्रकृतिवन्धकानां ध्रुवा-ऽध्रुवत्ववदेव लभ्यते । कथम् ? कदाचित्कमप्यायुः-
प्रकृतिवन्धं कुर्वतां जीवानां तदीयाऽल्पतरा-ऽवस्थितस्थितिवन्धयोर्निष्पत्तो भावात्, वन्धकपरिमाण-
स्याऽसंख्येयलोक-नदीयक-तद्दीनत्वादिरूपेण तुल्यत्वाच्च । अत एवांघत आयुषो द्विविधपदे ध्रुवेऽ-
भिहिते, निर्यगन्योधादिमार्गणास्थानेष्वपि ते ध्रुवेऽभिधास्यते, अन्यत्र त्वध्रुव इति ॥५९८-६०१॥

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतमायुर्वर्जानां भूयस्कारादितत्त्वन्धकानां ध्रुवत्वादिकमाह—

अममत्तणरा-ऽऽहारगजुगल-विउवमीसगेषु गयवेण् ।

छेण् परिहार-मुहम-उवमम-सासाण-मीसेसु ॥६०२॥

सत्तण्ह सगपयाणं भयणीआ बंधगाऽत्थि सेसासु ।

णियमा अवट्टिअस्स हि सेससगपयाण भयणीआ ॥६०३॥

(प्र०) “असमत्तणरे”त्यादि, अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायां, तथाऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रकाय-
योगयोर्युगले, वैक्रियामिश्रकाययोगमार्गणायां, गतवेदमार्गणायां, लेशोपस्थापनसंयमे, परिहारविशुद्धिक-
संयम-सूक्ष्मसम्परायसंयमौ-पशमिकसम्यक्त्व-मास्वादन-मिश्रदृष्टिमार्गणासु चेत्यर्थः । एतासु प्रत्येकं
किमित्याह—“सत्तण्ह” इत्यादि आयुर्वर्जानां सप्तानां प्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिवन्धलक्षणानां
'स्वकपदानां'-स्वकीयपदानाम्, भूयस्कारादीनि यावन्ति पदानि यस्यां मार्गणायां सद्भूतानि तावन्ति

तस्यां स्वकपदानि, तानि चाऽपर्याप्तमनुष्य-काययोगौघ-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाय-
योग-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयम-सम्यग्निध्वान्त्र-मासादनरूपनवमार्गणाम्
ज्ञानावरणादीनां सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकं भूयस्काराऽल्पतराऽवस्थितस्थितिवन्धलक्षणानि त्रीणि,
औपशमिकमस्यक्त्वा-ऽपगतवेदमार्गणयोस्तु प्रत्येकं सप्तानां भूयस्काराऽल्पतरावस्थितावक्तव्यस्थिति-
बन्धलक्षणानि चत्वारि । तेषां स्वकपदानां “भयर्णाआ बन्धगा” इति ‘बन्धकाः’-निर्वर्तका
भजनीयाः । कुत एतासु सर्वपदानि भाज्यानि ? इति चेत्, नानाजीवानाश्रित्यैतायां मार्गणा-
नामेव सान्तरन्वादिति । “सेसासु” इति उक्तशेषाम् पञ्चनवतिमार्गणाम् प्रत्येकं सप्तप्रकृतीनां
“णिद्यमा अवद्विअस्स हि” इति अवस्थितस्यैव बन्धका नियमात्, यन्तीति शेषः । “सेस-
सगपयाण” इति प्राग्वत्, नवरमवस्थितस्थितिवन्धस्य निर्वर्तकानां कथितत्वात्तेन वर्जानां
शेषाणां स्वकपदानामित्यर्थः । तेषां किमिदं—“भयर्णाआ” इति सुगमम् ।

तत्र शेषमार्गणा इमाः पञ्चनवतिः—अर्द्धा नरकगतिभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रिय-
तिर्यग्भेदाः, त्रिंशद्देवगतिभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियः, पर्याप्तवाश्रयस्थिव्यसेजो-
वायुकायाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायः, अपर्याप्तत्रयकायः, वैक्रियकाययोगः, पुरुषवेद-स्त्रीवेद-
विभङ्गज्ञान-सामयिकसंयम-देशसंयम-तेजोलेदया-पद्मलेदया-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वमार्गणा इति सप्त-
षष्टिस्तथाऽपर्याप्तमनुष्यभेदवर्जस्त्रयो मनुष्यगतिभेदाः, पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-वर्माघ-
पर्याप्तत्रयकायभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-मत्यादिज्ञानचतुष्क-संधर्माघ-चक्षुर्दर्शना-ऽश्रुद्विदर्शन-
शुक्ललेदया-मस्यक्त्वाघ-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञिरूपा अष्टाविंशतिश्चेति ।

तत्र प्रथमादितासु नरकगान्योघादिसप्तषष्टिमार्गणाम् प्रत्येकं सप्तानां भूयस्काराऽल्पतरावस्थितिवन्ध-
स्थितिवन्धयोर्निर्वर्तका एव भजनीयाः । कुतः ? तास्ववक्तव्यबन्धस्याभावात्, शेषपदेऽवस्थितस्थिति-
स्थितिवन्धकपदस्य तु ध्रुवत्वेन हे एव शेषस्वपदेऽध्रुव इतिकृत्वा । तदनन्तरोदितासु मनुष्यगान्यो-
घाद्यष्टाविंशतिमार्गणाम् पुनः सप्तप्रकृतीनां भूयस्काराऽल्पतरावक्तव्यत्रिविधस्थितिवन्धानां निर्वर्तका
भजनीया इति । एतासु पञ्चनवतिमार्गणाम् भूयस्कारादेर्वन्धकानां भजनीयाभजनीयत्वं तु ‘तिरिये’
इत्यादि(५९८.....)गाथाचतुष्टयवृत्तां तत्र भूयस्कारादेर्वन्धकपरिमाणस्यासंख्येयलोकाप्रदेशराशय-
पेक्षयाऽतिस्तोकत्वादिना प्रकारेण साधितमेवेति ॥६०२-६०३॥

अथ गाथात्रयेण मार्गणास्थानेष्वेव शेषस्याऽऽयुषोऽल्पतरावक्तव्यस्थितिवन्धयोर्निर्वर्तकानां
ध्रुवाऽध्रुवत्वं दर्शयन्नाह—

तिरिये मव्वेगिंदियणिगोअ-सेससुहमेमु वणकाये ।

पुहवाइचउमु तेसिं वायर-वायरअपज्जेसुं ॥६०४॥

पत्तेअरणे तस्म य आपत्ते कापुरालियदुगेसुं ।
 णपुम-चउकमायेसुं दुअणाणा-ऽयत-अचक्खुसुं ॥६०५॥
 असुहतिलेम-भवियियर-मिच्छाऽमणीसु य तह आहारे ।
 दुपयाण बंधगाऽऽउस्स धुवा सेमासु भयणीआ ॥६०६॥

(प्र०) “निरिये” इत्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः सप्तकर्मभूयस्कारादिस्थितिवन्धकानां ध्रुव-
 न्वादिप्रतिपादकगाथाव्याख्यानेनोक्तप्रायश्च । आचार्यस्त्वयम्—सार्धगाथाद्वये “निरिये” इत्यादिना
 नामत उपात्तासु तिर्येगात्योघादिद्विष्टिमार्गणासु प्रत्येकमाधुवः सप्तद्वयस्य बन्धका जघन्यतोऽप्यसं-
 ख्यलोकाकाशप्रदेशराशितुल्याः सन्ति, तथा च सति बन्धकवाहुल्यान्शगु कनीत्याऽल्पतरावक्तव्य-
 स्थितिवन्धयोः प्रत्येकं निर्वर्तकानामन्तरं कदाचिदपि न लभ्यत इति तेषां ध्रुव्यं प्रतिपादितम्,
 शेषासु पुनर्यास्यायुर्वन्धो भवति तासु नरकगत्योघाद्येकोत्तशतमार्गणासु तूक्तबन्धकवाहुल्यस्थाभा-
 वादेवाऽऽयुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धयोः प्रत्येकं निर्वर्तकानां कदाचिदन्तरस्यापि लाभात्तेषां
 भजनीयता दर्शितेति ॥६०४-६०६॥

अथाष्टानामपि प्रकृतीनां भूयस्कारादेर्वन्धकानां भङ्गविचयोपयोगिनं ध्रुवन्वादिकं प्रतिपाद्य
 भङ्गविचरमानयनाव करणं व्याचिक्तीषु ध्रुवपदानां नानात्वेऽपि तन्मन्त्र एक एव भङ्गो भवतीति
 तत्र वक्तव्यताऽभावात्सुगमत्वाद्वा ध्रुवपदान्युपेक्ष्याध्रुवपदप्रयुक्तभङ्गोत्पादने करणगाथामाह—

भयणीअपयस्स दुवे भंगेगाणेगबंधगाहिन्तो ।

ते चिअ तिगुणा दुजुआ पयपयवुद्धीअ कायव्वा ॥६०७॥

(प्र०) “भयणीअपयस्स” इत्यादि, भजनीयपदस्येत्यत्रैकवचनस्योत्पादानादेकस्य भज-
 नीयपदस्य “दुवे भंग” नि द्वौ भङ्गा । अत्रैव भङ्गद्वयस्य हेतुमाह—“गाणेगबंधगाहिन्तो”
 नि विश्लेशप्राप्तस्यैकारस्य दर्शनादेकाऽनेकवन्धकेभ्यः, कदाचिदेकवन्धकलाभात्, कदाचिदनेक-
 वन्धकलाभादिन्यर्थः । अयम्भावः—भजनीयपदे कदाचिन्कवन्धकाभाव इव कदाचिदेको बन्धकः
 कदाचिन्वानेके बन्धका इत्येवं द्वौ भङ्गा प्राप्येते, अत औघत आदेशतो मार्गणास्थानेषु वा यत्र
 कुत्रचिदेकमध्रुवपदं तत्र तन्मन्त्रो द्वौ भङ्गा धर्तव्यौ । यत्रैकस्मादधिकानि द्वयादीन्यध्रुवपदानि
 तत्र पुनः किं कर्तव्यमित्याह—“ते चिअ तिगुणे” इत्यादि, तत्र “पयपयवुद्धीअ” ति ततः
 ‘पदपदवृद्धौ’-प्रतिभजनीयपदवृद्धावित्यर्थः । “ते चिअ” ति तावन्तरपदप्राप्तौ द्वौ भङ्गौ “तिगुणा
 दुजुआ” ति बहुवचनं प्राकृतत्वादतस्त्रिगुणां द्विष्टौ, कर्तव्याविति परेणान्वयः । अत्र “ते”
 इत्यनेनान्तरोक्तौ द्वौ भङ्गौ परामृश्येते, तथापि तौ न द्विभङ्गरूपेण परामृश्यौ किन्तु पूर्वपदप्राप्त-
 भङ्गरूपतया परामृश्यौ । कुतः ? “पयपयवुद्धीअ” इत्यनेन प्रतिपदवृद्धौ तथैव करणीयतयाऽत्र

व्याप्तेरेव दर्शितत्वात् । तथा च सति यत्र द्वे पदे भजनीये तत्र पदवृद्धिरितिकृत्वा तौ पूर्वपदप्राप्तौ द्वौ भङ्गावेव त्रिगुणौ द्वियुतौ कर्तव्यौ, ततो $(२ \times ३ + २ = ८)$ षष्ठौ भङ्गा प्राप्यन्ते । यत्र पुनरपि पदवृद्धिरर्थात् त्रीणि पदानि भजनीयानि तत्र "ते" इत्यनेन पूर्वपदप्राप्तावष्टौ भङ्गास्त्रिगुणा द्वियुताः क्रियन्ते, ततश्च $(८ \times ३ + २ = २६)$ षड्विंशतिर्भङ्गाः सम्पद्यन्ते, एवमुत्तरत्रापि पदवृद्ध्या द्रष्टव्यम् । तद्यथा—यत्र चत्वारि पदानि भजनीयानि तत्र पुनरपि पदवृद्धिरितिकृत्वा पूर्वप्राप्ताः षड्विंशतिर्भङ्गास्त्रिगुणा द्वियुताः क्रियन्ते । तथा च सति $(२६ \times ३ + २ = ८०)$ अशीतिर्भङ्गकाः प्राप्यन्ते, इत्थमेव प्रतिपदवृद्धौ भङ्गवृद्धिः स्वयमेव द्रष्टव्या । एते द्वि-अष्ट-षड्विंशत्यादिभङ्गा अधुवपदनिष्पन्ना एव, प्रकृतकरणस्याधुवपदनिष्पन्नभङ्गानयनार्थमभिहितत्वात् । अतो यत्रैकद्वयादीनि ध्रुवपदानि तत्र तु तन्मन्त्र एको भङ्गोऽधिकः प्राप्यत इति द्वयादिभङ्गेष्वर्थां प्रक्षेप्य इति ।

अस्य प्रकृते योजना त्वेवम्—शोधत आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकमवक्तव्यस्थिति-बन्धका अधुवा भणिताः, शेषभूयस्कारादित्रयाणां तु ध्रुवा उक्ता, तथा च सत्यध्रुवपदमेकमितिकृत्वा द्वौ भङ्गौ प्राप्तौ, ध्रुवपदत्रयनिष्पन्नस्त्वेको भङ्गः प्राप्त इत्येवमोषतो ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकं त्रयो भङ्गा जाताः । तद्यथा—ज्ञानावरणादिसप्तान्यतमस्य स्यादनेके भूयस्कारस्थितिवन्धकाः, अनेकेऽल्पतरस्थितिवन्धकाः, अनेकेऽवस्थितस्थितिवन्धका इति प्रथमः । अवक्तव्यबन्धकानामभावकाल एवार्थं प्राप्यते, । द्वितीयभङ्गस्तु स्यादनेके भूयस्कारस्थितिवन्धकाः, अनेकेऽल्पतरस्थितिवन्धकाः, अनेकेऽवस्थितस्थितिवन्धकाः, एकोऽवक्तव्यस्थितिवन्धक इति । तृतीयभङ्गः पुनस्स्यादनेके भूयस्कारस्थितिवन्धकाः, अनेकेऽल्पतरस्थितिवन्धकाः, अनेकेऽवस्थितस्थितिवन्धकाः, अनेकेऽवक्तव्यस्थितिवन्धका इति । आयुर्विषये त्वोघचिन्तायामेक एव भङ्गः, पदद्वयस्यापि ध्रुवत्वात् । नानापदानां ध्रुवत्वेऽप्येकभङ्गप्राप्तिस्तु सुगमा । तदुच्चारणा त्वेवं भवति—अनेकेऽल्पतरस्थितिवन्धका अनेकेऽवक्तव्यस्थितिवन्धका इति ।

अथ मार्गणास्थानेषु प्रकृतकरणे योजिते प्राप्तभङ्गविचयः प्रदर्श्यते—नरक-गत्योत्रमार्गणायामायुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां भूयस्काराल्पतरस्थितिवन्धकानां प्रत्येकं भजनीयतोक्ता, अवस्थितस्थितिवन्धकानां तु ध्रुवत्वमभिहितमित्येवं द्वे पदेऽध्रुवे, एकं ध्रुवम्, ततश्चाष्टौ भङ्गा अधुवाः, अधुवपदनिष्पन्ना इत्यर्थः । एकोभङ्गो ध्रुवश्च प्राप्यते, एको भङ्गो ध्रुवपदनिष्पन्नः प्राप्यत इत्यर्थः । एवमुत्तरत्राऽपि विज्ञेयम् । तदुच्चारणं त्वेवम्—ज्ञानावरणादीनां सप्तानामन्यतमस्याः 'स्यादनेकेऽवस्थितस्थितिवन्धका इति प्रथमो भङ्ग एकसंयोगी । संयोगस्य प्राधान्यादेकत्वेऽप्येकसंयोगी-त्पुच्यत इति बोद्धव्यम् । 'स्यादनेकेऽवस्थितस्थितिवन्धकाः, एको भूयस्कारस्थितिवन्धक इति द्वितीयो भङ्गः । 'स्यादनेकेऽवस्थितस्थितिवन्धकाः, अनेके भूयस्कारस्थितिवन्धका इति तृतीयो भङ्गः । 'स्यादनेकेऽवस्थितस्थितिवन्धकाः, एकोऽल्पतरस्थितिवन्धक इति चतुर्थो भङ्गः । 'स्यादनेके-

ऽवस्थितस्थितिवन्धकाः, अनेकेऽल्पतरस्थितिवन्धका इति पञ्चमभङ्गः । एते चत्वारो द्विसंयोगिनो भङ्गा जाताः । त्रिसंयोगिनोऽपि चत्वारो भङ्गा भवन्ति । तद्यथा— 'स्यादनेकेऽवस्थितस्थितिवन्धकाः, एको भूयस्कारस्थितिवन्धकः, एकोऽल्पतरस्थितिवन्धकश्चेति षष्ठभङ्गः । 'स्यादनेकेऽवस्थितस्थितिवन्धकाः, एको भूयस्कारस्थितिवन्धकोऽनेकेऽल्पतरस्थितिवन्धका इति सप्तमो भङ्गः । 'स्यादनेकेऽवस्थितस्थितिवन्धकाः, अनेके भूयस्कारस्थितिवन्धकाः, एकोऽल्पतरस्थितिवन्धक इत्यष्टमभङ्गः ।

'स्यादनेकेऽवस्थितस्थितिवन्धकाः, अनेके भूयस्कारस्थितिवन्धकाः, अनेकेऽल्पतरस्थितिवन्धकाश्चेति नवमभङ्ग इति । इत्थमेव शेषनिरयगतिभेदेषु, चतुर्षु तिर्यकपञ्चेन्द्रियभेदेषु, देवगतिमत्क-त्रिशङ्खेदेषु, विकलेन्द्रियमत्कनवभेदेषु, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणाभेदे, वादरपृथिव्यादिसत्केषु चतुर्षु पर्याप्तभेदेषु, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायमार्गणाभेदे, अपर्याप्तत्रसकायभेदे तथा वैक्रियकाययोग-स्त्री-वेद-पुरुषवेद-विभङ्गज्ञान-सामायिकसंयम-देशसंयम-नेजोलेश्या-पञ्चलेश्या-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वे-ष्वित्येवं षट्षष्टिमार्गणास्वपि प्रत्येकमाधुवर्जसप्तप्रकृतीनामेकैकस्या नव नव भङ्गका द्रष्टव्याः ।

मनुष्यौघ-पर्याप्तमनुष्य-मनुष्यौघ-पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रसौघ-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्च-मनोयोग-पञ्चवचोयोग-मत्यादिचतुर्ज्ञान-संयमौघ-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणारूपास्वष्टाविंशतिमार्गणासु तु प्रत्येकं सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धकानां भजनीयतोक्ताऽतस्त्रीणि पदान्यध्रुवाणि, अवस्थितवन्धकास्तु ध्रुवा उक्ताः, तथा च षड्विंशतिरध्रुवभङ्गा प्राप्ताः, एको भङ्गस्तु ध्रुवः प्राप्तः । इत्येवमेतासु प्रत्येकं सप्त-विंशतिर्भङ्गा बोद्धव्याः । भङ्गोच्चारणं तु पूर्ववत्स्वयमेव कर्तव्यमिति ।

अपर्याप्तमनुष्य-वैक्रियमिश्रकाययोगा-ऽऽहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-छेदोपस्था-पन-रिहागविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयम-सम्यग्मिथ्यात्व-सासादनरूपासु नवमार्गणासु पुनः प्रत्येकं सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितस्थितिवन्धका अध्रुवा दर्शिताः, अतस्त्रीणि पदान्यध्रु-वाणि, नास्त्येकमपि ध्रुवपदम् । कुतः ? नानाजीवानाश्रित्यापि प्रकृतमार्गणानां सान्तरत्वात् । इत्थं ह्यध्रुवपदत्रयीनिष्पन्नाः षड्विंशतिर्भङ्गा लभ्यन्त इति ।

काययोगा-दागिककाययोगा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारकरूपासु पञ्चमार्गणासु प्रत्येकं सप्त-प्रकृतीनामवक्तव्यवन्धका अध्रुवाः, शेषभूयस्कारादित्रयाणां ध्रुवाश्च दर्शिताः; इत्थं ह्यध्रुवपदस्यै-कत्वाद् द्वौ भङ्गौ, एकश्च ध्रुवभङ्ग इत्येवमोघवत् त्रयो भङ्गका भवन्ति ।

औपशमिकसम्यक्त्वा-ऽपगतवेदमार्गणयोश्चतुर्णामपि पदानामध्रुवत्वात् ध्रुवपदस्य चाभावाद्-शीतिर्भङ्गाः प्राप्यन्ते; वारत्रयं पदद्वयवशीतिर्भङ्गोत्पत्तिस्तु प्राक्करणगाथाव्याख्यानं दर्शिता ।

तिर्यगत्यौघ-सर्वकेन्द्रिय-सर्वनिगोद-शेषसूक्ष्मपृथिव्यादिभेद-वनस्पतिकायौघ-पृथिव्यसंज्ञोवायु-कायौघभेद-वादरपृथिव्यादिचतुर्भेदा-ऽपर्याप्तवादरपृथिव्यादिचतुर्भेद-प्रत्येकवनस्पतिकायौघा-ऽपर्याप्त-

एतन्नेकत्रयस्वतिकायौ-द्वारिकक्रियाशक्ताययोग-कार्मणकाययोग-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकषाय-मत्स्यज्ञान-
श्रुताज्ञान-ऽसंयम-कृष्ण-नील-कापोतलेइया-ऽमध्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञय-ऽनाहारिरूपास्वेकोनपष्टिमार्गणासु
सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिबन्ध एव नास्ति, शेषभूयस्कारादिस्थितिवन्धकानां तु निरन्तरं प्राप्तेस्त्रीणि
पदानि ध्रुवाणीत्येवमेक एव भङ्गः प्राप्यते, केवलं लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणोऽवक्तव्यवन्धस्य
निर्वर्तका भजनीया इतिकृत्वा लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणः प्रकृतभङ्गाम्त्रयो द्रष्टव्याः, शेष-
पणां तु पथोक्त एक एवेति ।

अधायुषो द्विविधवन्धकाम्बन्धुपदमुक्ततिर्यग्गतयोषाद्येकोनपष्टिमार्गणाभ्यः कार्मणकाययोगा-
ऽनाहारिमार्गणाद्वयं विहाय शेषासु सप्तपञ्चाशन्मार्गणासु काययोगसामान्यौ-द्वारिककाययोगा-ऽचक्षु-
दर्शन-भङ्गा-ऽऽहारिमार्गणासु च ग्रन्थेकं ध्रुवं लभ्यन्त इतिकृत्वा तास्वोधवदेको भङ्गो द्रष्टव्यः ।
शेषमार्गणास्वायुर्वन्धकानां प्राप्तिध्रुवा उक्ता अतः शेषमार्गणासु द्वेऽपि पदे भजनीये, तथा च
सन्त्युक्तकरणानुसारेणाष्टौ भङ्गाः प्राप्यन्त इति । अत्र सर्वत्रापि भङ्गोच्चारणं तु स्वयमेव कर्तव्य-
मिति ॥६०७॥ अथैकसंयोगादिभङ्गान् पथग्निज्ञानतां कृते करणान्तरमाह—

भयणीअपयाण कमा संखा ठप्पा विपज्जयेणाहो ।

सुवरिल्लाए पढमा हेट्टिल्ला खलु विभत्तत्त्वा ॥६०८॥

वीआ पुव्वत्ताए लद्धीए हेट्टिमा गुणिअ पच्छा ।

भइअव्वुवरिमगाए एमेव जहुत्तरं कज्जं ॥६०९॥

जाओ पढमाईओ पत्ता लद्धीउ ताउ णायव्वा ।

कमसो एगाईणं संयोगाणं खलु विगप्पा ॥६१०॥

एगाई संयोगी भंगा कमसो दुगेण ताउ कमा ।

दुगुणदुगुणेण गुणिआ ते एगाणंगजीवाणं ॥६११॥

(प्रे०) “भयणीअपयाण कमा” इत्यादि, “भयणीअपयाणकमा” चि भजनीयपदानां
क्रमात् “संख” चि “संख्याः”-संख्यादर्शकचिह्नानि, एक-द्वि-व्याघङ्का इति यावत् । ताः
“ठप्प” चि ‘स्थाप्याः’ न्यसनीयाः, एक-द्वि-व्याघङ्का इति यावत् । ताः
नामङ्कानां न्यायः कर्तव्य इति भावः । एवमेवोत्तरत्राऽपि विज्ञेयम् । अत्र यस्यां सर्वाधिकानि भज-
नीयपदानि तस्यासाम्यशक्तिकपम्यकन्वमार्गणायां सममेव भाव्यते, तत्रापशक्तिकपम्यकन्वमार्गणायां
भजनीयपदानि चत्वारि, अस्तन्त्वंत्वाका एकोत्तरा एकाघङ्काः क्रमेण स्थाप्याः, [१ २ ३ ४] एककः,
द्विकः, त्रिकः, चतुष्क इति । ततः किं कर्तव्यमित्याह—“विपज्जयेणाहो” चि ‘भयणीअपयाण संखा
ठप्पा’ इत्यनुवर्तते, अतो भजनीयपदानां संख्याः क्रमेण स्थापयित्वाऽनन्तरम् “अहो” चि

तासां स्थापितसंख्यानामधो भजनीयपदानां संख्या 'विपर्ययेण'-व्यत्यासेन स्थाप्या इत्यर्थः । तथा च सति प्रकृते [१] ३ (३) पूर्वस्थापितैकसंख्याया अधश्चतुःसंख्या, द्विसंख्याया अधश्चिसंख्या, त्रिसंख्याया अधो द्विसंख्या, चतुःसंख्याया अध एकसंख्येति । ततः किं कर्तव्यमित्याह—“सुवरि-
न्दत्ताए” इत्यादि, “पदमा हेड्डिला खलु विभक्तव्व” ति प्रथमाऽधस्तनी संख्या खलु विभक्तव्या । कथेत्याह—“सुवरिल्लत्ताए” ति 'स्वोपरितनया'-स्वोपरितनवर्तिन्या संख्यया, स्वमस्तक-
स्थेनाङ्केनेत्यर्थः । तथा च सति प्रकृते [१] ३ (४) लब्धिः] प्रथमाया अधस्तन्याश्चतुःसंख्यायास्तदुपरित-
न्यैकसंख्यया भागे हते लब्धं चत्वार इति भागफलम्, इदं हि लब्धिरप्युच्यते ।

अथ उच्यते यत्करोषीयं तदाह—“वीज्या पुव्वत्ताए” इत्यादि, द्वितीया “हेड्डिमा” ति अधस्तनी संख्या “पुव्वत्ताए लब्धीए” ति पूर्वाऽऽप्तया लब्धया, पूर्वप्राप्तेन भागफलनेत्यर्थः । “गुणिआ” ति गुणयित्वा, गुणनीयेति भावः, तथा च सति प्रकृते [३] ४ (१) द्वादशसंख्या प्राप्ता । अतः पश्चात् किं कर्तव्यमित्याह—“पच्छा भइअव्वुवरिमगाए” ततः पश्चात् सा प्राप्त-
संख्या स्वोपरितनवर्तिन्या संख्यया भक्तव्येत्यर्थः । तथा च कृते प्रकृते [२] ३ (६) लब्धिः] षट्-
संख्या प्राप्ता । “एमेव जहुत्तरं कज्ज” तत्र “एमेव” ति यथाऽनन्तरमुक्तं तथैव, पूर्वप्राप्त-
लब्ध्यात्तरवन्धस्तनसंख्याया गुणनम्, तत्र उपरितनसंख्यया प्राप्तगुणनफलस्य भागहरणं 'यथो-
त्तरं कार्यं' यथोत्तरस्थापिताङ्केषु कार्यमित्यर्थः । ततश्च प्रकृते तृतीयस्थाने [६] २ (१) ३ (४-
लब्धिः] चतुःसंख्या भागफलतया प्राप्ता, पुनरपि तथैव कृते [४] १ (१) लब्धिः] चतुर्थस्थाने
लब्धावेकसंख्या प्राप्तेति ।

या एता लब्धयः प्राप्तास्ता एवैकादिसंयोगिनो भङ्गा बोद्धव्या इति ज्ञापयन्नाह—“जाओ
पदामाईओ” इत्यादि, या अनन्तरांक्तप्रक्रियया प्रथमादयो 'लब्धयः'-चतुष्कादिनि प्रथमादिभाग-
फलानित्यर्थः । प्राप्तास्ता 'खलु' निश्चयेन क्रमेणैकादीनां-एक-द्वि-त्र्यादीनां संयोगानां 'विकल्प्याः'-भङ्गा
जातव्याः । तथा च सति प्रकृते चत्वार एकसंयोगिनो भङ्गाः, षट् द्विसंयोगिनो भङ्गाः, चत्वार-
त्रिसंयोगिनो भङ्गाः, एकश्चतुःसंयोगी भङ्गश्च प्राप्तः ।

किमेतावन्त एव प्रकृते भङ्गा बोद्धव्याः ? न, यत एते बन्धकसामान्यापेक्षया सन्ति,
प्रकृते भजनीयपदेषु काजभेदेनैकानेकबन्धकानां सम्भवात् तदपेक्षया द्रष्टव्याः । नन्वेकानेकबन्धका-
पेक्षया तर्हि कियन्तो भङ्गा इत्याह—“एगाई संयोगी” न्यादि, अनन्तरप्राप्ता एकादिसंयोगिनो
भङ्गाः 'क्रमशः' यथाक्रमं, संस्थाप्येति शेषः । “गुणिआ ते एगाणेगजीवाणं” इति, गुणिताः
सन्तस्ते 'एकानेकजीवानाम्'-एकानेकबन्धकजीवानां, भङ्गका भवन्तीति शेषः ।

नन्वेत एकादिसंयोगिनो भङ्गाः क्रमेण संस्थाप्य केन गुणिताः सन्त एकानेकबन्धकानां
भङ्गा भवन्तीत्याह—“वुणेण ताज कमा वुगुणदुगुणेण” ति प्रथमा द्विकेन, ततः क्रमात्

द्विगुणद्विगुणेन, पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरं द्विगुणेन द्विगुणेन गुणकेनेत्यर्थः । तथा च प्रकृते एते पूर्वोक्ता एकसयोग्यादिभङ्गाः स्थाप्यन्ते-(४, ६, ४, १), ततः प्रथमाश्चत्वारो द्विकेन ताड्यन्ते, (४×२=८) तदा जाता अष्टावेकसंयोगिनो भङ्गाः । ततो द्वितियाः षट् पूर्वापेक्षया द्विगुणेन चतुरात्मकेन गुणकेन ताड्यन्ते (६×४=२४), तदा जाताश्चतुर्विंशतिद्विसंयोगिनो भङ्गाः । ततश्चतुर्थाश्चत्वारः पूर्वापेक्षया द्विगुणेनाऽष्टात्मकेन गुणकेन गुणिताः सन्तो (४×८=३२) जाता द्वात्रिंशत् त्रिसंयोगिनो भङ्गाः । एवमन्त्य एकः पूर्वापेक्षया द्विगुणेन षोडशात्मकेन गुणकेन हन्यते (१×१६=१६), तदा जाताः षोडश भङ्गाश्चतुःसंयोगिनः । एतेषां सर्वेषां मङ्कलं (८+२४+३२+१६=८०) जाता अशीतिर्भङ्गाः ।

इत्थमौपशमिकमध्यकन्वमार्गणायां प्राग्दर्शितकरणेनैव प्रकृतकरणेनाप्यशीतिर्भङ्गाः प्राप्ताः, केवलमत्रैकद्वयादिसंयोगिनो व्यक्ता इति । अथ यत्र त्रीणि यदानि भाज्यानि तत्र भङ्गानयनार्थं प्रकृतकरणानुसारेण केवला स्थापना प्रदर्श्यते—

१ २ ३ ३ २ १	१) ३(३ प्रथमा लब्धिः	३ २	२) ६(३ द्वितीया लब्धिः	३ १	३) ३(१ तृतीया लब्धिः	३ २	४) १२(४ चतुर्थी लब्धिः	३ १	५) २४(४ पञ्चमी लब्धिः	३ १	६) ३२(४ षष्ठी लब्धिः	३ १	७) ४८(४ सप्तमी लब्धिः	३ १	८) ६४(४ अष्टमी लब्धिः	३ १	९) ८०(४ नवमी लब्धिः	३ १	१०) १००(४ दशमी लब्धिः	३ १	११) १२०(४ एकादशी लब्धिः	३ १	१२) १४४(४ द्वादशी लब्धिः	३ १	१३) १६८(४ त्रयोदशी लब्धिः	३ १	१४) १९२(४ चतुर्दशी लब्धिः	३ १	१५) २१६(४ पञ्चदशी लब्धिः	३ १	१६) २४०(४ षष्ठी लब्धिः	३ १	१७) २६४(४ सप्तमी लब्धिः	३ १	१८) २८८(४ अष्टमी लब्धिः	३ १	१९) ३१२(४ नवमी लब्धिः	३ १	२०) ३३६(४ दशमी लब्धिः	३ १	२१) ३६०(४ एकादशी लब्धिः	३ १	२२) ३८४(४ द्वादशी लब्धिः	३ १	२३) ४०८(४ त्रयोदशी लब्धिः	३ १	२४) ४३२(४ चतुर्दशी लब्धिः	३ १	२५) ४५६(४ पञ्चदशी लब्धिः	३ १	२६) ४८०(४ षष्ठी लब्धिः	३ १	२७) ५०४(४ सप्तमी लब्धिः	३ १	२८) ५२८(४ अष्टमी लब्धिः	३ १	२९) ५५२(४ नवमी लब्धिः	३ १	३०) ५७६(४ दशमी लब्धिः	३ १	३१) ६००(४ एकादशी लब्धिः	३ १	३२) ६२४(४ द्वादशी लब्धिः	३ १	३३) ६४८(४ त्रयोदशी लब्धिः	३ १	३४) ६७२(४ चतुर्दशी लब्धिः	३ १	३५) ६९६(४ पञ्चदशी लब्धिः	३ १	३६) ७२०(४ षष्ठी लब्धिः	३ १	३७) ७४४(४ सप्तमी लब्धिः	३ १	३८) ७६८(४ अष्टमी लब्धिः	३ १	३९) ७९२(४ नवमी लब्धिः	३ १	४०) ८१६(४ दशमी लब्धिः	३ १	४१) ८४०(४ एकादशी लब्धिः	३ १	४२) ८६४(४ द्वादशी लब्धिः	३ १	४३) ८८८(४ त्रयोदशी लब्धिः	३ १	४४) ९१२(४ चतुर्दशी लब्धिः	३ १	४५) ९३६(४ पञ्चदशी लब्धिः	३ १	४६) ९६०(४ षष्ठी लब्धिः	३ १	४७) ९८४(४ सप्तमी लब्धिः	३ १	४८) १००८(४ अष्टमी लब्धिः	३ १	४९) १०३२(४ नवमी लब्धिः	३ १	५०) १०५६(४ दशमी लब्धिः	३ १	५१) १०८०(४ एकादशी लब्धिः	३ १	५२) ११०४(४ द्वादशी लब्धिः	३ १	५३) ११२८(४ त्रयोदशी लब्धिः	३ १	५४) ११५२(४ चतुर्दशी लब्धिः	३ १	५५) ११७६(४ पञ्चदशी लब्धिः	३ १	५६) १२००(४ षष्ठी लब्धिः	३ १	५७) १२२४(४ सप्तमी लब्धिः	३ १	५८) १२४८(४ अष्टमी लब्धिः	३ १	५९) १२७२(४ नवमी लब्धिः	३ १	६०) १२९६(४ दशमी लब्धिः	३ १	६१) १३२०(४ एकादशी लब्धिः	३ १	६२) १३४४(४ द्वादशी लब्धिः	३ १	६३) १३६८(४ त्रयोदशी लब्धिः	३ १	६४) १३९२(४ चतुर्दशी लब्धिः	३ १	६५) १४१६(४ पञ्चदशी लब्धिः	३ १	६६) १४४०(४ षष्ठी लब्धिः	३ १	६७) १४६४(४ सप्तमी लब्धिः	३ १	६८) १४८८(४ अष्टमी लब्धिः	३ १	६९) १५१२(४ नवमी लब्धिः	३ १	७०) १५३६(४ दशमी लब्धिः	३ १	७१) १५६०(४ एकादशी लब्धिः	३ १	७२) १५८४(४ द्वादशी लब्धिः	३ १	७३) १६०८(४ त्रयोदशी लब्धिः	३ १	७४) १६३२(४ चतुर्दशी लब्धिः	३ १	७५) १६५६(४ पञ्चदशी लब्धिः	३ १	७६) १६८०(४ षष्ठी लब्धिः	३ १	७७) १७०४(४ सप्तमी लब्धिः	३ १	७८) १७२८(४ अष्टमी लब्धिः	३ १	७९) १७५२(४ नवमी लब्धिः	३ १	८०) १७७६(४ दशमी लब्धिः	३ १	८१) १८००(४ एकादशी लब्धिः	३ १	८२) १८२४(४ द्वादशी लब्धिः	३ १	८३) १८४८(४ त्रयोदशी लब्धिः	३ १	८४) १८७२(४ चतुर्दशी लब्धिः	३ १	८५) १८९६(४ पञ्चदशी लब्धिः	३ १	८६) १९२०(४ षष्ठी लब्धिः	३ १	८७) १९४४(४ सप्तमी लब्धिः	३ १	८८) १९६८(४ अष्टमी लब्धिः	३ १	८९) १९९२(४ नवमी लब्धिः	३ १	९०) २०१६(४ दशमी लब्धिः	३ १	९१) २०४०(४ एकादशी लब्धिः	३ १	९२) २०६४(४ द्वादशी लब्धिः	३ १	९३) २०८८(४ त्रयोदशी लब्धिः	३ १	९४) २११२(४ चतुर्दशी लब्धिः	३ १	९५) २१३६(४ पञ्चदशी लब्धिः	३ १	९६) २१६०(४ षष्ठी लब्धिः	३ १	९७) २१८४(४ सप्तमी लब्धिः	३ १	९८) २२०८(४ अष्टमी लब्धिः	३ १	९९) २२३२(४ नवमी लब्धिः	३ १	१००) २२५६(४ दशमी लब्धिः	३ १
----------------	-------------------------	--------	---------------------------	--------	-------------------------	--------	---------------------------	--------	--------------------------	--------	-------------------------	--------	--------------------------	--------	--------------------------	--------	------------------------	--------	--------------------------	--------	----------------------------	--------	-----------------------------	--------	------------------------------	--------	------------------------------	--------	-----------------------------	--------	---------------------------	--------	----------------------------	--------	----------------------------	--------	--------------------------	--------	--------------------------	--------	----------------------------	--------	-----------------------------	--------	------------------------------	--------	------------------------------	--------	-----------------------------	--------	---------------------------	--------	----------------------------	--------	----------------------------	--------	--------------------------	--------	--------------------------	--------	----------------------------	--------	-----------------------------	--------	------------------------------	--------	------------------------------	--------	-----------------------------	--------	---------------------------	--------	----------------------------	--------	----------------------------	--------	--------------------------	--------	--------------------------	--------	----------------------------	--------	-----------------------------	--------	------------------------------	--------	------------------------------	--------	-----------------------------	--------	---------------------------	--------	----------------------------	--------	-----------------------------	--------	---------------------------	--------	---------------------------	--------	-----------------------------	--------	------------------------------	--------	-------------------------------	--------	-------------------------------	--------	------------------------------	--------	----------------------------	--------	-----------------------------	--------	-----------------------------	--------	---------------------------	--------	---------------------------	--------	-----------------------------	--------	------------------------------	--------	-------------------------------	--------	-------------------------------	--------	------------------------------	--------	----------------------------	--------	-----------------------------	--------	-----------------------------	--------	---------------------------	--------	---------------------------	--------	-----------------------------	--------	------------------------------	--------	-------------------------------	--------	-------------------------------	--------	------------------------------	--------	----------------------------	--------	-----------------------------	--------	-----------------------------	--------	---------------------------	--------	---------------------------	--------	-----------------------------	--------	------------------------------	--------	-------------------------------	--------	-------------------------------	--------	------------------------------	--------	----------------------------	--------	-----------------------------	--------	-----------------------------	--------	---------------------------	--------	---------------------------	--------	-----------------------------	--------	------------------------------	--------	-------------------------------	--------	-------------------------------	--------	------------------------------	--------	----------------------------	--------	-----------------------------	--------	-----------------------------	--------	---------------------------	--------	----------------------------	--------

यत्रैकमपि पदं ध्रुवं तत्रैको भङ्गोऽन्यः प्रक्षेप्यः, इत्थं हि मनुष्यगान्ध्यादिमार्गणासु प्राग्बत्सप्तविंशतिर्भङ्गाः स्युः । यत्र पुनरेकमपि ध्रुवपदं नास्ति तास्वपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु प्राग्बत् षट्विंशतिर्भङ्गा लभ्येरन्निति । इत्थमेवान्यत्रापि यथायर्थं द्रष्टव्यमिति ॥६०८...६११॥

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धे भङ्गविचयप्रदर्शकयन्त्रकम्						
आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकम्						आयुषः
कुत्र ?	भूयस्कारा- ऽल्पतरपदं	अवस्थितः	अवक्तव्य- पदे सति	अवक्तव्य- पदेऽसति	अवक्तव्या- ऽल्पतरपदं	भङ्गाः
अपयस्मितमनुष्यादिषु सान्तर- मार्गणासु	अध्रुव०	अध्रुव०	भङ्गाः =०	भङ्गाः २६	अध्रुव०	८
असंख्यलोक-तदधिकजीवपरिमा- णासु निरन्तरमार्गणासु	ध्रुव०	ध्रुव०	शोधवत् ३	१	ध्रुव०	शोधवत् १
शेषनिरन्तरमार्गणासु	अध्रुव०	ध्रुव०	२७	६	अध्रुव०	८

तदेवं पृथक्पृथगेकसंयोग्यादिभङ्गकान् जिज्ञासनां कृते दर्शितं तथात्रिधं करणान्तरम् । तस्मिंश्च दर्शिते गतं पञ्चमं भङ्गविचयद्वारमिति ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे पञ्चमं भङ्गविचयद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ षष्ठं भागद्वारम् ॥

अथ “भागो” इत्यनेनोद्दिष्टे षष्ठे भागद्वारे मूलप्रकृतीनां भृयस्कारादिस्थितिवन्धक-
भागान् प्रकटयन्नाह—

भूगारप्पयराणं सत्तण्हं बंधगा असंखंसो ।

भागा अवट्टिअस्स उ असंखिया ऽण्णस्स ऽणंतंसो ॥६१२॥

(प्र०) “भूगारप्पयराण” मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां भृयस्काराल्प-
तरयोः स्थितिवन्धयोः प्रत्येकं ‘बन्धकाः’-निर्वर्तकाः “असंखंसो” ति असंख्यांशः, भृयस्कारादि-
सर्वबन्धकानामसंख्येयतमैकभागवर्तिन इत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि स्थितिवन्धकजीवानपेक्ष्यासंख्यैकभाग-
बहुभागादयस्तत्तद्वन्धका ज्ञेयाः, न पुनः सर्वजीवापेक्षयेति । “भागा अवट्टिअस्स उ असंखिय”
ति प्रकृतत्वात् सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकमवस्थितस्थितिवन्धस्य निर्वर्तकास्त्वसंख्येयाः “भाग” ति
बहुभागाः । अत्र बहुभागा इत्येतद् बहुवचनान्तनिर्देशाद् विज्ञेयम् । यत्रैकवचनान्तो निर्देशस्तत्रैको
भागो बोद्धव्यो यत्र तु बहुवचनान्तो निर्देशस्तत्र बहुभागा इति भावः । “ण्णस्स” ति पूर्वमका-
रस्य दर्शनाद् ‘अन्यस्य’-दर्शितान्यस्य, सप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धस्येति भावः । तस्य किमित्याह-
“णंतंसो” ति अत्रापि पूर्वमकारस्य दर्शनादनन्तांशः-अनन्ततमैकभागः, बन्धका इति गम्यते ।
तत्रैकजीवमाश्रित्य शेषबन्धत्रयस्योत्कृष्टप्रवर्तनकालापेक्षयाऽवस्थितस्थितिवन्धस्योत्कृष्टप्रवर्तनकाल-
स्याऽसंख्येयगुणत्वात्तद्वन्धकानां शेषबन्धकापेक्षयाऽसंख्येयगुणः सञ्चयः प्राप्यत इति तेऽसंख्येय-
बहुभागाः कथिताः । तत एव शेषा असंख्येयैकभागप्रमाणाः प्राप्यन्त इति तु सुगमम् । तत्रापि
सप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धकास्तु भृयस्कारादिवन्धकवदेकेन्द्रियादयो न भवन्ति, किन्तु केचन
मनुष्या देवाश्चैवेति ते पुनरनन्तैकभागप्रमाणा अभिहिता इति ॥६१२॥

उक्ताः सप्तप्रकृतीनां भृयस्कारादिस्थितिवन्धकभागाः । अथायुषो द्विविधबन्धकभागानाह—

आउस्स असंखेज्जा भागा ऽप्पयरस्स बंधगा हुन्ति ।

भागो ऽवत्तव्वस्स उ जाणयव्वो असंखयमो ॥६१३॥

(प्र०) “आउस्स” इत्यादि, आयुःकर्मणः “ऽप्पयरस्स बन्धगा हुन्ति” ति अल्पतर-
स्थितिवन्धस्य निर्वर्तका भवन्ति । कियन्त इत्याह—“असंखेज्जा भाग” ति असंख्येया बहुभागा
इत्यर्थः । कुतः ? इति चेद्, एकजीवाश्रयावक्तव्यबन्धकालापेक्षयाऽल्पतरबन्धकालस्योत्कृष्टपदेऽ-
संख्येयगुणत्वात् तदीयबन्धकपरिमाणस्य संख्यातीतत्वाच्च तद्वन्धकसञ्चयोऽप्यवक्तव्यबन्धकमञ्चया-
पेक्षयाऽसंख्येयगुणः प्राप्यते, तथा च भागचिन्तायामपि यथोक्ता एव भवन्तीति ॥६१३॥

उक्ता ओषतः । अथादेशतो दिदर्शयिषुगर्दी सप्तप्रकृतिविषयान् प्राह—

पञ्जमणुस-मणुमीसुं सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेणसुं ।

मणणाण-मंयम-समइअ-छेअ-परिहार-सुहमेसुं ॥६१४॥

सत्तण्ह संखभागो भूगाराईण वंधगा दोण्हं ।

संखेज्जा खलु भागा अवट्टिअस्स व मुणेयव्वा ॥६१५॥

(प्रे०) "पञ्जमणुसे" इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोः "सव्वत्थ" ति देव-
गतिसत्के सर्वार्थसिद्धविमानभेदे, तथाऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगात्मकयाहारकद्विकेऽपगतवेद-
मार्गणायां वेत्यर्थः । तथा "मणणाणे" न्यादि, मनःपर्यवज्ञान-मंयमाद्य-पामाधिक-छेदोपस्था-
पन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायमंयममार्गणास्त्विन्येतासु द्वादशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु
किमित्याह—"सत्तण्ह" इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां "भूगाराईण" ति भूयस्काराऽल्पतर-
लक्षणयोभूयस्कारादयोः "दोण्हं" ति द्वयोः स्थितिवन्धयोः प्रत्येकं बन्धकाः "संखभागो" ति
मार्गणागतबन्धकजीवानां संख्येयतमैकभागप्रमाणा इत्यर्थः । "संखेज्जा खलु" इत्यादि, तत्र खलु-
शब्दो वाक्यालङ्कारे, चकारन्तु पादपूर्व्ये, ततः सप्तप्रकृतीनामवस्थितस्थितिवन्धस्य निर्वर्तकाः
खलु संख्येया बहुभागा ज्ञातव्या इत्यर्थः । एतासु प्रत्येकं बन्धकजीवा एव संख्येया इति कृत्वा
संख्येयैकभागबहुभागा अभिहिताः । भावनास्त्वोद्यवद् द्रष्टव्या ॥६१४-६१५॥

अथ शेषमार्गणासु सप्तानां भूयस्कारादिस्थितिवन्धस्य बन्धकभागान् दर्शयति—

सेमासु असंखयमो भागो सत्तण्ह वंधगा णया ।

भूगारप्पयराणं असंखियाऽवट्टिअस्संमा ॥६१६॥

(प्रे०) "सेमासु" इत्यादि, उक्तशेषास्वप्नश्चाशुत्तरशतमार्गणासु पुनः प्रत्येकं संख्या-
तीतजीवानां सद्भावात्तेषां प्रत्येकं भूयस्कारादिस्थितिवन्धस्वामित्वाच्च "सत्तण्ह" ति सप्तप्रकृतीनां
"भूगारप्पयराणं" ति भूयस्काराऽल्पतरस्थितिवन्धयोः प्रत्येकं 'बन्धकाः'-निर्वर्तकाः "असंख-
यमो भागो" ति असंख्यतम एको भागो ज्ञेयाः । "असंखियाऽवट्टिअस्संमा" ति सप्तानाम-
वस्थितस्थितिवन्धस्य निर्वर्तका असंख्यबहुभागप्रमाणा इत्यर्थः । गतार्थः ॥६१६॥

अथ यासु ज्ञानावरणादिमत्तान्यतमानामवक्तव्यस्थितिवन्धो भवति तासु तस्य बन्धका शेष-
बन्धकानां कर्तितमे भागे वर्तन्त इत्येतद् दिदर्शयिषुर्लाघवार्थं व्याख्येयाह—

जासु खलु अवत्तव्वो तासुं जावइअ संखिया जीवा ।

हुन्ते तत्तियभागो णायव्वा वंधगा तस्स ॥६१७॥

(प्रे०) "जासु खलु" इत्यादि, यासु खलु सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिवन्धसद्भावः प्राग-
भिहितस्तासु मनुष्यगत्योधादिमार्गणासु "जावइअसंखिया जीवा हुन्ति" ति यावत्संख्येया

जीवा भवन्ति, संख्येयाः, असंख्येया, अनन्ता वा यावन्तः स्थितिवन्धकजीवाः सन्तीत्यर्थः ।
 “नस्तिअभागे णायव्वा बंधगा तस्स” ति ‘तावद्भागो’ तावत्संख्येयतमाद्येकभागस्तस्य
 ज्ञानावरणादेश्चत्तव्यस्थितिवन्धस्य ‘बन्धकाः’-निर्वर्तका ज्ञातव्याः ।

अयम्भावः—यामु मार्गणामु मप्तानामवक्तव्यस्थितैर्वन्धकाः सन्ति तामु ते कस्मिन्नप्ये-
 कसमय उत्कृष्टतोऽपि संख्येया एव, न पुनरधिकाः, प्रयत्नदुपशमकादीनामेव मप्तानामवक्तव्यस्थिति-
 बन्धसम्भवात् । यद्यप्येवं तथाऽपि तदन्येषामपि तत्तन्मनुष्यगन्धोघादिमार्गणागतानां भूयस्काराद्य-
 न्यतसस्थितिवन्धस्य नियमेन प्रवृत्तेस्तोऽपि बन्धकास्तु सन्त्येव, ते च कामुचिन्मार्गणामु संख्येयाः,
 अन्यामु कामुचिन्संख्येयाः, अपरासु कामुचिन्नन्ताः सन्ति, तेष्वोऽवक्तव्यबन्धकसंख्यया भागे हते
 यामु संख्येयाः जीवास्तासु संख्येयैकभागः प्रस्तुतावक्तव्यबन्धकाः प्राप्यन्ते, शेषाम्तु संख्येयबहु-
 भागा भूयस्कारादिस्थितिवन्धकतया प्राप्यन्ते, एवं यास्वसंख्येया जीवास्तास्वेतेऽवक्तव्यबन्धक-
 जीवा असंख्यतमैकभागप्रमाणा आप्यन्ते, भूयस्कारादिबन्धकतया स्वसंख्येयबहुभागप्रमाणाः सम्पद्यन्ते ।
 इत्थमेवानन्तजीवाशिविषयेऽपि बोद्धव्यम् । तथा च सति मनुष्यगन्धोघ-पञ्चेन्द्रियोघ-पर्याप्तपञ्चे-
 न्द्रिय-त्रयकार्योघ-पर्याप्तत्रयकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चबन्धयोग-मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-चक्षुर्दर्शना-
 ऽवधिदर्शन-शुक्ललेइया-सम्यक्त्वोघ-क्षायिकसम्यक्त्वोघ-पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञिरूपास्वसंख्येयजीव-
 गतिकमार्गणामु प्रत्येकं मप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धका असंख्येयैकभागगता भवन्ति । पर्याप्त-
 मनुष्य-मानुषी-गतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमोघमार्गणास्तु प्रत्येकं संख्येयजीवराशिका इतिकृत्वा तामु
 प्रत्येकं सप्तप्रकृतीसत्कावक्तव्यस्थितिवन्धकाः संख्येयैकभागप्रमाणा बोद्धव्याः । तदन्यासु पुनः काय-
 योगमामान्या-दागिककाययोगा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारिमार्गणामु लोभमार्गणायां च जीवानामा-
 नन्त्यादवक्तव्यबन्धका अप्यनन्ततमैकभागप्रमाणा अत्रमातव्याः, केवलं लोभमार्गणायां मोहनीय-
 कर्मण एवावक्तव्यस्थितिवन्धस्य सम्भवात् तस्यैव विज्ञेयाः, न पुनः शेषाणामपीति ॥६१७॥

तदेवमुक्त्वाः मप्तानामादेशतोऽपि भूयस्कारादिस्थितिवन्धकभागाः । अथ शेषस्याऽऽयुपस्ता-
 नाऽऽदेशतो व्याचिकीर्षुराह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेषुं ।

मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारसुं ॥६१८॥

सुइल-खइएसु भागा संखेज्जाऽऽउम्म बंधगा णेया ।

अणयरम्म उ भागोऽवत्तव्वम्म खलु संखयमो ॥६१९॥

(प्रे०) “पज्जमणुसमणुसीसु” इत्यादि, प्राग्धत् पर्याप्तमनुष्य-मानुष्या-हारका-ऽऽ-
 हारकमिश्रकाययोगा-ऽऽनतकल्पादिसर्वार्थमिद्विमानान्तदेवगतिमार्गणाभेदेषु मनःपर्यवज्ञान-संय-
 मोघ-सामायिक-छेदोपरस्थापन-परिहारविशुद्धिकमार्गणासु शुक्ललेइया-क्षायिकसम्यक्त्वमार्गणयोश्चे-

त्येवमेकोनत्रिंशन्मार्गणामु प्रत्येकम् “ऽऽउस्स बंधगा णेया अप्पयरस्स उ”ति आयुपोऽल्पतर-
स्थितिवन्धस्य ‘बन्धकाः’ निर्वर्तकानु ज्ञेया इत्यर्थः । कियन्तो भागा इत्याह—“भागा संखेज्ज”
ति मार्गणागतायुर्वन्धकजीवानपेक्ष्य संख्येया बहुभागा इत्यर्थः । “भागोऽवत्तव्वस्स खलु
संखयत्तं” ति तस्यैवायुपोऽवत्तव्यस्थितिवन्धस्य निर्वर्तका खलु संख्येयतमो भागः, आयुर्वन्ध-
कानां संख्येयतमैकभागगता इत्यर्थः । अत्रोपपत्तिस्तत्रोघवत्कर्तव्या, नवरं प्रकृतसर्वमार्गणास्वायुपो
वन्धकानां सामयिकं परिमाणं संख्येयोऽ, तच्च पर्याप्तमनुष्याणामेवायुर्वन्धकतया लाभात् पर्याप्त-
मनुष्यमत्कायुष एव बन्धभावाद्वा । अन्यतरस्माद्धेतोरिति ज्ञेयम् । विशेषार्थिना तु द्वितीया-
धिकारभागद्वारवृत्तिर्विलोक्येति ॥६१८-६१९॥ अथ शेषमार्गणास्वाह—

सेसासु बंधगा खलु अप्पयरस्साऽऽउगस्स णायव्वा ।

भागा उ असंखेज्जाऽवत्तव्वस्स य असंखंसो ॥६२०॥

(प्रे०) “सेसासु बंधगा” इत्यादि, उक्तशेषास्वायुर्वन्धप्रयोग्यासु चतुस्त्रिंशदभ्यधिक-
सप्तमार्गणामु प्रत्येकमायुपोऽल्पतरस्थितिवन्धस्य बन्धका खलु ज्ञातव्याः । कियन्त इत्याह—“भागा
उ असंखेज्जा” ति असंख्येया बहुभागा इत्यर्थः । “ऽवत्तव्वस्स य असंखंसो” ति
आयुपोऽवत्तव्यस्थितिवन्धस्य निर्वर्तकास्त्वसंख्यांशः, असंख्येयतमैकभागवर्तिन तु इत्यर्थः । एते भागाः
प्रत्येकं तत्तन्मार्गणोक्तैकजीवाश्रयवन्धकालतारतम्यमपेक्ष्य सर्वथाघवद्भावनीया इति ॥६२०॥

तदेवमभिहितं आदेशतोऽपि शेषस्यायुपोऽल्पतरादेः स्थितिवन्धस्य बन्धकभागाः, तेषु चा-
ऽभिहितेषु गतं पष्ठं भागद्वारम् ।

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिवन्धकानां भागदर्शकयन्त्रकम्						
आयुर्वैजसमूलप्रकृतीनां प्रत्येकम्				आयुपः		
कुत्र ?	भूयस्कारा- ऽल्पतर०	अवस्थित- बन्धकाः	अवत्तव्य- बन्धकाः	कुत्र ?	अल्पतर बन्धकाः	अवत्तव्य बन्धकाः
अनन्तजीवराशिकमार्ग- णामु—	असंख्यैक- भागः	असंख्य- बहुभागाः	अनन्तैकभागः	पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० आहारकृदिक० आनतादि- पद देवभयाः, मनःपर्यवज्ञान॥	संख्येयवहु- भागाः	संख्येय एकी भाग०
असंख्यजीवराशिकमार्ग- णामु—	“	“	असंख्यैकभागः	संगमौष० सामायिक० रुद्र० परिहार० शुक्र० सायिक०	“	“
संख्येयजीवराशिकमार्ग- णामु—	संख्येयैक- भागः	संख्येय- बहुभागाः	संख्येयैकभागः	“	असंख्यवहु- भागाः	असंख्यैक- भागः

॥ इति श्रीबन्धाविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे पष्ठं भागद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ सप्तमं परिमाणद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्ते “परिमाण” इत्यनेन प्रागुद्दिष्टे परिमाणद्वार आदौ तावदोषतो मूलप्रकृति-
सन्कभूयस्कारादिस्थितिवन्धकानामुत्कृष्टपदगतं परिमाणं दर्शयन्नाह—

सत्तण्ड हुन्ति तिण्डं भूगाराईण बंधगाऽणंता ।

संखेज्जाऽवत्तव्वस्साऽणंताऽऽउस्स दुपयाणं ॥६२१॥

(प्र०) “सत्तण्ड हुन्ति तिण्डं” मिन्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां भूयस्कारा-
ऽल्पतरा-ऽवस्थितस्थितिवन्धात्मकानां त्रयाणां भूयस्कारादीनां प्रत्येकं बन्धकाः “णंता” चि विश्लेष-
प्राप्तस्याऽकारस्य दर्शनाद् अनन्ता भवन्ति । “संखेज्जाऽवत्तव्वस्स” चि तासामेव सप्ताना-
मवक्तव्यस्थितिवन्धस्य संखेयाः, बन्धका भवन्तीत्यनुवर्तते । सुगमं चेतत्, यतः सप्तानामवक्तव्य-
स्थितिवन्धस्वामिनः केचन देवा उपशमश्रणिगता मनुष्या वा भवन्ति, शेषभूयस्कारादिसर्व-
बन्धकान्वेकेन्द्रिया अपीति । “ऽणंताऽउस्स दुपयाणं” चि शेषस्याऽऽयुःकर्मणोऽल्पतरावक्तव्य-
स्थितिवन्धलक्षणयोर्द्वयोः पदयोः प्रत्येकमनन्ताः, बन्धका इत्यत्राप्यनुवर्तते । एतदपि सुगमम्,
सर्वेषामायुर्वन्धकानां नियमेन द्विविधबन्धस्य भावात् साधारणवनस्पतिकायजीवेषु प्रतिसमथमनन्ता-
नामायुर्वन्धकानां लाभाच्चेति ॥६२१॥

अथ मार्गणास्थानेषु प्रकृतबन्धकपरिमाणं प्रचिकटयिषुरादौ तावत्सप्तप्रकृतीरधिकृत्याह—

एगिंदिणिगोएसुं सव्वंसु तह तिरियम्मि वणकाये ।

काय-उरालदुगेषुं कम्म-णपुम-चउकसायेसुं ॥६२२॥

दुअणाणा-ऽयत-अणयण-असुहतिलेस-भविणियर-मिच्छेसुं ।

अमणा-ऽऽहारियरेसुं सत्तण्होघव्व तिपयाणं ॥६२३॥

(प्र०) “एगिंदिणिगोएसुं” इत्यादि, प्राग्बत् सर्वेस्वेकेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु निगोदवनस्पति-
भेदेषु, तथा तिर्यग्गत्योधे, वनस्पतिकायोधे, काययोगसामान्या-दारिकौ-दारिकमिश्रकाययोगेषु
कार्मणकाययोग-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकषायेषु । अन्या मार्गणाः संगृह्णन्नाह—“दुअणाणा-
यते” त्यादि, मत्पज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभकृष्णादित्रिलेश्या-भव्या-ऽभव्य-
मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञया-ऽऽहार्य-ऽनाहारिरूपास्वष्ट्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं “सत्तण्होघव्व तिपयाणं”
चि आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां भूयस्कारान्पतरावस्थितस्थितिवन्धलक्षणानां त्रयाणां पदानां
प्रत्येकं बन्धका ओघवदनन्ता इत्यर्थः । हेतुरप्यत्रौघवदेव द्रष्टव्य इति ॥६२२-६२३॥

अथ प्रस्तुतसप्तप्रकृतिविषयमुक्तशेषमार्याद्वयेनाह—

पञ्जमणुस-मणुसीसुं सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेणसुं ।

मणणाण-संयम-समइअ-च्छेअ-परिहार-सुहुमेसुं ॥६२४॥

सत्तण्हं संखेज्जा तिपयाण असंखिया उ सेसासुं ।

जासु पुण अवत्तव्वो तासुं खलु तस्स संखेज्जा ॥६२५॥

(प्रे०) “पञ्जमणुसे”त्यादि, प्राग्बत् पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-सर्वार्थसिद्धावमानदेववगतिभेदा-
ऽऽहारकातन्मिश्रकाययोगा-ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहार-
विशुद्धिक-सूक्ष्ममम्परायसंयममार्गणासु प्रत्येकं सप्तानां मूलप्रकृतीनां “संखेज्जा तिपयाणं”
ति प्राग्बद् भूयस्काराल्पतगवस्थितस्थितिवन्धरक्षणानां त्रयाणां पदानां प्रत्येकं संख्येयाः,
बन्धका इति गम्यन्ते । “असंखिया उ सेसासु” ति अनन्तरोक्तस्य ‘सत्तण्हं’ ‘तिपयाणं’
चेत्यस्य पदद्वयस्यात्राप्यनुवर्तनाद् क्लेशासु नरकगत्योधादित्रिंशत्पुत्रशतमार्गणासु सप्तानां प्रकृतीनां
भूयस्कारादीनां त्रिपदानां प्रत्येकमसंख्येयाः, बन्धका इति प्राग्बद् । कुतः ? तत्तन्मार्गेणागतैः प्रत्येक-
जीवैर्भूयस्कारादिस्थितिवन्धवयस्य प्रत्यन्तमुद्भूतं कर्णात्, मार्गेणागतजीवराशिवदसंख्येयादिकमेव
प्रकृतबन्धकपरिमाणमप्याप्यते, तच्च यथोक्तमेवेति । अथावक्तव्यस्थितिवन्धस्य बन्धकपरिमाण-
मादेशतो दर्शयति-“जासु खलु” इत्यादिना, एतदपि प्राग्बद्भावनीयमिति ॥६२४-६२५॥

उक्तमादेशतोऽपि प्रकृतबन्धकपरिमाणं सप्तप्रकृतीरधिकृत्य । अथायुष्कमधिकृत्याह—

तिरिये मव्वेगिंदिय-णिगोअ-वणकायु-रालियदुगेसुं ।

णपुम-चउकमायेसुं दुअणाणा-ऽयत-अचक्खूसुं ॥६२६॥

अपसत्थतिलेसासुं भवियर-मिच्छा-ऽमणेसु आहारं ।

आउम्म हुन्ति दोण्ह वि पयाण खलु बन्धगाऽणंता ॥६२७॥

(प्रे०) “तिरिये” इत्यादि, निर्देगत्वोघे, सर्वेशब्दस्यैकेन्द्रियनिगोदयोः प्रत्येकं योजनात्
सर्वैकेन्द्रियभेद-सर्वनिगोदभेद-वनस्पतिकायांघ-काययोगसामान्यौ-दार्शिका-दार्शिकमिश्रकाययोगेषु,
नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकपायमार्गणासु, मन्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शनमार्गणासु तथा
“अपसत्थे” न्यादि, कृष्णाद्यप्रशस्तत्रिलेख्यामार्गेणासु, मन्था-ऽमव्य-मिच्छान्वा-ऽसंज्ञिमार्गेणास्वा-
हारिमार्गेणायां चेत्येवं पट्त्रिंशन्मार्गेणाम् प्रत्येकमायुषः “दोण्ह वि पयाण” ति अल्पतरा-
ऽवक्तव्यस्थितिवन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि पदयोर्वन्धका खल्वनन्ता भवन्ति, सुगमं गतार्थं चेति ॥६२७॥

अथ शेषमार्गणास्वायुद्वयेनाह—

पञ्जमणुस-मणुसीसुं आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेसुं ।

मणणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥६२८॥

सुइल-खइएसु णेया दोण्हं वि पयाण वंधगाऽऽउस्म ।

संखेज्जा, संसासुं असंखिया हुन्ति विण्णेया ॥६२९॥

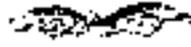
(प्रे०) “पञ्जमणुसमणुसोसु” इत्यादि, प्राग्भूत् पर्याप्तमनुष्य-मानुष्या-ऽऽहारककाय-योगा-ऽऽहात्मिकाययोगा-ऽऽनतकल्पादिमवर्थासिद्धविमानान्तदेवगतिभेद-मनःपर्यवज्ञान-संय-मौघ-सामायिक-हेतोपस्थापन-परिहारविशुद्धि-हसंय-अकल्पेष्टया-शक्तिकसम्यक्त्वमार्गणासु प्रत्येक-मायुषोऽल्पतरावक्तव्यस्थितिवन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि पदयोर्वन्धकाः संख्येया ज्ञेयाः । “संसासु” ति उक्तशेषासु नरकगत्योघाद्यष्टनवतिमार्गणासु प्रत्येकमसंख्येया विज्ञेया भवन्ति, आयुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि पदयोर्वन्धका इत्यनुवर्तते । कुतोऽसंख्येयाः ? एतासु प्रत्येकम-संख्येयजीवानां सद्भावादसंख्येयजीवराशिसत्त्वायुषो बन्धप्रायोग्यत्वाच्च । विशेषतस्तु प्राग्भूद्भावमिति ।

शेषमार्गणाभिधानानि त्वेवम्—अर्था नरकगतिभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, मनुष्योघा-ऽपर्याप्तमनुष्यभेदाः, देवोघ-भवनपत्यादिमहत्प्रकारकल्पान्ता देवगतिभेदाः, नवविकलेन्द्रिय-भेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, पृथिव्यन्तेजोवायुकायसत्त्वाः प्रत्येकं सप्त सप्तैतिकृत्वाऽष्टाविंशति-भेदाः, त्रयः प्रत्येकवनस्पतिकायभेदाः, त्रयस्त्रसकायभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चबचोयोग-वैक्रियकाय-योग-श्रीवेद-पुंवेद-मनि-श्रुता-ऽवधिज्ञान-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजोलेइया-पञ्चलेइया-सम्यक्त्वौघ-वेदकसम्यक्त्व-सासादन-संज्ञिमार्गणाश्चेति ॥६२८-६२९॥

अष्टमूलप्रकृतीनां भ्रूयस्कारादिस्थितिवन्धकानां परिमाणप्रदर्शकयन्त्रकम्				
आयुषंजसप्रमूलप्रकृतीनां प्रत्येकम्			आयुषः	
कुत्र ?	भ्रूयस्कारा-ऽल्पतरा- ऽवस्थितस्थितिवन्धकाः	अवक्तव्य- वन्धकाः	कुत्र ?	अल्पतरा-ऽव- क्तव्यवन्धकाः
ओघवद् अनन्तजीवराशिकमार्ग- णासु—	अनन्ताः	संख्येयाः	पर्याप्तमनुष्य० मानुषी० प्राहारकटिक० श्रान्तादि- सवर्धिमद्विमानान्तदेव- भेद० मनःपर्यवज्ञान०	संख्येय्याः
असंख्येयजीवराशिकमार्ग- णासु—	असंख्येयाः	”	संयमौघ० सामायिक० हेतु० परिहार० शुक्ल० आयिक० २६	असंख्येयाः
संख्येयजीवराशिकमार्ग- णासु—	संख्येयाः	”	उक्तशेषासंख्येयजीवराशिक- मार्गणासु—	असंख्येयाः
			ओघवद् अनन्तजीवराशिकासु—	अनन्ताः

तदेवमभिहितमोघादेशोभयथा सर्वासां मूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकानामुत्कृष्ट-
पदगतं परिमाणम् । तथा च सति गतं सप्तमं परिमाणद्वारम् ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे
तृतीये भूयस्काराधिकारे सप्तमं
परिमाणद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथाऽष्टमं क्षेत्रद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्ते क्षेत्रद्वारे मूलप्रकृतिसन्कभूयस्कारादिस्थितिबन्धकानां क्षेत्रं प्रतिपिपादयि-
षुरादौ तावदायुर्वर्जमसप्रकृतिसन्कभूयस्कारादिस्थितिबन्धकानां तदोघतः प्रतिपादयन्नाह—

सत्तण्ह बंधगा खलु भूओगाराइतिण्ह मव्वजगे ।

हुन्ति अवत्तव्वस्स उ लोगस्स असंखिये भागे ॥६३०॥

(प्रे०) “सत्तण्ह बंधगा” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां “भूओगारा-
इतिण्ह” ति अवत्तव्वस्थितिबन्धवर्जानां शेषाणां भूयस्कारादिविधिव्यस्थितिबन्धानां प्रत्येकं
बन्धकाः खलु “सव्वजगे” ति ‘सर्वजगति’ सर्वलोके, भवन्तीति क्रियाऽन्वयः । सुगमं चैतत्,
सूक्ष्मैकेन्द्रियादिभिरपि प्रस्तुतभूयस्कारादिस्थितिबन्धव्यस्य निर्वर्तनाद्येषां च सर्वलोकव्यापित्वादिति ।
“अवत्तव्वस्स उ” ति तासामेव सप्तानामवत्तव्वस्थितिबन्धस्य निर्वर्तकास्तु लोकस्य ‘असंख्येय-
भागे’-असंख्येयतम एकभागे, भवन्तीति पूर्वेणान्वयः । एतदपि सुगममेव, उपशमश्रणितोऽद्वा-
क्षयेण भवक्षयेण वा निपततामेव तत्स्वामित्वादिति ॥६३०॥

अथाऽऽयुषोऽल्पतरादिस्थितिबन्धकानां क्षेत्रमोघतः प्राह—

आउस्स सव्वलोए दोण्हं वि पयाण बंधगा णया ।

(प्रे०) “आउस्से” इत्यादि, ओघत आयुःकर्मणः “दोण्हं वि पयाण” ति अल्पतरा
ऽवत्तव्वस्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोः पदयोः ‘बन्धकाः’-निर्वर्तकाः “सव्वलोए” ति सर्वस्मिन्नपि लोके
ज्ञातव्याः । कथम् ? स्वस्थानताऽपि समग्रलोकव्यापितां सूक्ष्मैकेन्द्रियाणामपि तत्स्वामित्वादिति ॥

उक्तमोघतः । अथाऽऽदेशतः भूयस्कारादिस्थितिबन्धकानां क्षेत्रं दिदशैर्यिषुरादौ सप्तप्रकृ-
तीरधिकृत्याह—

सत्तण्ह बंधगा खलु भूगाराईण तिण्ह सत्त्वज्जगे ॥६३१॥ (गीतिः)
 तिरिये सव्वेगिंदिय-निगोद-सेससुहुमेसु वणकाये ।
 पुहवाइचउसु तेसि वायर-वायरअपज्जेसुं ॥६३२॥
 पत्तेअवणे तस्स अपज्जत्ते कायु-रालियदुगेसुं ।
 कम्मण-णपुंसगेसुं कसायचउगे अणाणदुगे ॥६३३॥
 अयता-ऽचक्खूसु तहा अपसत्थतिलेस-भवियेसुं ।
 अभविय-मिच्छत्तेसुं असण्णि-आहारगियरेसुं ॥६३४॥ (उपगोतिः)

(प्रे०) “सत्तण्ह बंधगा खलु” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तमूलप्रकृतीनां “भूगाराईण तिण्ह” ति अयत्तव्यस्थितिवन्धवर्जानां भूयस्कारादीनां त्रयाणां बन्धकाः खलु ‘सर्वजगति’-सम्पूर्ण-लोके, भवन्तीति शेषः । कासु मार्गणास्वित्याह—“तिरिये” इत्यादि, मार्गत्रयमाथा अपि सुगम-शब्दार्थाः । तासां पिण्डार्थः पुनरयम्—तिर्यग्गत्योष-सर्वकेन्द्रिय-सर्वनिगोद-शेषद्वादशसङ्ग-पृथिवीकायादिभेद-वनस्पतिकार्योष-पृथिवीकायादिवायुकायान्तचतुरोषभेद-वाटरपृथिव्यादिचतुर्भेदा-ऽपर्याप्तवाटरपृथिव्यादिचतुर्भेद-प्रत्येकवनस्पतिकार्योष-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकार्य-काययोगसामान्यो-दारिकौ-दारिकेभिश्च-कार्मणकाययोग-नपुंसकवेद-कोषादिकपायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोतलेक्ष्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञया-ऽऽहार्य-ऽनाहारिरूपासु चतुः-षष्टिमार्गणासु प्रत्येकमसंख्यंयलोकप्रदेशराशिप्रमाणानां सङ्गमपृथिव्याद्यन्यतमजीवानां प्रवेशात् तेषां स्वस्थानतो मरणान्तिकममुद्धानेन वा सर्वलोकव्यापित्वाच्च क्षेत्रमपि तदनुसारेण सर्वलोकः प्राप्यत इति ॥६३१-६३२-६३३-६३४॥ अथान्यत्राह—

भूओगाराईणं तिण्हं वायरसमतवाउम्मि ।

सत्तण्ह बंधगा खलु लोगम्मि हवन्ति देसूणे ॥६३५॥

(प्रे०) “भूओगाराईणं” इत्यादिना, वाटरपर्याप्तवायुकायमार्गणायां सप्तप्रकृतीनां भूय-स्कारादीनां त्रयाणां बन्धकाः खलु देशोने लोके भवन्ति । कुतः ? असंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोक्तत्वेन तेषां वाटरपर्याप्तवायुकायिकानां सर्वलोकव्याप्तेः, स्वस्थानस्तु तेषां देशोनेलोकावस्थायि-त्वाच्चेति । एतच्च विस्तरतो जिज्ञासुना मूलप्रकृतिस्थितिवन्धद्वितीयाधिकारक्षेत्रद्वारवृत्ति-र्विलोकनीया, तत्र तस्य सुप्रपञ्चितत्वादिति ॥६३५॥ शेषमार्गणास्वाह—

सेमासुं सत्तण्हं भूगाराईण बंधगा तिण्हं ।

लोगाऽसंखियभागे जहऽवत्तव्वो तहेवं से ॥६३६॥

(प्रे०) “सेसासु” इत्यादि, उक्तशेषासु नरकगत्योधादिपञ्चाधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं मार्गणा-
गतनारकादिजीवानामसंख्येयलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकतया न मारणान्तिकसमुद्घातादिनाऽपि
सर्वलोकव्याप्तिलोकबहुभागव्याप्तिसिद्धिर्वा तेषां, स्वस्वगत्येवमपेक्ष्य त्वेते लोकासंख्येयभागमात्रव्यापिनः,
तथा च सप्तानां मूलप्रकृतीनां मयस्कादीनां त्रयाणां बन्धका लोकाऽसंख्येयभागे प्राप्यन्ते ।
अत्रापि प्रत्येकं मार्गणागतानां जीवानां व्याप्यक्षेत्रस्योपपत्तिर्विस्तृतस्तु द्वितीयाधिकारक्षेत्रद्वार-
प्रैमप्रभातो द्रष्टव्या, तत्तन्मार्गणाविषयक्षेत्रस्य तत्र विस्तरतो व्युत्पादितत्वात् ।

शेषमार्गणाभिधेयानि त्रिमानि—अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः,
चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः, त्रिंशद्देवगतिभेदाः, नव त्रिकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः,
पृथिव्यग्नेजस्कायमत्कास्त्रयो वादरपर्याप्तमार्गणाभेदाः, पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदाः, त्रयस्त्रयकाय-
भेदाः, तथा पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-स्त्रीवेद-
पुंवेदा-ऽपरातवेद-मत्वादिचतुर्ज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-
सूक्ष्ममम्यगयमंयम-देशसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-पम्यकन्वाघ-क्षायिक-
क्षायोपशामिका-यग्रामिकमम्यकत्व-मम्यगिम-व्यान्व-सास्वादन-संज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति ।

अथ समानामवक्तव्यस्थितिवन्धकानां क्षेत्रं मार्गणासु नामिदितमिति तत्रातिदेशेनाह—“जह-
ऽवत्तव्वो तद्देवं से” ति सप्तप्रकृतीनामन्यतमस्या अपि प्रकृतेरवक्तव्यस्थितिवन्धः “जह” ति
‘यत्र’-यासु मार्गणासु भवति “तह” ति तत्र तासु मनुष्यगत्योधादिपट्त्रिंशन्मार्गणासु “से”
ति तस्यावक्तव्यस्थितिवन्धस्य निर्वर्तकाः “एवं” ति यथाऽनन्तरमुक्तास्तथैव लोकासंख्येयभागे,
भवन्तीति शेषः ॥६३६॥

अथोक्त शेषस्यायुषोऽल्पतरादिस्थितिवन्धकानां क्षेत्रमाह—

तिरिये-गिंदियगेसुं पणकाय-णिगोअ-सव्वमुहुमेसुं ।

कायु-रलहुग-णपुम-त्रउकमाय-हुअणाण-अयतेसुं ॥६३७॥

अणयण-असुहतिलेमा-भवियर-मिच्छा-ऽमणेसु आहारं ।

आउस्स बंधगा खलु दोण्हं वि पयाण मव्वजगे ॥६३८॥

(प्रे०) “तिरियेगिंदियगेसुं” इत्यादि, प्राग्वत् तिर्यग्गत्योघै-केन्द्रियोघभेदयोः, पृथिव्यादि-
पञ्चकायमत्कायभेद-निगोर्दाघ-सूक्ष्मकेन्द्रियोघादि-सर्वसूक्ष्मभेदेषु, काययोगसामान्या-दारिका-
दारिकमिश्रकाययोग-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकाय-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयममार्गणाभेदेषु, तथा-
ऽचक्षुर्दर्शना-ऽशुभत्रिलेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यान्वा-ऽसंज्ञिन्वाहारिमार्गणायां चेत्यर्थः । एतासु
तिर्यग्गत्योधादिपट्त्रिंशन्मार्गणासु किमित्याह—“आउस्से” त्यादि, आयुःकर्मणः “दोण्हं
वि पयाण” ति अल्पतराऽवक्तव्यस्थितिवन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि पदयोः प्रत्येकं बन्धकाः खलु

‘सर्वजगति’-सर्वस्मिन्लोके, सन्तीति शेषः । कुतः ? एतासु प्रत्येकमार्गणासु स्वस्थानतः सर्वलोक-
व्यापिनां सूक्ष्मैकेन्द्रियजीवानां प्रवेशादिति ॥६३७-६३८॥

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतद्विविधवन्धकक्षेत्रमाह—

हीणजगे सव्वेनुं वायरर्गिदिवाउकायेसुं

सेसासु बंधगा खलु लोगस्स असंखभागम्मि ॥६३९॥

(प्रे०) “हीणजगे” इत्यादि, ‘आउस्स बंधगा खलु दोण्हं वि पयाण’ इत्येतावन्पूर्वमाधातो-
ऽनुवर्तते, तत आयुषोऽल्पतराऽवक्तव्यस्थितिवन्धयोः प्रत्येकं बन्धकाः “हीणजगे” ति ‘हीने
जगति’ देशोने लोके प्राप्यन्त इत्यर्थः । कासु मार्गणास्वित्याह—“सव्वेसु” इत्यादि, सर्वेषु वादरै-
केन्द्रियभेदेषु सर्वेषु वादरवायुकायभेदेषु चेत्यर्थः । कुतः ? इति चेत्, अधिकृतमार्गणापट्के सूक्ष्म-
जीवानामत्रं तात् प्रविष्टजीवैर्न्यो वादरपर्याप्ता-ऽपर्याप्तवायुकायजीवानां स्वस्थानक्षेत्रप्राधान्याद् देशोन-
लोकक्षेत्रस्यैव प्राप्तेश्च । को भावः ? आयुर्वन्धो जीवानां स्वस्थान एव जायते, न तु मारणसमुद्-
घानाद् । ततश्चायुषो द्विविधस्थितिवन्धकानामपि क्षेत्रं मार्गणागतजीवानां स्वस्थानक्षेत्रप्राधान्या-
न्याप्यते । तच्च प्रस्तुतमार्गणापट्के प्रत्येकं वादरपर्याप्ता-ऽपर्याप्तान्यतरजीवराश्यपेक्षयाऽसंख्येयैकभाग-
लक्षणैकभेदेऽनोनः सर्वलोकः प्राप्यत इतिकृत्वा प्रस्तुतद्विविधवन्धकक्षेत्रमपि देशोनलोकप्रमाण-
मभिहितमिति । “सेसासु” ति उक्तशेषासु नरकगत्योधाद्येकादशाभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं
“बंधग” ति आयुषोऽल्पतराऽवक्तव्यस्थितिवन्धयोर्निर्वर्तकाः खलु लोकस्यासंख्यैकभागे भवन्ती-
त्यर्थः । अत्रापि प्रत्येकं स्वस्थानक्षेत्रस्य लोकासंख्येयभागमात्रप्राप्तेः प्रस्तुतक्षेत्रमपि तथैवाभिहित-
मिति । विशेषभावेना द्वितीयाधिकारक्षेत्रद्वारप्रभेदादर्शितनीत्या स्वयमेव कर्तव्या ।

शेषनरकगत्योधादिमार्गणास्त्विमाः—अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियतिर्य-
ग्भेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः, त्रिंशद्देवगतिभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रिय-
भेदाः, वादरपृथिव्यप्तेजःप्रत्येकवनस्पतिकाय-वादरसाधारणवनस्पतिकाय-व्रमकाथानां प्रत्येकमोघ-
पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदात् त्रयस्त्रयो भेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-वैक्रिया-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र-

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिवन्धकानां क्षेत्रप्रदर्शकं यन्त्रकम्

कस्याः प्रकृतेः	भूयस्कारादेः कस्य बन्धकानाम्	कुत्र ?	कियत्क्षेत्रम्
आयुर्वर्जसप्तमूल- प्रकृतीनाम्	भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितानां प्रत्येकम्	आघतः, यत्र सन् तत्र सर्वमार्गणासु च	सर्वथाऽनुत्कृष्टास्पातवन्ध- कानां क्षेत्रवत्
	यवक्तव्यस्थितिवन्धस्य	”	लोकाऽसंख्यभागः
आयुषः	अल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धयोः प्रत्येकम्	”	सर्वथाऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धकवत्

काययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-मत्यादिज्ञानचतुष्क-विमङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहार-
विशुद्धिक-देशसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपश-
मिक-सासादन-संज्ञिमार्गणामेदाश्चेति ॥६३९॥

प्रतिपादितं शेषमार्गणास्वप्यायुषो द्विविधस्थितिवन्धकानां क्षेत्रम् । तस्मिंश्च प्रतिपादिते गतं
“स्वेत्त” इत्यनेनोद्दिष्टमष्टमं क्षेत्रद्वारम् ॥

॥ इति श्रीवन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे
तृतीये भूयस्काराधिकारेऽष्टमं
क्षेत्रद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ नवमं स्पर्शनाद्वारम् ॥

साम्प्रतं “फोसणा” इत्येनोद्दिष्टे नानाजीवाश्रये स्पर्शनाद्वारं मूलप्रकृतिवन्धकमूपस्कारादि-
स्थितिवन्धकानां स्पर्शनां प्ररूपयिपुरादौ तावदोघत आह—

सत्तण्ह बंधगेहिं भूगाराईण तिण्ह आउस्स ।

दोण्ह वि य पयाण भवे सव्वो वि य फोसिओ लोगो ॥६४०॥

(प्रे०) “सत्तण्ह बंधगेहिं” इत्यादि, आयुर्वर्जानां मूलसप्तप्रकृतीनां “भूगाराईण
तिण्ह” ति अवक्तव्यस्थितिवन्धवर्जानां त्रयाणां भूयस्कारादीनां प्रत्येकं “बन्धगेहिं” ति
‘बन्धकैः’-निर्गतैः “आउस्स दोण्ह वि य पयाण” ति आयुषोऽल्पतयाऽवक्तव्यस्थितिवन्ध-
लक्षणयोर्द्वयोरपि पदयोश्च, बन्धकैस्त्वित्यनुवर्तते । तैः किमित्याह—“भवे सव्वो वि ये” त्यादि,
स्वस्थानतः सर्वलोकगतैस्तैः प्रत्येकं ‘सर्वैः’-सम्पूर्णां लोकः स्पृष्टो भवेदित्यर्थः । अत्राधिकृतः स्पर्शना-
विशेषस्तु समयमात्रमव्यपेक्षश्रेयापेक्षया विलक्षणोऽनन्ताऽतीताद्वामव्यपेक्षा द्वितीयाधिकार-
क्षेत्रद्वारे ‘लोगस्स असंखंसो’ इत्यस्या (३२९) गाथाया वृत्ता व्याख्यातस्वरूपस्तत एव विज्ञेयः,
नात्र पुनः प्रपञ्च्यते, ग्रन्थविस्तरभयादिति ॥६४०॥

सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिवन्धकैस्तर्हि कियान् स्पृष्ट इत्याह—

सत्तण्ह असंखंसो जगस्सऽवत्तव्वबंधगेहि भवे ।

छिहीओ जहि हविरे ते तासुं ओघव्व फुसणा सिं ॥६४१॥

(प्रे०) “सत्तण्ह” इत्यादि, ओघत आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां “वत्तव्वबंध-
गेहि” ति पूर्वमकारस्य दर्शनात् स्थितिवन्धस्य प्रस्तुतत्वाच्चावक्तव्यस्थितिवन्धकैः “असंखंसो
जगस्स” ति ‘जगतः’-लोकस्य ‘असंख्यांशः’ असंख्यैकमागः “छिहीओ” ति स्पृष्टो भवेद्,

एतेषां लोकामंख्यभागप्रमाणस्पर्शनिव्यर्थः । कुतः ? इति चेद्, उपशमश्रेणिगतानाम्, तादृशानां वा अवक्षयेण देवतया भवप्रथममयवर्तिनां देवानामेव सप्तकर्मसत्काऽवक्तव्यस्थितिवन्धस्वामिन्वात् तेषां च मनुष्यलोकैः प्रदेशे वर्तमानानां, ततो वाऽनुत्तरमुत्तयोत्पद्यमानानां लोकाऽमंख्येयभागादधिकस्पर्शनाया असम्भवात् । असम्भवस्तु त्रयनाडीगततिर्यक्प्रतरामंख्येयतमभागमात्रवर्तिन्वात् मनुष्यलोकस्यानुत्तरविमानानां चेत्यादिना द्वितीयाधिकारस्पर्शनाद्वारप्रेमप्रभादर्शितनियमानुसारेण स्वयमेव विभावनीय इति ।

अथ समानामवक्तव्यस्थितिवन्धकस्वामिनासांघिकस्पर्शनापेक्षया न सम्भवति कामुचिन्मार्गणासु समानामवक्तव्यस्थितिवन्धकानां स्पर्शनाऽधिकतरा, अत लाघवार्थं मार्गणास्थानेष्वतिदिश-
आह—“जहि हचिरे” इत्यादि, “जहि” ति ‘यत्र’-याम् मार्गणाम् “ते” ति तेऽनन्तरोक्ताः समानामवक्तव्यस्थितिवन्धका भवन्ति, “तासु आंघव्य फुसणा सि” ति तासु मार्गणाम् “सि” ति तेषां समानामवक्तव्यस्थितिवन्धकानां स्पर्शनाधिकत्वं, ज्ञातव्या इति शेषः । तादृशयो मार्गणास्तु याम् समानामवक्तव्यस्थितिवन्धः सन्पदद्वारे सन्नभिहितस्ता विज्ञेया इति ॥६४१॥

अथ सप्तप्रकृतीनां भूयस्कारादिवन्धककृतां स्पर्शनां मार्गणास्थानेष्वह—

गिरये सत्तमगिरये आणतपहुडिचउदेव मुडलासु ।

भूगाराइगतिण्हं सत्तण्ह ल फासिआ भागा ॥६४२॥

(प्रे०) “गिरये सत्तमगिरये” इत्यादि, निरयगत्योषमार्गणायाम्, सप्तमभूमिनिरय-
मार्गणाभेदे, आनतकल्पप्रभृतिचतुर्दशगतिमत्कभेदेषु, युक्ल्लेशामार्गणायां चेत्यर्थः । एतासु सप्त-
मार्गणामु किमित्याह—“भूगाराइगतिण्हं”मित्यादि, बन्धकैरित्यनुवर्तते, तत आयुर्वर्जानां समानां
भूयस्कारादिकानां त्रयाणां बन्धकैः षड् भागाः स्पृष्टाः । एते भागाः प्रत्येकं चतुर्दशरज्ज्वाया एक-
रज्ज्वृत्तविस्तरायाश्चमनाड्याश्चतुर्दशभागप्रमाणा बोद्धव्याः । कस्मात् ? प्रकृतग्रन्थामिप्रायस्य तथा-
न्वात् । उक्तं च अत्रैव मूलप्रकृतिस्थितिवन्धग्रन्थे द्वितीयाधिकारस्पर्शनाद्वारे—

‘फुसणां वृत्तिचरे इह जं भागा भां त्थाअ चउदमहि । तमनाडीअ लहिज्जउ जं णेया ताअअण्यमाणा ते ॥’ इति

एवं च सति प्रकृते त्रयनाड्याः षट् चतुर्दशभागाः स्पर्शना प्राप्तेति । तद्भावेना तु संक्षेपत
उच्यते—प्रत्यन्तमुहूर्तं संक्लेशविशुद्धयोः परावर्तमानत्वात् प्रकृतवन्धत्रयं प्रत्यन्तमुहूर्तमाव्य-
स्मि । किञ्चाधिकृतवन्धत्रयस्य स्वामिनोऽपि तत्तन्मार्गणागताः सर्वे जीवाः सन्ति, न पुनरवक्तव्य-
स्थितिवन्धकवन्धकेचनैव । तथा च सति प्रकृतवन्धत्रयं कुर्वद्भिर्नानाजीवैरनन्तकालमपेक्ष्य स्वप्रायोग्यं
सर्वमुत्पादक्षेत्रं सर्वं मारणममुद्घातक्षेत्रं गमनागमनक्षेत्रं स्वस्थानक्षेत्रं च स्पृष्टं भवति, अतस्तेषां
स्पर्शनाऽपि यासु मार्गणास्तत्कृतो यावती भवति, तावती सर्वाऽप्यवाप्यते, ताश्च नरकगतिसत्क-
भेदद्वये मारणान्तिकममुद्घातकृतस्पर्शनाप्राधान्येन षड्ज्जवः प्राप्यत इति तथैवोक्ता, आनतदेवादि-

शेषमार्गणासु स्वानतकल्पादिदेवानां गमनागमनकृतस्पर्शनाप्राधान्यात् सा षट्भागप्रमाणाभिहिता ।
एतेषां तत्तन्मार्गणामेदगनजीवानां मार्गणमुद्घातादिनामुक्ता यथोक्तस्पर्शनात् द्वितीयाधिकार-
स्पर्शनाद्वारवृत्तौ विस्तरतो व्युत्पादिताऽस्माभिः, जिज्ञासुना तत एव ज्ञातव्या । एवं वक्ष्यमाण-
मार्गणाविषयकस्पर्शनाविस्तरोऽपि तत एव द्रष्टव्यः, नात्र पुनर्वक्ष्यते ग्रन्थविस्तरमयादिति ॥६४२॥

यासु मार्गणामु प्रस्तुतबन्धकानां स्पर्शना लोकासंख्यभागमात्रा ताः मंगृह्याह—

घम्मा-गेविज्जाह-विउवमीमा-ऽऽहारदुग-अवेएसुं ।

मणणाण-संयम-समइअ-छेअ-परिहार-सुहुमेसुं ॥६४३॥

लोगासंखियभागो होइ, विआइणिरयेसु हुन्ति कमा ।

एगं दुवे य तिणिण य चउरो पण फासिआ भागा ॥६४४॥

(प्रे०) “घम्मागेविज्जाह” इत्यादि, तत्र “घम्मा” ति घर्माख्यग्रथमपृथिवीनिरयभेदे,
“गेविज्जाह” ति ग्रं वेपकादिसर्वार्थसिद्धविमानपर्यन्तेषु चतुर्दशदेवगतिभेदेषु, वैक्रियमिश्रकाय-
योगा-ऽऽहारककाययोगा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगा-ऽऽगतवेदमार्गणभेदेषु, तथा “मणणाणे” न्यादि,
मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्प्रापसंयममार्गणास्त्वित्येवं
पञ्चविंशतिमार्गणासु प्रत्येकं “लोगासंखियभागो” ति लोकस्यासंख्येयभागः “होइ” ति,
स्पृष्टो भवति, सप्तानां भूयस्कारादिस्थितिवन्धकैरित्यनुवर्तते । एतासु प्रत्येकं स्वस्थानमार्गण-
समुद्घातादिना प्रकारेणाप्युन्कृतस्पर्शना लोकासंख्येयभागमात्रैव लभ्यते, तस्याश्च प्रकृतेऽपि
युज्यमानत्वात्तथैवोक्तेति ।

अथ मार्गणान्तरेष्वह—“विआइणिरयेसु” इत्यादिना, द्वितीयादिशेषपञ्चनरकभेदेषु
क्रमादेको द्वौ त्रयश्चत्वारः पञ्च भागाः स्पृष्टा भवन्ति । चकारः पादपूर्व्यं द्रष्टव्यः, प्राग्बन्धतानां
भूयस्कारादिवन्धकैरित्यस्यानुवृत्तिश्च द्रष्टव्या । तथा सति द्वितीयपृथिवीनिरयभेदे सप्तानां भूय-
स्कारादिस्थितिवन्धकैस्त्रसनाडीमन्क एकश्चतुर्दशभागः स्पृष्टः, तृतीयपृथिवीनिरयभेदे प्रस्तुतबन्धकै-
र्द्वौ चतुर्दशभागाः स्पृष्टौ, चतुर्थपृथिवीनिरयभेदे पुनस्तैस्त्रयश्चतुर्दशभागाः स्पृष्टाः, पञ्चमपृथिवी-
निरयभेदे तु चत्वारश्चतुर्दशभागाः स्पृष्टाः, षष्ठपृथिवीनिरयभेदे पुनः प्रस्तुतबन्धकैः पञ्च चतुर्दश-
भागाः स्पृष्टा भवन्तीति । इयमंकरज्ज्वादिस्पर्शना प्रत्येकं मार्गणान्तिकममुद्घातप्राधान्याद् योद्ध्यति
॥६४३-६४४॥ अथान्यत्राह—

भागाऽत्थि फासिआ णव सुर-ईसाणंतदेव-त्तेऊसुं ।

विउवे तेरह, देसे पण, चारह सासणे णेया ॥६४५॥

(प्रे०) “भागाऽत्थि फासिआ” इत्यादि, सप्तप्रकृतीसत्कभूयस्कारादिप्रत्येकस्थिति-
बन्धानां निर्वर्तकैः “भागाऽत्थि फासिआ” ति त्रसनाड्याश्चतुर्दशांशात्मका भागाः स्पृष्टा भवन्ति ।

कस्यां कस्यां मार्गणायां क्रियन्तः क्रियन्तो भागा इत्याह—“णव सुरईसाणंतवेवनेजसु” ति नव भागाः ‘सुरे’—देवगन्त्योघमार्गणायामिज्ञानकल्पान्तेषु भवनपत्यादिषु पञ्चध्वन्यदेवगतिभेदेषु तेजोलेश्यामार्गणायां चेत्यर्थः । भवनपत्यादिदेवानामधस्तृतीयपृथिवीं यावद्गमनागमनमपेक्षयोर्ध्व-
मीयन्प्राग्भारापृथिवीं यावन्मारणसमुद्घातेन स्पर्शनाच्च प्रकृतस्पर्शनाऽपि रज्जुद्वयमधोलोकसत्कं रज्जुमत्तकं चोर्ध्वलोकसत्कमितिकृत्वा नव रज्जव उक्ता । तेजोलेश्यायामपि सा भवनपत्यादि-
देवानपेक्षयैव बोद्धव्येति । “वित्रवे तैरह” ति वैक्रियकाययोगमार्गणायां सप्तानां भूयस्काराल्प-
तरावस्थितस्थितबन्धकैस्त्रसनाड्याः स्पष्टा भवन्तीत्यर्थः । कथम् ? प्रकृतत्रिविधबन्ध-
स्य सर्वावस्थायां सम्भवेन मारणान्तिकसमुद्घातगतान् नैरपिकानपेक्ष्याधोलोकसत्कपट्ज्जुस्पर्शना-
लाभाद्, ईयन्प्राग्भारापृथिवीं प्राप्तान् मारणसमुद्घातगतभवनपत्यादिदेवानपेक्षयोर्ध्वलोकसत्क-
सप्त रज्जुस्पर्शनालाभाच्च समुदितास्त्रयोदशरज्जुस्पर्शनाऽभिहितेति । “द्वेसे षण” ति देशसंयम-
मार्गणायां प्रकृतत्रिविधबन्धकैः प्रत्येकं त्रसनाड्याः पञ्च चतुर्दशभागाः स्पष्टा भवन्तीत्यर्थः । कुतः ?
तिर्यग्गोकादष्टमकल्पप्राप्तानां मारणान्तिकसमुद्घातगतानां देशविरततिरश्वां स्पर्शनामपेक्ष्याधि-
कृतस्पर्शनाया लाभादिति । “धारह सासणे षेय” ति मासादनमार्गणायां तु प्रकृतबन्धकै-
स्त्रसनाड्याः स्पष्टा भागा द्वादश ज्ञेया इत्यर्थः । तत्रोर्ध्वलोकसत्काः सप्त रज्जुस्पर्शनेशानान्त-
देवैः समुद्घातकृता, अधोलोकसत्का पञ्च रज्जुस्पर्शना तु मारणसमुद्घातेन तिर्यग्लोकप्राप्तैः षष्ठपृथिवी-
नारकैः कृता, एते समुदिने मर्त्या द्वादशरज्जुस्पर्शना भवतीति ॥६४५॥

अट्ट फरिमिआ भागा सेसऽट्टमअंतसुर-तिणाणेषु ।

ओंहि-पउम-मम्म-खइअ-खयोवस-मुवमम-मीसेसु ॥६४६॥

(प्रे०) “अट्टफरिसिआ” इत्यादि, प्रकृतमत्प्रकृतिसत्कभूयस्काराल्पतरावस्थितस्थितानां प्रत्येकं बन्धकैस्त्रसनाड्या अष्टौ भागाः स्पष्टा इत्यर्थः । कामु मार्गणास्वष्टौ भागाः स्पष्टा इत्याह—
“सेसऽट्टमअंतसुरे” त्यादि, ईज्ञानकल्पान्तदेवगतिभेदेषु प्रस्तुतबन्धकस्पर्शनायाः कथितत्वात् तैर्विना ये शेषा अष्टमकल्पान्ताः सनत्कुमारादिषु देवगतिमार्गणाभेदास्तेषु, मति-श्रुता-ऽवधिरूपेषु विज्ञानभेदेषु तथाऽवविदशेन-पद्मलेश्या-मम्यक्त्वाघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकः पशुमिकमम्यक्त्व-मिश्र-
दृष्टिमार्गणास्वित्येवं षोडशमार्गणास्वित्यर्थः । तत्र सनत्कुमारादिसहस्रारकल्पान्तदेवानां गमना-
गमनकृतस्पर्शनापेक्ष्याधिकृतस्पर्शना लभ्यते । तथा—सनत्कुमारादिदेवानामधस्तृतीयां पृथिवीं यावद्गमनाद् द्वे रज्जु स्पर्शनाऽधोलोकसत्का, ऊर्ध्वमन्युतकल्पं यावद्गमनाच्च षड्ज्जव ऊर्ध्वलोक-
सत्का स्पर्शना प्राप्यते, तदानीं च भूयस्कारादिप्रस्तुतत्रिविधबन्धानां सम्भवात् सैत्राऽष्टभागकथन-
द्वारेण समुदिताऽभिहिता । एनामेव देवानां गमनागमनकृताष्टरज्जुस्पर्शनामपेक्ष्य मतिज्ञानादि-
मिश्रदृष्टिमार्गणापर्यन्तासु शेषमार्गणास्वपि प्रस्तुतस्पर्शना भावनीयेति ॥६४६॥

अथ शेषमार्गणासु प्रकृतबन्धकस्पर्शनामाह—

सेसासु बंधगेहिं सब्बो होएज्ज फोसिओ लोगो ।

भूओगाराईणं तिण्हं सत्तण्ह कम्माणं ॥६४७॥

(प्रे०) “सेसासु” इत्यादि, उक्तशेषासु तिर्यग्गत्योधादिसप्तोत्तरशतमार्गणासु बन्धकैः सर्वो लोकः स्पृष्टो भवति । केषां बन्धकैरित्याह—“भूओगाराईणं”मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां भूयस्काराल्यतरावस्थितस्थितिवन्धलक्षणानां भूयस्कारादीनां त्रयाणां प्रत्येकमित्यर्थः । तत्र शेषमार्गणानामधेयान्येवम्—पञ्च तिर्यग्गतिभेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः, एकात्र-विंशतिरिन्द्रियमार्गणाभेदाः, द्विचत्वारिंशत् पृथिव्यादिकायमार्गणाभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चत्रयो-योग-काययोगसामान्यौ-दारिकौ-दारिकमिश्र-कार्मणकाययोग-स्त्री-पुं-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकपाय-मत्यज्ञानाद्यज्ञानत्रया-ऽसंयम-चक्षुर्दर्शना-ऽश्रुक्षुण्ण-ऽश्रुण्ण-जीव-कायोत्पत्तेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-संशय-ऽसंशय-ऽऽहारक-ऽनाहारकमार्गणाभेदाश्चेति ।

तत्र तिर्यग्गत्यार्थाधिकमार्गणामु स्वस्थानजीवानपेक्ष्यापि सर्वलोकस्पर्शना लभ्यते । कुतः ? तिर्यग्गत्योधादिमार्गणागतानां सूक्ष्मकेन्द्रियादीनां स्वस्थानतोऽपि सर्वलोकव्याप्तः । अन्यासु यासु पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिभेदस्यासु नास्ति सूक्ष्मकेन्द्रियादीनां प्रवेशस्तासु पुनर्मार्गणान्तिकममुद्घातेना-ऽधिकृतसर्वलोकस्पर्शना लभ्यते । कुतः ? सूक्ष्मेतरपामपि तेषां सूक्ष्मकेन्द्रियादितयोऽपत्तग्रनिषेधात् । ततः किम् ? ततो मारणसमुद्घातेन स्वोत्पत्तिप्रयोग्यानि सूक्ष्मकेन्द्रियसन्कोन्पादस्थानानि प्राप्तः पञ्चेन्द्रियतिर्यगादिभिः नानाकालमाश्रित्य सर्वलोकः स्पृष्टो भवतीति प्रकृतेऽपि सर्वत्रोक्तस्पर्शनेन लभ्यते मारणसमुद्घाताद्यवस्थायामपि भूयस्कारादिवन्धत्रयप्रवृत्तगविरोधादिति ॥६४७॥

तदेवं दर्शिताऽऽदेशतोऽपि समानां भूयस्कारादिस्थितिवन्धकानां स्पर्शना । अथावशेषा-णामायुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धकानां स्पर्शनां दिदर्शयिपुराह—

तिरिये एगिंदिय-पणकाय-णिगोएमु सब्बमुहुमेमु ।

कायु-रलदुग-णपुम-चउकसाय-दुअणाण-अयतसु ॥६४८॥

अणयण-असुहत्तिलेसा-भवियर-मिच्छा-ऽमणेमु आहारे ।

सब्बो लोगो छिहिओ दोण्हं वि पयाण आउम्म ॥६४९॥

(प्रे०) “तिरिये” इत्यादि, प्राग्वत् तिर्यग्गत्यां तत्रैकेन्द्रियाद्य-पृथिव्यादिपञ्चकाय-सत्कौघभेद-निगोर्दौघभेदेषु, सर्वेषु सूक्ष्मकेन्द्रियाद्यष्टादशसूक्ष्मजीवभेदेषु, काययोगैर्धा-दारिकमिश्र-काययोग-नपुंसकवेद-चतुःकपाय-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमेष्वचक्षुर्दर्शना-ऽश्रुक्षुण्णादिविलेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञिष्वाहारिमार्गणायां चेत्येवं षट्चत्वारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु किमित्याह—“सब्बो लोगो” इत्यादि, आयुषः “दोण्हं वि पयाण” ति प्राग्वदल्पतरा-

ऽवक्तव्यस्थितिवन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि पदयोः "सर्व्वो लोको छिहिओ" ति बन्धकैः सर्व्वो लोकः स्पृष्टो भवतीत्यर्थः । एतासु प्रत्येकमौघवत् सूक्ष्मैकेन्द्रियादीनामपि प्रवेशात्, तेषां च स्व-स्थानतोऽपि सर्व्वलोकव्यापित्वात् प्रस्तुतस्पर्शनाऽपि सर्व्वलोकः प्राप्यत इति ॥६४८-६४९॥

अथ मार्गणान्तरेष्वह—

देव-ऽट्टमंतसुर-दुपणिंदितम-पणमणवयण-विउवेसुं ।

थी-पुम-तिणाण-विभंगो-हि-णयण-तेउ-पम्हासुं ॥६५०॥

सम्मत्त-खड्अ-वंअग-सासण-सणीसु अट्ट छिप्पीअ ।

(प्रे०) "देवहमंतसुरे"त्यादि, देवगत्येवमार्गणाभेदे, भवनपत्याद्यष्टमसहस्रारकल्पान्तेष्वे-कादशस्वन्यदेवगतिभेदेषु, तथा विश्वस्य पञ्चेन्द्रियत्रययोः प्रत्येकं योजनाद्व्याख्यानतो विशेष-प्रतिपत्तेश्च "दुपणिंदितसे"त्यनेन पञ्चेन्द्रियाद्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-त्रयकार्याद्य-पर्याप्तत्रयसकायलक्षणा-श्वत्वारोभेदा गृह्यन्ते तेषु, तथा पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-वैक्रियकाययोगेषु, स्त्रीवेद-पुरुषवेद-मत्या-दिविज्ञान-विभङ्गज्ञाना-ऽवधिदर्शन-चक्षुर्दर्शन-तेजोलेख्या-पद्मलेख्यासु, सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोप-शमिकमस्यक्त्व-प्रासादन-संज्ञिमार्गणाभेदेष्वित्येवमेकत्रवारिंशन्मार्गणासु प्रत्येकम् 'अट्ट छिप्पीअ' ति प्रकृतैरायुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धकैः प्रत्येकं त्रसनाड्या अष्टौ भागा अस्पृश्यन्त । एतासु प्रत्येकं प्रकृतस्पर्शना सहस्रारान्तदेवानां गमनागमनकृता बोद्धव्या । सा च प्राग् द्वितीयाधिकार-स्पर्शनाद्वारवृत्तौ भाविताऽपि लेशतः प्रदर्श्यते, तद्यथा—सहस्रारकल्पान्तदेवाः पूर्वस्वजनस्नेहेनाध-स्तृतीयनरकपृथिवीं यावद् गच्छन्ति, ऊर्ध्वमच्युतकल्पं यावत्स्वसामर्थ्यादगच्छन्तोऽपि तेऽच्युत-कल्पवामिभिर्देवैः स्वस्थानेषु नियन्ते । उक्तं च पञ्चसंग्रहे—

'सहस्रारनियदेवा नारयणेद्वेषं जतिं तद्वयभुवं । निज्जतिं अच्युतं जा अच्युतदेवेण इयरसुरा ॥३१॥' इति ।

एवं च सत्यनन्तमतीतकालमाश्रित्य भिन्नभिन्नमार्गैरूर्ध्वाधो गमनागमनं कुर्वन्निरन्तैः सहस्रारान्तदेवैरष्टरज्जुप्रमाणमुच्चमेकरज्जुप्रमाणवृत्तविस्तृतं त्रसनाडिगतं क्षेत्रं स्पृष्टं भवति, तदानीं च तेषामायुर्वन्धस्य सम्भवेनातन्तैर्देवैरायुर्वन्धस्य कृतत्वादधिकृतस्पर्शनाऽपि तावत्यभिहिता । अत्र निर्यग्लोकात् तृतीयां पृथिवीं यावद् रज्जुद्वयम्, ऊर्ध्वं चान्युतकल्पं यावद् रज्जुपट्टकमिन्याद्येतत् सर्वं प्राक् स्पर्शनाद्वारवृत्तावमिहितमिति तत्र एव द्रष्टव्यम्, न पुनरुच्यते, । एवं मारणममुद्घातेना-ऽऽयुर्वन्धकस्पर्शना नोपपद्यते, तदानीं भवचरमान्तमुद्घृतं भवान्तराभिमुखैरायुर्वन्धस्यानिर्वर्तनादित्या-द्यपि तत्र एवावगन्तव्यं विस्तरार्थिनेति ॥ अथान्यत्राह—

आणतपहुडिसुरेसुं चउसुं सुकाअ य छ भागा ॥६५१॥

(प्रे०) "आणतपहुडिसुरेसुं"इत्यादि, आणत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽच्युतकल्परूपेष्वानत-प्रभृतिषु चतुर्षु देवगतिभेदेषु शुक्ललेख्यामार्गणायां च "छ भाग" ति प्राग्वत् प्रकृतैरायुषो द्विविध-

स्थितिवन्धकैरपि प्रत्येकं व्रसनाड्याश्चतुर्दशभागरूपाः षट्भागाः, स्पृष्टाः सन्तीति गम्यते, यद्वाऽस्पृश्यन्तेत्यनुवर्तत इति । प्राग्वदेव भावनीर्येषा, नवरं सहस्राकल्पान्तदेवानामेवाधस्तृतीय-पृथिवीं यावद्गमनमभिहितम्, न पुनस्तदुपरिवर्तिनामपि, तेषामानतादिकल्पचतुष्कजानां सुराणां जिनजन्ममहोत्सवादिनिमित्तानधिकृत्याऽपि तिर्यग्लोकं यावदेव गमनात् । तथाच सत्यधोलोकगत्करज्जुद्वयस्पर्शनाया असम्भवः, अतस्तावतीं स्पर्शनां विवर्ज्य षड्भुजवः स्पर्शना द्रष्टव्येति ॥६५१॥

अथैक्याऽऽर्यया शेषमार्गणासु प्रस्तुतस्पर्शनां व्याकृत्वशाह—

देसूणजगं वायरर्गिदियवाउमव्वभेएसुं ।

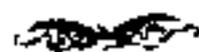
सेसासु असंखयमो भागो लोगस्स छुहिओऽत्थि ॥६५२॥

(प्रे०) देसूणजगमित्यादि, ओष-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु सर्वेषु वादरैकेन्द्रियभेदेषु, सर्वेषु वादरत्रायुकायभेदेष्वित्येवं षण्मार्गणासु प्रत्येकं प्रविष्टवादरपर्याप्त-वादरापर्याप्तान्यतरवायुकायिका-कानां देशोलोकप्रमाणस्वस्थानक्षेत्रापेक्षया प्रस्तुताऽयुषोऽवक्तव्या-ऽल्पतरस्थितिवन्धकानां स्पर्शना-ऽदि 'देसूणजगं' नि देशोलोकं जगत्कथ्यत इति । "सेसासु असंखयमो भागो" ति उक्तशेषासु नरकगतयोधादिचतुःषष्टिमार्गणासु तु प्रस्तुतद्विविधवन्धकैर्लोकस्याऽसंख्येयतम एको भागः स्पृष्टोऽस्ति, लोकाऽसंख्यभागप्रमाणा तेषां स्पर्शनिति भावः । कथम् ? इति चेद्, एतास्वन्यतमस्यामपि स्वस्थानतो गमनागमनतो वा लोकाऽसंख्यभागादधिकक्षेत्रव्यापिनः सूक्ष्मैकेन्द्रियादिजीवराशेरप्रवेशा-दिति ॥ ६५२ ॥

तदेवं प्रदर्शिता शेषमार्गणास्थानेष्वप्यायुषोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यद्विविधस्थितिवन्धकानां स्पर्शना । तथा च गतं नवमं स्पर्शनाद्वारम् ॥

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिवन्धकानां स्पर्शनाप्रदर्शकं यन्त्रकम्			
कस्याः प्रकृतेः	भूयस्कारादेः कस्य बन्धकानाम्	कुत्र ?	कियती स्पर्शना
आयुर्वर्जसप्तमूल- प्रकृतीनाम्	भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितानां प्रत्येकम्	प्रोधतः, यत्र सन् तत्र सर्वमार्गणाम् च	सर्वथाऽनुत्कृष्टस्थितिवन्ध- कानां स्पर्शनावत्
	अवक्तव्यस्थितिवन्धस्य	"	लोकाऽसंख्यभागः
आयुषः	अल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धयोः प्रत्येकम्	"	सर्वथाऽनुत्कृष्टस्थितिवन्धकवत्

॥इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे नवमं स्पर्शनाद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथ दशमं कालद्वारम् ॥

एतर्हि क्रमप्राप्तनानाजीवाश्रयकालद्वारावसरः । तत्रापि आदेशतश्च मूलकर्मसत्कभूयस्कारादि-
स्थितिवन्धमत्पदानां जघन्योत्कृष्टभेदमिन्नं नानाजीवाश्रयं कालं प्रतिपिपादयिषुरादौ तावदोघतः
प्रतिपादयन्नाह—

सव्यद्धा तिपयाणं भृगाराईण सत्तकम्भाणं ।

तह आउस्स पयाणं दोण्हं कालो मुणेयव्वो ॥६५३॥

(प्र०) “सव्यद्धा” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तमूलकर्मणां “तिपयाणं भृगाराईणं”
ति अवक्तव्यस्थितिवन्धकालस्यानन्तरं वक्ष्यमाणतया तद्वर्जानां ‘भूयस्कारादीनां’ भूयस्कारा-ऽल्प-
तरा-ऽवस्थितस्थितिवन्धलक्षणानां त्रयाणां पदानां “तह आउस्स पयाणं दोण्हं” ति तथाऽऽयुः-
कर्मणोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि सत्पदयोः “कालो” ति नानावन्धकाश्रय-
कालः, निरन्तरो वन्धकमन्धकाल इति यावत् । “मुणेयव्वो” अस्य च “सव्यद्धा” इति
पूर्वेणान्वयस्ततः सर्वाद्वा ज्ञातव्य इत्यर्थः । सुगमश्चायम्, एतेषां पदानामेकेन्द्रियाद्यनन्तजीवस्वा-
मिकत्वादिति । यद्वा भङ्गविचयद्वारे ध्रुवत्वमाधनादेव गतार्थ इति ॥६५३॥

उक्तशेषस्य समानामवक्तव्यस्थितिवन्धस्य नानाजीवाश्रयकालमोघतः प्रतिपिपादयिषुरवि-
शेषाद्वाधवार्थं मार्गणास्थानेष्वपि सममेव प्राह—

सत्तण्ह लहू समयोऽवत्तव्वस्स परमोऽत्थि संखखणा ।

जहि अत्थि तस्स बंधो तहि तस्सेमेव विण्णेयो ॥६५४॥

(प्र०) “सत्तण्ह” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिवन्धस्य
“लहू समयो” ति प्रकमान्नानाजीवाश्रयो ‘लघुः’-जघन्यः कालः समयो भवति । “परमो-
ऽत्थि संखखणा” ति स एव सप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धकालः ‘परमः’-उत्कृष्टः ‘संख्यक्षणाः’-
संख्येयाः समया भवति ।

अथ लाघवार्थं मार्गणास्थानेष्वतिदेशद्वारेणाह—“जहि अत्थि” इत्यादि, “जहि” ति ‘यत्र’
यासु मनुष्यगन्योधादिमार्गणासु “अत्थि तस्स बंधो” ति तस्य सप्तान्यतमकर्मणोऽवक्तव्यस्य
बन्धः ‘णरनिगदुपणिदियतस-पणमणवयणं’त्यादिना सत्पदद्वारे सन्नभिहितः “तहि” ति
‘तत्र’-तासु मनुष्यांघादिमार्गणासु “तस्सेमेव विण्णेयो” ति तस्याऽवक्तव्यस्थितिवन्धस्य प्रस्तुत-
न्वान्नानाजीवाश्रयो बन्धकालः ‘एवमेव’-ओघवदेव, जघन्यत एकसमयः, उत्कृष्टतः संख्येयाः
समयाश्च विज्ञेयः । कथम् ? इति चेद्, एकजीवाश्रितस्योत्कृष्टस्यापि कालस्य समयमात्रत्वात्,
बन्धकपरिमाणस्याऽऽयुत्कृष्टतः संख्येयत्वाच्च ।

इदमुक्तं भवति—ओघतो मार्गेणास्थानेषु वा यत्र कुत्रचिद् यस्याः कस्या अपि प्रकृतेर्यस्य कस्यापि भृयस्कारादिस्थितिवन्धस्य निर्वर्तका मङ्गविचयद्वारे 'निरिये सञ्चेगिदिये' इत्यादि- (५९८...) गाथापृक्तौ दक्षितनीन्या ध्रुवं प्राप्यन्ते, तत्र मार्गेणादौ तस्याः प्रकृतेस्तस्य भृयस्कारादि- स्थितिवन्धस्य नानाजीवाश्रयः प्रस्तुतकालः सर्वाद्वा प्राप्यत इति तु सुगमः, अत एवाऽनन्तरमो- घतः सप्तप्रकृतीनां भृयस्कारादिविधस्थितिवन्धस्याऽऽयुषो त्रिविधमन्पदयोश्चासौ सर्वाद्वा कथितस्ति- र्गणत्वोपादिसर्गाण्योपेतु तस्या दृश्यते च । स च तत्तद्भृयस्कारादिवन्धकानां ध्रुवत्वसाधनयैव गताशौ बोद्धव्यः । यत्र पुनस्ते भृयस्कारादिवन्धका मङ्गविचयद्वारेक्तनीन्या ध्रुवं न लभ्यन्ते, कदाचित्प्राप्यन्ते कदाचित् न अपि प्राप्यन्ते इत्यर्थः । एतेषां कदाचित्कसर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं भवतीति यावत् । तत्र तु तस्य भृयस्कारादेर्नानाजीवाश्रयः कालो न सर्वाद्वा, किन्तु सावधिक एव । स च तस्य भृयस्कारादेर्वन्धकपरिमाणमुत्कृष्टपदे संख्येयं भवन्वसंख्येयं वा तदापि जघन्यतस्तस्य भृयस्कारा- देर्कजीवाश्रयजघन्यवन्धकालेन तुल्य एव प्राप्यते, उत्कृष्टतस्त्वसौ बन्धकपरिमाणायनुमारेण पूर्वोक्तनीन्या यथामम्मर्ष संख्येयसमया-ऽऽवलिकाऽसंख्येयभागादिप्रमाणः सम्पद्यते ।

तत्रथा—यस्य भृयस्कारादेर्जीवितासंख्येयभागमात्रसम्भविनः स्थितिवन्धस्यैकजीवाश्रय उत्कृष्टोऽपि काल एकत्र्यादिसंख्येयाः समया एव, तदीयवन्धकपरिमाणमपि संख्येयमेव च, तस्य नानाजीवाश्रयः प्रस्तुतवन्धकालोऽप्युत्कृष्टतः संख्येयाः समया एव प्राप्यते, केवलमयमेकजीवाश्रयो- त्कृष्टवन्धकालापेक्षया संख्येयगुणो भवति । यदि च तस्य बन्धकपरिमाणमसंख्येयं भवति तदा न्वसौ नानाजीवाश्रय उत्कृष्टकालः कार्मणकाययोगमार्गेणोक्तमप्तकर्मसत्कोऽकृष्टस्थितिवन्धनानाजीवाश्र- योत्कृष्टकालवदावलिकाऽसंख्येयभागप्रमाणः प्राप्यते, अत एवाऽघतो मार्गेणास्थानेषु चाऽऽयुर्वर्जसप्त- मूलप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिवन्धस्यामावृत्कृष्टकालः संख्येयाः समया अनिहितः, अनन्तरम्—

'जासुं ह्वेज्ज संवा नामुं संख्यमया भवे जेड्ढो । जासु असंखा तामुं आवलिकाए असंखंसो' ॥६५६॥ इत्यनेन पर्याप्तमनुष्यादिसंख्येयवन्धकपरिमाणायु मार्गेणायु आयुर्वर्जसप्तानां भृयस्कारादेः प्रस्तुत- काल उत्कृष्टतः संख्येया समयाः, नरकगन्धोपाद्यसंख्येयवन्धकपरिमाणायु न्वावलिकाऽसंख्येयभाग- प्रमाणोऽभिधास्यते च । यस्य पुनस्तादृशस्य जीवितासंख्येयभागमात्रसम्भविनः स्थितिवन्धविशेष- स्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टकालोऽन्तमु हर्तप्रमाणत्वादसंख्येयाः समयास्तस्य तु बन्धकपरिमाणस्य संख्येय- न्वे तदीयनानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालोऽन्तमु हर्तमेव लभ्यते, केवलमन्तमु हर्तमिदमेकजीवाश्रयवन्ध- कालोऽपेक्षया संख्येयगुणं भवति । यदि च तादृशस्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टतोऽसंख्येयवामयिकस्य स्थितिवन्धविशेषस्य बन्धकपरिमाणं संख्येयं तदा तु तदीयनानाजीवाश्रय उत्कृष्टः कालः पन्थोपमासंख्येयभागप्रमाणः सम्पद्यते, अत एव 'जदि बंधगा अन्थ संखा तदि तस्स भवे गुरु मुहुत्तंनो । सेसासु असंख्यमो भागो पलिओयमस्स भवे' ॥६६३॥ इत्यनेनायुषोऽल्पतरस्थितिवन्धस्य नानाजीवा- श्रयमुत्कृष्टं कालं पर्याप्तमनुष्यादिसंख्येयवन्धकपरिमाणस्वन्तमु हर्तमभिधाप नरकगन्धोपाद्यसंख्येय-

बन्धकपरिमाणसु नवसौ पञ्चोपमासंख्येयभागप्रमाणोऽभिवास्यते । जीवनबहुकालसम्भविनः समानामवस्थितस्थितिवन्धस्य प्रस्तुतकालस्तूष्णकृतो यत्र तद्बन्धकनामधुक्त्वं प्रतिपादितं तत्राऽपर्याप्तमनुष्यादिमान्तरमार्गणास्त्रुष्णकृतस्थितिवन्धकानां तुष्णकृतकालवन्नानाजीवाश्रयमार्गणोत्कृष्टावस्थानकालप्रमाणः प्राप्यते । एतच्च सर्वमर्थतो द्वितीयाधिकारनानाजीवाश्रयकालद्वारे उत्कृष्टादिस्थितिवन्धानां नानाजीवाश्रयकालस्योपपादनेन मतार्थमेव, एवमध्यल्पमेधमां सुखोपपत्तये लेशतः प्रदर्शितम्, एवमेवोत्तरत्राऽपि यथायथं विभावनीयमिति ॥६५४॥

तदेवमिदित औघनस्यैककर्मणां भूयस्कारादिमवस्थितिवन्धसत्पदानां तथाऽऽदेशतो मार्गणास्थानेषु समानामवक्तव्यस्थितिवन्धसत्पदस्य च नानाबन्धकाश्रयः कालो लघन्यत उत्कृष्टतश्च । एतर्हि सप्तकर्मणां शेषभूयस्कारादिस्थितिवन्धसत्पदानां तं प्रदिदर्शयिषुर्माथापञ्चकमाह—

भूगार-ऽप्ययराणं जासुं णियमाऽत्थि बंधगा तासुं ।

सव्वद्धा कालो सिं सेमासु भवे लहू समयो ॥६५५॥

जासुं हवेज्ज संखा तासुं संखसमया भवे जेट्ठो ।

जासु अमंखा तासुं आवलिआए अमंखंमो ॥६५६॥

अममत्तणरे विक्कियमीस-उवसमेसु सामणे मीसे ।

पल्लामंखियभागो अवट्ठिअस्स हवए जेट्ठो ॥६५७॥

णयो भिन्नसुहुत्तं आहारदुगे अवेअ-सुहुमेसुं ।

छेए हवेज्ज अयरा पण्णासा लखकोडीओ ॥६५८॥

परिहारविसुद्धीए देसूणा दोणिण पुव्वकोडीओ ।

एआसु लहू ममयो हवेज्ज सेमासु सव्वद्धा ॥६५९॥

(प्रे०) “भूगारप्ययराणं” मित्यादि, “सत्तण्ह” ति अनन्तरमाथातोऽनुवर्तते, तत आयुर्वर्जानां समानां मूलप्रकृतीनां “भूगारप्ययराणं” ति भूयस्काराऽल्पतरलक्षणयोर्द्वयोः स्थितिवन्धगतपदयोः “जासुं णियमाऽत्थि बंधगा” ति भङ्गविचयद्वारे ‘तिरिवे सव्वेगिदिये’ इत्यादिमाथा-(५९,८-६०१) पञ्चके यासु तिर्यगन्व्योधादिचतुःपरिमार्गणासु प्रस्तुतबन्धका नियमा उक्ताः, प्रस्तुतस्थितिवन्धकपदं ध्रुवं दर्शितमिति भावः । “तासु सव्वद्धा कालो सिं” ति तासु तिर्यगत् शेष-सर्वेकेन्द्रियभेद-वनस्पतिकार्योघ-सर्वमाधारणवनस्पतिकार्यभेद-पृथिव्याद्योघ--तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेद-भिन्नशेषद्वादशसूक्ष्मभेद-पृथिव्यसंज्ञोवायुकार्योघ-वाद्-पृथिव्यसंज्ञोवायुकाया--ऽपर्याप्तिवाद्-पृथिव्यसंज्ञो .। काय-प्रत्येकवनस्पतिकार्योघ--तदपर्याप्त-काययोगौघां--दारिक-तन्मिश्र-कर्मणकाय-

योग-नपुंसकवेद-क्रोधादिकषायचतुष्क-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-कृष्ण-नील-कापोत-
लेश्या-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञया-ऽऽहारका-ऽनाहारकरूपासु चतुःषष्टिमार्गणासु 'स्ति' ति तपो-
भूयस्कारा-ऽल्पतरलक्षणयोर्द्वयोः स्थितिवन्धमत्पदयोर्नानावन्धकाश्रयोः कालः सर्वाद्धा भवति । अयं
हि सर्वाद्धाकालोऽनन्तरोक्तनीत्या ध्रुवदभावनयैव व्याख्यातार्थो न पुनर्व्याख्यायत इति ।

“सेसासु भवे लङ्घ समयो” ति नियोगन्योघादिचतुःषष्टिमार्गणा अपहाय शेषानु
नरकगत्योघादिषडभ्यधिकशतमार्गणासु प्रस्तुतमप्तकर्मसत्कभूयस्कारा-ऽल्पतरस्थितिवन्धमत्पदयो-
र्नानावन्धकाश्रयो 'लघुः'-जघन्यः कालः समयो भवेत् । सुगमः, शेषनिरयगत्योघादिमार्गणासु
प्रस्तुतपदद्वयस्याऽब्रुवन्वेन सावधिकस्तश्चानाजीवाश्रयो जघन्यः कालोऽप्युक्तनीत्यैकजीवाश्रयजघन्य-
वन्धकालवन्मयमात्रो लभ्यत इति ।

अथोक्तकृत आह-“जासु ह्वेऽज” इत्यादि, यासु मार्गणासु तासां सप्तमूलप्रकृतीनां भूय-
स्कारस्याऽल्पतरस्य वा स्थितिवन्धस्य निर्वर्तकपरिमाणं संख्येयमुक्तं तासु पर्याप्तमनुष्य-मानुष्यादि-
द्वादशमार्गणासु तस्य भूयस्कारादिस्थितिवन्धस्य नानाजीवाश्रयः “जेहो” ति उक्तकृष्णकालः संख्येयाः
समया भवेदिति । यासु पुनर्निरयगत्योघादिचतुर्नवतिमार्गणासु तद्वन्धकपरिमाणमसंख्येयं तासु
तस्य भूयस्कारादिस्थितिवन्धस्य नानाजीवाश्रय उक्तकृष्णकालोऽसंख्येयाः समया भवेदित्येतदेव दर्शय-
न्नाह-“जासु असंखा तासु आवलिआण असंखंसो” इति, गतार्थम् ।

पर्याप्तमनुष्यादिद्वादशमार्गणास्त्विमाः-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-सत्रार्थमिद्धविमान-
देवगतिभेदा-ऽऽहारक-तन्मिश्रकाययोगा-ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-
परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयमाः ।

निरयगत्योघादयस्त्विमाः-अष्टौ निरयगतिभेदाः, चत्वारः पञ्चेन्द्रियनिर्यग्भेदाः,
मनुष्यौघ-तदपर्याप्तभेदा, सर्वार्थमिद्धविमानभेदवर्जा एकोनविंशद्देवगतिभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः,
त्रयः पञ्चेन्द्रियभेदाः, शरदरपर्याप्तपृथिव्यसेजोवायु-पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायलक्षणाः पञ्च भेदाः,
त्रयस्त्रयकायभेदाः, सर्वे मनोवचोयोगभेदाः, ते च दश, वैक्रिय-वैक्रियमिश्रकाययोगा, स्त्री-पुंवेदा,
मति-श्रुता-ऽवधिज्ञानानि, विभङ्गज्ञानम्, देशसंयमः, चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शने, शुभलेश्यात्रयम्, सम्य-
क्त्वाँघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकौ-पशमिक-सामादन-सम्यग्मिथ्यात्वानि संज्ञिमार्गणाभेदश्चेति ।

अथाऽवस्थितस्थितिवन्धस्य प्रस्तुतकालमाह-“असमत्तणरे” इत्यादि, अपर्याप्तमनुष्य-
वैक्रियमिश्रौ-पशमिकसम्यक्त्व-सामादन-सम्यग्मिथ्यात्वलक्षणान् पञ्चमार्गणास्वाऽऽयुर्वर्जमत्प्रकृ-
तीनामवस्थितस्थितिवन्धस्य प्रस्तुतो नानाजीवाश्रयः कालः “जेहो” ति उक्तकृष्णकालः पर्याप्तमनुष्याऽसं-
ख्येयभागप्रमाणो भवेत् । आहारक-तन्मिश्रकाययोगयोरपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयमयोश्चेत्येवं चत-
सृषु मार्गणासु त्वसावुक्तकृष्णकालः ‘मिचमुहूर्तम्’-अन्तमुहूर्तं ज्ञेयः । “छेण” ति छेदोपस्थापन-

संयममार्गणास्थाने पुनरसौ पञ्चाशत्सप्तकोट्यः 'अतराः'-सागरोपमाणि भवेत् । परिहारविशुद्धिक-
संयममार्गणास्थाने तु "देसूणा दोषिण पुष्पकोट्टीओ" ति देशोनपूर्वकोटिद्वयं भवति ।
तदेवमपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमन्तरमार्गणासु तत्तन्मार्गणाया नानाजीवाश्रयोत्कृष्टावस्थानकालधीनः
सप्तानामवस्थितस्थितिवन्धस्य नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालः पत्योपमासंग्रह्येयभागादिप्रमाणो दर्शितः । स
च सप्तानामनुत्कृष्टस्थितेर्नानावन्धकाश्रयोत्कृष्टकालवदेव साधनीयः, सप्तानामनुत्कृष्टस्थितिवन्ध-
वदवस्थितस्थितिवन्धस्याऽपि जीवितवहकालभावित्वादिति । "एआसु लहू समयो" ति एता-
स्वनन्तराभिहिताऽपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणासु प्रत्येकं सप्तानामवस्थितस्थितिवन्धस्य नानाजीवा-
श्रयो 'लहू' ति जघन्यकालः समयो भवेत्, अयं चैकजीवाश्रयजघन्यकालस्य तथान्वात्प्राग्बत्साध्यः ।
"ह्वेज्ज सेसासु सव्वद्धा" ति उक्तकादशमार्गणा अपहाय शेषासु निरयगत्योधाद्येकोन-
पष्टयभ्यधिकशतमार्गणासु तु प्रस्तुतः सप्तानामवस्थितस्थितिवन्धस्य नानाजीवाश्रयः कालः सर्वाद्वा
भवेत् । अयमप्यनुत्कृष्टस्थितिवन्धनानाजीवाश्रयकालवदेव साध्यः, यद्वा भङ्गविचयद्वारे तद्वन्ध-
कानां ध्रुवत्वमाधनादेव साधितो बोद्धव्य इति ॥६५५-६५९॥

तदेवं प्रतिपादितः सप्तकर्मणां भृशस्कारादिस्थितिवन्धकालोऽपि सर्वमार्गणास्थानेषु । इदा-
नीमुक्तशेषस्याऽऽयुःकर्मणोऽल्पतरा-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धकानां तं व्याचिकीर्षुरार्याचतुष्टयमाह—

जहि बंधगाऽत्थि णियमा वासडीअ दुपयाणऽऽउस्स तहिं ।

सव्वद्धा सेसासु समयोऽवत्तव्वगस्स लहू ॥६६०॥

जहि बंधगाऽत्थि संखा तहि से संखसमया गुरू णेयो ।

सेसासु विण्णेयो आवलिआए असंखंमो ॥६६१॥

पणमणवयेसु विउवे आहारदुगे जहण्णगो णेयो ।

अप्पयरस्स खणोऽण्ह भिन्नमुहुत्तं मुणेयव्वो ॥६६२॥

जहि बंधगाऽत्थि संखा तहि तस्स भवे गुरू मुहुत्तंतो ।

सेसासु असंखयमो भागो पलिओवमस्स भवे ॥६६३॥

(प्रे०) "जहि बंधगा" इत्यादि, तत्र "जहि" इत्यस्याऽन्वयः 'वासडीअ' इत्यनेन,
ततो यत्र द्विषष्टिमार्गणासु "बंधगाऽत्थि णियम" ति अस्य च 'दुपयाणऽऽउस्स' इति परेणा-
न्यपस्तत आयुषोऽवस्थिता-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धलक्षणयोर्द्वयोः 'पदयोः'सत्पदयोर्बन्धकाः'-निर्वर्तका
नियमात्सन्ति-सर्वदा लभ्यन्ते, पदद्वयमपि पूर्वं भङ्गविचयद्वारे 'तिरये सव्वेगिदिये'त्यादि-(६०४-
६०५-६०६) गाथात्रये ध्रुवमभिहितमिति भावः । "तहिं सव्वद्धा" ति तत्र तिर्यग्गत्योधादि-
द्विषष्टिमार्गणासु तयोर्द्वयोः पदयोर्बन्धकानां कालः सर्वाद्वा भवतीत्यर्थः । गतार्थः । उक्तद्विषष्टि-

मार्गणावर्जासु शेषनिरयगन्योधादिमार्गणासु प्रस्तुतकालोऽसर्वाद्वैत्यतस्तं जघन्यादिभेदेनाह—
 “सेसासु” इत्यादिना, उक्तशेषाश्वेकोत्तरक्षतमार्गणासु “अवत्तव्वस्स समयो हस्सो”
 ति आयुषोऽवक्तव्यस्थितिवन्धस्य निर्वर्तकानां ‘हस्वः’-निरन्तरजघन्यकालः ‘समयः’-समयमात्रो
 भवति । अयमपि सुगमः, एकजीवाश्रयस्य तस्य जघन्यतः समयमात्रत्वेनाऽत्रापि तथैव सम्भवात् ।
 अथोत्कृष्टकालप्रतिपादनाय लाघवार्थं व्याप्तिरत्राह—“जहि” इत्यादि, यत्र मार्गणास्थानेषु प्रस्तुता-
 ऽवक्तव्यस्थितिवन्धस्य “बंधगाऽन्धि संखा” ति ‘बन्धकाः’-निर्वर्तकाः प्राक् परिमाणद्वारे
 ‘पञ्जमणुस-मणुसीसु’ इत्यादिना (६२८-६२९)गाथाद्वये संख्येयाः प्रतिपादिताः सन्ति, “नहि”
 ति ‘तत्र’-पर्याप्तमनुष्य---मानुष्या--नतकल्पादिसर्वार्थभिद्धविमानान्ताष्टादशदेवगतिभेदा--ऽऽहारक-
 तन्मिश्रकाययोग-अन्न-पर्यवहान-संगर्माद्य-मामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकर्मयम-शुक्लश्या-
 क्षायिकसम्यक्त्वलक्षणाश्वेकोनत्रिंशन्मार्गणासु “से संखसमया गुरु णेयो” ति तस्याऽऽयुषो-
 ऽवक्तव्यस्य प्रस्तुतत्वाच्चिरन्तरो बन्धकसत्त्वकालो नानाजीवाश्रयबन्धकालो वा ‘गुरुः’-उत्कृष्टः
 संख्येयाः समया ज्ञेयः । सुगमः, बन्धकपरिमाणस्योत्कृष्टतः संख्येयत्वादेकजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्या-
 ऽपि समयतया संख्येयसमयमात्रत्वाच्चेत्येवंप्रकारेणोपपादनीयेति ।

“सेसासु” ति तिर्यग्गन्योधाद्या द्विषष्टिमार्गणाः पर्याप्तमनुष्याद्या एकोनत्रिंशन्मार्गणाश्च
 विहाय या शेषाः, यासु प्रस्तुतपदं सद्भूतं ता वैक्रियमिश्रकाययोगादिवर्जा निरयगन्योधादिसप्तति-
 मार्गणास्तासु शेषमार्गणासु प्रस्तुत आयुषोऽवक्तव्यस्थितिवन्धकानामुत्कृष्टो निरन्तरकालः “विण्णेयो
 आवलिआए असंखंसो” ति एकस्या आवलिकाया असंख्येयतमे भागे यावन्तस्मयान्नावान्
 विज्ञेयः । अयमपि प्राग्विकजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्य संख्येयसमयमात्रत्वादित्यादिना साध्य इति ।

अथाऽऽयुषोऽल्पतरस्थितिबन्धकानां द्विविधोऽपि कालस्तिर्यग्गन्योधादिद्विषष्टिमार्गणासु
 प्रतिषिद्धः, अतस्तच्छेषास्यर्मा जघन्योत्कृष्टभेदेनाह—“पणमणे” इत्यादि, पञ्चमनोयोगभेद-पञ्च-
 वचोयोगभेद-वैक्रियकाययोगा-ऽऽहारक-तन्मिश्रकाययोगलक्षणासु त्रयोदशमार्गणासु “जहण्णणो
 णेयो अप्पयरस्स खणो” ति आयुषोऽल्पतरस्थितिवन्धस्य जघन्य एव जघन्यकः स च प्रस्तुत-
 त्वाच्चानाजीवाश्रयकालः ‘क्षणः’-समयो भवेत् । सुगमः, आयुर्वन्धे प्रवर्तमानेऽपि प्रस्तुतमार्गणानां
 मार्गणान्तरतया परावर्तनस्य शक्यत्वेनैकजीवाश्रयकालवन्नानाजीवाश्रयाऽप्यर्थं समयमात्रः सम्पद्यते ।
 न चैवं तर्हि क्रोधकपायादिमार्गणानामपि तथात्वेन ताः क्रोधकपायादिमार्गणा अप्यत्र कथं न
 संगृहीता इत्यारेकणीयम् । क्रोधकपायादिमार्गणासु तथैव काययोगादिमार्गणासु तिर्यक्पञ्चे-
 न्द्रियादिजीवराश्यपेक्षया समयमात्रस्य प्रस्तुतकालस्य सम्भवेऽपि तत्राऽनन्तानामेकेन्द्रियजीवाना-
 मपि प्रवेशेन तेषु चान्यान्यजीवानां प्रस्तुतबन्धकतया नैरन्तर्येण लाभेन प्रस्तुतबन्धकानां ध्रुवत्वस्य
 प्रतिपादितत्वादिति । “पणह” ति प्रस्तुतस्यायुषोऽल्पतरस्थितिवन्धस्य नानाजीवाश्रयो जघन्यकालः

'अन्यत्र'-उक्तान्यत्र, तिर्यगत्योधादिद्विपष्टिमार्गणास्तथा मनोयोगादिप्रयोदशमार्गणा विहाय शेषासु निरयगत्योधाद्यष्टाशीतिमार्गणास्वित्यर्थः । "भिन्नमुहुसं सुणेयत्वां"ति 'भिन्नमुहूर्त'-अन्तमुहूर्तं ज्ञातव्यः । सुगमः, एतासु शेषमार्गणास्वेकजीवाश्रयस्याऽपि प्रस्तुतस्यायुषोऽवस्थितस्थितिबन्ध-जयन्यकालस्यान्तमुहूर्तत्वादिति ।

अथोत्कृष्टकालं प्रदिदर्शयिषुः प्रागिव व्याख्याऽऽह-"जहि" इत्यादि, यत्र पर्याप्तमनुष्या-दिमार्गणास्वायुषोऽल्पतरस्थितिबन्धस्य "बंधगाऽन्धि संखा" ति बन्धरूपरिमाणं प्राक्परिमाण-द्वारे पञ्चमगुप्त-मगुप्तीसु' मित्यादिना संख्येयं प्रतिपादितं "तहि" ति 'तत्र'-नामु पर्याप्तमनुष्या-द्येकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकम् "तस्स भवे शुक्ल मुहुत्तंतो" ति तस्याऽल्पतरस्थितिबन्धस्य 'गुरुः'-उत्कृष्टः काळः 'मुहूर्तान्तः'-अन्तमुहूर्तं भवेत् । गतार्थः । "सेसासु" ति तिर्यगत्योधा-दिद्विपष्टिमार्गणास्तथाऽपर्याप्तमनुष्याद्येकोनत्रिंशन्मार्गणा अपहाय शेषानु निरयगत्योधादिद्विपष्टि-मार्गणासु "असंख्यमो भागो पलिभोचमस्स भवे" ति सुगमः, एकजीवाश्रयस्योत्कृ-ष्टकालस्याऽन्तमुहूर्तत्वादिना प्रकारेण प्रागिवोपपादनीय इति ॥६६०-६६३॥

तदेवं भणित आयुःकर्मणोऽल्पतराऽवक्तव्यद्विविधस्थितिबन्धयोरपि जयन्योत्कृष्टभेदभिन्नो नानाजीवाश्रयः कालः सर्वमार्गणास्थानेषु । तस्मिँश्च भणिते गतं नानाजीवाश्रयं कालद्वारमिति ।

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकानां नानाजीवाश्रयकालप्रदर्शकयन्त्रकम्					
आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनाम्				आयुषः	
कुत्र ?	भूयस्कारा-ऽल्पतर०	अवस्थित०	अवक्तव्य०	अवक्तव्य०	अल्पतर०
यगंभ्यजीवराशिकासु मान्तर- मार्गणासु	जघ० समयः । उत्कृ० प्राधानिकाऽसंख्य- भागः ।	यनुत्कृष्ट- स्थितिबन्धक- कावेचन्	जघ० समयः । उत्कृष्ट० संख्येयाः नमगा	सर्वथा नानाजीवाश्रयजयन्यस्थितिबन्धकालवत् । केवलं-मर्यादित्ताना-ऽवधिबन्धन-सुभ्यक्तस्वीध- शायोपशमितसुभ्यक्त्वेत्वाव लिकाऽसंख्यभागः ।	सर्वथा नानाजीवाश्रयाऽजयन्यस्थितिबन्धकालवत् ।
संख्येयजीवराशिकासु मान्तर- मार्गणासु	जघ० समयः । उत्कृ० संख्येयाः समयाः ।	"	"		
श्रीघतोऽसंख्यनोक्तवधिकजीव- राशिकासु मार्गणानु च	सर्वाद्या	सर्वाद्या	"		
उपयुक्तवर्जास्वसंख्यजीवराशि- कासु निरन्तरमार्गणासु	जघ० समयः । उत्कृ० प्राधानिकाऽसंख्य- भागः ।	"	"		
मख्येयजीवराशिकासु निरन्तर- मार्गणासु	जघ० समयः । उत्कृ० संख्येयाः समयाः ।	"	"		

॥ इति श्रीबन्धधियाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे दशमं नानाजीवाश्रयं कालद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथैकादशमन्तरद्वारम् ॥

प्राप्तं नानाजीवाश्रयमेकादशमन्तरद्वारम् । अत्र तु मूलकर्मणां भूयस्कारादिस्थितिवन्धसत्पदानां नानाजीवाश्रितं जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नमन्तरं प्ररूपणीयम् । तत्रौघतस्तावद्येषां तत्र भवति तेषां तन्प्रतिषेधयन्नाह—

भूओगाराईणं तिण्हं सत्तण्हं अंतरं णत्थि ।

एमेव जाणियब्बं दाण्हं वि पयाण आउम्म ॥६६४॥

(प्रे०) “भूओगाराईणं” मित्यादि, “सत्तण्हं” ति आयुर्वर्जानां सप्तमूलप्रकृतीनां “भूओ-गाराईणं तिण्हं” ति अवक्तव्यस्थितिवन्धान्तरस्याऽनन्तरमाथायां प्रतिपादनीयत्वाद्भवत्कव्य-स्थितिवन्धवर्जानां भूयस्कारादीनां भूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थितस्थितिवन्धलक्षणानां त्रयाणां “अंतरं णत्थि” ति नानाजीवाश्रयमन्तरं ‘नास्ति’ न भवति । इदं हि भङ्गविचयद्वारे प्रस्तुतभूयस्कारादि-वन्धकानां ध्रुवत्वप्रतिपादनात्, काठद्वारे नानाजीवाश्रयकालस्य सर्वाद्द्वाराः प्रतिपादनाद्वा गताश्रमे-वेति नात्र पुनः प्रपञ्च्यत इति । इत्थमुत्तरत्राऽपि भूयस्कारादिवन्धकानामन्तरप्रतिषेधस्तत्तद्वन्धकानां ध्रुवत्वादिसाधनेनैव साधितो द्रष्टव्य इति । अथाऽयुषोऽवक्तव्या-ऽल्पतरस्थितिवन्धपदद्वयस्य वन्ध-कानां ध्रुवत्वस्य सर्वाद्द्वारा वा प्रतिपादितत्वेन तस्याऽपि प्रस्तुतान्तरं नैव भवतीति तदपि प्रतिषि-धेयिपुरतिदेशेनाह—“एमेव” इत्यादि, यथा सप्तानां भूयस्कारादिस्थितिवन्धपदत्रयस्य प्रस्तुतान्तरं न भवति तथाऽऽयुषोऽवक्तव्या-ऽवस्थितस्थितिवन्धलक्षणयोर्द्वयोरपि सत्पदयोस्तत्र भवतीत्यक्षरार्थः । भावार्थोऽपि कश्चित् एवेति ॥६६४॥

उक्तशेषस्य सप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धस्य नानाजीवाश्रयान्तरस्य सद्भावात्तज्जघन्योत्कृष्ट-भेदतो दर्शयन् लाघवार्थं मार्गणास्थानेष्वतिदिशंश्चाह—

सत्तण्हं कम्माणं लहुं अवत्तव्वगस्स समयोऽत्थि ।

वामपुहुत्तं जेट्ठं जहि स भवे तस्स तहि एवं ॥६६५॥

(प्रे०) “सत्तण्हं” मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां “लहुं अवत्तव्वगस्स समयोऽत्थि” ति अवक्तव्य एव अवक्तव्यकस्तस्याऽवक्तव्यकस्थितिवन्धस्य ‘लघु’-जघन्यं नाना-जीवाश्रयमन्तरं समयोऽस्ति । “वामपुहुत्तं जेट्ठं” ति तर्क्येवावक्तव्यस्थितिवन्धस्य ‘ज्येष्ठम्’-उत्कृष्टमन्तरं वर्षपृथक्त्वन्वं भवति । कथम् ? इति चेद्, अवक्तव्यस्थितिवन्धस्वामिनामुपशमाद्वाक्षयेण भवक्षयेण वा प्रतिपततामन्यान्व्योपशमकानां समयान्तरेणाऽवक्तव्यस्थितिवन्धकतया लाभप्रसम्भवात्, उपशमकानामुत्कृष्टान्तरस्य वर्षपृथक्त्वतया तदधीनस्योत्कृष्टान्तरस्य तथा लाभाच्चेति ।

“जहि स भवे तस्स तहि एवं” ति आदेशतः ‘यत्र’-यासु मनुष्यगत्योधादिमार्गणासु सप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धो ‘भवेत्’-उत्पदद्वारे सन् प्रतिपादितः “तहि” ति ‘तत्र’-यासु मनुष्याद्य-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियौघ-तन्पर्याप्त-अर्माद्य-तन्पर्याप्त-सर्वमनोवचोयोग-काययोगौघौ-दारिककल्पयोगा-ऽपगतवेद-मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-चक्षु-रचक्षु-रवधिदर्शन-शुक्लेश्या-भव्य-सम्यक्त्वौघ-श्लायिकौ-पशामिकसम्यक्त्व-संज्ञया-ऽऽहारकमार्गणास्वायुर्वर्जसप्तानां लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणश्च “एवं” ति औघवद्, अवक्तव्यस्थितिवन्धस्य जघन्यमन्तरं समयः, उक्तकृष्टं वर्षपृथक्त्वं चेत्यर्थः । जघन्योत्कृष्टद्विविधमपि प्रस्तुतान्तरं सुगमम्, मनुष्याद्यादिमार्गणास्थानेष्वप्यौघवहुपशान्ताद्वाक्षयादिना प्रतिपततामेवाऽवक्तव्यस्थितिवन्धस्वामिन्वादिति ॥६६५॥

तदेवमोघतः सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिवन्धस्यैव नानाजीवाश्रयान्तरस्य सम्भवाद्दर्शितं तत्, व्यावहार्यमतिदेशनादेशतोऽपि च । साम्प्रतमुक्तशेषपदानां तदादेशतो दिदर्शयिष्युरार्यापञ्चक्रमाह—

सत्तण्ह जासु कालो भूगाराईण तिण्ह सव्वद्धा ।

णो तासु अंतरं सिं सेसासु भवे लहुं समयो ॥६६६॥

पल्लामंखियभागो अपज्जणरमीम-मायणेषु गुरुं ।

वेउवमीसजोगे बोद्धव्वं वारह मुहुत्ता ॥६६७॥

आहारदुगे णयं वामपुहुत्तं अवेअ-सुहुभेषुं ।

भूओगारस्स वरिमपुहुत्तमियराण लम्मासा ॥६६८॥

भूओगाराईणं तिण्हं जलहीण कोडिकोडीओ ।

अट्टारम विण्णंयं परिहारविसुद्धि-च्छेएसुं ॥६६९॥

मत्त दिवमा उवसमे तिपयाणऽत्थि दुपयाण सेसासुं ।

भिन्नमुहुत्तं सव्वह आउस्स अगुरुठिइव्व दुपयाणं ॥६७०॥

(प्रे०) “सत्तणहे” त्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां यासु तिर्यग्गत्योधादि-मार्गणासु “कालो भूगाराईण तिण्ह सव्वद्धा” ति शेषाणां भ्रूयस्कारा-ऽल्पतरा-ऽवस्थित-स्थितिवन्धलक्षणानां त्रयाणां पदानां “कालो” नानाजीवाश्रयः कालोऽन्तरद्वारे सर्वाद्वा प्रति-पादित इत्यर्थः । “णो तासु अंतरं सिं” ति तासु तिर्यग्गत्योधादिचतुःषष्टिमार्गणासु “सिं” ति भ्रूयस्कारा-ऽल्पतरलक्षणयोर्द्वयोः स्थितिवन्धयोः, तथाऽपर्याप्तमनुष्यादिसान्तरमार्गणावर्जासु निरय-गत्योधाद्येकोनषष्टयस्यधिकशतमार्गणाभवस्थितस्थितिवन्धस्य नानाजीवाश्रयमन्तरं न भवतीत्यर्थः । नानाजीवाश्रयकालद्वारेऽमीषां पदानां सर्वाद्दोषपादनेनैव गतार्थमिदमिति । उक्तशेषमार्गणासु पदत्रय-स्याऽपि प्रस्तुतान्तरस्य सम्भवात्तज्जघन्यादिभेदेनाह—“सेसासु” इत्यादि, “सि” मितिपदमत्राऽपि

सम्बध्यते, तत उक्तशेषासु निरयगन्वोघादिपङ्क्तशतमार्गणासु “सि” ति सप्तानां भूयस्कारा-
ऽल्पतरस्थितिवन्धलक्षणयोर्द्वयोः पदयोस्तथाऽपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमार्गणास्वस्थितिवन्धस्य “अथे
लङ्घुं समयो” ति ‘लघु’-जधन्यं नानाजीवाश्रयमन्तरं समयो भवेत् । सुगमम् ।

एतदेवोत्कृष्टतः प्राह—“पञ्चासंख्यभागो” इत्यादि, ‘भूगाराईण तिण्ह’ इत्येतन्नपूर्वगाथा-
तोऽनुवर्तते, ततो भूयस्कारादिविधस्थितिवन्धस्य प्रत्येकमपर्याप्तमनुष्य-मस्यग्निभ्यान्व-साम्वादन-
लक्षणमार्गणावये “गुरु” ति नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टमन्तरं पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणं भवति ।
वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणस्थाने तु तत् “बोद्धव्यं धारस सुहुत्ता” ति द्वादशमुहूर्ता बोद्धव्यम् ।
“आहारदुगे” ति आहारक-तन्मिश्रकाययोगमार्गणाद्वयलक्षण आहारकद्रिके पुनस्तद्भूयस्कारादि-
विविधस्थितिवन्धानां नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टमन्तरं “णेर्य वासपुहुत्ता” ति वर्षपृथक्त्वं ज्ञेयं
भवति । अपगतवेद-सूक्ष्ममस्पर्शयसंयममार्गणयोस्तु “भूओंगारस्स वरिसपुहुत्ता” ति
सप्तानां प्रकृतीनां भूयस्कारलक्षणस्यैकविधस्थितिवन्धस्य प्रस्तुतोत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वं ज्ञेयम्, न
स्वल्पतरा-ऽवस्थितलक्षणयोः स्थितिवन्धयोरपीति भावः । तर्हि तयोः कियद्भवतीत्याह—“इयराण
लम्मासा” ति अवक्तव्यान्तरस्य पूर्वमतिदिष्टत्वाद्, भूयस्कारान्तरस्यानुपदमेवाऽभिहितत्वाच्चा-
ऽवक्तव्य-भूयस्कारान्तरयोस्वल्पतरा-ऽवस्थितस्थितिवन्धयोः प्रत्येकं षण्मासा भवति, न पुनर्भूयस्कारा-
न्तस्ववर्षपृथक्त्वम्, मार्गणाद्वयेऽस्युपशमकानामेव भूयस्कारस्थितिवन्धस्वामित्वात्, तेषां चारित्र-
मोहोपशमकानामुत्कृष्टान्तरस्य वर्षपृथक्त्वाच्च । उक्तञ्च जीवसमासे—‘वासपुहुत्तमुषसामणसु’ इति ।

शेषपदद्वयस्य तु न केवला उशमका एव स्वामिनः, किन्तु क्षपका अपि, क्षपकाणां तूत्कृ-
ष्टान्तरं षण्मासा एव । उक्तञ्चैतदपि जीवसमासे—‘खगंसु लम्मासा’ इति । इत्थं च तदधीनं
प्रस्तुतान्तरमपि षण्मासा एव भवतीति तथैव दर्शयन्प्राह—“इयराण लम्मासा” इति । गता-
र्थम्, केवलम् “इयराण” ति उक्ततरयोस्वल्पतरा-ऽवस्थितस्थितिवन्धलक्षणयोर्द्वयोः पदयोरिति ।
“भूओंगाराईण”मित्यादि, परिहारविशुद्धिकसंयमे छेदोपस्थापनसंयमे चेत्येवं मार्गणाद्वयेऽवक्तव्य-
स्याऽमन्यदन्वाच्छेषाणां भूयस्कारादीनां त्रयाणामपि स्थितिवन्धसन्पदानां प्रस्तुतनानाजीवाश्रयो-
त्कृष्टान्तरं “जलहीण कोडिकांडोओ” ति ‘जलधीनां’-मागरोपमाणां कोटिकोटयोऽष्टादश
विज्ञेयमिति । “सत्त दिवसा उवसमे” ति सप्त ‘दिवसाः’-वासरा औपशमिकमस्यक्त्वमार्गणायां
“तिपयाण” ति अवक्तव्यस्थितिवन्धप्रस्तुतान्तरस्य ‘जहि स भवे तस्य तर्हि एवं’ (शाखा-६६५)
इत्यनेनातिदिष्टत्वाच्छेषाणां भूयस्कारादीनां त्रिविधस्थितिवन्धपदानामित्यर्थः । एतास्वपर्याप्तमनुष्याद्ये-
कादशमान्तरमार्गणासु प्रस्तुतान्तरं सर्वथा द्वितीयाधिकारनानाजीवाश्रयान्तरद्वारोक्तज्ञाना-
वरणाद्यनुत्कृष्टस्थितिवन्धोत्कृष्टान्तरवत् तत्तदपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणानामुत्कृष्टान्तरस्य पल्योपमा-
ऽसंख्येयभागादिप्रमाणत्वात्साध्यम् । यः पुनरपगतवेद-सूक्ष्ममस्पर्शयसंयममार्गणयोर्भूयस्कारोत्कृ-
ष्टान्तरविषये विशेषः, स तूपशमकानामेव तद्वन्धकत्वात्साधित एवेति ।

“दुपयाण संसासु भिन्नमुहुत्” इति भूयस्काराऽल्पतरलक्षणद्विविधस्थितिवन्धसत्य-
दयोः प्रस्तुतान्तरस्यासंख्यलोक-तदधिकवन्धकपरिमाणामु निर्यगत्योधादिचतुःषष्टिमार्गणासु प्रति-
पिद्धत्वात् तास्तिर्यगत्योधादिचतुःषष्टिमार्गणास्तथाऽपर्याप्तमनुष्याद्येकादशमान्तरमार्गणासु प्रस्तु-
तान्तरस्याभिहितत्वात् एकादशमार्गणा विहाय शेषासु निर्यगत्योधादियश्चनवतिमार्गणामु प्रस्तु-
तान्तरं ‘भिन्नमुहुत्’ अन्तमुहुत् भवति । गतार्थम् । केवलं शेषमार्गणा इमाः—सर्वे निर्यगति-
भेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, मनुष्याद्य-नृपर्याप्त-मानुषीमार्गणाः, सर्वे विकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रिय-
भेदाः, पर्याप्तवाटरपृथिव्यप्रेजोवायु पर्याप्तप्रत्येकवनस्पति-सर्वत्रसकायभेदाः, सर्वे मनोववोयोग-
भेदाः, वैक्रियकाययोगः, स्त्री-पुरुषभेदाः, मत्यादिज्ञानचतुष्कम्, विभङ्गज्ञानम्, संयमाव-सामायिक-
संयम-देशसंयमाः, चक्षुर्दृशना-ऽवधिदर्शने, शुभलेख्यात्रयम्, सम्यक्वाच-श्वायिकसम्यक्त्व-क्षायाप-
शमिकसम्यक्त्वानि संज्ञिमार्गणास्थानञ्चेति ।

तदेवं प्रतिपादितं सर्वमार्गणासु भूयस्कारादिद्विविधस्थितिवन्धस्याऽपि नानाजीवाश्रयमन्तरं
द्विधा । साम्प्रतमायुषोऽल्पतर-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धमन्पदयोस्तद्विभक्तिपुरतिदेशेनाह—“सञ्च ह
आउस्से” त्यादि, अत्रैव स्थितिवन्धग्रन्थे द्वितीयाधिकारनानाजीवाश्रितान्तरद्वारे—
‘जहि सञ्चद्धा कालोऽणुकोसठिईअ आउगन्म भवे । तहि तीव अंतरं णो नेसासु भवे लहुं समचो ॥
पच्चिदियातरिय क्रियल पणिदिय-तस्सेसु णि अपज्जेसु । भिन्नमुहुत्तं जेद्धं अण्णह णाउण णेयव्वं ॥१२६॥’
इति मायाउयेनाऽयुषोऽनुकृष्टस्थितिवन्धकानां जघन्यत उन्कृष्टतश्च यावन्ममयादिकमन्तरं प्रति-
पादितं तावत् “दुपयाणं” इति आयुषोऽवक्तव्या-ऽल्पतरस्थितिवन्धलक्षणोद्दयोः मन्पदयोः प्रत्येक-
मपि जघन्यत उन्कृष्टतश्च विज्ञेयम् ।

कथमनुकृष्टस्थितिवन्धान्तरवदतिदिष्टम् ? इति चेत्, उच्यते, यथाऽयुषः प्रकृतिवन्धाभावे न
भवति तस्याऽनुकृष्टस्थितिवन्धः, प्रकृतिवन्धसद्भावे तु प्रतिप्रकृतिवन्धमसावायुषोऽनुकृष्टस्थिति-
वन्धो भवन्त्येव, ततश्च प्राणायुषोऽनुकृष्टस्थितिवन्धान्तरं तदीयप्रकृतिवन्धान्तरवत्तत्र तत्र सर्वाद्वा-
ममया-ऽन्तमुहुत्तादिप्रमाणं प्रतिपादितं तथैवाऽऽयुषः प्रकृतिवन्धाभावे न भवति प्रस्तुतद्विविधस्थिति-
वन्धोऽपि, प्रकृतिवन्धसद्भावे तु प्रतिप्रकृतिवन्धमसां द्विविधोऽपि स्थितिवन्धः प्रवर्तत एवेत्येवमायु-
षोऽनुकृष्टस्थितिवन्धान्तरवदायुषोऽल्पतर-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धयोगपि नानाजीवाश्रयं प्रस्तुतान्तरं
प्रकृतिवन्धवदुत्पद्यते, ततश्चतन्प्रकृतिवन्धान्तरवदुत्कव्यं भवति, यद्यप्येवं तथाऽपि प्रकृतिवन्धनाना-
जीवाश्रयान्तरस्य दूरेण प्ररूपितत्वात् तदुपश्यानुकृष्टस्थितिवन्धनानाजीवाश्रयान्तरस्यात्रैव मूल-
प्रकृतिस्थितिवन्धेऽनन्तरं द्वितीयाधिकारे प्रतिपादितत्वेन संनिकृष्टत्वादायुषोऽनुकृष्टस्थितिवन्ध-
नानाजीवाश्रयान्तरवदतिदिष्टमिति । विशेषोपपत्त्यर्थं त्वनुकृष्टस्थितिवन्धनानाजीवाश्रयान्तरविष्टि-
विलोकनीयेति ॥६६६-...६७०॥

तदेवं प्ररूपितमायुषोऽल्पतर-ऽवक्तव्यद्विविधस्थितिवन्धसत्यदयोरपि नानाजीवाश्रयमन्तर-
मतिदेशद्वारेणैव । तस्मिंश्च प्ररूपिते समाप्तमेकादशं नानाजीवाश्रयमन्तरद्वारम् ॥

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिवन्धकानां नानाजीवाश्रया-ऽन्तरप्रदर्शकं यन्त्रकम्						
प्रायुषं त्रैसप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकम्						। प्रायुषः
कुत्र ?	भूयस्कारस्थिति- बन्धस्य		अल्पतरस्थिति- बन्धस्य		अवस्थितस्थिति- बन्धस्य	
	तद्यन्त्रं। उत्कृष्टम्	तद्यन्त्रं। उत्कृष्टम्	तद्यन्त्रं। उत्कृष्टम्	तद्यन्त्रं। उत्कृष्टम्	तद्यन्त्रं। उत्कृष्टम्	तद्यन्त्रं। उत्कृष्टम्
अपर्याप्तमनुष्य-सास्त्रादन- मिश्रहृष्टिरूपमागंशाश्रयं-	सप्तमः।	पल्लोपमस्या- ऽसंख्यभागः	सप्तमः।	पल्लोपमस्या- ऽसंख्यभागः	सप्तमः।	पल्लोपमस्या- ऽसंख्यभागः
वैक्रियमिश्रकारगोत्रं-	॥	१२ मुहूर्ताः	॥	१२ मुहूर्ताः	॥	१२ मुहूर्ताः
आहारक-तन्मिश्रकायथी- गयोः-	॥	वर्षपृथक्त्वम्	॥	वर्षपृथक्त्वम्	॥	वर्षपृथक्त्वम्
गतवेद-मूढमसम्पराय- संयमयोः-	॥	॥	॥	षण्मासाः	॥	षण्मासाः
श्रौचमिकसम्पत्त्वे-	॥	सप्त दिनानि	॥	सप्त दिनानि	॥	सप्त दिनानि
द्वेदोपस्थापन-परिहार- विद्युत्कयोः-	॥	१८ कोटाकोटी सागरोपभागि	॥	१८ कोटाकोटी सागरोपभागि	॥	१८ कोटाकोटी सागरोपभागि
ओघतोऽसंख्यलोक-नद- धिकबन्धकपरिमाणामु भागंगासु च -	॥	सर्वाद्धा	॥	सर्वाद्धा	॥	सर्वाद्धा
उपयुक्तशेषासु भागांसासु-	॥	अन्तमुहूर्तम्	॥	अन्तमुहूर्तम्	॥	अन्तमुहूर्तम्

ओघतो गत्र सत् तत्र सर्वमागंशास्थानेषु च जयन्तां समस्तः, उत्कृष्टः
मन्तमुहूर्तम् ।

ओघतः सर्वमागंशास्थानेषु वाऽल्पतरु-ऽवन्तव्यद्विवि-स द्वयोः सर्वथा नानाजीवाश्रिता
ऽनुकूलस्थितिवन्धानरत्नम् ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे तृतीये भूयस्काराधिकार एकादशं नानाजीवाश्रयमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ द्वादशं भावद्वारम् ॥

एतर्हि भावद्वारस्यावसरः । तत्रोत्कृष्टादिस्थितिवन्धवन्मूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिवन्धो-
ऽप्यापशमिकादिभावानां मध्ये केन भावेन जायत इत्येतत्प्रदिदर्शयिपुरेकामार्यामाह—

भावेणोद्दहणं भूगाराईण अट्टकम्माणं ।

बंधो एवं सव्वह सकम्माण सपयाणं ॥६७१॥

(प्रे०) "भावेण" त्यादि, औघतः सर्वमार्गणास्थानेषु च बन्धप्रायोग्यानां ज्ञानावरणादीना-
मष्टानामपि मूलप्रकृतीनामन्यतमस्याः प्रकृतेभूयस्कारादीनां सर्वेषां स्थितिवन्धसत्पदानां बन्ध
उत्कृष्टादिस्थितिवन्धवदौदयिकेन भावेन भवतीति गाथाश्लगर्थः । भावार्थस्तु द्वितीयाधिकार-
भावद्वार उत्कृष्टादिस्थितिवन्धविशेषाणां कपायोदयलक्षणादयिकभावप्रत्ययत्वसाधनेनैव गतार्थः ।

न च भूयस्कारस्थितिवन्धस्य समयव्यधिकस्थितिवन्धरूपत्वाद्भवतु तत्र कपायोदयरूप
औदयिकभावो हेतुः, अन्यतरस्थितिवन्धेऽपि कथमसौ युज्येत, तस्य समयादिहीनस्थितिवन्ध-
रूपत्वेन तत्र तावत्कपायोदयहानेरेव हेतुतया युज्यमानत्वात्, तस्याश्च तावत्कपायोदयाभावलक्षणायाः
कपायोदयप्रतिपक्षत्वेन कपायोदयरूपादयिकभाववहिस्त्वात् ? इति चेद्, न, अन्यतरस्थिति-
बन्धे पूर्वसमयापेक्षया हीनस्थितिवन्धभावेऽपि नार्थः स्थितिवन्धहानलक्षणस्थितिवन्धाभावरूपः,
किन्तु समयादिस्थितिवन्धहान्योत्तरसमयजायमानस्थितिवन्धरूप एव, अन्यथा सूक्ष्मसम्परायचरम-
स्थितिवन्धे ज्ञानावरणादीनामन्तमुर्हतादिस्थितिवन्धात्तदुत्तरसमय उपशान्तमोहगुणस्थाने स्थितेर-
बन्धं कुर्वतां स्थितिवन्धाभावप्रवृत्त्या स्थितिवन्धहानेः सम्पद्यमानत्वात्तेषामप्यल्पतरस्थितिवन्ध-
स्वामित्वं स्यात्, न च तद्भवति, तेषामुपशान्तमोहगुणस्थानप्रथमसमयवर्तिनां तत्र पूर्वसमय-
जायमानान्तमुर्हतादिस्थितिवन्धस्य सर्वथा हानेरपि स्थितिवन्धस्यैव सर्वथाऽप्रवर्तनेनाऽसंख्येयानां
स्थितिवन्धस्थानानां मध्ये स्थितिवन्धहान्याऽन्यतमस्थितिवन्धस्थाननिर्वर्तनलक्षणस्याऽल्पतरस्थिति-
बन्धस्याऽयुज्यमानत्वात् । न च सूक्ष्मसम्परायचरमस्थितिवन्धादबन्धं कुर्वतां पूर्वसमयवध्यमान-
स्थितेर्हानिमम्भवेऽपि तत्र तेषां ज्ञानावरणादिप्रकृतीनामेव बन्धाभावेन न विद्यते तेषां ज्ञानावरणा-
देरल्पतरस्थितिवन्धस्तदभावेऽल्पतरस्थितिवन्धस्वामित्वञ्च, सति प्रकृतिबन्धं तस्याभिमतत्वादित्यपि
वाच्यम् । यतस्तथान्वेऽपि उपशान्तमोहगुणस्थाने वेदनीयबन्धस्य सर्वसम्मतत्वेन वेदनीयस्य
तु तदापद्येतेव । इत्येवमल्पतरस्थितिवन्धो न स्थितिवन्धहानिरूप एव, किन्तु पूर्वसमयादनन्तरो-
त्तरसमये स्थितिवन्धहान्या बध्यमानान्यतमस्थितिवन्धस्थानरूपः । स च कपायोदयाभावे न
लभ्यत इत्यतो भूयस्कारादिस्थितिवन्धवदल्पतरस्थितिवन्धेऽप्यादयिकभावहेतुर्भवत्येव । इत्येवम-
ल्पतरस्थितिवन्धेऽपि कपायोदयलक्षणादयिकभाव एव हेतुतया युज्यत इत्यलं प्रपञ्चितेनेति ॥६७१॥

तदेवं दर्शितमौघत आदेशतश्चाष्टभूयप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिवन्धा अप्युत्कृष्टादिस्थितिवन्ध-
वदौपशमिकादिभावानां मध्ये औदयिकेन भावेन जायन्त इति । तस्मिँश्च दर्शिते गतं भावद्वारम् ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे द्वादशं भावद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथ त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

साम्प्रतं “अप्पयद्गुण”मित्यनेनोद्दिष्टे चरमेऽल्पबहुत्वद्वारे मूलप्रकृतीनामुत्कृष्टपदगतानां भूयस्कारादिस्थितिवन्धकानामल्पबहुत्वं जिज्ञाशयिपुरादीं तावदोधत आह—

सत्तण्ह बंधगाऽप्याऽवत्तव्वस्स उ तओ अणंतगुणा ।

अप्पयरगस्स ताओ भूओगारस्स अब्भहिआ ॥६७२॥

तोऽवट्ठिअस्स णया असंखियगुणाऽऽउगस्स णायव्वा ।

थोवाऽवत्तव्वस्स उ अप्पयरस्स य तओ असंखगुणा ॥६७३॥ (गणितिः)

(प्रे०) “सत्तण्ह बंधगा” इत्यादि, आयुर्वर्जानां समानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं “बंधगाऽप्याऽवत्तव्वस्स” ति अवक्तव्यलक्षणस्थितिवन्धस्य बन्धकाः-निर्वर्तका ‘अप्याः’-स्तोका इत्यर्थः । अनन्तरवक्ष्यमाणपदापेक्षयेति तु गम्यत एव । कुतः स्तोकाः ? उपशान्तभोदगुणस्थानादिभावबन्धादुत्तीर्य बन्धप्रारम्भकानां स्तोकानामेव लाभात् । एवमेव वक्ष्यमाणमार्गणास्थानेष्वप्यवक्तव्यबन्धकानां स्तोक्त्वं भावनीयमिति । तुः पादपूर्णे । “तओ अणंतगुणा” ति ‘ततः’-अनन्तरोक्तंभ्यो ज्ञानावस्थादेवत्तन्यस्थितिवन्धकेभ्योऽनन्तगुणाः । कस्य बन्धका इत्याह—“अप्पयरस्स” ति अल्पतरस्थितिवन्धस्येत्यर्थः । समप्रकृतीनामिति न्वनुवर्तते । कुतोऽनन्तगुणाः ? अल्पतरस्थितिवन्धकतयैकेन्द्रियादीनामपि लाभात्, तेषां च सर्वमनुप्यापेक्षयाऽप्यनन्तगुणत्वादिति । “ताओ भूओगारस्स अब्भहिआ” ति तेष्योऽनन्तरोक्ताल्पतरस्थितिवन्धकेभ्यः समानामेव भूयस्कारादिस्थितिवन्धस्य बन्धका ‘अभ्यधिकः’-विशेषात् । कुतः ? उच्यते, पूर्वापेक्षया समयाधिकसञ्चितानां बन्धकानामेकसमये भूयस्कारबन्धकतया लाभात् । इदमुक्तं भवति—प्रागुक्ता अल्पतरस्थितिवन्धका उत्कृष्टतोऽपि त्रिसमयसञ्चिता एव लभ्यन्ते । कुतः ? ओघत एकजीवस्योत्कृष्टतो निरन्तरं त्रिसमयान् यावदल्पतरबन्धस्य सम्भवात् । समानामेकजीवाश्रयस्य भूयस्कारस्थितिवन्धस्याधिकोत्कृष्टकालस्य चतुःसमयप्रमाणत्वेन भूयस्कारबन्धकास्तु चतुःसमयसञ्चिता अपि प्राप्यन्ते । एवं हि सदृशानां तुल्यपरिमाणानां सूक्ष्मकेन्द्रियादीनां भूयस्काराऽल्पतरबन्धद्वयार्हत्वेऽप्यल्पतरस्थितिवन्धकेभ्यः समानां भूयस्कारादिस्थितिवन्धकाः समयाधिकसञ्चिता इतिकृत्वा विशेषादिका भवन्तीति । “तोऽवट्ठिअस्स णया असंखियगुणा” ति तेष्यः समानां भूयस्कारस्थितिवन्धकेभ्योऽवस्थितस्थितिवन्धकाऽसंख्येयगुणा ज्ञेयाः, बन्धका इत्यनुवर्तते इति । अत्रापि पूर्ववन्धस्तुल्यबन्धस्य सदृशस्याधिकत्वे सत्येकजीवाश्रयतद्वन्धकालस्योत्कृष्टतो भूयस्कारबन्धकालादसंख्येयगुणाधिकभावाद्बन्धकसञ्चयोऽप्यसंख्यगुणः सम्पद्यत इति ज्ञेयम् । उक्तमायुर्वर्जसमानां प्रत्येकं भूयस्कारादिवन्ध-

कानामल्पबहुत्वम् । साम्प्रतमुक्तशेषस्याऽऽयुषो द्विविधबन्धकानां तदर्थ्यन्नाह—“उग्गरस्स णाय-
व्वा” इत्यादि, तत्र विश्लेषप्राप्तस्याऽऽकारस्य दर्शनादायुषः “थोवाऽवत्तव्वस्स उ” ति अव-
क्तव्यस्थितिवन्धस्य लोका ज्ञानव्या, बन्धका इत्यनुवर्तते, अनन्तरवक्ष्यमाणाल्पतरस्थितिवन्ध-
केभ्य इति गम्यत एव । “अप्पयरस्स य तओ असंखगुणा” ति तेभ्य आयुषोऽवक्तव्य-
स्थितिवन्धकेभ्य आपुप एवाल्पतरस्थितिवन्धस्य निर्वर्तका असंख्यगुणाः, ज्ञानव्या इत्यनुवर्तते ।
सुगमम्, यत आयुषोऽवक्तव्या-ऽल्पतरस्थितिवन्धयोः महत्त्वस्यामिकत्वेऽप्युत्कृष्टपदेऽल्पतरस्थिति-
बन्धसन्कैकजीवाश्रयकाल एकजीवाश्रयाऽवक्तव्यस्थितिवन्धोत्कृष्टकालापेक्षयाऽसंख्येयगुणो भवति,
तथा च सति बन्धकसञ्चयोऽप्यसंख्यगुणः प्राप्यत इति ॥६७२-६७३॥

तदेवमुक्तमष्टानामपि मूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिवन्धकानामल्पबहुत्वमोघतः । साम्प्रतं तदे-
वादेशतो मार्गणास्थानेष्वभिधित्सुगर्दां तावत्सप्तप्रकृतीनामाह—

तिरिय-अपज्जतसेसुं णपुंसगम्मि य कसायचउगम्मि ।
अण्णाणदुगे अयते तिअसुहलेस-भवि-मिच्छेसुं ॥६७४॥
मव्वप्पाऽप्पयरस्स उ सत्तण्ह तओ विसेसओऽब्भहिआ ।
भूओगारस्स तओ अवट्ठिअस्स उ असंखगुणा ॥६७५॥
णवरं लोहे थोवाऽवत्तव्वस्स उ हवन्ति मोहस्स ।
ततो अणंतगुणिआऽप्पयरस्स तओ उ पुव्वव्व ॥६७६॥

(प्रे०) “तिरियअपज्जतसेसुं” इत्यादि, तिर्यंगत्थोघा-ऽपर्याप्तत्रसमार्गणयोर्नपुंसकवेद-
मार्गणायाम् । चः पादपूर्त्यं । क्रोधादिकषायमार्गणाचतुष्के । चः प्राग्वत् । मत्त्यज्ञानश्रुताज्ञानात्म-
कयोर्द्वंद्वरज्ञानमार्गणयोः, असंयमे, त्रिकृष्णाद्यशुभलेदया-ऽभव्य-मिथ्यात्वमार्गणास्त्रिन्येवमेतासु
पञ्चदशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु प्रत्येकं किमित्याह—“सव्वप्पा” इत्यादि, “सत्तण्ह”
ति आयुर्वर्जानां सप्तानां प्रत्येकं “सव्वप्पाऽप्पयरस्स” ति अल्पतरस्थितिवन्धस्य ‘सर्वाण्याः’-
सर्वमंताः, बन्धका इति गम्यते । “तओ” ति तेभ्यः “विशेषओऽब्भहिआ भूओगारस्स”
ति सप्तानां प्रत्येकं भूयस्कारस्थितिवन्धस्य ‘विशेषतोऽभ्यधिकाः’-विशेषाधिका इत्यर्थः । बन्धका इति
पूर्ववत् । एवमुत्तरत्रापि बोध्यम् । “तओ अवट्ठिअस्स उ असंखगुणा” ति तेभ्योऽनन्तरो-
क्तेभ्योऽवस्थितस्थितिवन्धस्याऽसंख्यगुणा बन्धका इति । एतासु प्रत्येकं प्रस्तुताल्पबहुत्वमोघवदेव
भावनीयम्, केवलं तत्रौघिकाल्पबहुत्वं सप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धोऽप्यासीत्, न चासावत्र
सामान्यतः कासुचिदपि मार्गणासु लभ्यते, अतः प्रथमं स्थानं विहाय शेषभावना कर्तव्या । विशे-
षतस्तु लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणोऽवक्तव्यस्थितिवन्धसद्भावात्तस्यां सर्वथैवौघवद् द्रष्टव्यम्,

एतदेव दर्शयितुमपवादपदमाह—“णचर”मित्यादिना, नदर्शस्त्वयम—परं लोभमार्गणायां मोहनीय-
स्यावक्तव्यबन्धमद्भाशात् सर्वस्तोका मोहनीयस्याऽवक्तव्यस्थितिवन्धका भवन्ति, तेभ्योऽनन्तगुणा
अल्पतरस्य बन्धकाः, तेभ्यो भूयस्कारस्य विशेषाधिका बन्धकाः, तेभ्यश्चावस्थितस्य बन्धका असंख्य-
गुणा इति । उपपत्तिस्त्वत्र सर्वार्थवोधवद् द्रष्टव्येति ॥६७४-६७५-६७६॥

अथान्यत्राह—

मणुस-दुपणिदियेसुं पंचमणवयण-तिणाण-ओहीसुं ।
सुइलाए सम्मत्ते खइअ-उवसमेसु सणिणम्मि ॥६७७॥
थोवाऽवत्तव्वस्स उ तत्तो दोण्ह हविरे असंखगुणा ।
भूगाराईण तओ अवट्टिअस्स य असंखगुणा ॥६७८॥

(प्रे०) “मणुसे”त्यादि, व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्त्याऽत्र ‘दुपणिदियेसु’ इत्यनेना-
ऽपर्याप्तभेदवर्जां ह्रीं पञ्चेन्द्रियभेदां ग्राह्यां, ततो मनुष्यगत्योष-पञ्चेन्द्रियोष-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्ग-
णासु, तथा पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोग-मत्यादिविज्ञानाऽवधिदर्शनमार्गणासु, शुक्ललेइयामार्ग-
णायां, सम्यक्त्वोषमार्गणायां, श्राधिकसम्यक्त्वो-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणयोः संज्ञिमार्गणायां
चेत्येतासु द्वाविंशतिमार्गणामु प्रत्येकं “थोवाऽवत्तव्वस्स उ” इत्यादि, सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकमवक्तव्य-
स्थितिवन्धकाः स्तोकाः, तेभ्यो भूयस्काराऽल्पतरस्थितिवन्धलक्षणयोर्द्वयोः प्रत्येकं बन्धकाः
“हविरे असंखगुणा” ति असंख्येयगुणा भवन्ति, परस्परं तु तुल्या इति । कथं तुल्याः ? इति चेत्,
प्रत्येकमार्गणासूक्तपदे तुल्यसमयमाश्रितानां प्रस्तुतद्विविधबन्धकानां लाभात्, येषामेव भूयस्कार-
बन्धाहर्त्वं तेषामेवाल्पतरबन्धाहर्त्वाच्च । एवमुत्तरत्राऽपि तत्तद्वन्धकानां परस्परं तुल्यत्वेऽवमानव्यम् ।
अत एव पदद्वये युगपदसंख्येयगुणन्वाभिधानमपि शक्यं विज्ञेयम् । तेभ्योऽनन्तरोक्तेभ्यो भूयस्का-
राल्पतरान्यतरबन्धकेभ्योऽवस्थितस्थितिवन्धम्याऽसंख्येयगुणाः, बन्धका इति गम्यते । युगमम्,
अवस्थितस्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टबन्धकालस्य पूर्वपक्षयाऽसंख्येयगुणन्वादिति ॥६७७-६७८॥

मार्गणान्तरेष्वह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं मणपज्जवणाण-संयमेसुं च ।
सत्तण्हं मव्वऽप्पाऽवत्तव्वस्स उ सुणयव्वा ॥६७९॥
तत्तो संखेज्जगुणा भूगाराईण दोण्ह णायव्वा ।
ताहिन्तो संखगुणा अवट्टिअस्स उ सुणयव्वा ॥६८०॥

(प्रे०) “पज्जमणुसे”त्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोः, मनःपर्यवज्ञान-संयमौष-
मार्गणयोश्च प्रत्येकं सप्तानां मूलप्रकृतीनामेकैकस्या अवक्तव्यस्थितिवन्धस्य निर्वर्तकाः । सर्वाण्या

ज्ञातव्याः । तेभ्यः संख्येयगुणाः “भूगाराईण दोण्ह णायव्वा” ति भूयस्काराऽल्पतरयोर्द्वयोः स्थितिवन्धयोः प्रत्येकं ज्ञातव्याः, परस्परन्तु प्रागिव तुल्याः । इयमत्रोपपत्तिः—अधिकृत-मार्गणात्रतुष्के समानां भूयस्कारा-ऽल्पतरस्थितिवन्धयोरेकजीवाश्रय उन्कृष्टकालो द्वौ द्वौ समयावेव, अन्यच्च सदृशजीवा द्विविधवन्धममर्थाः । तथा च सत्युभयत्र तुल्यसमयनिचितानां तुल्यानामेव बन्धकानां लाभः, ते चोन्कृष्टपदे परस्परं तुल्यपरिमाणाः मन्तोऽपि प्रत्येकं पूर्वोक्तेभ्योऽवक्तव्य-बन्धकेभ्यः संख्येयगुणा भवन्ति, अवक्तव्यबन्धस्य केषांचित्स्तोकजीवानां कदाचित्समयमेव भावात् । “नाहिन्तो ” ति तेभ्यो भूयस्कारा-ऽल्पतरैकविधवन्धकेभ्यः “संख्यगुणा अवद्विअस्स उ सुणेयव्वा” ति समानामत्रस्थितस्थितिवन्धस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः ज्ञातव्या इत्यर्थः । अस्यैकजीवाश्रयोन्कृष्टवन्धकालस्य पूर्वापेक्षयाऽसंख्यगुणत्वेऽपि मार्गणागतजीवराशीनामेव संख्येय-त्वात् संख्येयगुणत्वस्यैव सम्भवः, न पुनरसंख्येयगुणत्वस्येति भावः ॥६७९-६८०॥

तसद्दुग-काय-णयणियर-भविया-ऽऽहारेसु हुन्ति ओघव्व ।

णवरि दुतम-पयस्सुणुं अपयसरस्स उ असांखगुणा ॥६८१॥

(प्रे०) “तसद्दुगकाये”न्यादि, अपर्याप्तत्रसकायमार्गणार्थां प्रागभिहितत्वेन तद्वर्जौ शेषौ त्रस-कार्याघ-पर्याप्तत्रसकायरूपौ द्वौ भेदौ, काययोगसामान्य-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारिमार्गणा-भेदाश्च तेषु प्रत्येकं “हुन्ति ओघव्व” ति प्रकृतान्पवहुत्वमोघवद्भवति । तत्रथा—समानां प्रत्येक-मवक्तव्यस्थितिवन्धकाः सर्वस्तोकाः, ततोऽल्पतरस्थितिवन्धका अनन्तगुणाः, तेभ्यो भूयस्कारस्थिति-बन्धका विशेषाविकाः, ततोऽवस्थितस्थितिवन्धका असंख्यगुणा भवन्तीत्यर्थः । इत्थमतिदिष्टे याऽति-प्रसक्तिस्तापुदिधीर्पुराह—“णवरि” इत्यादिना, ‘नवरं’-परमयमत्र विशेषः । क इत्याह—“दुतस्” इत्यादि । अयम्भावः—त्रसकार्याघ-पर्याप्तत्रसकायलक्षणयोर्द्वयोश्चत्रसकायमेदयोश्चक्षुर्दर्शनमार्गणार्थां च प्रत्येकं जीवा असंख्येया एव सन्ति, न पुनः शेषकाययोगादिमार्गणावदनन्ताः, तथा च सति द्वितीयपदेऽल्पतरवन्धकानामोघवदनन्तगुणत्वस्याऽसम्भव एव, अतस्तत्स्थानेऽल्पतरस्थितिवन्धका अवक्तव्यस्थितिवन्धकेभ्योऽसंख्यगुणा वक्तव्याः, तदूर्ध्वं त्वतिदेशानुसारेणोघवदेत्रेति ॥६८१॥

उरले अवत्तव्वस्स उ थोवा तत्तो य दोण्हऽणंतगुणा ।

भूगाराईण तओ अवद्विअस्स उ असांखगुणा ॥६८२॥

(प्रे०) “उरलेऽवत्तव्वस्से” इत्यादि, तत्र तुः पुनरर्थे ‘उरले’ इत्यस्योत्तरं योज्यः, ततः “उरले” ति आंदारिककाययोगमार्गणार्थां पुनः सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकमवक्तव्यस्थितिवन्धस्य ‘स्तोकाः’-सर्वाल्याः, बन्धका इति गम्यते । ततश्च “भूओगाराईण” ति बहुवचनं प्राकृतलक्षणा-दादिपदाच्चान्यतरस्थितिवन्धो गृह्यते, अतो भूयस्काराऽल्पतरस्थितिवन्धलक्षणयोर्द्वयोरनन्तगुणाः, बन्धका इति प्रागवत्, सममेवानन्तगुणात्वाभिधानात्तयोः परस्परं तुल्यत्वमपि प्रागवद् बोद्धव्यम् ;

तच्च भूयस्काराऽल्पतरस्थितिवन्धयोरेकजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्य तुल्यत्वादिना प्राग्बहुपपादनीयम् ।
“तओ अवद्विअस्स उ” ति तेभ्योऽवस्थितस्य पुनरसंख्यगुणाः, बन्धका इति तु प्राग्बत् ।
असंख्यगुणत्वमपि प्राग्बत् सदशस्वामिकत्वे सत्येकजीवाश्रयस्योत्कृष्टवन्धकाऽस्यासंख्येयगुण-
त्वादिति हेतोर्विज्ञेयमिति ॥६८२॥

भूगाराईणऽप्या दोण्हं तोऽवद्विअस्स संखगुणा ।

सव्वत्था-ऽऽहारदुग-समइअ-छेअ-परिहारेसुं ॥६८३॥

(प्रे०) “भूगाराईणे”त्यादि, सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकं ‘भूयस्कारादयोः’-भूयस्काराऽल्पतरलक्ष-
णयोर्द्वयोरल्पा बन्धकाः, परम्परन्तु तुल्या इति प्राग्बद्भ्यते । “तो” ति ततोऽवस्थितस्थितिवन्ध-
स्य संख्येयगुणा बन्धका इत्यर्थः । कासु मार्गणास्वित्याह-“सव्वत्थाहारदुगे”त्यादि, सर्वार्थ-
सिद्धविमानदेवगतिभेदे, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगदिके, सामयिक-छेदोपस्थापन-परिहारवि-
बुद्धिकसंग्रहेऽप्येवं प्राग्बद्भ्यते । तत्र तुल्यत्वं सदशस्वामिकत्वे सत्येकजीवाश्रयबन्धकाल-
स्य तुल्यत्वात्, संख्येयगुणत्वं च जीवानां संख्येयत्वात्प्राग्बद्भ्यते ॥६८३॥

गयवेएऽवत्तव्वस्सऽप्या ततो कमेण संखगुणा ।

भूओगारस्स तओऽप्यरस्सा-ऽवद्विअस्स तओ ॥६८४॥

(प्रे०) “गयवेए” इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकमवक्तव्यस्थिति-
बन्धस्य बन्धका ‘अल्पाः’-स्तोकाः । तेभ्यः क्रमेण संख्येयगुणा भूयस्कारस्य, ततोऽल्पतरस्य ।
अवक्तव्यबन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽल्पतरस्य बन्धकाः संख्येयगुणा इत्यर्थः । ननु गतवेदमार्ग-
णायामपि प्राग्बद्भूयस्काराऽल्पतरस्थितिवन्धयोरेकजीवाश्रयः कालस्तुल्य एकममयोऽस्ति, तन्कथं
भूयस्कारबन्धकापेक्षयाऽल्पतरस्य बन्धकाः संख्येयगुणा उच्यन्ते ? भवत्यने-बन्धकालस्य
तुल्यत्वेऽपि तयोः स्वामिनो न सदशाः, किन्तु विसदशाः, यतो भूयस्कारस्थितिवन्ध उपशमश्रेणितः
पततामेव लभ्यते, नान्येषाम् ; अल्पतरबन्धस्तूपशमश्रेणिसारोहतां क्षपकश्रेणिसारोहतां च । इत्थं हि
भूयस्कारबन्धका एकविधाः, अल्पतरबन्धकास्तु द्विविधा भवन्ति, ततश्चैकजीवाश्रयोत्कृष्टवन्धकालस्य
तुल्यत्वेऽपि बन्धकास्त्वल्पतरस्थितिवन्धस्य संख्येयगुणाः सम्यघन्त इति ॥६८४॥

सुहुमे सव्वत्थोवा भूओगारस्स ताउ संखगुणा ।

अप्यरस्म तओ खलु अवद्विअस्सऽत्थि संखगुणा ॥६८५॥

(प्रे०) “सुहुमे” ति सुहृमसम्परायसंयममार्गणायां सर्वस्तोका भूयस्कारस्थितिवन्धस्य,
बन्धका इति गम्यते । तेभ्यः संख्येयगुणा अल्पतरस्य बन्धकास्तेभ्यः खल्ववस्थितस्य संख्येयगुणा

बन्धकाः सन्ति । प्रकृतिबन्धाविनाऽऽदितास्थितिवन्धस्य बन्धकान्तेत्यान्तां शण्डं ब्रह्मतीनामिति गम्यते । भावनान्वयपगतवेदमार्गणावदेव द्रष्टव्येति ॥६८५॥ अथ शेषमार्गणास्वाह—

सेसासुं सत्तण्हं भूगाराईण दोण्ह सव्वऽप्पा ।

ताहिन्तो णायव्वा अवट्टिअस्स उ असंखगुणा ॥६८६॥

(प्रे०) “सेसासु” ति अनन्तरोक्तास्तिर्यग्गन्योघादिसहस्रमम्परायसंयमपर्यन्ताः सप्तपञ्चाशन्मार्गणा अपहाय शेषासु नरकगत्योघादिव्रयोदशाभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं “सत्तण्ह” ति आयुर्वर्जानां मूलसप्तप्रकृतीनां प्रत्येकं “भूगाराईण दोण्ह सव्वऽप्पा” ति भूयस्काराऽल्पतर-स्थितिबन्धलक्षणयोर्द्वयोः प्रत्येकं बन्धकास्तुल्याः स्तोकाश्चेत्यर्थः । “ताहिन्तो” ति तेभ्योऽनन्तरोक्तेभ्यो भूयस्काराऽल्पतरैकविबन्धकेभ्योः “णायव्वा अवट्टिअस्स उ असंखगुणा” ति अवस्थितस्य बन्धका असंख्यगुणा ज्ञातव्या इत्यर्थः । सुगमं भावितव्यं चेति । शेषमार्गणाः पुनर्नामत इमाः—अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, सर्वार्थमिद्धविमानभेदवर्जा एकोनत्रिंशद्देवगतिभेदाः, सप्तैकेन्द्रियभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदः, पृथिव्यादिवनस्पतिकायान्तपञ्चकायसत्का एकोनचत्वारिंशद्भेदाः, औदारिकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्र-कार्मणकाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-तेजोलेश्या-पद्म-लेश्या श्वायोपशमिकसम्यक्त्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सासादना-ऽसंख्य-ऽनाहारकमार्गणाश्चेति ॥६८६॥

तदेवमुक्तमायुर्वर्जानां सप्तमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिवन्धकाल्पबहुत्वमादेशतोऽपि । साम्प्रतमत्रशेषस्यायुःकर्मणोऽवस्थिताऽवक्तव्यबन्धकाल्पबहुत्वमादेशतो दिदर्शयिषुर्गाथाद्वयमाह—

पज्जमणुममणुसीसुं आहारदुगा-ऽऽणताइदेवेसुं ।

मणणाण-संयमेसुं समईअ-छेअ-परिहारेसुं ॥६८७॥

सुइल-खइणसु थोवाऽवत्तव्वस्साऽऽउगस्स ताहिन्तो ।

संखगुणाऽप्पयरस्स उ असंखियगुणाऽत्थि सेसासुं ॥६८८॥

(प्रे०) “पज्जमणुसमणुसीसु” इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोस्तथाऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकार्ययोगयोर्द्विकमानतकल्पादिसर्वार्थमिद्धविमानान्ताष्टादशदेवभेदास्तेषु, मनःपर्यव-ज्ञान-संयमाद्यमार्गणयोः, सामायिक-छेदोपस्थान-परिहारविशुद्धिकसंयममार्गणासु, सुकल्लेश्या-श्वायिक-सम्यक्त्वमार्गणयोरित्येतास्वेकोनत्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुर्वन्धकानां संख्येयत्वादवक्तव्यस्थिति-बन्धकेभ्योऽल्पतरस्थितिवन्धकाः संख्येयगुणा एव भवन्तीत्यत उक्तम् “थोवाऽवत्तव्वस्साऽऽउग-स्स ताहिन्तो संखगुणाऽप्पयरस्स उ” इति । असंखियगुणाऽत्थि सेसासु” ति ‘थोवाऽवत्तव्वस्साऽऽउगस्स’ इत्यस्यात्राप्यनुवर्तनादुक्तशेषास्वायुर्वन्धप्रायोग्यासु चतुस्त्रिंशदभ्यधिक-

अष्टमूलप्रकृतीनां भूयस्कारादिस्थितिबन्धकानामल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रकम्				
आयुर्जासप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकम्				आयुषः
कुर ?	अवक्तव्य- बन्धकाः	अल्पतर- ततः बन्धकाः	भूयस्कार- ततः बन्धकाः	अप्र. स्वत- ततः बन्धकाः
तिर्यगोवा-ऽपर्याप्तप्रस-नपुंसक-कषाय- चतुष्क★-मत्स्यज्ञान-श्रुताजाना-ऽसंगमा- ऽप्रशस्तलेख्यात्रिक-भव्य-मिथ्यात्वेषु १५	०	स्तोकाः	विशेषाधिकाः	असंख्यगुणाः
मनुष्यीघ-पञ्चान्द्रीघ-नलपार्श-सर्वम- नोचर्चाऽपि-भय-मति-भुजाऽपि-भजाना- ऽवधिदर्शन-बुद्धिलोप्या-सम्यक्त्वौघ-क्षा- यिको-पशामकिसागयक्त्व-संज्ञिषु- २२	स्तोकाः	असंख्यगुणाः	तुल्याः	"
पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-सनःपर्यवज्ञान-संय- मौघमार्गणामु- ४	"	संख्येयगुणाः	तुल्याः	संख्यगुणाः
शोधतः कागयोगीघा-ऽचक्षुदर्शन-भव्या- ऽऽहारकेषु च, ४	"	अनन्तगुणाः	विशेषाधिकाः	असंख्यगुणाः
त्रसौघ-नलपार्श-अक्षुदर्शनमार्गणामु- ३	"	असंख्य	"	"
सर्वायसिद्धवेद्या-ऽऽहारकर्त्रिक-गामा- पिक-क्षेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धि- ६	"	स्तोकाः	तुल्याः	संख्यगुणाः
शौचार्थिककागयोगमार्गणामु- १	"	अनन्तगुणाः	"	असंख्यगुणाः
अपगतवेदमार्गणामु- १	"	संख्यगुणाः	संख्यगुणाः	संख्यगुणाः
सूक्ष्ममम्यरागमार्गणामु- १	०	स्तोकाः	"	"
उपयुक्तमार्गणा विहाय शेषसंबंमार्ग- णामु- ११३	०	"	तुल्याः	असंख्यगुणाः
★ प्रपवादः-लोभकपाये मोहनीयकर्मणः-	स्तोकाः	अनन्तगुणाः	विशेषाधिका	असंख्यगुणाः

संबंमार्गणाऽवक्तव्यबन्धका-स्तोकाः, तेभ्योऽल्पतरस्थितिबन्धकास्यत्वसंख्येय-
गुणा इत्यर्थः । उपपत्तिस्तु सर्वथैवैवद्वयगन्तव्येति ॥६८७-६८८॥
तदेवमभिहितं मार्गस्थानेषु शेषस्यायुःकर्मणोऽवक्तव्यादिस्थितिबन्धकान्पबहुत्वम् । तथा च
ममाप्तं त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारम् । तन्ममाप्तं च ममाप्तस्त्रयोदशद्वारात्मकस्तृतीयोऽधिकारः ॥
भूयस्काराख्यमिमं, प्रपञ्च्य मयकाऽऽप्तसुकृतसोपानैः ।
लघु यन्तु सिद्धिसौधं, भव्याः सन्मति-चरणयुक्ताः ॥ (पथ्यार्था)
॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे तृतीये भूयस्काराधिकारे त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारं समाप्तम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधान-मूलप्रकृतिस्थितिबन्धे तृतीयभूयस्काराधिकारः ॥

॥ पदनिक्षेपाधिकारः ॥

इदानीमधिकृतस्थितिवन्धग्रन्थारम्भे "पयणिक्रस्वेवो" इत्यनेन मञ्जामात्रतः कीर्तितस्य चतुर्थस्य पदनिक्षेपाधिकारस्यावसरः । तत्र च त्रीण्यनुयोगागणिः तान्येवाधिकारारम्भे नामतः कमनश्चाह—

तुरिये पयणिक्रस्वेवे अहिगारे तिणिण हुन्ति दाराइं ।

संतपयं मामित्तं अप्पावहुगं ति जहकमसो ॥६८९॥

(प्रे०) "तुरिये" इत्यादि, 'तुर्ये'-अधिकारक्रमापेक्षया चतुर्थे "पयणिक्रस्वेवे" ति प्राग्व्याख्यातस्वरूपे भूयस्कारादिविशेषचिन्तनात्मके पदनिक्षेपाभिधेऽधिकारे त्रीणि द्वाराणि भवन्ति । कोऽर्थः ? वृद्धिहान्यवस्थानलक्षणानां भूयस्कारादिस्थितिवन्धविशेषाणां त्रयाणां जघन्योत्कृष्टलक्षणे पदत्रये निक्षेपणात् चिन्तनात् प्रकृताधिकारोऽपि पदनिक्षेप इत्यभिधीयते ।

इदमभिहितं भवति— "पृथग्वचनस्य समवे अणंतरे" इत्यादिना भूयस्काराधिकारप्रारम्भेऽनन्तरपूर्वमयादनन्तरात्तरममये प्रभूततया स्थितिं बध्नतो या स्थितिवन्धवृद्धिस्तामपेक्ष्य भूयस्कारवन्ध इत्यभिहितम् । एवमन्ततया स्थितिं बध्नतो या स्थितिवन्धहानिः सैवान्पतरवन्धतया प्रतिपादिता । इत्यमेवानन्तरममये तावन्मात्रामवस्थितं व्यवमानस्थितिमवस्थितवन्धतया प्ररूपितवान् ग्रन्थकारः । नवरं तत्र भूयस्कारादिवन्धतयाऽभिहितवृद्ध्यादीनि सामान्यतो जघन्यादिभेदमनाधिकृत्यैव दर्शितानि । तानि पुनरुत्कृष्टादिपदे विशेषरूपेण यत्र चिन्त्यन्ते स प्रकृताधिकारः पदनिक्षेप उच्यते । तत्र त्रीणि द्वाराणि सन्ति, (१) सत्पदम्, (२) स्वामित्वम्, (३) अन्यवहुत्वं च । तान्येवाह— "संतपय"मित्यादि, गतायेप्, केवलं पदनिक्षेपस्य प्रारब्धत्वात् तत्तद्द्वारे उत्कृष्टादिपदान्भूयस्कारादिरूपवृद्ध्यादेः सत्पदादिकं चिन्तयिष्यत इति ॥६८९॥

॥ प्रथमं सत्पदद्वारम् ॥

तदेवं कृतमधिकारप्रारम्भेऽधिकारगतानां द्वाराणां नामोत्कीर्तनं सक्रमम् । साम्प्रतं तेषु सत्पदादिद्वारेषु मूलप्रकृतिस्थितिवन्धमधिकृत्य पदनिक्षेपं प्रचिकीर्षुः प्रथमे सत्पदद्वारे सत्पदानि प्रतिपादयन्नाह—

परमा वड्ढी परमा हाणी परमं तहा अवडाणं ।

अत्थि य सत्तण्हेवं सब्वासुं मग्गणासु भवे ॥६९०॥

(प्रे०) "परमा वड्ढी" इत्यादि, सामान्यतोऽनन्तराधिकारे त्रयोदशद्वारेषु चिन्तिता भूयस्कारलक्षणा स्थितिवन्धवृद्धिः 'परमा'-उत्कृष्टा, अस्य च "अत्थि य सत्तण्ह" इति परेणान्वयः, ततश्च सप्तानामायुर्वर्जानां मूलप्रकृतीनामस्ति-विद्यते, उत्कृष्टस्थितिवन्धवृद्धिपदं सदिति भावः ।

कृतः ? इति चेत् , समयाद्यधिकस्थितिवन्धरूपानुत्कृष्टवृद्धिस्यो भिन्नस्य सर्वाधिकस्थितिवन्धवृद्धि-
रूपस्य भूयस्कारस्याऽऽत्कृष्टवृद्धितयाऽधिकृतत्वात् ।

किमुक्तं भवति—यदि ज्ञानावरणादीनामन्तर्मुहूर्तादिलक्षणाज्जघन्यस्थितिवन्धादुत्प्लुत्या-
ऽनन्तरसमये त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिमानामुत्कृष्टां स्थितिं बध्नत उत्कृष्टा वृद्धिरभिप्रेता स्यात्,
एवं यदि वैगीत्येन त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यादिलक्षणोत्कृष्टस्थितिवन्धादुत्तीर्यानन्तरसमये एषा-
ऽन्तर्मुहूर्तादिमानं जघन्यस्थितिवन्धं कुर्वत उत्कृष्टा हानिरभिप्रेता स्यात्तथैवैतादृशोत्कृष्टवृद्धि-हान्यो-
र्मध्येऽधिकतरस्या उत्कृष्टवृद्धेरुत्कृष्टहानेर्वाऽनन्तरसमयात्प्रवर्तमानस्य तावन्मात्रस्थितिवन्धलक्षण-
स्यावस्थानस्य यद्युत्कृष्टावस्थानतया ग्रहणमभिमतं स्यात्तदा तथाविधवृद्ध्यादीनामाकालमनुपलब्धे-
स्तेषां सत्त्वप्रतिपादनं व्योमकुसुमादिसत्त्वप्रतिपादनवद्विरुध्येत् । न चात्रैवम् , किन्तु याः काश्चि-
त्समयादिसमयादिवृद्धिलक्षणा वृद्धयस्तासु सर्वाधिकवृद्धिलक्षणायाः शेषानुत्कृष्टवृद्धिभिन्नाया वृद्धेरेवो-
त्कृष्टवृद्धिन्वमभिप्रेतम् , ततश्च सा सामान्यतो मार्गणास्थानेषु च सर्वत्र सम्भवति; अत ओघतो
मार्गणास्थानेषु च सर्वत्र ज्ञानावरणस्योत्कृष्टवृद्धिपदं सत्पदतयोक्तम् , एवमेव शेषाणामाऽऽयुर्वर्ज-
दर्शनावरणादीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धवृद्धिपदस्य सामान्यतो विशेषतश्च सत्त्वमवसातव्यम् , एवमेव
बध्यमानोत्कृष्टहान्यादिविषयेऽपि विज्ञेयम् ।

अथ स्थितिवन्धवृद्ध्यादीनां यथोक्तलक्षणानामभिप्रेतत्वाज्ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टवृद्धिवदुत्कृष्ट-
हान्यादेरपि मत्त्वं प्रतिपादयन्नाह—“परमा ह्यणी” इत्यादि, अस्यापि ग्रन्थेकम् “अत्थि य
सत्तण्ह” इति परेणान्वयस्तत आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामुत्कृष्टहानिपदं तथैव तासामुत्कृष्टावस्थान-
पदं च ग्रन्थेकं सत् । अत्र मत्तानां प्रकृतीनां सर्वेष्वल्पतरस्थितिवन्धेषु यस्मिन्नल्पतरस्थितिवन्धे
सर्वाधिकस्थितिवन्धहानिः स परमहानिरूपो बोद्धव्यः । भूयस्काराल्पतरस्थितिवन्धेषु यत्र
पूर्वसमयापेक्षयाऽधिकं स्थितिवन्धतारतम्यं तादृशस्य भूयस्कारस्याऽल्पतरस्य वाऽनन्तरसमयेष्व-
वस्थितस्थितिवन्धस्तदा स उत्कृष्टावस्थानलक्षणं पदमवसेयम् ।

लाघवार्थं मार्गणास्थानेष्वतिदेशद्वारेणाह—“एवं सत्त्वासु” इत्यादि, सुगमं गतार्थं च ।
अत्रोघतो मार्गणास्थानेषु चोक्तसत्त्वदानां भावना तु लाघवार्थं स्वामित्वद्वारे करिष्यत इति ।

इदं तु बोद्धव्यम्—अनन्तरोक्ते ‘अत्थि य सत्तण्ह’ इत्यत्र चकारस्त्वल्पाभिधेयत्वाद्
भूयस्कारप्ररूपणार्थं गतार्थत्वाद्वाऽनुक्तस्याऽवश्यमाणस्य चायुषः समयमात्रतयाऽजघन्यानुत्कृष्टलक्षण-
स्य हानिपदस्य सत्पदादेः संप्रहार्थमनुक्तसमुच्चये व्याख्येयः । इदमुक्तं भवति—आयुःकर्मणो
भूयस्कारस्थितिवन्धलक्षणस्य सामान्यस्याभावात् विद्यते तद्विशेषलक्षणमुत्कृष्टवृद्धिपदमपि, सामान्य-
स्य निवृत्तां तत्सकलविशेषनिवृत्तेरनिवार्यत्वात्, दुःखसामान्यनिवृत्तां मौल्युदरवेदनादितत्प्रत्येकविशेष-
निवृत्तिवत् , एवमायुषोऽवस्थितस्थितिवन्धस्याभावात्तद्विशेषलक्षणमुत्कृष्टावस्थानपदमप्यसदेव । अत्र-
शिष्टं हानिपदं तु वेद्यमानायुषोऽज्ञायाः प्रतिशमयं परिगलनात् समय-समय-

हानिलक्षणाया एकविधाया हानेरैव प्राप्तेर्यदजघन्यानुत्कृष्टहानिलक्षणं पदं तदेव सत्, नान्यत् । तस्य चौघतो मार्गणास्थानेषु च सर्व आयुर्वन्धकाः स्वामिनः, सर्वेषां वेद्यमानापुर्हान्या अवाधाहाने-
स्थानप्रसंगः । तथा च जातीयस्वादिस्वप्रसङ्गात्पां च कश्चिद्विशेषवक्तव्यता, अल्पबहुत्वस्य स्वमम्भव एव,
जघन्यतोऽपि पदद्वयसद्भावे तत्सम्भवात् । अत औघतोऽनुक्तं मार्गणास्थानेष्ववश्यमाणमप्यायुषो
हानिपदं चकारेण प्रमुञ्चितमवगन्तव्यम् ।

यद्वा चकार उक्तसमुच्चय एव, आयुषो हानेः समयमात्रत्वेनोत्कृष्टहानिपदस्य जघन्यहानि-
पदस्य वाऽसम्भवेनानुक्तसमुच्चयेयस्यैवाभावात् । किमुक्तं भवति—उत्कृष्ट-जघन्यलक्षणपदद्वये
निक्षेपः प्रवृत्तः, न पुनरनुत्कृष्टजघन्यलक्षणं पदंऽपि, उक्तपदद्वयं तु विजातीयहीनाधिकस्थितिवन्ध-
द्वयसद्भावे एव सम्भवति, नान्यथा, उत्कृष्टजघन्यपदयोः परस्परं सापेक्षत्वात्, आयुषस्तु
समयमात्रस्थितिवन्धहानिप्रयुक्तमेकमेव हानिपदं, ततश्चापेक्षमाणस्य पदान्तरस्याभावादजघन्या-
नुत्कृष्टपदान्मकं सत् तत्प्रकृतोत्कृष्टादिपदनिक्षेपविषयभूतमेव न भवति । इत्थं च तस्योत्कृष्टजघन्य-
लक्षणपदद्वयानन्तर्गतत्वेन समुच्चयेयस्याऽनुक्तस्याभावाच्चकारोऽपि तत्समुच्चयकतया न भवत्ये-
वातोऽसावुक्तसमुच्चये व्याख्येय इति ॥६९०॥

अथोत्कृष्टपदे मूलकर्मणां स्थितिवन्धवृद्ध्यादिसत्पदानि प्रतिपाद्य साम्प्रतं तान्येव जघन्य-
पदे दर्शयन्नाह—

हस्सा वड्ढी हस्सा हाणी हस्मं तहा अवट्टाणं ।

अत्थि उ सत्तण्हेवं सव्वासुं मग्गणासु भवे ॥६९१॥

(प्रे०) “हस्सा वड्ढी” इत्यादि, ‘हस्वा’-जघन्या, द्विसमयाद्यजघन्यवृद्धिभिन्ना समय-
लक्षणेन्वर्थः । अस्य चान्वयः “अत्थि उ सत्तण्ह” इति परेण, तत आयुर्वर्जानां समानां जघन्य-
वृद्धिपदं सदित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि योजना कार्या । तथैव ‘हस्वा’-जघन्या हानिः, “हस्सं
तहा अवट्टाणं” ति तथा वृद्धि-हान्योरनन्तरं प्रवर्तमानावस्थितस्थितिवन्धलक्षणेष्ववस्थानेषु यद्
‘हस्व’- जघन्यवृद्ध्याद्युत्तरप्रवृत्तत्वाज्जघन्यमवस्थानं तदपि समप्रकृतीनां सदेव ।

इदमुक्तं भवति—ज्ञानावरणादेः कश्चिद्भूयस्कारः समयमात्राधिकस्थितिवन्धलक्षणः,
कश्चित्पुनरिसमयाधिकस्थितिवन्धलक्षणः, एवं कश्चित् त्रिसमयाधिकस्थितिवन्धलक्षणः, एवमुत्तरत्रापि
वाच्यम् ; इत्थमेव समय-द्विसमय-त्रिसमयादिहीनस्थितिवन्धलक्षणा अल्पतरवन्वा अपि जायन्ते ।
तत्र भूयस्कारवन्धाः स्थितिवन्धवृद्ध्याऽल्पतरवन्धास्तु स्थितिवन्धहान्या च प्राप्यन्ते, तत्रोभयत्राऽपि
हस्वपदे समयमात्रा वृद्धिर्हानिश्च लभ्यते, ततश्च पदद्वयमपि सद्भावे । अथ कुत्रचित्सूक्ष्मसम्पराय-
संयमादिलक्षणेषु मार्गणास्थानेषु समयमात्राधिकस्थितिवन्धलक्षणा वृद्धिर्न भवति, किन्त्वन्तमुर्हत्-

मात्राधिकस्थितिवन्धलक्षणा भवति, तत्राऽप्यन्यवृद्धयपेक्षया या लब्धन्तमुद्धृतेमात्राधिकस्थितिवन्धरूपा वृद्धिः सैव जघन्या वृद्धिर्भवति, एवं च जघन्यहानिः प्रियेऽपि विज्ञेयम् ।

जघन्यावस्थानं तु यस्यावस्थानस्य प्रागनन्तरसमये जाता या स्तोका वृद्धिर्हानिश्च तयोर्योदि वृद्धिः स्तोका, हानिरधिका, तदा वृद्धयुत्तरमवस्थानं सर्वजघन्यम् । यदि हि हानिः स्तोका, वृद्धिस्तु ततोऽधिका । तदा हान्युत्तरमवस्थानं सर्वजघन्यम् यत्र पुनर्वृद्धिहानि परस्परं तुल्ये समयमात्रे, तत्र न्वन्यतमस्या उत्तरमवस्थानं सर्वजघन्यमिति ।

तद्यथा—ओघतो जघन्या वृद्धिर्जघन्या हानिश्च तुल्ये समयमात्रे । कुतः ? सर्वेषां जीशानां पूर्वसमयादुत्तरसमये समयमात्रणाधिकस्थितिवन्धस्य हीनस्थितिवन्धस्य च प्रवर्तनसम्भवात् । ततश्चौघतो जघन्यवृद्धिहान्यन्यतरस्या अनन्तरोत्तरं प्रवृत्तमवस्थानं जघन्यावस्थानतया प्राप्यते । आदेशतः सर्वमार्गणामु प्रायः प्रत्येकं जघन्यवृद्धि-हान्योरोधवन्मिथस्तुल्यभावाज्जघन्यवृद्धि-हान्यन्यतरात्तरजायमानमवस्थानं जघन्यावस्थानतया प्राप्यते । कुत्रचिदपगतवेदादिमार्गणादीं पुनर्जघन्यवृद्धयपेक्षया जघन्या हानिः स्तोका प्राप्यते । कुतः ? तत्र जघन्यहानेः श्रेणिमारोहतां क्षपकाणां भावात्, जघन्यवृद्धेस्तु प्रपततामुपशमकानां प्रवर्तनात् । ततश्च तत्रावेदादिमार्गणादीं तु केवलं जघन्यहान्युत्तरं प्रवृत्तमवस्थानं जघन्यावस्थानतया प्राप्यते, अर्थादोघत आदेशतश्च सप्तानामपि मूलप्रकृतीनां जघन्यवृद्धि-जघन्य-हानि-जघन्यावस्थानलक्षणं पदत्रयमपि सदेव, एतच्च स्वामित्वप्ररूपणेनान्पवहुत्वप्ररूपणेन च स्रप-पन्नं भवेदिति नात्र प्रयञ्ज्यते । इत्थमोघवदादेशतोऽपि ह्रस्ववृद्ध्यादीनां त्रयाणामपि सद्भूतपदत्वात् सर्वमार्गणास्वतिदेशेनाह—“एवं सञ्चासु” इत्यादि, गतार्थमिति ॥६९१॥

तदेवं दर्शितमोघत आदेशतश्च मूलप्रकृतिस्थितिवन्धविषयकोत्कृष्टजघन्यवृद्ध्यादिपदानां मन्त्रम्, इत्थं च गतमाद्यं मन्त्रद्वारम् ।

॥इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे चतुर्थे पदनिष्पेधाधिकारे प्रथमं मन्त्रद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

मास्प्रतं स्वामित्वद्वारावसरः । तत्रादावुत्कृष्टवृद्ध्यादेः स्वामिन ओघतः प्रतिपादयन्नाह—

मज्झाहिन्तो उवरिं यवस्स चउठाणियस्स वट्टंतो ।

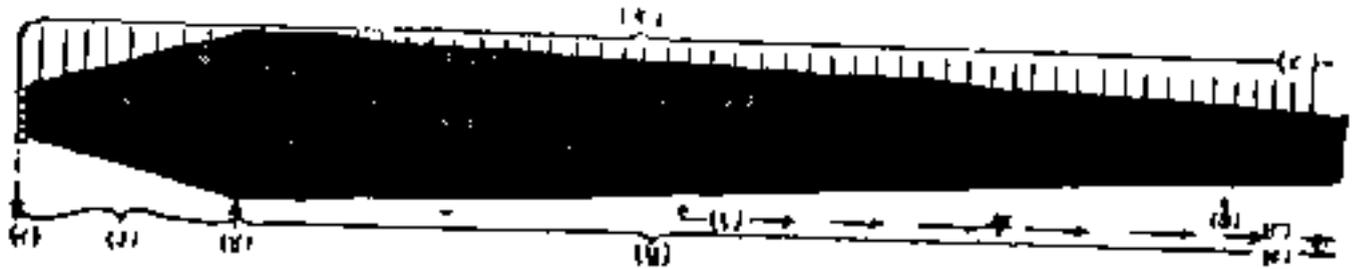
अंतोकोडाकोडिं ठिइबंधं यो कुणेमाणो ॥६९२॥

लहिऊणं उक्कोसं डायं उक्कोससंकिलेसेणं ।

जेइठिइ बंधंतो वडिंढ सो कुणइ उक्कोसं ॥६९३॥ (युग्मम्)

(प्रे०) “भज्जाहिन्तो” इत्यादि, चतुःस्थानिकस्य यवस्य मध्यादुपरि वर्तमानोऽन्तःकोटी-कोटिस्थितिवन्धं कुर्वन् यो वर्तते स तत् उत्कृष्टसंक्लेशेन उत्कृष्टं दायं कृत्वा ज्येष्ठस्थितिं बध्नन् उत्कृष्टां वृद्धिं करोतीति सान्वयः पदसंस्कारः ।

अथ पदार्थोऽभिधीयते—मूलप्रकृतिरसबन्धविधानग्रन्थे विस्तरेणाभिधास्यमानस्वरूपस्य निम्बघोषानकीप्रभृतीनां कटुकद्रव्याणां सहजो भागचतुष्टयप्रमाणो भाजनान्तरे क्वथितचतुर्थभागा-वशिष्टोऽतिकटुकतमो यो रसस्तत्कल्पोऽशुभप्रकृतीनां यश्चतुःस्थानिको ‘रसः’-अनुभागस्तस्य चतुः-स्थानिकरसस्य यो ‘यवः’-चतुःस्थानिकरसबन्धकानां प्रायोग्यायाः जवन्यायाः स्थितेरारभ्य सागरोपमशतपृथक्त्वाधिकस्थितिवन्धं यावद्यथोत्तरं प्रतिस्थितिवन्धस्थानेषु विशेषाधिकविशेषा-धिकक्रमेण वर्धमानसंख्याकानां बन्धकजीवराशीनां, ततः पुनः समय-समयादिस्थितिवन्धवृद्ध्या निम्बन्नेषूपरितनस्थितिवन्धस्थानेषु ज्ञानावरणादीनां स्वीयस्वीयोत्कृष्टस्थितिवन्धं यावद् विशेषहीन-विशेषहीनक्रमेण द्वीयमानसंख्याकानां बन्धकजीवराशीनां स्थापनामपेक्ष्य या यथाकृतिः—



- (१) चतुःस्थानिकरसबन्धकानां बन्धप्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानानि ।
 - (२) तत्र सर्वजघन्यस्थितिवन्धस्थानम्, अत्र स्तोका बन्धकाः ।
 - (३) जघन्यस्थितेरारभ्य सागरोपमशतपृथक्त्वप्रमाणानि स्थितिवन्धस्थानानि, अत्र समयसमयोत्तरेषु स्थितिस्थानेषु विशेषाधिका विशेषाधिका बन्धकाः, इमानि यवमध्यादधस्तनानि स्थितिवन्धस्थानानि ।
 - (४) यवमध्यलक्षणं स्थितिवन्धस्थानम्, अत्र सर्वाधिकबन्धकाः ।
 - (५) इमानि यवमध्यादुपरितनानि स्थितिवन्धस्थानानि, अत्र समय-समयस्थितिवृद्धौ विशेषहीन-विशेषहीनबन्धका यावत् त्रिशरकोटिकोट्यादिमाना ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टा स्थितिः ।
 - (६) यत्र स्थितिवन्धस्थाने वर्तमानो जीव उत्कृष्टद्वयेनोत्कृष्टस्थितिवन्धं कर्तुं शक्नोति तत्स्थानम् ।
 - (७) उत्कृष्टपद्गतान्तःकोटिकोटीसागरोपमलक्षणं स्थितिवन्धस्थानम् ।
 - (८) यावद्ज्ञानावरणादिमूलप्रकृत्युत्कृष्टस्थितिवन्धः ।
- ★ एकद्वेलाया उत्कृष्टस्थितिं गच्छन्नुत्कृष्टस्थितिवन्धवृद्धेः स्वासी ।
 ||||| स्थितिवन्धस्थानप्रदर्शकानि चिह्नानि ।

तदपेक्षया यो यवः स चतुःस्थानिको यवस्तस्य चतुःस्थानिकस्य यवस्य यन् ‘मध्यम्’-यत्र स्थिति-बन्धस्थाने सर्वाधिकबन्धकाः सन्ति, तजघन्यस्थितिवन्धात्सागरोपमशतपृथक्त्वस्थितिवन्धस्थानान्य-तिक्रम्यानन्तरवर्तमानस्थितिवन्धस्थानलक्षणम्, तस्माद्यवमध्यलक्षणस्थितिवन्धस्थानाद् ‘उपरि’-उप-

तनस्थितिवन्धस्थाने वर्तमानः । एवम्भूतो ह्यन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रभूतेः सर्वोत्कृष्टस्थितेर्वन्धको-
ऽपि स्यात् , मध्यमस्थानादनन्तरस्थितिवन्धस्थानप्रभृत्या उत्कृष्टस्थितिवन्धपर्यन्तानां सर्वस्थानानामु-
परितनस्थानरूपत्वाद्, अत उक्तम्—अन्तःकोटीकोटीसागरोपमप्रमाणां स्थितिं बध्नन्निति ।

ननु यद्येवं तर्ह्यन्तःकोटिकोटीसागरोपमप्रमाणां स्थितिं बध्नन्नित्येतावतैव सागरोपम-
कोटिकोटीसादि-तदधिकस्थितेर्वन्धकानां व्यवच्छेदभावात्तावदेव पर्याप्तं स्यात्, किं पुनर्यवमध्यादुपरि
वर्तमानस्येत्यनेनाऽपि ? इति चेद्, न, चतुःस्थानिकयवमध्यादधस्तादप्यन्तःकोटिकोटीसागरो-
पमस्थितिकानां बन्धस्थानानां सद्भावेन तद्व्यवच्छेदस्यावश्यकत्वात् । इदमुक्तं भवति—अन्तः-
सागरोपमकोटिकोटीप्रमाणस्थितेरमंगल्येयमेदमिन्नतया यथा यवमध्यादुपरितनस्थानेषु वध्यमानेष्वन्तः-
सागरोपमकोटिकोटीप्रमाणा स्थितिर्वध्यते, तथा यवमध्ये यवमध्यादधस्तनस्थितिवन्धस्थानेष्वपि चतुः-
स्थानिकरसयवमध्यादुपरिः सा निर्वर्त्यते, इत्यत्र यवमध्यादुपरीत्यनुक्ते यवमध्यादधस्तनवर्तिन्या
अन्तःकोटिकोटीसागरोपमप्रमाणायाः स्थितेर्वन्धकस्याऽपि ग्रहणं सम्भवेत्; न च तदिष्टम्,
तद्वन्धकस्य तत उन्प्लुत्यैकया हेलयोत्कृष्टस्थितिवन्धस्याऽसम्भवेनोत्कृष्टवृद्धिस्वामित्वाऽसम्भवात्,
अतो यस्मात् स्थितिवन्धस्थानादनन्तरसमय एकया हेलयोत्कृष्टस्थितिवन्धसम्भवात्तादृशमोषो-
त्कृष्टस्थितिवन्धस्थानात् सर्वदीर्घान्तरेण वर्तमानं यदन्तःकोटिकोटीसागरोपमस्थितिकं बन्धस्थानं
तन्निर्वर्त्याऽनन्तरसमये तत उन्प्लुत्यात्कृष्टस्थितिवन्धं कुर्वतः प्रकृतोत्कृष्टवृद्धिस्वामित्वं भवतीत्येत-
दर्शनार्थमन्तःकोटिकोटीसागरोपमस्थितिं निर्वर्तेयन्नित्यस्यैव चतुःस्थानिकयवमध्यादुपरिवर्तमान
इत्यस्याऽपि ग्रहणमावश्यकमिति ।

इत्थं च चतुःस्थानिकरसयवमध्यादुपरि वर्तमानस्तत्रायोग्यजघन्यपदगताऽन्तःकोटिकोटीसागरो-
पमलक्षणां स्थितिं बध्नन् यः स 'उत्कृष्टेन'—उत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्येन संक्लेशेन 'उत्कृष्टां'-
दीर्घाम्, उत्कृष्टस्थितिवन्धस्पृशामित्यर्थः । एवम्भूतां 'बायां'-फालां 'लब्ध्वा'-प्राप्य, अनन्तरो-
क्तान्तःकोटिकोटीसागरोपमलक्षणस्थितिवन्धादूर्ध्वमेकमपि स्थितिवन्धमकृत्वन्ति भावः । तर्हि
किं कुर्वन्नित्याह—“जेड्ढिडिहं बंधंतो” त्ति मूलप्रकृतिसत्कौथोत्कृष्टां ज्ञानावरणादीनां प्रागुक्तत्रिश-
न्सागरोपमकोटिकोटीसादिलक्षणां स्थितिं बध्नन् “घडिह सकुणइ उक्कोस” त्ति स उत्कृष्टां वृद्धिं
करोति, उत्कृष्टस्थितिवन्धवृद्धेः स्वामी भवतीत्यर्थः । सप्रकृतीनामिति शेषः । अत्र ज्ञानावेकवचनम्,
ततस्तादृशा ये केचन ते सर्वेऽप्युत्कृष्टवृद्धिस्वामिन इति ॥६१२-६१३॥

अथौषत एवोत्कृष्टस्थितिवन्धहानेः स्वामिनो दर्शयन्नाह—

परमठिडं बंधंतो यो मरियेगिदिये समुप्पण्णो ।

तप्पाउग्गजहण्णं गओ स कुणइ परमं हाणिं ॥६१४॥

(प्रे०) “परमठिडं”मित्यादि, भववरमसमये ज्ञानावरणादेस्त्रिशन्कोटिकोटीसागरोपमादि-
लक्षणामाधिकीं 'परमस्थितिं'-उत्कृष्टस्थितिं बध्नन् यो जीवः “मरियेगिदिये समुप्पण्णो”

त्ति अनन्तरममये मूर्ध्वकेन्द्रियजातावेकेन्द्रियतया समुत्पन्नः । एतादृशो हीशानकल्पान्तवामी देव एव भवति, नान्यः, भवचरमसमय उत्कृष्टस्थितिवन्धं कुर्वतां संज्ञिपञ्चेन्द्रियतियोगमनुष्याणामनन्तरसमये नरकगतावेवोत्पादात्, शेषदेवनारकाणां तु स्वभावात् एवैकेन्द्रियतयाऽनुत्पादाच्चेति । अथैकेन्द्रियतया समुत्पन्नः सन्नमौ किं करोतीत्याह—‘तप्पाउग्गज-हणणं गओ’ति ‘तस्य’-ओघोत्कृष्टस्थितिवन्धादुत्तीर्यैकेन्द्रियभवप्रथमसमये वर्तमानस्य बन्धप्रायोग्यो यः पत्न्योपमासंख्यभागेन न्यूनः साकारोपमात्रिसप्तभागादिप्रमाणो ह्यनाकारादेर्जघन्यः स्थितिवन्धः स तन्प्रायोग्यजघन्यस्तं ‘गतः’-प्राप्तः, तावत्स्थितिवन्धं कुर्वन्नित्यर्थः । “स कुणइ परमं हाणि” ति सः तथा कुर्वन् जीवः ‘परमां’-उत्कृष्टां हानिं करोति । आयुर्वर्जमसमूलप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धा-हानेः स्वामी भवतीत्यर्थः ।

अनु यथा ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् मूर्ध्वकेन्द्रियेषूप्यद्य तत्र पत्न्योपमासंख्यभाग-न्यूनभागोपमात्रिसप्तभागादिप्रमाणां स्थितिं बध्नन् जीव उत्कृष्टहानेः स्वामी भवति, तथा वैपरीत्ये-नैकेन्द्रियतया तन्प्रायोग्यजघन्यां स्थितिं बध्नन् मृत्वा संज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नन् जीवः कथमुत्कृष्टवृद्धेः स्वामी नोच्यते ? इति चेद्, न, तथाऽसम्भवात्, यत एकेन्द्रिय-तश्च्युत्वा यः संज्ञिपञ्चेन्द्रियत्वे प्रथमं स्थितिवन्धं करोति, तस्यासौ प्रथमस्थितिवन्ध उत्कृष्ट-तोऽप्यन्तःकोटिकोटिभागोपमप्रमाण एव जायते, तदानीं तत्स्वामिनोऽप्यप्राप्त्वात् । इत्यमेकेन्द्रिय-तश्च्युत्वा संज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्य नैकहेतुर्योघोत्कृष्टस्थितिवन्धसम्भवः, तत्कृत उत्कृष्टवृद्धेरप्य-वकाशः; संज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यन्तमुर्हतादूर्ध्वमुत्कृष्टस्थितिवन्धभावे तूत्कृष्टतोऽपि यथोक्ता चतुः-स्थानिकरमबन्धककृता वृद्धिरुत्कृष्टवृद्धितया सम्पद्यते, इति नास्त्युत्कृष्टहानिवद् वैपरीत्ये-नैकेन्द्रियतश्च्युत्वा पञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमानानां भवप्रथमममयवर्तिनामुत्कृष्टवृद्धयवकाशः, अतो न उत्कृष्टवृद्धिस्वामित्वमपि तेषामिति ॥१४॥

अथोत्कृष्टावस्थानस्य स्वामिनः प्रकटयन्नाह—

सागारखयेण गओ जेट्टा तज्जोगहस्सठिइबंधं ।

म कुणइ अणंतरखणे उकोसं खलु अवट्टाणं ॥६९५॥

(प्रे०) “सागारखयेणे”त्यादि, “जेट्टा” ति ‘ज्येष्ठाह’-उत्कृष्टस्थितिवन्धात्, सप्ताना-मौविकन्मुकृष्टं स्थितिवन्धं कृत्वेत्यर्थः । “सागारखयेण” ति उत्कृष्टस्थितिवन्धप्रयोजकी-भूतस्य साकारोपयोगस्य ‘खयेण’-भ्रंशनाद्, अनाकारोपयोगतया परावृत्त्येत्यर्थः । “तज्जोग-हस्सठिइबंधं”ति तस्योत्कृष्टस्थितिवन्धं कुर्वतो मिथ्यादृष्टिपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवस्यानाऽकारो-पयोगप्राप्तौ यः प्रायोग्यः ‘ह्रस्वः’-सर्वस्तोकः स्थितिवन्धः स तन्प्रायोग्यह्रस्वस्थितिवन्धस्तं “गओ” ति ‘गतः’-प्राप्तः, अनाकारोपयोगप्राप्त्या तावान् जघन्यस्थितिवन्धो येन कर्तुमारब्ध इत्यर्थः । “स कुणइ” ति स करोति । किमित्याह—उकोसं खलु अवट्टाणं” ति उत्कृष्टमवस्थानम्,

खल्ववधारणे । किं तदानीमेवाऽन्यदा वेत्याह—“अणंतरखणे” ति उक्तजघन्यस्थितिवन्धप्रारम्भ-
द्वितीयसमये, उपलक्षणत्वात्तृतीयादिममयेषु, यावदसौ जघन्यस्थितिवन्धः प्रवर्तते तावदित्यर्थः ।
साकारोपयोगक्षयेणोत्कृष्टस्थितिवन्धादुत्तीर्याऽनन्तरं स्वप्रायोग्यं जघन्यस्थितिवन्धं प्रारभ्य तद्वन्धस्य
द्वितीयादिममयेषु वर्तमानो जीव एवोत्कृष्टावस्थानस्य स्वामी भवतीति पिण्डार्थः ॥६९५॥

तदेवमुक्ता ओषतः सप्तानामुत्कृष्टवृद्ध्यादेः स्वामिनः । अथ तानेवादेशतो विभणिपुगः—

सव्वणिर्येसु तिरिये पथिःदियतिरियतिगे णरतिगे य ।

देव-सहस्सारावहिसुर-दुपणिंदियत्तसेसुं य ॥६९६॥

पणमणवय-उरल-विउव-थी-पुरिस-णपुम-विभंग-चक्खुसुं ।

तेउ-पम्हा-मणीसु हवेज्ज वड्ढीअ ओघव्व ॥६९७॥

सागारखयेण गओ जेट्ठा तज्जोग्गहस्सठिडबंधं ।

स कुणइ हाणिं परमं अणंतरखणे अवड्ढाणं ॥६९८॥

(प्र०) “सव्वे” त्यादि, सर्वेषु नरकगतिभेदेषु, तिर्यग्गत्योषभेदे, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाभेद-
त्रिके, नरमार्गणाभेदत्रिके, एते द्वेऽपि त्रिकेऽपर्याप्तभेदवर्जिते बोद्धव्ये । चः समुच्चये, देवगत्योषभेदे,
सहस्रारकल्पावधिकान्यदेवगत्युत्तरभेदेषु, तथा प्राग्बदपर्याप्तभेदवर्जितयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियभेदयोः,
द्विशब्दस्य त्रसेन्यनेनाऽपि योजनात् तथैव द्वयोस्त्रयकायभेदयोः, पञ्चशब्दस्य मनोवचनोः प्रत्येकं
योजनात्पञ्चमनोयोग-पञ्चवचनयोगा-दारिक-वैक्रियकाययोग-स्त्री-पुरुष-नपुं सकवेद-विभङ्गज्ञान-चक्षु-
दर्शनेषु, तेजः-पद्मलेश्या-संज्ञिमार्गणाभेदेऽप्येवमेकपञ्चाशन्मार्गणासु प्रत्येकं “हवेज्ज वड्ढीअ
ओघव्व” ति सप्तप्रकृतिसत्कवृद्धेः स्वामिन ओषवद्भवन्ति, एतासु प्रत्येकं ‘चड्ढाणियस्से’ त्यादिना-
ऽभिहितस्वरूपाः संज्ञिपञ्चेन्द्रिया जीवाः सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धवृद्धेः स्वामिनो भवन्तीति भावः ।

एतास्वेवोत्कृष्टस्थितिवन्धहान्यवस्थानयोः स्वामिन आह—“सागारखयेणे”त्यादि, अस्या-
ऽप्यक्षरार्थो दर्शितप्रायः । भावार्थस्वेचम्—अधिकृतमार्गणासु कुत्रचित्पञ्चेन्द्रियतिर्यग्गादिमार्गणा-
गतजीवानामेकेन्द्रियतयोत्पादे मार्गणाविच्छेदप्रसङ्गात्, कुत्रचिन्नरकगन्धोधादिमार्गणागतजीवानां त्वे-
केन्द्रियतयोन्यत्तरेव प्रतिषिद्धत्वाद्दुत्कृष्टहानेः स्वामिन ओषवन्न सम्पद्यन्ते, अतो याः सर्वोत्कृष्टहानि-
वर्जाः शेषाः हानयस्तासु या संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां जात्यन्तरेऽनुत्पन्त्या स्वस्थान एव जायमानोत्कृष्ट-
हानिर्गोषिकोत्कृष्टावस्थानप्रयोजकतया गृहीता सैवात्रोत्कृष्टहानितया लभ्यते । सा तु साकारोपयोगक्षयेण
ज्येष्ठस्थितिवन्धादुत्तीर्य स्वप्रायोग्यसम्भवदन्तःकोटीकोटीसागरोपमलक्षणजघन्यस्थितिवन्धं कुर्वतः
संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवस्य जायते, तद्द्वितीयादिममयेषु चाँघवदुत्कृष्टावस्थानमपि लभ्यते, इत्येत औधि-
कोत्कृष्टावस्थानस्वामिन एव समयमर्वाग जघन्यस्थितिवन्धप्रथमसमयमधिकृत्य प्रस्तुतमार्गणा-

स्थानेषुत्कृष्टहानेः स्वामिनः, त्रितीयादिममयेषु तावन्मात्रस्थितिवन्धं कुर्वन्तः पुनस्त एवौघवत् प्रकृते-
ऽप्युत्कृष्टावस्थानस्य स्वामिनो भवन्तीति ॥६९६-६९७-६९८॥

सर्वथा तुल्यत्वादन्वत्रौघवदतिदिशभाह—

ओघञ्च जाणियन्वा काय-कसाय-दुअणाण-अयतेसु ।

अणयण-भवियेसु तद्वा अभविय-भिच्छेसु आहारै ॥६९९॥

(प्रे०) “ओघञ्च” इत्यादि, ओघवज्जातव्याः, उत्कृष्टवृद्ध्यादित्रयाणामपि पदानां स्वामिन इति तु प्रक्रमाद्गम्यते । कासु मार्गणास्वित्याह—“कायकसाये”त्यादि, काययोगसामान्ये, तथा विशेषतो-
ऽनभिहितत्वात् क्रोधादिकषायमार्गणाचतुष्के, मत्स्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयममार्गणासु, तथाऽचक्षुर्दर्शन-
भ्रम्यमार्गणयोः । तथाशब्दः समुच्चयार्थः, स च भिन्नक्रमेणानन्तरमेव योजितः । अथव्य-मिथ्यात्व-
मार्गणयोराहामिमार्गणावामिन्येतासु त्रयोदशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । एतासु प्रत्येकं मिथ्यादृग्देव-
जीवानामेकेन्द्रियजीवानां च समावेशाद् देवेभ्यश्च्युत्वैकेन्द्रियतयोत्पद्यमानानामौघिकोत्कृष्टहानि-
स्वामिनामनन्तरोक्तमार्गणानिचयवत् नाधिकृतमार्गणाबहिस्त्वापत्तिः । अर्थात् सर्वथैवौघवदुपपत्तेः
प्रस्तुतविविधस्वामिनोऽपि सर्वथैवौघवदतिदिष्टा इति ॥६९९॥ कार्मणाऽनाहारकमार्गणयोराह—

कम्मा-ऽणाहारेसु तज्जोग्गलहूउ संकिलेसेण ।

तप्पाउग्गुक्कोसं गओ स कुणए परमवड्ढिं ॥७००॥

तज्जोग्गजेट्टबन्धा यो साकारक्खयेण पडिभग्गो ।

तप्पाउग्गजहण्णे पडिओं स कुणइ परमहाणिं ॥७०१॥

तज्जोग्गजेट्टबन्धा गुरुहाणिं करिअ वायरेगिंदी ।

कुणइ अणंतरसमये उक्कोसं खलु अवट्ठाणं ॥७०२॥

(प्रे०) “कम्माणाहारेसु” इत्यादि, कार्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणास्थानयोः प्रत्येकं
“तज्जोग्गलहूउ” ति सूचनात्सूत्रमिति कृत्वा प्रथमममयक्रियमाणात् मिथ्यादृक्संज्ञि-
पञ्चेन्द्रियाणामनुपदसूक्तस्थितिवन्धे गमनप्रायोग्याल्लघुस्थितिवन्धात् “संकिलेसेण” ति
अनन्तरममये कार्मणकाययोगिनासूक्तस्थितिवन्धप्रायोग्यसंक्लेशेन, तादृशसंक्लेशम्योत्पत्तेरिति
भावः । “तप्पाउग्गुक्कोसं गओ”ति पूर्ववत् कार्मणकाययोगिमिथ्यादृष्टिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्य-
सम्भवदुत्कृष्टस्थितिवन्धं ‘गतः’-प्राप्तः “स कुणए परमवड्ढिं” ति स तादृशः संज्ञिपञ्चेन्द्रिय-
जीवस्तथा कुर्वन् सप्तप्रकृतीनामधिकृतामुत्कृष्टां स्थितिवन्धवृद्धिं करोतीत्यर्थः ।

ननु ‘तज्जोग्गलहूउ’ इत्यनेनैकेन्द्रियप्रायोग्यजघन्यास्थितिवन्धः कथं न गृह्यते ? उच्यते,
तद्ग्रहणे सत्यनन्तरोक्तेन ‘तप्पाउग्गुक्कोस’मित्यनेनाऽप्येकेन्द्रियवन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिवन्ध एव

ग्राह्यः स्यात्, तथा चोत्कृष्टा वृद्धिर्न सम्पद्येत । कुतः ? एकेन्द्रियप्रायोग्यस्थितिवन्धं कुर्वतामुत्कृष्ट-
तोऽपि पन्थोपमासंख्यभागमात्रस्थितिवन्धवृद्धेरेव सम्भवात् । नः च द्वितीयसमये 'तप्पाउग्गुकोस'-
मित्यनेन संज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिवन्धस्यैव ग्रहणेऽधिकतमा वृद्धिः सम्पद्यतेति वाच्यम् ।
एकजीवमाश्रित्य विग्रहगतावेकेन्द्रियादिलातिद्वयप्रायोग्यस्थितिवन्धस्यैव निरोधान् । इत्थं हि कर्मणा-
ऽनाहारकमार्गणपर्ययोक्तस्वरूपाणां संज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमानानामेषोत्कृष्ट-
स्थितिवन्धवृद्धिस्वामिन्त्रं बोद्धव्यमिति ।

अधिकृतमार्गणादय एवोत्कृष्टहानिस्वामिनो दर्शयन्नाह—“तज्जोग्गजेद्वंधा” इत्यादि, पूर्व-
वदनाहारकावस्थायां प्रथमसमये मिथ्यादृष्टिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यसम्भवज्येष्ठस्थितिवन्धात् “यो
सागारस्वयेण पडिभग्गो” ति यः साकारोपयोगक्षयेण 'प्रतिभग्नः' उक्तोत्कृष्टस्थितिवन्धाच्छ्रुतः,
अत एवानाकारोपयोगं प्राप्त इत्यपि गम्यम् । पुनः कथम्भूतोऽसावित्याह—“तप्पाउग्गजहणणे
पडिओ” ति पूर्ववदनाहारकावस्थायां सम्भवन्मिथ्यादृष्टिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यजघन्यस्थिति-
बन्धे पतितः, तादृशं जघन्यस्थितिवन्धं कर्तुंमात्तवानित्यर्थः । “स कुणइ परमहाणि” ति
अनन्तरोक्तस्वरूपः स तथा कुर्वन् 'परमां'-उत्कृष्टां हानिं करोतीत्यर्थः । निरुक्तस्वरूपाः संज्ञि-
पञ्चेन्द्रियजीवा अधिकृतमार्गणादये सप्तानां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिवन्धहानिः स्वामिन इति भावः ।

अथ प्रस्तुतमार्गणादय एवोत्कृष्टावस्थानस्वामिनः प्रदर्शयन्नाह—तज्जोग्गजेद्वंधा”
इत्यादि, तत्राऽनाहारक-कर्मणकाययोग्यवस्थायां कस्याऽपि त्रिसमयकायस्थितिकजीवस्य वन्ध-
प्रायोग्यात्मसम्भवज्येष्ठस्थितिवन्धादवतीर्य “गुरुहाणि करिअ” ति मार्गणाया द्वितीयसमये 'गुरुं'-
उत्कृष्टां स्थितिवन्धहानिं कृत्वा, तन्प्रायोग्यजघन्यस्थितिवन्धमार्ग्येत्यर्थः । कोऽसावित्याह—
“वायरेगिदि” ति तादृशोऽर्था वादरैकेन्द्रियजीवः ।

नन्यधिकृतोत्कृष्टवृद्धि-हानी संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामेवाभिहिते, अर्थाच्छेषाणां कर्मणकाययोगिनां
प्रतिषिद्धा उत्कृष्टहानिः, तत्कथं पुनर्वादरैकेन्द्रियाणामुत्कृष्टहानिरभिधीयते ? इति चेत् न,
यतोऽधुनोत्कृष्टावस्थानस्वामिन्वमभिघातव्यम्, तद्योत्कृष्टहानेरूर्ध्वमवस्थाने सति सम्भवति, न
चास्ति संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामुत्कृष्टहानेरूर्ध्वमवस्थानम् । कुतः ? तेषामुत्कृष्टहान्यनन्तरसमये प्रस्तुत-
मार्गणायामेवानवस्थानान् । ततः किम् ? ततो येषां प्रकृतमार्गणायां समयत्रयमवस्थानं सम्भवति,
तेषु यस्योत्कृष्टहानिलाभस्तस्यैवोत्कृष्टहान्युत्तरसमयभाव्युत्कृष्टावस्थानसम्भवात् संज्ञिपञ्चेन्द्रिया-
दीन् विहाय वादरैकेन्द्रियजीवस्यैव प्रकृतोत्कृष्टावस्थानप्रयोजिकोत्कृष्टहानिरभिहितेति न कश्चिदोषः ।
एतादृशः कर्मणकाययोगद्वितीयसमये उत्कृष्टहानिनिर्वर्तको वादरैकेन्द्रियस्तदनन्तरसमये उत्कृष्ट-
मवस्थानं करोतीत्येतदेव दर्शयन्नाह—“कुणइ अणंतरसमये” इत्यादि गतार्थमिति ॥७००-

अथाऽपगतवेदमार्गणायामुत्कृष्टबृद्ध्यादेः स्वामिनः प्रतिपादयन्नाह—

गयवेष् से बंधे होज्ज सवेओ त्ति स परमं वडिड ।
 उवसामगो कुणइ से काले परमं अवट्टाणं ॥७०३॥
 पढमा ठिइबंधाओ वट्टंतां उ दुइअम्मि ठिइबंधे ।
 स कुणइ परमं हाणिं तहंवे सुहुमे वि णायव्वं ॥७०४॥

(प्रे०) “गयवेष्” इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां “से” त्ति अनन्तरे, यस्यानन्तरे स्थिति-
 बन्धे “हवेज्ज सवेओ” त्ति सर्वदो भविष्यति, यः प्रपतन्नुपशमक इति गम्यते । “स परमं
 वडिड उवसामगो कुणइ” त्ति स सर्वद्वयवस्थायाः प्राग्वेद्यवस्थायां द्विचरमस्थितिवन्धादुत्तीर्य
 चरमं स्थितिवन्धं कुर्वन्नुपशमकरस्तस्य चरमस्थितिवन्धस्य प्रथमे समये ‘परमाम्’-उत्कृष्टां वृद्धि
 करोतीत्यर्थः । “से काले परमं अवट्टाणं” त्ति “से” त्ति प्राग्वत्तस्यानन्तरे काले, उक्त-
 चरमस्थितिवन्धस्य द्वितीयादिसमयेषु तावन्मात्रस्थितिवन्धं कुर्वन्नित्यर्थः । “परमं”-उत्कृष्टमवस्था-
 नम् . करोतीत्यनुवर्तत इति । उत्कृष्टावस्थानम्बामी भवतीति भावः ।

अपगतवेदमार्गणायामेवोक्तशेषाया उत्कृष्टहानेः स्वामिनः प्रदर्शयन्नाह—“पढमा ठिइ-
 बंधाओ” इत्यादि, सोऽनन्तरोक्तोपशमक एव, नवरमुपशमश्रेणिमारोहन्नवेद्यवस्थायाः प्राग्मे
 क्रियमाणात् प्रथमास्थितिवन्धात् “वट्टंतां उ दुइअम्मि ठिइबंधे” त्ति द्वितिये स्थितिवन्धे,
 द्वितीयस्थितिवन्धप्रथमसमये वर्तमानः सन्नित्यर्थः । “स कुणइ परमं हाणिं” त्ति स उपशम-
 श्रेणिमारोहन् द्वितीयस्थितिवन्धप्रारम्भक उपशमकः ‘परमां’-उत्कृष्टां हानिं करोति, सप्तप्रकृति-
 मन्कस्थितिवन्धविषयामिति गम्यत एवेति । अथ सूक्ष्मसम्परायमार्गणायां बहुमाभ्यादितिदिशति—
 “तहंवे सुहुमे वि णायव्वं” त्ति सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायामपि ‘तथैव’-अपगतवेदमार्गणा-
 वदेव ज्ञातव्यं प्रकृतबृद्ध्यादिस्वामित्वमित्यर्थः ॥७०३-७०४॥

चउणाण-मंयमेसुं ममइअ-छेअ-परिहार-देसेसुं ।
 ओहिम्मि सम्म-वेअग-उवमम-सामाण-मीसेसुं ॥७०५॥
 तप्पाउग्गजहण्णा दुचरमबंधा गुरुं चरमबंधं ।
 कुणमाणो गुरुवुडिड कुणए मिच्छाइगाहिमुहो ॥७०६॥
 तयणंतरं गुरुमवट्टाणं तज्जोग्गजेट्टिइबंधा ।
 तज्जोग्गलहुं पत्तो सागारखयेण गुरुहाणिं ॥७०७॥

(प्रे०) “चउणाणे” न्यादि, केवलज्ञानमार्गणास्थाने स्थितिवन्धस्यैवाभावात्तद्वर्जेषु चतुषु

मत्यादिज्ञानेषु, संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयमेषु, देशसंयमा-ऽवधि-दर्शन-सम्यक्त्वौघ-क्षायोपशमिकौ-पशमिकसम्यक्त्व-सायादन-सम्यग्मिथ्यात्वेष्वित्येवं समुदि-तासु पञ्चदशमार्गणासु प्रत्येकं "तत्पाउगजहण्णा कुचरमबंध" इति तत्तन्मतिज्ञानादिमार्गणा-विच्छेदादवर्गभावी यश्चरमः प्रस्तुतत्वाज्ञानावरणादीनामायुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनां स्थितिवन्धस्तद-पेक्षया यो 'द्विचरमः'-उपान्त्यः स्थितिवन्धः स द्विचरमस्थितिवन्धः, स च न सर्वेषां जीवानां तुल्य एव, किन्तु परस्परं हीनाधिकोऽपि भवति, तत्राऽधिकतरादिस्थितिवन्धं कुर्वतामनन्तरे चरम-स्थितिवन्धे तत्र बन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिवन्धसम्भवेऽपि तेषामुत्कृष्टस्थितिवन्धवृद्धेरप्राप्तेस्तत्र जघन्येति विशेषणमुपादत्तम् । ननु द्विचरमस्थितिवन्धे प्रायोग्यमवस्तोकस्थितिवन्धं कृत्वाऽनन्तरे चरमस्थितिवन्धे प्रायोग्यमवर्धकस्थितिवन्धं कुर्वतामुत्कृष्टवृद्धेः सम्भवेन तावदेव पर्याप्तं स्यात्, किंपुनस्तत्र तत्प्रायोग्यत्वविशेषणेन ? इति चेत्, तत्राऽपि सर्वं स्तोकस्थितिवन्धं कुर्वतामनन्तरे चरम-स्थितिवन्धे तत्र बन्धप्रायोग्यमवर्धकस्थितिवन्धस्यासम्भवेन "गुरुं चरमबंधं कुणमाणो" इत्यस्यानुपपत्तेर्न स्यादुत्कृष्टवृद्धिस्वामित्वमित्यतो द्विचरमस्थितिवन्धतया प्रायोग्यस्थितिवन्धेषु सर्वस्तोकस्थितिवन्धप्रतिषेधार्थम् 'जहण्णा' इत्यत्र तत्प्रायोग्यत्वाविशेषणमावश्यकमेव, तथा च चरम-मुत्कृष्टं स्थितिवन्धं कुर्वतामनन्तरपूर्वस्थितिवन्धतया यावन्तः स्थितिवन्धविकल्पाः बन्धप्रायोग्या-स्तन्मध्ये यः सर्वजघन्यस्थितिवन्धस्थानं तं बद्ध्वाऽनन्तरोत्तरे चरमे स्थितिवन्धे बन्धप्रायोग्य-धिकतमस्थितिवन्धं कुर्वन् जीवः "गुरुवृद्धिं कुणम" इति उक्तवृद्धेः स्वामी भवतीत्यर्थः ।

अत्र मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणादीं देवत्वाभिमुखानां सुसृष्टां महात्मनामपि चरम-द्विचरम-स्थितिवन्धयोः सम्भवेन तत्र चरमस्थितिवन्धतया प्रायोग्यमधिकतमं स्थितिवन्धं कुर्वतामपि न प्रस्तुतवृद्धिस्वामित्वमिति तेषामुत्कृष्टवृद्धिस्वामित्वनिवृत्तये पुनरपि स्वामिद्विशेषणमाह-"मिच्छाह-गाहिमुहो" इति तत्रादिपदात् तथाविधसंयम-छेदोपस्थापनसंयमाभिमुखानां परिग्रहः, यस्तादृशो मिथ्यात्व-तथाविधसंयमाद्यभिमुखः स एव प्रस्तुतवृद्धिस्वामी भवतीत्यर्थः । ननु मनःपर्यवज्ञानिनो मिथ्यात्वाभिमुखा एव न सन्तीति कथं न विरोधः ? न च मिथ्यात्वाभिमुखत्वविशेषणस्य मतिज्ञानादिमार्गणास्वेव योजनीयत्वाच्चास्ति कश्चिद्विरोध इति वाच्यम् । मार्गणाविच्छेदा-दवर्गभाविचरमस्थितिवन्धं कुर्वतां मतिज्ञानादिमार्गणाप्रविष्टजीवानां सर्वेषामपि मिथ्यात्वाभिमुखतया तत्र तस्य निरर्थकत्वात् ? इति चेद्, सत्यम्, मतिज्ञानादिमार्गणास्थानेषु यथोक्तलक्षणे उत्कृष्ट-वृद्धिस्वामिनि मिथ्यात्वाभिमुखविशेषणस्य व्यर्थत्वेऽपि समुदितमार्गणास्थानेषु मतिज्ञानादि-मार्गणानामेवादी न्यस्तत्वान्मनःपर्यवज्ञानादेस्तु तत्पश्चान्यस्तत्वाच्च मनःपर्यवज्ञानादिमार्गणा-सूपयुज्यमानं विशेषणान्तरमेवादी कृत्वा 'मिच्छाहगाहिमुहो' इत्यनुक्त्वाऽन्यथैवाभिधाने स्याद् भ्रमः, यन्मतिज्ञानमार्गणादीं तथाविधसंयमाभिमुखः प्रस्तुतस्वामीत्यतस्तदपोहाय प्रथमतया गृहीतमार्ग-णायां युज्यमानं विशेषणमादी कृत्वा 'मिच्छाहगाहिमुहो' इत्येवमेव प्रयोक्तव्यमुचितम् । एवं हि

मतिज्ञानादिमार्गणासु मिथ्यात्वाभिमुख इति विशेषणं स्वरूपदर्शकपरम्, अन्यत्र मनःपर्यवज्ञान-परिहारविशुद्धिकसंयमयोस्तु 'मिच्छाद्गाहिमुहो' इत्यत्राऽऽदिपदग्राह्यानां तथाविधसंयम-छेदोप-स्थापनसंयमाभिमुखाः' इति विशेषणानां व्यवच्छेदकपरत्वं तु व्याख्यानगम्यमिति न कुत्र-चित्कस्यचिद्विरोधः, प्रत्युताऽसामञ्जस्यपरिहार एवेति ।

अथोत्कृष्टावस्थानस्वामिनः प्राह—“तयणंतरं गुरुमवद्वानं” इति तस्या उत्कृष्टवृद्धेः ‘अन-न्तम्’-अनन्तरमयेषु तमेव चरममुत्कृष्टस्थितिवन्धं कुर्वन्सावुत्कृष्टवृद्धिस्वाम्युत्कृष्टावस्थानस्वामी भवतीति भावः । सुगमम्, मिथ्यात्वाभिमुखावस्थाभाविनां प्रत्येकस्थितिवन्धानामान्तमुद्दृष्टिक-तयोत्कृष्टस्थितिवन्धवृद्ध्या जायमानस्य चरमस्थितिवन्धस्याऽपि नियमतोऽन्तमुद्दृष्टमवस्थाना-दिति । अथोत्कृष्टस्थितिवन्धहानिस्वामिनमाह—“तज्जोर्ग” इत्यादि, सुगमम्, प्राग्बद् व्या-ख्येयमिति ॥७०५-७०६-७०७॥

अथाऽप्रशस्तलेश्यामार्गणावये प्रागुक्तमतद्वयेन प्रस्तुतस्वामिनः प्राह—

अपसत्थतिलेसासु तिण्ह गुरुपयाण अत्थि ओघव्व ।

सामी भणंति अण्णे तिण्हं वि पयाण निरयव्व ॥७०८॥

(प्रे०) “अपसत्थे” इत्यादि, कृष्ण-नील-कपोताङ्गासु तिसृष्वप्रशस्तलेश्यामार्गणासु “तिण्ह गुरुपयाण” इति त्रयाणां ‘गुरुपदानाम्’-उत्कृष्टपदानाम्, उत्कृष्टवृद्ध्युत्कृष्टहान्युत्कृष्टावस्थान-लक्षणानां प्रत्येकमित्यर्थः । प्रस्तुतस्वामिन्स्वामी “अत्थि ओघव्व” इति ओघवत् ‘मञ्जाहिन्तो उव्वि यवस्से’ इत्यादिगाथा(६९२-६९५)चतुष्टयेनाभिहितस्वरूपो भवति । सुगमः । अथ महाबन्धकारामि-मतमाह—“सामो भणंति” इत्यादि, महाबन्धकारैर्देवानां पर्याप्तावस्थायामशुभलेश्याया अस्वीकृत-त्वेन तन्मते केवलानां नारकाणामेवाजीवनं कृष्णादिलेश्याया अवस्थानादिति भावः ॥७०८॥

असंज्ञिमार्गणायां प्रकृतत्रिविधबन्धस्वामित्वमाह—

अमणे कुण्ह पणिंदी जाओ एगिंदिया गुरुं वडिंढ ।

तव्विवरीओ हाणिं पणिंदियो चिअ अवद्वानं ॥७०९॥

(प्रे०) “अमणे” इत्यादि, असंज्ञिमार्गणायां “पणिंदिया” इति एकेन्द्रियाच्छ्रुत्वा “पणिंदीजाओ” इति यः पञ्चेन्द्रियो जातः, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमान इत्यर्थः । स किं करोती-त्याह—“गुरुं वडिंढ” इति ‘गुरीम्’-उत्कृष्टं वृद्धिं, करोतीति पूर्वेण योग इति । “तव्विवरोओ हाणिं” इति ‘तद्विपरीतः’-उक्तविपरीतो योऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाच्छ्रुत्वेकेन्द्रियतयोत्पद्यमानः सः ‘हाणिं’ इति सप्तप्रकृतिसत्काण्डुत्कृष्टां स्थितिवन्धहानिं करोतीत्यर्थः । “पणिंदियो चिअ अवद्वानं” इति पञ्चेन्द्रिय एवोत्कृष्टावस्थानस्वामी भवति । तत्र एव हार एकेन्द्रियादिरूपात्परस्थानात्पञ्चेन्द्रिय-तयोत्पद्यमानानां व्यवच्छेदार्थः, एकेन्द्रियाच्छ्रुत्वाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमानो योऽनन्तरमुत्कृष्ट-

षुद्धिस्वामी दर्शितः सोऽसंज्ञिः च्चेन्द्रिय उत्कृष्टवृद्धयन्तरसमयेषुत्कृष्टावस्थानस्वामी न भवति, किन्तु स्वस्थानगाः पञ्चेन्द्रिय एव साकारोपयोगक्षयेण हान्यन्तरसमयेषुत्कृष्टावस्थानस्वामी भवतीति भाः । अत्रापि तत्प्रायोग्यजघन्यस्थितिवन्धादृतीयं तत्प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिवन्धस्य प्रारम्भकः, एवं वैपरीत्येन तत्प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिवन्धादृतीयेत्यादि प्राग्द्वस्वयमेव योज्यमिति ॥७०९॥

अथोक्तशेषमार्गणासु प्रकृतोत्कृष्टवृद्ध्यादेः स्वामिनः प्रतिपिपादयिपुराह—

सेसासु तज्जोग्गालहुठिडबंधा उ संकिलेसेण ।

तज्जोग्गजेट्टबंधं गओ स कुणए परमवडिंढ ॥७१०॥

तज्जोग्गलहुम्मि गओ साकारस्वयेण जेट्टिडबंधा ।

म कुणइ हाणि परमं अणंतरखणे अट्टाणं ॥७११॥

(प्र०) “सेसासु” मित्यादि, उक्तशेषास्वपर्याप्तपञ्चेन्द्रियांतर्यग-पर्याप्तमनुष्या-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तवसा-ऽऽनतकलादिसर्वार्थमिद्धान्तो कशे ॥१॥ दशदेवभेद-सर्वेकान्द्रियभेद-सर्वत्रिकलेंद्रियभेद-पृथिव्यादिपञ्चकायसत्कमूलोत्तरसर्वभेद-त्रिमिश्रकाययोगा-ऽऽहारककाययोग-क्षायिकसम्यक्त्व-शुक्ललेयारूपासु व्यर्थातिमार्गणासु प्रत्येकम् “तज्जोग्गालहुठिडबंधा उ” ति ‘तत्प्रायोग्यात्’-तत्तन्मार्गणायां बन्धप्रायोग्याल्लघुस्थितिवन्धात् “संकिलेसेणं तज्जोग्गजेट्टबंधं गओ” ति संकलेश्वृद्ध्या तत्प्रायोग्यं ‘ज्येष्ठ’-उत्कृष्टं स्थितिवन्धं ‘गतः’-प्राप्तः ‘स कुणए परमवडिंढ’ ति उक्तस्वरूपः स तदानीं तथा कुर्वन् ‘परमं’-उत्कृष्टं स्थितिवन्धवृद्धिं करोति । अत्र तत्प्रायोग्यमित्यनेन तत्तदपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यगादिमार्गणायां योग्यमिति बोद्धव्यम् । एवमुत्तरत्रापीति ।

अथोत्कृष्टहान्य-वस्थानयोः स्वामिनः प्रदर्शयन्नाह—“तज्जोग्गलहुम्मि” इत्यादि, “जेट्टिडबंधा” ति तत्प्रायोग्यज्येष्ठस्थितिवन्धादित्यर्थः । ततः किमित्याह—“साकारस्वयेण” ति ति साकारोपयोगक्षयेण, साकारोपयोगस्यऽनाकारोपयोगतया परावर्तनादित्यर्थः । “तज्जोग्गलहुम्मि गओ” ति प्राकृतत्वेन द्वितीयादाः स्थाने सप्तम्याः विभक्तेः प्रयुक्तत्वाद् दस्तद्योग्यलघु-स्थितिवन्धस्तं ‘गतः’-प्राप्तः “स कुणइ हाणि परमं” ति, सुगमम् । “अणंतरखणे अट्टाणं” ति स एवानन्तरोक्तउत्कृष्टहानेः स्वामी हानेरन्तरसमयेषु तावन्मात्रं स्थितिवन्धं कुर्वन् सप्तप्रकृतिसत्कोत्कृष्टावस्थानं करोति, अवस्थानस्य स्वामी भवतीत्यर्थः ॥७१०-७११॥

तदेवमभिहिताः सप्तानां मूलप्रकृतीनासुत्कृष्टवृद्ध्यादेः स्वामिनः । साम्प्रतं तासामेव जघन्य-वृद्ध्यादेः स्वामिनः प्रतिपिपादयिपुराह गाथात्रितयम्—

उकोसं समयूणं ठिडबंधं किरिअ संकिलेसेण ।

जेट्टिडं बंधतो सो वडिंढ कुव्वइ जहणं ॥७१२॥

जो कुञ्जा ठिड्वंधा ऽण्तरपुव्वसमया विमोहीए ।

समयूणं ठिड्वंध सो कुणइ जहण्णगं हाणिं ॥७१३॥

हस्साए वड्डीए हाणीए वा अणंतरद्वाए ।

कुणइ लहुमवडाण, णेय एमेव सव्वासु ॥७१४॥

(ब्र०) “उक्कोसं समयूणं” इत्यादि, यः कश्चिज्जीवः समयोनमुत्कृष्टं स्थितिवन्धं कृत्वा “संक्किलेसेणं” ति संक्किलेश्वृद्ध्या, उत्कृष्टस्थितिवन्धप्रायोग्यसंक्किलेशं प्राप्तेत्यर्थः । ‘ज्येष्ठाम्’-उत्कृष्टां-पूर्वं समयुक्तास्थितिवन्धापेक्षया समयेनाविहां स्थितिं “बंधतो” ति वध्नुन्, सम साधिकस्थितिवन्ध-प्रथमसमये वर्तमान इत्यर्थः । “सो वड्ढिं कुव्वइ जहण्णं” ति तादृशः स जीवरतथा कुर्वन् जघन्यां वृद्धं करोति । जघन्यस्थितिवन्धवृद्धेः स्वामी भवतीति भावः । सप्तप्रकृतीनामिति तु गम्यते इति ।

जघन्यहानेः स्वामिन आह—“कुञ्जा जो ठिड्वंधा” इत्यादि, ‘अनन्तरपूर्वसमयात्’-अनन्तरपूर्वसमये निर्वर्तितात् स्थितिवन्धाद् “विमोहीए” ति ‘विशुद्ध्या’-विशुद्धेर्वर्धनादिति भावः । समयोनं स्थितिवन्धं “कुञ्जा जो” ति यः कुर्यात्, यः करोतीति भावः । स किमित्याह—“सो कुणइ जहण्णगं हाणिं” ति स तथा कुर्वन् सप्तानां जघन्यामेव जघन्यकां-सर्वलक्ष्मीं हानिं करोति, जघन्यस्थितिवन्धहानिस्वामी भवतीत्यर्थः । सुगमम् ।

अथ जघन्याऽवस्थानस्वामिन आह—“हस्साए वड्डीए” इत्यादि, अनन्तरोक्ताया जघन्याया हानेवृद्ध्या “अणंतरद्वाए” ति अनन्तराद्धायां, अनन्तरोत्तरसमयेषु येषु जघन्यवृद्ध्या जघन्यहान्या वा प्रवृत्तस्थितिवन्ध एव प्रवर्तते तेभित्यर्थः । “कुणइ लहुमवडाणं” ति, तस्या-मनन्तराद्धायां वर्तमानः सन् ‘लघु’-जघन्यमवस्थानं करोति, सप्तप्रकृतिसत्कामिति गम्यते । इत्थ-मेषोक्तात्रापि सप्तप्रकृतीरधिकृत्यैव विज्ञेयमिति । गतमोघतः जघन्यवृद्ध्यादिस्वामित्वम् ।

अथादेशतो दिदर्शयिष्वर्द्धुमाम्यात् सापवादमतिदिशति—“णेयं एमेव सव्वासु” इत्यादि, सर्वमार्गणास्वपि “एमेव” ति ‘एवमेव’ औघसदृशमेव ज्ञेयं, विहाय वक्ष्यमाणापवाद-पदान्तीति ॥७१२-७१३-७१४॥ अथ लाघवार्थं सामस्त्वेनातिदिष्टे याऽतिप्रसक्तिस्तासुद्दिधीपुंरा-र्याऽयेनापवादपदान्याह—

णवरं अवगयवेए सुहुमे उवसामगो परिवडंतो ।

ठिड्वंधे खलु दुइए कुणए उ जहण्णगं वड्ढिं ॥७१५॥

वट्टंतो ठिड्वंधे चरमे खवगो जहण्णगं हाणिं ।

कुणइ अणंतरसमये जहण्णगं खलु अवडाणं ॥७१६॥

(प्रे०) “जघर”मित्यादि, नवरं-परमपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां च प्रत्येकम् “उद्यत्सामगो परिचङ्गतो” ति प्रतिपत्तन्नुपशमकः “ठिहबंधे खलु बुद्धिः” ति उपशान्तमोहगुणस्थानेऽबन्धप्राप्तानां ज्ञानावरणादिसत्कस्थितिवन्धानां सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानादी यः प्रथमः स्थितिवन्धस्तत उर्त्तीर्य तदनन्तरभाविनि द्वितीये स्थितिवन्धे, द्वितीयस्थितिवन्धं कुर्वन्नि-
त्यर्थः । खलुशब्दोऽवधारणे, ततश्चोक्तद्वितीयस्थितिवन्धस्य प्रारम्भक एव, न पुनस्तदन्ये तृतीयादि-
स्थितिवन्धस्य प्रारम्भका अपि । कुतः ? अधोऽधो यथोत्तरस्थितिवन्धेष्वधिकाधिकतरस्थितिवृद्धि-
भावेनाऽजघन्यवृद्धेरेव भावादिति । तदानीमपावुपशमकः किं करोतीत्याह—“कुणाह उ जह-
ण्णागं बुद्धिः” ति रुगममिति ।

अथ प्रकृतमार्गणादय एव जघन्यहानेर्जघन्यावस्थानस्य च स्वामिनः प्रदर्शयन्नाह—वट्टंतो
ठिहबंधे” इत्यादि, “चरमे” ति यस्योत्तरं न कदाचिदपि ज्ञानावरणादीनां स्थितिवन्धमभवः,
तथाविधौधिकजघन्यस्थितिवन्धरूपे ‘चरमे’-अपश्चिमे स्थितिवन्धे वर्तमानः, चरमं स्थितिवन्धं
कुर्वन्नित्यर्थः, चरमस्थितिवन्धप्रथमसमये वर्तमान इति यावत् । तादृशो यः क्षपक स जघन्यां स्थिति-
बन्धहानिं करोतीत्युत्तरार्धेऽन्वयः । “अणंतरसमये” ति अनन्तरोक्तहानिसमयादनन्तरो य
उत्तरसमयः सोऽनन्तरसमयस्तस्मिन्नन्तरसमये पूर्वसमयतुल्यस्थितिवन्धं कुर्वन् स एवानन्तरोक्तः
क्षपकः “जहण्णागं खलु अद्यहाणं” ति जघन्यमेव जघन्यकमवस्थानं करोतीत्यर्थः । खलु-
शब्दः पादपूर्ये । इत्थं ह्यपोदितेऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणादयवर्जशेषमर्षमार्गणासु जघन्य-
वृद्ध्यादिस्वामित्वं यद्यपि सर्वथैवोद्यत्प्राप्तं, तथापि तथापु मार्गणासूक्तकृष्टस्थितिवन्ध औधिको न
भवति, यासु च जघन्यस्थितिवन्ध एकेन्द्रियशायोग्यो न भवति, तास्वन्यथा स्वबन्धप्रायोग्यजघन्यो-
क्तकृष्टस्थितिवन्धानुसारेण बोद्धव्यमिति ॥७१५-७१६॥

तदेवं भणितमोघतआदेशतश्च जघन्यस्थितिवन्धवृद्ध्यादिस्वामित्वमपि । तस्मिंश्च भणिते
गतं द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे
चतुर्थे पदनिक्षेपाधिकारे द्वितीयं
स्वामित्वद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथ तृतीयमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

अथ क्रमशः संपन्नबहुत्वद्वारे उत्कृष्टवृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वं प्रतिविपादविपुरादौ तावदुत्कृष्ट-
पदे प्रा-—

सत्तण्हं सव्वप्पा परमा वड्ढी तओ अवट्टाणं ।

उक्कोसं अब्भहियं तो गुरुहाणी विसेसहिया ॥७१७॥

(प्रे०) “सत्तण्हं” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां प्रत्येकं “सव्वप्पा
परमा वड्ढे.”ति अनन्तरवक्ष्यमाणपदद्वयादल्पा, अत एव ‘सव्वप्पा’-सर्वस्तोका स्थितिवन्धसत्का
‘परमा’-उत्कृष्टपदगता वृद्धिः, “तओ अवट्टाणं उक्कोसं अब्भहियं” ति ‘ततः’-अनन्तरोक्त-
वृद्धयपेक्षया तासामेव सप्तानां प्रत्येकमुत्कृष्टमवस्थानमभ्यधिकं, विशेषाधिकमित्यर्थः । कुतः ?
उच्यते, ओषचिन्तायां संवलेशवृद्ध्या जाता उत्कृष्टा वृद्धिरुत्कृष्टहायस्थितिप्रमाणं भवति, उत्कृष्टा-
वस्थानं तुत्कृष्टस्थितिवन्धोत्तरं साकारोपयोगक्षयेण स्वप्रायोग्यान्तःकोटिकोटिसागरोपमप्रमाण-
जघन्यस्थितिं बध्नतां प्राप्यते, सा चान्तःकोटिकोटिसागरोपमस्थितिर्यस्मात् स्थितिवन्धस्थाना-
दुत्कृष्टवृद्धिः क्रियते, तन्स्थितिवन्धस्थानापेक्षया बहुसागरोपमशतपृथक्त्वहीना विद्यते । ततः किम् ?
ततः पूर्वमुत्कृष्टवृद्धिं कुर्वता यावती स्थितिर्लङ्घिता तदपेक्षयोत्कृष्टावस्थानस्वामी बहुसागरोपमशत-
पृथक्त्वाधिकां स्थितिमुल्लङ्घ्यावस्थानं करोति, ततश्चोत्कृष्टवृद्धयपेक्षयोत्कृष्टमवस्थानं विशेषाधिकं
भवतीति । “तो गुरुहाणी विसेसहिया” ति तस्मादुत्कृष्टावस्थानात् सप्तानां ‘गुरुहानिः’-
उत्कृष्टा हानिरिशेषाधिका भवतीत्यर्थः । कुतः ? उत्कृष्टस्थितिवन्धादूर्ध्वमेकेन्द्रियतयोत्पद्य तत्र
तत्प्रायोग्यस्तोकस्थितिवन्धकरणे पञ्चोपमासंख्यभागन्यूनसागरोपमत्रिसप्तभागादिप्रमाणस्थितिवन्ध-
भावेन पञ्चोपमासंख्यभागन्यूनसागरोपमत्रिसप्तभागादिना हीनानां त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोट्यादि-
स्थितिनामेकहेलया हीनभावात्, तासां चोत्कृष्टावस्थानपूर्वसमयभाविहान्यपेक्षया विशेषाधिकत्वा-
दिति ॥७१७॥

तदेवमभिहितमुत्कृष्टपदगतानां सप्तमूलप्रकृतिसत्कवृद्ध्यादित्रयणामल्पबहुत्वमोषतः । अथ
तदेवादेशतः प्रदर्शयन्नाह—

ओघव्व अत्थि काये कसायचउग-दुअणाण-अयतेसुं ।

अणयण-भवियेसु तहा अभविय-मिच्छेसु आहारे ॥७१८॥

(प्रे०) “ओघव्व” इत्यादि, ओषवदस्ति-भवति, उत्कृष्टपदगतवृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वमिति
प्रक्रमाद्भवते । कासु मार्गणास्त्रित्याह-“काये” इत्यादि, काययोगसामान्ये, क्रोधादिकपायचतुष्क-
मत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंप्रमेषु तथाऽचक्षुर्दर्शन-भव्यपोरभव्यमिथ्यात्वयोराहारिमार्गणार्थां चेत्यर्थः ।

कृतः ? प्रत्येकं मिथ्यादृष्टिभवनपत्यादिदेवानामेकेन्द्रियाणां च प्रवेशेनोत्कृष्टवृद्ध्यादिपदत्रयस्वामिनां सर्वार्थवैधतुल्यत्वात् । उक्तं च प्रागेव स्वामिनः प्रदर्शयतामूलकता यत्—‘ओषध्व जणियन्वा काय-कसाय-दुभयाण-भयनेसु । अणयण-भयियेसु । तहा अभयिय-भिय्छेसु आहारे’ ॥६९९॥ इत्थं चान्यबहु-त्वमपि सर्वार्थवदेव लभ्यत इति ॥७१८॥

अथ कर्मणाऽनाहारकमार्गणयोः प्रस्तुताल्पबहुत्वमाह—

कम्मा-ऽणाहारेसु गुरुं अवद्वाणमप्पमत्थि तओ ।

वड्ढी असंखियगुणा तत्तो हाणी विसेसहिया ॥७१९॥

(प्र०) “कम्माणाहारेसु”मित्यादि, कर्मणकाययोगा-ऽनाहारकमार्गणयोः प्रत्येकम् “गुरुं अवद्वाणमप्पमत्थि” ति प्रस्तुतत्वादायुर्वर्जानां सप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकं ‘गुरु’-उत्कृष्टं स्थितिवन्धावस्थानम् ‘अल्प’-स्तोत्रं भवति, एकेन्द्रियस्य तन्स्वामित्वेन पत्न्योऽसंख्येयभाग-मात्रत्वात् ; “तओ” ति ‘ततः’-उक्तोत्कृष्टावस्थानात् “वड्ढी असंखियगुणा” ति तेषा-मेव सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धवृद्धिरसंख्येयगुणा भवति । सुगमम्, उत्कृष्टवृद्धेर्मिथ्यादृष्टिसंज्ञिपञ्चे-न्द्रियस्वामिकत्वात्, तेषां पञ्चेन्द्रियाणां तु पत्न्योऽसंख्येयभागादिवृद्धेरपि सम्भवाच्च । “तत्तो” ति उक्तोत्कृष्टवृद्धेः “हाणी विसेसहिय” ति उत्कृष्टा स्थितिवन्धाविशेषाधिका भवति, अस्या अपि मिथ्यादृष्टिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्वामिकत्वाविशेषाधिका बोद्धव्या । यदि च ‘उत्कृष्टवृद्धि-हान्योर्द्वयोरपि मिथ्यादृष्टिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्वामिकत्वे कथं विपर्ययेणोत्कृष्टहान्यपेक्षयोत्कृष्टवृद्धि-विशेषाधिका नोक्ता, द्वेऽपि तुल्ये नोक्ते वा’ इत्याशङ्का स्यात्, तदा तु सोत्कृष्टवृद्धेः संक्लेशवृद्ध्या लभ्यमानतया हानेस्तुत्कृष्टायाः साकारोपयोगप्रवचनेन सम्पद्यमानत्वाश्लिषतेतीयेति ॥७१९॥

अथ गतवेद-सूक्ष्ममम्परायसंयममार्गणयोराह—

गयवेए सुहुमम्मि य सब्वत्थोवा हवेज्ज उक्कोसा ।

हाणी तत्तो वड्ढी उक्कोसा होइ संखगुणा ॥७२०॥

णवरं अवगयवेए तिघाईणं भवे अमंखगुणा ।

परमा वड्ढी तत्तो तुल्लं जेइ अवद्वाणं ॥७२१॥

(प्र०) “गयवेए” इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्ममम्परायसंयममार्गणायां च बन्ध-प्रायोग्यानां ज्ञानावरणाद्यन्यतमप्रकृतीनां “सब्वत्थोवा हवेज्ज उक्कोसा हाणी” ति, निरुक्त-लक्षणा उत्कृष्टपदगता स्थितिवन्धाविशेषाधिका भवेदित्यर्थः । “तत्तो” ति तस्या उत्कृष्ट-हानेस्तत्तज्ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टा वृद्धिः संख्येयगुणा भवति । “णवरं”—परमयं विशेषः; कोऽसा-वित्याह—“अवगयवेए” इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां वेदनीय-नाम-गोत्रलक्षणानां त्रयाणा-

मघातिनां “भवे असंखगुणा” ति उत्कृष्टहान्यपेक्षयोत्कृष्टवृद्धिरसंख्येयगुणा भवेत्, न तु शेषज्ञानावरणादीनामिव संख्येयगुणेति भावः । मार्गणाऽप्येऽपि ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकमुत्कृष्ट-वृद्धयपेक्षयोत्कृष्टमवस्थानं तुन्यमेव, अतस्तत्तथैव दर्शयन्नाह—“ततो तुल्लं जेडं अवट्टाणं” ति गतार्थम्, हेतुस्तु श्रेणी प्रत्येकं स्थितिवन्धानामन्तर्मुहूर्तमवस्थानस्य सम्भवादिति द्रष्टव्य इति ॥७२०-७२१॥

अथ यासूक्तस्थितिवन्धस्थामिनां मिथ्यात्वाद्यभिमुखतया तदपेक्षयोत्कृष्टवृद्धेस्तदनन्तर-मुत्कृष्टवस्थानस्य च सम्भवस्तासु मतिज्ञानादिमार्गणासु सममेव प्रस्तुतान्पबहुत्वं प्राद—

चउणाण-संयमेसुं समइअ-छेअ-परिहार-वेसेसुं ।

ओहिम्मि-सम्म-वेअग-उवसम-सासाण-मीसेसुं ॥७२२॥

सव्वत्थोवा जेट्ठा हाणी ततो हवेज्ज संखगुणा ।

जेट्ठा वड्ढी ततो तुल्लं जेडं अवट्टाणं ॥७२३॥

(प्रे०) “चउणाणे”त्यादि, मत्यादिचतुर्ज्ञान-संयमौघमार्गणयोः, सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक्रम्यम-देशसंयमेषु, अवधिदर्शने, सम्यक्त्वौघौ-पश्चमिकसम्यक्त्व-सासादन-मिश्र-दृष्टिमार्गणास्वित्येवं समुदितासु पञ्चदशमार्गणासु प्रत्येकं “सव्वत्थोवा जेट्ठा हाणो” ति आयुर्वर्जममकर्मणां ‘ज्येष्ठा’-उत्कृष्टा ‘हानिः’-स्थितिवन्धहानिः सर्वस्तोका । “ततो हवेज्ज संख-गुणा जेट्ठा वड्ढी” ति ‘ततः’-उत्कृष्टस्थितिवन्धहानेस्तेषामेव सप्तानां ‘ज्येष्ठा’-उत्कृष्टा स्थिति-वन्धवृद्धिः संख्येयगुणा भवेत् । सुगमम्, प्रस्तुतैकैकमार्गणासूक्तवृद्धेर्मिथ्यात्वाभिमुखाद्यवस्थाभावि-त्वात् । उक्तञ्च प्राक् स्वामित्वद्वारे—

‘चउणाणसंयमेसुं समइअ-छेअ-परिहारेसुं । देसो हि-सम्म-वेअग-उवसम-सासाण-मीसेसुं ॥७२२॥

तस्याऽगजदृष्ट्या दुच्चरमबंधा गुरुं चरमबंधं । कुणमाणो गुरुवद्विद्ध कुणए भिच्छाङ्गाहिमुहो’ ॥इति॥

‘तुल्लं जेडं अवट्टाणं’ ति उत्कृष्टवृद्धिस्वामिनामेवानन्तरोत्तरसमयेषुत्कृष्टाऽवस्थान-स्वामित्वाद्दुत्कृष्टमवस्थानमुत्कृष्टवृद्धेस्तुल्यमेव स्यादिति सुगममिति ॥७२२-७२३॥

अथ सास्वादनमार्गणायामुक्तमप्यल्पबहुत्वं मतविशेषेणाऽन्यथा दर्शयन्नाह—

अहवाऽत्थि सासाणेऽप्या जेट्ठा वड्ढी तओ विसेसहिया ।

हाणी परमा ततो तुल्लं णेयं भवट्टाणं ॥७२४॥

(प्रे०) “अहवा” इत्यादि, अथवा द्वितीयाधिकारस्वामित्वद्वारेऽभिहितात् मिथ्यात्वाभि-मुखानां सप्तकर्मसत्कोत्कृष्टस्थितिवन्धं स्वीकुर्वतामभिप्रायादिलक्षणेन रसबन्धविधाने वक्ष्यमाणेन स्वस्थानगतानादुत्कृष्टरसबन्धस्वामित्वमङ्गीकुर्वतां मतेन “त्थि सासाणेऽप्या जेट्ठा वड्ढी” ति

सासादनमार्गणायां सप्तानां 'ज्येष्ठा' -उत्कृष्टा वृद्धिः 'अल्पा' -सर्वस्तोका भवति । 'तत्रो विसेसहिष्या हाणी परमा' ति ततः परमा हानिर्विशेषाधिका भवति, साकारोपयोगक्षयेण प्राप्यमाणत्वात् । 'ततो तुल्लं पोयं' ति ततस्तुल्यं ज्ञेयम् । किम् ? 'अवद्वाणं' ति अवस्थानम्, उत्कृष्ट-पदगतानां वृद्ध्यादीनामल्पबहुत्वस्य प्रस्तुतत्वाद्दुत्कृष्टमवस्थानमित्यर्थः ॥७२४॥

अथाऽप्रशस्तलेख्यामार्गणात्रये मतद्वयेन स्वामित्वस्य प्रदर्शितत्वादल्पबहुत्वमपि तदनुसारेण प्रदिदर्शयिषुरतिदिशन्नाह—

अपसत्थतिलेसासुं तिण्ह गुरुपयाण अत्थि ओघव्व ।
अप्पावहुगं अण्णे भणन्ति निरयव्व विण्णेयं ॥७२५॥

(ग्रे०) "अपसत्थे"त्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः । भावार्थस्त्वयम्—अप्रशस्तलेख्यात्रये 'अपसत्थतिलेसासुं तिण्ह गुरुपयाण ओघव्व । सामी भणन्ति अण्णे तिण्हं वि पयाणं निरयव्व' ॥७२५॥ इत्यनेन तत्तन्मते प्रस्तुतस्थितिवन्धवृद्ध्यादिस्वामिनामप्योघवन्निरयगतिमार्गणाव्चाभिहितत्वात्तदधीनं प्रस्तुताल्पबहुत्वमपि तेन तेन मतेनांघवन्निरयगतिमार्गणाव्च लभ्यत इति तथैवाऽतिदिष्टम् । तच्च "ओघव्व" इत्यनेन 'सत्तणं सब्यप्पा परमा वड्ढी तत्रो अवद्वाणं । उक्कोसं अव्वहियं तो गुरुहाणी विसेसहिष्या' ॥७२४॥ इत्यनया गाथया दर्शितस्वरं ज्ञेयम् । "निरयव्व" इत्यनेन तु 'सेसासु उक्कोसा वड्ढी थोवा तत्रो विसेसहिष्या । परमा हाणी ततो पोयं तुल्लं अवद्वाणं' ॥७२५॥ इत्यनया गाथया वक्ष्यमाणस्वरूपमवसातव्यमिति ॥७२५॥

अमणम्मि अवद्वाणं गुरुमप्यं ताउ अत्थि संखगुणा ।
जेट्टा वड्ढी ततो परमा हाणी विसेसहिआ ॥७२६॥

(ग्रे०) "अमणम्मि" इत्यादि, न विद्यते मनो येषां ते 'ऽमनसः'-अमंजिनः, तत्राऽमंजि-मार्गणाम्थाने "अवद्वाणं गुरुमप्यं" ति उत्कृष्टमवस्थानम् 'अल्पं'-वक्ष्यमाणपदद्वयापेक्षया स्तोकं भवति, पञ्चेन्द्रियाणां स्वस्थान एव तत्स्वामितयोत्कृष्टस्याऽपि तस्य पल्योपमसंख्येयभागमात्रत्वमभवात् । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां बन्धप्रायोग्यजघन्यस्थितिवन्धापेक्षयाऽप्युत्कृष्टस्थितिवन्धस्य पल्यो-पमसंख्येयभागमात्रेणाधिकत्वादिति भावः । "ताउ अत्थि संखगुणा जेट्टा वड्ढी" ति तस्माज्ज्ञानावरणादीनां सप्तानामुत्कृष्टाऽवस्थानात्तेषामेव ज्ञानावरणादीनां 'ज्येष्ठा' उत्कृष्टा 'वृद्धिः'-स्थिति-वन्धवृद्धिः संख्येयगुणा भवति । कुतः ? एकेन्द्रियाच्चतुत्राऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोन्यद्यमानानां परस्थाने तन्स्वामितया सागरोपमस्य किञ्चिद्दूनसहस्रत्रयादिमत्तभागप्रमाणत्वात्तस्याः । तत्र किञ्चिद्दून-त्वेन पल्योपमसंख्येयभागाभ्यधिकसागरोपमत्रिसप्तादिभागा एव विज्ञेया । तथाहि—यो ह्यसंज्ञि-पञ्चेन्द्रियतयोत्पित्सुरेकेंद्रियः स न सर्वसंकिलष्टः, स्वप्रायोग्यसर्वसंक्लेशवतामेकेन्द्रियाणामन-न्तरसमये मृत्वा एकेंद्रियतयैवोत्तरतः, अत एव तेषन्मध्यमसंकिलष्टो मध्यमसंक्रिष्टो वा, तथाविधा-

नामनन्तरसमये मृत्वा द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियादितयोत्पत्तः । अपन्त्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पत्सुरिति विशुद्ध-
प्रायः, ततश्चासौ स्वप्रायोग्यजघन्यस्थितिवन्धादभ्यर्णवर्तिनं पन्त्योपमाऽसंख्येयभागन्यूनसागरोपम-
त्रिसप्तभगादिमानं स्थितिवन्धं करोति, ततश्च्युत्वाऽनन्तरसमयेऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियत्वे तु सागरोपमस्य
पन्त्योपमसंख्येयभागन्यूनसहस्रत्रयादिसप्तभागप्रमाणं स्थितिवन्धं करोति, न पुनः सागरोपमस्य परिपूर्ण-
सहस्रत्रयादिसप्तभागमानम्, तदानीमपर्यासावस्थायामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियवन्धप्रायोग्योत्कृष्टस्थितिवन्ध-
स्याऽमम्भवात् । इत्थञ्च यथोक्तमाना स्थितिवन्धवृद्धिः प्राप्ता, सा पन्त्योपमसंख्येयभागप्रमाणोत्कृष्टा-
वस्थानापेक्षया संख्येयगुणैवेति । “ततो परमा हाणी विसंसह्रिया” ति यथोक्तज्ञानावरणा-
द्युत्कृष्टस्थितिवन्धवृद्धयपेक्षया ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितिवन्धानिर्विशेषाधिका भवति । कथम् ?
अस्याः पञ्चेन्द्रियाच्च्युत्वाकेन्द्रियतयोत्पद्यमानस्य परस्थाने भावात् ।

ननु परस्थाने भावादस्या उत्कृष्टहानेरुत्कृष्टवृद्धयपेक्षया विशेषाधिकत्वं चेद् व्यत्ययेनोत्कृष्टहान्य-
पेक्षया उत्कृष्टवृद्धिरत्र विशेषाधिका भवतु, तस्या अपि परस्थाने एव लाभाद्, यदोभयोरपि परस्थाने
भावाद्भवतुभयेऽप्युत्कृष्टावस्थानापेक्षया संख्येयगुणे परस्परं तुल्ये च । न चोभयोः परस्थाने लाभे-
ऽपि विद्यते विशेषो येनोत्कृष्टवृद्धयपेक्षयोत्कृष्टहानिर्विशेषाधिका भवतीति वक्तुं युज्यते, एकेन्द्रि-
यात्पञ्चेन्द्रियतया, पञ्चेन्द्रियादेकेन्द्रियतया, एवं पर्यासत्वादपर्यासतयोत्पादे वाणारस्या अयोध्या-
मयोध्याया वाणारस्यां गच्छतामागच्छतामित्राऽविशेषेण तुल्यान्तरस्यैव सम्भवात्, तदपेक्षयैवोत्कृष्टवृद्धि-
हान्योः सम्पद्यमानत्वाच्च । यदि स्याद् द्वीन्द्रियात्पञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमानानामुत्कृष्टवृद्धिः, पञ्चेन्द्रि-
यादेकेन्द्रियतयोत्पद्यमानानां चोत्कृष्टहानिः, यद्वाऽपर्याप्तकेन्द्रियादपर्यासाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पद्य-
मानानामुत्कृष्टवृद्धिः, पर्यासाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियादपर्याप्तकेन्द्रियतयोत्पद्यमानानां हानिश्च, तदा परस्थाने
लभ्यमानयोरप्युत्कृष्टवृद्धिहान्योः परस्परं विलक्षणत्वाद् यथोक्ताल्पबहुत्वम्; किन्तु नास्ति तथा विशेष
इत्यनोऽनयोः परस्परं तुल्यत्वमेव वक्तव्यम् ? इति चेद्, न, भवदुक्तविशेषाभावेऽप्येकेन्द्रिय-
तयोत्पत्सूनामसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां सर्वसंक्रिष्टप्रायःतया विशेषान्तरस्य सद्भावात् ।

किमुक्तं भवति ? एकेन्द्रियतयोत्पत्सवोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया ह्येकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतीनां
बन्धकाः, ते च यद्यपि तदानीं न सर्वसंक्रिष्टाः, तथापि सर्वसंकलेशात्किञ्चिन्न्यूनसंकलेशभाज एव,
यतः सर्वसंक्रिष्टा एते नरकप्रायोग्यप्रकृतीर्वधन्ति, ततः किञ्चिन्मात्रविशुद्धा एकेन्द्रियप्रायोग्याः
प्रकृतीर्वधन्ति, ततोऽपि विशुद्ध-विशुद्धतरा द्वीन्द्रियादिप्रायोग्या बध्नुन्ति, यावत्सर्वविशुद्धा देवप्रायोग्या
बध्नुन्ति । यत उक्तं शतकचूर्णौ—‘अचंचंतसंकिलिद्धो णिरयपाभोगं बंधइ त्ति, तगो विसुद्धो तिरिय-
पाभोगं, तगो विसुद्धो मणुप्रपाभोगं, तथो विसुद्धो देवपाउगंति ।’ इति ।

इत्थं चैकेन्द्रियतयोत्पत्सवोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः सर्वसंक्रिष्टप्रायाः सन्तः स्वप्रायोग्योत्कृष्ट-
स्थितिमवधन्तोऽपि पन्त्योपमस्य लघुतरसंख्येयभागेन न्यूनामुत्कृष्टस्थितिं बध्नुन्ति, सा तु

भवप्रथमसमयासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां बन्धप्रायोग्यस्थितिः पत्न्योपमसंख्येयमागेनाभ्यधिकैव; तां बद्ध्याऽनन्तरसमये एकैन्द्रियतयोत्पद्यैकैन्द्रियबन्धप्रायोग्यस्थितिं बध्नतां तेषां पूर्वोत्तरसमययोर्बद्ध-स्थित्योरन्तरमुत्कृष्टवृद्धयपेक्षया विशेषाधिकं भवति । इत्येवं प्रकृतान्पचहुत्वमपि यथोक्तमेव लभ्यते इत्यलं विस्तरेण ॥७२६॥

अथ शेषमार्गणासु प्रस्तुतोत्कृष्टपदगतवृद्ध्यादि विषयकान्पचहुत्वमाचष्टे—

सेसासु उक्कोसा वड्ढी थोवा तओ विसेसहिआ ।

परमा हाणी ततो णेयं तुल्लं अवट्टाणं ॥७२७॥

(प्र०) ‘सेसासु’ इति भणितशेषासु मार्गणासु प्रत्येकमुत्कृष्टा वृद्धिः रतोक्ताः, । ततः ‘परमा’-उत्कृष्टा हानिविशेषाधिका, ततस्तूत्कृष्टमवस्थानं तुल्यं ज्ञेयम् । एतासु प्रत्येकमनन्तरं मासादनमार्ग-णाणां अतन्तरेण स्वस्थाने उत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिद्वयमपेक्ष्याऽन्यवद्गुणव्युत्पत्तं तथैव विज्ञेयम्, प्रत्येकं स्वस्थाने उत्कृष्टस्थितिवन्धस्याभिहितत्वात् ; केवलं मिश्रयोगमार्गणात्रये स्वस्थान इव मतान्तरेण शरीरपर्याप्तिनिष्ठापनादर्वागपर्याप्तावस्थायाश्चरमसमयवतिनामप्युत्कृष्टस्थितिवन्धस्वामिद्वयमभिहितमेव, अतस्तत्र मतद्वयेन विलक्षणं विलक्षणमल्पवद्गुणं भवति, अतस्तास्तिष्ठो मार्गणा विद्याय शेषमार्गणा-स्वेवेदं विज्ञेयम् । शेषमार्गणास्तिष्ठमाः—सर्वगतमार्गणास्थानानि, तानि च मसचन्वारिंशत्, सर्वेन्द्रियमार्गणास्थानानि, तानि त्वेकोनविंशतिः, सर्वकायमार्गणास्थानानि, तानि पुनर्द्विचत्वारिंशत्, पञ्चमनोयोग-पञ्चचोयोगौ-दारिक-तन्मिश्र-वैक्रिय-तन्मिश्रा-ऽऽहारक-तन्मिश्रकाययोग-वेद-श्रयी-विभङ्गज्ञान-चक्षुर्दर्शन-प्रशस्तलेश्याग्रिक-क्षायिकसस्यकत्व-संज्ञिमार्गणास्थानानि चेति ॥७२७॥

तदेवमुक्तमुत्कृष्टवृद्ध्यादीनामल्पवद्गुणत्वम् । साम्प्रतं जघन्यवृद्ध्यादीनां तदभिधित्सुराह—

वड्ढी जहणणा खलु हाणी य जहणणा अवट्टाणं ।

हस्सं तुल्लाहं अह णेयं एमेव सव्वासु ॥७२८॥

णवरि अवेण सुहुमे मव्वत्थावं लहुं अवट्टाणं ।

तो लहुहाणी तुल्ला तो मखगुणा लहु वड्ढी ॥७२९॥

(प्र०) ‘वड्ढी जहणणा’ इत्यादि, खलुशब्दो वाक्यान्वयतये, स च व्युत्क्रमेण ‘हस्सं’ इत्यस्योत्तरं योज्यः, जघन्यैव जघन्यका स्वार्थे कप्रत्ययश्च, ततः प्रकृतानां ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकं जघन्या वृद्धिर्जघन्या हानिः ‘हस्सं’-जघन्यमवस्थानं च त्रीणि खलु तुल्यानि, एकैकस्य समय-प्रमाणत्वात् । अथादेशतो दिदर्शयिषुः सापवादमतिदिशति—‘अह णेयं एमेव सव्वासु’ इति, अथशब्द आनन्तर्ये, तत औघप्ररूपणानन्तरमादेशप्ररूपणायां ‘सव्वासु’ इति नरकगत्योघाघना-हारकपर्यन्तासु सर्वमार्गणासु ‘एमेव’ इति औघवदन्पचहुत्वं ‘ज्ञेयं’-ज्ञातव्यमित्यर्थः ।

**ओषाऽऽदेशत आयुर्वर्जसप्तप्रवृत्तीनामुत्कृष्टाद्यै स्थितिवन्धुजायिनैः
सन्धद-स्वामित्वा-ऽल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रम्**

कुत्र मार्गणादी ?	अल्पबहु०	सत्पद०	स्वामिनः
श्रोत्रतः वायव्ययोगीश्व-रुषा- यक्षनुक-सस्यज्ञान-धृता- ज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्वंध- ना-★ऽप्रवास्तलेष्यात्रय- भर्याऽभक्ष्य-मिथ्यात्वा- ऽऽहारकेषु च, १६	श्लोक० विशेषाधिक० " (गाथा- ७१७-७१८)	वृद्धि० प्रवस्थान० हानि०	चतुःस्वामिवायव्यमध्यादुपरित्तस्थितियन्धस्थानेऽन्तःकोटीकोटिसा- गर्गोत्तमस्थिति बहुध्याऽनुपदमुत्कृष्टाद्येनोत्कृष्टस्थिति बध्नन्तः । उत्कृष्टस्थितिबन्धात्साकारोपयोगक्षयस्य तत्प्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्ध कुर्वन्तः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः । देवत्वे उत्कृष्टस्थितिबन्धे प्रवर्तमाने सति च्युत्सर्वकेन्द्रियतयोत्पद्य भव- प्रथमसमये तत्प्रायोग्यजघन्यस्थिति बध्नन्तो जीवाः । (गाथा-६६६)
मति-धृता-ऽशक्ति-मनःपर्य- वज्ञान-संयमौष-सामायिक- क्लेश-परिहार-देशसंयमा-ऽन- विद्वान्-सस्यबुद्धि-ज्ञायोप- गमिनी-पञ्चमिक-मिश्र १- साम्बादनेषु, १५	श्लोकाः तुल्य० सख्यातगुण (गा-७२२- ७२३)	हानि० वृद्धि० प्रवस्थान०	तत्प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धान्साकारोपयोगक्षयस्य तत्प्रायोग्यजघन्य- स्थितिबन्धं कुर्वन्तो जीवाः । तत्प्रायोग्यद्विचरमस्थितिबन्धान्मार्गणाप्रान्ते चरममुत्कृष्ट स्थिति- बन्धं कुर्वन्तो मिथ्यात्वाद्यभिभूता जीवाः । मिथ्यात्वाद्यभिभूता उत्कृष्टवृद्धिस्वामिन एव तदनन्तरसमयेषु ताव- न्मात्रस्थितिबन्धं कुर्वन्तः । (गाथा-७०५-७०६-७०७)
अपरासपत्र-चन्द्रियतियग- पर्याप्तमनुष्या-ऽऽनतादि- सर्वार्थसिद्धान्त (१८) देव- भेद सर्वकेन्द्रियविकलेन्द्रिया- अर्थात्पचेन्द्रिय-पृथिव्या- विषयवायसर्वभेदा-ऽपरा- सपत्र-विभिन्नयोग-ज्ञान- योग-सायिक-शुक्लासु, ८३	श्लोक० विशेषाधिक० तुल्य० (गा-७२७)	वृद्धि० हानि० प्रवस्थान०	तत्प्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धान् संकलेशेन तत्प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धं कुर्वन्तो जीवाः । उत्कृष्टस्थितिबन्धान् साकारोपयोगक्षयस्य तत्प्रायोग्यजघन्यस्थिति बध्नन्तो जीवाः । उत्कृष्टहान्यनन्तरसमयेषु तावन्मात्रस्थितिबन्धं कुर्वन्तो जीवाः । (गाथा-६१०-६११)
कार्मणकाययोगा-ऽनन्दा- रकमार्गणयोः, २	श्लोक० प्रसंख्यगुण० विशेषाधिक० (गा-७१९)	वृद्धि० हानि०	उत्कृष्टहान्यनन्तरसमये तावन्मात्रस्थिति बध्नन्त एकैन्द्रियाः । तत्प्रायोग्यजघन्यान् स्थितिबन्धात्संज्ञं वावृद्ध्या तत्प्रायोग्योत्कृष्ट- स्थितिबन्धं कुर्वन्तः संज्ञिपञ्चेन्द्रियाः । तत्प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धात्साकारोपयोगक्षयस्य तत्प्रायोग्य- जघन्य स्थितिबन्धं कुर्वन्तः संज्ञिपञ्चेन्द्रियाः । (गा-७००-१-२)
अपगतवेद-सूक्ष्मसम्पराय- संयममार्गणयोः, २	श्लोक० संख्यगुण तुल्य० (गा-७२०)	वृद्धि० प्रवस्थान०	अपगतश्रेणिसारोहन्ता मार्गणाप्रथमस्थितिबन्धाद् द्वितीयस्थिति- बन्धं कुर्वन्तस्तत्प्रथमसमये । श्रेणितः प्रतिपत्तन्तो मार्गणाद्विचरमस्थितिबन्धाच्चरमस्थितिबन्धं कुर्वन्तस्तत्प्रथमसमये । अनन्तरोत्कृष्टवृद्धिस्वामिन एव वृद्धयनन्तरसमयेषु तावत्स्थिति बध्नन्तः । (गाथा-७०३-७०४)

★ अपरास्तलेष्यात्रये मतान्तरेणा-ऽल्पबहुत्व स्वामित्वं च निरयगत्योपमार्गणावधिति (७०८-७२५) ।
 △ सास्वादाने मतान्तरेण-उत्कृष्टवृद्धिः श्लोका, तत उत्कृष्टहान्यवस्थाने तुल्ये विशेषाधिके चेति (गाथा-७२६) ।
 ● अपवादः-अपगतवेदे तिल्यामधातिप्रवृत्तीनामुत्कृष्टवृद्धिरसंख्यगुणाः, ततस्तुल्यं तदीयावस्थानमिति (गा-७२१) ।

प्रसंजीमार्गंशायाम्, १	स्तोक०	अवस्थाम०	सत्प्रायोस्य जघन्यात्तत्प्रायोस्योत्कृष्टस्थितिवन्धं कुर्वन्तः पञ्चेन्द्रियाः ।
	संख्येयगुण०	वृद्धि०	एकेन्द्रियास्यैन्द्रियतयोन्पद्यमाना भवप्रथमसमये ।
	विशेषाधिक०	हानि०	पञ्चेन्द्रियादेकेन्द्रियतयोत्पद्यमाना भवप्रथमसमये । (गाथा-७०६)
निरपगतयोषादिशेषमार्गं- शासु, ५१	स्तोक०	वृद्धि०	प्रोधवत् ।
	विशेषाधि०	हानि०	उत्कृष्टात्तत्प्रायोस्यजघन्यस्थितिवन्धं कुर्वन्तः ।
	तुल्य०	अवस्था०	उत्कृष्टहानिस्वामित्तमेव स्थितिवन्धं कुर्वन्तः । (६९६-६७-६८)

**ओषाऽऽदेशत आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां जघन्यपदे स्थितिवन्धवृद्धथादीनां
सत्पद-स्वामित्वा-ऽल्पबहुत्वप्रदर्शकं यन्त्रम्**

कुत्र मार्गणादौ ?	अल्पबहु०	सत्पद०	स्वामिनः
अपगतवेद-सूक्ष्मसम्पराय- संयमयोः, २	स्तोक०	हानि०	द्विचरमस्थितिवन्धाच्चरमास्थांतिवन्धं कुर्वन्तः क्षपकाः ।
	तुल्य०	अवस्था०	जघन्यहान्यनन्तरगमयेषु तदेवस्थितिवन्धं कुर्वन्तः क्षपकाः ।
	संख्येयगुण० (गा-७२६)	वृद्धि०	उपशान्ताद्वाक्षयस्य पतन्तो मार्गणापयमस्थितिवन्धाद्द्वितीय- स्थितिवन्धं कुर्वन्तो जीवाः । (गाथा-७१५-७१६)
प्रोधतः शेषसर्वमार्गंशासु च, १६८	तुल्य० (गा-७२८)	वृद्धि० हानि० अवस्था०	यथासम्भवं क्षपको-पशमक-मिथ्यात्वाच्चभिमुखजीवान् विहाय अन्य- तमाः समयमात्रेण हीनाधिकस्थितिवन्धं कुर्वन्तो जीवाः । (गाथा-७१२....)

अत्रैवापवदन्नाह—'णवरि' इत्यादिना, नत्रम् "अवेए सुहुमे" ति अपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां च प्रत्येकं "सख्यन्धोवं लहु' अचद्वाणं" ति सर्वस्तोकं 'लघु'-जघन्यमवस्थानं । "तो लहुहाणो तुल्ला" ति ततो 'लघुहानिः'-जघन्यहानिस्तेन जघन्यावस्थानेन तुल्या । "तो संख्यगुणा लहु वद्धो" ति ततो 'लघुः'-जघन्या वृद्धिः संख्येयगुणा, यत इमा चारित्रमोहोपशमकस्य जायते, प्राक्तने जघन्यावस्थानहानी तु क्षपकस्येति ॥७२८-७२९॥

तदेवमभिहितं जघन्यपदेऽपि वृद्धथादीनामल्पबहुत्वमोषादेशतः, तथा च कृते निष्ठितमल्प-
बहुत्वद्वारम् । तस्मिँश्च निष्ठिते निष्ठामितः "पद्यणिक्खेवो" इत्यनेनोद्दिष्टतुर्थाधिकारः ॥

आप्तं हि भया कृत्वा पदनिक्षेपाधिकारवृत्तिमिमां ।

तत्सुकृतात्कर्मरिपोः पदनिक्षेप्यस्तु शिरषि जगत् ॥ (गीतिः)

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे चतुर्थं पदनिक्षेपाधिकारे तृतीयमल्पबहुत्वद्वारं समाप्तम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे चतुर्थः पदनिक्षेपाधिकारः ॥



॥ मूलचरित्रकारः ॥

साम्प्रतं “वद्धी” इत्यनेन स्थितिवन्धप्रन्थप्राग्भे उद्दिष्टस्य वृद्ध्याख्यस्य पञ्चमाधिकार-
स्यावगः । अत्राप्यधिकारे प्राग् द्वितीयगाथावृत्तौ भणितस्वरूपायाः पदनिक्षेपद्वाग्विषयाद्विलक्षणाया
भूयस्कारविशेषान्मिकायाः संख्येया-ऽसंख्येयगुण-संख्येया-ऽसंख्येयभागभेदभिन्नायाः मूलाष्टकर्मणां
स्थितिवन्धवृद्धेस्नथोपलक्षणात् तथाविधायाः स्थितिवन्धहानेः स्थितिवन्धावस्थानस्य च सत्पदादि-
द्वारेषु प्ररूपणा कर्तव्या, अतोऽधिकारप्राग्भे प्रथमस्तावत्प्राक् संख्यामात्रेणाभिहितानि द्वाराणि
नामतः क्रमतश्च ज्ञापयन्नाह—

णेयाणि वद्धिवन्धे अहिगारे पंचमे दुआराइं ।

तेरस संतपयं तह सामी कालंतराइं य ॥७३०॥

भंगविचयो य भागो परिमाणं खेत-फोसणाउ तहा ।

कालो अंतर-भावा अप्पावहुगं जहाकमसो ॥७३१॥

(प्र०) “णेयाणि वद्धिवन्धे” इत्यादि, मूलप्रकृतिस्थितिवन्धमधिकृत्य—‘मूलपद्यडिटिइ-
वन्धे अहिगारा पदमधीअभूगारा। पयणिवखेवो वद्धी अख्खयसाणसमुदाहारो’ ॥२॥ इत्यादिनोद्दिष्टपडधि-
कारान्तःप्रविष्टे पञ्चमे “वद्धिवन्धे” चि वृद्धिवन्धाधिकारे त्रयोदश द्वाराणि यथाक्रमशो ज्ञेयानीति
क्रियान्वयः । तान्येव येन क्रमेण ज्ञातव्यानि तेन क्रमेणैवाह—“संतपय”मित्यादि, प्रथमं सत्पद-
द्वारम्, ततो द्वितीयं स्वामित्वद्वारम्, ततः पुनश्चतुर्थं कालद्वारम्, तदनन्तरं तु चतुर्थमन्तरद्वारम्, इत्यमेव
पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम्, षष्ठं भागद्वारम्, सप्तमं परिमाणद्वारम्, अष्टमं क्षेत्रद्वारम्, नवमं स्पर्शनाद्वारम्,
दशमं कालद्वारम्, एकादशमन्तरद्वारम्, द्वादशं भावद्वारम्, त्रयोदशं पुनरल्पवहुत्वद्वारम् । अत्रापि
द्वितीयाधिकारवद् भूयस्काराधिकारवद्वा भङ्गविचयप्रभृतीनि द्वाराणि तु नानाजीवादाश्रित्य
विज्ञेयानि, व्याख्याऽप्येतेषां सत्पदद्वारवर्जानां स्वामित्वादिद्वाराणां प्रत्येकं द्वितीयाधिकारप्राग्भे-
ऽभिहितस्य “दुइए अहिगारे अहे” त्यादिगाथा-(३२-३३) द्वयस्य वृष्यनुसारेण द्रष्टव्या, केवलं तत्र
सा उत्कृष्टादिस्थितिवन्धमधिकृत्य दर्शिता, अत्र तु संख्येयाऽसंख्येयगुणवृद्धि-हान्यादिकमधि-
कृत्य वक्तव्या । सत्पदद्वारे तु संख्येयगुणादिवृद्धिहानिषु केषां मूलकर्मणामोघतो मार्गणास्थानेषु
च कियन्ति पदानि सद्भूतानीत्येतत्प्ररूपयितव्यमिति ॥७३०-७३१॥

॥ प्रथमं सत्पदद्वारम् ॥

तदेवमधिकारप्राग्भे द्वारनामधेयानि व्याहृत्य साम्प्रतं तेषु सत्पदादिद्वारेषु मूलाष्टप्रकृति-
विषयकस्थितिवन्धस्य संख्येयगुणाऽसंख्येयगुणवृद्ध्यादीनां सत्पद-स्वामित्वादिकं चिचिन्तयिषुरादौ

तावद् भूयस्कारादिप्ररूपणया तुल्यत्वादन्यवक्तव्यत्वाद्याऽऽयुषः सत्पदादित्रयोदशद्वारविषयां प्ररूपणा-
मेकयाऽऽर्याऽतिदेशादिना समापयन्नाह—

अत्थि अवत्तवत्तं बंधस्स असंख्यभागहाणी य ।

भूगारव्वाऽऽउस्स उ संतपयाईसु दारेसु ॥७३२॥

(प्रे०) “अत्थि अवत्तवत्तं”मित्यादि, ‘अस्ति’-विद्यते, सदित्यर्थः । किमित्याह—“अव-
त्तवत्तं” इत्यादि, ‘वत्तवत्तं’-स्थितिवन्धस्याऽऽवत्तवत्तं, अवक्तव्यस्थितिवन्धपदमिति भावः ।
“असंख्यभागहाणी य” इति स्थितिवन्धस्याऽसंख्यभागहानिश्च अस्य, च ‘आउस्स’ इति परेण
योगस्तत आयुःकर्मणोऽवक्तव्यलक्षणस्थितिवन्धोऽसंख्यभागस्थितिवन्धहानिश्च द्वे पदे सती, अन्य-
पदानि न्वमन्त्येवेत्यर्थः । इदमुक्तं भवति—आयुषोऽवक्तव्यवन्धस्तु भूयस्काराधिकारे उक्तस्त-
थैव, भूयस्कारा-ऽवस्थितस्थितिवन्धो तु तत्राप्यसन्तावेवाभिहितो, यत् पुनस्तत्राप्यतरस्थितिवन्ध उक्तः
सोऽत्र हानितया गृह्यते, आयुश्चावस्थानयोग्यतालक्षणस्थितिकमधिकृतम्, तच्च वध्यमानं जघन्यत
उत्कृष्टतो वाऽसंख्येयसमयस्थितिकमेव वध्यते । कुतः ? साधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणां साधिकपट्ट-
पश्चादधिकशतद्वयावलिकानां चाऽसंख्येयसमयमाप्रत्वात् । ततश्च तद्धन्धाद्धाया द्वितीयादिसमयेषु
समयसमयाऽवाधादानौ जायमानस्थितिवन्धहानिमपेक्षयाऽन्यतरवन्धरूपा हानयोऽप्येकैकसमयप्रमाणा
भवन्ति, ताश्च पूर्वसमयवद्धस्थित्यपेक्षयाऽसंख्यभागमात्रहीनस्थितिवन्धरूपा इत्येकविधा हानिरेव मत्तया
प्रतिपादितेति । इत्येवं भूयस्काराधिकारोक्त आयुषोऽन्यतरस्थितिवन्ध एव प्रकृतेऽसंख्यभागहानि-
तया प्राप्यते, तथा च सति तत्रोक्त आयुषोऽन्यतरवक्तव्यस्थितिवन्धविषया सर्वा प्ररूपणात्र नृद्ध-यधिकारे
ऽपि निर्विशेषेणोपपद्यत इति कृत्वा लाघवार्थी सर्वा तर्धेवाऽतिदिशन्नाह—“भूगारव्वाउस्स उ” इत्यादि,
तत्र तुशब्दः शेषसप्तकर्मणां प्रकृताधिकारविषयायाः सर्ववक्तव्यताया भूयस्काराधिकारोक्तवक्तव्यतया-
ऽतुल्यत्वेन तदपेक्षयाऽऽयुषः प्रकृताधिकारविषयायाः सर्ववक्तव्यताया भूयस्काराधिकारोक्तवक्तव्यतया
तुल्यत्वरूपविशेषस्य धोतनार्थः । ततो भूयस्काराधिकारं ण साम्याद् ‘आयुषः’-आयुःकर्मणः स्थितिवन्ध-
वृद्ध्यादिविषये “संतपयाईसु दारेसु” इति सत्पदाद्यन्यवद्वन्धान्तेषु त्रयोदशद्वारेषु “भूगारव्व”
इति भूयस्काराधिकारवद्, वक्तव्यमिति शेषः । अयमत्र विशेषो विज्ञेयः—तत्र भूयस्काराधिकारे
यन्स्थानेऽन्यतरस्थितिवन्धाभिलाषेनाऽऽयुषः सत्पदादिवक्तव्यता कृता, अत्र तु तत्स्थानं साऽसंख्यभाग-
हान्यभिलाषेन द्रष्टव्या । तद्यथा—सत्पदप्ररूपणायामोद्यतोऽवक्तव्यता-ऽसंख्यभागहान्योः मन्त्रं
तु मूलकृतैवाभिहितम् । आवेशतः—सर्वासु त्रिषष्ट्यधिकशतमार्गणास्वपि निर्विशेषेण तर्धेव बोध्यम् ।
स्वामित्वद्वारे—ओद्यत आदेशतश्च सर्वासु मार्गणास्वायुषोऽवक्तव्यस्याऽसंख्यभागस्थितिवन्धहाने-
श्चऽन्यतमो जीवः स्वामी । एकजीवाश्रयकालद्वारे—ओद्यत आयुषोऽवक्तव्यस्थितिवन्धस्य जघन्य
उत्कृष्टश्च काउ एक समय एव । असंख्यभागहानेर्जघन्यकाल उत्कृष्टकालश्च प्रत्येकमन्तमुर्हर्तम् ।

आदेशतः—सर्वमार्गणास्त्रवक्तव्यस्थितिवन्धस्य जघन्य उत्कृष्टश्च कालः प्रत्येकमोघवदेकसमय एव । असंख्यभागस्थितिवन्धहानेर्वन्धकालस्तु समन्वयार्शुद्वितीमार्गणामेदेषु, एकोनविंशतिजातिमार्गणामेदेषु, त्रिचत्वारिंशत्पृथिव्यादिकायमार्गणामेदेषु, औदारिकमिश्रकाययोग-स्त्र्यादिष्वेदत्रय-मतिज्ञानादिचतुर्ज्ञान-सत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमांघ-सामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-देशसंयमा-ऽसंयम-चक्षुरादित्रिदर्शनमार्गणामेद-पल्लेश्यामेद-भव्या-ऽभव्य-सम्यक्तांघ-क्षाधिक-क्षायोपशमिकप्रत्यक्त्व-मासादन-मिथ्यात्व-संज्ञ-ऽसंज्ञा-ऽऽहारिमार्गणामेदेष्वित्येतेषु चतुश्चत्वारिंशदस्यधिकशतमार्गणामेदेषु प्रत्येकमोघवज्जघन्यत उत्कृष्टतश्चोभयथाऽप्यन्तर्मुहूर्तम्, पञ्चमनोयोग-पञ्चत्रयोयोग-काययोगसामान्यो-दारिक-वैक्रिया-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोग-क्रोधादिकाय-चतुष्करूपेष्वेकोनविंशतिमार्गणामेदेषु तु जघन्यत एकसमयः, उत्कृष्टतस्त्वन्तर्मुहूर्तमिति । इत्थमेव शेषाऽन्तराद्यनुयोगद्वारेष्वपि दर्शिताभिज्ञापवद् भूयस्काराधिकारवक्तव्यतानुसारेण स्वयमेवाभिधातव्यमिति ।

तदेवं समाप्ताऽऽद्युपः सत्पदादित्रयोदशानुयोगद्वारविषया वक्तव्यता । साम्प्रतमुक्तन्यायेन-वाऽऽयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनामवक्तव्याऽवस्थितस्थितिवन्धविषयकवक्तव्यतामप्यतिदिशन्नाह—

भूओगारव्व भवेऽवत्तव्वत्तं तहा अवट्टाणं ।

बंधस्स उ सत्तण्हं संतपयाईसु दारेसुं ॥७३३॥

(प्रे०) “भूओगारव्व भवेऽवत्तव्वत्त”मित्यादि, ‘भूओगारव्व भवे’ ति भूयस्काराधिकारोक्तप्ररूपणावद् भवेत् । किं तद् यदप्यायुपोऽन्यतगऽवक्तव्यत्ववद्भूयस्कारादिप्ररूपणया तुल्यं भवेदित्याह—“वत्तव्वत्त”मित्यादि, तत्राद्यां लुप्ताकारदर्शनादवक्तव्यत्वं तथाऽवस्थानमित्येतत्पदद्वयविषयकप्ररूपणा, मा च “बंधस्स उ सत्तण्हं” ति आयुर्विषयकवक्तव्यताया अनन्तरमेव समापितत्वादायुर्वर्जानां ज्ञानावरणादीनां मूलप्रकृतीनां ‘वन्धस्य’-स्थितिवन्धस्य ज्ञेयेत्यर्थः । तुकारस्तु प्राग्वत्, समानामवस्थाना-ऽवक्तव्यप्ररूपणया भूयस्काराधिकारोक्तावस्थिता-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धप्ररूपणया तुल्यत्वेन शेषवृद्धिद्वानिप्ररूपणापेक्षया विशिष्टत्वादिति । नन्वेते आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां स्थितिवन्धा-ऽवक्तव्यत्वाऽवस्थानयोः प्ररूपणा किं सर्वद्वारेषुत सत्पदद्वार एव भूयस्काराधिकारवज्ज्ञेयेत्याह—“संतपयाईसु दारेसुं” ति प्राग्वत्सत्पदादिषु द्वारेषु । अत्र ‘व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति’-रिति न्यायेन भावद्वारान्तेषु द्वादशद्वारेष्विति विज्ञेयम्, न पुनः प्राग्वत् त्रयोदशेऽल्पबहुत्वद्वारेऽपि, त्रयोदशेऽल्पबहुत्वद्वारे भूयस्काराधिकारापेक्षया विशेषवक्तव्यत्वस्य सद्भावेनात्रैवाधिकारेऽभिधास्यमानत्वादिति । इदमत्र हृदयम्—यो हि भूयस्काराधिकारे सप्तप्रकृतीनामवक्तव्यस्थितिवन्धः स एव प्रकृतेऽपि, न च तद्विषये संख्येयाऽसंख्येयगुणत्वादिकं किञ्चिद्विशेषेण चिन्तनीयम्; एवं तत्र भूयस्काराधिकारोक्तसप्तानामवस्थितस्थितिवन्धः स एवाप्रानुवर्तते, तद्विषयेऽपि विशेष-

वक्तव्यत्वाभावादित्येते उभेऽपि पदे यथा तत्र भूयस्काराधिकारे सत्पदप्ररूपणादिद्वारेष्वोघादेशमेदतः प्रतिपादिते तथैवात्रापि बोद्धव्ये । तत्रथा-भूयस्काराधिकारे प्रथमे सत्पदद्वारे ओघतः सप्तानामवस्थिता-ऽवक्तव्यस्थितिवन्धौ सन्तावभिहितौ तथैवात्राऽपि तौ सन्ताववगन्तव्यौ । आदेशतस्तु यथा तत्रावस्थितस्थितिवन्धः सर्वासु सप्तन्युत्तरगतमार्गणास्वपि सन् प्रतिपादितरतथैवात्रापि सप्तानामवस्थितस्थितिवन्धः स्थितिरवक्तव्यस्थानं वा सर्वमार्गणास्वपि द्रष्टव्यम् । आदेशतो-ऽवक्तव्यवन्धः पुनर्यथा तत्र मनुष्यगत्योघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-यञ्चेन्द्रियोघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-प्रस-कार्योघ-पर्याप्तप्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यो-दारिककाययोगा-ऽपगतवेद-मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञान-संयमोघ-चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-शुक्ल-लेइया-भव्य-सम्यक्त्वोघ-क्षायिकसम्यक्त्वो-पशमिकसम्यक्त्व-संख्या-ऽऽहारिमार्गणास्वायुर्वर्जमप्तानाम्, लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणश्च सन् प्रतिपादितस्तथाऽत्रापि तास्वेव मनुष्यगन्धोघादिषट्त्रिंशन्मार्गणासु सन्नित्यभिधातव्यः; न पुनः शेषमार्गणास्वपि, शेषमार्गणासु सत्तयाऽनभिहितत्वादिति ।

स्वामित्वद्वारे-ओघतः सप्तानामवस्थितस्थितिवन्धकस्तत्रोक्तस्वामित्वप्ररूपणान्दत्राप्यन्यतमगतिको जीवोऽभिधातव्यः । सप्तानामवक्तव्यवन्धकोऽपि तद्देव प्रतिपत्तनुपशमकः, उपशान्त-मोहगुणस्थानकादाववन्धकावस्थायां कालं कृत्वा देवतयोत्पन्नो देवभवप्रथममयवर्ती जीवो वाऽव-गन्तव्यः । अनया दिशा यावद् द्विचरमं भावद्वारं तावत्सर्वं भूयस्कारग्रन्थानुसारेण स्वयमेव द्रष्टव्यम्, चरमेऽल्पचक्षुस्वद्वारे तु ग्रन्थकृत्स्वयमेव वक्ष्यतीति ।

इत्थं हि लाघवार्थं सप्तप्रकृतीनां स्थितिवन्धस्यावस्थानाऽ-वक्तव्येऽप्यतिदिष्टेऽर्वाशिष्टा केवला-ऽऽयुर्वर्जानां ज्ञानावरणादीनां सप्तानां संख्येयगुणादिस्थितिवन्धवृद्धिद्वानिविषया सत्पदादिप्ररूपणा, अतस्तामेव क्रमेणाविर्चिकीर्षया प्रथमं सत्पदद्वार ओघा-ऽऽदेशक्रमेणाह—

वड्ढीओ हाणीओ बन्धस्स चउविहाऽत्थि सत्तण्हं ।

एमेव जाणियव्वं णरतिग-दुपणिंदियतसेसुं ॥७३४॥

पञ्चसु मणवयणेषुं काय-उरालेसु इत्थि-पुरिसेसुं ।

णपुम-चउकसायंसुं णाणचउग-संयमेषु य ॥७३५॥

ममइअ-छे-ओहीसुं चक्खु-अखक्खूसु सुइल-भवियेसुं ।

मम्मत्तम्मि उवसमे खइए सण्णिम्मि आहारे ॥७३६॥

(प्रे०) “वड्ढीओ हाणीओ” इत्यादि, “सत्तण्हं” ति ओघत आयुर्वर्जानां मौलानां सप्तप्रकृतीनां “बन्धस्स” ति स्थितिवन्धस्य “चउन्विहा” ति उत्कृष्टस्यापि स्थितिवन्धस्या-ऽसंख्येयसमयप्रमाणत्वेनाऽनन्तभागाऽनन्तगुणवृद्धथादिरूपप्रकारद्वयस्याऽसम्भवाच्छेषाः ‘चतुर्विधाः’-

संख्येयभागा-ऽसंख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुण-मेदनिष्पन्नाश्चतुःप्रकाराः “वडिडओ
 ह्राणीओ” ति ‘वृद्धयः’-पूर्वममयाऽपेक्षयाऽधिकस्थितिवन्धलक्षणाः, ‘हानयः’- पूर्वममयापेक्षया हीन-
 स्थितिवन्धलक्षणाः “न्धि” ति अकारस्य दर्शनात् ‘सन्ति’-विद्यन्ते । चतुर्विधा वृद्धयश्चतुर्विधा हानयश्च
 सत्य एव, न पुनरेकेन्द्रियादिकतिपयमार्गणामु यथा संख्येयभागादिवृद्धिहानयो वियदिन्दीवरवदमत्यो
 वक्ष्यन्ते तथाऽर्वाघचिन्तायामपीति भावः । तत्रासंख्येयभागास्थितिवन्धवृद्धिहानी प्रत्येकं पदनिक्षेपा-
 धिकारो क्तैकैकममयात्मकजघन्यवृद्धिहान्यनुसारेणाऽन्यथा वा समयद्विसमयादिवृद्धिहानिप्रभृतिपन्यो-
 पमासंख्येयभागान्तवृद्धिहान्यनुसारेण प्रसिद्धं । संख्येयभागास्थितिवन्धवृद्धिस्तु पन्योपमसंख्येय-
 भागादिनाऽधिकं स्थितिवन्धं कुर्वतामेकेन्द्रियवर्जजीवानां स्वस्थाने लभ्यते, अत्रैकेन्द्रियाणां वर्जनं तेषां
 स्ववन्धप्रायोत्पद्यन्यस्थितिवन्धात् स्ववन्धप्रायोग्योन्कृष्टस्थितिवन्धोऽपि पन्योपमासंख्येयभागेना-
 धिकः सन्नसंख्येयभागाधिकैव वृद्धिः सम्भवति, न पुनस्तदधिकेति । संख्येयभागहानिः पुनश्चतुरिन्द्रि-
 यादितश्च्युत्वा त्रीन्द्रियादितयोत्पद्यमानानां जीवानां परस्थाने, स्वस्थाने च पन्योपमसंख्येयभागादिना
 हीनस्थितिवन्धं कुर्वतामेकेन्द्रियवर्जजीवानां प्रसिद्धयति । संख्येयगुणवृद्धिहानिविषयेऽपि तथैव, नवरं
 चतुरिन्द्रियादिभ्योऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियादितयोत्पद्यमानानां परस्थाने वृद्धिः, संज्ञिपञ्चेन्द्रियादिभ्यो यथो-
 त्तरमसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाद्येकेन्द्रियपर्यन्तपुत्पद्यमानानां परस्थाने हानिः, स्वस्थाने तु संज्ञिपञ्चेन्द्रिया-
 णामेव ते उभेऽपि प्रसिद्धयतः । सप्तानामसंख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धिहानी तु श्रेणिसत्कस्थितिवन्धा-
 नपेक्ष्य प्रसिद्धयतः । तत्राप्यसंख्येयगुणवृद्धिः प्रपतत उपशमकस्यानिवृत्तिकरणगुणस्थानकमावि-
 स्थितिवन्धानपेक्ष्य, न पुनः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानभाविस्थितिवन्धानपेक्ष्यापि, तत्र तस्य नव्यनव्य-
 स्थितिवन्धानां पूर्वपूर्वस्थितिवन्धापेक्षया संख्येयभागाधिकानामेव भावात् । एवमसंख्येयगुणहानि-
 विषयेऽपि बोद्धव्यं, नवरं श्रेणिमारोहत उपशमकस्य क्षपकस्य चाऽनिवृत्तिकरणगुणस्थानभावि-
 स्थितिवन्धानपेक्ष्यैव, न पुनः पूर्ववत् सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानभाविस्थितिवन्धानपेक्ष्य । इवमुक्तं
 भवति — उपशमश्रेणिमारोहतो यस्य कस्यापि महान्मनो यथोत्तरस्थितिवन्धेषु हीन-हीनतरादि-
 स्थितिवन्धेषु, तत्राप्यनिवृत्तिकरणगुणस्थानके वर्तमानस्य तस्य येषां कर्मणां यस्मिन् स्थितिवन्धे
 पन्योपमासंख्येयभागमात्रा स्थितिर्बध्यते, तेषां कर्मणां ततः प्रभृति यथोत्तरमसंख्येयगुणहीन-
 क्रमेण स्थितिवन्धाः प्रवर्तन्तेः एवमपि तावद्भवति यावन्नपुंसकवेद-स्त्रीवेदोपशमनादनन्तरं सप्त-
 नोकपायोपशमनाद्वाया सव्ये नामगोत्रयोस्ततो वेदनीयस्यापि प्रथमः संख्येयवार्तिकः स्थितिवन्धो
 जायते । तदानीं च सर्वेषामेव संख्येयवार्तिक एव स्थितिवन्धः; ततः प्रभृति ये तेषामुत्तरोत्तरस्थिति-
 बन्धा भवन्ति, ते न प्राग्बदसंख्येयगुणहीनक्रमेण किन्तु संख्येयगुणहीनक्रमेणैव । उक्तं च
 कर्मप्रकृत्युपशमनाकरणवृत्तौ—

‘स्त्रीवेदे उपशान्ते ततः शेषान् सप्तनोकपायान् उपशमयितुमारभते । तेषां चैवं पूर्वोक्तेन प्रकारेणो-
 पशम्यमानानामुपशमनाद्वायाः संख्येयतमे भागे गते सति “द्वयोः” नामगोत्रयोः संख्येयवार्तिकः स्थितिवन्धो

भवति । वेदनीयस्य पुनरसंख्येयवार्षिक एव । तस्मिंश्च स्थितिवन्धे पूर्णं सति अन्यो द्वितीयस्थितिवन्धो वेदनीयस्यापि संख्येयवार्षिको भवति । तथा च सति सर्वेषामपि कर्मणां ततः प्रभृति संख्येयवार्षिक एव स्थितिवन्धः पूर्वस्मान्च परस्मान्चान्योऽन्यः स्थितिवन्धः प्रवर्तमानः संख्येयगुणहीनः प्रवर्तते । ततः स्थितिवन्धसहस्रेषु गतेषु सेत्सु सत्रापि नोकपाया उपशान्ता भवन्ति ॥४६॥ इति ।

एवमुपशमकस्येतोऽपि यथोत्तरं संख्येयगुणहीनक्रमेण प्रवर्तमानाः स्थितिवन्धा मोहनीयस्य तु वेदोदयं यावत्प्रवर्तन्ते, न पुनस्तदूर्ध्वमवेद्यवस्थायामपि, शेषाणां पण्णां तु तदूर्ध्वं क्रमेणाश्चकर्णाद्द्वामतिक्रम्य किङ्कीकरणाद्वाप्रवेशेऽपि निरवच्छिन्नतया तेन संख्येयगुणहीनक्रमेणैव प्रवर्तन्ते, किङ्कीकरणाद्वाया ऊर्ध्वं सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानाख्यकिङ्कीवेदनाद्वाप्रवेशे तु नैकस्यापि कर्मणः प्राग्बन्धसंख्येयगुणहीनक्रमेण स्थितिवन्धाः प्रवर्तन्ते, किन्तु सर्वेषामपि संख्येयभागहीनक्रमेणैव प्रवर्तन्ते, । इत्थं ह्यनिवृत्तिकरणगुणस्थानक एव समानामसंख्येयगुणहानिः प्राप्यते, न पुनः सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने । एवमेवासंख्येयगुणवृद्धिविषयेऽपि भावनीयम्, सामान्यतः प्रतिपत्त उपशमकस्याऽपि सूक्ष्मसम्परायाऽनिवृत्तिवादरसम्परायादिगुणस्थानेषु कक्रमेणैवाऽनु शेषं स्थितिवन्धादीनां भावादित्यलं विस्तरेण । विस्तरार्थिना तु कर्त्तव्यं स्थितिवन्धाप्रभृत्यूर्ध्वादिग्रन्था अवलोकनीया इति । अथर्वेण समानामसंख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धिस्त्वन्यथा उपशमश्रेणी कालं कृत्वा देवतयोत्पद्यमानस्य जीवस्य देवभवप्रथमसमयस्थितिवन्धमपेक्षयापि प्रसिद्धयति । तत्रथा--यः कश्चिदुपशमश्रेणिगतोऽन्तमुर्हन्तप्रभृतिपन्थोपमासंख्येयभागप्रमाणान्तस्थितिवन्धविकल्पेषु कमपि स्थितिवन्धविशेषं निर्वर्तयन् जीवो भवक्षयादेवगतावुत्पद्यते तदा तस्य तत्रान्तःकोटिकोटिमागरोपमप्रमाणस्थितिवन्धः प्रवर्तते, स च पूर्वसमयजातस्थितिवन्धापेक्षयाऽसंख्यगुणाधिकः, इत्येवं देवभवप्रथमसमयजातस्थितिवन्धमपेक्षयाऽप्योद्यतः समानामसंख्येयगुणवृद्धिः सर्वं विभर्ति । न चैवं प्रतिपत्तदुपशमकस्य भवक्षयेणसंख्येयगुणहानेः सत्त्वाविष्करणाय यतनीयम् । प्रतिपत्त आरोहतश्च प्रत्येकमपि भवक्षयेऽधिकस्थितिवन्धस्यैव प्रवर्तनेन हानेरेवासम्भवात्कुतोऽसंख्येयगुणहानिसम्भवः, न कुतश्चिदपीति ।

तदेवमभिहितं समानां सम्भवद्दृष्ट्यादेरस्तित्वमोद्यतः । साम्प्रतमादेशतो तदभिधानव्यम्, तत्र यामु मार्गणास्त्रोद्यवच्चत्वार्यपि संख्येयगुणवृद्ध्यादिपदानि यद्भूतानि तामु तथैव दिदर्शयिपुरतिदिशति--“एमेव जाणियन्ध” इत्यादि, तत्र “एमेव” ति ‘एवमेव’-यथाद्यतः सप्तकर्मस्थितिवन्धविषयकचतुर्विधवृद्धि-चतुर्विधहानीनां सत्त्वमभिहितं तथैवानुपदं वक्ष्यमाणमनुष्यगन्योधादित्रिचत्वारिंशमार्गणास्त्रापि ज्ञातव्यमित्यर्थः । मनुष्यगन्योधादिमार्गेशा एव नामत आह--“णरतिरो” न्यादिना, अपर्याप्तभेदवर्जानां मनुष्यगतिमार्गणाभेदानां त्रिके-मनुष्यत्रिके, मनुष्योद्य-पर्याप्तमनुष्यमानुषीमार्गणास्त्रित्यर्थः । “दुपणिदि” ति द्विशब्दस्य प्रत्येकं योजनादपर्याप्तभेदवर्जयोद्योः पञ्चेन्द्रियोद्य-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदयोः, द्वयोस्त्रसौद्य-पर्याप्तप्रसकायभेदयोरित्यर्थः । अन्यमार्गणाः संचिन्वन्गाथाद्वयमाह--“पञ्चसु मणधयणोसु” इत्यादि, पञ्चसु मनोयोगभेदेषु, पञ्चसु वचनयोगभेदेषु,

काययोगमामान्यौ-दारिककाययोगयोः, स्त्रीवेद-पुरुषवेद-नपुंसकवेद-क्रोधादिचतुःकपायेषु, मत्यादि-
ज्ञानचतुष्क-संयमौषधेदयोः । चः समुच्चये, स चोत्तरगाथाप्रान्ते योज्यः, ततः सामायिक-छेदोपस्था-
पनसंयमा-ऽवधिदर्शनेषु, चक्षुर्दर्शना-ऽचक्षुर्दर्शनयोः, शुक्ललेप्या-ऽभव्यमार्गणयोः, सम्यक्त्वौघे,
शीघ्रमिकमस्यक्त्वे, क्षायिकमस्यक्त्वे, संक्षिप्तमार्गणाथामाहारिमार्गणायां चेत्येतासु प्रत्येकं श्रेणिगत-
जीवानां ममावेशादसंख्यगुणवृद्धिहान्योः, संक्षिप्तचेन्द्रियत्वे सुलभानां शेषाणामसंख्यभाग-संख्य-
भाग-संख्यगुणवृद्धिहानीनां च यथोक्तनीत्याऽस्तिन्वभावेदनीयमिति ॥ ७३४-७३५-७३६ ॥

अथ यासु मार्गणास्वेका वृद्धिरेका च हानिस्तासु तथैव दर्शयन्नाह—

सत्तण्हं कम्माणं अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीओ ।

बंधम्म उ मब्बेसु एगिंदिय-पंचकायेसु ॥७३७॥

(प्रे०) “सत्तण्हं कम्माणं” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलकर्मणां “बंधस्स उ” ति
प्रस्तुतत्वात् स्थितिवन्धस्य, तुशब्दोऽत्रावधारणार्थो व्युत्क्रमेण गाथापूर्वार्धस्य प्रान्ते योज्यः । “अत्थि-
असंखंसवड्ढिहाणीओ” ति ‘अंशो भागश्च वण्टः स्यादि’ इयमिधानचिन्तामणिवचनादंश-
भागादिशब्दानामेकार्थकतया एकाऽसंख्यभागवृद्धिरेका चासंख्यभागहानिस्ते द्वयं व सत्यौ, न
पुनरन्या वृद्धि-हानय इत्यर्थः । कासु मार्गणास्वित्याह—“सब्बेसु एगिंदियपंचकायेसु” ति
एकेन्द्रियसत्कर्मवेदेषु पृथिव्यादिवनस्पिकायान्तपञ्चकायमार्गणामत्कर्मवेदेष्वित्येवं षट्चत्वारि-
ंशन्मार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । सुगमं चैतत्, स्थावरभेदेषु सप्तानामुत्कृष्टस्थितिवन्धाज्जघन्य-
स्थितिवन्धस्य पन्थोपमसंख्येयभागमात्राधिकत्वेनोक्तान्यवृद्ध्यादेरसम्भव एवेति ॥ ७३७ ॥

अथ विकलेन्द्रियभेदेषु द्वे वृद्धी द्वे च हानीति दर्शयन्नाह—

सब्बविगलेसु अत्थि उ असंख-संखंसवड्ढिहाणीओ ।

(प्रे०) “सब्बविगलेसु” इत्यादि, द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-लक्षणविकलेन्द्रिय-
मत्केष्वौष-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदनिष्पन्नेषु सर्वभेदेषु “अत्थि उ असंखसंखंसवड्ढिहाणीओ”
ति एवकारार्थकस्य तु शब्दस्य प्राग्प्रान्ते योजनान्प्रस्तुतज्ञानावरणादिसप्तकर्मसत्कस्थितिवन्ध-
स्याऽसंख्यांश-संख्यांशलक्षणे द्वे वृद्धी द्वे च हानीति चत्वारि पदान्येव “अत्थि” ति सन्ति-विद्यन्ते,
न पुनरन्यानीत्यर्थः । कुतः ? एतेषु नवभेदेषु प्रत्येकं जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धयोरुत्कृष्टान्तरालस्य
पन्थोपमसंख्येयभागप्रमाणत्वेनोक्ताधिकवृद्धिहानीनामसम्भव एव । भावना श्लेषवदेव कर्तव्येति ॥

अथान्यत्रिलक्षणत्वात् सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां पृथगाह—

संखंसवड्ढिहाणी सुहुमे छण्ह अत्थि बंधस्स ॥७३८॥

(प्रे०) “संखंसवद्विहाणी” इत्यादि, “सुहुमे” ति सूक्ष्मसम्परायमं वममार्गणायां “अणह” ति मोहनीययुर्वर्जानां शेषाणां ज्ञानावरणादीनां पण्णां मूलकर्मणां प्रत्येकं “बंधस्स” ति प्रकमात्स्थितिवन्धस्य “संखंसवद्विहाणी” ति संख्येयांशवृद्धिः संख्येयांशहानिश्च द्व एव “स्थि” ति पूर्वमकास्य दर्शनात् ‘अस्थि’ ति स्त इत्यर्थः, सङ्गत इति यावत् । अत्र पण्णां संख्येयभागमात्रवृद्धिहान्योरेवास्तिन्वं न पुनस्तदन्यामामसंख्यभागवृद्धिहानीनामित्येतत्सर्वेभ्यो-धिकासंख्येयगुणवृद्धि-हानिविवरणानुसारेण भावनीयमिति ॥ ७३८ ॥

अथाऽपगतवेदमार्गणायां प्रस्तुतमाह—

गयवेए संखेज्जंस-गुण-असंखगुणवद्विहाणीओ ।

एगा दो तिणिण कमा मोह-तिघाह-इयराण कमा ॥७३९॥

(प्रे०) “गयवेए संखेज्ज”मित्यादि, “गयवेए” ति अपगतवेदमार्गणायां “संखेज्जंस-गुण-असंखगुणवद्विहाणीओ” ति द्वन्द्वात् श्रयमाणं पद प्रत्येकं सम्बध्यते इति न्यायेन वृद्धिहानिपदस्य संख्येयांशादिना प्रत्येकं योजनात् संख्येयभागवृद्धिहानी, तथा प्रथमोक्तसंख्येय-शब्दस्यांशशब्देनैव गुणशब्देनाऽपि योजनात् संख्येयगुणवृद्धिहानी, असंख्यगुणवृद्धिहानी चेत्यर्थः । ततः किमित्याह—“एगा दो तिणिण कमा” ति क्रमाद् ‘एका’-संख्येयभागवृद्धिहान्यान्मिका, क्रमाद् ‘द्वे’-संख्येयभागवृद्धिहानि-संख्येयगुणवृद्धिहान्यान्मिके, क्रमात् ‘तिणिः’-संख्येयभाग-संख्येय-गुण-ऽसंख्यगुणात्मकत्रिविधवृद्धिहानयश्चेत्यर्थः । ताश्च ‘मोहतिघाहइयराण कमा’ ति क्रमात् ‘मोह’ ति मोहनीयकर्मणः, “तिघाह” ति मोहनीयस्यानन्तरमुक्तत्वात् वर्जानां शेषाणां ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायलक्षणानां त्रयाणां धातिकर्मणाम्, “इयराण” ति उक्ततरैषां गतवेदमार्गणायां बध्यप्रायोग्यानां वेदनीय-नाम-गोत्रकर्मणां च क्रमाद्विज्ञेयाः ।

इदमुक्तं भवति—पुर्वेदान्यवेदवतो वेदोदयविच्छेदादूर्ध्वं सप्तनोकपायोपशमनाऽद्वायां यथोत्तरं संख्येयभागहीनक्रमेण प्रवर्तमानान् मोहनीयस्थितिबन्धानपेक्ष्य मोहनीयस्यैका संख्येय-भागहानिः । तस्यामेव सप्तनोकपायोपशमनाद्वायां यथोत्तरं संख्येयगुणहीनक्रमेण प्रवर्तमानान् ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायकर्मणां स्थितिवन्धानपेक्ष्य तेषामेता संख्येयगुणहानिः, अन्यास्तु सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानभाविन्यसंख्येयभागहानिश्च । एवमेव शेषवेदनीय-नाम-गोत्रकर्मणामपि द्वे हानी, नवरं तेषां सप्तनोकपायोपशमनाद्वायाः प्रारम्भे कतिपयस्थितिवन्धा यथोत्तरमसंख्येयगुणहीनक्रमेण प्रवर्तन्ते, अतस्तृतीयाऽसंख्येयगुणहानिरपि लभ्यते । एता द्विश्रेणिमारोहतो भवन्ति, प्रपततस्तु ततो वैपरीत्येन मोहनीयस्थितिवन्धस्यैका संख्येयभागवृद्धिः, ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायाणां प्रत्येकं स्थितिवन्धस्य संख्येयभागवृद्धिः संख्येयगुणवृद्धिश्चेति द्वे वृद्धी, शेषाणां वेदनीय-नाम-गोत्रकर्मणां प्रत्येकं तृतीयाऽसंख्यगुणवृद्धिरपीति तिस्रो वृद्धयो भवन्ति । ननु पुर्वेदेन श्रेणिमारोहन्तं जीव

मदायैतारित्तस्रो हानयो वृद्धयश्च नोपपाद्यन्ते, किन्तु तदन्यवेदिनमधिकृत्योपपाद्यन्ते ? उच्यते, पुंवेदेन श्रेणिं समारोहतः सप्तनोकपायोपशमनाद्वापामपि सवेदितयैवावस्थानेन सप्तनोकपायोपशमनाद्वाभाविनी वेदनीय-नाम-गोत्र-कर्मणां स्थितिवन्धविषयाऽसंख्यगुणहानिः, तथा तस्यैव प्रतिपत्तो वाऽसंख्यगुणवृद्धिश्च साऽपि प्रकृतमार्गणावहिर्भाविनीति कृत्वा लाघवार्थं पुंवेदान्यवेदिनमदाय न उपपाद्यते, तस्य पुरुषेतरवेदिनो वेदनीयादीनामसंख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धि-हानिकालेऽपि प्रस्तुतमार्गणायामवस्थानात् । विस्तरार्थिना तु कर्मप्रकृत्युपशमनाकरणग्रन्थोऽनुसर्तव्य इति ॥७३९॥

अथोक्तशेषमार्गणासु प्रस्तुतमाह—

सत्तण्हं कम्माणं असंख-संखंसवड्ढिहाणीओ ।

संखगुणवड्ढिहाणी अत्थि उ बंधस्स सेसासु ॥७४०॥

(प्र०) “सत्तण्हं कम्माणं”मिन्यादि, आयुःकर्माधिकृत्य सर्वविधप्ररूपणायाः प्रागतिदिष्टत्वात्तद्वर्जानां सप्तानां मूलकर्मणां “बंधस्स”ति स्थितिवन्धस्य “असंख-संखंसवड्ढिहाणीओ संखगुणवड्ढिहाणी अत्थि उ” ति अंशवृद्धिहानीति शब्दस्य प्रत्येकं योजनादसंख्यांशवृद्धिहानी संख्येयांशवृद्धिहानी तथा संख्येयगुणवृद्धिहानीति पदपदान्येव सन्ति, अन्ये द्वे पदे त्वप्रतीत्यर्थः । कासु मार्गणास्वित्याह—“सेसासु” ति उक्तशेषासु नरकगन्योधादिसप्ततिमार्गणासु । ताश्च मार्गणा इमाः—अष्ट नरकगतिभेदाः, पञ्च तिर्यग्गतिभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, त्रिंशद्देवगतिभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियभेदः, अपर्याप्तप्रसकायभेदः, आदारिकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्र-कार्मेणकाययोग-मत्तज्ञान-श्रुताज्ञान-विभङ्गज्ञान-परिहारविशुद्धिकसंयम-देशसंयमा-ऽसंयम-कृष्णादिपञ्चलेदरा-ऽभव्य-श्वायोपशमिकसम्यक्त्व-सासादन-सम्यग्मिथ्यात्व-मिथ्यात्वा-ऽसंजय-ऽनाहारिमार्गणाश्चेति । नन्वेतासु कुतः षण्णां पदानामेवास्तित्वम्, न पुनरन्ययोर्वृद्धिहान्योः ? इति चेद्, उच्यते, एतासु प्रत्येकं श्रेणिगतजीवानामलाभादसंख्यगुणवृद्धिहानिरूपे पदे न प्राप्येते, तादृग्वृद्धिहान्योः श्रेण्यधीनत्वात्, तदन्यवृद्धिहानीनां सत्त्वं तु प्रत्येकमन्तःसागरोपमकोटीकोट्यादिप्रमाणस्थितिवन्धस्य लाभात्तदपेक्षया प्रसिद्धयति । यद्यप्यसंज्ञिमार्गणायमेवं नास्ति, तथाऽपि तत्रैकेन्द्रियादिभिन्नभिन्नजातीयानां जीवानामपि प्रवेशात् परस्थानापेक्षया संख्येयगुणवृद्धिहान्यपि प्राप्येते । शेषवृद्धिहानयस्तु द्वीन्द्रियादीनां स्वस्थानभाविस्थितिवन्धापेक्षया ज्ञेया इति ॥७४०॥

तदेवमभिहितानि शेषमार्गणास्वपि ज्ञानावरणादीनां सम्भवत्संख्येयगुणादिस्थितिवन्धवृद्धिहानिसत्पदानि । तेषु चाभिहितेषु गतमाद्यं सत्पदद्वारम् ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे प्रथमं सत्पदद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ॥

एतद्धि क्रमप्राप्ते स्वामित्वद्वारे ज्ञानावरणादीनां मूलप्रकृतीनां दर्शितसंख्येयगुणादिरिच्छित्ति-
बन्धवृद्ध्यादिसत्पदानां स्वामिनः प्रचिकटयिषुगदौ तावदोषतः प्रतिपादयन्नाह—

सत्तण्हं अण्णयरो अत्थि असंखंसवड्ढिह्हाणीणं ।

तह बंधगो खलु तसोऽण्णयरो संखंसवड्ढिह्हाणीणं ॥७४१॥ (गीतिः)

(प्रे०) “सत्तण्हं” इत्यादि, आयुःकर्मणः सर्ववक्तव्यताया गतद्वारेऽतिदिष्टत्वादायुर्वर्जानां
सप्तानां मूलकर्मणां प्रत्येकम् “असंखंसवड्ढिह्हाणीणं” ति स्थितिवन्धविषययोरसंख्यांशवृद्धि-
हान्योः “अण्णयरो अत्थि” ति त्रयः स्थावरो वाऽन्यतरो जीवः “बंधगो” इति गाथोत्तरा-
र्थादत्राऽपि योज्यते, ततः ‘बन्धकः’—स्वामी भवतीत्यर्थः । अत्रान्यतरग्रहणात् पर्याप्तोऽपर्याप्तो वा
कश्चिदपि निर्विशेषेण बोद्धव्यः, एवमुत्तरप्रापि । अथ सप्तानामेव संख्येयभागवृद्धिहान्योः स्वामिनं
दर्शयन्नाह—“तह बंधगो” इत्यादि, तथा “संखंसवड्ढिह्हाणीणं” ति खलुशब्दस्यावधारणार्थ-
त्वादन्यतरस्त्रमर्जाव एव ‘बन्धकः’—स्वामी, भवतीति शेषः । इत्थं च संख्येयांशवृद्धिहानिस्वा-
मितया स्थावरजीवानां व्यवच्छेदः कृतो विज्ञेयः । स्थावरजीवेषु संख्येयभागवृद्धिहान्योरसम्भवस्तु
सत्पदद्वारे भावित एवेति ॥ ७४१ ॥

अर्थाद्यत एव सप्तानां संख्येयगुणवृद्धिहान्योः स्वामिनं दर्शयन्नाह—

सत्तण्हं सत्थाणे सण्णी संखगुणवड्ढिह्हाणीणं ।

तह होएइ असण्णी परठ्ठाणे बंधगोऽण्णयरो ॥७४२॥

(प्रे०) “सत्तण्हं सत्थाणे” इत्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां “संखगुणवड्ढिह्हा-
णीणं” ति स्थितिवन्धविषययोः संख्येयगुणवृद्धि-संख्येयगुणहान्योः प्रत्येकं “सत्थाणे स-
ण्णी” ति स्वस्थाने वर्तमानः संज्ञी, अस्य च “बंधगोऽण्णयरो” इत्यनेन गाथाप्रान्तेऽन्वयः । अत्र
स्वस्थानं जान्यपेक्षया बोद्धव्यम्, ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियन्दे वर्तमानो यः कश्चिज्जीवः स सप्तानां
स्थितिवन्धविषययोः संख्येयगुणवृद्धिहान्योः स्वामी भवतीत्यर्थः । अध्यान्येषामपि प्रकृतवृद्धिहान्योः
स्वामित्वमस्तीति तानपि संगृह्यन्नाह—“तह होएइ” इत्यादि, तथाशब्दः समुच्चये । “होएइ
असण्णी परठ्ठाणे” ति एकेन्द्रियाद्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपोऽन्यतराऽसंज्ञीजीवः ‘परस्थाने’ जान्य-
न्तरं उत्पद्यमानः सन् प्रस्तुतयोर्द्रव्योः संख्येयगुणवृद्धिहान्योः स्वामी भवति, तत्रामंज्ञिपञ्चेन्द्रि-
यादितोऽधश्चतुरिन्द्रियादितयोन्पादे संख्येयगुणहानेः स्वामी, एकेन्द्रियादित ऊर्ध्वे द्वीन्द्रियादितयो-
त्पादे स एवासंज्ञी संख्येयगुणवृद्धिस्वामी भवति, न तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियवत्स्वस्थानेऽपीति ॥७४२॥

अर्थाद्यत एवासंख्येयगुणवृद्धेः स्वामिनं प्रकटयन्नाह—

उवसामगो पडंतो सेढीअ सुरो य पढमसमयत्थो ।

सत्तण्ह बंधगो खलु होइ असंख्यगुणवड्ढीए ॥७४३॥

(प्रे०) “उवसामगो पडंतो” इत्यादि, “सेढीअ” ति उपशमश्रेणेः पतन्नुपशमकः, “सुरो य पढमसमयत्थो” ति उपशमश्रेणौ सप्तानामुत्कृष्टतः पञ्चोपमासंख्यभागप्रमाण-स्थितिवन्धं कुर्वन्नायुःक्षयात् व्युत्वा यो देवतयोत्पन्नः सः ‘प्रथमसमयस्थः’-भवप्रथमसमयवर्ती सुर-जीवश्च तदानीं सप्तानामसंख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धेः स्वामी भवतीत्यर्थः । ननु देवस्यापि सप्ता-नामसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धिस्वामित्वसम्भवे कथं प्राग् देवगत्योधादिमार्गणास्वसंख्येयगुणवृद्धि-पदं सन्नाभिहितम् ? उच्यते, प्राग् भूयस्काराद्यधिकारेऽवक्तव्यबन्धलक्षणाप्रवेशेन यथा देवगत्योधा-दिमार्गणासु सप्तानामवक्तव्यस्थितिवन्धो नाङ्गीकृतः, तेनैव न्यायेन मार्गणाप्रथमक्षणे भूयस्कारा-दिवन्धोऽपि नाभिमतः । कुतः ? अधिकृतविवक्षया भूयस्कारादेरप्यवक्तव्यबन्धवन्मार्गणाभाविपूर्वक्षण-बन्धसव्यपेक्षत्वात्, पूर्वक्षणवर्तिवन्धस्तु न मार्गणाभावी, किन्तु मार्गणान्तरभाव्येवेति सुप्रतीतम् । भूयस्कारादिविशेषा एव पदानिक्षेपवृद्ध्यादयः, अतस्तेनैव नीत्या प्रकृतेऽप्योषतो लभ्यमानाऽप्य-संख्येयगुणवृद्धिर्देवगत्योधादिमार्गणासु नोक्ता । निपतत उपशमकस्यासंख्यगुणवृद्धिस्वामित्वं तु सत्पदद्वारे विस्तरतो भावितमिति तत एवावमातव्यमिति ॥ ७४३ ॥

अथावत एव मत्प्रकृतिस्थितिवन्धविषयाया असंख्यगुणहानेः स्वामिनमाह—

वड्ढंतो गुणठाणे णवमे उवसामगो तहा खवगो ।

सत्तण्ह बंधगो खलु अत्थि असंख्यगुणहाणीए ॥७४४॥

(प्रे०) “वड्ढंतो गुणठाणे” इत्यादि, नवमेऽनिवृत्तिवासरसम्परायाख्ये गुणस्थाने “वड्ढंतो” ति वर्तमानः “उवसामगो” ति चारित्रमोहनीयोपशमकः “तहा खवगो” ति तथा तत्रैव नवमे गुणस्थाने वर्तमानः ‘क्षपकः’-चारित्रमोहनीयक्षपक आयुर्वर्जानां सप्तमूल-प्रकृतीनाम् “असंख्यगुणहाणीए” ति स्थितिवन्धविषयाया असंख्यगुणहानेर्बन्धकः-स्वामी, भवतीति शेषः । खलुशब्दोऽवधारणं, स च व्युत्क्रमेण ‘खवगो’ इत्यस्योत्तरं योज्यः; ततस्तावेवा-ऽसंख्यगुणहानिस्वामिनाविन्यर्थः । ‘उवसामगो तहा खवगो’ इत्यत्रैकवचनं जान्यपेक्षया प्रयु-क्तमिनिकृत्वा तज्जानीयाः-तन्मदृशा ये केचनपि जीवास्ते सर्वेऽपि स्वामिन इति बोद्धव्यम् । एव-मेव पूर्वोत्तरग्रन्थे एकवचनान्तप्रयोगो जातिविवक्षया बोद्धव्य इति । अत्र भावना त्वनन्तरं सत्पदद्वारे ओषचिन्तायामपगतवेदमार्गणाय च दर्शिता तथैव द्रष्टव्येति ॥७४४॥

तदेवमुक्तमोषतः शेषाणां सप्तप्रकृतीनां स्थितिवन्धविषयकासंख्यभागवृद्ध्यादेः स्वामित्वम् । साम्प्रतमादेशतस्तत्प्रदर्शनावसरः । तत्र लाघवार्थं यासु मार्गणासु यस्या वृद्ध्यादेः स्वामिन ओष-सदृशास्तासु तस्यास्तथैवातिदिदिक्षुराह—

जासुं खु मग्गणसुं अत्थि असंख्यगुणवद्धिहानीओ ।

सत्तण्हं कम्माणं तासुं खलु ताण ओघव्व ॥७४५॥

णवरि सुरो णत्थि तिणर-पणमणवय-उरल-थी-णपुं मेसुं ।

गयवेए मणणाणे संयम-सामइअ-छेएसुं ॥७४६॥

(प्रे०) “जासुं खु” इत्यादि, आदेशचिन्तायां यासु मनुष्यगत्योघादिमार्गणासु “सत्तण्हं कम्माणं” ति आयुर्वर्जमप्तान्यतमानां मूलकर्मणाम् “अत्थि असंख्यगुणवद्धिहानीओ” ति असंख्यगुणवृद्धिरसंख्यगुणहानिश्च स्तः, असंख्यगुणवृद्धिहान्योः प्राक् सत्पदद्वारेऽस्तिन्वं प्रतिपादितमिति भावः । “तासुं खलु ताण ओघव्व” ति तासु मनुष्यगत्योघादिमार्गणासु “ताण” ति बहुवचनान्तनिर्देशः प्राकृतत्वात्, नतस्तयोः सप्तप्रकृतिस्थितिवन्धविषययोरसंख्यगुणवृद्धिहान्योः प्रत्येकम् “ओघव्व” ति ओघयत्, स्वामिन इति गम्यते, स्वामित्वप्ररूपणम्याविकृतत्वात् । इत्थमतिदिष्टं कासुचिन्मार्गणासु याऽतिप्रकृतिस्तां निराविकीर्तुराह—“णवरि सुरो णत्थि” त्यादि, ‘नवरं’-परमयमत्रापवादः । क इत्याह—“सुरो णत्थि” ति ओघप्ररूपणायां मप्तानामसंख्यगुणवृद्धेर्यन्धकः प्रपतन्नुपशमक इव भवप्रथमवसमयर्त्तो सुरोऽपि कथितः, किन्तु सः ‘सुरः’-देवः प्रकृतेऽसंख्यगुणवृद्धेः स्वामी ‘नाम्नि’-न भवति । किं मनुष्यगत्योघादित्रतुश्चन्वारिंशन्मार्गणासुप्युत कासुचिदेवेत्याह—“तिणरपणमणवये” इत्यादि, अपर्याप्तभेदवर्जेषु त्रिषु नरगतिमार्गणाभेदेषु, पञ्चशब्दस्य मनोधचस्रोः प्रत्येकं योजनात्पञ्चमनोयोग-पञ्चययोगो-दारिककाययोग-स्त्रीविदनपुंसकवेदमार्गणाभेदेषु, गतवेदमार्गणायां, मनःपर्यवज्ञानमार्गणायां, संयमाद्य-गामायिकमंथम-छेदोपस्थापनसंयममार्गणास्वित्येतास्वेकविंशतिमार्गणास्वेव, न पुनस्तदन्यासु पञ्चेन्द्रियाद्य-पर्याप्तसकाय-काययोगसामान्य-पुंवेद-कपायचतुष्क-मत्यादित्रिज्ञान-चक्षुरादित्रिदर्शन-शुक्ललेदया-भक्ष्य-सस्यकर्वाद्य-क्षायिकमस्यकर्वा-पशमिकप्रम्यक्त्व-संज्ञा-ऽऽहारिरूपासु त्रयोविंशतिमार्गणास्वपीन्यर्थः । एतासु त्रयोविंशतिमार्गणासु तु सर्वथैव निरपवादमोक्षवदिति भावः । कुत एवम् ? उच्यते, उपशमश्रेणी भवक्षयेण देवगताबुन्पादेऽपि तत्रानन्तरोक्तपञ्चेन्द्रियोघादित्रयोविंशतिमार्गणानामविच्छिन्नतया प्रवर्तनात्, पूर्वोक्तानां मनुष्यगत्योघादिमार्गणानां तु मनुष्यभवममाप्त्या सममेव विच्छेदाच्चेति ॥७४५-७४६॥

तदेवं यासु मार्गणासु ज्ञानावरणादीनामन्यतमस्यासंख्यगुणवृद्धिहानिपदे मङ्गते तासु तयोः स्वामिनोऽभिहिताः । साम्प्रतमुक्तशेषवृद्धिहानीनां स्वामिनोऽपि यासु मार्गणास्वोघवद्भवन्ति तास्वपि लाघवार्थमतिदेशेनैव तान् दर्शयन्नाह—

तिरिये तसम्मि काये णपुंसगम्मि य कमायचउगे यं ।

अण्णाणदुगे अयते अणयण-अपसत्थलेसासुं ॥७४७॥

भवियेयर-मिच्छेसु' अमणि-आहारगेषु ओघव्व ।

तिविहाण वडिडहाणीण णवरि अमणम्मि ण उ सण्णी ॥७४८॥

(प्रे०) "तिरिघे तसम्मि" इत्यादि, तिर्यग्भावोघे, व्रसकार्योघे, काययोगोघे, नपुंसकवेदे । चः समुच्चये । कपायचतुष्के । चः प्राग्वत् । मत्तज्ज्ञान-श्रुताज्ञानयोर्द्विके, "अयत्ते" ति असंयमे, "अणथण" ति अचक्षुर्दर्शने, कृष्णादिषु तिसृष्वप्रशस्तलेश्यासु, भव्ये, भव्यादितरस्मिन्नभव्ये, मिथ्यात्वे, असंज्ञया-ऽऽहारकयोरित्येतासु विंशतिमार्गणासु प्रत्येकम् "ओघव्व" ति ओघवदभिधानव्यम्, ओघवत् "सत्तण्हं अणायरो" इत्याद्यभिलापः कर्तव्य इति भावः । ननु सर्वोऽप्यभिलाप ओघवत्कर्तव्य उत किञ्चिन्मात्र इत्याह— "तिविहाण वडिडहाणीण" ति प्रकृतसप्तकर्मणामुक्तशेषाणां स्थितिवन्धवत्कानामसंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणलक्षणानां त्रिविधानां वृद्धीनां त्रिविधानां हानीनां च । त्रिविधवृद्धिहानिविषयो य आद्यगाथाद्वयरूप औघिकोऽभिलापः स एव कर्तव्यः, न पुनरशेषोऽपीत्यर्थः ।

एवमभिधानातिदेशेऽपि या किञ्चिन्मात्राऽतिव्याप्तिस्तां निराचिकीर्पुराह— "णवरि अमणम्मि ण उ सण्णी" ति 'ननु' इत्यसंज्ञिमार्गणायां संज्ञिजीवानामभावात् 'सत्थाणे सण्णी' इत्येवं यो द्वितीयगाथाऽवप्रवरूपोऽभिलापः स न कर्तव्य इत्यर्थः ।

❖ ननु 'ओघव्व' इत्यस्य कथमभिधानातिदेशपरत्वं व्याख्यायते, न पुनरर्थातिदेशपरकत्वम् ? इति चेद्, उच्यते, तस्य पदार्थातिदेशपरत्वेऽसंज्ञिमार्गणायां 'णवरि अमणम्मि ण उ सण्णी' इत्यपवादभिधानेनाऽसामञ्जस्यदोषपरिहारेऽपि व्रसकार्योघमार्गणायां स्थावरजीवानामप्रवेशेन तत्र तु तद्दोषतादवस्थयमेव स्यात् । न च 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति'रिति न्यायेन तत्र स्थावरणामसंख्यभागवृद्ध्याद्यस्वामित्वस्य व्याख्याविषयत्वात्, तेषां तत्राऽप्रवेशेन सुज्ञेयत्वाद्वा

❖ घट-पटादितत्तदर्थः, तद्वाचकान्यभिधानानि, लज्जानरूपाः प्रत्ययाश्च घट-पटादिपदेनैव लोके व्यपदिश्यन्त इत्येवमर्थाऽभिधान-प्रत्ययानां लोके तुल्यतामधेयत्वानियमात् 'व्रस-स्थावरणामन्यतरस्यायुर्वर्ज-सप्तप्रकृत्यसंख्यभागस्थितिवन्धवृद्ध्यादिस्वामित्व'लक्षणस्यौघिकार्थस्य, तत्प्रतिपादकस्य 'सत्तण्हं अणायरो' इत्याद्यभिधानस्य, तादृगर्थविषयकान्तःस्फुरापमानप्रत्ययस्य च तुल्यः 'ओघ' इति व्यपदेशो भवितुमर्हति । तथा च संस्थितौ मूलोक्त- 'ओघव्व' इत्यत्र 'ओघ' इति नामधेयं यथा 'यः कश्चिन् व्रसो वा स्थावरो वा जीवः स आ युर्वर्ज सप्तप्रकृत्यसंख्यभागस्थितिवन्धवृद्ध्यादिस्वामी'त्येवंरूपस्यार्थस्य प्रतिपादकं तथा तादृगर्थ-भिधायकस्य 'सत्तण्हं अणायरो' इत्यादिपूर्वकिञ्चित्तर्णार्थिमात्रस्याऽपि प्रतिपादकं भवत्येव । तन्मध्ये मूलोक्त- 'ओघव्व' इत्यत्र 'ओघ' इति नामधेयं तादृग्वर्णविलिप्तप्रतिपादकं ज्ञेयम्, न पुनस्त्रसादीनां तादृक्स्वामित्वादि'लक्षणस्याऽर्थस्य प्रतिपादकम् । तथा च 'ओघव्व' इत्यनेन भव्यादिमार्गणाध्यामायुर्वर्जसप्तानामसंख्यभागस्थितिवन्धवृद्ध्यादीनां स्वामित्वस्य प्रतिपादनं, 'सत्तण्हं ओघव्व' इत्याद्यात्मर्काधिक्यभिधानेन सदृशाभिधानेन भवतीत्यर्थकं 'ओघव्व ति ओघववभिधातव्यम्' इति व्याख्याने कृते कश्चिदाशङ्कते- 'ननु' इत्यादि ।

न किञ्चिदसामञ्जस्यमिति वाच्यम् । तथैवाऽसामञ्जस्यपरिहारेऽसङ्गतत्वाभावे वाभिमते तु तुन्य-
न्यायेनाऽसंज्ञिमार्गणायामपि तथा सम्भवात्तत्राऽपवादपदमनभिहितं स्यात् । एवमप्यसंज्ञिमार्गणा-
स्थानेऽपवादपदमभिधाय त्रसकार्यौघमार्गणायां तदनभिधानम् 'ओघव्व' इत्यनेनैव तत्र स्थावरा-
णामसंख्येयभागवृद्ध्यादिस्वामितया परिहृतत्वेनाऽसामञ्जस्याभावेनापवादाभिधानस्यानावश्यकत्वात् ।
'ओघव्व' इत्यनेनैव स्थावराणामसंख्येयभागवृद्ध्यादिस्वामितया परिहारस्तु तस्याऽभिधानातिदेश-
परकत्वे सत्येव सम्भवति, न त्वर्थातिदेशपरकत्वे, अर्थस्य तु त्रसानां स्थावराणां चासंख्येयभाग-
वृद्ध्यादिस्वामिन्वरूपस्य तत्राधिकचिन्तायां घटमानत्वेऽपि त्रसकार्यौघमार्गणायामघटमानतया-
ऽसामञ्जस्यापत्तेः । 'ओघव्व' इत्यस्य 'सत्तण्णं अण्णयरो' इत्यादिरूपौघिकाभिधानातिदेशपरकत्वे
तु न काचिदसङ्गतिः, त्रसकार्यौघमार्गणायामन्तर्गतत्वेन स्पर्शाप्रविष्टानां त्रसकार्यिकानाम-
न्यतमस्य त्रसकार्यिकस्य सप्तानामसंख्येयभागवृद्ध्यादिस्वामित्वस्य घुष्यमानत्वात्, तस्य तत्राविरोधेनो-
पपद्यमानत्वाच्च । इत्यतो 'ओघव्व' इत्यस्याभिधानातिदेशपरकत्वं व्याख्यायते । इत्येवमन्यत्रापि
कृतेऽतिदेशे यथासम्भवं स्वयमभ्युत्थमिति ॥७४८॥

अथापगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोः प्रकृतस्वामित्वमाह—

गयवेए मुहमम्मि य हवेइ उवसामगो वड्ढीणं ।

उवसामगो व खवगो वा हाणीए मुणयव्वो ॥७४९॥

(प्रे०) "गयवेए" इत्यादि, अपगतवेदमार्गणायां सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां च प्रत्येकं
भवति, स्वामीति गम्यते । कः कस्याः कस्याः स्वामी भवतीत्याह— "उवसामगो उ" इत्यादि,
प्रपतन्नुपशमक एव "वड्ढीणं" ति 'जासु खु' इत्यादि(७४६)गाथयाऽसंख्येयगुणवृद्धिद्वानिस्वामिना-
मपगतवेदमार्गणायामपि प्रागतिदिष्टत्वात्संख्येयगुणवृद्धिद्वानी विहाय ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-
नाम-गोत्रा-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकं संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धयोर्मोहनीयकर्मणः संख्येयभागवृद्धे-
स्तथा सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां मोहनीया-ऽऽयुर्वर्जानां षण्णां संख्येयभागवृद्धश्चेत्यर्थः । तथा
"उवसामगो व खवगो व" ति वाकारश्चकार्थस्ततः श्रेणिभारोऽन्नुपशमकश्च क्षपकथो-
भावपि "हाणीए मुणयव्वो" ति पूर्ववदपगतवेदमार्गणायां ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीय-नाम-
गोत्रा-ऽन्तरायकर्मणां प्रत्येकं संख्येयभाग-संख्येयगुणहान्योर्मोहनीयकर्मणः संख्येयभागहानेः, सूक्ष्म-
सम्परायमार्गणायां मोहनीयायुर्वर्जानां षण्णामपि संख्येयभागहानेश्च ज्ञातव्यात्रिन्यर्थः । एतयोस्त-
त्संसंख्येयभागवृद्धिद्वान्यादिस्वामित्वं ह्यनन्तरं सत्पदद्वारे सत्पदानां सत्त्वव्युत्पादनावसरे
दर्शितभावनानुसारेण स्वयमेव भावनीयमिति ॥ ७४९ ॥

अथोक्तशेषमार्गणासु सप्तकर्मसत्कवृद्ध्यादिसत्पदानां स्वामिनं विभणिपुराह—

सेसासु बंधगोऽस्थि सपयाण तिविहाउ वडिढहाणीओ ।

सत्तण्हं अणयरो सविसेसो पुण मुणेयव्वो ॥ ७५० ॥

ब्रे०) “सेसासु बंधगो” इत्यादि, असंख्यगुणवृद्धिहानी परिहृत्य शेषाणां त्रिविधानां वृद्धिहानीनां स्वामिनो यास्वनन्तरमभिहितास्तास्तिर्यग्गत्योधादिऽविंशतिमार्गणा विवर्ज्य शेषासु नरकगत्योधाद्यष्टचत्वारिंशदभ्यधिकशतमार्गणासु प्रत्येकं बन्धको भवति । केषां क इत्याह—“सपयाण तिविहाउ वडिढहाणीओ” इत्यादि, आयुर्वर्जमसमूलप्रकृतीनामसंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणभेदाभिन्नत्रिविधवृद्धित्रिविधहानिभ्यो नरकगत्योधादिशेषमार्गणायां यत्र यावन्त्येक-द्वयादीनि पदानि सत्पदद्वारे सङ्गूतानि प्रतिपादितानि, तत्र तेषां सर्वेषामेकद्वयादीनामसंख्येय-भागवृद्धयादिसत्पदानां प्रत्येकं मार्गणागतो “अणयरो” ति अन्यतरो नारकादिजीव इत्यर्थः ।

इत्थमप्यपर्याप्तत्रयमकायादिमार्गणासु द्वीन्द्रियादिजीवैः संख्येयगुणवृद्धयादेरनिवर्तनेन तत्र ‘अणयरो’ इत्यनेन मार्गणागतान्यतरपदवान्याऽपर्याप्तद्वीन्द्रियादिजीवग्रहणेऽतिप्रसङ्गात्तदोपसुद्धर्तु-मनाऽऽह—“सविसेसो पुण मुणेयव्वो” ति स पुनरन्यतरजीवः ‘सविशेषः’- यथासम्भवं विशेषेण सहितो ज्ञातव्यः । तद्यथा—अपर्याप्तत्रयमकायमार्गणायां सप्तानां संख्येयगुणवृद्धेः स्वामी द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियवर्जोऽन्यतमाऽपर्याप्तजीवः । औदारिकमिश्रकाययोगमार्गणायां सप्तानां संख्येयगुणवृद्धेः स्वाम्येकेन्द्रियवर्जोऽन्यतम औदारिकमिश्रकाययोगिजीवः । कर्मणकाययोगमार्गणायां पुनरन्यतमः संज्ञिपञ्चेन्द्रियकर्मणकाययोगिजीवः सप्तानां संख्येयगुणवृद्धेः संख्येयगुणहानेश्च स्वामी, न पुनरन्यतम एकेन्द्रियादिकर्मणकाययोगिजीवोऽपि । कुतः ? एकेन्द्रियाद्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियान्तानां जीवानां स्वस्थाने संख्येयगुणवृद्धिहान्योरसम्भवात् । अत एवाधिकृतकर्मणकाययोग-मार्गणायां सप्तानां संख्येयभागवृद्धिहान्योः स्वामितयाऽप्येकेन्द्रियजीवा वर्जनीयाः । असंख्यभाग-वृद्धिहान्योस्त्वन्यतमस्त्रयः स्थावरो वा जीवः स्वामी भवतीति विष्णु । अनया दिशौदारिककाययोगादि-मार्गणादीं स्वयमेव विशेषो द्रष्टव्य इति ।

शेषमार्गणास्तु नामत इमाः—अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, चत्वारो मनुष्यगतिभेदाः, त्रिंशद्देवगतिभेदाः, सप्तैकेन्द्रियभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियजातिभेदाः, त्रयमकार्याषभेदवर्जाः पृथिव्यादिषट्कायसत्कशेषसर्वभेदाः, पञ्च मनोयोग-भेदाः, पञ्च वचोयोगभेदाः, औदारिकौ-दारिकमिश्र-वैक्रिय-वैक्रियमिश्रा-ऽऽहारक-ऽऽहारकमिश्र-कर्मणकाययोगभेदाः, स्त्रीवेद-पुरुषवेदौ, मन्यादिचतुर्ज्ञानभेदाः, विभङ्गज्ञानम्, सूक्ष्मसम्परायसंयमा-ऽसंयमवर्जाः पट्संयमभेदाः, चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शनभेदौ, तेजः-पद्म-शुक्ललेश्याभेदाः, मिथ्यात्व-वर्जाः सम्यक्त्वौघादिवद्भेदाः संख्य-ऽनाहारकभेदौ चेति ॥ ७५० ॥

तदेवं प्ररूपिताः शेषमार्गणास्वपि संख्येयगुणादिस्थितिवन्धवृद्ध्यादिस्वामिनां स्वामिनः ।
तेषु च प्ररूपितेषु गतं द्वितीयं स्वामित्वद्वारम् ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे द्वितीयं स्वामित्वद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथ तृतीयं कालद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्ते एकजीवाश्रिते कालद्वारे मूलकर्मणां संख्येयभागादिस्थितिवन्धवृद्ध्यादीनां जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नं द्विविधमपि निरन्तरं कालं प्रतिपिपादरिपराऽऽदौ तावदोद्यत उक्तशेषाणां सप्तकर्मणामसंख्येयभागादिस्थितिवन्धवृद्ध्यादेस्तमाह—

समयो लहू खणा दो गुरु चउविहाण वडि ढहाणीणं ।

सत्तण्ह णवरि समयो गुरु असंख्यगुणहाणीए ॥ ७५१ ॥

(प्रे०) “समयो लहू” इत्यादि, “सत्तण्ह” ति आयुर्वर्जानां सप्तप्रकृतीनां “चउ-
विहाण वडि ढहाणीणं” ति असंख्यभागा-ऽसंख्यगुण-संख्येयभाग-संख्येयगुणलक्षणानां चतु-
र्विधानां वृद्धीनां हानीनां च “समयो लहू खणादो गुरु” ति ‘समयः’-एकसमयो ‘लघुः’-
जघन्यः कालः, द्वौ ‘क्षणा’-समयो ‘गुरुः’-उत्कृष्ट एकजीवाश्रयो निरन्तरकालार्थेत्यर्थः । अयं हि
लाघवकृतः सामा यो निर्देशः, तत्र काचिदतिप्रसक्तिरपि, अतस्मां निराकुर्वन्नाह—“णवरि”
इत्यादि, नवरं सप्तानामसंख्यगुणस्थितिवन्धहानेः ‘गुरुः’-उत्कृष्ट एकजीवाश्रयः कालः समयः, न
पुनः सामान्यवचनगम्यौ द्वौ समयाविति भावः । अत्र हि चतुर्विधानां वृद्धीनां हानीनां च जघन्य-
कालः समयस्तु गुरुः, समयमकं तत्तद्वृद्ध्यादेरनन्तरं प्रायेणावस्थानस्यैव प्रवर्तनात्, यतस्ताथा-
स्वाभाव्येन प्रवर्तमानौ द्विसमयनिरन्तरभूयस्कारौ द्विसमयनिरन्तराल्पतरौ च कादाचित्कावेव,
अवस्थानस्थितिवन्धा शालुन्येनान्तमुहूर्तिकाश्चेति ।

असंख्यगुणस्थितिवन्धहानेः समयमात्रोत्कृष्टकालस्तु देवानामतन्स्वामित्वात् । अयम्भावः—
उपशमश्रेणीं मरणव्याघाताभावे प्रत्येकं स्थितिवन्धा आन्तमुहूर्तिकाः सन्ति, न पुनः शेषजीवानामिव
कदाचित्केचन सामयिका अपि । किञ्च ये केचनोपशान्ताद्वाश्रयेण प्रवर्तन्तः सप्तानामसंख्यगुण-
वृद्धिस्वामिनो यमसंख्यगुणवृद्धिस्थितिवन्धं कुर्वन्ति, ते तं पत्न्योपमामसंख्यभागप्रमाणस्थितिकं कुर्वन्ति,
न पुनस्तदधिकस्थितिकम् । ततश्च समयमेकमसंख्यगुणवृद्धिं कृत्वाऽनन्तरसमये भवक्षयेण ये केचन
देवतयोत्पद्यन्ते तेऽपि तत्र देवभवप्रथमसमयेऽन्तःकोटीकोटीपारोपमप्रमाणां स्थितिं बध्नन्ती
निरन्तरद्वितीयसमयेऽसंख्येयगुणवृद्धिस्वामिन एव भवन्ति, न पुनर्हानिस्वामिनः; इत्येवमसंख्यगुण-

वृद्धेर्मनुष्यदेवोभ्यस्वामिकत्वात्तथाऽसंख्यगुणवृद्धिकाऽ उत्कृष्टतो द्विसमयस्तथा नाऽसंख्यगुणहाने-
रपि, श्रेणिमारोहतां मनुष्याणां तन्स्वामित्वेऽपि देवानामतस्त्वामित्वेन समयमेकमसंख्यगुणहानेरन-
न्तरमेव मनुष्यभ्रवक्षयेण देवगतावुत्पादेऽपि तत्र देवभवप्रथमसमये हानेरेवाऽप्रवर्तनात् । कालाऽ-
करणे तु तावन्मात्रस्थितिवन्धप्रवर्तनरूपमवस्थानमेव प्रवर्तते इत्येवमसंख्येयगुणहानेरुत्कृष्टोऽपि
बन्धकारः समयमात्रः प्राप्यते इति ।

असंख्यगुणवृद्धेर्द्विसमयोत्कृष्टकालस्वनुपदं प्रसङ्गाद्दर्शितस्तथैव समयमेकमुपशमश्रेणो पतदव-
स्थायाम् , तदनन्तरसमये कालकरणेन देवावस्थायां समयमेकम् , न पुनस्तदूर्ध्वं तृतीयसमयेऽपि ।

शेषाणां त्रिविधानामसंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धीनां तथाविधानां त्रिविधहानीनां
च द्विसमयोत्कृष्टकालस्तु निरन्तरे समयद्वये तायास्वामित्वेनाऽसंख्यभागाधिकस्थितिवन्धं कुर्वतां ,
तथैव संख्येयभागाधिकस्थितिवन्धं कुर्वतां, संख्येयगुणाधिकस्थितिवन्धं कुर्वतां तच्चत्स्थितिवन्धस्वा-
मिनां निरन्तरप्रवृत्तासंख्येयभागवृद्ध्यादिस्थितिवन्धद्वयमपेक्ष्य प्राप्यते ।

मनु वृद्धिवन्धो भूयस्काररूप एव. हानिवन्धोऽल्पतरवन्धरूप एव, यद्येवं तदा यथोक्तः
सप्तानां भूयस्कारस्थितिवन्धकालोऽल्पतरस्थितिवन्धकालश्च समयद्वयादधिकोऽभिहितस्तथा श्रेण्यधीन-
मसंख्येयगुणवृद्धयसंख्येयगुणहानिलक्षणं पदद्वयं विहाय शेषत्रिविधान्यतमवृद्ध्यादिपदानां स्वसौ
समयद्वयादधिकः स्याद् ? इति चेद्, उच्यते, एकविधाऽपि वृद्धिर्हानिर्वा जात्यन्तरपरावृत्त्यादि-
निमित्तस्य मद्भावेऽमद्भावे वा निरन्तरसमयद्वयादधिककालं तथास्वामित्वेनैव न प्रवर्तते, अतस्तस्यो-
त्कृष्टोऽपि कालो द्वौ समयावेव प्राप्यते । यदा द्विसमयवृद्धेरनन्तरसमये जात्यन्तरपरावृत्त्यादिनिमित्तं
वर्तते, तदा तु पूर्वसमयजातवृद्धयपेक्षया त्रिलक्षणवृद्धिरूपो भूयस्कारस्थितिवन्धोऽल्पतरस्थितिवन्धो
वा नियमेन प्रवर्तते, तत्राऽपि यदि तन्स्वाम्येकेन्द्रियादिभ्यश्च्यवनेन द्वीन्द्रियादिरूपजात्यन्तर उत्पद्यते,
तदा भूयस्कार एव । इत्थञ्च भूयस्कारस्यान्यविधवृद्धिरूपतया तद्वन्धकालसमयद्वयादधिको याव-
च्चतुःसमयोऽपि सम्पद्यते, इत्थमेव वैपरीत्येनाल्पतरस्थितिवन्धकालस्य त्रिसमयप्रमाणत्वे द्रष्ट-
व्यम्, अन्यविधहानेरल्पतरस्थितिवन्धरूपत्वात् । एवं हि न भवति सप्तानां भूयस्कारस्थिति-
वन्धकालस्योत्कृष्टतश्चतुःसमयत्वंऽप्येकविधवृद्धेरुत्कृष्टकालः समयद्वयादधिकः, सप्तानामल्पतरस्थिति-
वन्धकालस्योत्कृष्टतस्त्रिसमयत्वेऽप्येकविधहानेरुत्कृष्टकालः समयद्वयादधिकश्च । इत्यमेव वक्ष्यमाण-
मार्गणास्थानेष्वप्यसंख्येयगुणवृद्धिहानिवर्जत्रिविधान्यतमवृद्धिहानिकालस्य समयद्वयादनधिकत्वम-
भ्युह्यम् ; यत्र स्वसौ द्विसमयोऽपि न, तत्र तु यथासम्भवमुपपत्तिमार्गं प्रदर्शयिष्याम इति ॥७५१॥

तदेवमभिहित औचतः शेषाणामायुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामसंख्यभागवृद्ध्यादिलक्षणानामष्ट-
विधानामपि स्थितिवन्धविशेषाणामेकजीवाश्रितो जघन्यात्कृष्टद्विविधः कालः । हानीनां तमेवादेशतो
विभणिपूरोधप्ररूपणया बहुसाम्यास्सापवादमतिदिशति—

सव्वासु सत्तण्हं सपयाणोधव्व वड्ढिहाणीणं । (गोत्तिः)

णवरि असण्णिम्मि गुरू समयो संखगुणवड्ढिहाणीणं ॥७५२॥

तिणर-पणमणवयु-रल-णपुम-थी-मणणाण-संयमेसु तहा ।

समइअ-छेएसु गुरू खणो असंखगुणवड्ढिहाणीणं ॥७५३॥

कम्मण-गयवेएसु सुहुमा-ऽणाहारगेसु सत्तण्हं ।

समयो परमो णयो सपयाणं वड्ढिहाणीणं ॥७५४॥

(प्रे०) “सव्वासु”मित्यादि, नरकगत्योषाघनाहारकपर्यन्तासु सप्तत्युत्तरशतसंख्याकासु सर्वासु मार्गणासु “सत्तण्हं” ति आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां “सपयाणोधव्व वड्ढिहाणीणं” ति स्थितिवन्धस्याधिकृतत्वादसंख्येयभागादिस्थितिवन्धवृद्धिहाणिलक्षणानां ‘स्वपदानां’-सत्पदद्वारे तत्तन्मार्गणायामभिहितानां सत्पदानां ‘मोषवद्’-आधिककालतुल्यः, एकजीवाश्रयो जघन्योत्कृष्टकाल इति प्रक्रमाद्भवति । इत्थं चातिदिष्टे याऽतिप्रसक्तिस्तासुद्धरशाह—“णवरि” इत्यादि सार्धगाथाद्वयम् । ‘नवरं’-परं तत्रार्थ विशेषः । कोऽसावित्याह—“असण्णिम्मि” इत्यादि, ओघतः सप्तानां संख्येयगुणवृद्धेः संख्येयगुणहानेश्चोत्कृष्टवन्धकालो यः समयद्वयमभिहितः सोऽसंज्ञिमार्गणायां समयमात्रो विज्ञेयः । कुतः ? संख्येयगुणवृद्धेरेकेन्द्रियादिभ्यश्च्युत्वा द्वीन्द्रियादितयोत्पद्यमानानामसंज्ञिजीवानां परस्थानत एव भावात्, जात्यन्तरपरावृत्त्या परस्थानत एव लभ्यमानायाः संख्येयगुणाद्यन्यतमाया वृद्धेः समयादधिककालस्यासम्भवात् । एतदपि कुतः ? इति चेत्, सकृज्जाताया जात्यन्तरपरावृत्तेर्जघन्यतोऽपि क्षुल्लकभवप्रहणाद्वर्गिसम्भवादिति । इत्थमेव संख्येयगुणहानेः समयमात्र उत्कृष्टकालोऽपि व्युत्पादनीयः, केवलं वैपरीत्येनासंज्ञिपञ्चेन्द्रियादिभ्यश्च्युत्वा चतुरिन्द्रियादितयोन्यद्यमानानां परस्थानत एव संख्येयगुणहानेः सम्भवात्तदपेक्षयेति ।

अथ मार्गणान्तरेष्वसंख्यगुणवृद्धिविषयेऽपवदन्नाह—“तिणरे” इत्यादि, ‘तिणर’ इत्यनेनाऽपर्याप्तभेदवर्जा मनुष्यांघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणाम्ब्रयो नरगतिमार्गणाभेदा गृह्यन्ते, तेषु त्रिनरभेदेषु, तथा पञ्चशब्दस्य प्रत्येकं योजनात्पञ्चमनोयोगभेदाः, पञ्चवचोयोगभेदाश्च तेषु, औदारिककाययोग-नपुंसकवेद-स्त्रीवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमौघमार्गणासु, तथा सामयिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयमयोश्चेत्येतासु विंशतिमार्गणासु प्रत्येकं “गुरू खणो असंखगुणवड्ढिहाणीणं” ति ‘सत्तण्हं’ इति पूर्वगाथातोऽनुवर्तते, ततः सप्तानां मूलप्रकृतीनामसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धेः ‘गुरूः’-उत्कृष्ट एकजीवाश्रयकालो नैरन्तर्येण ‘क्षणः’-समयः, समयमात्रः प्राप्यते, न पुनर्यथातिदेशमोषवद् द्वौ समयविति भावः । कुतः ? इति चेत्, सप्तानां निरन्तरद्वितीयसमयभाविन्यसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धिरुपशमश्रंणावसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धि कृत्वाऽनन्तरसमये भवक्षयेण देवगतावृत्त्यैव

जायते, नान्यथा । अतः सा निरन्तराः तीयसमयासंख्यगुणवृद्धिः प्रस्तुतमनुष्यगत्योदादिविशति-
मार्गणास्तदात्तं न युज्यते, प्रथमसमयासंख्यगुणवृद्धेरनन्तरसमये कालकरणे मनुष्यगत्योदादि-
प्रत्येकमार्गणानां विच्छेदेन तन्स्वामिनां प्रस्तुतमार्गणात्तौ बहिर्भावादिति ।

अथान्यमार्गणसु सर्वसत्पदविषयकापवादमाह—“कर्मणकायवेणसु”मित्यादि, कर्मण-
काययोगाऽपगतवेदमार्गणयोः सूक्ष्मसम्परायसंयमाऽनाहारकमार्गणयोश्च प्रत्येकं समानामायुर्वर्जमूल-
प्रकृतीनां ‘परमः’-उत्कृष्ट एकजीवाश्रयकालः ‘समयः’-समयमात्रो भवति । असंख्यभागवृद्ध्यादीनां
कियतां पदानामित्याह—“सपयाणं वद्धिहाणीणं” ति प्राग्बतत्तत्कर्मणकाययोगादिमार्गणसु
सत्पदद्वारे सत्तयाऽभिहितत्वात्स्वपदभूतानां संख्येयभागादिस्थितिवन्धवृद्धिहानीनाम् । कुत एक
एव समयः, न पुनर्द्वौ समयौ ? इति चेत्, प्रत्येकमायुर्वर्जानां बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां भूयस्कार-
स्थितिवन्धकालस्याल्पतरस्थितिवन्धकालस्य चाप्युत्कृष्टतः समयमात्रत्वात् न भवति द्वौ समयौ,
सामान्यनिवृत्तौ विशेषनिवृत्तेरवश्यम्भावित्वात् । किमुक्तं भवति—सामान्यो हि भूयस्कारः स्थिति-
बन्धः, असंख्यभागवृद्ध्यादयस्तु तद्विशेषा एव । यदि हि प्रस्तुतमार्गणाचतुष्के निरन्तरद्वितीयसमये
भूयस्कार एव न प्राप्यते तत्कुतस्तद्विशेषरूपाया असंख्यभागवृद्ध्यादेः प्राप्तिः, न कुतश्चिदपि । इत्थं
हि मार्गणाचतुष्के सर्वेषां वृद्ध्यादिसत्पदानामुत्कृष्टोऽपि कालः समयमात्रः प्राप्यते, न तु द्विसमय-
स्तदधिको वेति ॥७५२-७५३-७५४॥

तदेवं प्रतिपादितो मार्गणास्थानेष्वपि तत्तन्मार्गणोक्तासंख्यभागवृद्ध्यादिसत्पदानां जघ-
न्योत्कृष्टभेदभिन्नो द्विविधोऽप्येकजीवाश्रितः कालः । तस्मिँश्च प्रतिपादिते गतं तृतीयं कालद्वारम् ।
॥ इति श्रीचन्धविधाने मूलप्रवृत्तिस्थितिवन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे तृतीयमेकजीवाश्रितं कालद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ चतुर्थमन्तरद्वारम् ॥

अथ चतुर्थमेकजीवाश्रयमन्तरद्वारम् । तत्राप्युपः स्थितिवन्धहान्यादिसत्पदविषयकान्तरस्यापि
प्रागेवतिदिष्टत्वादायुर्वर्जानां समानां प्रकृतीनां स्थितिवन्धवृद्ध्यादिसत्पदानामन्तरं प्रतिपिपादयिषुरादौ
तावदोघतो जघन्यमन्तरमाहः—

सत्तण्ह अंतरमणुं चउविहवड्ढीण तिविहहाणीणं ।

ममयो भिन्नमुहुत्तं लहुं असंखगुणहाणीणं ॥ ७५५ ॥

(प्रे०) “सत्तण्ह अंतरमणुं”मित्यादि, आयुर्वर्जानां समानां मूलप्रकृतीनामन्तरमेक-
जीवाश्रितम् ‘अणुं’-जघन्यम्, अस्य च गार्थोत्तरार्धे “समंथो”इत्यनेनान्वयः, ततस्तज्जघन्यमन्तरं
समयः, समयमात्रमित्यर्थः । कासां वृद्धिहानीनामित्याह—“चउविहवड्ढीण”ति ‘चतुर्विधा-

नाम्-असंख्येयभाग-संख्येयभागा-ऽसंख्येयगुण-संख्येयगुणवृद्धिलक्षणानां स्थितिवन्धविशेषाणां तथा “निचिह्हाणीणं” ति त्रिविधानामसंख्यगुणहानिवर्जानां शेषाणामसंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणहानिलक्षणानां स्थितिवन्धविशेषाणां च प्रत्येकमित्यर्थः । अवशेषाया असंख्यगुणहाने-र्जघन्यमन्तरमाह-“भिन्नमुहुत्त”मित्यादि, ‘भिन्नमुहुत्तम्’-अन्तमुहुत्तं ‘लघु’-जघन्यमन्तरमसंख्य-गुणहान्या इति ।

तत्रा-ऽसंख्यगुणवृद्धिवर्जानां त्रिविधवृद्धीनां श्रेणिवहिर्वर्तिजीवानामपि सम्भवात् साम-यिकावस्थानादिनाऽन्तरितत्वे जघन्यमन्तरं प्राप्यते । इदमुक्तं भवति—श्रेणिवहिर्भाविस्थिति-बन्धा न नियमतोऽन्तमुहुत्तमेव प्रवर्तन्ते, ततश्च त्रिविधवृद्धीनामन्यतमां वृद्धिं कृत्वा समयमवस्थाप-तत्स्वामी पुनरप्यनन्तरसमये समयान्तरकृतसदृशीमेव त्रिविधान्यतमां स्थितिवन्धवृद्धिं करोति तदा एकसमयान्तरं प्राप्यते । इत्थमेव त्रिविधहान्यन्तरविषयेऽपि विज्ञेयम्, तासासपि श्रेणिवहिर्वर्ति-जीवानां सद्भावात् । असंख्यगुणवृद्धिस्तु यद्यपि श्रेणिवहिरपि भवति, तथाऽपि न सा येषां केषा-मपि पञ्चेन्द्रियाणां, किन्तु ये केचिदुपशमश्रेणां भवक्षयाद्देवतयोत्पन्नास्तेषां देवभवप्रथमसमय-वर्तिनां केषाञ्चिद्देव, ततश्च यः कश्चित्प्रपतच्चारित्रमोहोपशमकस्तत्तत्कर्मणामसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धि-समयमेकं कृत्वा समयमेकं तावन्मात्रस्थितिं बध्नन् तत्रैवावस्थायाऽनन्तरसमये भवक्षयाद्देवतयोत्प-द्यते, तस्य श्रेणिभावि-देवभवभाव्यमसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धयोः समयमात्रेणावस्थितस्थितिवन्धेनान्त-रित्वादौघतो जघन्यमन्तरं समयमात्रं प्राप्यते, नान्येन केनापि प्रकारेणेति । असंख्यगुणस्थिति-बन्धहानेः स्वामिनस्तु केवलाः श्रेणिं समाहोहन्त उपशमकाः क्षयका वैव, न पुनर्भवप्रथमसमयवर्तिनो देवा अन्ये वा, किञ्च श्रेणां प्रत्येकं स्थितिवन्धा आन्तमुहुत्तिकाः, ततश्च सकृदसंख्यगुणहीनस्थिति-बन्धं कृत्वा पुनरप्यसंख्यगुणहीनस्थितिवन्धं कुर्वतो जीवस्याऽसंख्यगुणहानिजघन्ये जघन्यतोऽप्यन्त-मुहुत्तकालोऽतिगच्छति, इत्थं चासंख्यगुणस्थितिवन्धहानेर्जघन्यः कालः शेषवृद्धिहानिकालवत् समय-मात्रो न प्राप्यते, किन्तु जघन्यतोऽप्यन्तमुहुत्तमेवेति ॥ ७५५ ॥

अथैतासामेवोत्कृष्टमन्तरमोघतः प्रचिकटयिषुर्गाथाऽयमाह—

उक्कोसमंतरं उ असंखेज्जइभागवड्ढिहाणीणं ।

सत्तण्हं कम्माणं भिन्नमुहुत्तं मुण्यव्वं ॥ ७५६ ॥

परममसंखपरट्टा संखियभागगुणवड्ढिहाणीणं ।

देसूणोऽद्धपरट्टो असंखगुणवड्ढिहाणीणं ॥ ७५७ ॥

(प्रे०) “उक्कोसमंतरं”मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तकर्मणामसंख्येयभागवृद्धिहान्योः प्रत्येक-मुत्कृष्टमेकजीवश्रयमन्तरं ‘तु’-पुनः ‘भिन्नमुहुत्तम्’-अन्तमुहुत्तं ज्ञातव्यम् । संख्येयभागवृद्धिहान्योराह-“परममसंख” इत्यादि, सप्तानां संख्येयभागसंख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धिहानीनां प्रत्येकं ‘परमम्’-

उत्कृष्टमन्तरमसंख्येयाः "परष्टा" चि पदैरुदेशे पदोपचारात्पुद्गलपरावर्ता इत्यर्थः । उक्तरोपयो-
राह—“देसूणो” इत्यादि, समानामसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धिद्वान्योः प्रत्येकं पुनः प्रकृतमेकजीवा-
श्रितमुत्कृष्टमन्तरं देशोनाऽपार्धपुद्गलपरावर्त इत्यर्थः ।

इयमत्रोपपत्तिः—श्रेणी बन्धप्रायोग्यं स्थितिवन्धं विहायकेन्द्रियादिषु प्रमत्तसंयतान्तेषु
जीवेषु यस्य यस्य जीवस्यैकाधिकं यावन्त्यः सप्तकर्मन-कस्थितिवन्धवृद्धयो हानयश्च स्वस्थान एव
सम्भवन्ति तस्य तस्य जीवस्य तासु समुदितासु वृद्धिहानिष्वेकैकविधा वृद्धयो हानयो बोत्कृष्टतः
संख्येयान् स्थितिवन्धानतिक्रम्यातिक्रम्य जायमाना अपि भिन्नमुहूर्तादधिकव्यवधाना न भवन्ति ।
न च यद्यैवं तदाऽसंख्येयभागवृद्धिहान्यन्तरमिव शेषद्विविधवृद्धिहान्यन्तरमपि कथमन्तमुहूर्तमात्रं
नोक्तमित्याशङ्क्यम् । यतः शेषद्विविधवृद्धिहानीनां नैकेन्द्रियविकलेन्द्रियादयोऽपि स्वस्थानतः
स्वामिनः, तथा च संज्ञिपञ्चेन्द्रियाद्यवस्थायां शेषद्विविधवृद्धिहान्यन्तरां निर्वर्त्यन्तरमेव कालं
कृत्वा य एकेन्द्रियादिषु गच्छति, तत्र चोत्कृष्टामेकेन्द्रियादिकायस्थितिं निर्गमयति, तावत्कालं न
भवति तस्य तादृशी पूर्वकृतवृद्ध्यादिसदृशी वृद्धिर्हानिर्वा । इत्थं चान्तमुहूर्ताभ्यधिकैकेन्द्रियादिकाय-
स्थितितुल्यमन्तरमुत्कृष्टतः सम्पद्यते ।

तथाहि—कश्चित् त्रयकायजीवो भवचरमान्तमुहूर्ते स्वस्य स्वस्थाने प्रायोग्यं संख्येयभागवृद्ध-
स्थितिवन्धं कृत्वा तदनन्तरं चान्तमुहूर्तं यावत् स्वप्रायोग्याः संख्येया अन्यविधवृद्धिहानीनिर्वर्त्यै-
केन्द्रियतयोत्पन्नः, न च तत्र तस्य संख्येयभागवृद्धेरवकाशः, अतोऽसौ प्रत्यन्तमुहूर्तं तत्र प्रायोग्या-
मसंख्येयभागवृद्धिं तादृशीं हानिमवस्थानं च कुर्वन् कुर्वन्नेकेन्द्रियस्योत्कृष्टां कायस्थितिमसंख्येय-
पुद्गलपरावर्तप्रमाणां तत्रैव निर्गमयति । ममापायां चैकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिं पुनरपि त्रसत्वेनोत्प-
द्यान्तमुहूर्तमतिक्रम्य संख्येयभागाविकं स्थितिवन्धं कुर्वन् संख्येयभागवृद्धिं करोति, न त्वर्वाक् ।
इत्थं तादृशजीवनानन्तरेकेन्द्रियभवेरन्तरितयोस्त्रसभवयोनिर्वर्तितसंख्येयभागस्थितिवन्धवृद्धिद्वयस्या-
न्तरं यथोक्तमसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणं प्राप्यते, तच्चोक्तनीत्याऽन्तमुहूर्ताभ्यधिकैकेन्द्रियोत्कृष्ट-
कायस्थितिप्रमाणं विज्ञेयम् । इत्थमेव संख्येयभागवृद्धिस्थाने संख्येयभागहानिद्वयं कुर्वन्तं जीव-
सादावोत्कृष्टं संख्येयभागहान्यन्तरमपि भावनीयम् । एवमेव संख्येयगुणवृद्धिहान्यन्तरेऽपि भावनीये,
केवलं पूर्वं विवक्षितवृद्धिहानिद्वयान्तरात् एकेन्द्रियकायस्थितिर्दर्शिता, अत्र तु संख्येयगुण-
वृद्धिहान्योर्विकलेन्द्रियाणामपि स्वस्थानेऽयम्भवात्तदपेक्षया लभ्यमानः कियत्कालोऽपि तदन्तरालेऽ-
धिकतया द्रष्टव्यः, तथा च मन्यन्तरमपि पूर्वापेक्षया दीर्घतरं प्राप्येतेति ।

असंख्यगुणवृद्धिहान्योरेकैकस्या उत्कृष्टमन्तरं तु श्रेणिद्वयस्योत्कृष्टान्तरात्मपेक्ष्य प्राप्यते,
श्रेणिद्वयस्योत्कृष्टमन्तरं त्वेकजीवापेक्षया देशोनापार्धपुद्गलपरावर्तप्रमाणम् । विशेषतस्तु जीवविशेषं
दृष्टान्तीकृत्य स्वयमेव भावनीयमिति ॥ ७५६-७५७ ॥

गतमोघत आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामसंख्येयभागादिचतुर्विधवृद्धि-चतुर्विधहानिलक्षणानां स्थिति-
बन्धविशेषाणां जघनयोत्कृष्टभेदमिन्नं द्विविधमप्येकजीवाश्च यमन्तरम् । इदानीं तदेवादेशतो व्याजि-
हीषुरादौ तावज्जघन्यपदे गाथात्रयेणाह—

सव्वासु लहुं अंतरमोघव्व सगसगवडिठहाणीणं ।

सत्तण्ह णवरि कम्मेऽणाहारे अंतरं णत्थि ॥७५८॥

हस्सं भिन्नमुहुत्तं णयं सपयाण वडिठहाणीणं ।

गयव्वेण सुहमम्मि य तहा असंख्यगुणवड्डीए ॥७५९॥

तिणर-पणमणवयेसुं ओरालिय-थी-णपुंसगेसुं य ।

मणणाण-संयमंसुं समइअ-छेणसु णायव्वं ॥७६०॥

(प्रे०) “सव्वासु लहुं” इत्यादि, निरयगत्योषादिसर्वमार्गणासु ‘लघु’-जघन्यमेकजीवा-
भितमन्तरमोघवत्, भवतीति शेषः । कस्यां कर्मणां कस्याः कस्या वृद्ध्यादेरित्याह—“सगसग-
वडिठहाणीण”मित्यादि, तत्तन्मार्गणायां सत्पदद्वारेऽभिहितानां सप्तकर्मणामसंख्येयभाग-
वृद्ध्यादिस्थितिवन्धसत्पदानामित्यर्थः ।

किं निर्विशेषं सर्वमार्गणास्वोघवदुतास्ति किञ्चिद्विशेषोऽपीत्याह—“णवरि” इत्यादि, ‘नवरं’
परं “कम्म”ेति कर्मणकाययोगे “णाहारे” ति लुप्ताऽकारस्य दर्शनादनाहारकमार्गणायां
चैकस्या अपि वृद्धेर्हानेर्वाऽन्तरं नास्ति । कुतः ? इति चेद्, उत्कृष्टपदेऽधिकृत्यायामेकेन्द्रियजीव-
सत्कायां त्रिसामयिक्यां कर्मणकायोम्यवस्थायां *विवक्षाविशेषेणाऽपि प्रथमसमयेऽवस्थितान्यस्थिति-
बन्धस्यैवास्वीकृतत्वात्, शेषसमयद्वयमपेक्ष्य तु भूयस्कारस्यान्तरस्य वाऽन्तरस्यैवासम्भवेनासंख्येय-
भागवृद्धिहान्यन्तरस्याप्यसम्भव एवेति । यदि च प्रथमसमयेऽवस्थितस्थितिवन्धस्यैव विवक्षान्तरेण
भूयस्कारादिवन्धोऽपि स्वीक्रियेत तदाऽपि क्वलाया असंख्यभागवृद्धेरसंख्यभागहानेश्चान्तरं समय-
मात्रं सम्पद्येत, न शेषवृद्धिहानीनामिति सूक्ष्मधिया स्वयमेवोक्तमिति ।

अन्यथापि विशेषमाह—“हस्सं भिन्नमुहुत्तं णयं” मित्यादि, सामान्यत ओघवदतिदिष्ट-
मप्येकजीवाश्रयं ‘हस्सं’-जघन्यमन्तरं ‘भिन्नमुहुत्तम्’-अन्तमुहुत्तं श्रेयम् । कस्यां कस्यां मार्गणायां
कस्या वृद्धेर्हानेर्न्याह—“सपयाण” इत्यादि, गतवेदं सूक्ष्मसम्परायमार्गणयोः सर्वेषां सत्पदानां,
तथाऽपर्याप्तभेदवर्जेषु त्रिषु मनुष्यगतिभेदेषु पञ्चमनोदोग-पञ्चवचोयोगौ-दारिककाययोग-स्त्रीवेद-
नपुंसकवेद-मनःपर्यवज्ञान-संयमोघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीयसंयममार्गणास्वित्येवं विंशतिमार्ग-

* विवक्षाविशेषधिमर्शो ।ह अत्रैव स्थितिवन्धग्रन्थे भूयस्काराधिकारैवजीवाश्रयवाल्द्वारे ‘कम्म-
ऽणाहारेसु’ इत्यस्या (५७५) गाथाया वृत्तौ व्यधायि, जिज्ञासुना तत्रत्या प्रेमप्रभा प्रचिलोकनीया ।

णासु तु प्रत्येकमसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धेरित्यर्थः । तत्राऽप्यगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणयोः केवलानां श्रेणिगतजीवानामेव प्रवेशेन स्वप्रायोग्यानां सर्वविधवृद्ध्यादिसत्पदानामौघिकामंख्यगुणहानेर्जघन्यान्तस्वदन्तमुर्हर्तप्रमाणमेव प्रस्तुतान्तरं प्राप्यते, न पुनः समयमात्रम् ; इत्यत ओघवदतिदिष्टमप्यपोधान्तमुर्हर्तमभिहितम् । मनुष्यगत्योधादिविंशतिमार्गणास्वपि देवानामप्रविष्टत्वात्सप्तानामसंख्येयगुणवृद्धेः प्रपतदुपशमकस्यैव जायमानत्वाच्चाधिकसंख्येयगुणहानेरन्तरवत्सप्तानामसंख्यगुणवृद्धेरप्यन्तरं जघन्यतोऽन्तमुर्हर्तमेव प्राप्यत इत्यपोध तथैवाभिहितम् । मनुष्यगत्योधादिमार्गणासु सप्तकर्मणां शेषस्थितिवन्धवृद्धिहानिसत्पदानां तथा मनुष्यगत्योधादिविंशतिमार्गणाः कार्मणकाययोगाऽनाहारकमार्गणेऽप्यगतवेदसूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणे च परिहृत्य शेषसर्वमार्गणासु सर्वेषां स्थितिवन्धवृद्धिहानिसत्पदानां जघन्यमन्तरं सर्वथैवोघवद्भावनीयमिति ॥७५८-७५९-७६०॥

तदेवमभिहितं सर्वमार्गणास्थानेषु सप्तानामसंख्येयभागवृद्ध्यादिस्थितिवन्धसत्पदानां जघन्यमन्तरम् । सम्प्रति तदेवोत्कृष्टतः प्रचिकटयिषुराह—

पुन्वा कोडिपुहुत्तं गुरुं असंख्यगुणवड्ढिहाणीणं ।

सत्तण्हं तिणरेसुं ओघव्व अचक्खु-भवियेसुं ॥७६१॥

(श्रे०) “पुन्वा कोडिपुहुत्तं”मित्यादि, आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनामसंख्यगुणवृद्धिहानिलक्षणाद्विविधस्थितिवन्धयोः प्रत्येकं ‘गुरु’-उत्कृष्टमेकजीवाश्रितमन्तरं पूर्वकोटिपृथक्त्वम् । कामु मार्गणास्वित्याह—“तिणरेसुं” ति अपर्याप्तभेदवर्जासु तिसृषु मनुष्यगतिमार्गणास्विन्यर्थः । इदं हि भूयस्काराधिकारे प्रकृतमार्गणाश्रये उपपादितावक्तव्यस्थितिवन्धोत्कृष्टान्तरवदुपपादनीयम्, प्रत्येकं मार्गणानामेकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितेः पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकत्रिपल्योपमप्रमाणत्वेऽपि ‘सत्तण्हं भवा उ उक्कोसा’ इत्यनेन तावत्या उत्कृष्टायाः कायस्थितेः पूरकभवेपु चरमे युग्मिभवे एकविधया अपि श्रेणेरसम्भवेनाऽसंख्यगुणवृद्धिहानीनामप्यसम्भवात्तं युग्मिभवं त्रिहाय शेषभवनिष्पन्नोत्कृष्टकायस्थिन्यनुसारेण तस्य लाभादिति ।

“ओघव्व अचक्खु-भवियेसुं” ति ओघवदचक्षुर्दर्शन-भव्यमार्गणयोः, सप्तानामसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धिहानयोः प्रत्येकमुत्कृष्टमेकजीवाश्रितमन्तरमित्यनुवृत्त्या विज्ञेयम् । ततश्च मार्गणाद्वयेऽपि सप्तानामसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धिहानयोः प्रत्येकमन्तरं देशोनार्थपुद्गलपरावर्तप्रमाणं प्राप्तम्, तच्चाविशेषेणौघवद्भावनीयम्, प्रकृतमार्गणद्वयगतानां सप्तप्रकृतिसत्कासंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धिहानिस्वामिनामोघापेक्षयाऽविशेषादोघवन्मार्गणाद्वयस्यैकजीवाश्रितोत्कृष्टकायस्थितेरनादित्वाच्चेति ॥७६१॥

अथ यासु मार्गणासु प्रस्तुतमायुर्वर्जसप्तप्रकृत्यसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धिहान्यन्तरमुत्कृष्टतो मार्गणोत्कृष्टकायस्थितितुन्यं ताः संगृह्य तत्राह—

दुपणिदितस-पुरिस-चउणाण-णयण-ओहि-संयमेसु तहा ।

सम्म-सइअ-सणीसुं आहारे ऊणकायटिई ॥७६२॥

(प्रे०) “दुपणिदि” इत्यादि, पञ्चेन्द्रियौघ-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियलक्षणयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियभेदयोः ‘दु’शब्दस्य ‘अस’ इत्यत्रापि योजनाद् द्वयोरपर्याप्तभेदवर्जितयोस्त्रयमकायभेदयोः, पुरुषवेद-मत्यादि-चतुर्ज्ञानेषु, “णयण”ति यक्षुर्दर्शनमार्गणभेदे, अवधिदर्शने, संयमौघे, तथा सम्यक्त्वौघ-ध्यायिक-सम्यक्त्व-संज्ञिष्वाहारकमार्गणायां चेत्येवं समुदितासु षोडशमार्गणासु प्रत्येकम् “ऊणकायटिई” ति अन्तर्मुहूर्तादिलक्षणैर्नैकदेशेनोना तत्तत्पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणानामत्रैव स्थितिवन्धप्रत्ये द्वितीया-धिकारगतैकजीवाश्रितकालद्वारेऽभिहितोत्कृष्टा कायस्थितिः, सप्तानामसंख्यगुणस्थितिवन्ध-वृद्धिहान्योः प्रत्येकमुत्कृष्टमन्तरामिति प्राग्बदनुवृत्त्या विज्ञेयम् । एवमेवोत्तरप्रापि बोद्धव्यम् ।

अत्र भावना तु प्रत्येकमार्गणात्कृष्टकायस्थितिप्रारम्भप्रान्तसमासन्नभाविश्रेणि उपान्त-रानुसारेण कर्तव्या, सप्तकर्मणामसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धिहानीनां श्रेण्यधीनत्वात् । तद्यथा-पञ्चेन्द्रियौघमार्गणाया एकजीवाश्रयोत्कृष्टकायस्थितिः साधिकं सागरोपमसदृशम् । सा च नानापञ्चेन्द्रियभवेरेव पूरयितुं शक्यते । तत्र ये केचन मार्गणान्तरादागत्य संख्येयवर्षस्थितिकमनुष्यतयोत्प-द्याऽविलम्बेन यथाकालमुपशमश्रेणिमारुह्य क्रमेणानिवृत्तिशब्दरम्यरायगुणस्थाने ज्ञानावरणादीनां तत्तत्कर्मणां प्रथमतोऽसंख्येयगुणहीनस्थितिवन्धान् कृत्वा उपशान्तमोहगुणस्थानकं स्पृशन्ति; ततस्तू-पशान्ताद्वाक्ष्यात्क्रमेण पतन्ति, न पुनः भवश्रयेण देवगतावृत्पद्यन्ते; पश्चात्तु नानाभवेः पञ्चेन्द्रि-यौघमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिं निर्वाहोत्कृष्टकायस्थितेश्वरमे संख्येयवर्षस्थितिके भवे मनुष्यतया वर्तमानाः सन्तो भवप्रान्तान्तर्मुहूर्ते क्षपकश्रेणिमारुह्य पुनरपि ज्ञानावरणादीनां तत्तत्कर्मणामसंख्येय-गुणस्थितिवन्धदानि कुर्वन्ति, तैर्जीवविशेषैः कायस्थितिप्रारम्भसमासन्नप्रवृत्तोपशमश्रेणौ निर्वाति-तासंख्यगुणस्थितिवन्धदानेस्तया कायस्थितिप्रान्तसमासन्नवर्तिक्षपकश्रेणौ विहितामंख्यगुणस्थिति-बन्धहान्योर्यदन्तरं तदुत्कृष्टान्तरतया प्राप्यते, तच्च देशोनपञ्चेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणमिति-कृत्वा तथैवाभिहितम् । इत्थमेव शेषपर्याप्तपञ्चेन्द्रियादिषुषोडशमार्गणास्वपि यथासम्भवं देशेना उत्कृष्टकायस्थितिः प्रकृतोत्कृष्टान्तरं विज्ञेयम् । भावनाऽपि तत्र यथोक्तरीत्या स्वयमेव कर्तव्येति । एतासु पञ्चेन्द्रियौघादिमार्गणासु सप्तानामसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धेरुत्कृष्टान्तरमप्युत्तरीत्येवोप-पादनीयम्, केवलं कायस्थितिप्रान्तभागे द्वितीयवारमप्युपशान्ताद्वाक्ष्येण प्रपतत एवासंख्यगुणवृद्धि-र्द्रष्टव्या । क्षपकश्रेणौ वृद्धेरसम्भवादिति भावः ॥७६२॥ अथ यासु मार्गणासु सप्तानामसंख्य-गुणस्थितिवन्धवृद्धिहान्यन्तरमुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तमात्रं ता उपचिन्त्याह—

पणमणवय-काय-उरल-थी-णपुम-अवेअ-चउकसायेसुं । .

समइअ-छेअ-सुइल-उवसमेसु णयं मुहुत्ततो ॥७६३॥

(प्रे०) “पणमणवये” त्यादि, पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्यौदारिक-काययोग-स्त्रीवेद-नपुंसकवेदाऽपगतवेद-क्रोधादिचतुःकषायेषु, सामायिक-छेदोपस्थापनसंयम-शुक्ल-लेश्या-पशमिकमस्यक्त्वेषु चेत्येवं समुदितासु त्रयोविंशतिमार्गणासु प्रत्येकं “जेद्यं सुहृत्तन्तो” ति प्रकृतत्वादायुर्वर्जसप्तमूलप्रकृत्यसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धिहान्योरुत्कृष्टमन्तरमन्तमुहूर्तं ज्ञेयम् ।

तत्र पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोगाऽपगतवेद-कषायचतुष्को-पशमिकमस्यक्त्वमार्गणानां प्रत्येक-मुत्कृष्टकायस्थितेरेवान्तमुहूर्तत्वात्प्रकृतान्तरं तदधिकं न सम्भवतीति कृत्वाऽन्तमुहूर्तमुक्तम् । एव-मेव काययोगसामान्यौ-दारिककाययोग-शुक्लेश्यामार्गणानां सामान्यतो दीर्घकायस्थितिकत्वेऽपि यैरेकेन्द्रियादिभवेस्तादृशदीर्घकायस्थितिः पूर्यते तासु प्रस्तुतासंख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धिहान्येव सकृद् द्विर्वाचनं भवतः, तदभावे कुतोऽन्तरमपि भवेत्, अन्तरस्य तादृशहानिद्वयाद्यधीनत्वात् । एके-न्द्रियादिभ्योऽन्यजीवापेक्षया लभ्यमानं तु तदन्तमुहूर्तमेव भवेत्, तेषामन्तमुहूर्तादधिकं प्रस्तुत-मार्गणायामेवानवस्थानात् ।

किमुक्तं भवति—काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगयोर्दीर्घकायस्थितिप्रयोजका एके-न्द्रियभवा एव, न त्वन्ये, अन्यभवेषु प्रत्यन्तमुहूर्तं योगानां परावर्तनात्, इत्थं हि देवमनुष्यभवसम्भव-संख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धेरन्तरं मनुष्यभवसम्भवसंख्यगुणस्थितिवन्धहानेरन्तरं च काययोगसामान्यौ-दारिककाययोगमार्गणयोरुक्ताधिकं न प्राप्यते । शुक्लेश्यामार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिप्रयोजके देवभवेऽसंख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धेः सम्भवेऽपि सा देवभवप्रथमसमये सकृदेव सम्भवति । भवप्रथम-समये सकृदेव तद्भावे तु कुतोऽन्तरं भवेत् । स्थितिवन्धकानां मनुष्याणां तु योगानामिव तत्तल्लेश्या-नामप्यान्तमुहूर्तिकत्वाच्छुक्लेश्याऽप्यन्तमुहूर्तादधिककालं नैरन्तर्येण न प्रवर्तते, अतः प्रकृतवृद्धय-न्तरमपि प्रोक्ताधिकं न प्राप्यते ।

शेषासु स्त्रीवेद-नपुंसकवेद-सामायिकसंयम-छेदोपस्थापनसंयमरूपासु चतसृषु मार्गणासु तु केषामपि जीवानां मार्गणा विच्छेदादवाक् तत्तन्मार्गणाचरमान्तमुहूर्ते एवाऽसंख्यगुणहीनस्थितिवन्धानां सम्भवात्, तथा तत्तन्मार्गणाप्रारम्भान्तमुहूर्ते एवाऽसंख्यगुणवृद्धिस्थितिवन्धानां सम्भवाच्च प्राप्यते ऽसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धिहान्यन्तरमन्तमुहूर्तादधिकम् । तद्यथा—केनाऽपि स्त्रीवेदिजीवेनोपशम-श्रेणौ क्षपकश्रेणौ वा ममारब्धायां क्रमेणैव तस्याऽसंख्यगुणस्थितिवन्धहानयो भवन्ति, नान्यत्र । श्रेणिमारोहन् स यदि मृत्युं न प्राप्नोति तदाऽन्तमुहूर्तेऽतिक्रान्तेऽवेदीभवन् प्रकृतमार्गणातो वृद्धि-र्भवति । यदि च कालं करोति तदा त्वनुपदमेव देवत्वे पुंवेदीभवन् प्रकृतमार्गणाया बहिर्निर्यातिः इत्थं चोभयथाऽपि मार्गणाप्रान्तान्तमुहूर्ते एव तस्य नानाऽसंख्यगुणहीनस्थितिवन्धाः सम्भवन्ति, ततश्च न भवति सप्तानामसंख्यगुणस्थितिवन्धहान्यन्तरमन्तमुहूर्तादधिकम् । तच्चान्तरं प्रकृत-मार्गणामान्यसंख्यगुणहीनस्थितिवन्धद्वयमध्यवर्त्युत्कृष्टवस्थानकालप्रमाणमवसातव्यम् । इत्थमेव-

शेषनपुंसकवेदादिमार्गणात्रयेऽप्युत्कृष्टान्तरं विज्ञेयम्, भवक्षये भवक्षयामात्रे वा स्त्रीवेदमार्गणावश-
पुंसकवेदादिमार्गणात्रयस्याऽपि नियमतो विच्छेदात् ।

असंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धयन्तरं तु प्रपतदुपशमकजीवापेक्षया भावनीयम् । तद्यथा—
कश्चित् स्त्रीवेदी जीव उपशमश्रेणिं समारूढोपशान्तमोहगुणस्थानकं प्रापः, न च तदानीमसौ स्त्रीवेद-
मार्गणायाम्, तदानीं तस्य वेदोदयाभावात् । पश्चात्तु स उपशान्ताद्वाक्षयान्प्रपत्य यदा वेदोदयं
प्राप्नोति, ततः प्रभृति स्त्रीवेदमार्गणायां वर्तते, ततस्तु प्रपतन् निरन्तरवर्धमानसंक्लेशोऽसौ
सुहृताभ्यन्तरे एव ज्ञानावरणादीनां यथोत्तराऽसंख्यगुणवृद्धिस्थितिवन्धान् करोति, एतच्च तदा
भवति यद्यसौ मृत्युं नैति; यदि चासौ मृत्युमेति तदा तु प्राग्बन्धियमतो मार्गणान्तरं प्रतिपद्यते,
इत्थं तस्य क्रमेण प्रतिपतत उत्कृष्टावस्थानकालान्तरितयोः संख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धयोर्दन्तरं
तदेव स्त्रीवेदमार्गणायां मूलोक्तोत्कृष्टान्तरतया विज्ञेयम् ।

न च यः कश्चिदुपशमश्रेणितः प्रपतन् चरमासंख्येयगुणवृद्धिस्थितिवन्धं कृत्वा स्त्रीवेदितयैव
देशोनपूर्वकोटीकालं श्रेणेर्बहिरेवाप नारयति, भवप्रान्ते पुनरप्युपशमश्रेणिं समारूढ प्राग्बन्धसंख्येयगुण-
वृद्धिस्थितिवन्धं च करोति तस्योक्ताधिकमन्तरमपि प्राप्येति वाच्यम् । यतः क्रमशः प्रतिपाते काल-
करणे वा तस्याऽसंख्यगुणवृद्धिस्थितिवन्धसम्भवः, तत्र कालकरणेन लभ्योऽसंख्यगुणवृद्धिस्थितिवन्ध-
स्तु प्रकृतान्तरप्रयोजक एव न भवति, प्रकृतमार्गणाबहिर्भाविन्वात्तस्य । क्रमशः प्रपततोऽपि यो
देशोनपूर्वकोटिकात्मतिक्रम्य द्वितीयवारमसंख्यगुणवृद्धिस्थितिवन्धोऽभिहितः, स यद्यपि स्त्रीवेद-
मार्गणायामेव, तथाऽपि नासौ पूर्वकोटिकालात् पूर्वं निर्वर्तितादसंख्यगुणवृद्धिस्थितिवन्धादारभ्य निरव-
च्छिन्नप्रवृत्तायां स्त्रीवेदमार्गणायामेव; किन्तु मध्ये विच्छिद्य पुनः प्रवृत्तायां स्त्रीवेदमार्गणायामेव ।
यतो यः क्रमेण पतितः स उपशान्ताद्वां निर्वाह्यैव, स च नियमतो मध्येऽन्तमुहूर्तमदेद्यासीत्,
तथा च मध्येऽन्तमुहूर्तं स्त्रीवेदमार्गणायाम् विच्छेदान्नाद्यापि देशोनपूर्वकोटिकालान्तरितगतप्रतिपात-
प्रवृत्तैव निरवच्छिन्ना स्त्रीवेदमार्गणा, तदभावे कुत उक्ताधिकान्तरस्य सम्भवः, न कुतश्चिदिति ।
शेषनपुंसकवेदादिमार्गणावपि प्रकृतवृद्धयन्तरं सर्वथैव स्त्रीवेदमार्गणावद्भावनीयमिति ॥७६३॥

तदेवं भणितो यासु मार्गणासु सप्तानामसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धिहान्युत्कृष्टान्तरस्यैवापेक्षया
विशेषस्तासु तथैव । अधुना यासु संख्येयभाग-संख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धिहान्युत्कृष्टान्तरविषय ओघा-
पेक्षया विशेषस्तासु न दर्शयन्नाह—

आहारं कायटिई संख्येयभागगुणवृद्धिहाणीणं ।

सत्तण्हं कम्माणं उक्कोसं अंतरं णयं ॥७६४॥

होइ असंखपरट्टा उक्कोसं तिरिय-काय-णपुमेसुं ।

दुअणाणा-ऽयत्त-अणयण-भवियेयर-मिच्छ-अमणेसुं ॥७६५॥

होइ तिपणिंदितिरिय-दुपणिंदितस-इत्थि-पुरिस-चक्खूसुं ।

पुन्वा कोडिपुहुत्तं संख्येयगुणवृद्धिहाणीणं ॥७६६॥

(प्रे०) "आहारे कायठिई"त्यादि, आहारिमार्गणायामायुर्वर्जसमकर्मणां संख्येयभाग-संख्येय-गुणवृद्धिहानीनां प्रत्येकमुत्कृष्टमेकजीवाश्रितमन्तरं "कायठिई" ति आहारिमार्गणाया एकजीवा-श्रितोत्कृष्टकायस्थितिर्ज्ञेयम् । यत आहारिमार्गणाया उत्कृष्टकायस्थितिरङ्गुलाऽसंख्येयभागप्रमाणक्षेत्र-गताकाशप्रदेशेषु निरन्तरं प्रतिममयमेकैकाकाशप्रदेशस्यापहारे यावान् कालोऽतिगच्छति तावत्यो-ऽसंख्येयोन्मर्षिण्यवसर्षिण्यः, सा च नानैकेन्द्रियभवैरपि पूरयितुं शक्यते, एकेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितेर-संख्येयपुद्गलगतवर्तप्रमाणत्वात् । किञ्चैकेन्द्रियावस्थायां स्वस्थाने मत्तानां संख्येयगुणस्थितिवन्ध-वृद्धेः संख्येयगुणस्थितिवन्धहानेश्चान्तगऽन्तरा नास्ति सम्भवः, द्वीन्द्रियादिभ्य उत्पद्यमानैकेन्द्रियस्य भवप्रथमसमयभाविसंख्येयगुणहानिं विहायोत्कृष्टकायस्थितिं यावत्संख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धिहानीनां तथाऽवस्थितस्थितिवन्धानामेव परावर्त्य परावर्त्य प्रवर्तनात् ।

भावना त्वेवम्—यः कश्चिद्वक्रगत्याऽनाहारको भूत्वा क्षुल्लकभवग्रहणलक्षणजघन्यस्थितिक-लब्ध्यपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पन्नः, उत्पत्तिस्थानं प्राप्याऽऽहारको चाभूत्, स चानन्तरभवे-ऽविग्रहेणैकेन्द्रियतयोत्पत्तिसुभंचरमान्तमुद्दृतेऽवशिष्टे मत्तानां संख्येयगुणवृद्धिस्थितिवन्धं करोति, तदनन्तरं तु संख्येयगुणवृद्धिस्थितिवन्धान् विहाय शेषस्वप्रायोग्याऽसंख्येयभाग-संख्येयभागवृद्धि-संख्येयभागा-ऽसंख्येयभाग-संख्येयगुणहानिभिरवस्थितवन्धैश्च शेषमायुरनुभूयाऽवक्रगत्यैकेन्द्रिय-तयोत्पद्यते, तत्र च नानाभवैराहारकस्योत्कृष्टां कायस्थितिं निर्गमयति, यदा चाऽऽहारककायस्थितिः क्षुल्लकभवप्रमाणाऽवशिष्यति तदाऽमावायुःश्रयादजुगत्या द्वीन्द्रियादितयोत्पद्यमानः सन् मत्तानां संख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धिं करोति, इत्थं तादृशजीवेन पूर्वं संज्ञिपञ्चेन्द्रियावस्थायां भवचरमान्त-मुद्दृते कृतायाः संख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धेस्तथोत्कृष्टाऽऽहारककायस्थितिं निर्गमय्य द्वीन्द्रियादि-भवप्रथमसमये निर्मितायाः संख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धेश्च यदनन्तरं तदाहारकमार्गणायां मत्तानां संख्ये-यगुणस्थितिवन्धवृद्धेरुत्कृष्टान्तरतया प्राप्तम्, तच्च यद्यपि देशोन्मुखलक्षणेनैकदेशेनोना-ऽऽहारकोत्कृष्टकायस्थितिप्रमाणम्, तथाऽपि वर्जनीयदेशस्य स्वल्पतया तमविवक्ष्य लाघवार्थमाहारको-त्कृष्टकायस्थितिप्रमाणमेवाभिहितम् । एवमुत्तरत्रापि यथासम्भवमेकदेशेनोन्त्वमधिकत्वं वा स्वयमेव द्रष्टव्यम् ।

यथा हि मत्तानां संख्येयगुणवृद्धेरुत्कृष्टमन्तरं भावितं तथा संख्येयगुणहानेरन्तरमपि भावनी-यम्, केवलं प्रथमा हानिः क्षुल्लकभवस्थितिकसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाद्यन्यतरूपत्रसभवादनन्तरे एकेन्द्रि-यभवे भवप्रथमसमये द्रष्टव्या, आहारकोत्कृष्टकायस्थितिसम्बन्धिचरमभवे द्वीन्द्रियादितयोत्पादो न द्रष्टव्यः, किन्तु तन्स्थाने क्षुल्लकभवस्थितिकलब्ध्यपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियतयोत्पादो द्रष्टव्यः, तत्र भवप्रथमान्तमुद्दृते गते एव संख्येयगुणहानिश्च द्रष्टव्या, न तु तदवगिति ।

संख्येयभागवृद्धिहान्युत्कृष्टान्तरेऽप्यनया दिशैव भावनीये, यत एकेन्द्रियाणां स्वस्थाने संख्येयगुणवृद्धिहानी इव संख्येयभागवृद्धिहानी अपि न भवतः, ततश्च सर्वं तद्दुपपद्यत इति ।

अथ मार्गणान्तरेषु प्रकृतवृद्धिहान्युत्कृष्टान्तरमाह—“होइ असंखपरदा” इत्यादि, सप्तानां संख्येयगुण-संख्येयभागस्थितिवन्धवृद्धिहान्यन्तराण्युत्कृष्टतोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणानि भवन्ति । कासु मार्गणान्वित्याह—“तिरिये” त्यादि, तिर्यग्गत्योघ-काययोग्यामान्य-नष्टुं मकवेद-मन्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽभव्य-मिथ्यान्वा-ऽसंज्ञिरूपास्वेकादशमार्गणां स्मित्यर्थः । एतास्त्रपि प्रत्येकमुत्कृष्टान्तरमनन्तरोक्तनीत्येवाऽसंख्येयपुद्गलपरावर्तप्रमाणं भावनीयम्, केवलमृजु-वक्रगत्यादिनोत्पादनिर्वन्धो न कार्यः, स्वस्थानतः परस्थानतो वा येषु भवेपु संख्येयगुण-संख्येयभागस्थितिवन्धवृद्धिहानयो नियमतो भाविन्पस्तादृशभवेस्वेकेन्द्रियकायस्थित्यसंख्येयपुद्गल-परावर्तान् यावदनुत्पादो द्रष्टव्यश्चेति ।

मार्गणान्तरेषु संख्यातगुणवृद्धिहान्युत्कृष्टान्तरमाह—“होइ तिपणिदि” इत्यादि, अपर्याप्त-भेदवर्जेषु त्रिषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मार्गणाभेदेषु, द्विशब्दस्य पञ्चेन्द्रियश्रययोः प्रत्येकं योजनाद-पर्याप्तभेदवर्जितयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियजातिभेदयोर्द्वयोश्च त्रसकायभेदयोः स्त्रीलिंग-पुरुषलिंग-चक्षुर्दर्शन-मार्गणास्थानेषु चेत्येतासु दशमार्गणासु प्रत्येकं पुनः संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणपदद्वयस्य प्रत्येक-मुत्कृष्टमन्तरं पूर्वकोटिपृथक्त्वप्रमाणं भवति । कृतस्तावन्मात्रम्, न पुनरधिकम् ? इति चेद्, प्रत्येकं निरन्तरमसंज्ञिपञ्चेन्द्रियादितया निर्वाहोत्कृष्टकालस्य पूर्वकोटीपृथक्त्वप्रमाणत्वात् । इदमुक्तं भवति—पञ्चेन्द्रियतया निरन्तरमभवद्भवेषु यो जीवः प्रथमचरमभवद्भयं संज्ञिपञ्चेन्द्रियतयाऽनु-भवति, मध्यमभवेस्त्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियोत्कृष्टकायस्थितिं पूरयति, तादृशजीवमपेक्ष्य प्रकृतोत्कृष्टान्तरमुत्पद्यते । कृतः ? असंज्ञिपञ्चेन्द्रियभवेपु स्वस्थाने संख्येयगुणवृद्धिहानानामभावात्, उत्कृष्ट-स्थितिकामंज्ञिपञ्चेन्द्रियभवस्थितेः पूर्वकोटिप्रमाणत्वात्, असंज्ञिपञ्चेन्द्रियतया निरन्तरं संख्येय-वाराणैवोत्पत्तः सम्भवाच्च । एवमेव त्रसकायौघादितनन्मार्गणामादायाऽपि वक्तव्यम्, केवलं तत्रा-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामिव चतुरिन्द्रियादीनामपि प्रवेशेनाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्थाने चतुरिन्द्रियादयो-ऽपि वक्तव्याः । विम्वरभावना तु प्रागिव स्वयमेव कर्तव्येति ॥७६४-७६५-७६६॥

अथ शेषमार्गणासु सप्तानां संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानीनां तथा सर्वमार्गणास्वसं-ख्यभागवृद्धिहान्योत्कृष्टान्तरं प्रदर्शयन्माह—

सेसासु मुहुत्ततो संखियभागगुणवडिढहाणीणं ।

उक्कोसं मन्वासु होइ असंखंसवडिढहाणीणं ॥७६७॥ (गीतिः)

(प्र०) “सेसासु” इत्यादि, उक्तशेषासु यासु संख्येयभाग-संख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धि-संख्येयभाग-संख्येयगुणस्थितिवन्धहानिलक्षणानि चत्वारि पदानि सद्भूतानि प्रतिपादितानि तासु

नरगात्सोऽदिश्वेकनन्तिमार्गणासु तेषां चतुर्णां पदानां, तथोक्तशेषासु यासु संख्येयभागस्थितिवन्ध-
वृद्धिहानिलक्षणपदद्वयस्यान्तरमथापि नाभिहितं तासु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौघादिविंशतिमार्गणासु प्रत्येकं
तासां सप्तकर्मसत्कसंख्येयभागादिस्थितिवन्धवृद्धिहानीनामुत्कृष्टमन्तरं "सुहृत्सो" ति सुगमम् ।

तत्र निरयगत्योघाद्या द्विनवतिमार्गणास्तु नामत इमाः—ओधमडितत्वादष्टौ
निरयभेदाः, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, सर्वे मनुष्यगतिभेदाः, सर्वे देवगतिभेदाः, अपर्याप्त-
पञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तत्रसकायभेदाः, काययोगमामान्यभेदवर्जाः सप्तदश योगभेदाः, अपगतवेद-कषाय-
चतुष्क--मन्यादिज्ञानचतुष्क--विभङ्गज्ञान-भयमौघ--सामायिक--छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिकसंयम-
देशसंयम-ऽवधिदर्शनकृष्णादिपल्लेश्याभेद-सम्यक्त्वाघ-क्षायिक--क्षायोपशमिकौ--पशुमिकमस्यक्त्व-
मामादन-सम्यग्मिथ्यान्वमंत्रिमार्गणाश्चेति । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौघादिविंशतिमार्गणाः पुन-
रिमाः—तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाघ-तत्पर्याप्त-तिरश्ची-सर्वविकलेन्द्रियभेद-पञ्चेन्द्रियाघ-तत्पर्याप्त-त्रसकायाघ-
तत्पर्याप्त-स्त्रीवेद-पुंवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयम-चक्षुर्दर्शनानीति । एतासु प्रायः प्रत्येकं प्रकृततत्तद्वृद्धि-
हानिसन्पदानां मार्गणागतसर्वजावस्वामिकत्वात् कदाचिदवस्थानस्थितिवन्धाद्वादिलक्षणमन्तमुहूर्तं
प्रस्तुतवृद्धिहानीनामप्रवर्तनान्च तादृगन्तमुहूर्तं विहाय प्रत्यन्तमुहूर्तं तत्तद्वृद्धिहानयः परानुस्य परानुस्य
नियमेन जायन्ते, इत्थं च प्रत्येकमुत्कृष्टान्तरं संख्येयस्थितिवन्धप्रमाणं भवदप्यौघिकाऽसंख्य-
भागवृद्धिहान्यन्तरवदन्तमुहूर्तदिधिकं न भवति । अत्र प्रायोग्रहणमपर्याप्तपञ्चेन्द्रियमार्गणादौ
कुत्रचित् तत्रप्रविष्टाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणाम्, अपर्याप्तत्रसकायादौदारिककाययोगादिमार्गणासु तत्र-
प्रविष्टद्वीन्द्रियादीनां तत्तत्संख्येयगुणवृद्ध्यादिस्वामित्वाभावात् । एवमपि तत्र प्रस्तुतान्तरम-
न्तमुहूर्तमात्रं तु तादृशासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाद्यवस्थाया उत्कृष्टत आन्तमुहूर्तिकत्वात्, औदारिककाय-
योगमार्गणायां त्वेकेन्द्रियाद्यवस्थाया दीर्घत्वेऽपि संख्येयगुणवृद्ध्यादिस्थितिवन्धं कृत्वैकेन्द्रियादि-
तयोन्पत्तिमात्रेर्गौदारिककाययोगमार्गणाया विच्छेदेन तादृशावस्थायाः संख्येयगुणवृद्ध्यादिस्थिति-
वन्धद्वयमध्यपतितत्वाभावादिति ।

अथ मार्गणास्थानेष्वेव सप्तानां शेषाऽसंख्यभागस्थितिवन्धवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः सत्पदयो-
रुत्कृष्टमन्तरं दर्शयन्नाह—“उक्तोसं सञ्चासु” इत्यादि, अक्षरार्थस्तु सुगमः, केवलं “सञ्चासु”
मिन्यनेन कार्मणकाययोगा-ऽनाहारका-ऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयमवर्जाः पट्पष्ट्यधिकशतमार्गणा
ग्राह्याः । कुतः ? कार्मणा-ऽनाहारकमार्गणयोः सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहानिलक्षणपदद्वयस्य सत्त्वे-
ऽपि तयोः 'कस्मेऽणाहारे अंतरं णत्थि' इत्यनेन सम्भवत्सर्वविधवृद्धिहान्यन्तरस्यैव प्रतिषिद्धत्वात्,
अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयमयोस्तु प्रकृतपदद्वयस्यैवाऽसत्त्वाच्चेति । भावना तु प्रत्येकमौघोक्तरीत्या
यथासम्भवं म्वयमेव कर्तव्येति ॥७६७॥

तदेवं भणितमादेशतोऽपि तत्तत्पदानां नानाजीवाश्रयमन्तरम् । तथा च गतमन्तरद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे चतुर्थमंज्जीशश्रयमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्ते नानाजीवाश्रिते भङ्गविचयद्वारे भङ्गविचयप्ररूपणां चिकीर्षुर्गदौ तावद्भङ्ग-
विचयोत्पत्तावुपयोगि तत्तद्बृद्ध्यादिबन्धकानां ध्रुवत्वादिकमोघत आह—

सत्तण्हं णियमाओ अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीओ ।

णेया भयणीयाओ सेसाओ वड्ढिहाणीओ ॥७६८॥

(प्र०) “सत्तण्हं णियमाओ” इत्यादि, आयुर्वर्जानां मत्तानां मूर्त्प्रकृतीनां “असंखंस-
वड्ढिहाणीओ” ति प्रकृतत्वात्स्थितिवन्धविषयेऽसंख्यांशबृद्धयसंख्यांशहानी इति द्वे अपि “णिय-
माओ अत्थि” ति नानाजीवानाश्रित्य “नियमतः स्तः” नियमेन विद्यते, न कदाचित्तयोर्वन्धका-
नामभाव इतिभावः । सूक्ष्मैकेन्द्रियाणामपि नत्स्वामित्वाद् द्वे अपि पदे ध्रुवे इति यावत् । “णेया भय-
णीयाओ” इत्यादि, ‘सत्तण्ह’मित्यनुवर्तते, ततः सप्तप्रकृतीनां स्थितिवन्धविषयाः “सेसाओ
वड्ढिहाणीओ” ति अनन्तरोवात्तशेषाः संख्येयगुणवृद्धिहानिसंख्येयभागवृद्धिहान्यसंख्यगु-
णवृद्धिहानयो “भयणीयाओ” ति ‘भजनीयाः’-भाज्या विकल्पवित्तव्या इत्यनर्थान्तरम् ।
एकेन्द्रियाणामतन्स्वामित्वाद्, एकेन्द्रियवर्जानां चासंख्यलोकाकाशप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकत्वान्प्रागुक्त-
नीत्यैतानि शेषाणि षट् पदान्यध्रुवाणि, कदाचित्तामां प्रत्येकं बन्धकाः सम्पद्यन्ते कदाचित्तु नेति ।
इत्थमेवोत्तरत्रापि सर्वेषां तत्तद् बृद्ध्यादिपदानां भजनीयाभजनीयत्वेऽपि तद्वन्धकानामेव तद् द्रष्टव्यम्,
एकाऽनेकबन्धकजीवसम्बन्धिभिन्नभिन्नकाललभ्यभङ्गविचयस्याऽधिकृतत्वात्, बन्धस्य भजनीया-
ऽभजनीयत्वप्रदर्शनं पुनर्वन्धस्य बन्धकाविनाभावित्वेन बन्धकभजनीयाऽभजनीयत्वस्य तेनैव
गम्यमानत्वात्लाघवार्थमिति ॥७६८॥

तदेवमुक्तं भङ्गविचयोपयोगि मत्तानां स्थितिवन्धवृद्ध्यादेर्ध्रुवत्वादिकमोघतः । साम्प्रतं तदे-
वादेशतो मार्गणास्थानेषु दर्शयन्नाह—

तिरिये मब्बेगिंदिय-णिगोअ-सेसमुहमेसु वणकाये ।

पुहवाइचउसु तेमिं वायर-वायरअपज्जेसुं ॥७६९॥

पत्तेअवणे तम्म अपज्जत्ते कायु-रालियदुगेसुं ।

कम्मण-णपुंसुं कमायचउगे अणाणदुगे ॥७७०॥

अयता-ऽचक्खूसुं तहा अपसत्थतिलेस-भवियेसुं ।

अभविय-मिच्छत्तेसुं असण्णि-आहारगियरेसुं ॥७७१॥ (गोतिः)

सत्तण्हं णायव्वा ओघव्व सगसगवड्ढिहाणीओ ।
सेसासुं भयणीआ णेया सगड्ढिहाणीओ ॥७७२॥

(प्र०) “तिरिचे सव्वेगिदिचे” न्यादि, अध्वगर्थस्तु सुगमः, नवरं “सगसगवड्ढिहाणीओ” इत्यत्र स्वपदेन तिर्यगन्त्योधादितत्त्वमार्गणा बोद्धव्येति । भावार्थः पुनरयम्-आधुव्वेज्-सप्तप्रकृतीनामसंख्यभागस्थितिवन्धवृद्धिहानिर्वर्जाः शेषत्रिविधा वृद्धयो हानयश्च यद्योयन्विन्तायामप्यध्रुवा लभ्यन्ते, तदा मार्गणास्थानेषु का वार्ता । अर्थाद् येषु मार्गणास्थानेष्वसंख्यभागवृद्धिहानिर्वज्शेषपण्डविधवृद्धिहानिषु यावत्यो वृद्धिहानयः सत्पदद्वारे सत्तया प्ररूपिनाम्नेषु मार्गणास्थानेषु तावत्योऽपि ता वृद्धिहानयोऽध्रुवा एव । अत एव “णायव्वा ओघव्व” इत्यनेन तिर्यगन्त्योधादिमार्गणासु, तथा “भयणीआ णेया” इत्यनेन तिर्यगन्त्योधादिमार्गणावर्जशेषमार्गणास्वपिताम्नां पण्डविधवृद्धिहानीनां भजनीयत्वमेवोक्तम् । असंख्यभागवृद्धिहानिपदे तु यासु मार्गणास्त्रोघवदभंख्यक्रांकाकाशप्रदेशतुल्या अनन्ता वा जीवास्तास्त्रोघवद् ध्रुवे । तादृशयो मार्गणास्तु “तिरिचे सव्वेगिदिचे” न्यादिना नामत उपात्तास्तिर्यगन्त्योधाद्याश्चतुःषष्टिः, न पुनः शेषा नरकगन्त्योधादिपण्डुत्तरशतमार्गणाः । अत एव तिर्यगन्त्योधादिमार्गणासु “ओघव्व” इत्यनेन असंख्यभागवृद्धिहान्योध्रुवन्वमतिदिष्टम्, शेषमार्गणासु तु “भयणीआ णेया सगवड्ढिहाणीओ” इत्यनेन संख्येयभागादिवृद्धिहानीनामिवासंख्यभागवृद्धिहान्योरप्यध्रुवन्वमभिहितमिति ॥७६९-७७२॥

सप्तप्रकृतीनां स्थितिवन्धसंक्रयोरवस्थाना-ऽवक्तव्यात्मकयोः द्वयोः सत्पदयोध्रुवत्वादिकमायुषः स्थितिवन्धसंक्रयोर्द्वयोः सत्पदयोध्रुवत्वादिकं च प्रागत्रैवाधिकारे सत्पदद्वारे-‘भृगारव्याउस्त उ संतपयाईसु दारेसु’ ॥ भृओगाग्व्य भवेऽवत्तवत्तं तदा अवट्टाणं । बंधस्स उ सत्तण्हं संतपयाईसु दारेसु’ ॥७७३॥ इत्यनेन भ्रूयस्काराधिकारोक्तप्ररूपणावदतिदेशद्वारेण कथितम्, ततश्च प्राग्भ्रूयस्काराधिकारोक्तभङ्गविचयोन्यादकान्यतरकरणेनैव प्रागवत्स्वयमेव भङ्गा उत्पादयितुं युज्यन्ते तथाऽपि स्वल्पतरगशासेनैव भङ्गोत्पादनायान्यत् किञ्चित् करणमाह—

अधुवपयस्स धुवजुआ तिविगप्पा एगऽणेगभेयाओ ।
पयवड्ढीए तिविगुणा एगूणा हुन्ति धुवरहिया ॥७७३॥

(प्र०) “अधुवपयस्स” इत्यादि, संख्येयगुणवृद्ध्यादिरूपस्यैकस्याऽध्रुवपदस्य “धुवजुआ” इति अन्येषामवस्थानादिध्रुवपदानां य एको ‘ध्रुवभङ्गः’-ध्रुवपदनिष्पन्नभङ्गस्तेन युताः “तिविगप्पा” इति ‘त्रिविकल्पाः’-त्रिभङ्गाः, भवन्तीति परेणान्वयः । कुतश्च यो भङ्गा इत्याह-“एगऽणेगभेयाओ” इति तस्यैकस्य संख्येयगुणवृद्ध्यादेरध्रुवत्वेन कदाचिदेकवन्धकस्य कदाचिदेकवन्धकानां सद्भावात् । एकस्मादधिकेष्वध्रुवपदेषु पुनः कियन्तो भङ्गाः स्युरित्याह-“पयवड्ढीए तिविगुणा” इति

तेऽनन्तरपदप्राप्ता भङ्गाः प्रत्येकाध्रुवपदवृद्धौ त्रिगुणाः, भवन्तीति परेणान्वयः । अर्थाद्-यत्र द्वे पदे अध्रुवे तत्रैकस्याध्रुवपदस्य वर्धनादनन्तरप्राप्तास्त्रयो भङ्गास्त्रिगुणाः सन्तो (३×३=९) नव भङ्गा भवन्ति, तेऽपि प्राग्बदेकेन ध्रुवभङ्गेन सहिता एव बोद्धव्याः । यत्र त्रीणि पदान्यध्रुवाणि तत्र तेऽनन्तरप्राप्ता नव भङ्गास्त्रिगुणाः सन्तः (९×३=२७) सप्तविंशतिर्भवन्ति, अमी अपि ध्रुवभङ्गमहिता एव ज्ञातव्याः, एवमुत्तरत्रापि । पुनरपि पदवृद्धौ यत्र चत्वार्यध्रुवपदानि तत्र तेऽनन्तरप्राप्ताः सप्तविंशतिर्भङ्गास्त्रिगुणाः सन्तः (२७×३=८१) एकाशीतिर्भवन्ति । पुनरपि पदवृद्धौ यत्र पञ्चाऽध्रुवपदानि तत्र तेऽनन्तरप्राप्ता एकाशीतिर्भङ्गास्त्रिगुणाः सन्तः (८१×३=२४३) स्त्रिचत्वारिंशदभ्यधिकशतद्वयं भवन्ति । पुनरपि पदवृद्ध्या यत्र षट् पदानि भाज्यानि तत्र 'षट्पञ्चदशोऽत्र त्रिगुणा' इति वचनात् तेऽनन्तरप्राप्तास्त्रिचत्वारिंशदुत्तरशतद्वयभङ्गास्त्रिगुणाः सन्तः (२४३×३=७२९) एकोनत्रिंशदभ्यधिकसप्तशतानि भवन्ति । यत्र पुनः सप्त पदानि भजनीयानि तत्र पुनरपि पदस्य वर्धनात् तेऽनन्तरप्राप्ता एकोनत्रिंशदभ्यधिकसप्तशतभङ्गास्त्रिगुणाः सन्तः (७२९×३=२१८७) सप्ताशीत्यभ्यधिकशतान्वितसहस्रद्वयं भङ्गा भवन्ति । यत्र त्वष्टौ पदानि भजनीयानि तत्र पुनरपि पदस्य वर्धनेऽनन्तरप्राप्ता भङ्गास्त्रिगुणाः सन्तः (२१८७×३=६५६१) एकषष्ट्यभ्यधिकषष्टशतान्वितषट् सहस्राणि । ततः पदवृद्धौ यत्र भाज्यपदानि नव तत्रोक्तनीत्या (६५६१×३=१९६८३) त्र्यशीतिध्रुवषष्टशतान्वितेकोनविंशतिमहस्राणि भङ्गा जायन्ते । पुनरपि भाज्यपदवृद्ध्या यत्र भाज्यपदानि दश तत्र (१९६८३×३=५९०४९) एकोनपञ्चादशधिकेकोनषष्टिमहस्राणि भङ्गाः प्रभवन्ति । इत्थमेवोत्तरत्रापि प्रतिभजनीयपदवृद्धौ यथोत्तरं त्रैगुण्यं द्रष्टव्यम्, अस्माभिस्तु प्रकृतोपयोग्येवाभिहितम् ।

एते सर्वे भङ्गा ध्रुवपदसङ्गावापेक्षयाऽभिहिताः, यद्येकमपि ध्रुवपदं न स्यात्तदा ते क्रियन्तः स्युरित्येतदपि दर्शयन्नाह—“एगूणा ह्युन्ति ध्रुवरहिता” इति 'ध्रुवरहिताः' ध्रुवपदनिष्पन्नभङ्गेन रहिताः, ध्रुवपदाभावे केवलाध्रुवपदनिष्पन्नभङ्गा इति भावः । 'एकोनाः' एकभङ्गेनोना भवन्ति । यत्र यावन्तो ध्रुवाध्रुवपदनिष्पन्ना भङ्गास्तत्र तेष्वेको ध्रुवपदनिष्पन्नभङ्गः, तेन ध्रुवपदनिष्पन्नभङ्गेनोनाः शेषाः सर्वेऽध्रुवपदनिष्पन्नभङ्गा इति भावः । तद्यथा—एकपदेऽध्रुवे ध्रुवाध्रुवपदनिष्पन्नास्त्रयो भङ्गा उक्ताः, अतस्तत्रैको ध्रुवपदनिष्पन्नो भङ्गः, द्वौ पुनरध्रुवपदनिष्पन्ना भङ्गा । यत्र तु द्वे पदे अध्रुवे तत्र ध्रुवाध्रुवपदनिष्पन्नभङ्गा नवोक्ताः, तेष्वेको ध्रुवपदनिष्पन्नो भङ्गः, अष्टौ त्वध्रुवपदनिष्पन्ना भङ्गाः । अतो यत्र न स्यादेकमपि ध्रुवपदं तत्रैकं भङ्गं त्रिदशैर्द्वयादयो भङ्गा एव द्रष्टव्या इति भावः । इत्थमेवोत्तरत्रापि त्रि-चतुः-पञ्चाद्यध्रुवपदेषु योज्यमिति ।

अथास्य प्रकृते योजना क्रियन्ते—ओषतः सप्तमूलप्रकृतीनां प्रत्येकमसंख्यभागवृद्धिहानिलक्षणे द्वे पदे ध्रुवे अभिहिते, शेषाणि संख्येयभागवृद्धिहानिसंख्येयगुणवृद्धिहान्यसंख्यगुणवृद्धिहानिलक्षणानि षट् पदानि पुनरध्रुवाणि दर्शितानि; द्वे पदे तु प्राग्बिहितातिदेशलब्धे, तत्राऽवस्थानलक्षण-

मेकं पदं ध्रुवम्, अवस्थानलक्षणमेकं पदं त्वध्रुवम्, इत्थं बोधपरूपणायां त्रीणि पदानि ध्रुवाणि, सप्त पदानि त्वध्रुवाणि, ततश्चोक्तकरणानुसारेण ध्रुवभङ्गरहिताः पञ्चशीत्यभ्यधिकशतोत्तरमहस्रद्वयभङ्गा जाताः तत्र ध्रुवपदत्रयमन्वयेकभङ्गे प्रक्षिप्ते जाताः सर्वेऽपि (२१, ८७) सप्ताशीत्यभ्यधिकशतोत्तर-महस्रद्वयभङ्गा आयुर्वर्जज्ञानावरणादेः प्रत्येकमेकानेकवृद्ध्यादिबन्धकनिष्पन्ना इति ।

ओघत आदेशतश्च आयुर्विषये तु सर्वथैव भूयस्काराधिकारोक्तभङ्गविचयप्ररू-
पणावङ्गता द्रष्टव्याः । तद्यथा—ओघत एक एव भङ्गः । कुतः ? असंख्यभागहान्यवक्तव्यस्थिति-
बन्धलक्षणस्य पदत्रयस्यापि ध्रुवत्वात्, तदन्यपदस्यैवाभावाच्च । आदेशतोऽपि यासु मार्गणा-
स्वसंख्यलोकप्रदेशाशितुल्यास्तदधिका वा जीवाः सन्ति तामु तिर्यग्गत्योघादिद्विषष्टिमार्गणास्त्रयोध-
देक एव भङ्गः । यासु पुनरुक्ताऽपेक्षया स्तोकजीवास्तासु नरकगत्योघादिष्वेकोत्तरशतमार्गणासु तु
पदत्रयस्याप्यध्रुवत्वाद् ध्रुवपदस्याभावाल्लोक्तकरणेना—(३५३-१-१-८)ऽर्ह भङ्गाः प्राग्बुद्धेयाः ।

आदेशतः सप्तप्रकृतीनां तु प्रत्येकं नरकगत्योधमार्गणाभेदे उक्तकरणानुसारेण
(७२९) एकोनत्रिंशदभ्यधिकयत्नशतानि भङ्गा निष्पद्यन्ते, तत्रैको ध्रुवपदनिष्पन्नः शेषास्त्वध्रुव-
पदत्रयः । कुतः ? असंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां पदपदानामध्रुवत्वात्,
अवस्थानलक्षणस्यैकपदस्य ध्रुवत्वाच्च । इत्थमेव सप्तसु शेषनरकभेदेषु, अपर्याप्तपञ्चेन्द्रिया-ऽपर्याप्तस-
कायमार्गणयोः, वैक्रियकाययोग-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-नेत्रोलेश्या-पञ्चलेश्या-क्षायोपशमिकसम्यक्त्व-
मार्गणाभेदेष्वित्येतासु नरकाधभेदमहितासु पञ्चाशन्मार्गणासु विज्ञेयम् । कुतः ? प्रत्येकमुक्तपद-
विषयपदानामध्रुवत्वादुक्तैकपदस्य ध्रुवत्वाच्चेति ।

तिर्यग्गत्योधमार्गणायां पुनः संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां चतुर्णां पदानाम-
ध्रुवत्वाद्, असंख्यभागवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः पदयोस्त्वस्थानपदस्य च ध्रुवत्वा—(८१) देकाशी-
तिर्भङ्गाः प्राप्यन्ते, एतेष्वप्येको ध्रुवः, शेषास्त्वध्रुवाः । यथा तिर्यग्गत्योधमार्गणायां तथैवादारिक-
मिश्रकाययोग-कर्मणकाययोग-मत्यज्ञान-भ्रुताज्ञाना-ऽसंयम-कृष्णलेश्या-नीललेश्या-कापोतलेश्या-
ऽभन्य-मिथ्यान्वा-ऽसंख्य-ऽनाहारकभेदात्मकासु द्वादशमार्गणास्त्रपि ध्रुवाध्रुवपदानां तथान्वात् सप्त-
प्रकृतिस्थितिबन्धस्य वृद्ध्यादेरेकानेकबन्धकनिष्पन्ना एकाशीतिर्भङ्गा बोद्धव्याः ।

मनुष्यगत्योधमार्गणायां त्वसंख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानामष्टानां
पदानामवक्तव्यपदस्य चेत्येवं नवानां पदानामध्रुवत्वम्, अवस्थानलक्षणस्यैकपदस्य ध्रुवत्वं च,
तत उक्तकरणानुसारेण (१९६८३) त्र्यशीत्यभ्यधिकषट्शतान्वितैकोनत्रिंशतिसहस्राणि भङ्गकाः समु-
त्पद्यन्ते, अत्राप्येको ध्रुवः, शेषा अध्रुवा इति । इत्थमेवाऽपर्याप्तभेदवर्जयोर्द्वयोः पञ्चेन्द्रियजातिभेदयोः,
द्वयोस्त्रसकायभेदयोः, पञ्चसु मनोयोगभेदेषु, पञ्चसु वचनयोगभेदेषु, चतुर्षु मत्यादिज्ञानभेदेषु,
संयमौघ-चक्षुर्दर्शना-ऽबधिदर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणाभेदेष्वित्ये-

तेषु सप्तविंशतिमार्गणाभेदेष्वपि त्र्यशीत्युत्तरपटशतान्वितैकोनविंशतिमहस्राणि (१९६८३) भङ्गा बोद्धव्याः । कुतः ? उक्तनवपदानामत्राप्यध्रुवत्वाद्, अवस्थितपदस्य ध्रुवत्वाच्चेति ।

अपर्याप्तमनुष्यमार्गणायामसंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानि षट् पदान्यवस्थानलक्षणमन्यदेकं पदं चेत्येवं सप्त पदान्यध्रुवाणि, ततः(२१८६)पटशीतियुतशताभ्यधिकमहस्रद्वयं भङ्गा लभ्यन्ते, ते च सर्वेऽध्रुवपदनिष्पन्ना बोद्धव्याः । कुतः ? प्रकृते एकस्यापि ध्रुवपदस्याऽसंख्येयैकरूपस्य त्रियोज्यत्वात् । एकरूपे त्रियोजिते तु शेषा अध्रुवपदनिष्पन्ना भङ्गा एव भवन्ति, “एगूणा षुन्ति ध्रुवरहिभा” इति वचनात् । इत्थमेव वैक्रियमित्रा-ऽऽहारक-तन्मिश्रकाय-योग-परिहारविशुद्धिकसंयम-सामादन-मिश्रदृष्टिरूपास्वन्यासु षण्मार्गणास्वपि त्रिज्ञेयम् । कुतः ? एतासु प्रत्येकमुक्तसप्तपदानामध्रुवत्वाद्, ध्रुवपदस्थाभावाच्चेति ।

सप्तैकेन्द्रियमार्गणाभेदाः, सप्त साधारणवनस्पतिकायमार्गणाभेदाः, शेषद्वादशसूक्ष्मपृथिवी-कायादिभेदाः, वनस्पतिकायौघभेदाः, पृथिव्यादिवायुकायान्ताश्चत्वार आंघ्रभेदाः, तेषामेव चत्वारो वादरौघजीवभेदाः, चत्वारोऽपर्याप्तवादरपृथिव्यादिभेदाः, प्रत्येकवनस्पतिकायौघा-ऽपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदां चेत्येतास्त्रैकचत्वारिंशन्मार्गणासु पुनः सप्तप्रकृतीनामसंख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणे द्वे, अवस्थानलक्षणमेकमिति त्रीणि पदान्येव सन्ति, तानि च त्रीण्यपि ध्रुवाणि, ततो ध्रुवपदनिष्पन्न (१) एको भङ्ग एव प्रत्येकं प्राप्यत इति ।

विकलेन्द्रियमत्केषु नवमार्गणास्थानेषु प्रत्येकमसंख्येयभाग-संख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणानि चत्वारि पदान्यध्रुवाणि, एकमवस्थितपदं च ध्रुवम्, तत उक्तीत्या सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकं स्थितिबन्ध-वृद्ध्यादेरेकानेकबन्धकनिष्पन्ना (८१) एकाशीतिर्भङ्गा उत्पद्यन्ते ।

वादरपर्याप्तपृथिवीकाया-ऽऽकाय-तेजस्काय-वायुकायभेदाः पर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायभेदश्चेत्येतासु पञ्चमार्गणासु प्रत्येकं पुनः सध्रुवा (९) नवैव भङ्गा उक्तीत्या लभ्यन्ते । कुतः ? असंख्येय-भागवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः पदयोरध्रुवत्वात्, अवस्थानलक्षणस्यैकपदस्य ध्रुवत्वाच्च ।

काययोगसामान्यमार्गणाभेदे संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानि षट् पदानि, अवक्तव्यपदं चेत्येतानि सप्तपदान्यध्रुवाणि, अपसंख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणे द्वे पदे अवस्थित-पदं चेति त्रीणि ध्रुवाणि, ततो भङ्गका अप्युक्तनीत्या सप्ताशीत्यभ्यधिकशतान्वितमहस्रद्वयं (२१-८७) प्राप्यन्ते, तत्रैको ध्रुवः, शेषा अध्रुवा इति प्राग्वद्वत्प्राप्तव्याः । यथा काययोगसामान्यमार्गणा-स्थाने तथोदारिककाययोगा-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्या-ऽऽहारिमार्गणास्थानेष्वुक्तसप्तपदानां भजनीयत्वा-दुक्तपदत्रयस्याभाज्यत्वाच्च (२१८७) सप्ताशीत्यभ्यधिकशतान्वितमहस्रद्वयं भङ्गका शेषाः ।

स्त्रीवेद-पुरुषवेद-सामायिकसंयमलक्षणासु तिसृषु मार्गणासु तु प्रत्येकमसंख्येयभाग-संख्येय-भाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणान्यष्टौ पदानि भाज्यानि, अवस्थितपदं च ध्रुवमिति-

कृत्वा भङ्गा (६५६१) एकपष्ठम्यधिकपञ्चशतोत्तरषट्सहस्राण्युत्पद्यन्ते, एतेऽपि प्राग्ब्रह्म-
ध्रुवा ज्ञेयाः ।

नपुंसकवेदमार्गणायां चतुर्षु क्रोधादिकषायमार्गणाभेदेषु च प्रत्येकं संख्येयभाग-संख्येय-
गुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानि षट् पदानि भाज्यानि, असंख्येयभागवृद्धिहानी अधस्थितपदं
चेति पदत्रयं ध्रुवम्, ततः समस्ता भङ्गका एकोनत्रिंशदभ्यधिकसप्तशतानि (७२९) प्राप्यन्ते ।

अपगतवेदमार्गणायां पुनर्ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायकर्मण्यधिकृत्याष्टाविंशत्यभ्यधिक-
सप्तशतानि (७२८) भङ्गाः प्राप्यन्ते । कुतः ? संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां चतुर्णा-
मवस्थाना-ऽवक्तव्यलक्षणयोर्द्वयोर्भित्तेषां षण्णां पदानामध्रुवत्वात्, ध्रुवपदस्याभावाच्च । वेदनीय-
नाम-गोत्रकर्मण्याश्रित्य प्रत्येकं पुनः संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानि
षट्, पूर्ववदवस्थाना-ऽवक्तव्यलक्षणे द्वे इत्येवमष्टौ पदान्यध्रुवाणि, ध्रुवपदाभावश्च, ततो भङ्गका
अपि (६५६०) षष्ट्यभ्यधिकपञ्चपष्टिशतान्यवाप्यन्ते । प्रकृतमार्गणायाभेद भौहनीयकर्मधिकृत्य
संख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणे द्वे, अवस्थाना-ऽवक्तव्यलक्षणे द्वे इति चत्वारि पदान्यध्रुवाणि, प्राग्ब्रह्म-
ध्रुवपदाभावश्च; ततो भङ्गका (८०) अपि सर्वेऽशीतिर्भवन्ति । अमी गतवेदमार्गणायां दर्शिताः सर्वे
भङ्गा अध्रुवपदनिष्पन्ना एव । कुतः ? ध्रुवपदस्याभावादिति ।

छेदोपस्थापनमयममार्गणायामसंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धि-हानि-
लक्षणान्यष्टौ पदान्यवस्थितपदं चेति नवापि पदान्यध्रुवाणि, ध्रुवपदाभावश्च, ततः समानां कर्मणां
प्रत्येकमेकानेकवन्धकनिष्पन्नभङ्गा (१९६८२) द्व्यशीत्यभ्यधिकपष्टशतान्वितैकोनविंशतिमहसा-
ण्युत्पद्यन्ते, ते च ध्रुवरहिता अध्रुवा एव मन्तव्याः, प्रकृत एकस्यापि ध्रुवपदस्याऽसत्त्वादिति ।

सूक्ष्ममम्पगयमयममार्गणायां संख्येयभागस्थितिवन्धवृद्धिहानी तथाऽवस्थितस्थितिवन्ध
इत्येतेषां त्रयाणां सप्तपदानामध्रुवत्वात्, ध्रुवपदस्याभावाच्च भङ्गविचयेऽपि ध्रुवभङ्गरहिताः (२६)
षट्त्रिंशतिर्भङ्गकाः सम्पद्यन्ते ।

औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां तु सप्तप्रकृतीनां प्रत्येकं स्थितिवन्धवृद्ध्यादेः कालभेदेनैकानेक-
वन्धकपद्मावप्रयुक्ता भङ्गका दर्शितरीत्याऽष्टचत्वारिंशदभ्यधिकैकोनपष्टिसहस्राणि (५९०४८)
जायन्ते, ते च सर्वेऽध्रुवा एव मन्तव्याः । कुतः ? असंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्ये-
यगुणवृद्धिहानिलक्षणानामष्टानां पदानामवस्थाना-ऽवक्तव्यलक्षणयोर्द्वयोः पदयोरित्येवं दशानामपि
सप्तपदानामध्रुवत्वात्, तदन्यपदस्यैवाऽभावाच्चेति ॥७७३॥

तद्वयं दर्शितमन्तव्यवृद्ध्यादिवन्धकानां ध्रुवा-ध्रुवत्वं प्रदर्श्य भङ्गोत्पादकरणप्रदर्शनद्वारेण भङ्ग-
विचयः, तस्मिंश्च दर्शिते गते पञ्चमं भङ्गविचयद्वारम् ॥

॥ इति श्रीवन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे पञ्चमं भङ्गविचयद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ षष्ठं भागद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्ते नानाजीवाश्रये भागद्वारे सप्तप्रकृतिसत्कततत्स्थितिवन्धवृद्ध्यादिसत्पदानां बन्धकभागान् चिकथयिषुरार्द्रा तावदोषत आह—

भागो असंखिययमो अत्थि असंखंसवद्धिहाणीणं ।

सत्तण्ह बंधगा खलु अणंतभागो उ सेसाणं ॥ ७७४ ॥

(श्रे०) “भागो असंखिययमो” इत्यादि, आयुर्विषययोः स्थितिवन्धदान्धवक्तव्ययोर्वन्धक-
भागानां प्राक् प्रकृताधिकारप्रारम्भे सत्पदद्वार एव भूयस्काराधिकारवदतिदिष्टत्वात्सुर्वर्तनां
शेषाणां “सत्तण्ह” ति मत्प्रमूलप्रकृतीनां प्रत्येकम् “असंखंसवद्धिहाणीणं” ति स्थिति
बन्धविषययोरसंख्यंशवृद्धिदान्याः प्रत्येकम् “बंधगा खलु” ति ‘बन्धकाः’-निर्वचकाः । खलुशब्दो
वाक्यालङ्कारे । “भागो असंखिययमो अत्थि” ति सर्ववन्धकानामसंख्येयतमो भागः, असं-
ख्यानतमैकभागप्रमाणाः सन्ति । कुतः ? उच्यते, सप्तप्रकृतीयत्कावस्थानस्थितिवन्धकस्यै कजीवाश्रयोत्कृष्ट-
कारणत्वात्संख्येयसंख्यात् प्रकृत्यन्धकाः सर्ववन्धकानामसंख्येयवद्भागप्रमाणाः सन्ति । तदन्वयात्
सर्वविधवृद्धिहातीनां समुदितोऽप्येकजीवाश्रय उत्कृष्टकारुः संख्येयसमयमात्रः, स चावस्थानकाला-
पेक्षयाऽसंख्येयभागप्रमाणः, अतः स्वल्पकालसमुचिताः सर्वविधवृद्धिहातीनां बन्धकाः समस्ता अपि
सर्ववन्धकानामेकमसंख्येयतमं भागं पूरयन्ति । तेषु च शेषवन्धकेष्वसंख्येयभागवृद्धि-
हातोरैव स्वामिन
एकेन्द्रियाः, न पुनरन्यायां वृद्ध्यादीनाम्, अतः शेषवन्धकेष्वनन्ता बन्धका असंख्येयभागवृद्धि-
हातोरैव सन्ति, संख्येयभागवृद्ध्यादीनां तु समुदिता अप्यसंख्येया एव । इत्थं त्वसंख्येयभागवृद्धि-
हातोरैकेन्द्रियस्वामिकृत्वात्, तयोरैकजीवाश्रयवन्धकाऽस्याऽवस्थितवन्धकजीवाश्रयकारापेक्षयाऽसं-
ख्येयैकभागमात्रत्वाच्च तयोरैकवन्धका अपि सर्ववन्धकानामसंख्येयैकभागप्रमाणा लभन्त इति ।

“अणंतभागो उ सेसाणं” ति तुशब्दः पुनरर्थः पूरापेक्षया प्रकृते वैलक्षण्यद्योतनपरः ।
शेषाणां संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धि-हातीनां प्रत्येकं पुनरनन्तभागाः, सर्ववन्धकाना-
नन्ततमैकभागवर्तिन इत्यर्थः, बन्धका इति गम्यते । एवं त्वसंख्येयतमैकभागवर्तिन उक्ताः, अत्र
त्वन्ततमैकभागवर्तिन इत्यनयोर्विलक्षणता । यद्वा तुशब्दः शेषवृद्धिवृद्धिहातीनां प्रत्येकं
बन्धकानामनन्ततमैकभागवर्तिनैव स्वस्थाने नानाव्यद्योतनपरः, अतोऽनन्ततमैकभागवर्तिनोऽप्येते
प्रत्येकं न तुल्या एव, किन्तु परस्परं हीनाधिका वर्तन्त इत्यर्थः । एतच्चाऽल्पवृद्धिप्रदर्शनेन
स्फुटीभवति । अनन्ततमैकभागवर्तिनैव स्वस्थानाऽसंख्येयभागवृद्धिहातीनामेकेन्द्रियस्वामिकृत्वं सति
प्रकृतपदविधवृद्धिहातीनां तन्स्वामित्वाभावाद् बोद्धव्यमिति ॥ ७७४ ॥

कृतीघतः सप्तकर्मणां शेषाट्विधस्थितिवन्धवृद्धिहातीनां बन्धकविषया भागप्ररूपणा । सम्यति
मार्गेणास्थानेषु तां कृत्वाह—

तिरिये वणप्फइम्मि य सव्वेगिंदियणिगोअगेषुं य ।
 काय-उरालदुगेषुं कम्म-णपुम-चउकमायेसुं ॥ ७७५ ॥
 अण्णाणदुगे अयते अचक्खु-अपसत्थ-लेस-भवियेसुं ।
 अभविय-मिच्छत्तेसुं असण्णि-आहारगियरेसुं ॥ ७७६ ॥
 सत्तण्ह असंखमां अत्थि असंखमवड्ढिहाणीणं ।
 णेयो अणंतभागो सेमाणं वड्ढिहाणीणं ॥ ७७७ ॥

प्रे०) “तिरिये वणप्फइम्मि ये”त्यादि, तिर्यग्गत्योषे, वनस्पतिकार्योषे । चशब्दः समुच्चये । सर्वशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् सर्वेष्वंकेन्द्रियजातिमार्गणाभेदेषु, सर्वेषु निगोदवनस्पति-भेदेषु । “णिगोअगेषुं य”इत्यत्र कः स्वार्थिकः, चस्तु प्राग्बन् । तथा काययोगसामान्या-दारिक-तन्मिश्रकाययोगमार्गणासु, कार्मणकाययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्केषु मत्यज्ञान-श्रुताज्ञानमार्गणा-द्वयरूपेऽज्ञानद्विके, “अयते” ति असंयममार्गणायां, तथाऽचक्षुर्दर्शना-प्रशस्तकृष्णादित्रिलेश्या-भव्य-मार्गणासु, अभव्य-मिथ्यात्वमार्गणयोः, असंख्या-ऽऽहारि-तदितरऽऽनाहारिमार्गणास्वित्येतास्वष्ट-त्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकं “सत्तण्ह” ति आपूर्वजानां ममप्रकृतीनां “असंखंसवड्ढिहाणीणं” ति असंख्यांशवृद्धिहान्योः “असंखंसो अत्थि” ति सर्ववन्धकानाम् ‘असंख्यांशः’-असंख्यतमैक-भागप्रमाणाः सन्ति, वन्धका इति गम्यते । “सेमाणं वड्ढिहाणीणं” ति प्रकृताष्टत्रिंशन्मार्गणा-स्वेवानन्तरोक्ताऽसंख्यभागवृद्धिहानी त्रिवर्ज्य शेषाणां तत्तन्मार्गणोक्तवृद्ध्यादिसत्यदानामित्यर्थः ।

इदमुक्तं भवति—अनन्तरोक्ताऽसंख्यभागवृद्धिहानी परिहृत्य यस्यां मार्गणायां यस्य कर्मणो यावन्ति वृद्धिहानिमत्पदान्यवशिष्यन्ते, यथा तिर्यग्गत्योर्धा-दारिकमिश्रकाययोग-कार्मण-काययोगा-ऽज्ञानद्वया-ऽसंयम-कृष्णादिलेश्यात्रया-ऽभव्य-मिथ्यात्वा-ऽनाहारकमार्गणासु संख्येय-भाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिपदानि, काययोगौ-दारिककाययोग-नपुंसकवेद-कषायचतुष्का-ऽचक्षुर्दर्शन-भव्य-संख्या-ऽऽहारिमार्गणासु प्रत्येकं संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धिहानिपदानि, तावतां सर्वेषामवशिष्टवृद्धिहानिपदानाम् । तेषां किम् ? “णेयाऽणंतभागो” ति अनन्ततमैकभागप्रमाणा ज्ञेयाः, वन्धका इत्युभयत्रानुष्टया द्रष्टव्यम् । भावना पुनः सर्वास्वीधिकभावनानुसारेण स्वयमेव द्रष्ट-व्या । ओषवदेतास्वपि प्रत्येकमनन्तानां जीवानां सद्भावादिति भाव इति ॥ ७७५-७७६-७७७ ॥

अथ संख्येयजीवराशिकेषु मार्गणास्थानेष्वह—

पज्जमणुस-मणुसीसुं सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेएसुं ।
 मणपज्जव-जइ-समइअ-च्छेअग-परिहार-सुहुमेसुं ॥ ७७८ ॥

सत्तण्ड संखभागो सव्वाण सगसगवड्ढिहाणीणं ।

(प्र०) “पञ्जमणुस” इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीभेदयोः, सर्वार्थसिद्धविमानभेदा-
ऽऽहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगा-ऽपगतवेदमार्गणासु, मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-सामायिक-छेदोप-
स्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्ममम्परायसंयममार्गणास्त्रित्येतासु द्वादशमार्गणासु प्रत्येकं “सत्तण्ड”
ति आयुर्वर्जानां सप्तानां मौलिककर्मणाम् “सव्वाण सगसगवड्ढिहाणीणं” ति अत्र स्वपदेन
तत्तन्मार्गणाया विवक्षितत्वात् पर्याप्तमनुष्यादितत्तन्मार्गणामम्बन्धिन्यो यावन्त्यो वृद्धिहानयस्तासां
“सव्वाण” ति सर्वामाम् । किमित्याह—“संखभागो” ति बन्धकाम्तत्तन्मार्गणागतसर्वस्थिति-
बन्धकानां ‘संख्येयभागः’-संख्येयतमैकभागवर्तिन इत्यर्थः । कुतः ? अवस्थानबन्धकानां संख्येयबहु-
भागगतत्वेन तदन्य एते संख्येयैकभागप्रमाणा एव भवन्तीति ॥७७८॥

अथोक्तशेषमार्गणासु प्रस्तुतबन्धकभागानाह—

सेसासु बंधगा खलु णेया भागो असंख्यमो ॥७७९॥

(प्र०) “सेसासु” इत्यादि, उक्तशेषासु विंशत्युत्तरशनमार्गणासु प्रत्येकम् । खलुशब्दो
वाक्यालङ्कारे । तत्र किमित्याह—“णेया भागो असंख्यमो” ति ‘सव्वाण सगसगवड्ढिहाणीणं’
इत्यस्य अमरकर्मणिन्यायेनाप्रापि योजनात्, सप्तप्रकृतीनां शेषतत्तन्मार्गणामम्बन्धि-
स्थितिवन्धवृद्धिहानीनां प्रत्येकं बन्धका असंख्यतमैकभागप्रमाणा ज्ञेया इत्यर्थः । शेषमार्गणा-
नामत इमाः—अष्टौ नरकगतिभेदाः, चत्वारस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यभेदः, सर्वार्थ-
सिद्धविमानभेदवर्जा एकोनत्रिंशद् देवगतिभेदाः, नव विकलेन्द्रियभेदाः, त्रयः पञ्चेन्द्रियजाति-
भेदाः, सप्त पृथिवीकायभेदाः, एवं सप्ताकायभेदाः, सप्त तेजस्कायभेदाः, सप्त वायुकायभेदाः, त्रयः
प्रत्येकवनस्पतिकायभेदाः, त्रयस्त्रमकायभेदाः, पञ्च मनोयोगभेदाः, यश्च वचोयोगभेदाः, वैक्रिय-
वैक्रियमिश्रकाययोग-स्त्रीवेद-पुंवेद-मतिज्ञान-श्रुतज्ञाना-ऽवधिज्ञान-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-अक्षुर्दर्शना-
ऽवधिदर्शन-तेजोलेश्या-पद्मलेश्या-शुक्ललेश्या-मम्यकन्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिको-पशमिकमम्यकन्व-
मिश्रदृष्टि-साम्पादन-संज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति । एतासु प्रत्येकं बन्धकजीवा असंख्येयाः, तत्राप्यवस्थान-
लक्षणस्थितिवन्धस्य निर्वर्तकानामसंख्येयबहुभागगतत्वेन सम्भवत्सर्वविधवृद्धिहानीनां प्रत्येकं बन्ध-
काः प्रागुक्तनीत्याऽसंख्येयैकभागप्रमाणा एव प्राप्यन्त इति तथैवाभिहिता इति ॥७७९॥

तदेवं कथिता मार्गणास्थानेष्वप्यतिदिष्टिशेषमसप्रकृत्यसंख्येयभागवृद्ध्यादिसत्पदानां बन्धक-
भागाः । तथा च सति गतं पष्टं भागहारम् ॥

॥इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे षष्ठं भागहारं समाप्तम् ॥

॥ अथ मत्तमं परिमाणद्वारम् ॥

अथ परिमाणद्वारं मूलप्रकृतिस्थितिवन्धवृद्ध्यादेर्वन्धकानामुत्कृष्टपदगतं परिमाणं प्रादु-
श्चिकीर्षुरादौ तावदोघत आह—

अह वंधगा अणंता अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।

सत्तण्ह असंखेज्जा दुविहाणं वड्ढिहाणीणं ॥७८०॥

(प्रे०) “अह वंधगा अणंता” इत्यादि, अथशब्द आनन्तर्ये, भागप्ररूपणाऽनन्तरं परि-
माणप्ररूपणायामिति तदर्थः । तत्र किमिन्याह—“बंधगा अणंता अत्थि” ति मार्गणास्थाना-
न्यनधिकृत्य सामान्यतो बन्धका अनन्ताः सन्ति । कस्याः कस्या इत्याह—“असंखंसवड्ढिहाणीणं
सत्तण्ह” ति आयुःकर्मणः स्थितिवन्धवान्यवस्थानयोर्वन्धकानां परिमाणस्य सत्पदद्वार एवाति-
दिष्टत्वाच्चक्षेपाणां ज्ञानावस्थादीनां सप्तानां मूलकर्मणामसंख्यांशवृद्धिहान्योः प्रत्येकम् । साधारण-
जीवानामपि तत्स्वामिन्वादिति भावः । “असंखेज्जा” ति असंख्येया बन्धकाः सन्ति । कासा-
मिन्याह—“दुविहाणं वड्ढिहाणीणं” ति असंख्यगुणवृद्धिहान्योर्वन्धकपरिमाणस्यानन्तरं वक्ष्य-
माणत्वात् संख्येयगुण-संख्येयभागलक्षणयोः शेषद्विविधवृद्धिहान्योरित्यर्थः । आयुर्वर्जसप्तकर्मणामित्य-
नुवर्तते । सुगमं चैतत्, यत आसां संख्येयगुणवृद्धिहानि-संख्येयभागवृद्धिहानीनां स्वामिन
एकेन्द्रियवर्जजीवाः, ते चाऽसंख्येया इति ॥७८०॥

अथोक्तशेषयोरसंख्यगुणवृद्धिहान्योर्वन्धकानामुत्कृष्टपदगतपरिमाणमोघतो दिदर्शयिषुर्लाघ-
वार्थं सममेवाददेशतोऽपि प्रतिपादयन्नाह—

मत्तण्हं संखेज्जा अत्थि असंखगुणवड्ढिहाणीणं ।

जासु खलु वंधगा सिं तासुं ते अत्थि संखेज्जा ॥७८१॥

(प्रे०) “सत्तण्हं संखेज्जा” इत्यादि, प्रकृतानामायुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां प्रत्येकम्
“असंखगुणवड्ढिहाणीणं” ति असंख्यगुणवृद्धिहान्योः प्रत्येकं “संखेज्जा अत्थि” ति
संख्येयाः सन्ति, बन्धका इत्यनुवर्तते । सुगमम्, श्रेणिगतान् तत्र वाऽऽयुःश्रयाच्च्युत्वा देवभव-
प्रथमममयस्य वेदकान् जीवान् विवर्ज्यान्येषां केषाञ्चिदधिकृतवृद्धिहान्योरसम्भवात्, श्रेणिगतानां
ततश्च्युत्वा देवभवप्रथमसमये वर्तमानानां च कस्मिँचिदपि समये संख्येयानामेव लाभाच्चेति ।

अथ लाघवार्थं मार्गणास्थानेष्वपि प्रकृतसंख्यगुणवृद्धिहान्योर्वन्धकपरिमाणमादत्वेवाह—
“जासु खलु” इत्यादि, तत्र खलुशब्दोऽवधारणे, स च “तासु” इत्यस्योत्तरं योज्य-
स्ततो यासु मार्गणासु “बंधगा सिं” ति तयोरनन्तराभिहितयोः सप्तानामसंख्यगुणस्थितिवन्ध-
वृद्धिहान्योर्वन्धकाः “अत्थि” ति ‘सन्ति’-विद्यन्ते, तासु मनुष्यगत्योव-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चे-

न्द्रियौघ-तत्पर्याप्त-व्रसकायौघ-तत्पर्याप्त-पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चवचोयोगभेद-काययोगी-दारिककाय-
योग-वेदत्रय-कपायचतुष्क-मत्यादिज्ञानचतुष्क-संयमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनसंयम-चक्षुरादित्रि-
दर्शन-शुक्लेश्या-भव्य-सम्पक्त्रौघ-क्षायिकौ-पशमिकसम्पक्त्व-संज्ञया-ऽऽहारिमार्गणासु सप्तप्रकृती-
नामपगतवेदमार्गणायां च वेदनीय-नाम-गौत्रकर्मणामेव 'ते'-प्रस्तुतवृद्धिहानिवन्धकाः "संखेज्जा"
त्ति सुममम् । ओघतः संख्येयानां लाभे मार्गणासु तदधिकानामसम्भव एवेति भावः ॥७८१॥

अथोक्तशेषवृद्धिहानीनां बन्धकपरिमाणं दिदर्शयिषुराह—

पञ्जमणुस-मणुसीसुं सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेणुसुं ।

मणपज्जव-जइ-समइअ-छेअग-परिहार-सुहुमेसुं ॥७८२॥

सत्तण्हं संखेज्जा णेया मगमेमवड्ढिहाणीणं ।

सेसासु अमंखेज्जा मंखियभागगुणवड्ढिहाणीणं ॥७८३॥ (गोतिः)

(प्रे०) "पञ्जमणुसमणुसीसु" इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोः, सर्वार्थविद्व-
विमानदेवगतिभेदा-ऽऽहारकमिश्रकाययोगा-ऽपगतवेदमार्गणासु, मनःपर्ययज्ञान-संयमौघ-सामायिक-
छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणास्वित्येव द्वादशमार्गणसु प्रत्येकं 'सत्तण्हं'
त्ति प्रकृतानामायुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां "सगसेसवड्ढिहाणीणं संखेज्जा णेया" त्ति स्वपदेन
प्राग्बन्धमार्गणाया विवक्षितत्वात् 'स्वकानां'-पर्याप्तमनुष्यादितत्तन्मार्गणामन्कानां 'शेषवृद्धिहानीनाम्'-
अनन्तरोक्तासंख्येयगुणवृद्धिहानी विवर्ज्य यत्र ज्ञानावरणादेयांश्चन्ति वृद्धिहानिपदानि मत्पदद्वारे नञ्-
तानि प्रतियादितानि तत्र तेषां सर्वेषां वृद्धिहानिसत्पदानां संख्येया ज्ञेयाः, बन्धका इति गम्यते ।

अगम्यभावः—एतासु पर्याप्तमनुष्यादिद्वादशमार्गणासु प्रत्येकं संख्येयानामेव जीवानां सद्भा-
वादपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयमवर्जशेषमार्गणासु ज्ञानावरणादीनां यत्नानामसंख्येयभाग-संख्येयभाग-
ऽसंख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां षण्णां सत्पदानां बन्धकाः संख्येयाः, अपगतवेदमार्गणायां ज्ञानावरण-
दर्शनावरणा-ऽन्तरालकर्मणां संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां चतुर्णां सत्पदानाम्, मोह-
नीयस्य संख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः मत्पदयोस्तथा वेदनीय-नाम-गौत्रकर्मणां तु संख्येय-
भाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां चतुर्णां शेषमत्पदानां संख्येयाः । अत्र वेदनीय-नाम-गौत्रकर्मणा-
मसंख्येयगुणवृद्धि-हानिलक्षणयोर्द्वयोस्सत्पदयोरपि बन्धकाः संख्येया एव सन्ति, नवरं ते प्रागेव
'सत्तण्हं संखेज्जा अत्थि अमंखेयगुणे' इत्यादिगाथोत्तरार्धेनाभिहिता इत्यतोऽत्र पुनर्न परिगणिताः,
उक्तशेषपदानां बन्धकपरिमाणस्यात्र भवनीयत्वात् । सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणायां मोहनीयाधु-
र्वर्जानां षण्णामपि बन्धप्रायोग्यप्रकृतीनां संख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः मत्पदयोः प्रत्येकं
संख्येया बन्धकाः सन्तीति ।

“सेसासु” ति अनन्तरोक्तद्वादशमार्गणा विवर्ज्य शेषामु मार्गणासु सप्तकर्मणां “संख्य-
भागगुणवृद्धिहाणीणं” ति संख्येशब्दस्य भागगुणयोः प्रत्येकं योजनात्संख्येयभागसंख्येय-
गुणवृद्धिहानिलक्षणचतुःपदानां “असंखेज्जा” ति बन्धका असंख्येयाः । अयम्भावः—उक्तचतुः-
पदानां स्वामिन एकेन्द्रियवर्जजीवा एव, ति चासंख्या इतिकृत्वाऽसंख्येयजीवराशिकास्वनन्तजीवराशि-
कासु च मार्गणामु यत्रतेषामन्यतमपदानामस्मिन्त्वं तत्र तेषां बन्धका अप्यसंख्येया एव लभ्यन्ते ।

तद्यथा—तरकगन्धोषादिचतुर्विंशत्युत्तरशतमार्गणासु यथा सम्बन्ध ज्ञानावरणादेस्तत्तत्कर्मणः
संख्यातभागवृद्धिहानिपदे मद्भूते उक्ते । तत्र पर्याप्तमनुष्यादिद्वादशमार्गणासु जीवानामेव संख्येयन्वा-
त्तासु तयोर्वन्धका अप्यनन्तरमेव संख्येया अभिहिताः, अतस्माः द्वादशमार्गणा विवर्ज्य शेषामु
द्वादशोत्तरशतमार्गणामु प्रत्येकं संख्यातभागवृद्धिहान्योर्वन्धका असंख्येयाः । संख्यातगुणवृद्धिहानौ
तु विकलेन्द्रियसत्कनवमार्गणाम्बुवि न भवतः, अतो द्वादशोत्तरशतमार्गणाम्बुविकलेन्द्रियसत्क-
नवमार्गणाः परिहृत्य शेषामु व्युत्तरशतमार्गणाम्बुवैव तयोर्वन्धका असंख्येया ज्ञेया इति । ७८२-७८३।

अथोक्तपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणा विहाय शेषामु सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहान्योर्वन्धकानां
परिमाणं प्रकटयत्वाः—

तिरिये वणफडम्मि य मन्वेगिंदियणिगोअकायेसुं ।

उरलदुग-कम्मणेषुं णपुंसगे चउकमायेसुं ॥७८४॥

अण्णाणदुगं अयते अचकखु-अपयत्थलेम-भवियेसुं ।

अभविय-मिच्छत्तेसुं अमणि-आहारगियरेसुं ॥७८५॥

सत्तण्ह खलु अणंता अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।

सेमासु बंधगा सिं जाणयत्वा असंखेज्जा ॥७८६॥

(प्र०) “तिरिये” इत्यादि, तिर्यग्गत्योषे, वनस्पतिकार्योषे, चः समुच्चये, सर्वशब्दस्यै-
केन्द्रियनिगोदयोः प्रत्येकं योजनात् सर्वैकेन्द्रियजातिभेद-सर्वनिगोदवनस्पतिभेद-काययोगोषेषु,
आहारिको-दारिकामिश्र-कामेणकार्ययोगे, सत्यज्ञान-श्रुताज्ञानद्वये, असंयममार्गणायाम्, अचक्षुर्दर्श-
ना-ऽप्रसक्तकृष्णादिविलेश-भवा-मार्गणामु, अभव्य-मिच्छयात्रमार्गणयोः, असंख्या-ऽऽहारि-नदितरा-
नाहारिमार्गणाभिव्येतास्वष्टत्रिंशन्मार्गणामु प्रत्येकमायुर्वर्जिनां सप्तानां मूलप्रकृतीनाम् “असंखंस-
वड्ढिहाणीणं” ति असंख्यांशवृद्धिहान्योः “खलु अणंता अत्थि” ति खल्वधारणं, ततो-
ऽसंख्यांशवृद्धिहान्योरेव बन्धका अनन्ताः सन्ति । कुतः ? साधारणवनस्पतिकायजीवानामप्यसंख्यांश-
स्थितिवन्धवृद्धि-हानिस्वामित्वात् तेषां चैतास्वष्टत्रिंशन्मार्गणामु प्रत्येकं प्रवेशादिति । “सेसासु”
ति प्रागुक्ताः पर्याप्तमनुष्यादिद्वादशमार्गणा अनुपदमुक्तास्तिर्यग्गत्योषाद्यष्टत्रिंशन्मार्गणाश्च विवर्ज्य

शेषासु त्रिंशदुत्तरशतमार्गणामु प्रत्येकं “बन्धगा सिं” ति तयोरनन्तराभिहितयोः समकर्मस्थिति-
बन्धसत्कयोरसंख्यभागवृद्धिहान्योः प्रत्येकं बन्धकाः “ज्ञाणोपत्त्वा असंख्येज्जा” ति असंख्येया
ज्ञातव्याः । गतार्थमिति ॥७८४-७८६॥

तदेवमभिहितं मार्गणास्थानेष्वपि शेषसप्तानामसंख्यभागदिस्थितिवन्धवृद्धिहानिसत्पदानां
प्रत्येकमुत्कृष्टपदगतं परिमाणम् , तस्मिंश्चाभिहिते गतं सप्तमं परिमाणद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे पञ्चमे बृद्धयधिकारे सप्तमं परिमाणद्वारं समाप्तम् ॥



॥ अथाऽष्टमं क्षेत्रद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्तं क्षेत्रद्वारम् । तत्राप्युपः स्थितिवन्धविषययोर्हान्यवक्तव्ययोर्द्वयोरपि सत्पदयोः
शेषज्ञानावरणादीनां सप्तानामवस्थानावक्तव्ययोर्द्वयोः सत्पदयोश्च बन्धकक्षेत्रस्य प्रागत्रैव बृहत्तयधि-
कारे सत्पदद्वारेऽतिदिष्टत्वात् सप्तकर्मणां शेषवृद्धिहानीनां बन्धकक्षेत्रं दर्शयन्माह—

सत्तण्डु सत्त्वलोके अत्थि असंख्यं सवड्ढिहानीणं ।

लोकाऽसंख्यभागो सेसाणं वड्ढिहानीणं ॥७८७॥

(प्रे०) “सत्तण्डु”मित्यादि, आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां प्रत्येकम् “असंख्यं सवड्ढिहानीणं”
ति प्रकृतत्वादसंख्यांशस्थितिवन्धवृद्धिहान्योः प्रत्येकं “सत्त्वलोके अत्थि” ति ‘सर्वलोकै-
सम्पूर्णे जगति मन्ति, बन्धका इत्यनुवर्तते । सूक्ष्मैकेन्द्रियजीवानामपि प्रकृतवृद्धिहानिद्वयस्वामित्वात्
तेषां सर्वलोकव्यापित्वाच्च सुष्ठूक्तम् “सत्त्वलोके” इति । अत्र क्षेत्रप्ररूपणाविपर्ययं क्षेत्रं
तु ‘कालं च ब्रह्माणं पञ्चस्य स्वत्तं परब्रह्मणा जेथा’ इति ग्रन्थोक्तममयमात्रकालसम्बन्धि विज्ञेयम् ।

अथ शेषवृद्धिहानीनां बन्धकक्षेत्रमाह—“लोकासंख्यभागो” ति लोकस्यासंख्येयतमक-
भागे “सेसाणं वड्ढिहानीणं” ति आयुर्वर्जसप्तकर्मणामुक्तवृद्धिहानिपदद्वयवर्जानां शेषाणां
संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धिहानिरूपाणां पणानां पदानां प्रत्येकम् , बन्धकाः
मन्तीत्यनुवर्तते । कथम् ? उच्यते, प्रस्तुतशेषवृद्धिहानीनां स्वस्थानस्वामिन एकैन्द्रियेतरजीवा एव
मन्ति, असंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोकैस्तैः कस्मिन्नप्येकस्मिन् समये समग्रो लोको लोकवहु-
भागा वा पूर्यितुं न शक्यन्ते, किन्तु समुद्रघातादिनापि लोकसंख्येयभाग एव पूर्यते । एतच्च
विस्तृतो द्वितीयाधिकारक्षेत्रद्वारमेवमभार्या भावितमेव । इत्थमेवोत्तरत्रापि द्वितीयाधि-
कारक्षेत्रद्वारमेवमभार्यादशितरीन्या विस्तरतः स्वयमेव भावनीयमिति ॥७८७॥

गतमोघतः । अथादेशतः प्रकृतस्थितिवन्धवृद्ध्यादिवन्धकानां क्षेत्रं व्याचिकीर्षुराह—

तिरिये सव्वेगिंदियणिगोअसेसमुहुमेसु वणकाये ।
 पुहवाइचउसु तेसिं वायर-वायरअपज्जेसुं ॥७८८॥
 पत्तेअवणे तस्स अपज्जत्ते कायु-रालियदुगेसुं ।
 कम्मण-णपुंसगेसुं कसायचउगे अणाणदुगे ॥७८९॥
 अयता-ऽचक्खूसु तह अपसत्थतिलेस-भवियेसुं ।
 अभविय-मिच्छत्तेसुं असण्णि-आहारगियरेसुं ॥७९०॥ (उपगोतिः)
 सत्तण्ह सव्वलोगे अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।

(प्र०) “तिरिये सव्वेगिंदिये”न्यादि, प्राण्वत् तिर्यग्गत्योषे, सर्वैकेन्द्रिय-सर्वनिगोद-
 शेषद्रादशसूक्ष्मपृथिव्यादिमार्गणाभेदेषु, वनस्पतिकार्योषे, पृथिव्यादिवायुकायान्तेषु चतुर्व्योषभेदेषु,
 “तेसिं” ति तेषां पृथिव्यादीनां चतुर्णाम् “वायरवायरअपज्जेसुं” ति ये चत्वारो वादरौष-
 भेदाश्चत्वारश्च वादरापर्याप्तभेदास्तेषु वादरवादरापर्याप्तपृथिव्यादिरूपेष्वष्टभेदेषु, काययोगसामान्यौ-
 दारिकौ-दारिकमिश्रकाययोगेषु, कार्मणकाययोग-नपुंसकवेदयोः, क्रोधादिकपायचतुष्के, मन्यज्ञान-
 श्रुतज्ञान इयरूपेऽज्ञानद्विके, असंयमा-ऽचक्षुर्दर्शनयोः । तथाशब्दः समुच्चये । अप्रशस्तकृष्णादित्रि-
 लेश्या-भव्येषु, अभव्य-मिथ्यान्वयोः, अपंड्या-ऽऽहाति-तदितरानाहारिमार्गणास्वित्येतासु चतुःषष्टि-
 मार्गणासु कुत्रचित् स्वस्थानतः सर्वलोकव्यापिनां सूक्ष्मैकेन्द्रियजीवानां प्रवेशात्, कुत्रचिद्वादरपृथि-
 व्याद्यौषभेदेषु तेषामप्रवेशेऽपि मारणपमुद्घातेन सर्वलोकव्यापिनामपर्याप्तवादरपृथिवीकायादीनां
 प्रवेशात् तेषां सप्तकर्मसत्कामंख्येयभागस्थितिवन्धवृद्धिहान्योः स्वामित्वाच्च तद्वन्धकक्षेत्रं सर्व-
 लोकः प्राप्यत इत्यत उक्तम्—“सत्तण्ह सव्वलोगे” इत्यादि, गतार्थमिति ॥७८८-७९०॥

वादरपर्याप्तवायुकायमार्गणायामधिकृतबृद्ध्यादिवन्धकक्षेत्रमाह—

वायरसमत्तवाउम्मि हुन्ति देसूणलोगम्मि ॥७९१॥

(प्र०) “वायरसमत्ते”न्यादि, सप्तकर्मणां स्थितिवन्धविषययोरसंख्यभागवृद्धिहान्योः प्रत्येकं
 वन्धका वादरपर्याप्तवायुकायमार्गणायां देशेनलोकं भवन्ति । कुतः ? असंख्यलोकाकाशप्रदेशराश्य-
 पेक्षया स्तोकानामपि वादरपर्याप्तवायुकायानां स्वस्थानक्षेत्रस्य देशेनलोकत्वादिति ॥७९१॥

अथोक्तशेषवृद्धिहानिवन्धकक्षेत्रं दिदर्शयिपुरेकां गाथामाह—

सेसासु असंखंसे लोगस्स हवन्ति जांसु सेसाओ ।

अत्थि खलु वड्ढिहाणी तासुं तासिं वि एमेव ॥७९२॥

(प्रे०) “सेसासु” इत्यादि, अनन्तरोक्तास्तिर्यगाद्योधादिचतुःषष्टिमार्गणास्तथा वादरा-पर्याप्तवायुकाया-ऽपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणाः परित्यज्य शेषासु नरकगत्योधादिषु व्युत्तर-शतमार्गणासु सप्तानामसंख्यभागस्थितिवन्धवृद्धिहान्योरेकैकस्या बन्धकाः “असंखंसे लोकास्त हवन्ति” इति लोकस्यासंख्येयतम एकस्मिन्नंशे=भागे भवन्ति, यत आसु शेषमार्गणान् सर्वलोक-क्षेत्रप्रयोजकानां सूक्ष्मपृथिव्यादिजीवानां देशानलोकक्षेत्रप्रयोजकानां वादरपर्याप्तवायुकायजीवानां वा प्रवेशो नास्ति, शेषास्तु प्राक्षट्जीवा मारणान्तिकसमुद्धातादिनाऽपि लोकासंख्येयभागमात्रव्या-पिनः, अतः प्रस्तुतबन्धकक्षेत्रमपि लोकासंख्येयभागादधिकं नैव प्राप्यते । विशेषतस्तु द्वितीयाधि-कारक्षेत्रप्रकारप्रभेदानुसारेण स्वयमेव भावनीयम् । सप्तप्रकृतिसत्कोक्तशेषाणां संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धिहानीनां प्रत्येकं बन्धकक्षेत्रमोधतो लोकासंख्येयभागमात्रं प्राप्यतेऽतो मार्गणास्थानेष्वपि तासां बन्धकक्षेत्रं लोकासंख्येयभागप्रमाणादधिकप्रमाणं न सम्भवतीत्य-तस्तत्तथैव दर्शयन्नाह—“जासु सेसाओ” इत्यादि, नरकगत्योधादिषु यासु यासु मार्गणासु “सेसाओ” इति सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहान्योरेकैकक्षेत्रस्यानन्तर्गमेवाभिहितत्वात् ते असंख्य-भागवृद्धिहानी परित्यज्य याः शेषान्यतमा वृद्धयो हानयश्च “अत्थि” इति सन्ति, प्राक्सत्पदद्वारे सत्तया प्रतिपादिता इत्यर्थः । खलुशब्दोऽवधारणे, य च “तासु” इत्यभ्योत्तरं योज्यस्ततस्तासु नरकगत्योधादिमार्गणास्वेव “तासि” इति तासां सत्तयाऽभिहितानां शेषान्यतमवृद्धिहानीनामपि प्रत्येकम् “एमेव” इति एवमेव, बन्धका लोकस्यासंख्येयतमैकभागे भवन्तीत्यर्थः ।

अत्र शेषमार्गणासु सप्तानां शेषवृद्धिहानिसत्पदानि पुनरित्थमवसेयानि—सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे तिर्यगातिभेदाः, अपर्याप्तमनुष्यः, सर्वे देवगतिभेदाः, अपर्याप्ता पञ्चेन्द्रिय-व्रसकार्या, औदारिकमिश्र-यक्रिय-तन्मिश्रा-ऽऽहारक-तन्मिश्र-कार्मणकाययोगाः, अज्ञानत्रयम्, परि-हारविशुद्धिकर्मयम-देशसंयमा-ऽसंयममार्गणाभेदाः, कृष्णादिलेश्यापञ्चका-ऽभव्य-क्षायोपशमिकसम्य-कत्व-सास्वादन-सम्यग्मिथ्यात्व-मिथ्यात्वा-ऽसंशय-ऽनाहारकमार्गणाभेदाश्चेत्येतासु निरयगत्योधादि-सप्तमार्गणासु प्रत्येकं संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धि-तादृग्हान्यात्मकानि चत्वारि पदानि ।

मनुष्यगत्योध-पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-पञ्चेन्द्रियोध-तत्पर्याप्तत्र-मौघ-तत्पर्याप्त-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-काययोगसामान्या-दारिककाययोग-वेदत्रय-कषायचतुष्क-मन्यादिज्ञानचतुष्क-संयमाव-सामायिक-लेदोपस्थापनीयसंयम-चक्षुरादित्रिदशान-शुक्ललेश्या-भव्य-सम्यक्त्वाध-क्षायिकौ-पशमिक-सम्यक्त्व-संशय-ऽऽहारकमार्गणारूपासु मनुष्यगत्योधादित्रिचत्वारिंशन्मार्गणासु तु संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणवृद्धि-तादृग्हानिलक्षणानि षट् पदानि ।

ओध-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नद्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियलक्षणविकलेन्द्रियसत्कनवमार्गणा-स्थानेषु पुनः प्रत्येकं संख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणे द्वे पदे ।

सूक्ष्मसम्परायमंयमभार्गणायामपि तथैव द्वे पदे, नवरं पण्णां कर्मणाम् ।

अपगतवेदमार्गेणायां पुनर्मोहनीयवर्जानां घातिकर्मणां प्रत्येकं निरयगत्योधादिमार्गणावन्ध-
त्वारि पदानि, मोहनीयकर्मणस्तु संख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणे द्वे पदे, त्रयाणामघातिनां तु मनुष्य-
गत्योधादिवन्धत् पदान्यत्रशिष्टमन्पदतया भवन्तीति ॥७९२॥

तदेवं प्रतिपादितं मार्गणास्थानेष्वपि ज्ञानावरणादेर्दृष्ट्यादिविधिवन्धकस्पर्शानां वन्धक-
क्षेत्रम् । तस्मिंश्च प्रतिपादिते गतमष्टमं नानाजीवाश्रितं क्षेत्रद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारेऽष्टमं क्षेत्रद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ नवमं स्पर्शनाद्वारम् ॥

अथ क्रमलब्धे स्पर्शनाद्वारे ज्ञानावरणादीनामसंख्यभागाद्विस्थितिवन्धवृद्ध्यादिवन्धकानाम्
'आरिखज्ज अईअद्ध परूवणा उण फरिसणाए' इत्यनेनात्र ग्रन्थेऽधिकृतां स्पर्शनां प्रतिपादयिषुर्लाघवार्थ-
मादां तावदसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धिहानिवर्जपदानां तामतिदेशेनाह—

ओघेणाएसेण वि हवेइ तिविहाण वड्ढिहहाणीणं ।

सत्तण्ह वंधगाणं भूओंगारव्व उ फरिसणा ॥७९३॥

(प्रे०) “ओघेणाएसेण वि” इत्यादि, ‘ओघेन’-सामान्येन स्पर्शनाचिन्तायाम् । न
केवलमोघेन । किं तर्हि ? “आएसेण वि” त्ति ‘आदेशेन’-विभागेन, मार्गणास्थानान्यधिकृत्य
चिन्ताविषयीकृतेऽपीत्यर्थः । उभयथाऽपि किमित्याह—“हवेइ” इत्यादि, “सत्तण्ह” त्ति
शेषाणां ज्ञानावरणादीनां सप्तानां मूलप्रकृतीनाम् “तिविहाण वड्ढिहहाणीणं” त्ति स्थितिवन्ध-
विषयानामसंख्यगुणवृद्धिहानिवर्जानामसंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणभेदभिन्नानां त्रिविधानां
वृद्धीनां त्रिविधानां हानीनां च “बंधगाणं” त्ति ‘बन्धकानां’-निर्वर्तकानाम् “भूओंगारव्व
उ फरिसणा” त्ति ‘कालं च चद्रमाणं’ इत्यादिगाथोत्तरार्धेन प्रागुक्तस्वरूपा प्रस्तुतग्रन्थेऽधिकृता
क्षेत्रद्वारोक्तक्षेत्रापेक्षया त्रिलक्षणा नानाजीवनानाकालसव्यपेक्षा स्पर्शना भूयस्कारवदेव,
भवतीति पूर्वेण योगः । यथा भूयस्काराधिकारे सप्तानां भूयस्कारस्थितिवन्धकानां स्पर्शनोक्ता
तथा प्रकृते सप्तानां त्रिविधवृद्धिवन्धकानां, यथा च तत्रान्यतरवन्धकानां स्पर्शनाऽभिहिता तथाऽत्र
त्रिविधहानिवन्धकानां प्रत्येकं सा भवतीत्युत्तरार्थः ।

भावार्थस्त्वयम्—आयुर्वर्जसप्तकर्मणां भूयस्कारान्यतरस्थितिवन्धवदोषत आदेशतश्चाधिकृत-
वृद्धिहानयोऽपि मारणसमुद्घाताद्यवस्थाविशेषेष्वपि जीवानां संभवन्ति, ततश्च मारणान्तिकसमुद्घाता-
दिप्रयुक्ताऽपि स्पर्शना भूयस्कारान्यतरस्थितिवन्धवत् प्रस्तुतवृद्धिहानिवन्धकानां प्राप्यते । तद्यथा-

ओघतः प्रस्तुतत्रिविधवृद्धिहानिवन्धकैः प्रत्येकं सर्वलोकः स्पृष्टः । आदेशात्स्तु नरकगत्योघमार्ग-
गायां तैस्त्रिविधवृद्धिहानिवन्धकैः प्रत्येकं व्रसनाडयाः षट्चतुर्दशभागाः स्पृष्टाः । एवमेव मत्स्य-
पृथिवीनरकभेदे, आनत-प्राणता-ऽऽरणा-ऽऽद्युतकल्परूपेषु चतुर्षु देवगतिमार्गणाभेदेषु शुक्ललेश्या-
मार्गणायां च बोद्धव्यम् । प्रथमपृथिवीनरकभेदे पुनरधिकृतस्थितिबन्धकानां स्पर्शना लोकसंख्यभाग-
मात्रा प्राप्यते । यथा प्रथमपृथिवीनरकभेदे तथा नवषु ग्रंथेयकभेदेषु, पञ्चष्वनुत्तरविमानभेदेषु,
वैक्रियमिश्रकाययोगे, आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगयोः, अदगतवेदमार्गणायां, तथा मनःपर्य-
वहान-संयमौघ-गामायिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्प्रायसंयममार्गणास्वपि त्रिविध-
वृद्धिहान्यन्यतममन्यदस्य च शकैः कृता स्पर्शना लोकसंख्यभागमात्रा बोद्धव्या । द्वितीयपृथिव्यादि-
षष्ठपृथिव्यन्तेषु पञ्चषु नरकभेदेषु पुनः क्रमेणैका, द्वे, तिस्रः, चतस्रः, पञ्च च रज्जवः स्पर्शना
त्रिविधवृद्धिहानिवन्धकानामपि भवति । देवगन्तोषे भवनपत्यादीशानकल्पान्तेषु देवगतिभेदेषु तेजो-
लेश्यामार्गणायां च त्रिविधवृद्ध्यादिवन्धकानां प्रत्येकं व्रसनाडया नव चतुर्दशभागाः स्पर्शना लभ्यते ।
वैक्रियकाययोगमार्गणायां तु तेषां त्रिविधवृद्धिहान्यन्यतमवन्धकानां प्रत्येकं त्रयोदश रज्जवः स्पर्शना
मम्पद्यते । देशसंयममार्गणायां पञ्च रज्जवः, सामादनमार्गणायां द्वादश रज्जवः स्पर्शना, सनत्कु-
मारादिमहत्कारान्तेषु षट्षु देवगतिभेदेषु मति-श्रुता-ऽवधिज्ञाना-ऽवधिदर्शन-पञ्चलेश्या-मम्यक्त्वाघ-
क्षायिकसम्यक्त्व-वेदकसम्यक्त्वापशमिकसम्यक्त्व-मिश्रदृष्टिरूपासु षोडशमार्गणासु प्रत्येकं त्रिविध-
वृद्धिहान्यन्यतमवन्धकानां स्पर्शना व्रसनाडया षष्ट चतुर्दशभागाः, अर्थादिष्टौ रज्जवः प्राप्यते ।
उक्तशेषासु तिर्यग्न्योधादिषु सप्ताभ्यधिकशतमार्गणासु तु प्रस्तुतासंख्यगुणवृद्धिहानिवर्जा-
न्यतमवृद्धिहानिवन्धकानां स्पर्शनाघवत्सर्वलोको भवति । इदं ह्यतिदेजकलं दर्शितम्; भावना
तु प्रत्येकं भूयस्काराल्पतरस्थितिवन्धकस्पर्शनावृच्यनुसारेण स्वयमंत्र द्रष्टव्येति ॥७९३॥

अथानिदिष्टशेषयोः सप्तानामसंख्यगुणवृद्धिहान्योर्वन्धकानां स्पर्शनामाह—

सत्तण्ह बंधगेहिं होइ असंखगुणवडिह्हाणीणं ।

लोगाऽसंखियभागो पुडो एमेव जहि ताऽत्थि ॥७९४॥

(प्र०) “सत्तण्ह” इत्यादि, आदेशात् आयुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृतीनां “असंखगुण-
वडिह्हाणीणं” ति असंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धिहान्योर्वन्धकैः “लोगाऽसंखियभागो पुडो”
त्ति लोकस्याऽसंख्येयतमैकभागः स्पृष्टः, भवतीति पूर्वणान्वयः । अथ मार्गणास्थानेष्वपि प्रस्तुतद्वि-
विधवन्धकानां स्पर्शनाघतुल्यैवाऽनोऽनिदेशनाह—“एमेव” ति ‘एवमेव’ ओघवर्णलोकसंख्यभागः
प्रस्तुतवृद्धिहान्योर्वन्धकैः स्पृष्ट इत्यर्थः । कासु मार्गणास्विन्याह—“जहि ताऽत्थि” ‘यत्र’-याम्
मनुष्मन्त्योधादिमार्गणासु ते द्वे वृद्धिहानी ‘स्तः’-विशेते, सत्पदद्वारे तयोरस्तित्वं प्रतिपादितं
तासु मनुष्मन्त्योधादिचतुश्चत्वारिंशन्मार्गणास्वित्यर्थः ॥७९४॥ ।

तदेवं दर्शितौषादेशभेदतो मूलकर्मणां स्थितिवन्धवृद्ध्यादिसन्पदानां स्पर्शानां, तथा च कृते गतं नवमं स्पर्शनाद्वारम् ॥

॥ इति श्रीवन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे नवमं स्पर्शनाद्वारं समाप्तम् ॥

★

॥ अथ दशमं कालद्वारम् ॥

शुक्रना नानाजीवाश्रितं कालद्वारम् : तत्रातिदिष्टशेषज्ञानावरणादिमूलप्रकृतिस्थितिवन्धासंख्य-
भागादिवृद्धिद्वानीनां नानाजीवाश्रितं कालं जघन्योत्कृष्टभेदतो त्रिभिर्गुरादां तावदोषत आह—

सत्तण्हं सव्वद्धा अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।

समयो होइ कणिट्ठो सेसाणं वड्ढिहाणीणं ॥७९५॥

आवलिआऽसंखंसो संखियभागगुणवड्ढिहाणीणं ।

परमो संखियसमया असंखगुणवड्ढिहाणीणं ॥७९६॥

(प्र०) “सत्तण्हं सव्वद्धा” इत्यादि, आयुषो द्विविधयोरपि स्थितिवन्धसत्पदयोर्नाना-
जीवाश्रयकालस्याश्रयऽधिकारे प्रथमे सत्पदद्वारे लाघवार्थमतिदिष्टत्वादायुर्वर्जानां सप्तानां मूलप्रकृ-
तीनां प्रत्येकं “सव्वद्धा अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं” ति असंख्यांश्चस्थितिवन्धवृद्धयसंख्यांश्च-
स्थितिवन्धहानिलक्षणयोर्द्वयोः पदयोर्नानाजीवाश्रयकालः ‘सर्वाद्धा’-अनाद्यनन्तो भवति ।

अथ शेषवृद्धिद्वानीनां कालो न सर्वाद्धा, किन्तु सावधिकः, ततोऽसौ जघन्यादिभेदेनाह—
“समयो” इत्यादि, प्रस्तुतसप्तप्रकृतीनामेव “सेसाणं वड्ढिहाणीणं” ति उक्तशेषाणां संख्येयभाग-
संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणभेदभिन्नानां त्रिविधवृद्धीनां त्रिविधहानीनां च प्रत्येकं नानाजीवाश्रयः
“कणिट्ठो” ति ‘कनिष्ठः’-जघन्यः कालः ‘समयः’-समयमात्रो भवति । उक्तो जघन्यतः, अथोत्कृष्टत
आह—“आवलिआऽसंखंसो संखियभागगुणवड्ढिहाणीणं परमो” ति संख्येयभाग-
संख्येयगुणवृद्धि-संख्येयभाग-संख्येयगुणहानिलक्षणानां चतुर्णां स्थितिवन्धसत्पदानां ‘परमः’-उत्कृष्टो
नानाजीवाश्रयः काल आवलिकाऽसंख्यभागप्रमाणः, भवतीत्यावर्तते । “संखियसमया असं-
खगुणवड्ढिहाणीणं” ति उक्तशेषयोः सप्तानामसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धिद्वान्योः प्रत्येकं
नानाजीवाश्रय उत्कृष्टः कालः संख्येयाः समयो भवतीत्यक्षरार्थः ।

भावार्थस्त्वयम्—ओषतो मार्गणास्थानेषु वा यत्र कुत्रचिज्ज्ञानावरणादिसप्तान्यतमप्रकृते-
रन्यतमवृद्ध्यादिसत्पदस्य वन्धका भङ्गविचयद्वारद्वारां दर्शितरीत्या ध्रुवं प्राप्यन्ते तत्र मार्गणादां
तस्याः प्रकृतेस्तस्याऽसंख्येयभागस्थितिवन्धवृद्ध्यादिपदस्य नानाजीवाश्रयः कालः सर्वाद्धा प्राप्यत

इति तु सुगमः । बन्धकानां ध्रुवत्वस्य सर्वाद्ध्या अन्तगभावस्य च कथञ्चिदनतिरेकात् । अत एव औघतः सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहान्योर्नानाजीवाश्रयकालः सर्वाद्धा प्रतिपादितः । तिर्यग्गत्यो-
षादिचतुःषष्टिमार्गणास्थानेषु भङ्गविश्वयद्वारे—.....सत्तण्णं णायद्वआ ओघव्व सगसगवद्धि-
हाणीओ' इत्यनेन तद्वन्धकानामतिदेशोर्नाधवदभिधानात् 'तिरिये सव्वेगिदियणिगोअ सेससुहुमेसु
वणकाये । पुह्वाइचउसु तेमि वायर-वायरअपज्जेसु' ॥७९८॥ पत्तेअवणे तस्स अपज्जत्ते कायुरालियदुमेसु ।
कम्मण-णपुंसगेसु' कमायचउगे अणाणदुगे ॥७९८॥ अयत्ताऽचक्खुसु तहा अपसत्थनिल्लेस-अधियेसु ।
अभधिय-मिच्छत्तेसु' अस्सणिण-आहारगियरेसु' ॥७९९॥ सत्तण्हं सव्वद्धा अत्थि असंखंसवद्धिहाणीणं ।
इत्यनेन तत्रापि सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहानीनामसौ सर्वाद्धा प्रतिपादयिष्यते च ।

यत्र पुनर्मार्गणादावुक्तान्यतमवृद्ध्यादिपदस्य बन्धका भङ्गविश्वयद्वारे ध्रुवा न कथिताः,
किन्तु तदीयबन्धकपरिमाणस्याऽसंख्यलोकप्रदेशपरिमाणात्स्तोकतयाऽध्रुवा प्रतिपादिताः, तत्र तु तस्य
वृद्ध्यादिपदस्य नानाजीवाश्रयकालः मात्राधिकः, मादिमान्तमङ्गात् एवेति भावः । तथा सति स
जघन्योत्कृष्टमेदेन लभ्यते, स च तस्य वृद्ध्यादिपदस्य बन्धकपरिमाणमसंख्येयं भवतु संख्येयं वा
तदाऽपि जघन्यतस्तदीयैकजीवाश्रयजघन्यबन्धकालवन्धकमयमात्र एव प्राप्यते, न पुनराधिकः ।
अत एवौघतः सप्तानामसंख्येयभागवृद्धिहानिवर्जशेषवृद्धिहानिमत्पदानामसौ समयमात्रोऽभिहितः,
मार्गणास्थानेष्वपि— 'सेसासु लहु समयो' इत्यादितत्तद्ग्रन्थेनासौ जघन्यकालः समयमात्रोऽभिधा-
प्यते च । स च द्वितीयाधिकारनानाजीवाश्रयकालद्वारे उत्कृष्टस्थितिवन्धस्य जघन्यका-
लोपपत्तौ दर्शितनीत्याऽभ्युद्धः । तस्यैवोत्कृष्टकास्तु तदीयबन्धकपरिमाणाद्यधीनः सन् पूर्वोक्ती-
न्यैव कुत्रचिदावलिकाऽसंख्यभागः, कुत्रचित्संख्येयाः समया इत्येवं यथासम्भवं प्राप्यते ।

एतदुक्तं भवति—यत्र मार्गणादौ तस्याऽसंख्येयभागवृद्ध्याद्यध्रुवपदन्यैकजीवाश्रय उत्कृष्ट-
कालः संख्येयसमयमात्रः, तदीयबन्धकपरिमाणमुत्कृष्टपदेऽसंख्येयं च तत्र तदीयनानाजीवा-
श्रय उत्कृष्टकालः कार्मणकाययोगमार्गणोक्ताऽऽयुर्वर्जमपनकर्मोत्कृष्टस्थितिवन्धनानाजीवाश्रयोत्कृ-
ष्टकालज्ञानेनाऽऽवलिकाऽसंख्यभागमात्रः सम्पद्यते । यत्र पुनस्तादृशवृद्ध्याद्यध्रुवपदस्यैकजीवाश्रयो-
त्कृष्टकालस्य संख्येयसमयत्वेऽपि तदीयबन्धकपरिमाणं नाऽसंख्येयम्, किन्तु संख्येयमेव, तत्र तु
तदीयनानाजीवाश्रय उत्कृष्टबन्धकालः संख्येयाः समया एव प्राप्यते, नाधिकः । अत एवौ-
घत आयुर्वर्जसप्तप्रकृतीनां संख्येयभागवृद्धिहानि-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणचतुर्विधस्थितिवन्धकानां
प्रत्येकं नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकाल आवलिकाऽसंख्यभागस्तथा तासामेव सप्तानामसंख्येयगुणवृद्धि-
हानिलक्षणयोर्द्वयोः सत्पदयोः प्रत्येकं नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालः संख्येयाः समया एव कथितः,
मार्गणास्थानेष्वपि 'परमो समयो ऽ संखेज्जा पज्जमणुम मणुसीसु' सिन्यादितत्तन्मन्दर्मेण तसद्वृद्ध्या-
दिपदानां नानाजीवाश्रयोत्कृष्टकालः संख्येयसमयादिः प्रतिपादयिष्यते च, सोऽपि द्वितीयाधिकार-
नानाजीवाश्रयकालद्वारप्रैमप्रभादर्शितनीत्या विभायनीयः स्वयमेवेति ॥७९५-७९६॥

मणितोऽतिदिष्टशेषः ज्ञानावरणादीनां समानामसंख्येयभागस्थितिवन्धवृद्ध्यादितत्पदानां
नानाजीवाश्रयो बन्धकाल ओघतः । अथ स एवादेशतो व्याजिदीर्घुरादौ यास्वसंख्यभागवृद्धि-
हान्योः स सर्वाद्वा, तासु तयोस्तथैव दर्शयन्नाह—

तिरिये सव्वेर्गिदियणिगोअ-सेमसुहुमेसु वणकाये ।

पुहवाइचउसु तेसिं वायर-वायरअपज्जेसुं ॥७९७॥

पत्तोअवणे तम्म अपज्जत्ते कायु-रालियदुगेसुं ।

कम्मण-णपुंसगेसुं कमायचउगे अणाणदुगे ॥७९८॥

अयता-ऽचक्खुसु तहा अपसत्थतिलेस-भवियेसुं ।

अभविय-मिच्छत्तेसुं अमणिण-आहारगियरेसुं ॥७९९॥ (उपगीतिः)

सत्तण्हं मव्वद्धा अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।

(प्रे०) “तिरिये सव्वेर्गिदिये” इत्यादि, तत्राद्यगाथात्रयेण तिर्यग्गत्योगादिचतुःषष्टि-
मार्गणाः संगृहीताः. चतुर्थगाथापूर्वार्धेन तु तासु चतुःषष्टिमार्गणास्वायुर्वर्जानां समानां स्थितिवन्ध-
वियययोरसंख्यांशवृद्धिहान्योर्नानाजीवाश्रितः कालः सर्वाद्वाऽस्तीति प्रतिपादितम् ; तत्राद्यगाथा-
त्रयस्याक्षरार्थस्त्वत्रैवाधिकारे क्षेत्रद्वारोक्तद्वितीय-तृतीय-चतुर्थगाथाक्षरार्थेन तुल्य एव, तस्मात्त एव
द्रष्टव्यः । चतुर्थगाथापूर्वार्धस्य तूक्तः । भावार्थोऽप्यौघिकगाथाद्वयविवरणद्वयाख्यातप्राय इति
॥७९७-७९८-७९९॥

अथ शेषमार्गणासूक्तकालोऽसर्वाद्धेन्यर्थाद्गम्यते, न पुनर्गम्यतेऽसौ जघन्यतः कियान्
उन्कृष्टतश्च कियानिति, अतन्जघन्योत्कृष्टमेदतो दर्शयन्नाह—

सेमासु लहू समयं परमो समया उ संखेज्जा ॥८००॥

पज्जमणुस-मणुमीसुं सव्वत्था-ऽऽहारजुगलजोगेसुं ।

मणणाण-संयमेसुं समइअ-च्छेअ-परिहारेसुं ॥८०१॥

सेमासुं सत्तण्हं अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।

परमो कालो भागो आवलिआए असंखयमो ॥८०२॥

(प्रे०) “सेमासु लहू” इत्यादि, तिर्यग्गत्योद्यादिचतुःषष्टिमार्गणा विवर्ज्य सेमासु यासु
सप्तान्यतमानामसंख्यभागवृद्धिहानिलक्षणपदद्वयं सत्तासु तस्याऽसंख्यभागवृद्धिहानिपदद्वयस्य प्रत्येकं
‘लघुः’- जघन्यो नानाजीवाश्रितः कालः समयो भवतीत्यर्थः । अथ हि सर्वेष्वौघवद्वयोद्धव्यः ।

अथोत्कृष्टकालमाह—“परमो समयो” इत्यादि, उक्तसंख्यभागवृद्धिहाणिलक्षणयोर्द्वयोः पदयोः प्रत्येकं ‘परमः’-उत्कृष्टः कालस्तु संख्येयाः समयो भवति । कासु मार्गणास्वित्याह—“पञ्चमणुस” इत्यादि पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोः, सर्वार्थसिद्धविमानदेवगतिभेदाऽऽहारक-तन्मिश्रकाययोगमार्गणासु, तथा मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-पामाधिक-छेदोपस्थापनीय-परिहारविशुद्धि-कसंयममार्गणासु चेत्येवं मसुदितासु दशमार्गणासु प्रत्येकमित्यर्थः । कथम् ? इति चेद्, पदस्य-स्याध्रुवन्वे सति तदीयैकजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्य संख्येयसमयत्वाद्बन्धकपरिमाणस्याऽप्युत्कृष्टतः संख्येयत्वाच्चेति ।

अथ शेषमार्गणासु प्रस्तुताऽसंख्यभागवृद्धिहाणिलक्षणपदद्वयस्याध्रुवन्वेऽपि तदीयैकजीवाश्रयोत्कृष्ट-कालस्य संख्येयसमयमाध्रुवन्वेऽपि च न तद्बन्धकपरिमाणं संख्येयम्, किन्त्वसंख्येयम्, अतस्तदीय-नानाजीवाश्रयोत्कृष्टबन्धकाल आधिकसंख्येयभागवृद्धिहाणिलक्षणानानाजीवाश्रयोत्कृष्टबन्धका खदावलि-काऽसंख्येयभागप्रमाणः प्राप्यत इत्यतस्तर्थाह—“सैसासु सत्तण्ह” मित्यादि, गतार्थम् ।

शेषमार्गणानामानि त्वेषम्—सर्वे निरयगतिभेदाः, सर्वे तिर्यकपञ्चेन्द्रियभेदाः, मनुष्याद्याऽपर्याप्तमनुष्यभेदाः, सर्वार्थसिद्धविमानभेदवर्जा एकोनत्रिंशद्देवगतिभेदाः, सर्वे विकले-न्द्रियभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, वादरपर्याप्ताः पृथिव्यप्तेजोवायुकार्तिकभेदाः, पर्याप्तप्रत्येकवन-स्पतिकायभेदाः, त्रयोऽपि त्रसकायभेदाः, पञ्चमनोयोग-पञ्चबोयोग-वैक्रिय-तन्मिश्रकाययोग-पुरुष-वेद-स्त्रीवेद-मति-श्रुता-ऽवधिज्ञान-विभङ्गज्ञान-देशसंयम-चक्षुर-वधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेखा-सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकौ-पशमिकसम्यक्त्व-मायादन-मिश्र-संज्ञिमार्गणाश्चेति ८००-८०२

तदेवमभिहितः सर्वमार्गणस्थानेषु सप्तानामसंख्येयभागवृद्धिहाणिलक्षणपदद्वयस्य नाना-जीवाश्रयजघन्योत्कृष्टद्विविधकालः । इदानीं संख्येयगुण-संख्येयभागवृद्धिहाणिलक्षणपदानां तमाह—

सव्वासुं सत्तण्हं संखियभाग-गुणवडिहहाणीणं ।

समयो होइ जहण्णो परमो समयो उ संखेज्जा ॥८०३॥

पञ्जमणुम-मणुसीसुं सव्वत्था-ऽऽहारदुग-अवेएसुं ।

मणपज्जव-जह-ममइअ-छेअग-परिहार-सुहुमेसुं ॥८०४॥

सैमासुं सत्तण्हं संखियभागगुणवडिहहाणीणं ।

परमो णेयो भागो आवलिआए असंखयमो ॥८०५॥

(प्र०) “सव्वासुं सत्तण्हं” मित्यादि, यासु निरयगत्योषादिमार्गणासु “सत्तण्हं” ति आयुर्वर्जानां सप्तान्यतमानां बन्धप्रायोग्यमूलप्रकृतीनां संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहाणीना-मन्यतमपदानि सत्पदद्वारे सद्भूतान्यभिहितानि तासु निरयगत्योषादिमार्गणासु तामां सप्ता-

न्यतमानां बन्धप्रायोग्यमूलप्रकृतीनां संख्येयभागवृद्ध्यादिचतुर्विधान्यतमसत्पदानां प्रत्येकम् “समयो होइ जहण्णो” ति नानाजीवाश्रितो जघन्यो बन्धकालः ‘समयः’-समयप्रमाणो भवति । एष समयमात्रो जघन्यकाल ओघोक्तनीत्यैवोपपादनीयः । अत्र “सव्वासु” इत्यनेन सप्तैकेन्द्रिय-भेदान्, तथैकोनचत्वारिंशत्पृथिवीकायादिवनस्पतिकायान्तमूलोत्तरभेदान् विहाय शेषासु चतुर्विंशत्युत्तरशतमार्गणासु संख्येयभागवृद्धिहानिपदयोरसौ जघन्यतः समयो बोद्धव्यः, संख्येयगुणवृद्धि-हान्योस्त्वभावन्तरोक्तचतुर्विंशत्युत्तरशतमार्गणाभ्योऽपि नवविकलेन्द्रियमार्गणास्थानानि सूक्ष्म-सम्प्रायसंयमभेदं च विहाय चतुर्दशोत्तरशतमार्गणास्वेव तथा, तत्राप्यपगतवेदमार्गणायां मोहनीय-वर्जानां पण्णां प्रकृतीनामेव, न तु मोहनीयस्याऽपि, मोहनीयस्य संख्येयभागवृद्धिहानिर्वर्जपदाना-मपगतवेदमार्गणायामसच्चादिति ।

अथ प्रस्तुतानां संख्येयगुणवृद्धिहानिनां बन्धकालवृद्धिद्वयं आह-“परमो समया उ संखेज्जा” इत्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोः सर्वार्थसिद्धि-विमानदेवगतिभेदा-ऽऽहारका-ऽऽ-हारकमिश्रकाययोगा-ऽपगतवेदमार्गणासु, तथा मनःपर्यवज्ञान-संयमौघ-माभायिक-छेदोपस्थापन-परि-हागविशुद्धिक-सूक्ष्मसम्प्रायसंयममार्गणास्विन्धेतासु द्वादशमार्गणासु प्रत्येकं ‘परमः’-उत्कृष्टो नाना-जीवाश्रितः कालः संख्येयाः समयाः, ज्ञानावरणादितत्प्रकृतीनां सत्पदद्वारेऽभिहितसंख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहान्यन्यतमसत्पदानामिति तु प्रकमाद्भस्यते । अयमप्यौघिकमसकर्मभक्तासंख्य-गुणवृद्ध्यादेरुत्कृष्टबन्धकालवृद्धोद्धव्यः । कुतः ? ओघवदद्यापि पदचतुष्कस्याऽध्रुवत्वाद्, बन्धक-परिमाणादेः संख्येयत्वादिरूपेणाविशेषाच्चेति ।

शेषमार्गणासु प्रस्तुतोत्कृष्टकालमाह-“सेसासु सत्तण्ह”मित्यादि, सुगमम् । अय-मपि सप्तानां संख्येयगुण-संख्येयभागवृद्धिहानिनामुत्कृष्टबन्धकालः सप्तानामौघिकसंख्येयभाग-संख्ये-यगुणवृद्ध्यादेरावलिकाऽसंख्येयभागप्रमाणोत्कृष्टबन्धकालवृद्धिभावनीयः, तद्वदधिकृतनिरयगत्योधादि-शेषमार्गणासु बन्धकपरिमाणादेरसंख्येयत्वादिरूपेण समानत्वादिति ॥८०३-८०४-८०५॥

अथोक्तावशिष्टयोः समानामसंख्येयगुणवृद्धिहान्योर्मार्गणास्थानेषु नानाजीवाश्रितं बन्धकालं जघन्यादिभेदत आह—

जासुं खलु सत्तण्हं अत्थि असंखगुणवड्ढिहहाणीओ ।

तासु लहू सिं समयो परमो समया उ संखेज्जा ॥८०६॥

(प्रे०) “जासुं खलु” इत्यादि, यासु मनुष्यगत्योधादिमार्गणासु “सत्तण्णं” ति सप्ता-न्यतमानां मूलप्रकृतीनामसंख्यगुणवृद्धिहानि “अत्थि” ति स्तः, सत्पदद्वारे सत्तयाऽभिहिते इत्यर्थः । तासु किमित्याह-“तासु लहू सिं समयो” ति तासु मनुष्यगत्योधादिचतुश्चत्वारिंश-

न्मार्गणासु प्रत्येकम् “सिं” ति तयोः सप्तान्यतमानामसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धिहान्योः ‘लघुः’-
जघन्यो नानाजीवाश्रितकालः ‘समयः’- औघवत्समयमात्र इत्यर्थः ।

तयोरेवोत्कृष्टकालमाह-“परमो समयो उ संखेज्जा” ति ‘परमः’-उत्कृष्टः कालस्तु
संख्येयाः समयाः । एषोऽप्यौघवदेवाविशेषेण विज्ञेय इति ॥८०६॥

तदेवं दर्शितः सप्तानामसंख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धिहान्योर्जघन्योत्कृष्टभेदभिन्नो नानाजीवा-
श्रयः कालः, तस्मिँश्च दर्शिते गतं नानाजीवाश्रयं कालद्वारम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे दशमं नानाजीवाश्रयं कालद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथैकादशमन्तरद्वारम् ॥

अथ क्रमप्राप्ते नानाजीवाश्रितेऽन्तरद्वारे मूलप्रकृतीनामुक्तशेषस्थितिवन्धवृद्ध्यादिमत्पदानां
नानाजीवाश्रयमन्तरं प्ररूपयितुमना आदौ तावदौघत आह-

सत्तण्ह अंतरं खलु णत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।

समयो होइ जहण्णं सेसाणं वड्ढिहाणीणं ॥८०७॥

परमं भिन्नमुहुत्तं संखियभाग-गुणवड्ढिहाणीणं ।

वासपुहुत्तछमासा कमा असंखगुणवड्ढिहाणीणं ॥८०८॥ (गोतिः)

(प्र०) “सत्तण्ह अंतरं” इत्यादि, पूर्वं सत्पदद्वारे “अत्थि अवत्तव्वत्तं वंधस्स असंखभाग-
हाणी य भूगारव्वाउत्त” इत्यादिनाऽऽप्युपोऽवक्तव्या-ऽसंख्यभागहानिलक्षणाद्विविधपदस्य तथा ‘भूओ-
गारव्व भवे’ इत्यादिना सप्तानामवक्तव्यावस्थानयद्योर्नानाजीवाश्रितान्तरस्याप्यतिदेशेनैव कथितत्वा-
दायुर्वर्जनां शेषाणां ज्ञानाकरणादीनां सप्तानां मूलप्रकृतीनामतिदिष्टशेषेऽसंख्येयभागादिचतुर्विधवृद्धि-
हानिलक्षणमत्पदेषु “अंतरं खलु णत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं”ति खलुशब्दस्यावधारणार्थ-
त्वेनासंख्यांशस्थितिवन्धवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः पदयोरेव नानाजीवानाश्रितान्तरं नास्ति, न पुनः
शेषत्रिविधवृद्धिहानिपदानामन्तरमपीत्यर्थः । सुगमं चैतत्, यतो यस्य यस्य सत्पदस्य नानाजीवा-
श्रितकालः सर्वाद्धा भवति, तस्य तस्य पदस्य नानाजीवाश्रितमन्तरं न भवति, सप्तानामसंख्य-
भागवृद्धिहान्योर्नानाजीवाश्रयः कालन्वनन्तरं कालद्वारे ‘सत्तण्हं सव्वद्धा अत्थि असंखंस वड्ढिहाणीणं’-
मित्यनेन सर्वाद्धा प्रतिपादितः । इत्थं चौघतः सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहानिपदयोरन्तरमपि नैव
प्राप्यत इति तथैव दर्शितम् । एवमेवोत्तरत्र मार्गणास्थानेष्वपि यत्र सप्तानामसंख्यभागवृद्धि-
हान्यन्तरप्रतिषेधस्तत्रामावनेन प्रकारेणैवोपपादनीय इति ।

अथौघतः सप्तानामसंख्यांशवृद्धिहान्यन्तरं प्रतिषिध्य शेषवृद्धिहानीनां तज्जघन्यादिभेदेन प्रदिदर्शयिपुरादौ जघन्यत आह—“समयो होइ” इत्यादि, शेषाणामुक्तवृद्धिहानिद्वयवर्जानां समकर्मणां संख्येयभाग-संख्येयगुणा-ऽसंख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धिहानीलक्षणानां पणानां सत्पदानां प्रत्येकं ‘जघन्यम्’—ह्रस्वमन्तरं ‘समयः’—समयमात्रं भवतीत्यर्थः ।

ननु भवतु संख्येयभागसंख्येयगुणवृद्धिहान्यसंख्यगुणवृद्धिपदानामेकजीवाश्रितजघन्यान्तरस्य समयमात्रत्वाश्रितानाजीवनाश्रित्याऽपि तत्तथैव, कथं पुनरसंख्यगुणहानेरपि तत्समयमात्रमुच्यते, तदीयै-
कजीवाश्रितजघन्यान्तरस्याऽन्तमुर्हर्तप्रमाणत्वेन विरोधाद् ? इति चेद्, न, यतो यस्या वृद्धिहानिर्वा
बन्धकपरिमाणस्यासंख्यलोकप्रदेशराश्यपेक्षया स्तोक्तया नानाजीवनाश्रित्य तद्वन्धस्यान्तरं भवति
तस्या वृद्धिहानिर्वा कदाचिदेकद्वयादयो बन्धका अपि सम्भवन्ति, अतो यदा कदाचिदेकद्वयादयो
यावन्तो बन्धकास्तावन्तो युगायव विवक्षितां वृद्धिं हानिं वा कृत्वा तावन्मात्रस्थितिवन्धं कुर्वन्तोऽव-
स्थितस्थितिवन्धका भवन्ति, तदनन्तरममयेऽन्ये केचन पूर्वतो निर्वर्त्यमानावस्थितस्थितिवन्धा
जीवा अवस्थितस्थितिवन्धं समाप्य विवक्षितां तादृशीमेव वृद्धिं हानिं वा कुर्वन्ति तदा तस्या विवक्षिताया
वृद्धिहानिर्वा नानाजीवाश्रयमन्तरं समयमानं प्राप्यते, अत एवासंख्यगुणहीनस्थितिवन्धस्यैकजीवा-
श्रितान्तरस्य जघन्यतोऽन्तमुर्हर्तमात्रत्वेऽपि तस्य नानाजीवाश्रितमन्तरं जघन्यतः समयमात्रमुक्तम् ।

तच्चैवं भावनीयम्—पप्तानामसंख्यगुणस्थितिवन्धहानिर्हि क्षपकश्रेणावुपशमश्रेणो वा
जायत इत्यनेकश आवेदितम्, ततो यदा कदाचिन्न वर्तत एकोऽपि जीव उपशमश्रेणो क्षपकश्रेणो
वा तादृशकालादूर्ध्वं पञ्चभिर्मुनिप्रवरैर्युगपत्क्षपकश्रेणिः समारोहुं समारब्धा, समयस्याऽन्तरेणान्यैः
पञ्चभिर्यतिमुख्यैर्युगपत्क्षपकश्रेणिमारोहुमारब्धम्, इत्थं तदानीं क्षपकश्रेणो दर्शव महात्मानो वर्तन्ते,
अन्तमुर्हते गते संख्येयान् स्थितिवन्धानतिक्रम्य तेभ्यः पञ्चभिः पूर्वार्ब्धश्रेणिभिर्यदा प्रथमो-
ऽसंख्यगुणहीनः स्थितिवन्धः कृतस्तत्समयात्तृतीये समयेऽन्यैः पश्चादारब्धश्रेणिभिः पञ्चभिर्महा-
त्मभिः प्रथमोऽसंख्यगुणहीनः स्थितिवन्धः कृतः, द्वितीयसमये तु न केनाऽपि, इत्थं हि पूर्वोत्तर-
समययोः पश्चानां पश्चानामसंख्येयगुणहीनस्थितिवन्धकानां सद्भावात्, मध्ये द्वितीयसमये तु
दशानामप्यवस्थितस्थितिवन्धस्यैव भवनान्च तादृशजीवविशेषान् समाश्रित्य सप्तानां नानाजीवा-
श्रितमसंख्यगुणहान्यन्तरं जघन्यतः समयमात्रमुत्पद्यते । इदमेवैकद्वयादिजीवान् समाश्रित्योक्ता-
धिकजीवान् वा प्रतीत्यान्पथाप्युपपत्तिमृच्छतीति तेन तेन प्रकारेण स्वयमेव योज्यम् ।

यथा समयमात्रमसंख्यगुणहान्यन्तरमुपवादितं तथा समयमात्रमसंख्यगुणवृद्धयन्तरमपि स्वय-
मेवोपपाद्यम्, केवलमसंख्यगुणवृद्धयन्तरमेकजीवाश्रितासंख्यगुणवृद्धयन्तरवदपि भावयितुं युज्यते,
यदि तदानीं विवक्षितजीवस्य भवति चरमसमयजातासंख्यगुणवृद्धयन्तरं देवगतावृत्पत्तेः पूर्वसमये
कश्चिदपि जीवोऽसंख्येयगुणवृद्धेर्बन्धको न स्यादित्येवं प्रकारान्तरेणापि भावनीयम् ।

शेषाणां चतुर्विधवृद्धिहानीनां समयमात्रमन्तरमुक्तनीत्यैव भावनीयम्, तत्र च भावनायां विवक्षितजीवानामन्याऽन्यजीवानां वीकनीत्या समयस्यान्तरेण जातयोर्विवक्षितवृद्धयोर्विवक्षितहान्योर्वा सामयिकेऽन्तराले सर्वेषामपि जीवानां तादृशवृद्धिहान्यवन्धकत्वं द्रष्टव्यमिति ।

अथैतामापेवोत्कृष्टान्तरं दर्शयन्नाह—“परमं भिन्नमुहुत्त”मिन्वादि, यस्मान्नां संख्येयभाग-संख्येयगुणलक्षणयोर्दोषोर्द्वयोस्तादृशयोर्दोर्दोन्योश्चेत्येवं चतुर्णां पदानां प्रत्येकं ‘परमम्’-उत्कृष्टमेकजीवाश्रितमन्तरं ‘भिन्नमुहुत्त’-अन्तमुहुत्तं भवतीत्यर्थः । कुतः ? इति चेत्, चतुर्विधान्यतरवृद्धिहानि-बन्धार्हजीवानां सर्वथा प्राप्तेः, स्वस्थाने बन्धप्रायोग्यानां तत्तद्वृद्ध्यादिपदानां प्रत्यन्तमुहुत्तं नियमेन बन्धभावान्ध । किमुक्तं भवति—ओषत आदेशतो वा तत्तन्मार्गणास्थानेषु सप्तकर्मणां यस्य वृद्ध्यादिपदस्य बन्धकपरिमाणमसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्यं तदधिकं वा विद्यते तत्र तु तद्वन्धकानां निरन्तरं प्राप्तेस्तादृशवृद्ध्यादिपदस्य नानाजीवानाश्रित्यान्तरमेव न प्राप्यते, अत एव ओषतः सप्तानामसंख्यभागवृद्धि-हान्यन्तरं प्रतिविद्धम्, उत्तरत्र मार्गणास्थानेषु प्रतिपेत्स्यति च । असंख्येयभाग-वृद्धिहानिवर्जपदेषु तु केषामपि बन्धकपरिमाणमोषतोऽप्यसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्यं तदधिकं वा न विद्यते, अत एव मार्गणास्थानेष्वपि तदसंख्यलोकप्रदेशराशितुल्यं तदधिकं वा न भवति, ओषापेक्षया मार्गणास्थानेष्वधिकपरिमाणस्याऽसंभवात् । इत्थं चासंख्येयभागवृद्धिहानिवर्जानां शेषपदानां नानाजीवाश्रितमन्तरं नियमेन भवति, तच्च तत्तत्पदानामश्रुबन्धमाश्रित्याश्रितमेव । तत्र तज्जघन्यतः समयमात्रमिति कथितमुपपादितं च । शेषवृद्धिहानिबन्धसंख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणे द्वे पदे तु श्रेणिभाविस्थितिवन्धावीने इत्यतस्तदीयोत्कृष्टान्तरमपि नानाजीवाश्रितश्रेण्युत्कृष्टान्तरानुसारेण प्राप्यते, अतस्तत्तदनुसारेण वक्ष्यति । शेषसंख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां चतुर्णां पदानां न्वोषतो मार्गणास्थानेषु वा यदि तद्वन्धार्हजीवानामन्तरं पतति तदाऽपर्याप्त-मनुष्यादिमार्गणाश्रितमार्गणोत्कृष्टान्तरानुसारेण पर्ययोपमसंख्येयभागादिप्रमाणं प्राप्यते, यदि च तद्वन्धार्हजीवानां सर्वथाऽभावलक्षणमन्तरं न भवति तदा तु निरन्तरं लभ्यमानैतैः स्वस्थाने बन्ध-प्रायोग्यन्वाच्यतुर्विधान्यतरमवृद्ध्यादेर्वन्ध उत्कृष्टतः प्रत्यन्तमुहुत्तं नियमेन क्रियते, ततो नानाजीवाना-श्रित्य चतुर्विधान्यतरमवृद्ध्यादेरुत्कृष्टमन्तरमन्तमुहुत्तं इति अधिकं नैव प्राप्यते । ओषचिन्तायां हि यस्मान्नां स्वस्थाने संख्येयगुणवृद्धिहानिवन्धार्हाः जीवाः सर्वे पर्याप्ताऽपर्याप्तमज्ञिपञ्चेन्द्रियाः, संख्येय-भागवृद्धिहानिवन्धार्हास्तु सर्वत्रसजीवाश्च, ते च निरन्तरं प्राप्यन्ते, अत ओषतः संख्येयभाग-संख्ये-यगुणवृद्धिहानीनां प्रत्येकं नानाजीवाश्रितमन्तरमप्यन्तमुहुत्तमेव लभ्यत इति ।

यस्मान्नामसंख्यगुणवृद्धिहान्योर्नानाजीवाश्रितमन्तरं दर्शयन्नाह—“वासपुहुत्तलभ्यास”न्यादि, क्रमात् वर्षपथकत्वं षण्मासाश्च यस्मान्नामसंख्यगुणवृद्धेरसंख्येयगुणहानेश्चान्तरं भवति । कुतः ? इति चेत्, असंख्येयगुणवृद्धेरुपशमश्रेणितः प्रतिपाते एव सम्भवात्, उपशमश्रेणेर्नानाजीवाश्रितोत्कृष्टा-

न्तरस्य वर्षपृथक्त्वात् । उक्तं च जीवसमासवृत्तौ श्रीमन्मलधारोयहेमचन्द्रसूरिपादैः—

'मोहनीयं कर्मोपशमयन्तीत्युपशमकाः-उपशमश्रेणिवर्तिनः संयताः, तेष्वपि वर्षपृथक्त्वप्रमाणसन्तरं समवसेयम्, कदाचिद्वर्षपृथक्त्वं यावत्लोके उपशमश्रेणि न कोऽपि प्रतिपद्यत इत्यर्थः' । इति ।

सप्तानामसंख्यगुणहानिस्तु क्षपकश्रेणावपि जायते, क्षपकश्रेणेर्नानाजीवाश्रितमन्तरं तु एवमासा एव । उक्तं चैतदपि तत्र— 'मोहनीयं कर्म क्षपयन्तीति क्षपकाः-क्षपकश्रेणिवर्तिनश्चारिविण एव, तेषु पुनः एवमात्ममानमन्तरं विज्ञातव्यम्' इति । इत्थं हि सप्तानामसंख्यगुणस्थितिवन्धवृद्धिहान्यन्तरं नानाजीवानाश्रित्य एवमाप्रमाणमेव भवति, नाधिकम्; कस्मिन्नपि महात्मनि क्षपकश्रेणिं समारूढे क्रमेण तस्य नियमतोऽसंख्यगुणहानीनां प्रवर्तनादिति ॥८०७-८०८॥

तदेवमभिहितमोचतः सप्तप्रकृतीनां शेषसंख्येयभागादिस्थितिवन्धवृद्ध्यादिसत्पदानां नानाजीवाश्रितमन्तरं यथावम्भवं जघन्योत्कृष्टभेदतः । अथ तदेवादेशतो त्रिभिर्णिषयाऽऽह—

मत्तण्डं मव्यद्धा जासु असंखंसवडिहहाणीणं ।

तासु ण अंतरं सिं मेसासु भवे लहुं समयो ॥८०९॥

(प्र०) "सत्तण्डं"मित्यादि, ज्ञानावरणादीनामायुर्वर्जानां सप्तानां "सव्यद्धा जासु असंखंसवडिहहाणीणं" ति 'तिर्यग्गत्योधादिषु' त्यादिसार्धगाथात्रयेण तिर्यग्गत्योधादिषु यासु मार्गणास्व-
नन्तरं नानाजीवाश्रिते कालद्वारे सप्तानामसंख्यभागस्थितिवन्धवृद्धिहानिलक्षणयोः सत्पदयो-
र्नानाजीवाश्रितः कालः मशोद्धाऽभिहितः "तासु" ति तासु तिर्यग्गत्योधादिचतुःषष्टिमार्गणासु
"ण अंतरं सिं" ति "सिं"-तयोः सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहान्योऽन्तरं नानाजीवानाश्रित्य न भवती-
त्यर्थः । सुगमम्, केवलं तिर्यग्गत्योधादिचतुःषष्टिमार्गणानामानीमानि—तिर्यग्गत्योधयर्व-
केन्द्रिय-पूर्वनिगोदभेद-शेषद्वादशसूक्ष्मपृथिव्यादिभेद-पृथिव्यप्तेजोवायुकायौष-तद्वादरोध-वादराऽ-
पर्याप्तभेद-वनस्पतिशार्धौष-प्रत्येकवनस्पत्योष-तदपर्याप्तभेद-काययोगसामान्यौ-दारिकौ-दारिकमिश्र-
कर्मणकाययोग-नपुंसकवेद क्रोधादिचतुःकषाय-मत्स्यज्ञान-श्रताज्ञाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्दोर्ज्ञान-कृष्ण-नील-
कापोतलेखा-भव्या-ऽभव्य-भिध्यात्वा-ऽसंज्ञया-ऽऽहारका-ऽनाहारकमार्गणाभेदा इति ।

अथ शेषमार्गणास्वसंख्यभागवृद्धिहान्योर्नानाजीवानाश्रित्याधुवन्वाद्भवति तत्राऽन्तरमतस्तदादां
जघन्यत आह—"सेसासु भवे लहुं समयो" ति तिर्यग्गत्योधादिचतुःषष्टिमार्गणावर्जासु
नरकगत्योधादिमार्गणासु ज्ञानावरणादिसप्तान्यतमस्य कर्मणोऽसंख्यभागवृद्धिहानिमत्पदयो'लघु'-
जघन्यमन्तरं समयो भवेत् । एतच्च सप्तानामौषिकसंख्येयभागादिवृद्ध्यादः समयमात्रजघन्या-
न्तरवदेव भावनीयमिति ॥८०९॥

अर्थतासु नरकगत्योधादिशेषमार्गणास्वेव सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहान्यन्तरमुत्कृष्टतो दर्शयन्
गाथायुग्ममाह—

पल्लासंखियभागो अपज्जणर-मीस-सासणेसु गुरु' ।

विक्कियमीसे वारमुहुत्ता-ऽऽहारजुगले सरपुहुत्तं ॥८१०॥ (गीतिः)

छेए परिहारम्मि य अट्टारह अयरकोडिकोडिओ ।

सत्तदिवसा उवसमे सेसासु भवे मुहुत्तंतो ॥८११॥

(श्रे०) “पल्लासंखियभागो” इत्यादि, अपर्याप्तनरमार्गणास्थाने मिश्रदृष्टि-सास्वाद-न-मार्गणास्थानयोश्च प्रत्येकं 'गुरु'-उत्कृष्टमन्तरं पल्लोपमस्थाऽसंख्यभागप्रमाणम्, सप्तानामसंख्यभाग-वृद्धिहान्योरिति प्रकमाद्भ्यसे । कुतः ? इति चेद्, नानाजीवानाश्रित्य प्रत्येकं मार्गणायाः सान्तरत्वात्, तस्या उत्कृष्टान्तरस्य पल्लोपमासंख्येयभागप्रमाणत्वाच्च । इदमुक्तं भवति—मार्गणायाः सान्तरत्वे सति तदीयेऽन्तरे प्रवर्तमाने तत्र जीवानां मर्त्याऽभावेन तत्तन्मार्गणायां बन्धप्रायोग्यसप्त-कर्मसत्कवृद्ध्यादीनां बन्धोऽपि न प्राप्यते, बन्धस्य बन्धकाऽविनाभावित्वात्, इत्थं चोत्कृष्टतो यावन्तं कालं नानाजीवानाश्रित्य मार्गणान्तरं तावत्काळमवस्थानवृद्ध्याग्रेकविधस्याऽपि बन्धस्या-ऽभावाद्बन्धस्थितबन्धोत्कृष्टान्तरवद् वृद्ध्यादीनामन्तरमप्युत्कृष्टतो नानाजीवाश्रयमार्गणोत्कृष्टान्तरा-पेक्षयाऽन्तर्मुहूर्तादिनाऽधिकं प्राप्यते, अपर्याप्तमनुष्य-मिश्रदृष्टि-सासादनरूपाणां तिसृणां मार्गणानां नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टान्तरं तु पल्लोपमासंख्येयभागप्रमाणम् । उक्तं च जीवसमासे—

‘पल्लाऽसंखियभागं सामणमिस्सासमत्तमणुपसु’ । इति ।

इत्थं च प्रस्तुतान्तरमपि सामान्येनाऽपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणाद्ये नर्थैवाभिहितम्, विशेषतस्तु तदन्तर्मुहूर्तेनाभ्यधिकं स्वयमभ्यूह्यमिति ।

अथ वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणायामाह—“विक्कियमासे वार” इत्यादि, वैक्रियमिश्रकाययोग-मार्गणायां सप्तानामसंख्यभागवृद्धिहान्योः प्रत्येकमुत्कृष्टमन्तरं द्वादश मुहूर्ता भवति । कुतः ? अपर्याप्त-मनुष्यादिमार्गणावत् वैक्रियमिश्रकाययोगमार्गणाया अपि सान्तरत्वात्, तस्या नानाजीवाश्रितोत्कृ-ष्टान्तरस्य द्वादशमुहूर्तप्रमाणत्वाच्च । उक्तं चैतदपि जीवसमासे—‘विक्कियमिस्सेसु वारस हुंति गुहुत्ता’ इति । विशेषतस्तु प्राग्बदेव भावनीयम् ।

अथाऽऽहारक-तन्मिश्रकाययोगमार्गणाद्ये आह—“आहारजुगले सरपुहुत्तं” नि आहारक-तन्मिश्रकाययोगद्वयलक्षणे आहारकयुगले सप्तानां प्रस्तुतयोरसंख्येयभागवृद्धिहान्योः प्रत्येकमुत्कृष्टं नानाजीवाश्रयमन्तरं “सरपुहुत्तं” ति ‘शरत्पृथक्त्वम्’-वर्षपृथक्त्वं भवतीत्यर्थः, शरद्वर्षाब्दादिशब्दानामेकार्थकत्वात् । तदुक्तं श्रीहेमचन्द्रसूरीन्द्रैरभिधानचिन्तामणौ-‘वत्सरः, स-सं-पर्य-नूद्भ्यो वर्ष, हायनोऽब्दं समाः शरत्’ (१५९) इति । इदमपि पूर्ववन्मार्गणोत्कृष्टान्तरानुसारेणोपपादनीयम् । मार्गणोत्कृष्टान्तरं तु—‘आहारमिस्सजोगे वासपुहुत्तं’ इति श्रीजीवसमासवचनाद्वर्षपृथक्त्वं ज्ञायते, श्रीप्रज्ञापनासूत्रवचनेन तु तत्प्राग्बदन्यथाऽपि द्रष्टव्यमिति ।

अथ छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसंयममार्गणयोः प्रस्तुतपदद्वयस्य नानाजीवाश्रयमुत्कृष्टान्तरमाह—“छेद परिहारम्मि य” इत्यादि, सुगमम्, अन्तरोपपत्तिस्तु प्राग्बततन्मार्गणाया अष्टादशसागरोपमकोटिकोटिप्रमाणनानाजीवाश्रितोत्कृष्टान्तरद्वारेणैव कर्तव्या ।

अर्थापशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां सप्तानामसंख्यभागवृद्धिद्विहान्योः प्रस्तुतोत्कृष्टान्तरमाह—“सत्तदिवसा उवसमे” इति, सुगमम्, केवलमुपपत्तिर्द्वितीयाधिकारदर्शितसप्तमूलप्रकृत्यनुत्कृष्टस्थितिवन्धनानाजीवाश्रितोत्कृष्टान्तरोपपत्तिवत् प्रतिपद्यमानसम्यक्त्वानां जीवानां सर्वथाऽभावलक्षणोत्कृष्टान्तरानुसारेण द्रष्टव्येति ।

अथोक्तशेषमार्गणासु यद्यप्यपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायमार्गणे स्थितिवन्धकनानाजीवानाश्रित्य सान्तरं तथाऽपि तासु प्रस्तुतासंख्येयभागवृद्धिहानिपदद्वयमेव सन्न भवति, शेषनिरयगत्योषादिमार्गणास्तु नानाजीवानाश्रित्य निरन्तरा एव, तथा च सति तासु शेषमार्गणासु प्रस्तुतान्तरं सप्तानां संख्येय-भागवृद्ध्यादेरौघिकोत्कृष्टान्तरवदन्तमुहूर्तप्रमाणमेव प्राप्यत इति तासु तत्रैव दर्शयन्नाह—“सेसासु भवे मुहुत्ततो” इति सेसासु नरकगत्योषादिपञ्चनवतिमार्गणासु सप्तानामसंख्यभागवृद्धिद्विहान्योः प्रस्तुतं नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टमन्तरं ‘मुहूर्तान्तः’-अन्तमुहूर्तं भवति । गतार्थम्, केवलं शेषमार्गणाभिधानानि त्वेषम्—सर्वं निरयभेदाः, मनुष्यौघ-तत्पर्याप्त-मानुषीभेदाः, सर्वे देवभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदाः, सर्वे विकलेन्द्रियभेदाः, सर्वे पञ्चेन्द्रियभेदाः, आदरपर्याप्तपृथिव्यप्तेजो-वायु-पर्याप्तस्येकवनस्पतिकारुपाः पञ्च मार्गणाभेदाः, सर्वे त्रसकायभेदाः, पञ्च मनोयोगभेदाः, पञ्च बचोयोगभेदाः, वैक्रियकाययोगः, स्त्रीवेद-पुरुषवेदौ, मत्यादिचतुर्ज्ञान-विभङ्गज्ञान-संयमौघ-सामायिकसंयम-देशसंयम-वक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-तेजः-पद्म-शुक्ललेह्या-सम्यक्त्वाघ-क्षायिक-क्षायो-पशमिकसम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणाभेदाश्चेति ॥८१०-८११॥

तदेवमभिहितं सप्तानामसंख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणपदद्वयस्य प्रस्तुतान्तरमुत्कृष्टतोऽपि सर्व-मार्गणास्थानेषु । अथ तामामेव सप्तप्रकृतीनां संख्येयभागसंख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां चतुर्णां सत्पदानां जघन्योत्कृष्टभेदतो तद्दर्शयन्नाह—

सव्वासु लहुं समयो संखियभागगुणवडिहहाणीणं ।

पल्लाऽसंखियभागो अपज्जणर-मीस-सासणसु गुरुं ॥८१२॥(गोतिः)

विक्रियमीसे वारमुहुत्ता-ऽऽहारजुगले सरपुहुत्तं ।

वासपुहुत्त-छमासा अवअ-सुहुमेसु वडिह-हाणीणं ॥८१३॥

छेद परिहारम्मि य अहारस जलहिकोडिकोडीओ ।

सत्त दिवसा उवसमे सेसासु भवे मुहुत्ततो ॥८१४॥

(प्रे) “संख्यासु लघु” मित्यादि, यासु मार्गणासु सत्पदद्वारे आयुर्वर्जमप्तान्यतमप्रकृतीनां संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहान्यन्त्यतमपदानां सत्त्वमाधिकृतं तासु नरकगतयोधादिमर्षमार्गणासु तासां संख्येयभागवृद्ध्यादिचतुरन्त्यतमसत्पदानां प्रत्येकं नानाजीवाश्रितं बन्धान्तरं ‘लघु’-जघन्यं ‘समयः’ समयमाश्रमित्यर्थः । एतन्बोधवदेव विज्ञातव्यम् ।

अथैतेषामेव सत्पदानामुत्कृष्टान्तरं दर्शनीयम्, तत्र या मार्गणा नानाजीवान् ममाश्रित्य सान्तरा-स्तास्त्रपर्याप्तमनुष्यादिमार्गणासु तदसंख्येयभागवृद्धिहान्यन्तरवन्मार्गणोत्कृष्टान्तरप्रमाणं लभ्यतऽनेस्तासु तत्तथैव दर्शयन्नाह—“पक्षाऽसंखिय भागो” इत्यादि, प्राग्बदपर्याप्तमनुष्य-मिश्रदृष्टि-मासादन-मार्गणानां नानाजीवाश्रितोत्कृष्टान्तरस्य पक्षोपमासंख्येयभागप्रमाणत्वान्नासु मप्तानां संख्येय-भाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां स्थितिवन्धविशेषणामेकैकस्य नानाजीवाश्रितं ‘गुरु’-उत्कृष्ट-मन्तरं पक्षोपमामंख्येयभागप्रमाणं भवति । इत्थमेव “चिक्षियसीसे चारसुहृत्ता” ति वैकिय-मिश्रकाययोगमार्गणाया नानाजीवाश्रितोत्कृष्टान्तरस्य द्वादशमुहूर्तमानत्वात् तस्यां प्रस्तुतानां चतसृणां वृद्धिहानीनामुत्कृष्टान्तरं द्वादश मुहूर्ता भवति । तथैव “ऽऽहारजुगले सरपुहृत्ता” ति आहारका-ऽऽहारकमिश्रकाययोगद्वये प्रस्तुतानां चतसृणां वृद्धिहानीनामुत्कृष्टान्तरं ‘शरत्पृथक्त्वं’ वर्षपृथक्त्वं भवति । “वासपुहृत्तच्छमासा” इत्यादि, अत्र क्रमादिति वाक्यशेषः, ततश्चापगत-वेद-सूक्ष्मसंपरायसंयममार्गणयोः प्रत्येकं प्रस्तुतान्यतरवृद्धिसत्पदस्योत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, प्रस्तु-तान्यतरद्वानिसत्पदस्य तु तत्पणमासाः ।

अयम्भावः— मार्गणाद्वये वृद्धिपदानां प्रपतदुपशमकस्वामिकत्वात् पतदुपशमकानामुत्कृष्टा-न्तरस्य वर्षपृथक्त्वाच्च प्रस्तुतान्तरमप्योधवदुत्कृष्टतो वर्षपृथक्त्वं भवति, मार्गणाद्वयेऽपि हानियदानां तु क्षपकापेक्षयाऽपि संपत्तिर्विद्यते, क्षपकाणामुत्कृष्टान्तरं तु न उपशमकानामिव वर्षपृथक्त्वम्, किन्तु पणमासा एव । उक्तं च श्रीजीवसमासे—‘वासपुहृत्तां उवसामणसु खचगंसु छमासा’ इति । इत्थं क्षपकोत्कृष्टान्तराधीनं प्रस्तुतान्तरमप्योधवन्पणमासा एव भवति । तथा चापगतवेदे मोहनीयवर्जानां पण्णां बन्धप्रायोम्यप्रकृतीनां प्रस्तुतद्विविधवृद्धिपदस्य, मोहनीयस्य तु संख्येयभागवृद्धिलक्षणस्यैक-विधसत्पदस्य चोत्कृष्टान्तरं वर्षपृथक्त्वम्, सूक्ष्मसंपरायसंयममार्गणायां तु पण्णामपि प्रकृतीनां संख्येयभागवृद्धिपदस्य तद्वर्षपृथक्त्वम्, तत्तद्वानिपदस्य तु मार्गणाद्वये पण्णमासा इति विज्ञेयम् ।

“छेय परिहारस्मिय” ति छेदोपस्थापनसंयममार्गणायां परिहारविशुद्धिकर्मयममार्ग-णायां च प्रस्तुतानां ज्ञानावरणादेः संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणानां चतुर्णां सत्पदानां प्रत्येकमुत्कृष्टान्तरमष्टादशकोटीकोटीसागरोपमाणि भवति, एतन् प्रस्तुतमार्गणाद्वयेऽनन्तरमेव दर्शितासंख्येयभागवृद्धिहान्यन्त्यतरान्तरवृद्धिज्ञेयम् । एवमेव “सस्त दिवसा उवसमे” ति सुगमम् । केवलं प्रस्तुतत्वाज्ज्ञानावरणादीनां सप्तानां संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धि-हानिलक्षणानां

चतुर्णां पदानामुत्कृष्टान्तरम् । एतदप्यन्तरमधिकृतमार्गणायां दर्शितासंख्येयभागवृद्धिहान्युत्कृष्टान्तरवज्ज्ञेयम् ।

दर्शितं सान्तरमार्गणासु प्रस्तुतान्तरम् । अथ शेषमार्गणासु तु मार्गणानामेव नानाजीवनाश्रित्य ध्रुवत्वेन सर्वदैवप्रस्तुतवृद्धिहानिवन्धाहर्तृजीवनां समुपलब्धेस्तैरुत्कृष्टतः मप्रत्यन्तमुहूर्तम्-ऽन्तरान्तरा स्वप्रायोग्यप्रस्तुतवृद्धिहानीनां निर्वर्तनाच्च नानाजीवनाश्रित्य तदीयो कृष्टवन्धान्तरमोघवदत्रमार्गणास्थानेष्वप्यन्तमुहूर्तमेव प्राप्यते, न पुनस्तदधिकमिति कृत्वा तत्तन्मार्गणासु तत्तथैव दर्शयति—“सेसासु भवे मुहुत्ततो”ति गतार्थम्, केवलं शेषमार्गणा इमाः—सर्वे निरयगतिभेदाः, तिर्यग्भान्योषः, सर्वे तिर्यक्पञ्चेन्द्रियभेदाः, मनुष्यांघ-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीभेदाः, सर्वे देवगतिभेदाः, जय विकलेन्द्रियभेदाः, शयः पञ्चेन्द्रियभेदाः त्रयस्त्रसकायभेदाः, वैक्रियमिश्राऽऽहारकाऽऽहारकमिश्रकाययोगभेदवर्जाः सर्वे योगभेदाः, त्रयो वेदभेदाः, चत्वारः क्रोधादिकषायभेदाः, चत्वारो मन्यादिज्ञानभेदाः, त्रयोऽज्ञानभेदाः, संयमंघ-सामापिकसंयम-देशसंयमा-ऽसंयम-मार्गणाः, चक्षु-चक्षु-रवाधिदर्शनानि, कृष्णादिषण्णेश्याः, भव्या-ऽभव्यौ, सम्यक्त्वौघ-क्षायिक-क्षायोपशमिकसम्यक्त्वानि, मिथ्यात्वम्, तथा संशय-ऽसंज्ञिभेदाः, आहारका-ऽनाहारकभेदाः चेत्येषं श्रयोदशोत्तरशतम् । तत्राऽपि विकलेन्द्रियभेदनवके समानां संख्येयगुणवृद्धिहानिपदयोरसञ्चात् ते विहाय संख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः पदयोरेव प्रस्तुतोत्कृष्टान्तरमन्तमुहूर्तं ज्ञेयमिति । ८१४।

तदेवं दर्शितं समानां संख्येयगुण-संख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणानां चतुर्णां स्थितिवन्धविशेषाणामपि मार्गणास्थानेषु नानाजीवममाश्रितमुत्कृष्टान्तरम् । अथ शेषयोरसंख्येयगुणवृद्धिहान्योर्नानाजीवाश्रितमन्तरं मार्गणास्थानेष्वह—

जत्थऽत्थि तत्थ समयो लहुं असंखगुणवडिह्वाणीणं ।

जेट्टुं मणुमि-त्थि-णपुम-अवेअ-मणणाणु-वममेसु ॥८१५॥

वासपुहत्तं छेए अट्टारस जलहिकोडिकोडीओ ।

सेमासुं वड्ढीए विण्णेयं हायणपुहुत्तं ॥८१६॥

पुरिसे साहियवासो णेयं हाणीअ चउकमायेसुं ।

अव्भहियो वासो उअ छम्मासा अंतरं होइ ॥८१७॥

ओहिदुगे विण्णेयं अहियसमा केइ हायणपुहुत्तं ।

अवसेसमग्गणासुं छम्मासा अंतरं णेयं ॥८१८॥

(प्र०) “जत्थऽत्थि” इत्यादि, ‘यत्र’- यासु मार्गणासु ‘स्तः’-सत्यौ, के १ असंख्यगुणवृद्धिहानी, सप्तकर्मणामसंख्यगुणवृद्धिहानिपदद्वयं सत्पदद्वारे सदभिहितमिति भावः । “तत्थ” चि

'तत्र'-तासु मार्गणासु "समयो लघु' असंख्यगुणवृद्धिहाणीणं" ति तयोरसंख्यगुणवृद्धिहान्यो-
 र्नानाजीवाश्रितं 'लघु'-जघन्यं बन्धान्तरं समयः, ओघवत्समयप्रमाणं भवतीत्यर्थः । भावनाप्योघ-
 वदेव द्रष्टव्येति । अथाऽनयोरेवोक्तकृष्टान्तरमाह-"जेड्ड"मित्यादि, असंख्यगुणवृद्धिहान्योः प्रत्येकं
 'ज्येष्ठम्'-उत्कृष्टमन्तरं वर्षपृथक्त्वं भवतीति परेणान्वयः । कासु मार्गणास्विन्याह-"मणुसिस्थो"-
 त्यादि, मानुषी-स्त्रीवेद-नपुंमकवेदा-ऽपगतवेद-मनःपर्यवज्ञानौ-पशमिकसम्यक्त्वमार्गणास्विन्यर्थः ।
 न च 'वासपुहुत्तसुवसामणसु' इति वचनादौपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां प्रस्तुतहान्यन्तरस्योक्तकृष्टतो
 वर्षपृथक्त्वप्रमाणत्वेऽपि मानुष्यादिमार्गणासु नैतद्युज्यते, तासु क्षपकाणामपि प्रस्तुतहानेर्भावात्, क्षप-
 काणामुत्कृष्टान्तरस्य एतद्वेदप्रमाणत्वान्तेति वाच्यम् । तत्रद्वेव-संख्य-नादिनाऽविशिष्टानां क्षपक-
 मामान्यानां नानाजीवाश्रयान्तरस्य षण्मासप्रमाणत्वेऽपि तत्तद्वेदज्ञानादिभेदेन विशिष्टानां स्यादि-
 तत्तद्विज्ञानामवध्यादितत्तज्ज्ञानीनां विद्वच्चन्तरवद्यथा मानुष्यादिमार्गणासु स्त्रीवेदादिविशिष्टक्षपक-
 नानाजीवान्तरापेक्षया षण्मासां जघन्यस्थितिवन्धान्तरं विलक्षणं विलक्षणं प्राप्यते तथैव प्रस्तुत-
 हान्यन्तरमपि मानुष्यादिमार्गणाप्रविष्टक्षपकजीवाऽन्तरापेक्षया विलक्षणं वर्षपृथक्त्वादिकं प्राप्यते, न तु
 क्षपकसामान्योत्कृष्टान्तराश्रितं षण्मासप्रमाणमेव, अत एव पुंवेदादिमार्गणास्थानेषु तत् षण्मासमनु-
 क्त्वा साधिकवर्षादिमानमनुपदमेव वक्ष्यते, इत्थं जघन्यस्थितेर्वन्धकान्तरवदिदमप्यन्तरं मानुष्या-
 दिमार्गणासु यथामम्भवं वेदितव्यमिति । अपगतवेदमार्गणायां तु वेदनीय-नामगोत्रलक्षणानां तिसृणां
 मूलप्रकृतीनामेव तद्वर्षपृथक्त्वम्, न पुनस्तदन्यासाम्, गतवेदमार्गणायां तदन्यासामसंख्येयगुण-
 वृद्धिहान्योरेवाऽभावात् ।

अथ छेदोपस्थापनसंयममार्गणायां प्रस्तुतवृद्धिहान्योरुत्कृष्टान्तरमाह-"छेए अहारस"
 इत्यादि, एतदपि सुगमम्, नानाजीवानाश्रित्य प्रस्तुतमार्गणाया एव मान्तरन्वात्, तदीयोत्कृष्टा-
 न्तरस्याऽष्टादशमागरोपमकोटिकोटिप्रमाणत्वाच्च । विशेषतस्तु-प्रस्तुतमार्गणायां मातृकर्मणां जघन्या-
 दिस्थितिवन्धस्य प्राग्दर्शितोत्कृष्टान्तरानुसारेण दर्शनीयम् ।

इदानीं शेषमार्गणासु तत्रप्रविष्टनानाजीवाश्रितोपशमश्रेण्युत्कृष्टान्तराधीनमसंख्यगुणवृद्धे-
 रुत्कृष्टान्तरं दर्शयति-"सेसासु' षड्डीए" इत्यादि, यासु मार्गणास्वसंख्यगुणवृद्धिपदं भूत्
 तास्वनन्तरोक्ता मानुष्यादिषण्मार्गणाः संत्यज्य शेषासु मनुष्यगतयोघादिमार्गणासु प्रत्येकं 'बृद्धेः'-
 असंख्यगुणवृद्धेरुत्कृष्टमन्तरं वर्षपृथक्त्वं भवति । कुतः ? असंख्यगुणवृद्धेरस्यशमश्रेणावेव भावादिति ।

अथोक्तशेषासु मार्गणास्वेव क्रमेण प्रस्तुतहानेरुत्कृष्टान्तरं दर्शयति-"पुरिसे साह्यवासो
 णेयं ह्राणीअ" ति पुरुषवेदमार्गणायां सप्तमूलप्रकृतीनामसंख्यगुणस्थितिवन्धहानेर्नानाजीवाश्रित-
 मुत्कृष्टमन्तरं साधिकवर्षप्रमाणम्, तथा क्रोधादिलक्षणासु चतसृषु कषायमार्गणासु प्रत्येकम् "अञ्म-
 हियो वासो" ति अभ्याधिकवर्षमानं प्रस्तुतान्तरं भवेत्, "उअ छम्मासा अंतरं होइ" ति
 'उत'-अथवा मतान्तरेण कषायमार्गणाचतुष्कं प्रस्तुतान्तरं षण्मासा भवति । "ओहिपुगे" ति

अवधिज्ञानदर्शनलक्षणेऽवधिद्विके प्रस्तुतं हान्यन्तरम् “अहियसमा” ति साधिकसमा, अम्यधिक-
वर्षमानमेवेत्यर्थः । अत्रैव मार्गणाद्वये महाबन्धकाराभिप्रायेण प्रस्तुतहान्यन्तरं दर्शयन्नाह-“केचि
ह्ययणपुहुत्त” ति ‘केचित्’-महाबन्धकारा अवधिज्ञान-दर्शनलक्षणमार्गणाद्वये सप्तानामसंख्येय-
गुणहानिलक्षणस्य स्थितिवन्धविशेषस्य नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टमन्तरं ‘हावनपृथक्त्वं’-वर्षपृथक्त्वम्,
वदन्तीति शेषः । अथ शेषमार्गणानु प्रस्तुतं हान्यन्तरमाह-“अवसेसमगगणासु”मित्यादि,
यास्वन्यतमस्याऽपि कर्मणोऽसंख्यगुणहानिपदं सद्भूतमभिहितं ताभ्यो मार्गणाभ्योऽनन्तराभिहित्वा
मान्यादिचतुर्दशमार्गणास्त्वक्त्वाऽवशेषासु मनुष्यगत्योषादित्रिंशन्मार्गणासु तस्या ज्ञानावरणा-
देरसंख्यगुणहानेर्नानाजीवाश्रितमुत्कृष्टमन्तरं षणमासा भवति । ताश्च मार्गणा इमाः—मनुष्यौष-
धर्षातमनुष्या, तथैव पञ्चेन्द्रियाष-तत्पर्याप्तभेदा, त्रसकार्यौष-तत्पर्याप्तभेदा, पञ्चमनोयोग-
पञ्चवचोगो-काययोगसामान्या-दारिककाययोग-मतिज्ञान-श्रुतज्ञान-संयमौष-सामायिकसंयम-
चतुर्दशना-ऽचतुर्दशना-युक्कलेदया-भन्ध-सम्यक्त्वाव-धायिकसम्यक्त्व-संज्ञा-ऽऽहारिमार्गणाश्चेति
॥८१५-८१६-८१७-८१८॥

तदेवमभिहितं विभागेन मार्गणास्थानेष्वपि सप्तानामसंख्यभागवृद्ध्यादिसत्पदानां नानाजीव-
श्रिं जवन्वोऽकृष्टभेदभिन्नं वन्धान्तरम्, तथा च कृते भवनेकादशमन्तरद्वारम् ।
॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे एकादशं नानाजीवाश्रयमन्तरद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ द्वादशं भावद्वारम् ॥

एतर्हि कमप्राप्तस्य भावद्वारस्यावतरः, तत्र पूर्ववत् प्रस्तुतस्थितिवन्धवृद्ध्यादिरूपौदयिकेन
भावेन प्रवर्तत इत्येतन्निजिगदिपुरं कामार्थमाह—

भावेणोदहृणं बंधो सव्वाण वडिढहाणीण ।

सत्तण्हेमेव भवे सवडिढहाणीण सव्वासुं ॥ ८१९ ॥

(प्रे०) “भावेणे”त्यादि, सुगमम्, केवलं “सव्वाण वडिढहाणीणं सत्तण्ह” ति आयु-
पोऽसंख्यभागहानेस्तदीयावक्तव्यबन्धस्य तथाऽऽयुर्वर्जानां सप्तमूलप्रकृतीनामवस्थिताऽवक्तव्यस्थिति-
बन्धयोः सत्पदादिभावद्वारान्तद्वादशद्वारविषयायाः सर्वप्ररूपणायाः प्रस्तुताधिकारप्राप्त्ये सत्पदद्वारे
‘अस्थि अवत्तवत्त’मित्यादिगाथा- (७३२-७३३)द्वयेनाभिहितत्वादुक्तशेषाणां तत्तदसंख्येयभाग-
प्रभृतिवृद्ध्यादिसत्पदानां बन्धोऽप्योषत आदेशतश्चोत्कृष्टादिस्थितिवन्धवर्दायशमिकादिभावानां मध्ये
आदधिकेन भावेन जायते । अत्राऽऽपत्पुपत्तयस्तु भूयस्काराधिकारभावद्वारदर्शितनीत्या स्व-
यमभ्युद्धा इति ॥८१९॥

तदेवं कृतमतिदिष्टशेषस्थितिवन्धवृद्ध्यादिसत्पदेषु भावप्ररूपणम्, तथा च गतं भावद्वारम् ।

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे द्वादशं भावद्वारं समाप्तम् ॥

॥ अथ त्रयोदशमल्पबहुत्वद्वारम् ॥

इदानीं त्रयोदशस्याल्पबहुत्वद्वारस्यावसरः । तत्राप्युपः पदद्वयविषयकाल्पबहुत्वस्यापि सत्पद-
द्वारे 'भृगारब्धाउस्स' इत्यादिनाऽतिदेशेनैव दर्शितत्वादायुर्वर्जानां मत्प्रकृतीनां प्रत्येकम-
संख्यभागप्रभृतिवृद्धिहान्यवस्थानादिवन्धकानामल्पबहुत्वं प्रतिपिपादयिपुरादां तावदोषत आह—

सत्तण्हं सव्वप्पाऽवत्तव्वस्स खलु बंधगा तत्तो ।

संखेज्जगुणा कमसो असंखगुणवड्ढिहाणीणं ॥८२०॥

तत्तो वि असंखगुणा हवन्ति संखगुणवड्ढिहाणीणं ।

ताउ असंखेज्जगुणा णया संखंसवड्ढिहाणीणं ॥८२१॥ (गीतिः)

तान्हितोऽणंतगुणा हुन्ति असंखंसवड्ढिहाणीणं ।

ताहिनतोऽवट्ठाणस्म असंखगुणा मुणेयव्वा ॥८२२॥

(ग्री०) "सत्तण्हं सव्वप्पा" इत्यादि, आयुर्वर्जं मत्प्रकृतीनां प्रत्येकमवक्तव्यलक्षणस्थिति-
बन्धस्य 'बन्धकाः'-निर्वर्तकाः "सव्वप्पा" ति अनुपदं वक्ष्यमाणासंख्यगुणवृद्ध्यादिशेषसर्वपदा-
नामेकैकस्य बन्धकापेक्षयाऽल्पत्वात् 'सर्वान्पाः'-सर्वस्तोका भवन्ति, यत उपशमश्रेणितो नियततां
स्थितिवन्धप्रथमसमये एवाऽवक्तव्यबन्धो भवति । "तत्तो" ति तेभ्यो ज्ञानावरणादीना-
मेकैकस्यावक्तव्यस्थितिवन्धकेभ्यः "संखेज्जगुणा" ति 'बंधगा' इत्यस्यानुवर्तनात्तामेव ज्ञाना-
वरणादीनामेकैकस्य बन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति । कस्य कस्य पदस्येत्याह—"कमसो असंख-
गुणवड्ढिहाणीणं" ति 'क्रमशः'-वथाक्रमसंख्यगुणवृद्धेरसंख्यगुणहानेश्च ।

इवमुक्तं भवति—उत्कृष्टपदे ज्ञानावरणस्यावक्तव्यलक्षणस्थितिवन्धस्य यावन्तो बन्धकाः
प्राप्यन्ते, तेभ्यस्तस्यैव ज्ञानावरणस्याऽसंख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धेरबन्धका उत्कृष्टपदे संख्येयगुणाः
प्राप्यन्ते, तेभ्यो ज्ञानावरणस्याऽसंख्येयगुणवृद्धिवन्धकेभ्यो ज्ञानावरणस्यैवाऽसंख्यगुणहानेरबन्धका
उत्कृष्टपदे संख्येयगुणाः सम्पद्यन्ते । तत्रावक्तव्यस्थितिवन्धस्याऽसंख्यगुणवृद्धेश्चोपशमश्रेणितः प्रति-
पत्त एव जायमानत्वेऽप्यवक्तव्यबन्धस्य मरुदेव भावाद्, असंख्यगुणवृद्धेः संख्येयशः सम्भवाच्चा-
न्तर्मुहूर्त-द्वयन्तर्मुहूर्ताद्यन्तरेण प्रतिपत्तमप्यसंख्यगुणवृद्धिनैरन्तर्येण सम्भवति, न पुनस्तेषां सर्वेषां
नैरन्तर्येणावक्तव्यस्थितिवन्धः, प्रतिपत्तप्रथमसमये एव तत्सम्भवात् ; इत्थं चावक्तव्यबन्धकेभ्योऽ-
संख्यगुणवृद्धिवन्धका उत्कृष्टपदे संख्येयगुणाः प्राप्यन्ते । असंख्यगुणहानिस्तूपशमकानामिव क्षपका-
णामपि जायते, असंख्यगुणवृद्धिस्तूपशमकानामेव, किञ्चोपशमकेभ्यः क्षपकान्तूत्कृष्टपदे संख्येय-
गुणाः प्राप्यन्ते । यदाहूमलधारोयहेमचन्द्रसूरिपादा जीवसमासवृत्तौ—

‘इहोपशामकप्रद्वेजेन मोहोपशामका उपशान्तमोहाश्च गृह्यन्ते, क्षपकोपादानेनापि क्षपकाः क्षीणमोहाश्च स्वीक्रियन्ते, उपरुक्षणव्याख्यानात्, ततश्च सर्वस्तोत्रा एव उपशामकाः क्षपकास्त्वेतेभ्यः संख्येयगुणाः, एतेषां चोपशामकक्षपकाणामेत इत्यबहुत्वमुभयेषामप्युत्कृष्टपदसत्त्वे लभ्यमाने द्रष्टव्यम्’ इति ।

इत्थं च ज्ञानावरणस्यासंख्येयगुणवृद्धेर्वन्धकेभ्यो ज्ञानावरणस्यासंख्येयगुणहानेर्वन्धकाः संख्येयगुणाः प्राप्यन्ते । इत्थमेव दर्शनावरणादीनां श्रत्येकमपि द्रष्टव्यम् ।

“तसो वि” ति तेभ्योऽनन्तरपदोक्तज्ञानावरणादिपत्कासंख्येयगुणहानिवन्धकेभ्योऽपि “असंख्यगुणा ह्यवन्ति” ति असंख्येयगुणा भवन्ति, बन्धका इत्यनुवर्तते । एवमुत्तरत्राऽपि बन्धका इत्यनुवृत्त्या द्रष्टव्यम् । कस्य कस्य पदस्येत्याह—“संख्येयगुणवृद्धिहाणीणं” ति ज्ञानावरणादीनां तत्तत्प्रकृतीनां संख्येयगुणवृद्धिहान्योरेकैकपदस्येत्यर्थः, परस्परं तु तयोर्वन्धकास्तुल्या इति विज्ञेयम्, पदद्वयस्य युगपदुपादानात् । कुतोऽसंख्येयगुणाः ? इति चेत्, सर्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां संख्येयगुणवृद्धिहानिस्वामित्वेन तेषां परिमाणोऽसंख्येयत्वेन च संख्येयेभ्योऽसंख्येयगुणहानिवन्धकेभ्यः सुतरामसंख्येयगुणत्वादिति । न एव ज्ञान्तु संख्येयगुणवृद्धिहाणित उक्तपदेऽसंख्येयगुणाः । कथं पुनः संख्येयगुणहानिस्वामिनोऽप्यसंख्येयगुणा एव, ओषत एकेन्द्रियाणामपि संख्येयगुणहानिस्वामित्वेनाऽनन्तरगुणव्यस्यैव युज्यमानत्वादिति वाच्यम्, यत्र एकेन्द्रिया न स्वस्थाने संख्येयगुणहानिस्वामिनः, किन्तु द्वीन्द्रियादिभ्यश्च्युत्पद्यमाना भवप्रथमसमयवर्तिन एव, द्वीन्द्रियादयस्त्वसंख्येया एव, अतो द्वीन्द्रियादिभ्यश्च्युत्पद्यमाना भवप्रथमसमयवर्तिन एकेन्द्रिया अप्यसंख्येया एवोत्कृष्टपदे प्राप्यन्ते, तथा चानन्तरेष्वप्येकेन्द्रियेषु केचनासंख्येया एव एकस्मिन् समये संख्येयगुणहीनस्थितेर्वन्धकतया प्राप्यन्ते, न पुनस्तदधिकाः, प्रस्तुताल्पबहुत्वं चैक्यामायिकोत्कृष्टपदगतबन्धकानाम्, अत एकेन्द्रियाणां संख्येयगुणहानिस्वामित्वेऽपि संख्येयगुणहानिवन्धका एकस्मिन् समये उत्कृष्टपदे उत्कृष्टपदगतेभ्योऽसंख्येयगुणहानिवन्धकेभ्योऽनन्तरगुणा नैव भवन्ति, किन्तु यथोक्ता असंख्येयगुणा एव भवन्ति ।

“ताड” ति तेभ्यः संख्येयगुणवृद्धिहान्यनन्तरबन्धकेभ्यः “असंख्येयगुणा ज्ञेया” ति असंख्येयगुणा बन्धकाः “संख्येयगुणवृद्धिहाणीणं” ति ज्ञानावरणादीनां सप्तानामन्यतमकर्मणः संख्येयभागवृद्धिहान्योरेकैकस्या ज्ञेयाः । परस्परं तु तयोः प्राग्बहुत्वा एव, प्राग्बहुत्वापि पदद्वयस्य युगपदुपादानात्, एवमेवोत्तरत्रापि युगपत्संगृहीतेषु पदेषु बन्धकानां तुल्यत्वं स्वयमेव द्रष्टव्यम् । अत्रानन्तरोक्तपदापेक्षयाऽसंख्येयगुणत्वं तु स्वस्थानविकलेन्द्रियसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामपि संख्येयभागवृद्धिहानिस्वामित्वादिज्ञेयम् । इदमुक्तं भवति—ज्ञानावरणादेः संख्येयगुणवृद्धिहानिस्वामिनः स्वस्थाने तु संज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव, संख्येयभागवृद्धिहान्योस्तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियवद् विकलेन्द्रियाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया अपि, संज्ञिपञ्चेन्द्रियेभ्यस्तु त एकेन्द्रियवर्जा अपि सर्वेऽसंख्येयगुणाः सन्ति, तदेवं विकलेन्द्रियसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामपि संख्येयभागवृद्धिहान्योर्वन्धकत्वादनन्तरपूर्वपदोक्तबन्ध-

कापेक्षया संख्येयभागवृद्धिहान्योः प्रत्येकं बन्धका असंख्येयगुणाः प्राप्यन्त इति ।

“ताहिन्तो” ति तेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरबन्धकेभ्यः “ऽनन्तगुणा हुन्ति असंख्यसंख्यद्विहाणीणं” ति असंख्यांशवृद्धिहान्योः प्रत्येकं बन्धका अनन्तगुणा भवन्ति, स्थानसाधारणवन्धकानामपि तत्स्वामित्वात् ।

“ताहिन्तो” ति तेभ्योऽसंख्यांशवृद्धिहान्यन्यतरबन्धकेभ्यः “ऽवदृष्टाणस्स असंख्यगुणा सुषोयन्वा” ति ज्ञानावरणादेरवस्थानलक्षणस्य स्थितिवन्धस्य बन्धका असंख्यगुणा ज्ञानव्याः । कुतः? असंख्यभागवृद्धिहान्यवस्थानस्थितिवन्धानां प्रत्येकं सर्वजीवस्वामिकत्वेऽप्यसंख्यभागवृद्धिहानेरेकजीवाश्रितोत्कृष्टकालस्य द्विममयमात्रत्वात्, ततश्चावस्थानवन्धोत्कृष्टकालस्य त्वसंख्येयगुणत्वात् । अयम्भावः—सामान्येन तत्तद्द्विहानिवन्धार्हजीवराशीनामेकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-मनुष्यादिरूपेण विजातीयत्वे तत्तद्राशीनां परस्पराल्पबहुत्वानुसारेण तत्तद्दृष्ट्यादिवन्धकानामल्पबहुत्वं सम्पद्यते, अतो द्विचरमत्रिचरमादिपदेषु तथैव दर्शितम्, उत्तरत्र तथा दर्शयिष्यते च । तत्तद्द्विहानिवन्धकानां सामान्येण तत्तद्दृष्ट्यादेर्वन्धकाः वक्ष्यमाणनीत्या यथोत्तरं संख्येयगुणाः सम्पद्यन्ते, अत एव नरकगत्योधादिमार्गणामु ते यथोत्तरं संख्येयगुणा अभिधास्यन्ते, सजातीयसंख्येयगुणवृद्ध्यादेर्वन्धकास्तु तत्तत्सजातीयसंख्येयगुणादिवृद्धिहान्योरेकजीवाश्रयकालानुसारेण तुल्या अतुल्या वा प्राप्यन्ते, एकजीवाश्रयकालस्य तुल्यत्वे तुल्याः प्राप्यन्ते, तस्यातुल्यत्वे त्वतुल्याः संख्येयगुणा लभ्यन्त इति भावः । अत एवोद्यततत्तत्सजातीयवृद्धिहानिपदयोर्वन्धकास्तुल्या अभिहिताः, मार्गणास्थानेष्वभिधास्यन्ते च । अवस्थानवन्धकास्तु संख्येय-संख्येयातीतलक्षणस्वपरिमाणानुसारेण चरमपदे संख्येयगुणा असंख्येयगुणा वा सम्पद्यन्त इत्यत ओद्यतश्चरमपदे तेऽसंख्येयगुणा प्रतिपादिताः, नरकगत्योधादिमार्गणास्त्रसंख्येयगुणास्तथा पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणामु संख्येयगुणाश्च प्रतिपादयिष्यन्त इति ॥ ८२०-८२१-८२२ ॥

तदेवमभिहितमोचतो ज्ञानावरणादेरसंख्येयभागप्रभृतिवृद्ध्यादिसन्पदानां बन्धकान्यबहुत्वम् । अद्युना तदेवादेशतो द्रष्टव्यम्, तत्र प्रथमं निरयगत्योद्योभेदे दिदर्शयिषुस्तत्साम्यादन्यमार्गणाभेदानपि संगृह्याह—

सर्वेषुं णिरयेसुं पञ्जपणिंदितिरिये तिरिच्छीए ।

असमत्तणरे सव्वत्थवज्जदेवेषु विउवदुगे ॥८२३॥

विब्भंगम्मि य देसे तेउ-पउम-वेअगेषु सासाणे ।

मिस्से सत्तण्हऽप्पा संखियगुणवड्ढिहाणीणं ॥८२४॥

ततो संखेज्जगुणा हवन्ति संखंसवड्ढिहाणीणं ।

ततो संखेज्जगुणा हुन्ति असंखंसवड्ढिहाणीणं ॥८२५॥ (गीतिः)

ताउ असंखेज्जगुणाऽवट्टाणस्सेवमेव सब्वत्थे ।

आहारदुग्गम्मि तथा परिहारे णवरि संखगुणा ॥८२६॥

(प्रे०) “सब्बेसुं णिरयेसुं” इत्यादि, सर्वेष्वोघोत्तरभेदभिन्नेष्वष्टसंख्याकेषु निरयगति-भेदेषु, तथा पर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्भेदे, तिरश्चीभेदे, अपर्याप्तमनुष्ये, “सब्बत्थवज्जवेवेसुं” नि सर्वार्थमिद्विमानभेदवर्जेष्वोघ-भवनपत्यादिभेदभिन्नेष्वेकोनत्रिंशद्देवगतिभेदेषु, वैक्रिय-त्रैक्रियमिश्र-काययोग्योः, विभङ्गज्ञानं, देशसंयमे, तेजः-यत्नलेश्या-वेदकसम्यक्त्वेषु, सासादनं, मिश्रदृष्टिमार्ग-णाणां चेत्येतान्बेकानपञ्चाशन्मार्गणासु प्रत्येकं “सत्तण्हऽप्पा सखियगुणावड्ढिहाणीण”-मित्यादि, आयुर्वर्जमपान्यतममूलप्रकृतीनां संख्येयगुणवृद्धिहान्योरैकैकस्याः ‘अन्पाः’-सर्वस्तोकाः, बन्धका इत्यनुवर्तते, इत्येवमुत्तरत्रापि, ततस्तासामेव सप्तानां प्रत्येकं संख्येयभागवृद्धिहान्यन्य-तरस्या बन्धका उत्कृष्टपदे संख्येयगुणा भवन्ति ।

ननु नरकगत्योधादिप्रस्तुतमार्गणासु प्रत्येकमेकजीवाश्रितो निरन्तर उत्कृष्टबन्धकालः संख्येयगुणवृद्धिहान्योः संख्येयभागवृद्धिहान्योश्च प्रत्येकं तुल्यो द्विसमयमात्रः, किञ्च नरकगत्योधा-दिमार्गणागताः प्रत्येकं जीवा उक्तवृद्ध्यादिचतुर्विधमल्पबन्धार्हाः, इत्थं च यथा संख्येयगुण-वृद्धिहान्योर्बन्धका उत्कृष्टपदे तुल्याः प्राप्यन्ते तथा संख्येयभागवृद्धिहान्योर्बन्धका अपि कथं तैस्तु-ल्या नोच्यन्ते, किन्तु संख्येयगुणा उच्यन्ते ? इति चेद्, भण्यतेऽधोत्तरम्, प्रत्यन्तमुहूर्तं जायमानासु स्वस्थाने बन्धप्रायोग्यास्वसंख्येयगुणवृद्धिहानिवर्जासु संख्येयगुणादिषु त्रिविधवृद्धिषु त्रिविधहानिषु चैकैकस्या एकजीवाश्रितोत्कृष्टान्तरस्यान्तमुहूर्तप्रमाणत्वेऽप्युत्कृष्टतो यावदन्तरम-संख्येयभागवृद्धेर्भवति तदपेक्षया संख्येयभागवृद्धेस्तत्संख्येयगुणं भवति, ततोऽपि संख्येयगुणवृद्धे-स्तत्संख्येयगुणं भवति, इत्थं चान्तमुहूर्तान्तरेण जायमानयोः संख्येयगुणवृद्धयोरन्तरालेऽन्तमु-हूर्तकालान्तरिताः संख्येयाः संख्येयभागवृद्धयस्तादृश्यो हानयश्च जायन्ते, तामामप्यान्तमुहूर्तिके एकैकस्मिन्नन्तराले संख्येया असंख्येयभागवृद्धिहानयः प्राप्यन्ते । इत्थमेव हानिविषयेऽपि विज्ञेयम् । एतच्च बाहुल्येन भवति, न पुनर्नियमतः, निरन्तरं सदृशवृद्धिद्वयमिव समयद्विसमयाद्यन्तरेणाऽपि संख्येयगुणादिसदृशवृद्धिहानीनां सम्भवात्, संख्येयगुणादिवृद्धिहानीनां बाहुल्येनान्तमुहूर्तमन्तरं तु प्रत्येकं वृद्धिहानीनामेकजीवाश्रितानिरन्तरकालस्योत्कृष्टतोऽपि द्विसमयमात्राऽभिधानात् तदीयो-त्कृष्टान्तरस्यान्तमुहूर्तप्रमाणाभिधानाच्च, अत एव निरन्तराः स्तोकान्तरा वा वृद्धिहानयः कादा-चित्कथ एवाऽऽवेदनीयाः ।

नन्वेतेन प्रकृते किमायातम् ? उच्यते, इत्थं हि प्रत्येकं जीवानां जीवनबहुभागे स्वस्थाने बन्धप्रायोग्यवृद्धिष्वसंख्येयभागवृद्धयो यावन्त्यो जायन्ते तदपेक्षया संख्येयभागवृद्धयः संख्येयगुणहीना जायन्ते, ततोऽपि संख्येयगुणाधिकस्थितिवन्धरूपा वृद्धिर्वन्धप्रायोग्यं गन्तदा सा पुनरपि संख्येयगुणहीनवारान् संजायते, एवं संख्येयगुण-संख्येयभागादिवृद्धीनां प्रत्येकं बन्धार्हजीवानां पञ्चेन्द्रियत्वादिरूपेणाविशिष्टत्वे तासु दीर्घान्तरेण जायमानाया संख्येयगुणवृद्धेर्वन्धकतया जीवानां स्तोत्रवारानेव परिणतेस्तद्वन्धका उत्कृष्टपदेऽपि स्तोकाः प्राप्यन्ते, संख्येयभागवृद्धिवन्धकतया तु तेषां जीवानां पूर्वापेक्षया संख्येयगुणाधिकवारान् परिणतेः संख्येयभागवृद्धिवन्धका उत्कृष्टपदे पूर्वापेक्षया संख्येयगुणाः सम्पद्यन्ते, एवमुत्तरत्राऽप्यसंख्येयभागवृद्धिवन्धकतया पूर्वापेक्षयाऽपि संख्येयगुणाधिकवारान् परिणतेस्तद्वन्धकास्तूत्कृष्टपदे पूर्वापेक्षयाऽपि संख्येयगुणाः प्राप्यन्ते, एवं हानिपदेष्वपि विज्ञेयम् । प्रस्तुते च नरकगत्योघादिमार्गणासु संख्येयगुण-संख्येयभागा-ऽसंख्येयभागवृद्धिहानिवन्धार्हजीवानां नारकत्वादिना तेन तेन रूपेण समानत्वात् संख्येयगुणवृद्धेस्तादृशहानेर्वा बन्धका उत्कृष्टपदे यावन्तः प्राप्यन्ते तदपेक्षया संख्येयभागवृद्धेस्तादृशहानेर्वा बन्धकाः संख्येयगुणा अवाप्यन्ते, तदपेक्षया च संख्येयगुणा असंख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरबन्धका वक्ष्यन्ते । न च संख्येयगुणवृद्धयोरन्तर्मुहूर्तप्रमाणे एकस्मिन्नन्तरेऽन्तर्मुहूर्तान्तरिताः संख्येयाः संख्येयभागवृद्धिहानयोस्तासामपि प्रत्येकमान्तर्मुहूर्तिकेष्वन्तरेषु संख्येया असंख्येयभागवृद्धिहानय इत्येतत् कथं मङ्गलच्छेदित्यारेकणीयम् । यतोऽन्तर्मुहूर्तकालस्याऽसंख्येयभेदमिश्रतयोन्कृष्टं संख्येयगुणवृद्धयन्तरमप्यसंख्येयभेदैर्भिद्यते तदा तु तादृश्येकस्मिन्नन्तरेऽसंख्येयानां संख्येयभागवृद्धिहानीनां तथा तावामन्तरेष्वसंख्येयानामन्तर्मुहूर्तान्तरितानामप्यसंख्येयभागवृद्धिहानीनां सम्भवात् निरयगत्योघादिषु मार्गणास्थानेषु संख्येयगुणवृद्धिहान्यन्यतरबन्धकापेक्षया संख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरबन्धकतया प्रत्येकं जीवानामसंख्येयगुणाधिकवारान् परिणमनात् संख्येयभागवृद्धिवन्धका असंख्येयगुणाः सम्पद्येरन्, तेभ्यश्च वक्ष्यमाणासंख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरबन्धका असंख्येयगुणा लभ्येरन् ? इति चेद्, न । यतो वृद्धयो हानयो वा त्रिवक्षितस्थितिवन्धानामन्यविधाधिकस्थितिवन्धतया न्यूनस्थितिवन्धतया वा परावृत्तौ सत्यां जायन्ते, न पुनरवस्थितस्थितिवन्धानामिव तुल्यस्थितिवन्धे विद्यमान एव; अन्यान्यस्थितिवन्धपरावृत्तिस्त्वन्यूनेऽपि मुहूर्ते संख्येयवारानेव जायते, न पुनस्तदधिकवारान्, इत्थं च बृहत्त्यन्तर्मुहूर्तेऽपि संख्येयवारान् स्थितिवन्धपरावृत्तेऽपि तदधीनाः सर्वविधवृद्धिहानयः समुदिता अपि संख्येया एव भवन्ति, तथा च सति न सम्भवति कुतश्चिदपि निरयगत्योघादिजीवराशिषु

ननु यद्यन्तर्मुहूर्तकालस्यासंख्येयभेदमिश्रतयोन्कृष्टं संख्येयगुणवृद्धयन्तरमप्यसंख्येयभेदैर्भिद्यते तदा तु तादृश्येकस्मिन्नन्तरेऽसंख्येयानां संख्येयभागवृद्धिहानीनां तथा तावामन्तरेष्वसंख्येयानामन्तर्मुहूर्तान्तरितानामप्यसंख्येयभागवृद्धिहानीनां सम्भवात् निरयगत्योघादिषु मार्गणास्थानेषु संख्येयगुणवृद्धिहान्यन्यतरबन्धकापेक्षया संख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरबन्धकतया प्रत्येकं जीवानामसंख्येयगुणाधिकवारान् परिणमनात् संख्येयभागवृद्धिवन्धका असंख्येयगुणाः सम्पद्येरन्, तेभ्यश्च वक्ष्यमाणासंख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरबन्धका असंख्येयगुणा लभ्येरन् ? इति चेद्, न । यतो वृद्धयो हानयो वा त्रिवक्षितस्थितिवन्धानामन्यविधाधिकस्थितिवन्धतया न्यूनस्थितिवन्धतया वा परावृत्तौ सत्यां जायन्ते, न पुनरवस्थितस्थितिवन्धानामिव तुल्यस्थितिवन्धे विद्यमान एव; अन्यान्यस्थितिवन्धपरावृत्तिस्त्वन्यूनेऽपि मुहूर्ते संख्येयवारानेव जायते, न पुनस्तदधिकवारान्, इत्थं च बृहत्त्यन्तर्मुहूर्तेऽपि संख्येयवारान् स्थितिवन्धपरावृत्तेऽपि तदधीनाः सर्वविधवृद्धिहानयः समुदिता अपि संख्येया एव भवन्ति, तथा च सति न सम्भवति कुतश्चिदपि निरयगत्योघादिजीवराशिषु

संख्येयगुणवृद्धिहानिवन्धकेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहानिवन्धकानामसंख्येयगुणत्वम् , एवं संख्येयभाग-
वृद्धिहानिवन्धकापेक्षयाऽसंख्येयभागवृद्धिहानिवन्धका नाऽसंख्येयगुणाः, किन्तु यथोक्ता यथोत्तरं
संख्येयगुणा एव सम्भवन्तीत्यलं विस्तरेण ।

अथ प्रस्तुतम् “ततो संख्येयगुणा ह्युन्ति” इत्यादि, तेभ्योऽनन्तरोक्तेभ्यो ज्ञानावरणादि-
तत्प्रकृतेः “असंख्येयवृद्धिहानिणी” ति स्थितिवन्धविषयाया असंख्येयभागवृद्धिहान्यन्य-
तरस्या बन्धकाः संख्येयगुणा भवन्ति । उपपत्तिस्त्वत्राऽनन्तरगतपदस्य संख्येयगुणत्वे या दर्शिता सैव
द्रष्टव्या, मार्गणागतसर्वजीवानां संख्येयगुण-संख्येयभागवृद्धिहानीनामित्राऽसंख्येयभागवृद्धिहान्यो-
र्बन्धेऽपि समर्थत्वात् । इत्थमेवोत्तरत्रापि निरन्तरोक्तपदद्वयस्य मार्गणागतस्वामिनां सदृशत्वेन
संख्येयगुणत्वमवश्यमिति ।

“ता उ” ति तेभ्योऽसंख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरवन्धकेभ्यः “असंख्येयगुणाऽवद्याणस्स”
ति अवस्थानलक्षणस्य स्थितिवन्धस्य निर्वर्तका असंख्येयगुणा भवन्तीत्यर्थः । अत्र हि प्रत्येकं
मार्गणासु संख्यातीतानां जीवानां प्रविष्टत्वादसंख्येयगुणत्वमोघवद् द्रष्टव्यम् ।

तदेवमभिहितं नरकगत्योधादिमार्गणास्थानेष्वस्युर्वर्जानां सप्तानां संख्येयगुणवृद्ध्यादिवन्ध-
कानामल्पवृद्धत्वम् । इदानीं सर्वार्थसिद्धविमानभेदादिकतिपयमार्गणासु चरमपदं विहाय शेषस्था-
नेष्वनन्तरोक्ताल्पवृद्धत्वेन साम्यात् तासु मापवादमतिदिशति—“एवमेव सव्यन्धे” इत्यादि, अनुपदं
नरकगत्योधादावुक्ताल्पवृद्धत्ववत् सर्वार्थसिद्धविमानभेदा-ऽऽहारक-तन्मिश्रकाययोगमार्गणासु तथा
परिहारविश्रुतिकसंयममार्गणायां चेत्येतासु चतसृषु मार्गणासु प्रत्येकं प्रस्तुताल्पवृद्धत्वं ज्ञातव्यम् ,
“णवरि” ति नवमयं विशेषः, स च “संख्येयगुणा” ति अनन्तरोक्ताल्पवृद्धत्वे यत्राऽसंख्येय-
गुणा बन्धका उक्तास्तत्र चरमपदेऽवस्थानलक्षणस्थितिवन्धस्य बन्धकाः संख्येयगुणा इत्येवंरूपो
विज्ञेयः । इत्थं च सर्वार्थसिद्धविमानभेदादिमार्गणाचतुष्के सप्तानां संख्येयगुणवृद्धिहान्यन्यतरस्य
बन्धकाः स्तोकाः, तेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽसंख्येय-
भागवृद्धिहान्यन्यतरस्य बन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽवस्थानलक्षणस्थितिवन्धस्य निर्वर्तका अपि
संख्येयगुणा एवेत्येवमल्पवृद्धत्वं प्राप्तम् , अत्र चरमपदे संख्येयगुणन्वाभिधानं तु मार्गणाचतुष्केऽपि
जीवानामेव संख्येयत्वाविज्ञेयम् । अयम्भावः—कस्यामपि मार्गणायास्तत्कृष्टपदेऽसंख्येयानामन-
न्तानां वा जीवानां सद्भावेऽसंख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरवन्धकेभ्योऽवस्थितस्थितिवन्धका असंख्येय-
गुणाः सम्पद्यन्ते, यस्यां तु न सम्भवन्त्युत्कृष्टपदे संख्यातीता जीवाः, किन्तुत्कृष्टतोऽपि संख्येया
एव तस्यां पुनरवस्थितस्थितिवन्धकाः संख्येयगुणा एव प्राप्यन्ते, तत्र सर्ववन्धकराशेरेव संख्येयत्वेना-
ऽन्यविकल्पानुपपत्तः । शेषपदेषु तु नरकगत्योधवत्संख्येयगुणत्वमुपपाद्यमिति ॥८२३-८२६॥

तदेवमभिहितं नरकगत्योधेन साम्यादन्यमार्गणास्वपि युगपदेव सप्तानामसंख्येयभागवृद्ध्यादि-

बन्धकानामल्पवृत्त्वम् । अथ क्रमप्राप्ते तिर्यग्गत्योघे तद् दिदर्शयिषुस्तन्साम्यादन्यमार्गणा
अपि सङ्गृह्य सममेवाह—

तिरि-युरलमीम-कम्मण-दुअणाणा-ऽयत-तिअसुहलेमासुं ।

अभविय-मिच्छत्तेसुं अमणा-णाहारगेसुं च ॥८२७॥

सत्तण्ह बंधगा खलु थोवा संखगुणवड्ढिहाणीणं ।

ताउ अमंखेज्जगुणा हवन्ति संखंसवड्ढिहाणीणं ॥८२८॥ (गोतिः)

तान्हितोऽणंतगुणा अत्थि असंखंसवड्ढिहाणीणं ।

ताउ अमंखेज्जगुणाऽवट्ठाणस्स हु मुणेयव्वा ॥८२९॥

(प्रे०) “तिरियुरलं” त्यादि, तिर्यग्गत्योघां-द्वारिकमिश्रकथयोग-कार्मणकाययोगमत्य-
ज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽमंयम-कृष्णादिज्यशुभलेश्यासु, अमव्य-मिच्छात्वयोः, अमंय-ऽनाहारकयोश्चेत्ये-
तासु समुदितासु त्रयोदशमार्गणामु प्रत्येकमायुर्वर्जानां मत्तानामकैकस्य “बंधगा खलु थोवा संख-
गुणवड्ढिहाणीणं” ति संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः पदयोः प्रत्येकं बन्धकाः खलु ‘स्तोकाः’
वक्ष्यमाणपदेभ्यः स्तोकाः, परस्परं तु तुल्या इत्यपि विज्ञेयम् । कुतः स्तोकाः बन्धकाः ? स्वस्थानं
तु पर्याप्ताऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियैरेव तयोर्निर्वर्तनात्, तेषां च मार्गणागतशेषवृद्धिहानिवन्धके-
भ्योऽनन्तभागगतत्वात् । “ताउ” ति ‘तेभ्यः’-उक्तान्यतरबन्धकेभ्यः संख्येयांशवृद्धिहान्योरेकैक-
स्यास्तेऽसंख्येयगुणा भवन्ति । कुतः ? पर्याप्ताऽपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामिव पर्याप्ताऽपर्याप्तीन्द्रिय-
श्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिया-ऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां स्वस्थाने संख्येयभागवृद्धिहान्योर्जायमानत्वात् ।
“तान्हितो” ति तेभ्यः संख्येयांशवृद्धिहान्यन्यतरबन्धकेभ्यः मत्तानामसंख्येयांशवृद्धिहान्योरेकैकस्या
बन्धका अनन्तगुणा भवन्ति, स्वस्थानैकेन्द्रियाणामपि प्रस्तुतवृद्धिहानिद्रव्यस्वामित्वात् । परस्प-
रन्वेते पूर्ववत् तुल्या एव विज्ञेयाः । “ताउ” ति तेभ्योऽसंख्येयभागवृद्धिहान्यन्यतरबन्धकेभ्योऽव-
स्थानलक्षणस्थितिवन्धनिर्वर्तकाः “असंखेज्जगुणा” ति ओघवदसंख्येयगुणा ज्ञेया इति ।

अथ क्रमप्राप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्गत्योघमार्गणायां प्रस्तुताल्पवृत्त्वं विभणिषुस्तन्साम्यादन्यत्राऽपि
सममेव सापवादमतिदिशति—

णिरयव्व पर्णिदितिरिय-त्तदपज्जा-ऽपज्जतसपणिंदीसुं ।

णवरि अमंखेज्जगुणा हवन्ति संखंसवड्ढिहाणीणं ॥८३०॥ (गोतिः)

(प्रे०) “णिरयव्वे” त्यादि, निरयगत्योघवत् प्रस्तुताल्पवृत्त्वं विज्ञेयम्, विहाय “णवरि”
इत्यादिनोचरार्थेनाभिहितापवादपदम्, कासु मार्गणास्वित्याह— “पर्णिदितिरिये” त्यादि, पञ्चे-

न्द्रियतिर्वगोघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तवत्काया-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रियलक्षणासु चतसृषु मार्गणास्वित्यर्थः । इत्थं च मार्गणाचतुष्के सप्तानां संख्येयगुणवृद्धिहानिवन्धकाः सर्वस्तीकाः, तेभ्यः संख्येय-भागवृद्धिहानिवन्धकाम्बमंख्येयगुणाः, तेभ्योऽसंख्येयभागवृद्धिहानिवन्धकास्तु निरयगन्धोष-वत् संख्येयगुणा एव, ततः पुनरवस्थानस्थितिवन्धका अपि तथैवाऽसंख्येयगुणा एवेति । अत्रापवादपदं विहाय शेषपदेषु यथोक्तान्पचहृत्वहेतवोऽपि नरकगन्धोषवदेव विज्ञेयाः, अपवादपदे तु निरय-गन्धोषापेक्षयाऽस्ति विशेषः, ततश्चान्पचहृत्वमपि विशेषेणामिहितम्, कः सः ? इति चेद्, निरय-गन्धोषमार्गणायां तथा सहाभिहितमार्गणासु चान्यतमस्यामपि मार्गणायामपर्याप्तसंख्येयसंज्ञिपञ्चेन्द्रि-यलक्षणा द्विविधजीवाः प्रविष्टा नासन्, अत्र तु प्रत्येकं तादृशा द्विविधजीवाः प्रविष्टाः सन्ति, अपर्याप्तेषु तु संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवापेक्षयाऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवा असंख्येयगुणा विद्यन्ते, ततश्च संख्येय-गुणवृद्धिहानिवन्धकेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहानिवन्धका अमंख्येयगुणाः प्राप्यन्ते, असंज्ञिभिः स्वस्थाने मंख्येयगुणवृद्धिहान्योरनिर्वर्तनादिति ॥८३०॥ अथ पर्याप्तमनुष्यादिचतुर्मार्गणाः सङ्गृह्याह-

पञ्चमणुस-मणुसीसुं मणपञ्जव-संयमसु मत्तण्हं

ओधकमा संखगुणा जहुत्तरं बंधगा णया ॥ ८३१ ॥

(प्रे०) “पञ्चमणुसे” न्यादि, पर्याप्तमनुष्य-मानुषीमार्गणयोः, मनःपर्यवन्नान-संयममार्ग-णयोश्च प्रत्येकं सप्तनामायुर्वर्जानां प्रकृतीनां “ओधकमा” ति ‘ओधकमात्’—येन क्रमेण ओधप्ररूप-णायामवक्तव्यासंख्येयगुणवृद्ध्यादिपदान्यभिहितानि तेन क्रमेणेत्यर्थः । तेन क्रमेण किमिन्याह— “संखगुणा जहुत्तरं”मित्यादि, ‘यथोत्तरम्’ उत्तरोत्तरस्थानेषु संख्येयगुणा बन्धका ज्ञेयाः । तद्यथा—सर्वस्तीका अवक्तव्यबन्धकाः, तेभ्योऽसंख्येयगुणवृद्धेर्वन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽसंख्येय-गुणहानेर्वन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयगुणवृद्धिहान्योरेकैकस्याः संख्येयगुणाः; परस्परं तु तयोस्तन्याः बन्धकाः, तेभ्योऽन्यतरस्या बन्धकेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहान्योरेकैकस्या बन्धकाः संख्येयगुणाः, परस्परं तु न्याः, तयोरन्यतरस्या बन्धकेभ्योऽसंख्येयभागवृद्धिहान्योरेकैकस्या बन्धकाः संख्येयगुणाः, परस्परन्तु प्राप्वत्तु न्याः, तेभ्यः पुनरवस्थानस्थितिवन्धकाः संख्येयगुणा इति । कुतः प्रतिपदं यथोत्तरं संख्येयगुणाः ? इति चेद्, पर्याप्तमनुष्यादिप्रस्तुतप्रत्येकमार्गणासङ्गृह्यजीवपरि-माणस्यैव संख्येयवेत्न यथोत्तरं संख्येयगुणादधिकबन्धकानामसम्भवादिति ॥८३१॥

अथ स्थावरभेदेषु प्रस्तुतान्पचहृत्वमाह—

सत्तण्ह वडिह्हाणीण हुन्ति थोवा तओ असंखगुणा ।

णयाऽवट्टाणस्स उ सव्वेगिदिपणकायेसुं ॥ ८३२ ॥

(प्रे०) “सत्तण्हे”न्यादि, ओष-सूक्ष्मौष-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्त-वाद्रौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तलक्ष-णानि सर्वकोन्द्रियमार्गणास्थानानि, एवमेव पृथ्वीकाया-ऽष्काय-तेजस्काय-वायुकाय-साधारणवन-

स्थितिकायानां प्रत्येकं सप्त सप्त मार्गणास्थानानि, वनस्पतिकार्यौ-प्रत्येकवन्धकाः सौ-सप्तपर्याप्ता-
ऽपर्याप्तलक्षणानि चत्वारि मार्गणास्थानानीत्येवं समुदितेषु सर्वेषु पट्चत्वारिंशत्संख्यराकेष्वेकेन्द्रिय-
पञ्चकायसम्बन्धिषु मार्गणास्थानेषु प्रत्येकं सप्तानामाधुर्वर्जानां मूलप्रकृतीनामेकैकस्याः “वड्ढि-
हाणीण” ति एतेषु मार्गणास्थानेष्वसंख्येयभागवृद्धिहानिवर्जानां शेषवृद्धिहानीनामवामम्भवात्,
तयोरसंख्येयभागवृद्धिहानिलक्षणयोः सत्यदयोरित्यर्थः । तयोः किमित्याह—“हुन्ति थोवा” ति
प्रस्तुतवाङ्मन्धकाः स्तोकाः मन्नि, वक्ष्यमाणावस्थानबन्धकेभ्य इति गम्यते । ततोऽवस्थानस्य
बन्धकास्त्वसंख्येयगुणा ज्ञेयाः, प्रत्येकं संख्यगीतानां जीवानां सद्भावे सत्यकेजीवाश्रितावस्थान-
बन्धकालरयैः कजीवाश्रयवृद्धिहानिवन्धकालापेक्षयाऽसंख्येयगुणत्वादिति ॥८३२॥

अथ विकलेन्द्रियसम्बन्धिमार्गणास्थानेष्वह—

सर्वेषु विगलेषु संखेज्जइभागवड्ढिहाणीणं ।

सत्तण्ह बंधगा खलु सव्वत्थोवा मुणेयव्वा ॥८३३॥

ततो संखेज्जगुणा हुन्ति असंखंसवड्ढिहाणीणं ।

ताउ असंखेज्जगुणा ऽवट्टाणस्स खलु होएज्जा ॥८३४॥

(प्र०, “सर्वेषु” इत्यादि, ओष-पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदाभिन्नेषु द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-
लक्षणेसु सर्वेषु नवसंख्यराकेष्वपि “विगलेषु” ति विकलेन्द्रियसत्कमार्गणास्थानेषु सप्तानां संख्येय-
भागवृद्धिहानिलक्षणयोर्द्वयोः पदयोर्वन्धकाः खलु सर्वस्तोकाः ज्ञातव्याः । तेभ्यः संख्येयगुणा भवन्ति,
कस्याः कस्या इत्याह—“असंखंसवड्ढिहाणीणं” ति तत्राज्ञानावरणादेरसंख्यरांशस्थितिवन्धवृद्धि-
हानयोरेकैकस्याः, “ताउ” ति तेभ्योऽसंख्यरांशवृद्धिहानिवन्धकेभ्यः “असंखेज्जगुणाऽवट्टाणस्स
खलु होएज्जा” ति सुगमं मतार्थं ज्ञेयं ॥८३४॥ अथाऽपगतपदेमार्गणापरमाह—

थोवा ऽवत्तव्वस्स अवेण एत्तो कमेण संखगुणा ।

वड्ढीणं हाणीणं अवट्टिअस्स य मुणेयव्वा ॥ ८३५ ॥

(प्र०) “थोवा” इत्यादि, अपगतपदेमार्गणापरमाधुर्वर्जसप्तप्रकृतीनामवत्तव्यस्थितिवन्धस्य
बन्धकाः स्तोका भवन्ति । “एत्तो कमेण संखगुणा” ति अः परं वक्ष्यमाणक्रमेण शेषपदेषु तु
बन्धकायथोत्तरं संख्येयगुणाः, ज्ञातव्या इति गार्थोत्तरार्थेऽन्वयः; क्रमेण शेषपदान्याह—“वड्ढीणं”
मित्यादि, ‘वृद्धीनाम्’—स्य कर्मणो यावत्यो वृद्धयो भवन्ति तासां समुदिताः, एवं ततो हानी-
नामपि समुदिताः, ततोऽवस्थानस्य च । हृदमुक्तं भवति—सर्वासां वृद्धीनां बन्धकास्तथा
सर्वासां हानीनां बन्धकाः समुदिता एवैकरिमन् पदे शृङ्खन्ते तदा निविशेपेण ‘गयवेणऽवत्त-
व्वस्सऽप्या ततो कमेण संखगुणा । मूथोगारस्स तथोऽपवरस्साऽवट्टिअस्स तथो’ ॥ इत्यनेनोक्तभूयस्कारा-

अल्पबहुत्वमेव सम्पद्यते, तथा च प्रस्तुतान्पत्रबहुत्वमपि निर्विशेषेण भूयस्काराद्यल्पबहुत्ववद्योज्यम् ।
तत्तद्बृहत्यादीनां विशेषेण तु तदागमाविरोधेन बुद्धयोपपादनीयं मनीषिभिरिति ॥ ८३५ ॥

अथ सामाधिक-छेदोपस्थापनसंयममार्गणयोराह—

सामाहय-छेपसुं सत्तण्ह असंखगुणिअवड्ढीए ।

थोवाऽत्थि बंधगा तो पज्जत्तणरच्च विण्णया ॥ ८३६ ॥

(प्र०) “सामाहयछेपसुं” इत्यादि, सामाधिक-छेदोपस्थापनसंयमलक्षणमार्गणाद्वये प्रत्येकमायुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणामसंख्यगुणवृद्धेः स्तोका बन्धकाः सन्ति, वक्ष्यमाणपदेभ्य इति गम्यते । “त्तो” ति तस्मात्पुनः पर्याप्तनरमार्गणावद्यथोत्तरं संख्येयगुणा विज्ञेयाः । तत्रथा-स्तोकेभ्योऽसंख्यगुणवृद्धेर्वन्धकेभ्योऽसंख्यगुणहानेर्वन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयगुणवृद्धि-हान्योरेकैकस्याः संख्येयगुणा बन्धकाः, तयोरन्यतरस्या बन्धकेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहान्योरेकैकस्याः संख्येयगुणा बन्धकाः, तयोरन्यतरस्या बन्धकेभ्योऽसंख्येयभागवृद्धिहान्योरेकैकस्या बन्धकाः संख्येय-गुणाः, तयोरन्यतरस्या बन्धकेभ्योऽवस्थानबन्धकाः संख्येयगुणाः । इदमत्र हृदयम्—पर्याप्तमनुष्यादि-मार्गणावत् प्रस्तुतमार्गणाद्वये प्रविष्टजीवमशः संख्येयत्वेनाल्पबहुत्वमध्यसंख्येयगुणवृद्ध्यादिवन्धकानां सर्वथा पर्याप्तमनुष्यादिमार्गणावत् प्राप्यते, यद्यप्येवं तथाप्यत्र मार्गणाद्वये पृथगभिधान-मत्राऽवक्तव्यपदस्यासत्त्वेनाद्यपदेऽसंख्येयगुणवृद्धेर्वन्धका तां स्तोकात्प्रदर्शनार्थमिति ॥ ८३६ ॥

अथ सूक्ष्मसंपरासंयममार्गणायामाह—

सुहुमे सव्वत्थोवा वड्ढीए हुन्ति ताउ हाणीए ।

णया संखेज्जगुणा तोऽवट्ठाणस्स संखगुणा ॥ ८३७ ॥

(प्र०) “सुहुमे” इत्यादि, सूक्ष्मसंपरासंयमे बन्धरायोगानां मोहनीयायुर्वर्जानामेकैकस्य “वड्ढीए” ति संख्येयभागवृद्धिहानिवर्जनविधिवृद्धिहानीनामसत्त्वेन संख्येयभागवृद्धेर्वन्धकाः सर्व-स्तोका भवन्तीत्यर्थः । “ताउ” ति तेभ्यः “हाणीए” ति संख्येयभागलक्षणायाः स्थितिवन्धहाने-र्वन्धकाः संख्येयगुणा ज्ञेयाः । “तोऽवट्ठाणस्स संखगुणा” इति सुगमम् । भावना तु प्रथमपदे प्रपतदुपशमकानाम्, द्वितीयपदे श्रेणिमारोहतामृपशमकानां क्षयकाणां च, तथा चरमपदे त्ववस्थान-स्यैकजीवाश्रयोत्कृष्टकालस्वान्तमुर्हृत्त्वेन दीर्घकालमज्जितानां श्रेणिं नमारोहतां प्रपततां च क्षयकोप-शमकजीवानां लाभाद्यथोत्तरं संख्येयगुणत्वोपपादनेन कर्तव्येति ॥ ८३७ ॥

अथौपशमिकसम्यवन्वमार्गणायामाह—

थोवाऽवत्तवस्सुवसमम्मि सत्तण्ह बंधगा णेया ।

ततो संखेज्जगुणा असंखगुणवड्ढिहाणीणं ॥ ८३८ ॥

ताउ असंखेज्जगुणा णेया संखगुणवड्ढहाणीणं ।

तत्तो संखेज्जगुणा संखेज्जइभागवड्ढहाणीणं ॥८३९॥ (गीतिः)

तत्तो संखेज्जगुणा अत्थि असंखंसवड्ढहाणीणं

तत्तो असंखियगुणा अवट्ठिअस्स य मुण्येव्वा ॥८४०॥

(प्रे०) “ओवाऽवल्लवस्स” इत्यादि, औपशमिकसम्यक्त्वमार्गणायां सप्तानामायुर्वेर्जानामवक्तव्यस्थितिवन्धस्य ‘बन्धकाः’-स्वामिनः सर्वस्तोका ज्ञेयाः, सुगमम् । “तत्तो संखेज्जगुणा” ति तेभ्योऽसंखेयगुणवद्विहान्योर्वन्धकाः समुदिता अपि संखेयगुणाः, एवमुत्तरत्रापि; ततश्च “ताउ असंखेज्जगुणा णेया” ति अनन्तरोक्तवन्धकेभ्यः संखेयगुणवद्विहान्योर्वन्धकाः समुदिता असंखेयगुणा ज्ञेयाः । कृतः ? अनन्तरोक्तवद्विहान्योः श्रेणिमुपगतानामेव प्रभवनात् ते स्तोकाः सन्ति, प्रस्तुतवद्विहान्यांस्तु चतुर्गतिकानामुपशमसम्यग्दृष्टीनामपि भवनादमी बहवो भवन्तीति । तेभ्योऽपि संखेयभागवद्विहान्योर्वन्धकाः संखेयगुणाः । तेभ्योऽपि संखेयगुणा भवन्त्यसंख्यांशवद्विहान्योः समुदिता बन्धकाः, तेभ्यः पुनरवस्थितस्य बन्धका असंखेयगुणा विज्ञेयाः । सुगमानि चैतच्छेषपदानि, विशेषतस्तु मनुष्यगत्यौघादिमार्गणावद्भाव्यानीति ॥८३८-८४०॥

अथ लाघवार्थमुक्तशेषमार्गणासु सापवादमतिदिशति—

सेसासुं सत्तण्हं णेया ओघव्व बंधगा णवरं

जहि णत्थि अवत्तव्वो तासुं वड्ढीअ सव्वऽप्पा ॥८४१॥

णर-पज्जपणिंदियत्तम-पणमणवय-पुरिस-थी-तिणाणेषुं

ओहि-णयण-सुक्कासुं सम्मत्ते खइअ-सणीसुं ॥८४२॥

संखेज्जगुणा णेया संखअसंखंसवड्ढहाणीणं

हुन्ति पणिंदितसेसुं तहा असंखंसवड्ढहाणीणं ॥८४३॥ (गीतिः)

(प्रे०) “सेसासु” इत्यादि, उक्तशेषासु मनुष्यौघादिषट्त्रिंशन्मार्गणासु प्रत्येकमायुर्वेर्जानां सप्तानामवक्तव्यासंखेयगुणवद्विहान्यादिमल्पपदेषु “ओघव्व” ति ‘ओघवत्’-औधिकान्पवहुत्वक्रमेण, यथौघतः प्रथमे पदे स्तोकाः, ततो द्वितीये संखेयगुणा इत्येवंरूपेण बन्धका अभिहिता तथाऽत्रापि “बंधगा” ति अल्पवहुत्वचिन्ताविषयीकृता बन्धकाः स्तोका-संखेयगुणादिरूपेण प्राप्यन्त इत्यर्थः ।

तदेवं बहुसाम्यात् लाघवार्थं सामस्त्येन कृतेऽतिदेशेऽतिप्रसङ्गवारणार्थमपवादपदान्याह— “णवरं”मित्यादि, नवरमिमामन्यपवादपदानि, तत्र प्रथमं तावत् ‘जहि’ इत्यादि, शेषमार्गणासु ‘यत्र’-यासु स्त्रीवेदादिमार्गणासु “णत्थि अवत्तव्वो” ति सप्तान्यतमानामवक्तव्यलक्षणस्थिति-

बन्धो 'नास्ति'-त्रयाभिहितस्तासु "बद्धोअ" ति वाक्यान्तो विशेषप्रतिपत्तेः प्रथमपदे-
ऽसंख्येयगुणवृद्धेः "संख्येयगुणा" ति बन्धकाः सर्वाण्येव वक्तव्याः ।

द्वितीयमपवादस्थानमाह— "णरथज्जे" न्यादि, मनुष्याव-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्त-
त्रसकाय-पञ्चमनोयोगभेद-पञ्चवचोयोगभेद-पुरुषवेद-स्त्रीवेद-मत्यादित्रिज्ञानेषु, अत्रधिदर्शन-चक्षु-
दर्शन-शुक्ललेश्यासु, सम्यक्त्वौघे, क्षायिकमम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणशेषेभ्यः समुदितासु चतुर्विंशति-
मार्गणासु प्रत्येकं "संख्येयगुणा णेया" ति संख्येयगुणा ज्ञेयाः, बन्धका इति गम्यते । केषां
पदानामित्याह "संख-असंखंसवद्विद्विहाणोणं" ति अंशवृद्धिद्वानिशब्दस्य प्रत्येकं योजनात्
संख्येयभागवृद्धिद्वान्योरसंख्येयभागवृद्धिद्वान्योरित्येवं चतुर्णां पदानाम् । अयम्भावः—एतेषु
चतुर्विंशतिमार्गणास्थानेष्वपर्याप्तसंज्ञिनामप्रवेशेनाऽसंख्येयगुणत्वस्य, तथैकेन्द्रियाणामप्रवेशेनाऽन-
न्तगुणत्वस्य चाऽमम्भवादीघतो यत्रासंख्येयगुणा अनन्तगुणा वा बन्धका प्राप्यन्ते तेषु पदेऽपि
प्रस्तुतमार्गणासु तु संख्येयगुणा एव बन्धकाः प्राप्यन्ते, अतस्नादशपदान्यधिकृत्यापोदितमिति ।

अथ तृतीयमपवादपदमाह— "हृन्ति पणिंदिये" न्यादि, तत्र तथाशब्दस्य समुच्चा-
यकतया पञ्चेन्द्रियौघमार्गणायां त्रसकायौघमार्गणायां चापि संख्येयगुणा बन्धका वक्तव्याः, कस्य
कस्य पदस्येत्याह— "असंखंसवद्विद्विहाणोणं" ति असंख्येयांशवृद्धिद्वान्योर्द्वयोः पदयोः, न
पुनर्मनुष्यगन्यौघादिचतुर्विंशतिमार्गणावत् संख्येयभागवृद्धिद्वान्योरपि । कुतः ? अत्र मार्गणाद्वये
एकेन्द्रियाणामप्रवेशेऽप्यपर्याप्तसंज्ञिजीवानां प्रविष्टत्वात् ।

इत्थमपवादत्रय्यासुक्तायां शेषमार्गणासु प्रस्तुताल्लप्यदृत्वमित्थं प्राप्तम्—
मनुष्यावमार्गणायां सप्तानामवक्तव्यबन्धकाः सर्वस्तोकाः, तेभ्योऽसंख्यातगुणवृद्धेर्वन्धकाः संख्येय-
गुणाः, तेभ्योऽसंख्येयगुणहानेर्वन्धका संख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयगुणवृद्धिद्वान्योरेकैकस्या बन्धका
असंख्येयगुणाः, परस्परन्तु तुल्याः, तेभ्यः संख्येयभागवृद्धिद्वान्योरन्यतरस्या बन्धकाः संख्येय-
गुणाः, परस्परन्तु तुल्याः, तेभ्योऽसंख्येयभागवृद्धिद्वान्यन्यतरस्या बन्धकाः संख्येयगुणाः,
परस्परन्तु तुल्याः, तेभ्योऽवस्थानलक्षणस्थितिवन्धस्थाऽसंख्येयगुणा बन्धका इति । मनुष्याव-
मार्गणावदेव पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-पर्याप्तत्रसकाय-पञ्चमनोयोग-पञ्चवचोयोग-मत्यादित्रिज्ञानाऽत्रधि-
दर्शन-चक्षुदर्शन-शुक्ललेश्या-सम्यक्त्वौघ-क्षायिकमम्यक्त्व-संज्ञिमार्गणासु विशेषम् ।

पञ्चेन्द्रियौघ-त्रसौघमार्गणयोस्तु प्रत्येकं सप्तानामवक्तव्यबन्धकाः स्तोकाः, तेभ्योऽसंख्येय-
गुणवृद्धिवन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽसंख्येयगुणहानिवन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयगुण-
वृद्धिद्वान्योर्वन्धका असंख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयभागवृद्धिद्वान्योर्वन्धका असंख्येयगुणाः, तेभ्यो-
ऽसंख्येयभागवृद्धिद्वान्योर्वन्धकाः संख्येयगुणाः, कुतः ? मार्गणाद्वयगतसर्वजीवानां संख्येयभागवृद्धि-

हान्योरिवाऽसंख्येयभागवृद्धिहानिवन्धार्हत्वात् । तेभ्यः पुनरवस्थानबन्धका असंख्येयगुणा इति ।

स्त्री-पुरुषवेदमार्गणयोस्तु समानामसंख्यगुणवृद्धिवन्धकाः सर्वस्तोकाः, तेभ्योऽसंख्येयगुण-
हानिवन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयगुणवृद्धिहानिवन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयभाग-
वृद्धिहान्योर्वन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्यो संख्येयभागवृद्धिहान्योर्वन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽवस्थान-
बन्धका असंख्येयगुणा इति ।

नपुंसकवेदमार्गणायां सप्तप्रकृतीनामसंख्येयगुणस्थितिवन्धवृद्धेर्वन्धकाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यो-
ऽसंख्येयगुणहानेर्वन्धकाः संख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयगुणवृद्धिहान्योर्वन्धका असंख्येयगुणाः,
तेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहान्योर्वन्धका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽसंख्यभागवृद्धिहान्योर्वन्धका अनन्त-
गुणाः, तेभ्योऽवस्थानबन्धका असंख्येयगुणा इति ।

कोषादिकषायमार्गणाचतुष्केऽपि नपुंसकवेदमार्गणावदेव विज्ञेयम्, केवलं लोभमार्गणायां
मोहनीयकर्मणोऽवक्तव्यबन्धस्य सद्भावात् लोभमार्गणायां मोहनीयकर्मणः सर्वथैवौघवद् द्रष्टव्यम् ।

तद्यथा—सर्वस्तोका मोहनीयस्याऽवक्तव्यस्थितिवन्धकाः, तेभ्यस्तस्यैवासंख्यगुणवृद्धिवन्धकाः
संख्येयगुणाः, तेभ्योऽसंख्यगुणहानिवन्धकाः संख्येयगुणाः; तेभ्यः संख्येयगुणवृद्धिहान्योरेकैकस्या
बन्धका असंख्येयगुणाः, परस्परन्वेते तुल्याः; तेभ्यः संख्येयभागवृद्धिहानिवन्धका असंख्येयगुणाः,
तेभ्योऽसंख्येयभागवृद्धिहानिवन्धका अनन्तगुणाः तेभ्यः पुनस्तस्यैव मोहनीयस्याऽवस्थानस्थिति-
बन्धका असंख्येयगुणाः । इदं चान्यत्रहुत्वं सर्वथैवौघिकान्यत्रहुत्वानुसारेण भावनीयम् । एवमेव शेष-
मार्गणास्वपि ज्ञानावरणादिमत्प्रमूलकर्मणां प्रस्तुतस्थितिवन्धवृद्ध्याद्यन्यत्रहुत्वं सर्वथैवौघवद्विज्ञेयम्,
शेषमार्गणासु प्रत्येकमौघवत् समानामवक्तव्यस्थितिवन्धस्य भावात्, एकेन्द्रियपर्यन्तानामनन्तानां
जीवानां तत्र प्रविष्टत्वाच्च । शेषमार्गणानामानि त्वेवम्—काययोगसामान्यौदारिककाय-
योगा-ऽचक्षुर्दर्शन-भक्त्या-ऽऽहारिमार्गणा इति ॥ ८४१-८४२-८४३ ॥

तदेवं प्रतिपादितं शेषमार्गणास्थानेष्वपि शेषाणामायुर्वर्जमत्प्रमूलप्रकृतीनां स्थितिवन्धवृद्ध्या-
देर्वन्धकानामल्पत्रहुत्वं तस्मिंश्च प्रतिपादिते गतं त्रयोदशमल्पत्रहुत्वद्वारम्, तस्मिंश्च गतेऽवसित-
स्त्रयोदशद्वारात्मकः 'वृद्धि' इत्यनेन प्रागुद्दिष्टो वृद्धयधिकारः ॥

इत्थं वृद्धयधिकारं वितन्त्य मल्लन्धसुकृतजलराशेः ।

क्षालितदुष्कर्मरजा भव्यौघो व्रजतु सिद्धिसुखम् ॥ (पथ्यार्या)

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे पञ्चमे वृद्धयधिकारे त्रयोदशमल्पत्रहुत्वद्वारं समाप्तम् ॥

॥ इति श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिस्थितिवन्धे पञ्चमो वृद्धयधिकारः ॥

❁ वृद्धयधिकारयन्त्रकाणि ❁

आयुर्वर्जमसूत्रप्रवृत्तीनां स्थितिर्नानुद्धरदित्यप्रवृत्तयं चन्द्रकम्

न त्प दा नि	श्राव्यवदसंख्य- संख्येयगुणभागवृद्धय- स्तादृग्ज्ञानयइचेति ८ पदानि (अवस्थानाऽवक्तव्यपदे च)	असंख्य- भं- ख्यभागवृद्धि वृद्धिहानीति ज्ञानय इति ५ पदानि (अवस्थानं च)	असंख्यभाग- वृद्धि वृद्धिहानीति २ पदे (अवस्थान- पदं च)	संख्येयभाग- वृद्धिहानी इति २ पदे (अवस्थान- पदं च)	ओचवदसंख्य- संख्येयगुण- भागवृद्धिज्ञानय इति ८ पदानि (अवस्थानं च)	असंख्यभाग-संख्य- भाग-गुण-वृद्धि ज्ञानय इति ६ पदानि (अवस्थानपदं च)
गति०	मनुष्योच० तत्पर्याप्त० मानुषी० ३					शेष० ४४
इन्द्रिय०	पञ्चेन्द्रियोच-तत्पर्याप्तौ, २	सर्वत्रिकम् ० १	तर्केन्द्रिग००			शेष० १
काय०	असौच-तत्पर्याप्तौ, २		पृथिव्यादि- प त्कायसर्व- भेद० ३६			शेष० १
योग०	सर्वमनोवचोभेदाः, कागयोगीच०श्रीदारिक० १२					शेष० ९
वेद०				प्रवेद० ५ १	वेदत्रिक० ३	
कपाय०	लोभ० ★ १				शेष० ३	
ज्ञान०	पति-श्रुताऽवधि-मनःपर्य. ४					अज्ञान० ३
संयम०	संयमोच० १			सूक्ष्मसम्प० १	सामायिक० श्रेद० २	शेष० ३
दर्शन०	षड्०अचक्षु०अवधि० ३					
लेख्या०	शुक्ल० १					शेष० ५
भक्त्य०	भव्य० १					अभव्य० १
सम्पत्त्व०	सम्पत्त्वोच० क्षामिक० श्रीपशामिक० ३					शेष० ४
संज्ञी०	संज्ञी, १					असंज्ञी० १
आहारी०	आहारी, १					अनाहारी० १
सर्वमार्गणाः—	३५	६	४६	१+१	८	७०
माथाङ्काः—	७३४-७३५-७३६-७३७	७३८-७३९	७३७-७३८	७३८-७३९-७४०	३ ७३४-७३५...	७४०-७४१

★ लोभमार्गणार्था मोहनीयस्यैवाऽवक्तव्यपदं सन्, न शेषज्ञानावरणादीनामिति ।

❁ अपगतवेवमार्गणार्था ज्ञानावरण-दर्शनावरणा-ऽन्तरायकर्मणां संख्यातगुरावृद्धिहान्यवक्तव्यपदान्यपीति षट् पदानि सद्भूतानि, वेदनीय-नाम-गोत्रकर्मणां तानि तथाऽसंख्यगुणवृद्धिहानिपदे चेति षट् पदानि सद्भूतानि, मोहनीयस्य तु केवलमवक्तव्यपदमेवोक्ताधिकतयेति चत्वारि पदानि सद्भूतानीति ।

आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामसंख्यभागादिस्थितिवन्धवृद्ध्यादिस्वामिन्वप्रदर्शकं यन्त्रकम्

	कस्य पदस्य ?	के स्वामिनः ?
प्रो घ तः	असंख्यभागवृद्धिहान्योः— संख्येयभागवृद्धिहान्योः— संख्येयगुणवृद्धिहान्योः— असंख्यगुणवृद्धेः— असंख्यगुणहानिः—	अंशिरागनजीवान् विहाय संसारस्था धन्यतमजीवाः । संसारस्था धन्यतमनसजीवाः, न तु स्थावराः । स्वस्थाने संजितः, परस्थाने प्रांजिपश्येन्द्रियाद्याश्च । • प्रपन्नदुपशमकाः, श्रेयो यथास्थानं मृत्वा देवतयांस्तथा भवप्रथमसमयदेवाश्च श्रेणि समा रोहन्त उपशमकाः क्षपकाश्चानिवृत्तिचादरगुणस्थाने ।
मा र्ग स्था ने षु	असंख्यगुणवृद्धिहान्योः— शेषत्रिविधान्यतमवृद्धि- हानिगणपदयोः	यत्र पदद्वयं सत् तत्रोद्यत्, केवलम्—मनुष्योद्य-तत्पर्याप्त-मानुषी-सर्व- मनोवचोभेदी-दारिकयोग-स्त्रीक्रीववेदा प्रागतवेद-मनःपर्यवजानसंयमोद्य- सामायिक-श्रेयोपस्थापनमार्गेषामु भवप्रथमसमयस्था देवा न यक्तव्याः । • अपगतवेद-मूढसम्परायसंयमयोः प्रागतदुपशमकास्तत्तद्वृद्धिस्वामिनः, अंशिराग समा रोहन्त उपशमका क्षपकाश्च यथास्थानं तत्तद्वानिस्वामिनः । • निर्धर्मत्योद्य-वसोद्य-काययोगोद्य-नपुंसकवेद-कपायचतुष्टक-संयजान- मृताजाना-ऽवशुर्दंता-ऽप्रदास्तलेभ्यात्रिक-भक्त्या ऽमन्य-मिथ्यात्वा- ऽसंज्ञथा-ऽज्हारकमार्गेषामु (मांसंशाप्रविष्टजीवा) प्रोद्यवद्वयकाः । • अपनरकगत्योद्यादिमार्गेषामु तत्र प्रविष्टान्यतमजोकाः, केवलमधर्मा- सत्रसकायादिमार्गेषामु यथासम्भव द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियादिवर्जा इति ।



आयुर्वर्जसप्तमूलप्रकृतीनामसंख्यभागादिस्थितिवन्धवृद्ध्यादीनामेकजीवाश्रयकालप्रदर्शकं यन्त्रम्

कुत्र मार्गेषादी ?	कस्य सत्पदस्य ?	जघन्यकालः	तत्कृष्टकालः
प्रोद्यतः -	असंख्यगुणहानिः— शेषवृद्ध्यादिसप्तानाम्— असंख्यगुणवृद्धेः—	समयः " "	समयः २ समयौ समयः
मनुष्योद्य-तत्पर्याप्त-मानुषी-सर्वमनोवचोभेदी-दारिककाय- योग-स्त्री-नपुंसकवेद-मनःपर्यवजान-संयमोद्य-सामायिक- श्रेयोपस्थापनसंयमेषु - २०	शेषवृद्धिहानिसत्पदानाम्—	प्रोद्यवत्	प्रोद्यवत्
कार्मण्यकाययोगा-ऽपगतवेद-मूढसम्परायसंयमा-ऽनाहारक- मार्गेषामु— ५	सर्ववृद्धिहानिसत्पदानाम्—	समयः	समयः
असंजिभार्गेषामु - १	संख्येयगुणवृद्धिहान्योः— शेषवृद्धिहानिसत्पदानाम्—	प्रोद्यवत्	प्रोद्यवत्
अपयुंक्तशेषसर्वमार्गेषामु -	सर्ववृद्धिहानिसत्पदानाम् -	"	"

*** आयुर्वेदसप्तमूलप्रकृतीनां स्थितिवन्धवृद्ध्यादेरेकजीवाश्रयान्तरप्रदर्शकं यन्त्रम् ***

श्री	कस्य सत्पदम् ?	जघन्यान्तरम्	उत्कृष्टान्तरम्
ष	असंख्यगुणदाने —	अन्तर्मुं हृतम्	देशानापाषण्डपुङ्गवपरायणम्
तः	असंख्यगुणउद्भेदः —	एकसमगः	"
	असंख्य भगवद्विद्वान्या —	"	अन्तर्मुं हृतम्
	संख्येयभागवृद्धिहानीनाम् —	"	असंख्येयगुणपरायणम्

मार्गणास्थानानि	पदानि	जघन्यान्तरम्
मनुष्योऽनल्पमांस-मानुषी-सर्वमनोवचोभेदी-दारिककाययोग- स्त्री- नपुंसकवेद भतःपर्यवजान-संगमौघ-सामायिक-छेदोपस्थापनीयेषु—	असंख्यगुणावृद्धेः— शेषवृद्धिहानिसत्पदानाम्—	अन्तर्मुं हृतम्, शोधवत्,
अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंचममार्गणयोः—	सर्वं " " " "	अन्तर्मुं हृतम्,
कामंरणा-ऽनाहारकमार्गणास्थानयोः —	" " " "	अन्तरं भास्ति,
शेषसर्वमार्गणास्थानेषु—	" " " "	शोधवत्,

पद०	उत्कृष्टान्तरम्	मार्गणास्थानानि
असंख्यगुणवृद्धिहान्योः प्रत्येकम्	दूर्वकोटिपृष्ठात्सम्	मनुष्योष-पर्याप्तमनुष्य-मानुषीलक्षणमार्गणास्थानत्रये ३
	एकजीवाश्रयदेशोत्कृष्ट- कायस्थितिः	पञ्चेन्द्रियोष-तल्पर्याप्त-असौघ-तल्पर्याप्त-पुरुषवेद-मति-श्रुता-ऽवधि-मनःपर्यव- जान-चक्षुर्दर्शना-ऽवधिदर्शन-संगमौघ-सम्यक्बोध-क्षायिक-संख्या-ऽऽहारकेषु १६
	अन्तर्मुं हृतम्	पञ्चमनोयोगवेद-मन्त्रवचोयोगभेद-काययोगोषो-दारिककाययोग-स्त्री-नपुंसक- वेदा-ऽपगतवेद-शोधादिकपायननुष्णा-सामायिक-छेदोपस्थापन-सुक्ष्मशो-पण- मिकममगवन्धेषु, २३
	शोधवत्	अचक्षुर्दर्शन-भक्ष्यमाणेनायोः २
संख्यगुणभागवृद्धिहानिसत्पदानां प्रत्येकम्	असंख्येययोः पुङ्गवपरायणताः	नियंरसत्प्राण-कापयोगीष-नपुंसकवेद-सत्यज्ञान-श्रुताज्ञाना-ऽसौयमा-ऽचक्षुर्दर्शन- भक्ष्या-ऽभक्ष्य-मिच्छान्वा-ऽसंज्ञिमार्गणासु ११
	संख्येयगुणवृद्धिहान्योः पूर्वकोटि- गृहणत्वम्, संख्येयभागवृद्धिहान्यो स्त्वन्तर्मुं हृतम् ।	तिर्यक्पञ्चेन्द्रियोष-तल्पर्याप्त-तिर्यक्चो-ष-ञ्चेन्द्रियोष-तल्पर्याप्त-असौघ-तल्पर्याप्त- स्त्री-गुरुपवेद-चक्षुर्दर्शनमार्गणासु १०
	देशोन्तोत्कृष्टकायस्थितिः	आहारिमार्गणासु— १
	अन्तर्मुं हृतम्	सर्वेविकलेन्द्रियभेद-सूक्ष्मसम्परायसंचममार्गणासु— १०
	अन्तरमेव न भवति	कामंरणा-ऽनाहारकमार्गणयोः २
अन्तर्मुं हृतम्	शेषनरकगत्योषादिनवातिमार्गणासु ६०	
असंख्यभागवृद्धिहान्योः-अन्तर्मुं हृतम्	अपगतवेद-सूक्ष्मसम्परायसंचम-कामंरणा-ऽनाहारकवर्जसर्वमार्गणासु १६६	

असंख्येयभागवृद्धिहान्योरेवाऽन्तर्मुं हृतम्, न तु संख्येयगुणवृद्धिहान्योः, तयोरेतासु दशमार्गणास्वसत्पदत्वादिति ।

*** आयुर्वेजसप्तप्रकृतीनां स्थितिवन्धवृद्ध्यादिवन्धकानां भागप्रदर्शकं यन्त्रकम् ***

कुत्र मार्गणादौ ?	असंख्यभाग- वृद्धिहान्योः	शेषवृद्धिहानि- सत्पदानाम्
शोधतः , तिर्यगाव सर्वेकेन्द्रियभेद-वनस्पतिकायोव-सर्वसाधारणवनस्पति- कायभेद-कापायोगोपी-वारिक-तन्मिथ-कामेणकाययोग-तपु-सकथेद-कापाग- चतुष्क-मध्यभाग-धृताजाना-ऽसंयमा-ऽचक्षुर्देवता-ऽप्रसक्तलक्षणव्य-ऽध्या- ऽभय-मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञा-ऽऽहारकेषु च	असंख्यतम एको भागः	धनस्तनम एको भागः
पर्याप्तमनुष्य-मानुषी-मर्वाथ-निद्धदेवा-ऽऽहारकटिक-ग-वधे-ऽ-मनःपर्य-रजान- मणमील-सासागिक-छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धिक-सुक्ष्मगण-रावमंभोगे- दोषमार्गणाम्—	असंख्यतनम एको भागः	असंख्यतनम एको भागः
	परं ० एकभागः ०	परं ० एकभागः ०

*** आयुर्वेजसप्तमूलप्रकृतीनां स्थितिवन्धवृद्ध्यादिवन्धकानां परिमाणप्रदर्शकं यन्त्रकम् ***

कुत्र मार्गणादौ ?	असंख्येयभाग- वृद्धिहान्योः	संख्येयगुण- वृद्धिहान्योः	असंख्यभाग वृद्धिहान्योः	असंख्यगुणवृद्धिहानि- यत्र सङ्ख्येयं तत्र तयोर्वन्धका शोधयत संख्येया एव
शोधतो ऽनन्तजीवराशिकमार्गणाम् च—	असंख्येयाः	असंख्येयाः	अनन्ताः	
असंख्येयजीवराशिकाम् मार्गणाम्—	"	"	असंख्येयाः	
संख्येयजीवराशिकाम् मार्गणाम्	संख्येयाः	संख्येयाः	संख्येयाः	

*** आयुर्वेजसप्तमूलप्रकृतीनां स्थितिवन्धवृद्ध्यादिवन्धकानां क्षेत्रप्रदर्शकं यन्त्रकम् ***

कुत्र मार्गणादौ ?	असंख्येयभाग- वृद्धिहान्योः	शेषवृद्धिहानि- सत्पदानाम्
शोधतः , असंख्यलोक-तदधिकजीवराशिकमार्गणाम् च पर्याप्तबादन्वा-गुणायमार्गणाम्— दोषमार्गणाम्धानेषु	सर्वलोकः देशोत्तलोकः लौका ऽसंख्यभागः	नाका ऽसंख्यभागः ० लौका ऽसंख्यभागः

*** आयुर्वेजसप्तमूलप्रकृतीनां स्थितिवन्धवृद्ध्यादिवन्धकानां स्पर्शनाप्रदर्शकं यन्त्रकम् ***

असंख्यभागवृद्ध्यादिवन्धकस्य पदस्य ?	कुत्र मार्गणादौ ?	कियती स्पर्शना ?
असंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानीनाम्— असंख्यगुणवृद्धिहान्योः—	शोधतः , यत्र न सन् तत्र सर्वत्र " " " "	अनुकृष्टस्थितिवन्धकयत् लौका ऽसंख्यभागमात्रा

*** आयुर्वेजसप्तमूलप्रकृतीनां स्थितिवन्धवृद्ध्यादीनां नानाजीवाश्रयकालप्रदर्शकं यन्त्रकम् ***

कुत्र मार्गणादौ ?	असंख्येयभाग-संख्येयभाग-संख्येयगुणवृद्धिहानिलक्षणेषु पदेषु	असंख्यगुणवृद्धिहानि सत्पदयोः
शोधतः , असंख्यलोक-तदधिकजीव- राशिकमार्गणाम् च—	असंख्यभागवृद्धिहान्योः—अजघन्यानुकृष्टः सर्वाद्या । शेषचतु- विधवृद्धिहानीनाम्-अचन्यः समयः, उत्कृष्ट-भावस्यसंख्यभागः ।	यत्र सन् तत्र सर्वत्र अचन्यः—समयः उत्कृष्टः—संख्यममयाः
संख्येयजीवराशिकाम् मार्गणाम्— उपर्युक्तशेषसर्वमार्गणाम्—	अणामपि पदानां अचन्यः समयः, उत्कृष्टः संख्येयाः समयः, सङ्ख्येयपदानां अचन्यः समयः, उत्कृष्ट-भावशिका ऽसंख्यभागः,	" "

* आयुर्वेदसप्तमूलप्रकृतीनां स्थितिवन्धवृद्ध्यादीनां नानाजीवाश्रयान्तरप्रदर्शकदन्त्रम् *

कुत्र मार्गशादी ?	असंख्यभागवृद्धिहानि- सत्पदयोः		संख्येयगुण भागवृद्धि हानौनाम-यत्तमसत्पदस्य		असंख्यगुणवृद्धि- हानिमहापदयोः	
	जघन्यम्	उन्कृष्टम्	जघन्यम्	उन्कृष्टम्	जघन्यम्	उन्कृष्टम्
ग्रोघतः शमस्यलोक-सद चिकीवराखिव.मार्गशादी	नास्ति	नास्ति	सम्यः	अन्तमुं हृतम्	समः	५
अपर्याप्तमनुष्य-मिश्रवृद्धि मास्वादनपु-	सम्यः	पत्न्योगमासंख्यभागः	सम्यः	पत्न्योगमासंख्यभाग	०	०
वैक्यमिश्रकाण्डयोगे—	..	डादश मुहूर्ताः	..	डादश मुहूर्ताः	०	०
आहारक-तस्मिन्श्रयोगयोः -	..	वर्षपृथक्त्वम्	..	वर्षपृथक्त्वम्	०	०
छेदोपस्थापनसंयममार्ग- णायाम्-	..	१ = कोटिकोटिसाग- रोपमाणि,	..	१ = कोटिकोटिसाग- रोपमाणि,	समग	१ = कोटिकोटिसाग- रोपमाणि
परिहारविशुद्धिकमाम- मार्गणायाम्-
श्रीपञ्चमिकसम्पत्त्वमासं- णायाम्-	..	सप्ताऽहोरात्र०	..	सप्ताऽहोरात्र०	..	वर्षपृथक्त्वम्
सूक्ष्मसम्पत्त्वमासं- णायाम्-	०	०	..	वृद्धेः वर्षपृथक्त्वम्, हानेः-षण्मासाः	०	०
अपगतवेदमार्गणायाम्—	०	०	सम्यः	वर्षपृथक्त्वम्
मानुषी स्त्रीवेद मत.परं व ज्ञानमार्गणायाम्-	सम्यः	अन्तमुं हृतम्	..	अन्तमुं हृतम्	..	वर्षपृथक्त्वम्
क्षेपमार्गणायाम्—	★

★ काययोगीश्वरी-शारिक साययोगा-ऽचक्षुर्दर्शन-भक्ष्या-ऽऽहारकमार्गणायाम् वृद्धेः-वर्षपृथक्त्वम् ; हानेः षण्मासाः ।
नपुंसकवेदमार्गणायाम् वृद्धेः हानेः वर्षपृथक्त्वम् । क्रोधादिकपापचतुष्टके वृद्धेः वर्षपृथक्त्वम् । हानेः षण्मासाः ।
★ पुरुषवेदमार्गणायाम् वृद्धेः-वर्षपृथक्त्वम् , हानेः-साधिकावर्षम् । अश्विजाना-ऽश्विदर्शनमार्गणयोर्वृद्धेः-वर्षपृथ-
क्त्वम् , हानेः-साधिकावर्षम् , केचित्तु हानेरपि वर्षपृथक्त्वम् । क्षेपाम् मनुष्यीय-तत्परिष्ठा-पञ्चन्द्रयोव-तत्परिष्ठा-
त्रयोव-तत्परिष्ठा-सर्वगतो वक्षोभेद-मतिज्ञान-भुतज्ञान संसमीय चक्षुर्दर्शन शुक्रनेश्या सम्पत्त्वोव-क्षेत्रिकसम्पत्त्व-संज्ञिमार्ग-
णायाम् वृद्धेः-वर्षपृथक्त्वम् , हानेः-षण्मासा इति ।

आयुर्वेदमूलप्रकृतीनां स्थितिवन्धवृद्धि-हान्य-वस्थिता-ऽवक्तव्यबन्धकानामल्पबहुत्वदर्शकं यन्त्रकम्

असंख्यगुणपुद्गलादेः कस्य पदस्य ? यदन्तरं कियद्गुणा बन्धकाः ?

कुत्र मार्गणादी ?	अवक्तव्य- बन्धकाः	असंख्येयगुणाय।		संख्येयगुणाय।		संख्येयभाग-		असंख्येयभाग-		अवस्थान- बन्धकाः
		वृद्धेः ।	हानेः ।	वृद्धेः ।	हानेः ।	वृद्धेः ।	हानेः ।	वृद्धेः ।	हानेः ।	
प्रोधतः काययोगोवी-दारिक- यागा-ऽवतुर्दशन-भवा-ऽऽहामि- भागणासु च. १	स्तो- काः	संख्येय- गुणा	संख्ये- यगुणाः	असंख्येय- गुणाः	तुल्याः	असंख्य- गुणाः	तुल्याः	असंख्यगुणाः	तुल्याः	असंख्य- गुणाः
सत्रेनरकभेद-पर्याप्तपञ्चेन्द्रियनि- यम्-निरधी सपरीप्तमनुष्य-मर्वाप सिद्धवसंगवदेवोद चीक्रियन्त्रिम- शयोग-विभङ्गजान देशसंयम-तेजः- पश्चनेश्या अयोपश्चमिकमन्धकन्- मिश्रदृष्टि मामात्रनेषु- ४६	०	०	०	स्तोकाः	तुल्याः	संख्येय- गुणाः	तुल्याः	संख्येय- गुणाः	तुल्याः	"
तिपेमान्योषो-दारिकमिश्र कार्गण- मन्धजान-श्रुताजाना-ऽसंयम-कृष्ण- नील-कापोतलेश्या-ऽभञ्ज मिथ्या- त्वा-ऽसंयम-ऽनाहारनेषु- १३	०	०	०	"	"	असंख्येय गुणाः	"	असंख्यगुणाः	"	"
पञ्चेन्द्रियनिर्योगोष-नदगर्शान्ता- पर्याप्तप्रमा-ऽपर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-०४				"	"	"	"	संख्येय- गुणाः	"	"
मनुष्योष-पर्याप्तपञ्चेन्द्रिय-गर्शा- न्त्रम-मर्धमनोवचोभेद-मति-श्रुता ऽवधिजागा-ऽवधिदशन चतुर्दशन- शुक्ललेश्या-सम्पन्नवोपक्षानिक- सम्पन्न-मजिभागणासु- २२	स्तोकाः	संख्येय- गुणाः	संख्येय- गुणाः	असंख्येय गुणाः	तुल्याः	संख्येय- गुणाः	तुल्याः	संख्येय- गुणाः	तुल्याः	"
सर्वार्थसिद्धदेवा ऽऽज्ञारक-वर्मि- शयोग परिहारविशुद्धिनसंयमेषु- ४				स्तोकाः	तुल्याः	संख्येय- गुणाः	तुल्याः	संख्येय- गुणाः	"	संख्येय- गुणाः
एकेन्द्रियगृथिव्यादिगञ्जाय- सर्वभेदेषु- ४६	०	०	०	०	०	०	०	स्तोकाः	"	असंख्येय- गुणाः
विकलेन्द्रियसर्वभेदेषु- ६						स्तोकाः	तुल्याः	संख्येय- गुणाः	तुल्याः	"
पञ्चेन्द्रिय-असकार्योषभेदयोः-२	स्तोकाः	संख्येय- गुणाः	संख्ये- यगुणाः	असंख्येय- गुणाः	तुल्याः	असंख्ये- यगुणाः	"	"	"	"
पर्याप्तमनुष्य-मानुषो-मनःपर्यव- जान-संयमोषमार्गणासु- ४	"	"	"	असंख्येय गुणाः	"	संख्येय- गुणाः	"	"	"	संख्येय- गुणाः

कुत्र मार्गणादी ?	अवक्तव्य- बन्धकाः	प्रसंख्येयगुणायाः संख्येयगुणायाः				संख्येयभाग-		असंख्येयभाग-		अवस्थान- बन्धकाः
		वृद्धेः	हानेः	वृद्धेः	हानेः	वृद्धेः	हानेः	वृद्धेः	हानेः	
सांभारिक-श्लेषोपस्थापनीवसंयमयोः— २	•	स्तोत्राः	संख्येय- गुणाः	संख्येय- गुणाः	तुल्याः	संख्येय- गुणाः	तुल्याः	संख्येय- गुणाः	तुल्याः	संख्येय- गुणाः
तदुक्तकवेद-कषायचतुष्कयोः— ५		"	"	असंख्य- गुणाः	"	असंख्य- गुणाः	"	अनन्त- गुणाः	"	असंख्य- गुणाः
स्त्रीवेद-पुरुषवेदयोः— २		"	"	"	"	मरुत्य- गुणाः	"	संख्येय- गुणाः	"	"
★ सूक्ष्मसम्परायसंयमे— १		"	"	"	"	स्तोत्राः	संख्य- गुणाः	०	०	संख्यगुणाः
शौषधमिकसम्प्रदाये — १	स्तोत्राः	संख्येयगुणाः	असंख्येयगुणाः			संख्येयगुणाः		संख्येयगुणाः		असंख्येय- गुणाः
पपगतवेदमार्गणायाम्— १	स्तोत्राः	ततः वृद्धिपदानां संख्येयगुणाः				ततः—ह निपदानां संख्येयगुणाः, ततः				संख्यगुणाः

॥ इति बृहद्यधिकारयन्त्रकाणि समाप्तानि ॥



• लोभमार्गणायां मोहनीयस्यावस्तुस्थितिवन्धसद्भावादवक्तव्यस्थितिवन्धकाः सर्वस्तोत्रा इत्यादि सर्वथा शोभवन्नेयमल्पबहुत्वमिति । ★ मोहनीया-ऽऽयुर्जनितां पन्थां प्रकृतीनाम् ।

॥ अजसवसायसमुदाहारः ॥

अधुना “अजसवसायसमुदाहारो” इत्यनेनोद्दिष्टस्याऽध्यवसायसमुदाहाराख्यस्य चरमाधिकारस्यावसरः । तत्र त्रीण्यनुयोगद्वाराणि, तानि चाधिकारप्रारम्भे नामत उद्दिशनाह—

छट्टे खलु अजसवसायसमुदाहारे हवन्ति अहिगारे ।

तिणि कमा दारा ठिह-पयडी-जीव-समुदाहारा ॥८४४॥

(प्र०) “छट्टे खलु” इत्यादि, मूलप्रकृतिस्थितिवन्धग्रन्थमनुरुध्यानुपूर्विकमेण ‘पष्ठे’—चरमेऽधिकार इत्यर्थः; मूलप्रकृतिस्थितिवन्धग्रन्थे षण्णामधिकाराणामेवोद्दिष्टत्वादिति भावः । अतश्चरमेऽध्यवसायसमुदाहाररूपेऽधिकारे “तिणि कमा दारा” त्ति कमात् त्रीणि द्वागणि भवन्ति, तानि च “ठिहपयडीजीवसमुदाहारा” त्ति समुदाहारशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् स्थितिसमुदाहारः, प्रकृतिसमुदाहारः, जीवसमुदाहारश्चेत्येवंलक्षणानि । तत्र स्थितीरधिकृत्याध्यवसायानां स्थितिवन्धकारणीभूतानां कषायोदयजन्यात्मपरिणामविशेषाणां प्रगणनादिद्वारैः प्ररूपणं स्थितिसमुदाहारः, इन्धमेव प्रकृतिषु ज्ञानावरणादिलक्षणासु स्थितिवन्धाध्यवसायानां समुदाहरणं प्रकृतिसमुदाहारः, जीवसमुदाहारस्तु यत्र स्थितिवन्धस्थानेष्वेव जीवानां बन्धकत्वात् समुदाहरणं भवति स विज्ञेयः । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णिविशेषविद्युतौ श्रीमन्मुनिचन्द्रसूरिप्रकाण्डेन—

‘स्थितिवन्धस्थानेषु स्थितिवन्धाध्यवसायानां वक्ष्यमाणैस्त्रिभिः प्रगणनादिभिर्द्वारैः समुदाहरणमाख्यानं स्थितिसमुदाहारः । प्रति कृतिषु ज्ञानावरणादिषु स्थितिवन्धस्थानानामेव समुदाहारः प्रकृतिसमुदाहारः । जीवानां स्थितिवन्धस्थानेष्वेव बन्धकत्वेन समुदाहारो जीवसमुदाहारः’ इति गाथार्थः ॥८४४॥

॥ प्रथमः स्थितिसमुदाहारः ॥

अथ प्रथमे स्थितिसमुदाहारे त्रीण्यवान्तरद्वाराणि, तद्यथा—प्रगणना, अनुकृष्टिः, तीव्रमन्दता च । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—‘ठितिसमुदाहारो त्ति-तत्थ इमाणि तिणिण अणुभोगद्वाराणि । तंजहा-पगणना. अनुकड्डी, तिन्वमन्दता’ इति । तत्र प्रथमे प्रगणनाद्वारे आदौ तावत् मूलप्रकृतीनां तत्तन्स्थितीरधिकृत्याध्यवसायान् प्रगणयन्नाह—

पइठिइबंधमसंखा लोगा अट्टण्ह अजसवसायणं ।

(प्र०) “पइठिइबंध”मित्यादि, प्रगणनाप्ररूपणायाम् “अट्टण्ह” त्ति ज्ञानावरणादीनामष्टानां मूलप्रकृतीनामैकैकस्याः “पइठिइबंध” त्ति जघन्यस्थितिवन्धादारभ्य समयादिसमयादि-बृद्धयोत्कृष्टस्थितिवन्धपर्यन्ता ये स्थितिवन्धाः-स्थितिवन्धविशेषाः, स्थितिवन्धस्थानानीति भावः । तेषु प्रत्येकम्—प्रतिस्थितिवन्धम् । जघन्यस्थितिवन्धे, समयाधिकजघन्यस्थितिवन्धे, द्विसमयाधिक-

जघन्यस्थितिवन्धे, एवं तावत्प्रमाणानुद्धत्वा यावदुत्कृष्टस्थितिवन्ध इति भावः । प्रतिस्थितिवन्धं किमित्याह—“असंख्या लोका” इत्यादि, नानाजीवानाश्रित्य तेषामेकैकस्य जघन्यादिस्थिति-
बन्धस्य कारणीभूताः कषायोदयजन्या आत्मनः परिणामविशेषाः ‘अध्यवसनानि’-अध्यवसायास्तेषाम-
ध्यवसायानामसंख्येया लोकाः, लोकप्रमाणेष्वसंख्येयेषु क्षेत्रखण्डेषु यावन्तो नभः प्रदेशाः सन्ति
तावत्प्रमाणा अध्यवसाया भवन्तीति भावः । इदमुक्तं भवति—अतीतग्रन्थेऽभिहितानां कार्यरूपाणां
जघन्यादिस्थितिवन्धानामसाधारणकारणानि “ठिडअगुभां कसायओ कुणइ” इतिवचनात् कषायोदय-
जन्या आत्मपरिणामविशेषा अध्यवसाया एव, ते च कषायानुभाववैचित्र्याज्जीवानां विविधाः सन्ति,
तेषामसंख्यभागगतेष्वसंख्येयलोकप्रदेशराशितुल्येषु जघन्यस्थितिवन्धप्रायोग्याध्यवसायेष्वन्यतमाध्य-
वसाये वर्तमानो जीवो ज्ञानावरणम्य जघन्यामेव स्थितिं बध्नाति, अतस्तेऽसंख्येयलोकप्रदेशराशि-
तुल्याः सर्वेऽध्यवसायास्तज्जघन्यस्थितौ हेतुतया प्रतिष्ठिताः । तान् विहाय पुनरसंख्येयभागगतेषु पूर्वा-
पेक्षया विलक्षणेपु केवलदृष्टनियताध्यवसायेष्वन्यतमाध्यवसाये वर्तमानो जीवस्तु समयधिकजघन्यां
स्थितिमेव बध्नातीति तेऽसंख्येयलोकप्रदेशराशितुल्याः सर्वेऽध्यवसाया द्वितीयायां समयधिकजघन्य-
स्थितौ हेतुतया प्रतिष्ठिताः, एवं तृतीयादिपूत्कृष्टस्थितिवन्धपर्यन्तासु सर्वासु स्थितिषु भवतीत्यत
उक्तम्—“पइठिडबन्धमसंख्या लोका” इत्यादि । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

‘पाणावरणियस्स जहण्णाए ठितीए ठितिवन्धञ्जवसाणाणि असंखेज्जलोगागासपदेसमेत्ताणि । विति-
याए ठितिए [याव] असंखेज्जलोगागासपदेसमेत्ताणि । तनियाए ठितिए असंखेज्जलोगागासपदेसमेत्ताणि ।
एवं जाव उक्कस्सिया ठितित्ति । एवं सत्तण्ह वि कम्माणं’ इति ।

अमी प्रत्येकस्थितिवन्धस्थाने तन्कारणीभूताः कषायोदयरूपाः स्थितिवन्धाध्यवसाया असं-
ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमिताः सन्तोऽपि न सर्वत्र स्थितिवन्धस्थानेषु तुल्या एव, किन्तु हीना-
धिका इत्यतस्ते समयधिकस्थितिवन्धलक्षणेऽनन्तरस्थितिवन्धस्थाने कियन्तः, पल्योपमासंख्य-
भागाधिकस्थितिवन्धलक्षणे परम्परस्थितिवन्धस्थाने च कियन्त इत्येतत्प्ररूपणार्थमनन्तरोपनिधया
परम्परोपनिधया चाह—

आउस्स असंखगुणा हस्साओ जाव उक्कोसा ॥८४५॥

सत्तण्ह जहण्णाओ कमा विसेमाहियाणि आ चरमा ।

पलियासंखियभागं गंतुं गतुं दुगुणवड्ढी ॥८४६॥

(प्रे०) “आउस्स असंखगुणा” इत्यादि, अनन्तरोपनिधया प्ररूपणायामायुःकर्मणः “असं-
खगुणा” ति प्रकृतत्वात् स्थितिवन्धाध्यवसाया अनन्तरस्थितिवन्धस्थानेऽसंख्यगुणाः सन्ति ।
कुत्रेत्याह—“हस्साओ जाव उक्कोसा” ति ‘हस्सायाः’-जघन्यायाः स्थितेरारम्य यावदुत्कृष्टा
स्थितिस्तावदित्यर्थः । अयम्भारवः—आयुषो जघन्यस्थितिवन्धादिरूपेषु स्थितिवन्धस्थानेषु प्रत्येकं

तत्कारणीभूताः स्थितिवन्धाध्यवसाया येऽसंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितुल्या अभिहिता तेऽपि जघन्य-
स्थितिवन्धान्मके स्थितिवन्धस्थाने 'स्तोकाः'-स्तोकासंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितुल्याः सन्ति, अन-
न्तरे समयाधिकजघन्यस्थितिवन्धरूपे त्रितीयस्थितिवन्धस्थाने जघन्यस्थितिवन्धात्मकप्रथमस्थिति-
वन्धस्थानापेक्षयाऽसंख्यगुणा स्थितिवन्धाध्यवसायाः सन्ति, नेभ्यस्तृतीये द्विसमयाधिकजघन्यस्थिति-
वन्धरूपेऽनन्तरस्थितिवन्धस्थाने तत्कारणीभूताः स्थितिवन्धाध्यवसाया असंख्यगुणाः सन्ति, एवं
तावद् वाच्यं यावदुत्कृष्टस्थितिवन्धान्मकं चरमं स्थितिवन्धस्थानम् । उक्तं च कर्मप्रकृतिस्यूणी-

'आउगस्स जहण्णिमाणं ठित्तिणं ठित्तिबंधज्जवसाणट्ठाणाणि थोवाणि । चित्तियाणं असंखेज्जगुणाणि ।
नत्तियाणं असंखेज्जगुणाणि । एवं जाव उक्कस्सिता ठित्ति चि' ॥८५॥ इति ।

"सत्तण्ह" चि आयुर्वर्जानां शेषाणां ज्ञानावरणादीनां सप्तानां प्रत्येकं "जहण्णाओ" चि
पूर्वजघन्यायाः स्थितेरारभ्य "कमा" चि क्रमाद् विशेषाधिकानि, यावद् "आ चरमा" चि
ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकं 'चरमा'-सर्वोत्कृष्टा स्थितिः । स्थितिवन्धाध्यवसनानीति प्रक्रमाद्भवते ।

इदमुक्तं भवति-आयुःकर्मणो जघन्यस्थितिवन्धात्मकात्प्रथमस्थितिवन्धस्थानादारभ्य
यथोत्तरस्थितिवन्धस्थानेषु यथाऽसंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितुल्या अप्यध्यवसाया असंख्यगुणा असंख्य-
गुणाः प्राप्यन्ते, न तथा शेषकर्मणामपि, किन्तु ज्ञानावरणादीनां शेषकर्मणां जघन्यस्थितेरारभ्य
यथोत्तरस्थितिवन्धस्थानेषु तत्कारणीभूता अध्यवसाया विशेषाधिका विशेषाधिका एव प्राप्यन्ते ।
तद्यथा-ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिवन्धरूपे प्रथमे स्थितिवन्धस्थाने तत्कारणीभूताः स्थितिवन्धाध्य-
वसायाः 'स्तोकाः'-स्तोकासंख्यलोकाकाशप्रदेशराशितुल्याः, तदनन्तरवर्तिनि द्वितीये स्थितिवन्ध-
स्थाने तत्कारणीभूता अध्यवसायाः पूर्वापेक्षया विशेषाधिकाः, ततस्तदनन्तरवर्तिनि तृतीये स्थिति-
वन्धस्थाने तद्वन्धाध्यवसायाः पुनरपि विशेषाधिकाः, एवं विशेषाधिका विशेषाधिकास्तावद् वाच्या
यावज्ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिवन्धान्मकं चरमं स्थितिवन्धस्थानम् । एवमेव दर्शनावरणादीनामपि
प्रत्येकं वक्तव्यम् । उक्तं च कर्मप्रकृतिस्यूणी-

'णाणावरणिज्जस्स जहण्णिमाणं ठित्तिणं ठित्तिबंधज्जवसाणाणि थोवाणि । चित्तियाणं ठित्तिणं
ठित्तिबंधज्जवसाणट्ठाणाणि विसेसाहियाणि । नत्तियाणं ठित्तिणं ठित्तिबंधज्जवसाणाणि विसेसाहियाणि,
एवं विसेसाहियाणि विसेसाहियाणि जाव उक्कस्सिता ठित्ति चि । एवं वाउज्जाणं सत्तण्हं कम्माणं' इति ।

तदेवं कृताऽनन्तरोपनिधया प्ररूपणा । अथ परम्परोपनिधया तां कुर्वन्नाह-"पल्लियासं-
खियभाग" मित्यादि, 'सत्तण्ह जहण्णाओ' इत्यस्यानुवर्तनादायुर्वर्जानां सप्तानां जघन्यायाः स्थिते-
रारभ्य यावत् 'चरमा'-उत्कृष्टा स्थितिस्तावत् "पल्लियाऽसंखियभाग" चि 'पल्ल्यस्य'-पल्ल्योपमस्या-
ऽसंख्यभागम्-तदीयासंख्यप्रथमवर्गमूलमानम्, पल्ल्योपमासंख्येयप्रथमवर्गमूलगतसमयप्रमाणनिर-
न्तरस्थितिवन्धस्थानसमूहमिति भावः । एतावद् "गंतुं गंतुं" चि 'गत्वा गत्वा'-अतिक्रम्याऽतिक्रम्या-
ऽनन्तरे स्थितिवन्धस्थाने "दुग्गुणघट्ठी" चि स्थितिवन्धकारणीभूताध्यवसायानां द्विगुणवृद्धयो

भवन्ति । अथन्भावः—ज्ञानावरणस्य जघन्यस्थितिवन्धस्थाने यावन्ति स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानानि सन्ति तेभ्यः पन्थोपमासंख्येयभागमात्राणि स्थितिवन्धस्थानान्यतिक्रम्य परस्मिन्नन्तरे स्थितिवन्धस्थाने द्विगुणान्यध्यवसायस्थानानि सन्ति, तत आरभ्य पुनरपि पन्थोपमासंख्येयभागमात्राः स्थितोरतिक्रम्यानन्तरे स्थितिवन्धस्थाने पुनरपि द्विगुणान्यध्यवसायस्थानानि सन्ति, एवं द्विगुणवृद्धिस्तावद्वक्तव्या यावदुन्कृष्टा स्थितिः । एवमायुर्वर्जशेषकर्मविषयेऽपि द्रष्टव्यम् ।

उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णी—

'परंपरोवणिहाण णाणावरणिज्जस्स जहण्णिणयाण ठितिवंधञ्जवसाणट्टाणेहितो पत्तिओवमस्स असंखेज्जभानं गंतूणं दुगुणवद्धी । एवं दुगुणवद्धिन्ता दुगुणवद्धिन्ता जाव उक्कस्सिता ठितित्ति' इति ॥८४६॥

ननु यथोक्तस्थितिवन्धाध्यवसायद्विगुणवृद्धिस्थानानि ज्ञानावरणादेरुन्कृष्टस्थितिं यावत् क्रियन्ति, किं त. नि द्विगुणवृद्धिरोत्पत्त्याऽद्विगुणवृद्धिस्थानेभ्योऽधिकान्यूनानि वेत्यत्राह—

अंगुलमूलच्छेयणअसंखभागो उ दुगुणठाणाणि ।

ताणि य थोवाणि तओ होज्जेगंतरमसंखगुणं ॥८४७॥

(प्रे०) “अंगुलमूलच्छेयण” इत्यादि, अङ्गुलवर्गमूलच्छेदनकासंख्येयभागप्रमाणानि, तुकारोऽवधारणे, तत एतावन्त्येव “दुगुणठाणाणि” ति ज्ञानावरणादेरेकैकस्य जघन्यस्थितेरारभ्योत्कृष्टां स्थितिं यावद्व्यभमानानि स्थितिवन्धाध्यवसायानाम् ‘द्विगुणस्थानानि’—द्विगुणवृद्धिस्थानानि यथोक्तस्वरूपाणि सन्ति । एतदुक्तं भवति—एकाङ्गुलप्रमाणे क्षेत्रे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावतां पट्प्रथमं वर्गमूलं तदर्धार्धकरणप्रकारेण छेदनकविधिना तावच्छिद्यते यावद् भागं न सहते, तथा च कृते यावन्ति छेदनकानि प्राप्यन्ते तावतां तेषामसंख्येयानां छेदनकानामसंख्यतमभागप्रमाणानि ज्ञानावरणादेः प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिं यावद्गमने स्थितिवन्धाध्यवसायानां द्विगुणवृद्धिस्थानानि भवन्ति । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णी—

'णाणागुणद्वितिवंधञ्जवसाणट्टाणंतराणि अंगुलवग्गमूलच्छेयणगाणं असंखेज्जनिमो भागो । 'अंगुलमूलच्छेयणग' ति अंगुलवग्गमूलं छण्णउत्तिच्छेदणगाविहीए ताव छिज्जति जाव 'भागं ण देति' इति ।

अत्राऽसत्कल्पनया—अङ्गुलप्रमाणक्षेत्रे पट्त्रिंशदभ्यधिकपञ्चशतयुतपञ्चषष्टिसहस्राणि (६५५३६) नमःप्रदेशानि कल्प्यन्ते, तेषां प्रथमे वर्गमूले पट्पञ्चाशदभ्यधिकशतद्वयं (२५६) नमःप्रदेशाः प्राप्यन्ते, तेषां पट्पञ्चाशदभ्यधिकशतद्वयसंख्याकानामर्धाऽर्धकरणप्रक्रियया—

छेदनकम्-प्रथमम्	द्वितीयम्	तृतीयम्	चतुर्थम्	पञ्चमम्	षष्ठम्	सप्तमम्	अष्टमम्
↓	↓	↓	↓	↓	↓	↓	↓
२५६ ÷ २ = १२८	१२८ ÷ २ = ६४	६४ ÷ २ = ३२	३२ ÷ २ = १६	१६ ÷ २ = ८	८ ÷ २ = ४	४ ÷ २ = २	२ ÷ २ = १

अष्टौ छेदनकानि लभ्यन्ते, असंख्येयानामप्यसत्कल्पनयाऽष्टसंख्याकानां तेषामसंख्येयभागयता-

न्यसंख्येयान्यपि छेदनकान्यसत्कल्पनया द्वे एव, एतावन्ति द्विगुणवृद्धिस्थानानि भवन्ति । “ताणि च थोवाणी” त्ति तानि स्थितिवन्धाध्यवसायानां द्विगुणवृद्धिस्थानान्यनन्तरवक्ष्यमाणद्विगुणवृद्धयोरेकान्तरालवर्तिस्थितिवन्धस्थानान्येवैषां स्तोत्रानि, यत् इमानि पल्योपमप्रथमवर्गमूलासंख्यभागप्रमितानि सन्ति, वक्ष्यमाणानि त्वसंख्येयपल्योपमप्रथमवर्गमूलप्रमाणानि । चकारः पादपूर्त्ये । “तत्रो” त्ति तेभ्योऽनन्तरोक्तद्विगुणवृद्धिस्थानेभ्यः “होऽजेर्गन्तरमसंख्यगुणं” ति द्विगुणवृद्धयोरेकमन्तरमसंख्यगुणं भवेत्, एकान्तरालवर्तिस्थितिवन्धस्थानान्यसंख्येयगुणानि सन्तीति भावः । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णा-

‘णाणागुणहाणिद्वाणंतराणि थोवाणि, एगं द्वितिवन्धञ्चवसाणगुणहाणिद्वाणंतरं असखेज्जगुणं, सत्तण्ह कम्मणं’ इति ।

ननु “अङ्गुलसेहीमित्ते उस्सपिणीमो असंखिज्जा” इति वचनश्रमाण्यादङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशेभ्यः प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारेऽसंख्योत्सर्पिण्यवसर्पिणीनामिव तद्वर्गमूलसंख्यातोऽपि तेनैव नीत्या प्रदेशानामपहरणे पूर्वापेक्षया स्तोत्रा अपि ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य असंख्येया एवापगच्छेयुः, यथा च ताः स्तोत्रा अपि असंख्येयास्तथैव तासां छेदनकानि तदपेक्षया स्तोत्रतराणि गन्न्यापि स्तोत्रतरासंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीनां समयप्रमाणानि सम्भवन्ति, किञ्च तदसंख्येयभागस्तद्राशयपेक्षया बहुसंख्येयसागरोपमप्रमाण एव ग्राह्यः स्याद्, अन्यथा तेषामतिलघुतरभागस्यैव ग्राह्यत्वे मूले आवलिकाया असंख्येयभागः पल्योपमस्याऽसंख्येयभागो वा उक्तः स्यात्, न च तथा उक्तः; मूलोक्तेन ‘अङ्गुलमूलच्छेदणअसंखभागो’ इत्यनेन बहुसंख्येयसागरोपमप्रमाणानामध्यवसायद्विगुणवृद्धिस्थानानां ग्राह्यत्वे तु सर्वं दुर्विरुद्धमेव स्यात्, ज्ञानावरणादेरुत्कृष्टस्थितेरपि त्रिशत्सागरोपमकोटिकोट्यादिप्रमाणत्वेन तस्याः प्रतिपल्योपमासंख्येयभागमतिक्रम्यातिक्रम्योत्पद्यमानानामध्यवसायद्विगुणवृद्धिस्थानानां पल्योपमासंख्येयभागगतमयप्रमाणादधिकानामनुत्पत्तेः । न च सूक्ष्मतरपल्योपमासंख्येयभागप्रमाणस्थितिवन्धस्थानान्यन्तरीकृत्य तेषामध्यवसायस्थानद्विगुणवृद्धिस्थानानामुत्पादने तानि पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणादत्यन्ताधिकानि बहुपल्योपमप्रमाणानि भवितुमर्हन्तीति वाच्यम्, यतो तथाकल्पनेऽप्युपयुक्तदोषस्य दुर्वारत्वमेव; अन्यच्चाध्यवसायानां द्विगुणवृद्धिस्थानापेक्ष्यैकान्तरस्यासंख्येयगुणत्वं पन्मूले उक्तं तेनापि महान्विरोधः, अनन्तरोपनिधायां यथोत्तरस्थितिवन्धस्थानेषु या स्थितिवन्धाध्यवसायानामसंख्येयभागप्रमाणसंख्याद्विरभिमतता तेनापि विरोधश्च ? इति चेत्, न, यतोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रगताकाशप्रदेशापहारप्रक्रिययाऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीनामिवाङ्गुलप्रथमवर्गमूलतया प्राप्तसंख्याराशितोऽपि प्रतिसमयमेकैकैकाशप्रदेशापहरणप्रक्रिययाऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीनां लाभेऽपि तस्य छेदनकानि त्वतीवस्तोत्रानि-अद्वापल्योपमासंख्येयभागमात्राण्येव सम्पद्यन्ते, न पुनः स्तोत्रमात्रोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयप्रमाणानि, सागरोपमसमयप्रमाणानि पल्योपमसमयप्रमाणानि वा । कुतः ? इति चेत्, उच्यते, किञ्चिदधिकार्धरज्जुप्रमाण-

इदमुक्तं भवति—संख्यातीतानां कालादीनां गणनायामागसोक्तानि पाणिभाषिकाणि पल्यो-
पमसागरोपमादीनि परिमाणान्याश्रीयन्ते, तत्र-उद्धारा-ऽद्धा-क्षेत्रपल्योपमभेदात् त्रिविधं पल्योपमम्,
सूक्ष्म-वादरभेदादेकैकं पुनर्द्विधा । एवं सागरोपममपि । तत्रा-ऽऽयामविस्ताराभ्यामत्रगाहेन चोत्से-
धाङ्गुलनिष्पन्नैरुयोजनमानो वृत्ततया परिधिना किञ्चिन्वूनपङ्मागैरभ्यधिकत्रियोजनमानः
पल्यविशेषो मुण्डिते शिरसि एकैनाह्वा द्वाभ्यामहोभ्यां यावदुत्कृष्टतः सप्तभिरहोभिः प्ररूढानि
यानि युग्मवालाग्राणि तैः प्रचयविशेषाद् निविडतरमाकण्ठं तथा भ्रियते यथा तानि बालाग्राणि वह्निना
न दहन्ते, न वा वायुनाऽपनेतुं शक्यन्ते, न च तावन्मात्रम्, किन्तु जलमपि तानि न कोथयति,
इत्थेवं निविडतरभृताद् तस्मात्पल्यत्वात् प्रतिसमयमेकैकवालाग्रापहारे यावता कालेन स पल्यः
सर्वात्मना निर्लेपो जायते तावान् संख्येयसमयप्रमाणकालो वादरोद्धारपल्योपमं प्रोच्यते, वादरो-
द्धारपल्योपमानां दशकोटिकोटिभिर्वादरोद्धारसागरोपमो जायते । सूक्ष्मोद्धारपल्योपमस्त्वेवंरूपोऽ-
भिहितः—यथोक्ते पल्ये यानि बालाग्राणि भृतान्यासन् तानि प्रत्येकमत्रासंख्येयखण्डानि कृत्वा
पूर्ववदेव सुबहुनिविडं पल्ये भ्रियन्ते, एतानि च बालाग्राण्यतीवसूक्ष्माणि, द्रव्यतस्तु निर्मलनेत्रैः
लघुमथैः सुबहुप्रयत्नेन यद् द्रव्यविशेषं चाक्षुसप्रत्यक्षविषयीकर्तुं पार्यते तद्द्रव्यादप्यसंख्येयभाग-
माग्राणि प्रत्येकं सन्ति, क्षेत्रतस्तु तानि प्रत्येकं सूक्ष्मपनकशरीरस्यावगाहक्षेत्रादसंख्येयगुणं क्षेत्रमत्र-
गाहन्ते, एतेषां च पल्यभृतानां बालाग्राणामसंख्येयतया प्रतिसमयमेकैकस्योद्धारे संख्येया वर्षकोटि-
कोटयोऽपगच्छन्तीति कृत्वा संख्येयवर्षकोटिकोटिप्रमाणं सूक्ष्मोद्धारपल्योपमं समवसेयम् । तेषां
दशकोटिकोटयः सूक्ष्मोद्धारसागरोपमम् । आभ्यां सूक्ष्मोद्धारपल्योपमसागरोपमाभ्यां द्वीपाः समु-
द्राश्च भीयन्ते, यथा सर्वेऽपि द्वीपसमुद्राः सार्धद्वयोद्धारसागरोपमसमयप्रमिताः ।

उक्तं चानुयोगद्वारेषु—

'एष हि सूक्ष्मोद्धारपल्योपमसागरोपमोऽस्ति किं पञ्चोयणं ? एष हि दीवसमुद्राणं उद्धारे घिष्पद् । केव-
इया णं भते ! दीवसमुद्रा उद्धारेणं पन्नत्ता ? गोयमा ! जावइया णं अद्दाइजाणं उद्धारसागरोपमाणं उद्धार-
समया एवइया णं दीवसमुद्रा उद्धारेणं पन्नत्ता ॥' इति ।

ननु वादरोद्धारपल्योपम-सागरोपमयोस्तर्हि किं प्रयोजनम् ? न किञ्चिद् । एवं वादराद्धा-
पल्योपम-सागरोपमयोर्वादरक्षेत्रपल्योपम-सागरोपमयोरपि न किञ्चिद्विशेषप्रयोजनं विद्यते, केवलं
सूक्ष्मोद्धारपल्योपमादीनां सुखावसेयार्थमादौ वादरोद्धारपल्योपमादीनामपि प्ररूपणं क्रियते । पूर्वं
येषां बालाग्राणां प्रतिसमयमुद्धारेण वादरोद्धारपल्योपमं दर्शितं तेषामेव बालाग्राणामेकैकस्य वर्षशता-
न्तरेणोद्धरणे यावता कालेन पल्यनिर्लेपनं भवति तावान् संख्येयवर्षकोटिमानः कालो वादराद्धा-
पल्योपमम् । तेषां दशकोटिकाटयो वादराद्धासागरोपमम् । सूक्ष्मे त्वेवम्—पूर्वाक्तस्वरूपादसंख्येय-
खण्डानि कृत्वाऽऽकण्ठं निविडं भृतात् पल्यदेकैकस्य बालाग्रस्य वर्षशतेऽतिक्रान्ते निष्काशने यावान्
निर्लेपनकालस्तावानसंख्येयवर्षकोटिमानः सूक्ष्ममद्धारपल्योपमम्, तेषां दशकोटिकोटयः सूक्ष्म-

मद्भासागरोपमम् । एतेषां सूक्ष्माद्भासागरोपमाणां दशकोटिकोटय एका उत्सर्पिणी, तावत्प्रमाणै-
वैकाऽवसर्पिणी, एकोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानं कालचक्रम् । तेषामनन्तैः पुद्गलपरावर्तः । सूक्ष्माद्भा-
पन्योपम-सागरोपमयोः प्रयोजनं तु देव-मनुष्यादीनामायुःकर्मादिस्थितिपरिमाणम् ।

यद्यप्येतावता सूक्ष्मोद्भासा-ऽद्भापन्योपमसागरोपमाणां प्ररूपणेनैव स्वसामिहितं सिद्धं भवति,
अधिकृतार्थस्य तेनैव गम्यत्वात्, तथाऽपि प्रमङ्गवशाद् द्विविधक्षेत्रपन्योपम-सागरोपममानं संक्षेपतो
दर्शयते-पूर्वोक्तस्वरूपात् पन्याद् वा काग्रस्पृष्टनभःप्रदेशानामेकैकस्य प्रतिसमयमपहरणे यावान् निर्लेपन-
कालोऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीमानस्तावद्वाद्दक्षेत्रपन्योपमम्, तद्दशकोटिकोटयो वाद्दरमागरोपमम् ।
तथैवासंख्येयखण्डानि कृत्वा भृते यथोक्तपन्ये वालाग्रीः स्पृष्टानामस्पृष्टानां च नभःप्रदेशानां प्रति-
समयमेकैकस्यापहरणे यावान् निर्लेपनकालो वाद्दरपन्योपमादसंख्येयगुणकालमानस्तावन्सूक्ष्मं क्षेत्र-
पन्योपमम् । तद्दशकोटिकोटयः सूक्ष्मं क्षेत्रमागरोपममिति ।

एवं संख्येयवर्षकोटीकोटीप्रमितसूक्ष्मोद्भासागरोपमापेक्षयाऽसंख्येयवर्षकोटीमानस्य सूक्ष्मा-
द्भापन्योपमस्याऽसंख्येयगुणाधिकतया सार्धद्वयोद्भासागरोपमतुन्यान्पि यथोक्तनीत्या लब्धछेद-
नकान्यद्भापन्योपमस्यासंख्येयतमभागमात्रगतान्येव ।

शेषाया लक्षयोजनमानायाः सूचिश्रेणेनिर्विभाज्यं प्रदेशं यावच्छेदनकानि तु लब्धछेदन-
कापेक्षयाऽतीवस्तोकान्येव स्युः, तेषां च पूर्वलब्धछेदनकेषु प्रक्षेपणे साधिकार्धरज्जुप्रमाण-
सूचिश्रेणिनिष्पन्नानि सर्वछेदनकान्यपि साधिकनार्धोद्भासागरोपमद्वयस्य समयप्रमाणानीति
कृत्वाऽद्भापन्योपमस्यासंख्येयभागमात्राण्येव, किं पुनरङ्गुलमात्रक्षेत्रनभःप्रदेशप्रथमवर्गमूलस्य
छेदनकानि, तानि तेषामप्यसंख्येयभागगतान्येव स्युरिति भावः । कुतः ? अर्धरज्जुदीर्घसूचि-
श्रेणेनभःप्रदेशराश्यपेक्षया घनाङ्गुलक्षेत्रगतनभःप्रदेशराशेरप्यसंख्येयभागमात्रगतत्वात् ।

ननु यदुक्तं शेषाया लक्षयोजनमितायाः सूचिश्रेणेनिर्विभाज्यप्रदेशं यावन्निष्पद्यमानानि
छेदनकानि तु पूर्वलब्धछेदनकापेक्षयाऽसंख्येयभागमात्राणि स्युरित्येतत्कथमुपपद्येत, यतो पूर्वलब्ध-
छेदनकानि तु सार्धद्वयोद्भासागरोपमसमयप्रमाणानां द्वीपसमुद्राणामेकैकस्य हान्या प्राप्नानि, इतस्तु
निर्विभाज्यप्रदेशं यावच्छेदनकान्युत्पादयितव्यानि, तत्र तु ये आकाशप्रदेशास्ते द्वीपसमुद्रसंख्यापेक्ष-
याऽतिबहवः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रेऽसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणी समयप्रमाणानामाकाशप्रदेशानामभिहित-
त्वात्, तेषां च द्वीपसमुद्रसंख्यापेक्षया बह्वसंख्येयगुणत्वेन छेदनकानामपि तदनुसारेण पूर्वापेक्ष-
या बह्वसंख्येयगुणानामुत्पत्तेः सम्भवः । इत्येवमर्धरज्जुप्रमाणसूचिश्रेणेनिर्विभाज्यप्रदेशं यावत् निष्प-
द्यमानछेदनकानां पन्योमासंख्येयभागमात्राणां स्तोकानामसिद्धेस्तद्द्वारेणाङ्गुलक्षेत्रस्य तेषां स्तो-
कत्वप्रसाधनम्, तेन च सर्वमुपपादनं मूलाभावे शाखादीनामुपपादनमिवाविमृश्यकार्येव ? इति चेत्,
न, यतोऽत्र विद्यते उपपत्तिः, तथा च स्फुटं गम्यते यल्लक्षयोजनमानायाः शेषश्रेणेनिर्विभाज्यप्रदेशं

यावदुत्पद्यमानानि छेदनकानि पूर्वोत्पन्नछेदनकापेक्षयाऽसंख्येयभागमात्राण्येव । तथाहि—कस्या अपि विवक्षितसंख्याया णवन्ति छेदनकानि जायन्ते, तदपेक्षया तदीयवर्गस्य तानि त्रिगुणानि लभ्यन्ते, घनस्य तु तदीयस्य तानि त्रिगुणानि समुत्पद्यन्ते ।

अत्र उदाह्रियते—विवक्षिता चतुःप्रदेशदीर्घा श्रेणिरतः चतुःप्रदेशसंख्याकायास्तस्या निर्विभाज्यप्रदेशं यावद् $\left(\begin{matrix} \text{छे०} & \text{छे०} \\ ४ \div २ = २ \div २ = १ \end{matrix} \right)$ द्वे छेदनके एवोत्पद्यंते, तस्या एव चतुःप्रदेशिकया

वर्गं कृत्वा $(४ \times ४ = १६)$ लब्धायाः षोडशप्रदेशिकयाऽछेदनकानि तु $\left(\begin{matrix} \text{छे०} & \text{छे०} & \text{छे०} & \text{छे०} \\ १६ \div २ = ८ \div २ = ४ \div २ = २ \div २ = १ \end{matrix} \right)$

चत्वारि, अर्थात्पूर्वापेक्षया त्रिगुणानि लभ्यन्तानि, घनकरणेन $(४ \times ४ \times ४ = ६४)$ लब्धायाश्चतुः-

षष्टिप्रदेशिकयास्तु तानि $\left(\begin{matrix} \text{छे०} & \text{छे०} & \text{छे०} & \text{छे०} & \text{छे०} & \text{छे०} \\ ६४ \div २ = ३२ \div २ = १६ \div २ = ८ \div २ = ४ \div २ = २ \div २ = १ \end{matrix} \right)$ षट् समुपजातानि ।

तथैव मूलत एव षोडशप्रदेशिकी श्रेणिमधिकृत्य यदा छेदनकानि आनीयन्ते तदा तानि चत्वारि लभ्यन्ते, वर्गीकृतायास्तु तस्यास्तानि अष्टौ प्राप्यन्ते, घनीकृतायास्तु तस्याः छेदनकानि द्वादश समुद्भवन्ति; अत्र हीदं स्फुटं गम्यते यत्—घनीकरणेन प्राप्तप्रदेशसंख्याकायाः श्रेणेः मूलश्रेण्यवशेषं यावद् यावन्ति छेदनकानि तदपेक्षया घनकरणेन प्राप्तप्रमाणायाः श्रेणेर्निर्विभाज्य-प्रदेशं यावत् सर्वछेदनकानि विशेषाधिकान्येव, यथा प्रथमे उदाहरणे चतुःषष्टिसंख्याकायाः श्रेणे-श्चतुःप्रदेशावशेषं यावत् चत्वारि छेदनकानि, निर्विभाज्यप्रदेशं यावत् तानि षट्, अर्थात् विशेषाधिकानि, द्वितीयदृष्टान्तोऽप्येवमेव, तत्र घनकरणेन प्राप्तसंख्याकायाः श्रेणेर्यावद् मूलं तावदष्टौ छेदनकानि, अविभाज्यप्रदेशं यावत् द्वादशेन्येवं विशेषाधिकछेदनकलाभात् ।

एतेन किम् ? एतेन तथाविधनियमशादवशेषाया लक्ष्ययोजनाऽऽयाभायाः सूचिश्रेणेश्छेद-नकानि साध्यन्ते । तथा—लक्ष्ययोजनादारभ्याङ्गुलप्रायःप्रमाणश्रेण्यवशेषं यावत् संख्येयान्येव छेदनकानि समुद्भवेयुरिति तु सुगमम्, अवशिष्टाया अङ्गुलप्रायःप्रमाणश्रेणेस्तु छेदनकान्युक्तनिय-मात् तदीयप्रदेशसंख्यायां घनीकृतायां या संख्या प्राप्येत तत्संख्यायाः प्रारभ्य मालाऽङ्गुलप्रायः-सूचिश्रेणिप्रदेशप्रमाणसंख्यावशेषं यावद् यावन्ति छेदनकानि सम्पद्येरन् तदपेक्षया स्तोक्रान्यर्धभाग-मात्राण्येव भवेयुः; किञ्च प्रागुक्तनीत्या साधिकार्धरज्जुप्रमाणश्रेण्यपेक्षया घनाङ्गुलस्य प्रदेशानि त्वसंख्येयभागमात्राणि, तेषां तु यथोक्तसूच्यङ्गुलप्रायःप्रमाणक्षेत्रावशेषं यावत् छेदनकान्यपि सार्ध-द्वयोद्धारसागरोपमसमयापेक्षया स्तोक्रान्येव प्राप्येरन्, तदपेक्षयाऽपि प्राग्गृहीततिर्यङ्ग्लोकदक्षिण-लोकान्तस्फुटश्रेणितोऽवशेषाया अङ्गुलप्रायःप्रमाणायाः सूचिश्रेणेस्तु तानि स्तोक्रतगाण्येव, तानि च संख्येयैः छेदनकैरभ्यधिकेषु सार्धद्वयोद्धारसागरोपमसमयप्रमाणेषु पूर्वावाप्तछेदनकेषु प्रक्षिप्यन्ते तदाऽपि सर्वाणि पूर्वापेक्षया किञ्चिन्मात्रसमाधिकान्येव भवन्ति ।

इत्थं च तथात्रिधोपपत्तेः सद्भावात्, तथा चावशेषसूचिश्रेणेर्निर्विभाज्यप्रदेशं यावत् पूर्वलब्ध-
च्छेदनकापेक्षयाऽसंख्येयभागमात्राणां छेदनकानामुपपत्तेः स्तोकच्छेदनकवृद्ध्या यथाक्तसाधिकार्धरज्जु-
प्रमाणसूचिश्रेणेः सर्वच्छेदनकानामपि साधिकमार्धद्वयोद्धारमागरोपममयतुल्यत्वमेव, ततश्च तद-
संख्येयभागमात्रस्य घनाङ्गुलक्षेत्रस्य छेदनकान्यतीवस्तोकान्तीत्यादि यत् प्रतिपादितं तन्न निर्मूलम् ।

तदेवं सूचिश्रेणेरसंख्येयभागमात्रस्य घनाङ्गुलस्य छेदनकानां ह्रस्वपल्योपमासंख्येयभागमात्राणा-
मुत्पत्तरङ्गुलप्रथमवर्गमूलस्य तु तानि ततोऽपि स्तोकानि, तत्पङ्कभागमात्राण्येव, तेषां प्रथमवर्गमूल-
च्छेदनकानामप्यसंख्येयभागमात्राणि मूलोक्तानि स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानानां द्विगुणवृद्धिस्थाना-
न्यविरुद्धान्येव, ज्ञानावरणादीनामुत्कृष्टस्थितौ प्रविपल्योपमासंख्येयभागमन्तराऽन्तरा उत्पद्यमानानां
तावतां त्रिगुणवृद्धिस्थानानां सुखेनोपपत्तेः, इत्येवं प्रथमविरोधस्यानवकाश एव । किञ्च विकल्प-
न्तरं समालम्ब्याऽन्या या विरोधद्वयी उद्भाविता साऽप्यर्थायामध्यवसायत्रिगुणवृद्धिस्थानानां लघु-
तरपल्योपमासंख्येयभागमात्रत्वोपपत्तेरेव निरुक्ता, त्रिगुणवृद्धिस्थानानां स्तोत्रतया द्विगुणवृद्धि-
द्वयान्तरस्य महत्तरत्वेनाऽसंख्येयगुणत्वोपपत्तेः, अनन्तरोपनिधायामन्तरस्थितिवन्धस्थानेऽ-
संख्येयभागप्रमाणानामध्यवसायस्थानानामभिमतवृद्धेरुपपत्तेश्च तादृशविकल्पस्यैवानवकाशादिति
॥८४७॥

तदेवं सप्रभेदतो दर्शिताऽध्यवसायानां प्रगणना । साम्प्रतं तेषामेव स्थितिवन्धाध्यवसाया-
नामनुकृष्टिं चिन्तयन्नाह—

अट्टण्ह जहण्णाओं दुइआअ ठिईअ अज्झवसणाणं ।

ठाणाणि अपुब्बाहं एमेव हवेज्ज जा परमा ॥८४८॥

(प्रे०) “अट्टण्ह जहण्णाओ” इत्यादि, ज्ञानावरणादीनामन्तरायपर्यन्तानामष्टानामपि
मूलकर्मणां प्रत्येकं “जहण्णाओ” ति जघन्यायाः स्थितेः “दुइआअ ठिईअ” ति त्रिती-
यायां स्थितौ, अनन्तरे समयाधिकजघन्यस्थितिवन्धस्थानरूपे त्रितीयस्थितिवन्धस्थान इत्यर्थः ।
तत्र किमित्याह—“अज्झवसणाणं ठाणाणि” ति तस्या त्रितीयस्थितेर्वन्धप्रायोग्यानामध्य-
वसायानां स्थानानि-भेदाः “अपुब्बाहं” ति ‘अपूर्वाणि’ पूर्व-पूर्वास्मिन् जघन्यस्थितिवन्धे
पानि नासन् तथाविधानि, जघन्यस्थितिवन्धकारणीभूताध्यवसायेभ्यो विलक्षणानि, न पुनरे-
कमप्यध्यवसायस्थानं तत्सदृशमत्र समयाधिकजघन्यस्थितिवन्धाध्यवसायस्थानेषु विद्यत इति भावः ।

ननु द्वित्रिसमयाद्यधिकजघन्यस्थितिवन्धस्थानेषु तर्हि किमित्याह—“एमेव हवेज्जे”त्यादि,
एवमेव, यथा जघन्यस्थितिवन्धस्थानापेक्षया समयोत्तरे समयाधिकजघन्यस्थितिवन्धस्थाने तथैव
समयसमयोत्तरेषु द्विसमय-त्रिसमयाद्यधिकजघन्यस्थितिवन्धस्थानेषु स्थितिवन्धस्थानेषु यावच्चरमायां
सर्वोत्कृष्टस्थितावित्यर्थः ।

इदमुक्तं भवति— जघन्यस्थितिवन्धो वैरसंख्यलोकप्रदेशप्रमितैः स्थितिवन्धाध्यवसाय-
स्थानैर्निर्वर्तयितुं शक्यते, तदपेक्षया तीव्रैर्विलक्षणैरेव स्थितिवन्धाध्यवसायैः समयाधिकजघन्य-
स्थितिवन्धो निर्वर्तयितुं शक्यते, इत्यतो जघन्यस्थितिवन्धस्थानापेक्षयाऽपूर्वाभ्येव स्थितिवन्धा-
ध्यवसायस्थानानि समयाधिकजघन्यस्थितिवन्धेऽभिहितानि । समयाधिकजघन्यस्थितिवन्धो यैः
स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानैर्निर्वर्तयितुं शक्यते तदपेक्षयाऽधिकतीव्रैस्त एवापूर्वरध्यवसायस्थानैर्द्वि-
समयाधिकजघन्यस्थितिवन्धो निर्वर्तयितुं शक्यते, एवं यैः स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानैर्द्विसमया-
धिकजघन्यस्थितिवन्धो जायते तदपेक्षया तीव्रतरैः स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानैरेव त्रिसमयाधिक-
जघन्यस्थितिवन्धो जायते, न पुनः पूर्वैरपीति द्विसमयाधिकजघन्यस्थितिवन्धेऽप्यपूर्वाभ्येव
स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानानि हेतुभूतानि सन्ति, एवं समयममयवृद्ध्या यावदुत्कृष्टस्थितिवन्ध-
स्तावदपूर्वाभ्यपूर्वाणि स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानान्येव हेतुतया वर्तन्ते ।

अत्राऽसत्कल्पनया—ज्ञानावरणस्य स्थितिवन्धप्रायोग्यानि सर्वाण्यध्यवसायस्थानानि मन्द-
तीव्र-तीव्रतरादिक्रमेण प्रथमद्वितीयादितया स्थाप्यन्ते, तानि च समुदितान्यसत्कल्पनया त्रिंशदुत्तर-
शतम्, स्थितिवन्धस्थानानि चाष्टौ, तत्र च प्रथमस्थितिवन्धाध्यवसायस्थानप्रभृतीनि पञ्चाध्यव-
सायस्थानानि जघन्यस्थितिवन्धे हेतुभूतानि, न पुनः षष्ठप्रभृतीन्यपि, तेषामुक्तपञ्चस्थितिवन्धा-
ध्यवसायस्थानापेक्षया तीव्रतया समयाधिकजघन्यस्थितिवन्ध एव हेतुत्वात्, तत्राऽपि षष्ठप्रभृ-
तीनि द्वादशपर्यन्तान्येव स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानानि समयाधिकजघन्यस्थितिवन्धे हेतुभू-
तानि, न पुनस्तदुत्तरवर्तीन्यपि, तेषां तीव्रतर-तीव्रतमादिभावेन समयद्विसमयाद्यधिकजघन्यस्थिति-
वन्धे हेतुत्वात् । तत्राऽपि द्विसमयाधिकजघन्यस्थितिवन्धस्त्रयोदशप्रभृतिभिर्द्वाविंशतितमपर्यन्तैः
स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानैरेव निर्वर्तयितुं शक्यते, न पुनर्द्वादशपर्यन्तेष्वेकेनापि, एवं त्रयोविंशति-
तममध्यवसायस्थानमपि तत्र न कारणम्, तस्य पूर्वापेक्षया तीव्रतया त्रिसमयाधिकजघन्यस्थिति-
वन्धहेतुत्वात्, त्रयोविंशतितमप्रभृतीनि पञ्चत्रिंशत्तमपर्यन्तानि स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानानि तु
त्रिसमयाधिकजघन्यस्थितिवन्ध एव हेतुभूतानि, न तु ततः समयादिहीनस्थितिवन्धे समयाद्यधिक-
स्थितिवन्धे वा, एवमेवोत्तरत्रापि कल्पनीयम् । अत्रासत्कल्पनया स्थितिवन्धस्थानाष्टके मन्द-
तर-मन्दतमाद्यध्यवसायानां हेतुत्वे इयं स्थापना—

मन्दतम-मन्दतर-मन्द-तीव्र-तीव्रतरादिक्रमेण स्थापितानि स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानानि—

	प्रथमम्	द्वितीयं	तृ०	च०	पञ्चमं	जघन्यस्थितिवन्धे	हेतुभूताध्यवसाय० ।
प्रथमात्पञ्चमान्तानि	०	०	०	०	०		
षष्ठाद् द्वावशान्तानि	६	१२				समयाधिके	जघन्यस्थितिवन्धे
त्रयोदशाद् द्वाविंशतितमान्तानि	१८	३६				द्विसमयाधिके	जघन्यस्थितिवन्धे
अयोविंशतितमान् पञ्चत्रिंशत्तमान्तानि	२४	४८				त्रिसमयाधिके	..
षट्त्रिंशत्तमाद् द्विपञ्चाशत्तमान्तानि	३०	६०				चतुःसमयाधिके	..
त्रिपञ्चाशत्तमान् त्रिसप्ततितमान्तानि	३६	७२				पञ्चसमयाधिके	..
चतुःसप्ततितमान् सप्ततितमान्तानि	४२	८४				षट्समयाधिके	..
अशतमान् त्रिंशदुत्तरशतमान्तानि	४८	९६				सप्त	.. एवं यावत्
							उत्कृष्टस्थितिवन्धे ॥

नन्वनुकृष्टिप्रस्तावे किमनेन समयसमयोत्तरेषु स्थितिवन्धस्थानेष्वपूर्वाऽपूर्वस्थितिवन्धाध्यवसाय-स्थानानां प्रतिपादनेन ? इति चेद्, उच्यते—अनुकृष्टिर्हि प्रस्तुतत्वान्स्थितिवन्धाध्यवसायस्थाना-नामन्यान्यस्थितिवन्धस्थानेष्वनुवर्तनरूपा, उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णविशेषचतौ श्रीमन्मुनि-चन्द्रसूरितल्लजैः—“अनुकृष्टिः अनुवर्तनाऽनुगम इत्येकोऽर्थः” इति । विवक्षितस्थितिवन्धप्रा-योग्याध्यवसायस्थानानि ततः समयाधिके समयादिना हीने वा स्थितिवन्धेऽनुवर्तन्ते न वेत्यनु-कृष्टिप्ररूपणाविषयः; स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानानि तु वत्तद्वन्धप्रायोग्यमेकं किञ्चित् स्थितिवन्ध-स्थानं विहाय नान्यत्रानुवर्तन्ते, प्रत्येकं स्थितिवन्धस्थानेष्वपूर्वाणामेव स्थितिवन्धाध्यवसायानां हेतुत्वात् । उक्तं च कर्मप्रकृतिस्थितिवन्धचूर्णौ—

“अणुकृष्टीण् षाणावरणिज्जस्स जह्णिणयाठिनीण् जाणि ठिनिबंधञ्जवसाणट्टाणाणि तेहिंते श्रितियाण् ठितीण् अपुब्बाणि, एवं अपुब्बाणि, अपुब्बाणि जाक् उक्कस्सियाण् ठितीण् अपुब्बाणि ठितिवंधञ्जव-साणट्टाणाणि । एवं सत्तण्ह कम्माणं ।” इति ।

महाबन्धकारैरप्येवमेवोक्तम् । तथा च महचनम्—

“अणुकृष्टीण् षाणावरणियस्स जह्णिणयाण् ठितीण् द्विदिबंधञ्जवसाणट्टाणाणि याणि ताणि विदियाण् ठितीण् द्विदिबंधञ्जवसाणट्टाणाणि अपुब्बाणि । विदियाण् ठितीण् द्विदिबंधञ्जवसाणट्टाणाणि याणि ताणि तदियाण् ठितीण् द्विदिबंधञ्जवसाणट्टाणाणि अपुब्बाणि य । एवं च अपुब्बाणि याव उक्कस्सियाण् ठितित्ति । एवं सत्तण्ह कम्माणं ।” इति ।

इत्येवं पूर्वपूर्वस्थितिसन्तकस्थितिवन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः स्लोकानामप्यध्यवसायानामुत्तरोत्तर-
स्थितावनुवर्तनात् स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानानां साऽनुकृष्टिर्न भवति । उक्तं च श्रीमन्मलय-
गिरिपूज्यैः कर्मप्रकृतिस्थितिवन्धवृत्तौ—“साम्प्रतमनुकृष्टिश्चिन्त्यते, सा च न विद्यते ” इति ।
इत्थमुत्तरोत्तरस्थितावपूर्वाऽपूर्वाध्यवसायानां हेतुत्वप्रदर्शनस्यानुकृष्टिप्रतिषेधपर्यवसानात् प्रस्तुत-
मेव प्ररूपितम् ।

ननु जघन्यस्थितिवन्धप्रभृतेरुत्कृष्टस्थितिवन्धपर्यन्तेषु सर्वत्राऽप्रमिद्धमत्ताकाया अध्यव-
सायानुकृष्टेश्चिन्तनमेवाप्रकृतम् ? इति चेद्, न, तत्र स्थितिवन्धाध्यवसायानामनुकृष्टेरसत्त्वेऽपि
तेषु स्थितिवन्धस्थानेष्वेव रसवन्धाध्यवसायानां साऽनुकृष्टिर्विद्यत एव, ततश्च तस्या रसवन्धाध्यव-
सायानुकृष्टेर्ज्ञाना जिज्ञामति यत्—‘स्थितिवन्धाध्यवसायानामनुकृष्टिर्भवति न वा’, एतदर्थमनुकृष्टि-
द्वारमाश्रित्य सा प्रतिषिध्यते । एतदुक्तं भवति—किमपि स्थितिवन्धस्थानं निर्वर्तयन् जीवो रस-
वन्धमपि नियमेन बध्नाति, इत्थं च यथाऽसौ तादृशस्थितिं बध्नु कस्मिन्नपि स्थितिवन्धाध्यव-
सायस्थाने वर्तते तथा कस्मिन्नपि रसवन्धाध्यवसायस्थानेऽपि वर्तत एव, तानि च रसवन्धाध्यवसा-
यस्थानान्यपि प्रतिस्थितिवन्धस्थानमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यान्येव विद्यन्ते ।

तदुक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

“जे एकं द्विनि णिव्यत्तनि द्वितिवन्धज्जवसाणा ते असंखेज्जलोगासपदेसमेत्ता, एथ सव्यद्वितिविग-
पेसु, तमि एककेककमि द्वितिवन्धद्वानमि अणुभागवन्धाज्जवसाणद्वानाणि असंखेज्जलोगपदेसमेत्ताणि” इति ।

इत्थं हि प्रत्येकस्थितिवन्धस्थाने वर्तमानानां जीवानामध्यवसायस्थानानि द्विविधानि सन्ति,
तद्यथा—स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानानि रसवन्धाध्यवसायस्थानानि च, तत्र स्थितिवन्धाध्यवसा-
यस्थानानामुत्तरोत्तरस्थितिवन्धस्थानेष्वपूर्वाणामेव सद्भावेनानुकृष्टेरभावेऽपि रसवन्धाध्यवसायानां
सा विद्यत एव; मतिज्ञानावरणाद्युत्तरप्रकृतीनां जघन्यादितत्तस्थितिवन्धस्थानेषु वर्तमानेभ्योऽसंख्य-
लोकाकाशप्रदेशराशितुल्येभ्योऽनुभागाध्यवसायस्थानेभ्य एकभागप्रमाणानामनुभागाध्यवसायस्था-
नानां तदन्यस्थितिवन्धस्थानेष्वनुवर्तनात् ; कुतोऽवसीयते ? इति चेत् , मतिज्ञानावरणादेः समय-
दिममयाद्यधिकजघन्यादिस्थितिवन्धस्थानेष्वपूर्वाणामध्यवसायानामिव एकदेशमात्राणां पूर्वाणामध्य-
वसायस्थानानामप्यभिमतत्वात् । उक्तं च कर्मप्रकृतिरसवन्धचूर्णौ—

“एथांसि परतीणं जहण्णयं द्विनि बंधमाणस्स ‘जाणज्जवसाणाणि तदेगदेसो य अण्णाणि’ त्ति
जाणि अणुभागज्जवसाणद्वानाणि विनिथाए द्वितीए तदेकदेसो य अण्णाणि य, तदथाए द्वितीए तदेगदेसो
य अण्णाणि” इत्यादि ।

उक्तं च महाबन्धकारैरपि—

“एत्तो तिव्वसंदहाए पुव्वं रामणिज्जं अणुकड्ढिं वीत्तइस्सामो । तं जहा—सण्णीहिं परादं । अबभवसि-
द्धियपाओगां जहण्णरो बधरो मदियाअरणस्स जहण्णद्विदिं बंधमाणस्स याणि अणुभागवन्धाज्जवसाणद्वानाणि
विदिथाए द्वितीए तदेगदेसो वा अण्णाणि च । तदियाए द्वितीए तदेगदेसो वा अण्णाणि च” इति ।

षट्खण्डकारैरपि स्थितिवन्धाध्यवसायानुक्कृष्टिचिन्तनप्रस्तावेऽनुक्कृष्टिसद्भावप्रतिपादनपरम्-
 'मदियावरणस्स जहण्णाट्टिदिं वधसाणस्स याणि ट्टिडिवंधञ्जवसाणट्टाणाणि विदियाए ट्टिदीए तदेगदेसो वा
 धण्णाणि य सदीयाए ट्टिदीए तदेगदेसो' इत्यादिलक्षणं 'तदेगदेसो' इति पदघटितमालापकं विहाय तद-
 घटितस्य 'अणुकड्डीए णाणावरणियस्स जहरिणवाए ट्टिदीए ट्टिडिवंधञ्जवसाणट्टाणाणि याणि विदियाए
 ट्टिदीए ट्टिडिवंधञ्जवसाणट्टाणाणि अपुव्याणि । विदियाए ट्टिदीए ट्टिडिवंधञ्जवसाणट्टाणाणि याणि ताणि
 तदियाए ट्टिदीए ट्टिडिवंधञ्जवसाणट्टाणाणि अपुव्याणि य ।' इत्यादि लक्षणस्यऽऽलापकस्योच्चारणान्
 तन्मतेऽपि स्थितिवन्धाध्यवसायानामनुक्कृष्टिर्नामिमतेति स्फुटेऽप्यनुक्कृष्टिप्रतिपेधे तत्त्वज्ञं स्थिति-
 वन्धाध्यवसायानुक्कृष्टिभद्भावप्रतिपादकपरकतया केचन व्याख्यानयन्ति तत्तु चिन्त्यमेवेति ।

अत्र जघन्याः स्थितिवन्धाध्यवसायानुक्कृष्टिः प्रज्ञा, न तु भव्यजीववन्धप्रायोग्या । उक्तं
 चैतदपि कर्मप्रकृतिचूर्णैः—

"एत्तो तिच्चमंदयाए पुट्ठं गमणिज्जा अणुकड्डी मण्णापेडिदिग्गमि पणतं अमयसिद्धिपाउग्गं
 धंधसाणंमि' इति ।

तदेवं स्थितिवन्धस्थानेषु स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानानामनुक्कृष्टेरभावेऽपि रमवन्धाध्य-
 वसायस्थानानां तत्सद्भावात्स्थितिवन्धस्थानेष्वध्यवसायानुक्कृष्टिर्नाऽप्रमिद्धमत्ताका, ततः स्याज्जि-
 ज्ञासा— 'स्थितिवन्धस्थानेषु रमवन्धाध्यवसायस्थानानामनुक्कृष्टेस्वि स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानाना-
 मनुक्कृष्टिर्भवति न वा भवती'न्यतोऽनुक्कृष्टिद्वारं समाश्रिन्य सा प्रतिपिद्धेति न किञ्चिदप्रकृतम् ।

एस्तुतस्तु—वक्ष्यमाणस्य स्थितिवन्धाध्यवसायानां तीव्रत्व-मन्दत्वतारतम्यस्य सुखात्रयोभ्यर्थ-
 मेव रमवन्धाध्यवसायानामिव स्थितिवन्धाध्यवसायानामनुक्कृष्टिचिन्तनं विज्ञेयम्, अन्यथा तु स्थिति-
 वन्धाध्यवसायानां प्रदर्शयिष्यमाणतीव्रत्व-मन्दत्वतारतम्येनैवानुक्कृष्टेरभावत्वमवभोत्स्यते, केवलं
 तथाप्ररूपणे दुरावबोधं स्यात्सर्वमित्यादावनुक्कृष्टिचिन्तनमधिकृतमिति ॥८४८॥

अथ स्थितिवन्धाध्यवसायानां तीव्रमन्दतां दर्शयन्नाह—

अट्टण्ह लहुठिईए अणंतगुणिअं कमा लहुउ गुरुं ।

तो विइआइ लहुं तो गुरुमेवं जा गुरूअ गुरुं ॥८४९॥

(प्रे०) "अट्टण्ह लहुठिईए" इत्यादि, ज्ञानावरणादीनामष्टानां मूलकर्मणां 'लघुस्थितेः'-
 जघन्यायाः स्थितेः "लहुउ" ति 'लघोः'-जघन्यादध्यवसायस्थानाद् "अणंतगुणिअं कमा"
 ति क्रमादनन्तगुणितम्, तीव्रमिति गम्यते । किमनन्तगुणितं तीव्रमित्याह—"गुरुं" ति, तस्या एव
 लघुस्थितेः 'गुरु'-उत्कृष्टमध्यवसायस्थानम्, "गुरुं विइआइ लहुं" ति, तस्मादनन्तरोक्ताज्ज-
 घन्यस्थितिसत्कजघन्याध्यवसायस्थानापेक्षयाऽनन्तगुणतीव्राजघन्यस्थितिवन्धकारणीभूतादुत्कृष्टाध्य-
 वसायस्थानात् 'द्वितीयायाः'-समयाधिकजघन्यस्थितिस्थानरूपायाः स्थितेः 'लघु'-जघन्यमध्यवसा-
 यस्थानम्, अनन्तगुणितं तीव्रमित्यनुवर्तते । इत्येवमृत्तरप्राप्यनुवृत्तिवलात् "तो गुरुं" ति

तस्मात् ममयाधिकजघन्यस्थितिवन्धस्थानकारणीभूताजघन्याध्यवसायस्थानात् तस्या एव समया-
धिवजघन्यस्थितेः 'गुरु'-उत्कृष्टमध्यवसायस्थानम्, अनन्तगुणितं तीव्रम्, "एवं जा गुरुअ
गुरु" ति 'एवम्'-उक्तरीत्या यथोत्तरस्थितिवन्धस्थानानां जघन्योत्कृष्टाध्यवसायस्थानक्रमेण
यावत् 'गुरुस्थितेः'-सर्वोत्कृष्टायाः स्थितेः 'गुरु'-उत्कृष्टमध्यवसायस्थानं तस्या एवोत्कृष्टायाः
स्थितेर्जघन्याध्यवसायस्थानापेक्षयाऽनन्तगुणतीव्रं भवति । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

"पाणावरणीयस्स जहण्णयात् ठित्तिवन्धवसायणट्ठाणं सव्वमंदाणुभाणं । तस्से-
बुक्कस्सयं अणंतगुणं । चित्तियात् जहण्णयात् ठित्तिवन्धवसायणट्ठाणं अणंतगुणं । तस्सेबुक्कस्सयं अणंतगुणं ।
एवं नत्तियात् जहण्णयात् ठित्तिवन्धवसायणट्ठाणं अणंतगुणं, तस्सेबुक्कस्सयं अणंतगुणं । एवं अणंतगुणं जाव उक्क-
स्सिता ठित्तिन्ति ।" इति ॥८४९॥

तदेवं दर्शिता स्थितिवन्धाध्यवसायानां तीव्रमन्दता, तस्यां च दर्शितायां गतः प्रथमः
स्थितिप्रमुदाहारः ॥

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे षष्ठेऽध्यवसायसमुदाहारे प्रथमः स्थितिप्रमुदाहारः समाप्तः ॥

॥ अथ द्वितीयः प्रकृतिप्रमुदाहारः ॥

तदेवमुक्तो नानाऽवान्तरद्वारैः स्थितिप्रमुदाहारः । साम्प्रतं प्रकृतिप्रमुदाहारे ज्ञानावरणाद्येकैकां
प्रकृतिप्रपेक्ष्य ममस्तानां स्थितिवन्धाध्यवसायस्थानानां प्रमाणं दर्शयन्नाह—

मन्वट्ठिर्हणं ऽट्ठण्हं अज्झवसाया असंखिया लोगा ।

(प्र०) "सव्वट्ठिर्हणं" त्यादि, "ट्ठण्हं" ति पूर्वमकारस्य दर्शनाज्ज्ञानावरणादीनामष्टानां
मूलकर्मणां प्रत्येकं "सव्वट्ठिर्हणं" ति जघन्यायाः स्थितेरारभ्य यावदुत्कृष्टा स्थितिस्तावद् यावन्तः
स्थितिवन्धविकल्पास्तावतां 'सर्वस्थितिनाम्'-सर्वस्थितिवन्धविकल्पानाम् "अज्झवसाया असं-
खिया लोगा" ति तद्व्याप्यभूताः समस्तस्थितिवन्धाध्यवसाया असंख्येषा लोकाः, असंख्येय-
लोकाकाशप्रमाणक्षेत्रखण्डानां प्रदेशराशिप्रमाणा इत्यर्थः । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

"प्रमाणाणुगमेणं पाणावरणीज्जस्स असंखेज्जलोगागासपदेशमेत्ताणि ठित्तिवन्धवसायणट्ठाणाणि
सव्वट्ठिर्हणं । एवं मन्वकस्माणं" ॥८८॥ इति ।

अत्र हि एकस्थितिवन्धस्थानकारणीभूताध्यवसायप्रमाणतायां दर्शितासंख्यलोकाकाशापेक्षया
बृहत्तरमसंख्यातं बोद्धव्यमिति ॥ ॥

तदेवं ज्ञानावरणादीनां प्रत्येकं सर्वस्थितिवन्धाध्यवसायानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमितत्वे
प्रतिपादिते किं ज्ञानावरणादीनामेकैकस्य परम्परमेते स्थितिवन्धाध्यवसायास्तुल्या हीनाधिका
वेत्याशङ्कायां तेषामल्पबहुत्वं दर्शयन्नाह—

ठिहदीहत्तेण कमा असंखियगुणा मुणेयव्वा ॥८५०॥

(प्रे०) “टिहदीहसेण कमा” इत्यादि, स्थितिदीर्घत्वेन “कमा” ति क्रमाद्यथोत्तरम-
संख्येयगुणाः स्थितिवन्धाध्यवसाया ज्ञानध्याः । अयम्भावः— ह्रस्वस्थितिककर्मणः सर्वस्थिति-
बन्धाध्यवसायापेक्षया दीर्घस्थितिककर्मणः सर्वस्थितिवन्धाध्यवसाया असंख्येयगुणाः, ततोऽपि
दीर्घतरस्थितिकस्य तेऽसंख्येयगुणाः, एवं तावदुक्तव्यं यावत्सर्वाधिकस्थितिकस्याऽसंख्येयगुणाः ।

तथाहि—शेषकर्मणामुत्कृष्टस्थित्यपेक्षयाऽऽद्युप उत्कृष्टा स्थितिर्ह्रस्वाऽतस्मिन्स्तोका आयुषः
सर्वस्थितिवन्धाध्यवसायाः, ततो नामगोत्रयोरेकैकस्य सर्वस्थितिवन्धाध्यवसाया असंख्येयगुणाः,
परस्परन्तु तुल्याः । नामगोत्रयोरेकैकस्य समस्तस्थितिवन्धाध्यवसायापेक्षया दीर्घस्थितिकानां
ज्ञानावरण-दर्शनावरण-वेदनीया-ऽन्तरायकर्मणामेकैकस्य समस्तस्थितिवन्धाध्यवसाया असंख्येयगुणाः
सन्ति । कृतः ? उच्यते—प्राक् पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणानां स्थितिवन्धस्थानानामतिक्रमणेना-
नन्तरस्थितिवन्धस्थानेऽध्यवसायानां द्विगुणवृद्धिर्भिहिता, ततश्च पल्योपमात्रस्थितिवृद्धावसंख्ये-
यानामध्यवसायद्विगुणवृद्धिस्थानानां प्राप्तेश्चामद्विगुणवृद्धौ स्थितिवन्धाध्यवसाया अप्यसंख्येय-
गुणा भवन्ति, तथा च सति नामगोत्रयोरुत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया ज्ञानावरणादीनां चतुर्णां दशसा-
गरोपमकोटिकोटीप्रमाणाधिकस्थितिवन्धे तु स्थितिवन्धाध्यवसायानामसंख्येयगुणता निर्विवादपि-
द्वेति । ज्ञानावरणादेः समस्तस्थितिवन्धाध्यवसायापेक्षया मोहनीयस्य समस्ताः स्थितिवन्धाध्यव-
साया असंख्येयगुणाः अत्राप्यसंख्येयगुणताऽनन्तरोक्तनीचैव ज्ञेया । इति ।

ननु आयुषः स्थितिवन्धस्थानानां स्तोकात्वेऽपि समस्तद्विपमयाद्युत्तरेषु तेषु ग्रन्थेकं स्थिति-
बन्धाध्यवसाया असंख्येयगुणाः सन्ति, नामगोत्रयोस्तु यथोत्तरं विशेषाधिकाः, तत्कथमायुरपेक्षया
नामगोत्रयोः स्थितिवन्धाध्यवसाया असंख्येयगुणाः स्युः ? इति चेद्, उच्यते, आयुषो जवन्यस्थिति-
बन्धस्थानेऽपि तत्कारणीभूताः स्थितिवन्धाध्यवसाया अतीवस्तोकराः सन्ति, नामगोत्रयोर्जवन्यस्थि-
तिबन्धस्थाने पुनरतिप्रभूतराः सन्ति, अन्यन्वाद्युषः स्थितिवन्धस्थानानि स्तोकानि, नामगोत्र-
योस्तु बहूनि, ततो यथोत्तरं विशेषाधिका अपि नामगोत्रयोः समस्तस्थितिवन्धाध्यवसाया आयुषः
समस्तस्थितिवन्धाध्यवसायापेक्षयाऽसंख्येयगुणा भवन्ति । उक्तं च कर्मप्रकृतिसूत्रेण—

“सञ्चस्थोवाणि आउगस्सट्टितिवंधञ्जवसाणह्णाणाणि । णामगोवाणं ट्टितिवंधञ्जवसाणाणि असंखेज-
गुणाणि । आउगस्स ट्टितिवंधे अञ्जवसाणह्णाणाणं चड्ढो असंखेजगुणा विट्ठा, णामगोवाणं विसेसहिगा
विट्ठा, एत्थ कट्ठे असंखेजगुणा ? भण्णह्—आउगस्स जह्णिणयाणं ट्टितिवंधे अञ्जवसाणह्णाणाणि अतिथोवा-
णित्ति नामगोवाणं जह्णिणयाणं ट्टिह्णं ट्टितिवंधञ्जवसाणह्णाणाणि अति बहूणाणित्ति काउं । तेण आउगस्स

• अत्र हि जेसलभेरपन्यागारस्थितालपत्रीप्रकर्मप्रकृतिवर्णपरिहारिण, मुद्रितप्रती तु—“आउगस्स जह्णिणयाणं
ट्टितिवंधे अञ्जवसाणह्णाणाणि अतिबहुणाणित्ति(योवाणित्ति)काउं, तेण आउगस्स थोवाणि आदिउत्तरं गच्छति, सेसाणं
वासंखेज्जा” इति पाठः । अतयोः पाठयोर्मध्ये लालपत्रीयपाठ एव सत्यमिति ।

योश्चाणि आदिऽत्तरं गच्छन्तिसेसेण वा साहेऽजा । णाणावरणदंसणावरणवेयणिवजअंतराहयाणं असंखेज्जगुणाणि । कइं ? भण्णइ-पलिभोवमस्स असंखेज्जतिभातं गंतूणं दुग्गुणकइदी दिट्ठा । एवं पलिभोवमस्स भंते असंखेज्जगुणाणि लब्धंति । मोह्णिवजस्स ठितिवंधज्जवसाणाणि असंखेज्जगुणाणि ।” इति ॥ ८५० ॥

तदेव प्रतिपादितं ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीरधिकृत्य स्थितिवन्धाध्यवसायानामल्पवहुत्वम् , तस्मिंश्च प्रतिपादितेऽवसितो द्वितीयः प्रकृतिसमुदाहारः ॥

॥ इति श्रीवन्धविभाते मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे चतुःस्थानरसभेदाज्जीवविभाजने द्वितीयः प्रकृतिसमुदाहारः ॥



॥ अथ तृतीयो जीवममुदाहारः ॥

साम्प्रतं चरमस्य जीवममुदाहारगयावसरः । तत्र हि शुभाऽशुभाद्यध्यवसायमेदादनेकधा विभक्तानां कियन्तां बन्धकजीवानां कथंभूतस्थितेर्वन्धकत्वमित्येतत् प्रदिदर्शयिषुरादौ शुभाशुभाद्यध्यवसायाध्यवमितान् जीवान् भिन्नभिन्नरमबन्धकतया विभाजयन्नाह—

मायस्म सुद्धमज्झिमसंकिट्ठा बंधिरे रसं कमसो ।

चउत्तिविठाणगयं खलु तन्विवरीअं अमायस्स ॥ ८५१ ॥

(प्र०) “सायस्स सुद्धे”त्यादि, सातस्य परावर्तमानशुभप्रकृतिलक्षणस्य, अस्य चान्वयः “बंधिरे रसं कमसो चउत्तिविठाणगयं खलु” इति परेण, ततः परावर्तमानशुभप्रकृतिलक्षणस्य सातवेदनीयस्य क्रमशः “चउत्तिविठाणगयं” ति चतुःस्थानगतं, त्रिस्थानगतं, द्विस्थानगतं च ‘रसम्’-अनुभागं बध्नन्ति, इह तावत् सातवेदनीयादिशुभप्रकृतीनां रसः क्षीरादिरसोपमः, तत्रापि स्वाभाविकक्षीरादिरसोपम एकस्थानिकरस उच्यते, द्वयोः कर्षयोरावृत्तः सन्नवशिष्टैककर्षप्रमाणो यः क्षीरादिरसस्तदुपमस्तु द्विस्थानिकरसो भण्यते, त्रिकर्षप्रमाण आवृत्तः सन्नैककर्षप्रमाणो योऽवशिष्टस्तदुपमस्तु त्रिस्थानिकः कथ्यते, एवं चतुर्णां कर्षाणामावर्तने कृते य उद्धरित एककर्षप्रमाणः क्षीरादिरसस्तदुपमश्चतुःस्थानिकोऽभिधीयते । यदुक्तं श्रीमन्मलयगिरिपादैः कर्मप्रकृतिवृत्तौ—

“क्षीरादिरसश्च स्वाभाविक एकस्थानिक उच्यते । द्वयोस्तु कर्षयोरावर्तने कृते सति योऽवशिष्यते एकः कर्षः स द्विस्थानिकः । त्रयाणां कर्षाणामावर्तने कृते सति य उद्धरित एकः कर्षः स त्रिस्थानगतः । चतुर्णां तु कर्षाणामावर्तने कृते सति योऽवशिष्ट एकः कर्षः स चतुःस्थानगतः ।” इति ।

के पुनरेनं सातवेदनीयमन्कं चतुस्त्रिद्विस्थानगतं त्रिविधरमं क्रमशो बध्नन्तीत्याह—“सुद्धमज्झिमसंकिट्ठा” ति मन्दतरकषायोदयत्वाद् ये ‘शुद्धाः’—विशुद्धाध्यवसाया जीवाः, तथैव कषायोदयजन्यमध्यमसंक्लेशोपेतत्वात् ‘मध्यमाः’—मध्यमपरिणामा जीवाः, ये तु तीव्रकषायोदयात् ‘संक्रिष्टाः’—संक्रिष्टतरपरिणामा जीवास्ते । इदमुक्तं भवति—विशुद्धपरिणामा जीवाः सातवेदनीयस्य चतुःस्थानगतं रसं बध्नन्ति, मध्यमपरिणामा जीवा पुनस्तस्य त्रिस्थानगतं रसं निर्वर्त-

पन्ति, संक्रिष्टपरिणामास्तु द्विस्थानगतमेवेति । संक्लेशो हि अत्र तन्प्रायोग्यो विज्ञेयः, न तु सर्व-
संक्लेशः, सातवेदनीयबन्धकानां सर्वसंक्लेशाऽसम्भवात् । असातवेदनीयस्योत्कृष्टानुभागस्य न्वशुभ-
त्वात् तद्रसं पुनरेते वैपरीत्येन द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकक्रमेण बध्नन्ति, एतदेव दर्शयन्नाह—“तद्विच-
रीभं असायस्स” इति एतेऽनन्तरोक्ताः शुद्ध-मध्यम-संक्रिष्टजीवा अशुभपरावर्तमानरूपस्याऽसात-
वेदनीयस्य ‘तद्विपरीतम्’—तं चतु-स्त्रि-द्विस्थानगतं रसं विपरीतसंभवत्, द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकक्रमेणो-
र्थः, बध्नन्तीत्यावर्तते । अयम्भावः—तन्प्रायोग्यविशुद्धपरिणामा असातवेदनीयस्य द्विस्थानगतं रसं
बध्नन्ति, मध्यमपरिणामास्तु तस्य त्रिस्थानगतं रसं बध्नन्ति, संक्रिष्टपरिणामाः पुनश्चतुःस्थानिकं
रसं बध्नन्तीति । अत्राप्यसातवेदनीयस्यैकद्वयादिस्थानगतस्मानां परस्परं तात्पर्यं पूर्ववद्भावनी-
यम्, केवलमसातवेदनीयस्याऽशुभप्रकृतिन्वाद् इक्षुरसादिस्थाने घोषातक्यादिरममादायोपमा
द्रष्टव्या । यत उक्तम्—“घोसाडहनिबुधमो मसुभाण” इति ।

इहाऽनन्तरोक्ताः माना-ऽसातवेदनीययोः प्रत्येकं बन्धका ज्ञानावरणादिसप्तचत्वारिंशद्बन्ध-
प्रकृतीर्बध्नन्तो प्राक्षाः । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

“एवं पाणावरणदंसपावरणमिच्छत्तं सोलसकथाय भयं दुरांछा ते लोकम्मइगा अपणगंधरसफालअरुरु-
लहुय उषधाय णिम्येण पंचणहं अंतराइयाणं पथामि सत्तचत्तालीसाए धुवपगतीणं बंधता” इत्यारवि ॥८५१॥

तदेवं परावर्तमानशुभाशुभप्रकृतीनां द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकक्रमबन्धकमेदात्स्थितिवन्धकजीवाः
षोडा विभक्ताः । साम्प्रतमेते एकैकविधा जीवाः कीदृशं स्थितिबंधं कुर्वन्तीत्येतन्प्रतिपादयन्नाह—

पढमस्स ठिइं कमसो सायस्स चउतिविटाणिये बंधे ।

बंधंति लहुं अलहुं सट्टाणम्मि खलु उक्कोमं ॥ ८५२ ॥

(प्रे०) “पढमस्से”त्यादि, ‘सातम्य’-सातवेदनीयस्य परावर्तमानोत्तमशुभप्रकृतिलक्षणस्य
“चउतिविटाणिये” इति ‘इन्द्रान्ते श्रयमाणं पदं प्रत्येकमभिमम्यध्यत’ इति न्यायाच्चतुः-
स्थानिके त्रिस्थानिके द्विस्थानिके “बंधे” इति तत्रद्रमबन्धे प्रवर्तमाने तस्य प्रवर्तकाः “पढमस्स
ठिइं कमसो” इति प्रथमस्य ज्ञानावरणस्याऽपरावर्तमानाऽशुभमूलप्रकृतेर्वक्ष्यमाणां त्रिविधां स्थितिं
कमशो बध्नन्तीति परेणान्वयः । एतां त्रिविधस्थितिमेव कमश आह—“लहुं अलहुं” इत्यादिना ।

इदमुक्तं भवति—अनन्तरोक्तात् ‘मायस्स मुद्धमज्झिम’ इत्यादिवचनात् सातवेदनी-
यस्य चतुःस्थानिकरसं बध्नन्तो जीवा विशुद्धपरिणामा इति कृत्वा “लहुं” इति ज्ञाना-
वरणस्य ‘लघु’ तन्प्रायोग्यजघन्यां स्थितिं बध्नन्तीत्यर्थः । न चैते केवलं विशक्षितां जघन्यां स्थितिमेव
बध्नन्ति, किन्तु चतुःस्थानिकेऽपि मन्दमन्दतरादिरसे बध्यमाने ममयद्विसमयादिनाऽभ्यधिकां
यावत् केचनान्यन्तमन्दतमचतुःस्थानिकरसबन्धका उक्तजघन्यस्थित्यपेक्षया प्रभूतमागरोपमक्षते-

रधिकामपि जघन्यां स्थितिं बध्नन्ति, ततश्च “खलु” इत्यनेनोपलक्षणात् ममयादिनाऽधिकां यावत् प्रभूतमागरोपमशतंरधिकामपि स्थितिमेते प्रस्तुताश्चतुःस्थानिकरसं बध्नन्तो जीवा बध्नन्तीत्यपि विज्ञेयम्, एवमेवाग्रेऽपि द्रष्टव्यम् । तत्रत्या-सातवेदनीयस्य त्रिस्थानिकरसं बध्नन्तो जीवा मध्यमपरिणामा इति कुत्रोक्तजघन्यां वक्ष्यमाणोत्कृष्टां च स्थितिं नपेक्ष्य “अखलु” ति या ज्ञानावरणस्य ‘अखलु’-अजघन्या, मध्यमा इति यावत्, तां मध्यमां स्थितिं बध्नन्ति । अत्राप्युपलक्षणाद् विवक्षितां मध्यम-स्थितिमपेक्ष्य ममयादिनाऽधिका बहुसागरोपमशतप्रमाणायाः स्थितयस्या अपि बध्नन्तीति शोद्धव्यम् । एवमेव सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसं बध्नन्तो जीवाः पुनः “सद्वाणस्मि खलु उक्तोसं” ति ‘स्वस्थाने’-स्वसंक्लेशभूमिकानुमारेणैव ज्ञानावरणस्योत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति, न पुनराधिकोत्कृष्ट-स्थितिमिति खलुशब्दार्थः; अत्राप्युत्कृष्टस्थित्युपलक्षणात् ममयादिममयादिहीनोत्कृष्टां यावत् प्रभूत-मागरोपमशतपर्यन्तवहीनामुत्कृष्टां स्थितिमापि बध्नन्तीति शोद्धव्यम् । यथा स्वपदन सातवेदनीयं ग्राह्यम्, ततश्च सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसं बध्नन्तो जीवाः सातवेदनीयस्यैवोत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति, अत्र च पक्षे खलुशब्दोऽवधारणार्थे विशेष्यानुगामितया च व्याख्येयः ।

इदमुक्तं भवति—अवधारणार्थो हि एवकारस्त्रिधा, विशेष्यमङ्गलः, विशेषणसंगतः क्रियासङ्गतश्च भवति, अवधारणं च व्यवच्छेदफलम्, तत्र विशेष्यमङ्गलेनैवकारेणान्ययोगव्यवच्छेदः क्रियते, यथा—‘चतुर्दशपूर्वविद् एवाऽऽहारकशरीरिणः’ इत्यत्र चतुर्दशपूर्विभ्योऽन्येषामाहारकशरीरित्वयोगो व्यवच्छिद्यते; अर्थाच्चतुर्दशपूर्विभ्यतिरिक्त आहारकशरीरी न भवति । विशेषणानुगामिनैवकारेण त्वयोगव्यवच्छेदो विधीयते, यथा—‘अभव्यो मिथ्यादृष्टिरेव’ इत्यत्राऽभव्ये मिथ्यादृष्टित्वाऽयोगो व्यवच्छिद्यते; अर्थादभव्यमात्रेऽवश्यं मिथ्यात्वपरिणामः । क्रियासङ्गलैवकारेण पुनरन्त्यन्तायोगो व्यवच्छिद्यते; यथा—‘भव्यः संयतो भवत्येव’ इत्यत्र भव्ये संयतभावस्याऽन्त्यन्ताऽयोगो व्यवच्छेद्यः, अर्थात् केचन भव्या असंयता अपि विद्यन्ते । प्रस्तुतेऽवधारणार्थखलुशब्दस्य विशेष्यसंगततया विधाने सातवेदनीयस्य, तदुपलक्षणात् परावर्तमानशुभप्रकृतीनां चोत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति, न पुनर्ज्ञानावरणादीनामपरावर्तमानानाम्, परावर्तमानाऽशुभप्रकृतीनां वेत्यर्थः ॥८५२॥

अथ शेषामातवेदनीयत्रिविधरसबन्धकजीवानधिकृत्याह—

पठमस्स ठिहं कमसो असायचउतिगविठाणिये बंधे ।

बंधंति गुरुं अगुरुं सट्टाणे चैव य जहण्णं ॥८५३॥

(प्र०) “पठमस्स” इत्यादि, प्राग्बदसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिके त्रिस्थानिके द्विस्थानिके रसबन्धे प्रवर्तमाने सति तद्वन्धकाः ‘प्रथमस्य’-ज्ञानावरणस्य ‘गुरुम्’-उत्कृष्टाम्, ‘अगुरुम्’-अनुत्कृष्टाम्, मध्यमामित्यर्थः, स्वस्थाने एव जघन्यां च स्थितिं बध्नन्तीत्यर्थः । इयमत्र भावना—

‘तद्विवरीयं असायस्स’ इत्यनन्तरोक्तवचनादसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकं रसं बध्नन्तो जीवाः संक्रिष्टाध्यवसायाः, किञ्च तिर्यङ्-मनुष्य-देवायुर्वर्जानां शेषसर्वप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिः संकलेशाधिक्ये निर्वर्त्यते, तत एतेऽसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसं बध्नन्तो जीवा ज्ञानावरणस्योत्कृष्टां त्रिंशत्कोटिकोटिसागरोपमप्रमाणां स्थितिं बध्नन्ति, चतुःस्थानिकादिरसानां प्रत्येकं स्वस्थानेऽसंख्येयमेद-मिन्नत्वात् मन्दमन्दतरादिचतुःस्थानिकरसं बध्नन्तो जीवा नातिसंक्रिष्टा ह्येन कृत्वा समयादिना हीना हीनतराद्यां यावदन्तःकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणामपि स्थितिं बध्नन्ति, अत उत्कृष्टस्थित्युपलक्षणा-दन्या अपि स्थितीरेते बध्नन्तीति प्राग्दत्रापि द्रष्टव्यम् । नन्वेवं तर्हि कस्मादुत्कृष्टैव मूले गृहीता ? उच्यते, त्रिस्थानिकं रसं बध्नन्ति त्रिस्थानिकरसं बध्नन्ति त्रिंशत्कोटिकोटिसागरोपम-प्रमाणा स्थितिर्न बध्यते इत्येतददर्शनार्थम्, असातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसबन्धकैरेव ज्ञानावरण-स्योत्कृष्टा स्थितिर्बध्यते, न पुनस्त्रिस्थानिक-द्विस्थानिकरसबन्धकैरिति भावः ।

असातवेदनीयस्य त्रिस्थानिकरसं बध्नन्तो जीवास्तु ज्ञानावरणस्य तत्प्रायोग्यां अन्तः-कोटीकोटीसागरोपमप्रमाणां मध्यमां स्थितिं बध्नन्ति, असातवेदनीयस्य द्विस्थानिकं रसं बध्नन्तो जीवाः पुनर्ज्ञानावरणस्य ‘स्वस्थाने एव’—स्वविशुद्धिभूमिकानुसारेणैव जघन्यां तदुपलक्षितां समयद्विसमया-दिमात्रेणाऽभ्यधिकां यावत् प्रभूतसागरोपमशतैरधिकां जघन्यस्थितिमपि बध्नन्ति, इन्धमेशानन्तरो-क्तस्थानेऽप्युपलक्षणात् प्रभूतसागरोपमप्रमाणाः स्थितिर्विकल्पा असातवेदनीयस्य त्रिस्थानिकरसं बध्नन्तां जीवानां बन्धप्रायोग्यतया द्रष्टव्या इति ।

ननु कर्मप्रकृतिसंग्रहण्यनुभागाबन्धचूर्णौ रसबन्धाध्यवसायानुकृष्टिप्रतिपादनावसरे—
‘सायस्स ओक्कसियं द्वितीं बन्धमाणम्म जाणि अणुभागबन्धज्जवसाणट्टाणाणि ममयूणाए उक्कसियाए
द्वितीए ताणि य अणणाणि य । विसमयूणाए उक्कसियाए द्वितीए ताणि य अणणाणि य । एवं जाव असायस्स
जहण्णिया द्विती ।’ इत्यनेन सातवेदनीयोत्कृष्टस्थितिप्रभूतेः यावदसातवेदनीयजघन्यस्थित्या समं
सातवेदनीयस्याऽऽक्रान्तस्थितिस्तावत् ‘तान्यन्यानि’ लक्षणाया रसबन्धाध्यवसायानुकृष्टेरभिहितत्वात्
पञ्चदशसागरोपमकोटिकोटिलक्षणसातवेदनीयोत्कृष्टस्थितिप्रभूतेः समयसमयोनायां समयाधिकजघन्या-
ऽऽक्रान्तस्थितिपर्यन्तायामुत्तरोत्तरस्थितौ ये रसबन्धाध्यवसायास्तेषामध्यवसायानामुत्क्रान्तजघन्यस्थितिं
यावत्पूर्वपूर्वस्थिताऽनुवृत्तस्तत्रापि तादृगध्यवसायनिबन्धनसातवेदनीयद्विस्थानिकरसबन्धोऽपि
भवत्येव, अत एव तत्राऽनुभागातीव्रमन्दताप्रतिपादनावसरे—‘सायस्स उक्कसियाए द्वितीए जहण्णपदे जहण्णा-

गुभागे शोबो । समयूणाए उक्तिसियाए ठितीए जहण्णपदे जहण्णाणुभागे तत्तिओ चेष । एवं विसमयूणाए उक्तिसियाए ठितीए जहण्णपदे जहण्णाणुभागे तत्तिओ चेष । तिसमयूणाए ठितीए जहण्णपदे जहण्णाणुभागे तत्तिओ चेष । एवं उस्सारेयव जाव जहण्णओ असायबंधो ताव तत्तिओ चेष । इत्यनेन सातवेदनीयोत्कृष्टस्थितौ यावान् जघन्यानुभागोऽभिहितस्तावान् एव समयसमयोनायां यावदसातवेदनीयेन महाऽऽक्रान्तायां तदीयजघन्यस्थितावपि जघन्यानुभागोऽभिहितः, न च तावन्मात्रम्, किन्त्वर्हि ? 'असायस्स जहण्णयं द्विनि बंधमाणस्स जाणि अणुभागबंधञ्जवसाणट्टणाणि तत्तो समयहिियाए ठितीए ताणि य अण्णाणि य । एवं विसमयाहिियाए ताणि य अण्णाणि य । एवं जाव सागरोपमसतपुहुत्तं । सागरोपमसतपुहुत्तं णाम जाव सायस्स उक्तिसिया द्विती ताव ताणि य अण्णाणि य' । इत्यनेन सातवेदनीयेन समक्रान्ताया असातवेदनीयजघन्यस्थितेगम्य यावत् सातवेदनीयोत्कृष्टस्थितिस्तावत् 'तान्यन्यानि' लक्षणाया रसबन्धाध्यवसायानुकुष्टेरभिधानात्, तथा तदीयतीवमन्दताभिधानावसरेऽपि 'असायस्स जहण्णियाए ठितीए जहण्णपदे जहण्णाणुभागे शोबो । वितियाए ठिनोए जहण्णपदे जहण्णाणुभागे तत्तिओ चेष । ततियाए ठितीए जहण्णाणुभागे तत्तिओ चेष । एवं चेष सागरोपमसतपुहुत्तं ताव तत्तिओ चेष (जाव) मातउक्तोसद्वितीसि अणितं होइ ।' इत्यनेनाऽसातवेदनीयस्य जघन्यस्थितिप्रभृतेस्तदीयपञ्चदशसागरोपमकोटिकोटिलक्षणाऽऽक्रान्तोत्कृष्टस्थितिं यावज्जघन्यपदगतानुभागस्य तुल्याभिधानाच्च पूर्वपूर्वास्थितौ बन्धप्रायोग्यस्याऽसातवेदनीयद्वि-त्रिस्थानिकरसस्याऽपि उत्तरोत्तरस्थितौ यावत्सातवेदनीयेन सह परावर्त्य बन्धप्रायोग्यायां चरमायामसातवेदनीयाऽऽक्रान्तस्थितावपि समुद्भवसद्भाव एव ।

ततः किम् ? ततः सातवेदनीयचतुःस्थानिकरसबन्धकानामिव तदीयद्वि-त्रिस्थानिकरसबन्धकानामपि तदीयोत्कृष्टाऽजघन्यस्थितिवज्जघन्यस्थित्युपलक्षिता याः सातवेदनीयचतुःस्थानिकरसबन्धकप्रायोग्यतयाऽभिहिता आक्रान्ताः सागरोपमशतपृथक्त्वस्थितयस्ता अपि बन्धप्रायोग्या एव, एवमेवासातवेदनीयचतुःस्थानिकरसबन्धकानां प्रायोग्याः सातवेदनीयेन समं परावर्त्य बन्धप्रायोग्या अत एवाऽऽक्रान्ता याः पञ्चदशकोटिकोटिसागरोपमान्ता असातवेदनीयस्थितयस्ता अपि असातवेदनीयद्वि-त्रिस्थानिकरसबन्धकानां प्रायोग्या एव । तथा च 'पहमस्स ठिहं कमसो सायस्स' इत्याद्यनुपदोक्तगाथा-(८५२-८५३)-द्वयेन तत्तज्जघन्याऽजघन्यादिस्थितीनां तथा तदुपलक्षितानां सागरोपमशतपृथक्त्वस्थितीनामेव सातवेदनीयचतुस्त्रिस्थानिकरसबन्धकप्रायोग्यतयाऽसातवेदनीयद्वि-त्रिस्थानिकरसबन्धकप्रायोग्यतया च प्रतिपादितत्वाच्चूर्णग्रन्थेन व्यक्तो विरोधः ।

हानिर्भवति तथा ज्ञानावरणस्यापि स्थितिवन्धहानिर्भवति; तथा च यदा सातवेदनीयाऽऽक्रान्त-
जघन्यस्थितिवन्धस्तदा ज्ञानावरणस्याऽपि तन्प्रायोग्यजघन्यस्थितिवन्ध एव, एवं यदा सातवेद-
नीयाऽऽक्रान्तोत्कृष्टस्थितिवन्धस्तदा ज्ञानावरणस्यापि तन्प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिवन्धस्य सम्भव एव; एवं
च स्थितमिदम्, यत्—सातवेदनीयाद्वि-त्रिस्थानिकरमबन्धकानामपि यथा सातवेदनीयाऽऽक्रान्त-
जघन्यस्थितिपर्यन्ताः स्थितयो बन्धप्रायोग्यास्तथा ज्ञानावरणस्याऽपि तन्प्रायोग्यजघन्यस्थिति-
पर्यन्ताः स्थितयः सातवेदनीयाद्वि-त्रिस्थानिकरमबन्धकानां बन्धप्रायोग्या एव । एवमेवाऽऽसातवेदनीय-
द्वि-त्रिस्थानिकरमबन्धकानामपि यथाऽसातवेदनीयाऽऽक्रान्तोत्कृष्टस्थितिपर्यन्ताः स्थितयो बन्ध-
प्रायोग्यास्तथा ज्ञानावरणस्याऽपि तन्प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिपर्यन्ताः स्थितयोऽसातवेदनीयाद्वि-त्रिस्थानिक-
रमबन्धकानां बन्धप्रायोग्या एव ।

तदेवं साताऽसातवेदनीयाक्रान्तजघन्योत्कृष्टस्थितिपर्यन्तानां स्थितीनां साता-ऽसातवेदनीय-
द्वि-त्रिस्थानिकरमबन्धकप्रायोग्यत्ववत् ज्ञानावरणस्याऽपि तत्तदाक्रान्तजघन्योत्कृष्टस्थितिपर्यन्तानां
'पदमस्स ङिहं कमसो' इत्यादि(गाथा-८५२-८५३)नाऽभिमतस्थित्यपेक्षयाऽधिकानामे-
कत्राऽऽक्रान्तजघन्यस्थितिपर्यन्तानाम्, अन्यत्राऽऽक्रान्तोत्कृष्टस्थितिपर्यन्तानां च स्थितीनामपि साता-
-ऽसातवेदनीयाद्वि-त्रिस्थानिकरमबन्धकप्रायोग्यत्वे संस्थिते तदोपनादवस्थ्यमं व ? इति चेद्,

अप्यतैऽश्रोतरम्—यथोक्तानुभागबन्धचूर्णिवचनात् तत्स्थितिवन्धस्थानेषु तत्त-
द्रमबन्धाध्यवसायानां पृथक्पृथक्भावेऽपि, तत एव अनुभागतीव्रमन्दताया मेदेनाधिकृतत्वेऽपि च तत्र
तत्र स्थितिवन्धस्थानेषु रमबन्धस्य द्वि-त्रिस्थानिकादिभेदेन नियमनं तु स्थितिवन्धप्रमाण-
नियमनपथा उत्कृष्टपदगतानुभागेनैव कर्तव्यम्; तथा च न दोषलेशोऽपि । एतदुक्तं भवति—
ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिवन्धे प्रवर्तमाने स्थितिवन्धमानं यथा तदानीं बध्यमानेषु येषु केषु
दलिकेषु शेषवध्यमानदलिकापेक्षयाऽधिकतमकालं यावत्तेन रूपेणाऽवस्थानस्वभाव उत्पद्यते तच्चरम-
दलिकनिषेकस्वाधीनं सत् त्रिंशत्सागरोपमकोटिकोऽद्यादिलक्षणमभ्युपगतम्, न पुनर्द्विचरमादि-
दलिकनिषेकाधीनं समय-द्विसमथादिन्यूनत्रिंशत्सागरोपमकोटिकोऽद्यादिरूपम् । यथा उत्कृष्टस्थिति-
बन्धमानं तथा जघन्यस्थितिवन्धमानमपि तस्मिन् जघन्यस्थितिवन्धे प्रवर्तमाने बध्यमानशेष-
दलिकापेक्षयाऽधिकतमकालं यावत्तेन रूपेणाऽवस्थानस्वभावो येषु दलिकेषु समुत्पद्यते तस्य
चरमदलिकनिषेकस्वाधीनं सद् अन्तर्मुहूर्तादिकं प्रागुक्तम्; न पुनर्येषु दलिकेषु बध्यमानशेष-
दलिकापेक्षया श्लोकतमकालं यावत्तेन रूपेणाऽवस्थानस्वभावः समुत्पद्यतादृक्प्रथमनिषेकाधीनम्,
यतस्तथान्वे वेदनीयादितत्तत्कर्मणामौघिकं जघन्यस्थितिवन्धमानं द्वादशमुहूर्तादिकमनुक्त्वा-
ऽन्तर्मुहूर्तमं व कथितं स्यात्, कुतः ? तस्य जघन्यस्थितिवन्धेऽन्तर्मुहूर्तमात्राया एवाबाधायाः
सत्त्वेनाऽबाधाऽनन्तरवर्तिनि प्रथमदलिकनिषेकेऽन्तर्मुहूर्तकालं यावदेव तेन रूपेणाऽवस्थानस्वभावानां
दलिकानां जघन्यपदे लाभात् । यथा जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धे तथा मध्यमस्थितिवन्धेऽपि ज्ञेयम् ।

स्थितिवन्धप्रमाणनियमनवत् द्वि-त्रिस्थानिकादिभेदभिन्नसबन्धप्रमाणमपि तत्र तत्र स्थिति-
बन्धस्थाने उत्कृष्टपदे बन्धप्रायोगेनानुभागेन नियम्यते तदा यत्र स्थितिवन्धस्थानेषु चतुस्था-
निकरसबन्धाध्यवसायानां मद्भावेनोत्कृष्टपदे सातवेदनीयादेश्चतुःस्थानिकरसो बन्धप्रायोग्यस्तानि
स्थितिवन्धस्थानानि सातवेदनीयादेश्चतुःस्थानिकरसबन्धकप्रायोग्यानि, एवं येषु स्थितिवन्धस्थानेषु
न विद्यते चतुःस्थानिकरसबन्धप्रायोग्या अध्यवसायाः, किन्तुत्कृष्टपदेऽपि त्रिस्थानिकरसबन्धप्रायो-
ग्या एव तानि स्थितिवन्धस्थानानि त्रिस्थानिकरसबन्धकप्रायोग्यानि, शेषस्थितिस्थानेषु तु चतुः-
स्थानिकरसबन्धाध्यवसायानामिव त्रिस्थानिकरसबन्धाध्यवसायानामप्यभावेन तानि तु परिशेषादपि
द्विस्थानिकरसबन्धकप्रायोग्यानीति तु सुखेन गम्यते । इत्थं हि चृण्विग्रथाऽविगोधेनोपपद्यते
'पहमस्स ठिहं कमसो' इति गाथाद्वयोक्तार्थ इति ॥८५३॥

तदेवं दर्शिताः सातवेदनीयाऽसातवेदनीयादेश्चतुःस्थानिकादित्रिविधत्रिविधरसबन्धकतया षड्विधा
विभक्तानां जीवानां विशुद्धाविशुद्धाध्यवसायानुसारेण बन्धप्रायोग्या मूलप्रकृतीनां स्थितिविकल्पाः।
साम्प्रतं जघन्यादिभेदभिन्नेष्वेतेष्वसंख्येयेषु स्थितिविकल्पेषु ग्रन्थकं बन्धकतया वर्तमानाः षड्विधा
जीवा उत्कृष्टपदे कियन्तः प्राप्यन्त इत्येतदादावनन्तरोपनिधयाऽऽह—

पहमस्स जहण्णाण् थोवा जीवा तओ कमाऽब्भहिया ।
जलहिसयपुहुत्तं जा ततो उड्ढं विसेसूणा ॥८५४॥
सायस्स चउत्तिठाणे तहा असायस्स हुन्ति वित्तिठाणे ।
अयरसयपुहुत्तं जा सेसदुठाणेषु सगुरुठिहं ॥८५५॥

(प्रे०)“पहमस्स जहण्णाण्” इत्यादि, तत्र “जीवा” ति अनन्तरोक्ताः सातवेदनीय-
स्याऽसातवेदनीयस्य च चतुःस्थानिकादितत्तद्रसं बध्नन्तः षड्विधा जीवा ग्रन्थकं ‘प्रथमस्य’-ज्ञाना-
वरणस्य “जहण्णाण्” ति जघन्यायां स्थितौ “थोवा”ति ‘स्तोकाः’-पमयाश्रयिकास्थितिवन्धका-
पेक्षया स्तोकाः, भवन्तीति परेणान्वयः । “तओ कमाऽब्भहिया जलहिसयपुहुत्तं जा”ति
ततः समयद्विममयाश्रयिकस्थितिस्थानेषु क्रमाद् ‘अभ्यधिकाः’-विशेषाधिका जीवा भवन्ति यावत्
‘जलधिगतपृथक्त्वं’-मागरोपमशतपृथक्त्वमित्यर्थः, इहनि मागरोपमशतानीति यावत् । “ततो उड्ढं
विसेसूणा” ति अस्य चान्वयः “अयरसयपुहुत्तं जा” इति परेण, ततोऽनन्तरोक्ताः प्रभूत-
मागरोपमशतसमयप्रमाणाः स्थितिक्रम्य तदनन्तरस्थितिस्थानादारभ्योर्ध्वं‘विशेषीनाः’-उत्तरोत्तर-
स्थितिस्थानेषु तद्वन्धकतया वर्तमाना जीवा विशेषहीना विशेषहीना भवन्ति यावत् “अयरसयपुहुत्तं”
ति अतरशतपृथक्त्वम्, प्रभूतानि मागरोपमशतानीत्यर्थः । किं षड्विधरसस्थानं उत कतिपय-
रसस्थाने एवेत्याह—“सायस्स चउत्तिठाणे” इत्यादि, सातवेदनीयस्य चतुस्त्रिस्थानिकभेदभिन्नं

द्विविधरसस्थानेऽसातवेदनीयस्य द्वित्रिस्थानिकरसभेदभिन्ने द्विविधरसस्थानं च, न पुनः शेषद्विविध-
रसस्थानेऽपि । तर्हि तत्र किमिन्याऽ-“सेसद्दुठाणेषु” इत्यादि, शेषे सातवेदनीयस्य त्रिस्था-
निकरसबन्धेऽसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसबन्धे च “सशुक्रुडिह” ति स्वप्रायोग्यां ‘गुरूम्’-
उत्कृष्टां स्थितिं यावद्विशेषहीना विशेषहीना बन्धका भवन्तीति गम्यते ।

इदमुक्तं भवति-सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकं रसं बध्नन्तो ज्ञानावरणीयस्य स्वप्रायोग्य-
जघन्यस्थितेर्वन्धकतया वर्तमाना जीवाः स्तोकाः सन्ति, समयाधिकजघन्यस्थितेर्वन्धक-
तया वर्तमाना जीवास्ततो विशेषाधिका भवन्ति, एवं विशेषाधिका विशेषाधिकास्तावद्वाच्या
यावद् बहूनि सागरोपमशतान्यतिक्रमन्ति, ततः परं समयसमयस्थितिषु द्वौ
नीयस्य चतुःस्थानिकं रसं बध्नन्तो जीवा विशेषहीनाः सन्ति, द्विसमयाधिकस्थितेर्वन्धकतया
वर्तमाना जीवास्ततो विशेषहीनाः सन्ति, एवं विशेषहीना विशेषहीनास्तावद्वाच्या यावत्प्रभूतानि साग-
रोपमशतान्यतिक्रम्य यत्र सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसबन्धकानां प्रायोग्योत्कृष्टा स्थितिरिति ।
इत्थमेव सातवेदनीयस्य त्रिस्थानिकरसं बध्नन्तो ज्ञानावरणस्य तत्प्रायोग्याया जघन्यस्थितेर्वन्धक-
तया वर्तमाना जीवाः स्तोकाः, समयाधिकजघन्यायाः स्थितेर्वन्धकतया वर्तमाना जीवास्ततो
विशेषाधिकाः, द्विसमयाधिकजघन्यायाः स्थितेर्वन्धकतया वर्तमाना जीवास्ततो विशेषाधिकाः, एवं
विशेषाधिका विशेषाधिकास्तावद्वाच्यत् प्रभूतानि सागरोपमशतानि, ततः परं समयसमयस्थितिषु द्वौ
पूर्ववद् विशेषहीना विशेषहीना वाच्या यावत् प्रभूतानि सागरोपमशतान्यतिक्रम्य सातवेदनीयस्य
त्रिस्थानिकरसं बध्नन्तां जीवानां प्रायोग्या उत्कृष्टा स्थितिरिति । सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकं रसं
बध्नन्तो ज्ञानावरणस्य तत्प्रायोग्याया जघन्यायाः स्थितेर्वन्धकतया वर्तमाना जीवाः स्तोकाः,
समयाधिकस्थितेर्वन्धकतया वर्तमाना जीवास्ततो विशेषाधिकाः, द्विसमयाधिकस्थितेर्वन्धकतया
वर्तमाना जीवास्ततो विशेषाधिकाः, एवं विशेषाधिका विशेषाधिका यावत् बहूनि सागरोपमशतान्यति-
क्रामन्ति, ततः परं समयसमयस्थितेर्वन्धकतया वर्तमाना जीवा पुनर्विशेषहीनाः, एवं समयद्विसम-
यादिषु द्वौ विशेषहीना विशेषहीनास्तावद्वाच्या यावत् पञ्चदशकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणा ज्ञाना-
वरणस्य सातवेदनीयेन समं बन्धप्रायोग्या उत्कृष्टा स्थितिरिति ।

इत्थमेवाऽसातवेदनीयचतु-स्त्रि-द्विस्थानिकतत्तद्रसं बध्नन्तां जीवानां विषयेऽप्यनन्तरोपनिधया
द्रष्टव्यम्, नवरं सातवेदनीयचतुःस्थानिकरसबन्धकानां स्थानेऽसातवेदनीयसत्कद्विस्थानिकरसबन्धका
वक्तव्याः, ततोऽसातवेदनीयस्यापि त्रिस्थानिकरसस्य निर्वर्तका एव, ततः पुनः सातवेदनीयस्य
द्विस्थानिकरसस्य बन्धकानां स्थानेऽसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकं रसं बध्नन्तो जीवा द्रष्टव्याः,
तत्रापि ते विशेषहीना विशेषहीनास्तु तावद्वाच्या यावज्ज्ञानावरणस्योत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्कोटि-
कोटिसागरोपमाणि । तद्यथा-असातवेदनीयस्य द्विस्थानगतं रसं बध्नन्तो ज्ञानावरणस्य तत्रा-

योग्याया जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवाः स्तोकाः, ततः समयाधिकस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवा विशेषाधिकाः, पुनरपि समयाधिकस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवा विशेषाधिकाः, एवं विशेषाधिका विशेषाधिकास्तावद्वाच्या यावत् प्रभूतानि सागरोपमशतानि गच्छन्ति, ततः परं समयाधिकस्थितेर्बन्धकाः पूर्वापेक्षया विशेषहीनाः, इतस्तु पूर्ववद् विशेषहानिर्वाच्या यावत् प्रभूतानि सागरोपमशतानि व्यतिक्रमन्ति । असातवेदनीयस्य त्रिस्थानिकं रसं निर्वर्तयन्तो ज्ञानावरणस्य तत्प्रायोग्याया जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवाः स्तोकाः, ततः समयाधिकस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवा विशेषाधिकाः, पुनरपि समयाधिकस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवा ततो विशेषाधिकाः, एवं तावद्वाच्यं यावत् प्रभूतानि सागरोपमशतानि गच्छन्ति, ततः परं बहूनि सागरोपमशतानि यावदुत्तरोत्तरस्थिता तु प्राग्बद् विशेषहीना विशेषहीना बन्धका वाच्याः । असातवेदनीयस्य चतुःस्थानगतं रसं बध्नन्तो ज्ञानावरणस्य तत्प्रायोग्याया जघन्यायाः स्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवाः स्तोकाः, ततः समयाधिकस्थिता विशेषाधिकाः, एवं समयसमयवृद्ध्या विशेषाधिका विशेषाधिकास्तावद् द्रष्टव्या यावद् बहूनि सागरोपमशतान्यतिक्रमन्ति, ततस्तु समयसमयवृद्ध्या यावज्ज्ञानावरणस्योत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्कोटिकोटीसागरोपमाणि तावदुत्तरोत्तरस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवा विशेषहीना विशेषहीना अपेक्षन्त्याः । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

‘अणन्तरोपनिधित्वा सुभपगतीण परियत्तमाणिगणं चउट्टाणबन्धगा णाणावरणीयस्स जह्णिणाणं टिट्ठीण जीवा थोवा । चित्थियाणं टिट्ठीण जीवा चित्थिसाहिया, एवं ततियाणं चित्थिसाहिया । एवं चित्थिसाहिया जाव सागरोपमसत्तं ति । ‘उद्विसय’ति बहूणि सागरोपमाणि । ‘जीवा चित्थिसाहिया उद्विसयपहुण सो जाव’ ति तेण परं चित्थिसाहिया चित्थिसाहिया जाव सागरोपमसत्तपहुणं ति । पुहुत्तसरो बहुत्तवाची । एवं तिट्ठाणबन्धगाजीवा भाणियत्तवा । परियत्तमाणिगणं सुट्ठाणं चिट्ठाणबन्धगा णाणावरणीयत्तप्पाउग्गजह्णिणाणं टिट्ठीण जीवा थोवा । चित्थियाणं टिट्ठीण जीवा चित्थिसाहिया, ततियाणं चित्थिसाहिया, एवं चित्थिसाहिया चित्थिसाहिया जाव सागरोपमसत्तं ति । तेण परं चित्थिसाहिया चित्थिसाहिया ‘आसुभुक्कोसं’ ति जाव परियत्तमाणिगणं सुभाणं उक्कस्सिगा टिनित्ति । ‘असुभाणं चिट्ठाणं निचउट्ठाणे य उक्कस्स’ ति परियत्तमाणिगणं असुभपगतीणं चिट्ठाणिय-चिट्ठाणिय-चउट्टाणबन्धगा वत्तवा । णाणावरणीयस्स सट्ठाणजह्णिणाणं टिट्ठीण जीवा थोवा, चित्थियाणं जीवा चित्थिसाहिया, ततियाणं चित्थिसाहिया, एवं चित्थिसाहिया चित्थिसाहिया जाव सागरोपमसत्तं ति । तेण परं चित्थिसाहिया जाव असुभपरियत्तमाणिगणं उक्कस्सिया टिनित्ति’ इति ॥८५५॥

तदेवं कृताऽनन्तरोपनिधया प्ररूपणा । माम्प्रतं परम्परोपनिधयाऽऽह—

अह दुगुणवड्ढिहाणी गंतूणमसंखपल्लमूलाणि ।

ताओ जाणेयव्वा पल्लामंखेज्जमूलंमो ॥८५६॥

(प्रे०) “अह दुगुणवड्ढिहाणी” इत्यादि, अथशब्द आनन्तर्ये, ततश्चानन्तरोपनिधयाऽभिधानान्तरं परम्परोपनिधयां “गंतूणमसंखपल्लमूलाणि” ति असंख्येयानि पण्योपमसत्कप्रथमवर्गमूलानि ‘गत्या’-अतिक्रम्यानन्तरे स्थितिबन्धस्थाने “दुगुणवड्ढिहाणी” ति सातवेदनीयादेश्वतुःस्थानादितत्तद्वत्सं बध्नतां जीवानां द्विगुणवृद्धिर्द्विगुणहानिश्च, भवतीति शेषः । इवसुक्तं

भवति—सातवेदनीयादेश्चतुःस्थानिकादितत्तद्रसं बध्नतां जीवानां प्रायोग्याया जघन्यायाः स्थिते-
रारभ्य प्रभूतसागरोपमशतपृथक्त्रस्थितिवन्धस्थानेष्वसंख्येयपल्योपमप्रथमवर्गमूलप्रमाणानि स्थिति-
बन्धस्थानान्यतिक्रम्यातिक्रम्य जीवाः द्विगुणा द्विगुणा भवन्ति, ततः परं तत्तच्चतुःस्थानिकादिरस-
बन्धकानां प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिवन्धं यावत् पल्योपमासंख्येयप्रथमवर्गमूलप्रमाणानि स्थितिवन्ध-
स्थानान्यतिक्रम्यातिक्रम्य बन्धकजीवविषया द्विगुणहानयः प्राप्यन्ते ।

तथाहि—सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसं बध्नन्तस्तन्प्रायोग्याया ज्ञानावरणस्य जघन्यायाः
स्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना ये जीवास्तेभ्यः समयमयवृद्ध्या पल्योपमस्यासंख्येयप्रथमवर्गमूल-
प्रमाणानि स्थितिवन्धस्थानान्यतिक्रम्यानन्तरस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवा द्विगुणाः सन्ति,
ततः पुनरपि तावन्ति पल्योपमस्यासंख्येयप्रथमवर्गमूलभूतसमयप्रमाणानि स्थितिवन्धस्थानान्यति-
क्रम्यानन्तरस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवा अनन्तरोक्तद्विगुणवृद्धजीवापेक्षया द्विगुणाः सन्ति, निरुक्त-
जघन्यस्थितेर्बन्धकतया वर्तमानजीवापेक्षया तु चतुर्गुणाः सन्ति, ततः परं तावन्ति स्थितिवन्ध-
स्थानान्यतिक्रम्य पुनरपि द्विगुणा भवन्ति, एवं द्विगुणा द्विगुणास्तावद्वाच्या यावत् चतुःस्थानिक-
रसबन्धप्रायोग्योक्तजघन्यस्थितिवन्धात्प्रारभ्य प्रभूतानि सागरोपमशतान्यतिक्रमन्ति । इतस्तु
यथोक्तस्थितिवन्धस्थाने तद्वन्धकजीवा विशेषहीना विशेषहीनाः सन्तः पल्योपमस्यासंख्येय-
प्रथमवर्गमूलप्रमाणानि स्थितिवन्धस्थानान्यतिक्रम्यानन्तरे स्थितिवन्धस्थाने तद्वन्धकतया वर्त-
माना जीवा यथोक्तचरमद्विगुणवृद्धिस्थानलक्षणस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना ये जीवा उक्तास्तदपेक्षया
द्विगुणहीनाः=अर्धा भवन्ति, ततः पुनरपि तावन्ति पल्योपमासंख्येयप्रथमवर्गमूलमयप्रमाणानि स्थिति-
बन्धस्थानान्यतिक्रम्यानन्तरस्थितेर्बन्धकतया वर्तमाना जीवा अनन्तरोक्तद्विगुणहीनजीवापेक्षया-
ऽर्धा भवन्ति, एवमुक्तप्रमाणानि स्थितिवन्धस्थानान्यतिक्रम्यातिक्रम्य द्विगुणहानयोऽपि तावद्भवन्ति
यावत् प्रभूतानि सागरोपमशतान्यतिक्रम्य सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसं बध्नतां जीवानां बन्ध-
प्रायोग्या ज्ञानावरणस्योत्कृष्टा स्थितिरिति । इत्यमेव सातवेदनीयस्य त्रिस्थानिकरसबन्धकानां द्विस्था-
निकरसबन्धकानामसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसबन्धकानां त्रिस्थानिकरसबन्धकानां द्विस्थानिक-
रसबन्धकानां विषयेऽपि वृद्धिहानयो वाच्याः, नवरं सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसबन्धं कुर्वत्सु जीवेषु
द्विगुणहानयस्तावद्वाच्या यावत्संख्येयकोटिकोटिसागरोपमाणि स्थितिवन्धस्थानान्यतिक्रम्य सातवे-
दनीयस्य पञ्चदशकोटिकोटिसागरोपमोत्कृष्टस्थित्या समं ज्ञानावरणस्य तत्प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिवन्धो
भवति, इत्यमेवसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसं बध्नतां जीवानां द्विगुणहानिविषयेऽपि द्रष्टव्यम्,
नवरं तत्र द्विगुणहानयस्तावद् द्रष्टव्या यावज्ज्ञानावरणस्योत्कृष्टस्थितिवन्धस्त्रिंशत्सागरोपमकोटि-
कोटिप्रमाणः । उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णौ—

परिस्तनाणिगाणं सुभाणं चउद्गाणबन्धगा णाणावरणीयस्स जह्णिणगाए ठितीए जीवेहितो ततो
वसंखेजाणि पलिओवमवग्गामूलाणि गंतूणं दुग्गुणवड्ढिया जीवा । ततो पुणो तत्तियं चेष गंतूणं दुग्गुण-

वृद्धिदया जीवा । एवं दुर्गुणवृद्धिता जीवा दुर्गुणवृद्धिता जीवा जाव सागरोवमसतं ति । तेण परं असंखेज्जाणि पलिओवमवग्गमूलाणि गंतूणं दुर्गुणहीणा दुर्गुणहीणा । एवं दुर्गुणहीणा दुर्गुणहीणा जाव सागरोवमसय-पुहुत्तं ति । एवं तिहाणिगा वि जीवा । परियत्तमाणिगाणं सुभाणं चिट्ठाणवन्धगा णाणावरणीयस्स तण्णावग्गा जह्णिणगाणं टितीणं जीवेहिंतां ततो असंखेज्जाणि पलिओवमवग्गमूलाणि गंतूणं दुर्गुणवृद्धिता जीवा । ततो पुणो तत्तियं चेश गंतूणं दुर्गुणवृद्धिता जीवा । एवं दुर्गुणवृद्धिता जाव सागरोवमसतं ति । तेण परं असंखे-ज्जाणि पलिओवमवग्गमूलाणि गंतूणं दुर्गुणहीणा । ततो तत्तियं चेश गंतूणं पुणो दुर्गुणहीणा जीवा । एवं दुर्गुणहीणा दुर्गुणहीणा जाव परियत्तमाणिगाणं सुभाणं उक्कस्सिगा टिति ति' इति । तथा—

'परियत्तमाणिगाणं असुभाणं चिट्ठाणियत्तिट्ठाणियभंगो जहा परियत्तमाणिगाणं सुभाणं चउट्ठाणभंगो । असुभपगतीणं परियत्तमाणिगाणं चउट्ठाणियभंगो जहा परियत्तमाणिगाणं सुभाणं चिट्ठाणियभंगो । पवरं परियत्तमाणिगाणं उक्कस्सिगा टितिति ॥५५॥' इति ।

एतादृशा वृद्धयो हानयश्चैकैकविधं रसं वन्ततां जीवानां बन्धप्रायोग्यस्थितिषु कियन्त्या भवन्तीत्येतद् दर्शयन्नाह—“ताओ जाणेयव्वा” इत्यादि, अनुपदं परंपरोनिधया दर्शिताः पन्धो-पमस्यासंख्येषानि प्रथमवर्गमूलान्यतिक्रम्यातिक्रम्योत्पद्यमानाः सातवेदनीयादेश्चतुःस्थानिकाद्यैकै-कविधरसं वन्ततां जीवानां द्विगुणवृद्धयो द्विगुणहानयश्च प्रत्येकमेताः “पल्लासंखेज्जमूलंसो” ति पन्धोपमस्य प्रथमवर्गमूलस्यासंख्ययाततमभागगतममयप्रमाणा ज्ञानव्या इति ॥८५६॥

अथोक्तबन्धकद्विगुणवृद्धिहानिस्थानानां द्विगुणवृद्धिहान्यन्यतरान्तरस्य च परस्परं स्तोका-धिकत्वं दर्शयन्नाह—

ठाणाइं थोवाइं णेयाइं दुर्गुणवृद्धिहाणीणं ।

ताउ असंखेज्जगुणं णायवं अंतरं एगं ॥८५७॥

(प्रे०) “ठाणाइं थोवाइं” इत्यादि, सातवेदनीयादेश्चतुःस्थानिकादिसबन्धकानां द्विगुण-वृद्धिस्थानयोर्द्विगुणहानिस्थानयोर्वाऽनन्तरवक्ष्यमाणैकान्तगत्तमपेक्ष्य “दुर्गुणवृद्धिहाणीणं” ति सर्वस्थितिभाविनासु कद्विगुणवृद्धि-द्विगुणहानीनाम् “ठाणाइं थोवाइं णेयाइं” ति स्था-नानि स्तोकानि ज्ञेयानि, “ताउ” ति तेभ्यः “असंखेज्जगुणं णायवं अंतरं एगं” ति चतुःस्थानि-कादितत्तद्रसबन्धकानां द्विगुणवृद्धिस्थानयोर्द्विगुणहानिस्थानयोर्वा एकमन्तरमसंख्येयगुणं ज्ञेयम्, यत उक्कस्सिधितिपर्यन्तासु सर्वास्वप्यधिकृतस्थितिषु जीवानां द्विगुणवृद्धिस्थानानि द्विगुणहानिस्थानानि वा पन्धोपमस्य सम्बन्धिनः प्रथमवर्गमूलस्याऽसंख्येयतमे भागे यावन्तः समयान्तावत्प्रमाणानि सन्ति, एकस्मिन् द्विगुणवृद्धयन्तरे द्विगुणहान्यन्तरे वा यानि स्थितिवन्धस्थानानि तानि तु पन्धो-पमस्यासंख्येषु प्रथमवर्गमूलेषु यावन्तः समयान्तावत्प्रमाणानि सन्ति । उक्तं च कर्मप्रकृत्युचौर्ण-

'एगं जीवगुणहाणिट्ठाणंतरं असंखेज्जाणि पलिओवमवग्गमूलाणि । णाणाजीवगुणहाणिट्ठाणंतराणि 'णाणंतराणि पल्लस्स मूलभागो असंखतमो' ति पलिओवमवग्गमूलस्स असंखेज्जनिभागो । णाणाजीव-गुणहाणिट्ठाणंतराणि थोवाणि, एगं जीवगुणहाणिट्ठाणंतरं असंखेज्जगुणं' इति ।

तदेवं दर्शितमनन्तरोपनिधादिना तत्तद्रसबन्धकतया विभक्तानां कियन्तां जीवानां कीटक्-

स्थितेर्वन्धकृत्वं बध्यमानस्थितिस्थानेषु तादृशजीवानां द्विगुणवृद्धिहानि-तदेकान्तरात्पयदृत्वं च । साम्प्रतं तु बध्यमाणान्यवहुन्वविषयकपदान्युत्पादयितुं स्थितिवन्धस्थानेषु बन्धकृत्द्विहानि-विषयतया द्विधा द्विधा विभक्तानि सातवेदनीवादेर्द्विस्थानिकादिसबन्धकप्रायोग्यतया दर्शितस्थिति-बन्धस्थानानि साकाराद्युपयोगप्रायोग्यवन्धभेदात् पुनरपि विभाजयन्नाह—

उपओगेऽणागारे बंधंति विठाणियं च अणुभागं ।

सागारे उपजोगे वितिचउठाणगयमणुभागं ॥८५८॥

(प्रे०) “उपओगेऽणागारे” इत्यादि, अनाकारे उपयोगे वर्तमानाः सन्त एतेऽनन्तरोक्ता जीवाः “विठाणियं च अणुभागं”ति सातवेदनीयस्याऽसातवेदनीयस्य च द्विस्थानिकम् ‘अनुभा-गम्’-रसमेव बध्नन्ति, न पुनस्त्रिस्थानिकं चतुस्थानिकं वेत्यर्थः । “सागारे उपजोगे” ति साकारे उपयोगे वर्तमानाः पुनरेते “वितिचउठाणगयमणुभागं” ति ‘द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येक-मभिसम्बध्यते’ इति न्यायात् सातवेदनीयाऽसातवेदनीययोर्द्विस्थानगतं त्रिस्थानगतं चतुःस्थानगतं त्रिविधान्यतममनुभागम्, बध्नन्तीत्यनुवर्तते । अनेन ह्यनाकारोपयोगे वर्तमानानां शुभाशुभपरावर्तमान-प्रकृत्योर्द्विस्थानगतो रस एव बन्धप्रायोग्यः, साकारोपयोगे वर्तमानानां तु जीवानां तयोर्द्वि-त्रि-चतुः-स्थानिकभेदभिन्नास्त्रिविधा अपि रसा बन्धप्रायोग्या इत्यावेदितमिति ॥८५८॥

अथ साकाराद्युपयोग-तत्तद्रसबन्धादिपदार्थान्तरयोगेनानेकधा विभक्तानां स्थितिवन्धस्थाना-दीनामन्येषां जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धादिपदार्थानां च परस्परमल्पबहुत्वं प्रचिकटविधुराह—

१चउठाणे यवमज्झा हेट्टाऽप्पाणि ठिइबंधठाणाणि ।

सायस्स हुन्ति २एत्तो संखगुणाणि उवरिं हवेज्जा ॥८५९॥

३तो तिट्टाणेऽह ४तओ उवरिं ५तत्तो अहो य विट्टाणे ।

सागारे ६तो मीसे हवन्ति ७तत्तो उवरिं मीस्से ॥८६०॥

८ताउ लहू संखगुणो ९तोऽब्भहिया जट्टिई १०तओऽब्भहियो ।

होह असायस्स लहू ११तोऽब्भहिया जट्टिई णेया ॥८६१॥

१२तत्तो संखगुणाइ हवन्ति विट्टाणगेऽह सागारे ।

१३तो मीसे १४ताउ उवरि मीसे १५तो हुन्ति सागारे ॥८६२॥

१६तोऽह तिट्टाणे १७तो उवरि १८तओ चउठाणगेऽह १९तो जत्तो ।

परमं डायं गच्छइ सा उ ठिई होह संखगुणा ॥८६३॥

२०तो संखगुणा अंतोकोडाकोडी २१तओ विठाणम्मि ।

सायस्स हुन्ति उवरिं सागारे संखियगुणाणि ॥८६४॥

२२ततो विसेसअहियो सायस्स गुरू हवेज्ज ठिहबंधो ।

२३ततो जाणेयव्वा अब्भहिया जट्टिई तस्स ॥८६५॥

२४तो डायठिई अहिया २५ताउ असायस्स उवरि चउठाणे ।

अहियाणि २६तओ परमो अहियो २७तो जट्टिई अहिया ॥८६६॥

(प्रे०) “चउट्टाणे यवमज्जा” इत्यादि, अनन्तरं सातवेदनीयाऽसातवेदनीययोश्चतुः-
स्थानादित्रिविधत्रिविधरसबन्धकानां स्वस्वप्रायोग्यजघन्यस्थितिबन्धस्थानादारभ्य प्रभूतसागरोपम-
प्रमाणस्थितिपर्यन्तमुत्तरोत्तरस्थितिबन्धस्थानेषु तद्वन्धकजीवानां विशेषवृद्धयोऽभिहिताः, ततश्चरम-
विशेषवृद्धिस्थानात्पुनस्तत्तद्रसबन्धकानां प्रायोग्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्थानं यावत्तु यद्योत्तरं तत्तत्स्थि-
तेर्वन्धकजीवानां विशेषहानयोऽभिहिताः, इत्थं सातवेदनीयाऽसातवेदनीययोश्चतुःस्थानिकाद्येकैकविध-
रसबन्धं कुर्वतां जीवानां या जघन्यस्थितिर्वन्धप्रायोग्या ततः प्रभूतसागरोपमशतसमयप्रमाणाः स्थिती-
रुल्लङ्घ्य बन्धकजीवानां विशेषवृद्धिसत्कं यच्चरमं स्थितिबन्धस्थानं यत्र पूर्वोत्तरस्थितिबन्धस्थानवर्ति-
जीवापेक्षयाऽधिकतमा जीवाः प्राप्यन्ते, तस्मान्मध्यस्थानादुभयपार्श्वयोः समयद्विसमयादिना हीना-
धिकस्थितिस्थानेषु पुनर्विशेषहीना विशेषहीना जीवाः प्राप्यन्ते, एतेषु च सर्वेषु स्थाप्यमानेषु यवः—
धान्यविशेषस्तस्याकृतिरुद्भवति, यतो यवस्य मध्यं यथा पृथुलमुभय पार्श्वे च हीने हीनतरे तथा प्रकृतेऽपि
मध्यस्थाने बन्धकानां बाहुन्यात् मध्यं स्थाप्यमानं पृथुलमुभयपार्श्वयोर्यथोत्तरस्थितिस्थानेषु बन्ध-
कानां हीयमानत्वात् पार्श्वे स्थाप्यमाने हीने हीनतरे; स्थापना—

त्रिविधरसबन्धकानां विशेषवृद्धिहानीनां यवसदृशं स्थापनामपेक्ष्य ये सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिका-
दित्रिविधरसबन्धकानां यवा इव त्रिविधा यवाः, एवमसातवेदनीयबन्धकानामपि ये त्रयो यवाश्च तेषां
मध्यं “सायस्स”ति सातवेदनीयस्य “चउट्टाणं जवमज्जा हेहा”ति चतुःस्थानिकयवमध्यादधः
यश्चतुःस्थानगतसबन्धकविषयकयवस्तत्र यन्मर्वाधिकजीवानां बन्धप्रायोग्यं ‘मध्यं’-मध्यमस्थितिबन्ध-
स्थानं तस्मात् समयादिना हीनहीनतरादिस्थितिबन्धस्थानरूपेऽधस्तने भागे इत्यर्थः, तत्र किमित्याह-
“ऽप्याणि ठिहबंधाणाणि” ति स्थितिबन्धस्थानान्यन्यानि—स्तोकानि । २४“हुन्ति एत्तो
संखगुणाणि” ति एतेभ्योऽनन्तरोक्तस्थितिबन्धस्थानेभ्यः संख्येयगुणानि भवन्ति, स्थितिबन्ध-
स्थानानीत्यनुवर्तते । कुत्र इत्याह—“उवरि” ति “चउट्टाणे यवमज्जा” इत्यस्यानुवृत्त्याऽधिकृत-
स्य सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसबन्धविषयकदक्षितयवमध्यस्य ‘उपरि’-समयादिनाऽधिकाधिक-

स्थितिवन्धलक्षणे उपरितने भागे इत्यर्थः । ३ 'तो तिङ्हाणेऽह' ति अत्राऽपि 'यवमज्जा' इति पदमनुवर्तते, एवमुत्तरत्रापि यथायोगं तस्यानुवृत्तिर्द्रष्टव्या, ततः सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकयवमध्यादुपरितनस्थितिवन्धस्थानेभ्यः 'त्रिस्थाने'—तस्यैव सातवेदनीयस्य त्रिस्थानरसबन्धे यवमध्याद् 'अधः'—समयादिना हीन-हीनतरादिस्थितिवन्धस्थानरूपेऽधस्तनभागे, स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानीति पूर्वगाथातोऽनुवर्तते । "तओ उवरिं" ति ततः सातवेदनीयस्य प्रस्तुतत्रिस्थानिकयवमध्यस्य 'उपरि'—समयादिनाऽधिकाधिकतरादिस्थितिवन्धस्थानरूपे उपरितने भागे, स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानीत्यत्रापि पूर्ववदनुवृत्त्या बोद्धव्यम् । एवमुत्तरत्रापि तदनुवृत्तेः "तसो अहो य विङ्हाणे सागारे" ति प्राग्वत् तेभ्योऽनन्तरोक्तस्थितिवन्धस्थानेभ्यः प्रस्तुतस्य सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसबन्धयवमध्याद् 'अधः'—समयादिना हीन-हीनतरादिस्थितिवन्धलक्षणे यवस्पाधोभागे 'साकारे'—साकारोपयोगे सति बन्धप्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानीत्यर्थः ।

अयम्भावः—प्राक् साता-ऽसातवेदनीययोस्त्रिविधोऽपि रसः साकारोपयोगोपयुक्तानां बन्धप्रायोग्यो दर्शितः, तथा च त्रिविधान्यतमं रसं बध्नतां प्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानान्यपि साकारोपयोगेन बन्धप्रायोग्यानि प्राप्नानि, तत्रापि द्विस्थानिकरसस्य साकारोपयोगस्येवाऽनाकारोपयोगस्यापि बन्धप्रायोग्यतया न सर्वाणि स्थितिवन्धस्थानान्येकान्तेन साकारोपयोगप्रायोग्यानि, किन्तु कतिपयान्येव, कतिपयानि तु साकाराऽनाकारोभयप्रायोग्यानि, द्विस्थानिकरसं बध्नद्भिर्जीवैः कदाचित् साकारोपयोगे भति बध्यन्ते कदाचित्चनाकारोपयोगे सति बध्यन्त इति भावः । इत्येवं सातवेदनीयस्यासातवेदनीयस्य च प्रत्येकं द्विस्थानिकरसं बध्नतां जीवानां प्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानानि द्विधा द्विधा विभक्तानि, एतेषु द्विविधद्विविधस्थानेषु कतिपयानि द्विस्थानिकयवमध्यादुपरिवर्तीनि, कतिपयानि त्वधःस्थितानि, तथा च सन्युक्तकेवलसाकार-साकारानाकारोभयोपयोगभेदाद्विभक्तानि साता-ऽसातवेदनीययोर्द्विस्थानिकरसं बध्नतां बन्धप्रायोग्यानि स्थितिस्थानानि प्रत्येकं पुनरपि द्विधा द्विधा विभक्तानि, इत्थं हि साता-ऽसातवेदनीययोर्द्विस्थानिकरसं बध्नतां प्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानान्यष्टविधानि जातानि, तथा—सातवेदनीयद्विस्थानिकरसयवमध्यादध एकान्तसाकारोपयोगप्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानानि, तथा द्विस्थानिकरसयवमध्यादध एव साकारा-ऽनाकारोभयप्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानानि । इत्थमेव द्विविधानि द्विस्थानिकरसयवमध्यस्योपरितनवर्तिस्थितिवन्धस्थानेषु लभ्यन्ते । तदेवं सातवेदनीयद्विस्थानिकरसं बध्नतां जीवानां बन्धप्रायोग्यानि स्थितिस्थानानि चतुर्विधानि जातानि । यथा सातवेदनीयद्विस्थानिकरसं बध्नतां तथाऽसातवेदनीयस्यापि द्विस्थानिकरसं बध्नतां जीवानां बन्धप्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानान्यपि चतुर्विधानि बोद्धव्यानि । एतेष्वष्टविधेषु स्थितिस्थानेषु यानि सातवेदनीयद्विस्थानिकरसयवमध्यस्याधस्तनानि साकारोपयोगे एव बन्धप्रायोग्यानि तानि शेषसप्तविधस्थितिवन्धस्थानेभ्यः स्तोकानि सन्त्यपि सातवेदनीय-

द्विस्थानिकरसयवमध्यस्योपरितनवर्तिस्थितिवन्धस्थानेभ्यः संख्येयगुणानि सन्ति, एतदेव दर्शनार्थ-
मभिहितम् 'ततो अहो य विद्वाने सागारे' इति ।

“ततो मोसे हवन्ति” ति अत्रापि पूर्ववत् 'सायस्म जवमज्झा' तथा 'अहो य विद्वाने'
'ठाणाणि संख्यगुणाणि' चेति पदत्रयस्यानुवृत्त्या 'ततः' अनन्तरोक्तस्थितिवन्धस्थानेभ्यः सातवेदनीय-
स्य द्विस्थानिकरसयवमध्यादधः 'मिश्रे' -मिश्रोपयोगे, साकाराऽनाकारान्यतरोपयोगे प्रवर्तमाने यानि
बन्धप्रायोग्यानि स्थितिस्थानानि तानि संख्येयगुणानीत्यर्थः । ततः “उधरि मोस्से” ति
तत्रैव द्विस्थानिकरसे यवमध्यस्योपरि स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । “ताउ लहु संख-
गुणो” ति तेभ्यः प्रस्तुतस्य सातवेदनीयस्य 'लघुः' -जघन्यस्थितिवन्धः संख्येयगुणः, स च व्याख्या-
नतो विशेषप्रतिपत्तेरत्रैव ग्रन्थे द्वितीयाधिकारश्रुतौ प्रोक्तस्वरूपोऽधाधारहितोऽनुभवयोग्यो ज्ञेयः ।
ननु सातवेदनीयस्यानुभवयोग्यो जघन्यस्थितिवन्धोऽन्तर्मुहूर्तप्रमाणस्यात्, स चाऽनन्तरोक्त-
स्थितिस्थानापेक्षया संख्येयभागमात्रः, अथ त्वस्मै संख्येयगुण उक्त इति कथं न विरोधः ?
इति चेद्, न, संज्ञिपञ्चेन्द्रियाभ्यजघन्यस्थितिवन्धस्थानादीनामिव जघन्यस्थिति-
बन्धस्याऽपि संज्ञिपञ्चेन्द्रियाभ्यजघन्यप्रायोग्यभ्याऽधिकृतत्वात्, तस्य चान्तःकोटिकोटिसागरो-
पमप्रमाणतयाऽनन्तरोक्तस्थितिवन्धस्थानापेक्षया संख्येयगुणत्वाऽविरोधादिति । “ततो अब्भहिया”
ति ततोऽभ्यधिकाः-विशेषाधिका अधिकृतस्य सातवेदनीयस्य “जडिई” ति 'लहु' इत्यनुवृत्ते,
ततो 'लघु' -जघन्या 'यत्स्थितिः' -जघन्यस्थितिवन्धसमये बन्धतः प्राप्तलिके या स्थितिर्भवति सा,
सा च कर्मरूपतयाऽवस्थानलक्षणाऽत्रैव ग्रन्थे द्वितीयाधिकारेऽभिहितम्भरूपा ज्ञेयेत्यर्थः ।

“ततोऽब्भहियो होह असायस्स” ति 'ततः' -सातवेदनीयजघन्ययत्स्थितितोऽभ्य-
धिकः-विशेषाधिको मदन्यसातवेदनीयस्य “लहु” ति जघन्यः स्थितिवन्धः, स च व्याख्या-
नतो विशेषप्रतिपत्तेरत्रापि प्राग्दर्शितानुभवयोग्य-कर्मरूपतावस्थानलक्षणद्विविधस्थितिवन्धयोर्मध्ये
योऽनुभवयोग्यः स्थितिवन्धः सोऽवसातव्य इति । “ततोऽब्भहिया जडिई णेया” ति
प्रागिव “लहु” इत्यस्यानुवृत्तस्ततोऽभ्यधिकाऽसातवेदनीयस्य जघन्या यत्स्थितिः, कर्मरूपता-
वस्थानलक्षणजघन्यस्थितिवन्ध इति भावः, कुतः ? जघन्यावाधाया अत्र प्रवेशात् । “ततो संख-
गुणाहं हवन्ति” ति तस्या अनन्तरोक्ताया असातवेदनीयजघन्ययत्स्थित्याः संख्येयगुणानि
भवन्ति, कानीत्याह-“विद्वानेऽह सागारे” ति पूर्ववत् प्रस्तुतस्यासातवेदनीयस्य द्विस्थान-
करसबन्धकविषयवमध्यादध एकान्तसाकारोपयोगे बन्धप्रायोग्यानि स्थितिस्थानानीत्यर्थः ।
“ततो मोसे” ति पूर्ववदनुवृत्त्याऽसातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसयवमध्यादधो 'मिश्रे' मिश्रोपयोगे-
साकाराऽनाकारान्यतरोपयोगे सति बन्धप्रायोग्यानि स्थितिस्थानानि संख्येयगुणानि । इत्यमेव

११ “ताउ उचरि मोसे” ति ततोऽसातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसयवमध्यस्योपरि ‘मिथ्रे’-साकाराऽनाकारान्यतरोपयोगे बन्धप्रायोग्यानि स्थितिस्थानानि संख्येयगुणानि । तथैव १२ “तो हृन्ति साभारे” ति तस्यैवाऽसातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसयवमध्यादुपर्येकान्तसाकारोपयोगे बन्धप्रायोग्यानि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि भवन्तीत्यर्थः । १३ “तोऽह तिठाणे” ति ततः प्रकृतस्यऽसातवेदनीयस्य त्रिस्थानिकरसविषयवमध्यस्याधः, स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानीति शक्यम् । एवं १४ “तो उचरि” ति ततोऽसातवेदनीयस्य त्रिस्थानिकरसविषयवमध्यस्योपरि स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । १५ “तओ चउठाणगेऽह” ति ततोऽसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसविषयवमध्यादधः स्थितिबन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । १६ “तो जत्तो परमं डायं गच्छइ सा उ ठिई होइ संखगुणा” ति ततो यस्याः स्थितेरुत्कृष्टकालुत्िन्यायेन ‘परमाम्’-उत्कृष्टां ‘डागं’-कालां ‘गच्छति’-प्राप्नोति तद्वन्धकः सा तु स्थितिः संख्येयगुणा भवति ।

किसुक्तं भवति-प्रागस्मिन्नेव भूलप्रकृतिस्थितिबन्धग्रन्थं पदनिक्षेपाधिकारे यस्मात् स्थितिबन्धादेकहेलया उत्कृष्टस्थितिग्रन्थं कुर्वतो जीवस्योत्कृष्टवृद्धिरभिहिता तस्मात्स्थितिबन्धादनुपद-मुत्कृष्टस्थितिबन्धकरणे जीव उत्कृष्टां डायं प्राप्नोति, सा उत्कृष्टवृद्धिस्वामिना उत्कृष्टस्थितिबन्धात्प्रा-गव्यवधानेन बद्धा स्थितिरसातवेदनीयस्य चतुःस्थानकयवमध्यस्याधोवर्तिस्थितिबन्धस्थानेभ्यः संख्येयगुणा भवतीति ।

एतेन प्राक् पदनिक्षेपाधिकारस्थामित्त्वद्वारे-

‘मज्झाहिन्तो उचरि चउठाणियस्म वृहंतो । अंतो कोडाकोडिं ठिहवंधं यो कुणेमाणो ॥ ६९२ ॥

लहिऊणं उकोसं डायं उकोससंकिन्नेसेणं । जेह्ठिइ वंधनो बड्ठिं सो कुणइ उकोसं ॥ ६९३ ॥

इत्यत्र यदन्तःकोटिकोटिसागरोपमलक्षणस्थितिस्थानं निर्वर्तयन् जीवोऽनन्तरसमये उत्कृष्टवृद्धिस्वामी भवितुमर्हति तच्चतुःस्थानिकयवमध्यादुपरि वर्तमानमन्तःकोटिकोटिसागरोपमलक्षणं स्थिति-स्थानं तस्मादेव चतुःस्थानिकयवमध्यादधो यावन्ति स्थितिबन्धस्थानानि तेभ्यः संख्येयगुणानि स्थितिबन्धस्थानानि यवमध्यादुपरि गत्वा लभ्यते, अर्थतस्तु यथोक्तं चतुःस्थानिकयवमध्यलक्षण-स्थितिस्थानं बध्नन् जीवो यावतीं स्थितिं बध्नाति ततः संख्येयगुणाधिकां स्थितिं बध्नन् जीव उत्कृष्टवृद्धिस्वामी भवितुमर्हति, न तु ततः स्तोकाभिति स्फुटमभवत् । ननु तर्हि एषा एवोत्कृष्टपद-गताऽन्तःकोटिकोटिसागरोपमस्थितिः स्याद् ? इति चेद्, न, तस्यास्त्वेतत्स्थितेरपि संख्ये-यगुणाधिकस्थितिबन्धं कुर्वतो भावात् ।

तदेवाह- १७ “तो संखगुणा अंतोकोडाकोडो” ति तस्या अनन्तरोक्ताया अन्तःकोटा-कोटीसागरोपमस्थितेरपि समयपरिभाषया या उत्कृष्टपदे सागरोपमाणामन्तःकोटीकोट्यस्ताः संख्येय-गुणा इत्यर्थः । १८ “तओ षिठाणम्मि” इत्यादि, ततः सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसयवमध्य-

स्योपरि 'साकारे'-एकान्तसाकारोपयोगे सति बन्धप्रायोग्यानि स्थितिस्थानानि संख्येयगुणानि भवन्तीत्यर्थः । २२१ "तसो धिसेसअहियो" इत्यादि, तेभ्योऽनन्तरोक्तस्थितिवन्धस्थानेभ्यः सातवेदनीयस्य 'गुरुः'-उत्कृष्टोऽनुभवयोग्यः स्थितिवन्धो विशेषाधिको भवति, कुतः ? उच्यते, अनन्तरोक्तानि सातवेदनीयद्विस्थानिकरसयवमध्यादुपरिस्वर्तीन्येकान्तसाकारोपयोगेन बन्धप्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानान्यन्तःकोटिकोटिसागरोपमन्यूनपञ्चदशकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणानि, सातवेदनीयस्याऽनुभवयोग्यतालक्षणस्थितिवन्धस्त्वयं पञ्चदशशतवर्षन्यूनपञ्चदशसागरोपमकोटिकोटिप्रमाणः, तथा च भवन्त्यनन्तरोक्तस्थितिवन्धस्थानापेक्षया विशेषाधिकः । २२२ "तसो जाणेयव्वा" तस्मात् सातवेदनीयस्यानुभवयोग्योत्कृष्टस्थितिवन्धात् तस्य सातवेदनीयस्यैवोत्कृष्टा कर्मरूपतावस्थानालक्षणा यन्स्थितिर् 'भ्यधिका'-विशेषाधिका ज्ञातव्या, कुतः ? अत्रात्राया प्रवेशेनाऽस्याः सम्पूर्णपञ्चदशकोटिकोटिसागरोपमप्रमाणत्वात् । २२३ "तो डायटिई अहिया" इत्यादि, सातवेदनीयस्योत्कृष्टयन्स्थितेरुत्कृष्टा डायस्थितिर्विशेषतोऽभ्यधिका ज्ञातव्या, कुतः ? सातवेदनीयस्योत्कृष्टा यन्स्थितिः पञ्चदशकोटिकोटिसागरोपममात्रा, उत्कृष्टडायस्थितिस्त्वनन्तःकोटिकोटिसागरोपमन्यूनत्रिंशत्कोटिकोटिसागरोपमप्रमाणा, तथा चोत्कृष्टा डायस्थितिर्द्विगुणाऽपि न भवन्त्यतो विशेषाधिकाऽभिहितेति ।

ननु कुत उत्कृष्टा डायस्थितिरेतावत्येव भवति ? उच्यते, कतः स्थितिवन्धस्थानादुत्कृष्टां फालां दन्वा दा स्थितिर्वच्यते ततः प्रभृति तदन्ता तावती स्थितिरुत्कृष्टा डायस्थितिरुच्यते, उत्कृष्टडायविषयत्वात्तस्याः; एषैव कर्मप्रकृतिचूर्णो बहुडायस्थितितयाऽभिहिता, एषा ह्युत्कृष्टदृष्टा यावती—अन्तःकोटिकोटीसागरोपमन्यूनत्रिंशत्कोटीकोटीसागरोपमप्रमाणा प्राक् पदनिक्षेपाधिकारेऽर्थतोऽभिहिता तावती एकहेलया उल्लङ्घयस्थितिपुत्कृष्टपदगता स्थितिर्मन्तव्येति ।

२२४ "ताड असायस्स उधरि" इत्यादि, ततोऽसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिके यवे उक्तलक्षणान्मध्यमस्थानादुपरि वर्तमानानि यानि स्थितिवन्धस्थानान्यद्यापि नोक्तानि तानि 'अधिकानि'-विशेषाधिकानि भवन्ति, यतोऽनन्तरोक्तानीमानि च प्रत्येकमुत्कृष्टस्थितिपर्यन्तानि सन्त्यप्यनन्तरोक्तानि चतुःस्थानिकयवमध्यादुपरि बहुसागरोपमशतानि स्थितिवन्धस्थानान्यतिक्रम्यन्तरस्थितिवन्धस्थानप्रभृतीनि, इमानि तु यवमध्यान्तरस्थितिवन्धस्थानप्रभृतीनि तथा च बहुसागरोपमशतप्रमाणानां स्थितिवन्धस्थानानामत्राऽधिकानां प्रविष्टत्वाद्भवतीमान्यनन्तरोक्तस्थितिवन्धस्थानापेक्षया विशेषाधिकानीति ।

२२५ "तओ परमो" ति 'असायस्स' इत्यनुवर्तते, ततोऽसातवेदनीयाख्याया उत्तरप्रकृतेः 'परमः' उत्कृष्टः स्थितिवन्धः 'अधिकः'-त्रिसहस्रवर्षानन्तःकोटिकोटीसागरोपमप्रमाणस्थित्याऽभ्यधिक इत्यर्थः । कुतः ? उच्यते, 'गुरु' इत्यनेनाऽसातवेदनीयस्याऽनुभवयोग्योत्कृष्टस्थिति-

बन्धो विवक्षितः, यत्र तदाभूतोऽसातवेदनीयस्योत्कृष्टस्थितिवन्ध उन्कृष्टावाधाभिपर्यस्त्रिमहस्र-
वर्षैरुन्नत्रिंशत्सागरोपमकोटिकोटीप्रमाणः सन्नन्तरोक्तयत्स्थित्यपेक्षया त्रिमहस्रवर्षानन्तःकोटि-
कोटीसागरोपमैरधिको भवतीति । २३३ "तो जड्विई अहिया" ति ततोऽसातवेदनीयस्याऽनुभव-
योग्योत्कृष्टस्थितिवन्धापेक्षया तर्भवाऽसातवेदनीयस्य कर्मरूपतावस्थानलक्षणयत्स्थितिरुन्कृष्टपदे
तिसहस्रवर्षैरधिका भवति । कुतः ? उन्कृष्टावाधाया अत्र प्रवेशादिति ।

इदं हि मुख्यवृत्त्या संज्ञिपञ्चेन्द्रियाऽभव्यजीवबन्धप्रायोग्यस्थितिवन्धस्थानान्यधिकृत्य दर्शितं सप्त-
विंशतिपदसत्कमल्पबहुत्वं सर्वथा कर्मप्रकृतिकूर्णार्थमिहितद्वाविंशतिपदसत्काल्पबहुत्वानुसार्येवाव-
गन्तव्यम्, केवलं तत्र साताऽसातवेदनीययोर्जन्तोर्ऽनुकृत्यन्स्थितिलक्षणानि चत्वारि पदानि
तथाऽसातवेदनीयचतुःस्थानिकयवमभ्योपरितनस्थानसम्बलक्षणमेकं पदमित्येवं पञ्च पदानि न
सङ्गृहीतानि, अत्र तु तान्यपि सङ्गृहीतानि । कर्मप्रकृतिकूर्णार्थकाल्पबहुत्वपाठस्त्वेवम्—

"इयाणि सखद्विदिद्याणाण्य अप्पात्रहुगं भण्णड-हेट्टा थोत्राणि जवमञ्ज्जा ठाणाणि चउट्टाणं' ति
परियत्तमाणिगसुभाणं चउट्टाणियजवमञ्ज्जस्स हेट्टभो ठितिठाणाणि थोत्राणि । 'संखेज्जगुणाणि उवरिं' ति
चउट्टाणं य जवमञ्ज्जस्स उवरिं द्विदिद्याणाणि संखेज्जगुणाणि 'एमेव तिद्याणे सुभाणं' ति परियत्तमा-
णिगणं तिद्याणियजवमञ्ज्जस्स हेट्टभो ठितिठाणाणि संखेज्जगुणाणि, तस्सेव जवमञ्ज्जस्स उवरिं
ठितिठाणाणि (वि संखेज्जगुणाणि) । 'विद्याणे सुभाणमेगंतं' ति परियत्तमाणिगणं सुभाणं विद्याणे य जव-
मञ्ज्जस्स हेट्टतो एगंतसागारपाउग्गाणि ठितिद्याणाणि संखेज्जगुणाणि । (तथोवि विद्याणअणुभागजवमञ्ज्जस्स
हेट्टभो पुब्बभो उवरिं तिद्याणाणि मिस्साणि संखेज्जगुणाणि, तथोवि विद्याणरसजवमञ्ज्जस्स उवरिं मिस्साणि
तिद्याणाणि संखेज्जगुणाणि, तथो) परियत्तमाणिगणं सुभाणं जहण्णद्वितिवन्धो संखेज्जगुणो । 'ततो विसे-
साहितो होइ असुभाणं जहण्णो' ति परियत्तमाणिगणं असुभाणं जहण्णभो ठितिवन्धो विसेसाहितो ।
'संखेज्जगुणाणि ठाणाणि विद्याणे जवमञ्ज्जा हेट्टा एगंतं' ति परियत्तमाणिगणं असुभाणं विद्याणियजवमञ्ज्जस्स
द्विट्टभो एगंतसागारपाउग्गाणि ठाणाणि संखेज्जगुणाणि । 'मिस्सगाणं' ति ततो विद्याणियजवमञ्ज्जस्स हेट्टव
मिस्सगाणि ठाणाणि संखेज्जगुणाणि । 'उवरिं' ति परियत्तमाणिगणं असुभाणं विद्याणियजवमञ्ज्जस्स उवरिं
मिस्सगाणि ठितिद्याणाणि संखेज्जगुणाणि । तस्सेवुवरिं एगंतसागारपाउग्गाणि ठितिद्याणाणि संखेज्ज-
गुणाणि । 'एवं तिचउट्टाणे' ति ततो परियत्तमाणिगणं असुभाणं तिद्याणियजवमञ्ज्जस्स उवरिं ठितिद्याणाणि
संखेज्जगुणाणि तथो वि विद्याणियजवमञ्ज्जस्स उवरिं ठितिद्याणाणि संखेज्जगुणाणि । ततो वि असुभाण परि-
यत्तमाणिगणं चउट्टाणियजवमञ्ज्जस्स द्विट्टभो ठितिठाणाणि संखेज्जगुणाणि । तथो) 'जवमञ्जाभो य दाव-
द्विति' ति जवमञ्जाव जभो ट्ठाणा उक्कोसं दायं इच्छइ सा ठिति संखेज्जगुणा, जभो द्वितिवो उक्कोसं द्विति
जातित्ति भणियं भवति । 'अंतोकोडकोडि' ति अन्तोकोडाकोडी संखेज्जगुणा । 'सुभविद्याणियजवमञ्जाभो उवरिं
एगंतिगं' ति ततो परियत्तमाणिगणं सुभाणं विद्याणियजवमञ्ज्जस्स उवरिं एगंतसागारोपउग्गाणि ठितिद्याणाणि
संखेज्जगुणाणि । 'विसिद्धा सुभजिद्ध' ति परियत्तमाणिगणं सुभाणं उक्कोस्सगो ठितिवन्धो विसेसाहितो ।
'दायद्विति' ति परियत्तमाणिगणं असुभाणं दायं गंतूण जा ठिति बद्धा सा ठिति विसेसाहिगा । 'जेट्ट'
ति परियत्तमाणिगणं असुभाणं उक्कोसगो ठितिवन्धो विसेसाहितो" इति ।

अल्पबहुत्वयन्त्रचित्रके त्वेषम्— ★ । इति गाथाष्टकार्थः ॥ ८५९-८६६ ॥

★ यन्त्रं चित्रं चाऽनन्दरोत्तरपृष्ठद्वये लिखिते इति ।

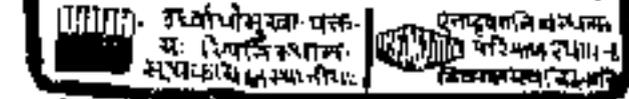
अल्पबहुत्वयन्त्रकम्				
क्रमाङ्काः	पदानि		अल्पबहुत्वम्	
१.	सातवेदनीय-चतुःस्थानिक-यवमध्याद्	अधस्तनवर्तीनि	स्थितिवन्धस्थानानि	स्तोकानि संख्येयगुण०
२.	सतः	उपरितनवर्तीनि	" "	"
३.	त्रिस्थानिक	अधस्तनवर्तीनि	" "	"
४.	"	उपरितनवर्तीनि	" "	"
५.	द्विस्थानिक	अधस्तनवर्तीनि साकारोपयोगे बन्धप्रायोग्यानि	" "	"
६.	"	अन्यतरोपयोगे	" "	"
७.	"	उपरितनवर्तीनि	" "	"
८.	सातवेदनीयस्य	जघन्यस्थितिवन्धमानम्		"
९.	"	जघन्ययत्स्थितिः		विशेषाधिक०
१०.	असातवेदनीयस्य	जघन्यस्थितिवन्धमानम्		"
११.	"	जघन्ययत्स्थितिः		"
१२.	"	द्विस्थानिकयवमध्याद् अधस्तनवर्तीनि साकारोपयोगे बन्धप्रायोग्यानि	स्थितिवन्धस्थानानि	संख्येयगुण०
१३.	"	अन्यतरोपयोगे	"	"
१४.	"	उपरितनवर्तीनि	"	"
१५.	"	साकारोपयोगे	"	"
१६.	"	त्रिस्थानिकयवमध्याद् अधस्तनवर्तीनि	"	"
१७.	"	उपरितनवर्तीनि	"	"
१८.	"	चतुःस्थानिकयवमध्याद् अधस्तनवर्तीनि	"	"
१९.	"	यतः स्थितिवन्धस्थानादुत्कृष्टद्वार्यं गम्यते सः स्थितिः		"
२०.	"	अन्तःकोटिकोटिलक्षणस्थितिवन्धस्थानेषु सर्वाधिकस्थितिवन्धस्थानम्		"
२१.	सातवेदनीयस्य	द्विस्थानिकयवमध्यादुपरितनवर्तीनि साकारोपयोगे बन्धप्रायोग्यानि	स्थितिवन्धस्थानानि	"
२२.	"	उत्कृष्टा अनुभवयोग्या स्थितिः		"
२३.	"	यत्स्थितिः		विशेषाधिक०
२४.	"	उत्कृष्टद्वारेणोत्कृष्टयत्स्थितिः		"
२५.	असातवेदनीयस्य	चतुःस्थानयवमध्यादुपरितनवर्तीनि साकारोपयोगे बन्धप्रायोग्यस्थानानि		"
२६.	असातवेदनीयस्य	उत्कृष्टा अनुभवयोग्या स्थितिः		"
२७.	"	यत्स्थितिः		"

साता-ऽसातवेदनीयद्वि-त्रि-चतुःस्थानिकरसबन्धकयवादिनानाविषयभेदभिन्नस्थितिवन्धस्थान-
साता-ऽसातवेदनीय-जघन्योत्कृष्टस्थितिवन्धादिपदार्थनिष्पन्नानां सप्तविंशतिपदानाम्—

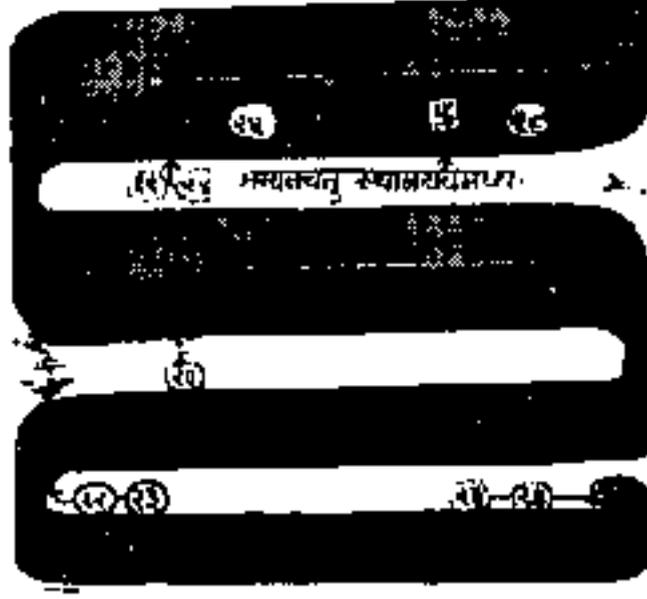
अल्पबहुत्व-चित्रकम्

सीतस्थानम्
असातस्थानम्
(A) (B) (C) (D) (E)

- विशेषे संज्ञा परिचयः -
- (A) साता-ऽसातवेदनीयान्यतमस्थितेर्बन्धसमथ
 - (B) सातवेदनीयजघन्यस्थितिवन्धप्रथमभेदेक
 - (C) असात " " " " " "
 - (D) सातवेदनीयोत्कृष्टस्थितिवन्धप्रथमभेदेक
 - (E) असात " " " " " "



- विशेष अनुसंधान आपन्नम्
- (८) B प्रभृते एतत्पर्यन्ता
 - (९) A " " "
 - (१०) C " " "
 - (११) A " " "
 - (१२) A " " "
 - (१४) इतोऽसानोत्कृष्टस्थिते
पर्यन्ता स्थितयः ।
 - (२०) A प्रभृते एतत्पर्यन्ता
 - (२२) D " " "
 - (२३) A " " "
 - (२६) E " " "
 - (३०) A " " "



अथाऽन्यमते प्रस्तुतं दिदर्शयिषुर्गाथाष्टकमाह—

केइ उ यवमज्झाऽहो चउठाणेऽप्याणि उ ठिइठाणाणि ।
 सायस्स हुन्ति १एत्तो संखगुणाणि उवरिं हुन्ति ॥८६७॥
 २तो तिट्ठाणेऽह ३तओ उवरिं ४तत्तो अहो य विट्ठाणे ।
 सागारे ५तो मीसे हवन्ति ६तत्तो उवरि मीसे ॥८६८॥
 ७ताउ असायस्स अहो विट्ठाणम्मि य हवन्ति सागारे ।
 ८तो मीसे ९ताउ उवरि मीसे १०तो हुन्ति सागारे ॥८६९॥
 ११तो तिट्ठाणेऽह १२तओ उवरिं १३ता चउठाणिये हेट्ठा ।
 १४तत्तो संखेज्जगुणो सायस्स लहू मुणेयव्वो ॥८७०॥
 १५तत्तो विसेसअहिया णायव्वा जट्ठिई १६तओऽब्भहियो ।
 होइ असायस्स लहू १७तोऽब्भहिया जट्ठिई णेया ॥८७१॥
 १८एत्तो संखेज्जगुणा जम्हा गच्छेइ ङायमुक्कोसं ।
 सा य ठिई णायव्वा १९तो अंतोकोडिकोडिठिई ॥८७२॥
 २०तत्तो संखगुणाइं हवन्ति सायस्स उवरि विट्ठाणे ।
 सागारे २१तोऽब्भहियो गुरू २२तओ जट्ठिई अहिया ॥८७३॥
 २३तो डायठिई अहिया २४ताउ अमायस्स उवरि चउठाणे ।
 अहियाणि २५तओ परमो अहियो २६तो जट्ठिई अहिया ॥८७४॥

(श्रे०) “केइ उ यवमज्झा” इत्यादि, तत्र “केइ उ” चि ‘केचित्’-महाबन्धकागदयस्तु-
 पुनः, प्रस्तुताल्पबहुत्वमित्थं वदन्तीति वाक्यशेषः । कथं वदन्तीत्याह—“यवमज्झाऽहो चउ”
 इत्यादि गाथाष्टकम्, अप्याऽक्षरार्थस्त्वनन्तरोक्तान्पबहुत्वेन तुल्यप्रायोऽतस्तदवत् स्वयमेव योज्यः,
 भावार्थोऽपि बहुधा तादृश एव, केवलं तत्र यानि सातवेदनीयजघन्यस्थितिवन्ध-जघन्ययन्स्थिन्य-
 मातवेदनीयजघन्यस्थितिवन्ध-जघन्ययन्स्थितिलक्षणानि चन्वारि पदान्यष्टम-नवम-दशमै-कादशपदेषु
 क्रमेणाभिहितानि तान्यत्र पञ्चदश-षोडश-सप्तदश-ऽष्टादशपदनया निक्षिप्तानि ।

इत्थं हि तदभिप्रायेण— ‘सर्वस्तोकानि सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसुयवमध्यादधस्त-
 नानि स्थितिस्थानानि । २ततस्तस्यैव चतुःस्थानिकामयवमध्यस्योपरितनानि स्थितिवन्धस्थानानि
 संख्येयगुणानि । ३ततः सातवेदनीयत्रिस्थानिकरसस्य यवमध्यादधस्तनानि स्थितिवन्धस्थानानि

संख्येयगुणानि । १० ततोऽस्यैव यवमध्यस्योपरिस्थानानि स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । ११ ततः सातवेदनीयद्विस्थानिकरसस्य यवमध्यादधः एकान्तमाकारोपयोगप्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । १२ ततस्तस्मादेव यवमध्यादधः साकाराऽनाकारोभयोपयोगप्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । १३ ततोऽनन्तरोत्तम्यैव सातवेदनीयद्विस्थानिकरसयवमध्यस्योपरि साकाराऽनाकारोभयोपयोगप्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । १४ ततोऽसातवेदनीयद्विस्थानिकरसस्य यवमध्यादधः केवलमाकारोपयोगप्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । १५ ततस्तस्मादेव यवमध्यादधः साकाराऽनाकारोभयोपयोगप्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । १६ ततस्तस्यैवाऽसातवेदनीयद्विस्थानिकरसस्य यवमध्यस्योपरि साकाराऽनाकारोभयोपयोगप्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । १७ ततस्तत्रैव त्रिस्थानिकरसयवमध्यस्योपरि केवलमाकारोपयोगप्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । १८ ततोऽसातवेदनीयस्यैव त्रिस्थानिकरसस्य यवमध्यादधः स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । १९ ततस्तस्यैव यवमध्यस्योपरि स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । २० ततोऽसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसयवमध्यादधः स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । २१ ततः पुनः सातवेदनीयस्याऽनुभवयोग्यः स्थितिवन्धो जघन्यः संख्यातगुणः । २२ ततस्तस्यैव सातवेदनीयस्य कर्मरूपतावस्थानलक्षणा यन्स्थितिर्जघन्या विशेषाधिका । २३ ततोऽसातवेदनीयस्याऽनुभवयोग्यो जघन्यः स्थितिवन्धो विशेषाधिकः । २४ ततस्तस्यैवाऽसातवेदनीयस्योक्तस्वरूपा यन्स्थितिर्जघन्याऽस्यधिका । २५ ततो यस्मात् स्थितिवन्धादुत्कृष्टां ङायां जीवो गच्छति स प्रागुक्तस्वरूपः स्थितिवन्धः संख्येयगुणः । २६ तत उत्कृष्टपदगताऽन्तःकोटिकोटीयागरोपमस्थितिः संख्येयगुणः । २७ ततः सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसयवमध्यस्योपर्येकान्तमाकारोपयोगप्रायोग्यानि स्थितिवन्धस्थानानि संख्येयगुणानि । २८ ततः सातवेदनीयस्याऽत्रावापेतो योऽनुभवयोग्यः स्थितिवन्धः स उत्कृष्टो विशेषाधिकः । २९ ततस्तस्यैव सातवेदनीयस्य कर्मरूपतावस्थानलक्षणा यन्स्थितिरुत्कृष्टा विशेषाधिका । ३० तत उत्कृष्टा ङायस्थितिर्विशेषाधिका । ३१ ततोऽसातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरसयवमध्यस्योपरि स्थितिवन्धस्थानानि विशेषाधिकानि । ३२ ततोऽसातवेदनीयस्याऽनुभवयोग्यस्थितिवन्ध उत्कृष्टपदे विशेषाधिकः । ३३ ततस्तस्यैवोक्तलक्षणोत्कृष्टा यन्स्थितिर्विशेषाधिका इति ॥८६७.....८७४॥

तदेवमभिहितं सातवेदनीया-ऽसातवेदनीयाद्वि-त्रि-चतुःस्थानिकरसवन्धादिनानावस्तुसम्बन्धादने कथा विभक्तानां विवक्षितानां संज्ञिपञ्चेन्द्रियामन्यजीववन्धप्रायोग्यानां स्थितिवन्धस्थानानामन्येषां सातवेदनीयाऽसातवेदनीयजघन्यस्थितिवन्धादिलक्षणानां पदानां चान्यबहुत्वम् । माम्प्रतं तत्रैव स्थितिस्थानेषु द्वि-त्रि-चतुःस्थानिकरसभेदेन षोढा विभक्तानां बन्धकानामन्यबहुत्वं प्रचिकटयिपुराह—

सायस्य हुन्ति थोवा जीवा चठणबंधगा ततो ।

तिदुठणबंधगा खलु कमसो होअन्ति संखगुणा ॥८७५॥

ताउ असायस्स कमा हुन्ति दुचउठाणबंधगा तत्तो ।

तिट्टाणबंधगा खलु होअन्ति विससओऽन्महििया ॥८७६॥

(प्रे०)“सायस्स हुन्ति थोवा” इत्यादि, सातवेदनीयस्य चतुःस्थानिकरमबन्धका जीवाः “हुन्ति थोवा” ति अनन्तरवक्ष्यमाणपदगतजीवेभ्यः ‘स्तोकाः’—अन्धाः सन्ति । “तत्तो” ति तेभ्यः सातवेदनीयचतुःस्थानिकरसबन्धकेभ्यः सातवेदनीयस्यैव “तिट्टाणबंधगा खलु” ति त्रिस्थानिकरसबन्धका द्विस्थानिकरमबन्धकाश्चैते एकैकविधबन्धकजीवा इत्यर्थः । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे । क्रियन्त इत्याह—“कमसो होअन्ति संखगुण” ति ‘क्रमशः’—यथासंख्यं संख्येयगुणा भवन्ति । “ताउ” ति तेभ्योऽनन्तरपदोक्तसातवेदनीयद्विस्थानिकरसबन्धकेभ्यः “असायस्स कमा हुन्ति” इत्यादि, अनन्तरोक्तस्य ‘संखगुणा’ इत्यस्य घण्टालालान्यायेनात्रापि योजनात् असातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसबन्धकास्तथाऽसातवेदनीयस्यैव चतुःस्थानिकरमबन्धकाः क्रमात् संख्येयगुणा भवन्तीत्यर्थः । “तत्तो” ति तेभ्योऽनन्तरपदोक्तेभ्योऽसातवेदनीयचतुःस्थानिकरसबन्धकेभ्यः “तिट्टाणबंधगा खलु” ति असातवेदनीयस्यैव त्रिस्थानिकरसबन्धकाः पुनः “होअन्ति विससओऽन्महििया” ति ‘विशेतोऽभ्यधिकाः’—विशेषात्रिका भवन्तीत्यर्थः ।

ननु असातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसबन्धकानां प्रायोग्यस्थितिवन्धस्थानेभ्यः सातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसबन्धकप्रायोग्यस्थितिवन्धस्थानान्धनन्तरोक्ताल्पवहुत्वेऽर्थतोऽनेककृत्वः संख्येयगुणानि दर्शितानि; अत्र तु वैपरीत्येन सातवेदनीयद्विस्थानिकरसबन्धकापेक्षयाऽसातवेदनीयस्य द्विस्थानिकरसबन्धकाः संख्येयगुणा उक्तास्तत्कथं न विरोधः ? इति चेद्, न, एकजीवमाश्रित्य सातवेदनीयस्योत्कृष्टबन्धकालापेक्षयाऽसातवेदनीयस्योत्कृष्टबन्धकालस्य संख्येयगुणत्वेनाऽसातवेदनीयद्विस्थानिकरसबन्धकसञ्चयस्यापि उत्कृष्टपदगतसातवेदनीयद्विस्थानिकरसबन्धकापेक्षया संख्येयगुणत्वसम्भवेनाऽविरोधादिति ॥८७५-८७६॥

तदेवमभिहितं चरमे जीवसमुदाहारे जीवाल्लव्यवहुत्वम् , तथा च समाप्तं जीवसमुदाहाराख्यं चरमं द्वारम् , तस्मिंश्च समाप्ते समाप्तश्चरमोऽध्यवसायसमुदाहारः, तत्समाप्ती चावसितो मूलप्रकृतिस्थितिवन्धः ।

क्रियते स्म भयाऽध्यवसन-समुदाहारं विवृण्वता यत्पुण्यम् ।

सुविशुद्धाध्यवसाया भवन्तु भव्या विगतभवभयास्तेन ॥ (आर्यागीतिः)

॥ इति श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे षष्ठेऽध्यवसायसमुदाहारे तृतीयं जीवसमुदाहाराख्यं द्वारं समाप्तम् ॥

॥ इति श्री बन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिवन्धे षष्ठोऽध्यवसायसमुदाहारः ॥

॥ अथ टीकाकृतप्रशस्तिः ॥

भव्यानां भवमागरे प्रपततां निस्तारकं यत्कृतं,
 तीर्थं सम्प्रति राजते जलनिधौ बोहिन्थवद्वैर्यदम् ।
 सिद्धार्थत्रिशलाङ्गजो विभवकृत् कारुण्यरत्नाकरः,
 स श्रीमान् शिवदः सदैव भवतु श्रीवर्धमानोऽपि* वः ॥१॥ (शाकुल०)
 भव्येभ्यः सुखदां जिनेन्द्रमुखजां वाचं निशम्योन्नतां,
 प्रव्रज्यां प्रतिपद्य वीरविभवे येनाऽर्पितं जीवनम् ।
 यन्नामाऽपि निहन्ति पापतिमिरं मार्तण्डरश्म्योघवद्,
 वन्देऽहं गुरुगौतमादिगणिनां वृन्दं सदा तन्मुदा ॥२॥ (शाकुल०)

सर्वोऽपि संविग्नमुनिव्रजोऽयं, येषां प्रविष्टः पृथुसंततो हि ।
 ते पञ्चमाः संयतवृन्दताताः, पान्तु सधर्माख्यगणाधिपः वः ॥३॥ (इन्द्रवज्रा०)
 येन स्वभार्या-जनकादिना वै, साकं गृहीतं चरणं जिनोक्तम् ।
 जम्बूः स कम्बुप्रभशुभ्रकीर्तिः, कैवल्यधामा चरमः पुना तु ॥४॥ (इन्द्रवज्रा०)

प्रभवविभवो जम्बूहर्म्यं प्रविश्य निशि ध्रुवां,
 ध्रुवपदविदां सम्यग्गर्त्नत्रयीमृपलेभिरे ।
 मनकजनकाः श्रीमच्छायम्भवाश्च भवच्छिदः,
 शशधरसितलोका भद्रं दिशन्तु सतां सदा ॥५॥ (हरिणी०)

* तत्पद्मण्डनो विद्वान्, महिमगुणभाजनम् । भद्रं तनोतु सर्वेषां, यशोभद्रगुरुध्रुवम् ॥६॥

* सम्भूतिविजयस्तस्य, विनेयोऽभूच्छिवङ्करः । प्रवाजको हतानङ्गस्थूलभद्रस्य पातु वः ॥७॥

* सुव्रतरत्नाकरे येन, निर्युक्तितीर्थमारचि । जयतु भद्रबाहुः स, भगवान् श्रुतकेवली ॥८॥

वेश्यामङ्गोऽप्यविचलचरणः फ्लुष्टकामो हि योऽभूत्,
 पूर्वाणां हि प्रकरमविकलं ज्ञातवान् सुव्रतश्च ।
 सिद्धान्ताब्धेरपरतटमितः कामयोधं विहन्तुं,
 शक्तिस्तोमं स वितरतु सतां श्रीयुतस्थूलभद्रः ॥ ९ ॥ (चित्रलेखा०)

* अपिशब्दोऽन्येषां तीर्थपतीनां समुच्चये । ❀ अनुपदुञ्चत्तम् ।

आद्यशिष्यस्तदीयो यो, जिनकल्पं तुतोल सः ।

महागिरिः शिवं दद्यात् , मुहस्तिगुरुबान्धवः ॥१०॥ (अनुष्टुप्चतुष्टम्)

सुस्थित-सुप्रतिबद्धौ, कोटिक-काकन्दिकौ ततो जातौ ।

श्रीवीरनवमपङ्के, यत् उदितः कोटिकाभिधगणोऽयम् ॥११॥ (गीति०)

इन्द्रदिग्गुरुस्तत्र, श्रीदिग्गुरुवस्तथा ।

श्रीसिंहगिरिनामानो, जाताः क्रमाज्जयन्तु ते ॥१२॥ (अनुष्टुप्चतुष्टम्)

जातिस्मृत्या शिशुरपि भृशं संयमार्थं करोद्,

प्रयज्योच्चैर्देशं भणितवान् सार्धपूर्वाणि यथा ।

तीर्थोद्योतं व्यधितं च यतो वज्रशास्त्रोत्थितेयं,

वज्रस्वामी स भवतु सतां वज्रबन्धो विरक्त्यै ॥१३॥ (मन्दाक्रान्ता०)

श्रीवज्रसेनो जितमोहसेनो, ज्ञाताख्यस्तत्रप्रतिवादिजेता ।

सोपारके यश्चतुरो द्विदक्षे, वित्ताख्यपुत्रान् स ददात् मेधाम् ॥१४॥ (इन्द्रवज्रा०)

जातं हि कुलचतुष्कं, तच्छिष्येभ्यः सुविस्तृतं तत्र ।

यस्मान्चान्द्रमिदं निर्गतं स चन्द्रगुरुवतु सदा ॥१५॥ (गीति०)

चन्द्रनाम्नि कुले येऽस्मिन्, जातास्तीर्थधुरंधराः ।

नैके सामन्तभद्राद्याः, सूर्यस्ते पुनन्तु वः ॥१६॥ (अनुष्टुप्०)

वीराद्भूतत्र युगान्धि(४४)संख्ये, पङ्के तपोगच्छसुषुक्षमूलम् ।

स श्रीजगच्चन्द्रगुरुस्तपस्वी, पातु कियोद्धारवतां पुरोगः ॥१७॥ (इन्द्रवज्रा०)

पङ्के गजेषु(५८)प्रमिते हि वीराद्, गच्छेऽत्र जातः प्रभुदीरसूरिः ।

प्राबोधयथो यवनाधिराजं, प्रेक्षावदर्थ्यः स तनोतु धाम ॥१८॥ (इन्द्रवज्रा०)

पङ्कपरम्परयैवं, बभूव पावकहय(७३)परिमिते हि पट्टेऽत्र ।

धीरो वीरो विबुधः, श्रीविजयानन्दसूरोन्द्रः ॥१९॥ (आर्या०)

लुम्पाकाख्यं कुमनममकृत् खण्डखण्डं विधाय,

मूर्त्यर्चा श्रीसमयवचसा येन सिद्धान्तित्ता च ।

आत्मारामेति मधुरगिरा संस्तुतो यस्तु लोकैः,

स न्यायाम्मोनिधिरिति युधैर्व्याहृतः पातु युष्मान् ॥२०॥ (मन्दाक्रान्ता)

तत्पङ्कमण्डनसुधीर्मुनिबृन्दसेव्य-शारिष्वार्थिशमकृद्भूतनिःस्पृहत्वः ।

सूरीन्द्र इन्द्रवदनः कम्पलाभिधानः, श्रेयः सदाऽपि वितनोतु स देहभाजाम् ॥२१॥ (वसंत०)

वीराच्छरोदधि(७५)मिते श्रुतार्द्धवेदी, ज्योतिष्कविच्च कमलाभिधसृष्टिपट्टे ।

श्रीवीरपूर्वविजयोत्तरपाठकानां, सूरीन्द्रदानविजयो हि बभूव शिष्यः ॥२२॥ (यसंत०)

स श्रेयसेऽस्तु सततं समजायतोच्चैः, मरुवृणिन्भाष्य-विद्युतिप्रसुखं प्रमथ्य ।

यद्दत्तसूतस्यभूदनिबद्धमाला, तच्च वृभृन्पुङ्गवितानां वरपाठमाला ॥२३॥ (यसंत०)

(युग्मम्)

तत्पट्टे जयति प्रशस्तचरणः श्रीश्रेयससूरिप्रभुः,

सेव्यः मार्गशतद्रयाधिकसृष्टिनिघ्रातेन वाग्मन्यभूः ।

कर्मघ्रातविदाणैकसुभटः सर्वत्र वै सम्मतः,

कर्मग्रन्थविचारणेऽतिचतुरः पिद्धान्तपारङ्गनः ॥२४॥ (शार्दूल०)

काणार्द्धरसुमद्गणानतिगतं माण्ड्यैः प्रधानोद्भवं,

योगान्तरमते किमप्यदिमतं यद्वापनार्थज्ञकम् ।

मायाह्वं तु मतं कथञ्चिदपि यद् वेदान्तिकैश्चान्मनो,

मुक्त-ऽमुक्तविधेः प्रणायकममत् तच्च हि यस्यां तद्वत् ॥२५॥ (शार्दूल०)

हृद्याद्युक्तिभगदपाकृतमतिप्रौढप्रविज्ञायुतात्,

सूक्त्या पौद्गलिकं जिनेन्द्रवचनाज्जातं च संस्थापितम् ।

स्याद्वादप्रतिभाभृता विरचिता सा कर्मसिद्धिस्तथा,

भृष्टं चारु च येन यन्त्रकलितं सत्संकमश्रन्धनम् ॥२६॥ (शार्दूल०)

(युग्मम्)

दूर्ध्वं च भार्गणाक्षर-चिक्वरणं सुविस्तृतम् । अन्यान्यग्रन्थकृत्प्रोक्त-नियुक्त्यादिसमन्वितम् ॥७२॥ (भनु०)

किं बहुना भणितेन खलु प्रथितेन हि येन बुधप्रभुणा,

स्त्रीयमनोजमतिश्रमगुम्फ्यमिदं वरधन्धविधानमरम् ★ ।

गुम्फयितुं मुनिवर्गमिहाऽध्ययनादिभूतंसततं प्रणतं,

वीक्ष्य नियुज्य निजे च करे प्रविधाय कुशां □ रचितं विशदम् ॥२८॥ (मदिरा०)

गृहस्थितम्बपित्रेऽपि, मद्गतेरनुबन्धिनी । संस्तारकस्य दीक्षा हि, दापिता येन धीमता ॥२९॥ (भनु०)

येन व्यवधि जिनबिम्बगृहप्रतिष्ठा, दीक्षाविरोधनियमस्य विरोधनं च ।

अन्यत्कृतं बहुविधं प्रवचःप्रभावि, ब्रूमः कथं यदनलो शिषणोऽपि यत्र ॥३०॥ (यसंत०)

शिष्यस्तदीयोऽपि हि भ्रानुनासा, पन्थासमुख्यो . जितभानुधामा ।

नक्तं दिवं तच्चविभासकत्वाद्, भव्योपकारव्यसनीव भाति ॥३१॥ (इन्द्रवज्रा०)

★ अद्वितीयवर्थः, उक्तं च—“द्राक् स्नाग-रं अद्विन्याशु” इत्यादि । □ सूत्रम्, व्यवस्थामिति यावद्

येनाऽप्यनेके सरलाः समर्था, बालावबोधो रचिता हि हृद्याः ।

श्रीपञ्चसूत्रप्रमुखस्य भाषा, टीकाश्च भाष्यादि दोहनाद्याः ॥३२॥ *

ग्रन्थाः स पातु प्रगुरुर्यशस्वी, व्याख्याविधाने निपुणस्तपस्वी ।

त्यक्तप्रमादो गुरुपादवासी, सत्तर्कवेदी सततं हि युष्मान् ॥३३॥ *
(युग्मम्)

आसीत्तदीयोऽपि य आद्यशिष्यो, भ्राता कनीयान् सहदीक्षितश्च ।

सारन्यकृष्णाऽखिलमाधुचित्तो, वैराग्यदीप्त्या सततं च दीप्तः ॥३४॥ *

गच्छस्य भक्त्यै कृतमुप्रवासः, संप्राप्तगच्छाधिपचित्तदासः ।

दोहं निशोधप्रभृतेर्व्यथाद्यः, पन्वासपद्माख्यगुरुः स पातु ॥३५॥ *
(युग्मम्)

सुमुक्षुप्रजायाश्चरित्रस्य शत्रुर्धरनन्यस्य तस्य प्रभोः पद्मनाम्नः ।

जगच्चन्द्रनाम्ना विनेयेन हृद्याऽनवाप्तेऽपि तत्त्वे गुरुणां प्रभावात् ॥३६॥ सुजङ्गम०

पूज्यानुरोधेन तदीयतुष्ट्यै, अन्यान्यशाम्बाद्रुपलब्धतत्त्वम् ।

आदाय सम्यग् रचिता मयैषा, प्रेमप्रभाख्या स्थितिवन्धटीका ॥३७॥ *
(युग्मम्)

निष्ठापितेयं स्वयं श्रीगर्वे हस्तीभवेदाक्षि(२४८८)मिते सुरम्ये ।

मासे च शुके मरुदेशमध्ये, वेङ्काल्यपुर्या वसता दुःखेन ॥३८॥ *

संशोधितेयं तु गणाधिपैर्हि, श्रीप्रेमसूरिप्रभुभिश्च तज्जैः ।

शिष्यैस्तदीयैः समयार्थविद्धिः, सूरिन्द्रजम्बूविजयैः परैश्च ॥३९॥ *

आगमकर्मप्रकृतिप्रमुखेषु च तेषु तेषु शास्त्रेषु ।

सूक्ष्मधियां गम्येषु विहितानिशाधिप्रयत्नैर्हि ॥४०॥ (पञ्चा०)

पेश्चि जयघोष-धर्मानन्दविजय-वीरशेखरप्रमुखैः ।

महवर्तिमुनिप्रवरैः कृतवर्त्नैः सापयोगैश्च ॥४१॥ (पञ्चा०)
(त्रिभिर्विशेषकम्)

दृष्टा पुनः सा हि मयोपयोगात्, तर्ह्यप्यवश्यं स्वलनाः स्युरत्र ।

छाद्यस्थयमख्यो मतिमान्धजा वा, ज्ञात्वाऽप्यनेयाः कृपया वृद्धस्ताः ॥४२॥ *

यतः—

“गच्छतस्सखलनं क्वापि, भवत्येव प्रमादतः । इमन्ति दुर्जनास्तत्र समादधन्ति सज्जनाः ॥१॥” इति ।

मुद्रापिता मरुधरस्थितपिण्डवाद्या-

सङ्घे सुरम्यनगरे वसताऽऽर्हतेन ।

ज्ञानार्थमश्वितवनात् खलु सङ्घकेन

श्रीतीर्थकृत्-सुगुरुवृद्धिभक्तिकेन ॥४३॥ (वसन्त०)

तथाहि-

यत्पादभक्त्या भूवि भव्यलोकाः, मत्कीर्तिकान्त्यादियुता भवन्ति ।

पुण्यात्तु शं यो जिनवर्धमानः, श्रीपिण्डवाद्यापुरमण्डनः सः ॥४४॥ (इन्द्रवज्रा०)

विक्रमीयपञ्चदशशताब्दी धर्मकर्मव्यवनिता प्रस्फुरद्देहकान्तिना धनाढयेन मंघपतिना कुंर-
पालेन तथा सुगुणगणनिभृतेन मुनयामवित्तेन नज्जनश्रेणिपुत्र्येण श्रीमता लौबाभिधानेन व्यव-

१०० प्राग्वाद्यंशे व्यवहारिस्तागावृत्तुः प्रसूतोऽज्ज्वलकान्तकीर्तिः ।

श्रीपुण्यपूर्णोऽजनि पूर्णसंहस्तस्य प्रिया जालहरादेवीनाम्नी ॥ १ ॥

(१) तद्गुरुचंद्रास्तनरुद्रम क्रियाकलापः किल कुंरपालः ।

जाया च मायादिकदोषमुक्त्वा तस्याभवत् कामलदेवीनाम्नी ॥ २ ॥

सूदयी सदयी वामामृतैः सृष्टिती लोकद्विती सतां सती ।

सुनयो विनयोवितीचणी भिजयेते तनयो तयोरिमौ ॥ ३ ॥

तत्राय. सुजनश्रेणीस्तेन रत्नाभिधो धी । वदन्पुत्रावृद्धयो राजमान्यो धियां निधिः ॥ ४ ॥

द्वितीयस्तु द्वितीयेंदुकान्तिकान्तगुणावहः । धरणाः शरणं श्रीणां प्रवीणः पुण्यकर्मणि ॥ ५ ॥

रत्नादेवो धारलदेव्यो जन्यो (पत्न्यो) नयोऽनुक्रमतः । समभूतामतिनिर्मलशीलालङ्कारधारिण्यौ ॥६॥

रत्नस्य पुत्रा एते साया-सलषा मनाह्व-सोनाख्याः । शांतस्वभावकलिता गुणतरुमलयाः कलानिलयाः ॥७॥

इतश्च—

श्रीप्राग्वाद्याभिधज्ञातिशृङ्गशृङ्गारशेखरः । पूराऽभूमहृणानामा व्यवहारी वरस्थितिः ॥ ८ ॥

तस्य जोलाभिधः सूनस्तपुत्रो भावठोऽशठः । तस्याभीज्जाडणादेवी भार्या चार्या स्वभावतः ॥९॥

तदीयपुत्रः सुगुणैः पवित्रः, सौजन्यचित्तः सुनयाप्रवित्तः ।

लौबाभिधानः सुकृतिप्रधानः, सत्कार्यधुर्यो व्यवहारधर्यः ॥ १० ॥

नयणादेवी नामलदेवीति स्मृतसंज्ञिके तस्य । दयिते दययोपेते शीलाद्युद्दामगुणकलिते ॥ ११ ॥

नयणादेवीतनुजो मनुजोचितचारुलक्षणोपेतः । समरो भ्रमरो गुरुजन-जननी-जनकादिपदकमले ॥१२॥

भीनकान्तगुणख्याते प्रजापालतलालसे । हाजाभिधे धराधीशे प्राज्यराज्यं च कुर्वति ॥१३॥

भाम्यासुभाम्यां धनिकुंरपाल-लौबाभिधान्यां सदुपासकाभ्यां ।

प्राप्तेऽभिमे पिण्डरवाटकाल्ये प्राप्ताद्भूमिरुदधारि सारः ॥ १४ ॥

धिकनाद्या गनर्द्धांश्विभूनिने (१४६५) वत्सरे तथा । फाल्गुनाख्ये शुभे मासे शुक्लायां प्रतिपत्तिथौ ॥१५॥

कल्याणवृद्धपद्भुद्वैकदायकः शोवर्धमानधरमो जिनधरः ।

श्रीमत्तपःसंयमधारिसूरिभिः प्रतिष्ठितः स्पष्टमहामहादिह ॥ १६ ॥

धारशीनुसमयादनया श्रीवर्द्धमानजिननायकमूर्त्या । राजमानसभिनंदतु विश्वानंदबायकमिदं वरचैत्यम् ॥१७॥ श्रीः ॥

इति पिण्डवाद्याश्रीमहाविरजिनप्राप्तादभित्तिगतप्राच्यो लेखः ॥

(अर्द्धुंदाचलप्रदक्षिणाजैनलेखसंशोदे लेखांकः ३७४)

हारिवर्येण तथैव संघपतिकुरपालपुत्रेण नलिनीशुल्मत्रिमानालुकारि-जगज्जनचेतोहारि- 'त्रैलोक्य-
 क्षीपकनामप्रासादाद्यनेकनव्यजिनप्रासादविधायक--ऽजाहरीप्रमुखबहुस्थानजीर्णजिनभवनोद्धारणा-
 ऽऽचार्यप्रमुखपदवीप्रदापन-विषमसमयसत्रागारप्रवर्तनादिनानाविधसत्कार्यप्रवणेन प्राग्वाटवंशमण्ड-
 नेन परमार्हतेन संघपतिना श्रीधरणाकेन* व्यवहारिवर्य-वदान्यजनमूर्धन्य-राजमान्य-रत्ना-
 भिधस्त्रज्येष्ठबन्धुमहिनेन मरुधरधरणीमीमन्तिनीललालतिलकायमाने मन्कृत्यसंचितपुण्यप्रचयैर्भव्या-
 शर्यभृरिभिर्भव्यजनैः मंकुलिते पिण्डवाडानाममुग्रामे पूरा जीर्णशीर्णतां गतस्य यस्य विश्वा-
 नन्ददायकस्य त्रिभुवनपतिश्रीवर्धमानस्वामिप्रासादस्य उद्धारः कारितः, यत्र च प्रासादे पञ्चपट्य-
 धिकचतुर्दशशतमंख्याके (१४६५) विक्रमाब्दे फाल्गुन-प्रतिपत्तिथौ शुभे मुहूर्तेऽर्हदाज्ञाप-
 र्पालनः तर्जिनशायनप्रभावनाप्रवर्णस्तपस्यममूर्तिभिर्गुरुवर्यैः कल्याणवृद्धधर्म्युद्धैककारणस्य चरम-
 तीर्थपतेः प्रभोः श्रीमहावीरदेवस्य मनोहरमूर्तेर्महता महेन प्रतिष्ठा विहिता, तं तदा तदा स्वान्म-
 कल्याणकामिभिर्भर्त्सैर्भव्याङ्गिभिः कारिताभिरनेकाभिर्देवकुलिकाभिर्वेष्टितं कालप्रभावेन पुनरपि
 जीर्णशीर्णतामुपगतं विश्वानन्ददायकं जिनप्रासादं पिण्डवाडावास्तव्येनेदानीन्तनेन सङ्घेनानेन
 विद्वद्भार्याचार्यदेवशीर्षजयलक्ष्मिभूषणेश्वरवित्तेयमन्तोपाध्यायश्रीभुवनविजयानां ^ सदुपदेशादनेक-
 लक्षद्रव्यव्ययेन समुद्धार्य नवमिव रमणीयतमदेवभवनमिव निनिमेष निरीक्षणीयमिव वज्रिवज्रमिव
 सुदृढमभिनवमवसरण-डारत्रिक-त्रिचन्वारिण्युक्तं गशृङ्गकालितदेवकुलिकादि विभूषितं कारयित्वा विविध-
 कलाकलापकालितवरमण्डप-ध्वज-पताका-तोरणमाला-शोभाप्रतौलीप्रमुखविधापनम्, निरपायशुभमुहूर्त-
 न्वेषणम्, दुरान्तिक्षयामनगरस्थचतुर्विधमङ्गानां निमन्त्रणहेतोः कंकुमपत्रिकादिप्रेषणम्, उपस्थि-
 तानां च तेषां मन्करणम्, यथाशोभोत्तारकेपूजाणम्, घृतपूरा-ऽपूपादिस्वादुनानाविध-मिष्टान्नपूषिका-
 शाल्योदनादिप्रमुखभोज्यमामग्रीमुपकार्यतया विविधमुखवासद्रव्यैश्च चैतश्चमत्कारिण्या हृदयस्थ-

“.....अजाहरी पिंडवाटक-मालेरादिबहुस्थाननवीनजैनविहार-जीर्णोद्धार-पदस्थापना-विषमसमय-
 सत्रागार-नानाप्रकारपरोपकार श्रीसंघसत्काराद्यगण्यपुण्यमहायंक्रयाणकपूर्यमाणभवाणवतारणक्षममनुष्यजन्म-
 यानपात्रेणप्राग्वाटवंशवर्तस सं० सांगणसुत सं० कुरपाल भा० कामलदे पुत्र परमार्हत सं० धरणाकेन
 ज्येष्ठभ्रातृ सं० रत्ना भा० रत्नादे पुत्र सं० लापा-सजा-सोना-सागिल स्थभा० सं० धारलदे पुत्रजाज्ञा (जा)-
 जावडादिप्रवर्द्धमानमंतानयुतेन राणकपुरनगरे राणाश्रीकुंभकर्णेनरेन्द्रेण स्वताम्ना निवेशिते तदीयसुप्रसादा-
 देशतर्खलोक्यक्षीपकाभिधानः श्रीचतुर्मुखयुगादीश्वरविहारः कारितः, प्रतिष्ठितः श्रीचृत्तपागच्छे श्रीजगच्च-
 न्द्र [सू]रिशीदे]वेन्द्रसूरिसंताने श्रीमन श्रीदेवसुन्दर] सूरि [पट्टप्रभा] कर परमगुरु सुविहितपुरंद [रगच्छा]
 धिराजश्रीसो [म] सुंदरसूरि [भिः] ॥ ॥ [कृत] मिदं च मूत्रधारदेपाकस्य । अयं च श्रीचतुर्मुख-
 प्रासाद आचन्द्राकं] संव [ता] त् ॥ शुभं भवतु ॥ इति ॥

(प्राचीनलेखसंग्रहे राणकपुरलेखाः, लेखाङ्कः ३०७)

* धनाशापोरथा इति लोके प्रसिद्धताम्ना ।

+ प्रासादस्यास्य मूलनिर्मापकास्तु प्रासादगततथाविधलक्षणप्रवृत्तलोकवचनात् श्रीसम्प्रतिनृपतय ज्ञायन्ते ।

^ इदानीं खेते आचार्यविजयमुवनतिलकसूरीति ख्याताः ।

भवत्यात्रेगावेदिन्या पद्मन्या मङ्गाग्रणीभिः स्वहस्तेन साधर्मिकवात्मन्यादिलक्षणानां जेमनधाराणां प्रवर्तनम्, भायुकवालमुग्धजनप्रबोधनहेतूनामार्द्रकुमारप्रतिबोध-इलाचीकुमारकेवलज्ञान-मेघाथनृप-कृतजीवरक्षण-त्रिशलादेवीस्वप्नदर्शन-श्रीवीरविभुकेवलज्ञान-धरणेन्द्रपञ्चावतीकृतश्रीपार्श्वजिनमन्त्रि-प्रमुखानां नानाविधप्रसङ्गानां चलाऽचलपुत्तलिका-चित्रादिना विरचनम्, ममप्रजिनप्रतिमादीनां बहुमूल्याङ्गरचनाविस्तारणम्, तदग्र्येऽनेकविधाऽशनद्रव्य-कलादिर्हाकनपूर्वकं बहुविधवाजिन्त्रभग्ग-दुःखदुष्पीतमानादिना लक्ष्मणादीनां निवर्तनम्, शीना-ऽनाथप्रमुखजनानामाहारादिप्रदानेन संतोषणम्, सर्वदिग्गमादिप्रवर्तनम्, अनेकविधवर्धापनादिना देवद्रव्यादीनां वृद्धिकरणमित्यादिलक्षणेन त्रयोदशाह्निकेन महता महेन वैश्वानरादिधिपूज्याचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रोदेवसूत्रिय-पंन्यामप्रवर-श्रीमानविजयगणीन्द्र-पंन्यामश्रीकान्तिविजयगणिवर-पंन्यामश्रीभद्रंकरविजयगणिवर-पंन्यामश्रीचिदा-नन्दविजयगणिवर-पंन्यामश्रीमलयविजयगणिवर-पंन्यामश्रीहिमन्तविजयगणिवर-पंन्यामश्रीमुक्तिविजय-गणिवर-पंन्यामश्रीत्रिलोचनविजयगणिवर-पंन्यामश्रीहिमांशुविजयगणिवर-पंन्यामश्रीभानुविजय-गणिवर-पंन्यामश्रीपद्मविजयगणिवरप्रमुखाऽनन्पगुणमरीष्टस्थत्रिबालवृद्धशतातीतशिष्य-प्रशिष्यमुनि-धृन्दपरिवृत्तेर्न्यायाम्भोनिधिश्रीमद्विजयानन्दसूरीश्वरपट्टप्रभाकरनिस्पृहशिरोमणिसुविहिताग्रण्या-चार्यदेवश्रीमद्विजयकमलसूरीश्वर इडालङ्कार-वाचकवश्रीमद्वोरविजयविनेयरत्न-मकलागमरह-स्यवेदि-परमज्योतिर्विन्ध्यीमद्विजयदानसूरीश्वरपट्टविभूषणैः वचनवारिवर्षणाधरीकृतहिमानीशैर्ष्य-विश्वविख्यातनिष्कलङ्कचरणविभवैः सर्वजनमम्मतैः स्वदर्शनेन प्रायो दृष्टानामपि प्रीतिकारकैरहनिश-मनेकविबुधश्रमणश्राद्धसंसेवितपादपद्मैः कारुण्यनीराऽऽपूरितहृन्सरैः भव्यजनचकोरचेतश्चन्द्रैः काम-कथाशितव्यथामथनैकधरैः सुविशालगच्छाधिपतिभिः श्रीमद्विजयमेवसूरीश्वरैः गुरुवर्यैः श्री-वीरप्रभोः मूलविम्बं षोडशाभ्यधिकमहस्रद्वयाङ्किते (२०१६) विक्रमान्दे वैशाखमासे शुक्लपक्षस्य षष्ठ्यां तिथौ शुभे मुहूर्ते प्रतिष्ठापितम् । प्रतिष्ठापितानि च तदानीमेवान्यानि श्रीगोडीपार्श्वनाथ-स्वामि-श्रीमम्भवनाथस्वामिप्रभृतीनां जिनपतीनां पुरातनानि तथा तैस्तैः श्राद्धवर्यैः कारितानि यथो-क्तलक्षणे महामहे प्रवर्तमाने वैशाखशुक्लतृतीयाया रजन्यां प्रशस्ते मुहूर्ते तैरेव गच्छाधिपगुरुवर्यैः कृतप्राणप्रतिष्ठानि भव्यजननयनानन्ददायीनि श्रीशान्तिनाथस्वामिप्रमुखानां तीर्थपतीनां पञ्चपञ्चाश-दभ्यधिकान्यभिनवानि विम्बान्यपि तत्रैव देवकुलिकादिषु भवजलधिं निस्तरितुं कामेन मङ्केना-नेन । आरब्धं च तेषामेव गुरुवर्याणामुपदेशाजीर्णप्रायस्य मंनिहितवर्त्यजारीग्रामस्थद्विपञ्चाशजिन-ग्रामादस्योद्धारकार्यमविलम्बेन । कारितानि च सुबहुमुनिगणपरिकरितानां तेषामाचार्यदेवानामन्येषां मुनिपुङ्गवानां च वर्षावासावस्थानान्यपि कल्याणकामेन, हांकितानि च तदानीं स्वगृहाङ्गणे निमन्त्र्य निमन्त्र्य विपुलवस्त्र-यात्रा-ऽशन-पानी-पधादीनीव स्वकीयानि लघ्वपत्यानि चरणासेवनसमुत्सुकी-कृतुं जिनवचनश्रवणप्रवणेन मङ्केनानेनाचार्यदेवपादमूले, किं बहुना प्रव्राजितान्यपि निजलघुबाल-रत्नानि तद्गतैः कैश्चित् श्राद्धसत्तमैः ।

इह च-

सप्तदशयुतसहस्रद्वयमिते (२०१७) विक्रमान्दे सङ्घाप्रहातिरेकाद् वर्षावासं स्थितवति बहु-
शिष्यप्रशिष्यादिसमन्विते गच्छाधिपतौ भगवति आचार्यदेवे श्रीमति प्रेमसूरीश्वरप्रभौ, ज्ञात्वा दृष्ट्वा
चामीषां बन्धविधान-सटीकाप्रभृतीनां ग्रन्थरत्नानामभिनवाऽऽलंखनादौ प्रवर्णं मुनिवर्गमालोच्य
च तेषां ग्रन्थरत्नानां संरक्षण-प्रसारणताऽऽवश्यकतां पूर्वसञ्चिताज्ज्ञानद्रव्यादस्य सटीकमूलप्रकृति-
स्थितिबन्धग्रन्थस्य मुद्रणाद्यर्थं विहिता परिपूर्णद्रव्यसहायता निजाऽज्ञानकन्मपप्रक्षालने मुना
सङ्घमद्वारकेणेति ।

आदौ मध्यऽन्त्ये वा कुत्राप्यस्यां समस्तटीकायाम् ।

यज्जिनवचनार्तीतं किमपि स्याद्भवतु तन्मिथ्या ॥४५॥ (पद्या०)

याद्भूकजकर्णिकास्त्रममरप्राव्या समाचर्यते,

यावद्भूकमलाकटी जलधिना कार्श्वीत्वमारच्यते ।

यावच्चेन्दुदिवस्करौ बिलसतस्तावद्धि नन्दत्वियं,

श्रीमूलस्थितिबन्धवृत्तिरनघा प्रेमप्रभासंज्ञका ॥४६॥ (शाब्दुल०)

मूलस्थितिबन्धविधेर्विधाय टीकामिमां मयाऽऽप्तं यत् ।

कुशलं तेनोच्छिन्नस्थितिबन्धं भवतु भव्यजगत् ॥ ४७ ॥ (पद्या०)

सयन्त्रष्टिके हस्मिन् , ग्रन्थे सहस्रविंशतिः । अनुष्टुप्चतुष्टुमानाद्धि, ग्रन्थाग्रमनुमीयते ॥

। तदेवं श्रीबन्धविधानमूलप्रकृतिस्थितिबन्धटीकायां प्रशस्तिः समाप्ता ।

॥ तदेवं श्रीबन्धविधाने मूलप्रकृतिस्थितिबन्धप्रेमप्रभाटीका समाप्ता ॥

तत्समाप्तौ च

समाप्तः

प्रवचनकौशल्याधार-सुबिद्धितामणी-गच्छाधिपति-परमशामनप्रभावकसिद्धान्तमहोदधि-कर्मशास्त्रनिष्णाता-

ऽऽचार्यदेवश्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरपादानां पवित्रनिश्वासां तदन्तेयामिन्दुविनिर्मिते मुनिश्री-

जयघोषविजय-धर्मनिन्दविजय-वीरशेखरविजयसंगृहीतरदार्यके मुनिश्रीवीरशेखर-

विजयधिराचिनमूलगाथाके प्रेमप्रभाटीकाविमूषिते

बन्धविधाने

मुनिश्रीजगन्चन्द्रविजयधिराचिनप्रेमप्रभाटीकासमलङ्कृतः

मूलप्रकृति-

स्थितिबन्धः

★ ॐ परिशिष्टानि ॐ ★

❀ प्रथमं परिशिष्टम् ❀

बन्धविधानमूलप्रकृति-दिश्रितियन्धमेसप्रभाटोकागत-ग्रन्थान्तरावतरणानां स्थानानि ।

ग्रन्थनाम	पत्राङ्कः	ग्रन्थनाम	पत्राङ्कः
अनुयोगदारसूत्रमूलम्-१७९, ६३१.		नवतत्त्वप्रकरणमूलम्-२८, ४८, १०६.	
अभिधानचिन्तामणिकोशः-५, ५९८.		प्रज्ञापनासूत्रमूलम्-१२२, १२६, १६४, १६५, १६६, १६७, १६८, १६९, १७०, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५, १७६, १७७, १८१, १८२, १८३, २८७, २९७, ३११, ३७०, ४४४.	
आचाराङ्गनियुक्तिः-११६.		—टीका(मलयगिरीया)-४८, १०६, १२४, १५५, १६०, १६७, १७४.	
आयश्चकचूर्णः-४४४.		पञ्चसंमहमूलम्-८०, ९५, १२७, १६९, २३१, ३१२, ४९७.	
उत्तराध्ययनसूत्रमूलम्-८२, ८३, १२०.		—मूलटीका-१७५, १७८, ३४९, ४५२.	
उपदेशसप्ततिका-५.		—टीका(मलयगिरीया)-६८, ७०, १०९, १७५, २३१, ३०६.	
कर्मप्रकृतिमूलम्-४३५,		पञ्चवस्तुकप्रकरणमूलम्-२६५.	
—श्रृणु-९, १२, १६, २३, २६, २९, ३१, ३२, ३३, ३६, ३८, ४, ४५, ४७, ४८, ४९, ८०, ९२, ३२२, ३७७, ६२५, ६२६, ६२७, ६२८, ६२९, ६३६, ६३७, ६३८, ६३९, ६४०, ६४२, ६४४, ६४५, ६५०, ६५१, ६५२, ६५९.		पञ्चसंयतप्रकरणमूलम्-९६.	
—श्रृणुटीकामूलम्-६०५, ६३६.		बन्धस्वामित्वमूलम् (श्रीदेवेन्द्रसूरिकृतं)-८३, १२२.	
—टीका (मलयगिरीया)-२८, ३७, ४०, १६४, ६३७, १६४.		—अवचरिः-८३.	
—टीका (उपाध्यायीया)-४३५.		बृहत्कल्पसूत्रमूलम्-१८३.	
कषायप्राभृतमूलम्-२८७.		बृहत्संमहणीमूलम् (श्रीजिनभद्रगणिकृतं)-९५.	
—श्रृणुः-९३, १३२, १३३, १८३.		—टीका(मलयगिरीया)-३१३.	
कर्मविपाकटीका (श्रीदेवेन्द्रसूरिकृता)-७१.		बृहत्संमहणीमूलम् (श्रीचन्द्रविप्रगितं)-५, ८१, ८३, ८४, १२०, १६७, १७०, १७८, १७९, २०६, २२६, ३१२, ३१३, ३२०, ३२७, ३३१.	
गुणमालावृत्तिः-२६५.		महाबन्धमूलम्-६३६, ६३७.	
जीवसमाप्तमूलम्-९५, १६६, १६९, १७५, १८३, २६१, २९५, २९९, ३१३, ३४६, ३४९, ३६९, ३७०, ४४५, ५०८, ५९८, ६००.		योगशास्त्रटीका-३१८.	
—टीका-१८०, ५९७, ६०४.		लोकप्रकाशः-८२, १११, ११५, २०६, २३१, ३२०.	
तत्त्वार्थाधिगमसूत्रमूलम्-३, ४८.		क्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रमूलम्-८२, ९४, २०३, २६५, ३४७, ३४८, ३५०, ३६९, ३७०.	
—भाग्यम्-१७१, २९५.		—टीका (अभयदेवसूरीया)-७०, ८४, २०३, २१२, २६५, २८६, ३४८.	
—टीका-४, २९६, ३८३.			
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्-३२८.			
नन्दिसूत्रमूलम्-१०६.			

ग्रन्थनाम	पत्राङ्कः
विशेषावश्यकभाष्यम्-५, ११३, ११४, १६३, ६२९, ६३०.	
—टीका (मल्लधारीया)-१४, ११३, ११४.	
शतकमूलम् (प्राचीनं)-१०९, १२८.	
—चूर्णिकाः-७३, ८५, १०६, १०७, १०९, १२२, १२८, १३०, १५०, ३८३, ४४०, ५३९.	
—चूर्णिकाटीप्पनम्-३८४, ६२६.	
—भाष्यम्-१०, ६८.	
—टीका-४, ९, २४.	
शतकमूलम् (नव्यं)-७४, ८४, ८८, १७२.	
—टीका-७४, १०९.	

ग्रन्थनाम	पत्राङ्कः
पदशीतिमूलम् (श्रीदेवेन्द्रसूरिकृतं) ८७, १३०.	
—टीका-८७, ८८.	
षट्खण्डागममूलम्-६३८.	
स्थानाङ्गसूत्रटीका-१५५.	
समवायाङ्गसूत्रमूलम्-१८२.	
सप्ततिकाचूर्णिकाः-११७.	
सप्ततिकाभाष्यवृत्तिः-४५२.	
सिद्धप्राभृतमूलम्-३७७.	
—टीका-३७७.	
सिद्धहेमशब्दानुशासनम्-३, ४, ५, ९, १०, १११, ३२४, ४६८.	

॥ इति प्रथमं परिशिष्टम् ॥

❀ द्वितीयं परिशिष्टम् ❀

‘उवओगेऽणगारे’ इत्यादि (८५८) गाथोक्तसाकारा-ऽनाकारोपयोगपदार्थविषयकशङ्कासमाधानप्रतिपादकः श्रीमन्सुनिचन्द्रसूरिपादप्रणीतकर्मप्रकृतचूर्णिकाटीप्पनस्य ‘अणगारप्पाओगे’ इत्यादि-कर्मप्रकृतिबन्धनकरणगाथात्रलम्ब्येकदेशः ।

“अथ-‘अणगारप्पा(प्पा)ओगे’ इत्यादि-प्रकृतिव्यतिरिक्ता(—?) गाथा किञ्चिद् भाव्यते,—अत्र कश्चिच्चाह—अनाकारोपयोगे प्रायोग्याणि स्थितिबन्धस्थानानि शुभास्वशुभासु च प्रकृतिसु द्विस्थानिकरसगतान्येषाऽनया गाथया निरूपितानि सन्ति, अथ च शुभप्रकृतिद्विस्थानिकरसबन्धकाले-ऽशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानिकरसविशिष्टानि स्थितिस्थानानि बध्यन्ते, अशुभप्रकृतिद्विस्थानिकरसबन्धकाले च शुभप्रकृतीनां चतुःस्थानिकरसविशिष्टानि स्थितिस्थानानि बध्यन्ते, अशुभप्रकृतिद्विस्थानिकरसबन्धकाले च शुभप्रकृतीनां चतुःस्थानिकरसविशिष्टानि स्थितिस्थानानि बध्यन्ते, अशुभप्रकृतिद्विस्थानिकरसबन्धकाले एक एवोपयोगो जीवस्य, तत्कथमनाकारोपयोगेन द्विस्थानिकरसविशिष्टेषु स्थितिस्थानेषु बध्यमानेषु विपक्षप्रकृतीनां चतुःस्थानिकरसविशिष्टानां बध्यमानत्वेन तदैव साकारोपयोगसम्भव इति । उच्यते—इह द्विधा व्यवसायाः, एकं तावत् कणायपरिणतिविशेषरूपाः, ये ज्ञानायपरिणतिप्रकृतीनां मूलप्रकृत्यपेक्षयाऽपटविधनया बध्यमानानामुत्तरप्रकृत्यपेक्षया तु पञ्चविध-नवविधादितया बन्धमागच्छन्तीनां स्थितिभेद-रसभेदविधा(न)यिनः

पृथक् पृथक् वर्तन्ते । अन्ये तु सामान्या(न्य)रूपस्य विशेषरूपस्य चार्थस्य ग्राहकत्वेन प्रवर्तमाना जीवचैतन्यविशेषाः प्रतिपाद्यन्ते इति । कणायपरिणतिविशेषा एवाऽध्यवसाया गृह्यन्ते, न तु चैतन्या(न्य)-विशिष्टवृत्तिरूपाः । साकारानाकारभावश्चानयो रसबन्धविशेषान्, तथाहि—ये आकारेण विशेषेण विशिष्टरसबन्धकत्वरूपेण सह वर्तन्ते ते साकाराः कणायपरिणामः (माः) । सामान्यस्यात्यन्तमनुत्कट-रूपस्य रसस्य ये बन्धकत्वेन वर्तन्ते तेऽनाकाराः । उपयोगश्चासीत् स्वकार्यकरणलक्षणो ग्राह्यः । साकाराणामध्यवसा[या]नामुपयोगस्योक्तलक्षणस्य बन्ध-प्रायोग्याणि यानि स्थितिबन्धस्थानानि तानि साकारोपयोगबन्धप्रायोग्याणीत्युच्यन्ते, न द्विपरीतानि चानाकारोपयोगबन्धप्रायोग्याणीति । न चैतलक्षणस्य साकारोपयोगस्य अनाकारोपयोगस्य च युगपत् प्रवृत्तावपि कश्चिद्विरोध इति ।”

॥ इति कर्मप्रकृतिचूर्णिकाविषयमटीप्पनैकदेशः ॥

॥ इति द्वितीयं परिशिष्टम् ॥

❀ तृतीयं परिशिष्टम् ❀

परिमाणादितत्त्वद्वारेषु तद्ब्रह्म्यादौ निरयगत्योधादिसप्तत्युत्तरशतमार्गणास्वविशेषेणाभिहितस्य
संख्येयाऽसंख्येयादिलक्षणस्य बन्धकपरिमाणस्य विशेषेणाऽवबोधार्थं
सावचूरिकं द्रव्यप्रमाणप्रकरणम्

नमिउं धरिहंताई सगुरुपसाया सुयाणुसारेण । गइआइट्टाणेसुं भणिमो जीवाण परिमाणं ॥ १ ॥
णिरये य पदमणिरये भवणवइसुरम्मि आइमदुकप्पे । अंगुलअसंखभागप्पसमित्ताड सेदीओ ॥ २ ॥
सेसणिरय-तइआइलकण-नरेसुं अपज्जमणुसे य । सेदिअमंगंसो सुर-वंतर-जोइससुरेसुं य ॥ ३ ॥
सव्वेसु पणिदित्तिरिय-अिगल-पणिदि-तसकाय-मण-वयणेसुं । चायरसमत्त-भू-दग-पत्तेअवणेसु विक्खियदुजोगेसुं
थी-पुरिस-विभंग-णयण-सुइलेसतिगेसु तइ य सण्णिम्मि । पयरअसंखंसदिअसेदिगवप्पसतुज्जाऽत्थि ॥ ५ ॥
संखेज्जा मणुसी-नरपज्जा-ऽवेअ-मणणाण-सव्वत्थे । मंयम-छेअ-समाइअ-सुहुमा-ऽऽहारदुग-परिहारे ॥ ६ ॥
सेसाणताइसुर-मइ-सुय-वहिदुग-वेसविरय-सम्मैसुं उ । पत्तासंखंसो अवसम-वेअग-खइअ-मीस-सासाणेसुं ॥ ७ ॥
चायरसमत्तयज्जिअ-भू-दग-गणि-वाउकायभेएसुं । पत्तेअवणम्मि य तदपज्जे लोगा अंसंखिज्जा ॥ ८ ॥
चायरपज्जाग्गिम्मि उ देसुणघणावलीअ समयमिआ । चायरपज्जाणीले संखंसो हुन्ति लोगरस ॥ ९ ॥
सेसाइतीसटाणऽणंता जीवा इयन्ति इइ रइय । अण्णावहारणट्टा रज्जे सिरिपेमसुरीणं ॥ १० ॥
ताण पसीसाण पउमविज्जयगणिदाण सीसलेसेण । दव्यप्रमाणपकरणं नन्दउ जा वीरजिणत्तित्थं ॥ ११ ॥

(प्रवचुरिः)

चरमं तीर्थपरित नत्वा, गच्छेशं स्वगुरुंस्तथा ।
ग्रन्थे द्रव्यप्रमाणाख्ये व्याख्या किञ्चिद्वितन्वते ॥१॥

इह लघु अवधारणाय । यथार्थाभिधानस्य द्रव्य-
प्रमाणप्रकरणस्याऽऽरिप्सया प्रथमं तावन् मङ्गला-
दिप्रतिपादिका गथाभिधीयते—'नमिउं' इत्यादि,

इह पूर्वार्धेन मङ्गल-सम्बन्धौ साक्षादुक्तौ, उत्तर-
ार्धेन त्वभिधेयम्, प्रयोजनं तु सामर्थ्यगम्यम् । तत्र
अरीणां-रानद्वेषान्तरशत्रूणां हननान्, यद्वा चतु-
स्त्रिंशत्सतिशयान् देवेन्द्रादिकृतां पूजां वाऽर्हन्तीत्य-
र्हन्तस्ते आदी वेपामर्हत्सिद्धाऽऽचार्योपाध्यायसाधूनां
तेऽर्हदाद्यस्तानर्हदादीन् 'नत्वा' कायवाक्प्रनोयौः
प्रणम्य 'स्वगुरुणां' भवविरागजनक-सम्यग्दर्शनज्ञा-
नादिप्रापकपोषकप्रव्रज्याप्रदायकादीनां गच्छार्थं प्रति
श्रीमत्प्रेमसूरीश्वरतातपादप्रभृतीनां प्रसादान् 'श्रुतानु-
सारेण' आगमार्थमतिक्रम्य 'गइआइट्टाणेसुं' ति
गत्या दीनि गतीन्द्रियकायादिलक्षणानि निरयगत्योद्य-
प्रथमद्वितो यपृथिव्यादिनिरयभेदादितदुत्तरभेदलक्ष-
णानि च यानि सप्तत्युत्तरशतमार्गणास्थानानि
तानि मध्यमपदलोपादृत्यादिस्थानानि तेषु 'जीवाण'

नि अस्मदादीनां कर्मनिगडनिबद्धानां प्राणिनाम्,
अनेन सिद्धानां व्ययच्छेदो बोद्धव्यः । तेषां 'परि-
माणं' संख्येयत्वा-ऽसंख्येयत्वादिलक्षणं संख्यामानं
'भणामि' ति 'सत्सामीप्ये' इत्याद्यनुशासनादनु-
पद भणिष्यामीत्याद्यगार्थः ॥ १ ॥

प्रतिज्ञातमेव निर्वाह्यज्ञाह—'णिरये'त्यादि,
निरयगत्योद्ये, प्रथमपृथिवीनिरयभेदे, भवनपति-
सुरभेदे, सौधर्मे-शानकल्पद्वयलक्षणे आशकल्पद्वये
चेत्येवं पञ्चमार्गणास्थानेषु प्रत्येकम् 'अंगुले'त्यादि,
अङ्गुलस्याऽसंख्येयतमे भागे यावन्तो नभः-
प्रदेशास्तावत्संख्याकासु सप्तरज्ज्वायतासु सूचि-
श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावन्तो जीवाः
मन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

'सेसणिरये' त्यादि, शेषेषु द्वितीयादिपृथिवी-
भेदभिन्नेषु षट्षु निरयेषु, तृतीयादिषु सनत्कुमार-
भाहेन्द्र-ब्रह्म-लान्तक-शुक्र-सहस्राराख्येषु षट्षु
कल्पेषु, 'नर' ति मनुष्यगत्योद्ये, अपर्याप्तमनुष्ये
चेत्येवं चतुर्दशमार्गणास्थानेषु प्रत्येकं 'सेदिअसंखंसो'

सि सप्तरज्ज्यायनाया एकप्रादेशिक्याः श्रेणः
'असंख्यंशः'—असंख्यभागगताः अशप्रदेशैः परिमिता
जीवाः सन्तीत्यर्थः ।

'सुरवन्तरे'त्यादि, देवगत्योषे, व्यन्तरसुर-ज्यो-
तिष्कसूरयोः, सर्वेष्वंश पर्याप्ता-ऽपर्याप्त तिरश्ची-
भेदभिन्नेषु पञ्चेन्द्रियनिर्यागभेदेषु सर्वेष्वोष-पर्याप्ता-
ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु 'विकस' त्ति द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय
चतुरिन्द्रियागतेषामेकैकस्य त्रिषु त्रिषु भेदेषु, तथैव
सर्वेषु त्रिसंख्याकेषु पञ्चेन्द्रियजातिभेदेषु, सर्वेषु
त्रिसंख्याकेषु प्रसकायभेदेषु, सर्वेष्वोषोत्तरभेद-
भिन्नेषु पञ्चसु मनोयोगभेदेषु, तथैव पञ्चसु वचो-
योगभेदेषु, तथा 'वायरसमत्ते'त्यादि, तत्र समाप्त-
शब्दः पर्याप्तवाची, ततो वादरपर्याप्तपृथिवीकाया-
ऽष्काययोः, वादरपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिक्राये, वैक्रिय-
तन्मिश्रयोगलक्षणयोर्द्वयोर्योगयोः, स्त्रीवेद-पुरुषवेद-
विभङ्गज्ञानेषु, 'रायण' त्ति चक्षुर्दर्शने, तेजः-पद्म-
शुक्ललेश्यालक्षणे शुभलेश्यात्रिके तथा संज्ञिनीत्येवं
परुचत्त्वारिंशन्मार्गणास्थानेषु प्रत्येकं 'पयरे'त्यादि,
घनीकृतलोकस्य यत्प्रतरं तस्यासंख्यांशस्थितासु
श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशस्तावद्भिर्नभःप्रदेशैस्तुल्या
जीवाः सन्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

'संखेज्जा' इत्यादि, मानुषी, पर्याप्तमनुष्यः,
अपगतवेदः, मनःपर्यवज्ञानम्, सर्वार्यसिद्धदेवः,
संयमौघः, सामायिकसंयमः, छेदोपस्थापनसंयमः,
परिहारविशुद्धिकसंयमः, सूक्ष्मसम्परायसंयमः, आह्ला-
रक-तन्मिश्रयोगलक्षणमाहारकद्विकं चेत्येवं द्वादश-
मार्गणास्थानेषु प्रत्येकं संख्येया जीवाः सन्ति ॥६॥

'सेसारासाई'त्यादि, भणितशेषेद्वानतकल्पा-
दिषु चतुरनुत्तरविमानान्तेषु सप्तदशसु सुरभेदेषु,
मतिज्ञान--श्रुतज्ञाना—ऽवधिद्विक-देशविरत सम्य-
कर्त्वांघेषु, तथा 'पञ्चासंखंसो' उवसमे'त्यादि, आप
शसिकसम्यक्त्वे क्षायिकसम्यक्त्व मिश्रदृष्टि सामा-
द्वन्द्वदृष्टिद्विव्येवमष्टाविंशतिमार्गणास्थानेषु पल्यो-
पमस्याऽसंख्यभागो जीवा ह्येयाः । इह हि 'सम्भे-
सु' उ' इत्यत्र तुकारो विशेषद्योतनार्थः, अर्थात् 'पञ्चा-
ऽसंखंसो' इति सामान्येनोक्तेऽपि भानतकल्पादि-

सप्तदशश्रेणो जीवाः सन्तीत्यर्थे इति सम्यक्त्वे च
'पञ्च' इत्यनेनाद्यापल्योपमो ग्राह्यः, शेषमतिज्ञानादि-
दशमार्गणास्थानेषु तु तत्र क्षेत्रपल्योपमो ग्राह्य
इति ॥ ७ ॥

'वायरसमत्ते'त्यादि, तत्र समत्तशब्दः प्राप्तवन्,
तत्रश्च वादरपर्याप्तभेदभङ्गितेषु ओष-वादरोष तदप-
र्याप्त सूक्ष्मौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नेषु 'सू-
हागणिव, युकायमेसु' ति पट्टेषु पृथिवीकायभेदेषु,
पट्टेषु अष्कायभेदेषु, पट्टेषु अग्नि-हायभेदेषु, पट्टेषु
वायु-हायभेदेषु, तथा प्रत्येकवनस्पतिक्राये तद-
पर्याप्तभेदे चेत्येवं पञ्चविंशतिमार्गणास्थानेषु प्रत्येकं
'लोगा असंखिज्जा' त्ति असंख्येयेषु लोकरूपमाणेषु
क्षेत्र-पण्डेषु यावन्त आकाशप्रदेशस्तावन्तो जीवाः
सन्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

'वायरपज्जाग्निमि' इत्यादि, वादरपर्याप्ता-
ग्निकायमार्गणास्थानेषु पुनः देसूरो'त्यादि, आवलि-
कायाः समयेषु घनीकृतेषु यावन्तः समया भवेद्युस्ततः
स्तोकमात्रेणैकदेशेन न्यूना जीवा भवन्तीत्यर्थः ।

'वायरपज्जाणीले' त्ति वादरपर्याप्ते 'ऽनीले'
वायुकाये लोकरस्य संख्येयतमे भागे यावन्त आकाश-
प्रदेशाः सन्ति तावन्तो जीवाः सन्तीत्यर्थः ॥ ९० ॥

'सेसाऽट्ट' इत्यादि, उपर्युक्तशेषेषु तिर्यग्गत्योवा-
दिष्वष्टविंशन्मार्गणास्थानेषु प्रत्येकं 'संता' त्ति अनन्ता
जीवाः सन्ति । अष्टाविंशन्क्षेपमार्गणास्थानानि
स्त्वमानि-तिर्यग्गत्योवाः, ओष-वादरोष-तत्पर्याप्ता-
ऽपर्याप्त-सूक्ष्मौघ-तत्पर्याप्ता-ऽपर्याप्तभेदभिन्नाः सप्त
एकेन्द्रियभेदाः, तथैव सप्त साधारणवनस्पतिक्राय-
भेदाः, वनस्पतिक्रायोषः, काययोगीवः, औदारिक-
तन्मिश्र-कार्मणकाययोना, नपुंसकवेदः, क्रोधादिक-
पायचतुष्कम्, मत्यज्ञान-श्रुतज्ञाने, असंयमः, अचक्षु-
दर्शनम्, कृष्णादित्रयशुभलेश्याः, भव्या-ऽभव्यौ,
मिथ्यात्वम्, असंज्ञी, आहारका ऽनाहारका चेति ।

अथोपसंहरन्नाह—'इह रइय'मित्यादि, अस्य
चान्यय उत्तरगत्योत्तरार्धे 'दववपमारो'त्यादिना,
तथा च 'इति' सप्तत्युत्तरशतमार्गणास्थानेषु जीव-
परिमाणकथनद्वारेण 'रज्जे सिरिपेमसुरोरा' ति चतु-

श्रिधरकृष्णकौशल्याभागसुविहितशिरोमणिकर्मशःख-
 पारङ्गसिद्धान्तमहोदधीनां श्रीमतां प्रेमसूरीणां
 'राज्ये'-साम्राज्ये प्रवर्तमाने 'तारा' त्ति तेषां पूज्य-
 पादानां 'पसीसारण' त्ति प्रशिष्याणां-शिष्यशिष्या-
 णाम्, तत्र प्रेमसूरीश्वरपूज्यपादानां स्वशिष्याः सुवि-
 ख्यातनामधेयाः स्वात्मसाधनाऽत्रिकलभव्यजन्तुहित-
 करानेकविधकुशलप्रवृत्तिपरायणाः पं० श्रीमद्भानुविजय-
 गणीन्द्राः, तन्निष्ठास्तु स्वभावसरलाः प्रशान्तप्रकृतयः
 सौम्यवदनाः स्वर्गताः श्रीमन्तः पं० पद्मविजयगणीन्द्राः,

एतदेवाह—'पद्मविजये' त्यादि, तेषां पद्मविजय-
 गणीन्द्राणां 'सीसलेसेण' त्ति शिष्यलेखेन, समयो-
 क्तशिष्यगुणानां यथायद्भाजनतया नामशिष्य-
 प्रायेण जगद्भन्द्रविजयेन मुनिना 'अप्पावहारण्डा'
 त्ति आत्मनोऽवधारणार्थं रचितमिदं द्रव्यप्रमाण-
 प्रकरणं यावच्छ्रीश्रीरस्यामिनस्तीर्थं तावन्नन्दतु, भव्य-
 जन नयन-वदन-मानसादीन्यनवद्यान्याधाराण्यत्रा-
 प्येति शेषः ॥ १०-११ ॥ इति ॥ समाप्ता स्वोपज्ञा
 द्रव्यप्रमाणप्रकरणावचूरिः । शुभं भूयात्सर्वेषाम् ॥

॥ इति तृतीयं परिशिष्टम् ॥

॥ समाप्तानि परिशिष्टानि ॥



अशुद्धिप्रमार्जनम् ।

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः	पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
२	६	ससर्जु०	प्रणिन्यु०	२१	२५	पञ्चयन्तानां	पञ्चयन्तानां
४	२३	महत्काय०	महाकाय०	२२	२	अमनाऽसंज्ञी	अमना-असंज्ञी
५	२०	प्रादर्नप्रभो०	प्रादर्नप्रभोः	२३	२२	०भाऽरिन्द्रियस्य	चतुरिन्द्रियस्य
११	२७	०मभिधित्सया	०स्याभिधित्सया	२४	२२	०गुणो अतो"	०गुणोऽतो"
६	८	०सुधर्मा०	सुधर्म०	२३	११	पंचिन्द्रियस्स	पंचिन्द्रियस्स
७	१४	०तोऽबन्धा०	०तोऽबन्धा०	२४	८	चोत्तरत्तर०	चोत्तरोत्तर०
९	९	मध्यम०	मध्यम०	२५	३०	महतीस्थिति०	महती स्थिति०
११	१०	यो समय०	यः समय०	२६	१९	पिञ्जत्ता	पिञ्जत्ता
११	२८	निषिञ्च्य०	निषिच्य०	२७	२०	याऽऽवाधा	याऽवाधा
१०	१९	विशुद्धि०	विसुद्धि०	२८	२१/२३	निषिञ्च्य०	निषिच्य०
११	६	गुणापीति	गुणानीति	२९	२७	त्ति	त्ति
११	२३	पल्योपमसं०	पल्योपमाऽसं०	२९	१०	तुरियस्य	तुरियस्स
१२	८	गन्तव्यः कृतः ।	गन्तव्यः । कृतः ?	३०	२१	सागरोपशतस्य	सागरोपशतस्य
११	११	अथाहाकण्ड०	अथाहाकरण्ड०	३१	२	ज्ञानावणादि०	ज्ञानावरणादि०
१३	१	तत्राऽसत्०	तत्राऽसत्०	३१	१०	षोडशाहोरात्र०	षोडशाहोरात्र०
११	८	अपर्याप्त०	अपर्याप्त०	३१	१९	पंचिन्द्रियाणं	पंचिन्द्रियाणं
११	११	सः/ प्रमाणः	सः/ प्रमाणः	३१	२७	वितिय०	वितिय०
११	१९	स्थानापेक्षया	स्थानापेक्षया	३१	३२	अथ	अथ
११	२९	०स्थिति०	०स्थिति०	३२	८	चत्वारि	चत्वारि
१४	१४	षडशीत्य०	षडशीत्य०	३२	१४	लितोवमस्स	लितोवमस्स
१५	१९	संकलेश	संकलेश	३२	२२	णिसत्तं	णिसत्तं
११	२८	बन्धे	बन्धे	३३	१	अनन्तरोपनिधा	परम्परोपनिधा
१७	३	सु	तेसु	३४	९	पल्योपम०	पल्योपमा०
११	४	तन्त्रान्तरे	तन्त्रान्तरे	३४	१३/२७	षोडश०	षोडश०
११	१०	०वृद्धयंशो	०वृद्धयंशो	३४	२५	कोटीकोटी०	कोटीकोटी०
११	२६	पष्टे	पष्टे	३४	२२	त्वसंख्येय०	त्वसंख्येय०
१८	२२	विवक्षितेनैकेना०	विवक्षितैका०	३५	१	अनन्तरोप०	परम्परोप०
११	३१	आलेखिता	आलिखिता	३६	९	प्रथम०	प्रथम०
२०	२	पञ्चाशत्०	चतुःपञ्चाशत्०	३६	१	विशेषाधिक०	संख्येयगुण०
११	५	पल्योपमा०	पल्योपमा०	३६	१५	ऽतन्त०	ऽतन्त०
११	२५	षोडशभिः	षोडशभिः	३७	१	०शल्पबहु०	०शल्पबहु०
११	२७	०प्रमेदान०	०प्रमेदान०	३७	८	संख्येयगुण०	संख्येयभाग०
२१	४	०कमसो	०कमा	३७	११	स्थानेभ्यस्तो०	स्थानेभ्यस्तो०

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः	पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
३८	२८	ऽऽयुपी०	ऽऽयुपी०	५५	५४	०पर्याप्तसंज्ञि०	०पर्याप्ताऽसंज्ञि०
"	३१	तदन्तस्थं	तदन्तःस्थं	५५	९	(१२)	(१३)
३९	२६	पदेऽपि	पदे अपि	"	२६	जघन्यवाधा	जघन्यावाधा
"	"	संख्येयगुण	संख्येयगुणे	५६	२५	द्वीन्द्रिया०	द्वीन्द्रिया०
४०	११	अत्राहाकडं	अत्राहाकडं	६५	३	०विचिकीर्षुं राह-	०विचिकीर्षुं राह-
"	१२	स्थानान्यानय०	स्थानानामानय०	"	७	॥ ३ ॥	॥ ३३ ॥
"	१३	०कण्डकमानय०	कण्डकस्थानय०	"	१४	बन्धक०	बन्धक०
"	१४	०स्तुल्यत्वे	०स्तुल्यप्रायत्वे	"	१५	०रोसु ङो०	०रो सुङो०
"	१७	टिड्वंधो	टिड्वंधो	६६	९	तुकारो	तुकारः
४१	१०	असंख्येयगुणभि	संख्येयगुणानि	६७	१३	०समुद्देन	०समुद्देन
४२	२३	द्वेऽपि	द्वे अपि	६८	३०	०भावविति ।	०भाषाविति ।
"	२७	वैपरित्येना०	वैपरीत्येना०	६९	१०	मुहूर्तान्तः-	मुहूर्तान्तः-
४४	२	असंख्येयगुणै	असंख्येयगुणै	"	१९	॥ ३६ ॥	॥ ३६ ॥ (गीतिः)
४५	१३	पल्पोपमासं०	पल्पोपमासं०	"	२८	०युध्वरमे	०युध्वरमे
"	१४	पल्पोपमासं०	पल्पोपमासं०	७०	८	नैर्गयिकानां	नैर्गयिकाणां
४६	९	दशवस्तुनां	दशवस्तुनां	"	२२	सत्वत्र	स त्वत्र
४७	७	वर्गमूललक्षण०	वर्ग मूलासंख्य-	"	२३	मुहुत्ततो	मुहुत्ततो
			भागलक्षण०	७१	५	०वाधा प्रक्षे०	०वाधां प्रक्षि०
	१६	अत्राहा ।	जहण्णिया अत्राहा ।	"	८	भेदत्रि	भेदत्रि
४७	१७	जहण्णगो	जहण्णगो	"	२०	उक्तं च	उक्ता
४८	३	पुत्रुत्तं ।	पुत्रुत्तं । तयो गग-	७२	८	०क्षयो	०क्षयो(पशमो)
			गुणहाणिद्वारंतरं	"	१३	प्राग्वत्	प्राग्वत्
			असंख्येयगुणं, कारणं पुत्रुत्तं ।	"	१९	मानयनाय	स्यान्मानय
"	२०	स्तत्त्वम्	स्तत्त्वम्	७३	२०	द्वादशपु	द्वादशपु
"	२२	ऽसंख्येयत्वा०	ऽसंख्येयत्वा०	"	२४	चतुर्षु	चतुर्षु
५०	१५	०काटाकोटी-	०कोटाकोटी-	"	२७	गृहीतत्वाद्	गृहीतत्वाद्
"	२५	०प्रकृतेरुत्कृष्ट-	प्रकृत्युत्कृष्ट-	७५	४	जेडु०	जेडु०
५१	२	०चतुर्णां	चतुर्णां	"	५	सः विभक्तः	स विभक्तः
"	१५	०वाधाविशेषा०	०वाधा विशेषा०	"	५	कः भवे०	को भवे०
"	२४	स्वमेव	स्वयमेव०	"	७	०केन्द्रियोध	०केन्द्रियोध-
"	३१	०चतुर्णां	०चतुर्णां	"	१७	ओध-	ओध-
५२	१०	०लक्षणा	०सागरोपमलक्षणा०	"	२०	हते	हते
५३	६	०कण्डकानि	०कण्डकानि च	७६	२	बन्धप्रमाणं	बन्धप्रमाणं
"	१०	ज्ञानावरणा०	ज्ञानावरणा०	"	५	प्राप्तात्स्मिन्	प्राप्तस्मिन्
"	३०	रुत्कृष्टवाधा	रुत्कृष्टवाधा	"	१७	मानयनाय	स्यान्मानय
५४	६	०मसंसयेय०	मसंसयेय०	"	१९/२३	त्रि०	श्रीणि

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः	पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
७६	१६	०केन्द्रियोचा०	०केन्द्रियौघा०	१०८	२५	तयणुव०	तयणुरुव०
७७	६		"	१०९	२२/३३	०प्रमत्ता०	०प्रमत्ता०
"	२५	ऽऽनितः	ऽऽनीतः	११०	२५	षोडश-	षोडश-
७९	१३	संदोह०	संदेह०	१११	१५	०पञ्चेन्द्रिति०	०पञ्चेन्द्रियति०
"	१७	०भार्गणस्वपि	०भार्गणास्वपि	"	१८	उत्कृष्टः संक्षिप्तः	उत्कृष्टसंक्षिप्तः
८०	२१	देवनिरय०	देवनारक०	"	२८	पणिदि०	पणिदि०
"	२४	०केन्द्रियोचा०	केन्द्रियौघा०	११५	१२	०मिथ्यादृष्टि०	०मिथ्यादृष्टि०
८१	७	०रान्तद्वारे	०रान्तरद्वारे	"	२२	०श्रुतसत्त्वे	०श्रुतसत्त्वे
"	१३	०युष्कस्तस्या०	युष्कं तस्या०	११८	६	विभङ्ग०	विभङ्ग०
८२	१६	भङ्गनीति	भवतीति	"	१२	०मेवोत्तरत्रापि	०मेवोत्तरत्रापि
८३	१८	सङ्गच्छेत्	सङ्गच्छेत्	१२२	९	सम्यक्तौघ-	सम्यक्तौघ-
"	१९	तस्येवायमपि	तदिवेदमपि	१२४	२३	आहारकऽऽहार०	आहारका-ऽऽहार०
"	२०	मतान्तरो	मतान्तरं	"	२९	त्रिस्रो	त्रिस्रो
"	२५	०प्रयोग्यत्वेन	०प्रायोग्यत्वेन	१२६	५	जघन्याः	जघन्यायाः
"	"	देवनरकप्रायोग्य०	देवनरप्रायोग्य०	१२८	१७	०इत्युत्प्रासंक्षि०	०इत्तुत्वा संक्षि०
८४	१४	०न्यच्युत्कल्पे	०न्यच्युतकल्पे	१३०	२३	इत्यादि० गाथा-	इत्यादिगाथा-
"	२५	न्भार्गणासु	न्भार्गणासु	१३१	१७	०भेदेष्वपि	भेदेष्वपि
८५	१८	हीनकर्म०	हीनजघन्यकर्म०	१३२	५	अपमतो	अपमतो
८६	२४	यद्यसंज्ञिनां गति०	यद्यसंज्ञिनामागति०	१३३	७	०नन्तर भावि-	०नन्तरभावि-
८७	२९	कर्ममन्थाप्रायेणै०	कर्ममन्थाभिप्रायेणै०	"	२२	०मुपश्रेणि-	०मुपशमश्रेणि-
८८	२	सासादनभाव	सासादनभावः	१३४	९	सुगम इति	सुगममिति
९२	११	मुहूर्त्त०	मुहूर्त्त०	"	१९	तथा संख्ये०	तथाऽसंख्ये०
"	१७	मुहूर्त्त०	मुहूर्त्त०	"	२०	देवायुपः	देवायुपः
"	२९	द्विट्ठो	द्विट्ठो	१३५	७	अष्टद्वयपि	अष्टद्वयपि
९५	१७	गत्यानन्तरे	गत्यानन्तरे	१४४	२३-२६	नन्त्रा-पर्याप्त.....
"	२०	"लंतम्मि चउ- दपुविशस्स"	"उववाभो लंतगम्मि उ चउदसपुविशस्सउ जहत्तो" ॥१६९॥	१४४	२७	...त्वादिनि॥१३७॥	॥१३७॥
९६	१०	पुहुत्तं" ति	पुहुत्तं" ति	१४६	२०	०ममहिता	०मभिहिता
"	१६	प्रथमत्रयाणां	प्रथमानां त्रयाणां	१४७	२९	स्थितिन्धे	स्थितिवन्धे
"	२१	पथक्त्व०	पृथक्त्व०	१४७	२९	०चक्षुदर्शन०	०चक्षुदर्शन०
"	२७	प्रकृततिस्रु	प्रकृतासु तिस्रु	१५०	५	०तयोत्पिसु०	०तयोत्पिसु०
१७	३	संज्ञि	संज्ञि	"	२१	०णामाणि"	०माणाणि"
१०४	३	तावान् दशवर्षसहस्राणि	तावान्	१५१	१७	०सापेक्ष०	०सत्यपेक्ष०
१०५	१४	किं विशिष्ट	किंविशिष्ट	"	२७	०श्रित प्रकृति०	०श्रितप्रकृति०
१०८	२०	हीनाहीनतरा०	हीना हीनतरा०	१५५	१२	दिस पदमे	दिसं पदमे
				१५६	७	०द्विविधोऽ-	०द्विविधोऽ-
				"	१८	०निर्देशः	०निर्देशः

पृष्ठम् पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम् पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
१५८ ११	०न्तानामपि	०न्तानामपि	" १५	ऽन्तमुहूर्त	ऽन्तमुहूर्त
" १२	०ग्योत्कृष्टस्थिति०	०ग्योत्कृष्टस्थिति०	" १८	०श्रयजघन्य०	श्रयजघन्य०
" १६	०याणां भव०	०याणां च भव०	१९३ २	०मार्गणा०	०मार्गणा०
" १८	०त्पिसूनां	०त्पिसूनां	१९४ १५	देवगत्योघः,	देवगत्योघः,
१६० १२	०मुत्पत्त्याऽपि	०मुत्पत्त्याऽपि	१९५ १४	निर्यगोघ०	निर्यगोघ०
" १९	देसपत्त्याऽपि	देसपत्त्याऽपि	२०० १९	०कालयुक्तुष्ट०	०कालयुक्तुष्ट०
१६१ ३	उत्पत्त्याऽपि	उत्पत्त्याऽपि	२०१ २६	प्रवर्तितुं	प्रवर्तितुं
१६२ १०	तूक्तदीशा	तूक्तदिशा	२०२ १७	तुक्तुष्ट०	तूक्तुष्ट०
" १३	निरगत्योघ०	निरयगत्योघ०	" ३१	संगच्छेत्,	संगच्छेत्,
" २५	०पहीय०	०पहिय०	२०४ २६	संगृहितुं	संगृहीतुं
१६६ २५	०मुहूर्तं,	०मुहूर्तं,	२०५ ९	०स्थितेचन्धे	०स्थितिचन्धे
" २८	व्याजिहिर्षु०	व्याजिहीर्षु०	" १९	जगोसुं	जोगोसुं
१६८ ३	पणवय-	पणमण-वय-	" २९	०कालिनः	०कालिकः
१६९ २	कायस्थिर०	कायस्थितिर०	२०७ २५	०रूपासु	०रूपासु
" ५	०यादधिका,	०यादधिका न	२०८ ९	०मनुष्यभेदः	०मनुष्यभेदः
		लभ्यते तदीयोक्तु-	" १६	देशनोना	देशनोना
		ष्टकायस्थितिः,	" २१	०तथाप्रारम्भ०	०तथा प्रारम्भ०
१६९ ६	काययोग०	काययोग०	" २२	०वदन्तमुहूर्तं च	०वानन्तमुहूर्तकालश्च
१७१ १५ १६	हीय०	हिय०	२१० ११	इतरम्	इतरम्
१७२ १६	"सिखेज्जं"	"सिखेज्जं"	२१२ १४	प्रकृत०	प्रकृत०
" २५	ऽचक्रवृण	चक्रवृण	" २५	उद्धृत्य	उद्धृत्य
१७३ २०	०पगवर्ती०	०पगवर्ती०	२१४ १९	॥१२५॥	॥२१५॥
१७४ २१	केचि	केचि	२१५ ११	सूक्तुष्टतन्त्रं	सूक्तुष्टतन्त्रं
१७६ ३	इमा तु	इय तु	" २२	०पट-	०पट-
" ४	०द्विगोविधयो०	द्विगोविधयो०	२१६ १४	समयोना०	समयाधिका०
" ३०	द्वेऽष्टादशेनि	द्वे अष्टादशेति	" १५	दीशा	दिशा
" ३१	ऽधिकंशस्य	ऽधिकंशस्या-	२१७ ५/८	०प्रायोग्यां	०प्रायोग्यां
१७८ १०	काऊसुं	काऊसां	" १२	तम०	तद०
१७९ १०	०लक्षणास्ता	०लक्षणा ता	" "	०प्रमाणावाधा०	०प्रमाणजघन्यावाधा०
" २९	०द्येकोनपञ्चाष०	०द्विपञ्चाश०	" २३	०मुहूर्तनोन०	०मुहूर्तनोन०
१८१ २५	जलघयः	जलघयः	२१८ ९	प्रारम्भते	प्रारम्भते
" ३०	संतीसा	संतीसा	२१९ ५	०काययोगो०	०काययोगो०
१८४ १७	कायः	कायाः	२२० १०	०येतासु	०येतासु
" २८	०स्त्रिविधो	०स्त्रिविधो	" "	पणमार्गपु	पणमार्गणासु
१८५ ११	भेदाद्विधा	भेदाद् द्विधा	२२२ १७	जघन्याः	जघन्यायाः
" "	सम्भवति, ?	सम्भवति,	२२३ ४	"	"
१८६ १८	चतुषु	चतुषु	२२५ ११	०सर्पिणि-	०सर्पिणी-
" १९	योऽपि०	योऽपि०	" १८	जघन्याः	जघन्यायाः
१८७ ६	०संयमार्गणायां	०संयमार्गणायां	२२६ ८	०कल्पोपपन्न०	०कल्पोपपन्न०
१८८ १७/२३	जघन्याः	जघन्यायाः	" १५	०स्थितिरुक्तुष्ट	स्थितिमुक्तुष्ट
१६२ ४	ऽवधि०	ऽवधि०			

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
"	२६	जकृष्टस्थिति०	जघन्यस्थिति०	"	१५	जघन्याः	जघन्यायाः
२२७	२७	०मजघन्याः	०मजघन्यायाः	"	१६	घन्याः	घन्यायाः
२२८	८	सेसासु	सेसासु	२६१	१७	'इतरायाः'	'इतरस्याः'
२२९	२	सप्तविंशति०	सप्तत्रिंशति०	२६४	१०	०नात्मकस्या०	०नात्मका०
२३१	१९	०त्वेवोत्पद्य	०त्वेनोत्पद्य	"	१६	तथा	तथा
२३२	४	भार्गणायां	भार्गणायां	२६८	२९	जघन्यास्तदितराया	जघन्यायास्तदितरस्या
२३३	१८	-ऽऽहारेसु	-ऽऽहारेसु	२६९	७	क्षपकानां	क्षपकाणां
"	२८	तत्त्वम्	तत्त्वम्	"	२५	सेसभार्गणा०	सेसभार्गणा०
२३४	१५	सेसासु	सेसासु	२७०	अन्त्या	०दुभुक्ता,	०दुक्ताः
"	१९	०दलिक्षणे०	०दलिक्षणे०	२७४	१३	अणानुदुगे	अणानुदुगे
"	२१	भावना	भावना	"	२१	॥२९६॥	॥२९६॥(गीतिः)
"	२६	'धुरिन्दि-	'धुरिन्दि-	"	२५	०कपायेसु	०कपायेसु
२३५	१	सागरोपम०	१८ सागरोपम०	२७५	५	भायुः कर्मणः	भायुः कर्मणः
"	अपान्त्या	२०४-५	२०३-४	२७६	५	०प्रकृतैकक०	०प्रकृतैकक०
२३७	अन्त्या	विलिखित इति	विलिखितमिति	"	२८	॥३०४॥	॥३०४॥(गीतिः)
२४१	८	भणन्ति	भणन्ति	२७८	१९	-दारिमिश्र-	-दारिकमिश्र-
"	२२	०कर्पाश्व	०कर्पाश्व	"	२७	०पल्लेश्या-	पल्लेश्या-
"	२३	यावत्सप्त-	यावदष्ट-	"	२९	स्थानात्वासंख्ये-	स्थानासंख्येय-
"	२८	ऽऽयुषन्धा०	ऽऽयुर्बन्धा०	२८१	४	यभारूपदे-	भारूपत्वादे-
२४२	२	मर्याम०	मर्याप्त०	"	७	अथऽऽयु०	अथाऽऽयु०
"	२०	ऽनुत्कृष्ट०	ऽजघन्य०	२८२	४	उक्तोसाध	उक्तोसाध
२४३	७	रस्परं	परस्परं	२८४	४	तिअहलेसासु	तिअसुहलेसासु
"	२३/२६	०ट्यादिप्रमा०	०ट्यादिसाग-	२८७	१३	रभिहित्वान्	रभिहितनत्वान्
२४४	१४	भवन्तित्यर्थः	भवन्तीत्यर्थः	२९०	१९	०पुरनृत्कृष्ट०	०धुरनृत्कृष्ट०
"	२६	०नुत्कृष्टावेति	०नुत्कृष्टैवेति	२९०	३०	निरगत्यादि०	निरगत्योधादि०
२४५	८	ऽणुक्कोसाध	ऽणुक्कोसाध	२९१	६	ऽऽर्यया ।	ऽऽर्यया
२४६	२०	बन्धन	बन्धन	"	१२/१३	(३६ पांशुत्कृष्टयमत्र नैव वक्तव्यम्)	
२४८	४	निरगत्यो०	निरगत्यो०	"	१६	इतिगाथाच्चनुत्कृष्टेन इतिगाथाद्वयेन	इतिगाथाद्वयेन
"	२५	संखंसुणा	संखंसुणा	२९४	४	स्तूत्क-	स्तूत्क-
"	"	॥२६१॥	॥२६१॥(गीतिः)	"	५	०बन्धाहार्तां	०बन्धाहार्तां
२४९	२४	०यन्तीति संख्ये०	०यन्तीत्यसंख्येय०	२९५	८	०क्षेत्र०	०क्षेत्र०
२५१	४	०सम्मेसु	०सम्मेसु	२९६	२६	०भिन्ना०	०भिन्ना०
२५३	५	त्वजन्त्या०	त्वजघन्या०	२९७	११	पदजीव०	पदजीव०
२५७	७	०गुणअहीया"	०गुणअहिय"	२९८	२९	ऽपर्याप्तन्यतर०	ऽपर्याप्तान्यतर०
"	२२	विभंगेसु	विभंगेसु	२९९	१३	त्रिसुषु	त्रिसुषु
२५९	९	॥२७६॥	॥२७६॥(गीतिः)	३००	२	सर्वेगिदि-	सर्वेगिदि-
"	११	॥२८०॥	॥२८०॥(गीतिः)	"	१०	०त्यदि,	०त्यादि,
"	१६	बन्धक एवेति	बन्धक एवेति	"	१५	वायरापञ्जेसु	वायरापञ्जेसु
२६०	९	भङ्गोक्तऽबन्ध०	भङ्गोक्ताऽबन्ध०	३०१	५	सेसासु	सेसासु

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
	२३	निरगतयोष०	निरगतयोष०	३२०	८	०नेनत्रसकार्योष-	०नेनत्रसकार्योष-
३०३	२३	सत्तण्ह	सत्तण्हं	"	२९	सप्तनामु०	सप्तानामु०
"	२६	जघन्याः	जघन्यायाः	३२१	२८	भेदध्वेवं	भेदध्वेवं
"	२९	पद्य-अजघन्याः	अजघन्यायाः	३२२	२९	सामणेषु	सासणेषु
३०४	९	णाहारगेषुं	णाहारगेषुं०	"	२४	द्विषष्टि०	द्विषष्टि
३०६	७	व्यानुवन्ति	व्यानुवन्ति	"	२५	०बन्धकनां	बन्धकानां
"	१४	०मलयगिरिय०	०मलयगिरीय०	३२३	२६	०यांमारण०	यां मारण०
३११	६	स्वप्राग्यो०	स्वप्रायोग्यो०	३२४	१६	प्रागेवभि०	प्रागेवाभि०
"	१३	भायमतो	भायमतो	"	२३	०बन्धकै०	बन्धकै०
"	२८	सर्वक्षेत्रं	सर्वक्षेत्रं यथा	"	२४	०भेदध्वे०	३भेदध्वे०
३१२	७	०तिर्यग्भिश्च	०तिर्यग्भिश्च	"	२६/२७	सहस्रारा०	सहस्रारा०
"	११	पृथिवीं	पृथिवीं	"	२९	स्पष्टं	स्पष्टं
"	१६	सम्पद्यते	सम्पद्यत इति समस्ता नय रज्जवः स्पर्शना ।	३२५	६	ओष०	ओष०
"	२५	वर्तमानकाला०	वर्तमानकाला०	"	१७	चत्वारोऽपि	पृथिवीकायव- चत्वारोऽपि
"	२६	पण्डन्याः	पण्डन्याः	"	२८	०संक्रिष्टानां	०संक्रिष्टादीनां
३१३	११	अच्युत्परओ	अच्युत्परओ	३२६	१८	-दुष्पणाण-	-दुष्पणाण-
"	१५	मैवेकदेवा०	मैवेकदेवा०	"	१९	-यियर-ऽऽहार-	यियरा-ऽऽहार-
३१४	२६	०भिस्त्वानां	०भिमुखानां	३२८	१२	०स्थितेबन्धक०	०स्थितिबन्धक०
"	३०	दृष्टव्या	दृष्टव्या	"	१३	०गिद्विय०	गिद्विय०
३१५	६	०पञ्चेन्द्रितिर्य०	०पञ्चेन्द्रियतिर्य०	"	२६	भेदा इचेति	भेदाइचेति
"	७	तयोत्पिन्मवो	तयोत्पिन्मवो	३२९	७	असंख्याः	असंख्याः
"	१६	तसनादीभ	तसनादीभ	"	८	स्थिक्रियन्धस्य	स्थितिबन्धस्य
"	३१	॥ ३८४ ॥	॥ ३४८ ॥	"	१२	०जघन्यन्यास्थित्यो०	०जघन्यस्थित्यो०
३१६	४	भाशार्थः न-	भाशार्थः पुन-	"	१७	०णेषु / ०णेषु	०णेषु / ०णेषु
"	१४	तिर्यग्भि	तिरियग्भि	३३०	२४	जघन्याः	जघन्यायाः
३१७	४	ऽपिपद्	ऽपि पद्	"	२८	ओष०	ओष०
"	१०	प्रतुत०	प्रतुत०	३३१	४	०मार्गणभेदाः	०मार्गणाभेदाः
"	२०	-इसाणंत०	-इसाणंत०	"	९	०भागेऽऽगच्छ०	०भागे व्यागच्छ०
३१८	३	०नाड्या	०नाड्या	"	२९	०भावेन	०भावेन
"	७	०प्रायोग्यत्कृष्ट०	प्रायोग्यत्कृष्ट०	३३२	८	गणानामुत्कृष्ट०	गणानामनुत्कृष्ट०
"	१७	०तयोत्पिन्मनां	०तयोत्पिन्मनां	"	१०	निरगतयो०	निरगतयो०
"	२३	सप्तपृथिवी०	सप्तपृथिवी०	"	२४	चतुर्दश०	चतुर्दश०
"	२४	षष्ठपृथिवी०	षष्ठपृथिवी०	"	२९-३०	सर्व०	सर्व०
३१९	१२	०प्रदेशीः	०प्रदेशीः	३३३	१६	जघन्याः	जघन्यायाः
"	१९	सहस्रार०	सहस्रार०	"	१८	सर्वलोकस्पर्शनाया	एतासु सर्वलोक-
"	२१	चेत्येषु	चेत्येषु	३३५	१	भावना त्वेतासु	स्पर्शना तु
"	२८	अभिमुखान्भाशां	अभिभ्यात्माशभि- मुखान्भाशां	३३५	२५	प्रदक्षक०	प्रदक्षक०
						संज्ञी	संज्ञी

पृष्ठम् पंक्तिः	मंशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम् पंक्तिः	मंशुद्धम्	शुद्धम्
३३९ ५	एगिदिष-	एगिदिष-	" २५	णास्व०	णास्व०
" ७	०सत्कोत्कृष्ट०	०सत्कानुत्कृष्ट०	३७० २०	देशके	देशके
" १५	०त्कृष्टस्त्रियो०	०त्कृष्टस्थित्यो०	३७१ १२	-पर्याप्त०	सर्वकेन्द्रियभेद-पर्याप्त०
३४० ६	०कालस्यपि	०कालस्यापि	" १३	०यौघा-ऽपर्याप्त०	०यौघ-पर्याप्त०
" १४	दीर्घातिदीर्घः	दीर्घातिदीर्घः	" १५	मिथ्यात्व-ऽसंज्ञ-	मिथ्यात्वा-ऽसंज्ञा-
३४१ ४	वाच्यतया	वाच्यतया	" २६	०पेक्षया विव०	०पेक्षया, विव०
" ७	जघन्यतो	जघन्यतो	३७२ ३	जघनान्तरस्य	जघनान्तरस्य
" ९	निष्ठासमयं	निष्ठासमये	" ८	बन्धा०	बन्धा०
३४२ २८	मूलसप्त०	तथा च मूलसप्त०	" १५	०मात्रायां	०मात्रत्वे
३४४ ३	छन्दानुलोम्या	छन्दोऽनुलोम्या	" २३	निविशेन,	निविशेन,
३४४ ५	द्वात्रिंशत्त्वपि	द्वात्रिंशत्यपि	३७३ ६	जघनना०	जघनना०
" २२	उक्तशेषा	उक्तशेषासु	" १७	०मइयं	०भवइयं
३४५ १	तीयाधिकारे	द्वितीयाधिकारे	" ३०	तदन्तरस्य	तदन्तरस्य
" १२	त्रिसृषु	त्रिसृषु	३७४ ४	०जीवश्रया०	०जीवाश्रया०
" १२	आहंरका-	आहंरका-	" ५	०धिकत्वेऽपि	०धिकत्वलक्षणे तारतम्येऽपि
" १५	बोद्धव्यम्-	बोद्धव्यम्-	" ६	मात्रेण हीना०	०मात्रहीना०
" २७	०बन्धका ची०	०बन्धकाश्चौ०	" "	०धिकयाज्ञाना०	०धिक्यलक्षणता-
३४६ २०	भिन्न भवति	भिन्नमुहुतं भवति	" "	रतम्यसद्भावज्ञाना०	
३४७ ११	धीपशमिक०	धीपशमिक०	" "	०नल्प०	०सुन्य०
२४९ ३०	०जीवाश्रयो०	०जीवाश्रयो०	३७५ २९	-कायेसु	-कायेसु
३५० १४	कोडिभो	कोडीभो	३७७ २६	पेक्षया विलक्षण०	पेक्षया विलक्षण०
" २४	-ओद्दिसुं	-ओद्दीसुं	" २८	सुवन्ति	सुवन्ति
३५१ ५	०दशषु	०दशसु	" ३०	०कोडिकोडीभो	०कोडिकोडीभो
" १२	०वद्विद्भावनीयः	०वद्विद्भावनीयः	३७९ ९	कुतोऽजघन्य०	कुतो जघन्य०
" १३	०पेक्षयास्तोक०	०पेक्षया स्तोक०	" १०	नामिष	नामिषि
३५२ ६	सुगमाः	सुगमा	" २२	द्विषष्टु -	द्विषष्टु -
३५३ उपान्त्या	हरसासु	हरसाए	३८३ ३	परिणामिक०	पारिणामिक०
३५४ ९	अकारस्य	आकारस्य	" २४	गत्याद्योदधिक०	गत्याद्यौदधिक०
३५५ ४	परिमाद्वारे	परिमाणद्वारे	३८४ १३	ऽन्वययभिचार०	ऽन्वययभिचार०
" २३	जघन्याः	जघन्यायाः	" १५	०भावस्य	०भावे
३५६ ३	भिन्न/मुहुत्ततो	भिन्न०/मुहुत्ततो	३८६ ७	०तरायाः	०तरत्याः
" १४	०पर्याप्तस्त्रस०	०पर्याप्तस्त्रस०	" १२	सुहुम्मि	सुहुम्मि
३५८ १०	०नानाबन्धका०	०नानाबन्धका०	३८७ ९	वाच्यम् ।	चेद्, न,
३५९ ३	उत्कृष्टश्च	उत्कृष्टतश्च	३८८ ३	सर्वेष्वेके०	सर्वेष्वेके०
" २४	०धायुकायोघ०	०धायुकायोघ०	" १५	उक्तसाए	उक्तसाए
" २९	सर्वद्वैव	सर्वद्वैव	" २४	०शेषास्वष्ट०	०शेषास्वष्ट०
३६० १६	-छेदोपस्थान-	-छेदोपस्थापन-	३८९ २१	-संयमेसु	-संयमेसु
३६१ १४	०घषो-	०घोष-	" २९	अजघन्याः	अजघन्यायाः
३६५ १०	ऽपहीम०	ऽपहीय०	३९० ३	णपुसेसु	णपुसेसु
" १२	स्थितेर्बन्धका०	स्थितेर्बन्धका०	३९१ ४	पञ्चमनो०	सर्वकायभेदाः, पञ्चमनो०
३६७ २२	सर्पिण्य भव०	सर्पिण्यो भव०	" २५	त्वसंस्वयेष०	त्वसंस्वयेष०
३६८ १२	सप्तण	सप्तण	३९२ ४	मिण्णसेसु	मिण्णसेसु

पृष्ठपंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठपंक्ति:	अशुद्धम्	शुद्धम्	
२३	सप्त-	पण-	४३९	६	आयुर्वर्जं	आयुर्वर्जं
३१३ १४	०ध्ववसनानां	०ध्ववमानानां	४४०	१५	देशम् यनादि-	देशसंयतादिमार्गणा-
२३	रूपजन्यं	रूपोःकृत्	४४२	३	॥५६२॥	॥५६२॥ (गीतिः)
३१६ १९	०गुणाः सन्ति	०गुणाः सन्ति,	४४३	१५	भूयस्कारादि०	भूयस्कारादि०
३१७ "	-भन्वस्त्वुसुं	-प्रचस्त्वुसुं	४४४	१५	०नुकृष्टान्तं	०नुकृष्टान्तं
३१९ १५	०द्वारणैव	०द्वारणैव	४४७	३	परावृत्त्यादि०	परावृत्त्यादि०
४०० ११	०यत्रहुत्वां	०यत्रवहुत्वां	"	"	विनेष	विनेष
" १५	आयुषो	मोहनीयस्य जवन्यस्थिति- बन्धः शोकः, स चान्तमुद्धृत- मानः, तन्मस्योत्कृष्टोऽसं- ख्यगुणः, सप्ततिकोटा- कोलीसागरोऽसप्रमाणञ्चात् आयुषो	"	२१	असोऽन्तः	असावन्तः
४०१ १४	संख्येयं	-ऽसंख्येयं	४४९	७	०चरमद्विचरमं	०द्विचरमचरमं
" १९	चतुर्णां	चतसृणां	४५१	१७	ऽऽन्तमुद्धृतिकं	ऽऽन्तमुद्धृतिकं
४०२ १४	सामाहणसुं	सामहणसुं	४५२	७	समुदितासु	समुदितेषु
" २१	०दारिकमिष-	०दारिकमिष-	"	१६	तथाऽपि	तथाऽपि प्रस्तुते
४०६ ९	०बल्लेश्या	०बल्लेश्या	४५३	२०	कम्म-ऽणाहारेसुं	कम्माऽणाहारेसुं व
४०५ १२	०कोटोकोट्यो	०कोटाकट्यो	"	२२	कम्मणाहा०	कम्माणाहा०
४०६ ११	०मार्गणाद्वये	०मार्गणासु	४५४	६	प्रतिपदानं	प्रतिपादनं
४०७ २०	बल्लेश्या-	बल्लेश्या-	"	३०	केवलेऽस्तव्यं	केवलेऽस्तव्यं
४०८ ४	तिषाईणं	तिषाईणं	"	चरमा	पमः	पुनः
४०९ ३	॥४९८॥	॥४९८॥ (गीतिः)	४५५	"	७५	५७६
" २८	इत्यात्रापि	इत्यत्रापि	४५६	१०	०द्वयवक्तव्यं	०द्वयवक्तव्यं
४१० २०	सतो	तो	४५७	१७	०वस्थायां प्रस्था०	०वस्थायासप्रस्था०
४११ १४	०छेएसुं	०छेएसु	४५८	२५	उपशमं	उपशमं
४१२ ४	०शेकोननषति-	शेकनषति-	४५९	०	०प्रज्ञाणैरेकं	०प्रमाणैकं
४१८ २	वैक्रियकायं	वैक्रियमिषकायं	"	२५	प्रारभते	प्रारभते
४२१ ५	त्रयत्रिंशत्	त्रयत्रिंशत्	४६१	१	द्वितीयाधि०	भूयस्काराधि०
४२२ १३	चतुर्णां	चतुर्णां	४६२	९	०द्वयदशं	०नवं
४२३ २१	निष्ठतः	निष्ठतः	"	१३	लमपेक्षया	लापेक्षया
" २३	०शिवदशसु	०शिवदशसु	"	२७	०योगादिचतुःपञ्चा-	योगाधिकपञ्चा-
४२४ १३	॥५५६॥	॥५५६॥	"	२८	०द्विषोद्विषोत्तरं	०शेकोनविंशत्युत्तरं
" १५	॥५५७॥	॥५५६॥	४६३	४	०कोनत्रिंशत्	०कोनचत्वारिंशत्
" २३/२४	तावद्वयं	तावद्वयं	"	७	शेकोनद्वयं	शेकोनविंशत्यद्वयं
४२५ ११	भूयोरपि	भूयोऽपि	४६४	२	निषदे	निषिडे
४२६ १३	तथैवा०	तथैवा०	"	६	बन्धो सन्	बन्धः सन्
४३० १४	मनुष्यं	देवगतिमुत्पत्पमाना मनुष्यं	"	१२	सिति	संसिति
" ०६	त्रिणि	त्रीणि	"	१९	त्रिसृणां	त्रिसृणां
४३८ १३	बन्धाद् वै	बन्धाद् वै	"	२०	०द्विचरिबाणं	०द्विचरिबाणं
			"	२४	०निष्पन्नायां	०निष्पन्नायां
			४६५	६	०योगोदि०	०योगादि०
			"	८	०शेकाजीवा०	०शेकाजीवा०
			"	१२	०दर्शनं-	०दर्शना-ऽवधिदर्शनं-

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
४६९	१	०बन्धस्यैक०	०बन्धस्यैक०	"	२०	०माणं संख्येयं	०माणमसंख्येयं
"	द्विचरमा	मार्गात्रय	मार्गणात्रय	५०१	३	तद्वन्धकना०	तद्वन्धकाना०
४७०	२१	०मार्गास्वपि	०मार्गणास्वपि	५०३	१८	ऽस्ति	ऽस्ति
४७१	२	०नोदिष्टे	०नोदिष्टे	"	१९	सेसासु	सेसासु
"	१६	०त्वोपपत्ति०	०त्वोपपत्ति०	"	२६	ऽवस्थिता०	ऽल्पतरा०
४७२	२१	०बन्धकानापद०	०बन्धकपद०	"	२७	तिरये	तिरिच्ये
"	चरमा	नैरन्तेर्येण	नैरन्तेर्येण	५०४	१४	०पादनीयंति	०पादनीय इति
४७३	८	०भागोऽवस्थित०	०भागोऽवस्थित०	"	२१	प्रतिषिद्धः,	प्रतिपादितः,
"	१८	०ऽवस्थित०	०ऽवक्तव्य	५०५	४	ऽवस्थित०	ऽल्पतर०
४७४	२	०मनुष्य-काशयोगौष-	मनुष्य-	"	११	०स्तथाऽपर्याप्त०	स्तथा पर्याप्त०
"	१५	-सामयिक०	-सामायिक०	"	१६	बन्धकानां	बन्धानां
"	२१	स्थितिबन्धक०	बन्धक०	"	१७	जीवाश्र०	जीवाश्रय०
४७५	१५	०मानयनाय	०स्थानयनाय	५०७	१५	वेदशमीस०	वेदवमीस०
४७६	१२	उक्ता,	उक्ता,	५०९	६	निरयगति-	निरयदेवगति-
४७७	१	द्वितीयाधिकारे०	भूयस्काराधिकारे०	५१०	यन्त्रे	२ मुहूर्ता	१२ मुहूर्ताः
"	५	०स्थितबन्धको०	०स्थितिबन्धको०	"	यन्त्रे	सर्वाद्या	नास्ति
४७९	१०	लब्धया	लब्धया	"	चरमा	सव्यह	सव्यह होह
"	२०	पदमाईभो	पदमाईभो	५११	३	प्रकृतेभूयस्का०	प्रकृतेभूयस्का०
४७९	२१	फलानि०	फलानी०	"	६	न च	ननु
४८०	४	द्वितियाः	द्वितीयाः	"	१०	०हानलक्षणस्थिति०	हानिः स्थिति०
४८२	१५	भावनास्त्वो०	भावना त्वो०	"	१०	०भावरूपः	०भावरूपाः
४८४	१०	सेसासु	सेसासु	"	१६	प्रकृतिबन्धं	प्रकृतिबन्धे
"	१५	तुइत्यर्थः	इत्यर्थः	"	१९	चः पादपूर्थे	चः समुच्चये
४८५	१०	०सर्व०	०त्रिविधस्थिति-	५१३	१९	। चः प्राग्भवत् ।	तथा
"	२०	सर्वेभ्यो०	सर्वेभ्यो०	"	१९	भवसव्यस्स	ऽवक्तव्यस्स
४८६	७	०कातन्मिश्र	०कातन्मिश्र०	५१५	२४	०इत्यादि	०इत्यादि
"	११	पदद्वयस्या०	पदद्वयस्या०	"	२६	०हारगदुग-	०हारगुग-
४८७	१	द्वितीयाधिकारे	भूयस्काराधिकारे	५१६	७	'भूयस्कारादयोः'	'भूयस्कारापोः'
४८८	८	०स्कारदि०	०स्कारादि०	"	८	०हारगुगे	०हारगदुगे
४८९	२४	स्वस्थानस्तु	स्वस्थानतस्तु	"	१०	ततोऽल्पतरस्य	तेभ्योऽल्पतरस्य
४९०	२०	अथोक्त शेष०	अथोक्तशेष०	"	१७	अवक्तव्यबन्धकाः	संख्येयगुणाः,
४९२	११	इत्येनोदिष्टे	इत्येनोदिष्टे	"	१८	संख्येयगुणाः,	तेभ्योऽवन्वितस्य
४९३	८	कासुचिन्मा-	मा-	"	२०	तेभ्योऽल्पतरस्य	
४९५	३	पञ्चपत्र०	पञ्चपत्र०	५१७	२०	समईभ	समईभ
४९६	२६	-दारिक०	-दारिकी-दारिक०	५१८	२	स्यसंख्येय-	स्यसंख्येय-
४९७	१	द्वितीयाधिकारे	भूयस्काराधिकारे	"	४	मार्गस्थानेषु	मार्गस्थानेषु
"	१४	०त्वेषमेक	०त्वेयं द्वि०	५२०	१०	विरुध्येत्	०विरुध्येत्
४९९	७	भूगाराईण	भूगाराईण	"	२६	बोद्धव्यम्	बोद्धव्यम्
५००	१४	०जीर्णता०	०जीर्णता०				

पृष्ठम् पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम् पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
५२१ २८	सद्भूते	सद्भूतम्	५४५ २१	मूल०	सप्तानां मूल०
५२२ अन्त्या	जेहृटिइ	जेहृटिइ	५४६ १८	ऽ-वक्तव्ये	ऽ-वक्तव्यलक्षणे पदद्वये
५२३ अन्त्या	-उप-	-उपरि-	" २१	चउविहा	चउविहा
५२४ ९	यवध्या०	यवमध्या०	" २४	-मयमेसु	मयमेसु
" १७	०यवमाध्या०	०यवमध्या०	५४९ ४	०लेइया-ऽभव्य०	०लेइया-भव्य०
" २१	०स्पृशामि०	०स्पृशामि०	५४९ १४	द्वयव	द्वे एव
" २४	सकुण्ड	स कुण्ड	५५० २०	वध्यमायो०	वध्यमायो०
५२५ १	भोधत्	भोधत	" २०	कमाद्विशेषाः	विशेषाः
" २६	०मुक्कृष्टं	०मुक्कृष्टं	" २४	अन्यास्तु	अन्या तु
" २८	०भ्यानाऽकारो-	०भ्याऽनाकारो-	" १८	०मात्राधिक०	०मात्रहीन०
५२६ १०	-पम्हा-सण्णीसु	-पवम-सण्णीसु	५५० ४	द एव	द्वे एव
" अन्त्या	०मर्वाग	०मर्वाग	" ५	सद्भूत इति	सद्भूते इति
५२७ १७	साकारकव्ययेण	सागाकव्ययेण	" ३०	ननु	ननु किमर्थं
५२८ १८	सम्भवल्येषु०	सम्भवल्येषु०	५४१ ६	त उपपाद्येते	ते उपपाद्येते
५२९ १६	द्वितीये	द्वितीये	" १५	त्यसनी-	त्यसनी इ-
५३० १	०मुपात्तम्	०मुपात्तम्	" २५	०हान्यधि	हानी अधि
" १६	यः/ तः/	यत्/ तत्/	५५३ १२	न मार्गणाभावी,	नोक्तमार्गणाभावी
५३१ ५	०ऽसामञ्जसपरि०	०ऽसामञ्जसपरि०	५५४ १३	त्यादि,	इत्यादि,
" १६	-कपोता०	-कपोता०	५५५ २६	०वृद्धयादि	०वृद्धयादि०
" २४	"पणिदिया"	"पणिदिया"	५५६ ५	०भाववृद्धयादि०	०भाववृद्धयादि०
५३२ २१	त्ति साका०	साका०	" १५	उच्यमानगो	उच्यमानगो उ
" २८	किरिअ	किरिअ	५५७ ६	भागणासु	भागणासु
५३३ २	जो कुञ्जा	कुञ्जा जो	" १३	मनाऽऽह-	मना आह-
" १९	मनन्तरद्वायां	मनन्तरद्वायां	" २८	पश्चसंयम०	पश्चसंयम०
५३४ ६	सत्तण्ड	सत्तण्ड	५५९ १६	म्याद् ?	किं न म्याद् ?
" ७	बड्ढ	बड्ढी	" १७	अतस्तस्यो-	अतस्तस्या उ-
" २०	स्थितिनामेक०	स्थितीनामेक०	" २१	०कालसमय०	०कालः समय०
५३६ ३	जाणियन्वा	जाणियन्वा	५६१ २३	०न्तरमाहः-	०न्तरमाह-
" ७	०णादारेसु	०णादारेसुं	५६० २१	जघन्यः कालः	जघन्यमन्तरं
" २३	तिघाईणं	तिअघाईणं	" २१	निकालवन	न्यन्तरवन
५३७ १३	०मार्गणयोः	०मार्गणासु	" २२	मात्रो	मात्रं
" १४	०सम्यक्त्वोपा०	सम्यक्त्वाव-वेदकी०	" २५	वृद्धिदान्योराह	०गुणवृद्धिदानीनामाह
५३९ ११	हानेरुक्कृष्ट०	हानेरुक्कृष्ट०	५६४ ५	वडिठहाणीणं	वडिठहाणीणं
" १६	षाणारस्यं	षाणारसी	" १८	०कायोग्य०	०कायोग्य०
" २०	०स्वादु	०स्वादुवद्	" २८	कम्म-	कम्मा-
५४० ११	०मपेक्षयाऽल्प०	०मपेक्ष्य यथाऽल्प०	५६७ १५	०योगसामान्यी-	०योगसामान्यी-
" २३	संस्वरुणा	संस्वरुणा	" १६	शुक्लेइया०	शुक्ललेइया०
५४१ १०	तुल्य०	संख्यातगुण०	५६८ ५४	तदेवं... यन्नाह-	तदेवं भणितं
" ११	संख्यातगुण०	तुल्य०			
५४४ ८	हानिअ अस्य,	हानिअ, अस्व			

{ सप्तानामसंख्यगुणस्थितिबन्धवृद्धि-
हा-शुक्लान्तरमादेशतः, अधुना सं-
ख्येयभाग-संख्येयगुणस्थितिबन्ध-

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
		वृद्धिहान्योस्तद्वश्याह-		६१०	८	तान्हितो	तान्हितो
५६९	१/१०	संख्येयगुण०	संख्येयभागगुण	६११	१६	मप्रनामा०	सप्तानामा०
"	१२	परावर्त्य परावर्त्य	परावृत्त्य परावृत्त्य	"	२५	०यत्वेन	०यत्वेन
"	१६	ऽसंख्येयभाग-	ऽसंख्येयभाग-	६१२	८	सत्यके०	सत्यके०
५७१	२	नरकत्यो०	नरकगत्यो०	"	२०	गतपदे०	गतपदे०
"	४	भागादि/नीनामु०	भाग/निपवृद्धयस्यो	६१६	५	तेभ्यो संख्येय०	तेभ्योऽसंख्येय०
"	५	द्विनवति०	एकनवति०	६१८	८	पदद्वयं	पदद्वयं
५७२	७	वृद्धिद्विणीओ०	वृद्धिद्विणीओ	"	१८	०प्रकृतीनाम०	०प्रकृतीनाम०
"	२५	ऽचक्रवृसुं	ऽचक्रवृसु	६१९	त्रिचरमा	६०	११
५७३	३	सगवृद्धिद्विणीओ	सगवृद्धिद्विणीओ	६२५	३	उद्दिशनाह-	उद्दिशनाह-
५७५	१५	०भेदेषु, अपर्याप्त०	०भेदेषु, सर्वदेव- भेदेषु, सर्वपञ्चोद्भूय- तिर्याग्भेदेषु, अपर्याप्त०	"	४	अजसवसण०	अजसवसण०
"	२८	०र्हयोः, र्हयोर्मनुजगतिभेदयोर्हयोः		६२६	५	०वसनाभि	०वसानाभि
५७६	२	०भेदेष्वपि	०भेदेष्वपि	"	२६	गंतुं गंतुं	गंतुं गंतुं
५८०	१७	अपर्याप्त०	मनुष्यौषः, अपर्याप्त०	६३०	२१	षट्पञ्चाद०	षट्पञ्चाद०
"	२६	०प्यतिदिष्टि०	०प्यतिदिष्टि०	६३३	१८	०नियमशाद०	नियमशाद०
५८२	२०	संख्येयभागा-ऽ	-संख्येयभाग-	६३७	१०	स्थिति०	स्थिति०
५८३	२३	०योगेषु,	०योगेषु नपुं-	६३८	३	अधमाणस्म	अधमाणस्म
"	२४	-ऽप्रस्त०	सकवेदकपायचसुधकयोः ऽप्रस्त०	"	१६	०मनुकृष्टेरिव	मनुकृष्टेरिव
"	२६	स्वत्वधारणे	स्वत्वधारणे	६४१	१५	०लक्षस्य	०लक्षणस्य
५८४	२	त्रिंशदुत्तर०	त्रिंशत्युत्तर०	"	१८	०वृत्तः सन्न	०वृत्तयोः सत्तोर०
५८५	६	तद्	तद्वा	६४६	२२	ऽभिधान	ऽभिधाने
"	१२	काययोग०	प्रत्येकवनस्पतिकायौष- तदपर्याप्तयोः, काययोग०	"	२७	०प्रयोग्य०	०प्रायोग्य०
५८६	२	बादरा-	बादर-	६४८	९	चूर्णिप्रथा०	चूर्णिप्रथा०
५८८	६	नवपु/ पञ्चवृष०	नवसु/ पञ्चवृष०	६५०	२८	०वृद्धि०	०वृद्धि०
५९१	१२	०गत्यो गादि०	०गत्यो घादि०	६५२	१३	परंपरोनिधया	परंपरोपनिधया
"	२५	सेसासु	शेषासु	"	१५	०शकै	०शकै
५९२	११	०भागवृद्धि०	०भागवृद्धि०	६५३	१५	बन्धाप्रायोग्या	बन्धाप्रायोग्या
५९६	७	मेकजीशा०	मनेकजीशा०	"	२१	वृश्चि मीसे	वृश्चि मीसे
६००	७	लभ्यतेऽते०	लभ्यतेऽत०	"	२३	होइ	होइ
६०१	५	मप्रत्यन्तमु हूर्तम्-	प्रत्यन्तमु हूर्तम्-	६५४	२५	०सातवदनीय०	०सातवदनीय०
"	१३	०वल्लेद्याः	पद्मलेश्याः	६५६	८	स्थिति०	मिश्रोपयोगे बन्ध- प्रायोग्यानि स्थिति०
६०४	९	तान्हितो	तान्हितो	"	२७	०रोपोयोगे	०रोपोयोगे बन्ध
६०७	८	०भेदेषु,	०भेदेषु,	६५९	११	०चूर्णयोक्त०	०चूर्णयोक्त०
६०८	४	०बन्धरूपा	०बन्धरूपा	६६२	६	ता	ताव
				६६३	१६	०गुणः	०गुणा
				६६३	३०	चडाण०	चडाणा०
				६७०	चरमा	०सूरीति	०सूरीरिति
				६७२	७	ने सुना	ने सुना
				"	११	यादूमू०	यादूमू०

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
		वृद्धिहान्योस्तदर्शयन्नाह-		६१०	८	तान्हितो	तान्हितो
५६९	९/१०	संख्येयगुण०	संख्येयभागगुण	६११	१६	सप्तनामा०	सप्तनामा०
"	१२	परावर्त्य परावर्त्या	परावृत्य परावृत्य	"	२५	०यत्वेन	०यत्वेन
"	१६	ऽसंख्येयभाग-	ऽसंख्येयभाग-	६१२	८	सत्यके०	सत्यके०
५७१	२	नरकत्वो०	नरकगत्यो०	"	२०	गतपदे०	गतपदे०
"	४	भागादि, नीनासु०	भाग/निपदत्वस्यो	६१६	४	तेभ्यो संख्येय०	तेभ्योऽसंख्येय०
"	५	द्विनवति०	एकनवति०	६१७	८	पदद्वयं	पदद्वयं
५७२	७	षड्विह्वणीओ०	षड्विह्वहाणीओ	"	१८	०प्रकृतीनाम०	०प्रकृतीनाम०
"	२५	ऽचक्रवृत्सु	ऽचक्रवृत्सु	६१९	त्रिचरमा	६०	९१
५७३	३	सगड्विह्वणीओ	सगड्विह्वहाणीओ	६२५	३	उद्दिशनाह-	उद्दिशनाह-
५७५	१५	०भेदेषु, अपर्याप्त०	०भेदेषु, सर्वदेव-	"	४	अजस्रवसण०	अजस्रवसण०
			भेदेषु, सर्वपञ्चान्द्रय-	६२६	४	०वसानानि	०वसानानि
			तिर्याग्भेदेषु, अपर्याप्त०	"	२६	गंतुं गंतुं	गंतुं गंतुं
"	२८	०द्वयोः, द्वयोर्मनुजगतिभेदयोर्द्वयोः		६३०	२१	षट्पञ्चाद०	षट्पञ्चाशद०
५७६	२	०भेदेष्वपि	०भेदेष्वपि	६३३	१८	०नियमशाद०	नियमशाद०
५८०	१७	अपर्याप्त०	मनुष्योद्यः, अपर्याप्त०	६३७	१०	स्थिति०	स्थिति०
"	२६	०प्यतिदिष्टि०	०प्यतिदिष्टि०	६३८	३	बध्ममाणस्म	बध्ममाणस्म
५८२	४०	संख्येयभाग-ऽ	संख्येयभाग-	"	१६	०मनुकृष्टेरिय	मनुकृष्टेरिव
५८३	२३	०योगेषु,	०योगेषु नपुं-	६४१	१५	०लक्षस्य	०लक्षणस्य
			सकवेदकपायचतुष्कयोः,	"	१८	०वृत्तः सन्न	०वृत्तयोः सतोर०
"	२४	-ऽप्रस्त०	ऽप्रस्त०	६४६	२२	ऽभिधान	ऽभिधाने
"	२६	स्वत्वधारणे	स्वत्वधारणे	"	२७	०प्रयोग्य०	०प्रायोग्य०
५८४	९	त्रिंशदुत्तर०	त्रिंशत्युत्तर०	६४८	९	चूर्णिप्रथा०	चूर्णिप्रथा०
५८५	६	तद्	तद्	६५०	४८	०वर्द्धिठ०	०वर्द्धिठ०
"	१२	काययोग०	प्रत्येकवनस्पतिकार्थोद्य-	६५२	१३	परंपरोनिधया	परंपरोपनिधया
			तदपर्याप्तयोः, काययोग०	"	१५	०शैके	शैके-
५८६	२	बादरा-	बादर-	६५३	१५	बन्धाप्रायोग्या	बन्धाप्रायोग्या
५८८	६	नक्षत्र/ पञ्चचरव०	नक्षत्र/ पञ्चचरव०	"	२१	उत्तरि मीमे	उत्तरि मीमे
५९१	१२	०गत्यो गादि०	०गत्यो गादि०	"	२३	होह	होह
"	२५	सेमासु	शेमासु	६५५	२१	०मातवदनीय०	०मातवदनीय०
५९२	१९	०भागवद्धि०	०भागवद्धि०	६५६	८	स्थिति०	स्थिति०
५९६	७	मेकजीवा०	मनेकजीवा०	"	२७	०रोपोयोगे	०रोपोयोगे
६००	७	लभ्यतऽते०	लभ्यतेऽतः०	६५९	११	०चूर्णयुक्त०	०चूर्णयुक्त०
६०१	५	सप्रत्यन्तमु हूर्तम्-	प्रत्यन्तमु हूर्तम्-	६६२	१	ता	ता
"	१३	०पल्लेदयाः	पल्लेदयाः	६६३	१६	०गुणः	०गुणा
६०४	९	तान्हितो	तान्हितो	६६३	३०	चडाण०	चडाण०
६०७	८	०भेदेषु,	०भेदेषु,	६७०	चरमा	०सूरीति	०सूरीति
६०८	४	०बन्धरूपा	०बन्धरूपा	६७२	७	ने सुना	ने सुना
				"	११	याद्भू०	याद्भू०